कार्ल मार्क्स
पूंजी

कार्ल मार्क्स

पूंजी

Karl Marx

दुनिया के मजदूरो, एक हो!

राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना

खंड
३

तीसरी पुस्तक। समग्र रूप में पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया।

फ़्रेडरिक एंगेल्स द्वारा सम्पादित

प्रगति प्रकाशन · मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.
चमेलीवाला मार्केट, एम. आई. रोड, जयपुर-302001

अनुवादक : नरेश वेदी
सम्पादक : बुद्धिप्रसाद भट्ट

КАРЛ МАРКС
КАПИТАЛ
т. III
На языке хинди

KARL MARX
Capital
Volume 3
In Hindi

पहला संस्करण – १९८३
दूसरा संस्करण – १९८८

सोवियत संघ में मुद्रित

प्रकाशक की ओर से

'पूंजी' का तृतीय खंड कार्ल मार्क्स के निधन के बाद, १८६४ में फ़्रेडरिक एंगेल्स द्वारा मुद्रक के लिए तैयार और प्रकाशित किया गया था।

प्रस्तुत हिंदी संस्करण १८६४ के इस जर्मन संस्करण का मार्क्स की मूल पांडुलिपि के साथ, जो सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान में रखी हुई है, मिलान करके संशोधित रूपांतर के प्रगति प्रकाशन, मास्को द्वारा प्रकाशित अंग्रेज़ी अनुवाद पर आधारित है। इस खंड के चार्ल्स एच० केर एंड कंपनी, शिकागो द्वारा १६०६ में प्रकाशित अंग्रेज़ी अनुवाद से भी भरपूर लाभ उठाया गया है।

प्रस्तुत संस्करण में एंगेल्स लिखित खंड ३ की भूमिका तथा परिशिष्ट में 'पूंजी', खंड ३ का अनुपूरक भी हैं।

पुस्तक में अंत में नाम-निर्देशिका तथा संदर्भ-निर्देशिका (*Index of Authorities*) भी दी गयी हैं।

अनुवाद में भारत सरकार के केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रकाशित बृहत् पारिभाषिक शब्दसंग्रह तथा अन्य पारिभाषिक संग्रहों का यथासंभव उपयोग किया गया है।

विषय-सूची

भूमिका ११

तीसरी पुस्तक

समग्र रूप में पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया

१

भाग १

बेशी मूल्य का लाभ में और बेशी मूल्य दर का लाभ दर में परिवर्तन

अध्याय १। लागत क़ीमत तथा लाभ ३१
अध्याय २। लाभ की दर ४४
अध्याय ३। लाभ दर का बेशी मूल्य दर से संबंध ५१
अध्याय ४। लाभ दर पर आवर्त का प्रभाव ७०
अध्याय ५। स्थिर पूंजी के नियोजन में बचत ७६
१. सामान्य रूप में ७६
२. श्रमिकों की क़ीमत पर श्रम की अवस्थाओं में बचत। कोयला खदानें। अपरिहार्य परिव्यय की उपेक्षा ८५
३. शक्ति के जनन तथा संचरण में और इमारतों में मितव्ययिता ९२
४. उत्पादन के उत्सर्जनों का उपयोग ९६
५. आविष्कारों के माध्यम से मितव्ययिता ९८
अध्याय ६। क़ीमत के उतार-चढ़ाव का प्रभाव १००
१. कच्चे मालों की क़ीमत में उतार-चढ़ाव और लाभ दर पर उनके प्रत्यक्ष प्रभाव. १००
२. पूंजी की मूल्यवृद्धि, मूल्यह्रास, निर्मोचन तथा बंधना १०४
३. सामान्य उदाहरण। १८६१-६५ का कपास संकट ११६
अध्याय ७। अनुपूरक टिप्पणियां १२८

भाग २

लाभ का औसत लाभ में रूपांतरण

अध्याय ८। उत्पादन की भिन्न-भिन्न शाखाओं में पूंजियों की भिन्न-भिन्न संरचनाएं और लाभ दरों में परिणामी अंतर १३१

अध्याय ९। सामान्य लाभ दर (औसत लाभ दर) की रचना और जिंसों के मूल्यों का उत्पादन के दामों में रूपांतरण १४२

अध्याय १०। प्रतिद्वंद्विता के जरिये सामान्य लाभ दर का समकरण। बाजार दाम और बाजार मूल्य। बेशी लाभ १५७

अध्याय ११। मजदूरी की सामान्य घट-बढ़ का उत्पादन दामों पर प्रभाव १७६

अध्याय १२। अनुपूरक टिप्पणियां १८३

१. उत्पादन दाम में परिवर्तन लानेवाले कारण १८३

२. औसत संरचना की जिंसों का उत्पादन दाम . . . १८४

३. प्रतिपूर्ति के लिए पूंजीपति के आधार १८५

भाग ३

लाभ दर के गिरने की प्रवृत्ति का नियम

अध्याय १३। नियम का वास्तविक आशय . १८८

अध्याय १४। प्रतिकारी प्रभाव २०६

१. शोषण की बढ़ती तीव्रता २०६

२. मजदूरी का श्रम शक्ति के मूल्य के नीचे गिरना . . २०९

३. स्थिर पूंजी के तत्वों का सस्ता होना २०९

४. आपेक्षिक जनाधिक्य २०९

५. विदेश व्यापार २१०

६. स्टाक पूंजी का बढ़ना २१३

अध्याय १५। नियम की आंतरिक असंगतियों का प्रतिपादन २१४

१. सामान्य निरूपण २१४

२. उत्पादन के प्रसार और बेशी मूल्य के उत्पादन में टकराव २१९

३. अतिरिक्त पूंजी और अतिरिक्त आबादी २२२

४. अनुपूरक टिप्पणियां २२९

भाग ४

पण्य पूंजी तथा द्रव्य पूंजी का वाणिज्यिक पूंजी और द्रव्य-व्यापार पूंजी में रूपांतरण (व्यापारी पूंजी)

अध्याय १६। वाणिज्यिक पूंजी २३५

अध्याय १७। वाणिज्यिक लाभ २४६

अध्याय १८। व्यापारी पूंजी का आवर्त। दाम २६४
अध्याय १९। द्रव्य-व्यापार पूंजी २७५
अध्याय २०। व्यापारी पूंजी के बारे में ऐतिहासिक तथ्य २८२

भाग ५

लाभ का ब्याज तथा उद्यम के लाभ में विभाजन। ब्याजी पूंजी

अध्याय २१। ब्याजी पूंजी २९५
अध्याय २२। लाभ का विभाजन। ब्याज दर। नैसर्गिक ब्याज दर ३१२
अध्याय २३। ब्याज और उद्यम का लाभ ३२३
अध्याय २४। ब्याजी पूंजी के रूप में पूंजी के संबंधों का बाह्यीकरण . ३४१
अध्याय २५। उधार तथा आभासी पूंजी ३४९
अध्याय २६। द्रव्य पूंजी का संचय। ब्याज दर पर उसका प्रभाव ३६४
अध्याय २७। पूंजीवादी उत्पादन में उधार की भूमिका ३८३
अध्याय २८। संचलन माध्यम तथा पूंजी; टूक और फ़ुलार्टन के विचार ३८९

२

भाग ५

लाभ का ब्याज तथा उद्यम के लाभ में विभाजन। ब्याजी पूंजी
(जारी)

अध्याय २९। बैंक पूंजी के संघटक अंग ४०७
अध्याय ३०। द्रव्य पूंजी और वस्तुरूप पूंजी। १ . . . . ४१९
अध्याय ३१। द्रव्य पूंजी और वस्तुरूप पूंजी। २ (जारी) ४३५
१. द्रव्य का उधार पूंजी में रूपांतरण ४३५
२. पूंजी अथवा संप्राप्ति का द्रव्य में रूपांतरण, जो उधार पूंजी में रूपांतरित हो जाता है ४४१
अध्याय ३२। द्रव्य पूंजी और वस्तुरूप पूंजी। ३ (समाप्त) ४४४
अध्याय ३३। उधार पद्धति में संचलन माध्यम ४५८
अध्याय ३४। मुद्रा सिद्धांत और १८४४ का ब्रिटिश बैंक विधान ४८१
अध्याय ३५। बहुमूल्य धातु तथा विनिमय दर ४९७
१. आरक्षित स्वर्ण निधि की गति ४९७
२. विनिमय दर ५०५
एशिया के साथ विनिमय दर ५०७
इंगलैंड का व्यापार शेष ५१९
अध्याय ३६। प्राक्-पूंजीवादी संबंध ५२१
मध्य युग में ब्याज ५३५
ब्याज के निषेध से चर्च द्वारा प्राप्त लाभ ५३८

भाग ६

बेशी लाभ का किराया ज़मीन में रूपांतरण

अध्याय ३७। प्रस्तावना ५३६
अध्याय ३८। विभेदक किराया : सामान्य टिप्पणियां ५६१
अध्याय ३९। विभेदक किराये का पहला रूप (विभेदक किराया I) ५६६
अध्याय ४०। विभेदक किराये का दूसरा रूप (विभेदक किराया II) ५९१
अध्याय ४१। विभेदक किराया II।–पहली सूरत : स्थिर उत्पादन दाम ६०१
अध्याय ४२। विभेदक किराया II।–दूसरी सूरत : ह्रासमान उत्पादन दाम ६०८
अध्याय ४३। विभेदक किराया II।–तीसरी सूरत : वर्धमान उत्पादन दाम ६२४
अध्याय ४४। निकृष्टतम कर्षित भूमि पर भी विभेदक किराया ६५२
अध्याय ४५। निरपेक्ष किराया ज़मीन ६६१
अध्याय ४६। निर्माणस्थल किराया। खनन में किराया। ज़मीन का दाम ६८३
अध्याय ४७। पूंजीवादी किराया ज़मीन की उत्पत्ति ६९१
१. प्रास्ताविक टिप्पणियां ६९१
२. श्रमरूप किराया ६९७
३. जिंसरूप किराया ७०१
४. द्रव्यरूप किराया ७०३
५. बटाई और पट्टी भूमिधरता ७०८

भाग ७

संप्राप्तियां तथा उनके स्रोत

अध्याय ४८। त्रिक सूत्र ७१८
१ . . . . . ७१८
२ . . . . . ७१९
३ . . . . . ७२०
अध्याय ४९। उत्पादन प्रक्रिया के विश्लेषण के बारे में ७३३
अध्याय ५०। प्रतिद्वंद्विता द्वारा उत्पन्न भ्रांतियां ७५०
अध्याय ५१। वितरण संबंध तथा उत्पादन संबंध ७७०
अध्याय ५२। वर्ग ७७६
फ़्रे० एंगेल्स, **'पूंजी', खंड ३ का अनुपूरक** ७७७
१. मूल्य का नियम तथा लाभ दर ७८१
२. शेयर बाज़ार ७९७

नाम-निर्देशिका ७९९
संदर्भ-निर्देशिका (Index of Authorities) ८०६

भूमिका

आखिर मुझे मार्क्स की मुख्य कृति की इस तीसरी पुस्तक – सैद्धांतिक भाग के समापन – को प्रकाश में लाने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। जब मैंने १८८५ में दूसरे खंड को प्रकाशित किया था, तो मैंने सोचा था कि थोड़े से – निस्संदेह अत्यंत महत्वपूर्ण – अंशों के सिवा तीसरा खंड संभवतः केवल कुछ तकनीकी कठिनाइयां ही पेश करेगा। बात वास्तव में यही थी। लेकिन उस समय मुझे यह अंदाजा नहीं था कि ये अंश, जो सारी ही कृति के सबसे महत्वपूर्ण भाग हैं, मुझे इतनी तकलीफ़ देंगे कि जितनी उन्होंने दी है, जैसे मैंने उन दूसरी बाधाओं की भी पूर्वापेक्षा नहीं की थी, जिन्हें काम के पूरा होने को इस हद तक विलंबित करना था।

दूसरा और सबसे महत्वपूर्ण कारण मेरी आंख की कमजोरी था, जिसने बरसों मेरे लिखने के समय को सीमित करके न्यूनतम कर रखा था और जिसकी बदौलत मैं अब भी कृत्रिम प्रकाश में आपवादिक मामलों में ही लिख सकता हूं। इसके अलावा और भी अत्यावश्यक काम थे ही, जिनसे इन्कार नहीं किया जा सकता था, जैसे मार्क्स की और स्वयं मेरी पूर्ववर्ती कृतियों के नये संस्करण और अनुवाद और इसलिए समीक्षाओं, भूमिकाओं, परिशिष्टों का काम, जो अकसर ताज़ा अध्ययन के बिना असंभव होता है, इत्यादि। इस सब के अलावा इस कृति के पहले खंड का अंग्रेज़ी संस्करण था, जिसके पाठ के लिए अंततः मैं ही उत्तरदायी हूं और फलस्वरूप जिसने मेरा बहुत समय लिया। जिसने भी पिछले दस वर्षों में अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी साहित्य की जबरदस्त वृद्धि, विशेषकर मार्क्स की और स्वयं मेरी पूर्ववर्ती कृतियों के अनुवादों की भारी संख्या पर ग़ौर किया है, मुझसे इस बात में सहमत होगा कि ख़ुशक़िस्मती से मैं जितनी भाषाओं में अनुवादकों के लिए सहायक हो सकता था और इसलिए ईमानदारी से जिनके कार्य की समीक्षा करने से इन्कार नहीं कर सकता था, उनकी संख्या बहुत सीमित ही है। लेकिन साहित्य की वृद्धि तो स्वयं अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन की तदनुरूप वृद्धि की सूचक मात्र थी। और इसने मुझ पर नयी ज़िम्मेदारियां डाल दीं। हमारे सार्वजनिक कार्यकलाप के प्रारंभ से ही विभिन्न देशों में समाजवादियों और मजदूरों के राष्ट्रीय आंदोलनों में संपर्क स्थापन के काम का मुख्य भार मार्क्स और मैंने ही उठाया है। यह काम समूचे तौर पर आंदोलन के प्रसार के अनुपात में बढ़ता गया। अपनी मृत्युपर्यंत इस भार के भी अधिकांश का वहन मार्क्स ने किया था। लेकिन उनके देहांत के बाद अधिकाधिक मात्रा में काम मुझे अकेले ही करना पड़ा था। उसके बाद से विभिन्न राष्ट्रीय मजदूर पार्टियों में आपस में प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित करने का रिवाज चल पड़ा है और सौभाग्यवश अधिकाधिक ऐसा ही होता जा रहा है। फिर भी मेरी सहायता लेने के अनुरोध अपने सैद्धांतिक कार्य के दृष्टिगत जितना मैंने चाहा होता, अब भी उससे कहीं अधिक

ही आते हैं। लेकिन अगर आदमी आंदोलन में पचास साल से भी अधिक सक्रिय रहा हो, जैसे मैं रहा हूं, तो वह उससे संबद्ध काम को एक अपरिहार्य कर्तव्य मानता है, जिसमें कोई विलंब नहीं किया जा सकता। हमारे घटनापूर्ण समय में, बिलकुल सोलहवीं सदी की तरह ही, सामाजिक मामलों में शुद्ध सिद्धांतकार प्रतिक्रिया के पक्ष में ही पाये जाते हैं और इस कारण शब्द के पूर्णतम अर्थों में तो वे सिद्धांतकार भी नहीं हैं, प्रत्युत प्रतिक्रिया के पैरोकार मात्र हैं।

इस बात को देखते हुए कि मैं लंदन में रहता हूं, मेरे पार्टी संपर्क सरदियों में पत्र-व्यवहार तक ही सीमित रहते हैं, जबकि गरमियों में वे अधिकतर व्यक्तिगत होते हैं। इस तथ्य ने, और उत्तरोत्तर अधिक देशों में आंदोलन का और इससे भी अधिक तेज़ी से बढ़ते मुखपत्रों का अनुसरण करने की आवश्यकता ने मुझे विवश कर दिया है कि जिन मामलों को निपटाने में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं डाला जा सकता, उन्हें सरदियों के महीनों और बुनियादी तौर पर साल के पहले तीन महीनों के लिए नियत रखूं। जब आदमी सत्तर से अधिक का हो जाता है, तो उसके मस्तिष्क के माइनर्ट संयोजन तंतु क्षोभकारी सावधानी के साथ काम करने लगते हैं। वह अब पहले जितनी आसानी और तेज़ी से कठिन सैद्धांतिक समस्याओं में उत्पन्न होनेवाले व्यवधानों को नहीं लांघ पाता। इसलिए होने यह लगा कि एक सरदी का काम अगर पूरा नहीं किया जाता था, तो अगली सरदी में उसे अधिकांशतः नये ही सिरे से शुरू करना होता था। सबसे कठिन पांचवें भाग के मामले में यही बात थी।

जैसा कि पाठक आनेवाली बातों से देखेंगे, तीसरे खंड के संपादन का कार्य दूसरे खंड के संपादन से तत्वतः भिन्न था। तीसरे खंड के मामले में एक पहले, अत्यंत अपूर्ण, मसविदे के अलावा उपयोग में लाये जाने के लिए और कुछ नहीं था। विभिन्न भागों के प्रारंभिक अंश, सामान्यतः, काफ़ी ध्यानपूर्वक तैयार किये हुए और शैलीगत दृष्टि से परिष्कृत तक किये हुए थे। लेकिन जैसे-जैसे आप आगे बढ़ते थे, पांडुलिपि उतनी ही अधिक अपूर्ण और अधूरी होती जाती थी, उसमें गौण मामलों में, तर्क में जिनके उचित स्थान का निर्धारण बाद में करने के लिए छोड़ दिया गया था, भटकाव उतने ही अधिक होते जाते थे, वाक्य उतने ही अधिक लंबे और जटिल होते जाते थे, जिनमें विचारों को statu nascendi [प्रादुर्भावी अवस्था] में ही लिखा गया था। कुछ स्थानों में हस्तलेख और प्रस्तुतीकरण कार्याधिक्य से जनित अस्वस्थता के हमलों के प्रारंभ और क्रमिक प्रगति को अत्यंत स्पष्टतापूर्वक प्रकट करते थे, जिसने आरंभ में लेखक के कार्य को अधिकाधिक कठिन बना दिया और अंत में उन्हें कभी-कभी काम को पूरी तरह से बंद करने को विवश कर दिया था। और अचरज की कोई बात भी नहीं। १८६३ और १८६७ के बीच मार्क्स ने न केवल 'पूंजी' के अंतिम दोनों खंडों के पहले मसविदे को ही पूरा किया और पहले खंड को मुद्रक के लिए तैयार ही किया, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना तथा प्रसार से संबंधित जबरदस्त कार्य को भी पूरा किया। परिणामस्वरूप, १८६४ और १८६५ में ही अस्वस्थता के अनिष्टसूचक लक्षण प्रकट हो गये, जिन्होंने मार्क्स को स्वयं दूसरे और तीसरे खंडों का अंतिम परिष्करण नहीं करने दिया।

मैंने अपने कार्य का आरंभ पूरी पांडुलिपि को, जिसे पढ़ पाना अकसर मेरे लिए भी कठिन होता था, बोलकर पठनीय प्रति में लिखवाने के साथ किया। अकेले इसके लिए भी काफ़ी समय आवश्यक था। इसके बाद ही मैं वास्तविक संपादन का काम शुरू कर सका। इस काम को मैंने अनिवार्य तक ही सीमित रखा। मैंने पहले मसविदे के स्वरूप को, जहां भी वह पर्याप्त रूप में स्पष्ट था, बनाये रखने का भरसक प्रयास किया है। मैंने पुनरावृत्तियों तक को दूर नहीं किया

है – जहां भी, जैसे कि मार्क्स का ढंग था, वे विषय को दूसरे दृष्टिकोण से देखती थीं अथवा कम से कम उसी विचार को दूसरे शब्दों में प्रकट करती थीं। जहां भी मेरे परिवर्तन अथवा परिवर्धन संपादन की सीमाओं के बाहर जाते हैं, या जहां मुझे मार्क्स की तथ्य सामग्री को अपने स्वतंत्र निष्कर्षों पर लागू करना पड़ा है, चाहे मार्क्स की भावना के प्रति यथासंभव निष्ठा के साथ ही, वहां मैंने पूरे अंशों को गुरु कोष्ठकों में रख दिया है और अपने नाम के आद्याक्षर अंकित कर दिये हैं। मेरी कुछ पादटिप्पणियां गुरु कोष्ठकों में नहीं हैं, लेकिन जहां भी मैंने उन्हें आद्याक्षरित किया है, वहां मैं पूरी ही टिप्पणी के लिए उत्तरदायी हूं।

जैसा कि पहले मसविदों में होता ही है, पांडुलिपि में ऐसे मुद्दों की तरफ़ अनेक संकेत हैं, जिन्हें बाद में विस्तारित किया जाना था और ये आश्वासन हमेशा ही पूरे नहीं किये गये हैं। मैंने उन्हें रहने दिया है, क्योंकि वे भावी निरूपण के प्रसंग में लेखक के इरादों को प्रकट करते हैं।

अब तफ़सीलों के बारे में।

जहां तक पहले भाग का संबंध है, मुख्य पांडुलिपि प्रतिबंधों के साथ ही उपयोग में लाये जाने योग्य थी। बेशी मूल्य की दर और लाभ की दर में संबंध के सारे परिकलन को (जो हमारे तीसरे अध्याय का विषय है) बिलकुल आरंभ में ही पेश कर दिया गया है, जबकि हमारे पहले अध्याय में विवेचित विषय पर बाद में और प्रसंग उठने पर विचार किया गया है। यहां परिशोधन के दो प्रयास उपयोगी सिद्ध हुए, जिनमें से प्रत्येक फ़ोलिओ आकार के आठ-आठ पृष्ठों का था। लेकिन इनमें भी सर्वत्र वांछित सातत्य नहीं था। उन्होंने उसकी सारवस्तु प्रदान की, जो अब पहला अध्याय है। दूसरा अध्याय मुख्य पांडुलिपि से लिया गया है। तीसरे अध्याय के लिए बहुत से अपूर्ण गणितीय परिकलन थे और सत्तर के दशक की एक लगभग संपूर्ण नोटबुक थी, जिसमें लाभ दर के साथ बेशी मूल्य दर के संबंध को समीकरणों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मेरे मित्र सैम्यूएल मूर ने, जिन्होंने पहले खंड के अधिकांश का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया था, मेरे लिए इस नोटबुक का संपादन करने का ज़िम्मा ले लिया, जिस कार्य के लिए केंब्रिज के पुराने गणितज्ञ होने के नाते वह मुझसे कहीं अधिक योग्य थे। इसके बाद उनके सारांश और कभी-कभी मुख्य पांडुलिपि का उपयोग करते हुए ही मैंने तीसरे अध्याय को तैयार किया है। चौथे अध्याय के लिए शीर्षक के सिवा और कुछ उपलब्ध नहीं था। लेकिन चूंकि उसकी विषयवस्तु – लाभ दर पर आवर्त का प्रभाव – अत्यधिक महत्व रखती है, इसलिए उसे मैंने ही लिखा है और इस कारण सारे ही अध्याय को कोष्ठकों में रख दिया गया है। इस कार्य के सिलसिले में यह बात सामने आयी कि तीसरे अध्याय में दिये लाभ दर के सूत्र को सामान्यतः प्रामाण्य होने के लिए संशोधन की आवश्यकता है। पांचवें अध्याय से शुरू करके मुख्य पांडुलिपि ही शेष भाग का एकमात्र स्रोत है, यद्यपि उसके लिए बहुत से स्थानांतरण और अनुपूरक भी आवश्यक थे।

जहां तक आगामी तीन भागों की बात है, शैलीगत संपादन के अलावा मैं लगभग सर्वत्र मूल पांडुलिपि पर चल सका हूं। कुछ अंशों को, जिनमें मुख्यतः आवर्त के प्रभाव का विवेचन किया गया है, चौथे अध्याय के अनुरूप करना पड़ा है, जिसे मैंने जोड़ा था, और इन्हें भी इसी प्रकार कोष्ठकों में रखा गया है और उनके बाद मेरे नाम के आद्याक्षर हैं।

सबसे ज्यादा मुश्किल पांचवें अध्याय ने पेश की, जिसमें संपूर्ण खंड में सबसे कठिन विषय को लिया गया था। और यही वह स्थल था कि जहां मार्क्स उपरोक्त बीमारी के एक गंभीर

आक्रमण की गिरफ़्त में आ गये थे। चुनांचे यहां कोई परिष्कृत मसविदा नहीं था, कोई ऐसा ख़ाका तक नहीं था कि जिसकी रूपरेखा को पूरा किया जा सकता। यहां जो था, वह एक निरूपण का प्रारंभ मात्र – अकसर नोटों, टीकाओं और सारांशों का बेतरतीब ढेर – ही था। मैंने पहले इस भाग को, जैसा कि मैंने किसी हद तक पहले भाग के साथ भी किया था, रिक्ति पूर्ति करके और इंगित भर किये गये अंशों का विस्तार करके पूरा करने की कोशिश की, ताकि उसमें कम से कम लेखक द्वारा अभिप्रेत सभी बातें आ जायें। मैंने इसकी कम से कम तीन बार कोशिश की, लेकिन हर कोशिश में असफल रहा और इसमें नष्ट हुआ समय इस खंड को विलंबित करने के मुख्य कारणों में एक है। आख़िर मैंने अनुभव किया कि मैं ग़लत लीक पर चल रहा हूं। मुझे इस क्षेत्र से संबंधित सारे ही विशाल साहित्य का अध्ययन करना होता और अंत में मैं एक ऐसी चीज़ ही तैयार कर पाता कि जो फिर भी मार्क्स की लिखी किताब न होती। मेरे पास इसके अलावा और कोई चारा न था कि अपने को उपलब्ध सामग्री के यथासंभव व्यवस्थित आयोजन और एकदम अपरिहार्य परिवर्धनों तक ही सीमित रखकर समस्या को कमोबेश सुलझाऊं। और इस तरह मैं १८६३ के वसंत में इस भाग से संबंधित मुख्य कार्य को पूरा करने में सफल हो गया।

जहां तक विभिन्न अध्यायों की बात है, इक्कीसवें से चौबीसवें अध्याय, कुल मिलाकर, संपूर्ण थे। पचीसवें और छब्बीसवें अध्यायों में संदर्भों की छानबीन और अन्यत्र प्राप्य सामग्री के अंतर्वेशन की आवश्यकता थी। सत्ताईसवें और उनतीसवें अध्यायों को मूल पांडुलिपि से लगभग संपूर्णतः लिया जा सकता था, किंतु अट्ठाईसवें अध्याय को जहां-तहां पुनर्व्यवस्थित करना जरूरी था। लेकिन वास्तविक कठिनाई तीसवें अध्याय से शुरू होती थी। यहां से आगे सवाल संदर्भों को व्यवस्थित करने का ही नहीं, बल्कि हर ही स्थल पर अंतर्वर्ती उपवाक्यों तथा व्यतिक्रमों, आदि से भंग हुए और अन्यत्र, प्रायः इतनी ही अनियमितता से शुरू होनेवाले विचार प्रवाह को सही तरतीब में रखने का भी था। इस तरह तीसवें अध्याय को क्रम-परिवर्तनों और काट-छांट के ज़रिये रूप दिया गया। काटी गयी सामग्री का उपयोग अलबत्ता और जगहों पर किया गया है। इकतीसवें अध्याय में फिर अधिक सातत्य था। लेकिन इसके बाद पांडुलिपि में 'गड़बड़झाला' शीर्षक एक लंबा हिस्सा आता है, जिसमें १८४८ तथा १८५७ के संकटों से संबंधित संसदीय रिपोर्टों के अलावा और कुछ नहीं है, जिनमें तेईस व्यवसाइयों और अर्थशास्त्रियों के मुख्यतः मुद्रा पूंजी, स्वर्ण अपवाह, अतिसट्टाख़ोरी, आदि के बारे में बयान संकलित हैं और जहां-तहां संक्षिप्त विनोद-पूर्ण टीकाएं दी गयी हैं। मुद्रा के पूंजी से संबंध के बारे में उस समय प्रचलित लगभग सभी विचारों का उसमें या तो उत्तरों में अथवा प्रश्नों में प्रतिनिधित्व है और मार्क्स की मंशा मुद्रा बाज़ार में मुद्रा तथा पूंजी के विभेदीकरण में प्रकट इस "गड़बड़झाले" का ही आलोचना तथा व्यंग्य के साथ विवेचन करने की थी। कई कोशिशों के बाद मैंने अपने को इसका क़ायल कर लिया कि इस अध्याय को रूप नहीं दिया जा सकता। इसकी सामग्री का, विशेषकर मार्क्स की टीकाओं से युक्त सामग्री का, जहां भी मुझे उसके लिए उपयुक्त स्थान मिला है, उपयोग किया गया है।

इसके बाद, कामचलाऊ अवस्था में, वह सामग्री आती है, जिसे मैंने बत्तीसवें अध्याय में रखा है। लेकिन इसके फ़ौरन ही बाद इस भाग से संबद्ध लगभग हर कल्पनीय विषय पर संसदीय रिपोर्टों के सारांशों का – लेखक की टीकाओं के साथ अंतःमिश्रित – एक नया ढेर है। अंत के निकट ये सारांश तथा टीकाएं मुद्रा धातुओं की गति पर और विनिमय दरों पर अधि-

Das Kapital.

Kritik der politischen Oekonomie.

Von

Karl Marx.

Dritter Band, erster Theil.

Buch III:
Der Gesammtprocess der kapitalistischen Produktion.
Kapitel I bis XXVIII.

Herausgegeben von Friedrich Engels.

Hamburg
Verlag von Otto Meissner.
1894.

'पूंजी', खंड ३, भाग १ के पहले जर्मन संस्करण के मुखपृष्ठ का चित्र

काधिक केंद्रित हैं और भांति-भांति की विविध टिप्पणियों के साथ ख़त्म होते हैं। दूसरी ओर, 'प्राक्-पूंजीवादी' अध्याय (छत्तीसवां अध्याय) बिलकुल पूरा था।

'गड़बड़झाले' से शुरू होनेवाली इस सारी सामग्री से – सिवा उसके, जिसे पहले सन्निविष्ट कर लिया गया था – मैंने तैंतीसवें से पैंतीसवें अध्यायों को तैयार किया। बेशक, यह मेरे द्वारा सातत्य की ख़ातिर काफ़ी अंतर्वेशनों के बिना नहीं किया जा सकता था। अंतर्वेशन अगर केवल औपचारिक स्वरूप के ही नहीं हैं, तो स्पष्टतः इंगित किया गया है कि वे मेरे हैं। इस प्रकार से मैं लेखक के **सभी** प्रासंगिक कथनों को पाठ के ताने-बाने में बुनने में अंततः सफल रहा। सारांशों के एक छोटे से हिस्से के अलावा, जो या तो पहले ही कही जा चुकी बात को दुहराते थे, या उन मुद्दों को स्पर्श करते थे, जिनका पांडुलिपि में और अधिक विवेचन नहीं है, कुछ भी नहीं छोड़ा गया है।

किराया ज़मीन विषयक हिस्सा कहीं अधिक पूर्णता के साथ निरूपित किया हुआ था, यद्यपि किसी भी प्रकार ढंग से व्यवस्थित नहीं था, चाहे इसी कारण सही कि मार्क्स ने सारे ही भाग की योजना को तैंतालीसवें अध्याय में संक्षेप में दुहराना आवश्यक समझा था (पांडुलिपि में किराया अथवा लगान विषयक भाग का अंतिम अंश)। यह इसलिए और भी अधिक वांछनीय था कि पांडुलिपि सैंतीसवें अध्याय से शुरू होती है, जिसके बाद पैंतालीसवें से सैंतालीसवें अध्याय आते हैं और इसके बाद ही अड़तीसवें से चौवालीसवें अध्याय हैं। सबसे अधिक काम विभेदक लगान II की सारणियों में और इसी प्रकार इस खोज के कारण करना पड़ा था कि किराया ज़मीन अथवा लगान के इस वर्ग के तीसरे प्रसंग का तैंतालीसवें अध्याय में बिलकुल भी विश्लेषण नहीं किया गया था, जिसका कि वह अंग था।

आठवें दशक में मार्क्स किराया ज़मीन के इस हिस्से के लिए सर्वथा नये विशेष अध्ययन में लगे रहे थे। वर्षों उन्होंने रूस में १८६१ के "सुधार" के बाद अपरिहार्य सांख्यिकीय विवरणों के तथा भूस्वामित्व विषयक अन्य प्रकाशनों के रूसी मूलपाठों का, जो उनके रूसी मित्रों ने अत्यंत पूर्ण रूप में उन्हें उपलब्ध करवाये थे, अध्ययन किया था, उनसे विस्तृत उद्धरण लिये थे और वह उनका इस भाग के एक नये निरूपण के लिए उपयोग करने का इरादा रखते थे। रूस में भूस्वामित्व और कृषि उत्पादकों के शोषण, दोनों ही के रूपों की विविधता के कारण इस देश को किराया ज़मीन विषयक भाग में वही भूमिका निबाहनी थी, जो इंगलैंड ने पहली पुस्तक में औद्योगिक उजरती श्रम के संबंध में निबाही थी। अभाग्यवश वह इस योजना को क्रियान्वित करने के अवसर से वंचित रहे।

अंततः, सातवां भाग पूरा उपलब्ध था, लेकिन पहले मसविदे के रूप में ही, मुद्रण योग्य बनाने के लिए पहले जिसके बेइंतहा उलझे हुए वाक्यों को विच्छेदित करना ज़रूरी था। अंतिम अध्याय का केवल प्रारंभिक भाग ही विद्यमान है। इसमें किराया ज़मीन, लाभ और मज़दूरी – आय के इन तीन महत्वपूर्ण रूपों के अनुरूप विकसित पूंजीवादी समाज के तीनों मुख्य वर्गों – भूस्वामियों, पूंजीपतियों और उजरती मज़दूरों – का, और उनके अस्तित्व के एक अनिवार्य सहवर्ती, वर्ग संघर्ष का पूंजीवादी युग के वास्तविक परिणाम के रूप में विवेचन किया जाना था। इस तरह के निष्कर्षात्मक सारांशों को मार्क्स प्रेस में जाने के ठीक पहले, अंतिम संपादन तक रहने देते थे, जब नूतनतम ऐतिहासिक घटनाक्रम उन्हें अपनी सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं की अत्यंत श्लाघ्य समयोचितता के प्रमाण अचूक नियमितता के साथ प्रदान कर देता था।

उनके कथनों को स्पष्ट करनेवाले उद्धरण और प्रमाण दूसरे खंड की ही भांति पहले खंड

की अपेक्षा संख्या में काफ़ी कम हैं। पहली पुस्तक से लिये हुए उद्धरण दूसरे तथा तीसरे संस्करणों के पृष्ठों को इंगित करते हैं। पांडुलिपि में जहां भी पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियों के सैद्धांतिक कथनों का उल्लेख है, सामान्यतः केवल नाम ही दिया गया है और उद्धरणों को अंतिम संपादन के दौरान जोड़ा जाना था। निस्संदेह, मुझे इसे ऐसा ही छोड़ देना पड़ा है। संसदीय रिपोर्टें सिर्फ़ चार हैं, लेकिन उनका प्रचुर उपयोग किया गया है। ये निम्नलिखित हैं:

1) *Reports from Committees* (of the Lower House), आठवां खंड, वाणिज्यिक विपत्ति, दूसरा खंड, पहला भाग। १८४७-४८। साक्ष्य का विवरण। – १८४७-४८ की वाणिज्यिक विपत्ति के रूप में उद्धृत।

2) *Secret Committee of the House of Lords on Commercial Distress, 1847.* रिपोर्ट १८४८ में मुद्रित। साक्ष्य १८५७ में मुद्रित (क्योंकि १८४८ में उसे बेहद ख़तरनाक समझा गया था)। – *C. D. 1848/57* के रूप में उद्धृत।

3) *Report: Bank Acts, 1857* – तथैव, १८५८। – १८४४ तथा १८४५ के बैंक अधिनियमों के प्रभाव पर निम्न सदन की रिपोर्टें। साक्ष्य सहित – *B. A.* (*B. C.* भी) १८५७ या १८५८ के रूप में उद्धृत।

मैं चौथे खंड – बेशी मूल्य के सिद्धांत का इतिहास – पर किसी भी प्रकार संभव होते ही शीघ्रातिशीघ्र काम शुरू करनेवाला हूं।

'पूंजी' के दूसरे खंड की भूमिका में मुझे उन सज्जनों के साथ हिसाब चुकता करना पड़ा था, जिन्होंने उस समय इसलिए शोर बरपा किया था कि उन्हें लगा था कि उन्होंने "रॉडबेर्टस में मार्क्स के गुप्त स्रोत और श्रेष्ठतर पूर्ववर्ती" को खोज लिया है। मैंने उन्हें यह दिखाने का अवसर प्रदान किया कि "रॉडबेर्टस जैसे आदमी का अर्थशास्त्र क्या हासिल कर सकता है"; मैंने उन्हें यह दिखाने की चुनौती दी कि "न केवल मूल्य के नियम का उल्लंघन किये बिना ही, बल्कि उसके ही आधार पर किस तरह लाभ की समान औसत दर पैदा हो सकती है और होनी ही चाहिए"। वे ही सज्जन, जो या तो आत्मपरक अथवा वस्तुपरक कारणों से – वैज्ञानिक कारणों से तो किसी भी प्रकार नहीं – वीर रॉडबेर्टस का प्रथम कांतिमान के अर्थशास्त्रीय नक्षत्र के रूप में गुणगान कर रहे थे, उत्तर प्रदान करने में निरपवादतः असफल रहे हैं। तथापि और लोग हैं, जिन्होंने इस समस्या में रत होना अपने लिए उपयुक्त समझा है।

दूसरे खंड की अपनी समीक्षा (*Conrads Jahrbücher*, XI, 1885, S. 452-65) में प्रोफ़ेसर **व० लेक्सिज** ने इस प्रश्न को उठाया, यद्यपि प्रत्यक्ष समाधान प्रस्तुत करने का जिम्मा उन्होंने नहीं लिया। वह कहते हैं: "अगर जिंसों के विभिन्न वर्गों पर **अलग-अलग** विचार किया जाता है और अगर उनके मूल्य को उनके विनिमय मूल्य के बराबर, और अंतोक्त को उनकी क़ीमत के बराबर या समानुपात होना है, तो इस अंतर्विरोध" (मूल्य के रिकार्डो-मार्क्सीय नियम तथा लाभ की समान औसत दर के बीच के अंतर्विरोध) "का समाधान असंभव है"। उनके अनुसार समाधान केवल तभी संभव है, जब "हम अलग-अलग जिंसों के मूल्य को श्रम के अनुसार मापना बंद कर दें और केवल **समग्र रूप में** जिंसों के उत्पादन और पूंजीपतियों तथा मजदूरों के समुच्चित वर्गों में उनके वितरण पर विचार करें... मजदूर वर्ग को कुल उत्पाद का केवल एक निश्चित अंश ही प्राप्त होता है... दूसरा अंश, जो पूंजीपति वर्ग के हिस्से में जाता है, मार्क्सीय अर्थों में बेशी उत्पाद को, और तदनुसार... बेशी मूल्य को प्रकट करता

है। इसके बाद पूंजीपति वर्ग के सदस्य इस कुल बेशी मूल्य को आपस में उनके द्वारा नियोजित मज़दूरों की संख्या के अनुसार नहीं, बल्कि प्रत्येक द्वारा निवेशित पूंजी के अनुपात में विभाजित कर लेते हैं, जिसमें ज़मीन को भी पूंजी मूल्य के रूप में माना जाता है"। जिंसों में समाविष्ट श्रम इकाइयों द्वारा निर्धारित मार्क्सीय आदर्श मूल्य क़ीमतों के अनुरूप नहीं होते, वरन "वास्तविक क़ीमतों की ओर ले जानेवाले एक विचलन के प्रस्थान बिंदु माने जा सकते हैं। क़ीमतें इस तथ्य पर निर्भर करती हैं कि पूंजी की समान राशियां समान लाभों की अपेक्षा करती हैं"। इस कारण कुछ पूंजीपति अपने मालों के आदर्श मूल्यों से ऊंची क़ीमतें प्राप्त कर लेंगे और अन्य नीची क़ीमतें प्राप्त करेंगे। "लेकिन चूंकि बेशी मूल्य के हानि-लाभ एक दूसरे को पूंजीपति वर्ग के भीतर संतुलित कर देते हैं, इसलिए बेशी मूल्य की कुल मात्रा उतनी ही होती है, जितनी कि तब होती, जब सभी क़ीमतें आदर्श मूल्यों के समानुपात हों।"

यह प्रत्यक्ष है कि समस्या का यहां किसी भी प्रकार समाधान नहीं किया गया है, लेकिन – चाहे कुछ अस्पष्ट और सतही ढंग से – कुल मिलाकर सही **सूत्रीकरण** अवश्य कर दिया गया है। और यह हम एक ऐसे व्यक्ति से, जो उपरोक्त लेखक की तरह, "अनगढ़ अर्थशास्त्री" होने में कुछ गर्व का अनुभव करता है, जो अपेक्षा कर सकते थे, उससे सचमुच अधिक है। अन्य अनगढ़ अर्थशास्त्रियों की करनी की तुलना में, जिसकी हम बाद में चर्चा करेंगे, यह वास्तव में आश्चर्यजनक है। जो कुछ भी हो, लेक्सिज़ का अनगढ़ अर्थशास्त्र लासानी है। वह कहते हैं कि पूंजीगत लाभ भले ही मार्क्स द्वारा इंगित रास्ते से व्युत्पन्न **किये जा सकते हों**, किंतु इस मत को मानने के लिए कोई बात **विवश** नहीं करती। इसके विपरीत, वह कहते हैं, अनगढ़ अर्थशास्त्र के पास कम से कम अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होनेवाली व्याख्या है, अर्थात: "पूंजीपति विक्रेता, जैसे कच्चे मालों का उत्पादक, कारख़ानेदार, थोक विक्रेता और खुदरा विक्रेता, सभी क्रय क़ीमत से अधिक क़ीमत पर बेचकर और इस प्रकार जिंस के लिए वे स्वयं जो क़ीमत देते हैं, उसमें कुछ प्रतिशत जोड़कर अपने सौदों पर लाभ प्राप्त करते हैं। अकेला मज़दूर ही अपनी जिंस के लिए किसी प्रकार का अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने में असमर्थ रहता है; पूंजीपति की तुलना में अपनी प्रतिकूल स्थिति के कारण उसे अपना श्रम उसी क़ीमत पर बेचना पड़ता है, जितना वह उस पर ख़र्च करता है, अर्थात अपने निर्वाह के आवश्यक साधनों के लिए... इस प्रकार क़ीमतों में ये वृद्धियां क्रेता मज़दूर के संदर्भ में अपने पूरे प्रभाव को क़ायम रखती हैं और कुल उत्पाद के मूल्य के एक भाग को पूंजीपति वर्ग को अंतरित करवा देती हैं।"

यह देखने के लिए अपनी विचार शक्ति पर ज़्यादा ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं है कि पूंजी के लाभों की यह व्याख्या जिस प्रकार "अनगढ़ अर्थशास्त्र" द्वारा प्रस्तुत की जाती है, व्यवहार में वह वही है, जो बेशी मूल्य का मार्क्सीय सिद्धांत है; कि मज़दूर लेक्सिज़ के अनुसार भी उतनी ही "प्रतिकूल स्थिति" में हैं, जितने कि मार्क्स के अनुसार; कि वे ठगी के उतने ही शिकार हैं, क्योंकि हर ग़ैर-मज़दूर जिंसों को क़ीमत के ऊपर बेच सकता है, जबकि मज़दूर ऐसा नहीं कर सकता; और यह कि इस सिद्धांत के आधार पर कम से कम इतना ही युक्तियुक्त प्रतीत होनेवाला अनगढ़ समाजवाद क़ायम कर लेना उतना ही आसान है कि जैसा जेवंज़ और मेंगर के उपयोग मूल्य तथा सीमांत उपयोगिता सिद्धांत की बुनियाद पर इंगलैंड में क़ायम किया गया है। मैं तो यहां तक सोचता हूं कि अगर श्री जॉर्ज बर्नार्ड शॉ लाभ के इस सिद्धांत से परिचित हुए होते, तो इस चट्टान पर भविष्य के फ़ेबियन चर्च का निर्माण करने के लिए वह जेवंज और कार्ल मेंगर को तिलांजलि देकर संभवतः उसे दोनों हाथों से एकदम पकड़ लेते।

КАПИТАЛЪ

КРИТИКА ПОЛИТИЧЕСКОЙ ЭКОНОМІИ

СОЧИНЕНІЕ

КАРЛА МАРКСА

изданное подъ редакціей Фридриха Энгельса

Переводъ съ нѣмецкаго

ТОМЪ ТРЕТІЙ

Книга III

ПРОЦЕССЪ КАПИТАЛИСТИЧЕСКАГО ПРОИЗВОДСТВА ВЗЯТЫЙ ВЪ ЦѢЛОМЪ.

С.-ПЕТЕРБУРГЪ
1896

'पूंजी', खंड ३, भाग १ के पहले रूसी संस्करण के मुखपृष्ठ का चित्र

लेकिन वास्तव में यह सिद्धांत मार्क्सीय सिद्धांत का पदान्वय मात्र है। क़ीमत में सभी परिवृद्धियों की चुकाई किससे होती है? मजदूरों के "कुल उत्पाद" से। और यह इस कारण है कि पण्य "श्रम", या, जैसे मार्क्स इसे कहते हैं, श्रम शक्ति को उसकी क़ीमत के नीचे बेचना पड़ता है। कारण यह है कि अगर अपनी उत्पादन लागत से ऊंची क़ीमत पर बेचा जाना सभी जिंसों का एक सामान्य गुण है, जिसमें श्रम एकमात्र अपवाद है, क्योंकि वह सदा उत्पादन लागत पर ही बेचा जाता है, तो सीधी बात यह है कि अनगढ़ अर्थशास्त्र की इस दुनिया में जिस क़ीमत का राज है, श्रम उसके नीचे बेचा जाता है। इसलिए पूंजीपति, अथवा पूंजीपति वर्ग, को प्राप्त होनेवाला परिणामी अतिरिक्त लाभ, अंतिम विश्लेषण में, इसलिए पैदा होता है और केवल इसलिए पैदा हो सकता है कि मजदूर को, अपनी श्रम शक्ति की क़ीमत के समतुल्य का पुनरुत्पादन करने के बाद, अतिरिक्त उत्पादों का – अर्थात बेशी उत्पाद का, निर्वेतन श्रम के उत्पाद का, अथवा बेशी मूल्य का – उत्पादन करना होता है, जिसके लिए उसे कुछ चुकाया नहीं दिया जाता। लेक्सिज़ अपनी शब्दावली के चयन में अत्यधिक सतर्क व्यक्ति हैं। वह कहीं भी यह साफ़-साफ़ नहीं कहते कि उपरोक्त उनकी अपनी अवधारणा है। लेकिन अगर यह है, तो यह दिवावत स्पष्ट है कि हमारा ऐसे सामान्य अनगढ़ अर्थशास्त्रियों में से किसी से, जिनके बारे में वह स्वयं कहते हैं कि उनमें से प्रत्येक मार्क्स की निगाहों में "हद से हद निकम्मा मूर्ख ही है" नहीं, बल्कि अनगढ़ अर्थशास्त्री के बाने में एक मार्क्सवादी से साबिक़ा पड़ा है। यह बाना सचेतन रूप में आ गया है कि अवचेतन रूप में, यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है, जिसमें यहां हमारी दिलचस्पी नहीं है। जिसे इसकी छानबीन करने की इच्छा हो, वह इसकी भी पड़ताल कर सकता है कि ऐसा सयाना आदमी जैसे कि लेक्सिज़ निस्संदेह हैं, कैसे एक समय द्विधातुमान जैसी बकवास का समर्थन कर सकता था।

प्रश्न का वास्तव में उत्तर देने का सर्वप्रथम प्रयास डाक्टर **कोनराद श्मिद्त** ने अपनी *Die Durchschnittsprofitrate auf Grundlage des Marx'schen Werthgesetzes* (Stuttgart, Dietz, 1889) शीर्षक पुस्तिका में किया है। श्मिद्त बाजार क़ीमतों की रचना के ब्यौरों का मूल्य के नियम और औसत लाभ दर – दोनों – से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं। औद्योगिक पूंजीपति अपने उत्पाद में, प्रथमतः, अपने द्वारा पेशगी दी हुई पूंजी का समतुल्य और द्वितीयतः, बेशी उत्पाद, जिसके लिए उसने कुछ नहीं दिया है, प्राप्त करता है। लेकिन बेशी उत्पाद प्राप्त करने के लिए उसे उत्पादन में पूंजी पेशगी देनी होगी। अर्थात इस बेशी उत्पाद को हस्तगत कर सकने के लिए उसे साकार श्रम की कुछ मात्रा लगानी होगी। इसलिए पूंजीपति के वास्ते उसके द्वारा पेशगी दी पूंजी उसके लिए इस बेशी उत्पाद को प्राप्त करने के निमित्त सामाजिक रूप में आवश्यक साकार श्रम की मात्रा को प्रकट करती है। यह बात प्रत्येक औद्योगिक पूंजीपति पर लागू होती है। लेकिन, मूल्य के नियम के अनुसार, जिंसें चूंकि उनके उत्पादन के लिए सामाजिक रूप में आवश्यक श्रम के अनुपात में परस्पर विनिमीत होती हैं, और – जहां तक पूंजीपति का संबंध है – बेशी उत्पाद के निर्माण के लिए आवश्यक श्रम उसकी पूंजी में संचित विगत श्रम होता है, इसलिए यह नतीजा निकलता है कि बेशी उत्पाद उनके उत्पादन के लिए आवश्यक पूंजी राशियों के अनुपात में विनिमीत होते हैं, न कि उनमें **वस्तुतः** समाविष्ट श्रम के अनुपात में। इसलिए पूंजी की प्रत्येक इकाई का हिस्सा उत्पादन में व्ययित पूंजियों के योग से विभाजित सभी उत्पादित बेशी मूल्यों के योग के बराबर होता है। तदनुसार, पूंजी की समान राशियां समान कालावधियों में समान लाभ प्रदान करती हैं, और इसकी सिद्धि इस

प्रकार परिकलित बेशी उत्पाद की लागत क़ीमत, अर्थात औसत लाभ, को चुकता उत्पाद की लागत क़ीमत में जोड़कर और चुकता तथा अनचुकता उत्पाद –दोनों– को इस वर्धित क़ीमत पर बेचकर की जाती है। लाभ की औसत दर औसत पण्य मूल्यों के, जैसी कि श्मिद्त की मान्यता है, मूल्य के नियम द्वारा निर्धारित होने के बावजूद रूप लेती है।

व्याख्या अत्यधिक विचक्षण है। वह पूर्णतः हेगेलीय प्रतिरूप के नमूने पर है, किंतु अधिकांश हेगेलीय व्याख्याओं की ही भांति वह सही नहीं है। बेशी उत्पाद अथवा चुकता उत्पाद, किसी से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। यदि मूल्य के नियम को औसत क़ीमतों के लिए भी **प्रत्यक्षतः** संगत होना है, तो दोनों को ही उनके उत्पादन में अपेक्षित और व्ययित सामाजिक रूप में आवश्यक श्रम के समानुपात दामों पर बिकना चाहिए। मूल्य का नियम आरंभ से ही पूंजीवादी चिंतन पद्धति से व्युत्पन्न इस विचार के विरुद्ध लक्षित है कि विगत का संचित श्रम, जिसमें पूंजी समाविष्ट होती है, न केवल परिपूर्ण मूल्य की एक निश्चित राशि है, बल्कि लाभ के उत्पादन और रचना में एक उपादान के नाते वह मूल्य उत्पन्न भी करता है और इसलिए वह स्वयं जितना मूल्य रखता है, उससे अधिक मूल्य का स्रोत होता है; वह यह स्थापित करता है कि एकमात्र सजीव श्रम में ही यह क्षमता होती है। यह सुविदित है कि पूंजीपति अपनी पूंजियों के अनुपात में समान लाभों की अपेक्षा करते हैं और पूंजी की अपनी पेशगियों को अपने लाभों की एक तरह की लागत क़ीमत समझते हैं। लेकिन श्मिद्त अगर इस अवधारणा का औसत लाभ दर पर आधारित क़ीमतों का मूल्य के नियम के साथ सामंजस्य स्थापित करने के साधन के रूप में उपयोग करते हैं, तो वह मूल्य के नियम पर उसके एक सहनिर्धारक उपादान के रूप में एक ऐसी अवधारणा का आरोपण करके, जिससे वह पूर्णतः असंगत है, स्वयं इस नियम का ही खंडन कर देते हैं।

या तो संचित श्रम उसी प्रकार मूल्य का सृजन करता है कि जैसे सजीव श्रम। ऐसी हालत में मूल्य का नियम लागू नहीं होता।

या फिर वह मूल्य सृजन नहीं करता। ऐसी हालत में श्मिद्त का निरूपण मूल्य के नियम के साथ असंगत है।

श्मिद्त समाधान के बिलकुल निकट आ जाने पर भटककर इस उपमार्ग में पहुंच गये, क्योंकि वह मानते थे कि प्रत्येक पृथक जिंस की औसत क़ीमत की मूल्य के नियम के साथ समानुरूपता का प्रदर्शन करने के लिए उनके पास गणितीय सूत्र से कम कुछ नहीं होना चाहिए। किंतु लक्ष्य की आसन्न सन्निधि में इस मामले में ग़लत लीक पर होने पर भी उनकी शेष पुस्तिका उस समझ का प्रमाण है, जिससे उन्होंने 'पूंजी' के पहले दोनों खंडों से और निष्कर्ष निकाले हैं। उन्हें लाभ की दर की अभी तक अव्याख्येय गिरने की प्रवृत्ति की मार्क्स द्वारा तीसरे खंड के तीसरे भाग में विकसित सही व्याख्या को स्वतंत्र रूप में पाने का, और, इसी प्रकार, वाणिज्यिक लाभ की औद्योगिक बेशी मूल्य से व्युत्पत्ति की व्याख्या करने का, और ब्याज तथा किराया ज़मीन के बारे में बहुत से ऐसे विचार प्रकट करने का, जिनमें वह मार्क्स द्वारा तीसरे खंड के चौथे तथा पांचवें भागों में विकसित किये जानेवाले विचारों का पूर्वानुमान कर लेते हैं, श्रेय प्राप्त है।

बाद के एक लेख (*Neue Zeit*, १८९२-९३, अंक ३ तथा ४) में श्मिद्त समस्या को हल करने के अपने प्रयास में एक भिन्न लीक पकड़ते हैं। वह कहते हैं कि यह प्रतिस्पर्धा ही है कि जो पूंजी का अल्प औसत लाभवाली उत्पादन शाखाओं से उच्च औसत लाभवाली शा-

खाओं को अंतरण करवाकर औसत लाभ दर को पैदा करती है। यह कोई दैवी ज्ञान नहीं है कि प्रतिस्पर्धा लाभों की महान समकारी है। लेकिन अब श्मिद्त यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि लाभों का यह समकरण अधिपूर्त मालों की विक्रय क़ीमत मूल्य के उस परिमाण तक कम किये जाने के समरूप है, जो समाज मूल्य के नियम के अनुसार उनके लिए दे सकता है। स्वयं पुस्तक में मार्क्स के विश्लेषण इसका पर्याप्त प्रमाण देते हैं कि यह रास्ता भी क्यों लक्ष्य पर न ले जा सका।

श्मिद्त के बाद **पी० फ़ीरमन** ने समस्या को हाथ में लिया (*Conrads Jahrbücher*, dritte Folge, III, S. 793)। मैं मार्क्सीय विश्लेषण के अन्य पहलुओं पर उनकी टीकाओं में नहीं जाऊंगा। वे इस मिथ्या मान्यता पर आधारित हैं कि मार्क्स वहां भी परिभाषा देना चाहते हैं, जहां वह महज़ छानबीन करते होते हैं, और यह कि सामान्य रूप में मार्क्स की कृतियों में स्थिर, नपी-कटी, सदा-सर्वदा के लिए उपयोज्य परिभाषाएं पाने की अपेक्षा की जा सकती है। यह स्वतःस्पष्ट है कि जहां चीज़ों और उनके अंतःसंबंधों की स्थिर नहीं, प्रत्युत परिवर्तनशील रूप में कल्पना की जाती है, वहां उनके मानस बिंब, विचार भी इसी प्रकार परिवर्तन और रूपांतरण के अधीन होते हैं; और वे अनम्य परिभाषाओं में जकड़े नहीं होते, बल्कि अपने उदय की ऐतिहासिक अथवा तार्किक प्रक्रिया में विकसित होते हैं। इससे निस्संदेह यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों अपनी पहली पुस्तक के आरंभ में मार्क्स साधारण पण्य उत्पादन को ऐतिहासिक पूर्वाधार बनाकर चलते हैं, ताकि इस आधार पर अंततः पूंजी तक पहुंच जायें, क्यों वह एक तर्कतः और इतिहासतः द्वितीयक रूप – पहले ही पूंजीवादी ढंग से आपरिवर्तित जिंस – के बजाय साधारण जिंस से चलते हैं। बेशक, फ़ीरमन इसे देखने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं। इन तथा अन्य गौण प्रश्नों को, जो और भी विविध आपत्तियों को पैदा कर सकते हैं, किनारे ही छोड़ देना बेहतर है और हम सीधे मामले के सार में चले जाते हैं। जहां सिद्धांत फ़ीरमन को यह सिखाता है कि बेशी मूल्य की एक निश्चित दर होने पर बेशी मूल्य नियोजित श्रम शक्ति का समानुपाती होता है, वहां अनुभव से वह यह सीखते हैं कि एक निश्चित औसत लाभ दर होने पर लाभ कुल नियोजित पूंजी का समानुपाती होता है। इसकी वह यह कहकर व्याख्या करते हैं कि लाभ एक सोपाधिक परिघटना मात्र है (जिसका उनकी भाषा में यह अर्थ है कि वह एक निश्चित सामाजिक व्यवस्था का अंग होता है, जिसके साथ ही वह बना रहता और लुप्त हो जाता है)। उसका अस्तित्व सीधे पूंजी से जुड़ा होता है। अंतोक्त को, बशर्ते कि वह इतनी समर्थ हो कि अपने लिए लाभ प्राप्त कर सके, प्रतिस्पर्धा भी सभी पूंजी राशियों के बराबर लाभ की दर प्राप्त करने के लिए विवश करती है। लाभ की समान दर के बिना पूंजीवादी उत्पादन एकदम असंभव है। इस उत्पादन पद्धति में लाभ की एक ख़ास दर होने पर अलग-अलग पूंजीपतियों के लाभ की मात्रा केवल उनकी पूंजी के परिमाण पर ही निर्भर हो सकती है। दूसरी ओर, लाभ में बेशी मूल्य, निर्वेतन श्रम समाविष्ट होता है। किंतु बेशी मूल्य, जिसका परिमाण श्रमिक शोषण की मात्रा पर टिका होता है, किस प्रकार लाभ में रूपांतरित हो जाता है, जिसका परिमाण नियोजित पूंजी पर निर्भर करता है? "सीधे-सीधे मालों को उन सभी उत्पादन शाखाओं में, जिनमें... स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के बीच अनुपात सबसे अधिक होता है, उनके मूल्य से अधिक पर बेचकर; किंतु इसमें यह भी अंतर्निहित है कि उत्पादन की उन शाखाओं में माल अपने मूल्य से कम पर बेचे जाते हैं, जिनमें स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के बीच

अनुपात = c:v* न्यूनतम होता है और माल अपने वास्तविक मूल्य पर केवल उन शाखाओं में बेचा जाता है, जिनमें c:v का अनुपात किसी ख़ास औसत राशि को प्रकट करता है... क्या अलग-अलग क़ीमतों और उनके अपने-अपने मूल्यों में यह विसंगति मूल्य सिद्धांत का खंडन है? किसी भी प्रकार नहीं। कारण यह कि कुछ मालों के दाम (क़ीमत) अपने मूल्य से ऊपर चढ़ते हैं, जैसे अन्यों के दाम उससे नीचे गिरते हैं, इसलिए क़ीमतों का कुल योग मूल्यों के कुल योग के बराबर रहता है... और अंत में यह विसंगति विलुप्त हो जाती है।" यह विसंगति एक "विक्षोभ" है; "तथापि, यथार्थ विज्ञानों में पूर्वानुमेय विक्षोभ को किसी नियम का खंडन मानने की प्रथा नहीं है"।

नवें अध्याय में संबद्ध अंशों की उपरोक्त से तुलना करने पर पता लगेगा कि फ़ीरमन ने वास्तव में अपनी उंगली असली मुद्दे पर रख दी है। लेकिन उनके प्रतिभापूर्ण लेख के प्रति प्रदर्शित अनुचित उदासीनता यह दिखलाती है कि इस खोज के बाद भी फ़ीरमन को पूर्ण और सर्वांगीण समाधान निकालने में समर्थ बनने के लिए अभी कितनी और अंतःसंयोजक कड़ियों की आवश्यकता पड़ेगी। यद्यपि इस समस्या में बहुतों की रुचि थी, पर वे सभी विफलता का मुंह देखने से और भी डरते थे। और यह फ़ीरमन ने अपनी खोज को जिस अपूर्ण रूप में छोड़ा है, सिर्फ़ उसी से नहीं, बल्कि मार्क्सीय विश्लेषण की उनकी संकल्पना और मीमांसा, जो इस मिथ्या संकल्पना पर आधारित थी, दोनों की असंदिग्ध दोषपूर्णता से स्पष्ट है।

जब कभी भी अपने को किसी कठिन मामले में मूर्ख बनाया जा सकता है, ज़ूरिच के श्रीयुत प्रोफ़ेसर **यूलियस वोल्फ़** ऐसा करने से कभी नहीं चूकते। वह हमें बताते हैं (*Conrads Jahrbücher*, 1891, dritte Folge, II, S. 352 तथा आगे) कि सारी समस्या सापेक्ष बेशी मूल्य में हल हो जाती है। सापेक्ष बेशी मूल्य का उत्पादन परिवर्ती पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी की वृद्धि पर आधारित होता है। "स्थिर पूंजी में प्रत्येक योग श्रमिकों की उत्पादक शक्ति में योग की पूर्वापेक्षा करता है। चूंकि उत्पादक शक्ति में यह योग (मज़दूरों के निर्वाह व्यय के अवनयन द्वारा) बेशी मूल्य में भी योग करता है, इसलिए बढ़ते बेशी मूल्य और कुल पूंजी में स्थिर पूंजी के बढ़ते अंश में एक प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हो जाता है। स्थिर पूंजी में योग श्रम की उत्पादक शक्ति में योग को प्रकट करता है। परिवर्ती पूंजी चूंकि वही रहती है और स्थिर पूंजी बढ़ती है, इसलिए, मार्क्स के अनुसार, बेशी मूल्य को भी बढ़ना चाहिए। हमारे सामने प्रस्तुत की गयी समस्या यही थी।"

ठीक है, मार्क्स पहली पुस्तक में सैकड़ों जगहों पर इसके बिलकुल विपरीत बात कहते हैं; ठीक है, यह दावा कि मार्क्स के अनुसार जब परिवर्ती पूंजी संकुचित होती है, तब सापेक्ष बेशी मूल्य स्थिर पूंजी में वृद्धि के अनुपात में बढ़ता है, इतना विस्मयकारी है कि उसके आगे सारी संसदीय भाषणबाज़ी भी फीकी पड़ जाती है; ठीक है, श्रीयुत यूलियस वोल्फ़ अपनी हर पंक्ति में यह प्रदर्शित करते हैं कि चाहे सापेक्षतः हो या निरपेक्षतः, वह सापेक्ष अथवा निरपेक्ष बेशी मूल्य की संकल्पनाओं को लेशमात्र भी नहीं समझते; निस्संदेह, वह स्वयं कहते हैं कि "पहली नज़र में यही लगता है कि आप सचमुच असंगतियों में घिरे हुए हैं," जो, प्रसंगवश, उनके पूरे लेख में एकमात्र सच्चा कथन है। लेकिन इस सबसे होता क्या है? श्रीयुत यूलियस वोल्फ़ को अपनी प्रतिभापूर्ण खोज पर इतना गर्व है कि वह उसके लिए मार्क्स पर मरणोपरांत प्रशंसाओं

---

* c – स्थिर पूंजी, v – परिवर्ती पूंजी। – अनु०

की बौछार करने और स्वयं अपनी अथाह मूर्खता का "पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की उनकी (मार्क्स की) आलोचना पद्धति के गहन तथा दूरदर्शी ढंग के नये प्रमाण" के रूप में गुणगान करने से बाज़ नहीं आ सकते।

लेकिन सबसे बढ़िया बात तो अब आती है। श्रीयुत वोल्फ़ कहते हैं: "रिकार्डो ने भी इसी प्रकार यह दावा किया था कि पूंजी का समान निवेश समान बेशी मूल्य (लाभ) उत्पन्न करता है, जैसे श्रम का उतना ही व्यय उतना ही बेशी मूल्य (अपनी मात्रा के लिहाज़ से) पैदा करता है। और अब प्रश्न यह था कि एक दूसरे से किस प्रकार मेल खाता था। किंतु मार्क्स ने समस्या को इस प्रकार रखने के ढंग को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है। **उन्होंने निस्संदिग्ध रूप में (तीसरे खंड में)** प्रमाणित कर दिया है कि दूसरा कथन अनिवार्यतः मूल्य के नियम का परिणाम नहीं है, वह उनके मूल्य के नियम का खंडन करता है और इसलिए उसे... तत्काल नकार दिया जाना चाहिए।" और तदनंतर वोल्फ़ इसकी पड़ताल करते हैं कि हम दोनों, मार्क्स या मैं, में से किसने ग़लती की थी। क़ुदरती तौर पर उन्हें यह नहीं सूझता कि असल में वह ख़ुद ही अंधेरे में टटोल रहे हैं।

इस चुनिंदा टुकड़े पर अगर मैंने एक शब्द भी ज़ाया किया, तो मैं अपने पाठकों को नाराज़ कर दूंगा और बात के मज़े को देखने में चूक जाऊंगा। मैं सिर्फ़ इतना ही जोड़ूंगा कि प्रोफ़ेसरों में चलनेवाली इस तथाकथित गपशप के बारे में बताने के लिए कि कोनराद श्मिदृत की उपरोक्त कृति "प्रत्यक्षतः एंगेल्स द्वारा प्रेरित की गयी थी", इस मौक़े का उपयोग करने की उनकी यह धृष्टता उनकी उस धृष्टता की टक्कर की ही है, जिससे उन्होंने एक बार यह कहने की हिम्मत की थी कि "मार्क्स ने तीसरे खंड में" क्या कुछ "निस्संदिग्ध रूप में सिद्ध कर दिया है"। श्रीयुत यूलियस वोल्फ़! जिस दुनिया में आप रहते और काम करते हैं, उसमें उस आदमी के लिए, जो सार्वजनिक रूप में औरों के सामने एक समस्या प्रस्तुत करता है, अपने निकट मित्रों को चुपके से उसके समाधान से अवगत करवा देना आम बात हो सकती है। मैं यह मानने के लिए पूरी तरह से तैयार हूं कि आप ऐसा करने में समर्थ हैं। लेकिन यह बात कि मेरी दुनिया में आदमी को ऐसी ओछी चालें चलने की ज़रूरत नहीं है, इस भूमिका से प्रमाणित हो जाती है।

मार्क्स का देहांत हुआ ही था कि श्री **एकिले लोरिया** ने अविलंब उनके बारे में *Nuova Antalogia* (अप्रैल, १८८३) में एक लेख प्रकाशित कर दिया। आरंभ में मिथ्या सूचना से परिपूर्ण जीवनी, और उसके बाद सार्वजनिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक कृतित्व की मीमांसा। वह मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी संकल्पना का मिथ्याकरण करते हैं और ऐसी ढीठता के साथ उसे विकृत करते हैं कि वह एक बड़े इरादे को ही जताती है। और इस इरादे को अंततः पूरा भी कर लिया गया। १८८६ में इन्हीं श्री लोरिया ने एक पुस्तक *La teoria economica della constituzione politica* प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने अपने विस्मित समकालीनों के आगे घोषित किया कि मार्क्स की इतिहास की संकल्पना, जिसे १८८३ में उन्होंने इस क़दर पूरी तरह से और जान-बूझकर ग़लत ढंग से पेश किया था, वह उनकी अपनी ही खोज थी। बेशक, इस पुस्तक में मार्क्सीय सिद्धांत को एक तरह से कूपमंडूकता के स्तर पर ले आया गया है और ऐतिहासिक उदाहरण तथा प्रमाण ऐसी भद्दी भूलों से भरे हुए हैं कि उन्हें चौथी कक्षा के बच्चे में भी कभी गवारा नहीं किया जा सकता। लेकिन इससे होता क्या है? यह खोज कि राजनीतिक अवस्थाओं और घटनाओं की व्याख्या हर कहीं निरपवाद

रूप में तदनुरूप आर्थिक अवस्थाओं द्वारा होती है, जैसा कि यहां दर्शाया गया है, १८४५ में मार्क्स द्वारा नहीं, बल्कि १८८६ में श्री लोरिया द्वारा की गयी थी। कम से कम उन्होंने सुखपूर्वक अपने देशवासियों को, और इस पुस्तक के फ़्रांसीसी में प्रकाशित होने के बाद कुछ फ़्रांसीसियों को भी, इसका क़ायल कर ही लिया है, और अब, जब तक कि इटालवी समाजवादी यशस्वी लोरिया को उनके चोरी के मयूर-पंखों से अनावृत्त करने का समय नहीं निकालते, वह इटली में इतिहास के एक नये युगांतरकारी सिद्धांत के स्रष्टा होने का दिखावा कर सकते हैं।

किंतु यह तो श्री लोरिया की शैली का एक नमूना ही है। वह हमें विश्वास दिलाते हैं कि मार्क्स के सभी सिद्धांत **सचेतन** वितंडा (un consaputo sofisma) पर आधारित हैं; कि मार्क्स तब भी तर्काभासों से बाज़ नहीं आते थे कि जब **वह जानते थे कि वे तर्काभास हैं** (sapendoli tali), आदि। और इस प्रकार अपने पाठकों पर इसी तरह के अनेक घृणित लांछनों द्वारा वांछित प्रभाव पैदा करने के बाद, जिससे कि वे मार्क्स को बतर्ज़ लोरिया सिद्धांतहीन उद्धत व्यक्ति ही समझने लगें, जो अपना थोड़ा सा मालमता हमारे पादुआ के प्रोफ़ेसर जैसी निकृष्ट बकवास से ही हासिल कर लेता है, वह उनके सामने एक महत्वपूर्ण रहस्य का उद्घाटन करते हैं और इस प्रकार हमें लाभ की दर पर वापस ले जाते हैं।

श्री लोरिया कहते हैं: मार्क्स के अनुसार, पूंजीवादी औद्योगिक प्रतिष्ठान में उत्पन्न बेशी मूल्य की मात्रा (जिसका श्री लोरिया यहां लाभ से तदात्मीकरण करते हैं) को उसमें नियोजित परिवर्ती पूंजी पर निर्भर होना चाहिए, क्योंकि स्थिर पूंजी लाभ उत्पन्न नहीं करती। किंतु यह वास्तविकता के विपरीत है। कारण यह कि व्यवहार में लाभ परिवर्ती नहीं, वरन कुल पूंजी पर निर्भर होता है। और मार्क्स स्वयं इसे मानते हैं (Buch I, Kap. XI)* और स्वीकार करते हैं कि ऊपरी तौर पर तथ्य उनके सिद्धांत का खंडन करते प्रतीत होते हैं। लेकिन वह इस अंतर्विरोध पर कैसे पार पाते हैं? वह अपने पाठकों को एक अभी तक अप्रकाशित उत्तरवर्ती खंड का हवाला देते हैं। लोरिया अपने पाठकों को इस खंड के बारे में पहले ही बता चुके हैं कि उन्हें विश्वास नहीं कि मार्क्स ने कभी भी इसे लिखने का विचार किया हो और अब वह इतराते हुए कहते हैं: "मेरा यह दावा करना ग़लत नहीं रहा है कि यह दूसरा खंड, जिसे उसके कभी प्रकाश में आये बिना मार्क्स सदा अपने विरोधियों पर पटकते रहते हैं, ऐसा चालाकी-भरा साधन भी हो सकता है कि जिसका मार्क्स वैज्ञानिक तर्कों का अभाव हो जाने पर उपयोग किया करते थे (un ingegnoso spediente ideato dal Marx a sostituzione degli argomenti scientifici)।" और इसके बाद भी जो कोई भी इसका क़ायल नहीं होता कि मार्क्स वैज्ञानिक ठगों की उसी कोटि में हैं कि जिसमें यशस्वी लोरिया हैं, उसका उद्धार नहीं किया जा सकता।

हमने कम से कम इतना तो जान ही लिया है: श्री लोरिया के अनुसार, बेशी मूल्य का मार्क्सीय सिद्धांत लाभ की सामान्य समान दर के अस्तित्व के साथ पूर्णतः असंगत है। इसके बाद दूसरे खंड का और उसके साथ इस प्रश्न पर ही मेरी सार्वजनिक चुनौती का आगमन हुआ। यदि श्री लोरिया हम विनयशील जर्मनों में कोई होते, तो वह किसी हद तक संकोच का अनुभव करते। लेकिन वह तो अहंकारी दक्षिणवासी हैं, गरम जलवायु में रहनेवाले हैं, जहां – जैसा कि वह प्रमाणित कर सकते हैं – मिज़ाज का ठंडापन एक प्राकृतिक आवश्यकता है। लाभ की दर का प्रश्न सार्वजनिक रूप में पेश किया गया है। श्री लोरिया ने उसे सार्वजनिक रूप में

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, अध्याय १३, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९८७। – सं०

असमाधेय घोषित कर दिया है। और इसीलिए अब वह सार्वजनिक रूप में उसे हल करके अपने को भी मात दिये दे रहे हैं।

इस चमत्कार की सिद्धि *Conrads Jahrbücher* (neue Folge, Buch XX, S. 272 तथा उसके आगे) में कोनराद श्मिद्त की पूर्वोद्धृत पुस्तिका से संबद्ध एक लेख में की जाती है। श्मिद्त से यह जानने के बाद कि वाणिज्यिक लाभ कैसे बनता है, लोरिया को अचानक समझ आ गयी। "चूंकि श्रम काल के ज़रिये मूल्य निर्धारण करना उन पूंजीपतियों के लिए हितकर रहता है, जो अपनी पूंजी के अधिक बड़े अंश को मजदूरी में निवेशित करते हैं, इसलिए अनुत्पादक" (वाणिज्यिक पढ़िये) "पूंजी इन सुविधासंपन्न पूंजीपतियों से उच्चतर ब्याज" (लाभ पढ़िये) "प्राप्त कर सकती है और इस प्रकार अलग-अलग औद्योगिक पूंजीपतियों में समकरण कर सकती है... उदाहरण के लिए, यदि क, ख, ग में से प्रत्येक औद्योगिक पूंजीपति उत्पादन में १०० कार्य दिवसों और क्रमशः ०, १०० और २०० स्थिर पूंजी का उपयोग करता है, और यदि १०० कार्य दिवस की मज़दूरी ५० कार्य दिवस हो, तो प्रत्येक पूंजीपति ५० कार्य दिवस का बेशी मूल्य प्राप्त करता है, लाभ की दर पहले पूंजीपति के लिए १००%, दूसरे के लिए ३३.३% और तीसरे के लिए २०% रहती है। लेकिन यदि एक चौथा पूंजीपति घ ३०० की अनुत्पादक पूंजी संचित कर लेता है, जो क से मूल्य में ४० कार्य दिवस के बराबर ब्याज" (लाभ) "और ख से २० कार्य दिवस का ब्याज तलब कर लेती है, तो क तथा ख पूंजीपतियों की लाभ दर घटकर, ग की दर की ही भांति, २०% रह जायेगी, जबकि अपनी ३०० की पूंजी से घ ६० का लाभ, अथवा – अन्य पूंजीपतियों की ही भांति – २०% की लाभ दर प्राप्त करता है।"

ऐसी विस्मयकारी दक्षता के साथ यशस्वी लोरिया हाथ की सफ़ाई से उस प्रश्न को हल कर देते हैं, जिसे दस साल पहले उन्होंने असमाधेय घोषित कर दिया था। अभाग्यवश, उन्होंने हमें यह रहस्य नहीं बताया कि "अनुत्पादक पूंजी" ने उद्योगपतियों का औसत लाभ दर से ज्यादा जो अतिरिक्त लाभ है, उसे उनसे ऐंठ लेने की और अपनी ही जेब में रखे रहने की शक्ति कहां से प्राप्त कर ली, जैसे भूस्वामी असामी के बेशी लाभ को किराया ज़मीन के रूप में हड़प लेता है। सचमुच, उनके अनुसार तो यह व्यापारी लोग ही होंगे कि जो उद्योगपतियों से किराया ज़मीन के सदृश ख़िराज उगाहेंगे और इस प्रकार एक औसत लाभ दर उत्पन्न करेंगे। वाणिज्यिक पूंजी वास्तव में औसत लाभ दर उत्पन्न करने में एक अत्यंत आवश्यक उपादान है, जैसा कि लगभग हर कोई जानता है। लेकिन कोई साहित्यिक मुहिमबाज ही, जो मन ही मन राजनीतिक अर्थशास्त्र को तिरस्कार से देखता है, यह दावा करने की जुर्रत कर सकता है कि वह सामान्य लाभ दर से ज्यादा जो भी बेशी मूल्य है, उस सारे को – पेश्तर इसके कि यह सामान्य दर रूप भी ले – जज्ब कर लेने की, और उसे अपने लिए किराया ज़मीन में – और वह भी किसी तरह की स्थावर संपत्ति से साबिक़ा रखने की ज़रूरत के बिना – रूपांतरित करने की जादुई शक्ति रखती है। यह दावा भी कम विस्मयकारी नहीं है कि वाणिज्यिक पूंजी उन ख़ास उद्योगपतियों को ढूंढ लेती है, जिनका बेशी मूल्य औसत लाभ दर के लिए पर्याप्त ही होता है, और वह मार्क्सीय मूल्य के नियम के इन अभागे शिकारों की दुर्दशा को उनके उत्पाद उनकी ओर से मुफ़्त बेचकर, उसके लिए दलाली तक भी मांगे बिना, किसी हद तक

कम करना एक सौभाग्य समझती है। जो यह सोचता हो कि मार्क्स को ऐसी ओछी तिकड़मों का आसरा लेने की ज़रूरत रही होगी, वह आदमी कैसा लाल बुझक्कड़ होगा!

लेकिन यशस्वी लोरिया तो अपनी पूरी महिमा के साथ तब प्रकट होते हैं कि जब हम उनकी उनके उत्तरवासी प्रतिद्वंद्वियों से, उदाहरण के लिए, श्री यूलियस वोल्फ़ से – और वह भी कोई कल के बच्चे नहीं हैं – तुलना करते हैं। *Sozialismus und kapitalistische Gesellschaftsordnung* नामक अपने भारी पोथे में भी माननीय वोल्फ़, इटलीवासी की बगल में, कैसे भौंकते पिल्ले जैसे दिखायी देते हैं! Maestro [उस्ताद] के विरल आत्मविश्वास के आगे वह कैसे अनाड़ी, बल्कि मैं तो लगभग कहा चाहता हूं कि कैसे साधारण, प्रतीत होते हैं, जो यह मानकर चलते हैं कि – और लोगों से न कम न ज़्यादा – मार्क्स भी उतने ही वितंडावादी, तर्काभासी, बगुलाभगत और लाल बुझक्कड़ थे कि जितने श्री लोरिया स्वयं, कि मार्क्स जब भी कठिन स्थिति में होते थे, तो लोगों को अपने सिद्धांत को किसी बादवाले खंड में दुरुस्त कर देने के वचन से बहका लिया करते थे, जबकि वह बख़ूबी जानते थे कि न तो वह उसे लिख सकते हैं और न कभी लिखेंगे ही। असीम उद्दंडता और उसके साथ कठिन स्थितियों से सर्पमीन की तरह फिसल निकल जाने की जन्मजात प्रवृत्ति, अपने पर हुई लानतों की बौछारों के लिए घोर तिरस्कार की भावना, दूसरों की उपलब्धियों की आंख मूंदकर चोरी, दुराग्रहपूर्ण और भड़कीली इश्तहारबाज़ी, मित्रों के समवेत स्वर द्वारा अपनी ख्याति को फैलाना – इस सबमें कौन उनकी बराबरी कर सकता है?

इटली उत्कृष्टता का देश है। उस महान युग से ही कि जब वहां आधुनिक काल का प्रभात हुआ था, उसने – दान्ते से गैरीबाल्डी तक – अप्रतिम क्लासिकी परिपूर्णता के चरित्र पैदा किये हैं। लेकिन उसके अपकर्ष और विदेशी प्रभुत्व के काल ने उसे क्लासिकी चरित्र-मुखौटे भी प्रदान किये हैं, जिनमें से दो – स्गानारेल्ले और दुल्कामारा के – विशेषकर सुस्पष्ट नमूने हैं। इन दोनों की क्लासिकी एकता हमारे यशस्वी लोरिया में मूर्त है।

अंत में मुझे अपने पाठकों को अटलांटिक के पार ले जाना होगा। न्यूयार्क के डाक्टर (आयुर्विज्ञान) **जॉर्ज सी० स्टीबलिंग** ने भी समस्या का एक समाधान, और एक बहुत ही सरल समाधान निकाला है। इतना सरल कि सचमुच, न तो यहां और न वहां, किसी ने भी उनकी तरफ़ गंभीरता से ध्यान नहीं दिया है। इसने उन्हें नाराज़ कर दिया और उन्होंने महासागर के दोनों किनारों पर प्रकाशित पुस्तिकाओं और अख़बारी लेखों के अंतहीन प्रवाह में इस अन्याय के ख़िलाफ़ तीखी शिकायत की। उन्हें *Neue Zeit* में बताया गया कि उनका सारा समाधान एक गणितीय त्रुटि पर आधारित है। किंतु इससे उन्हें शायद ही परेशानी हो सकती थी। मार्क्स ने भी गणितीय त्रुटियां की थीं, मगर फिर भी कई बातों में वह सही थे। इसलिए आइये, डाक्टर स्टीबलिंग के समाधान पर एक नज़र डालें।

"मैं समान कालावधियों के लिए समान पूंजियों से काम करनेवाले दो कारख़ाने लेता हूं, किंतु उनमें स्थिर तथा परिवर्ती पूंजियों का अनुपात भिन्न-भिन्न है। मैं कुल पूंजी $(c+v)=y$, और स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के अंतर का अनुपात $=x$ कर देता हूं। कारख़ाना I के लिए $y=c+v$ है, कारख़ाना II के लिए $y=(c-x)+(v+x)$ है। इसलिए कारख़ाना I की बेशी मूल्य दर $=\frac{s}{v}$ और कारख़ाना II की $\frac{s}{v+x}$ है। लाभ (p) वह है, जिसे मैं कुल बेशी मूल्य (s) कहता हूं, जिससे कुल पूंजी y, अथवा $c+v$, नियत समय में संवर्धित होती है; अतः $p=s$। इसलिए, कारख़ाना I की लाभ दर $=\frac{p}{y}$ अथवा $\frac{s}{c+v}$ है, और कारख़ाना II की भी

$\frac{p}{y}$, अथवा $\frac{s}{(c-x)+(v+x)}$ है, अर्थात वह $\frac{s}{c+v}$ भी है। इस प्रकार समस्या अपने आपको इस तरह से हल कर लेती है कि मूल्य के नियम के आधार पर, समान पूंजी तथा समान कालावधि, किंतु सजीव श्रम की असमान मात्राओं के साथ, बेशी मूल्य दर में परिवर्तन औसत लाभ दर का समकरण करवा देता है।" (G. C. Stiebeling, *Das Werthgesetz und die Profitrate*, New York, John Heinrich.)

उपरोक्त परिकलन चाहे कितना ही मनोहर तथा ज्ञापक क्यों न हो, हमें डाक्टर स्टीबलिंग से एक प्रश्न पूछना पड़ता है: वह यह कैसे जानते हैं कि कारख़ाना I द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य की राशि कारख़ाना II के बेशी मूल्य की राशि के बिलकुल बराबर है? वह स्पष्टतया कहते हैं कि c, v, y तथा x, अर्थात परिकलन में अन्य सभी घटक, दोनों कारख़ानों के लिए एक समान हैं, किंतु s का वह कोई उल्लेख नहीं करते। वह इस तथ्य से किसी प्रकार भी निस्सृत नहीं होता कि उन्होंने बेशी मूल्य की दोनों उपरोक्त मात्राओं को बीजगणितीय दृष्टि से s द्वारा अभिहित किया है। बल्कि यही तो वह चीज़ है कि जिसे सिद्ध करना है, क्योंकि श्री स्टीबलिंग बिला किसी और बखेड़े के लाभ p का भी बेशी मूल्य के साथ तदात्मीकरण कर देते हैं। अब केवल दो संभव विकल्प हैं। या तो दोनों s बराबर हैं, दोनों ही कारख़ाने बेशी मूल्य की बराबर मात्राएं और इसलिए लाभ की भी बराबर मात्राएं पैदा करते हैं, क्योंकि दोनों पूंजियां समान हैं। इस हालत में श्री स्टीबलिंग ने आरंभ से ही उस बात को मान लिया है, जिसे वास्तव में उनसे सिद्ध करने की अपेक्षा की गयी थी। या फिर एक कारख़ाना दूसरे से अधिक बेशी मूल्य पैदा करता है, जिस हालत में उनका सारा परिकलन एकदम ग़लत है।

श्री स्टीबलिंग ने इस गणितीय त्रुटि पर परिकलनों के अंबार लगा देने के लिए और उन्हें लोगों के आगे प्रदर्शित करने के लिए न श्रम की कसर छोड़ी है, न धन की। मैं उन्हें – उनकी ही मानसिक शांति के लिए – यह विश्वास दिला सकता हूं कि वे लगभग सभी समान रूप में ग़लत हैं, और उन आपवादिक मामलों में कि जब ऐसा नहीं है, वे जो सिद्ध करते हैं, वह उससे पूर्णतः भिन्न है कि जिसे उन्होंने सिद्ध करना शुरू किया था। उदाहरण के लिए, वह संयुक्त राज्य अमरीका के १८७० और १८८० के गणना आंकड़ों की तुलना करके यह सिद्ध करते हैं कि लाभ की दर वास्तव में गिर गयी है, किंतु इसका अर्थ ग़लत लगाते हैं और यह मान लेते हैं कि मार्क्स के निरंतर स्थिर लाभ दर के सिद्धांत को अनुभव के आधार पर सही किया जाना चाहिए। तथापि इस तीसरी पुस्तक के तीसरे भाग से यह प्रकट होता है कि यह मार्क्सीय "स्थिर लाभ दर" शुद्धतः श्री स्टीबलिंग की कल्पना की ही उपज है और लाभ दर की गिरने की प्रवृत्ति ऐसी परिस्थितियों के कारण है कि जो डाक्टर स्टीबलिंग द्वारा निर्दिष्ट परिस्थितियों के एकदम विपरीत हैं। निस्संदेह, डाक्टर स्टीबलिंग के इरादे एकदम नेक हैं, लेकिन आदमी जब वैज्ञानिक प्रश्नों पर विचार करता है, तब वह जिन कृतियों का उपयोग करना चाहता है, उसे सबसे पहले उन्हें लेखक ने जैसे लिखा है, बिलकुल वैसे, और सर्वोपरि, उनमें कोई ऐसी बात पढ़े बिना कि जो उनमें है नहीं, पढ़ना सीखना चाहिए।

सारी छानबीन का परिणाम इस प्रश्न के संदर्भ में भी एक बार फिर यही दिखलाता है कि यह मार्क्सीय विचार पद्धति ही है कि जिसने कुछ हासिल किया है। अगर फ़ीरमन और कोनराद श्मिद्त इस तीसरी पुस्तक को पढ़ते हैं, तो उनमें से प्रत्येक, अपने तईं, अपनी कृति पर चाहे, तो संतोष अनुभव कर सकता है।

लंदन, ४ अक्तूबर, १८९४

फ़ेडरिक एंगेल्स

तीसरी पुस्तक

समग्र रूप में पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया

१

भाग १

बेशी मूल्य का लाभ में और बेशी मूल्य दर का लाभ दर में परिवर्तन

अध्याय १

लागत क़ीमत तथा लाभ

पहली पुस्तक में हमने बाह्य प्रभावों के गौण परिणामों में से किसी की ओर भी ध्यान दिये बिना उन परिघटनाओं का प्रत्यक्ष उत्पादक प्रक्रिया के रूप में विश्लेषण किया था, जिनसे **पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया** बनती है। किंतु यह प्रत्यक्ष उत्पादन प्रक्रिया पूंजी के जीवन काल को समाप्त नहीं कर देती। वास्तविक जगत में इसकी अनुपूर्ति **परिचलन प्रक्रिया** द्वारा होती है, जो दूसरी पुस्तक में हमारे अध्ययन का विषय था। उसके परवर्ती, अर्थात तीसरे भाग में, जिसमें परिचलन प्रक्रिया का सामाजिक पुनरुत्पादन प्रक्रिया के माध्यम के रूप में विवेचन किया गया है, यह प्रकट हुआ कि समग्र रूप में पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया उत्पादन तथा परिचलन की प्रक्रियाओं के संश्लेषण को व्यक्त करती है। यह तीसरी पुस्तक जिस चीज़ का विवेचन करती है, उसे देखते हुए यह अपने को इस संश्लेषण से संबद्ध सामान्य चिंतन तक ही सीमित नहीं कर सकती। इसके विपरीत, इसे उन ठोस रूपों का पता लगाना और वर्णन करना चाहिए, जो **समग्र रूप में पूंजी की गतियों** से उत्पन्न होते हैं। अपनी वास्तविक गतियों में पूंजियां एक दूसरी के सम्मुख ऐसे ठोस आकार में होती हैं, जिसके लिए उत्पादन की प्रत्यक्ष प्रक्रिया में पूंजी का रूप और उसी भांति परिचलन प्रक्रिया में उसका रूप केवल विशेष अवस्थाओं की तरह ही प्रकट होते हैं। इस प्रकार पूंजी के विभिन्न रूप, इस पुस्तक में प्रस्तुत किये गये ढंग से, भिन्न-भिन्न पूंजियों की एक दूसरी पर क्रिया में, प्रतिस्पर्धा में, और स्वयं उत्पादन के साधकों की सामान्य चेतना में क़दम-ब-क़दम उस रूप के निकट पहुंचते हैं, जिसे वे समाज की सतह पर धारण करते हैं।

पूंजीवादी ढंग से उत्पादित प्रत्येक माल* का मूल्य इस सूत्र में प्रकट होता है: $C=c+v+s$. यदि हम उत्पाद के इस मूल्य से बेशी मूल्यों को घटा दें, तो उत्पादन तत्वों में व्ययित पूंजी मूल्य $c+v$ के लिए माल के रूप में केवल समतुल्य अथवा प्रतिस्थानी मूल्य ही रह जाता है।

---

* "माल" के लिए "पण्य" तथा "जिंस" का भी प्रयोग किया गया है। – अनु०

उदाहरण के लिए, यदि किसी वस्तु के उत्पादन में ५०० पाउंड के परिव्यय की आवश्यकता होती है, जिनमें से २० पाउंड उत्पादन के उपकरणों की टूट-फूट के लिए, ३८० पाउंड उत्पादन सामग्री के लिए, और १०० पाउंड श्रम शक्ति के लिए हैं, और यदि बेशी मूल्य दर १००% है, तो उत्पाद का मूल्य $= ४००_c + १००_v + १००_s =$ ६०० पाउंड होगा।

१०० पाउंड बेशी मूल्य को घटाने के बाद ५०० पाउंड पण्य मूल्य रह जाता है, जो केवल ५०० पाउंड व्ययित पूंजी को प्रतिस्थापित करता है। माल के मूल्य का यह अंश, जो उपभुक्त उत्पादन साधनों और श्रम शक्ति की प्रतिस्थापना करता है, केवल उसे ही प्रतिस्थापित करता है कि जो स्वयं पूंजीपति को माल के लिए ख़र्च करना होता है। इसलिए उसके वास्ते वह माल की लागत क़ीमत को व्यक्त करता है।

पूंजीपति को माल की जो लागत बैठती है, वह और उसकी वास्तविक उत्पादन लागत, ये दो सर्वथा भिन्न परिमाण हैं। पण्य मूल्य का जो अंश बेशी मूल्य का निर्माण करता है, उसके लिए पूंजीपति को महज़ इसलिए कुछ भी ख़र्च नहीं करना पड़ता कि उसके लिए श्रमिक को निर्वेतन श्रम ख़र्च करना होता है। तथापि, पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर उत्पादन प्रक्रिया में प्रवेश करने के बाद श्रमिक स्वयं कार्यशील उत्पादक पूंजी का एक संघटक अंश बन जाता है, जिस पर पूंजीपति का स्वामित्व होता है। इसलिए माल का वास्तविक उत्पादक पूंजीपति ही है। इस कारण माल की लागत क़ीमत पूंजीपति को अनिवार्यतः माल की वास्तविक लागत प्रतीत होती है। अगर हम लागत क़ीमत को k मान लें, तो $C = c + v + s$ सूत्र $C = k + s$ सूत्र में परिणत हो जाता है, अर्थात पण्य मूल्य = लागत क़ीमत + बेशी मूल्य।

किसी माल के विभिन्न मूल्यांशों का, जो केवल उसके उत्पादन में व्ययित पूंजी मूल्य को प्रतिस्थापित करते हैं, लागत क़ीमत मद के अंतर्गत समूहन एक ओर तो पूंजीवादी उत्पादन के विशिष्ट चरित्र को व्यक्त करता है। माल की पूंजीवादी लागत को **पूंजी** के व्यय से मापा जाता है, जबकि माल की वास्तविक लागत को **श्रम** के व्यय से मापा जाता है। इस प्रकार माल की पूंजीवादी लागत क़ीमत उसके मूल्य, अथवा वास्तविक लागत क़ीमत से मात्रा में भिन्न होती है। वह माल के मूल्य से कम होती है, क्योंकि $C = k + s$ होने पर प्रत्यक्ष है कि $k = C - s$ होगा। दूसरी ओर, किसी माल की लागत क़ीमत किसी भी प्रकार मात्र एक ऐसा संवर्ग नहीं है, जिसका अस्तित्व सिर्फ़ पूंजीवादी लेखाकरण में होता है। मूल्य के इस अंश का विशिष्टीकरण व्यवहार में माल के वास्तविक उत्पादन में निरंतर व्यक्त होता रहता है, क्योंकि उसे अपने पण्य रूप से परिचलन प्रक्रिया के ज़रिये लगातार उत्पादक पूंजी के रूप में पुनःपरिवर्तित करते रहना होता है, जिससे माल की लागत क़ीमत को सदा माल के निर्माण में उपभुक्त उत्पादन तत्वों को पुनःक्रय करना होता है।

इसके विपरीत, लागत क़ीमत संवर्ग का पण्य मूल्य की रचना से, अथवा पूंजी के स्वप्रसार की प्रक्रिया से कोई संबंध नहीं है। जब मुझे यह मालूम होता है कि ६०० पाउंड के किसी माल के मूल्य में से ५/६, अर्थात ५०० पाउंड उसके उत्पादन में उपभुक्त ५०० पाउंड पूंजी के समतुल्य से अधिक कुछ प्रकट नहीं करते और इसलिए इस पूंजी के भौतिक तत्वों का पुनःक्रय करने के लिए ही काफ़ी हो सकते हैं, तो मुझे अभी न तो यही मालूम होता है कि माल के मूल्य का यह ५/६ भाग, जो उसकी लागत क़ीमत को प्रकट करता है, किस तरह पैदा होता है और न यही कि अंतिम छठा भाग, जो उसका बेशी मूल्य है, किस तरह उत्पन्न हुआ था। तथापि अन्वेषण दिखलायेगा कि पूंजीवादी अर्थशास्त्र में लागत क़ीमत स्वयं मूल्य उत्पादन के एक संवर्ग का मिथ्या आकार ग्रहण कर लेती है।

'पूंजी', खंड ३ की पांडुलिपि के पहले पन्ने का चित्र

अपने उदाहरण पर लौट आयें। मान लीजिये, एक मज़दूर द्वारा एक औसत सामाजिक कार्य दिवस में उत्पादित मूल्य ६ शिलिंग = ६ मार्क की द्रव्य राशि के बराबर है। तब पेशगी पूंजी ५०० पाउंड = ४००$_c$ + १००$_v$ १,६६६ २/३ दस घंटा कार्य दिवस में उत्पादित मूल्य को प्रकट करती है, जिनमें से १,३३३ २/३ कार्य दिवस ४००$_c$ मूल्य के उत्पादन साधनों में प्रत्यक्ष होते हैं और ३३३ २/३ कार्य दिवस १००$_v$ मूल्य की श्रम शक्ति में। बेशी मूल्य दर १००% मानी गयी है, इसलिए नये बनाये जानेवाले माल के उत्पादन में १००$_v$ + १००$_s$ = ६६६ २/३ दस घंटा कार्य दिवस के बराबर श्रम व्यय सन्निहित है।

फिर हम जानते हैं (देखिये Buch I, Kap. VII, S. 201/193)* कि ६०० पाउंड के नवसृजित उत्पाद का मूल्य १) उत्पादन साधनों पर व्ययित ४०० पाउंड की स्थिर पूंजी के पुनः प्रकट होनेवाले मूल्य, और २) २०० पाउंड के नवोत्पादित मूल्य से संरचित है। माल की लागत क़ीमत = ५०० पाउंड पुनः प्रकट होनेवाले ४००$_c$ और २०० पाउंड के नवोत्पादित मूल्य के आधे (= १००$_v$) से, अर्थात पण्य मूल्य के दो ऐसे तत्वों से कि जो सर्वथा भिन्न मूल के हैं, संरचित है।

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण: अध्याय ६, पृष्ठ २३१। – सं०

६६६ २/३ दस घंटा कार्य दिवसों में व्ययित श्रम के उद्देश्यपरक स्वरूप के कारण उपभुक्त उत्पादन साधनों का ४०० पाउंड की राशि का मूल्य इन उत्पादन साधनों से उत्पाद को अंतरित हो जाता है। इस प्रकार यह पहले से विद्यमान मूल्य उत्पाद के एक संघटक अंश के रूप में पुनःप्रकट होता है, किंतु **इस** माल की उत्पादन प्रक्रिया में सृजित नहीं होता। वह माल के मूल्य के संघटक अंश के रूप में केवल इसलिए विद्यमान रहता है कि पहले वह निवेशित पूंजी के एक तत्व के रूप में विद्यमान था। इसलिए व्ययित स्थिर पूंजी माल के मूल्य के उस अंश द्वारा प्रतिस्थापित हो जाती है, जिसे यह पूंजी स्वयं उस मूल्य में जोड़ती है। अतः लागत क़ीमत का यह तत्व दुहरा अर्थ रखता है। एक ओर, यह माल की लागत क़ीमत में इसलिए शामिल होता है कि यह पण्य मूल्य का वह अंश है, जो उपभुक्त पूंजी को प्रतिस्थापित करता है। और दूसरी ओर, यह पण्य मूल्य का तत्व केवल इस कारण होता है कि यह व्ययित पूंजी का मूल्य है अथवा इसलिए कि उत्पादन साधन इतने-इतने के पड़ते हैं।

लागत क़ीमत के दूसरे तत्व के मामले में बात बिलकुल उलटी है। माल के उत्पादन में व्ययित ६६६ २/३ कार्य दिवस २०० पाउंड का नया मूल्य उत्पन्न करते हैं। इस नये मूल्य का एक अंश केवल १०० पाउंड पेशगी दी परिवर्ती पूंजी, अथवा नियोजित श्रम शक्ति की क़ीमत, को ही प्रतिस्थापित करता है। किंतु यह पेशगी पूंजी मूल्य नये मूल्य के सृजन में किसी भी प्रकार भाग नहीं लेता। जहां तक पूंजी के पेशगी देने की बात है, श्रम शक्ति को **मूल्य** माना जाता है। किन्तु उत्पादन प्रक्रिया में यह मूल्य के **सृजक** का काम करती है। पेशगी पूंजी में श्रम शक्ति के मूल्य को जो स्थान प्राप्त है, वह स्थान वस्तुतः **कार्यरत** उत्पादक पूंजी में स्वयं सजीव मूल्यसृजक श्रम शक्ति द्वारा ले लिया जाता है।

जब भी पूंजी के व्ययित स्थिर या व्ययित परिवर्ती अंश के मूल्य के आकार में कोई परिवर्तन आता है, पण्य मूल्य के इन विभिन्न तत्वों में, जो मिलकर लागत क़ीमत की रचना करते हैं, अंतर एकदम आंखों के सामने आ जाता है। मान लीजिये कि उन्हीं उत्पादन साधनों की, अथवा पूंजी के स्थिर भाग की क़ीमत ४०० पाउंड से बढ़कर ६०० पाउंड हो जाती है, या, इसके विपरीत, वह गिरकर २०० पाउंड हो जाती है। पहले प्रसंग में यह केवल माल की लागत क़ीमत ही नहीं है कि जो ५०० पाउंड से बढ़कर ६००$_c$ + १००$_v$ = ७०० पाउंड हो जाती है, बल्कि माल का मूल्य भी है, जो ६०० पाउंड से बढ़कर ६००$_c$ + १००$_v$ + १००$_s$ = ८०० पाउंड हो जाता है। दूसरे प्रसंग में यह केवल लागत क़ीमत ही नहीं है कि जो ५०० पाउंड से गिरकर २००$_c$ + १००$_v$ = ३०० पाउंड हो जाती है, बल्कि माल का मूल्य भी है, जो ६०० पाउंड से गिरकर २००$_c$ + १००$_v$ + १००$_s$ = ४०० पाउंड हो जाता है। चूंकि व्ययित स्थिर पूंजी स्वयं अपना मूल्य उत्पाद को अंतरित करती है, इसलिए अन्य परिस्थितियां यथावत रहने पर उत्पाद का मूल्य उस पूंजी मूल्य के निरपेक्ष परिमाण के साथ चढ़ता अथवा गिरता है। अब, दूसरी ओर, कल्पना कीजिये कि अन्य परिस्थितियों के यथावत रहने पर श्रम शक्ति की उसी मात्रा की क़ीमत बढ़कर १०० पाउंड से १५० पाउंड हो जाती है, अथवा इसके विपरीत, १०० पाउंड से घटकर ५० पाउंड हो जाती है। पहले प्रसंग में लागत क़ीमत बढ़कर ५०० पाउंड से ४००$_c$ + १५०$_v$ = ५५० पाउंड हो जाती है, और दूसरे में गिरकर ५०० पाउंड से ४००$_c$ + ५०$_v$ = ४५० पाउंड हो जाती है। किंतु दोनों ही प्रसंगों में पण्य मूल्य = ६०० पाउंड अपरिवर्तित रहता है; एक बार वह ४००$_c$ + १५०$_v$ + ५०$_s$ होता है, और दूसरी बार ४००$_c$ + ५०$_v$ + १५०$_s$। पेशगी परिवर्ती पूंजी स्वयं अपना मूल्य उत्पाद में नहीं जोड़ती। बल्कि

उत्पाद में उसके मूल्य का स्थान श्रम द्वारा सृजित एक नये मूल्य द्वारा लिया जाता है। इसलिए परिवर्ती पूंजी के निरपेक्ष परिमाण में कोई परिवर्तन, जहां तक वह केवल श्रम शक्ति की क़ीमत में परिवर्तन को ही प्रकट करता है, पण्य मूल्य के निरपेक्ष परिमाण को लेशमात्र भी नहीं बदलता, क्योंकि वह सजीव श्रम शक्ति द्वारा सृजित नये मूल्य के निरपेक्ष परिमाण में कुछ नहीं बदलता। बल्कि ऐसा परिवर्तन नये मूल्य के दोनों संघटक अंशों के सापेक्ष अनुपात को ही प्रभावित करता है, जिनमें से एक बेशी मूल्य बनाता है और दूसरा परिवर्ती पूंजी को पूरित करता है और इसलिए माल की लागत क़ीमत में चला जाता है।

लागत क़ीमत के दोनों तत्वों, प्रस्तुत प्रसंग में $४००_c + १००_v$, में केवल यह समानता है कि दोनों ही पण्य मूल्य के अंश हैं, जो पेशगी पूंजी को प्रतिस्थापित करते हैं।

किंतु यह वास्तविक परिस्थिति पूंजीवादी उत्पादन के दृष्टिकोण से अनिवार्यतः उलटी दिखायी देती है।

पूंजीवादी उत्पादन पद्धति दासता पर आधारित उत्पादन पद्धति से, और बातों के अलावा, इस कारण भिन्न है कि उसमें श्रम शक्ति का मूल्य, और इसलिए दाम, स्वयं श्रम के मूल्य, अथवा दाम (क़ीमत) के रूप में, मज़दूरी के रूप में प्रकट होता है (Buch I, Kap. XVII)*। इसलिए पेशगी पूंजी का परिवर्ती भाग मज़दूरी में व्ययित पूंजी की तरह, उत्पादन में व्ययित समस्त श्रम के मूल्य, और इसलिए दाम को चुकानेवाले पण्य मूल्य की तरह प्रकट होता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि दस घंटे का एक औसत सामाजिक कार्य दिवस ६ शिलिंग द्रव्य राशि में समाविष्ट है। इस हालत में १०० पाउंड परिवर्ती पूंजी का पेशगी दिया जाना ३३३ १/३ दस घंटा कार्य दिवसों में उत्पादित मूल्य की द्रव्य अभिव्यक्ति को प्रकट करता है। किंतु यह मूल्य, जो पेशगी पूंजी में क्रीत श्रम शक्ति को प्रकट करता है, किसी भी तरह वस्तुतः कार्यरत उत्पादक पूंजी का अंश नहीं होता। उत्पादन प्रक्रिया में उसका स्थान सजीव श्रम द्वारा ले लिया जाता है। यदि, हमारे उदाहरण की तरह, उसके शोषण की मात्रा १००% है, तो वह ६६६ २/३ दस घंटा कार्य दिवसों में ख़र्च किया जाता है और इस प्रकार उत्पाद में २०० पाउंड का नया मूल्य जोड़ता है। लेकिन पेशगी दी गयी पूंजी में १०० पाउंड परिवर्ती पूंजी मज़दूरी में लगायी गयी पूंजी के रूप में, अथवा ६६६ २/३ दस घंटा कार्य दिवसों में किये गये श्रम की क़ीमत के रूप में प्रकट होती है। १०० पाउंड की रक़म ६६६ २/३ से भाग देने पर हमें दस घंटे के एक कार्य दिवस की क़ीमत के रूप में ३ शिलिंग देती है, जो मूल्य में पांच घंटे के श्रम के उत्पाद के बराबर है।

अब अगर हम एक ओर पेशगी दी गयी पूंजी की दूसरी ओर पण्य मूल्य से तुलना करते हैं, तो हम पाते हैं:

१. पेशगी पूंजी ५०० पाउंड = उत्पादन साधनों में व्ययित पूंजी के ४०० पाउंड (उत्पादन साधनों की क़ीमत) + श्रम में व्ययित पूंजी के १०० पाउंड (६६६ २/३ कार्य दिवसों की क़ीमत, अथवा उनकी मज़दूरी)।

२. मालों का मूल्य ६०० पाउंड = लागत क़ीमत को प्रकट करनेवाले ५०० पाउंड (व्ययित उत्पादन साधनों की क़ीमत ४०० पाउंड + व्ययित ६६६ २/३ कार्य दिवसों की क़ीमत १०० पाउंड) + बेशी मूल्य १०० पाउंड।

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: अध्याय १६। – सं०

'पूंजी', खंड ३ की पांडुलिपि का सचिव द्वारा नक़ल किया गया और एंगेल्स के संशोधन से युक्त एक पन्ना। सबसे ऊपर की पंक्तियां एंगेल्स के हस्तलेख में हैं।

इस सूत्र में पूंजी का श्रम शक्ति में निवेशित अंश उत्पादन साधनों, जैसे रूई या कोयला, में निवेशित अंश से केवल इसलिए भिन्न है कि वह भौतिक रूप में भिन्न उत्पादन तत्व की अदायगी का काम करता है, किंतु किसी भी प्रकार इस कारण नहीं कि वह पण्य मूल्य का सृजन करने की प्रक्रिया में, और इस प्रकार पूंजी की स्वप्रसार की प्रक्रिया में भी, कार्यतः भिन्न प्रयोजन पूरा करता है। उत्पादन साधनों की क़ीमत मालों की लागत क़ीमत में वैसे ही पुनः प्रकट हो जाती है, जैसे वह पेशगी पूंजी में भी प्रकट हुई थी, और वह ऐसा इसलिए करती है कि ये उत्पादन साधन सोद्देश्य उपभुक्त किये गये हैं। इन मालों के उत्पादन में उपभुक्त ६६६ २/३ कार्य दिवसों की क़ीमत, अथवा मज़दूरी, भी इसी प्रकार मालों की लागत क़ीमत में पुनः प्रकट हो जाती है, जैसे वह पेशगी दी पूंजी में भी प्रकट हुई है, और इसलिए भी कि श्रम की यह मात्रा सोद्देश्य ख़र्च की गयी है। हम केवल अंतिम और विद्यमान मूल्यों – पेशगी पूंजी के वे अंश, जो उत्पाद के मूल्य की रचना में शामिल होते हैं – को ही देखते हैं, किंतु नये मूल्यों का सृजन करनेवाले तत्व को नहीं। स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी का भेद विलुप्त हो गया है। ५०० पाउंड की सारी लागत क़ीमत अब यह दुहरा अर्थ रखती है कि एक तो यह ६०० पाउंड पण्य मूल्य का वह अंश है, जो माल के उत्पादन में व्ययित ५०० पाउंड पूंजी को प्रतिस्थापित करता है; और दूसरे, पण्य मूल्य का यह घटक केवल इसलिए अस्तित्वमान है कि पहले वह नियोजित उत्पादन तत्वों, अर्थात उत्पादन साधनों तथा श्रम की लागत क़ीमत के रूप में, यानी पेशगी पूंजी के रूप में, अस्तित्वमान था। पूंजी मूल्य किसी माल की लागत क़ीमत के रूप में इसलिए और यहां तक पुनः प्रकट होता है कि उसे एक पूंजी मूल्य के रूप में व्यय किया गया है।

यह तथ्य कि पेशगी पूंजी के मूल्य के विभिन्न घटकों को भौतिक रूप में भिन्न उत्पादन तत्वों, अर्थात श्रम के उपकरणों, कच्चे माल, सहायक सामग्री और श्रम के लिए व्यय किया गया है, केवल यह अपेक्षा करता है कि माल की लागत क़ीमत को इन भौतिक रूप में भिन्न उत्पादन साधनों को वापस ख़रीदना होगा। जहां तक लागत क़ीमत की रचना का संबंध है, केवल एक भेद विवेचनीय है, अर्थात स्थायी तथा प्रचल पूंजी का भेद। हमारे उदाहरण में हमने श्रम उपकरणों की टूट-फूट के लिए २० पाउंड अलग कर दिये हैं (४००_c = श्रम उपकरणों के मूल्यह्रास के लिए २० पाउंड + उत्पादन सामग्री के लिए ३८० पाउंड)। उत्पादक प्रक्रिया के पहले इन श्रम उपकरणों का मूल्य, मान लीजिये, १,२०० पाउंड था। मालों के उत्पादित किये जाने के बाद यह दो रूपों में विद्यमान होता है: २० पाउंड माल के मूल्य के अंश के रूप में, और १,२०० – २०, अथवा १,१८० पाउंड, श्रम उपकरणों के शेष मूल्य के रूप में, जो, पहले की ही भांति, पूंजीपति के स्वामित्व में हैं; दूसरे शब्दों में, उसकी पण्य पूंजी नहीं, उसकी उत्पादक पूंजी के एक तत्व के रूप में। श्रम साधनों के विपरीत उत्पादन सामग्री तथा मज़दूरी माल के उत्पादन में पूर्णतः उपभुक्त हो जाती हैं और इस प्रकार उनका पूरा मूल्य उत्पादित माल के मूल्य में चला जाता है। हम देख चुके हैं कि पेशगी पूंजी के ये विभिन्न घटक किस प्रकार आवर्त के संदर्भ में स्थायी तथा प्रचल पूंजी के रूप ग्रहण करते हैं।

तदनुसार, पेशगी पूंजी = १,६८० पाउंड : स्थायी पूंजी = १,२०० पाउंड + प्रचल पूंजी = ४८० पाउंड (= ३८० पाउंड उत्पादन सामग्री के रूप में और १०० पाउंड मज़दूरी के रूप में)।

किंतु सिर्फ़ माल की लागत क़ीमत = ५०० पाउंड (२० पाउंड स्थायी पूंजी की छीजन के, और ४८० पाउंड प्रचल पूंजी के)।

तथापि, माल की लागत क़ीमत और पेशगी पूंजी में यह अंतर केवल यही सिद्ध करता

है कि माल की लागत क़ीमत की रचना अनन्य रूप में उसके उत्पादन में वस्तुतः उपभुक्त पूंजी द्वारा की जाती है।

माल के उत्पादन में १,२०० पाउंड मूल्य के उत्पादन साधनों का प्रयोग किया जाता है, लेकिन इस पेशगी पूंजी मूल्य के सिर्फ़ २० पाउंड ही उत्पादन में गंवाये जाते हैं। इस प्रकार नियोजित स्थायी पूंजी माल की लागत क़ीमत में सिर्फ़ अंशतः ही जाती है, क्योंकि उसके उत्पादन में वह सिर्फ़ अंशतः ही उपभुक्त होती है। नियोजित प्रचल पूंजी संपूर्णतः माल की लागत क़ीमत में चली जाती है, क्योंकि वह उत्पादन में पूर्णतः उपभुक्त हो जाती है। किंतु क्या यह केवल यही नहीं सिद्ध करता है कि स्थायी तथा प्रचल पूंजी के उपभुक्त अंश, अपने मूल्यों के pro rata [यथानुपात], माल की लागत क़ीमत में समान रूप से चले जाते हैं और माल के मूल्य के इस घटक का उद्गम केवल उसके उत्पादन में व्ययित पूंजी से ही होता है? यदि ऐसा न होता, तो यह अव्याख्येय रहता कि १,२०० पाउंड की पेशगी स्थायी पूंजी को उन २० पाउंड के अलावा, जिन्हें वह उत्पादक प्रक्रिया में गंवाती है, बाक़ी १,१८० पाउंड भी क्यों नहीं जोड़ने चाहिए, जिन्हें वह गंवाती नहीं।

इसलिए लागत क़ीमत के परिकलन के संदर्भ में स्थायी तथा प्रचल पूंजी का यह अंतर केवल लागत क़ीमत के व्ययित पूंजी मूल्य से, अथवा स्वयं पूंजीपति द्वारा श्रम सहित व्ययित उत्पादन तत्वों के लिए अदा की गयी क़ीमत से प्रतीयमान उद्गम की ही पुष्टि करता है। दूसरी ओर, जहां तक मूल्य रचना का संबंध है, पूंजी के श्रम शक्ति में निवेशित परिवर्ती अंश का यहां सुस्पष्टतः प्रचल पूंजी के शीर्षक के अंतर्गत स्थायी पूंजी (पूंजी का वह भाग, जिसमें उत्पादन सामग्री समाविष्ट होती है) से तदात्मीकरण किया गया है, और यह पूंजी की स्वप्रसार प्रक्रिया के दुर्बोधीकरण को पूरा कर देता है।[1]

अभी तक हमने मालों के मूल्य के सिर्फ़ एक तत्व, अर्थात लागत क़ीमत, पर ही विचार किया है। अब हमें मालों के मूल्य के दूसरे घटक, अर्थात लागत क़ीमत पर आधिक्य, अथवा बेशी मूल्य की तरफ़ भी ध्यान देना चाहिए। सो पहली बात तो यह है कि बेशी मूल्य किसी माल का उसकी लागत क़ीमत के अलावा अतिरिक्त मूल्य है। लेकिन लागत क़ीमत चूंकि उपभुक्त पूंजी के मूल्य के बराबर होती है, जिसके भौतिक तत्वों में वह निरंतर पुनःपरिवर्तित होती रहती है, इसलिए यह अतिरिक्त मूल्य माल के उत्पादन में व्ययित और उसके परिचलन द्वारा लौटनेवाली पूंजी के मूल्य में वृद्धि होता है।

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि यद्यपि s, बेशी मूल्य, सिर्फ़ परिवर्ती पूंजी, v, के मूल्य में परिवर्तन से उत्पन्न होता है और इसलिए वह मूलतः परिवर्ती पूंजी की वृद्धि ही होता है, फिर भी उत्पादन प्रक्रिया के पूरा होने के बाद वह कुल व्ययित पूंजी, $c+v$, की भी वृद्धि होता है। सूत्र $c+(v+s)$ को, जो यह दिखलाता है कि s श्रम शक्ति के लिए पेशगी दिये गये एक निश्चित पूंजी मूल्य v के एक घटते-बढ़ते परिमाण में, अर्थात एक स्थिर परिमाण के परिवर्ती परिमाण में, रूपांतरण द्वारा उत्पादित होता है, $(c+v)+s$ के रूप में भी प्रकट किया जा सकता है। उत्पादन होने के पहले हमारे पास ५०० पाउंड की पूंजी थी। उत्पादन के पूरा

[1] पहली पुस्तक (Kap. VII, 3, S. 216/206 ff.) ['पूंजी', हिंदी संस्करण: अध्याय ६, ३, पृष्ठ २४३ पादटिप्पणी। –सं०] में हमने यह दिखाने के लिए एन० डब्ल्यू० सीनियर का उदाहरण दिया है कि अर्थशास्त्री के दिमाग़ में यह कितनी उलझन पैदा कर सकता है।

हो चुकने के बाद हमारे पास ५०० पाउंड की पूंजी जमा १०० पाउंड की मूल्य वृद्धि है।[2]

तथापि बेशी मूल्य पेशगी पूंजी के केवल उस अंश की ही नहीं कि जो स्वप्रसार प्रक्रिया में शामिल होता है, बल्कि उस अंश की भी वृद्धि होता है कि जो उसमें शामिल नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, यह न केवल उपभुक्त पूंजी में ही माल की लागत क़ीमत द्वारा पूरी गयी वृद्धि है, बल्कि उत्पादन में निवेशित सारी पूंजी में वृद्धि है। उत्पादन प्रक्रिया के पहले हमारे पास १,६८० पाउंड मूल्य की पूंजी थी, अर्थात उत्पादन साधनों में निवेशित स्थायी पूंजी के १,२०० पाउंड, जिनमें से सिर्फ़ २० पाउंड टूट-फूट के लिए माल के मूल्य में जाते हैं, जमा उत्पादन सामग्री और मजदूरी में प्रचल पूंजी के ४८० पाउंड। उत्पादन प्रक्रिया के बाद हमारे पास उत्पादक पूंजी के मूल्य के संघटक तत्व के रूप में १,१८० पाउंड जमा ६०० पाउंड की पण्य पूंजी है। मूल्य की इन दोनों राशियों को जोड़ने पर हम पाते हैं कि पूंजीपति के पास अब १,७८० पाउंड का मूल्य है। उसकी १,६८० पाउंड की कुल पेशगी पूंजी को घटाने के बाद १०० पाउंड की वृद्धि बच रहती है। इस प्रकार बेशी मूल्य के १०० पाउंड निवेशित १,६८० पाउंड के संदर्भ में उतनी ही वृद्धि होते हैं, जितनी कि उत्पादन में व्ययित उसके ५०० पाउंड के अंश के संदर्भ में।

पूंजीपति को अब यह स्पष्ट है कि मूल्य की यह वृद्धि पूंजी से शुरू की गयी उत्पादक प्रक्रियाओं से उद्भूत होती है, अर्थात इसलिए वह स्वयं पूंजी से उद्भूत होती है, क्योंकि यह उत्पादन प्रक्रिया के बाद तो मौजूद है, पर उसके पहले नहीं है। जहां तक उत्पादन में उपभुक्त पूंजी की बात है, बेशी मूल्य सभी विभिन्न मूल्य तत्वों से, जिनमें उत्पादन साधनों तथा श्रम का समावेश है, समान रूप में उद्भूत होता प्रतीत होता है। कारण यह कि ये सभी तत्व लागत क़ीमत की रचना में समान योगदान करते हैं। वे सभी पेशगी पूंजी के रूप में विद्यमान अपने मूल्य उत्पाद के मूल्य में जोड़ते हैं और मूल्य के स्थायी तथा परिवर्ती परिमाणों के रूप में विभेदित नहीं होते हैं। यह तब स्पष्ट हो जाता है कि अगर हम क्षण भर को यह मान लें कि सारी व्ययित पूंजी या तो केवल मजदूरी थी, या केवल उत्पादन साधनों का मूल्य। तब पहले प्रसंग में हमारे पास $४००_c + १००_v + १००_s$ पण्य मूल्य के बजाय $५००_v + १००_s$ पण्य मूल्य होगा। मजदूरी में लगायी गयी ५०० पाउंड पूंजी ६०० पाउंड पण्य मल्य के उत्पादन में व्ययित सारे श्रम के मूल्य को प्रकट करती है और इस कारण ही सारे उत्पाद की लागत क़ीमत की रचना करती है। किंतु इस लागत क़ीमत की रचना, जिससे व्ययित पूंजी का मूल्य उत्पाद के मूल्य के संघटक अंश के रूप में पुनरुत्पादित हो जाता है, इस पण्य मूल्य की रचना की वह एकमात्र प्रक्रिया है, जो हमें ज्ञात है। हम यह नहीं जानते कि उसके १०० पाउंड के बेशी मूल्यांश की रचना किस प्रकार होती है। दूसरे प्रसंग में भी यही बात सही है, जिसमें पण्य

---

[2] "ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उससे हमें यह बात मालूम हो गयी है कि बेशी मूल्य केवल v के मूल्य में, या पूंजी के केवल उस भाग के मूल्य में परिवर्तन होने का फल होता है, जो श्रम शक्ति में रूपांतरित कर दिया जाता है। चुनांचे, $v+s=v+\triangle v$ (या v जमा v की वृद्धि)। लेकिन इस तथ्य पर कि केवल v में ही परिवर्तन होता है, और उन परिस्थितियों पर, जिनमें यह परिवर्तन होता है, इस बात से परदा पड़ जाता है कि पूंजी के परिवर्ती अंश में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप पेशगी पूंजी के कुल जोड़ में भी वृद्धि हो जाती है। वह जोड़ शुरू में ५०० पाउंड था और बाद में ५९० पाउंड हो जाता है।" (Buch I, Kap. VII, 1, S. 203/195.) ['पूंजी', हिंदी संस्करण: अध्याय ९, १, पृष्ठ २३३।–सं०]

मूल्य = ५००$_c$ + १००$_s$। हम जानते हैं कि दोनों ही प्रसंगों में बेशी मूल्य एक नियत मूल्य से प्राप्त होता है, क्योंकि यह मूल्य उत्पादक पूंजी के रूप में पेशगी दिया गया था, फिर चाहे वह श्रम के रूप में रहा हो या उत्पादन साधनों के। दूसरी ओर, यह पेशगी दिया गया पण्य मूल्य इस कारण बेशी मूल्य की रचना नहीं कर सकता कि वह व्यय कर दिया गया है और इसलिए माल की लागत क़ीमत को संरचित करता है। ठीक इसीलिए कि वह माल की लागत क़ीमत की रचना करता है, वह किसी बेशी मूल्य की रचना नहीं करता, वरन केवल एक समतुल्य की, व्ययित पूंजी को प्रतिस्थापित करनेवाले एक मूल्य की ही रचना करता है। इसलिए, जहां तक वह बेशी मूल्य की रचना करता है, तो ऐसा वह अपनी व्ययित पूंजी की विशिष्ट हैसियत से नहीं, बल्कि पेशगी दी गयी और इसलिए उपभुक्त पूंजी की हैसियत से करता है। इस कारण बेशी मूल्य पेशगी पूंजी के माल की लागत क़ीमत में शामिल होनेवाले अंश से उतना ही उत्पन्न होता है, जितना उस अंश से कि जो लागत क़ीमत में शामिल नहीं होता। संक्षेप में, वह उपभुक्त पूंजी के स्थायी तथा प्रचल घटकों से समान रूप में उत्पन्न होता है। समुच्चित पूंजी भौतिक रूप में उत्पादों, श्रम साधनों के साथ-साथ उत्पादन सामग्री और श्रम के सृजक का काम करती है। कुल पूंजी वास्तविक श्रम प्रक्रिया में भौतिक रूप में प्रवेश करती है, चाहे उसका केवल एक अंश ही स्वप्रसार की प्रक्रिया में प्रवेश करता है। संभवतः यही कारण है कि क्यों वह लागत क़ीमत की रचना में केवल अंशतः, किंतु बेशी मूल्य की रचना में पूर्णतः योग देती है। बात चाहे कुछ हो, परिणाम यही है कि बेशी मूल्य निवेशित पूंजी के सभी अंशों से एकसाथ उद्भूत होता है। इस निगमन को माल्थस के शब्दों में स्पष्टतः और संक्षेप में कहकर और भी छोटा किया जा सकता है: "पूंजीपति...जो पूंजी पेशगी देता है, उसके सभी अंशों पर समान लाभ की **अपेक्षा करता है।**"[3]

समुच्चित पेशगी पूंजी की संतान की अपनी कल्पित हैसियत में बेशी मूल्य **लाभ** का परिवर्तित रूप धारण कर लेता है। अतः कोई मूल्य पूंजी तब होता है कि जब उसे लाभ उत्पन्न करने की दृष्टि से निवेशित किया जाता है,[4] अथवा लाभ इसलिए होता है कि एक ख़ास मूल्य पूंजी की तरह नियोजित किया गया था। मान लीजिये कि लाभ p है। तब सूत्र $C=c+v+s=k+s$ सूत्र $C=k+p$ में बदल जाता है, अथवा **माल का मूल्य = लागत क़ीमत + लाभ।**

इस प्रकार, जिस तरह उसे यहां प्रकट किया गया है, लाभ वही चीज़ है, जो बेशी मूल्य है, बस वह एक दुर्बोधीकृत रूप में है, लेकिन जो फिर भी पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का एक अनिवार्य परिणाम है। उत्पादन प्रक्रिया के दौरान मूल्यों का जो उत्परिवर्तन होता है, उसके उद्गम का पूंजी के परिवर्ती अंश से कुल पूंजी को अंतरण करना होगा, क्योंकि लागत क़ीमत की कल्पित रचना में स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी में कोई प्रत्यक्ष भेद नहीं है। चूंकि श्रम शक्ति की क़ीमत एक ध्रुव पर मजदूरी का रूपांतरित रूप ग्रहण कर लेती है, इसलिए विपरीत ध्रुव पर बेशी मूल्य लाभ के रूपांतरित रूप में प्रकट होता है।

हम देख चुके हैं कि किसी माल की लागत क़ीमत उसके मूल्य से कम होती है। चूंकि $C=k+s$, अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि $k=C-s$। $C=k+s$ सूत्र अपने आपको

---

[3] Malthus, *Principles of Political Economy*, 2nd ed., London, 1836, p. 268.

[4] "पूंजी वह है, जिसे लाभ कमाने के लिए व्यय किया जाता है।" Malthus, *Definitions in Political Economy*, London, 1827, p. 86.

C=k, अथवा पण्य मूल्य = पण्य लागत क़ीमत में परिणत कर लेता है, किंतु केवल तब, जबकि s=0 हो, जो बात पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर कभी नहीं होती, यद्यपि यह संभव है कि बाज़ार की विशेष अवस्थाएं मालों की विक्रय क़ीमत को घटाकर उनकी लागत क़ीमत के स्तर पर, या उससे भी नीचे ले जायें।

इसलिए अगर कोई माल अपने मूल्य पर बेचा जाता है, तो एक लाभ की प्राप्ति होती है, जो उसकी लागत क़ीमत पर उसके मूल्य के आधिक्य के, और इसलिए माल के मूल्य में समाविष्ट समस्त बेशी मूल्य के बराबर होता है। लेकिन पूंजीपति माल को तब भी मुनाफ़े पर बेच सकता है, जब वह उसे उसके मूल्य के नीचे बेचता है। जब तक उसकी विक्रय क़ीमत उसकी लागत क़ीमत से ऊंची होती है, यद्यपि वह उसके मूल्य से नीची भी हो सकती है, उसमें समाविष्ट बेशी मूल्य के एक अंश को हमेशा उगाह लिया जाता है और इस तरह लाभ हमेशा प्राप्त कर लिया जाता है। हमारे उदाहरण में माल का मूल्य ६०० पाउंड है और लागत क़ीमत ५०० पाउंड है। अगर माल को ५१०, ५२०, ५३०, ५६० या ५९० पाउंड पर बेचा जाता है, तो उसे उसके मूल्य से क्रमशः ९०, ८०, ७०, ४० या १० पाउंड कम पर बेचा जाता है। लेकिन फिर भी उसकी बिक्री से क्रमशः १०, २०, ३०, ६० या ९० पाउंड लाभ प्राप्त होता है। प्रकटतः माल के मूल्य और उसकी लागत क़ीमत के बीच संभव विक्रय क़ीमतों की एक अनिश्चित संख्या होती है। माल का बेशी मूल्य तत्व जितना ही बड़ा होता है, इन मध्यवर्ती क़ीमतों का व्यावहारिक परिसर उतना ही अधिक होता है।

इससे दूसरों की अपेक्षा कम क़ीमतों पर बेचने के कुछ मामलों, उद्योग की कुछ शाखाओं में असामान्यतः नीची पण्य क़ीमतों,[5] आदि जैसी प्रतिस्पर्धा की दैनंदिन परिघटनाओं की ख़ूब अच्छी तरह से व्याख्या हो जाती है। पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा का मूलभूत नियम, जिसे राजनीतिक अर्थशास्त्र अभी तक समझ नहीं पाया था, वह नियम, जो लाभ की सामान्य दर और उसके द्वारा निर्धारित तथाकथित उत्पादन क़ीमतों को नियमित करता है, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, मालों के मूल्य तथा लागत क़ीमत में इस अंतर पर, और किसी माल को उसके मूल्य के नीचे लाभ के साथ बेचने की तद्जनित संभावना पर ही आधारित है।

किसी माल की विक्रय क़ीमत की न्यूनतम सीमा उसकी लागत क़ीमत होती है। अगर उसे उसकी लागत क़ीमत से कम पर बेचा जाता है, तो उत्पादक पूंजी के व्ययित संघटक तत्वों की विक्रय क़ीमत से पूर्णतः प्रतिस्थापना नहीं की जा सकती। यदि यह प्रक्रिया जारी रहती है, तो पेशगी पूंजी का मूल्य लुप्त हो जाता है। सिर्फ़ इस दृष्टिकोण से ही पूंजीपति लागत क़ीमत को माल का वास्तविक **आंतरिक** मूल्य समझ लेता है, क्योंकि यह उसकी पूंजी के मात्र संरक्षण के लिए आवश्यक क़ीमत है। लेकिन साथ ही यह बात भी है कि किसी माल की लागत क़ीमत उसके उत्पादन के लिए स्वयं पूंजीपति द्वारा अदा की गयी उसकी क्रय क़ीमत और इसलिए स्वयं उत्पादन प्रक्रिया द्वारा निर्धारित क्रय क़ीमत होती है। इस कारण किसी माल की बिक्री में सिद्ध किया हुआ अतिरिक्त मूल्य, अथवा बेशी मूल्य, पूंजीपति को उसकी लागत क़ीमत पर उसके मूल्य के आधिक्य के बजाय उसके मूल्य पर उसकी विक्रय क़ीमत के आधिक्य जैसा प्रतीत होता है, जिससे कि उसी के अनुसार किसी माल में समाविष्ट बेशी मूल्य उसकी बिक्री के ज़रिये

---

[5] तुलना करें Buch I, Kap. XVIII, 1, S. 571/561 ff. ['पूंजी', हिंदी संस्करण: अध्याय २०, १, पृष्ठ ५७८, पादटिप्पणी। – सं०]

सिद्ध नहीं होता, वरन स्वयं बिक्री से ही प्रादुर्भूत होता है। हमने इस भ्रांति का पहली पुस्तक (Kap. IV, 2)* ('पूंजी के सामान्य सूत्र में विरोध') में अधिक सूक्ष्मता से विवेचन किया है, किंतु यहां हम क्षण भर को उस रूप पर लौट आते हैं, जिसमें, औरों के अलावा, टॉरेंस ने उसकी रिकार्डो के बाद राजनीतिक अर्थशास्त्र की प्रगति के नाते पुनर्पुष्टि की है।

"उत्पादन लागत, अथवा दूसरे शब्दों में, माल के पैदा या तैयार करने में व्ययित पूंजी से बनी नैसर्गिक क़ीमत में लाभ शामिल नहीं हो सकता... मान लें कि फ़ार्मर अपने खेतों को काश्त करने में सौ क्वार्टर अनाज ख़र्च करता है और बदले में एक सौ बीस क्वार्टर प्राप्त करता है। इस प्रसंग में बीस क्वार्टर, व्यय से अतिरिक्त उपज होने के कारण, फ़ार्मर का लाभ है; लेकिन इस आधिक्य, या लाभ, को व्यय का हिस्सा कहना बेतुका होगा... कारख़ानेदार कच्चे माल की, श्रम के औज़ारों और उपकरणों की, और श्रमिकों के लिए भरणपोषण की कोई एक मात्रा ख़र्च करता है, और बदले में तैयार उत्पाद की एक मात्रा प्राप्त करता है। इस तैयार उत्पाद में उस कच्चे माल, औज़ारों तथा भरणपोषण से उच्चतर विनिमय मूल्य होना चाहिए, जिसकी पेशगी से उसे प्राप्त किया गया है।" टॉरेंस इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि लागत क़ीमत पर विक्रय क़ीमत के आधिक्य, अथवा लाभ, की उत्पत्ति इस तथ्य से होती है कि उपभोक्ता "या तो प्रत्यक्ष, या चक्करदार विनिमय के द्वारा पूंजी के सभी संघटकों का उनकी लागत के मुक़ाबले कुछ अधिक अंश देते हैं।"[6]

निस्संदेह, एक नियत परिमाण पर आधिक्य इस परिमाण का हिस्सा नहीं हो सकता, और इसलिए लाभ, किसी माल का पूंजीपति के व्यय से अतिरिक्त मूल्य, इस व्यय का हिस्सा नहीं हो सकता। इसलिए अगर पूंजीपति की मूल्यगत पेशगी के अलावा और कोई तत्व माल के मूल्य की रचना में प्रवेश नहीं करता, तो यह अव्याख्येय है कि उत्पादन में, उसमें जितना मूल्य गया है, उससे अधिक कैसे आ सकता है, क्योंकि शून्य से कुछ पैदा नहीं हो सकता। लेकिन टॉरेंस शून्य से इस उत्पत्ति को पण्य उत्पादन के क्षेत्र से पण्य परिचलन के क्षेत्र को अंतरित करके उससे कतराते ही हैं। टॉरेंस कहते हैं कि लाभ उत्पादन से नहीं आ सकता, क्योंकि अन्यथा वह उत्पादन लागत में पहले से ही सन्निहित होगा और इस लागत के ऊपर कोई आधिक्य नहीं होगा। लाभ मालों के विनिमय से नहीं आ सकता, रैमजे जवाब देते हैं, बशर्ते कि वह इस विनिमय के पहले ही विद्यमान न रहा हो। विनिमीत उत्पादों के मूल्य का योग प्रत्यक्षतः इन उत्पादों के, जिनके मूल्यों का वह योग है, विनिमय में नहीं बदलता। वह विनिमय के पहले और बाद में भी उतना ही होता है। यहां ध्यान में रखना चाहिए कि माल्थस स्पष्ट रूप में टॉरेंस के प्रमाण का हवाला देते हैं,[7] यद्यपि मालों के अपने मूल्य से अधिक पर बेचे जाने की स्वयं उनके पास अलग व्याख्या है, अथवा यों कहिये कि कोई भी व्याख्या नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के सभी तर्क व्यवहार में उसी चीज़ में परिणत हुए बिना नहीं रहते, जिसमें कभी के सुख्यात फ़्लोजिस्टन का ऋणात्मक भार परिणत हो जाता था।

पूंजीवादी उत्पादन द्वारा अभिभूत सामाजिक व्यवस्था में ग़ैर-पूंजीपति उत्पादक भी पूंजीवादी

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: अध्याय ५, २।—सं०

[6] R. Torrens, *An Essay on the Production of Wealth*, London, 1821, pp. 51-53, 349.

[7] Malthus, *Definitions in Political Economy*, London, 1853, pp. 70, 71.

अवधारणाओं से ग्रस्त हो जाता है। बाल्ज़ाक, जो सामान्यतः यथार्थ की अपनी गहरी समझ के लिए उल्लेखनीय हैं, अपने अंतिम उपन्यास, *Les Paysans*, में इसका बड़ा ही सटीक वर्णन करते हैं कि किस तरह एक छोटा किसान अपने महाजन के लिए बहुत से काम मुफ़्त करता है, जिसकी सद्भावना को बनाये रखने का वह इच्छुक है, और किस तरह यह सोचता है कि वह महाजन को मुफ़्त कुछ नहीं देता, क्योंकि स्वयं अपने श्रम पर उसे नक़द कुछ नहीं ख़र्च करना पड़ता। जहां तक महाजन की बात है, वह इस तरह एक वार से दो शिकार कर लेता है। वह मज़दूरी का नक़द परिव्यय बचाता है और किसान को, जो स्वयं अपने खेत को श्रम से वंचित करते जाने के कारण धीरे-धीरे कंगाल होता जाता है, सूदख़ोरी के जाल में अधिकाधिक गहरे फंसाता जाता है।

इस विचारशून्य अवधारणा को कि किसी माल की लागत क़ीमत उसका वास्तविक मूल्य होती है और बेशी मूल्य उत्पाद को उसके मूल्य से अधिक बेचने से उत्पन्न होता है, जिससे कि अगर मालों की विक्रय क़ीमत उनकी लागत क़ीमत के बराबर होती, अर्थात अगर वह उपभुक्त उत्पादन साधन जमा मज़दूरी के बराबर होती, तो माल अपने मूल्य पर बेचे जाते, प्रूदों द्वारा अपने रीत्यानुकूल विज्ञानाभासी वाक्छल के साथ दुनिया के सामने समाजवाद के एक नवोन्वेषित रहस्य की तरह घोषित किया गया है। वस्तुतः, मालों के मूल्य का उनकी लागत क़ीमत से यह समानयन ही उनके लोक बैंक का मूलाधार है। पहले दर्शाया जा चुका है कि किसी उत्पाद के मूल्य के विभिन्न संघटक तत्वों को स्वयं उत्पाद के आनुपातिक भागों में प्रकट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए (Buch I, Kap. VII, 2, S. 211/203)*, अगर २० पाउंड सूत का मूल्य ३० शिलिंग – यानी उत्पादन साधनों के २४ शिलिंग, श्रम शक्ति के ३ शिलिंग, और बेशी मूल्य के ३ शिलिंग – हो, तो इस बेशी मूल्य को उत्पाद के १/१० = २ पाउंड सूत के रूप में प्रकट किया जा सकता है। अब अगर इस २० पाउंड सूत को उसकी लागत क़ीमत, २७ शिलिंग, पर बेचा जाता है, तो क्रेता को २ पाउंड सूत मुफ़्त प्राप्त होता है, यानी उत्पाद को उसके मूल्य से १/१० कम पर बेचा जाता है। लेकिन श्रमिक ने तो, पहले की भांति, बेशी श्रम किया ही है, अलबत्ता इस बार पूंजीपति सूत उत्पादक के लिए नहीं, बल्कि क्रेता के लिए। यह मान लेना पूरी तरह से ग़लत होगा कि अगर सभी मालों को उनकी लागत क़ीमत पर बेचा जाता, तो परिणाम वस्तुतः वैसा ही होता, जैसा कि तब, जब उन सभी को उनकी लागत क़ीमत से अधिक, मगर उनके मूल्य पर बेचा जाता। कारण यह कि अगर श्रम शक्ति का मूल्य, कार्य दिवस की लंबाई और श्रम शोषण की मात्रा सभी जगह एक से भी रहे होते, तो भी विभिन्न प्रकारों के मालों के मूल्यों में समाविष्ट बेशी मूल्य की मात्राएं उनके उत्पादन के लिए पेशगी दी गयी पूंजियों की भिन्न-भिन्न आंगिक संरचना के अनुसार असमान होतीं।[8]

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण : अध्याय ६, २ पृष्ठ २३६-४१। – सं०

[8] "यदि श्रम शक्ति का मूल्य मालूम हो और उसके शोषण की मात्रा एक सी रहे, तो अलग-अलग पूंजियों से जो मूल्य तथा बेशी मूल्य पैदा होता है, उनकी राशियां सीधे इस अनुपात में घटती-बढ़ती हैं कि इन पूंजियों के परिवर्ती अंशों की राशियां, अर्थात उन अंशों की राशियां, जो सजीव श्रम शक्ति में रूपांतरित कर दिये हैं, कितनी छोटी या बड़ी हैं।" (Buch I, Kap. IX, S. 312/303.) ['पूंजी', हिंदी संस्करण : अध्याय ११, पृष्ठ ३३१। – सं०]

अध्याय २

लाभ की दर

पूंजी का सामान्य सूत्र $M—C—M'$ है। दूसरे शब्दों में, एक मूल्य राशि परिचलन में डाली जाती है, ताकि उससे बड़ी राशि उसमें से निकाली जा सके। यह अधिक बड़ी राशि उत्पन्न करनेवाली प्रक्रिया पूंजीवादी उत्पादन है। इसकी सिद्धि करनेवाली प्रक्रिया पूंजी का परिचलन है। पूंजीपति किसी माल का सिर्फ़ उसी के लिए, अथवा उसके उपयोग मूल्य या अपने निजी उपभोग के लिए ही उत्पादन नहीं करता है। पूंजीपति वास्तव में जिस उत्पाद में दिलचस्पी रखता है, वह स्वयं प्रत्यक्ष उत्पाद नहीं, वरन उत्पाद द्वारा उपभुक्त पूंजी के मूल्य पर उसके मूल्य का अतिरेक है। पूंजीपति कुल पूंजी उसके संघटकों द्वारा बेशी मूल्य के उत्पादन में निबाही जानेवाली भिन्न-भिन्न भूमिकाओं का लिहाज़ किये बिना पेशगी देता है। वह इन सभी संघटकों को समान रूप में, केवल पेशगी पूंजी को पुनरुत्पादित करने के लिए ही नहीं, बल्कि उससे भी अधिक मूल्य का उत्पादन करने के लिए पेशगी देता है। जिस अकेले तरीक़े से वह अपनी पेशगी परिवर्ती पूंजी के मूल्य को अधिक बड़े मूल्य में परिवर्तित कर सकता है, वह उसका सजीव श्रम से विनिमय करना और सजीव श्रम का शोषण करना है। किंतु वह इस श्रम का तब तक शोषण नहीं कर सकता कि जब तक वह साथ ही इस श्रम को करने की अवस्थाएं, यानी श्रम के साधन और श्रम के विषय, मशीनें और कच्चा माल, भी पेशगी नहीं देता, अर्थात जब तक वह अपने स्वत्वाधीन मूल्य की एक राशि को उत्पादन की अवस्थाओं के रूप में परिवर्तित नहीं कर लेता; कारण यह कि वह इसीलिए पूंजीपति है और श्रम का शोषण करने की प्रक्रिया को केवल इसीलिए हाथ में ले सकता है कि श्रम की अवस्थाओं का स्वामी होने के नाते वह केवल श्रम शक्ति के स्वामी के रूप में श्रमिक के सामने आता है। जैसा कि पहली पुस्तक में पहले ही दिखाया जा चुका है,* ठीक यह तथ्य ही श्रमिकों को उजरती मज़दूरों में और ग़ैर-मज़दूरों को पूंजीपतियों में परिणत करता है कि उत्पादन साधन ग़ैर-मज़दूरों के स्वामित्व में होते हैं।

पूंजीपति इसकी चिंता नहीं करता कि आया यह समझा जाता है कि वह अपनी परिवर्ती पूंजी से लाभ बनाने के लिए स्थिर पूंजी पेशगी देता है, या स्थिर पूंजी के मूल्य की अभिवृद्धि करने के लिए परिवर्ती पूंजी पेशगी देता है; आया कि वह अपनी मशीनों और कच्चे माल के मूल्य को बढ़ाने के लिए मज़दूरी में द्रव्य निवेशित करता है, या श्रम का शोषण कर सकने के

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, पृष्ठ १८८-८९ तथा ७५०-७५२। – सं०

लिए मशीनों और कच्चे माल में द्रव्य का निवेश करता है। यद्यपि बेशी मूल्य का सृजन पूंजी का केवल परिवर्ती अंश ही करता है, पर वह ऐसा केवल तभी करता है, जब अन्य अंशों, उत्पादन की अवस्थाओं, को भी इसी प्रकार अग्रसारित किया गया हो। यह देखते हुए कि पूंजीपति श्रम का शोषण स्थिर पूंजी पेशगी देकर और अपनी स्थिर पूंजी का अच्छा उपयोग परिवर्ती पूंजी पेशगी देकर ही कर सकता है, वह उन्हें अपनी कल्पना में एक सा समझने लगता है, और इसलिए और भी अधिक कि उसके लाभ की वास्तविक दर का निर्धारण उसके परिवर्ती पूंजी के साथ नहीं, बल्कि कुल पूंजी के साथ अनुपात से, बेशी मूल्य की दर से नहीं, बल्कि लाभ की दर से किया जाता है। और, जैसा कि हम देखेंगे, लाभ की दर वही बनी रह सकती है और फिर भी बेशी मूल्य की भिन्न-भिन्न दरों को व्यक्त कर सकती है।

उत्पाद की लागत में उसके मूल्य के वे सभी तत्व सम्मिलित होते हैं, जिनके लिए पूंजीपति ने अदायगी की है अथवा जिनके लिए उसने उत्पादन में समतुल्य द्रव्य निवेश किया है। पूंजी को संरक्षित रखने अथवा उसे उसके मूल परिमाण में पुनरुत्पादित करने के लिए इस लागत की भरपाई होना ज़रूरी है।

किसी माल में समाविष्ट मूल्य उसके उत्पादन में व्ययित श्रम काल के बराबर होता है, और इस श्रम समष्टि में सवेतन तथा निर्वेतन, दोनों तरह के अंश होते हैं। लेकिन पूंजीपति के लिए माल की लागत उसमें मूर्त श्रम का केवल वह अंश होती है, जिसके लिए वह अदायगी कर चुका होता है। माल में समाविष्ट बेशी श्रम के लिए पूंजीपति को कुछ भी नहीं देना होता, यद्यपि, सवेतन अंश की ही भांति, मज़दूर को उसके लिए अपना श्रम ख़र्च करना होता है और यद्यपि वह मूल्य का सृजन करता है और माल में बिलकुल सवेतन श्रम की तरह ही मूल्यसृजक तत्व के नाते प्रवेश करता है। पूंजीपति का लाभ इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि उसके पास बेचने को कुछ ऐसा है, जिसके लिए उसने कुछ नहीं दिया है। बेशी मूल्य, अथवा लाभ, किसी माल के उसकी लागत क़ीमत से अधिक मूल्य में ही, अर्थात उस माल में मूर्त सवेतन श्रम से अधिक कुल जितना श्रम मूर्त है, उसमें ही निहित है। इस प्रकार बेशी मूल्य, उसका मूल चाहे कुछ भी क्यों न हो, पेशगी दी गयी कुल पूंजी पर बेशी होता है। इसलिए कुल पूंजी से इस बेशी का अनुपात भिन्न $\frac{s}{C}$ से प्रकट किया जाता है, जिसमें C कुल पूंजी के लिए है। इस प्रकार हमें बेशी मूल्य दर $\frac{s}{v}$ से अलग **लाभ दर** $\frac{s}{C} = \frac{s}{c+v}$ प्राप्त हो जाती है।

परिवर्ती पूंजी के मुक़ाबले में मापने पर बेशी मूल्य की दर को बेशी मूल्य दर कहते हैं। कुल पूंजी के मुक़ाबले में मापने पर बेशी मूल्य की दर को लाभ की दर कहते हैं। ये एक ही चीज़ की दो भिन्न-भिन्न माप हैं और माप के दोनों मानकों के अंतर के कारण वे इस चीज़ के भिन्न-भिन्न अनुपातों अथवा संबंधों को व्यक्त करती हैं।

बेशी मूल्य के लाभ में रूपांतरण को बेशी मूल्य दर के लाभ दर में रूपांतरण से व्युत्पन्न माना जाना चाहिए, न कि इसके विपरीत। और वास्तव में ऐतिहासिक प्रस्थान बिंदु लाभ की दर ही था। बेशी मूल्य तथा बेशी मूल्य दर, सापेक्षतया, एक ऐसी अदृश्य और अज्ञात चीज़ हैं कि जिसका अन्वेषण किया जाना आवश्यक है, जबकि लाभ दर और इस कारण लाभ के रूप में बेशी मूल्य का आविर्भाव परिघटना की सतह पर ही प्रकट हो जाते हैं।

जहां तक किसी एक पूंजीपति की बात है, यह प्रत्यक्ष है कि वह केवल मालों के उत्पादन के लिए पेशगी दी गयी कुल पूंजी के साथ बेशी मूल्य, अथवा उस अधिक मूल्य के संबंध में

ही दिलचस्पी रखता है, जिस पर वह अपने माल बेचता है, जबकि पूंजी के विभिन्न संघटकों के साथ इस बेशी के विशिष्ट संबंध और आंतरिक सूत्र उसकी दिलचस्पी नहीं पैदा कर पाते, और इसके अलावा, यह उसके हित में ही होता है कि इस विशिष्ट संबंध और इस अंतर्भूत सूत्र पर परदा पड़े।

यद्यपि किसी माल का उसकी लागत क़ीमत से अधिक मूल्य अपने निर्माण की प्रत्यक्ष प्रक्रिया में रूप ग्रहण करता है, फिर भी वह सिद्ध केवल परिचलन की प्रक्रिया में ही होता है, और परिचलन की प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ और भी अधिक सहजता से प्रतीत होता है, क्योंकि यथार्थ में, वास्तविक मंडी में, प्रतिस्पर्धा में यह बाज़ार की अवस्थाओं पर निर्भर करता है कि इस बेशी की सिद्धि होती है या नहीं और किस हद तक होती है। इस स्थल पर इस बारे में कुछ कहना अनावश्यक है कि अगर किसी माल को उसके मूल्य से कम या अधिक पर बेचा जाता है, तो मात्र बेशी मूल्य का एक और प्रकार का विभाजन ही होता है, और यह भिन्न विभाजन, बेशी मूल्य के विभिन्न व्यक्तियों में बंटने का यह भिन्न अनुपात, किसी भी प्रकार इस बेशी मूल्य के परिमाण या प्रकृति को नहीं बदलता। परिचलन प्रक्रिया में केवल वे रूपांतरण ही नहीं होते हैं, जिनका हमने दूसरी पुस्तक में विवेचन किया था; वे वास्तविक प्रतिस्पर्धा, मालों का उनके मूल्य से अधिक या कम पर क्रय और विक्रय किये जाने के साथ-साथ होते हैं, जिससे कि किसी एक पूंजीपति द्वारा सिद्धिकृत बेशी मूल्य उसकी व्यावसायिक निपुणता पर उतना ही निर्भर करता है कि जितना श्रम के प्रत्यक्ष शोषण पर।

परिचलन प्रक्रिया में परिचलन काल कार्य काल के साथ-साथ ही प्रभाव डालता है और इस प्रकार एक नियत कालावधि में साध्य बेशी मूल्य की मात्रा को सीमित कर देता है। परिचलन से व्युत्पन्न अन्य तत्व भी वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया में निर्णायक रूप से घुस आते हैं। वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया और परिचलन प्रक्रिया निरंतर अंतर्ग्रंथित तथा अंतर्मिश्रित होती रहती हैं और इस प्रकार अपने अभिसूचक विशिष्ट लक्षणों को अपमिश्रित करती रहती हैं। बेशी मूल्य का, और सामान्यरूपेण मूल्य का उत्पादन, जैसे कि पहले दिखाया जा चुका है, परिचलन में नयी परिभाषा प्राप्त कर लेता है। पूंजी अपने रूपांतरणों के परिपथ से होकर गुज़रती है। अंत में, अपने आंतरिक आंगिक जीवन से बाहर निकलकर, एक तरह से, वह बाह्य जीवन के साथ संबंध बना लेती है, ऐसे संबंध कि जिनमें एक दूसरे के सामने आनेवाले पूंजी और श्रम नहीं, वरन एक प्रसंग में पूंजी और पूंजी, तथा दूसरे प्रसंग में व्यक्ति – वे भी मात्र क्रेताओं और विक्रेताओं के रूप में – होते हैं। परिचलन काल और कार्य काल के रास्ते मिलते हैं और इस प्रकार दोनों ही बेशी मूल्य को निर्धारित करते प्रतीत होते हैं। पूंजी तथा उजरती मज़दूर एक दूसरे के सामने जिस मूल रूप में आते हैं, वह उससे स्वतंत्र प्रतीत होनेवाले संबंधों के बीच में आ जाने से प्रच्छन्न हो जाता है। स्वयं बेशी मूल्य श्रम काल के विनियोजन के उत्पाद के रूप में नहीं, बल्कि मालों की विक्रय क़ीमत के उनकी लागत क़ीमत से अधिकता के रूप में प्रकट होता है और इस प्रकार लागत क़ीमत को सहज ही उनके वास्तविक मूल्य (valeur intrinsèque) के रूप में प्रकट कर दिया जाता है, जबकि लाभ मालों की विक्रय क़ीमत के उनके अंतर्वर्ती मूल्य पर आधिक्य के रूप में प्रकट होता है।

ठीक है कि बेशी मूल्य का स्वरूप उत्पादन प्रक्रिया के दौरान पूंजीपति की चेतना पर लगातार अपना प्रभाव डालता रहता है, जैसा कि दूसरों के श्रम काल, आदि के लिए उसका लोभ बेशी मूल्य के हमारे विश्लेषण में प्रकट कर चुका है। लेकिन: १) वास्तविक उत्पादन

प्रक्रिया केवल एक अस्थायी अवस्था ही है, जो परिचलन प्रक्रिया के साथ निरंतर विलयित होती रहती है, जैसे अंतोक्त प्रथमोक्त के साथ विलयित होती रहती है, जिससे उत्पादन प्रक्रिया में उसमें हासिल किये गये मुनाफ़े के स्रोत की कमोबेश स्पष्टतः प्रकट होती धारणा, अर्थात बेशी मूल्य के स्वरूप की इंगिति, हद से हद इतना ही संगत कारक हो सकती है, जितना यह विचार कि सिद्धिकृत बेशी का उद्‌गम एक ऐसी गति में होता है, जो उत्पादन प्रक्रिया से स्वतंत्र है, कि उसकी उत्पत्ति परिचलन में होती है और यह कि वह पूंजी का अंग होती है, चाहे उसका श्रम के साथ कोई भी संबंध क्यों न हो। रैमज़े, माल्थस, सीनियर, टॉरेंस, आदि जैसे आधुनिक अर्थशास्त्री भी परिचलन की इन परिघटनाओं को प्रत्यक्षतः इसके प्रमाण जैसे समझते हैं कि पूंजी श्रम के साथ अपने सामाजिक संबंध से, जो उसे पूंजी बनाता है, स्वतंत्र मात्र भौतिक अस्तित्व में मानो श्रम के साथ-साथ और श्रम से स्वतंत्र बेशी मूल्य का एक स्वतंत्र स्रोत है। २) व्यय की मद के अंतर्गत, जिसमें मज़दूरी के साथ-साथ कच्चे माल का मूल्य, मशीनों की छीजन, आदि भी आ जाते हैं, निर्वेतन श्रम की खसोट व्यय में शामिल किसी चीज़ के लिए किये गये भुगतान में बचत की तरह ही, श्रम की एक ख़ास मात्रा के लिए न्यूनतर शोधन की तरह ही, कच्चे माल के ज़्यादा सस्ता ख़रीदे जाने या मशीनों की छीजन के कम हो जाने पर होनेवाली बचत की तरह ही सामने आती है। इस तरह से बेशी श्रम की खसोट अपना विशिष्ट चरित्र गंवा देती है। बेशी मूल्य के साथ उसका विशिष्ट संबंध अस्पष्ट हो जाता है। जैसा कि पहली पुस्तक (Abschn. VI)* में दर्शाया गया है, श्रम शक्ति के मूल्य को मज़दूरी के रूप में प्रकट करने से इसमें बहुत सहायता और सुविधा मिलती है।

पूंजी के संबंध इस तथ्य से अस्पष्ट हो जाते हैं कि पूंजी के सभी भाग समान रूप में अतिरेक मूल्य (लाभ) के स्रोत जैसे प्रतीत होते हैं।

तथापि बेशी मूल्य को जिस ढंग से लाभ की दर के रास्ते से लाभ के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है, वह कर्ता और कर्म के उस क्रम विपर्यय का और आगे विकास है, जो उत्पादन प्रक्रिया में पहले ही हो चुका होता है। हम देख चुके हैं कि उत्पादन प्रक्रिया में श्रम की आत्मनिष्ठ उत्पादक शक्तियां पूंजी की उत्पादक शक्तियों जैसी प्रतीत होती हैं।** एक ओर, मूल्य, अथवा विगत श्रम, जो सजीव श्रम को शासित करता है, पूंजीपति में मूर्तिमान होता है। दूसरी ओर, श्रमिक मात्र भौतिक श्रम शक्ति के रूप में, एक माल के रूप में, प्रकट होता है। उत्पादन के साधारण संबंधों में भी यह विपर्यस्त संबंध अनिवार्यतः कुछ अनुरूप विपर्यस्त अवधारणाएं, विपर्यस्त चेतना उत्पन्न करता है, जिसे वास्तविक परिचलन प्रक्रिया के रूपांतरण तथा उपांतरण और विकसित करते हैं।

जैसा कि रिकार्डो विचार पद्धति के विश्लेषण से प्रकट होता है, लाभ की दर के नियमों का बेशी मूल्य दर के नियमों के साथ, अथवा इसके विपरीत, तदात्मीकरण करने की कोशिश करना एकदम ग़लत है। पूंजीपति स्वाभाविकतया उनके बीच भेद को नहीं देखता। $\frac{s}{C}$ सूत्र में बेशी मूल्य को उसके उत्पादन के लिए पेशगी दी गयी कुल पूंजी के मूल्य से मापा जाता है, जिसका एक भाग इस उत्पादन में पूर्णतः उपभुक्त हो गया था और एक भाग उसमें केवल

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण : भाग ६, पृष्ठ ५६४-५७१। – सं०

** 'पूंजी', हिंदी संस्करण : खंड १, पृष्ठ ३५७-३५८। – सं०

नियोजित ही किया गया था। वास्तव में, $\frac{s}{C}$ सूत्र कुल पेशगी पूंजी के स्वप्रसार की मात्रा को प्रकट करता है, अथवा, आंतरिक संकल्पनात्मक संबंधों तथा बेशी मूल्य के स्वरूप के अनुसार लिये जाने पर यह परिवर्ती पूंजी के कुल पेशगी पूंजी के परिमाण के साथ परिवर्तन की मात्रा के अनुपात को दर्शाता है।

स्वयं कुल पूंजी के मूल्य के परिमाण का बेशी मूल्य के परिमाण के साथ कोई आंतरिक संबंध नहीं है, कम से कम प्रत्यक्ष रूप में तो नहीं ही। जहां तक उसके भौतिक तत्वों की बात है, कुल पूंजी वियुत परिवर्ती पूंजी, अर्थात स्थिर पूंजी में श्रम को मूर्त करने के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुएं – श्रम के साधन और श्रम की सामग्री – शामिल होती हैं। श्रम की एक विशेष मात्रा को मालों में मूर्त करने और इस प्रकार मूल्य उत्पन्न करने के लिए श्रम साधनों तथा सामग्री की एक ख़ास मात्रा का होना आवश्यक है। प्रयुक्त श्रम के विशेष स्वरूप के अनुसार श्रम की मात्रा और जिन उत्पादन साधनों में यह श्रम लगाया जानेवाला है, उनकी मात्रा के बीच एक निश्चित प्राविधिक संबंध स्थापित हो जाता है। अतः, उस सीमा तक बेशी मूल्य, अथवा बेशी श्रम की मात्रा और उत्पादन साधनों की मात्रा में भी एक निश्चित संबंध होता है। उदाहरण के लिए, यदि मजदूरी उत्पन्न करने के लिए आवश्यक श्रम छः घंटा रोज़ाना हो, तो मजदूर को छः घंटे का बेशी श्रम करने, अथवा १००% बेशी मूल्य उत्पन्न करने के लिए बारह घंटे काम करना होगा। छः घंटे में वह जितने उत्पादन साधनों को ख़र्च करता है, बारह घंटे में उसके दुगने ख़र्च करेगा। फिर भी यह इसका कोई कारण नहीं है कि उसके द्वारा छः घंटे में उत्पादित बेशी मूल्य इन छः घंटों में, अथवा बारह घंटों में ख़र्च किये उत्पादन साधनों के मूल्य से प्रत्यक्षतः संबद्ध हो। यह मूल्य यहां एकदम महत्वहीन है; यह केवल प्राविधिक दृष्टि से आवश्यक मात्रा की ही बात है। तब तक इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि कच्चा माल अथवा श्रम साधन सस्ते हैं या महंगे, जब तक कि उनमें आवश्यक उपयोग मूल्य हो और वे लगाये जानेवाले श्रम के प्रविधितः निर्धारित अनुपात में उपलब्ध हों। अगर मैं यह जानता हूं कि एक घंटे की कताई में x पाउंड रूई उपभुक्त होती है और उसकी क़ीमत क शिलिंग है, तो मैं, निस्संदेह, यह भी जानता हूं कि १२ घंटे की कताई १२ x पाउंड रूई = १२ क शिलिंग की खपत करती है, और तब बेशी मूल्य के १२ के मूल्य के साथ और छः के मूल्य के साथ भी अनुपात का परिकलन कर सकता हूं। लेकिन यहां सजीव श्रम का उत्पादन साधनों के **मूल्य** से संबंध केवल इसी हद तक मौजूद है कि क शिलिंग x पाउंड रूई के लिए एक नाम का काम करते हैं; चूंकि रूई की एक निश्चित मात्रा की एक निश्चित क़ीमत है, और इसलिए, विलोमतः, एक निश्चित क़ीमत भी रूई की एक निश्चित मात्रा के सूचक का काम दे सकती है, जब तक कि रूई की क़ीमत बदलती नहीं। अगर मैं जानता हूं कि मेरे द्वारा छः घंटे का बेशी मूल्य हस्तगत किये जाने के वास्ते मजदूर को १२ घंटे काम करना चाहिए और इसलिए मेरे पास रूई की १२ घंटे की पूर्ति उपयोग के लिए तैयार रहनी चाहिए, और अगर मैं १२ घंटे के लिए आवश्यक रूई की इस मात्रा की क़ीमत जानता हूं, तो मुझे रूई की क़ीमत (आवश्यक मात्रा के सूचक के नाते) और बेशी मूल्य के बीच एक अप्रत्यक्ष संबंध मिल जाता है। लेकिन विलोमतः, मैं कच्चे माल की क़ीमत से कभी यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकता कि एक घंटे की, न कि छः घंटे की, कताई में कच्चे माल की कितनी मात्रा खपेगी। इस प्रकार स्थिर पूंजी के मूल्य और इसलिए कुल पूंजी ($= c+v$) के भी मूल्य और बेशी मूल्य के बीच कोई अनिवार्य आंतरिक संबंध नहीं है।

यदि बेशी मूल्य दर ज्ञात हो और उसका परिमाण दिया हुआ हो, तो लाभ दर वस्तुतः वह जो है, उसके अलावा और कुछ व्यक्त नहीं करती, अर्थात बेशी मूल्य को मापने का एक भिन्न तरीक़ा, उसका पूंजी के उस अंश के मूल्य के बजाय, जिससे बेशी मूल्य श्रम से अपने विनिमय के ज़रिये सीधे उत्पन्न होता है, कुल पूंजी के मूल्य के अनुसार मापा जाना। लेकिन यथार्थ में (अर्थात गोचर जगत में) बात उलटी हो जाती है। बेशी मूल्य दिया होता है, परंतु माल की लागत क़ीमत से उसकी विक्रय क़ीमत के आधिक्य के रूप में दिया होता है; और यह एक रहस्य बना रहता है कि यह बेशी आयी कहां से थी – उत्पादन प्रक्रिया में श्रम के शोषण से, या परिचलन प्रक्रिया में ग्राहक को झांसा देने से, या दोनों ही से। जो और दिया हुआ है, वह इस बेशी का कुल पूंजी के मूल्य से अनुपात, अथवा लाभ दर है। पेशगी दी हुई कुल पूंजी के मूल्य के संदर्भ में लागत क़ीमत से विक्रय क़ीमत के इस आधिक्य का परिकलन बहुत महत्वपूर्ण और स्वाभाविक है, क्योंकि तत्वतः यही वह अनुपात देता है, जिसमें कुल पूंजी विस्तारित हुई है, अर्थात वह उसके स्वप्रसार की मात्रा बताता है। इसलिए अगर हम इस लाभ दर को आधार बनाकर चलते हैं, तो हम बेशी और मज़दूरी में निवेशित पूंजी अंश के बीच के विशिष्ट संबंध निश्चित नहीं कर सकते। हम एक आगामी अध्याय* में देखेंगे कि माल्थस जब इस तरीक़े से बेशी मूल्य और पूंजी के परिवर्ती अंश के साथ उसके विशिष्ट संबंध के रहस्य पर पहुंचने की कोशिश करते हैं, तो वह कैसी मज़ेदार कलाबाज़ियां खाते हैं। लाभ दर वास्तव में जो दिखलाती है, वह कुल पूंजी के बराबर अंशों से बेशी का ख़ासा एकरूप संबंध ही है, जो, इस दृष्टिकोण से, किसी भी प्रकार का कोई भी आंतरिक अंतर प्रकट नहीं करता, बशर्ते कि वह स्थायी तथा प्रचल पूंजी के बीच ही न हो। और वह यह अंतर भी केवल इसलिए ही प्रकट करता है कि बेशी को दो तरीक़ों से परिकलित किया जाता है; यानी पहला, एक सरल परिमाण की तरह – लागत क़ीमत से आधिक्य की तरह। इस, अपने प्रारंभिक, रूप में सारी प्रचल पूंजी लागत क़ीमत में चली जाती है, जबकि स्थायी पूंजी की सिर्फ़ छीजन ही उसमें जाती है। दूसरा, मूल्य के इस आधिक्य का पेशगी पूंजी के कुल मूल्य से संबंध। इस मामले में कुल स्थायी पूंजी का मूल्य परिकलन में आता है, बिलकुल वैसे कि जैसे प्रचल पूंजी आती है। अतः प्रचल पूंजी दोनों बार एक ही तरह से शामिल होती है, जबकि स्थायी पूंजी पहली बार अलग ढंग से और दूसरी बार प्रचल पूंजी की तरह से ही। इन परिस्थितियों में स्थायी तथा प्रचल पूंजी के बीच अंतर ही वह अकेला अंतर है कि जो अपने आपको सामने लाता है।

अतः, यदि बेशी, जैसे हेगेल ने बात को कहा होता, लाभ दर से अपने को स्वयं अपने में ही पुनर्प्रतिबिंबित करती है, अथवा, दूसरे शब्दों में, बेशी लाभ दर द्वारा अधिक घनिष्ठतः अभिलक्षित होती है, तो वह पूंजी द्वारा एक साल के दौरान, अथवा एक निश्चित परिचलन अवधि में स्वयं अपने मूल्य के ऊपर उत्पादित बेशी की तरह प्रकट होती है।

इस प्रकार यद्यपि लाभ दर संख्यातः बेशी मूल्य दर से भिन्न होती है, जबकि बेशी मूल्य तथा लाभ वस्तुतः एक ही चीज़ और संख्यातः बराबर होते हैं, फिर भी लाभ बेशी मूल्य का एक परिवर्तित रूप है, ऐसा रूप, जिसमें उसका उद्गम तथा उसके अस्तित्व का रहस्य दुर्ज्ञेय हो जाते और दब जाते हैं। वास्तव में, लाभ वह रूप है, जिसमें बेशी मूल्य अभिव्यक्त होता है और

---

* K. Marx, *Theorien über den Mehrwert*. K. Marx/F. Engels, *Werke*, Band 26, Teil 3, S. 25-28. — सं०

अंतोक्त को प्रकट करने के लिए जिसे आरंभ में विश्लेषण द्वारा अनावृत्त करना होता है। बेशी मूल्य में पूंजी तथा श्रम के बीच का संबंध उघड़कर सामने आ जाता है; पूंजी के लाभ के साथ संबंध में, अर्थात पूंजी के बेशी मूल्य के साथ, जो एक ओर परिचलन प्रक्रिया में सिद्धिकृत मालों की लागत क़ीमत से आधिक्य के रूप में, और, दूसरी ओर, कुल पूंजी के साथ अपने संबंध द्वारा अधिक घनिष्ठत: निर्धारित बेशी मूल्य के रूप में प्रकट होता है, संबंध में **पूंजी स्वयं अपने साथ संबंध** की तरह प्रकट होती है, जिसमें उसे, मूल मूल्य राशि के नाते, उसके द्वारा उत्पन्न एक नये मूल्य से विभेदित किया जाता है। इसका तो अहसास होता है कि पूंजी यह नया मूल्य उत्पादन तथा परिचलन प्रक्रियाओं में अपनी गति द्वारा उत्पन्न करती है। किंतु जिस तरीक़े से यह होता है, वह रहस्यमंडित होता है और स्वयं पूंजी में अंतर्हित छिपे गुणों से उद्भूत होता प्रतीत होता है।

पूंजी की स्वप्रसार प्रक्रिया का हम जितना ही अधिक अनुगमन करते हैं, पूंजी के संबंध उतना ही अधिक रहस्यपूर्ण होते चले जाते हैं और उसकी आंतरिक आंगिक रचना का रहस्य उतना ही कम प्रकट होता जाता है।

इस भाग में लाभ दर संख्यात: बेशी मूल्य दर से भिन्न है, जबकि लाभ तथा बेशी मूल्य को समान सांख्यिक परिमाण का, किंतु केवल भिन्न-भिन्न रूप का, माना गया है। अगले भाग में हम यह देखेंगे कि अपवर्तन किस तरह बढ़ता है, और किस तरह लाभ बेशी मूल्य से संख्यात: भिन्न परिमाण को भी प्रकट करता है।

अध्याय ३

लाभ दर का बेशी मूल्य दर से संबंध

पिछले अध्याय के अंत की भांति यहां भी, और सामान्यरूपेण इस सारे पहले भाग में, हम किसी नियत पूंजी को होनेवाले लाभ की राशि को इस पूंजी के द्वारा एक ख़ास परिचलन अवधि में उत्पादित बेशी मूल्य की कुल राशि के बराबर मानते हैं। इसलिए फ़िलहाल हम इस बात को अलग छोड़ देते हैं कि एक ओर तो इस बेशी मूल्य को पूंजी पर ब्याज, किराया जमीन, करों, आदि जैसे विभिन्न उपरूपों में बांटा जा सकता है, और दूसरी ओर, यह नियमतः सामान्य लाभ दर के नाते, जिसका दूसरे भाग में विवेचन किया जायेगा, हस्तगत होनेवाले लाभ के सर्वसम नहीं है।

जहां लाभ की मात्रा को बेशी मूल्य की मात्रा के बराबर माना गया है, वहां उसके, और लाभ दर के भी, परिमाण का निर्धारण दिये हुए अथवा हर पृथक प्रसंग में निश्चेय सरल अंकों के अनुपातों से किया गया है। अतः विश्लेषण पहले विशुद्धतः गणित के क्षेत्र में ही किया गया है।

हम पहली तथा दूसरी पुस्तकों में प्रयुक्त अभिधानों को बनाये रखेंगे। कुल पूंजी C स्थिर पूंजी c तथा परिवर्ती पूंजी v से संरचित है और बेशी मूल्य s उत्पन्न करती है। इस बेशी मूल्य का पेशगी परिवर्ती पूंजी से अनुपात, अथवा $\frac{s}{v}$ बेशी मूल्य दर कहलाता है और उसे s' नाम दिया गया है। अतः $\frac{s}{v} = s'$, और फलतः $s = s'v$। यदि यह बेशी मूल्य परिवर्ती पूंजी के बजाय कुल पूंजी से संबद्ध है, तो उसे लाभ, p, कहते हैं और बेशी मूल्य s का कुल पूंजी s से अनुपात, अथवा $\frac{s}{C}$, लाभ दर, p', कहलाता है। तदनुसार,

$$p' = \frac{s}{C} = \frac{s}{c+v},$$

अब, s की उसके समतुल्य $s'v$ से प्रतिस्थापना करने पर हम पाते हैं

$$p' = s'\frac{v}{C} = s'\frac{v}{c+v}$$

जिस समीकरण को इस अनुपात द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है:

$$p' : s' = v : C;$$

लाभ दर का बेशी मूल्य दर से वही संबंध है, जो परिवर्ती पूंजी का कुल पूंजी से है।

इस अनुपात से यह परिणाम निकलता है कि लाभ दर, p′, सदा बेशी मूल्य दर, s′, से छोटी होती है, क्योंकि परिवर्ती पूंजी, v, सदा v + c अर्थात परिवर्ती पूंजी जमा स्थिर पूंजी के योगफल, C, से छोटी होती है; उस एकमात्र व्यवहारतः असंभव प्रसंग को छोड़कर, जिसमें v=C, अर्थात कोई स्थिर पूंजी नहीं है, कोई उत्पादन साधन नहीं हैं, लेकिन सिर्फ़ मज़दूरी ही पूंजीपति द्वारा पेशगी दी जाती है।

लेकिन हमारा विश्लेषण कई अन्य कारकों को भी ध्यान में लेता है, जो c, v, तथा s के परिमाण पर निर्धारक प्रभाव डालते हैं और उन पर संक्षेप में विचार किया जाना चाहिए।

प्रथम, **द्रव्य का मूल्य**। हम इसे आद्योपांत स्थिर मान सकते हैं।

द्वितीय, **आवर्त**। हम इस कारक को फ़िलहाल अपनी समीक्षा के बिलकुल बाहर रखेंगे, क्योंकि लाभ दर पर इसके प्रभाव का बाद के एक अध्याय में विशेषकर विवेचन किया जायेगा। [यहां हम केवल एक बात का पूर्व-प्रावधान करते हैं और वह यह कि सूत्र $p' = s'\frac{v}{C}$ सर्वथा परिवर्ती पूंजी की केवल **एक** आवर्त अवधि के लिए ही सही है। लेकिन हम इसे सरल बेशी मूल्य दर, s′, की वार्षिक बेशी मूल्य दर, s′ n, से प्रतिस्थापना करके वार्षिक आवर्त के लिए सही कर सकते हैं। इसमें n परिवर्ती पूंजी के एक वर्ष के भीतर आवर्तों की संख्या है। (तुलना करें: दूसरी पुस्तक, अध्याय १६, १) – फ़्रे० एं०]

तृतीय, **श्रम की उत्पादिता** की ओर यथोचित ध्यान दिया जाना चाहिए, बेशी मूल्य दर पर जिसके प्रभाव का पहली पुस्तक (Abschn. IV)* में पूर्णतया विवेचन किया जा चुका है। श्रम उत्पादिता लाभ दर पर भी प्रत्यक्ष प्रभाव डाल सकती है, कम से कम व्यष्टिक पूंजी की लाभ दर पर, यदि, जैसा कि पहली पुस्तक में प्रदर्शित किया जा चुका है (Kap. X, S. 323/314),** यह व्यष्टिक पूंजी औसत से उच्चतर सामाजिक उत्पादिता के साथ काम करती है और मालों को उनके औसत सामाजिक मूल्य से अल्प मूल्य पर उत्पादित करती है और इस प्रकार अतिरिक्त लाभ की सिद्धि करती है। तथापि इस प्रसंग पर फ़िलहाल विचार नहीं किया जायेगा, क्योंकि ग्रंथ के इस भाग में हम इस आधारिका पर भी चल रहे हैं कि माल सामान्य सामाजिक अवस्थाओं में उत्पादित किये जाते हैं और अपने मूल्य पर बेचे जाते हैं। अतः, हम प्रत्येक प्रसंग में यह मान लेते हैं कि श्रम उत्पादिता स्थिर बनी रहती है। वास्तव में, उद्योग की किसी शाखा में निवेशित पूंजी का मूल्य संघटन, अर्थात परिवर्ती तथा स्थिर पूंजी के बीच एक ख़ास अनुपात, सदा श्रम उत्पादिता की एक निश्चित मात्रा को व्यक्त करता है। इसलिए जैसे ही यह अनुपात स्थिर पूंजी के भौतिक तत्वों के मूल्य में मात्र परिवर्तन, अथवा मज़दूरी में परिवर्तन के अलावा अन्य किसी साधन से बदलता है, श्रम उत्पादिता में भी इसी प्रकार अनुरूप परिवर्तन आ जायेगा और हम प्रायः देखेंगे कि इस कारण c, v तथा s कारकों के परिवर्तनों में श्रम उत्पादिता के परिवर्तन भी सन्निहित होते हैं।

शेष तीनों कारकों – **कार्य दिवस की दीर्घता, श्रम की तीव्रता, और मज़दूरी** – पर भी यही बात लागू होती है। बेशी मूल्य की मात्रा तथा दर पर उनके प्रभाव का पहली पुस्तक में सर्वांगीण विवेचन किया जा चुका है।*** इसलिए इस कल्पना के बावजद कि ये तीनों कारक

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: भाग ४। – सं०

** 'पूंजी', हिंदी संस्करण: अध्याय १२, पृष्ठ ३४१-४२। – सं०

*** 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, पृष्ठ ५४६-५६। – सं०

स्थिर रहते हैं, जो हम सरलता की ख़ातिर करते हैं, यह बात फिर भी समझ में आ जायेगी कि v तथा s में जो परिवर्तन आते हैं, उनमें उनके परिमाणों, उनके निर्धारक तत्वों के परिवर्तन सन्निहित हो सकते हैं। इस मामले में हमें संक्षेप में याद दिलाना होगा कि मज़दूरी बेशी मूल्य की मात्रा और बेशी मूल्य दर को कार्य दिवस की दीर्घता तथा श्रम की तीव्रता के व्युत्क्रमानुपात में प्रभावित करती है; मज़दूरी में वृद्धि बेशी मूल्य को घटा देती है, जबकि कार्य दिवस के दीर्घीकरण और श्रम की तीव्रता में वृद्धि से उसमें बढ़ती होती है।

मान लीजिये कि १० घंटा कार्य दिवस काम करनेवाले २० मज़दूरों को २० की कुल साप्ताहिक मज़दूरी पर लगाकर १०० की पूंजी २० का बेशी मूल्य उत्पादित करती है। अतः हमारे पास है:

$$८०_c + २०_v + २०_s;\ s' = १००\%,\ p' = २०\%।$$

अब कार्य दिवस को मज़दूरी को बढ़ाये बिना लंबा करके १५ घंटे का कर दिया जाता है। २० मज़दूरों द्वारा उत्पादित कुल मूल्य इस प्रकार बढ़कर ४० से ६० हो जाता है (१० : १५ = ४० : ६०)। चूंकि v, मज़दूरों को दी जानेवाली मज़दूरी, वही रहती है, इसलिए बेशी मूल्य बढ़कर २० से ४० हो जाता है, और हमारे पास है:

$$८०_c + २०_v + ४०_s;\ s' = २००\%\ \ p' = ४०\%।$$

यदि, विलोमतः, १० घंटा कार्य दिवस अपरिवर्तित रहता है, जबकि मज़दूरी घटकर २० से १२ हो जाती है, तो कुल मूल्य उत्पाद पहले की ही भांति ४० के बराबर रहता है, किंतु उसका वितरण भिन्न हो जाता है; v घटकर १२ हो जाता है, जिससे शेष २८ s के लिए रह जाता है। अब हमारे पास यह होता है:

$$८०_c + १२_v + २८_s;\ \ s' = २३३\ १/३\%,\ \ p' = \frac{२८}{९२} = ३०\ १०/२३\%।$$

अतः हम देखते हैं कि दीर्घीकृत कार्य दिवस (अथवा श्रम की तीव्रता में अनुरूप वृद्धि) और मज़दूरी में गिरावट, दोनों बेशी मूल्य की मात्रा, और इस प्रकार दर, को बढ़ाते हैं। विलोमतः, अन्य बातों के यथावत रहने पर मज़दूरी में वृद्धि बेशी मूल्य दर को नीचा कर देगी। अतः, यदि v मज़दूरी में वृद्धि के ज़रिये बढ़ती है, तो वह मज़दूरी की अधिक नहीं, अपितु सिर्फ़ ज्यादा महंगी मात्रा को ही व्यक्त करती है, जिस मामले में s′ तथा p′ बढ़ते नहीं, वरन गिरते हैं।

यह इस बात को सूचित करता है कि कार्य दिवस, श्रम की तीव्रता और मज़दूरी में परिवर्तन v तथा s और उनके अनुपात, और इसलिए p′ में भी, जो s का कुल पूंजी, c+v, से अनुपात है, समकालिक परिवर्तन के बिना नहीं हो सकते। और यह भी प्रत्यक्ष है कि s के v से अनुपात में परिवर्तनों में भी उपरिलिखित तीन श्रम अवस्थाओं में से कम से कम एक में परिवर्तन सन्निहित होते हैं।

यथार्थतः यही परिवर्ती पूंजी के कुल पूंजी की गति से और उसके स्वप्रसार से विशिष्ट आंगिक संबंध को, और स्थिर पूंजी से उसके भेद को भी प्रकट करता है। जहां तक मूल्य जनन की बात है, स्थिर पूंजी सिर्फ़ अपने मूल्य के लिए ही महत्वपूर्ण है। और मूल्य जनन के लिए

यह महत्वहीन है कि आया १,५०० पाउंड की स्थिर पूंजी १,५०० टन लोहे को, मान लीजिये, १ पाउंड के भाव से प्रकट करती है, या ५०० टन को ३ पाउंड के भाव से। वास्तविक सामग्री की मात्रा, जिसमें स्थिर पूंजी का मूल्य समाविष्ट होता है, मूल्य रचना और लाभ दर के लिए सर्वथा असंगत है, जो इस मूल्य के व्युत्क्रमानुपात में बदलती है, चाहे स्थिर पूंजी के मूल्य की बढ़ती अथवा घटती का उस भौतिक उपयोग मूल्य की संहति से, जिसे वह प्रकट करती है, कुछ भी अनुपात क्यों न हो

परिवर्ती पूंजी के साथ बात दूसरी है। यहां महत्व उसके मूल्य का नहीं, उसमें समाविष्ट श्रम का नहीं, वरन इस मूल्य का उस कुल श्रम के मात्र सूचक के नाते है, जिसे वह गतिमान करता है और जो उसमें व्यक्त नहीं होता – कुल श्रम, जिसका उस मूल्य में व्यक्त श्रम से, अतः सवेतन श्रम से, अर्थात कुल श्रम के उस अंश से, जो बेशी मूल्य उत्पन्न करता है, अंतर उतना ही अधिक होता है, जितना ही कम श्रम स्वयं उस मूल्य में समाविष्ट होता है। मान लीजिये कि एक दस घंटा कार्य दिवस दस शिलिंग = दस मार्क के बराबर है। अगर मजदूरी की, और इसलिए परिवर्ती पूंजी की प्रतिस्थापना करने के लिए आवश्यक श्रम = ५ घंटा = ५ शिलिंग है, तो बेशी श्रम = ५ घंटा और बेशी मूल्य = ५ शिलिंग होगा। अगर आवश्यक श्रम = ४ घंटा = ४ शिलिंग हो, तो बेशी श्रम = ६ घंटा और बेशी मूल्य = ६ शिलिंग होगा।

अतः, जैसे ही परिवर्ती पूंजी का मूल्य उसके द्वारा गतिमान की गयी श्रम की मात्रा का सूचक नहीं रहता, और इसके अलावा, इस सूचक का पैमाना बदल जाता है, बेशी मूल्य दर विपरीत दिशा में और व्युत्क्रमानुपात में बदल जायेगी।

आइये, अब लाभ दर के उपरोक्त समीकरण, $p' = s' \frac{v}{C}$, को विभिन्न संभव प्रसंगों पर लागू करना शुरू करें। हम $s' \frac{v}{C}$ के अलग-अलग गुणनखंडों के मूल्य को क्रमानुसार बदलते जायेंगे और लाभ दर पर इन परिवर्तनों के प्रभाव को निर्धारित करेंगे। इस प्रकार हमें विभिन्न प्रसंग क्रम प्राप्त हो जायेंगे, जिन्हें हम या तो उस एक ही पूंजी की क्रमशः परिवर्तित कार्य अवस्थाओं की तरह मान सकते हैं, या साथ-साथ विद्यमान और तुलना के लिए मानो उद्योग की भिन्न-भिन्न शाखाओं से अथवा भिन्न-भिन्न देशों से लेकर रखी गयी विभिन्न पूंजियों की तरह समझ सकते हैं। इसलिए जिन प्रसंगों में उस एक ही पूंजी की क्रमिक अवस्थाओं के रूप में हमारे कुछ उदाहरणों की संकल्पना बलात या अव्यावहारिक प्रतीत होगी, उनमें इन उदाहरणों को स्वतंत्र पूंजियों की तुलना की तरह माने जाने के साथ यह आपत्ति ख़त्म हो जायेगी।

अतः, अब हम गुणनफल $s' \frac{v}{C}$ को उसके दो गुणनखंडों s' तथा $\frac{v}{C}$ में पृथक कर लेते हैं। पहले हम s' को स्थिर मानेंगे और $\frac{v}{C}$ के संभाव्य विचरणों के प्रभाव का विश्लेषण करेंगे। इसके बाद हम भिन्न $\frac{v}{C}$ को स्थिर मानेंगे और s' को उसके संभाव्य विचरणों से होकर गुजरने देंगे। अंत में हम सभी गुणनखंडों को परिवर्ती परिमाणों की तरह लेंगे और इस प्रकार उन सभी प्रसंगों को निःशेष कर देंगे, जिनसे लाभ दर से संबद्ध नियम निकाले जा सकते हैं।

I. c' स्थिर, $\frac{v}{C}$ परिवर्ती

यह प्रसंग, जिसमें अनेक गौण प्रसंग आ जाते हैं, एक सामान्य सूत्र के अंतर्गत लाया जा सकता है। अपने क्रमिक परिवर्ती घटकों, v तथा v_1, एक सामान्य बेशी मूल्य दर s', तथा p' और p'_1 की क्रमिक लाभ दरों के साथ दो पूंजियां, C तथा C_1 ले लीजिये। इस प्रकार :

$$p'=s'\frac{v}{C};\quad p'_1=s'\frac{v_1}{C_1}.$$

अब हम C तथा C_1 का, और v तथा v_1 का एक अनुपात बना देते हैं। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि भिन्न $\frac{C_1}{C}$ का मूल्य $=E$ और $\frac{v_1}{v}$ का $=e$ है। तब $C_1=EC$ तथा $v_1=ev$ होगा। उपरोक्त समीकरण में p_1', C_1 तथा v_1 की इन मूल्यों से प्रतिस्थापना करने पर हमें यह प्राप्त होता है :

$$p_1'=s'\frac{ev}{EC}.$$

अब हम उन्हें उपरोक्त दो समीकरणों से निम्न अनुपात में रूपांतरित करके दूसरा सूत्र प्राप्त कर सकते हैं :

$$p':p'_1=s'\frac{v}{C}:s'\frac{v_1}{C_1}=\frac{v}{C}:\frac{v_1}{c_1}.$$

चूंकि किसी भिन्न के लव तथा हर को उसी अंक से गुणित अथवा विभाजित करने से उसका मूल्य नहीं बदलता, इसलिए हम $\frac{v}{C}$ तथा $\frac{v_1}{C_1}$ को प्रतिशतांशों में परिणत कर सकते हैं, अर्थात हम C तथा C_1, दोनों को = १०० बना सकते हैं। तब हमारे पास हुआ $\frac{v}{C}=\frac{v}{१००}$ और $\frac{v_1}{C_1}=\frac{v_1}{१००}$, और इसके बाद उपरोक्त अनुपात में हरों को त्याग सकते हैं, जिससे हमें यह प्राप्त होता है :

$$p':p'_1=v:v_1',\ \text{अथवा :}$$

अगर उसी बेशी मूल्य दर से काम करनेवाली किन्हीं दो पूंजियों को लिया जाये, तो लाभ दरों का एक दूसरे से वही अनुपात होता है, जो इन पूंजियों के परिवर्ती अंशों का होता है, जिनका परिकलन अपनी-अपनी कुल पूंजियों के प्रतिशतांशों में किया जाता है।

इन दोनों सूत्रों में $\frac{v}{C}$ के सभी संभव विचरण आ जाते हैं।

इन विभिन्न प्रसंगों का अलग-अलग विश्लेषण करने के पहले हम एक बात और कहेंगे। चूंकि C, c तथा v का, स्थिर तथा परिवर्ती पूंजियों का योग है, और चूंकि बेशी मूल्य दरों और लाभ दरों को भी सामान्यतः प्रतिशतों में व्यक्त किया जाता है, इसलिए यह मानना कि $c+v$ का योग भी १०० के बराबर है, अर्थात c तथा v को प्रतिशतांशों में व्यक्त करना सुविधाजनक रहता है। लाभ दर का – राशि का न भी सही – निर्धारण करने के लिए यह महत्वहीन है कि हम यह कहते हैं कि १५,००० की पूंजी, जिसमें से १२,००० स्थिर और

३,००० परिवर्ती है, ३,००० का बेशी मूल्य उत्पन्न करती है, या हम इस पूंजी को प्रतिशतांशों में परिणत कर देते हैं:

$$१५,०००C = १२,००००_c + ३,०००_v \; (+ ३,०००_s)$$
$$१००C = ८०_c + २०_v \; (+ २०_s)$$

किसी भी प्रसंग में बेशी मूल्य दर $s' = १००\%$ और लाभ दर $= २०\%$ है।

तब भी यही सही होता है, जब हम दो पूंजियों की, उदाहरण के लिए, पूर्वोक्त पूंजी की किसी अन्य पूंजी से तुलना करते हैं, यथा

$$१२,००० C = १०,८००_c + १,२००_v \; (+ १,२००_s)$$
$$१०० C = ९०_c + १०_v \; (+ १०_s)$$

जिन दोनों में $s' = १००\%$, $p' = १०\%$ है, और जिनमें पूर्वोक्त पूंजी के साथ तुलना प्रतिशतांशों के रूप में अधिक स्पष्ट रहती है।

इसके विपरीत, अगर बात एक ही पूंजी में होनेवाले परिवर्तनों की हो, तो प्रतिशत रूप का कदाचित ही प्रयोग किया जाता है, क्योंकि वह लगभग सदा ही इन परिवर्तनों को अस्पष्ट कर देता है। यदि प्रतिशत रूप में व्यक्त कोई पूंजी

$$८०_c + २०_v + २०_s$$

प्रतिशतांशों का यह रूप ग्रहण करती है:

$$९०_c + १०_v + १०_s,$$

तो हम यह नहीं कह सकते कि आया प्रतिशतांशों में परिवर्तित संघटन, $९०_c + १०_v$, v की निरपेक्ष घटती के कारण है, या c की निरपेक्ष बढ़ती के कारण, या दोनों ही के कारण। इसका निश्चय करने के लिए हमें अंकों में निरपेक्ष परिमाणों की आवश्यकता होगी। तथापि विचरण के निम्न अलग-अलग प्रसंगों में सभी कुछ इस पर निर्भर करता है कि ये परिवर्तन आये कैसे हैं; आया $८०_c + २०_v$ $९०_c + १०_v$ में परिवर्ती पूंजी में किसी परिवर्तन के बिना स्थिर पूंजी की बढ़ती के ज़रिये, मिसाल के लिए, $१२,०००_c + ३,०००_v$ के $२७,०००_c + ३,०००_v$ में ($९०_c + १०_v$ के प्रतिशतांश के अनुरूप) परिवर्तित होने के ज़रिये, परिवर्तित हुए थे; या उन्होंने यह रूप स्थिर पूंजी के अपरिवर्तित रहते हुए परिवर्ती पूंजी की घटती के ज़रिये, यानी $१२,०००_c + १,३३३\ १/३_v$ ($९०_c + १०_v$ के प्रतिशतांश के ही अनुरूप) के ज़रिये लिया था; या, अंततः, दोनों ही पद $१३,५००_c + १,५००_v$ (फिर $९०_c + १०_v$ के प्रतिशतांश के ही अनुरूप) में परिवर्तित हुए हैं। लेकिन यथार्थतः ये ही वे प्रसंग हैं, जिनका हमें क्रमशः विश्लेषण करना होगा, और ऐसा करते हुए प्रतिशतांशों के सुविधाजनक रूप को त्यागना होगा या कम से कम उनका गौण विकल्प के रूप में ही प्रयोग करना होगा।

१) s' तथा C स्थिर, v परिवर्ती

अगर v परिमाण में बदलता है, तो C केवल तभी अपरिवर्तित रह सकता है, जब C का दूसरा घटक, c, अर्थात स्थिर पूंजी, उतनी ही मात्रा से परिवर्तित हो, जितनी से कि v, किंतु विपरीत दिशा में।

अगर C मूलतः $= ८०_c + २०_v = १००$, और अगर v को तदनंतर घटाकर १० कर दिया जाता है, तो $C = १००$ तब ही हो सकता है, जब c को बढ़ाकर ६० कर दिया जाता है; $६०_c + १०_v = १००$। सामान्यतः, v यदि $v \pm d$ में, d द्वारा बढ़े या घटे v में, रूपांतरित होता है, तो c को $c \mp d$ में, उसी मात्रा से, किंतु विपरीत दिशा में घटते-बढ़ते c में रूपांतरित करना होगा, ताकि वर्तमान प्रसंग की अवस्थाओं की तुष्टि हो सके।

इसी प्रकार, यदि बेशी मूल्य दर s′ वही बना रहता है, जबकि परिवर्ती पूंजी v बदलता है, तो बेशी मूल्य राशि s को बदलना होगा, क्योंकि $s = s'v$, और क्योंकि $s'v$ के एक कारक, यानी v, को भिन्न मूल्य दे दिया गया है।

प्रस्तुत प्रसंग की कल्पनाएं मूल समीकरण,

$$p' = s' \frac{v}{C},$$

के साथ-साथ v के विचरण के जरिये एक अन्य समीकरण भी उत्पन्न करती हैं:

$$p_1' = s' \frac{v_1}{C},$$

जिसमें v v_1 बन गया है और p_1', परिणामी परिवर्तित लाभ दर पाना है।

इसे निम्न अनुपात द्वारा निर्धारित किया जाता है:

$$p' : p'_1 = s'\frac{v}{C} : s'\frac{v_1}{C} = v : v_1$$

अथवा: बेशी मूल्य दर और कुल पूंजी अगर वही बनी रहती हैं, तो मूल लाभ दर का परिवर्ती पूंजी में हुए परिवर्तन द्वारा उत्पादित नयी लाभ दर से वही अनुपात होता है, जो मूल परिवर्ती पूंजी का परिवर्तित परिवर्ती पूंजी से होता है।

यदि मूल पूंजी ऊपर की ही भांति थी:

I. $१५,०००C = १२,०००_c + ३,०००_v \; (+ ३,०००_s)$, और अगर अब वह है:

II. $१५,०००C = १३,०००_c + २,०००_v \; (+ २,०००_s)$, तो दोनों ही प्रसंगों में $C = १५,०००$ और $s' = १००\%$, और I की लाभ दर, २०%, का II की लाभ दर, १३ १/३%, से वही अनुपात है, जो I की परिवर्ती पूंजी, ३,००० का II की परिवर्ती पूंजी, २,००० से है, अर्थात २०% : १३ १/३% = ३,००० : २,०००।

तथापि परिवर्ती पूंजी या तो बढ़ सकती है, या घट। आइये, पहले ऐसा उदाहरण लें, जिसमें यह बढ़ती है। मान लीजिये कि कोई पूंजी मूलतः इस प्रकार संरचित और नियोजित है:

I. $१००_c + २०_v + १०_s$; $C = १२०$, $s' = ५०\%$, $p' = ८$ १/३%।

अब मान लीजिये कि यह परिवर्ती पूंजी बढ़कर ३० हो जाती है। इस हालत में, हमारी कल्पना के अनुसार, स्थिर पूंजी को १०० से घटकर ६० हो जाना पड़ेगा, ताकि कुल पूंजी १२० पर अपरिवर्तित रहे। बेशी मूल्य दर ५०% पर स्थिर बनी रहती हैं, इसलिए उत्पादित बेशी मूल्य १० से बढ़कर १५ हो जायेगा। तब हमारे पास यह होगा:

II. $६०_c + ३०_v + १५_s$; $C = १२०$, $s' = ५०\%$, $p' = १२$ १/२%।

पहले हम यह मानकर चलेंगे कि मजदूरी अपरिवर्तित रहती है। तब बेशी मूल्य दर के अन्य कारकों, अर्थात कार्य दिवस तथा श्रम की तीव्रता, को भी अपरिवर्तित रहना होगा। इस

हालत में v की वृद्धि (२० से ३० तक) केवल यह दर्शा सकती है कि जितने मजदूर थे, उनके आधे और लगाये गये हैं। अतः कुल उत्पादित मूल्य भी बढ़कर डेढ़गुना, ३० से ४५, हो जाता है और, पहले की ही भांति, २/३ मजदूरी के लिए और १/३ बेशी मूल्य के लिए, बंटा होता है। लेकिन साथ ही, मजदूरों की संख्या में बढ़ती के कारण स्थिर पूंजी, उत्पादन साधनों का मूल्य, १०० से घटकर ६० हो गयी है। इस तरह हमारे सामने घटती श्रम उत्पादिता के साथ-साथ स्थिर पूंजी के समकालिक संकुचन का मामला है। क्या ऐसा होना आर्थिक दृष्टि से संभव है?

कृषि तथा निस्सारक उद्योगों में, जिनमें श्रम उत्पादिता में ह्रास और, इसलिए, नियोजित मजदूरों की संख्या में वृद्धि पूर्णतः बोधगम्य है, इस प्रक्रिया के साथ-साथ – पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर और उसकी परिधि के भीतर – स्थिर पूंजी की घटती के बजाय वृद्धि होती है। यदि c की उपरोक्त घटत मात्र क़ीमतों में गिरावट के कारण भी होती, तो भी कोई व्यष्टिक पूंजी I से II में संक्रमण की सिद्धि अत्यधिक अपवादात्मक परिस्थितियों में ही कर सकती थी। किंतु भिन्न देशों में, अथवा कृषि या निस्सारक उद्योग की भिन्न शाखाओं में निवेशित दो स्वतंत्र पूंजियों के मामले में अगर एक मामले में दूसरे की अपेक्षा अधिक मजदूरों (और इसलिए अधिक परिवर्ती पूंजी) को नियोजित किया जाता है और उनसे कम मूल्यवान या अल्पतर साधनों से काम करवाया जाता है, तो यह कोई असाधारण बात न होगी।

लेकिन आइये, हम इस कल्पना को त्याग देते हैं कि मजदूरी उतनी ही रहती है और परिवर्ती पूंजी के २० से बढ़कर ३० हो जाने का कारण मजदूरी में डेढ़गुना वृद्धि बताते हैं। तब हमारे पास बिलकुल भिन्न प्रसंग होगा। उतने ही मजदूर – मान लीजिये कि बीस – उतने ही अथवा केवल कुछ ही न्यूनित उत्पादन साधनों से काम करते रहते हैं। अगर कार्य दिवस अपरिवर्तित – मान लीजिये, दस घंटे – बना रहता है, तो कुल उत्पादित मूल्य भी अपरिवर्तित रहता है। वह ३० था और उतना ही बना रहता है। लेकिन इस पूरे के पूरे ३० को अब ३० की पेशगी परिवर्ती पूंजी को पूरा करना होता है; बेशी मूल्य लुप्त हो जायेगा। लेकिन हमने माना है कि बेशी मूल्य दर को स्थिर रहना चाहिए, अर्थात I की भांति ५०% ही बने रहना चाहिए। यह केवल तभी संभव हो सकता है कि जब कार्य दिवस को आधा बढ़ाकर १५ घंटे कर दिया जाये। तब २० मजदूर १५ घंटे में ४५ का कुल मूल्य उत्पादित करेंगे और सभी अवस्थाओं की तुष्टि हो जायेगी:

II. $६०_c + ३०_v + १५_s$; $C = १२०$, $s' = ५०\%$, $p' = १२\,१/२\%$।

इस प्रसंग में २० मजदूरों को प्रसंग I की अपेक्षा किसी भी प्रकार अधिक श्रम के साधनों, औजारों, मशीनों, आदि की आवश्यकता नहीं होती। सिर्फ़ कच्चे माल अथवा सहायक सामग्री को ही डेढ़गुना करना होगा। इन सामग्रियों की क़ीमतों की गिरावट की स्थिति में, हमारी कल्पना के अनुसार व्यष्टिक पूंजी के लिए भी, I से II में संक्रमण आर्थिक दृष्टि से अधिक संभव होगा। और पूंजीपति के बढ़े हुए लाभ के जरिये उसकी स्थिर पूंजी के मूल्य ह्रास से हुए नुक़सान की किसी हद तक क्षतिपूर्ति हो जायेगी।

अब मान लीजिये कि परिवर्ती पूंजी बढ़ने के बजाय घटती है। तब हमें II को मूल पूंजी मानते हुए और II से I में जाकर अपने उदाहरण को बस उलटाना ही होगा।

II. $६०_c + ३०_v + १५_s$ अब

I. $१००_c + २०_v + १०_s$ में

परिवर्तित हो जाता है, और यह प्रत्यक्ष है कि यह स्थानांतरण क्रमिक लाभ दरों तथा उनके पारस्परिक संबंध को नियमित करनेवाली अवस्थाओं में से किसी को भी तनिक भी नहीं बदलता।

अगर v ३० से घटकर २० हो जाता है, क्योंकि बढ़ती स्थिर पूंजी से १/३ कम मज़दूरों को लगाया जाता है, तो हमारे समक्ष आधुनिक उद्योग का एक सामान्य उदाहरण ही होता है, अर्थात श्रम की बढ़ती उत्पादिता, और अल्पतर श्रमिकों द्वारा उत्पादन साधनों की अधिक मात्रा को परिचालित किया जाना। इस बात का विवेचन इस पुस्तक के तीसरे भाग में किया जायेगा कि यह गति लाभ दर में सहकालिक ह्रास से अनिवार्यतः संबद्ध होती है।

इसके विपरीत, अगर v ३० से घटकर २० इस कारण होता है कि उतने ही मज़दूरों को नीची मज़दूरी पर लगाया जाता है, तो कार्य दिवस के अपरिवर्तित रहते हुए उत्पादित कुल मूल्य पहले की ही भांति $= ३०_v + १५_s = ४५$ होगा। चूंकि v गिरकर २० हो गया है, इसलिए बेशी मूल्य बढ़कर २५ हो जायेगा और बेशी मूल्य दर ५०% से १२५% हो जायेगी, जो हमारी कल्पना के विरुद्ध होगा। हमारे उदाहरण की अवस्थाओं को पूरा करने के लिए अपनी ५०% की दर के साथ बेशी मूल्य को उलटे गिरकर १० होना होगा, और इसलिए उत्पादित कुल मूल्य को ४५ से ३० होना होगा और यह केवल तभी संभव है कि कार्य दिवस को एक तिहाई कम कर दिया जाये। तब, पहले की ही भांति, हमारे पास है :

$$१००_c + २०_v + १०_s;\ s' = ५०\%,\ p' = ८\ १/३\%।$$

यह कहना अनावश्यक है कि मज़दूरी गिरने के मामले में कार्य दिवस का यह लघुकरण व्यवहार में नहीं होगा। लेकिन यह महत्वहीन है। लाभ दर अनेक परिवर्ती परिमाणों का फलन है, और अगर हम यह जानना चाहते हैं कि ये परिवर्ती परिमाण लाभ दर को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, तो हमें प्रत्येक प्रभाव का इसके लिहाज़ के बिना बारी-बारी से विश्लेषण करना होगा कि इस प्रकार का एकल प्रभाव आर्थिक दृष्टि से एक ही पूंजी से व्यवहार्य है भी कि नहीं।

२) s' स्थिर, v परिवर्ती, C v के परिवर्तन के ज़रिये बदलता है

यह प्रसंग पूर्ववर्ती प्रसंग से सिर्फ़ मात्रा में ही भिन्न है। उतना ही घटने या बढ़ने के बजाय कि जितना v बढ़ता या घटता है, c स्थिर रहता है। वर्तमान अवस्थाओं में मुख्य उद्योगों तथा कृषि में परिवर्ती पूंजी कुल पूंजी का अपेक्षाकृत छोटा सा भाग ही होती है। इस कारण उसकी बढ़ती या घटती, जहां तक उनमें से कोई भी परिवर्ती पूंजी में परिवर्तनों के कारण है, भी अपेक्षाकृत अल्प ही होती हैं।

आइये, फिर इस पूंजी को लेकर ही चलते हैं :

I. $१००_c + २०_v + १०_s;\ C = १२०,\ s' = ५०\%,\ p' = ८\ १/३\%,$

जो फिर, मान लीजिये, इसमें बदल जायेगी :

II. $१००_c + ३०_v + १५_s;\ C = १३०,\ s' = ५०\%,\ p' = ११\ ७/१३\%।$

इसका विपरीत प्रसंग, जिसमें परिवर्ती पूंजी घटती है, फिर II से I में प्रतिलोम संक्रमण द्वारा दर्शाया जा सकता है।

आर्थिक अवस्थाएं तत्वतः पूर्ववर्ती प्रसंग जैसी ही होंगी और इसलिए उनका फिर से विवेचन आवश्यक नहीं है। I से II में संक्रमण में श्रम उत्पादिता में डेढ़गुने की कमी सन्निहित है; II के लिए १००_c का उपयोजन श्रम की I के मुक़ाबले डेढ़गुना वृद्धि की अपेक्षा करता है। यह मामला कृषि में हो सकता है।[9]

लेकिन जहां पूर्ववर्ती प्रसंग में स्थिर पूंजी के परिवर्ती पूंजी में, अथवा परिवर्ती पूंजी के स्थिर पूंजी में परिवर्तन के कारण कुल पूंजी उतनी ही रहती है, इस प्रसंग में अगर परिवर्ती पूंजी बढ़ती है, तो अतिरिक्त पूंजी बंध जाती है, और अगर परिवर्ती पूंजी घटती है, तो पहले नियोजित पूंजी की मुक्ति होती है।

३) s' तथा v स्थिर, c और इसलिए C परिवर्ती

इस प्रसंग में समीकरण

$$p' = s'\frac{v}{C} \text{ से } p_1' = s'\frac{v}{C_1}$$

में बदल जाता है और दोनों ओर उन्हीं गणनखंडों का समानयन करने के बाद:

$$p_1' : p' = C : C_1;$$

उसी बेशी मूल्य दर और समान परिवर्ती पूंजियों के साथ, लाभ दर कुल पूंजियों के व्युत्क्रमानुपात में होती हैं।

हमारे पास अगर, उदाहरण के लिए, तीन पूंजियां, या उसी पूंजी की तीन भिन्न अवस्थाएं हों:

I. $८०_c + २०_v + २०_s$; $C = १००$, $s' = १००\%$, $p' = २०\%$;
II. $१००_c + २०_v + २०_s$; $C = १२०$, $s' = १००\%$, $p' = १६\ २/३\%$;
III. $६०_c + २०_v + २०_s$; $C = ८०$, $s' = १००\%$, $p' = २५\%$,

तो हमें ये अनुपात प्राप्त होते हैं:

$२०\% : १६\ २/३\% = १२० : १००$ तथा $२०\% : २५\% = ८० : १००$।

$\frac{v}{C}$ के स्थिर s' के साथ विचरणों के लिए पहले दिया गया सामान्य सूत्र था:

$p_1' = s'\frac{e\,v}{E\,C}$; अब वह $p' = s'\frac{v}{E\,C}$ हो जाता है, चूंकि v नहीं बदलता है, इसलिए $e = \frac{v_1}{v}$ गुणनखंड $= १$ हो जाता है।

चूंकि $s'v = s$, बेशी मूल्य की मात्रा, और चूंकि s' तथा v, दोनों स्थिर रहते हैं, इसलिए नतीजा यह निकलता है कि s भी C के किसी विचरण से प्रभावित नहीं होता है। बेशी मूल्य की मात्रा परिवर्तन के बाद भी उतनी ही रहती है, जितनी उसके पहले थी।

यदि c गिरकर शून्य हो जाये, तो $p' = s'$, अर्थात लाभ दर बेशी मूल्य दर के बराबर होगी।

---

[9] पांडुलिपि में इस स्थल पर यह टिप्पणी है: "बाद में यह पड़ताल करनी है कि यह प्रसंग किराया जमीन से किस प्रकार संबंधित है।" – फ़्रे० एं०

c का हेर-फेर या तो स्थिर पूंजी के भौतिक तत्वों के मूल्य में परिवर्तन मात्र के कारण, या कुल पूंजी के प्राविधिक संघटन में परिवर्तन, अर्थात उद्योग की दत्त शाखा में श्रम की उत्पादिता में परिवर्तन, के कारण हो सकता है। अंतोक्त मामले में, आधुनिक उद्योग तथा बड़े पैमाने की कृषि के विकास के कारण सामाजिक श्रम की बढ़ती उत्पादिता (उपरोक्त उदाहरण में) क्रम में III से I में और I से II में संक्रमण करवायेगी। श्रम की एक मात्रा, जिसका भुगतान २० से किया जाता है और ४० का मूल्य उत्पादित करती है, पहले ६० मूल्य के श्रम साधनों का उपयोजन करेगी; यदि उत्पादिता बढ़ी और मूल्य उतना ही रहा, तो उपभुक्त श्रम साधन पहले ८०, और फिर १०० पर पहुंच जायेंगे। इस क्रम के विपर्यय का अर्थ उत्पादिता में कमी होगा। श्रम की उतनी ही मात्रा कम मात्रा में उत्पादन साधनों को गतिशील करेगी और क्रिया घट जायेगी, जैसा कि कृषि, खनन, आदि में हो सकता है।

स्थिर पूंजी में बचत, एक ओर, लाभ दर को बढ़ाती है और दूसरी ओर, पूंजी को मुक्त करती है, जिस कारण वह पूंजीपति के लिए महत्व रखती है। हम इसका, और इसी प्रकार स्थिर पूंजी के तत्वों की, विशेषकर कच्चे माल की, क़ीमतों में परिवर्तन के प्रभाव का आगे चलकर अधिक गहरा अध्ययन करेंगे।*

यहां यह फिर प्रत्यक्ष है कि स्थिर पूंजी का विचरण लाभ दर को इससे निरपेक्षतः समान रूप में प्रभावित करता है कि आया यह विचरण c के भौतिक तत्वों की बढ़ती अथवा घटती के कारण है, या केवल उनके मूल्य में परिवर्तन के कारण।

४) s′ स्थिर, v, c तथा C परिवर्ती

इस प्रसंग में लाभ की परिवर्तित दर के लिए आरंभ में दिया गया सूत्र प्रभावी बना रहता है:

$$p'_1 = s' \frac{e\,v}{E\,C}.$$

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बेशी मूल्य दर के उतना ही बने रहने पर:

क) अगर E e से अधिक है, अर्थात अगर स्थिर पूंजी इस हद तक संवर्धित हो जाती है कि कुल पूंजी परिवर्ती पूंजी की अपेक्षा तीव्रतर दर से बढ़ती है, तो लाभ दर गिर जाती है। अगर $८०_c + २०_v + २०_s$ की पूंजी $१७०_c + ३०_v + ३०_s$ में बदलती है, तो $s' = १००\%$ बना रहता है, लेकिन $\frac{v}{C}$ इस तथ्य के बावजूद $\frac{२०}{१००}$ से गिरकर $\frac{३०}{२००}$ हो जाता है कि v तथा C, दोनों बढ़े हैं, और लाभ दर तदनुसार २०% से गिरकर १५% हो जाती है।

ख) लाभ दर केवल तब अपरिवर्तित रहती है कि जब $e = E$, अर्थात जब भिन्न $\frac{v}{C}$ एक प्रतीयमान परिवर्तन के बावजूद वही मूल्य बनाये रखता है, अर्थात जब उसके लव तथा हर उसी गुणनखंड से गुणित अथवा विभाजित होते हैं। $८०_c + २०_v + २०_s$ तथा $१६०_c + ४०_v + ४०_s$ पूंजियों की प्रत्यक्षतः २०% की एक ही लाभ दर है, क्योंकि $s' = १००\%$ बना रहता है और दोनों ही उदाहरणों में $\frac{v}{C} = \frac{२०}{१००} = \frac{४०}{२००}$ एक ही मूल्य प्रकट करता है।

* प्रस्तुत संस्करण, अध्याय ५, ६।–सं०

ग) अगर e E से बड़ा है, अर्थात अगर परिवर्ती पूंजी कुल पूंजी की अपेक्षा तीव्रतर दर से बढ़ती है, तो लाभ दर बढ़ जाती है। अगर $८०_c + २०_v + २०_s$ $१२०_c + ४०_v + ४०_s$ में बदलती है, तो लाभ दर २०% से बढ़कर २५% हो जाती है, क्योंकि अपरिवर्तित s′ के साथ $\frac{v}{C} = \frac{२०}{१००}$ बढ़कर $\frac{४०}{१६०}$, अर्थात १/५ से १/४ हो जाता है।

अगर v तथा C के परिवर्तन एक ही दिशा में हों, तो हम परिमाण के इस परिवर्तन को ऐसा मान सकते हैं, मानो वे दोनों, किसी हद तक एक ही अनुपात में परिवर्तित हुए हों, जिससे कि $\frac{v}{C}$ उस स्थल तक अपरिवर्तित रहा है। इस स्थल के बाद उनमें से केवल एक ही परिवर्तित होगा और इस प्रकार हम इस जटिल उदाहरण को एक सरलतर पूर्ववर्ती उदाहरण में परिणत कर लेंगे।

उदाहरण के लिए, $८०_c + २०_v + २०_s$ अगर $१००_c + ३०_v + ३०_s$ हो जाते हैं, तो v का c से, और C से भी, अनुपात इस विचरण में $१००_c + २५_v + २५_s$ तक उतना ही बना रहता है। अतः, उस स्थल तक लाभ दर भी इसी प्रकार अपरिवर्तित बनी रहती है। इसलिए $१००_c + २५_v + २५_s$ को हम अपना प्रस्थान बिंदु बना सकते हैं; हम देखते हैं कि v ५ बढ़कर ३०_v हो गया, जिससे C १२५ से बढ़कर १३० हो गया और इस प्रकार हमें दूसरा उदाहरण, v के सरल विचरण और C के तद्जनित विचरण का उदाहरण मिला। लाभ दर, जो मूलतः २०% थी, ५_v के इस योग से बढ़कर २३ १/१३ % हो जाती है, बशर्ते कि बेशी मूल्य दर उतनी ही बनी रहती है।

सरलतर उदाहरण में इसी प्रकार का रूपांतरण तब भी हो सकता है, जब v तथा C अपने परिमाण विपरीत दिशाओं में बदलें। उदाहरण के लिए, हम फिर से $८०_c + २०_v + २०_s$ से प्रारंभ करते हैं और मान लेते हैं कि यह $११०_c + १०_v + १०_s$ हो जाता है। इस प्रसंग में, जब तक परिवर्तन $४०_c + १०_v + १०_s$ तक होता है, लाभ दर वही २०% बनी रहेगी। इस मध्यवर्ती रूप में ७०_c जोड़ने से यह गिरकर ८ १/३% हो जायेगी। इस प्रकार हमने उदाहरण को फिर एक परिवर्ती के, अर्थात c के, परिवर्तन के मामले में परिणत कर लिया है।

अतः v, c, तथा C का सहकालिक विचरण कोई नये पहलू प्रस्तुत नहीं करता और अंततोगत्वा उसी प्रसंग में ले आता है, जिसमें केवल एक कारक परिवर्ती होता है।

बच रहा एकमात्र प्रसंग भी वस्तुतः समाप्त हो चुका है, यानी वह कि जिसमें v तथा C संख्यातः उतने ही रहते हैं, जबकि उनके भौतिक तत्वों में मूल्य का परिवर्तन होता है, जिससे v गतिशील किये श्रम की परिवर्तित मात्रा का प्रतीक हो जाता है और c गतिशील किये गये उत्पादन साधनों की परिवर्तित मात्रा का।

$८०_c + २०_v + २०_s$ में, मान लीजिये कि २०_v मूलतः १० घंटे रोज काम करनेवाले २० मजदूरों की मजदूरी को प्रकट करते हैं। अब मान लीजिये कि मजदूरी १ से बढ़कर १ १/४ हो जाती है। इस हालत में २०_v २० के बजाय सिर्फ़ १६ मजदूरों की ही अदायगी कर पायेंगे। लेकिन अगर २० मजदूर २०० कार्य घंटों में ४० का मूल्य उत्पादित करते हैं, तो १० घंटे रोज़ काम करनेवाले १६ मजदूर १६० कार्य घंटों में सिर्फ़ ३२ का मूल्य उत्पादित करेंगे। मज़दूरी के लिए २०_v को घटाने के बाद ३२ में से केवल १२ ही बेशी मूल्य के बच रहेंगे। बेशी मूल्य दर गिरकर १००% से ६०% रह जायेगी। लेकिन चूंकि हमने बेशी मूल्य दर को स्थिर माना

है, इसलिए कार्य दिवस को एक चौथाई बढ़ाकर १० घंटे से १२ १/२ घंटे करना होगा। अगर २० मजदूर १० घंटे रोज = २०० कार्य घंटे काम करके ४० के मूल्य का उत्पादन करते हैं, तो १६ मजदूर १२ १/२ घंटे रोज = २०० कार्य घंटे काम करके उतने ही मूल्य का उत्पादन करेंगे, और ८०$_c$ + २०$_v$ की पूंजी पहले की ही भांति वही २० का बेशी मूल्य प्रदान करेगी।

विलोमतः, अगर मजदूरी इतनी गिर जाये कि २०$_v$ ३० मजदूरों की मजदूरी को व्यक्त करे, तो s' तभी स्थिर रहेगा कि जब कार्य दिवस को १० से घटाकर ६ २/३ घंटे कर दिया जाये। कारण यह कि २० × १० = १० × ६ २/३ = २०० कार्य घंटे।

हम मोटे तौर पर इसका विवेचन कर चुके हैं कि इन विविध उदाहरणों में c किस सीमा तक द्रव्य में व्यक्त मूल्य के अर्थ में अपरिवर्तित रह सकता है और फिर भी बदलती हुई अवस्थाओं के अनुरूप उत्पादन साधनों की विभिन्न मात्राओं को प्रकट कर सकता है। अपने विशुद्ध रूप में यह दृष्टांत केवल अपवादस्वरूप ही संभव होगा।

जहां तक c के तत्वों के मूल्य में परिवर्तन की बात है, जो उनकी राशि को बढ़ाता या घटाता है, लेकिन c के मूल्य के योग को अपरिवर्तित रहने देता है, वह उस समय तक न तो लाभ दर को और न ही बेशी मूल्य दर को प्रभावित करता है, जब तक कि उसके कारण v के परिमाण में परिवर्तन नहीं आ जाता।

इसके साथ हमने अपने समीकरण में v, c, तथा C के विचरण के सभी संभव प्रसंगों को समाप्त कर दिया है। हमने देख लिया है कि लाभ दर गिर सकती है, अपरिवर्तित रह सकती है, अथवा बढ़ सकती है, जबकि बेशी मूल्य दर वही बनी रहती है और v के c से अथवा C से अनुपात में न्यूनतम परिवर्तन भी लाभ दर को भी परिवर्तित करने के लिए पर्याप्त होता है।

इसके अलावा हमने देख लिया है कि v के परिवर्तनों में सभी जगह एक सीमा होती है, जिसके आगे s' के लिए स्थिर रह पाना आर्थिक दृष्टि से असंभव होता है। चूंकि c के प्रत्येक एकपक्षीय विचरण को भी एक ऐसी सीमा पर पहुंचना ही पड़ता है कि जिसके आगे v और अपरिवर्तित नहीं रह सकता, इसलिए हम देखते हैं कि $\frac{v}{C}$ के प्रत्येक संभव विचरण की सीमाएं हैं, जिनके आगे s' को भी इसी प्रकार परिवर्ती हो जाना पड़ेगा। s' के विचरणों में, जिनका हम अब विवेचन करेंगे, हमारे समीकरण के विभिन्न परिवर्तियों की अंतःक्रिया और भी स्पष्टता के साथ प्रकट होगी।

II. s' परिवर्ती

$\frac{v}{C}$ चाहे स्थिर रहे, या न रहे,

$$p' = s'\frac{v}{C}$$

समीकरण को

$$p_1' = s_1'\frac{v_1}{C_1}$$

में परिवर्तित करके, जिसमें p_1', s_1', v_1 तथा C_1 p', s', v तथा C के बदले हुए मूल्यों को प्रकट करते हैं, हम विभिन्न बेशी मूल्य दरों के साथ लाभ दरों का एक सामान्य सूत्र प्राप्त कर लेते हैं। तब हमारे पास यह होता है :

$$p':p_1' = s'\frac{v}{C}:s_1'\frac{v_1}{C_1},$$

और इस प्रकार :

$$p_1' = \frac{s_1'}{s'} \times \frac{v_1}{v} \times \frac{C}{C_1} \times p'.$$

१) s' परिवर्ती, $\frac{v}{C}$ स्थिर

इस प्रसंग में हमारे पास ये समीकरण हैं :

$$p' = s'\frac{v}{C};\ p_1' = s_1'\frac{v}{C},$$

जिन दोनों में $\frac{v}{C}$ बराबर है। अतः,

$$p':p_1' = s':s_1'.$$

एक ही संरचना की दो पूंजियों की लाभ दरों का आपस में वही अनुपात होता है[1], जो दोनों अनुरूप बेशी मूल्य दरों का होता है। चूंकि भिन्न $\frac{v}{C}$ में सवाल v तथा C के निरपेक्ष परिमाणों का नहीं, प्रत्युत उनके अनुपात का ही होता है, इसलिए वह समान संरचना की सभी पूंजियों पर लागू होता है, उनके निरपेक्ष परिमाण चाहे कुछ भी क्यों न हों।

$$८०_c + २०_v + २०_s;\ C = १००,\ s' = १००\%,\ p' = २०\%$$
$$१६०_c + ४०_v + २०_s;\ C = २००,\ s' = ५०\%,\ p' = १०\%$$
$$१००\% : ५०\% = २०\% : १०\%।$$

अगर v तथा C के निरपेक्ष परिमाण दोनों प्रसंगों में समान हैं, तो लाभ दरें इसके अलावा एक दूसरे से बेशी मूल्य की मात्राओं के रूप में भी संबद्ध होती हैं :

$$p':p_1' = s'v_1':s_1'v = s : s_1.$$

उदाहरण के लिए :

$$८०_c + २०_v + २०_s;\ s' = १००\%,\ p' = २०\%$$
$$८०_c + २०_v + १०_s;\ s' = ५०\%,\ p' = १०\%$$
$$२०\% : १०\% = १०० \times २० : ५० \times २० = २० : १०।$$

अब यह स्पष्ट है कि समान निरपेक्ष अथवा प्रतिशत संरचना की पूंजियों के मामले में बेशी मूल्य दर केवल तभी भिन्न हो सकती है, जब या तो मजदूरी, या कार्य दिवस की दीर्घता, या श्रम की तीव्रता भिन्न हों। निम्न तीन उदाहरणों

$$\text{I.}\ ८०_c + २०_v + १०_s;\ s' = ५०\%,\ p' = १०\%$$
$$\text{II.}\ ८०_c + २०_v + २०_s;\ s' = १००\%\ \ p' = २०\%$$
$$\text{III.}\ ८०_c + २०_v + ४०_s;\ s' = २००\%,\ p' = ४०\%$$

में कुल उत्पादित मूल्य I में ३० ($२०_v + १०_s$) है; II में ४० है; III में ६० है। ऐसा तीन भिन्न तरीक़ों से हो सकता है।

पहला, अगर मजदूरी भिन्न-भिन्न है, और २०_v प्रत्येक पृथक प्रसंग में मजदूरों की एक भिन्न संख्या के लिए है। मान लीजिये, पूंजी I १ १/३ पाउंड की मजदूरी पर १५ मजदूरों को १० घंटे रोज़ नियोजित करती है, जो ३० पाउंड का मूल्य उत्पादित करते हैं, जिसमें से २० पाउंड मजदूरी को प्रतिस्थापित करते हैं और १० पाउंड बेशी मूल्य हैं। अगर मजदूरी गिरकर १ पाउंड हो जाती है, तो २० मजदूरों को १० घंटे नियोजित किया जा सकता है; वे ४० पाउंड का मूल्य उत्पादित करेंगे, जिसमें से २० पाउंड मजदूरी को प्रतिस्थापित करेंगे और २० पाउंड बेशी मूल्य होंगे। अगर मज़दूरी और भी गिर जाये, २/३ पाउंड हो जाये, तो ३० मजदूरों को १० घंटे नियोजित किया जा सकेगा। वे ६० पाउंड का मूल्य उत्पादित करेंगे, जिसमें से २० पाउंड मज़दूरी के लिए काट लिये जायेंगे और ४० पाउंड बेशी मूल्य को प्रकट करेंगे।

यह – पूंजी की प्रतिशततः स्थिर संरचना, स्थिर कार्य दिवस तथा श्रम की स्थिर तीव्रता, और मजदूरी में विचरण के कारण बदलती बेशी मूल्य दर – एकमात्र वह उदाहरण है, जिसमें रिकार्डो की कल्पना सही है: "लाभ **बिलकुल उसी अनुपात में** ऊंचा या नीचा होगा, जिस अनुपात में मजदूरी नीची या ऊंची होगी।" (*Principles*, डी० रिकार्डो, *Works*, अध्याय १, परिच्छेद ३, पृष्ठ १८, मैक-कुलोच द्वारा संपादित, १८५२।)

या **दूसरा**, अगर श्रम की तीव्रता बदलती है। इस मामले में, मान लीजिये, उन्हीं उत्पादन साधनों से १० घंटे रोज़ काम करके २० मज़दूर किसी माल के I में ३० नग, II में ४०, और III में ६० नग उत्पादित करते हैं, जिनमें से प्रत्येक नग उसमें समाविष्ट उत्पादन साधनों के मूल्य के अलावा १ पाउंड के नये मूल्य को प्रकट करता है। चूंकि प्रत्येक २० नग = २० पाउंड मजदूरी को पूरा कर देते हैं, इसलिए I में १० नग = १० पाउंड, II में २० नग = २० पाउंड, और III में ४० नग = ४० पाउंड बेशी मूल्य के बच रहते हैं।

या **तीसरा**, कार्य दिवस दीर्घता में भिन्नता है। अगर २० मजदूर I में उसी तीव्रता से ९ घंटे, II में १२ घंटे, और III में १८ घंटे रोज़ काम करते हैं, उनके कुल उत्पाद, ३० : ४० : ६०, ९ : १२ : १८ जितने ही भिन्न होंगे। और चूंकि प्रत्येक उदाहरण में मजदूरी = = २० है, इसलिए क्रमशः २०, १०, तथा ४० फिर बेशी मूल्य की तरह बच रहते हैं।

इसलिए मज़दूरी में चढ़ाव या गिराव बेशी मूल्य दर को व्युत्क्रमानुपात में प्रभावित करता है, और श्रम की तीव्रता में चढ़ाव या गिराव, और कार्य दिवस का दीर्घीकरण या न्यूनीकरण बेशी मूल्य दर पर और इस प्रकार, स्थिर $\frac{v}{C}$ के साथ, लाभ दर पर इसी प्रकार प्रभाव डालते हैं।

२) s' तथा v परिवर्ती, C स्थिर

इस प्रसंग में यह अनुपात लागू होता है:

$$p' : p'_1 = s'\frac{v}{C} : s'_1\frac{v_1}{C} = s'v : s'_1v_1 = s : s_1$$

लाभ दरें बेशी मूल्य की क्रमिक मात्राओं की भांति एक दूसरे से संबद्ध हैं।

परिवर्ती पूंजी के स्थिर बने रहने पर बेशी मूल्य दर में परिवर्तनों का मतलब उत्पादित मूल्य के परिमाण और वितरण में परिवर्तन होता है। v और s' के सहकालिक विचरण में

सदा उत्पादित मूल्य का एक भिन्न वितरण भी सन्निहित रहता है, किंतु उत्पादित मूल्य के परिमाण का परिवर्तन सदा ही नहीं। ऐसे में तीन स्थितियां संभव हैं :

क) v तथा s′ का विचरण विपरीत दिशाओं में, किंतु उतनी ही मात्रा में होता है, जैसे :

$$८०_c + २०_v + १०_s;\ s' = ५०\%,\ p' = १०\%$$
$$९०_c + १०_v + २०_s;\ s' = २००\%,\ p' = २०\%।$$

उत्पादित मूल्य दोनों ही स्थितियों में बराबर है, और इसलिए निष्पादित श्रम भी बराबर है; $२०_v + १०_s = १०_v + २०_s = ३०$। अकेला अंतर यह है कि पहले प्रसंग में २० मजदूरी के लिए दिया जाता है और १० बेशी मूल्य की तरह बच रहता है, जबकि दूसरे प्रसंग में मजदूरी केवल १० है और इसलिए बेशी मूल्य २० है। यह अकेला उदाहरण है, जिसमें श्रमिकों की संख्या, श्रम की तीव्रता, तथा कार्य दिवस की दीर्घता अपरिवर्तित रहती हैं, जबकि v तथा s′ में एकसाथ बदलाव आता है।

ख) s′ तथा v का विचरण विपरीत दिशाओं में भी होता है, किंतु उतनी ही मात्रा में नहीं। इस स्थिति में v या s′ में से किसी का भी विचरण दूसरे से अधिक भारी होता है।

$$\text{I.}\ ८०_c + २०_v + २०_s;\ s' = १००\%,\ p' = २०\%$$
$$\text{II.}\ ७२_c + २८_v + २०_s;\ s' = ७१\ ३/७\%,\ p' = २०\%$$
$$\text{III.}\ ८४_c + १६_v + २०_s;\ s' = १२५\%,\ p' = २०\%।$$

पूंजी I २०_v से ४० के उत्पादित मूल्य को चुकाती है, II २८_v से ४८ के मूल्य को, और III १६_v से ३६ के मूल्य को। उत्पादित मूल्य और मजदूरी, दोनों बदल गये हैं। किंतु उत्पादित मूल्य में परिवर्तन का अर्थ है निष्पादित श्रम की मात्रा में परिवर्तन, अतः श्रमिकों की संख्या में, श्रम के घंटों में, श्रम की तीव्रता में, अथवा इनमें से एक से अधिक में भी परिवर्तन।

ग) s′ तथा v का विचरण एक ही दिशा में होता है। इस स्थिति में एक दूसरे के प्रभाव को अधिक तीव्र कर देता है।

$$९०_c + १०_v + १०_s;\ s' = १००\%,\ p' = १०\%$$
$$८०_c + २०_v + ३०_s;\ s' = १५०\%,\ p' = ३०\%$$
$$९२_c + ८_v + ६_s;\ s' = ७५\%,\ p' = ६\%।$$

यहां भी उत्पादित तीनों मूल्य भिन्न-भिन्न हैं, अर्थात २०, ५०, तथा १४। और श्रम की क्रमिक मात्राओं के परिमाण में यह अंतर अपने को फिर श्रमिकों की संख्या, श्रम के घंटों, श्रम की तीव्रता, अथवा अनेक या इन सभी कारकों के अंतर में परिणत कर लेता है।

३) s′, v तथा C परिवर्ती

यह प्रसंग कोई नया पहलू नहीं प्रस्तुत करता है और II के अंतर्गत दिये सामान्य सूत्र से हल हो जाता है, जिसमें s′ परिवर्ती है।

लाभ दर पर बेशी मूल्य दर के परिमाण में अंतर का प्रभाव इस प्रकार निम्न स्थितियां उत्पन्न करता है :

१) p' उसी अनुपात में बढ़ता अथवा घटता है, जिसमें कि s', अगर $\frac{v}{C}$ स्थिर रहे।

८०$_c$ + २०$_v$ + २०$_s$; s' = १००%, p' = २०%
८०$_c$ + २०$_v$ + १०$_s$; s' = ५०%, p' = १०%
१००% : ५०% = २०% : १०%।

२) p' s' की अपेक्षा तीव्रतर दर से बढ़ता अथवा घटता है, अगर $\frac{v}{C}$ की दिशा वही हो, जो कि s' की है, अर्थात अगर वह तभी बढ़ता या घटता है, जब s' बढ़ता या घटता है।

८०$_c$ + २०$_v$ + १०$_s$; s' = ५०%, p' = १०%
७०$_c$ + ३०$_v$ + २०$_s$; s' = ६६ २/३%, p' = २०%
५०% : ६६ २/३% < १०% : २०%।

३) p' s' की अपेक्षा धीमी दर से बढ़ता अथवा घटता है, अगर $\frac{v}{C}$ s' के व्युत्क्रमानुपात में बदलता है, किंतु अधिक धीमी दर से।

८०$_c$ + २०$_v$ + १०$_s$; s' = ५०%, p' = १०%
९०$_c$ + १०$_v$ + १५$_s$; s' = १५०%, p' = १५%
५०% : १५०% > १०% : १५%।

४) p' बढ़ता है, जबकि s' गिरता है, अथवा गिरता है, जबकि s' बढ़ता है, अगर $\frac{v}{C}$ s' के व्युत्क्रमानुपात में, और उससे तेज़ दर से बदलता है।

८०$_c$ + २०$_v$ + २०$_s$; s' = १००%, p' = २०%
९०$_c$ + १०$_v$ + १५$_s$; s' = १५०%, p' = १५%।

s' १००% से बढ़कर १५०% हो गया है, p' २०% से गिरकर १५% हो गया है।

५) अंततः, p' स्थिर रहता है, जबकि s' बढ़ता है या घटता है, अगर $\frac{v}{C}$ s' के व्युत्क्रमानुपात में, किंतु बिलकुल उसके ही अनुपात में बदलता है।

यह अंतिम उदाहरण ही ऐसा है कि जिसकी अब भी कुछ व्याख्या करना आवश्यक है। $\frac{v}{C}$ के विचरणों में हम पहले देख चुके हैं कि उस एक ही बेशी मूल्य दर को अत्यधिक भिन्न लाभ दरों में व्यक्त किया जा सकता है। अब हम देखते हैं कि एक ही लाभ दर अत्यधिक भिन्न बेशी मूल्य दरों पर आधारित हो सकती है। लेकिन जहां, जब तक s' स्थिर रहता है, C से v के अनुपात में कोई भी परिवर्तन लाभ दर में परिवर्तन उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त होता है, वहां s' के परिमाण में परिवर्तन के परिणामस्वरूप $\frac{v}{C}$ का व्युत्क्रम परिवर्तन होना आवश्यक है, ताकि लाभ दर वही बनी रहे। एक ही पूंजी के प्रसंग में, अथवा एक ही देश में दो भिन्न पूंजियों के प्रसंग में यह केवल आपवादिक मामलों में ही संभव है। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि हमारे पास यह पूंजी है:

८०$_c$ + २०$_v$ + २०$_s$; C = १००, s' = १००%, p' = २०%;

और, मान लीजिये कि मजदूरी इस हद तक गिर जाती है कि उतने ही श्रमिक २०$_v$ के बजाय

१६_v पर मिल जाते हैं। तब, चूंकि अन्य सभी बातें यथावत हैं और ४_v मुक्त हो जाते हैं, हमारे पास यह पूंजी होगी :

$$८०_c + १६_v + २४_s;\ C = ९६,\ s' = १५०\%,\ p' = २५\%।$$

इसके लिए कि पहले की ही भांति p' अब $= २०\%$ हो, कुल पूंजी को बढ़कर १२० होना होगा, जिससे स्थिर पूंजी बढ़कर १०४ हो जायेगी :

$$१०४_c + १६_v + २४_s;\ C = १२०,\ s' = १५०\%,\ p' = २०\%।$$

यह केवल तभी संभव हो सकेगा कि अगर मज़दूरी में गिरावट के साथ-साथ श्रम की उत्पादिता में ऐसा परिवर्तन आये कि जिसके लिए पूंजी की संरचना में ऐसा ही परिवर्तन आवश्यक हो जाये। अथवा, स्थिर पूंजी का मूल्य द्रव्य में ८० से बढ़कर १०४ हो जाये। संक्षेप में, इसके लिए परिस्थितियों के ऐसे आकस्मिक संयोग की आवश्यकता पड़ेगी कि जैसा आपवादिक मामलों में ही होता है। वास्तव में, s' का ऐसा विचरण कि जो v के, और इस प्रकार $\frac{v}{C}$ के सहकालिक विचरण की भी अपेक्षा न करता हो, अत्यंत निश्चित अवस्थाओं में ही कल्पनीय है, अर्थात उद्योग की ऐसी शाखाओं में, जिनमें केवल स्थायी पूंजी तथा श्रम का ही नियोजन किया जाता है, जबकि श्रम सामग्री प्रकृति द्वारा प्रदान की जाती है।

लेकिन जब दो भिन्न देशों की लाभ दरों की तुलना की जाती है, तब ऐसा नहीं होता। कारण यह कि इस मामले में वही लाभ दर, व्यवहार में अधिकांशतः भिन्न बेशी मूल्य दरों पर आधारित होती है।

इसलिए इन पांचों उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बढ़ती लाभ दर गिरती अथवा चढ़ती बेशी मूल्य दर के, गिरती लाभ दर चढ़ती अथवा गिरती बेशी मूल्य दर के और स्थिर लाभ दर चढ़ती अथवा गिरती बेशी मूल्य दर के अनुरूप हो सकती है। और जैसा कि I में हम देख चुके हैं, बढ़ती, गिरती अथवा स्थिर लाभ दर भी स्थिर बेशी मूल्य दर के अनुरूप हो सकती है।

अतः, लाभ दर दो मुख्य कारकों पर निर्भर करती है – बेशी मूल्य दर और पूंजी की मूल्यगत संरचना। इन दोनों कारकों के प्रभावों को, संरचना प्रतिशत में व्यक्त करके, संक्षेप में इस प्रकार दोहराया जा सकता है, क्योंकि यह महत्वहीन है कि पूंजी के दोनों अंशों में से कौनसा अंश विचरण पैदा करता है :

दो भिन्न पूंजियों की, अथवा दो क्रमागत भिन्न अवस्थाओं में एक ही पूंजी की, लाभ दरें **समान होती हैं**

१) अगर पूंजियों की प्रतिशत संरचना एक ही है और उनकी बेशी मूल्य दरें समान हैं ;

२) अगर उनकी प्रतिशत संरचना एक ही नहीं है और बेशी मूल्य दरें असमान हैं, बशर्ते कि बेशी मूल्य दरों के पूंजियों के परिवर्ती अंशों से गुणनफल ($s' \times v$) उतने ही हैं, अर्थात अगर कुल पूंजी के प्रतिशतों में परिकलित बेशी मूल्य की **संहतियां** ($s = s'v$) समान हैं ; दूसरे शब्दों में, अगर गुणनखंड s' तथा v दोनों ही मामलों में एक दूसरे के व्युत्क्रमानुपाती हैं।

वे असमान होती हैं

१) अगर प्रतिशत संरचना समान है और बेशी मूल्य दरें असमान हैं, जिस हालत में वे बेशी मूल्य दरों की तरह संबद्ध होती हैं;

२) अगर बेशी मूल्य दरें समान हैं और प्रतिशत संरचना असमान है, जिस हालत में वे पूंजियों के परिवर्ती अंशों की तरह संबद्ध होती हैं;

३) अगर बेशी मूल्य दरें असमान हैं और प्रतिशत संरचना एक ही नहीं है, जिस हालत में वे गुणनखंड s v की, अर्थात कुल पूंजी के प्रतिशत में परिकलित बेशी मूल्य की मात्राओं की तरह, संबद्ध होती हैं।[10]

---

[10] पांडुलिपि में बेशी मूल्य दर तथा लाभ दर में अंतर (s′—p′) के भी बहुत विस्तृत परिकलन हैं, जिसकी विशेषताएं बहुत रोचक हैं और जिसकी गति यह दर्शाती है कि दोनों दरें कहां एक दूसरे से विलग होती हैं या निकट आती हैं। इन गतियों को वक्र रेखाओं से भी व्यक्त किया जा सकता है। मैं इस सामग्री को पुनःप्रस्तुत नहीं कर रहा हूं, क्योंकि इस कृति के तात्कालिक प्रयोजनों के लिए वह कम महत्व की है, और क्योंकि यहां इस तथ्य की ओर उन पाठकों का ध्यान आकर्षित करना काफ़ी है, जो इस विषय का और अधिक अनुगमन करना चाहते हैं। — फ़े० एं०

अध्याय ४

लाभ दर पर आवर्त का प्रभाव

[बेशी मूल्य की, और फलतः लाभ की उत्पत्ति पर आवर्त के प्रभाव का दूसरी पुस्तक में विवेचन किया जा चुका है। सारांशतः उसका आशय यह है कि आवर्त के लिए आवश्यक समयावधि के कारण सारी ही पूंजी को उत्पादन में एकसाथ नियोजित नहीं किया जा सकता ; कुछ पूंजी या तो द्रव्य पूंजी के, कच्चे माल की पूर्तियों के, तैयार, पर अभी अविक्रीत पण्य पूंजी के, अथवा बक़ाया दावों के रूप में निष्क्रिय पड़ी रहती है ; सक्रिय उत्पादन में, अर्थात बेशी मूल्य के उत्पादन तथा हस्तगतकरण में पूंजी में हमेशा इतनी रक़म की कमी रहती है, और उत्पादित तथा हस्तगत बेशी मूल्य सदा उतना ही कम हो जाता है। आवर्त अवधि जितनी ही कम होती है, कुल पूंजी की तुलना में पूंजी का यह निष्क्रिय अंश उतना ही छोटा होता है, और इसलिए, हस्तगत बेशी मूल्य उतना ही अधिक होता है, बशर्ते कि अन्य अवस्थाएं यथावत बनी रहें।

दूसरी पुस्तक में* विस्तार से दर्शाया ही जा चुका है कि किस प्रकार आवर्त अवधि में, अथवा उसके दो खंडों – उत्पादन काल तथा परिचलन काल – में से एक में कमी से उत्पादित बेशी मूल्य की मात्रा बढ़ जाती है। लेकिन लाभ दर चूंकि केवल बेशी मूल्य की उत्पादित मात्रा का उसके उत्पादन में नियोजित कुल पूंजी से संबंध ही व्यक्त करती है, अतः प्रत्यक्ष है कि ऐसी कोई भी कमी लाभ दर को बढ़ा देती है। दूसरी पुस्तक के दूसरे भाग में बेशी मूल्य के बारे में पहले जो कुछ भी कहा गया है, वह लाभ तथा लाभ दर पर समान रूप में लागू होता है और उसे यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं। हम सिर्फ़ कुछ मुख्य मुद्दों पर ही जोर देना चाहते हैं।

उत्पादन काल को घटाने का मुख्य साधन उच्चतर श्रम उत्पादिता है, जिसे सामान्यतः औद्योगिक प्रगति कहा जाता है। अगर इसमें साथ ही महंगी मशीनों, आदि की संस्थापना से कुल पूंजी के परिव्यय में जनित ख़ासी वृद्धि, और इस प्रकार लाभ दर में, जिसका परिकलन कुल पूंजी को आधार बनाकर किया जाता है, कमी सन्निहित न हो, तो यह दर बढ़नी चाहिए। और धातुकर्म में तथा रासायनिक उद्योग में अनेक नूतन सुधारों के मामले में यह बात निश्चय ही सही है। लोहा तथा इस्पात तैयार करने के नवान्वेषित तरीक़े, जैसे बेसमर, सीमंस, गिलक्राइस्ट-टॉमस, आदि के प्रक्रम, पहले के श्रमसाध्य प्रक्रमों को अपेक्षाकृत कम ही लागत पर घटाकर न्यूनतम कर देते हैं। ऐलिजरीन के बनाने में, जो कोलतार से निकाला जानेवाला एक लाल रंजक है, वही परिणाम उत्पन्न करने में कि जिसमें पहले सालों लग जाते थे, कुछ हफ़्ते ही

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण : खंड २, पृष्ठ २६२-८४। – सं०

लगते हैं, और सो भी पहले से विद्यमान कोलतार रंजकोत्पादक यंत्र-साधनों से ही। मजीठ के परिपक्व होने में एक साल लगा करता था और जड़ों को संसाधित करने के पहले कुछ साल और बढ़ते देते रहने का रिवाज था।

परिचलन काल को घटाने का मुख्य साधन सुधरा संचार है। पिछले पचास वर्षों ने इस क्षेत्र में एक क्रांति कर दी है, जिसकी तुलना सिर्फ़ अठारहवीं शती के उत्तरार्ध की औद्योगिक क्रांति से ही की जा सकती है। स्थल पर गिट्टी की पक्की सड़क का स्थान रेल ने ले लिया है, समुद्र पर मंथर तथा अनियमित बादबानी जहाज़ को तेज़ और विश्वसनीय वाष्पपोत लाइन ने पृष्ठभूमि में धकेल दिया है और सारा भूमंडल तारों के घेरे में आता जा रहा है। स्वेज़ नहर ने पूर्वी एशिया तथा आस्ट्रेलिया को स्टीमर यातायात के लिए पूरी तरह से खोल दिया है। पूर्वी एशिया को एक नौभार माल का परिवहन काल, जो १८४७ में कम से कम बारह महीने था (Buch II, S. 235),* अब घटकर लगभग उतने ही सप्ताह रह गया है। १८२५-५७ के संकटों के दो बड़े केंद्र, अमरीका तथा भारत, परिवहन में इस क्रांति से यूरोपीय औद्योगिक देशों के ७० से ९० प्रतिशत अधिक निकट आ गये हैं और इस प्रकार उनकी विस्फोटक प्रकृति काफ़ी कुछ जाती रही है। कुल विश्व वाणिज्य की आवर्त अवधि इसी सीमा तक कम हो गयी है, और उसमें लगी पूंजी की कारगरता दुगुनी या तिगुनी से अधिक हो गयी है। कहना अनावश्यक है कि इसका लाभ की दर पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा है।

लाभ दर पर कुल पूंजी के आवर्त के प्रभाव को अलग से देखने के लिए हमें यह मानना होगा कि तुलना की जानेवाली पूंजियों की अन्य सभी अवस्थाएं समान हैं। बेशी मूल्य दर तथा कार्य दिवस के अलावा हमें विशेषकर प्रतिशत संरचना के बारे में भी समान होने की कल्पना करनी होगी। अब मान लीजिये कि $८०_c + २०_v = १००C$ संरचना की एक पूंजी क है, जो १००% बेशी मूल्य दर से वर्ष में दो आवर्त करती है। तब वार्षिक उत्पाद होगा :

$१६०_c + ४०_v + ४०_s$। लेकिन लाभ दर का निर्धारण करने के लिए हम ४०_s का परिकलन २०० के आवर्तित पूंजी मूल्य नहीं, वरन १०० की पेशगी पूंजी को आधार बनाकर करते हैं और इस प्रकार $p' = ४०\%$ प्राप्त करते हैं।

अब इसकी तुलना पूंजी ख $= १६०_c + ४०_v + २०० C$ से करें, जिसकी बेशी मूल्य दर वही १००% है, किंतु जो वर्ष में केवल एक बार आवर्तित होती है। अतः, इस पूंजी का वार्षिक उत्पाद वही है, जो क का है :

$१६०_c + ४०_v + ४०_s$। किंतु अब ४०_s का परिकलन २०० की पूंजी की पेशगी को आधार बनाकर किया जाता है, जो केवल २०% की लाभ दर, अर्थात क की आधी, देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समान बेशी मूल्य दर और समान कार्य दिवसोंवाली समान प्रतिशत संरचना की पूंजियों के मामले में दोनों पूंजियों की लाभ दरें उनकी आवर्त अवधियों के व्युत्क्रमानुपात में होती हैं। यदि तुलना किये जानेवाले दोनों प्रसंगों में संरचना, बेशी मूल्य दरों, कार्य दिवसों या मजदूरी में से कोई असमान हों, तो इससे स्वाभाविकतया लाभ दरों में और अंतर पैदा होंगे; किंतु ये आवर्त से स्वतंत्र हैं और इस कारण इस स्थल पर उनसे हमारा कोई सरोकार नहीं है। इनका तीसरे अध्याय में पहले ही विवेचन किया जा चुका है।

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण : खंड २, पृष्ठ २२६-२७। – सं०

जैसे कि दूसरी पुस्तक, अध्याय १६, 'परिवर्ती पूंजी का आवर्त' में इंगित किया गया है, न्यूनित आवर्त अवधि का बेशी मूल्य, और फलतः लाभ, के उत्पादन पर प्रत्यक्ष प्रभाव उसके द्वारा पूंजी के परिवर्ती अंश को प्रदत्त वर्धित क्षमता के रूप में पड़ता है। इस अध्याय ने दर्शाया था कि ५०० की परिवर्ती पूंजी वर्ष में दस बार आवर्तित होने पर इस समयावधि में उतने ही बेशी मूल्य का उत्पादन करती है कि जितने का वर्ष में केवल एक बार आवर्तित ५,००० की परिवर्ती पूंजी उतनी ही बेशी मूल्य दर तथा मजदूरी के साथ करती है।

मान लीजिये, पूंजी I में १०,००० स्थायी पूंजी समाविष्ट है, जिसका वार्षिक मूल्यह्रास १०% = १,००० है, जिसमें ५०० प्रचल स्थिर और ५०० परिवर्ती पूंजी है। मान लीजिये कि परिवर्ती पूंजी १००% बेशी मूल्य दर से वर्ष में दस बार आवर्तित होती है। सरलता के लिए हम नीचे के सभी उदाहरणों में मान लेते हैं कि प्रचल स्थिर पूंजी उतने ही समय में आवर्तित होती है कि जितने में परिवर्ती पूंजी, जो व्यवहार में सामान्यतः होता भी है। तब ऐसी एक आवर्त अवधि का उत्पाद होगा :

$$\text{१००}_c\ (\text{मूल्यह्रास}) + \text{५००}_c + \text{५००}_v + \text{५००}_s = \text{१,६००}$$

और एक पूरे साल का उत्पाद, जिसमें इस तरह के दस आवर्त होंगे, होगा :

$$\text{१,०००}_c\ (\text{मूल्यह्रास}) + \text{५,०००}_c + \text{५,०००}_v + \text{५,०००}_s = \text{१६,०००},$$

$$C = \text{११,०००},\ s = \text{५,०००},\ p' = \frac{\text{५,०००}}{\text{११,०००}} = \text{४५ ५/११\%।}$$

अब पूंजी II ले लीजिये : ९,००० स्थायी पूंजी, १,००० वार्षिक छीजन, १,००० प्रचल स्थिर पूंजी, १,००० परिवर्ती पूंजी, १००% बेशी मूल्य दर, परिवर्ती पूंजी के प्रति वर्ष ५ आवर्त। तब परिवर्ती पूंजी के प्रत्येक आवर्त का उत्पाद होगा :

$$\text{२००}_c\ (\text{मूल्यह्रास}) + \text{१,०००}_c + \text{१,०००}_v + \text{१,०००}_s = \text{३,२००},$$

और पांच आवर्तों के बाद कुल वार्षिक उत्पाद होगा :

$$\text{१,०००}_c\ (\text{मूल्यह्रास}) + \text{५,०००}_c + \text{५,०००}_v + \text{५,०००}_s = \text{१६,०००},$$

$$C = \text{११,०००},\ s = \text{५,०००},\ p' = \frac{\text{५,०००}}{\text{११,०००}} = \text{४५ ५/११\%।}$$

फिर पूंजी III ले लीजिये, जिसमें कोई स्थायी पूंजी समाविष्ट नहीं है, ६,००० प्रचल स्थिर पूंजी और ५,००० परिवर्ती पूंजी है। मान लीजिये कि १००% बेशी मूल्य दर से प्रति वर्ष एक आवर्त होता है। तब कुल वार्षिक उत्पाद होगा :

$$\text{६,०००}_c + \text{५,०००}_v + \text{५,०००}_s = \text{१६,०००},$$

$$C = \text{११,०००},\ s = \text{५,०००},\ p' = \frac{\text{५,०००}}{\text{११,०००}} = \text{४५ ५/११\%।}$$

इस तरह तीनों प्रसंगों में एक ही वार्षिक बेशी मूल्य राशि = ५,०००, है और चूंकि इसी प्रकार तीनों प्रसंगों में कुल पूंजी भी समान, अर्थात = ११,०००, ही है, इसलिए लाभ दर, ४५ ५/११%, भी एक ही है।

लेकिन अगर ऐसा हो कि पूंजी I के परिवर्ती अंश के प्रति वर्ष १० के बजाय केवल ५ ही आवर्त हों, तो परिणाम भिन्न होगा। तब एक आवर्त का उत्पाद होगा :

$$\text{२००}_c\ (\text{मूल्यह्रास}) + \text{५००}_c + \text{५००}_v + \text{५००}_s = \text{१,७००।}$$

और वार्षिक उत्पाद होगा :

$$१,०००_c \text{ (मूल्यह्रास)} + २,५००_c + २,५००_v + २,५००_s = ८,५००,$$

$$C = ११,०००, \quad s = २,५०० ; \quad p' = \frac{२,५००}{११,०००} = २२ \ ८/११\%।$$

लाभ दर गिरकर आधी रह गयी है, क्योंकि आवर्त अवधि दुगुनी हो गयी है।

अतः, एक वर्ष में हस्तगत बेशी मूल्य की राशि परिवर्ती पूंजी के प्रति वर्ष आवर्तों की संख्या से गुणित ऐसे एक आवर्त में हस्तगत बेशी मूल्य की राशि के बराबर होती है। मान लीजिये, हम एक वर्ष में हस्तगत बेशी मूल्य, अथवा लाभ, को S, एक आवर्त अवधि में हस्तगत बेशी मूल्य को s, और परिवर्ती पूंजी के एक वर्ष में आवर्तों की संख्या को n की संज्ञा देते हैं, तो $S = sn$, और बेशी मूल्य की वार्षिक दर $S' = s'n$, जैसा कि दूसरी पुस्तक, अध्याय १६, १* में पहले ही दर्शाया जा चुका है।

कहना न होगा कि $p' = s'\frac{v}{C} = s'\frac{v}{c+v}$ सूत्र सिर्फ़ तभी सही होता है कि जब लव में v वही होता है कि जो हर में। हर में v औसत रूप में कुल पूंजी के मजदूरी की अदायगी के लिए परिवर्ती पूंजी की तरह प्रयुक्त समस्त अंश का प्रतीक है। लव में v का निर्धारण मूलतः इस तथ्य से होता है कि उसके द्वारा बेशी मूल्य की एक राशि $= s$ उत्पादित तथा हस्तगत की जाती है, जिसका उससे संबंध, $\frac{s}{v}$, बेशी मूल्य दर, s', है। यह केवल इसी ढंग से है कि $p' = \frac{s}{c+v}$ सूत्र दूसरे सूत्र $p' = s'\frac{v}{c+v}$ में परिणत किया जाता है। अब लव के v का निर्धारण इस तथ्य से और भी अधिक यथार्थतापूर्वक होगा कि उसे हर के v के, अर्थात पूंजी C के समस्त परिवर्ती अंश के, बराबर होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, $p' = \frac{s}{C}$ समीकरण को $p' = s'\frac{v}{c+v}$ समीकरण में केवल तभी सही ढंग से रूपांतरित किया जा सकता है कि अगर s परिवर्ती पूंजी के एक आवर्त में उत्पादित बेशी मूल्य का प्रतीक हो। अगर s इस बेशी मूल्य का सिर्फ़ एक अंश ही है, तो $s = s'v$ अब भी सही होगा, लेकिन यह v तब $C = c+v$ में v से छोटा होगा, क्योंकि यह मजदूरी में व्ययित समस्त परिवर्ती पूंजी से छोटा है। लेकिन अगर s v के एक आवर्त के बेशी मूल्य से अधिक का परिचायक है, तो इस v का एक अंश, अथवा वह पूरा का पूरा, दो बार काम देता है, अर्थात पहले और दूसरे आवर्त में, और अंततः बाद के आवर्तों में। अतः, जो v बेशी मूल्य को उत्पादित करता है और सारी शोधित मजदूरी को प्रकट करता है, वह $c+v$ में v से अधिक होता है और तब परिकलन गलत हो जाता है।

सूत्र को वार्षिक लाभ दर के वास्ते यथातथ्य बनाने के लिए हमें साधारण बेशी मूल्य दर की वार्षिक बेशी मूल्य दर से प्रतिस्थापना करनी होगी, अर्थात s' को S' अथवा $s'n$ से प्रतिस्थापित करना होगा। दूसरे शब्दों में, हमें बेशी मूल्य दर s' को, अथवा जो एक ही बात है, C में समाविष्ट परिवर्ती पूंजी v को इस परिवर्ती पूंजी के एक वर्ष में आवर्तों की संख्या n से गुणा करना होगा। इस प्रकार हमें $p' = s'n\frac{v}{C}$ प्राप्त हो जाता है, जो वार्षिक लाभ दर का सूत्र है।

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण : खंड २, पृष्ठ २७२।–सं०

अपने व्यवसाय में निवेशित परिवर्ती पूंजी की मात्रा एक ऐसी चीज़ है कि जिसे अधिकांश मामलों में स्वयं पूंजीपति भी नहीं जानता है। हम दूसरी पुस्तक के आठवें अध्याय में देख चुके हैं और आगे भी देखेंगे कि अपनी **पूंजी** के भीतर जो अकेला तात्विक अंतर अपने को पूंजीपति के मन पर अंकित करता है, वह स्थायी तथा प्रचल **पूंजी** का अंतर है। वह अपनी तिजोरी से, जिसमें उसकी प्रचल पूंजी का द्रव्य रूप में उपलभ्य अंश, जब तक कि उसे बैंक में जमा नहीं किया जाता है, होता है, मज़दूरी की अदायगी करने के लिए धन निकालता है; वह उसी तिजोरी से कच्चे माल और सहायक सामग्री के लिए धन निकालता है, और दोनों ही मदों को उसी रोकड़ खाते में नामे करता है। और अगर वह मज़दूरी का अलग हिसाब भी रखे, तो भी वर्ष के अंत में इससे केवल इस मद के लिए अदा की गयी रक़म ही, अतः vn ही, व्यक्त होगी, न कि स्वयं परिवर्ती **पूंजी** v। इसका निश्चय करने के लिए उसे विशेष परिकलन करना होगा, जिसका हम यहां एक उदाहरण देंगे।

इस प्रयोजन के लिए हम पहली पुस्तक (S. 209/201)* में वर्णित एक कताई मिल लेंगे, जिसमें १०,००० म्यूल तकुए हैं और मान लेते हैं कि उसमें दिये गये अप्रैल, १८७१ के एक सप्ताह के आंकड़े सारे साल के दौरान प्रचलन में रहते हैं। मशीनों में समाविष्ट स्थायी पूंजी १०,००० पाउंड थी। प्रचल पूंजी नहीं दी गयी थी। हम मान लेते हैं कि यह २,५०० पाउंड थी। यह काफ़ी ऊंचा ही अनुमान है, किंतु इस कल्पना के दृष्टिगत उचित है, जिसे हमें यहां हमेशा ही करना होगा कि उधार की कोई कार्रवाई नहीं की जाती है और इसलिए अन्य लोगों की पूंजी का किसी भी प्रकार स्थायी अथवा अस्थायी नियोजन नहीं किया जाता है। साप्ताहिक उत्पाद का मूल्य मशीनों की टूट-फूट के २० पाउंड, प्रचल स्थिर पेशगी **पूंजी** के ३५८ पाउंड (किराया – ६ पाउंड; कपास – ३४२ पाउंड; कोयला, गैस, तेल – १० पाउंड), मजदूरी की अदायगी के लिए दी गयी परिवर्ती **पूंजी** के ५२ पाउंड और बेशी मूल्य के ८० पाउंड से मिलकर बनता था। अतः,

$$२०_c \text{ (मूल्यह्रास) } + ३५८_c + ५२_v + ८०_s = ५१०।$$

अतः, प्रचल पूंजी की साप्ताहिक पेशगी $३५८_c + ५२_v = ४१०$ थी। प्रतिशत के लिहाज से यह $८७.३_c + १२.७_v$ थी। २,५०० पाउंड की समस्त प्रचल **पूंजी** के लिए यह २,१८२ पाउंड स्थिर पंजी और ३१८ पाउंड परिवर्ती पूंजी होगी। चूंकि मज़दूरी के लिए एक साल में कुल ख़र्च ५२ गुणा ५२ पाउंड, अथवा २,७०४ पाउंड था, इसलिए यह नतीजा निकलता है कि एक साल में ३१८ पाउंड परिवर्ती पूंजी लगभग ठीक ८ १/२ बार आवर्तित हुई। बेशी मूल्य दर $\frac{८०}{५२} = १५३\ ११/१३\%$ थी। इन घटकों के आधार पर उपरोक्त मूल्यों को सूत्र $p' = s'n\frac{v}{C}$: $s' = १५३\ ११/१३$, $n = ८\ १/२$, $v = ३२८$, $C = १२,५००$ में सन्निविष्ट करके हम लाभ दर परिकलित कर लेते हैं। इस प्रकार :

$$p' = १५३\ ११/१३ \times ८\ १/२ \times \frac{३१८}{१२,५००} = ३३.२७\%।$$

---

* 'पूंजी' हिंदी संस्करण : पृष्ठ २३८। – सं०

अब हम इसकी सीधे से सूत्र $p' = \frac{s}{C}$ से जांच करते हैं। कुल वार्षिक बेशी मूल्य अथवा लाभ ५२ गुणा ८० पाउंड, अथवा ४,१६० पाउंड है, और १२,५०० की कुल पूंजी से विभाजित करने पर यह हमें ३३.२८%, अथवा लगभग वही परिणाम देता है। यह एक असामान्यतः ऊंची लाभ दर है, जिसकी उस समय की असाधारणतः अनुकूल अवस्थाओं (कपास की बहुत नीची क़ीमत और साथ-साथ सूत के बहुत ऊंचे दाम) से ही व्याख्या की जा सकती है और वे निश्चय ही सारे साल उपलभ्य नहीं रह सकती थीं।

$p' = s'n\frac{v}{C}$ सूत्र में $s'n$, जैसा कि बताया जा चुका है, उस चीज़ का प्रतीक है, दूसरी पुस्तक में* जिसे बेशी मूल्य की वार्षिक दर कहा गया है। उपरोक्त प्रसंग में यह १५३ ११/१३% गुणा ८ १/२, अथवा बिलकुल सही अंकों में, १,३०७ ६/१३% है। इसलिए अगर कोई बीडरमन दूसरी पुस्तक में दृष्टांतस्वरूप प्रयुक्त १,०००% की वार्षिक बेशी मूल्य दर की असामान्यता से** स्तंभित हो गया था, तो अब वह संभवतः मैनचेस्टर के जीते-जागते अनुभव से ली हुई इस १,३००% से अधिक की बेशी मूल्य दर से शांत हो जायेगा। अधिकतम समृद्धि के ज़माने में भी, जैसा हमने सचमुच बहुत समय से नहीं देखा है, ऐसी दर किसी भी प्रकार कोई बिरली चीज़ नहीं है।

इस सिलसिले में हमारे पास यहां आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योग में पूंजी की वास्तविक संरचना की एक मिसाल है। कुल पूंजी, १२,५०० पाउंड की रक़म, १२,१८२ पाउंड स्थिर और ३१८ पाउंड परिवर्ती पूंजी में विभक्त है। प्रतिशत के लिहाज़ से यह ९७ १/२$_c$ + २ १/२$_v$ = = १००C है। कुल पूंजी का सिर्फ़ चालीसवां भाग, किंतु आठ गुने से अधिक वार्षिक आवर्त में, मज़दूरी चुकाने को काफ़ी है।

चूंकि बहुत कम पूंजीपति ही अपने व्यवसाय के संदर्भ में इस तरह का परिकलन करने की बात कभी सोचते हैं, इसलिए सांख्यिकी कुल सामाजिक पूंजी के स्थिर अंश के उसके परिवर्ती अंश के साथ संबंध के बारे में लगभग पूर्णतः मौन है। आधुनिक अवस्थाओं में जो संभव है, वह सिर्फ़ अमरीकी सांख्यिकी ही देती है, यानी व्यवसाय की प्रत्येक शाखा में दी जानेवाली मज़दूरी और प्राप्त लाभों की रक़म के आंकड़े। पूंजीपति के अपने ही अनियंत्रित विवरणों पर आधारित होने के कारण ये आंकड़े संदेहास्पद चाहे हों, फिर भी वे अत्यंत मूल्यवान हैं और इस विषय में हमें उपलब्ध एकमात्र संदर्भ हैं। यूरोप में हम इतने संवेदनशील हैं कि अपने बड़े पूंजीपतियों से इस तरह के रहस्योद्घाटनों की अपेक्षा नहीं कर सकते। – फ़े० एं०]

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण : खंड २, पृष्ठ २६४। – सं०

** बीडरमन – कूपमंडूक। यहां इसका श्लेष की तरह प्रयोग किया गया है, क्योंकि साथ ही यह *Deutsche Allgemeine Zeitung* के संपादक का नाम भी है। – सं०

अध्याय ५

स्थिर पूंजी के नियोजन में बचत

१. सामान्य रूप में

निरपेक्ष बेशी मूल्य के बढ़ने, अथवा बेशी श्रम और इस प्रकार कार्य दिवस के प्रवर्धन से, जबकि परिवर्ती पूंजी उतनी ही बनी रहती है और इस प्रकार, इससे अनपेक्ष कि अतिरिक्त समय के लिए अदायगी की जाती है या नहीं, उतने ही मजदूरों को उसी नक़दी मजदूरी पर नियोजित करती है, कुल तथा परिवर्ती पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी का सापेक्ष मूल्य घट जाता है और इस प्रकार लाभ दर बढ़ जाती है, और वह भी बेशी मूल्य की मात्रा की वृद्धि और संभवतः बढ़ती बेशी मूल्य दर से अनपेक्ष रूप से। स्थिर पूंजी के स्थायी अंश, यथा कारख़ाना इमारतों, मशीनों, आदि, का परिमाण उतना ही रहता है, चाहे वे श्रम प्रक्रिया के १६ घंटे काम आयें या १२ घंटे। कार्य दिवस के दीर्घीकरण से स्थिर पूंजी के इस सबसे ख़र्चीले अंश में किसी नये व्यय का सन्निवेश नहीं होता। इसके अलावा, इसके परिणामस्वरूप स्थायी पूंजी के मूल्य का न्यूनतर आवर्त अवधियों में पुनरुत्पादन होता है, जिससे कि लाभ कमाने के लिए उसके पेशगी दिये जाने की समयावधि कम हो जाती है। अतः, कार्य दिवस का दीर्घीकरण लाभ को बढ़ा देता है, चाहे अतिरिक्त समय के लिए अदायगी भी की जाती हो, या चाहे, एक ख़ास हद तक, उसके लिए श्रम के सामान्य घंटों से बेहतर अदायगी भी की जाती हो। इसलिए आधुनिक उद्योग में स्थायी पूंजी को बढ़ाने की लगातार बढ़ती आवश्यकता मुनाफ़े के दीवाने पूंजीपतियों को कार्य दिवस को दीर्घतर बनाने के लिए प्रेरित करनेवाले मुख्य कारणों में एक थी।[11]

अगर कार्य दिवस स्थिर हो, तो यही अवस्थाएं प्राप्य नहीं होतीं। तब या तो श्रमिकों की संख्या को बढ़ाना, और उनके साथ किसी हद तक स्थायी पूंजी, इमारतों, मशीनों, आदि, के परिमाण को बढ़ाना आवश्यक होता है, ताकि श्रम की अधिक मात्रा का समुपयोजन किया जा सके (क्योंकि हम मजदूरी से कटौतियों को अथवा मजदूरी के उसके सामान्य स्तर से गिरने को अलग छोड़ देते हैं), या, अगर श्रम की तीव्रता, और फलतः, उत्पादिता बढ़ती हैं और सामान्यतः, अधिक सापेक्ष बेशी मूल्य उत्पादित होता है, तो ऐसी उद्योग शाखाओं में स्थिर पूंजी के प्रचल अंश का परिमाण बढ़ जाता है, जो कच्चे माल का उपयोग करती हैं, क्योंकि

[11] "चूंकि सभी कारख़ानों में इमारतों और मशीनों में स्थायी पूंजी की बहुत बड़ी मात्रा निविष्ट होती है, इसलिए मशीनों को जितने ही ज्यादा घंटे चालू रखा जा सकेगा, प्रतिफल उतना ही ज्यादा होगा।" *(Reports of Insp. of Fact., 31 st October, 1858,* p. 8.)

एक निश्चित समयावधि में अधिक कच्चे माल, आदि, संसाधित होते हैं; और दूसरे, उतने ही श्रमिकों द्वारा गतिशील की जानेवाली मशीनों का परिमाण, और इसलिए स्थिर पूंजी का यह भाग भी बढ़ जाता है। इस प्रकार बेशी मूल्य में वृद्धि के साथ स्थिर पूंजी में, और श्रम के बढ़ते समुपयोजन के साथ उन उत्पादन साधनों के परिव्यय में भी वृद्धि होती है, जिनके जरिये श्रम का समुपयोजन किया जाता है, अर्थात पूंजी का निवेश बढ़ता है। अतः, इसके परिणामस्वरूप एक ओर, लाभ दर कम होती है, जबकि दूसरी ओर, वह बढ़ती है।

कार्य दिवस चाहे दीर्घतर हो अथवा लघुतर, काफ़ी चालू ख़र्च लगभग अथवा पूर्णतः उतने ही बने रहते हैं। १२ कार्य घंटे में ७५० मज़दूरों की बनिस्बत १८ कार्य घंटे में ५०० मज़दूरों के अधीक्षण की लागत कम बैठती है। "कारख़ाने को १० घंटे चलाने का ख़र्च उसे १२ घंटे चलाने के ख़र्च के लगभग बराबर होता है।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1848*, p. 37.) राजकीय तथा नगरपालिका कर, अग्नि बीमा, विभिन्न स्थायी कर्मचारियों की मज़दूरी, मशीनों की टूट-फूट, और कारख़ाने के अन्य विभिन्न ख़र्च उतने ही बने रहते हैं, कार्य काल चाहे लंबा हो अथवा छोटा। जिस सीमा तक उत्पादन घटता है, लाभ की तुलना में ये ख़र्च बढ़ते हैं। (*Reports of Insp. of Fact., October, 1862*, p. 19.)

मशीनों तथा स्थायी पूंजी के अन्य घटकों का मूल्य जिस अवधि में पुनरुत्पादित होता है, व्यवहार में उसका निर्धारण मात्र उनके जीवनकाल से ही नहीं, वरन उस सारी श्रम प्रक्रिया की दीर्घता से किया जाता है, जिसके दौरान वे काम देते और छीजते हैं। अगर मजदूरों को १२ घंटे के बजाय १८ घंटे काम करना होता है, तो इससे प्रति सप्ताह तीन दिन का अंतर हो जाता है, जिससे एक सप्ताह खिंचकर डेढ़ सप्ताह हो जाता है और दो साल तीन साल हो जाते हैं। अगर इस अतिरिक्त समय के लिए अदायगी नहीं की जाती है, तो मजदूर सामान्य बेशी श्रम काल के अलावा हर तीन सप्ताह में से एक सप्ताह और हर तीन साल में से एक साल मुफ़्त दे देते हैं। इस तरह, मशीनों के मूल्य का पुनरुत्पादन ५०% त्वरित हो जाता है और उसकी सिद्धि सामान्यतः अपेक्षित समय के दो तिहाई में ही हो जाती है।

बेकार की उलझनों से बचने के लिए हम इस विश्लेषण में, और कच्चे मालों की क़ीमत की घट-बढ़ के विश्लेषण में (अध्याय ६) यह मानते हुए चल रहे हैं कि बेशी मूल्य की मात्रा तथा दर निश्चित हैं।

जैसा कि सहकारिता, श्रम विभाजन और मशीनों के प्रतिपादन में पहले ही दर्शाया जा चुका है, बड़े पैमाने के उत्पादन में पायी जानेवाली उत्पादन अवस्थाओं की मितव्ययिता* यथार्थतः इसी कारण है कि ये अवस्थाएं सामाजिक, अथवा सामाजिक रूप में संयोजित, श्रम की अवस्थाओं के, और इसलिए श्रम की सामाजिक अवस्थाओं के रूप में व्याप्त होती हैं। उन्हें असंबद्ध रूप में काम करते, या हद से हद, छोटे पैमाने पर ही सहयोग करते श्रमिक समूह द्वारा छोटे-छोटे अंशों में उपयोग में लाये जाने के बजाय सामान्यतः उत्पादन की प्रक्रिया में समुच्चित श्रमिक द्वारा उपयोग में लाया जाता है। एक या दो केंद्रीय मोटरों से युक्त बड़े कारख़ाने में इन मोटरों की लागत उसी अनुपात में नहीं बढ़ती है कि जिसमें उनकी अश्व शक्ति बढ़ती है और फलतः, उनकी क्रियाशीलता का संभाव्य क्षेत्र बढ़ जाता है। संचरण उपस्कर की लागत उसके द्वारा गतिशील की जानेवाली चालू मशीनों की कुल संख्या के अनुपात में नहीं बढ़ती है।

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, पृष्ठ ३४६-५०। — सं०

मशीन का ढांचा उसके द्वारा अपने पुरज़ों, आदि के रूप में प्रयुक्त औज़ारों की बढ़ती संख्या के अनुपात में मंहगा नहीं होता जाता है। इसके अलावा, उत्पादन साधनों के संकेंद्रण से सिर्फ़ वास्तविक कार्यशालाओं की ही नहीं, बल्कि भंडारण, आदि की विभिन्न प्रकार की इमारतों पर भी बचत होती है। ईंधन, प्रकाश, आदि के व्ययों पर भी यही बात लागू होती है। उत्पादन की अन्य अवस्थाएं वही बनी रहती हैं, चाहे उनका उपयोग बहुतों द्वारा किया जाये, या थोड़े ही लोगों द्वारा।

तथापि उत्पादन साधनों के संकेंद्रण और उनके en masse [सामूहिक रूप में] उपयोग से जनित यह कुल बचत श्रमिकों के संचयन तथा सहयोग को, अर्थात श्रम के सामाजिक संयोजन को, अपरिहार्य आवश्यकता बना देती है। अतः, इसका उद्गम बिलकुल उसी तरह से श्रम के सामाजिक स्वरूप से होता है कि जिस तरह से बेशी मूल्य का उद्गम अलग से लेने पर अकेले श्रमिक के बेशी श्रम से होता है। सतत सुधार भी, जो यहां संभव और आवश्यक होते हैं, केवल बड़े पैमाने पर संयुक्त समुच्चित श्रम के उत्पादन द्वारा सुनिश्चित किये तथा संभव बनाये सामाजिक अनुभव और अनुपालन के कारण ही होते हैं।

उत्पादन की अवस्थाओं में बचत के दूसरे बड़े स्रोत के बारे में भी यही सही है। हमारा आशय उत्पादन के उत्सर्जनों, तथाकथित अपशिष्टों, के या तो उसी अथवा किसी अन्य उद्योग शाखा के नये उत्पादन तत्वों में पुनःरूपांतरण से, उन प्रक्रमों से है, जिनसे इस तथाकथित उत्सर्जन को उत्पादन चक्र में, और फलतः, उपभोग में – चाहे उत्पादक अथवा व्यष्टिक – वापस डाला जाता है। बचत का यह तरीक़ा भी, जिसकी हम आगे चलकर सूक्ष्मतर परीक्षा करेंगे, इसी प्रकार बड़े पैमाने के सामाजिक श्रम का परिणाम है। यह इस अपशिष्ट का सहवर्ती बाहुल्य ही है कि जो उसे तिजारत के लिए फिर उपलभ्य बना देता है और इस प्रकार उसे उत्पादन के नये तत्वों में परिणत कर देता है। सिर्फ़ संयुक्त उत्पादन के, और इसलिए बड़े पैमाने के उत्पादन के अपशिष्ट के नाते ही यह उत्पादन प्रक्रम के लिए महत्वपूर्ण हो जाता है और विनिमय मूल्य का वाहक बना रहता है। एक नये उत्पादन तत्व के रूप में निष्पन्न की जानेवाली सेवाओं के अलावा यह अपशिष्ट कच्चे माल की लागत को उस सीमा तक घटा देता है कि जहां तक वह पुनः विक्रेय होता है, क्योंकि इस लागत में सामान्य अपशिष्ट, अर्थात संसाधन में सामान्यतः नष्ट होनेवाली मात्रा, का सदा समावेश रहता है। यह मानते हुए कि परिवर्ती पूंजी का परिमाण और बेशी मूल्य दर निश्चित है, स्थिर पूंजी के इस अंश की लागत का घटना लाभ दर को pro tanto [तत्प्रमाणे] बढ़ा देता है।

अगर बेशी मूल्य निश्चित है, तो लाभ दर को सिर्फ़ पण्य उत्पादन के लिए आवश्यक स्थिर पूंजी के मूल्य को घटाकर ही बढ़ाया जा सकता है। जहां तक स्थिर पूंजी जिंसों के उत्पादन में प्रवेश करती है, उसमें महत्व उसके विनिमय मूल्य का नहीं, वरन उसके केवल उपयोग मूल्य का ही होता है। कताईघर में फ़्लैक्स श्रम की जितनी मात्रा को जज्ब कर सकता है, वह – यह मानते हुए कि श्रम की उत्पादिता, अर्थात प्राविधिक विकास का स्तर, निश्चित है – उसके मूल्य पर नहीं, वरन उसकी मात्रा पर निर्भर होता है। इसी प्रकार मशीन द्वारा, मिसाल के लिए, तीन मजदूरों को प्रदत्त सहायता उसके मूल्य पर नहीं, वरन मशीन के नाते उसके उपयोग मूल्य पर निर्भर करती है। प्राविधिक विकास के एक स्तर पर एक ख़राब मशीन महंगी हो सकती है और दूसरे स्तर पर एक अच्छी मशीन सस्ती हो सकती है।

पूंजीपति को, मिसाल के लिए, कपास और कताई मशीनों के सस्ता होने के जरिये प्राप्त

बढ़ा हुआ लाभ उच्चतर श्रम उत्पादिता का परिणाम होता है; बेशक, कताईघर में नहीं, बल्कि कपास की खेती और मशीन के निर्माण में। श्रम की एक निश्चित मात्रा का समावेश करने के लिए, और इस प्रकार बेशी श्रम की एक निश्चित मात्रा को हासिल करने के लिए श्रम की अवस्थाओं का कम परिव्यय करना होता है। बेशी श्रम की एक ख़ास मात्रा को हस्तगत करने के लिए आवश्यक लागत घट जाती है।

समुच्चित, अथवा सामाजिक रूप में संयोजित, श्रम द्वारा उत्पादन साधनों के सहकारी उपयोग के ज़रिये उत्पादन प्रक्रिया में होनेवाली बचतों का हम पहले ही ज़िक्र कर चुके हैं। परिचलन काल के लघुकरण से, जिसमें संचार साधनों का विकास एक प्रबल भौतिक कारक है, जनित स्थिर पूंजी की अन्य बचतों का विवेचन बाद में किया जायेगा। इस स्थल पर हम मशीनों के सतत सुधार से जनित बचतों का विवेचन करेंगे, अर्थात १) उनकी सामग्री का सुधार, उदाहरणार्थ, लकड़ी की लोहे से प्रतिस्थापना; २) मशीन निर्माण में सामान्य सुधार के कारण मशीनों का सस्ता होना; जिससे चाहे स्थिर पूंजी के स्थायी अंश का मूल्य श्रम के बड़े पैमाने पर विकास के साथ निरंतर बढ़ता जाता है, पर वह उसी दर से नहीं बढ़ता[12]; ३) विशेष सुधार, जिनके फलस्वरूप विद्यमान मशीनें और कम लागत से और ज़्यादा कारगरता से काम करने लगती हैं; मिसाल के लिए, वाष्प बायलरों, आदि के सुधार, जिनका आगे अधिक विस्तार के साथ विवेचन किया जायेगा; ४) बेहतर मशीनों के ज़रिये अपव्यय का घटाया जाना।

जो भी चीज़ मशीनों के, और सामान्य रूप में स्थायी पूंजी के क्षय को किसी भी निश्चित उत्पादन अवधि के लिए कम करती है, वह केवल व्यष्टिक जिंस को ही इस तथ्य के दृष्टिगत सस्ता नहीं कर देती कि प्रत्येक व्यष्टिक जिंस अपनी क़ीमत में इस क्षय के अपने समभाग का पुनरुत्पादन करती है, बल्कि इस अवधि के लिए निवेशित पूंजी के समभाग को भी कम करती है। मरम्मत का काम, आदि, जिस हद तक वे ज़रूरी हो जाते हैं, मशीनों की मूल लागत में जोड़ दिये जाते हैं। मशीनों के अधिक टिकाऊपन के कारण मरम्मत ख़र्च में कमी इन मशीनों की लागत को pro tanto कम कर देती है।

इन सभी बचतों के बारे में फिर यही कहा जा सकता है कि वे अधिकांशतः केवल संयोजित श्रम की बदौलत ही संभव हो पाती हैं, और जब तक उत्पादन को और भी बड़े पैमाने पर आगे न ले जाया जाये, तब तक प्रायः उनकी सिद्धि नहीं हो पाती है, जिससे उनके लिए उत्पादन की प्रत्यक्ष प्रक्रिया में श्रम का और भी अधिक संयोजन आवश्यक हो जाता है।

लेकिन दूसरी तरफ़, श्रम की उत्पादक शक्ति का उत्पादन की किसी एक ही शाखा में विकास, उदाहरण के लिए, लोहे, कोयले, मशीनों के उत्पादन, स्थापत्य, आदि में, जो फिर बौद्धिक उत्पादन, विशेषकर प्राकृतिक विज्ञान और उसके व्यावहारिक उपयोग, के क्षेत्र में प्रगति से आंशिक रूप में संबद्ध हो सकती है, उद्योग की अन्य शाखाओं, जैसे वस्त्र उद्योग या कृषि, में उत्पादन के ज़रिये मूल्य के, और फलतः लागत के न्यूनीकरण का पूर्वाधार प्रतीत होता है। यह स्वतःस्पष्ट है, क्योंकि एक जिंस, जो उद्योग की एक विशेष शाखा की उपज है, दूसरी शाखा में उत्पादन साधन के रूप में प्रविष्ट हो जाती है। उसकी ज़्यादा या कम क़ीमत उस उत्पादन शाखा में श्रम की उत्पादिता पर निर्भर करती है, जिससे वह उत्पाद के रूप में निकलती

---

[12] तुलना के लिए देखें, कारख़ाना निर्माण में प्रगति के बारे में यूरे।

है, और साथ ही वह एक ऐसा कारक भी होती है कि जो न सिर्फ़ उन जिंसों को सस्ता ही करती है, जिनके उत्पादन में वह उत्पादन साधन के रूप में प्रवेश करती है, बल्कि स्थिर पूंजी के मूल्य को भी घटाती है, जिसका वह यहां एक तत्व और इस प्रकार ऐसा तत्व बन जाती है कि जो लाभ दर को बढ़ाता है।

उद्योग के उत्तरोत्तर विकास से जनित स्थिर पूंजी की इस प्रकार की बचत का चारित्रिक लक्षण यह है कि उद्योग की **एक** शाखा में लाभ दर की वृद्धि **दूसरी** शाखा में श्रम की उत्पादक शक्ति के विकास पर निर्भर करती है। इस मामले में पूंजीपति को जो भी फ़ायदा होता है, वह फिर – यदि उन श्रमिकों का उत्पाद नहीं कि जिनका वह स्वयं शोषण करता है, तो भी – सामाजिक श्रम द्वारा उत्पादित लाभ तो होता ही है। उत्पादक शक्ति के ऐसे विकास का मूल अंतिम विश्लेषण में फिर उत्पादन में निरत श्रम के सामाजिक स्वरूप में, समाज में श्रम के विभाजन में, और बौद्धिक श्रम के, विशेषकर प्राकृतिक विज्ञान में, विकास में पाया जा सकता है। इस प्रकार पूंजीपति जिस चीज़ का उपयोग करता है, वह श्रम के सामाजिक विभाजन की समूची प्रणाली के सुलाभ है। यह श्रम की उत्पादक शक्ति का अपने बाह्य विभाग में, उस विभाग में विकास है, जो उसे उत्पादन साधन प्रदान करता है, जिससे पूंजीपति द्वारा नियोजित स्थिर पूंजी का मूल्य अपेक्षाकृत कम हो जाता है और परिणामस्वरूप लाभ दर बढ़ जाती है।

लाभ दर में एक और वृद्धि स्थिर पूंजी का निर्माण करनेवाले श्रम में बचतों से नहीं, वरन स्वयं इस पूंजी के उपयोग में बचतों से उत्पन्न होती है। एक ओर, श्रमिकों का संकेंद्रण तथा उनका बड़े पैमाने पर सहयोग स्थिर पूंजी की बचत करता है। उन्हीं इमारतों और तापन तथा प्रकाश साधनों, आदि का ख़र्च छोटे पैमाने के उत्पादन के मुक़ाबले बड़े पैमाने के उत्पादन के लिए अपेक्षाकृत कम बैठता है। शक्ति और काम की मशीनों के बारे में भी यही बात है। यद्यपि उनका निरपेक्ष मूल्य बढ़ जाता है, पर उत्पादन के बढ़ते हुए प्रसार और परिवर्ती पूंजी के परिमाण, अथवा गतिमान की गयी श्रम शक्ति की मात्रा की तुलना में वह घट जाता है। किसी पूंजी द्वारा अपनी ही उत्पादन शाखा के भीतर कार्यान्वित मितव्ययिता सर्वोपरि श्रम में मितव्ययिता होती है, अर्थात स्वयं उसके श्रमिकों के शोधित श्रम का कम किया जाना। दूसरी ओर, पूर्वोक्त मितव्ययिता इस मितव्ययिता से इस बात में भिन्न होती है कि वह अन्य लोगों के अशोधित श्रम को सबसे किफ़ायती ढंग से, अर्थात उत्पादन के प्रदत्त पैमाने की सीमाओं में यथासंभव कम से कम ख़र्च के साथ, अधिकतम हड़प लेती है। चूंकि यह मितव्ययिता स्थिर पूंजी के उत्पादन में नियोजित सामाजिक श्रम की उत्पादिता के पूर्वोक्त उपयोजन पर नहीं, वरन स्वयं स्थिर पूंजी में मितव्ययिता पर आधारित होती है, अतः, यह या तो सीधे उत्पादन की किसी शाखा के भीतर श्रम के सहयोग तथा सामाजिक रूप से, या मशीनों, आदि के ऐसे पैमाने पर उत्पादन से उद्भूत होती है, जिसमें उसका मूल्य उसी दर से नहीं बढ़ता, जिससे कि उसका उपयोग मूल्य बढ़ता है।

यहां दो बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए: अगर c का मूल्य = शून्य, तो $p' = s'$ और लाभ दर अधिकतम होगी। लेकिन दूसरी बात यह है कि स्वयं श्रम के प्रत्यक्ष उपयोजन के लिए सबसे महत्वपूर्ण नियोजित उपयोजन साधनों का मूल्य नहीं है, फिर चाहे वे स्थायी पूंजी, कच्चा माल या सहायक सामग्री ही क्यों न हों। जहां तक वे श्रम को आत्मसात करने के साधनों का, ऐसे माध्यमों का काम करते हैं, जिनमें या जिनके द्वारा श्रम, और इसलिए, बेशी श्रम, मूर्त होते हैं, मशीनों, इमारतों, कच्चे माल, आदि का विनिमय मूल्य बिलकुल महत्वहीन होता

है। अंततोगत्वा जो महत्वपूर्ण है, वह है, एक ओर, सजीव श्रम की एक ख़ास मात्रा के साथ संयोजन के लिए उनकी प्राविधिक दृष्टि से आवश्यक मात्रा, और दूसरी ओर, उनकी उपयुक्तता, अर्थात केवल अच्छी मशीनें ही नहीं, बल्कि अच्छा कच्चा माल तथा सहायक सामग्री भी। लाभ दर अंशतः कच्चे मालों की अच्छी कोटि पर निर्भर करती है। अच्छी सामग्री कम रद्दी पैदा करती है। तब श्रम की उतनी ही मात्रा को नियोजित करने के लिए कम कच्चे माल की आवश्यकता होती है। इसके अलावा, चलती मशीन को जिस प्रतिरोध का सामना करना होता है, वह भी कम होता है। इसका अंशतः बेशी मूल्य और बेशी मूल्य दर तक पर प्रभाव पड़ता है। ख़राब कच्चे मालों का उपयोग करते हुए श्रमिक को उतनी ही मात्रा का संसाधन करने के लिए अधिक समय की ज़रूरत होती है। यह मान लें कि मज़दूरी वही रहती है, तो इससे बेशी श्रम में कमी आती है। इसका पूंजी के पुनरुत्पादन तथा संचय पर भी बहुत प्रभाव पड़ता है, जो नियोजित श्रम की मात्रा की अपेक्षा उसकी उत्पादिता पर अधिक निर्भर करते हैं, जैसा कि पहली पुस्तक में दिखाया गया है। (S. 627/619 ff.)*

इसलिए पूंजीपति का उत्पादन साधनों में मितव्ययिता का दीवानगीभरा आग्रह बिलकुल स्वाभाविक ही है। यह बात कि कुछ नष्ट अथवा व्यर्थ नहीं होता और उत्पादन साधनों का उपयोग स्वयं उत्पादन द्वारा अपेक्षित ढंग से ही होता है, अंशतः श्रमिकों की निपुणता तथा बुद्धि पर और अंशतः पूंजीपति द्वारा संयोजित श्रम के लिए लागू किये गये अनुशासन पर निर्भर करती है। यह अनुशासन ऐसी सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत अनावश्यक हो जायेगा, जिसमें मज़दूर अपने ही निमित्त काम करते हैं, जैसे कार्यपरक मज़दूरी में यह लगभग अनावश्यक हो भी गया है। विलोमतः यह अंधाग्रह उत्पादन तत्वों की मिलावट में भी सामने आता है, जो स्थिर पूंजी के मूल्य के परिवर्ती पूंजी से अनुपात को घटाने और इस प्रकार लाभ दर को बढ़ाने के मुख्य साधनों में से एक है। इससे इन उत्पादन तत्वों की अपने मूल्य से अधिक, जहां तक वह उत्पाद में पुनः प्रकट होता है, बिक्री में छल का सुस्पष्ट तत्व आ जाता है। यह प्रथा विशेषकर जर्मन उद्योग में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, जिसका सिद्धांतवाक्य है: लोग निस्संदेह सराहेंगे अगर हम पहले उन्हें अच्छे नमूने और फिर बाद में घटिया माल भेजें। लेकिन चूंकि ये मामले प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में आते हैं, इसलिए यहां उनका हमसे सरोकार नहीं है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्थिर पूंजी के मूल्य को घटाने, अर्थात उसके महंगेपन को कम करने के ज़रिये लाभ दर का यह उन्नयन किसी भी प्रकार इस पर निर्भर नहीं करता कि जिस उद्योग शाखा में यह होता है, वह विलास वस्तुओं का उत्पादन करती है, या श्रमिकों के उपभोग के लिए आवश्यक वस्तुओं का, अथवा सामान्यतः उत्पादन साधनों का ही। अंतोक्त तथ्य का केवल तभी कोई वास्तविक महत्व होता, जब प्रश्न बेशी मूल्य दर का रहा होता, जो तत्वतः श्रम शक्ति के मूल्य पर, अर्थात श्रमिक की सामान्य आवश्यकताओं के मूल्य पर निर्भर करती है। किंतु प्रस्तुत प्रसंग में बेशी मूल्य और बेशी मूल्य दर को प्रदत्त माना गया है। इन परिस्थितियों में बेशी मूल्य का कुल पूंजी से संबंध – और यही लाभ दर को निर्धारित करता है – केवल स्थिर पूंजी के मूल्य पर निर्भर करता है, न कि किसी भी प्रकार उन तत्वों के उपयोग मूल्य पर, जिनसे वह निर्मित होता है।

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: पृष्ठ ६३६ तथा आगे। – सं०

बेशक, उत्पादन साधनों का अपेक्षतया सस्ता हो जाना उनके निरपेक्ष सकल मूल्य की संभाव्य वृद्धि को प्रतिबद्ध नहीं करता, क्योंकि उन्हें जिस निरपेक्ष परिमाण में नियोजित किया जाता है, उसमें श्रम की उत्पादक शक्ति के विकास और उत्पादन के स्तर की सहवर्ती वृद्धि के साथ-साथ जबरदस्त बढ़ती होती है। स्थिर पूंजी के उपयोग में मितव्ययिता, उस पर चाहे किसी भी दृष्टि से विचार किया जाये, अंशतः इस तथ्य का अनन्य परिणाम होती है कि उत्पादन साधन संयोजित श्रम के संयुक्त उत्पादन साधनों के रूप में कार्य करते और उपयोग में लाये जाते हैं, जिससे परिणामी बचत प्रत्यक्षतः उत्पादक श्रम के सामाजिक स्वरूप के उत्पाद की तरह प्रकट होती है; तथापि आंशिक रूप में वह उन क्षेत्रों में श्रम की विकसित होती उत्पादिता का परिणाम होती है, जो पूंजी को उसके उत्पादन साधन मुहैया करते हैं, जिससे कि अगर हम कुल श्रम पर कुल पूंजी के संबंध में, न कि केवल पूंजीपति ख पर पूंजीपति क द्वारा नियोजित श्रमिकों के संबंध में विचार करें, तो यह मितव्ययिता एक बार फिर अपने को केवल इस अंतर के साथ सामाजिक श्रम की उत्पादक शक्तियों के विकास के परिणाम के रूप में प्रकट करती है कि पूंजीपति क को न केवल ख़ुद अपने ही प्रतिष्ठान में, बल्कि अन्य प्रतिष्ठानों में भी श्रम की उत्पादिता का सुलाभ प्राप्त है। फिर भी पूंजीपति अपनी स्थिर पूंजी की मितव्ययिता को अपने श्रमिकों से पूर्णतः स्वतंत्र और सर्वथा असंबद्ध अवस्था ही समझता है। तथापि इस बात को वह हमेशा बख़ूबी जानता है कि श्रमिक का मालिक के उतनी ही द्रव्य राशि से बहुत या कम श्रम ख़रीदने से सरोकार होता है (क्योंकि पूंजीपति और श्रमिक के बीच लेन-देन उसके दिमाग़ में इस तरह ही प्रकट होता है)। उत्पादन साधनों के उपयोग में यह मितव्ययिता, न्यूनतम परिव्यय से एक ख़ास परिणाम प्राप्त करने की यह पद्धति, श्रम की किसी भी अन्य आंतरिक शक्ति की अपेक्षा पूंजी की एक अंतर्निहित शक्ति और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की एक विशिष्ट तथा चारित्रिक पद्धति ही अधिक प्रतीत होती है।

यह अवधारणा कोई बहुत आश्चर्यजनक है भी नहीं, क्योंकि यह तथ्यों से मेल खाती लगती है, और क्योंकि पूंजी का रिश्ता वास्तव में घोर उदासीनता, अलहदगी और बेगानगी के पीछे वस्तुओं के उस आंतरिक संबंध को छिपा लेता है, जिसमें वे श्रमिक को उसके श्रम को समाविष्ट करनेवाले साधनों के संदर्भ में डाल देते हैं।

पहली बात, उत्पादन साधन, जो स्थिर पूंजी का निर्माण करते हैं, सिर्फ़ पूंजीपति के द्रव्य को ही प्रकट करते हैं (जैसे लेंगे के अनुसार रोमन क़र्ज़दार का शरीर उसके ऋणदाता के धन को ही प्रकट करता था*) और सिर्फ़ उससे ही संबंध रखते हैं, जबकि श्रमिक, जो सिर्फ़ उत्पादन की प्रत्यक्ष प्रक्रिया में ही उनके संपर्क में आता है, उनसे सिर्फ़ उत्पादन के उपयोग मूल्यों के नाते, श्रम साधनों और उत्पादन सामग्री के नाते ही सरोकार रखता है। अतः, उनके मूल्य के बढ़ने या घटने का पूंजीपति के साथ उसके रिश्तों से उतना ही कम संबंध होता है कि जितना इस स्थिति का कि आया वह तांबे के साथ काम कर रहा है या लोहे के साथ। प्रसंगतः, जैसा कि हम आगे चलकर दिखलायेंगे, पूंजीपति इस बात को, जब भी उत्पादन साधनों का मूल्य बढ़ जाता है और इस प्रकार उसकी लाभ दर घट जाती है, दूसरी ही नजर से देखना पसंद करता है।

---

* [Linguet] *Théorie des loix civiles, ou principes fondamentaux de la société*, tome II, Londres, 1767, livre V, chapitre XX.–सं०

दूसरी बात, जहां तक ये उत्पादन साधन पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया में साथ ही श्रम के शोषण के साधन भी होते हैं, श्रमिक का उनके आपेक्षिक महंगेपन या सस्तेपन से उसी तरह कोई वास्ता नहीं होता, जिस तरह कि घोड़े का अपनी लगाम या काठी के महंगेपन या सस्तेपन से।

अंतिम बात, हम पहले* ही देख चुके हैं कि वास्तव में श्रमिक अपने श्रम के सामाजिक स्वरूप को, एक सामान्य प्रयोजन के लिए औरों के श्रम के साथ अपने श्रम के संयोजन को, उसी नजरिये से देखता है कि जैसे वह किसी बेगानी ताक़त को देखेगा ; इस संयोजन को हासिल करनेवाली अवस्था बेगानी संपत्ति है, जिसकी बरबादी उसके लिए पूर्णतः उदासीनता की बात रही होती, बशर्ते कि वह उसके साथ किफ़ायत करने के लिए मजबूर न हुआ होता। उन कारख़ानों में स्थिति सर्वथा भिन्न होती है, जिन पर स्वयं मजदूरों का ही स्वामित्व होता है, उदाहरण के लिए, रॉचडेल में।

अतः, यह कहने की शायद ही आवश्यकता है कि जहां तक उद्योग की एक शाखा में श्रम उत्पादिता के दूसरी शाखा में उत्पादन साधनों को सस्ता करने तथा सुधारने के, और इस प्रकार लाभ दर को बढ़ाने के उत्तोलक होने की बात है, श्रमिकों को सामाजिक श्रम का सामान्य अंतर्संबंध अपने से बेगाना मामला, ऐसे मामले जैसा ही लगता है कि जिससे असल में सिर्फ़ पूंजीपति का ही सरोकार होता है, क्योंकि इन उत्पादन साधनों को जो ख़रीदता और हस्तगत करता है, वह वही है। यह तथ्य कि वह उद्योग की दूसरी शाखा के श्रमिकों के उत्पाद को अपनी शाखा के श्रमिकों के उत्पाद से ख़रीदता है, और इस प्रकार वह दूसरे पूंजीपति के श्रमिकों के उत्पाद का अपने श्रमिकों के उत्पाद को निःशुल्क हड़पकर ही निपटारा कर देता है, एक ऐसी बात है कि जो सौभाग्यवश परिचलन प्रक्रिया, आदि द्वारा छिपा ली जाती है।

इसके अलावा, बड़े पैमाने पर उत्पादन चूंकि सर्वप्रथम पूंजीवादी रूप में ही विकसित होता है, इसलिए एक ओर, लाभ की लिप्सा, और दूसरी ओर, प्रतिस्पर्धा, जो जिंसों का सस्ते से सस्ता उत्पादन करने के लिए मजबूर करती है, के कारण स्थिर पूंजी के नियोजन में यह मितव्ययिता कुछ ऐसी प्रतीत होने लगती है, मानो वह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की ही विशिष्टता है और इसलिए पूंजीपति का ही कार्य है।

जैसे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली एक ओर, सामाजिक श्रम की उत्पादक शक्तियों के विकास को बढ़ावा देती है, वैसे ही दूसरी ओर वह स्थिर पूंजी के नियोजन में मितव्ययिता के लिए भी विवश करती है।

तथापि सजीव श्रम के वाहक, श्रमिक और उसके श्रम की भौतिक अवस्थाओं के सस्ते, अर्थात विवेकपूर्ण और किफ़ायती, उपयोग के बीच सिर्फ़ बेगानगी और उदासीनता ही नहीं पैदा होतीं। अपने विरोधी और प्रतिकूल स्वरूप के अनुरूप पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली श्रमिक के जीवन तथा स्वास्थ्य के तीव्र विनाश को और उसकी निर्वाह अवस्थाओं के अवनयन को स्थिर पूंजी के उपयोग में मितव्ययिता और इस प्रकार लाभ दर को उठाने का साधन मानने लग जाती है।

चूंकि श्रमिक अपने जीवन का अधिकांश भाग उत्पादन प्रक्रिया में ही गुजारता है, इसलिए उत्पादन प्रक्रिया की अवस्थाएं बहुत हद तक उसकी सक्रिय जीवन प्रक्रिया की अवस्थाएं, अथवा

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण : खंड १, पृष्ठ ३५०। — सं०

उसकी निर्वाह अवस्थाएं होती हैं, और इन निर्वाह अवस्थाओं में मितव्ययिता लाभ दर को बढ़ाने का तरीक़ा है; जैसे हम पहले* देख चुके हैं कि अतिश्रम, श्रमिक का जांगर घोड़े में रूपांतरण, पूंजी को बढ़ाने का, अथवा बेशी मूल्य के उत्पादन को त्वरित करने का एक साधन है। इस तरह की मितव्ययिता तंग और अस्वास्थ्यकर आवासों में मज़दूरों को ठसाठस ठूंस देने, या जैसे कि पूंजीपति इस बात को कहते हैं, जगह की बचत करने; ख़तरनाक मशीनों को सुरक्षा युक्तियों का उपयोग किये बिना बहुत पास-पास लगाने, स्वास्थ्य के लिए हानिकर, या जैसे कि खनन उद्योग में होता है, ख़तरे से जुड़ी हुई उत्पादन प्रक्रियाओं में सुरक्षा नियमों की उपेक्षा करने, आदि तक चली जाती है। उत्पादन प्रक्रिया को मानवोचित, प्रिय, या कम से कम सहन योग्य बनाने के सभी प्रावधानों के अभाव का तो ज़िक्र ही क्या। पूंजीवादी दृष्टिकोण से यह सर्वथा निष्प्रयोजन और निरर्थक अपव्यय होगा। अपनी सारी कंजूसी के बावजूद पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली सामान्यतः अपनी मानव सामग्री के व्यय में कुल मिलाकर बेहद मुक्तहस्त होती है, जैसे विलोमतः वाणिज्य के ज़रिये अपने उत्पादों के वितरण के तरीक़े और प्रतिस्पर्धा के ढंग की बदौलत अपने भौतिक साधनों के व्यय में वह बहुत मुक्तहस्त है और व्यष्टि पूंजीपति को जितनी प्राप्ति कराती है, उतनी ही समाज को हानि पहुंचाती है।

जिस प्रकार यह पूंजी की प्रवृत्ति है कि वह सजीव श्रम के प्रत्यक्ष नियोजन को आवश्यक श्रम का समतुल्य बना देती है और किसी जिंस का उत्पादन करने के लिए श्रम की सामाजिक उत्पादनशीलता का समुपयोजन करते हुए आवश्यक श्रम को सदा घटाती जाती है और इस तरह प्रत्यक्षतः प्रयुक्त सजीव श्रम की अधिकतम बचत करती है, उसी प्रकार उसकी यह भी प्रवृत्ति है कि न्यूनतम बनाये गये इस श्रम का अधिकतम लाभकर अवस्थाओं में उपयोग किया जाये, अर्थात नियोजित स्थिर पूंजी के मूल्य को उसके न्यूनतम पर ले आया जाये। जिंसों के मूल्य को अगर उनमें सन्निहित समस्त श्रम काल के बजाय आवश्यक श्रम काल निर्धारित करता है, तो यह पूंजी ही है कि जो इस निर्धारण की सिद्धि करती है और, साथ ही, किसी जिंस के उत्पादन के लिए सामाजिक रूप में आवश्यक श्रम काल को लगातार घटाती जाती है। इससे जिंस की क़ीमत न्यूनतम पर पहुंच जाती है, क्योंकि उसके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम का प्रत्येक अंश भी अपने न्यूनतम पर पहुंच जाता है।

हमें स्थिर पूंजी के उपयोग के बारे में मितव्ययिता में एक भेद करना होगा। यदि नियोजित पूंजी की मात्रा, और फलतः मूल्य राशि बढ़ती है, तो यह मुख्यतया एक ही हाथ में अधिक पूंजी का संकेंद्रण मात्र होगा। तथापि स्थिर पूंजी की मितव्ययिता को यह एक ही स्रोत द्वारा प्रयुक्त अधिक मात्रा ही – सामान्यतः नियोजित श्रम की निरपेक्षतया अधिक, किंतु अपेक्षतया कम मात्रा के साथ – संभव बनाती है। व्यष्टि पूंजीपति को लें, तो पूंजी के आवश्यक निवेश का, विशेषकर उसके स्थायी अंश का परिमाण बढ़ता है। किंतु प्रयुक्त सामग्री के परिमाण और समुपयुक्त श्रम के अनुपात में उसका मूल्य घटता है।

अब इसकी कुछ उदाहरणों से संक्षिप्त व्याख्या की जायेगी। हम आख़िर से शुरू करेंगे, यानी उत्पादन की अवस्थाओं में, जिस हद तक वे भी श्रमिक की निर्वाह अवस्थाएं होती हैं, मितव्ययिता से।

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, पृष्ठ २५१-३२७। – सं०

२. श्रमिकों की क़ीमत पर श्रम की अवस्थाओं में बचत। कोयला खदानें। अपरिहार्य परिव्यय की उपेक्षा

"खदानों के पट्टेदारों और मालिकों में जो प्रतिस्पर्धा होती है, उसमें... बिलकुल ही प्रत्यक्ष शारीरिक कठिनाइयों पर पार पाने के लिए जितना काफ़ी हो, उससे अधिक परिव्यय नहीं किया जाता; और काम करनेवाले खनिकों में, जो आम तौर पर ज़रूरत से ज्यादा ही होते हैं, प्रतिस्पर्धा में अपने आसपास की कृषिजीवी आबादी से थोड़ी ही अधिक मजदूरी की ख़ातिर एक ऐसे पेशे में कि जिसमें वे अपने बच्चों का भी लाभकर उपयोग कर सकते हैं, काफ़ी ख़तरे को और अत्यंत हानिकर प्रभावों के पड़ने को भी ख़ुशी-ख़ुशी झेल लिया जायेगा। यह दुहरी प्रतिस्पर्धा बिलकुल काफ़ी है... कि जिसकी वजह से बहुत सारी खदानों में अत्यंत दोषपूर्ण जलनिकास तथा संवातन व्यवस्था के साथ, प्रायः कुयोजित कूपकों, ख़राब साज़सामान, अयोग्य इंजीनियरों, कुयोजित तथा कुनिर्मित खंडकों और सड़कों के साथ खनन किया जाता है, जिससे प्राण, अंग तथा स्वास्थ्य का विनाश होता है, जिसके आंकड़े एक दहशतनाक तसवीर पेश करेंगे।" (*First Report on Children's Employment in Mines and Collieries, etc.*, April 21, 1829, p. 102.) १८६० के आसपास इंगलैंड की कोयला खदानों में प्रति सप्ताह औसतन १५ लोग अपने प्राण गंवाया करते थे। कोयला खदान दुर्घटना रिपोर्ट (६ फ़रवरी, १८६२) के अनुसार १८५२-६१ के दस वर्षों में कुल ८,४६६ लोग मारे गये थे। किंतु रिपोर्ट स्वीकार करती है कि यह संख्या बहुत ही कम है, क्योंकि प्रारंभिक कुछ वर्षों में, जब निरीक्षक अभी नियुक्त ही किये गये थे और उनके इलाक़े बहुत बड़े-बड़े थे, बहुत सारी दुर्घटनाओं और मृत्युओं को सूचित नहीं किया जाता था। यही बात कि निरीक्षण प्रणाली की स्थापना के बाद से, और वह भी निरीक्षकों के सीमित अधिकारों और अपर्याप्त संख्या के बावजूद, दुर्घटनाओं की संख्या, चाहे वह अब भी बहुत ऊंची ही है, उल्लेखनीय रूप में कम हो गयी है, पूंजीवादी शोषण की स्वाभाविक प्रवृत्ति को प्रमाणित करती है। ये मानव बलिदान अधिकांशतः खदान मालिकों की असीमित धनलोलुपता के कारण ही होते थे। बहुत से मामलों में वे एक ही कूपक खुदवाते थे, जिससे कि अपर्याप्त संवातन के अलावा इस कूपक के रुद्ध हो जाने की स्थिति में बचाव का कोई रास्ता नहीं रहता था।

पूंजीवादी उत्पादन पर अगर परिचलन प्रक्रिया और प्रतिस्पर्धा की ज्यादतियों से अलग विचार किया जाये, तो जिंसों में समाविष्ट मूर्त श्रम के साथ वह बहुत मितव्ययी प्रतीत होता है। तथापि किसी भी अन्य उत्पादन प्रणाली की बनिस्बत यह अधिक मानव प्राणों, अथवा सजीव श्रम, का अपव्यय करता है, और सो भी कोरे हाड़-मांस ही नहीं, बल्कि बुद्धि और शक्ति का भी। सच तो यह है कि इतिहास के समाज के सचेतन पुनर्गठन के फ़ौरन पहलेवाले युग में मानवजाति के विकास को केवल वैयक्तिक विकास के घोर अनावश्यक अपव्यय के बूते पर ही बचाया और क़ायम रखा जाता है। चूंकि यहां विवेचित सारी मितव्ययिता श्रम के सामाजिक स्वरूप से ही उत्पन्न होती है, अतः वास्तव में जीवन और स्वास्थ्य के विनाश का कारण यह श्रम का प्रत्यक्षतः सामाजिक स्वरूप ही है। कारख़ाना निरीक्षक आर० बेकर द्वारा प्रस्तुत यह प्रश्न इस दृष्टि से लाक्षणिक है: "सारा प्रश्न गंभीरतापूर्वक विचार करने योग्य है और वह यह कि **सामूहिक श्रम द्वारा जनित शिशु जीवन के इस बलिदान** को बचाने का

सबसे अच्छा ढंग क्या है?" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1863*, p. 157.)

कारख़ाने। इस शीर्षक के अंतर्गत वास्तविक कारख़ानों में भी श्रमिकों की सुरक्षा, आराम और सेहत को सुनिश्चित करने के सुरक्षात्मक उपायों की उपेक्षा को लिया गया है। घायल तथा मृत औद्योगिक श्रमिकों की हताहत सूचियों के एक बहुत बड़े हिस्से का दोष इसी पर है (तुलना के लिए देखिये वार्षिक कारख़ाना रिपोर्ट)। इसी प्रकार स्थान, संवातन के अभाव, आदि पर भी।

अक्तूबर, १८५५ में ही लैनर्ड हॉर्नर ने क्षैतिज शाफ़्टों (धुरों) पर सुरक्षा युक्तियों से संबंधित क़ानूनी अपेक्षाओं के प्रति बहुत से कारख़ानेदारों के विरोध की शिकायत की थी, यद्यपि दुर्घटनाएं, और अनेक सांघातिक दुर्घटनाएं भी, ख़तरे पर लगातार ज़ोर दे रही थीं, और यद्यपि ये सुरक्षा युक्तियां कोई बहुत महंगी भी नहीं थीं और उत्पादन में बाधा नहीं डालती थीं। (*Reports of Insp. of Fact., October, 1855*, p. 6.) इन तथा अन्य क़ानूनी अपेक्षाओं के प्रति विरोध में कारख़ानेदारों का अवैतनिक जस्टिसेज़ ऑफ़ दि पीस (मजिस्ट्रेटों) द्वारा खुले तौर पर समर्थन किया जाता था, जो स्वयं अधिकतर कारख़ानेदार या कारख़ानेदारों के मित्र थे और अपने निर्णय इसके अनुरूप ही किया करते थे। ये भद्रजन किस तरह के फ़ैसले दिया करते थे, इसे वरिष्ठ न्यायाधीश कैंपबेल ने प्रकट किया था, जिन्होंने उनमें से एक के बारे में, जिसके ख़िलाफ़ उनके आगे अपील की गयी थी, कहा था: "यह पार्लियामेंट के अधिनियम का निर्वचन नहीं, पार्लियामेंट के अधिनियम का निरसन है" (उद्धृत अंश, पृ० ११)। हॉर्नर इसी रिपोर्ट में कहते हैं कि बहुत से कारख़ानों में मज़दूरों को मशीनों के चालू किये जाते समय चेतावनी नहीं दी जाती है। चूंकि मशीनों के साथ तब भी हमेशा कुछ न कुछ करने को रहता ही है कि जब वे चालू नहीं भी होती हैं, इसलिए उनके साथ उंगलियां और हाथ हमेशा ही लगे रहते हैं और मात्र चेतावनी के संकेत की उपेक्षा के कारण दुर्घटनाएं निरंतर होती ही रहती हैं (उद्धृत अंश, पृ० ४४)। कारख़ाना विधानों का विरोध करने के लिए उस समय कारख़ानेदारों का एक व्यवसाय संघ था – मैंचेस्टर का तथाकथित राष्ट्रीय कारख़ाना क़ानून संशोधन संघ, जिसने अपने सदस्यों के ख़िलाफ़ कारख़ाना निरीक्षकों द्वारा शुरू की गयी अदालती कारंवाइयों का ख़र्चा पूरा करने के लिए और संघ के नाम पर मुक़दमे लड़ने के लिए प्रति अश्व शक्ति २ शिलिंग लगाकर मार्च, १८५५ में ५०,००० पाउंड से अधिक जमा किये थे। यह इस बात को साबित करने का मामला था कि जान से मारना क़त्ल नहीं है,* जब ऐसा मुनाफ़े की ख़ातिर होता है। स्कॉटलैंड के एक कारख़ाना निरीक्षक, सर जॉन किनकैड, ग्लासगो की एक फ़र्म के बारे में बतलाते हैं, जिसने कुल ९ पाउंड १ शिलिंग के ख़र्च से अपनी सारी मशीनों के लिए रक्षा आवरण बनाने के वास्ते अपने कारख़ाने में रद्दी लोहे का इस्तेमाल किया था। कारख़ानेदार संघ में शामिल होने के लिए अपनी ११० अश्व शक्ति के लिए उस पर ११ पाउंड लगते, जो उसके सारे ही रक्षा साधनों की क़ीमत से अधिक था। लेकिन राष्ट्रीय संघ तो १८५४ में इस तरह के आवरण को विहित करनेवाले क़ानून का विरोध करने के निश्चित उद्देश्य से ही संगठित किया गया था। कारख़ानेदारों ने १८४४ से लेकर १८५४ की पूरी अवधि में उसकी तरफ़ लेश मात्र भी ध्यान नहीं दिया था। कारख़ाना निरीक्षकों ने जब पामर्स्टन के आदेश पर कारख़ानेदारों को सूचित किया कि क़ानून को गंभीरतापूर्वक लागू किया जायेगा, तो कारख़ानेदारों ने तुरंत अपने संघ की स्थापना कर डाली, जिसके सर्वप्रमुख सदस्यों में से कई ख़ुद जस्टिस ऑफ़ दि पीस थे और

---

* यहां संकेत *Killing no Murder* नामक एक पुस्तिका की ओर है, जो इंगलैंड में १६५७ में छपी थी। उसके लेखक एडवर्ड सैक्सबी थे। – सं०

इस हैसियत से जिनसे इस क़ानून को लागू करने की अपेक्षा की जाती थी। जब अप्रैल, १८५५ में नये गृह मंत्री सर जॉन ग्रे ने एक समझौता प्रस्तावित किया, जिसके तहत सरकार असल में नाममात्र सुरक्षा साधनों से भी संतुष्ट हो जाती, तो संघ ने इस तक को नाराजगी के साथ ठुकरा दिया। प्रसिद्ध इंजीनियर विलियम फ़ेअरबेअर्न ने मितव्ययिता के सिद्धांत की पुश्त में और पूंजी की स्वतंत्रता की रक्षा में, जिसका अतिक्रमण हुआ था, विभिन्न मुक़दमों में अपनी धाक का ज़ोर लगा दिया। कारख़ाना निरीक्षण के प्रधान, लैनर्ड हॉर्नर, को कारख़ानेदारों द्वारा हर संभव तरीक़े से सताया और बदनाम किया गया।

कारख़ानेदार तभी जाकर चैन से बैठ सके, जब उन्होंने कोर्ट ऑफ़ क्वीन्स बैंच से एक समादेश प्राप्त कर लिया, जिसके अनुसार १८४४ का क़ानून ज़मीन से सात फ़ुट से अधिक ऊंचाई पर लगाये गये क्षैतिज शाफ़्टों के लिए रक्षात्मक युक्तियां विहित नहीं करता था, और अंत में, १८५६ में, उन पाक रूहों में से, जिनका मज़हब का दिखावा थैली के सूरमाओं के किए कुत्सित कार्य करने को सत्वर तत्पर रहता है, एक धर्मांध विलसन पैटन की सेवाओं के ज़रिये पार्लियामेंट का एक ऐसा अधिनियम प्राप्त करने में सफलता पा ली कि जो इन परिस्थितियों में उनके लिए पूर्णतः संतोषजनक था। इस अधिनियम ने मजदूरों को लगभग सभी विशेष सुरक्षाओं से वंचित कर दिया और औद्योगिक दुर्घटनाओं की हालत में मुआवज़े के लिए उन्हें आम अदालतों के सुपुर्द कर दिया (इंगलैंड में मुक़दमों के अतिशय व्यय के दृष्टिगत यह शुद्ध मज़ाक़ था), जबकि बढ़िया इबारतवाले एक वाक्यांश में विशेषज्ञ साक्ष्य का प्रावधान करके उसने कारख़ानेदारों के लिए मुक़दमा हारना लगभग असंभव बना दिया। इसका परिणाम दुर्घटनाओं में तीव्र वृद्धि था। निरीक्षक बेकर ने सूचना दी कि पूर्ववर्ती आधे साल की तुलना में मई से अक्तूबर, १८५८ के छः महीनों में दुर्घटनाओं में २१% की वृद्धि हुई। उनकी राय में इन दुर्घटनाओं में से ३६.७०% को रोका जा सकता था। यह सही है कि १८५८ और १८५९ में दुर्घटना संख्या १८४५ और १८४६ से काफ़ी कम थी। वह वास्तव में २९% कम थी, जबकि निरीक्षण के अधीन उद्योगों में मजदूरों की संख्या २०% बढ़ गयी थी। लेकिन इसका कारण क्या था? यह देखते हुए कि मामला अब तय हो गया है (१८६५), इसकी सिद्धि मुख्यतः पहले से ही सुरक्षा युक्तियों से युक्त मशीनों के प्रचलन के ज़रिये हुई थी, जिनका कारख़ानेदार विरोध नहीं करता था, क्योंकि उनके लिए उसे कोई अतिरिक्त ख़र्च नहीं करना पड़ता था। इसके अलावा, कुछ मजदूर अपनी कटी हुई बांहों के लिए भारी हरजाने पाने में सफल रहे और इस निर्णय की उच्चतम न्यायालयों में भी पुष्टि करवाने में कामयाब रहे। (*Reports of Insp. of Fact., April 30, 1861*, p. 31, ditto April, 1862, p. 17.)

मशीनों को उपयोग में लाने और चलाने में निहित ख़तरों से मजदूरों (जिनमें बहुत से बच्चे भी होते हैं) के प्राण और अंगों की रक्षा करनेवाली युक्तियों में मितव्ययिता के बारे में इतना ही काफ़ी है।

सामान्यतः बंद जगहों में काम। यह सुविदित है कि जगह की, और इस तरह इमारतों की, मितव्ययिता किस तरह मजदूरों को सीमित स्थान में ठूंस देती है। इसके अलावा, संवातन साधनों में भी किफ़ायत की जाती है। लंबे कार्य घंटों के साथ-साथ ये दोनों कारक श्वसनांग रोगों में बहुत वृद्धि करते हैं और इसके कारण मृत्यु दर में वृद्धि करते हैं। निम्नलिखित उदाहरण लोक स्वास्थ्य पर रिपोर्ट, छठी रिपोर्ट, १८६३ से लिये गये हैं। यह रिपोर्ट डाक्टर जॉन साइमन ने तैयार की थी, जिनसे पाठक हमारी पहली पुस्तक से ही परिचित हैं।

जिस प्रकार श्रम का संयोजन और सहयोग मशीनों के बड़े पैमाने पर नियोजन, उत्पादन साधनों के संकेंद्रण, और उनके किफ़ायती उपयोग को संभव बनाता है, उसी प्रकार यह सामूहिक रूप में बंद जगहों में और ऐसी अवस्थाओं में कि जो स्वास्थ्य की अपेक्षाओं की बनिस्बत उत्पादन की सुविधा से ही अधिक निर्धारित होती हैं, साथ-साथ काम करना ही है, यानी एक ही कार्यशाला में यह सामूहिक संकेंद्रण ही है कि जो एक ओर, पूंजीपति के लिए अधिक मुनाफ़ों के स्रोत का, और दूसरी ओर, श्रमिकों के प्राणों और स्वास्थ्य के अपव्यय का कारण होता है, बशर्ते कि उसे घंटों की कम संख्या और विशेष पूर्वोपायों से प्रतिकृत न किया जाये।

डा० साइमन निम्न नियम सूत्रित करते हैं और उसकी प्रचुर आंकड़ों से पुष्टि करते हैं: "किसी ज़िले के लोग जिस अनुपात में किसी भी सामूहिक अंत:शाल रोजगार की ओर खिंचते हैं, अन्य बातें समान रहने पर उसी अनुपात में फुप्फुस रोगों से ज़िलावार मृत्यु दर बढ़ जायेगी" (पृ० २३)। इसका कारण ख़राब संवातन है। "और संभवत: सारे इंगलैंड में इस नियम का कोई अपवाद नहीं है कि हर ऐसे ज़िले में, जिसमें कोई बड़ा अंत:शाल उद्योग है, श्रमजीवियों की बढ़ी हुई मृत्यु संख्या ऐसी है कि सारे ज़िले के मृत्यु विवरण पर फुप्फुस रोग के सुस्पष्ट आधिक्य की छाप लगा देती है" (पृ० २३)।

बंद जगहों में चलाये जानेवाले उद्योगों के लिए स्वास्थ्य मंडल द्वारा १८६० और १८६१ में एकत्रित मृत्यु दर के आंकड़े यह दिखलाते हैं कि १५ और ५५ की आयु के बीच के पुरुषों की उतनी ही संख्या के लिए, जिसके लिए इंगलैंड के कृषिजीवी ज़िलों में क्षय तथा अन्य फुप्फुस रोगों से मृत्यु दर १०० है, कॉवेंटरी में मृत्यु दर १६३, ब्लैकबर्न और स्किप्टन में १६७, कांग्लेटन और ब्रैडफ़ोर्ड में १६८, लीसेस्टर में १७१, लीक में १८२, मैकल्ज़फ़ील्ड में १८४, बोल्टन में १६०, नॉटिंघम में १६२, रॉचडेल में १६३, डर्बी में १६८, सैलफ़ोर्ड और ऐश्टन-अंडर-लीन में २०३, लीड्स में २१८, प्रैस्टन में २२०, और मैंचेस्टर में २६३ है (पृ० २४)। निम्न तालिका और भी अधिक प्रभावोत्पादक उदाहरण प्रस्तुत करती है। [अगला पन्ना देखें। –सं०]

यह हर १,००,००० आबादी के पीछे १५ और २५ की आयुओं के बीच स्त्री-पुरुषों, दोनों की फुप्फुस रोगों से मृत्यु दर को अलग-अलग दिखलाती है। चुने हुए ज़िलों में सिर्फ़ स्त्रियां ही बंद जगहों में चलाये जानेवाले उद्योगों में काम पर रखी जाती हैं, जबकि पुरुष अन्य सभी संभव शाखाओं में काम करते हैं।

रेशम उद्योग के ज़िलों में, जहां कारख़ानों में ज़्यादा पुरुष काम करते हैं, उनकी मृत्यु दर भी ऊंची है। जैसे रिपोर्ट कहती है, स्त्री-पुरुष दोनों ही की क्षय, आदि से मृत्यु दर यह प्रकट करती है कि "हमारा अधिकांश रेशम उद्योग कैसी बीभत्स स्वास्थ्य अवस्थाओं में चलाया जाता है"। और यह इस रेशम उद्योग में ही है कि कारख़ानेदारों ने अपने प्रतिष्ठानों में असाधारणत: अनुकूल स्वास्थ्य अवस्थाओं की दुहाई देते हुए १३ साल से कम उम्र के बच्चों के लिए अपवादस्वरूप लंबे कार्य घंटों की मांग की थी और अंशत: हासिल भी कर ली थी (Buch I, Kap. VIII, 6, S. 296/286)*

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: अध्याय १०, ६, पृष्ठ ३१७। –सं०

ज़िला	मुख्य उद्योग	प्रति १ लाख आबादी के पीछे १५ से २५ की आयु के बीच फुफ्फुस रोगों से मृत्युएं	
		पुरुष	स्त्रियां
बर्कहैंपस्टीड	पुआल बुनाई (स्त्रियां)	२१९	५७८
लेटन बुज़र्ड	पुआल बुनाई (स्त्रियां)	३०९	५५४
न्यूपोर्ट पैंग्नल	लेस बनाना (स्त्रियां)	३०१	६१७
टोसैस्टर	लेस बनाना (स्त्रियां)	२३९	५७७
योविल	दस्ताने बनाना (अधिकतर स्त्रियां) . . .	२८०	४०९
लीक	रेशम उद्योग (मुख्यतः स्त्रियां)	४३७	८५६
कांग्लेटन	रेशम उद्योग (मुख्यतः स्त्रियां)	५६६	७९०
मैकल्ज़फ़ील्ड	रेशम उद्योग (मुख्यतः स्त्रियां)	५९३	८९०
स्वस्थ देहाती इलाक़ा	कृषि	३३१	३३३

"संभवतः अब तक जांचा गया कोई भी उद्योग उससे ज़्यादा ख़राब तसवीर नहीं पेश करता कि जो डा० स्मिथ सिलाई उद्योग की देते हैं: 'कार्यशालाओं में स्वास्थ्य अवस्थाओं में काफ़ी अंतर है, लेकिन लगभग सर्वतः वे बेहद भीड़भरी और कुसंवातित हैं और स्वास्थ्य के लिए बहुत प्रतिकूल हैं... ऐसे कमरे अनिवार्यतः गरम होते हैं, लेकिन जब गैस जला दी जाती है, जैसे कुहरीले दिनों में दिन के समय और सरदियों में रात के समय, तो गरमी बढ़कर ८०° और ९०° के भी ऊपर पहुंच जाती है, जिसके कारण बेहद पसीना आता है और भाप खिड़कियों के कांचों पर जम जाती है, जिससे वह छत से धारों या बूंदों में बहने लगती है और काम करने-वालों को कुछ खिड़कियों को खुला रखना पड़ता है, चाहे उससे उनके ठंड खा जाने का कितना भी ख़तरा क्यों न हो।' और वैस्ट एंड की सबसे महत्वपूर्ण कार्यशालाओं में से १६ में उन्होंने जो पाया, उसका वह यह विवरण देते हैं: 'इन कुसंवातित कमरों में प्रत्येक काम करनेवाले को प्राप्य अधिकतम घन अवकाश २७० फ़ुट और न्यूनतम १०५ फ़ुट है, और समूचे तौर पर औसतन सिर्फ़ १५६ फ़ुट प्रति आदमी है। एक कमरे में, जिसके चारों ओर एक गलियारा है और रोशनी सिर्फ़ छत से आती है, ९२ से १०० के ऊपर आदमी काम करते हैं; वहां कई गैस लाइटें जलती हैं, एकदम पड़ोस में मूत्रालय हैं और घन अवकाश १५० फ़ुट प्रति आदमी से अधिक नहीं है। एक और कमरे में, जिसे सिर्फ़ अहाते का कुत्ताघर ही कहा जा सकता है, रोशनी छत से जाती है और हवा एक छोटे से रोशनदान से ही आती-जाती है, ११२ घन फ़ुट प्रति आदमी अवकाश में पांच से छः लोग काम करते हैं।' ...इन बीभत्स कार्यशालाओं में, जिनका डा० स्मिथ वर्णन करते हैं, दरज़ी आम तौर पर कोई १२ या १३ घंटे रोज़ काम करते हैं, और कभी-कभी तो काम १५ या १६ घंटे होता रहेगा" (पृष्ठ २५, २६, २८)।

काम करनेवालों की संख्या	उद्योग शाखा और ज़िला	प्रति १,००,००० के पीछे आयुवार मृत्यु दर		
		२५-३५	३५-४५	४५-५५
९,५८,२६५	कृषि, इंगलैंड तथा वेल्स	७४३	८०५	१,१४५
२२,३०१ पुरुष तथा १२, ३७७ स्त्रियां	सिलाई, लंदन	९५८	१,२६२	२,०९३
१३, ८०३	कंपोज़ीटर तथा मुद्रक, लंदन	८९४	१,७४७	२,३६७

यह ध्यान में रखना चाहिए, और चिकित्सा विभाग के प्रधान तथा रिपोर्ट के लेखक, जॉन साइमन, ने वास्तव में कहा भी है कि २५ और ३५ की उम्रों के बीच लंदन के दरज़ियों, कंपोज़ीटरों और मुद्रकों के लिए मृत्यु दर वास्तविक आंकड़ों से कम दी गयी है, क्योंकि व्यवसाय की दोनों ही शाखाओं में लंदन के नियोजकों के यहां बड़ी संख्या में देहात के नौजवान (संभवतः ३० साल उम्र तक के) शागिर्दों और "नौसिखुओं" की, अर्थात अतिरिक्त प्रशिक्षण पा रहे लोगों की, हैसियत से काम करते हैं। ये उन कामगारों की तादाद बढ़ा देते हैं, जिन पर लंदन की औद्योगिक मृत्यु दरें अभिकलित की जाती हैं। लेकिन वे लंदन में मृत्युओं की संख्या में यथानुपात योगदान नहीं करते, क्योंकि उनका निवास वहां अस्थायी ही होता है। अगर वे इस बीच बीमार पड़ते हैं, तो वे देहात में अपने घर लौट आते हैं, जहां अगर वे मर जाते हैं, तो उनकी मौत पूंजीकृत हो जाती है। यह स्थिति कम आयु को और भी अधिक प्रभावित करती है और स्वास्थ्य पर उद्योग के दुष्प्रभावों के सूचकों के नाते इन आयु समूहों में मृत्यु दरों को पूर्णतः निरर्थक बना देती है (पृष्ठ ३०)।

कंपोज़ीटरों की बात दरज़ियों जैसी ही है। संवातन के अभाव, विषाक्त हवा, आदि के अलावा अभी रात्रि कार्य का भी उल्लेख करना है। उनका नियमित कार्य समय १२ से १३, कभी-कभी १५ से १६ घंटे होता है। "जब गैस-जेट जला दिये जाते हैं, तो सख़्त गरमी और बदबू फैल जाती है... अक्सर ऐसा होता है कि नीचेवाले कमरे से फ़ाउंड्री का धूआं और वाष्प, मशीनों या हौदियों की बदबू उठकर ऊपरवाले कमरे में पहुंच जाते हैं और वहां की बुरी हालतों को और भी बुरी बना देते हैं। नीचेवाले कमरों की गरम हवा हमेशा ऊपरवाले कमरों के फ़र्श को भी तपा देती है, और जब कमरे कम ऊंचे होते हैं और गैस ज्यादा इस्तेमाल होती है, तो यह एक गंभीर संकट हो जाता है, जिससे ज्यादा संकट सिर्फ़ ऐसी ही हालत में हो सकता है कि अगर नीचेवाले कमरे में भाप के बायलर भी रखे हों और वे सारे ही मकान को अनचाही गरमी प्रदान करते हों... सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि सभी जगह संवातन दोषपूर्ण होता है, और शाम को तथा रात के समय गैस के दहन की गरमी और उत्पादों को निष्कासित करने के लिए बिलकुल अपर्याप्त होता है, और बहुत से कार्यालयों में, और ख़ासकर रिहायशी मकानों से परिणत किये गये कार्यालयों में, स्थिति अत्यंत शोचनीय है... और कुछ कार्यालयों में (विशेषकर साप्ताहिक अख़बारों के) एक साथ दो दिन और एक रात की अविराम अवधि में लगातार काम होता रहेगा – और काम भी ऐसा कि जिसमें १२ और १३ साल की

उम्र के बीच के बच्चे भी समान भाग लेते हैं; जबकि दूसरे मुद्रण कार्यालयों में, जो अपने को 'तात्कालिक' काम के लिए तैयार रखते हैं, रविवार भी कामगार को कोई आराम नहीं देता और उसके कार्य दिवस सप्ताह में छः के बजाय सात हो जाते हैं" (पृष्ठ २६, २८)।

कार्याधिक्य के संदर्भ में जनाने टोप और पोशाकें बनानेवालियां पहली पुस्तक (Kap. VIII, 3, S. 249/241)* में पहले ही हमारा ध्यान आकर्षित कर चुकी हैं। हमारी रिपोर्ट में उनकी कार्यशालाओं का वर्णन डा० ओर्ड ने किया है। दिन के समय अगर वे बेहतर भी हों, तो भी गैस के जलाये जाने के घंटों में वे अत्यधिक गरम, बदबूदार और अस्वास्थ्यकर हो जाती हैं। डा० ओर्ड ने बेहतर क़िस्म की ३४ कार्यशालाओं में पाया कि प्रति कामगार औसत घन फ़ुट संख्या इस प्रकार थी: "...चार मामलों में ५०० से अधिक, चार अन्य मामलों में ४०० से ५००... सात अन्य में २०० से २५०, चार औरों में १५० से २००, और नौ अन्य में सिर्फ़ १०० से १५०। इनमें से अधिकतम अवकाश भी, अगर वह पूर्णतः संवातित नहीं है, निरंतर कार्य के लिए नाकाफ़ी होगा, और, असामान्य संवातन के बिना, उसका वातारण गैस की रोशनी के समय साधारणतः काफ़ी स्वास्थ्यकर न होगा।" और यहां डा० ओर्ड की एक बिचौलिये द्वारा चलायी जानेवाली एक छोटी कार्यशाला के बारे में उक्ति है, जिसमें वह गये थे: "घन फ़ुटों में एक कमरे का रक़बा – १,२८०; उपस्थित लोग – १४; प्रत्येक के पीछे रक़बा, घन फ़ुटों में, ६१.५। यहां स्त्रियां देखने में भी निढाल और फटेहाल थीं; बताया गया कि उनकी आय ७ शिलिंग से १५ शिलिंग प्रति सप्ताह थी और उसके साथ चाय भी... काम के घंटे सुबह ८ बजे से शाम के ८ बजे तक। जिस छोटे से कमरे में ये १४ लोग ठुंसे हुए थे, वह कुसंवातित था। उसमें दो सरकाऊ खिड़कियां और एक अंगीठी थी, लेकिन अंगीठी अवरुद्ध की हुई थी और किसी प्रकार का कोई विशेष संवातन न था" (पृष्ठ २७)।

जनाना टोप और पोशाकें बनानेवालियों के कार्याधिक्य के सिलसिले में यही रिपोर्ट कहती है: "...फ़ैशनेबुल पोशाकें बनानेवाले प्रतिष्ठानों में युवतियों का अतिशय कार्य साल में कोई चार महीने से अधिक उसी भयानक मात्रा में नहीं चलता है, जिसने कई अवसरों पर क्षणिक सार्वजनिक आश्चर्य और आक्रोश उत्पन्न किया है; लेकिन भीतर काम करनेवालियों के लिए यह इन महीनों में, सामान्यतः, पूरे १४ घंटे रोज होगा, और, जब दबाव होगा, तो लगातार कई-कई दिन तक १७ या १८ घंटे का भी होगा। साल के दूसरे वक़्तों में भीतर काम करने-वालियों का काम संभवतः १० से १४ घंटे का होता है, और बाहर काम करनेवालियों का हमेशा ही १२ से १३ घंटे का। मेंटल बनानेवालियों, कालर बनानेवालियों, क़मीज बनाने-वालियों और सिलाई का काम करनेवालियों के अन्य विभिन्न वर्गों (सिलाई मशीनों पर काम करनेवालियों सहित) के लिए साझी कार्यशाला में व्यतीत किया जानेवाला समय कम होता है – आम तौर १० से १२ घंटे से अधिक नहीं"; लेकिन, डा० ओर्ड कहते हैं: "कुछेक वक़्तों पर काम के नियमित घंटों का कुछेक प्रतिष्ठानों में अतिरिक्त वेतन के लिए अतिरिक्त घंटे काम करने की प्रथा द्वारा, और दूसरे प्रतिष्ठानों में काम को कारबार के स्थानों से घर ले जाकर काम के घंटों के बाद करने की प्रथा द्वारा काफ़ी प्रसार किया जा सकता है, और यह जोड़ा जा सकता है कि दोनों ही प्रथाएं प्रायः अनिवार्य होती हैं" (पृष्ठ २८)।

जॉन साइमन इस पृष्ठ पर एक पादटिप्पणी में टीका करते हैं: "महामारीविज्ञान समाज

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: अध्याय १०, ३, पृष्ठ २७५-७७। – सं०

के अवैतनिक सचिव, ...मिस्टर रैडक्लिफ़ ने... व्यवसाय के प्रथम श्रेणी के प्रतिष्ठानों में काम करनेवाली युवतियों से पूछताछ करने के कुछ असामान्य अवसर प्राप्त होने पर... पता चलाया है कि जांची गयी उन बीस लड़कियों में से, जो अपने को 'बिलकुल ठीक' बताती थीं, केवल एक के स्वास्थ्य की अवस्था को ही अच्छी कहा जा सकता था; शेष घटी हुई शारीरिक शक्ति, तंत्रिका क्लांति, और उन पर आधारित अनेक कार्यात्मक विकारों के प्रमाणों को विभिन्न मात्राओं में प्रकट करती थीं। वह इन अवस्थाओं का कारण सबसे पहले काम के घंटों की दीर्घता – जिसका न्यूनतम उनके अनुमान के अनुसार ग़ैर-सीज़न में १२ घंटे हर दिन है; और दूसरे... कार्यकक्षों में भीड़ और ख़राब संवातन, गैस-धूम, भोजन की अपर्याप्तता अथवा ख़राब क़िस्म, और घरेलू आराम की उपेक्षा बतलाते हैं।"

आंग्ल स्वास्थ्य मंडल के प्रधान जिस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, वह यह है कि "कामगारों के लिए उसका आग्रह कर पाना वस्तुतः असंभव है, जो सिद्धांततः उनका पहला स्वास्थ्यरक्षा अधिकार है – यह अधिकार कि उनका नियोजक उन्हें जो भी काम करने के लिए जुटाता है, उसे, जहां तक वह उस पर निर्भर करता है, उसकी क़ीमत पर सभी अनावश्यक रूप में अस्वास्थ्यकर अवस्थाओं से वियुक्त कर दिया जायेगा... जहां कामगार ख़ुद स्वास्थ्य की इस व्यवस्था को लागू करवाने में तो वस्तुतः असमर्थ होते ही हैं, वहां वे (क़ानून की कल्पित इच्छाओं के बावजूद) कंटक निराकरण अधिनियमों के नियुक्त प्रशासकों से कोई कारगर सहायता पाने की अपेक्षा भी नहीं कर सकते" (पृष्ठ २६)। "बेशक यह निर्धारित करने में कोई मामूली सी प्राविधिक कठिनाई हो सकती है कि ठीक किस सीमा तक नियोजक विनियम के अधीन आयेंगे। लेकिन... सिद्धांततः, स्वास्थ्य संबंधी दावा सार्विक है। और लाखों श्रमजीवी स्त्री-पुरुषों के हितों में, जिनकी ज़िंदगियां इस समय मात्र उनके नियोजन से जनित असीमित शारीरिक संताप से अनावश्यक रूप में आक्रांत होती और घटती हैं, मैं अपनी यह आशा प्रकट करने की जुर्रत करूंगा कि श्रम की स्वास्थ्य परिस्थितियां, कम से कम इस सीमा तक सर्वतः क़ानून के समुचित प्रावधानों के अंतर्गत ले आयी जायेंगी कि सभी अंतःशाल कार्यस्थलों का कारगर संवातन सुनिश्चित किया जा सके और प्रत्येक स्वाभाविकतया अस्वास्थ्यकर व्यवसाय में विशिष्ट स्वास्थ्य-घाती प्रभाव को यथासंभव कम किया जा सके" (पृष्ठ ३१)।

३. शक्ति के जनन तथा संचरण में और इमारतों में मितव्ययिता

अपनी अक्तूबर, १८५२ की रिपोर्ट में एल० हॉर्नर वाष्प-घन के आविष्कारक, पैट्रीक्राफ़्ट के प्रसिद्ध इंजीनियर जेम्स नैस्मिथ के पत्र का उल्लेख करते हैं, जिसमें और बातों के अलावा यह कहा गया है:

"...जनसाधारण को चालन शक्ति में आयी उस ज़बरदस्त वृद्धि का ज़्यादा अहसास नहीं है, जो मेरा पद्धति के जिन परिवर्तनों और सुधारों से (वष्प इंजनों के) आशय है, उनसे हासिल की गयी है। इस ज़िले (लंकाशायर) की इंजन शक्ति लगभग चालीस साल साहसहीन और पूर्वाग्रहग्रस्त परंपराओं के हौवे के नीचे दबी पड़ी रही, लेकिन अब हम सौभाग्यवश इससे मुक्त हो गये हैं। पिछले पंद्रह वर्षों में, लेकिन ख़ासकर पिछले चार वर्षों के दौर में (१८४८ से), द्रवणी वाष्प

इंजनों की संचालन पद्धति में बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गये हैं... इसका परिणाम बिलकुल वैसे ही इंजनों द्वारा किये जानेवाले कार्य की कहीं अधिक मात्रा की सिद्धि रहा है, और वह भी ईंधन के ख़र्च की ख़ासी कमी के साथ... उपरोक्त ज़िलों के कल-कारख़ानों में वाष्प शक्ति के प्रचलन के कई साल बाद जिस वेग से द्रवणी वाष्प इंजनों को चलाना सही समझा जाता था, वह उसके पिस्टन का लगभग २२० फ़ुट प्रति मिनट चलना था, अर्थात ५ फ़ुट स्ट्रोकवाले इंजन के लिए 'नियमतः' क्रैंकशाफ़्ट के २२ घूर्णनों की ही अनुमति थी। इंजन को इस चाल से ज्यादा तेज़ चलाना विवेकपूर्ण अथवा वांछनीय नहीं समझा जाता था; और चूंकि सारी कारख़ाना सज्जा... पिस्टन की इस २२० फ़ुट प्रति मिनट चाल के उपयुक्त ही बनायी जाती थी, इसलिए इस मंद और हास्यास्पद रूप में सीमित वेग ने ही वर्षों इस तरह के इंजनों के चलने को शासित किया। लेकिन, आख़िर, या तो 'नियम' के सुखद अज्ञान के कारण, या किसी साहसी नवाचारक की समझदारी की बदौलत ज्यादा रफ़्तार आज़मायी गयी, और चूंकि परिणाम बहुत अनुकूल था, इसलिए औरों ने भी, जैसे कि कहा जाता है, 'इंजन को निर्बाध चलने' देकर, यानी कारख़ाना सज्जा के प्रथम गतिसंचार पहियों के आकार को इस तरह बदलकर उदाहरण का अनुकरण किया कि जिससे इंजन ३०० फ़ुट प्रति मिनट और उससे भी ज़्यादा रफ़्तार पर चले, जबकि कारख़ाना सज्जा को आम तौर पर अपनी पहली रफ़्तार पर ही रहने दिया गया... इस 'इंजन को निर्बाध चलने' देने के फलस्वरूप इंजनों का लगभग सार्विक 'त्वरण' हुआ है, क्योंकि यह सिद्ध हुआ कि न सिर्फ़ वैसे ही इंजनों से प्राप्य शक्ति ही बढ़ती है, बल्कि चूंकि इंजन का उच्चतर वेग गतिपालक पहिये में अधिक संवेग उत्पन्न करता था, इसलिए गति को भी कहीं अधिक नियमित पाया गया... हम वाष्प इंजन से महज़ उसके पिस्टन को अधिक वेग से चलने देकर (द्रवणित्र में वाष्प तथा निर्वात दाब के उतना ही रहते हुए) अधिक शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार, मिसाल के लिए, मान लीजिये कि कोई ख़ास इंजन तब ४० अश्व शक्ति उत्पन्न करता है, जब उसका पिस्टन २०० फ़ुट प्रति मिनट पर चलता होता है, अब अगर समुचित व्यवस्था अथवा सुधार से हम इसी इंजन को ऐसी चाल से चलने दें कि उसका पिस्टन अवकाश में ४०० फ़ुट प्रति मिनट पर चले (जैसा कि पहले कहा गया है, वाष्प तथा निर्वात दाब उतना ही रहता है), तो हमारे पास ठीक दुगुनी शक्ति होगी; और चूंकि भाप और निर्वात का दाब दोनों ही मामलों में उतना ही रहता है, इसलिए इस इंजन के पुरज़ों पर तनाव पिस्टन की २०० की बनिस्बत ४०० फ़ुट चाल पर अधिक न होगा, जिससे 'विभंग' का ख़तरा चाल के बढ़ने के साथ कोई बहुत नहीं बढ़ जाता। सारा फ़र्क़ यही है कि ऐसे मामले में हम भाप का पिस्टन की चाल के यथानुपात, अथवा लगभग उतना ही, व्यय करेंगे; और 'brasses', यानी रगड़ खानेवाले पुरज़ों की टूट-फूट में थोड़ी सी बढ़ती होगी, लेकिन इतनी कम कि शायद ही ध्यान देने लायक़ हो... लेकिन उसी इंजन से उसके पिस्टन को उच्चतर वेग से चलने देकर शक्ति की वृद्धि हासिल करने के लिए यह आवश्यक है कि उसी बायलर के नीचे प्रति घंटा ज्यादा कोयला जलाया जाये, या अधिक वाष्पन क्षमता के बायलरों का, अर्थात अधिक वाष्पजनक बायलरों का उपयोग किया जाये। अतः यह किया गया, और पुराने 'त्वरित' इंजनों को अधिक वाष्पजनक अथवा जलवाष्पन शक्ति के बायलर प्रदान किये गये, और ऊपर बताये गये जैसे परिवर्तनों से कई मामलों में उन्हीं इंजनों से १०० प्रतिशत अधिक कार्य करवाया गया। कोई दस साल हुए कि कार्नवाल के खनन कार्यों में प्रयुक्त इंजनों द्वारा शक्ति का असाधारणतः सस्ता उत्पादन ध्यान खींचने लगा; और चूंकि कताई व्यवसाय में प्रतिस्पर्धी कारख़ानेदारों को मुनाफ़ों

के मुख्य स्रोत के रूप में 'बचत' की ओर देखने के लिए विवश कर रही थी, इसलिए प्रति अश्व शक्ति प्रति घंटा कोयले की खपत में कोर्निश इंजनों द्वारा प्रदर्शित अपूर्व अंतर और वूल्फ़ के दो-सिलिंडरी इंजनों का असाधारणत: मितव्ययितापूर्ण कार्य भी ईंधन की बचत के सिलसिले में इस ज़िले में अधिक ध्यान खींचने लगे, और चूंकि कोर्निश और दो-सिलिंडरी इंजन प्रति घंटा हर ३ १/२ से ४ पाउंड कोयले पर एक अश्व शक्ति देते थे, जबकि अधिकांश सूती कारख़ाना इंजन प्रति अश्व शक्ति प्रति घंटा ८ या १२ पाउंड की खपत कर रहे थे, इतने असाधारण अंतर ने इस ज़िले में कारख़ानेदारों और इंजन निर्माताओं को वैसे ही उपाय अपनाकर ऐसे असाधारण आर्थिक परिणाम पाने का प्रयास करने के लिए प्रेरित किया कि जैसे कार्नवाल और फ़्रांस में सामान्य सिद्ध हो चुके थे, जहां कोयले के ऊंचे दामों ने कारख़ानेदारों को अपने प्रतिष्ठानों के इतने ख़र्चीले विभागों पर ज़्यादा कड़ा ध्यान रखने के लिए मजबूर कर दिया था। ईंधन की मितव्ययिता की तरफ़ यह बढ़ा हुआ ध्यान कई बातों में अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। सबसे पहले तो उन बहुत से बायलरों को, जिनकी आधी सतह भारी मुनाफ़ों के पुराने ख़ुशहाल ज़माने में ठंडी हवा के आगे बिलकुल खुली छोड़ दी जाया करती थी, नमदे के मोटे कंबलों और ईंट और पलस्तर से और दूसरे तरीक़ों और साधनों से ढंका जाने लगा, ताकि उनकी खुली सतह से उस गरमी के निकल जाने को रोका जा सके, जिसे क़ायम रखने के लिए इतना ईंधन ख़र्च करना पड़ता था। वाष्प पाइपों को भी इसी तरह 'संरक्षित' किया जाने लगा और इंजन के सिलिंडर के बाहरी हिस्से को भी इसी तरह नमदे से ढंका और लकड़ी के आवरण में बंद किया जाने लगा। इसके बाद 'उच्च वाष्प' का उपयोग शुरू हुआ, अर्थात सुरक्षा वाल्व को इस तरह उद्‌भारित करने के बजाय कि ४, ६, या ८ पाउंड प्रति वर्ग इंच दाब पर खुल जाये, यह पाया गया कि दाब को १४ या २० पाउंड तक बढ़ा देने से... ईंधन की बहुत ही निश्चित बचत होती है; दूसरे शब्दों में, कारख़ाने का काम कोयले की अत्यंत प्रत्यक्ष्य घटी हुई खपत के साथ होता है... और जिन लोगों के पास साधन थे और साहस था, वे ३०, ४०, ५०, ६०, और ७० पाउंड प्रति वर्ग इंच दाब की भाप, ऐसे दाब कि जिन्होंने पुरानी धारा के इंजीनियर को डर से चकरा दिया होता, देने के लिए ठीक से निर्मित बायलरों का उपयोग करके अधिक दाब और काम की 'प्रसार पद्धति' को पूरी हद तक ले गये। लेकिन चूंकि भाप के दाब को इस तरह से बढ़ाने के आर्थिक परिणाम... शीघ्र ही अत्यंत सुस्पष्ट पाउंड-शिलिंग-पेंस रूपों में प्रकट हो गये, इसलिए द्रवणी इंजनों से काम लेने के लिए उच्च दाब वाष्प बायलरों का उपयोग लगभग सार्विक हो गया। और जो लोग पूरी हद तक जाना चाहते थे, उन्होंने शीघ्र ही वूल्फ़ इंजनों के उपयोग को उसकी संपूर्णता में अपना लिया, और हमारे हाल में बने कारख़ानों में से अधिकांश वूल्फ़ इंजनों से ही चलते हैं, अर्थात उनसे, जिनमें प्रत्येक इंजन के दो सिलिंडर होते हैं, जिनमें से एक में बायलर की उच्च दाब भाप अपने दाब से, जो वायुमंडल के दाब से भी अधिक होता है, शक्ति देती या उत्पन्न करती है, जिसे प्रत्येक स्ट्रोक के अंत में उपरोक्त उच्च दाब भाप के वायुमंडल में निर्बाध चले जाने देने के बजाय इस सिलिंडर से कोई चार गुने क्षेत्रफल के एक निम्न दाब सिलिंडर में प्रविष्ट करा दिया जाता है और यथोचित प्रसार के बाद वह द्रवणित्र में चली जाती है। इस प्रकार के इंजनों से प्राप्य आर्थिक परिणाम ऐसा है कि ईंधन की खपत ३ १/२ से ४ पाउंड कोयला प्रति अश्व शक्ति प्रति घंटा की दर से होती है; जबकि पुरानी पद्धति के इंजनों में खपत औसतन १२ से १४ पाउंड प्रति अश्व शक्ति प्रति घंटा होती थी। एक विलक्षण युक्ति द्वारा वूल्फ़ की दो सिलिंडरी पद्धति अथवा संयुक्त निम्न-उच्च दाब इंजन का

पहले से विद्यमान इंजनों में व्यापक प्रचलन कर दिया गया है, जिससे उनका कार्य निष्पादन शक्ति और ईंधन की मितव्ययिता, दोनों के लिहाज से बढ़ा दिया गया है। यही परिणाम ... उच्च दाब इंजन को द्रवणी इंजन के साथ इस प्रकार संबद्ध करके कि जिससे प्रथमोक्त की अपशिष्ट भाप का अंतोक्त में जाना और उसे चलाना संभव हो सके, इन आठ-दस साल से उपयोग में लाया जा रहा है। यह पद्धति कई मामलों में बहुत सुविधाजनक है।

"बिलकुल एक से इंजनों के निष्पादन अथवा उनके द्वारा किये जानेवाले काम की वृद्धि के बारे में कोई यथातथ्य विवरण पाना बहुत आसान नहीं होगा, जिनमें इन सुधारों में कुछ या सभी लागू किये गये हैं; तथापि, मुझे विश्वास है... कि वाष्प इंजन मशीनरी के उतने ही भार से हम अब औसतन कम से कम ५० प्रतिशत अधिक कार्य निष्पादित कर रहे हैं, और कितने ही मामलों में बिलकुल वही वाष्प इंजन, जो २२० फ़ुट प्रति मिनट की परिसीमित चाल के जमाने में ५० अश्व शक्ति उत्पन्न किया करते थे, अब १०० से अधिक उत्पन्न कर रहे हैं। द्रवणी वाष्प इंजनों के चलाने में उच्च दाब वाष्प के उपयोग से प्राप्य अत्यंत लाभदायी परिणामों और साथ ही कारख़ानों के विस्तारण के कारण उन्हीं इंजनों से कहीं अधिक उच्च शक्ति की अपेक्षा किये जाने के फलस्वरूप पिछले तीन वर्षों के दौरान नलीदार बायलरों का उपयोग शुरू हुआ है, जो कारख़ानों के इंजनों के लिए भाप पैदा करने में पहले प्रयुक्त बायलरों की अपेक्षा कहीं अधिक लाभदायी परिणाम उत्पन्न करते हैं।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1852*, pp. 23-27.)

जो बात शक्ति के जनन पर लागू होती है, वह शक्ति के संचरण और काम की मशीनों पर भी लागू होती है।

"इन कुछ वर्षों के भीतर मशीनों में सुधार ने जिन तेज क़दमों से प्रगति की है, उनसे कारख़ानेदारों के लिए अतिरिक्त चालन शक्ति के बिना उत्पादन बढ़ाना संभव हो गया है। कार्य दिवस की न्यूनित दीर्घता ने श्रम के अधिक मितव्ययितापूर्ण उपयोग को आवश्यक बना दिया है, और अधिकांश सुव्यवस्थित कारख़ानों में समझदार आदमी हमेशा यही सोचता है कि किस तरह ख़र्च को घटाकर उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है। मेरे सामने मेरे जिले में एक बहुत समझदार सज्जन द्वारा कृपापूर्वक तैयार किया हुआ एक विवरण है, जिसमें १८४० से लेकर वर्तमान समय तक नियोजित श्रमिकों की संख्या, उनकी उम्रों, कार्यरत मशीनों, और अदा की जानेवाली मजदूरी को दर्शाया गया है। अक्तूबर, १८४० में उनकी फ़र्म में ६०० लोग काम करते थे, जिनमें से २०० उम्र में १३ साल से नीचे के थे। गत अक्तूबर में ३५० लोग काम कर रहे थे, जिनमें से सिर्फ़ ६० ही १३ साल से नीचे के थे; बहुत ही कम घट-बढ़ के साथ उतनी ही मशीनें काम कर रही थीं और दोनों ही समय मजदूरी में उतनी ही रक़म दी जाती थी।" (*Redgrave's Report in Reports of Insp. of Fact., Oct., 1852*, pp. 58-59.)

मशीनों के ये सुधार अपना पूरा प्रभाव तब तक प्रकट नहीं करते, जब तक कि उन्हें नये, समुचित रूप में व्यवस्थित कारख़ानों में प्रयोग में नहीं लाया जाता।

"मशीनों में किये गये सुधारों के बारे में सबसे पहले तो मैं यह कह सकता हूं कि सुधरी मशीनों के लिए अनुकूलित कारख़ानों के निर्माण में बहुत प्रगति की गयी है... निचली मंजिल पर मैं अपना सारा सूत बटता हूं और अकेले इस तल्ले पर ही मैं २६,००० बटाई तकुए लगाऊंगा। मैं निचली मंजिल और शेड में श्रम की कम से कम १० प्रतिशत की बचत करता हूं, सूत बटाई की मूल रीति में किसी सुधार से इतना नहीं कि जितना एक प्रबंध के अंतर्गत मशीनों

के संकेंद्रण से; और मैं ऊपर बतायी संख्या के तकुओं को एक ही शाफ़्ट से चला सकता हूं, दूसरी फ़र्मों को इतने ही तकुए चलाने के लिए जितने शाफ़्टों का उपयोग करना होता है, उसकी तुलना में शाफ़्टिंग में ६० प्रतिशत की, कुछ मामलों में ८० प्रतिशत की बचत होती है। तेल और शाफ़्टिंग में, और ग्रीज़ में बहुत बचत होती है... कारख़ाने की श्रेष्ठतर तरतीब और सुधरी मशीनों से मैंने न्यूनतम अनुमान से श्रम में १० प्रतिशत की बचत और शक्ति, कोयले, तेल, चरबी, शाफ़्टिंग और स्ट्रैपिंग में भारी बचत की है।" (एक सूत निर्माता का बयान, *Reports of Insp. of Fact., Oct., 1863*, pp. 109, 110.)

४. उत्पादन के उत्सर्जनों का उपयोग

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली उत्पादन तथा उपभोग के उत्सर्जनों के उपयोग का प्रसार करती है। प्रथमोक्त से हमारा आशय उद्योग तथा कृषि के अपशिष्ट या छीजन से, और अंतोक्त से अंशतः मानव देह में स्वाभाविक चयापचय से उत्पन्न उत्सर्जनों और अंशतः चीज़ों के उनके उपभुक्त किये जाने के बाद बच रहनेवाले रूप से है। उदाहरण के लिए, रसायन उद्योग में उत्पादन के उत्सर्जन वे उपोत्पाद हैं कि जो छोटे पैमाने के उत्पादन में व्यर्थ चले जाते हैं; मशीनों के निर्माण में संचित होती और लोहे के उत्पादन में कच्चे माल के रूप में लौटती लोहा छीलन, आदि। उपभोग के उत्सर्जन मानव देह द्वारा निस्सारित प्राकृतिक अपशिष्ट पदार्थ, चिथड़ों के रूप में वस्त्रों के अवशेष, आदि हैं। उपभोग के उत्सर्जन कृषि के लिए अत्यधिक महत्व के हैं। जहां तक उनके उपयोग का संबंध है, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में उनकी ज़बरदस्त बरबादी होती है। मिसाल के लिए, लंदन में पैंतालीस लाख मानव प्राणियों के उत्सर्जन का इससे बेहतर कोई उपयोग नहीं पाया जाता है कि भारी क़ीमत पर टेम्स नदी को उससे प्रदूषित किया जाये।

कच्चे माल के चढ़ते दाम क़ुदरती तौर पर अपशिष्ट पदार्थों के उपयोग को प्रोत्साहित करते हैं।

इन उत्सर्जनों के पुनर्नियोजन की सामान्य अपेक्षाएं हैं: ऐसे अपशिष्ट की विशाल मात्राएं, जैसी केवल बड़े पैमाने के उत्पादन में ही प्राप्य होती हैं; सुधरी मशीनें, जिनसे पहले अपने विद्यमान रूप में बेकार सामग्रियों को नये उत्पादन के लिए उपयुक्त अवस्था में परिणत कर दिया जाता है; वैज्ञानिक प्रगति, विशेषकर रसायन की, जो इस तरह के अपशिष्टों के उपयोगी गुणों को प्रकट करती है। यह सही है कि इस तरह की बड़ी बचतें छोटे पैमाने की कृषि में भी देखने में आती हैं, जैसी, मिसाल के लिए, लंबार्डी, दक्षिणी चीन और जापान में प्रचलित है। लेकिन समूचे तौर पर, इस पद्धति के अंतर्गत कृषि की उत्पादिता मानव श्रम शक्ति के अतिशय उपयोग से ही प्राप्त होती है, जिसे उत्पादन के अन्य क्षेत्रों से अलग रखा जाता है।

तथाकथित अपशिष्ट अथवा रद्दी उद्योग की लगभग हर ही शाखा में महत्वपूर्ण भूमिका निबाहती है। उदाहरण के लिए, दिसंबर, १८६३ की कारख़ाना रिपोर्ट उस "भारी छीजन को..." इसका एक प्रमुख कारण बताती है कि क्यों अंग्रेज़ और बहुत से आयरिश फ़ार्मर फ़्लैक्स नहीं उगाना चाहते, या ऐसा बिरले ही करते हैं, "जो छोटे जलचालित रेशा कुटाई कारख़ानों में हुई है... रूई में छीजन अपेक्षाकृत थोड़ी ही होती है, लेकिन फ़्लैक्स में बहुत ज्यादा। जल अवमज्जन और अच्छी यांत्रिक कुटाई की दक्षता इस हानि को बहुत काफ़ी घटा देगी... आयरलैंड में फ़्लैक्स को बहुत ही ख़राब तरीक़े से कूटा जाता है और उसका काफ़ी बड़ा प्रतिशतांश,

२८ या ३० प्रतिशत के बराबर, वास्तव में नष्ट हो जाता है" (*Reports of Insp. of Fact., Dec., 1863*, pp. 139, 142), जबकि बेहतर मशीनों के उपयोग के ज़रिये इससे बचा जा सकता है। रास्ते के किनारे इतना ज्यादा रेशा गिरता था कि कारख़ाना निरीक्षक कहता है, "आयरलैंड में कुछ रेशा कुटाई कारख़ानों के बारे में मुझे सूचित किया गया है कि उनके अपशिष्ट का कूटनेवाले अकसर घर पर चूल्हों में जलाने के लिए उपयोग करते रहे हैं, और फिर भी यह बहुत मूल्यवान है" (उपरोक्त रिपोर्ट का पृ० १४०)। रद्दी सूत की चर्चा हम बाद में, कच्चे माल की क़ीमत के उतार-चढ़ाव का विवेचन करते समय करेंगे।

ऊन उद्योग फ़्लैक्स के कारख़ानेदारों के मुक़ाबले ज्यादा सयाना था। "रद्दी और ऊनी चीथड़ों को पुनरुत्पादन के लिए प्रयोज्य बनाने की निंदा करना किसी समय एक आम बात थी, लेकिन अब शॉडी* व्यापार के बारे में, जो यार्कशायर के ऊन व्यापार की एक महत्वपूर्ण शाखा बन गया है, पूर्वाग्रह पूर्णतः शांत हो गया है, और निश्चय ही रद्दी सूत व्यापार को भी इसी प्रकार एक स्वीकृत आवश्यकता की पूर्ति करनेवाले की हैसियत से मान्यता दे दी जायेगी। तीस साल पहले ऊनी चीथड़ों, अर्थात ऊन के ही बने कपड़े के टुकड़ों, पुराने ऊनी कपड़ों, आदि का दाम औसतन ४ पाउंड ४ शिलिंग प्रति टन हुआ करता था; पिछले कुछ वर्षों के भीतर वे ४४ पाउंड प्रति टन के हो गये हैं और उनकी मांग इस क़दर बढ़ गयी है कि अब सूत और ऊन मिले कपड़ों के टुकड़ों को, सूत को नष्ट करके और ऊन को अछूता छोड़कर, उपयोग में लाने के तरीक़े निकाल लिये गये हैं, और अब हज़ारों कारख़ानेदार शॉडी के निर्माण में लगे हुए हैं, जिससे उपभोक्ता को साधारण और औसत क़िस्म का कपड़ा बहुत थोड़े दामों ख़रीद पाने का सुलाभ मिला है।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1863* ,p. 107.)

१८६२ के अंत तक आंग्ल उद्योग में ऊन की कुल खपत में पुनरुद्भूत शॉडी का हिस्सा एक तिहाई पर पहुंच चुका था। (*Reports of Insp. of Fact., October,1862*,p. 81) "उपभोक्ता" के लिए "बड़ा सुलाभ" यह है कि उसके शॉडी वस्त्र पहले के मुक़ाबले सिर्फ़ एक तिहाई समय में ही घिस जाते हैं और इस समय के छठे भाग में ही चीथड़े-चीथड़े हो जाते हैं।

आंग्ल रेशम उद्योग भी इसी अधोगामी रास्ते पर चला। असली कच्चे रेशम की खपत १८३९ और १८६२ के बीच कुछ घटी, जबकि रद्दी रेशम की खपत बढ़ी। सुधरी मशीनों ने इस अन्यथा बेकार सामग्री से कई प्रयोजनों के लिए उपयोगी रेशम बनाने में सहायता की।

अपशिष्ट को उपयोग में लाने का सबसे प्रभावोत्पादक उदाहरण रसायन उद्योग प्रदान करता है। यह सिर्फ़ अपने अपशिष्टों को ही नहीं, जिनके लिए वह नये उपयोग निकाल लेता है, बल्कि अनेक अन्य उद्योगों के अपशिष्टों को भी इस्तेमाल में लाता है। मिसाल के लिए, वह पहले के लगभग बेकार गैस डामर को एनिलीन रंजकों, एलिज़रीन, और अभी कुछ समय से, औषधियों तक में परिवर्तित कर लेता है।

उत्पादन के उत्सर्जनों की उनके पुनर्नियोजन द्वारा इस मितव्ययिता का अपशिष्ट के निरोधन द्वारा, अर्थात उत्पादन के उत्सर्जनों को घटाकर न्यूनतम करने, और उत्पादन में अपेक्षित सभी कच्ची तथा सहायक सामग्रियों के अधिकतम प्रत्यक्ष उपयोग के ज़रिये होनेवाली बचत से अंतर करना होगा।

अपशिष्ट का कम किया जाना अंशतः प्रयोग में आनेवाली मशीनों की कोटि पर निर्भर

---

* पुराने ऊनी कपड़ों के रेशे अथवा पुनराप्त ऊन से बनाया कपड़ा।—सं०

करता है। तेल, साबुन, आदि में बचत इस बात पर निर्भर करती है कि मशीनों के पुर्जे कितनी अच्छी तरह बनाये और चिकनाये गये हैं। यह बात सहायक सामग्रियों पर लागू होती है। तथापि अंशतः, और यह बात अत्यंत महत्वपूर्ण है, यह प्रयोग में लायी जानेवाली मशीनों और औजारों पर निर्भर करता है कि उत्पादन प्रक्रिया में कच्चे मालों का बड़ा या छोटा हिस्सा रद्दी में परिणत होता है। अंततः, यह स्वयं कच्चे मालों की कोटि पर निर्भर करता है। अपनी बारी में यह आंशिक रूप में निस्सारक उद्योग और कृषि के विकास पर, जो कच्चे मालों का उत्पादन करते हैं (सच पूछिये, तो सभ्यता की प्रगति पर), और आंशिक रूप में उन प्रक्रियाओं के सुधार पर निर्भर करता है, जिनमें होकर कच्चे माल निर्माण में प्रवेश करने के पहले गुजरते हैं।

"पारमेंतिये ने सिद्ध कर दिया है कि फ़्रांस में अनाज पीसने की कला काफ़ी हाल के समय से, उदाहरण के लिए, लुई चौदहवें के समय से, बहुत काफ़ी उन्नत हो गयी है, जिससे पुरानी की तुलना में नयी चक्कियां उतने ही अनाज से डेढ़ गुना ज्यादा तक डबल रोटी बना सकती हैं। वस्तुतः, पेरिसवासी के वार्षिक अनाज उपभोग को पहले ४ सेतिये, फिर ३, और अंत में २ सेतिये कूता गया था, जबकि अब वह सिर्फ़ १ १/३ सेतिये, अथवा लगभग ३४२ पाउंड प्रति व्यक्ति ही है... पेर्श में, जहां मैं काफ़ी समय रह चुका हूं, ग्रेनाइट और ट्रैप पत्थरों के पाटों की अपरिष्कृत चक्कियों का अधिकांशतः यांत्रिकी के नियमों के अनुसार पुनः निर्माण किया जा चुका है, जिसने पिछले ३० वर्षों में इतनी तेज प्रगति की है। उन्हें ला फ़ेर्ते के अच्छे पाटों से युक्त कर दिया गया है, वे दोगुना अनाज पीसती हैं, पेषण थैले को चक्राकार गति प्रदान कर दी गयी है, और अनाज की उतनी ही मात्रा से मैदा का उत्पादन १/६ अधिक हो गया है। इसलिए रोमनों के और हमारे दैनिक अनाज उपभोग में भारी अंतर की आसानी से व्याख्या की जा सकती है। यह महज पिसाई और रोटी बनाने की अपरिष्कृत विधियों के कारण है। प्लिनी की इस असाधारण उक्ति की, जो उसकी रचना के अध्याय २०, २ में मिलती है, मेरे ख़याल में मुझे इसी तरह व्याख्या करनी होगी: '...रोम में मैदा, अपनी क़िस्म के अनुसार, ४०, ४८ या ६६ अस प्रति मोदीअस के भाव बिका करता था। ये भाव, जो समसामयिक अनाज भावों के मुक़ाबले इतने ऊंचे हैं, उस समय की चक्कियों की, जो अभी अपने शैशव में ही थीं, अपरिष्कृत अवस्था और तद्जनित पिसाई की भारी लागत के कारण हैं।'" (Dureau de la Malle, *Économie Politique des Romains*, Paris, 1840, I, pp. 280-81.)

५. आविष्कारों के माध्यम से मितव्ययिता

हम फिर कहते हैं कि स्थायी पूंजी के प्रयोग में ये बचतें श्रम के बड़े पैमाने पर नियोजन की अवस्थाओं के कारण हैं; संक्षेप में इस कारण हैं कि ये प्रत्यक्षतः सामाजिक, अथवा समाजीकृत श्रम अथवा उत्पादन प्रक्रिया के भीतर प्रत्यक्ष सहकार की अवस्थाओं के रूप में काम करती हैं। एक ओर माल का दाम बढ़ाये बिना यांत्रिक तथा रासायनिक आविष्कारों का उपयोग करने की अपरिहार्य आवश्यकता होती है, और यह सदा conditio sine qua non [अनिवार्य शर्त] होती है। दूसरी ओर, सिर्फ़ बड़े पैमाने पर उत्पादन ही सहकारी उत्पादक उपभोग से प्राप्य बचतों को संभव बनाता है। अंततः, यह सिर्फ़ संयोजित श्रमिक का अनुभव ही है कि जो

बचत के स्रोतों तथा साधनों, खोजों को प्रयोग में लाने के सरलतम ढंगों और सिद्धांत के क्रियान्वयन से – सिद्धांत के उत्पादक प्रक्रिया पर लागू किये जाने में – उत्पन्न व्यावहारिक प्रतिरोधों पर पार पाने के तरीक़ों, आदि को खोजता और प्रकट करता है।

प्रसंगवश, सार्विक श्रम तथा सहकारी श्रम में अंतर किया जाना चाहिए। दोनों प्रकार के श्रम उत्पादन की प्रक्रिया में अपनी भूमिका निबाहते हैं, दोनों एक दूसरे में जा मिलते हैं, लेकिन दोनों विभेदित भी हैं। सारा वैज्ञानिक श्रम, सारा आविष्कार और सारा अन्वेषण सार्विक श्रम है। यह श्रम अंशतः जीवित लोगों के सहयोग पर, और अंशतः उन लोगों के श्रम के उपयोग पर निर्भर करता है कि जो मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। इसके विपरीत सहकारी श्रम व्यक्तियों का प्रत्यक्ष सहयोग है।

उपरोक्त की अनेक प्रेक्षणों से पुष्टि होती है, यानी:

१) किसी मशीन के पहले मॉडल की और उसके पुनरुत्पादन की लागत में भारी अंतर (जिसके बारे में यूरे* तथा बैबेज** को देखिये)।

२) किसी नये आविष्कार पर आधारित प्रतिष्ठान को चलाने की ex suis ossibus [उसके आधार पर उत्पन्न] बादवाले प्रतिष्ठानों को चलाने की अपेक्षा कहीं अधिक लागत। यह बात इतनी सही है कि पुरोगामी तो आम तौर पर दीवालिये हो जाते हैं और सिर्फ़ वे लोग ही उससे पैसा बनाते हैं, जो बाद में इमारतों, मशीनों, आदि को सस्ते दाम ख़रीद लेते हैं। इसलिए आम तौर पर यह सबसे बेकार और निकृष्ट धनपति ही होते हैं कि जो मानव शक्ति के सार्विक श्रम के सभी नये विकासों और संयोजित श्रम के ज़रिये उनके सामाजिक उपयोग से अधिकतम मुनाफ़ा बटोरते हैं।

---

* A. Ure, *The Philosophy of Manufactures*, Second edition, London, 1855. – सं०

** Ch. Babbage, *On the Economy of Machinery and Manufactures*, London, 1832, pp. 280-81. – सं०

अध्याय ६

क़ीमत के उतार-चढ़ाव का प्रभाव

१. कच्चे मालों की क़ीमत में उतार-चढ़ाव और लाभ दर पर उनके प्रत्यक्ष प्रभाव

पूर्ववर्ती प्रसंगों की ही भांति इस प्रसंग में भी यही कल्पित है कि बेशी मूल्य दर में कोई परिवर्तन नहीं आता। प्रसंग का अपने विशुद्ध रूप में विश्लेषण करना आवश्यक है। तथापि, किसी ख़ास पूंजी के लिए, जिसकी बेशी मूल्य दर अपरिवर्तित बनी रहती है, कच्चे मालों की क़ीमत में ऐसे उतार-चढ़ावों से, जिनका हम यहां विश्लेषण करेंगे, जनित संकुचन अथवा प्रसार के परिणामस्वरूप श्रमिकों की बढ़ती अथवा घटती संख्या को नियोजित करना संभव हो सकता है। इस हालत में बेशी मूल्य की मात्रा बदल सकती है, जबकि बेशी मूल्य दर वही बनी रहती है। लेकिन इसे भी यहां गौण विषय मानकर छोड़ दिया जाना चाहिए। अगर मशीनों के सुधार और कच्चे मालों के दामों में परिवर्तन एक साथ या तो एक निश्चित पूंजी द्वारा नियोजित श्रमिकों की संख्या को, या मज़दूरी के स्तर को, प्रभावित करते हैं, तो बस १) स्थिर पूंजी के विचरणों द्वारा लाभ दर पर जनित प्रभाव, और २) मज़दूरी में विचरणों द्वारा लाभ दर पर जनित प्रभाव को एक साथ रखना ही काफ़ी होगा। फिर परिणाम अपने आप प्राप्त हो जाता है।

लेकिन, पूर्ववर्ती प्रसंग की ही भांति, आम तौर पर यहां यह ध्यान में रखना चाहिए कि अगर या तो स्थिर पूंजी में बचतों के कारण, या कच्चे मालों के दामों में उतार-चढ़ाव के कारण विचरण होते हैं, तो वे लाभ दर को हमेशा प्रभावित करते हैं, चाहे मज़दूरी को, और इस कारण बेशी मूल्य दर और उसकी मात्रा को वे अप्रभावित भी रहने दें। वे $s'\frac{v}{C}$ में C के परिमाण को, और इस प्रकार सारी ही भिन्न के मूल्य को बदल देते हैं। इसलिए इस प्रसंग में भी – बेशी मूल्य के अपने विश्लेषण में हमने जो पाया था, उसके विपरीत – यह महत्वहीन है कि ये विचरण उत्पादन के किस क्षेत्र में होते हैं; उनके द्वारा प्रभावित उत्पादन शाखाएं श्रमिकों के लिए आवश्यक वस्तुएं, या ऐसी आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के लिए स्थिर पूंजी उत्पादित करती हैं कि नहीं। यहां निकाले गये निष्कर्ष विलास वस्तुओं के उत्पादन में होनेवाले विचरणों के लिए समान रूप में संगत हैं, और विलास वस्तुओं से यहां हमारा आशय उस सारे उत्पादन से है, जो श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन में सहायक नहीं होता।

यहां कच्चे मालों में सहायक सामग्रियां भी शामिल हैं, जैसे नील, कोयला, गैस, आदि। इसके अलावा, जहां तक इस मद के अंतर्गत मशीनरी की बात है, स्वयं उसके कच्चे माल लोहा, लकड़ी, चमड़ा, आदि हैं। इसलिए स्वयं उसकी क़ीमत उसके निर्माण में प्रयुक्त कच्चे

मालों के दाम में उतार-चढ़ावों से प्रभावित होती है। जिस सीमा तक उसकी क़ीमत या तो उसमें समाविष्ट कच्चे मालों की, या उसके प्रचालन में उपभुक्त सहायक सामग्रियों की क़ीमत में उतार-चढ़ावों के ज़रिये चढ़ती है, लाभ दर भी pro tanto गिर जाती है। विलोमतः इसका उलटा होता है।

निम्न विश्लेषण में हम कच्चे मालों की क़ीमत के उतार-चढ़ावों में उस सीमा तक नहीं कि जहां तक ये माल श्रम साधनों का काम देनेवाली मशीनरी की कच्ची सामग्री के रूप में, अथवा उसके प्रचालन में लगायी जानेवाली सहायक सामग्री के रूप में शामिल होते हैं, बल्कि वहीं तक जायेंगे कि जहां तक वे उस प्रक्रिया में प्रवेश करती हैं, जिसमें जिंसों का उत्पादन होता है। यहां सिर्फ़ एक बात को ध्यान में रखना चाहिए: लोहे, कोयले, लकड़ी, आदि, जो मशीनरी के निर्माण और कार्य में प्रयुक्त मुख्य तत्व हैं, के रूप में प्राकृतिक संपदा यहां पूंजी की एक सहज प्रजनन शक्ति के रूप में प्रस्तुत है और मज़दूरी के ऊंचे अथवा नीचे स्तर से निरपेक्षतः लाभ दर को निर्धारित करनेवाला एक कारक है।

चूंकि लाभ दर $\frac{s}{C}$, अथवा $\frac{s}{c+v}$ है, अतः यह प्रत्यक्ष है कि c के, और इस प्रकार C के भी परिमाण में विचरण उत्पन्न करनेवाली हर चीज़ लाभ दर में भी विचरण पैदा करेगी, चाहे s तथा v, और उनका पारस्परिक संबंध, अपरिवर्तित ही रहें। लेकिन कच्चे माल स्थिर पूंजी के मुख्य घटकों में एक होते हैं। उन उद्योगों तक में, जो वास्तविक कच्चे मालों का उपयोग नहीं करते, वे सहायक सामग्रियों अथवा मशीनरी के घटकों, आदि के रूप में प्रासंगिक हो ही जाते हैं और उनकी क़ीमत के उतार-चढ़ाव लाभ दर पर तदनुरूप प्रभाव डालते ही हैं। अगर कच्चे माल की क़ीमत d बराबर रक़म से गिर जाती है, तो $\frac{s}{c}$ अथवा $\frac{s}{c+v}$ $\frac{s}{C-d}$ अथवा $\frac{s}{(c-d)+v}$ हो जाता है। इस प्रकार लाभ दर ऊंची हो जाती है। विलोमतः, अगर कच्चे माल की क़ीमत बढ़ती है, तो $\frac{s}{C}$ अथवा $\frac{s}{c+v}$ $\frac{s}{C+d}$, अथवा $\frac{s}{(c+d)+v}$ हो जाता है, और लाभ दर गिर जाती है। चूंकि अन्य अवस्थाएं समान हैं, इसलिए लाभ दर कच्चे मालों की क़ीमत के व्युत्क्रम अनुपात में गिरती अथवा चढ़ती है। इससे और बातों के अलावा यह पता चलता है कि औद्योगिक देशों के लिए कच्चे मालों का नीचा दाम कितना महत्वपूर्ण है, चाहे कच्चे मालों के दामों में उतार-चढ़ावों के साथ-साथ उत्पाद की बिक्री के क्षेत्र में परिवर्तन न भी आयें, और इस प्रकार मांग के पूर्ति के साथ संबंध से सर्वथा अलग भी। इसके अलावा इसका यह भी मतलब है कि विदेश व्यापार जीवनावश्यक वस्तुओं के सस्ता होने के ज़रिये मज़दूरी पर अपने प्रभाव से निरपेक्ष रूप में लाभ दर को प्रभावित करता है। महत्व की बात यह है कि यह उद्योग तथा कृषि में उपभुक्त कच्चे मालों अथवा सहायक सामग्रियों के दामों को प्रभावित करता है। यह लाभ दर की और बेशी मूल्य दर से उसके विशिष्ट अंतर की प्रकृति की अभी तक अपूर्ण समझ के कारण ही है कि एक ओर तो अर्थशास्त्री (जैसे टॉरेंस*) कच्चे मालों के दामों के लाभ दर पर सुस्पष्ट प्रभाव की, जिसे वे व्यावहारिक

---

*R. Torrens, *An Essay on the Production of Wealth*, London, 1821, p. 28 et seq.— सं०

अनुभव के ज़रिये देखते हैं, ग़लत तरह से व्याख्या करते हैं, और, दूसरी ओर, रिकार्डो* जैसे अर्थशास्त्री, जो सामान्य सिद्धांतों से चिपके रहते हैं, लाभ दर पर, मसलन, विश्व व्यापार के प्रभाव को मान्यता नहीं देते।

इससे उद्योग के लिए कच्चे मालों पर सीमा शुल्क के ख़त्म किये या घटाये जाने का भारी महत्व स्पष्ट हो जाता है। संरक्षण प्रशुल्क प्रणाली के तर्कसंगत विकास ने कच्चे मालों पर आयात शुल्क की अधिकतम कटौती को अपना एक आधारभूत सिद्धांत बना लिया। यह, और अन्न पर शुल्क का उन्मूलन अंग्रेज़ मुक्त व्यापारपंथियों का मुख्य लक्ष्य था, जो ख़ासकर कपास पर से भी शुल्क के उठवाने में ही दिलचस्पी रखते थे।

सूती उद्योग में मैदा का उपयोग एक ऐसी चीज़ के दामों में कमी के महत्व के उदाहरण का काम दे सकता है, जो सही अर्थों में कच्चा माल नहीं, बल्कि सहायक सामग्री है और साथ ही पोषण का एक मुख्य तत्व भी है। १८३७ ही में आर० एच० ग्रेग[13] ने हिसाब लगाया था कि ग्रेट ब्रिटेन की सूती मिलों में उस समय कार्यशील १,००,००० यांत्रिक करघे और २,५०,००० हथकरघे ताने को चिकनाने के लिए हर साल ४१० लाख पाउंड मैदा इस्तेमाल करते थे। उन्होंने ब्लीचिंग तथा अन्य प्रक्रियाओं के लिए इस मात्रा में एक तिहाई और जोड़ दिया और पिछले दस वर्षों के लिए इस प्रकार उपभुक्त मैदा का वार्षिक मूल्य ३,४२,००० पाउंड कूता। महाद्वीपीय यूरोप में मैदा के दामों से तुलना ने दिखाया कि कारख़ानेदारों पर मैदे का अकेले अन्न प्रशुल्क द्वारा ही थोपा गया अधिक दाम १,७०,००० पाउंड प्रति वर्ष बैठता था। ग्रेग ने १८३७ के लिए इस रक़म को कम से कम २,००,००० पाउंड कूता था और एक फ़र्म का उल्लेख किया था, जिसके लिए मैंदे की क़ीमत में अंतर १,००० पाउंड प्रति वर्ष बैठता था। फलतः, "बड़े-बड़े कारख़ानेदारों, व्यवसाय के विचारशील, हिसाबी लोगों ने कहा है कि अगर अन्न क़ानून निरसित कर दिये जाते हैं, तो दस घंटे का श्रम बिलकुल काफ़ी होगा"। (*Reports of Insp. of Fact., October., 1848*, p. 98.) अन्न क़ानूनों को निरस्त कर दिया गया। इसी तरह कपास तथा अन्य कच्चे मालों पर शुल्क भी निरसित कर दिये गये। लेकिन इसकी सिद्धि हुई थी कि दस घंटा विधेयक के प्रति कारख़ानेदारों का विरोध पहले किसी भी समय से अधिक प्रचंड हो गया। और जब कारख़ानों में दस घंटे का कार्य दिवस फिर भी कुछ बाद क़ानून बन ही गया, तो उसका पहला नतीजा मज़दूरी घटाने का आम प्रयास था।

कच्ची और सहायक सामग्रियों का मूल्य पूर्णतः और एक साथ उस उत्पाद के मूल्य में अंतरित हो जाता है, जिसके निर्माण में वे उपभुक्त होती हैं, जबकि स्थायी पूंजी के तत्व उत्पाद को अपना मूल्य अपनी टूट-फूट के अनुपात में शनैः शनैः ही अंतरित करते हैं। इससे यह नतीजा निकलता है कि उत्पाद की क़ीमत स्थायी पूंजी की क़ीमत की अपेक्षा कच्चे मालों के दाम से अधिक प्रभावित होती है, यद्यपि लाभ दर प्रयुक्त पूंजी के कुल मूल्य द्वारा निर्धारित होती है, चाहे उत्पाद के बनने में उसका कितना भी अंश क्यों न उपभुक्त होता हो। लेकिन यह साफ़ है – चाहे हम इसे प्रसंगतः ही कह रहे हैं, क्योंकि हम यहां अब भी यही मान रहे हैं कि जिंसें

---

* D. Ricardo, *On the Principles of Political Economy, and Taxation*, Third edition, London, 1821, pp. 131-38. – सं०

[13] *The Factory Question and the Ten Hours' Bill* by R. H. Greg, London, 1837, p. 115.

अपने मूल्य पर बेची जाती हैं, जिससे प्रतिस्पर्धा द्वारा जनित क़ीमत के उतार-चढ़ावों से अभी हमारा सरोकार नहीं है – कि बाज़ार का प्रसार अथवा संकुचन व्यष्टिक जिंस के दाम पर निर्भर करता है और इस दाम के चढ़ाव या गिराव के व्युत्क्रमानुपात में होता है। अतः, वास्तव में होता यह है कि उत्पाद का दाम कच्चे मालों के दाम के अनुपात में नहीं चढ़ता और कच्चे मालों के दाम के अनुपात में नहीं गिरता। फलतः लाभ दर एक प्रसंग में ज्यादा नीचे गिरती है और दूसरे में ऊपर चढ़ती है, जो कि तब न हुआ होता कि अगर उत्पादों को उनके मूल्य पर बेचा जाता।

फिर, प्रयुक्त मशीनरी की मात्रा और मूल्य में श्रम उत्पादिता के विकास के साथ-साथ वृद्धि होती है, किंतु इस उत्पादिता के ही अनुपात में नहीं, अर्थात जिस अनुपात में मशीनरी अपना उत्पादन बढ़ाती है, उसमें नहीं। अतः, उद्योग की उन शाखाओं में, जो कच्चे मालों की खपत करती हैं, अर्थात जिनमें श्रम की वस्तु स्वयं ही पहले के श्रम की उपज है, श्रम की बढ़ती हुई उत्पादिता उसी अनुपात में व्यक्त होती है, जिसमें कि कच्चे मालों की अधिक मात्रा श्रम की एक निश्चित मात्रा का अवशोषण करती है, दूसरे शब्दों में, वह कच्चे मालों की – मसलन, एक घंटे में – उत्पादों में परिवर्तित अथवा जिंसों में संसाधित बढ़ती मात्रा में ही व्यक्त होती है। इसलिए कच्चे मालों का मूल्य श्रम की उत्पादिता के विकास के अनुपात में जिंस-उत्पाद के मूल्य का सतत बढ़ता घटक होता है, सिर्फ़ इसीलिए नहीं कि वह पूर्णतः इस अंतोक्त मूल्य में अंतरित हो जाता है, बल्कि इसलिए भी कि समुच्चित उत्पाद के प्रत्येक अशेष-भाजक अंश में मशीनरी के मूल्यह्रास को प्रकट करनेवाला अंश और नये लगाये श्रम द्वारा निर्मित अंश – दोनों निरंतर घटते जाते हैं। इस अधोगामी प्रवृत्ति के कारण कच्चे मालों को प्रकट करने-वाला मूल्य का दूसरा अंश अनुपाततः बढ़ जाता है, बशर्ते कि यह वृद्धि कच्चे मालों के मूल्य में स्वयं अपने उत्पादन में नियोजित श्रम की बढ़ती उत्पादिता से जनित यथानुपात ह्रास से प्रतिसंतुलित नहीं हो जाती।

फिर, कच्चे माल तथा सहायक सामग्रियां, मजदूरी की ही भांति, प्रचल पूंजी के भाग होती हैं और इसलिए उत्पाद की बिक्री के जरिये उनकी अपनी समग्रता में प्रतिस्थापना करना आवश्यक है, जबकि मशीनरी के मामले में सिर्फ़ मूल्यह्रास का ही नवीकरण करना होता है, और वह भी सबसे पहले आरक्षित निधि के रूप में। इसके अलावा, जब तक कुल वार्षिक बिक्रियां अपना वार्षिक अंश देती रहती हैं, तब तक प्रत्येक पृथक बिक्री के लिए इस आरक्षित निधि में अपना अंश देना किसी भी प्रकार आवश्यक नहीं होता। इससे एक बार फिर यह प्रकट होता है कि अगर जिंसों की बिक्री से प्राप्त क़ीमत इन जिंसों के सभी तत्वों की प्रतिस्थापना के लिए काफ़ी न हो, तो कच्चे मालों के दाम में चढ़ाव किस प्रकार पुनरुत्पादन की समस्त प्रक्रिया को मंद अथवा अवरुद्ध कर सकता है। अथवा वह प्रक्रिया का उसके प्राविधिक आधार द्वारा अपेक्षित पैमाने पर जारी रखना असंभव बना सकता है, जिससे मशीनरी का सिर्फ़ कुछ भाग ही चालू रह सकेगा, या सारी मशीनरी सामान्य अवधि के अत्यल्प समय ही काम करेगी।

अंततः, अपशिष्ट के रूप में होनेवाला व्यय कच्चे मालों की क़ीमत के उतार-चढ़ावों के अनुक्रमानुपात में होता है, उनके साथ चढ़ता और उनके साथ गिरता है। लेकिन यहां भी एक सीमा है। अप्रैल, १८५० की कारख़ाना रिपोर्ट ने कहा था: "कच्चे मालों के दाम में वृद्धि से होनेवाली ख़ासी हानि का एक स्रोत वास्तविक कारख़ानेदार के अलावा और किसी को शायद ही नजर आयेगा, यानी अपशिष्ट के रूप में होनेवाली हानि का। मुझे बताया गया है कि जब रूई तेजी पर होती है, तो कारख़ानेदार के लिए लागत, ख़ासकर घटिया क़िस्मों के मामले में,

तेज़ी के वास्ते असल में दी गयी रक़म से ज्यादा अनुपात में बढ़ जाती है, क्योंकि घटिया सूत की कताई में हुई छीज पूरी १५ प्रतिशत बैठती है; और यह दर जहां ३ १/२ पेंस प्रति पाउंड रूई पर १/२ पेंस प्रति पाउंड की हानि करती है, वहां रूई के चढ़कर ७ पेंस पर पहुंच जाने पर हानि को १ पेंस प्रति पाउंड कर देती है।" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1850*, p. 17.) लेकिन जब, अमरीकी गृहयुद्ध के परिणामस्वरूप, रूई का दाम चढ़कर ऐसे स्तर पर पहुंच गया, जो लगभग १०० वर्षों में अभूतपूर्व था, तो रिपोर्ट का आशय बदल गया: "अपशेष के लिए अब दी जानेवाली क़ीमत और कपास की रद्दी के रूप में उसके कारखाने में पुनःप्रयोग से अपशेष द्वारा हानि में अंतर की, सूरत की रूई और अमरीकी रूई के बीच लगभग १२ १/२ प्रतिशत के अंतर की, किसी हद तक पूर्ति हो जाती है।

"सूरत की रूई के उपयोग में अपशेष के २५ प्रतिशत होने से कारख़ानेदार के लिए कपास की क़ीमत उससे उत्पादन करने के पहले ही एक चौथाई बढ़ जाती है। अमरीकी रूई जब ५ पेंस या ६ पेंस प्रति पाउंड थी, तो अपशेष से हानि इतनी भारी नहीं होती थी, क्योंकि वह ३/४ पेंस प्रति पाउंड से ज्यादा नहीं होती थी, लेकिन अब वह बहुत महत्व की हो गयी है, जब हर पाउंड रूई पर, जिसका दाम २ शिलिंग पड़ता है, अपशेष से ६ पेंस जितनी हानि होती है।"[14] (*Reports of Insp. of Fact., October 1863*, p. 106.)

२. पूंजी की मूल्यवृद्धि, मूल्यह्रास, निर्मोचन तथा बंधना

इस अध्याय में विश्लेषित परिघटनाएं अपने पूरे विकास के लिए उधार प्रणाली और विश्व मंडी में प्रतिस्पर्धा की अपेक्षा करती हैं, जिनमें से अंतोक्त पूंजीवादी उत्पादन का आधार और अत्यावश्यक तत्व है। तथापि पूंजीवादी उत्पादन के इन अधिक निश्चित रूपों को सिर्फ़ तभी विस्तार से पेश किया जा सकता है कि जब पूंजी की सामान्य प्रकृति को समझ लिया जाये। इसके अलावा, वे इस कृति की परिधि में नहीं आते और उनका स्थान इसके संभाव्य अनुवर्ती भाग में ही है। फिर भी उपरोक्त शीर्षक में दी परिघटनाओं का इस स्थल पर भी सामान्य रूप में विवेचन किया जा सकता है। वे एक तो एक दूसरे से, और दूसरे, लाभ की दर तथा राशि से भी अंतर्संबंधित हैं। उनका यहां संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है, चाहे सिर्फ़ इसलिए कि वे यह आभास पैदा करती हैं कि लाभ की न केवल दर, बल्कि राशि भी – जो वस्तुतः बेशी मूल्य की राशि के सर्वसम है – बेशी मूल्य की मात्रा अथवा दर की गतियों से स्वतंत्र रूप में बढ़ या घट सकती है।

क्या हमें एक ओर, पूंजी के निर्मोचन तथा बंधने को, और दूसरी ओर, उसकी मूल्यवृद्धि तथा मूल्यह्रास को अलग-अलग परिघटनाएं समझना चाहिए?

---

[14] रिपोर्ट का अंतिम वाक्य ग़लत है। अपशेष के रूप में हानि ६ पेंस के स्थान पर ३ पेंस होनी चाहिए। सूरत के मामले में यह हानि २५% है, और अमरीकी रूई के मामले में सिर्फ़ १२ १/२ से १५%, और आशय इस अंतोक्त से ही है, क्योंकि यह प्रतिशत ५ से ६ पेंस के भाव के लिए सही परिकलित किया गया है। लेकिन यह ठीक है कि गृहयुद्ध के बादवाले वर्षों में यूरोप लायी जानेवाली अमरीकी कपास के मामले में भी अपशेष का अनुपात अकसर पहले की बनिस्बत काफ़ी ज्यादा हो जाया करता था। – फ़े० एं०

प्रश्न यह है कि पूंजी के निर्मोचन तथा बंधने से हमारा आशय क्या है? मूल्यवृद्धि और मूल्यह्रास स्वतःस्पष्ट हैं। उनका आशय बस यही है कि कोई नियत पूंजी कुछेक सामान्य आर्थिक अवस्थाओं के परिणामस्वरूप मूल्य में बढ़ या घट जाती है, क्योंकि हम यहां किसी व्यष्टिक पूंजी की विशिष्ट नियति की चर्चा नहीं कर रहे हैं। इसलिए उनका सारा आशय यही है कि उत्पादन में निवेशित पूंजी का मूल्य उसके द्वारा नियोजित बेशी श्रम के कारण उसके स्वप्रसार से निरपेक्ष बढ़ता अथवा घटता है।

पूंजी के बंधने से हमारा आशय यह है कि अगर उत्पादन को उसी पैमाने पर चलना है, तो उत्पाद के सकल मूल्य के कुछेक अंशों को स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के तत्वों में पुनःपरिवर्तित करना आवश्यक होगा। पूंजी के निर्मोचन से हमारा आशय यह है कि अगर उत्पादन पूर्ववर्ती पैमाने पर ही चलता रहता है, तो उत्पाद के सकल मूल्य का एक अंश, जिसे एक ख़ास समयावधि तक स्थिर अथवा परिवर्ती पूंजी में पुनःपरिवर्तित करना पड़ा था, निरवार्य और अनावश्यक हो जाता है। पूंजी का यह निर्मोचन अथवा बंधना आय के निर्मोचन या बंधने से भिन्न है। अगर किसी व्यष्टि पूंजी C का वार्षिक बेशी मूल्य, उदाहरण के लिए, x के बराबर है, तो पूंजीपतियों द्वारा उपभुक्त जिंसों की क़ीमत में कमी x—a को उतने ही, अर्थात पहले जितने ही, उपभोग प्राप्त करवाने के लिए काफ़ी बनायेगी। आय का एक अंश = a निर्मोचित हो जाता है और इसलिए उपभोग को बढ़ाने के, अथवा पूंजी में पुनःपरिवर्तित किये जाने के (संचय के लिए) काम आ सकता है। इसके विपरीत, अगर पहले की ही भांति रहते रहने के लिए x+a आवश्यक है, तो या तो इस निर्वाह स्तर को घटाना होगा, या पहले से संचित आय के एक अंश = a, को आय की तरह ख़र्च करना होगा।

मूल्यवृद्धि तथा मूल्यह्रास स्थिर अथवा परिवर्ती पूंजी को, अथवा दोनों ही को प्रभावित कर सकते हैं, और स्थिर पूंजी के मामले में अपनी बारी में वह या तो स्थायी अथवा प्रचल अंश को, अथवा दोनों ही को, प्रभावित कर सकती है।

स्थिर पूंजी के अंतर्गत हमें अधतैयार उत्पादों सहित कच्चे मालों तथा सहायक सामग्रियों को लेना होगा, जिन सभी को हम यहां कच्चे मालों, मशीनरी, तथा अन्य स्थायी पूंजी के पद के अंतर्गत सम्मिलित करते हैं।

पूर्ववर्ती विश्लेषण में हमने कच्चे मालों के दाम, अथवा मूल्य, में परिवर्तनों का लाभ दर पर उनके प्रभाव के संदर्भ में विशेषकर उल्लेख किया था और इस सामान्य नियम का निर्धारण किया था कि अन्य अवस्थाएं समान हों, तो लाभ दर कच्चे मालों के मूल्य के व्युत्क्रमानुपात में होती है। यह ऐसे व्यावसायिक उद्यम में नवनिवेशित पूंजी के बारे में पूर्णतः सही है, जिसमें निवेश, अर्थात द्रव्य का उत्पादक पूंजी में रूपांतरण, अभी हो ही रहा है।

लेकिन इस पूंजी के अलावा, जिसे नवनिवेशित किया जा रहा है, पहले ही कार्यरत पूंजी का काफ़ी बड़ा अंश परिचलन के क्षेत्र में है, जबकि एक और अंश उत्पादन के क्षेत्र में है। एक अंश द्रव्य में रूपांतरित होने की प्रतीक्षा में जिंसों के रूप में बाज़ार में है; एक अन्य अंश द्रव्य की हैसियत में, चाहे किसी भी रूप में, उत्पादन के तत्वों में पुनःरूपांतरित किये जाने की प्रतीक्षा करता हुआ हाथ में है; अंततः, एक तीसरा अंश अंशतः कच्चे मालों तथा सहायक सामग्रियों जैसे उत्पादन साधनों, बाज़ार में ख़रीदे अधतैयार उत्पादों, मशीनरी तथा अन्य स्थायी पूंजी के अपने मूल रूप में, और अंशतः ऐसे उत्पादों के रूप में कि जो निर्माण की प्रक्रिया में हैं, उत्पादन के क्षेत्र में है। मूल्यवृद्धि अथवा मूल्यह्रास का प्रभाव यहां काफ़ी

हद तक इन संघटक अंशों के आपेक्षिक अनुपात पर निर्भर करता है। आइये, सरलता की ख़ातिर हम सारी स्थायी पूंजी को अलग छोड़ देते हैं और स्थिर पूंजी के सिर्फ़ उस अंश पर ही विचार करते हैं, जिसमें कच्चे माल तथा सहायक सामग्रियां और अर्धतैयार उत्पाद, तथा बाज़ार में तैयार जिंसें और अब भी उत्पादन की प्रक्रिया में जिंसें, दोनों, समाविष्ट हैं।

अगर कच्चे मालों की, मिसाल के लिए, कपास की, क़ीमत चढ़ती है, तो उन सूती मालों – सूत जैसे अर्धतैयार मालों और सूती कपड़ों जैसे तैयार मालों, दोनों – की क़ीमत भी चढ़ जाती है, जो तब बनाये गये थे, जब कपास सस्ती ही थी। इसी प्रकार भंडार में रखी असंसाधित कपास का और निर्माण प्रक्रिया में आयी हुई कपास का मूल्य भी बढ़ जाता है। अंतोक्त इसलिए कि वह भूतापेक्षत: अधिक श्रम काल को प्रकट करने लगता है और इस प्रकार जिस उत्पाद में वह प्रवेश करता है, उसमें अपने आद्य मूल्य से अधिक, और पूंजीपति ने उसके लिए जो अदा किया है, उससे अधिक मूल्य जोड़ देता है।

इसलिए अगर कच्चे मालों की क़ीमत चढ़ती है और बाज़ार में उपलभ्य तैयार जिंसों की काफ़ी मात्रा है, चाहे उनका निर्माण कभी भी क्यों न किया गया हो, तो इन जिंसों का मूल्य चढ़ जाता है और इस प्रकार विद्यमान पूंजी के मूल्य को बढ़ा देता है। उत्पादक के पास मौजूद कच्चे मालों, आदि के बारे में भी यही बात है। मूल्य की यह वृद्धि कच्चे मालों के दाम में चढ़ाव के साथ लाभ दर में आनेवाली गिरावट के लिए व्यष्टि पूंजीपति की, या पूंजीवादी उत्पादन के एक पूरे पृथक क्षेत्र तक की क्षतिपूर्ति, या क्षतिपूर्ति से भी अधिक, कर सकती है। प्रतिस्पर्धा के विस्तृत प्रभावों में गये बिना हम संपूर्णता की ख़ातिर कह सकते हैं कि १) अगर कच्चे मालों की उपलभ्य पूर्तियां काफ़ी हों, तो वे अपने उद्गमस्थल पर होनेवाली क़ीमत वृद्धि को प्रतिसंतुलित करने की ओर प्रवृत्त होती हैं; २) अगर अर्धतैयार और तैयार माल बाज़ार पर बहुत भारी दबाव डालते हैं, तो उसके द्वारा उनके दाम का उनके कच्चे मालों के दाम के बराबर अनुपात में चढ़ना रुक जाता है।

जब कच्चे मालों का दाम गिरता है, तब इसका उलटा होता है। अगर अन्य परिस्थितियां यथावत रहती हैं, तो इससे लाभ दर बढ़ जाती है। बाज़ार में जिंसें, उत्पादन की प्रक्रिया में स्थित माल और कच्चे मालों की उपलभ्य पूर्तियां मूल्य में ह्रासित हो जाती हैं और इस प्रकार लाभ दर के सहवर्ती चढ़ाव को प्रतिसंतुलित कर देती हैं।

कच्चे मालों के मामले में क़ीमत परिवर्तनों का प्रभाव उतना ही अधिक सुस्पष्ट होगा, जितना कि उत्पादन के क्षेत्र और मंडी में, मसलन, व्यवसाय वर्ष की समाप्ति के समय, अर्थात फ़सल के बाद, जब कच्चे मालों की विशाल मात्राओं का फिर से प्रदाय होता है, इन मालों की कम पूर्तियां उपलब्ध होंगी।

इस सारे विश्लेषण में हम यह मानते हुए चल रहे हैं कि दाम में चढ़ाव अथवा उतार मूल्य में वास्तविक घट-बढ़ को अभिव्यक्त करता है। लेकिन चूंकि यहां हमारी दिलचस्पी इसमें ही है कि लाभ दर पर इस तरह के दाम परिवर्तनों का क्या प्रभाव पड़ता है, इसलिए यह बात कोई बहुत महत्व की नहीं है कि उनकी बुनियाद में क्या है। प्रस्तुत कथन उस हालत में भी समान रूप से लागू होते हैं, जब दाम उधार पद्धति, प्रतिस्पर्धा, आदि के प्रभाव से चढ़ते या गिरते हैं, न कि मूल्य में घट-बढ़ के कारण।

लाभ दर चूंकि उत्पाद के मूल्य पर कुल पेशगी पूंजी के मूल्य के आधिक्य के अनुपात के बराबर होती है; इसलिए लाभ दर में पेशगी पूंजी के मूल्यह्रास द्वारा जनित चढ़ाव पूंजी

के मूल्य में क्षति से संबद्ध होगा। इसी प्रकार, लाभ दर में पेशगी पूंजी की मूल्यवृद्धि द्वारा जनित गिरावट संभवतः अभिलाभ के साथ संबद्ध हो सकती है।

जहां तक स्थिर पूंजी के दूसरे अंश, जैसे मशीनरी और सामान्य रूप में स्थायी पूंजी की बात है, उसमें मुख्यतः इमारतों, स्थावर संपदा, आदि के संदर्भ में मूल्य में होनेवाली वृद्धि का किराया ज़मीन के सिद्धांत के बिना विवेचन नहीं किया जा सकता और इस कारण वह इस अध्याय की परिधि में नहीं आता। लेकिन मूल्यह्रास के प्रश्न के लिए ये बातें सामान्य महत्व की हैं:

निरंतर होते सुधार, जो विद्यमान मशीनरी, कारख़ाना इमारतों, आदि के उपयोग मूल्य को, और इसलिए मूल्य को घटा देते हैं। इस प्रक्रिया का नवप्रवर्तित मशीनरी के पहले चरण के दौरान, उसके परिपक्वता के एक ख़ास स्तर को प्राप्त करने के पहले, विशेषकर दारुण प्रभाव पड़ता है, जब वह स्वयं अपने मूल्य को पुनरुत्पादित करने का समय पाने के पहले ही निरंतर कालातीत होती जाती है। यह ऐसे चरणों में कार्यकाल का सामान्य रूप में किये जानेवाले घोर दीर्घीकरण के, दिन और रात की पालियों में अनवरत काम के कारणों में से एक है, ताकि टूट-फूट के आंकड़ों को बहुत ऊंचा रखने की ज़रूरत पड़े बिना मशीनरी के मूल्य को अल्पतर अवधि के भीतर पुनरुत्पादित किया जा सके। अगर, इसके विपरीत, जिस अल्प अवधि में मशीनरी कार्यसाधक रहती है, उसका (प्रत्याशित सुधारों की तुलना में उसके अल्प जीवन-काल का) इस प्रकार प्रतिकरण नहीं होता, तो वह नैतिक मूल्यह्रास के जरिये उत्पाद को अपने मूल्य का इतना अधिक अंश दे देती है कि वह हस्त श्रम के साथ भी मुक़ाबला नहीं कर पाती।[15]

मशीनरी, इमारतों के साजसामान, और सामान्य रूप में स्थायी पूंजी द्वारा एक निश्चित परिपक्वता प्राप्त कर लिये जाने के बाद, जिससे वे कम से कम अपनी बुनियादी बनावट में कुछ काल तक अपरिवर्तित बने रहते हैं, इस स्थायी पूंजी को पुनरुत्पादित करने की पद्धतियों में सुधारों के कारण इसी प्रकार का मूल्यह्रास उत्पन्न हो जाता है। इस प्रसंग में मशीनरी, आदि का मूल्य इतना इस कारण नहीं गिरता कि उसे नयी और अधिक उत्पादक मशीनरी, आदि द्वारा तेजी से निकाल बाहर और किसी हद तक मूल्यह्रासित कर दिया जाता है, बल्कि इस कारण कि उसे अधिक सस्ते पुनरुत्पादित किया जा सकता है। यह उन कारणों में से एक है कि क्यों बड़े उद्यम अकसर तब तक नहीं फूलते-फलते कि जब तक दूसरे हाथों में नहीं पहुंच जाते, अर्थात उनके पहले मालिक दीवालिये नहीं हो जाते, और उनके उत्तराधिकारी, जो उन्हें सस्ते ही ख़रीद लेते हैं, इसलिए आरंभ से ही पूंजी के न्यूनतर परिव्यय से शुरूआत करते हैं।

यह बात एकदम ही स्पष्ट दिखायी दे जाती है, विशेषतः कृषि के मामले में, कि जो कारक किसी उत्पाद के दाम को चढ़ाते या गिराते हैं, वे पूंजी के मूल्य को भी चढ़ाते या

---

[15] उदाहरणों के लिए औरों के अलावा बैबेज को देखिये [*On the Economy of Machinery and Manufactures*, London, 1832, pp. 280-81.—सं०]। इस प्रसंग में सामान्य उपाय—मजदूरी को घटाना—का भी उपयोग किया जाता है, जिससे यह निरंतर मूल्यह्रास मिस्टर कैरी के "सुसंगत मस्तिष्क" के सपनों के एकदम विपरीत काम करता है।

गिराते हैं, क्योंकि अंतोक्त में काफ़ी अंश तक यही उत्पाद–चाहे अनाज, ढोर, आदि के रूप में–समाविष्ट होता है (रिकार्डो*)।

परिवर्ती पूंजी पर विचार करना अभी बाक़ी है।

जिस सीमा तक श्रम शक्ति का मूल्य इस कारण चढ़ता है कि उसके पुनरुत्पादन के वास्ते आवश्यक निर्वाह साधनों के मूल्य में चढ़ाव आ जाता है, या इस कारण गिरता है कि उनके मूल्य में गिरावट आ जाती है–और परिवर्ती पूंजी की मूल्यवृद्धि और मूल्यह्रास इन दोनों प्रसंगों की अभिव्यंजनाओं के अलावा और कुछ नहीं हैं–वहां तक बेशी मूल्य में गिरावट ऐसी मूल्यवृद्धि के, और बेशी मूल्य में वृद्धि ऐसे मूल्यह्रास के अनुरूप होती है, बशर्ते कि कार्य दिवस की दीर्घता उतनी ही बनी रहे। किंतु इस प्रकार के प्रसंगों से अन्य परिस्थितियां–पूंजी का निर्मोचन और बंधना–भी संबद्ध हो सकती हैं, और चूंकि हमने उनका अभी तक विश्लेषण नहीं किया है, इसलिए अब हम उनका संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

अगर श्रम शक्ति के मूल्यह्रास के परिणामस्वरूप मजदूरी गिर जाती है (जिसके साथ-साथ श्रम की वास्तविक क़ीमत में चढ़ाव तक आ सकता है), तो पूंजी का अब तक मजदूरी में निवेशित अंश निर्मोचित हो जाता है। परिवर्ती पूंजी मुक्त हो जाती है। पूंजी के नये निवेशों के मामले में इसका सीधा सा प्रभाव यह होता है कि वह बेशी मूल्य की उच्चतर दर के साथ काम करने लगती है। श्रम की उतनी ही मात्रा को गतिशील करने के लिए अब पहले की अपेक्षा कम द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है और इस प्रकार श्रम का अशोधित अंश शोधित अंश के मोल पर बढ़ जाता है। लेकिन पहले से ही निवेशित पूंजी के मामले में न केवल बेशी मूल्य दर ही बढ़ जाती है, बल्कि पूंजी का पहले मजदूरी में निवेशित अंश भी निर्मोचित हो जाता है। व्यवसाय अगर अपने पुराने पैमाने पर चलता रहता, तो परिवर्ती पूंजी की तरह काम करता हुआ वह अभी तक बंधा हुआ था और एक ऐसे नियमित अंश का निर्माण करता था कि जिसे उत्पाद से हुई प्राप्तियों से काटना और मजदूरी के लिए पेशगी देना होता था। अब यह अंश मुक्त हो जाता है और नये निवेश की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है, फिर चाहे उसी व्यवसाय का प्रसार करने के लिए अथवा उत्पादन के किसी अन्य क्षेत्र में क्रियाशील होने के लिए।

मिसाल के लिए, मान लेते हैं कि शुरू में ५०० मजदूरों को नियोजित करने के लिए ५०० पाउंड प्रति सप्ताह आवश्यक थे और अब इसी प्रयोजन के लिए सिर्फ़ ४०० पाउंड की ही जरूरत है। यदि प्रत्येक प्रसंग में उत्पादित मूल्य की मात्रा = १,००० पाउंड है, तो पहले प्रसंग में साप्ताहिक बेशी मूल्य की राशि = ५०० पाउंड और बेशी मूल्य दर $\frac{५००}{५००} = १००\%$ होगी। लेकिन मजदूरी घटाने के बाद बेशी मूल्य की मात्रा १,००० पाउंड – ४०० पाउंड = ६०० पाउंड, और उसकी दर $\frac{६००}{४००} = १५०\%$ हो जायेगी। और उत्पादन के

---

*D. Ricardo, *On the Principles of Political Economy, and Taxation*, Third edition, London, 1821, Chapter II.–सं०

इस क्षेत्र में ४०० पाउंड की परिवर्ती पूंजी तथा तदनुरूप स्थिर पूंजी के साथ नया उद्यम शुरू करनेवाले के लिए बेशी मूल्य दर में यह वृद्धि ही एकमात्र प्रभाव होती है। लेकिन जब यह पहले से ही चलते व्यवसाय में होता है, तो परिवर्ती पूंजी का मूल्यह्रास न सिर्फ़ बेशी मूल्य की मात्रा को बढ़ाकर ५०० पाउंड से ६०० पाउंड, और बेशी मूल्य दर को १००% से १५०% कर देता है, बल्कि परिवर्ती पूंजी के १०० पाउंड को श्रम के और अधिक शोषण के लिए निर्मोचित भी कर देता है। अतः, श्रम की उतनी ही मात्रा का अधिक लाभ के साथ शोषण किया जाता है, और, इसके भी अलावा, १०० पाउंड का निर्मोचन ५०० पाउंड की उतनी ही परिवर्ती पूंजी से पहले की अपेक्षा अधिक मजदूरों का उच्चतर दर से शोषण संभव बना देता है।

अब विपरीत स्थिति ले लीजिये। मान लीजिये, ५०० नियोजित मजदूरों के साथ उत्पाद जिस मूल अनुपात में विभाजित है, वह $= ४००_v + ६००_s = १,०००$ है, जिससे बेशी मूल्य दर $= १५०\%$ हो जाती है। इस हालत में मजदूर प्रति सप्ताह ४/५ पाउंड, अथवा १६ शिलिंग पाता है। अगर, परिवर्ती पूंजी की मूल्यवृद्धि के कारण, ५०० मजदूरों की लागत ५०० पाउंड प्रति सप्ताह हो, तो उनमें से प्रत्येक की साप्ताहिक मजदूरी = १ पाउंड होगी, और ४०० पाउंड सिर्फ़ ४०० मजदूरों को ही नियोजित करेंगे। इसलिए, अगर पहले जितने ही मजदूरों को काम पर लगाया जाता है, तो हमारे सामने $५००_v + ५००_s = १,०००$ होगा। बेशी मूल्य दर गिरकर १५०% से १००% हो जायेगी, जो एक तिहाई है। नयी पूंजी के मामले में यह नीची बेशी मूल्य दर ही एकमात्र प्रभाव होगा। अन्य अवस्थाएं समान होने पर लाभ दर भी तदनुरूप गिर जाती, यद्यपि उसी अनुपात में नहीं। मसलन, अगर $c = २,०००$ है, तो पहले प्रसंग में $२,०००_c + ४००_v + ६००_s = ३,०००$। बेशी मूल्य दर=१५०%, लाभ दर $= \frac{६००}{२,४००} =$ =२५%। दूसरे प्रसंग में $२,०००_c + ५००_v + ५००_s = ३,०००$; बेशी मूल्य दर = १००%, लाभ दर $= \frac{५००}{२,५००} = २०\%$। तथापि पहले से ही निवेशित पूंजी के मामले में दुहरा प्रभाव होगा। ४०० पाउंड की परिवर्ती पूंजी से सिर्फ़ ४०० मजदूरों को ही नियोजित किया जा सकेगा, और वह भी १००% की बेशी मूल्य दर के साथ ही। इसलिए वे सिर्फ़ ४०० पाउंड का समस्त बेशी मूल्य ही उत्पादित करेंगे। इसके अलावा, चूंकि २,००० पाउंड की स्थिर पूंजी को अपनी क्रिया के लिए ५०० मजदूरों की आवश्यकता होती है, इसलिए ४०० मज़दूर सिर्फ़ १,६०० पाउंड की स्थिर पूंजी को ही गतिशील कर सकते हैं। उत्पादन के उसी पैमाने पर चलते रहने के लिए, जिससे मशीनरी का पंचमांश निष्क्रिय न रहे, परिवर्ती पूंजी में १०० पाउंड जोड़े जाने होंगे, ताकि पहले की ही भांति ५०० मजदूरों को नियोजित किया जा सके। और यह अब तक जो पूंजी निरवार्य थी, उसे बांधकर ही किया जा सकता है, जिससे कि उत्पादन के प्रसार के लिए नियत अभीष्ट संचय का एक भाग महज़ एक कमी को पूरा करने के ही काम आता है, अर्थात आय के लिए आरक्षित एक अंश को पुरानी पूंजी में जोड़ दिया जाता है। तब १०० पाउंड से वर्धित परिवर्ती पूंजी १०० पाउंड कम बेशी मूल्य उत्पादित करती है। मजदूरों की उतनी ही संख्या को नियोजित करने के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है और साथ ही प्रत्येक मजदूर द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य कम हो जाता है।

परिवर्ती पूंजी के निर्मोचन से उत्पन्न फ़ायदे और उसके बंधने से उत्पन्न नुक़सान, दोनों सिर्फ़ कुछ निश्चित अवस्थाओं के अंतर्गत पहले से ही निरत और अपने को पुनरुत्पादित करती

पूंजी के लिए ही ग्रस्तित्वमान होते हैं। नवनिवेशित पूंजी के लिए एक ग्रोर, फ़ायदे ग्रौर दूसरी ग्रोर, नुक़सान बेशी मूल्य दर में वृद्धि ग्रथवा गिरावट तक, ग्रौर लाभ दर में तदनुरूप, चाहे किसी भी प्रकार समानुपातिक नहीं, परिवर्तन तक ही सीमित होते हैं।

परिवर्ती पूंजी का ग्रभी-ग्रभी विश्लेषित निर्मोचन ग्रौर बंधना परिवर्ती पूंजी के तत्वों के, ग्रर्थात श्रम शक्ति को पुनरुत्पादित करने की लागत के मूल्यह्रास ग्रथवा मूल्यवृद्धि का परिणाम है। लेकिन परिवर्ती पूंजी तब भी निर्मोचित हो सकती थी कि ग्रगर ग्रपरिवर्तित मज़दूरी दर के साथ स्थिर पूंजी की उतनी ही राशि को गतिशील करने के लिए श्रम उत्पादिता के विकास के कारण कम मज़दूरों की ग्रावश्यकता होती। इसी प्रकार, ग्रगर उत्पादिता में गिरावट के कारण स्थिर पूंजी की उतनी ही मात्रा के लिए ग्रधिक मज़दूरों की ग्रावश्यकता होती है, तो इसके विपरीत ग्रतिरिक्त परिवर्ती पूंजी बंध सकती है। ग्रगर, इसके विपरीत, पहले परिवर्ती पूंजी की हैसियत से नियोजित पूंजी के एक ग्रंश का स्थिर पूंजी के रूप में नियोजन किया जाता है, जिससे कि उसी पूंजी के घटकों के बीच मात्र एक भिन्न वितरण स्थापित हो जाता है, तो इसका बेशी मूल्य दर ग्रौर लाभ दर – दोनों – पर प्रभाव पड़ता है, लेकिन यह पूंजी के निर्मोचन तथा बंधने के शीर्षक के ग्रंतर्गत नहीं ग्राता, जिसका यहां विवेचन किया जा रहा है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि स्थिर पूंजी ग्रपने संघटक तत्वों की मूल्यवृद्धि ग्रथवा मूल्यह्रास द्वारा भी बंध ग्रथवा निर्मोचित हो सकती है। इसके ग्रलावा, वह तब ही बंध सकती है कि ग्रगर श्रम की उत्पादक शक्ति बढ़ती है (बशर्ते कि परिवर्ती पूंजी का एक ग्रंश स्थिर पूंजी में परिवर्तित नहीं होता है), जिससे कि श्रम की उतनी ही मात्रा ग्रधिक उत्पाद का सर्जन करती है ग्रौर इसलिए ग्रधिक बड़ी स्थिर पूंजी को गतिशील करती है। ऐसा ही कुछ परिस्थितियों में तब भी हो सकता है कि ग्रगर उत्पादिता घटती है, उदाहरण के लिए, कृषि में, जिससे कि श्रम की उतनी ही मात्रा को उतनी ही उपज का उत्पादन करने के लिए बीज ग्रथवा खाद, नालियों, ग्रादि जैसे ग्रधिक उत्पादन साधनों की ग्रावश्यकता होती है। ग्रगर सुधार, प्राकृतिक शक्तियों का उपयोजन, ग्रादि ग्रल्पतर मूल्य की स्थिर पूंजी को प्राविधिक दृष्टि से वे काम संपन्न करने में समर्थ कर देते हैं, जिन्हें पहले ग्रधिक मूल्य की स्थिर पूंजी संपन्न करती थी, तो स्थिर पूंजी मूल्यह्रास के बिना निर्मोचित हो सकती है।

हम दूसरी पुस्तक में देख चुके हैं* कि जिंसों के द्रव्य में परिवर्तित किये जाने ग्रथवा बेचे जाने के साथ ही इस द्रव्य के एक निश्चित ग्रंश को – ग्रौर उत्पादन के क्षेत्र विशेष के प्राविधिक स्वरूप द्वारा ग्रपेक्षित मात्राग्रों में ही – स्थिर पूंजी के भौतिक तत्वों में पुनःपरिवर्तित करना ग्रावश्यक होता है। इस लिहाज से सभी शाखाग्रों में सबसे महत्वपूर्ण तत्व – मज़दूरी, ग्रर्थात परिवर्ती पूंजी को छोड़कर – कच्चे माल हैं, जिसमें सहायक सामग्री भी सम्मिलित है, जो उत्पादन की ऐसी शाखाग्रों में विशेषकर महत्वपूर्ण है, जिनमें बिलकुल सही ग्रर्थों में कच्चे मालों की ग्रपेक्षा नहीं होती, उदाहरण के लिए, खनन ग्रौर सामान्य रूप में निस्सारक उद्योगों में। क़ीमत का वह ग्रंश, जिसे मशीनरी की टूट-फूट का प्रतिकार करना है, जब तक मशीनरी तनिक भी चालू हालत में रहती है, परिकलन में मुख्यतः नाम को ही दाख़िल होता है। इसका

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण : खंड २, भाग ३। – सं०

कोई बहुत ज्यादा महत्व नहीं है कि उसे द्रव्य द्वारा शोधित तथा प्रतिस्थापित आज किया जाता है अथवा कल, या पूंजी की आवर्त अवधि की किसी भी अन्य मंज़िल में। कच्चे मालों के मामले में बात बिलकुल दूसरी होती है। अगर कच्चे मालों का दाम चढ़ता है, तो मजदूरी के काटे जाने के बाद उसका जिंसों की क़ीमत से पूर्णतः प्रतिकार कर पाना असंभव हो सकता है। अतः, दाम की प्रचंड घट-बढ़ पुनरुत्पादन की प्रक्रिया में व्यवधान, भारी टकराव और महासंकट तक उत्पन्न करती है। उधार पद्धति को फ़िलहाल अलग छोड़ दिया जाये, तो यह विशेषकर वास्तविक कृषि उपज, अर्थात जैव प्रकृति से प्राप्त कच्ची सामग्री ही है कि जो बदलती पैदावार, आदि के परिणामस्वरूप मूल्य की ऐसी घट-बढ़ से प्रभावित होती है। अनियंत्रणीय प्राकृतिक अवस्थाओं, अनुकूल अथवा प्रतिकूल मौसमों, आदि के कारण श्रम की उतनी ही मात्रा को उपयोग मूल्यों की अत्यंत भिन्न-भिन्न मात्राओं में प्रकट किया जा सकता है और इसलिए इन उपयोग मूल्यों की एक निश्चित मात्रा के दाम अत्यंत भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। अगर मूल्य x को क जिंस के १०० पाउंड से प्रकट किया जाता है, तो १ पाउंड क का दाम $= \frac{x}{१००}$; अगर उसे क के १,००० पाउंड से प्रकट किया जाता है, तो क के १ पाउंड का दाम $= \frac{x}{१,०००}$, आदि। इसलिए यह कच्चे मालों के दाम में इन घट-बढ़ों के तत्वों में से एक है। एक दूसरा तत्व, जिसका इस स्थल पर सिर्फ़ संपूर्णता के वास्ते ही उल्लेख किया जा रहा है – क्योंकि प्रतिस्पर्धा और उधार पद्धति अब भी हमारे विश्लेषण की परिधि के बाहर हैं – यह है: यह स्वाभाविक बात ही है कि उद्भिज तथा जांतव पदार्थों को, जिनका विकास और उत्पादन कुछेक जैव नियमों के अधीन हैं और निश्चित प्राकृतिक समयावधियों के साथ जुड़े हुए हैं, अचानक उतनी ही मात्रा में नहीं बढ़ाया जा सकता कि जितना, मसलन, मशीनों तथा अन्य स्थायी पूंजी, अथवा कोयले, अयस्क आदि को, जिनके पुनरुत्पादन की औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश में तेज़ी से सिद्धि की जा सकती है, बशर्ते कि प्राकृतिक अवस्थाएं नहीं बदलतीं। इसलिए यह बिलकुल संभव है और पूंजीवादी उत्पादन की विकसित पद्धति के अंतर्गत अनिवार्य तक है कि स्थिर पूंजी के जैव कच्चे मालों से निर्मित अंश की तुलना में स्थायी पूंजी, मशीनरी, आदि से निर्मित अंश का उत्पादन और वृद्धि काफ़ी आगे निकल जाये, जिससे प्रथमोक्त के लिए मांग पूर्ति की अपेक्षा अधिक तेज़ी के साथ बढ़ती है, जिसके कारण उनके दाम चढ़ जाते हैं। चढ़ते दामों के कारण वस्तुतः १) इन कच्चे मालों को अधिक दूरियों से भेजा जाने लगता है, क्योंकि चढ़ते दाम अधिक भाड़ा दरों को पूरा करने के लिए काफ़ी होते हैं; २) उनका उत्पादन बढ़ जाता है, जो तथ्य फिर भी, प्राकृतिक कारणों से, संभवतः अगले साल तक उत्पादों की मात्रा को नहीं बढ़ायेगा; ३) अब तक अप्रयुक्त विभिन्न प्रतिस्थापकों का उपयोग और अपशिष्टों का पहले से अधिक इस्तेमाल होने लगता है। जब दामों की यह वृद्धि उत्पादन और पूर्ति पर स्पष्ट प्रभाव डालने लगती है, तो अधिकांश मामलों में यह इसका सूचक होता है कि उस मोड़ बिंदु पर पहुंचा जा चुका है, जिस पर कच्चे माल के और उन सभी जिंसों के कि जिनका वह तत्व है, दाम में दीर्घकालिक चढ़ाव के कारण मांग गिर जाती है, जिससे कच्चे माल के दाम में प्रतिक्रिया होती है। पूंजी के मूल्यह्रास के ज़रिये इसके परिणामस्वरूप विभिन्न रूपों में जो उथल-पुथल मचती है, उसके अलावा और परिस्थितियां भी उत्पन्न होती हैं, जिनका हम संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

पूर्वलिखित से इतना तो अब भी प्रत्यक्ष है: पूंजीवादी उत्पादन का विकास जितना ही अधिक होगा, और, फलतः, स्थिर पूंजी के जिस अंश में मशीनरी, आदि होते हैं, उसे अचानक तथा स्थायी रूप में बढ़ाने के साधन जितने ही अधिक होंगे, और संचय जितना ही अधिक तीव्र होगा (विशेषकर समृद्धि के दिनों में), मशीनरी तथा अन्य स्थायी पूंजी का आपेक्षिक अत्युत्पादन उतना ही अधिक होगा, उद्भिज तथा जांतव कच्चे मालों का आपेक्षिक न्यूनोत्पादन उतना ही अधिक प्रायिक होगा, और उनके दामों की पूर्ववर्णित वृद्धि तथा सहवर्ती प्रतिक्रिया उतनी ही अधिक सुस्पष्ट होगी। और पुनरुत्पादन प्रक्रिया में एक मुख्य तत्व की प्रचंड दाम घट-बढ़ से उत्पन्न होने से उथल-पुथलें भी उतनी ही अधिक प्रायिक होती हैं।

लेकिन अगर इन ऊंचे दामों का निपात हो जाता है, क्योंकि उनके चढ़ाव ने एक ओर तो मांग में गिरावट पैदा कर दी थी, और, दूसरी ओर, एक जगह उत्पादन का प्रसार और दूसरी जगह दूरस्थ तथा पहले कम अवलंबित, अथवा पूर्णतः उपेक्षित उत्पादन क्षेत्रों से आयातन, और, दोनों ही मामलों में, कच्चे मालों की पूर्ति का मांग से आधिक्य, सो भी पुराने ऊंचे दामों पर, तो परिणाम पर भिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। कच्चे मालों के दाम का अचानक निपात उनके पुनरुत्पादन को अवरुद्ध करता है और फलतः मूल उत्पादक देशों का, जो उत्पादन की अत्यंत अनुकूल अवस्थाओं का उपभोग करते हैं, एकाधिकार बहाल हो जाता है—संभवतः कुछेक परिसीमनों के साथ, लेकिन बहाल हो ही जाता है। बेशक, उसे जो संवेग मिल चुका था, उसके कारण कच्चे माल का पुनरुत्पादन विस्तारित पैमाने पर होता है, ख़ासकर उन देशों में, जिन्हें इस उत्पादन का कमोबेश एकाधिकार प्राप्त है। लेकिन मशीनरी, आदि के विस्तार के बाद उत्पादन जिस आधार पर चलता रहता है, और जिसे, कुछ घट-बढ़ के बाद, नये सामान्य आधार का, नये प्रस्थान बिंदु का, काम देना है, वह आवर्त के पूर्ववर्ती चक्र में प्रक्रियाओं द्वारा बहुत अधिक विस्तारित कर दिया गया है। इस बीच मुश्किल से ही वर्धित पुनरुत्पादन पूर्ति के कुछ गौण स्रोतों में फिर काफ़ी बाधाएं अनुभव करने लगता है। मसलन, निर्यात सारणियों के आधार पर यह आसानी से दिखलाया जा सकता है कि पिछले तीस वर्षों में (१८६५ तक) जब भी अमरीकी उत्पादन में गिरावट आती है, भारत में कपास का उत्पादन बढ़ जाता है और तदनंतर वह फिर कमोबेश स्थायी रूप में गिर जाता है। जिन दौरों में कच्चे माल महंगे होते हैं, औद्योगिक पूंजीपति आपस में मिल जाते हैं और उत्पादन को नियमित करने के लिए संघ बना लेते हैं। मिसाल के लिए, उन्होंने १८४८ में कपास की क़ीमतों के चढ़ने के बाद मैंचेस्टर में, और इसी प्रकार आयरलैंड में फ़्लैक्स उत्पादन के मामले में भी किया था। लेकिन जैसे ही तात्कालिक प्रेरणा ख़त्म होती है और "सस्ते से सस्ते बाज़ार में ख़रीदने" की प्रतिस्पर्धा (उत्पत्ति के देशों में उत्पादन को प्रोत्साहित करने के बजाय, जैसा कि संघ उस तात्कालिक दाम की परवाह किये बिना करने की कोशिश करते हैं, जिस पर कि वे देश उस समय अपने उत्पाद की पूर्ति करने में समर्थ हो सकते हैं) के सामान्य नियम, प्रतिस्पर्धा के नियम का फिर से बोलबाला होता है, पूर्ति का नियमन एक बार फिर "दामों" पर छोड़ दिया जाता है। कच्चे मालों के उत्पादन के सामान्य, सर्वांगीण तथा दूरदर्शितापूर्ण नियंत्रण का सारा विचार एक बार फिर इस विश्वास के आगे हार मान जाता है कि मांग और पूर्ति परस्पर एक दूसरे का नियमन कर लेंगी। और यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि ऐसा नियंत्रण समूचे तौर पर पूंजीवादी उत्पादन के नियमों से असंगत है और हमेशा एक नेक इरादा ही बना रहता है, अथवा भारी तनाव और गड़बड़ के वक़्तों में आपवादिक सहयोग तक ही सीमित रहता

है।[16] इस मामले में पूंजीपतियों का अंधविश्वास इतना गहरा है कि अपनी रिपोर्ट में कारख़ाना निरीक्षक भी बारंबार अचरज से हकबका जाते हैं। अच्छे और बुरे वर्षों का बारी-बारी से आना भी क़ुदरती तौर पर अधिक सस्ते कच्चे मालों को सुनिश्चित करता है। मांग को बढ़ाने पर इसका जो प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, उसके अलावा लाभ दर को पूर्वोक्त प्रभाव से अतिरिक्त प्रोत्साहन भी मिलता ही है। मशीनरी, आदि के उत्पादन द्वारा कच्चे मालों के उत्पादन को धीरे-धीरे पीछे छोड़े जाने की पूर्वोक्त प्रक्रिया की तब और बड़े पैमाने पर पुनरावृत्ति होती है। केवल वांछित मात्रा ही नहीं, वांछित कोटि को भी तुष्ट करनेवाला कच्चे मालों का वास्तविक सुधार, जैसे भारत से अमरीकी कोटि की कपास, दीर्घकालिक, नियमित रूप में बढ़ती और स्थिर यूरोपीय मांग की अपेक्षा करेगा (इससे निरपेक्ष कि भारतीय उत्पादक अपने देश में किन आर्थिक अवस्थाओं में श्रम करता है)। लेकिन, जैसे होता है, कच्चे मालों का उत्पादन क्षेत्र, झटकों में, पहले सहसा फैला दिया जाता है और इसके बाद फिर एकदम सीमित कर दिया जाता है। इस सब का, और सामान्यरूपेण पूंजीवादी उत्पादन के चरित्र का, १८६१-६५ के कपास के अभाव में बड़ी अच्छी तरह से अध्ययन किया जा सकता है, जिसकी एक और विशेषता यह बात थी कि कच्चे माल, पुनरुत्पादन के मुख्य तत्वों में से एक, कुछ समय के लिए पूर्णतः अनुपलभ्य हो गये थे। बेशक, प्रचुर पूर्ति के परिणामस्वरूप भी दाम चढ़ सकता है, बशर्ते कि इस प्राचुर्य की अवस्थाएं अधिक उलझी हुई हों। या कच्चे मालों की वास्तविक कमी हो सकती है। कपास संकट में आरंभ में यह अंतिम परिस्थिति ही व्याप्त थी।

उत्पादन के इतिहास में हम जितना ही स्वयं अपने समय के निकट आते हैं, उतना ही अधिक नियमितता के साथ हम जैव प्रकृति से प्राप्त कच्चे मालों की आपेक्षिक मूल्यवृद्धि और बाद में परिणामी मूल्यह्रास के बीच चिर आवर्ती एकांतरण पाते हैं, विशेषकर उद्योग की बुनियादी शाखाओं में। हमने अभी जो विश्लेषण किया है, उसे कारख़ाना निरीक्षकों की रिपोर्ट से लिये गये निम्न उदाहरणों से स्पष्ट किया जायेगा।

इतिहास की सीख, जिसे कृषि के बारे में दूसरे प्रेक्षणों से भी निकाला जा सकता है, यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था युक्तिमूलक कृषि के विरुद्ध काम करती है, अथवा युक्तिमूलक कृषि पूंजीवादी व्यवस्था के साथ असंगत है (यद्यपि अंतोक्त कृषि में प्राविधिक सुधारों का

---

[16] उपरोक्त के लिखे जाने (१८६५) के बाद सभी सभ्य देशों में, विशेषकर अमरीका और जर्मनी में, उद्योग के तीव्र विकास से विश्व बाज़ार में प्रतिस्पर्धा काफ़ी तेज़ हो गयी है। पूंजीपतियों के दिमाग़ों पर भी यह तथ्य अधिकाधिक जमता जा रहा है कि तीव्र और असाधारण रूप में बढ़ती उत्पादक शक्तियां आज पूंजीवादी प्रणाली के पण्य विनिमय के नियमों के नियंत्रण के बाहर निकल जाती हैं, जिनके भीतर उनको काम करना चाहिए। यह विशेषकर दो लक्षणों से प्रकट होता है। एक तो संरक्षण प्रशुल्क के लिए नये और आम उन्माद से, जो पुराने संरक्षणवाद से इस बात में भिन्न है कि अब निर्यात के योग्य माल ही वे हैं, जो सबसे अधिक संरक्षित हैं। और दूसरे, पूरे के पूरे उत्पादन क्षेत्रों के निर्माताओं के ट्रस्टों से, जो उत्पादन को, और इस प्रकार दामों और लाभों को नियमित करते हैं। यह कहना अनावश्यक है कि ये प्रयोग तब तक ही व्यवहार्य हैं कि जब तक आर्थिक मौसम अपेक्षाकृत अनुकूल होता है। पहला ही तूफ़ान उन्हें गड़बड़ा देगा और सिद्ध कर देगा कि यद्यपि उत्पादन को निश्चय ही नियमन की ज़रूरत है, फिर भी निस्संदेह यह पूंजीपति वर्ग नहीं है कि जो इस काम को कर सकता है। इधर ट्रस्टों का इसके अलावा और कोई ध्येय नहीं है कि इसका ध्यान रखें कि छोटी मछलियों को बड़ी मछलियां पहले से भी ज़्यादा तेज़ी से निगल जायें। – फ़्रे० एं०

संवर्धन करती है), और उसे या तो स्वयं अपने श्रम पर जीनेवाले छोटे किसान के हाथ की या सहयोगी उत्पादकों के नियंत्रण की आवश्यकता होती है।

अब उपरोद्धृत आंग्ल कारख़ाना रिपोर्टों से लिये गये उदाहरण दिये जा रहे हैं।

"कारबार की हालत बेहतर है; लेकिन मशीनरी के बढ़ते जाने के साथ अच्छे और बुरे ज़मानों का चक्र घटता जाता है, और ज्यों-ज्यों उसके साथ कच्चे मालों की मांग बढ़ती है, एक से दूसरे में परिवर्तन अधिक प्रायिकता से होते हैं... इस समय आत्मविश्वास न सिर्फ़ १८५७ के तहलके के बाद बहाल हो गया है, बल्कि ख़ुद तहलका भी लगभग बिसरा दिया गया लगता है। यह सुधार जारी रहेगा या नहीं, यह बहुत हद तक कच्चे मालों के दाम पर निर्भर करता है। अब भी मुझे इसके आसार नज़र आने लगे हैं कि कुछ मामलों में उस अधिकतम पर पहुंचा जा चुका है, जिसके आगे उत्पादन शनैः शनैः कम लाभदायी होता जाता है और अंत में बिलकुल भी लाभदायी नहीं रहता। अगर हम, उदाहरण के लिए, वर्स्टेड [ऊनी सूत] व्यापार में १८४९ और १८५० के लाभप्रद वर्षों को ले लें, तो हम देखते हैं कि अंग्रेज़ी कांबिंग ऊन का दाम १ शिलिंग १ पेंस और आस्ट्रेलियाई का १ शिलिंग २ पेंस और १ शिलिंग ५ पेंस प्रति पाउंड के बीच था, और १८४१ से १८५० के, दोनों सहित, दस वर्षों के औसत पर, अंग्रेज़ी ऊन का दाम कभी १ शिलिंग २ पेंस, और आस्ट्रेलियाई का १ शिलिंग ५ पेंस प्रति पाउंड के ऊपर नहीं गया था। लेकिन १८५७ के विनाशक साल के आरंभ में आस्ट्रेलियाई ऊन का दाम १ शिलिंग ११ पेंस से शुरू होकर दिसंबर में गिरकर १ शिलिंग ६ पेंस हो गया, जब तहलका अपने चरम पर था, लेकिन १८५८ में धीरे-धीरे चढ़कर फिर १ शिलिंग ९ पेंस हो गया है, जिस पर वह अब क़ायम है; जबकि अंग्रेज़ी ऊन का दाम, १ शिलिंग ८ पेंस से शुरू होकर और अप्रैल तथा सितंबर, १८५७ में १ शिलिंग ९ पेंस तक चढ़ जाने, जनवरी, १८५८ में १ शिलिंग २ पेंस तक गिर जाने के बाद चढ़कर १ शिलिंग ५ पेंस हो गया है, जो उन दस वर्षों के औसत से, जिसका मैंने उल्लेख किया है, ३ पेंस प्रति पाउंड ऊंचा है... मेरे ख़याल में यह तीन चीज़ों में से एक को दिखलाता है – या तो यह कि वे दिवाले बिसरा दिये गये हैं, जो १८५७ में ऐसे ही दामों के कारण निकले थे; या यह कि इतना ऊन मुश्किल से ही पैदा किया जा रहा है कि जिसका विद्यमान तकुए उपयोग कर सकते हैं; या फिर यह कि निर्मित मालों के दाम स्थायी रूप में ऊंचे होनेवाले हैं... और चूंकि विगत अनुभव में मैं तकुओं और करघों को अविश्वसनीय रूप में अल्प अवधि के भीतर संख्या और गति, दोनों ही, में बढ़ते और फ़्रांस को हमारे ऊन के निर्यात को लगभग समान अनुपात में बढ़ते देख चुका हूं, और चूंकि देश में और विदेश में भी बढ़ती हुई आबादियों के कारण और जिसे कृषिजीवी 'पशुओं से शीघ्र धनलाभ' कहते हैं, के कारण भेड़ों की आयु लगातार कम ही होती जाती प्रतीत होती है, इसलिए मुझे अकसर ऐसे लोगों के लिए चिंता हुई है, जिन्हें मैंने, इस जानकारी के बिना, अपनी बुद्धि और पूंजी को ऐसे उपक्रमों में लगाते देखा है, जो अपनी सफलता के लिए पूर्णतः एक ऐसे उत्पाद पर निर्भर हैं, जिसे सिर्फ़ जैव नियमों के अनुसार ही बढ़ाया जा सकता है।... सभी कच्ची सामग्रियों की पूर्ति और मांग की यही अवस्था... विगत अवधियों में कपास व्यापार में बहुत से उतार-चढ़ावों का और अपने विनाशकारी परिणामों के साथ १८५७

के शरद में अंग्रेजी ऊन बाज़ार की अवस्थाओं का भी कारण प्रतीत होती है।[17] (R. Baker in *Reports of Insp. of Fact., October, 1858*, pp. 56-61.)

यार्कशायर के वेस्ट-राइडिंग वर्स्टेड उद्योग का सुखशांति काल १८४६-५० का समय था। इस उद्योग में १८३८ में २६,२४६ व्यक्ति, १८४३ में ३७,००० व्यक्ति, १८४५ में ४८,०६७, व्यक्ति, और १८५० में ७४,८६१ व्यक्ति काम कर रहे थे। इसी ज़िले में १८३८ में २,७६८, १८४१ में ११,४५८, १८४३ में १६,८७०, १८४५ में १६,१२१, और १८५० में २६,५३६ यांत्रिक करघे थे। (*Reports of Insp. of Fact., 1850*, p. 60.) धूनित ऊन उद्योग की इस समृद्धि ने तो अक्तूबर, १८५० में ही कुछ अपशकुन पैदा कर दिये थे। अप्रैल, १८५१ की अपनी रिपोर्ट में उपनिरीक्षक बेकर ने लीड्स तथा ब्रैडफ़ोर्ड के बारे में कहा था: "व्यवसाय की हालत बहुत असंतोषजनक है और कुछ समय से ऐसी ही बनी रही है। वर्स्टेड कातनेवाले १८५० के मुनाफ़े बहुत तेज़ी के साथ गंवा रहे हैं, और, अधिकांश मामलों में, कारख़ानेदार कोई बहुत अच्छी हालत में नहीं हैं। मुझे विश्वास है कि मैंने लगभग कभी भी एक साथ जितना देखा है, इस समय उससे ज़्यादा ऊनी मशीनरी निष्क्रिय पड़ी हुई है, और फ़्लैक्स कातनेवाले भी मज़दूरों को निकाल रहे हैं और फ़्रेमों को ठप्प कर रहे हैं। वास्तव में तांतव वस्त्रों में व्यवसाय के चक्र इस समय अत्यंत ही अनिश्चित हैं, और मेरे ख़याल में हम जल्दी ही इस बात को सही पायेंगे... कि तकुओं की उत्पादक शक्ति, कच्चे मालों की मात्रा, और जनसंख्या की वृद्धि के बीच कोई संतुलन नहीं है" (पृ० ५२)।

कपास उद्योग के बारे में भी यही बात है। अक्तूबर, १८५८ की उपरोद्धृत रिपोर्ट में हम पढ़ते हैं: "जब से कारख़ानों में श्रम के घंटों को नियत किया गया है, तब से सभी तांतव वस्त्रों में खपत, उत्पाद और मज़दूरी की मात्राओं को एक त्रैराशिक नियम में परिणत कर दिया गया है।... मैं ब्लैकबर्न के वर्तमान महापौर, मिस्टर बेन्स, द्वारा कपास उद्योग पर... हाल ही में दिये एक भाषण से उद्धरण देता हूं, जिन्होंने अपने इलाक़े के कपास संबंधी आंकड़ों को ऐसे ही तरीक़ों से बड़ी सटीकता के साथ प्रस्तुत किया है:

"'प्रत्येक वास्तविक तथा यांत्रिक अश्व शक्ति सज्जा के साथ ४५० स्वत:क्रिय म्यूल तकुओं को, अथवा २०० थ्रॉसेल तकुओं को, अथवा आवलन, तानन तथा चिक्कणन के साथ ४० इंची कपड़े के १५ करघों को चलायेगी। प्रत्येक अश्व शक्ति कताई में २ १/२ कामगारों को, लेकिन बुनाई में १० लोगों को औसतन पूरे १० शिलिंग ६ पेंस प्रति सप्ताह प्रति व्यक्ति मज़दूरी पर काम देगी... काते और बुने गये सूत के औसत काउंट (गणनांक) ताने के लिए ३० से ३२ और बाने के लिए ३४ से ३६ होते हैं; और कताई के उत्पादन को १३ आउंस प्रति तकुआ प्रति सप्ताह मान लिया जाये, तो प्रति सप्ताह ८,२४,७०० पाउंड सूत काता जायेगा, जिसके लिए २८,३०० पाउंड की लागत पर ६,७०,००० पाउंड अथवा २,३०० गांठ सूत की आवश्यकता होगी।... इस ज़िले में (ब्लैकबर्न के आसपास ५ मील के अर्धव्यास के भीतर) उपभुक्त कुल कपास प्रति सप्ताह १५,३०,००० पाउंड, अथवा ३,६५० गांठ है, जिसकी लागत ४४,६२५ पाउंड होती है... यह युनाइटेड किंगडम की कुल सूत कताई का अठारहवां भाग, और कुल यांत्रिक करघा बुनाई का छठा भाग है।'

---

[17] यह कहना अनावश्यक है कि मिस्टर बेकर की तरह हम १८५७ के ऊन संकट की **व्याख्या** कच्चे मालों और उत्पाद के दामों के बीच असंगति के आधार पर नहीं करते हैं। स्वयं यह असंगति मात्र एक लक्षण थी और संकट सार्विक था।—फ़े० एं०

"इस प्रकार, हम देखते हैं कि मि० बेन्स के परिकलनों के अनुसार, युनाइटेड किंगडम में कपास कातने के तकुओं की कुल संख्या २,८८,००,००० है, और अगर यह मान लिया जाये कि ये हमेशा पूरे समय ही काम करते रहते हैं, तो कपास की वार्षिक खपत को १,४३,२०,८०,००० पाउंड होना चाहिए। लेकिन चूंकि १८५६ और १८५७ में कपास का आयात निर्यातित मात्रा को छोड़कर—सिर्फ़ १,०२,२५,७६,८३२ पाउंड ही था, इसलिए पूर्ति में अनिवार्यत: ४०,९५,०३,१६८ पाउंड के बराबर कमी होनी चाहिए। लेकिन मि० बेन्स का, जिन्होंने इस विषय पर मुझसे पत्र-व्यवहार करने की कृपा की है, ख़याल है कि ब्लैकबर्न ज़िले में प्रयुक्त मात्रा पर आधारित कपास की वार्षिक खपत के न केवल कताई गणनांकों में, बल्कि मशीनरी की उत्कृष्टता में भी अंतर के कारण अधिक कूते जाने की संभावना है। वह युनाइटेड किंगडम में कपास की कुल वार्षिक खपत को १,००,००,००,००० पाउंड कूतते हैं। लेकिन अगर यह सही है और वस्तुत: २,२५,७६,८३२ पाउंड के बराबर अधिपूर्ति है, तो उन अतिरिक्त तकुओं और करघों को विचार में लाये बिना भी, जिन्हें मि० बेन्स ख़ुद अपने ज़िले में, और तर्कणा साम्य से, संभवत: और ज़िलों में भी काम के लिए तैयार होते बताते हैं, पूर्ति और मांग अब भी लगभग संतुलित हो चुकी प्रतीत होती हैं" (पृ० ५९, ६०)।

३. सामान्य उदाहरण। १८६१-६५ का कपास संकट

प्रारंभिक इतिहास। १८४५-६०

१८४५। कपास उद्योग का स्वर्णयुग। कपास का दाम बहुत नीचा है। एल० हॉर्नर इस प्रसंग में कहते हैं: "पिछली गरमियों और शरद में व्यवसाय की, ख़ासकर कपास कताई में, जैसी सक्रिय हालत रही है, वैसी पिछले आठ साल से मैंने नहीं देखी है। पूरी छमाही भर मुझे हर सप्ताह कारख़ानों में, या तो बनाये जा रहे नये कारख़ानों के, या जो कुछेक ख़ाली पड़े हुए थे, उनके लिए दख़लदार मिल जाने के, या विद्यमान कारख़ानों के बढ़ाये जाने के, या वर्धित शक्ति के नये इंजनों के, या फिर निर्माण मशीनरी के रूप में पूंजी के नये निवेशों की सूचनाएं मिलती रही हैं।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1845*, p. 13.)

१८४६। शिकायतें शुरू हो जाती हैं: "पिछले काफ़ी समय से मैंने कपास कारख़ानों के दख़लदारों से उनके व्यवसाय की मंदी की हालत के बारे में बहुत आम शिकायतें सुनी हैं... क्योंकि पिछले छ: सप्ताह के भीतर अनेक कारख़ानों ने कम समय, आम तौर पर बारह के बजाय आठ घंटे रोज़ काम करना शुरू कर दिया है; यह बढ़ता हुआ लगता है।... कच्चे मालों के दाम में बहुत तेज़ी आ गयी है,... तैयार मालों में न सिर्फ़ तेज़ी नहीं आयी है, बल्कि... कपास में तेज़ी शुरू होने के पहले के मुक़ाबले दाम नीचे हैं। पिछले चार वर्षों के भीतर सूती कारख़ानों की संख्या में भारी वृद्धि से एक ओर तो कच्चे मालों की मांग बहुत अधिक बढ़ गयी होगी, और, दूसरी ओर, बाज़ार में तैयार मालों की पूर्ति बहुत अधिक हो गयी होगी; ये ऐसे कारण हैं कि जिन्होंने, अगर यह मान लिया जाये कि कच्चे मालों की पूर्ति और तैयार मालों की खपत अपरिवर्तित रही हैं, तो मुनाफ़ों के ख़िलाफ़ एकसाथ क्रिया की होगी; लेकिन, निस्संदेह, पिछले कुछ समय से कपास की अल्प पूर्ति के, और स्वदेशी तथा विदेशी—दोनों—अनेक बाज़ारों में तैयार मालों की मांग के गिर जाने के कारण और भी अधिक अनुपात में।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1846*, p. 10.)

कच्चे मालों की चढ़ती मांग क़ुदरती तौर पर तैयार मालों से परिपूर्ण बाज़ार के साथ-साथ चल रही थी। प्रसंगतः, उस समय उद्योग का प्रसार और उत्तरवर्ती गतिरोध कपास उद्योग के ज़िलों तक ही सीमित नहीं थे। ब्रैडफ़ोर्ड के धूनित ऊन के ज़िले में १८३६ में सिर्फ़ ३१८ और १८४६ में ४६० कारख़ाने थे। ये आंकड़े उत्पादन की वास्तविक वृद्धि को किसी भी प्रकार प्रकट नहीं करते हैं, क्योंकि विद्यमान कारख़ानों का भी पर्याप्त प्रसार किया जा रहा था। यह बात फ़्लैक्स कताई कारख़ानों के बारे में ख़ासकर सही थी। "पिछले दस वर्षों में बाज़ार के माल से अतिपूरित किये जाने में कमोबेश सभी ने योग दिया है, जिसे व्यापार के वर्तमान गतिरोध का काफ़ी दोष दिया जाना चाहिए।... मंदी... क़ुदरती तौर पर कारख़ानों और मशीनरी की ऐसी तीव्र वृद्धि का ही परिणाम होती है।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1846*, p. 30.)

१८४७। अक्तूबर में मुद्रा संत्रास। बट्टा ८%। इसके पहले रेलवे जालसाज़ी और ईस्ट इंडियन निभाव हुंडियों के सट्टे की अफ़रा-तफ़री मची थी। लेकिन :

"मि० बेकर संबंधित उद्योगों के भारी विस्तार के कारण पिछले कुछ वर्षों से कपास, ऊन, फ़्लैक्स की मांग की वृद्धि के बारे में बहुत दिलचस्प तफ़सीलों में जाते हैं। वह एक ऐसे समय कि जब उपज औसत पूर्ति से बहुत नीचे गिर गयी है, इन कच्चे मालों की बढ़ी हुई मांग को मुद्रा अव्यवस्था का ज़िक्र किये बिना भी इन उद्योग शाखाओं की मौजूदा हालत की व्याख्या करने के लिए काफ़ी समझते हैं। इस राय की स्वयं मेरे प्रेक्षणों और व्यवसाय से सुपरिचित लोगों के साथ बातचीत से पूरी तरह से पुष्टि होती है। ये विभिन्न शाखाएं बड़ी मंदी की हालत में थीं, जबकि ५ प्रतिशत पर और उसके भी नीचे भुनवाइयां फ़ौरन हो जाती थीं। इसके विपरीत, कच्चे रेशम की पूर्ति प्रचुर और दाम नरम रहे हैं और फलतः, व्यापार बहुत सक्रिय रहा है... अभी पिछले दो या तीन सप्ताह तक ही, जब बिला किसी शक के मुद्रा अव्यवस्था ने न सिर्फ़ ख़ुद रेशम के कारख़ानेदारों को, बल्कि, और भी व्यापक रूप में, उनके मुख्य ग्राहक – फ़ैंसी मालों के निर्माताओं – को भी प्रभावित कर दिया है। प्रकाशित विवरणों को देखने से पता चलता है कि कपास व्यवसाय पिछले तीन वर्षों में लगभग २७ प्रतिशत बढ़ गया है। फलतः, कपास का दाम, पूर्णांकों में, बढ़कर ४ पेंस से ६ पेंस प्रति पाउंड हो गया है, जबकि वर्धित पूर्ति के परिणामस्वरूप धागा अभी अपने पुराने दाम के बस कुछ ही ऊपर है। ऊन व्यवसाय ने अपनी वृद्धि १८३६ में शुरू की, जब से यार्कशायर ने इस माल का उत्पादन ४० प्रतिशत बढ़ा लिया है, लेकिन स्कॉटलैंड और भी अधिक वृद्धि दिखला रहा है। वर्स्टेड व्यवसाय[18] की वृद्धि तो और भी बड़ी है। परिकलन इसी अवधि के भीतर ७४ प्रतिशत से अधिक की वृद्धि का परिणाम देते हैं। इसलिए कच्चे ऊन की खपत बहुत भारी रही है। फ़्लैक्स उद्योग में १८३९ से इंगलैंड में लगभग २५ प्रतिशत, स्कॉटलैंड में २२ प्रतिशत और आयरलैंड में कोई ६० प्रतिशत वृद्धि हुई है[19]; इस कारण और साथ ही बुरी फ़सलों के कारण परिणाम

[18] इंगलैंड में ऊनी उत्पादन में, जो छोटे रेशे के ऊन से धूनित सूत बटता है और उससे कपड़ा बुनता है (मुख्य केंद्र – लीड्स) और वर्स्टेड उत्पादन में, जो लंबे रेशे के ऊन से वर्स्टेड सूत बनाता और बुनाई करता है (मुख्य केंद्र – यार्कशायर में ब्रैडफ़ोर्ड) सुस्पष्ट अंतर किया जाता है। – फ़्रे० एं०

[19] आयरलैंड में मशीन निर्मित लिनन सूत के उत्पादन के तीव्र प्रसार ने जर्मनी (साइलीशिया, लुसाशिया और वैस्टफ़ालिया) में हस्तनिर्मित सूत से बने लिनन के निर्यात को सांघातिक चोट पहुंचायी। – फ़्रे० एं०

यह रहा है कि कच्चे माल का दाम १० पाउंड प्रति टन चढ़ गया है, जबकि सूत का दाम ६ पेंस प्रति गट्ठर गिर गया है।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1847*, pp. 30-31.)

१८४६। १८४८ के पिछले हिस्से से कारबार संभला है। "फ़्लैक्स के दाम ने, जो इतना नीचा रहा है कि किसी भी भावी परिस्थिति में यथोचित लाभ सुनिश्चित कर सकता है, कारख़ानेदारों को अपना काम बहुत स्थिरतापूर्वक जारी रखने के लिए प्रेरित किया है।... ऊन के कारख़ानेदार साल के आरंभिक हिस्से में कुछ समय तक अत्यंत व्यस्त रहे थे।... मुझे भय है कि ऊनी माल के परेषण अकसर वास्तविक मांग का स्थान ले लेते हैं और आभासी समृद्धि के, अर्थात पूरे काम के, दौर हमेशा ही यथार्थ मांग के दौर नहीं होते हैं। कुछ महीनों में वर्स्टेड उत्पादन बहुत ही अच्छा, वास्तव में ज़ोरदार रहा है।... जिस दौर का उल्लेख किया गया है, उसके आरंभ में ऊन बेहद मंदा था; कारख़ानेदारों ने जितना ख़रीदा, अच्छे लाभ पर ही ख़रीदा और, निस्संदेह, काफ़ी मात्राओं में ख़रीदा। जब ऊन की वासंतिक बिक्री के साथ ऊन का दाम चढ़ा, तो कारख़ानेदार लाभकर स्थिति में थे और निर्मित मालों की मांग के काफ़ी और अनिवार्य बनते जाने से उन्होंने अपनी यह स्थिति बरकरार रखी।" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1849*, p. 42.)

"अगर हम कारबार की हालत में आये उन परिवर्तनों की तरफ़ देखें, जो युनाइटेड किंगडम के औद्योगिक ज़िलों में अब से तीन और चार साल के बीच के दौर में आये हैं, तो मेरे ख़याल में हमें मानना होगा कि कहीं कोई बहुत ही विक्षोभकारी कारण मौजूद है...लेकिन क्या बढ़ी हुई मशीनरी की अत्यधिक उत्पादक शक्ति ने इसी कारण में एक और तत्व नहीं जोड़ दिया होगा?" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1849*, pp. 42, 43.)

१८४८ के नवंबर में, और १८४६ के मई तथा ग्रीष्म में, और ठेठ अक्तूबर तक कारबार ज़ोर पर ही रहा। "वर्स्टेड मालों का कारबार ही सबसे अधिक सक्रिय रहा है, ब्रैडफ़ोर्ड और हैलीफ़ैक्स जिसके उद्योग के प्रमुख केंद्र हैं; यह व्यवसाय पहले कभी आज जैसे पैमाने पर नहीं पहुंचा है।... सट्टे तथा रूई की संभाव्य पूर्ति के बारे में अनिश्चितता ने हमेशा ही उद्योग की इस शाखा में किसी भी अन्य शाखा की बनिस्बत कहीं ज़्यादा उत्तेजना, और कहीं अधिक प्रायिक परिवर्तन पैदा किये हैं। स्टाक में इस समय सूती माल की मोटी क़िस्मों का संचय हो गया है, जिससे छोटे कारख़ानेदारों में घबराहट पैदा हो रही है और उनमें से अनेक को अपने कारख़ाने कम समय चलाने के लिए विवश हो जाने से नुक़सान हो रहा है।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1849*, pp. 64-65.)

१८५०। अप्रैल। कारबार तेज़ी के साथ चलता रहा। इसका अपवाद: "निम्नतर नंबरों के सूत की कताई, अथवा भारी सूती माल के बनाने में लगी शाखा के लिए ही विशेषकर रूपांतरित कच्चे माल की पूर्ति में कमी के कारण... कपास उद्योग के एक हिस्से में भारी मंदी है। इस बात का डर बना हुआ है कि हाल ही में वर्स्टेड उद्योग के लिए निर्मित ज़्यादा मशीनरी के कारण भी ऐसी ही प्रतिक्रिया हो सकती है। मि० बेकर यह हिसाब लगाते हैं कि अकेले १८४६ के साल में ही वर्स्टेड करघों ने अपना उत्पादन ४० प्रतिशत, और तकुओं ने २५ या ३० प्रतिशत बढ़ा दिया है, और अब भी इसी रफ़्तार के साथ बढ़ाते जा रहे हैं।" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1850*, p. 54.)

१८५०। अक्तूबर। "कपास का ऊंचा दाम अब भी... उद्योग की इस शाखा में काफ़ी मंदी उत्पन्न किये जा रहा है, ख़ासकर मालों के उन प्रकारों में, जिनमें कच्चे माल उत्पादन

लागत के काफ़ी हिस्से का निर्माण करते हैं... इसी प्रकार कच्चे रेशम के दाम में भारी तेज़ी ने भी उस उद्योग की कई शाखाओं में मंदी पैदा कर दी है।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1850*, p. 14.)

और इसी रिपोर्ट के पृष्ठ ३१ तथा ३३ पर हमें मालूम होता है कि रायल सोसाइटी की आयरलैंड में फ़्लैक्स की खेती के संवर्धन तथा सुधार की समिति ने भविष्यवाणी की थी कि अन्य कृषिजन्य उत्पादों के दामों के नीचे स्तर के साथ-साथ फ़्लैक्स का ऊंचा दाम आगामी वर्ष में फ़्लैक्स के उत्पादन में काफ़ी वृद्धि सुनिश्चित करता है।

१८५३। अप्रैल। भारी समृद्धि। अपनी रिपोर्ट में एल० हॉर्नर कहते हैं: "पिछले जिन सत्रह वर्षों में जब से मुझे लंकाशायर के औद्योगिक इलाक़ों से अधिकृत रूप से परिचित होना पड़ा है, मैंने और किसी दौर में ऐसी सार्विक समृद्धि नहीं देखी है; हर शाखा में सक्रियता असाधारण है।" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1853*, p. 19.)

१८५३। अक्तूबर। सूती उद्योग में मंदी। "अत्युत्पादन"। (*Reports of Insp. of Fact., October, 1853*, p. 15.)

१८५४। अप्रैल। "ऊनी कारबार ने, चाहे तेज़ न होने पर भी, इस कपड़े के उत्पादन में लगे सभी कारख़ानों को पूरा काम दे दिया है और सूती कारख़ानों पर भी समान उक्ति ही लागू होती है। वर्स्टेड का कारबार पिछली पूरी छमाही के दौरान आम तौर पर अनिश्चित और असंतोषजनक अवस्था में रहा है।... क्रीमियाई युद्ध के परिणामस्वरूप रूस से कच्चे मालों की पूर्ति घट जाने की वजह से फ़्लैक्स और सनई के मालों के उत्पादन में अधिक गंभीर बाधा आने की आशंका है।" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1854*, p. 37.)

१८५९। "स्कॉटलैंड के फ़्लैक्स इलाक़ों में कारबार अब भी मंदा है, क्योंकि कच्चे माल का अभाव है और दाम भी ऊंचा है; और बाल्टिक प्रदेश में पिछले साल की फ़सल की ख़राब कोटि, जहां से हमारी मुख्य पूर्तियां प्राप्त होती हैं, ज़िले के कारबार पर हानिकारक असर डालेगी; लेकिन पटसन, जो कई मोटे कपड़ों में धीरे-धीरे फ़्लैक्स की जगह लेता जा रहा है, न दाम में असाधारणतः ऊंचा है, और न ही मात्रा में कम है... डंडी में लगभग आधी मशीनरी अब पटसन की कताई में ही लगी हुई है।" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1859*, p. 19.) — "कच्चे माल के ऊंचे दाम के कारण फ़्लैक्स कताई अब भी किसी भी प्रकार लाभदायी नहीं है, और जहां और सभी कारख़ाने पूरे समय चल रहे हैं, वहां फ़्लैक्स मशीनरी के रुकने के काफ़ी मामले देखने में आये हैं।... पटसन की कताई... कच्चे माल के दाम में हाल की गिरावट के कारण, जो अब बहुत ही मामूली हो गया है, काफ़ी ज़्यादा संतोषजनक अवस्था में है।"(*Reports of Insp. of Fact., October, 1859*, p. 20.)

१८६१-६४। अमरीकी गृहयुद्ध। कपास का दुष्काल। कच्चे मालों के अभाव और महंगेपन से उत्पादन प्रक्रिया में व्यवधान का सबसे बड़ा उदाहरण

१८६०। अप्रैल। "कारबार की अवस्था के सिलसिले में मुझे आपको यह सूचित करते प्रसन्नता होती है कि कच्चे माल के ऊंचे दाम के बावजूद, रेशम को छोड़कर, सभी वस्त्र निर्माता पिछली छमाही में ख़ासे व्यस्त रहे हैं।... कुछ सूती इलाक़ों में मज़दूरों के लिए इश्तहार निकाले गये हैं, और वे नॉरफ़ॉक तथा अन्य ग्रामीण काउंटियों से वहां स्थानांतरण कर गये

हैं।... उद्योग की हर शाखा में कच्चे माल की बड़ी क़िल्लत दिखायी देखी है... यह सिर्फ़ इसकी कमी ही है कि जो हमें सीमाओं के भीतर रख रही है। सूती उद्योग में नये कारख़ानों की स्थापना, वर्तमान कारख़ानों का विस्तार और मजदूरों की मांग मेरे ख़याल में शायद ही कभी अब से ज़्यादा रहे हों। हर जगह कच्चे माल की खोज की नयी चेष्टाएं की जा रही हैं।" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1860*, p. 57.)

१८६०। अक्तूबर। "सूती, ऊनी और फ़्लैक्स के इलाक़ों में कारबार की अवस्था अच्छी रही है; वस्तुतः, आयरलैंड में तो इसे अब एक साल से ज़्यादा से 'बहुत अच्छी' बताया जाता है; और अगर कच्चे माल का दाम इतना ऊंचा न हुआ होता, तो यह और भी बेहतर रही होती। फ़्लैक्स कातनेवाले और कभी की अपेक्षा अधिक उत्कंठापूर्वक रेल के ज़रिये भारत का रास्ता खुलने की, और अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप फ़्लैक्स की पूर्ति के लिए उसकी कृषि के विकास की प्रतीक्षा कर रहे हैं।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1860*, p. 37.)

१८६१। अप्रैल। "कारबार की अवस्था इस समय ढीली है... कुछ सूती कारख़ाने कम समय चल रहे हैं और कई रेशम कारख़ाने आंशिक रूप में ही काम कर रहे हैं। कच्चा माल महंगा है। वस्त्र उद्योग की लगभग हर शाखा में उसका दाम उस दाम से ऊंचा है, जिस पर कि उससे व्यापक उपभोक्ताओं के लिए माल बनाये जा सकते हैं।" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1861*, p. 33.)

यह प्रत्यक्ष हो गया था कि १८६० में सूती उद्योग ने अत्युत्पादन किया था। इसके प्रभाव ने अपने को अगले कुछ वर्षों में अनुभूत करवाया। "संसार के बाज़ारों को १८६० के अत्युत्पादन को जज़्ब करने में दो से तीन साल लग गये हैं।" (*Reports of Insp. of Fact., December, 1863*, p. 127.) "१८६० के आरंभ में पूर्व में तैयार सूती मालों के बाज़ारों की मंदी हालत का ब्लैकबर्न के कारबार पर तदनुरूप प्रभाव पड़ा था, जहां सामान्यतः ३०,००० यांत्रिक करघे पूर्व में खपाये जानेवाले कपड़े का ही उत्पादन करते हैं। फलतः, कपास की नाक़ाबंदी के प्रभावों के महसूस किये जाने के पहले कई महीने श्रम की मांग बहुत सीमित ही थी।... सौभाग्यवश इसने बहुत से कताई कारख़ानेदारों को उजड़ने से बचा लिया। स्टाकों को जब तक रोककर रखा गया, वे मूल्य में बढ़ते रहे, और इसके परिणामस्वरूप संपत्ति का ऐसा कोई चिंताजनक मूल्यह्रास नहीं हुआ, जिसकी ऐसे संकट में उचित ही अपेक्षा की जा सकती थी।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1862*, pp. 29, 31.)

१८६१। अक्तूबर। "कारबार कुछ समय से बहुत ढीली हालत में है।... वस्तुतः, यह असंभाव्य नहीं है कि सरदियों के दौरान कई प्रतिष्ठानों को बहुत कम समय काम करते पाया जाये। लेकिन इसका पूर्वानुमान किया जा सकता था... उन कारणों से निरपेक्ष, जिन्होंने अमरीका से कपास की हमारी सामान्य पूर्तियों को और हमारे निर्यातों को अवरुद्ध कर दिया है, पिछले तीन वर्षों में उत्पादन में जो ज़बरदस्त वृद्धि हुई है और भारतीय तथा चीनी बाज़ारों की जो अस्थिर अवस्था है, उसे देखते हुए आनेवाली सरदियों में काम का समय कम कर दिया जाना चाहिए था।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1861*, p. 19.)

कपास अपशिष्ट। ईस्ट इंडियन (सूरती) कपास। श्रमिकों की मजदूरी पर प्रभाव। मशीनरी का सुधार। कपड़े में मैदा तथा खनिज प्रतिस्थापियों का मिलाया जाना। मैदा चिक्कणन का श्रमिकों पर प्रभाव। महीन कोटियों के सूतों के निर्माता। कारख़ानेदारों का कपट

"एक कारख़ानेदार ने मुझे यह लिखा है: 'प्रति तकुआ खपत के अनुमानों के सिलसिले में मुझे संदेह है कि आप इस तथ्य को पर्याप्त रूप में हिसाब में रखते होंगे कि जब कपास दाम में ऊंची होती है, तब सामान्य सूतों (कहिये कि ४० नंबर तक के) (मुख्यतः १२ से ३२ तक के) के उत्पादकों में से हर कोई यथासंभव अधिक नंबर के सूत कातेगा, अर्थात अगर वह १२ नंबर काता करता था, तो अब १६ नंबर, या १६ के स्थान पर २२ नंबर, आदि, कातेगा; और इन महीन सूतों को उपयोग में लानेवाला वस्त्र निर्माता अपने कपड़े को उतना ही ज़्यादा चिक्कणक मिलाकर सामान्य भार का कर लेगा। व्यवसाय आजकल इस उपाय का इस सीमा तक लाभ उठा रहा है कि लज्जा आती है। मैंने विश्वस्त सूत्रों से ८ पाउंड भार की मामूली निर्यात की शर्टिंग के बारे में सुना है, जिसमें ५ १/४ पाउंड सूत और २ ३/४ पाउंड चिक्कणक का भार था... अन्य प्रकारों के कपड़ों में तो कभी-कभी ५० प्रतिशत तक चिक्कणक मिला दिया जाता है; जिससे कि कारख़ानेदार शेख़ी बघारते हुए कह सकता है और सचमुच कहता है कि वह कपड़े को प्रति पाउंड उससे कम दाम पर बेचकर धनी हो रहा है, जिस पर कि उसने उसमें लगा सूत ही ख़रीदा था।'" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1864*, p. 27.)

"मुझे इस आशय के बयान भी प्राप्त हुए हैं कि बुनकर अपने बीच बीमारियों के बढ़ने का कारण उस चिक्कणक को बतलाते हैं, जो सूरती कपास के तानों के प्रसाधन में इस्तेमाल किया जाता है और जो उसी सामग्री का नहीं बना है, जिसका पहले होता था, अर्थात मैदा। लेकिन मैदा के इस प्रतिस्थापी का एक बहुत महत्वपूर्ण फ़ायदा यह बताया जाता है कि वह कपड़े के भार को बहुत बढ़ा देता है और इस तरह कपड़े के रूप में बुने जाने पर १५ पाउंड सूत २० पाउंड भार का बन जाता है।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1863*. यह प्रतिस्थापी पिसी हुई सिलखड़ी, जिसे चीनी मिट्टी कहते हैं, या चिरोड़ी अथवा जिप्सम था, जो फ़्रेंच चाक कहलाता है।) "बुनकरों (अर्थात मजदूरों) की आयें ताने के चिक्कणन के लिए मैदा के प्रतिस्थापियों के इस्तेमाल से बहुत कम हो जाती हैं। यह चिक्कणक, जो सूत को भारी कर देता है, उसे कड़ा और टूटनेवाला बना देता है। करघे में ताने का हर धागा करघे के 'हील्ड' नामक हिस्से में से होकर गुज़रता है, जिसमें ताने को उसकी सही जगह पर रखने के लिए मज़बूत धागे होते हैं, और ताने के कड़ेपन के कारण हील्ड के धागे प्रायः टूटते रहते हैं; और हर बार धागों के टूटने पर उन्हें बांधने में बुनकर के पांच मिनट लगना बताया जाता है और बुनकर को इन सिरों को पहले के मुक़ाबले कम से कम दस गुना ज़्यादा जोड़ना होता है, जिससे काम के घंटों में करघे की उत्पादक शक्ति कम हो जाती है।" (वही, पृष्ठ ४२-४३।)

"ऐश्टन, स्टैलीब्रिज, मॉस्ले, ओल्डम, आदि में कार्यकाल की कटौती पूरी एक तिहाई रही है और काम के घंटे हर हफ़्ते कम होते जा रहे हैं... कार्यकाल की इस कमी के साथ कई विभागों में मज़दूरी भी घटी है।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1861*, pp. 12-13.) १८६१ के आरंभ में लंकाशायर के कुछ भागों में यांत्रिक बुनकरों की हड़ताल हुई।

कई कारख़ानेदारों ने मज़दूरी में ५ से ७.५ प्रतिशत कटौती घोषित कर दी थी। मज़दूरों की मांग थी कि काम के घंटे घटाये जाने पर भी मज़दूरी की दर वही बनी रहनी चाहिए। इसे मंज़ूर नहीं किया गया और हड़ताल का आह्वान हुआ। एक महीने बाद मज़दूरों को झुकना पड़ा। लेकिन उन्हें दोनों को ही भुगतना पड़ा। "मज़दूरी के घटाये जाने के अलावा, जिसके लिए मज़दूर आख़िर सहमत हो गये थे, बहुत से कारख़ाने अब कम समय चल रहे हैं।" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1861*, p. 23.)

१८६२। अप्रैल। "मेरी पिछली रिपोर्ट के बाद से मज़दूरों की मुसीबतें बहुत बढ़ गयी हैं; लेकिन उद्योगों के इतिहास के किसी और दौर में इतनी आकस्मिक और इतनी सख़्त तकलीफ़ों को इतने मौन समर्पण और इतने शांत आत्मसम्मान के साथ नहीं झेला गया है।" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1862*, p. 10.) "पूर्णतः बेरोज़गार मज़दूरों की आनुपातिक संख्या आज १८४८ की अपेक्षा कोई बहुत ज़्यादा नहीं मालूम देती, जब एक मामूली संत्रास के परिणाम कारख़ानेदारों में चिंता पैदा करने के लिए काफ़ी थे, इस हद तक कि उसने सूती वस्त्र व्यवसाय की अवस्था के बारे में वैसे ही आंकड़े जमा करना आवश्यक बना दिया था, जैसे अब हफ़्तावार जारी किये जाते हैं।... मई, १८४८ में मैंचेस्टर में सामान्यतः नियोजित मज़दूरों की कुल संख्या में बेरोज़गार कपड़ा मज़दूरों का अनुपात १५ प्रतिशत और अपूर्णकालिक काम करनेवालों का १२ प्रतिशत था, जबकि ७० प्रतिशत पूरे समय काम में लगे हुए थे।... इस साल २८ मई को सामान्यतः नियोजित मज़दूरों की कुल संख्या में १५ प्रतिशत बेरोज़गार थे, ३५ प्रतिशत अपूर्णकालिक काम कर रहे थे तथा ४६ प्रतिशत पूरा समय काम कर रहे थे... कुछ दूसरी जगहों, उदाहरण के लिए, स्टाकपोर्ट में अपूर्णकालिक काम और बेरोज़गारी के औसत ज़्यादा ऊंचे हैं, जबकि पूर्णकालिक काम के औसत कम हैं", क्योंकि वहां मैंचेस्टर से ज़्यादा मोटे सूत काते जाते हैं (पृ० १६)।

१८६२। अक्तूबर। "पार्लियामेंट को दिये पिछले विवरण से मैं देखता हूं कि १८६१ में युनाइटेड किंगडम में २,८८७ सूती कारख़ाने थे, जिनमें से २,१०६ मेरे इलाक़े (लंकाशायर तथा चैशायर) में ही थे। मुझे मालूम था कि मेरे इलाक़े के २,१०६ कारख़ानों में बहुत बड़ा हिस्सा कुछ ही लोगों को काम देनेवाले छोटे-छोटे प्रतिष्ठानों का है, लेकिन मुझे यह जानकर अचरज हुआ है कि यह हिस्सा कितना बड़ा है। ३६२, अथवा १६ प्रतिशत में, वाष्प इंजन अथवा जल चाक १० अश्व शक्ति से नीचे का है; ३४५, अथवा १६ प्रतिशत में, अश्व शक्ति १० से ऊपर और २० से नीचे है; और १,३७२ में अश्व शक्ति २० या उससे अधिक है।... इन छोटे कारख़ानेदारों में से बहुत से – पूरी संख्या के एक तिहाई से अधिक – थोड़े ही समय पहले तक स्वयं काम करनेवाले थे; वे ऐसे लोग थे, जिनके पास पूंजी नहीं थी।... इसलिए अधिकांश बोझ शेष दो तिहाई को ही उठाना होगा।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1862*, pp. 18, 19.)

इसी रिपोर्ट के अनुसार लंकाशायर और चैशायर में ४०,१४६, अथवा ११.३% सूती मज़दूर उस समय पूर्णकालिक काम कर रहे थे; १,३४,७६७, अथवा ३८% अपूर्णकालिक काम कर रहे थे; और १,७६,७२१, अथवा ५०.७% बेरोज़गार थे। मैंचेस्टर और बोल्टन, जहां मुख्यतः महीन कोटियों की ही कताई की जाती थी, जो कपास के दुष्काल से अपेक्षाकृत कम प्रभावित शाखा थी, के विवरणों को निकाल लेने के बाद मामला और भी ज़्यादा नागवार

नज़र आता है; अर्थात पूरी तरह से बारोज़गार ८.५%, अंशतः बारोज़गार ३८%, और बेरोज़गार ५३.५% (पृष्ठ १९ तथा २०)।

"अच्छी या बुरी कपास को उपयोग में लाना मज़दूर के लिए तात्विक अंतर पैदा कर देता है। साल के आरंभिक भाग में, जब कारख़ानेदार हाथ लगी सारी सस्ती कपास को इस्तेमाल में लाकर अपने कारख़ानों को चालू रखने की कोशिश कर रहे थे, उन कारख़ानों में काफ़ी ख़राब कपास आ गयी, जिनमें सामान्यतः अच्छी कपास ही इस्तेमाल की जाती थी, और मज़दूरों की मज़दूरी में इतना अधिक अंतर पड़ा कि कई हड़तालें हुईं, चूंकि पुरानी दरों से वे उचित दिहाड़ी नहीं कमा पाते थे... कुछ मामलों में, पूर्णकालिक काम करने पर भी बुरी कपास को उपयोग में लाने से मज़दूरी में अंतर आधे तक का हो जाता था" (पृष्ठ २७)।

१८६३। अप्रैल। "मौजूदा साल में देश में आधे से कहीं ज़्यादा सूती मज़दूरों के लिए पूरा रोज़गार नहीं होगा।" (*Reports of Insp. of Fact., April. 1863*, p. 14.)

"सूरती कपास के इस्तेमाल के ख़िलाफ़, क्योंकि कारख़ानेदारों को अब उसे इस्तेमाल करना पड़ रहा है, एक बहुत गंभीर आपत्ति यह है कि उत्पादन की प्रक्रिया में मशीनरी की रफ़्तार को बहुत कम करना पड़ता है। पिछले कुछ वर्षों से मशीनरी की रफ़्तार को बढ़ाने का हर संभव प्रयास किया जाता रहा है, ताकि वही मशीनरी ज़्यादा काम पैदा कर सके; और इसलिए रफ़्तार का घटना एक ऐसा प्रश्न बन जाता है कि जो मज़दूर के साथ-साथ कारख़ानेदार को भी प्रभावित करता है; मज़दूरों को अधिकांशतः किये गये काम के अनुसार पैसा दिया जाता है; मसलन, कातनेवालों को काते गये फ़ी पाउंड सूत के हिसाब से, बुनकरों को बुने गये थानों के फ़ी थान के हिसाब से अदायगी की जाती है; और हफ़्तेवार पैसा पानेवाले दूसरे प्रकार के कर्मियों के मामले में भी उत्पादित मालों की कम मात्रा के कारण मज़दूरी में कमी आयेगी। मौजूदा साल में सूती कर्मियों की आय के बारे में की गयी पूछ-ताछ से और मुझे दिये गये बयानों से मैंने पाया है कि उनकी पहले की आय में, १८६१ में प्रचलित मज़दूरी की दर से हिसाब लगाने पर, औसतन २० प्रतिशत की कमी हुई है, कुछ मामलों में कमी ५० प्रतिशत तक भी रही है" (पृष्ठ १३)। "अर्जित रक़म... जिस सामग्री पर काम किया गया है, उसकी कोटि पर निर्भर करती है।... अपनी कमाई की रक़म के लिहाज़ से कर्मियों की स्थिति अब (अक्तूबर, १८६३) पिछले साल के इसी समय से कहीं बेहतर है। मशीनरी सुधर गयी है, सामग्री की समझ बेहतर है और कर्मी अब उन मुश्किलों पर ज़्यादा अच्छी तरह से पार पा सकते हैं, जिनका उन्हें पहले सामना करना पड़ता था। मुझे गत वसंत में प्रैस्टन के एक सिलाई स्कूल (बेरोज़गारों के लिए स्थापित एक धर्मार्थ संस्था) में जाने की याद है, जब दो युवतियां, जिन्हें एक रोज़ पहले ही कारख़ानेदार के यह बताने पर एक बुनाई खाते में काम करने के लिए भेजा गया था कि वे ४ शिलिंग प्रति सप्ताह कमा सकेंगी, यह शिकायत करते हुए फिर भरती होने के लिए स्कूल वापस आ गयी थीं कि उन्होंने १ शिलिंग प्रति सप्ताह भी न कमाया होता। मुझे 'स्वतःक्रिय माइंडरों'... एक जोड़ा स्वतःक्रिय म्यूलों को संभालनेवालों, के एक पखवाड़े के पूर्णकालिक काम के अंत में ८ शिलिंग ११ पेंस कमाने के बारे में बताया गया है, और यह कि इस रक़म से मकान का किराया काट लिया जाता था, तथापि कारख़ानेदार आधा किराया भेंटस्वरूप लौटा देता था। (कैसी उदारता है!) माइंडर ६ शिलिंग ११ पेंस की रक़म ले जाते थे। कई जगह १८६२ के आख़िरी महीनों में स्वतःक्रिय माइंडरों की कमाई ५ शिलिंग से ९ शिलिंग प्रति सप्ताह, और बुनकरों की २ शिलिंग

से ६ शिलिंग प्रति सप्ताह तक थी... इस समय स्थिति कहीं अधिक संतोषजनक है, यद्यपि अधिकांश इलाक़ों में कमाई में अब भी बहुत कमी है।... सूरती कपास के छोटे रेशे और उसकी गंदी हालत के अलावा कई कारण ऐसे हैं, जिन्होंने कमाई को कम किया है; मसलन, अब 'अपशिष्ट' को अधिकांशतः सूरती कपास के साथ ही मिलाया जाता है, जो फलतः कातनेवाले या माइंडर की मुश्किलों को बढ़ा देता है। रेशे के छोटेपन के कारण धागों के म्यूल से बाहर खिंचने में और सूत के बटने में टूटने की संभावना अधिक रहती है, म्यूल को इतना निरंतर चालू नहीं रखा जा सकता।... फिर, बुनाई में धागों पर निगाह रखने में अपेक्षित बहुत ध्यान के कारण बहुत से बुनकर सिर्फ़ एक ही करघे को संभाल सकते हैं और बहुत कम ही दो करघों से ज्यादा को संभाल सकते हैं।... कर्मी की मज़दूरी में ५,७.५ और १० प्रतिशत की सीधी कमी हुई है... अधिकांश मामलों में कर्मी को अपनी सामग्री से किसी तरह काम निकालना और सामान्य दरों पर यथासंभव अच्छी मज़दूरी कमाना होता है।... बुनकरों को कभी-कभी जिस एक और कठिनाई का सामना करना होता है, वह यह है कि उनसे घटिया सामग्रियों से सुपरिष्कृत कपड़ा तैयार करने की अपेक्षा की जाती है, और काम की ख़ामियों के लिए उन पर जुरमाना भी किया जा सकता है।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1863*, pp. 41-43.)

काम जहां पूर्णकालिक भी था, मज़दूरी वहां भी दयनीय थी। अधिकारियों से अपनी गुज़र प्राप्त करने के लिए सूती मज़दूर जलनिकास, सड़क निर्माण, पत्थर तुड़ाई और खड़ंजा बिछाई जैसे सभी सार्वजनिक कार्यों के लिए, जिनमें उन्हें लगाया जाता था, सहर्ष अपने को पेश करते थे (यद्यपि व्यवहारतः यह कारख़ानेदार को सहायता देने के बराबर था। देखिये Buch I, *S*. 598/589)।* सारा बूर्जुआ वर्ग श्रमिकों पर पहरा दे रहा था। यदि मज़दूर को अत्यंत तुच्छ मज़दूरी दी जाती और वह उसे लेने से इन्कार करता, तो सहायता समिति उसका नाम अपनी सूची से काट देती। कारख़ानेदारों के लिए यह एक प्रकार का स्वर्णयुग था, क्योंकि श्रमिकों के आगे या तो भूखों मरने, या बूर्जुआज़ी के लिए अत्यंत लाभदायी मज़दूरी पर काम करने के अलावा और कोई चारा न था। सहायता समितियां प्रहरियों का काम करती थीं। साथ ही कारख़ानेदार सरकार की गुप्त मिलीभगत से उत्प्रवास में यथासंभव बाधा डालते थे, कुछ तो इसलिए कि श्रमिकों के हाड़-मांस में लगी पूंजी को तैयार हालत में रखा जाये, और कुछ इसलिए कि श्रमिकों से निचोड़ा जानेवाला किराया मकान यथावत मिलता रहे।

"सहायता समितियां इस सवाल पर बहुत सख़्ती बरतती थीं। अगर काम दिया जाता था, तो जिन कर्मियों को वह प्रस्तावित किया जाता था, उनका नाम सूचियों से निकाल दिया जाता था और इस तरह प्रस्ताव स्वीकार करने के लिए मजबूर किया जाता था। यदि वे काम को स्वीकार करने पर आपत्ति करते थे, तो... इसी कारण कि कमाई नाम मात्र की ही होती और काम अत्यधिक कठोर होता।" (*Reports of Insp. of Fact., October*, 1863, p. 97.)

कर्मी लोक निर्माण कार्य अधिनियम के अंतर्गत उन्हें दिये गये किसी भी काम को करने के लिए तैयार थे। "औद्योगिक नियोजन जिन सिद्धांतों पर संगठित किये गये थे, उनमें भिन्न-भिन्न नगरों में काफ़ी वैभिन्न्य था, लेकिन उन जगहों में भी कि जहां बाहरी काम पूर्णतः श्रम

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, पृष्ठ ६०६-०७। –सं०

परीक्षण नहीं था, मेहनताना या तो सहायता की एकदम निश्चित दर से, या उसके बहुत समान दर से अदा किया जाता था, और इससे वास्तव में वह एक श्रम परीक्षण बन गया था" (पृ० ६९)। "१८६३ का लोक निर्माण कार्य अधिनियम इस असुविधा को दूर करने और श्रमिक को अपनी दिहाड़ी स्वतंत्र मज़दूर के नाते कमाने में समर्थ बनाने के लिए अभीष्ट था। इस अधिनियम का उद्देश्य त्रिमुखी था: एक तो स्थानीय शासन संस्थाओं को राजकोष ऋण आयुक्तों से धन उधार लेने में सक्षम बनाना (केंद्रीय सहायता समिति के प्रधान की सहमति से); दूसरे, सूती उद्योग इलाक़ों के नगरों के सुधार को सुगम बनाना; तीसरे, बेरोज़गार कर्मियों को काम और लाभकर मज़दूरी प्रदान करना।" अक्तूबर, १८६३ के अंत तक इस अधिनियम के अंतर्गत ८,८३,७०० पाउंड के ऋण मंज़ूर किये जा चुके थे (पृष्ठ ७०)। हाथ में लिये जानेवाले काम मुख्यतः मलवाह प्रणालियां बनाना, सड़कें बनाना, खड़ंजे बिछाना, जलकल विभागीय जलाशय, आदि थे।

ब्लैकबर्न में समिति के प्रधान, मि० हैंडरसन ने इसके संदर्भ में कारख़ाना निरीक्षक रैडग्रेव को लिखा था: "इस इलाक़े के बेरोज़गार कर्मियों ने लोक निर्माण कार्य अधिनियम के आधार पर ब्लैकबर्न नगर निगम द्वारा उन्हें दिये गये काम को जिस हर्षपूर्ण तत्परता से स्वीकार किया है, कष्ट और विपत्ति के इस दौर में मेरे अनुभव में और किसी चीज़ ने मुझ पर इतना ज़ोरदार प्रभाव नहीं डाला है अथवा अधिक संतोष नहीं प्रदान किया है। कारख़ाने में निपुण कर्मी के रूप में और १४ या १८ फ़ुट गहरे नाले में मज़दूर के रूप में सूत कातनेवाला जो विपर्यास दर्शाता है, उससे अधिक की कदाचित ही कल्पना की जा सकती है।" (अपने परिवार के आकार के अनुसार वह ४ से १२ शिलिंग प्रति सप्ताह कमाता था, यह विशाल राशि कभी-कभी तो आठ प्राणियों के परिवार का पेट भरती थी। शहरियों को इससे दुहरा लाभ होता था। एक तो यह कि उन्हें अपने धूम्रभरे और उपेक्षित नगरों को सुधारने के लिए अत्यधिक नीची ब्याज दरों पर पैसा मिल जाता था। दूसरे यह कि वे मज़दूरों को नियमित मज़दूरी से कहीं कम देते थे।) "यह देखते हुए कि वह लगभग उष्णकटिबंधवत तापमान में ऐसे काम का, जिसमें हस्तचालन की दक्षता और बारीकी उसके लिए मांसपेशियों की ताक़त की अपेक्षा अपरिमेय रूप में अधिक महत्वपूर्ण थी, और जो पारिश्रमिक प्राप्त करना उसके लिए अब संभव है, उससे दुगुने और कभी-कभी तिगुने का आदी था, दिये जानेवाले काम की उसके द्वारा तत्काल स्वीकृति में एक ऐसा आत्मत्याग और अक़्लमंदी सन्निहित है, जिनका प्रदर्शन अत्यंत सराहनीय ही कहा जायेगा। ब्लैकबर्न में आदमियों को लगभग हर क़िस्म के बाहरी काम में आज़माया जा चुका है—सख़्त भारी चिकनी मिट्टी को काफ़ी गहराई तक खोदने में, नालियां बनाने में, पत्थर तोड़ने में, सड़क बनाने में, और सड़कों पर नालों के लिए १४, १६ और कभी-कभी तो २० फ़ुट की गहराई तक भी खुदाई करने में। कई मामलों में इस तरह के काम में वे १० या १२ इंच गहरे कीचड़ और पानी में खड़े रहते हैं, और एक ऐसे जलवायु को झेलते हैं कि जिसकी सर्द नमी का, मेरी राय में, इंगलैंड के और किसी ज़िले का जलवायु बराबरी चाहे कर जाये, मगर उसे मात नहीं दे सकता" (पृष्ठ ९१-९२)। "कर्मियों का आचरण लगभग निष्कलंक रहा है—वे खुली जगह में काम करने से नहीं कतराये हैं और उसे पूरा करने को तत्पर रहे हैं" (पृष्ठ ६९)।

१८६४। अप्रैल। "विभिन्न ज़िलों में यदा-कदा काम करनेवालों के अभाव की शिकायतें की जाती हैं, मगर यह कमी मुख्यतः विशेष शाखाओं में ही महसूस की जाती है, जैसे, उदाहरण

के लिए, बुनकरों की।... इन शिकायतों का मूल प्रयुक्त सूत की घटिया क़िस्मों के कारण मज़दूर जो नीची मज़दूरी कमा सकते हैं, उसमें उतना ही है कि जितना उस विशेष शाखा में श्रमिकों के कुछ हद तक वास्तविक अभाव में। पिछले महीने कुछ ख़ास कारख़ानों के मालिकों और उनके कर्मियों के बीच मज़दूरी के सवाल को लेकर बहुत बार तकरारें हुई हैं। मुझे यह कहते खेद होता है कि हड़तालों का कुछ ज्यादा ही आसरा लिया जा रहा है... लोक निर्माण कार्य अधिनियम के प्रभाव को कारख़ानेदार प्रतिस्पर्धा जैसा समझते हैं। बैकप में स्थानीय समिति ने अपने काम को निलंबित कर दिया है, क्योंकि यद्यपि सभी कारख़ाने नहीं चल रहे हैं, फिर भी मज़दूरों का अभाव महसूस किया गया है।" (*Reports of Insp. of Fact., April, 1864*, pp. 9, 10.) सचमुच अब कारख़ानेदारों के लिए वक़्त आ गया था। लोक निर्माण कार्य अधिनियम के कारण श्रम की मांग इतनी ज्यादा हो गयी थी कि बहुत से कारख़ाना मज़दूर बैकप की खानों में ४ से ५ शिलिंग रोज़ कमा रहे थे। और इसलिए लोक निर्माण कार्यों को – १८४८ के Ateliers Nationaux* के इस नये रूप को, लेकिन इस बार बूर्जुआज़ी के हितों में संस्थापित – धीरे-धीरे स्थगित कर दिया गया।

In corpore vili** प्रयोग

"यद्यपि मैंने कई कारख़ानों में कर्मियों (पूर्णकालिक काम करनेवाले) की वास्तविक आमदनी दी है, पर इसका यह मतलब नहीं कि वे हफ़्ता-दर-हफ़्ता उतनी ही रक़म कमाते हैं। कारख़ानेदारों द्वारा एक ही कारख़ाने में कपास और अपशिष्ट के विभिन्न प्रकारों और अनुपातों के साथ लगातार प्रयोग करते रहने के कारण, और जैसा कि इसे कहा जाता है, 'मिश्रण' के प्रायः बदले जाने के कारण कर्मियों को काफ़ी घट-बढ़ सहनी पड़ती है; और कर्मियों की आमदनी कपास मिश्रण की कोटि के साथ चढ़ती और गिरती रहती है; कभी-कभी तो वह पुरानी आमदनी के १५ प्रतिशत के भीतर भी आ गयी है, और फिर हफ़्ते-दो हफ़्ते में ५० से ६० प्रतिशत तक गिर गयी है।" निरीक्षक रैडग्रेव, जिन्होंने यह रिपोर्ट तैयार की है, इसके बाद वास्तविक व्यवहार से लिये मज़दूरी के आंकड़े देना शुरू करते हैं, जिनमें से निम्न उदाहरण काफ़ी होंगे :

क, बुनकर, ६ का परिवार, हफ़्ते में ४ दिन काम, ६ शिलिंग ८.५ पेंस; **ख**, सूत बटाई मज़दूर, हफ़्ते में ४.५ दिन काम, ६ शिलिंग; **ग**, बुनकर, ४ का परिवार, हफ़्ते में ५ दिन काम, ५ शिलिंग १ पेंस; **घ**, स्लबर, ६ का परिवार, हफ़्ते में ४ दिन काम, ७ शिलिंग १० पेंस; **च**, बुनकर, ७ का परिवार, हफ़्ते में ३ दिन काम, ५ शिलिंग, आदि। रैडग्रेव आगे कहते हैं: "उपरोक्त आंकड़े ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि वे दिखलाते हैं कि कितने ही परिवारों में रोज़गार दुर्भाग्य बन जायेगा, क्योंकि वह सिर्फ़ आय को घटाता ही नहीं, बल्कि उसे इतना कम कर देता है कि अगर कर्मियों को अनुपूरक सहायता न दी जाये – जो उन्हें तब मिलती है, जब परिवार की मज़दूरी सभी के बेरोज़गार होने की हालत में दी जानेवाली सहायता से कम होती है – तो वह चरम आवश्यकताओं के एक छोटे से अंश की पूर्ति के लिए भी पूर्णतः अपर्याप्त सिद्ध होगी।" (*Reports of Insp. of Fact., October, 1863, pp. 50-53.*)

---

* राष्ट्रीय श्रमालय। – सं०

** मुफ़्त जिस्मों पर। (लैटिन) – सं०

"५ जून के बाद से किसी भी हफ़्ते में सभी मज़दूरों के लिए दो दिन से ज़्यादा का काम नहीं था, और वह भी सिर्फ़ सात घंटे और कुछ मिनट के लिए ही।" (वही, पृष्ठ १२१।)

संकट के शुरू होने से २५ मार्च, १८६३ तक संरक्षकों, केंद्रीय सहायता समिति, तथा मैंशन हाउस समिति द्वारा लगभग तीस लाख पाउंड ख़र्च किये गये थे। (वही, पृष्ठ १३।)

"एक इलाक़े में, जिसमें श्रेष्ठतम सूत काता जाता है... दक्षिण सागर द्वीप की कपास से मिस्री कपास में बदली के परिणामस्वरूप कातनेवालों को १५ प्रतिशत की अप्रत्यक्ष कटौती झेलनी पड़ती है।... एक विस्तृत इलाक़े में, जिसके काफ़ी भागों में अधिकांशतः अपशिष्ट का सूरती कपास के साथ मिश्रण किया जाता है... कातनेवालों की मज़दूरी में ५ प्रतिशत की कटौती हो चुकी है और इसके अलावा सूरती कपास और अपशिष्ट इस्तेमाल करने के कारण वे २० से ३० प्रतिशत की हानि और उठा चुके हैं। बुनकरों के ४ करघों से घटकर २ करघे हो गये हैं। १८६० में उनकी औसत आय ५ शिलिंग ७ पेंस प्रति करघा थी, १८६३ में वह सिर्फ़ ३ शिलिंग ४ पेंस रह गयी। जुरमाने, जो पहले अमरीकी कपास पर ३ पेंस से ६ पेंस (बुनकर के लिए) होते थे, अब १ शिलिंग से ३ शिलिंग ६ पेंस तक हो गये हैं।" एक इलाक़े में, जिसमें मिस्री कपास भारतीय कपास के अधिमिश्रण के साथ इस्तेमाल की जाती थी, "म्यूल बुनकरों की औसत आय, जो १८६० में १८ शिलिंग से २५ शिलिंग थी, अब औसतन १० शिलिंग से १८ शिलिंग प्रति सप्ताह रह गयी है, जिसका कारण घटिया कपास के अलावा सूत में अतिरिक्त ऐंठन देने के लिए म्यूल की रफ़्तार का घटाया जाना है, जिसकी सामान्य काल में तालिका के अनुसार अदायगी की जाती" (पृष्ठ ४३, ४४)। "यद्यपि कारख़ानेदार ने भारतीय कपास का लाभ के साथ उपयोग कर लिया होगा, तथापि यह प्रकट होगा (पृष्ठ ५३ पर मज़दूरी की तालिका देखिये) कि १८६१ की तुलना में कर्मियों को हानि उठानी पड़ रही है, और अगर सूरती कपास के उपयोग की पुष्टि हो जाये, तो कर्मी १८६१ की मज़दूरी ही कमाना चाहेंगे, जिसका कारख़ानेदार के मुनाफ़ों पर गंभीर प्रभाव पड़ेगा, बशर्ते कि वह या तो कच्ची कपास के या अपने उत्पादों के दाम में इसका मुआवज़ा प्राप्त न करे" (पृष्ठ १०५)।

किराया मकान। "कर्मियों की मज़दूरी से, जब वे अल्पकालिक काम भी करते होते हैं, किराया अकसर कारख़ानेदारों द्वारा काट लिया जाता है, जिनके मकानों में वे रहते हैं। तथापि इस प्रकार की संपत्ति का मूल्य घट गया है और मकान अन्य दिनों से २५ से ५० प्रतिशत कम किराये पर प्राप्त किये जा सकते हैं; मिसाल के लिए, जिस मकान का किराया ३ शिलिंग ६ पेंस प्रति सप्ताह था, वह अब २ शिलिंग ४ पेंस प्रति सप्ताह, और कभी-कभी उससे भी कम पर लिया जा सकता है" (पृष्ठ ५७)।

उत्प्रवास। मालिक लोग क़ुदरती तौर पर मज़दूरों के उत्प्रवास के ख़िलाफ़ थे, क्योंकि एक ओर तो "सूती उद्योग की अपनी वर्तमान मंदी से संभलने की आशा में वे उन साधनों को अपनी पहुंच के भीतर रखते हैं, जिनसे उनके कारख़ानों को सबसे लाभदायी ढंग से चलाया जा सकता है।" दूसरी ओर, "बहुत से कारख़ानेदार उन मकानों के मालिक हैं, जिनमें उनके कारख़ानों में काम करनेवाले कर्मी रहते हैं, और कुछ लोग निस्संदिग्ध रूप में बक़ाया पड़े किराये के कुछ हिस्से को पाने की अपेक्षा करते हैं" (पृष्ठ ९६)।

मि० बर्नाल ऑज़बोर्न ने २२ अक्तूबर, १८६४ को अपने संसदीय निर्वाचन क्षेत्र के निवासियों के सामने एक भाषण में कहा था कि लंकाशायर के मज़दूरों ने प्राचीन दार्शनिकों (स्टोइकों) की तरह का आचरण किया था। कहीं भेड़ों जैसा तो नहीं?

अध्याय ७

अनुपूरक टिप्पणियां

जैसे कि इस भाग में कल्पना की गयी है, मान लीजिये कि उत्पादन के किसी भी क्षेत्र विशेष में लाभ की राशि उस क्षेत्र में निवेशित कुल पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य की रक़म के बराबर है। तब भी बूर्जुआ अपने लाभ को बेशी मूल्य के, अर्थात अशोधित बेशी श्रम के, सर्वसम जैसा नहीं मानेगा, और ठीक निम्न कारणों से:

१) परिचलन की प्रक्रिया में वह उत्पादन की प्रक्रिया को भूल जाता है। वह सोचता है कि बेशी मूल्य तब बनता है कि जब वह जिंसों के मूल्य की सिद्धि करता है, जिसमें उनके बेशी मूल्य का सिद्धिकरण भी सम्मिलित है। [पांडुलिपि में इसके बाद ख़ाली जगह है, जो यह दिखलाती है कि मार्क्स का इरादा इस मुद्दे पर ज़्यादा विस्तार में जाने का था।–फ़्रे० एं०]

२) शोषण की समान मात्रा की कल्पना करके हम देख चुके हैं कि उधार पद्धति में उत्पन्न होनेवाले सभी रूपांतरों से निरपेक्ष, पूंजीपतियों के एक दूसरे को चालाकी में मात देने और ठगने के प्रयासों से निरपेक्ष, और अंततः बाज़ार के किसी भी अनुकूल चयन से निरपेक्ष–लाभ दर में कच्चे मालों के ऊंचे या नीचे दाम और क्रेता के अनुभव के, मशीनरी की आपेक्षिक उत्पादिता, दक्षता और सस्तेपन के, उत्पादक प्रक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं में सकल व्यवस्था की ज़्यादा या कम दक्षता, अपशिष्ट के लोप, प्रबंध या अधीक्षण की सरलता और दक्षता, आदि के अनुसार काफ़ी वैभिन्न्य हो सकता है। संक्षेप में, किसी परिवर्ती पूंजी का बेशी मूल्य नियत होने पर भी यह बहुत कुछ पूंजीपति के, अथवा उसके प्रबंधकों तथा विक्रेताओं के व्यवसाय चातुर्य पर निर्भर करता है कि यह उतना ही बेशी मूल्य अधिक लाभ दर में व्यक्त होता है या कम लाभ दर में, और तदनुसार लाभ की अधिक राशि पैदा करता है या कम। मान लीजिये कि **क** प्रतिष्ठान में ९,००० पाउंड और **ख** प्रतिष्ठान में ११,००० पाउंड स्थिर पूंजी के लिए मजदूरी में १,००० पाउंड का परिणाम, वही, १,००० पाउंड जितना बेशी मूल्य, प्राप्य है। **क** प्रसंग में हमारे पास है $p' = \frac{१,०००}{१०,०००}$, अथवा १०%। **ख** प्रसंग में हमारे पास है $p' = \frac{१,०००}{१२,०००}$, अथवा ८ १/३%। कुल पूंजी उच्चतर लाभ दर के कारण **क** प्रतिष्ठान में **ख** से अपेक्षतया अधिक लाभ उत्पन्न करती है, यद्यपि दोनों ही प्रसंगों में पेशगी दी गयी परिवर्ती पूंजी = १,००० पाउंड और इसी प्रकार प्रत्येक द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य = १,००० पाउंड है, जिससे कि दोनों प्रसंगों में समान संख्या के श्रमिकों के शोषण की समान मात्रा विद्यमान है। बेशी मूल्य के उतने ही परिमाण के प्रस्तुतीकरण में यह अंतर, अथवा लाभ दरों में और इसलिए स्वयं लाभ में अंतर, जबकि श्रम का शोषण उतना ही है,

अन्य कारणों से भी हो सकता है। फिर भी, यह पूर्णतः दोनों प्रतिष्ठानों को जिस व्यवसाय चातुर्य से चलाया जाता है, उसमें अंतर के कारण भी हो सकता है। और यह तथ्य पूंजीपति को भ्रम में डाल देता है, उसे विश्वास दिला देता है कि उसके मुनाफ़े श्रम के शोषण के कारण नहीं, बल्कि – कम से कम अंशतः – अन्य स्वतंत्र परिस्थितियों, और विशेषकर स्वयं उसके व्यक्तिगत कार्यकलाप के कारण हैं।

इस भाग में विश्लेषण पहले उस विचार (रॉडबेर्टस*) की असत्यता को दर्शाता है, जिसके अनुसार (किराया जमीन से भिन्न, जिसमें, उदाहरण के लिए, स्थावर संपदा का क्षेत्र-फल उतना ही रहता है, फिर भी किराया बढ़ जाता है) किसी व्यष्टिक पूंजी के परिमाण में परिवर्तन का लाभ के पूंजी के साथ अनुपात पर और इस प्रकार लाभ दर पर कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए, क्योंकि अगर लाभ का परिमाण बढ़ता है, तो उस पूंजी का परिमाण भी बढ़ता है, जिस पर उसका परिकलन किया जाता है, और ऐसा ही विपरीत प्रसंग में भी होता है।

यह सिर्फ़ दो स्थितियों में ही सही है। पहली, जब – यह मानते हुए कि अन्य सभी परि-स्थितियां, विशेषकर बेशी मूल्य दर, अपरिवर्तित बनी रहती हैं – उस जिंस के मूल्य में परिवर्तन होता है, जो एक द्रव्य पण्य है। (अन्य अवस्थाओं के यथावत रहने पर यही मूल्य के मात्र नामिक परिवर्तन में, मूल्य के मात्र प्रतीकों के चढ़ाव अथवा गिराव में भी होता है।) मान लीजिये कि कुल पूंजी = १०० पाउंड, और लाभ = २० पाउंड है, जिससे लाभ दर = २०% हुई। अगर सोने का दाम गिरकर आधा, या बढ़कर दुगुना हो जाता है, तो वही पूंजी, जिसका मूल्य पहले केवल १०० पाउंड था, अगर वह गिरता है, तो २०० पाउंड मूल्य की हो जायेगी और लाभ ४० पाउंड का हो जायेगा, अर्थात पहले के २० पाउंड के बदले वह इतने द्रव्य में व्यक्त होगा; अगर वह चढ़ता है, तो १०० पाउंड की पूंजी का मूल्य सिर्फ़ ५० पाउंड रह जायेगा और लाभ एक ऐसे परिणाम में व्यक्त होगा, जिसका मूल्य १० पाउंड होगा। लेकिन दोनों ही मामलों में २०० : ४० = ५० : १० = १०० : २० = २०% है। तथापि इन सभी उदा-हरणों में वास्तविक परिवर्तन पूंजी मूल्य के परिमाण में नहीं, बल्कि केवल उतने ही मूल्य और उतने ही बेशी मूल्य की द्रव्य अभिव्यक्ति में आया होगा। इस कारण $\frac{s}{C}$, अथवा लाभ दर, प्रभावित नहीं हो सकती थी।

दूसरी स्थिति वह है, जब मूल्य के परिमाण में वास्तविक परिवर्तन आता है, किंतु v के c के साथ अनुपात में परिवर्तन के बिना; दूसरे शब्दों में, स्थिर बेशी मूल्य दर के साथ श्रम शक्ति में निवेशित पूंजी (गतिशील की गयी श्रम शक्ति की मात्रा के सूचक के रूप में परिवर्ती पूंजी) का उत्पादन साधनों में निवेशित पूंजी के साथ संबंध वही बना रहता है। इन परिस्थितियों में हमारे पास चाहे C हो, अथवा nC, अथवा $\frac{C}{n}$, अर्थात चाहे १,००० हो, अथवा २,०००, अथवा ५००, लाभ दर के २०% होने पर लाभ पहले प्रसंग में = २००, दूसरे प्रसंग में = ४०० और तीसरे प्रसंग में = १०० होगा। किंतु २०० : १,००० = ४०० : २,००० =

---

* Rodbertus, *Sociale Briefe an von Kirchmann, Dritter Brief: Widerlegung der Ricardo'schen Lehre von der Grundrente und Begründung einer neuen Renten-theorie, Berlin*, 1851, S. 125. – सं०

१००:५००=२०%। कहने का मतलब यह है कि लाभ दर अपरिवर्तित रहती है, क्योंकि पूंजी की संरचना वही बनी रहती है और उसके परिमाण में परिवर्तन द्वारा प्रभावित नहीं होती। इसलिए लाभ की राशि में वृद्धि अथवा कमी केवल निवेशित पूंजी के परिमाण में वृद्धि अथवा कमी को ही दर्शाती है।

इसलिए पहले प्रसंग में नियोजित पूंजी के परिमाण में परिवर्तन का आभास मात्र है, जबकि दूसरे प्रसंग में परिमाण में वास्तविक परिवर्तन है, किंतु पूंजी की आंगिक संरचना में, अर्थात उसके परिवर्ती तथा स्थिर अंशों के आपेक्षिक अनुपातों में, कोई परिवर्तन नहीं है। किंतु इन दोनों ही प्रसंगों के अलावा नियोजित पूंजी के परिमाण में परिवर्तन या तो उसके घटकों में से एक के मूल्य में पूर्ववर्ती परिवर्तन का, और इसलिए इन घटकों के आपेक्षिक परिमाणों में परिवर्तन का (जब तक कि स्वयं बेशी मूल्य परिवर्ती पूंजी के साथ परिवर्तित नहीं होता) **परिणाम** होता है, अथवा परिमाण का यह परिवर्तन (जैसे बड़े पैमाने पर श्रम प्रक्रियाओं, नयी मशीनरी के प्रचलन, आदि में) उसके दोनों आंगिक घटकों के आपेक्षिक परिमाण में परिवर्तन का **कारण** होता है। अतः, इन सभी मामलों में यदि अन्य परिस्थितियां यथावत बनी रहती हैं, तो नियोजित पूंजी के परिमाण में परिवर्तन के साथ-साथ लाभ दर में भी सहकालिक परिवर्तन आना चाहिए।

लाभ दर में चढ़ाव हमेशा बेशी मूल्य में उसकी उत्पादन लागत की, अर्थात पेशगी दी गयी कुल पूंजी की, तुलना में आपेक्षिक अथवा निरपेक्ष वृद्धि के कारण, या लाभ दर और बेशी मूल्य दर में अंतर के घटने के कारण ही होता है।

लाभ दर में उतार-चढ़ाव पेशगी स्थायी अथवा प्रचल पूंजी के मूल्य में पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक कार्य काल की बढ़ती अथवा घटती द्वारा जनित चढ़ाव या गिरावट के ज़रिये – यह बढ़ती अथवा घटती पहले से विद्यमान पूंजी से स्वतंत्र रूप में होती रहती है – और पूंजी के आंगिक घटकों में परिवर्तनों से, अथवा पूंजी के निरपेक्ष परिमाण से अनपेक्ष रूप में हो सकते हैं। हर जिंस का मूल्य – और इस प्रकार पूंजी को बनानेवाली जिंसों का भी – उसमें समाविष्ट आवश्यक श्रम काल द्वारा नहीं, बल्कि उसे पुनरुत्पादित करने के लिए आवश्यक **सामाजिक** श्रम काल द्वारा निर्धारित होता है। यह पुनरुत्पादन मूल उत्पादन की अवस्थाओं से भिन्न, प्रतिकूल परिस्थितियों के अंतर्गत अथवा अनुकूल परिस्थितियों के अंतर्गत हो सकता है। अगर, बदली हुई अवस्थाओं के अंतर्गत, उतनी ही भौतिक पूंजी को पुनरुत्पादित करने में दुगुना, या विलोमतः आधा समय लगता है, और अगर द्रव्य का मूल्य अपरिवर्तित रहता है, तो पहले जो पूंजी १०० पाउंड की थी, वह क्रमशः २०० पाउंड की, या ५० पाउंड की हो जायेगी। अगर इस मूल्य-वृद्धि अथवा मूल्यह्रास से पूंजी के सभी अंशों पर समान प्रभाव पड़ता है, तो लाभ भी तदनुरूप द्रव्य की दुगुनी अथवा आधी राशि में व्यक्त होगा। लेकिन अगर उसमें पूंजी की आंगिक संरचना में परिवर्तन सन्निहित है, अगर पूंजी के स्थिर अंश से परिवर्ती अंश का अनुपात चढ़ या गिर जाता है, तो, अन्य परिस्थितियों के यथावत रहने पर, लाभ दर आपेक्षिक रूप में चढ़ती परिवर्ती पूंजी के साथ चढ़ेगी और आपेक्षिक रूप में गिरती परिवर्ती पूंजी के साथ गिरेगी। अगर सिर्फ़ पेशगी पूंजी का द्रव्य मूल्य ही चढ़ता अथवा गिरता है (द्रव्य मूल्य में परिवर्तन के परिणामस्वरूप), तो बेशी मूल्य की द्रव्य अभिव्यक्ति उसी अनुपात में चढ़ अथवा गिर जाती है। लाभ दर अपरिवर्तित बनी रहती है।

भाग २

लाभ का औसत लाभ में रूपांतरण

अध्याय ८

उत्पादन की भिन्न-भिन्न शाखाओं में पूंजियों की भिन्न-भिन्न संरचनाएं और लाभ दरों में परिणामी अंतर

पिछले भाग में हमने, और चीज़ों के साथ-साथ, यह दर्शाया था कि लाभ दर बदल–चढ़ या गिर–सकती है, जबकि बेशी मूल्य दर वही बनी रहती है। इस अध्याय में हम मान लेते हैं कि किसी नियत देश का सामाजिक श्रम उत्पादन के जिन क्षेत्रों में विभाजित है, उन सभी में श्रम शोषण की तीव्रता, और इसलिए बेशी मूल्य दर तथा कार्य दिवस की दीर्घता समान ही हैं। ऐडम स्मिथ* विस्तार से दर्शा ही चुके हैं कि उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में श्रम के शोषण में अनेकानेक अंतर एक दूसरे को भांति-भांति के विद्यमान प्रतिपूरकों द्वारा, अथवा प्रचलित पूर्वाग्रहों के आधार पर उसी रूप में स्वीकृत प्रतिपूरकों द्वारा संतुलित कर लेते हैं, जिससे कि उन्हें अस्थायी अंतर ही कहा जा सकता है और सामान्य संबंधों के अध्ययन में उनका कोई महत्व नहीं होता। अन्य अंतर, उदाहरणार्थ मज़दूरी मान में, अधिकांशतः पहली पुस्तक के आरंभ में (S. 19)** उल्लिखित साधारण तथा जटिल श्रम के बीच अंतर पर आधारित होते हैं और उनका उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में शोषण की तीव्रता से कोई संबंध नहीं होता, यद्यपि वे इन क्षेत्रों में श्रमिक की स्थिति को बहुत असमान बना देते हैं। उदाहरण के लिए, अगर स्वर्णकार के श्रम के लिए रोज़ीदार के श्रम की अपेक्षा अधिक दिया जाता है, तो पूर्वोक्त का बेशी श्रम अंतोक्त के बेशी श्रम से यथानुपात अधिक बेशी मूल्य उत्पन्न करता है। और यद्यपि उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में, और उत्पादन के उसी क्षेत्र में पूंजी के विभिन्न निवेशों में भी मज़दूरी तथा कार्य दिवसों के, और इस प्रकार बेशी मूल्य दरों के समकरण को विभिन्न स्थानीय बाधाओं द्वारा अवरुद्ध किया जाता है, फिर भी पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति और सभी आर्थिक अवस्थाओं के इस उत्पादन प्रणाली के अधीन होते जाने के साथ-साथ वह अधिकाधिक होता ही जा रहा है। मज़दूरी विषयक किसी भी विशेष कृति के लिए महत्वपूर्ण

---

* A. Smith, *An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations*, vol. I, Chap. X. —सं०

**'पूंजी', हिंदी संस्करण : खंड १, पृष्ठ ६३-६४। —सं०

होने पर भी इस प्रकार के टकरावों के अनुसंधान को पूंजीवादी उत्पादन के सामान्य विश्लेषण में अनावश्कय तथा असंगत मानकर छोड़ा जा सकता है। इस प्रकार के सामान्य विश्लेषण में सामान्यतः यह सदा कल्पित होता है कि वास्तविक अवस्थाएं अपने संकल्पन के अनुरूप हैं, अथवा, जो वही बात है, वास्तविक अवस्थाएं केवल वहीं तक प्रतिरूपित होती हैं कि जहांतक वे स्वयं अपने सामान्य उदाहरण की लाक्षणिक होती हैं।

विभिन्न देशों में बेशी मूल्य दरों में अंतर, और फलतः श्रम के शोषण की मात्रा में राष्ट्रीय अंतर हमारे प्रस्तुत विश्लेषण के लिए महत्वहीन हैं। इस भाग में हम जो दिखाना चाहते हैं, वह यथार्थतः वह तरीक़ा ही है कि जिससे किसी नियत देश में सामान्य लाभ दर रूप लेती है। तथापि यह प्रत्यक्ष है कि विभिन्न राष्ट्रीय लाभ दरों की तुलना के लिए केवल पूर्वान्वीक्षित का उसके साथ परितुलन करना ही आवश्यक होता है, जिसका यहां अन्वीक्षण किया जाना है। पहले बेशी मूल्य की राष्ट्रीय दरों में अंतरों को लेना चाहिए, और फिर, इन नियत दरों के आधार पर, राष्ट्रीय लाभ दरों में अंतरों की तुलना की जानी चाहिए। चूंकि ये अंतर राष्ट्रीय बेशी मूल्य दरों में अंतरों के कारण नहीं होते, अतः उन्हें ऐसी अवस्थाओं के कारण होना चाहिए, जिनमें बेशी मूल्य को, इस अध्याय के विश्लेषण की भांति ही, सर्वतः समान, अर्थात स्थिर, माना गया है।

पूर्ववर्ती अध्याय में हमने दर्शाया था कि अगर बेशी मूल्य दर को स्थिर मान लिया जाये, तो किसी नियत पूंजी से प्राप्त लाभ दर उन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप बढ़ या घट सकती है, जो स्थिर पूंजी के एक या दूसरे अंश के मूल्य को चढ़ाती अथवा गिराती हैं और इस प्रकार पूंजी के परिवर्ती तथा स्थिर घटकों के बीच अनुपात को प्रभावित करती हैं। इसके अलावा हमने यह भी देखा था कि जो परिस्थितियां किसी व्यष्टिक पूंजी के आवर्त काल को बढ़ाती या घटाती हैं, वे लाभ दर को भी उसी प्रकार प्रभावित कर सकती हैं। चूंकि लाभ संहति बेशी मूल्य संहति के, और स्वयं बेशी मूल्य के सर्वसम होती है, अतः यह भी देखा गया था कि लाभ **संहति** – लाभ **दर** से भिन्न – मूल्य के पूर्वोद्धृत उतार-चढ़ाव से प्रभावित नहीं होती है। वे केवल उस दर को रूपांतरित कर देते हैं, जिसमें कोई नियत बेशी मूल्य, और इसलिए किसी नियत परिमाण का लाभ, अपने को व्यक्त करते हैं; दूसरे शब्दों में, वे केवल लाभ के आपेक्षिक परिमाण को, अर्थात पेशगी पूंजी के परिमाण की तुलना में उसके परिमाण को रूपांतरित करते हैं। यह देखते हुए कि मूल्य के इस प्रकार के उतार-चढ़ाव से पूंजी निबद्ध अथवा निर्मोचित हुई थी, इस अप्रत्यक्ष ढंग से जिसके प्रभावित होने की संभावना थी, वह सिर्फ़ लाभ दर ही नहीं, बल्कि स्वयं लाभ भी था। लेकिन तब यह बात हमेशा ऐसी पूंजी पर लागू होती थी, जो पहले ही निवेशित थी, न कि नये निवेशों पर। इसके अलावा लाभ का बढ़ना या घटना हमेशा उस सीमा पर निर्भर करता था कि जहां तक वही पूंजी, मूल्य के ऐसे उतार-चढ़ाव के परिणामस्वरूप, अधिक या कम श्रम को गतिशील कर सकती थी; दूसरे शब्दों में, वह उस सीमा पर निर्भर करता था कि जहां तक वही पूंजी, बेशी मूल्य दर के वही बने रहने पर, बेशी मूल्य की ज्यादा या कम रक़म प्राप्त कर सकती थी। सामान्य नियम का खंडन करने के, या उसका अपवाद होने के बजाय यह प्रतीयमान अपवाद वास्तव में सामान्य नियम के प्रयोग में एक विशेष प्रसंग ही था।

पूर्ववर्ती भाग में यह देखा गया था कि शोषण की मात्रा के स्थिर बने रहने पर स्थिर पूंजी के घटकों के मूल्य में और पूंजी के आवर्त काल में परिवर्तनों के साथ लाभ दर में भी

परिवर्तन आते हैं। प्रत्यक्ष निष्कर्ष यह है कि उत्पादन के भिन्न-भिन्न, सहवर्ती क्षेत्रों में जब, अन्य परिस्थितियां अपरिवर्तित रहने पर, विभिन्न शाखाओं में नियोजित पूंजियों का आवर्त काल भिन्न होता है, अथवा जब इन पूंजियों के आंगिक घटकों का मूल्य संबंध उत्पादन की विभिन्न शाखाओं में भिन्न होता है, तब लाभ दरों को भी भिन्न-भिन्न होना पड़ता है। पहले हम जिसे उस एक ही पूंजी के साथ निरंतर होते परिवर्तन समझते थे, उसे अब उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में साथ-साथ विद्यमान पूंजी निवेशों में सहकालिक अंतर समझना होगा।

इन परिस्थितियों में हमें १) पूंजियों की **आंगिक संरचना** में अंतर, और २) उनके आवर्त काल में अंतर का विश्लेषण करना होगा।

इस सारे विश्लेषण में आधारिका स्वाभाविकतया यह है कि उत्पादन की किसी ख़ास शाखा में पूंजी की संरचना अथवा आवर्त की बात करते समय हमारा आशय सदा इस क्षेत्र में निवेशित पूंजी के औसत सामान्य अनुपातों से, और साधारणतया इस क्षेत्र विशेष में नियोजित समग्र पूंजी के औसत अनुपातों से होता है, न कि व्यष्टिक पूंजियों के आकस्मिक अंतरों से।

चूंकि इसके अलावा यह भी कल्पित है कि बेशी मूल्य दर तथा कार्य दिवस स्थिर हैं, और चूंकि इस कल्पना में स्थिर मज़दूरी भी अपेक्षित है, इसलिए परिवर्ती पूंजी की एक ख़ास मात्रा गतिशील की गयी श्रम शक्ति की एक नियत मात्रा को, और इसलिए मूर्त श्रम की एक नियत मात्रा को प्रकट करती है। इसलिए अगर १०० पाउंड १०० वास्तविक श्रम शक्तियों को सूचित करनेवाले १०० मज़दूरों की साप्ताहिक मज़दूरी को प्रकट करते हैं, तो n गुना १०० पाउंड n गुना १०० मज़दूरों की श्रम शक्तियों को, और $\frac{\text{१०० पाउंड}}{n}$ $\frac{\text{१००}}{n}$ मज़दूरों की श्रम शक्तियों को सूचित करेंगे। इस प्रकार परिवर्ती पूंजी यहां (जैसा कि जब मज़दूरी नियत होती है, तब हमेशा ही होता है) एक निश्चित कुल पूंजी द्वारा गतिशील किये गये श्रम की मात्रा के सूचक का काम करती है। इसलिए नियोजित परिवर्ती पूंजी के परिमाण में अंतर नियोजित श्रम शक्ति की मात्रा में अंतरों के सूचकों का काम देते हैं। अगर १०० पाउंड १०० श्रमिक प्रति सप्ताह को सूचित करते हैं और ६० कार्य घंटे प्रति सप्ताह के हिसाब से ६,००० कार्य घंटों को प्रकट करते हैं, तो २०० पाउंड १२,००० और ५० पाउंड सिर्फ़ ३,००० कार्य घंटों को प्रकट करते हैं।

पूंजी की संरचना से हमारा आशय, जैसा कि पहली पुस्तक में बताया गया है, उसके सक्रिय तथा निष्क्रिय घटकों का, अर्थात परिवर्ती तथा स्थिर पूंजी का अनुपात है। इस शीर्षक के अंतर्गत दो अनुपात विवेचन में प्रविष्ट होते हैं। वे समान रूप में महत्वपूर्ण नहीं हैं, यद्यपि कुछेक परिस्थितियों में वे समान प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।

पहला अनुपात एक प्राविधिक आधार पर आधारित है और उत्पादक शक्तियों के विकास की एक ख़ास मंज़िल पर नियत माना जाना चाहिए। उत्पादों की एक निश्चित मात्रा को, कहिये कि एक दिन में, उत्पादित करने के लिए और – जो स्वयंसिद्ध है – परिणामस्वरूप उत्पादन साधनों, मशीनरी, कच्चे मालों, आदि की एक निश्चित मात्रा का उत्पादक ढंग से इस्तेमाल करने, अर्थात उसे गतिशील बनाने के लिए श्रमिकों की एक निश्चित संख्या द्वारा व्यक्त श्रम शक्ति की एक निश्चित मात्रा आवश्यक है। श्रमिकों की एक निश्चित संख्या उत्पादन साधनों की एक निश्चित मात्रा के, और इस प्रकार सजीव श्रम की एक निश्चित मात्रा उत्पादन साधनों में मूर्त श्रम की एक निश्चित मात्रा के अनुरूप होती है। इस अनुपात में उत्पादन के भिन्न-भिन्न

क्षेत्रों में, और बहुधा एक ही उद्योग की विभिन्न शाखाओं में भी बहुत भिन्नता होती है, यद्यपि संयोगवश यह उद्योग की पूर्णतः पृथक शाखाओं में भी पूर्णतः अथवा लगभग उतना ही हो सकता है।

यह अनुपात पूंजी की प्राविधिक संरचना का निर्माण करता है और उसकी आंगिक संरचना का वास्तविक आधार है।

तथापि यह भी संभव है कि यह पहला अनुपात उद्योग की भिन्न-भिन्न शाखाओं में उतना ही हो, बशर्ते कि परिवर्ती पूंजी मात्र श्रम शक्ति की और स्थिर पूंजी मात्र इस श्रम शक्ति द्वारा गतिशील की गयी उत्पादन साधन संहति की ही सूचक हो। उदाहरण के लिए, तांबे और लोहे में कोई काम श्रम शक्ति के उत्पादन साधन संहति के साथ उसी अनुपात की अपेक्षा कर सकता है। लेकिन चूंकि तांबा लोहे से ज़्यादा महंगा होता है, इसलिए परिवर्ती तथा स्थिर पूंजी में मूल्य संबंध, और इसलिए दोनों कुल पूंजियों की मूल्य संरचना भी प्रत्येक प्रसंग में भिन्न है। प्राविधिक संरचना और मूल्य संरचना में अंतर उद्योग की प्रत्येक शाखा में व्यक्त होता है, क्योंकि पूंजी के दोनों अंशों के मूल्य संबंध बदल सकते हैं, जबकि प्राविधिक संरचना स्थिर होती है, और मूल्य संबंध वही बने रह सकते हैं, जबकि प्राविधिक संरचना बदल जाती है। बेशक, अंतोक्त स्थिति केवल तभी संभव होगी कि जब नियोजित उत्पादन साधन संहति और श्रम शक्ति के अनुपात में परिवर्तन की उनके मूल्यों के विलोम परिवर्तन से प्रतिपूर्ति हो जाती है।

इस कारण कि वह पूंजी की प्राविधिक संरचना द्वारा निर्धारित होती है और उसे प्रति-बिंबित करती है, पूंजी की मूल्य संरचना को पूंजी की **आंगिक** संरचना कहा जाता है।[20]

इसलिए परिवर्ती पूंजी के मामले में हम मान लेते हैं कि यह श्रम शक्ति की एक निश्चित मात्रा की, अथवा श्रमिकों की एक निश्चित संख्या की, अथवा गतिशील की गयी सजीव श्रम शक्ति की एक निश्चित मात्रा की सूचक है। हम पिछले भाग में देख चुके हैं कि यह संभव है कि परिवर्ती पूंजी के मूल्य के परिमाण में परिवर्तन अंततः उसी श्रम संहति के उच्चतर अथवा निम्नतर दाम के अलावा और कुछ भी न सूचित करे। लेकिन यहां, जहां बेशी मूल्य दर तथा कार्य दिवस को स्थिर माना गया है और एक निश्चित कार्य काल के लिए मज़दूरी नियत है, यह असंभव है। इसके विपरीत, स्थिर पूंजी के परिमाण में अंतर का आना इसी प्रकार श्रम शक्ति की एक निश्चित मात्रा द्वारा गतिशील की गयी उत्पादन साधन संहति में परिवर्तन का सूचक हो सकता है। किंतु यह एक क्षेत्र में और दूसरे क्षेत्र में गतिशील किये गये उत्पादन साधनों के बीच मूल्य के अंतर से भी उत्पन्न हो सकता है। इसलिए यहां दोनों ही दृष्टिकोणों से विवेचन किया जाना चाहिए।

अंततोगत्वा हमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए:

मान लीजिये कि १०० पाउंड १०० मज़दूरों की साप्ताहिक मजदूरी हैं। मान लीजिये कि साप्ताहिक कार्य घंटे = ६० हैं। इसके अलावा मान लीजिये कि बेशी मूल्य दर = १००% है। इस मामले में मज़दूर ६० में से ३० घंटे अपने लिए और ३० घंटे पूंजीपति के लिए मुफ़्त काम

---

[20] उपरोक्त को पहली पुस्तक के तीसरे संस्करण में Kap. XXIII, S. 628 [हिंदी संस्करण: पचीसवें अध्याय का आरंभ, पृष्ठ ६४५। – सं०] में पहले ही संक्षेप में निरूपित किया जा चुका है। चूंकि दो पूर्ववर्ती संस्करणों में यह अंश नहीं है, इसलिए उसकी यहां पुनरावृत्ति करना और भी अधिक वांछनीय है। – फ़े० एं०

करते हैं। वस्तुतः मज़दूरी के १०० पाउंड १०० मज़दूरों के मात्र ३० कार्य घंटों को, अथवा कुल मिलाकर ३,००० कार्य घंटों को ही प्रकट करते हैं, जबकि मज़दूरों द्वारा किये गये काम के अन्य ३,००० घंटे बेशी मूल्य के १०० पाउंड में, अथवा पूंजीपति द्वारा अपने जेब में डाले गये लाभ में समाविष्ट हो जाते हैं। अतः १०० पाउंड की मज़दूरी यद्यपि उस मूल्य को नहीं प्रकट करती, जिसमें १०० मज़दूरों का साप्ताहिक श्रम मूर्त होता है, फिर भी वह यह सूचित करती है (क्योंकि कार्य दिवस की दीर्घता और बेशी मूल्य दर नियत हैं) कि यह पूंजी १०० मज़दूरों को ६,००० कार्य घंटे के लिए गतिशील करती है। १०० पाउंड की पूंजी यह सूचित करती है, पहले, इसलिए कि यह गतिशील किये मज़दूरों की संख्या को सूचित करती है: चूंकि १ पाउंड = १ मज़दूर प्रति सप्ताह है, अतः १०० पाउंड = १०० मज़दूर होंगे; दूसरे, इसलिए कि चूंकि बेशी मूल्य दर १००% दी गयी है, अतः प्रत्येक मज़दूर उसकी मज़दूरी में जितना समाविष्ट है, उससे दुगुना काम करता है, जिससे कि १ पाउंड, अर्थात उसकी मज़दूरी, जो आधे सप्ताह के श्रम की अभिव्यक्ति है, एक पूरे सप्ताह के श्रम को गतिशील करता है, जैसे १०० पाउंड १०० सप्ताह के श्रम को गतिशील करते हैं, यद्यपि उनमें सिर्फ़ ५० सप्ताहों का श्रम ही समाविष्ट है। इस प्रकार मज़दूरी में व्ययित परिवर्ती पूंजी के बारे में एक बहुत महत्व-पूर्ण भेद करना होगा। मज़दूरी की रक़म, अर्थात मूर्त श्रम की एक ख़ास मात्रा, के नाते उसके मूल्य का जिस सजीव श्रम संहति को वह गतिशील करती है, मात्र उसके सूचक के नाते उसके मूल्य से विभेद करना होगा। अंतोक्त उस श्रम से सदा अधिक होता है, जो उसमें समाविष्ट होता है और इसलिए परिवर्ती पूंजी के मूल्य की अपेक्षा अधिक मूल्य द्वारा प्रकट किया जाता है। यह अधिक मूल्य एक ओर तो परिवर्ती पूंजी द्वारा गतिशील किये गये मज़दूरों की संख्या द्वारा, और दूसरी ओर, उनके द्वारा किये गये बेशी श्रम की मात्रा द्वारा निर्धारित होता है।

परिवर्ती पूंजी पर इस ढंग से नज़र डालने से यह नतीजा निकलता है कि:

जब उत्पादन क्षेत्र **क** में निवेशित कोई पूंजी कुल पूंजी के प्रति ७०० के पीछे स्थिर पूंजी के वास्ते ६०० छोड़ते हुए परिवर्ती पूंजी में केवल १०० ख़र्च करती है, जबकि उत्पादन क्षेत्र **ख** में निवेशित पूंजी परिवर्ती पूंजी के लिए ६०० और स्थिर पूंजी के लिए सिर्फ़ १०० ख़र्च करती है, तब ७०० की पूंजी **क** श्रम शक्ति के केवल १०० को, अथवा, हमारी पूर्ववर्ती कल्पना के अर्थों में, श्रम के १०० सप्ताह, अथवा सजीव श्रम के ६,००० घंटों को ही गतिशील करती है, जबकि पूंजी **ख** की उतनी ही राशि श्रम के ६०० सप्ताह, अथवा सजीव श्रम के ३६,००० घंटों को गतिशील करेगी। इसलिए **क** में पूंजी श्रम के केवल ५० सप्ताह, अथवा बेशी श्रम के ३,००० घंटों को ही हड़पेगी, जबकि **ख** में पूंजी की उतनी ही राशि श्रम के ३०० सप्ताह, अथवा १८,००० घंटों को हड़पेगी। परिवर्ती पूंजी केवल अपने में समाविष्ट श्रम की सूचक ही नहीं होती। अगर बेशी मूल्य दर ज्ञात हो, तो वह स्वयं अपने में समाविष्ट श्रम के अतिरिक्त गतिशील किये गये श्रम की मात्रा, अर्थात बेशी श्रम की भी सूचक होती है। शोषण की तीव्रता समान मानने पर लाभ पहले प्रसंग में $\frac{१००}{७००}$ = १/७ = १४ २/७% होगा, और दूसरे प्रसंग में $\frac{६००}{७००}$ = ६/७ = ८५ ५/७%, अर्थात छः गुना लाभ दर। इस दृष्टांत

में लाभ स्वयं वस्तुतः छः गुना, क के १०० के मुक़ाबले ख में ६०० होगा, क्योंकि उतनी ही पूंजी ने छः गुना सजीव श्रम को गतिशील किया है, जिसका शोषण के समान स्तर पर मतलब है छः गुना बेशी मूल्य, और इस प्रकार छः गुना लाभ।

लेकिन अगर क में निवेशित पूंजी ७०० न होती, वरन ७,००० पाउंड होती और ख में निवेशित पूंजी सिर्फ़ ७०० पाउंड होती, और दोनों की आंगिक संरचना वही बनी रहती, तो क में पूंजी ७,००० पाउंड के १,००० पाउंड को परिवर्ती पूंजी की तरह नियोजित करती, अर्थात १,००० मजदूर प्रति सप्ताह = ६०,००० घंटे सजीव श्रम, जिसमें से ३०,००० बेशी श्रम होता। फिर भी क की पूंजी के प्रत्येक ७०० पाउंड, ख की पूंजी की भांति, सिर्फ़ षष्ठांश सजीव श्रम को ही, और फलतः सिर्फ़ षष्ठांश बेशी श्रम को ही गतिशील करते रहते और केवल षष्ठांश लाभ ही उत्पन्न करते। अगर हम लाभ दर को लें, तो वह ख के $\frac{६००}{७००}$, अथवा ८५ ५/७% की तुलना में क में $\frac{१,०००}{७,०००} = \frac{१००}{७००} =$ १४ २/७% है। पूंजी की समान राशियां लेने पर लाभ दरों में भिन्नता है, क्योंकि गतिशील किये गये सजीव श्रम की भिन्न-भिन्न संहतियों के कारण बेशी मूल्य की, और इस प्रकार लाभ की भी संहतियों में भिन्नता है, यद्यपि बेशी मूल्य दरें समान ही हैं।

अगर उत्पादन के दोनों क्षेत्रों में प्राविधिक अवस्थाएं समान ही हों, मगर एक में दूसरे की अपेक्षा नियोजित स्थिर पूंजी के तत्वों का मूल्य अधिक या कम हो, तो भी हम लगभग यही परिणाम प्राप्त करते हैं। मान लीजिये कि दोनों १०० पाउंड परिवर्ती पूंजी के रूप में निवेशित करते हैं और इसलिए मशीनरी तथा कच्चे मालों की उतनी ही मात्रा को गतिशील करने के लिए प्रति सप्ताह १०० मजदूर नियोजित करते हैं। लेकिन मान लीजिये कि प्रथमोक्त ख में क की अपेक्षा अधिक महंगी है। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि १०० पाउंड की परिवर्ती पूंजी क में २०० पाउंड और ख में ४०० पाउंड की स्थिर पूंजी को गतिशील करती है। उतनी ही, १००% की, बेशी मूल्य दर के साथ प्रत्येक प्रसंग में उत्पादित बेशी मूल्य १०० पाउंड के बराबर है। इसलिए दोनों प्रसंगों में लाभ भी १०० पाउंड के बराबर है। किंतु लाभ दर क में $\frac{१००}{२००_c + १००_v}$ = १/३ = ३३ १/३% है, जबकि ख में यह $\frac{१००}{४००_c + १००_v}$ = = १/५ = २०% है। वस्तुतः, अगर हम दोनों में से किसी भी मामले में कुल पूंजी के किसी एक अशेषभाजक अंश (संखंड) को ले लेते हैं, तो पाते हैं कि ख के प्रत्येक १०० पाउंड में केवल २० पाउंड, अथवा पंचमांश, परिवर्ती पूंजी हैं, जबकि क के प्रत्येक १०० पाउंड में ३३ १/३ पाउंड, अथवा तृतीयांश, परिवर्ती पूंजी होते हैं। ख प्रत्येक १०० पाउंड के पीछे कम लाभ उत्पन्न करता है, क्योंकि वह क की अपेक्षा कम सजीव श्रम को गतिशील करता है। इस प्रकार लाभ दरों में अंतर अपने को इस मामले में एक बार फिर निवेशित पूंजी के प्रत्येक १०० द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य संहतियों के कारण लाभ संहतियों के अंतर में परिणत कर लेता है।

इस दूसरे और पहले उदाहरण के बीच अंतर केवल यह है – दूसरे प्रसंग में क और ख के बीच समकरण के लिए सिर्फ़ या तो क या ख की स्थिर पूंजी के मूल्य में परिवर्तन आवश्यक होगा, बशर्ते कि प्राविधिक आधार वही बना रहा है। किंतु प्रथम प्रसंग में स्वयं प्राविधिक संरचना ही उत्पादन के दोनों क्षेत्रों में भिन्न है और समकरण प्राप्त करने के लिए उसे पूर्णतः बदलना होगा।

इस प्रकार विभिन्न पूंजियों की भिन्न-भिन्न आंगिक संरचना उनके निरपेक्ष परिमाण से स्वतंत्र होती है। सवाल हमेशा बस इसी का होता है कि प्रत्येक १०० में से कितनी पूंजी परिवर्ती और कितनी स्थिर है।

प्रतिशतों में परिकलित भिन्न-भिन्न परिमाण की पूंजियां, अथवा, जो इस मामले में एक ही बात है, उतने ही कार्य काल तक तथा शोषण की उतनी ही मात्राओं के साथ कार्यरत उतने ही परिमाण की पूंजियां बेशी मूल्य के कारण इस वजह से लाभ की बहुत भिन्न-भिन्न राशियां पैदा कर सकती हैं कि उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पूंजी की आंगिक संरचना के अंतर में उनके परिवर्ती भाग का अंतर, इस प्रकार उनके द्वारा गतिशील किये सजीव श्रम की मात्राओं का अंतर, और इसलिए उनके द्वारा हड़पे गये बेशी श्रम की मात्राओं का अंतर भी सन्निहित होता है। और यह बेशी श्रम ही बेशी मूल्य का, और इस प्रकार लाभ का, सार है। उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कुल पूंजी के समान अंश बेशी मूल्य के असमान स्रोत होते हैं और बेशी मूल्य का एकमात्र स्रोत सजीव श्रम होता है। श्रम शोषण की मात्रा समान मानते हुए १०० की पूंजी द्वारा गतिशील श्रम संहति और फलतः उसके द्वारा हस्तगत बेशी मूल्य संहति उसके परिवर्ती घटक के परिमाण पर निर्भर करती है। अगर प्रतिशत में $९०_c + १०_v$ की पूंजी शोषण की उतनी ही मात्रा के साथ उतना ही बेशी मूल्य, अथवा लाभ, उत्पन्न करती है कि जितना $१०_c + ९०_v$ की पूंजी करती है, तो यह दिन की तरह साफ़ होगा कि बेशी मूल्य का, और इस प्रकार सामान्यतः मूल्य का, श्रम के अलावा कोई नितांत भिन्न ही स्रोत होना चाहिए और तब राजनीतिक अर्थशास्त्र किसी भी प्रकार के तर्कसंगत आधार से वंचित हो जायेगा। अगर हमें लगातार यही मानना है कि १ पाउंड ६० घंटे काम करनेवाले एक श्रमिक की साप्ताहिक मजदूरी को व्यक्त करता है और बेशी मूल्य दर १००% है, तो यह प्रत्यक्ष है कि एक श्रमिक का एक हफ़्ते में कुल मूल्य उत्पाद २ पाउंड है। तब दस श्रमिक २० पाउंड से अधिक न उत्पन्न करेंगे। और चूंकि २० पाउंड के १० पाउंड मजदूरी को प्रतिस्थापित करते हैं, इसलिए १० श्रमिक १० पाउंड से अधिक बेशी मूल्य नहीं उत्पन्न कर सकते। दूसरी ओर, ९० श्रमिक, जिनका कुल उत्पाद १८० पाउंड है और जिनकी मजदूरी ९० पाउंड है, ९० पाउंड का बेशी मूल्य उत्पन्न करेंगे। इस प्रकार पहले प्रसंग में लाभ दर १०%, और दूसरे में ९०% होगी। अगर ऐसा न होता, तो मूल्य और बेशी मूल्य मूर्त श्रम के अलावा कुछ और होते। चूंकि उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रतिशतों में – अथवा समान परिमाण की पूंजियों की तरह – परिकलित पूंजियां सजीव श्रम की असमान मात्राओं को गतिशील करती और भिन्न-भिन्न बेशी मूल्य और इस प्रकार लाभ उत्पन्न करती हुई परिवर्ती तथा स्थिर पूंजी में भिन्नतः विभक्त होती हैं, तो इससे मतलब यह निकलता है कि लाभ दर को भी, जो वस्तुतः बेशी मूल्य का कुल पूंजी के साथ प्रतिशत में अनुपात ही है, भिन्न होना चाहिए।

इसलिए अगर उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में, प्रतिशत में परिकलित पूंजियां, अर्थात समान परिमाण की पूंजियां, अपनी भिन्न आंगिक संरचना के परिणामस्वरूप असमान लाभ

उत्पन्न करती हैं, तो इसका मतलब यह है कि उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में असमान पूंजियों के लाभ उनके क्रमिक परिमाणों के यथानुपात नहीं हो सकते, अथवा उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में लाभ उनमें निवेशित पूंजियों के परिमाण के यथानुपात नहीं होते। कारण कि अगर लाभ निवेशित पूंजी के pro rata [यथानुपात] बढ़े होते, तो इसका मतलब यह होता कि प्रतिशत में लाभ उतने ही रहे होते, जिससे कि उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में समान परिमाण की पूंजियों की अपनी भिन्न आंगिक संरचना के बावजूद समान लाभ दर रही होती। यह केवल उत्पादन के उसी क्षेत्र में, जहां पूंजी की नियत आंगिक संरचना है, अथवा पूंजी की समान आंगिक संरचनावाले भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में ही होता है कि लाभ राशियां निवेशित पूंजी राशियों के अनुक्रमानुपात में होती हैं। यह कहने का कि असमान पूंजियों के लाभ उनके परिमाणों के यथानुपात होते हैं, मतलब सिर्फ़ यही होगा कि समान परिमाण की पूंजियां समान लाभ देती हैं, अथवा लाभ दर सभी पूंजियों के लिए वही होती है, चाहे उनका परिमाण अथवा आंगिक संरचना कुछ भी क्यों न हों।

इन कथनों में यह मानकर चला गया है कि जिंसें अपने मूल्यों पर बेची जाती हैं। जिंस का मूल्य उसमें समाविष्ट स्थिर पूंजी के मूल्य, जमा उसमें पुनरुत्पादित परिवर्ती पूंजी के मूल्य, जमा इस परिवर्ती पूंजी की वृद्धि – उत्पादित बेशी मूल्य – के बराबर होता है। उसी बेशी मूल्य दर पर उसकी मात्रा प्रत्यक्षतः परिवर्ती पूंजी की मात्रा पर निर्भर करती है। १०० की व्यष्टिक पूंजी के उत्पाद का मूल्य एक प्रसंग में $९०_c + १०_v + १०_s = ११०$, और दूसरे में $१०_c + ९०_v + ९०_s = १९०$ है। अगर जिंसें अपने मूल्य पर बेची जाती हैं, तो पहला उत्पादन ११० का बिकता है, जिनमें से १० बेशी मूल्य, अथवा अशोधित श्रम, को प्रकट करते हैं और दूसरा १९० का बिकता है, जिनमें से ९० बेशी मूल्य, अथवा अशोधित श्रम, को प्रकट करते हैं।

भिन्न-भिन्न देशों में लाभ दरों की तुलना करने में यह विशेषकर महत्वपूर्ण है। मान लीजिये कि एक यूरोपीय देश में बेशी मूल्य दर १००% है, जिससे कि श्रमिक आधा कार्य दिवस अपने लिए और शेष आधा अपने मालिक के लिए काम करता है। इसके अलावा मान लीजिये कि एक एशियाई देश में बेशी मूल्य दर २५% है, जिससे कि श्रमिक ४/५ कार्य दिवस अपने लिए और १/५ अपने मालिक के लिए काम करता है। मान लीजिये कि राष्ट्रीय पूंजी संरचना यूरोपीय देश में $८४_c + १६_v$ है और एशियाई देश में $१६_c + ८४_v$, जहां कम ही मशीनरी, आदि का उपयोग किया जाता है और जहां श्रम शक्ति की नियत मात्रा एक नियत समय के भीतर अपेक्षतया कम कच्चे माल का उत्पादक ढंग से उपयोग करती है। तब हमारा परिकलन इस प्रकार होगा :

यूरोपीय देश में उत्पाद का मूल्य $= ८४_c + १६_v + १६_s = ११६$; लाभ दर $= \frac{१६}{१००} =$
$= १६\%$।

एशियाई देश में उत्पाद का मूल्य $= १६_c + ८४_v + २१_s = १२१$; लाभ दर $= \frac{२१}{१००} =$
$= २१\%$।

इस प्रकार एशियाई देश में लाभ दर यूरोपीय देश के मुक़ाबले २५% से भी ज्यादा ऊंची है, यद्यपि प्रथमोक्त में बेशी मूल्य दर अंतोक्त का चतुर्थांश ही है। कैरी, बासतिए, तथा tutti quanti [सारे ऐरे-ग़ैरे] सर्वथा विपरीत निष्कर्ष पर ही पहुंचेंगे।

प्रसंगतः, भिन्न राष्ट्रीय लाभ दरें अधिकांशतः भिन्न राष्ट्रीय बेशी मूल्य दरों पर आधारित होती हैं। किंतु इस अध्याय में हम उसी बेशी मूल्य दर से उत्पन्न असमान लाभ दरों की तुलना कर रहे हैं।

पूंजियों की आंगिक संरचना में अंतरों के अलावा, और इसलिए विभिन्न श्रम संहतियों के, और फलतः, अन्य परिस्थितियों के यथावत बने रहने पर, उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में उसी परिमाण की पूंजियों द्वारा गतिशील विभिन्न बेशी श्रम संहतियों के अलावा, लाभ दरों में असमानता का एक स्रोत और भी है। यह उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पूंजी का भिन्न-भिन्न आवर्त काल है। हम चौथे अध्याय में देख चुके हैं कि अन्य अवस्थाएं समान होने पर उसी आंगिक संरचना की पूंजियों की लाभ दरें अपने आवर्त कालों के व्युत्क्रमानुपात में होती हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि विभिन्न समयावधियों में आवर्तित वही परिवर्ती पूंजी वार्षिक बेशी मूल्य की भिन्न-भिन्न मात्राएं उत्पन्न करती है। इसलिए आवर्त कालों में अंतर इसका एक और कारण है कि क्यों उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में समान परिमाण की पूंजियां समान समयावधियों में समान लाभ उत्पन्न नहीं करतीं, और फलतः, इन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में लाभ दरों में अंतर क्यों होता है।

तथापि, जहां तक पूंजियों की संरचना में स्थायी तथा प्रचल पूंजी के अनुपात का सवाल है, यह अपने आप में लाभ दर को तनिक भी प्रभावित नहीं करता। यह लाभ दर को सिर्फ़ तभी प्रभावित कर सकता है कि जब एक प्रसंग में, संरचना में यह अंतर परिवर्ती तथा स्थिर भागों के भिन्न अनुपातों के अनुरूप हो, जिससे कि लाभ दर में अंतर इस अंतोक्त अंतर के कारण होता है, न कि स्थायी तथा प्रचल पूंजी के भिन्न अनुपात के कारण; और, दूसरे प्रसंग में, जब पूंजी के स्थायी तथा प्रचल भागों के अनुपात में अंतर उस आवर्त काल में अंतर आने का कारण होता है, जिसमें एक निश्चित लाभ की सिद्धि की जाती है। अगर पूंजियां भिन्न-भिन्न अनुपातों में स्थायी तथा प्रचल पूंजी में विभाजित हैं, तो यह स्वाभाविकतया आवर्त काल को सदा प्रभावित करेगा और उसमें अंतर पैदा करेगा। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि आवर्त काल, जिसमें उतनी ही पूंजियां निश्चित लाभों की सिद्धि करती हैं, भिन्न है। उदाहरण के लिए, हो सकता है कि क को अपने उत्पाद के अधिकांश भाग को निरंतर कच्चे मालों, आदि में परिवर्तित करना पड़े, जबकि ख उसी मशीनरी, आदि का दीर्घतर समयावधि तक उपयोग करता रहे और उसे कम कच्चे मालों की आवश्यकता हो, लेकिन, उत्पादन में लगे होने के कारण, क और ख, दोनों की ही पूंजियों का एक भाग पदार्थ रूप में होता है, एक का कच्चे मालों में, अर्थात प्रचल पूंजी में, और दूसरे का मशीनरी, आदि में, अथवा स्थायी पूंजी में। क अपनी पूंजी के एक अंश को निरंतर जिंसों के रूप से द्रव्य के रूप में, और उसे फिर कच्चे माल के रूप में परिवर्तित करता है, जबकि ख अपनी पूंजी के एक अंश को ऐसे किसी तरह के परिवर्तनों के बिना दीर्घतर काल तक एक श्रम उपकरण के रूप में प्रयुक्त करता है। अगर वे दोनों ही श्रम की उतनी ही मात्रा नियोजित करते हैं, तो वे सचमुच साल के दौरान असमान मूल्य के उत्पादों की मात्राएं बेचेंगे, किंतु उत्पादों की दोनों मात्राओं में बेशी मूल्य की समान मात्राएं समाविष्ट होंगी, और निवेशित समस्त पूंजी पर परिकलित उनकी लाभ दरें उतनी ही होंगी, यद्यपि उनकी स्थायी तथा प्रचल पूंजी की संरचना, और उनके आवर्त काल भिन्न हैं। दोनों पूंजियां

समान कालावधियों में समान लाभों की सिद्धि करती हैं, यद्यपि उनके आवर्त काल अलग-अलग हैं। आवर्त काल में अंतर अपने आप में जहां तक वह एक नियत समय में उसी पूंजी द्वारा हस्तगत तथा सिद्ध बेशी श्रम संहति को प्रभावित करता है, उसके सिवा किसी महत्व का नहीं है। अतः यदि स्थायी तथा प्रचल पूंजी में किसी भिन्न विभाजन में भिन्न आवर्त काल अनिवार्यतः सन्निहित न हो, जिसमें अपनी बारी में भिन्न लाभ दर सन्निहित होती, तो यह प्रत्यक्ष है कि अगर लाभ दरों में ऐसा कोई अंतर है, तो वह स्वयं स्थायी पूंजी के प्रचल पूंजी के साथ भिन्न अनुपात के कारण नहीं, बल्कि इस कारण होगा कि यह भिन्न अनुपात लाभ दर को प्रभावित करनेवाले आवर्त कालों की असमानता को इंगित करता है।

इसलिए नतीजा यह है कि उत्पादन की विभिन्न शाखाओं में अपने स्थायी तथा प्रचल अंशों के लिहाज़ से स्थिर पूंजी की भिन्न संरचना अपने आप में लाभ दर पर कोई प्रभाव नहीं डालती है, क्योंकि यह स्थिर पूंजी के साथ परिवर्ती पूंजी का अनुपात ही है कि जो इस प्रश्न को तय करता है, जबकि परिवर्ती पूंजी के संदर्भ में स्थिर पूंजी का मूल्य, और इसलिए उसका परिमाण भी उसके घटकों की स्थायी अथवा प्रचल प्रकृति से पूर्णतः असंबद्ध है। लेकिन फिर भी यह पाया जा सकता है – और यह प्रायः ग़लत निष्कर्षों की तरफ़ ले जाता है – कि जहां कहीं भी स्थायी पूंजी काफ़ी उन्नत होती है, वह मात्र यह तथ्य ही प्रकट करती है कि उत्पादन बड़े पैमाने पर है, जिसका मतलब है कि स्थिर पूंजी परिवर्ती पूंजी से कहीं अधिक होती है, अथवा वह जिस सजीव श्रम को नियोजित करती है, वह उसके द्वारा संचालित उत्पादन साधन संहति की तुलना में अल्प है।

इस प्रकार हमने दिखलाया है कि उद्योग की भिन्न-भिन्न शाखाओं की भिन्न-भिन्न लाभ दरें होती हैं, जो उनकी पूंजियों की आंगिक संरचना के, और निर्दिष्ट सीमाओं के भीतर, उनके भिन्न आवर्त कालों के भी अनुरूप होती हैं; आवर्त काल यदि उतना ही हो, तो यह नियम (एक सामान्य प्रवृत्ति के नाते) कि लाभ एक दूसरे के साथ पूंजियों के परिमाणों की तरह संबद्ध होते हैं, और फलतः, समान परिमाण की पूंजियां समान कालावधियों में समान लाभ उत्पन्न करती हैं, उतनी ही बेशी मूल्य दर होने पर भी केवल समान आंगिक संरचना की पूंजियों पर ही लागू होता है। ये कथन उस कल्पना के लिए सही हैं, जो अभी तक हमारे सारे विश्ले-

---

[21] [चौथे अध्याय से यह नतीजा निकलता है कि उपरोक्त कथन सही-सही सिर्फ़ तभी लागू होता है कि जब क तथा ख पूंजियों की संरचना उनके मूल्यों के लिहाज़ से भिन्न-भिन्न हो, लेकिन उनके परिवर्ती अंशों के प्रतिशतांश उनके आवर्त कालों के यथानुपात, अर्थात उनकी आवर्त संख्या के व्युत्क्रमानुपात हों। मान लीजिये कि प्रतिशतों में पूंजी क की संरचना निम्न है: २०_c स्थायी + ७०_c प्रचल, और इस प्रकार $९०_c + १०_v = १००$। १००% बेशी मूल्य दर से १०_v एक आवर्त में १०_s उत्पन्न करके एक आवर्त के लिए लाभ दर = १०% देते हैं। मान लीजिये कि पूंजी ख = ६०_c स्थायी + २०_c प्रचल, और इस प्रकार $८०_c + २०_v = १००$। उपरोक्त बेशी मूल्य दर से २०_v एक आवर्त में २०_s उत्पन्न करके एक आवर्त के लिए लाभ दर = २०% देते हैं, जो क की दुगुनी है। लेकिन अगर क प्रति वर्ष दो बार और ख केवल एक बार आवर्तित होती है, तो २ × १० भी प्रति वर्ष २०_s ही होते हैं, वार्षिक लाभ दर दोनों के लिए उतनी ही है, अर्थात २०%। – फ़े० एं०]

षणों का आधार रही है, अर्थात यह कि जिंसें अपने मूल्यों पर बेची जाती हैं। दूसरी ओर, इसमें कोई संदेह नहीं कि अनावश्यक, प्रासंगिक और परस्पर प्रतिपूरक भेदों के अलावा उद्योग की भिन्न-भिन्न शाखाओं में औसत लाभ दरों में अंतर वास्तव में अस्तित्वमान नहीं होते, और समस्त पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का ख़ात्मा किये बिना हो भी नहीं सकते। अतः यह प्रतीत होगा कि यहां मूल्य सिद्धांत उत्पादन की वास्तविक प्रक्रिया के साथ असंगत है, उत्पादन की वास्तविक परिघटना के साथ असंगत है, और इस कारण इन परिघटनाओं को समझने का प्रयास तज दिया जाना चाहिए।

इस खंड के पहले भाग से यह नतीजा निकलता है कि उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उत्पादों के लागत दाम समान होते हैं, बशर्ते कि उनके उत्पादन के लिए पूंजी के समान अंश पेशगी दिये गये हों, चाहे ऐसी पूंजियों की आंगिक संरचना कितनी भी भिन्न क्यों न हो। लागत दाम में परिवर्ती और स्थिर पूंजी का भेद पूंजीपति की निगाह से बच निकलता है। जिस जिंस के उत्पादन के लिए उसे १०० पाउंड पेशगी लगाने होते हैं, उसकी लागत उसके लिए वही पड़ती है, चाहे वह $९०_c + १०_v$ निवेशित करे, या $१०_c + ९०_v$। हर सूरत में उसकी लागत १०० पाउंड ही पड़ती है – न कम और न ज्यादा। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में समान पूंजियों के लिए लागत क़ीमतें उतनी ही होती हैं, चाहे उत्पादित मूल्यों और बेशी मूल्य में कितनी भी भिन्नता क्यों न हो। लागत क़ीमतों की समानता निवेशित पूंजियों में प्रतिस्पर्धा का आधार होती है, जिसके ज़रिये औसत लाभ अस्तित्व में आता है।

अध्याय ९

सामान्य लाभ दर (औसत लाभ दर) की रचना और जिंसों के मूल्यों का उत्पादन के दामों में रूपांतरण

पूंजी की आंगिक संरचना किसी भी नियत समय पर दो परिस्थितियों पर निर्भर करती है: पहली, नियोजित श्रम शक्ति के नियोजित उत्पादन साधन संहति के साथ प्राविधिक संबंध पर; दूसरी, इन उत्पादन साधनों की क़ीमत पर। जैसे कि हम देख चुके हैं, इस संरचना का प्रतिशत अनुपातों के आधार पर विश्लेषण किया जाना चाहिए। हम ४/५ स्थिर और १/५ परिवर्ती पूंजी से निर्मित किसी पूंजी को $८०_c + २०_v$ सूत्र द्वारा व्यक्त करते हैं। इसके अलावा इस तुलना में यह कल्पित होता है कि बेशी मूल्य दर अपरिवर्तनीय है। इसे यों ही चुनी हुई कोई भी दर, कहिये कि १००%, मान लीजिये। अतः $८०_c + २०_v$ की पूंजी २०_s बेशी मूल्य उत्पन्न करती है और यह कुल पूंजी पर २०% की लाभ दर देता है। इसके उत्पाद के मूल्य का वास्तविक परिमाण स्थिर पूंजी के स्थायी भाग पर, और उस अंश पर निर्भर करता है, जो टूट-फूट के ज़रिये उससे उत्पाद में चला जाता है। लेकिन चूंकि इस बात का लाभ दर से किसी भी प्रकार कोई संबंध नहीं है, इसलिए, सरलता की ख़ातिर, प्रस्तुत विश्लेषण में हम मान लेंगे कि स्थिर पूंजी सर्वत्र समान रूप में और पूर्णतः पूंजियों के वार्षिक उत्पाद को अंतरित हो जाती है। इसके अलावा यह मान लिया जाता है कि उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पूंजियां प्रति वर्ष अपने परिवर्ती भागों के यथानुपात बेशी मूल्य की उतनी ही मात्राओं की सिद्धि करती है। इसलिए फ़िलहाल हम उस अंतर को नज़रंदाज़ कर देते हैं, जो आवर्त अवधियों में विचरणों के कारण उत्पन्न हो सकता है। इस बात की आगे चलकर चर्चा की जायेगी।

हम उत्पादन के पांच भिन्न-भिन्न क्षेत्र ले लेते हैं और मान लेते हैं कि प्रत्येक पूंजी की इस प्रकार भिन्न-भिन्न आंगिक संरचना है:

पूंजियां	बेशी मूल्य दर	बेशी मूल्य	उत्पाद का मूल्य	लाभ दर
I. $८०_c + २०_v$	१००%	२०	१२०	२०%
II. $७०_c + ३०_v$	१००%	३०	१३०	३०%
III. $६०_c + ४०_v$	१००%	४०	१४०	४०%
IV. $८५_c + १५_v$	१००%	१५	११५	१५%
V. $९५_c + ५_v$	१००%	५	१०५	५%

शोषण की उतनी ही मात्रा के साथ उत्पादन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में हम यहां इन पूंजियों की भिन्न-भिन्न आंगिक संरचना के अनुरूप काफ़ी भिन्न-भिन्न लाभ दरें पाते हैं।

इन पांचों उत्पादन क्षेत्रों में निवेशित पूंजियों का कुल योग = ५०० ; उनके द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य का कुल योग = ११० ; उनके द्वारा उत्पादित जिंसों का समग्र मूल्य = ६१०। अगर हम ५०० को एक ही पूंजी, और पांचों पूंजियों को उसके घटक मानें (जैसे, मसलन, किसी कपड़ा कारख़ाने के विभिन्न विभाग, जिसके अपने धुनाई, प्राथमिक कताई, कताई तथा बुनाई खातों में स्थिर पूंजी के परिवर्ती पूंजी के साथ भिन्न-भिन्न अनुपात हैं, और जिसमें समूचे तौर पर कारख़ाने के लिए औसत अनुपात का परिकलन करना ही है), तो ५०० की इस पूंजी की औसत संरचना होगी = $३९०_c + ११०_v$, अथवा प्रतिशत में = $७८_c + २२_v$। अगर १०० की पूंजियों में से प्रत्येक को कुल पूंजी का पंचमांश माना जाये, तो उसकी संरचना इस $७८_c + २२_v$ के औसत के बराबर होगी ; प्रत्येक १०० के लिए २२ औसत बेशी मूल्य होगा ; इस प्रकार औसत लाभ दर २२% होगी, और अंततः, ५०० द्वारा उत्पादित कुल उत्पाद के प्रत्येक पंचमांश की क़ीमत १२२ होगी। इसलिए कुल पेशगी पूंजी के प्रत्येक पंचमांश के उत्पाद को १२२ का बेचना होगा।

लेकिन पूर्णतः भ्रांतिपूर्ण निष्कर्षों से बचने के लिए यह नहीं माना जाना चाहिए कि सभी लागत दाम = १०० हैं।

$८०_c + २०_v$ और बेशी मूल्य दर = १००% के साथ पूंजी I = १०० द्वारा उत्पादित जिंसों का कुल मूल्य $८०_c + २०_v + २०_s$ = १२० होगा, बशर्ते कि समस्त स्थिर पूंजी वार्षिक उत्पाद में चली गयी हो। बेशक, यह संभव है कि कुछ परिस्थितियों में कुछ उत्पादन क्षेत्रों के मामले में यही बात हो। लेकिन ऐसे मामलों में शायद ही ऐसा होगा कि जहां c : v अनुपात ४ : १ हो। इसलिए भिन्न-भिन्न पूंजियों के प्रत्येक १०० द्वारा उत्पादित मूल्यों की तुलना करते समय हमें यह याद रखना चाहिए कि वे अपने स्थायी तथा प्रचल भागों के संदर्भ में c की भिन्न-भिन्न संरचना के अनुसार भिन्न-भिन्न होंगे और अपनी बारी में भिन्न-भिन्न पूंजियों में से प्रत्येक के स्थायी अंश यथाप्रसंग धीरे-धीरे अथवा तेज़ी से ह्रासित होते हैं और इस प्रकार समान कालावधियों में अपने मूल्य की असमान मात्राएं उत्पाद को अंतरित करते हैं। लेकिन लाभ दर के लिए यह महत्वहीन है। ८०_c वार्षिक उत्पाद को चाहे ८०, अथवा ५०, अथवा ५ का मूल्य दें, और फलतः चाहे वार्षिक उत्पाद = $८०_c + २०_v + २०_s$ = १२० हो, अथवा $५०_c + २०_v + २०_s$ = ९०, अथवा $५_c + २०_v + २०_s$ = ४५ ; इन सभी प्रसंगों में अपने लागत दाम पर उत्पाद के मूल्य का अतिरेक = २० है, और लाभ दर का परिकलन करने में ये २० उन सभी में १०० की पूंजी से संबद्ध हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्रसंग में पूंजी I की लाभ दर २०% ही है। इस बात को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए हम निम्न तालिका में इन्हीं पांच पूंजियों के स्थिर पूंजी के भिन्न-भिन्न अंशों को उत्पाद के मूल्य में जाने देते हैं (अगले पन्ने पर ऊपरी तालिका देखें)।

हम अब अगर I – V पूंजियों को फिर एक ही कुल पूंजी मान लें, तो हम इस मामले में भी देखेंगे कि इन पांचों पूंजियों की राशियों की संरचना = ५०० = $३९०_c + ११०_v$ है, जिससे कि हमें वही औसत संरचना = $७८_c + २२_v$ प्राप्त होती है, और, इसी प्रकार, औसत बेशी मूल्य २२ ही रहता है। अगर हम इस बेशी मूल्य को I – V पूंजियों में समरूप विभाजित करें,

पूंजियां	बेशी मूल्य दर	बेशी मूल्य	लाभ दर	प्रयुक्त c	जिंसों का मूल्य	लागत क़ीमत	
I. $८०_c + २०_v$	१००%	२०	२०%	५०	९०	७०	
II. $७०_c + ३०_v$	१००%	३०	३०%	५१	१११	८१	
III. $६०_c + ४०_v$	१००%	४०	४०%	५१	१३१	९१	
IV. $८५_c + १५_v$	१००%	१५	१५%	४०	७०	५५	
V. $९५_c + ५_v$	१००%	५	५%	१०	२०	१५	
$३९०_c + ११०_v$	—	११०	११०%	—	—	—	योग
$७८_c + २२_v$	—	२२	२२ %	—	—	—	औसत

पूंजियां	बेशी मूल्य	जिंसों का मूल्य	जिंसों की लागत क़ीमत	जिंसों का दाम	लाभ दर	मूल्य से दाम का विचलन
I. $८०_c + २०_v$	२०	९०	७०	९२	२२%	+ २
II. $७०_c + ३०_v$	३०	१११	८१	१०३	२२%	— ८
III. $६०_c + ४०_v$	४०	१३१	९१	११३	२२%	—१८
IV. $८५_c + १५_v$	१५	७०	५५	७७	२२%	+ ७
V. $९५_c + ५_v$	५	२०	१५	३७	२२%	+१७

तो हमें ये पण्य दाम प्राप्त होते हैं (निचली तालिका देखें)।

कुल मिलाकर जिंसें अपने मूल्य के २+७+१७ = २६ ऊपर, और ८+१८ = २६ नीचे बेची जाती हैं, जिससे कि मूल्य से दाम के विचलन बेशी मूल्य के समरूप वितरण के जरिये, अथवा पेशगी पूंजी की प्रति १०० इकाइयों पर २२ के औसत लाभ के I – V जिंसों की क्रमिक लागत क़ीमतों में जुड़ने के जरिये एक दूसरे को प्रतिसंतुलित कर लेते हैं। जिंसों का एक हिस्सा अपने मूल्य से अधिक उसी अनुपात में बेचा जाता है, जिसमें दूसरा उससे कम पर बेचा जाता है। जिंसों की ऐसे दामों पर बिक्री ही I – V पूंजियों की लाभ दर का उनकी भिन्न आंगिक संरचना से निरपेक्ष समरूप में २२% होना संभव बनाती है। भिन्न-भिन्न उत्पादन क्षेत्रों में विभिन्न लाभ दरों के औसत के रूप में प्राप्त दाम विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों की लागत क़ीमतों में जोड़े जाने पर **उत्पादन दामों** का निर्माण करते हैं। एक सामान्य लाभ दर का होना उनके लिए पूर्वापेक्षित होता है, और वह भी इसकी पूर्वापेक्षा करती है कि स्वयं प्रत्येक पृथक उत्पादन क्षेत्र में लाभ दरों को पहले ही तदनुरूप औसत दरों में परिणत कर लिया गया है। उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में ये विशिष्ट लाभ दरें $= \frac{s}{C}$ हैं और जैसे कि इस पुस्तक के पहले भाग में किया गया है, उन्हें जिंसों के मूल्यों से निगमित करना होता है। इस प्रकार के निगमन के बिना सामान्य

लाभ दर (और फलतः जिंसों की उत्पादन क़ीमत) एक अस्पष्ट तथा निरर्थक अवधारणा ही बनी रहती है। इसलिए किसी जिंस का उत्पादन दाम उसकी लागत क़ीमत जमा सामान्य लाभ दर के अनुसार प्रतिशत में उसके लिए निर्धारित लाभ के बराबर, अथवा, दूसरे शब्दों में, उसकी लागत क़ीमत जमा औसत लाभ के बराबर होता है।

उत्पादन की विभिन्न शाखाओं में निवेशित पूंजियों की भिन्न आंगिक संरचनाओं के कारण, और, इसलिए इस तथ्य के कारण कि किसी नियत परिमाण की कुल पूंजी में परिवर्ती भाग का जो भिन्न प्रतिशतांश होता है, उसके अनुसार समान परिमाण की पूंजियां श्रम की अत्यंत भिन्न-भिन्न मात्राओं को गतिशील करती हैं, वे बेशी श्रम की भी बहुत भिन्न-भिन्न मात्राओं को हथियाती हैं अथवा बेशी मूल्य की बहुत भिन्न-भिन्न मात्राएं उत्पादित करती हैं। अतः उत्पादन की भिन्न-भिन्न शाखाओं में व्याप्त लाभ दरें मूलतः बहुत भिन्न-भिन्न होती हैं। इन भिन्न लाभ दरों का प्रतिस्पर्धा द्वारा एक एकल सामान्य लाभ दर में समकरण हो जाता है, जो इन सभी भिन्न लाभ दरों का औसत होती है। इस सामान्य लाभ दर के अनुसार नियत परिमाण की किसी पूंजी को, उसकी आंगिक संरचना चाहे कुछ हो, प्राप्त होनेवाला लाभ औसत लाभ कहलाता है। किसी जिंस का दाम, जो उसकी लागत क़ीमत जमा उसके उत्पादन में निवेशित (मात्र उपभुक्त नहीं) कुल पूंजी पर आवर्त की अवस्थाओं के अनुसार वार्षिक औसत लाभ के उसके हिस्से में पड़नेवाले अंश के बराबर होता है, उसका उत्पादन दाम कहलाता है। मिसाल के लिए, ५०० की एक पूंजी ले लीजिये, जिसमें से १०० स्थायी पूंजी है, और मान लीजिये कि ४०० की प्रचल पूंजी के एक आवर्त के दौरान इसका १०% छीज जाता है। मान लीजिये कि इस आवर्त काल के लिए औसत लाभ १०% है। ऐसी हालत में इस आवर्त में सृजित उत्पाद की लागत क़ीमत छीजन के लिए १०$_c$ जमा ४००$(c + v)$ प्रचल पूंजी = ४१० होगी, और उसका उत्पादन दाम ४१० लागत क़ीमत जमा (५०० पर १०% लाभ) ५० = ४६० होगा।

इस प्रकार, अपनी जिंसों को बेच देने में विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों के पूंजीपति उनके उत्पादन में उपभुक्त पूंजी के मूल्य की यद्यपि प्रतिलब्धि कर लेते हैं, पर वे इन जिंसों के उत्पादन द्वारा स्वयं अपने ही क्षेत्र में सृजित बेशी मूल्य को, और फलतः, लाभ को नहीं प्राप्त कर पाते। वे जो प्राप्त करते हैं, वह केवल उतना बेशी मूल्य, और इसलिए लाभ, ही है कि जो सामाजिक पूंजी द्वारा उत्पादन के सभी क्षेत्रों में एक नियत कालावधि में उत्पादित कुल सामाजिक बेशी मूल्य, अथवा लाभ से, समरूप में वितरित किये जाने पर, कुल सामाजिक पूंजी के प्रत्येक अशेषभाजक अंश के हिस्से में आता है। किसी पेशगी पूंजी का प्रत्येक १००, उसकी संरचना चाहे कुछ हो, एक साल में, अथवा किसी भी अन्य कालावधि में, उतना ही लाभ प्राप्त करता है कि जितना उसी कालावधि के दौरान प्रत्येक १००, कुल पूंजी के n वें हिस्से में आता है। जहां तक लाभों का सवाल है, विभिन्न पूंजीपति किसी ऐसी संयुक्त पूंजी कंपनी के नाना स्टाकधारियों जैसे ही होते हैं, जिसमें लाभ के अंश प्रति १०० में समरूप विभाजित होते हैं, जिससे कि अलग-अलग पूंजीपतियों के मामले में लाभों में केवल प्रत्येक द्वारा समस्त उद्यम में निवेशित पूंजी की मात्रा के अनुसार, अर्थात उसके शेयरों के अनुसार, समूचे तौर पर सामाजिक उत्पादन में उसके निवेश के अनुसार ही भिन्नता होती है। फलतः, जिंसों के दाम का वह अंश, जो इन जिंसों के उत्पादन में उपभुक्त पूंजी के तत्वों को प्रतिस्थापित करता है, और इसलिए वह अंश, जिसको इन उपभुक्त पूंजी मूल्यों को, अर्थात उनकी लागत क़ीमत को, वापस ख़रीदने के लिए इस्तेमाल करना होगा, पूर्णतः विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों के भीतर पूंजी के परिव्यय पर निर्भर करता है। लेकिन जिंसों के दाम

का दूसरा तत्व, इस लागत क़ीमत में जोड़ा गया लाभ, किसी नियत उत्पादन क्षेत्र में नियत पूंजी द्वारा नियत कालावधि में उत्पादित लाभ की मात्रा पर नहीं निर्भर करता। वह उस लाभ संहति पर निर्भर करता है, जो किसी भी नियत कालावधि के भीतर सामाजिक उत्पादन में निवेशित कुल सामाजिक पूंजी के एक अशेषभाजक अंश (संखंड) के रूप में औसत की तरह प्रत्येक व्यष्टिक पूंजी के हिस्से में आती है।[22]

इसलिए जब कोई पूंजीपति अपनी जिंसों को उनकी उत्पादन क़ीमत पर बेचता है, तो वह उनके उत्पादन में उपभुक्त पूंजी के समानुपात द्रव्य की प्रतिलब्धि करता है और कुल सामाजिक पूंजी में संखंड के रूप में अपनी पेशगी पूंजी के समानुपात लाभ प्राप्त करता है। उसकी लागत क़ीमतें विशिष्ट होती हैं। किन्तु उनमें जुड़ा लाभ उसके विशिष्ट उत्पादन क्षेत्र से, निवेशित पूंजी की प्रति १०० इकाइयों पर साधारण औसत होने के कारण, स्वतंत्र होता है।

मान लीजिये कि पूर्वोद्धृत उदाहरण में I – V पूंजियां एक ही आदमी की हैं। जिंसों के उत्पादन में I – V प्रत्येक विभाग में निवेशित पूंजी के प्रति १०० के पीछे उपभुक्त परिवर्ती तथा स्थिर पूंजी की मात्रा ज्ञात होगी, और कहना अनावश्यक है कि I – V जिंसों के मूल्य का यह अंश उनकी क़ीमत के एक भाग का निर्माण करेगा, क्योंकि पूंजी के पेशगी दिये तथा उपभुक्त अंशों की प्रतिलब्धि करने के लिए कम से कम यह क़ीमत आवश्यक है। इसलिए ये लागत क़ीमतें I – V जिंसों के प्रत्येक संवर्ग के लिए भिन्न होंगी और उसी रूप में स्वामी द्वारा भिन्नतः निर्धारित की जायेंगी। लेकिन जहां तक I – V द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य, अथवा लाभ, की भिन्न-भिन्न मात्राओं का सवाल है, उन्हें पूंजीपति द्वारा आसानी से अपनी पेशगी समुच्चित पूंजी पर लाभ माना जा सकता है, जिससे कि प्रत्येक १०० इकाइयों को अपना निश्चित अशेषभाजक अंश मिल जायेगा। अतः, I – V विभागों में उत्पादित जिंसों की लागत क़ीमतें भिन्न-भिन्न होंगी; किन्तु लाभ से प्राप्त उनके विक्रय दाम का वह अंश, जो पूंजी के प्रति १०० में जोड़ा जाता है, इन सभी जिंसों के लिए उतना ही होगा। अतः, I – V जिंसों का समुच्चित दाम उनके समुच्चित मूल्य, अर्थात I – V की लागत क़ीमतों के योग जमा I – V में उत्पादित बेशी मूल्यों, अथवा लाभों, के योग के बराबर होगा। अतः, वास्तव में यह I – V जिंसों में समाविष्ट विगत तथा नवीन प्रयुक्त श्रम की कुल मात्रा की द्रव्य अभिव्यक्ति ही होगी। और इसी प्रकार समाज में उत्पादित सभी जिंसों की उत्पादन क़ीमतों का योग – उत्पादन की सभी शाखाओं का कुल जोड़ – उनके मूल्यों के योग के बराबर होता है।

यह कथन इस तथ्य से टकराता प्रतीत होता है कि पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत उत्पादक पूंजी के तत्व सामान्यतः बाज़ार में ख़रीदे जाते हैं, और इसलिए उनमें उद्योग की संबद्ध शाखा का उत्पादन दाम उसमें सन्निहित लाभ सहित सम्मिलित होता है, जिससे कि उद्योग की एक शाखा का लाभ दूसरी शाखा की लागत क़ीमत में चला जाता है। लेकिन अगर हम एक पूरे देश की जिंसों की लागत क़ीमतों को एक तरफ़ रखते हैं, और उसके बेशी मूल्यों, अथवा लाभों, के योग को दूसरी तरफ़, तो परिकलन प्रत्यक्षतः ठीक ही होना चाहिए। मिसाल के लिए, कोई एक जिंस **क** ले लीजिये। उसकी लागत क़ीमत में **ख**, **ग**, **घ**, आदि के लाभ समाविष्ट हो सकते हैं, जैसे **ख**, **ग**, **घ**, आदि की लागत क़ीमतों में **क** के लाभ समाविष्ट हो सकते

---

[22] Cherbuliez [*Richesse ou pauvreté*, Paris, 1841, pp. 71-72. – सं०]

हैं। अब, जब हम अपना परिकलन करेंगे, तो क का लाभ उसकी लागत क़ीमत में शामिल नहीं किया जायेगा, न ही ख, ग, घ, आदि के लाभ उनकी लागत क़ीमत में शामिल किये जायेंगे। कोई भी अपना ही लाभ अपनी लागत क़ीमत में कभी शामिल नहीं करता। अतः, अगर उत्पादन के n क्षेत्र हों, और अगर प्रत्येक p के बराबर लाभ कमाता है, तो उनकी समुच्चित लागत क़ीमत $= k - np$. परिकलन को समूचे तौर पर लेने पर हम देखते हैं कि चूंकि एक उत्पादन क्षेत्र के लाभ दूसरे की लागत क़ीमत में चले जाते हैं, इसलिए परिकलन में वे अंतिम उत्पाद के घटकों के रूप में शामिल किये जाते हैं, और फलतः लाभ खाते में दुबारा नहीं प्रकट हो सकते। लेकिन अगर वे वहां प्रकट होते हैं, तो सिर्फ़ इसलिए कि विचाराधीन जिंस स्वयं एक अंतिम उत्पाद है, जिसका उत्पादन दाम किसी दूसरी जिंस की लागत क़ीमत में अंतरित नहीं होता।

अगर किसी जिंस की लागत क़ीमत में p, जो उत्पादन साधनों के उत्पादकों के लाभों का प्रतीक है, के बराबर रक़म सम्मिलित हो, और अगर इस लागत क़ीमत में लाभ $= p_1$ जोड़ दिया जाता है, तो समुच्चित लाभ $P = p + p_1$ होगा। अतः, लाभ अंशों के बिना लेने पर जिंस की समुच्चित लागत क़ीमत स्वयं उसकी लागत क़ीमत वियुत p है। मान लीजिये कि यह लागत क़ीमत k है। तब, स्पष्टतः $k + p = k + p + p_1$ होगा। बेशी मूल्यों का विवेचन करते समय हम पहली पुस्तक (Kap. VII, 2, S. 211/203)* में देख चुके हैं कि प्रत्येक पूंजी के उत्पाद के सम्बन्ध में ऐसा माना जा सकता है कि उसका एक भाग सिर्फ़ पूंजी को ही प्रतिस्थापित करता है, जबकि दूसरा भाग सिर्फ़ बेशी मल्य को प्रकट करता है। समाज के समुच्चित उत्पाद पर यह नज़रिया लागू करते समय हमें कुछ संशोधन करने होंगे। समाज को समूचे तौर पर देखते हुए लाभ, मसलन, फ़्लैक्स के दाम में समाविष्ट, दो बार नहीं प्रकट हो सकता – लिनन के दाम के एक अंश और फ़्लैक्स के लाभ, दोनों की तरह नहीं।

जब तक, उदाहरणार्थ, क का बेशी मूल्य ख की स्थिर पूंजी में अंतरित होता रहता है, बेशी मूल्य और लाभ में कोई अंतर नहीं होता। आख़िर, जिंसों के मूल्य के लिए यह एकदम महत्वहीन है कि उनमें समाविष्ट श्रम शोधित है या अशोधित। यह केवल यही दिखलाता है कि क के बेशी मूल्य की अदायगी ख करता है। क के बेशी मूल्य को कुल परिकलन में दो बार नहीं प्रविष्ट किया जा सकता।

लेकिन अतर यह है: इस तथ्य के अलावा कि किसी उत्पाद विशेष का, मान लेते हैं कि पूंजी ख के उत्पाद का, दाम उसके मूल्य से इस कारण भिन्न होता है कि ख में सिद्धिकृत बेशी मूल्य ख के उत्पादों के दाम में जुड़े लाभ से ज्यादा या कम हो सकता है, यही बात पूंजी ख का स्थिर भाग, और, श्रमिकों की जीवनावश्यक वस्तुओं के रूप में, अप्रत्यक्षतः उसका परिवर्ती भाग बनानेवाली जिंसों पर भी लागू होती है। जहां तक स्थिर अंश का संबंध है, वह स्वयं लागत क़ीमत जमा बेशी मूल्य के बराबर, और इसलिए यहां लागत क़ीमत जमा लाभ के बराबर है, और यह लाभ भी उस बेशी मूल्य से ज्यादा या कम हो सकता है, जिसका वह सूचक है। जहां तक परिवर्ती पूंजी की बात है, औसत दैनिक मजदूरी सचमुच हमेशा उतने घंटों

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: अध्याय ६, २, पृष्ठ २३६-४०। – सं०

में उत्पादित मूल्य के बराबर होती है, जितने घंटे श्रमिक को अपनी जीवनावश्यकताएं उत्पादित करने के लिए काम करना होता है। लेकिन घंटों की यह संख्या अपनी बारी में जीवनावश्यक वस्तुओं के उत्पादन दामों के उनके मूल्यों से विचलनों के कारण अस्थिर हो जाती है। तथापि यह अपने को सदा एक जिंस के बहुत कम बेशी मूल्य प्राप्त करने, तो दूसरी के बहुत अधिक प्राप्त करने में परिणत कर लेती है, जिससे मूल्य से विचलन, जो उत्पादन दामों में अंतर्भूत होते हैं, एक दूसरे को प्रतिकृत कर देते हैं। पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत सामान्य नियम अंतहीन घट-बढ़ के एक ऐसे औसत के रूप में कि जिसका कभी निश्चय नहीं किया जा सकता, प्रवर्तमान प्रवृत्ति की तरह बहुत जटिल और स्थूल ढंग से ही काम करता है।

चूंकि सामान्य लाभ दर एक निश्चित कालावधि, मसलन, एक साल में निवेशित पूंजी के प्रति १०० के लिए विभिन्न लाभ दरों के औसत को लेने से बनती है, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि उसमें भिन्न-भिन्न पूंजियों के भिन्न-भिन्न आवर्त कालों से जनित अंतर भी मिट जाता है। लेकिन ये अंतर उत्पादन के उन विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न लाभ दरों पर निर्णायक प्रभाव डालते हैं, जिनका औसत सामान्य लाभ दर का निर्माण करता है।

औसत लाभ दर की रचना के बारे में पूर्वोक्त उदाहरण में हमने माना था कि प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र में प्रत्येक पूंजी = १०० है, और हमने ऐसा लाभ दरों में अंतर को प्रतिशत में, और इस प्रकार पूंजी की समान राशियों द्वारा उत्पादित जिंसों के मूल्यों में अंतर को भी दिखलाने के लिए किया था। लेकिन यह कहना अनावश्यक है कि प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादित बेशी मूल्य की वास्तविक राशियां निवेशित पूंजियों के परिमाण पर निर्भर करती हैं, क्योंकि प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र में पूंजी की संरचना नियत होती है। फिर भी किसी भी विशेष उत्पादन क्षेत्र में वास्तविक लाभ दर इस तथ्य से प्रभावित नहीं होती है कि निवेशित पूंजी १०० है, या १०० की m गुना, या १०० की xm गुना। लाभ दर १०% ही रहती है, चाहे कुल लाभ १० : १०० हो, या १,००० : १०,०००।

तथापि, चूंकि उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में, कुल पूंजी के साथ परिवर्ती पूंजी के अनुपात के अनुसार, उनमें उत्पादित बेशी मूल्य, अथवा लाभ, की बहुत भिन्न-भिन्न मात्राओं के कारण लाभ दरों में भिन्नता होती है, इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि सामाजिक पूंजी के प्रति १०० पर औसत लाभ, और इसलिए औसत, अथवा सामान्य, लाभ दर में विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में निवेशित पूंजियों के अपने-अपने परिमाणों के अनुरूप काफ़ी भिन्नता होगी। चार पूंजियां क, ख, ग, घ, ले लीजिये। मान लीजिये कि सभी की बेशी मूल्य दर १००% है। मान लीजिये कि कुल पूंजी के प्रत्येक १०० के पीछे परिवर्ती पूंजी क में २५, ख में ४०, ग में १५, और घ में १० है। तब कुल पूंजी का प्रत्येक १०० क में २५, ख में ४०, ग में १५, और घ में १० का बेशी मूल्य, अथवा लाभ, प्रदान करेगा। इसका योग ९० होगा, और अगर ये चारों पूंजियां एक ही परिमाण की हैं, तो औसत लाभ दर $\frac{९०}{४}$ अथवा २२ १/२% होगी।

लेकिन, मान लीजिये कि कुल पूंजियां इस प्रकार हैं: क = २००, ख = ३००, ग = = १,०००, घ = ४,०००। तब उत्पादित लाभ क्रमशः ५०, १२०, १५० और ४०० होंगे। अतः, चारों पूंजियों के योग ५,५०० के लिए ७२० लाभ और १३ १/११% औसत लाभ दर है।

उत्पादित कुल मूल्य की संहतियां क, ख, ग, घ में क्रमशः निवेशित कुल पूंजियों के

परिमाणों के अनुरूप भिन्न-भिन्न हैं। अतः औसत लाभ दर की उत्पत्ति मात्र विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न लाभ **दरों** का साधारण औसत लेने की ही बात नहीं है, वरन इस औसत के बनाने में इन भिन्न-भिन्न लाभ दरों के आपेक्षिक भार की भी बात है। लेकिन यह प्रत्येक क्षेत्र विशेष में निवेशित पूंजी के आपेक्षिक परिमाण पर, अथवा प्रत्येक क्षेत्र विशेष में निवेशित पूंजी सामाजिक पूंजी के जिस अशेषभाजक अंश (संखंड) का निर्माण करती है, उस पर निर्भर करता है। स्वाभाविकतया इसके अनुसार बहुत बड़ा अंतर होगा कि कुल पूंजी का महत्तर अथवा लघुतर भाग उच्चतर लाभ दर उत्पन्न करता है या निम्नतर। और यह भी इस पर निर्भर करता है कि कितनी पूंजी उन क्षेत्रों में निवेशित है, जिनमें परिवर्ती पूंजी कुल पूंजी की तुलना में अपेक्षाकृत छोटी या बड़ी है। यह बिलकुल किसी महाजन द्वारा प्राप्त किये जानेवाले औसत सूद जैसी ही बात है, जो पूंजी की विभिन्न राशियों को भिन्न-भिन्न ब्याज दरों पर उधार देता है; मसलन, ४, ५, ६, ७%, आदि पर। औसत दर पूर्णतः इस पर निर्भर करेगी कि उसने भिन्न-भिन्न ब्याज दरों में से प्रत्येक पर अपनी पूंजी के कितने हिस्से को उधार दिया है।

अतः, सामान्य लाभ दर दो कारकों द्वारा निर्धारित होती है:

१) विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में पूंजियों की आंगिक संरचना, और इस प्रकार अलग-अलग क्षेत्रों में लाभ की भिन्न-भिन्न दरें।

२) कुल सामाजिक पूंजी का इन विभिन्न क्षेत्रों में वितरण, और इस प्रकार, प्रत्येक क्षेत्र विशेष में उसमें प्रचलित विशिष्ट लाभ दर पर निवेशित पूंजी का आपेक्षिक परिमाण; अर्थात प्रत्येक पृथक उत्पादन क्षेत्र द्वारा अवशोषित कुल सामाजिक पूंजी का आपेक्षिक अंश।

पहली तथा दूसरी पुस्तकों में हमने केवल जिंसों के **मूल्य** का ही विवेचन किया था। अब एक ओर **लागत क़ीमत** को इस मूल्य के एक अंश के रूप में अलग कर लिया गया है, और दूसरी ओर, जिंसों के **उत्पादन दाम** को उसके परिवर्तित रूप की तरह विकसित किया गया है।

मान लीजिये कि औसत सामाजिक पूंजी की संरचना $८०_c + २०_v$ है, और वार्षिक बेशी मूल्य दर, s', १००% है। इस सूरत में १०० की पूंजी का औसत वार्षिक लाभ = २०, और सामान्य वार्षिक लाभ दर = २०% होगी। १०० की पूंजी द्वारा प्रति वर्ष उत्पादित जिंसों की लागत क़ीमत, k चाहे कुछ हो, उनका उत्पादन दाम $k + २०$ होगा। उन उत्पादन क्षेत्रों में, जिनमें पूंजी की संरचना = $(८० - x)_c + (२० + x)_v$ होगी, वस्तुतः उत्पादित बेशी मूल्य, अथवा उस क्षेत्र विशेष में उत्पादित वार्षिक लाभ $२० + x$, अर्थात २० से अधिक होगा, और उत्पादित जिंसों का मूल्य होगा $k + २० + x$, अर्थात $k + २०$ से अधिक, अथवा उनके उत्पादन दाम से अधिक। उन क्षेत्रों में, जिनमें पूंजी की संरचना = $(८० + x)_c + (२० - x)_v$ होगी, उनमें प्रति वर्ष उत्पादित बेशी मूल्य, अथवा लाभ, होगा $२० - x$, अथवा २० से कम, और फलतः जिंसों का मूल्य $k + २० - x$ उत्पादन दाम से कम होगा, जो $k + २०$ है। आवर्त कालों में संभव अंतरों को छोड़कर तब जिंसों का उत्पादन दाम अपने मूल्य के बराबर केवल उन क्षेत्रों में होगा, जिनमें पूंजी की संरचना संयोग से $८०_c + २०_v$ होगी।

उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र विशेष में श्रम की सामाजिक उत्पादिता का विशिष्ट विकास मात्रा में इसके अनुसार भिन्न, उच्चतर या निम्नतर, होता है कि उत्पादन साधनों की कितनी बड़ी राशि को श्रम की एक निश्चित मात्रा द्वारा, अतः एक नियत कार्य दिवस में श्रमिकों की एक

निश्चित संख्या द्वारा गतिशील किया जाता है, और, परिणामस्वरूप, इसके अनुसार कि उत्पादन साधनों की एक नियत संख्या के लिए श्रम की कितनी कम मात्रा की आवश्यकता होती है। अतः उन पूंजियों को, जिनमें औसत सामाजिक पूंजी की अपेक्षा स्थिर पूंजी का महत्तर प्रतिशतांश और परिवर्ती पूंजी का न्यूनतर प्रतिशतांश होता है, उन्हें **उच्चतर** संरचना की पूंजियां, और विलोमतः जिन पूंजियों में औसत सामाजिक पूंजी से स्थिर पूंजी अपेक्षाकृत न्यून और परिवर्ती पूंजी अपेक्षाकृत अधिक होती है, उन्हें **निम्नतर** संरचना की पूंजियां कहा जाता है। अंततः, जिन पूंजियों की संरचना औसत से मेल खाती है, उन्हें हम औसत संरचना की पूंजियां कहते हैं। अगर औसत सामाजिक पूंजी $८०_c + २०_v$ के प्रतिशत में संरचित हो, तो $९०_c + १०_v$ की पूंजी सामाजिक औसत से **उच्चतर,** और $७०_c + ३०_v$ की पूंजी **निम्नतर** होगी। साधारणतया, यदि औसत सामाजिक पूंजी की संरचना$=m_c+n_v$ है, जिनमें m तथा n स्थिर परिमाण हैं और $m+n=१००$, तो $(m+x)_c+(n-x)_v$ सूत्र किसी व्यष्टिक पूंजी अथवा पूंजियों के समूह की उच्चतर संरचना को, और $(m-x)_c+(n+x)_v$ निम्नतर संरचना को प्रकट करता है। औसत लाभ दर की स्थापना हो चुकने के बाद और प्रति वर्ष एक आवर्त की कल्पना करते हुए पूंजियां जिस प्रकार अपने कृत्यों का निष्पादन करती हैं, उसे निम्न सारणी में दर्शाया गया है, जिसमें I २०% की औसत लाभ दर के साथ औसत संरचना को प्रकट करती है।

I. $८०_c + २०_v + २०_s$। लाभ दर = २० %।
उत्पाद का दाम = १२०। मूल्य = १२०।

II. $९०_c + १०_v + १०_s$। लाभ दर = २० %।
उत्पाद का दाम = १२०। मूल्य = ११०।

III. $७०_c + ३०_v + ३०_s$। लाभ दर = २० %।
उत्पाद का दाम = १२०। मूल्य = १३०।

अतः पूंजी II द्वारा उत्पादित जिंसों का मूल्य उनके उत्पादन दाम से न्यून होगा, III की जिंसों का उत्पादन दाम उनके मूल्य से न्यून होगा, और सिर्फ़ पूंजी I के मामले में ही उत्पादन की जिन शाखाओं में संरचना सामाजिक औसत से मेल खाती होगी, मूल्य तथा उत्पादन दाम बराबर होंगे। तथापि, किन्हीं भी विशेष प्रसंगों पर इन सूत्रों को लागू करते समय इस बात की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए कि कहीं c तथा v के बीच अनुपात का विचलन प्राविधिक संरचना में अंतर के बजाय महज़ स्थिर पूंजी के तत्वों में परिवर्तन के कारण तो नहीं है।

पूर्ववर्ती कथनों ने किसी भी सूरत में जिंसों के लागत दाम के निर्धारण से संबद्ध मूल कल्पना को आशोधित कर दिया है। हमने मूलतः कल्पना की थी कि जिंस की लागत क़ीमत उसके उत्पादन में उपभुक्त जिंसों के **मूल्य** के बराबर होती है। लेकिन क्रेता के लिए किसी विशिष्ट जिंस का उत्पादन दाम उसकी लागत क़ीमत होता है, और इस प्रकार वह लागत क़ीमत के रूप में अन्य जिंसों के दामों में अंतरित हो सकता है। चूंकि उत्पादन दाम किसी जिंस के मूल्य से भिन्न हो सकता है, इसलिए परिणाम यह निकलता है कि किसी जिंस की लागत क़ीमत, जिसमें किसी अन्य जिंस की यह उत्पादन क़ीमत समाविष्ट है, भी अपने कुल मूल्य के उस अंश से ऊपर या नीचे रह सकती है, जो उसके द्वारा उपभुक्त उत्पादन साधनों के मूल्य से व्युत्पन्न होता है। लागत क़ीमत के इस आशोधित अर्थ को याद रखना और इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि अगर किसी भी क्षेत्र विशेष में किसी जिंस की लागत क़ीमत का उसके द्वारा उपभुक्त उत्पादन साधनों के मूल्य के साथ तदात्मीकरण किया जाता है, तो त्रुटि

की सदा संभावना रहती है। हमारे वर्तमान विश्लेषण के लिए इस स्थल पर और गहन विवेचन आवश्यक नहीं है। तथापि यह बात सही बनी रहती है कि किसी जिंस की लागत क़ीमत सदा उसके मूल्य से न्यून होती है। कारण कि किसी जिंस की लागत क़ीमत उसके द्वारा उपभुक्त उत्पादन साधनों के मूल्य से चाहे कितनी ही भिन्न क्यों न हो, पूंजीपति के लिए यह पुराना विचलन महत्वहीन होता है। किसी जिंस विशेष की लागत क़ीमत एक निश्चित अवस्था है, जो नियत है और हमारे पूंजीपति के उत्पादन से स्वतंत्र है, जब कि उसके उत्पादन का परिणाम एक जिंस है, जिसमें बेशी मूल्य, और इसलिए उसकी लागत क़ीमत के अलावा मूल्य का एक अतिरेक समाविष्ट है। अन्य सभी प्रयोजनों के लिए यह कथन कि लागत दाम किसी जिंस के मूल्य से न्यून होता है, अब वास्तव में इस कथन में बदल गया है कि लागत दाम उत्पादन दाम से न्यून होता है। जहां तक कुल सामाजिक पूंजी का संबंध है, जिसमें उत्पादन दाम मूल्य के बराबर होता है, यह कथन पूर्वोक्त के सर्वसम है, अर्थात यह कि लागत क़ीमत मूल्य से न्यून होती है। और जहां यह कथन उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रों में आशोधित हो जाता है, यह मूलभूत तथ्य सदा ज्यों का त्यों रहता है कि कुल सामाजिक पूंजी के मामले में उसके द्वारा उत्पादित जिंसों की लागत क़ीमत उनके मूल्य से न्यून होती है, अथवा, सामाजिक जिंसों की कुल संहति के मामले में, उनके उत्पादन दाम से न्यून होती है, जो उनके मूल्य के सर्वसम होता है। किसी जिंस की लागत क़ीमत केवल उसमें सविमाष्ट शोधित श्रम की मात्रा को ही इंगित करती है, जबकि उसका मूल्य उसमें समाविष्ट समस्त शोधित तथा अशोधित श्रम को इंगित करता है। उत्पादन दाम शोधित श्रम जमा किसी भी उत्पादन क्षेत्र विशेष के लिए ऐसी अवस्थाओं द्वारा, जिन पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता, निर्धारित अशोधित श्रम की एक ख़ास मात्रा के योग को सूचित करता है।

यह सूत्र कि किसी जिंस का उत्पादन दाम $= k + p$, अर्थात बराबर है उसके लागत दाम जमा लाभ के, अब $p = kp'$ (जिसमें p' सामान्य लाभ दर है) से अधिक सटीकतापूर्वक परिभाषित होता है। अतः उत्पादन दाम $= k + kp'$। अगर $k =$ ३०० और $p' =$ १५%, तो उत्पादन दाम होगा $k + kp' =$ ३०० + ३०० × $\frac{१५}{१००}$, अथवा ३४५।

किसी भी क्षेत्र विशेष में जिंसों का उत्पादन दाम परिमाण में बदल सकता है:

१) अगर सामान्य लाभ दर इस क्षेत्र विशेष से निरपेक्ष रूप से बदलती है, जबकि जिंसों का मूल्य उतना ही बना रहता है (उनके उत्पादन में घनीभूत तथा सजीव श्रम की उतनी ही मात्राओं के उपभुक्त होने के कारण, जितनी पहले होती थीं)।

२) अगर या तो इस क्षेत्र विशेष में प्राविधिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप, या उन जिंसों के मूल्य में, जो इस क्षेत्र की स्थिर पूंजी के तत्वों का निर्माण करती हैं, परिवर्तन के परिणामस्वरूप मूल्य का परिवर्तन होता है, जबकि सामान्य लाभ दर अपरिवर्तित बनी रहती है।

३) अंततः, अगर दोनों उपरोद्धृत परिस्थितियों का संयोग हो जाता है।

जैसा कि हम आगे देखेंगे, उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रों के भीतर वास्तविक लाभ दरों में निरंतर होते रहनेवाले भारी परिवर्तनों के बावजूद सामान्य लाभ दर में कोई भी वास्तविक परिवर्तन, अगर वह असाधारण आर्थिक घटनाओं द्वारा लाया गया अपवादस्वरूप परिवर्तन ही न हो, बहुत लंबी कालावधियों के दौरान आनेवाले उतार-चढ़ावों के सिलसिले का विलंबित प्रभाव ही होता है, ऐसे उतार-चढ़ाव कि जिन्हें सामान्य लाभ दर में परिवर्तन ला पाने के लिए समेकित

होने और एक दूसरे को समकृत करने के वास्ते बहुत समय की दरकार होती है। अतः सभी अल्पतर कालावधियों में (बाजार दामों में उतार-चढ़ावों से सर्वथा अलग) उत्पादन दामों में परिवर्तन सदा prima facie [प्रत्यक्षतः] जिंसों के मूल्य में वास्तविक परिवर्तनों में, अर्थात उनके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल की कुल मात्रा में परिवर्तनों में, चीन्हा जा सकता है। उन्हीं मूल्यों की द्रव्य अभिव्यक्ति में ही परिवर्तनों को यहां, क़ुदरती तौर पर, विचार में बिलकुल भी नहीं लाया जाता है।[23]

दूसरी ओर, यह प्रत्यक्ष है कि कुल सामाजिक पूंजी के विचार से उसके द्वारा उत्पादित जिंसों का मूल्य (अथवा, द्रव्य में व्यक्त करने पर, उनका दाम) = स्थिर पूंजी का मूल्य + + परिवर्ती पूंजी का मूल्य + बेशी मूल्य। श्रम शोषण की मात्रा स्थिर मानी जाये, तो लाभ दर तब तक नहीं बदल सकती कि जब तक बेशी मूल्य की संहति वही बनी रहती है, बशर्ते कि या तो स्थिर पूंजी के मूल्य, या परिवर्ती पूंजी के मूल्य, या दोनों के ही मूल्य में परिवर्तन न आये, जिससे कि C में, और इस प्रकार $\frac{s}{C}$ में, जो सामान्य लाभ दर को प्रकट करती है, परिवर्तन आ जाता है। अतः प्रत्येक प्रसंग में सामान्य लाभ दर के परिवर्तन में जिंसों के मूल्य का परिवर्तन सन्निहित होता है, जो स्थिर अथवा परिवर्ती पूंजी, अथवा दोनों ही के तत्वों का निर्माण करती हैं।

अथवा, जब श्रम शोषण की मात्रा बदलती है, तब सामान्य लाभ दर बदल सकती है, जबकि जिंसों का मूल्य वही बना रहता है।

अथवा, अगर श्रम शोषण की मात्रा वही बनी रहती है, तो श्रम प्रक्रिया में प्राविधिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप स्थिर पूंजी के संदर्भ में नियोजित श्रम की मात्रा में परिवर्तन के ज़रिये सामान्य लाभ दर बदल सकती है। किंतु ऐसे प्राविधिक परिवर्तन सदा जिंसों के मूल्य के परिवर्तन में प्रकट होने चाहिए और उनके साथ आने चाहिए, जिनके उत्पादन में तब पहले की बनिस्बत अधिक या कम श्रम की आवश्यकता होगी।

हमने पहले भाग में देखा था कि अपनी संहति की दृष्टि से बेशी मूल्य और लाभ सर्वसम होते हैं। किंतु लाभ दर आरंभ से ही बेशी मूल्य दर से अलग होती है, जो पहली नज़र में परिकलन का एक भिन्न रूप ही प्रतीत होती है। लेकिन साथ ही यह, और वह भी आरंभ से ही, बेशी मूल्य के उद्गम को अस्पष्ट तथा रहस्याच्छन्न करने का भी काम करती है, क्योंकि लाभ दर चढ़ या गिर सकती है, जबकि बेशी मूल्य दर वही बनी रहती है, और विलोमतः भी, और क्योंकि पूंजीपति व्यवहार में सिर्फ़ लाभ दर में ही दिलचस्पी रखता है। तथापि परिमाण का अंतर केवल बेशी मूल्य दर और लाभ दर के बीच था, न कि स्वयं बेशी मूल्य और लाभ के बीच। चूंकि लाभ दर में बेशी मूल्य कुल पूंजी के संदर्भ में परिकलित किया जाता है और अंतोक्त को उसके माप का मानक माना जाता है, इसलिए स्वयं बेशी मूल्य कुल पूंजी से उद्भूत, उसके सभी भागों से एकरूप में व्युत्पन्न प्रतीत होता है, जिससे लाभ की अवधारणा में स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के बीच आंगिक अंतर मिट जाता है। लाभ के छद्मवेश में बेशी मूल्य वतुस्तः अपने उद्गम को अस्वीकारता है, अपने स्वरूप को गंवा देता है और अनभिज्ञेय बन जाता है। तथापि, अभी तक लाभ और बेशी मूल्य के बीच विभेद केवल गुणात्मक परिवर्तन, अथवा रूप के परिवर्तन पर लागू होता था, जबकि परिवर्तन की इस पहली अवस्था में बेशी मूल्य तथा

---

[23] Corbet [*An Inquiry into the Causes and Modes of the Wealth of Individuals*, London, 1841. – सं०], p. 174.

लाभ के परिमाण का कोई वास्तविक अंतर न था, बल्कि केवल लाभ दर और बेशी मूल्य दर के बीच ही था।

लेकिन जैसे ही एक सामान्य लाभ दर, और फलतः उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में निवेशित पूंजी के नियत परिमाण के अनुरूप एक औसत लाभ की स्थापना होती है कि बात बदल जाती है।

तब यह केवल संयोग ही होगा कि किसी उत्पादन क्षेत्र विशेष में वस्तुतः उत्पादित बेशी मूल्य, और इस प्रकार लाभ, किसी जिंस के विक्रय दाम में समाविष्ट लाभ के साथ मेल खाये। साधारणतः तब बेशी मूल्य और लाभ, न कि उनकी मात्र दरें, भिन्न-भिन्न परिमाण होते हैं। शोषण की एक नियत मात्रा के साथ तब किसी उत्पादन क्षेत्र विशेष में उत्पादित बेशी मूल्य की संहति किसी विशिष्ट उत्पादन शाखा में व्यष्टि पूंजीपति की अपेक्षा सामाजिक पूंजी के समुच्चित औसत लाभ के लिए, और इस प्रकार सामान्यरूपेण पूंजीपति वर्ग के लिए अधिक महत्वपूर्ण होती है। उसका महत्व व्यष्टि पूंजीपति के लिए वहां तक ही है,[24] जहां तक कि उसकी शाखा में उत्पादित बेशी मूल्य की मात्रा औसत लाभ का नियमन करने में सहायता देती है। लेकिन यह एक ऐसी प्रक्रिया है कि जो उसकी पीठ पीछे होती है, जिसे वह न देखता है, न समझता है, और सचमुच जिसमें उसकी दिलचस्पी नहीं होती। विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में लाभ तथा बेशी मूल्य के परिमाण के बीच – केवल लाभ दर और बेशी मूल्य दर के बीच ही नहीं – वास्तविक अंतर अब लाभ की असली प्रकृति तथा उद्गम को सिर्फ़ पूंजीपति से ही नहीं, जिसका अपने को इस विषय में छलने में एक विशेष स्वार्थ होता है, बल्कि मज़दूर से भी छिपा लेता है। मूल्यों का उत्पादन दामों में रूपांतरण स्वयं मूल्य निर्धारित करने के आधार को अस्पष्ट करने का काम करता है। अंततः, चूंकि बेशी मूल्य का लाभ में रूपांतरण मात्र किसी जिंस के मूल्य के लाभ का निर्माण करनेवाले अंश का उसकी लागत क़ीमत का निर्माण करनेवाले अंश से विभेद करता है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि मूल्य की अवधारणा इस स्थल पर पूंजीपति की समझ में न आये, क्योंकि वह जिंस में लगाये गये कुल श्रम को नहीं, बल्कि कुल श्रम के केवल उस अंश को ही देखता है कि जिसके लिए उसने उत्पादन साधनों की सूरत में अदायगी की है, वे चाहे सजीव हों, या न हों, जिससे कि अपना लाभ उसे जिंस के अंतर्वर्ती मूल्य के बाहर की चीज़ जैसा लगता है। अब यह विचार पूर्णतः स्वीकृत, सुदृढ़ और अश्मीभूत हो गया है, क्योंकि उसके उत्पादन क्षेत्र विशेष के दृष्टिकोण से लागत क़ीमत में जुड़ा लाभ वस्तुतः स्वयं उसके क्षेत्र के भीतर मूल्य निर्माण की सीमाओं द्वारा नहीं, बल्कि पूरी तरह से बाहरी प्रभावों के ज़रिये निर्धारित होता है।

यह बात कि यह अंतर्भूत संबंध यहां पहली बार प्रकट होता है; यह बात कि आज तक राजनीतिक अर्थशास्त्र ने, जैसा कि हम आगे और चौथी पुस्तक में देखेंगे, या तो अपने को बेशी मूल्य तथा लाभ, और उनकी दरों के बीच विभेदों से जबरदस्ती पृथक किये रखा है, ताकि वह मूल्य निर्धारण को एक आधार की तरह बनाये रख सके, या फिर उसने इस मूल्य निर्धारण को और उसके साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लेशमात्र को भी त्याग दिया है, ताकि इस परिघटना में एकदम नजर आनेवाले अंतरों से ही चिपटा रह सके – सिद्धांतकारों की यह उलझन प्रतिद्वंद्विता से अंधे हुए और उसकी परिघटनाओं को समझने में असमर्थ व्यावहारिक

---

[24] हम मज़दूरी की कटौती, एकाधिकार दामों, आदि के ज़रिये अस्थायी अतिरिक्त लाभ प्राप्त करने की संभावना को फ़िलहाल क़ुदरती तौर पर अलग छोड़ देते हैं। [फ़े॰ एं॰]

पूंजीपति की इस प्रक्रिया के बाह्य स्वरूप के नीचे छिपे आंतरिक सार तथा आंतरिक ढांचे को पहचान पाने की नितांत अक्षमता को सबसे अच्छी तरह से दर्शाती है।

पहले भाग में लाभ दर के चढ़ने तथा गिरने के बारे में निरूपित सभी नियम, वास्तव में, यह दुहरा अर्थ रखते हैं:

१) एक ओर, वे सामान्य लाभ दर के नियम हैं। लाभ दर को चढ़ाने या गिरानेवाले नानाविध कारणों के दृष्टिगत, सब कुछ कहने-करने के बाद, यही सोचा जायेगा कि सामान्य लाभ दर हर दिन बदलती रहती होगी। लेकिन एक उत्पादन क्षेत्र में रुझान को दूसरे क्षेत्र का रुझान प्रतिकृत कर देता है, उनके प्रभाव एक दूसरे को काट और बेकार कर देते हैं। इसका हम बाद में विवेचन करेंगे कि ये उतार-चढ़ाव अंततः किस ओर झुकते हैं। किन्तु वे मंथर होते हैं। अलग-अलग उत्पादन क्षेत्रों में उतार-चढ़ावों की आकस्मिकता, बहुलता और भिन्न अवधि के कारण वे अपने कालानुक्रमण में एक दूसरे को प्रतिकृत कर देते हैं – दामों के चढ़ाव के बाद गिरावट और इसी प्रकार विलोमतः, जिससे कि वे स्थानिक, अर्थात पृथक क्षेत्रों तक सीमित रहते हैं। अंततः, विभिन्न स्थानिक उतार-चढ़ाव एक दूसरे को निष्प्रभाव कर देते हैं। प्रत्येक पृथक उत्पादन क्षेत्र के भीतर परिवर्तन, अर्थात सामान्य लाभ दर से विचलन होते हैं, जो एक ओर, एक दूसरे को निश्चित कालावधि में प्रतिसंतुलित करते हैं और इस प्रकार सामान्य लाभ दर पर कोई प्रभाव नहीं डालते, और जो दूसरी ओर, उसे इसलिए प्रभावित नहीं करते, कि वे अन्य सहकालिक स्थानिक उतार-चढ़ावों द्वारा संतुलित कर दिये जाते हैं। चूंकि सामान्य लाभ दर केवल प्रत्येक क्षेत्र में औसत लाभ दर द्वारा ही नहीं, बल्कि विभिन्न पृथक क्षेत्रों में कुल सामाजिक पूंजी के वितरण द्वारा भी निर्धारित होती है, और चूंकि यह वितरण निरंतर बदलता रहता है, इसलिए यह सामान्य लाभ दर में परिवर्तन का एक और स्थिर कारण बन जाता है। लेकिन यह परिवर्तन का एक ऐसा कारण है कि जो अधिकांशतः अपने को इस गति की अविच्छिन्न* तथा बहुमुखी प्रकृति के कारण निष्प्रभाव कर देता है।

२) प्रत्येक क्षेत्र के अंदर इस क्षेत्र की लाभ दर के दीर्घतर अथवा अल्पतर कालावधि तक उतर-चढ़ सकने की कुछ गुंजाइश रहती है, पेश्तर इसके कि यह उतार-चढ़ाव चढ़ने या उतरने के बाद इतना प्रबल हो जाये कि सामान्य लाभ दर को प्रभावित करने का और इसलिए स्थानिक महत्व से अधिक महत्व प्राप्त करने का समय पा जाये। इस पुस्तक के पहले भाग में विकसित लाभ दर के नियम भी इसी प्रकार दिक्-काल सीमाओं के भीतर प्रयोज्य बने रहते हैं।

बेशी मूल्य के लाभ में पहले रूपांतरण के बारे में यह सैद्धांतिक अवधारणा एक व्यावहारिक तथ्य को अभिव्यक्त करती है कि किसी पूंजी का प्रत्येक भाग एकरूप लाभ प्रदान करता है।[25] औद्योगिक पूंजी की संरचना कुछ भी क्यों न हो, चाहे वह एक चौथाई मशीनी श्रम को और तीन चौथाई सजीव श्रम को गतिशील करे, अथवा तीन चौथाई घनीभूत श्रम और एक चौथाई सजीव श्रम को, चाहे एक प्रसंग में वह दूसरे की तुलना में तीन गुना बेशी श्रम अवशोषित करती है, अथवा तीन गुना बेशी मूल्य उत्पादित करती है – दोनों ही प्रसंगों में वह उतना ही लाभ प्रदान करती है, अगर श्रम शोषण की मात्रा उतनी ही हो और व्यष्टिक अंतरों को अलग

---

* मूल में "विच्छिन्न" [Unterbrochenheit] शब्द है। इसे मार्क्स की पांडुलिपि के आधार पर सही किया गया है। – सं०

[25] Malthus [*Principles of Political Economy*, 2nd ed., London, 1836, p. 268. – सं०]

छोड़ दिया जाये, जो प्रसंगतः विलुप्त हो जाते हैं, क्योंकि दोनों मामलों में हमारा साबिक़ा संपूर्ण उत्पादन क्षेत्र की औसत संरचना से ही है। व्यष्टि पूंजीपति (अथवा प्रत्येक पृथक उत्पादन क्षेत्र में सभी पूंजीपति), जिसका दृष्टिकोण सीमित होता है, ठीक ही विश्वास करता है कि उसका लाभ एकमात्र उसके द्वारा अथवा उसकी उत्पादन शाखा में नियोजित श्रम से ही नहीं व्युत्पन्न होता है। जहां तक उसके औसत लाभ का संबंध है, यह बिलकुल सही है। यह लाभ किस हद तक कुल सामाजिक पूंजी द्वारा, अर्थात उसके सभी पूंजीपति सहयोगियों द्वारा, श्रम के समुच्चित शोषण के कारण होता है – यह अन्योन्य संबंध व्यष्टि पूंजीपति के लिए सर्वथा रहस्य है; ख़ासकर इसलिए और भी कि बूर्जुआ सिद्धांतकारों, अर्थशास्त्रियों में किसी ने भी अभी तक उसे उद्घाटित नहीं किया है। श्रम की – किसी उत्पाद को पैदा करने के लिए आवश्यक श्रम ही नहीं, बल्कि नियोजित श्रमिकों की संख्या भी – बचत और अधिक घनीभूत श्रम (स्थिर पूंजी) का नियोजन आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत पक्की कार्रवाइयां प्रतीत होती हैं और सामान्य लाभ दर तथा औसत लाभ पर ज़रा भी प्रभाव डालती नहीं लगती हैं। इस तथ्य के दृष्टिगत सजीव श्रम ही किस प्रकार लाभ का एकमात्र स्रोत हो सकता है कि उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा की कटौती लाभ पर कोई प्रभाव डालती नहीं प्रतीत होती? इसके अलावा, कुछेक परिस्थितियों में तो यह लाभों की वृद्धि का, कम से कम व्यष्टि पूंजीपति के लिए, निकटतम स्रोत तक लगती है।

अगर उत्पादन के किसी भी क्षेत्र विशेष में लागत दाम का वह अंश चढ़ता या गिरता है, जो स्थिर पूंजी के मूल्य को प्रकट करता है, तो यह अंश परिचलन से उद्भूत होता है और, या तो बढ़कर या घटकर, आरंभ से ही जिंस के उत्पादन की प्रक्रिया में चला जाता है। इसके विपरीत, अगर श्रमिकों की उतनी ही संख्या उतने ही समय में ज्यादा या कम उत्पादित करती है, जिससे कि जिंसों की एक निश्चित मात्रा का उत्पादन करने के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा बदल जाती है, जबकि श्रमिकों की संख्या उतनी ही रहती है, तो लागत क़ीमत का वह अंश, जो परिवर्ती पूंजी के मूल्य को प्रकट करता है, उतना ही बना रह सकता है, अर्थात कुल उत्पाद की लागत क़ीमत में उतना ही योग दे सकता है। किंतु जिन व्यष्टिक जिंसों का योग कुल उत्पाद का निर्माण करता है, उनमें से प्रत्येक में ज्यादा या कम श्रम (शोधित और इसलिए अशोधित भी) शामिल होता है, और फलतः इस श्रम के लिए ज्यादा या कम परिव्यय, अर्थात मज़दूरी का अधिक अथवा न्यून अंश, भी शामिल होता है। पूंजीपति द्वारा अदा की जानेवाली कुल मज़दूरी उतनी ही रहती है, लेकिन उसे अगर जिंस के प्रति नग के हिसाब से परिकलित किया जाये, तो मज़दूरी में भिन्नता होती है। इस प्रकार, जिंस की लागत क़ीमत के इस अंश में फ़र्क़ है। लेकिन व्यष्टिक जिंस की लागत क़ीमत (अथवा संभवतः एक नियत परिमाण की पूंजी द्वारा उत्पादित जिंसों के योग की लागत क़ीमत) चाहे चढ़े या गिरे, चाहे यह उसके अपने मूल्य में ऐसे परिवर्तनों के कारण हो, अथवा उसके तत्वों में परिवर्तनों के कारण, औसत लाभ, मसलन १०% का, १०% ही रहता है। तथापि, हमने मूल्य के जैसे परिवर्तनों की कल्पना की है, व्यष्टिक जिंस के लागत दाम में जनित परिमाणके ऐसे परिवर्तनों के अनुसार किसी व्यष्टिक जिंस का १०% बहुत भिन्न-भिन्न मात्राओं को प्रकट कर सकता है।[28]

---

[28] Corbet [*An Inquiry into the Causes and Modes of the Wealth of Individuals*, London, 1841, p. 20. – सं०]

जहां तक परिवर्ती पूंजी का संबंध है – और यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह बेशी मूल्य का स्रोत है, और क्योंकि पूंजीपति द्वारा संपत्ति के संचय के साथ इसके संबंध को छिपानेवाली हर चीज़ पूरी व्यवस्था को रहस्याच्छन्न करने का ही काम करती है – मामला और भी अधिक भोंडा हो जाता है अथवा पूंजीपति को इस तरह से दिखायी देता है: १०० पाउंड की परिवर्ती पूंजी, मान लीजिये, १०० श्रमिकों की साप्ताहिक मज़दूरी को प्रकट करती है। अगर ये १०० श्रमिक प्रति सप्ताह एक नियत कार्य काल में किसी जिंस के २०० नग = २०० C का उत्पादन करते हैं, तो स्थिर पूंजी द्वारा जोड़े गये लागत क़ीमत के अंश के बग़ैर १ C की क़ीमत $\frac{१०० \text{ पाउंड}}{२००}$ = १० शिलिंग हुई, क्योंकि १०० पाउंड = २०० C. अब मान लीजिये कि श्रम की उत्पादिता में परिवर्तन आ जाता है। मान लीजिये कि वह दुगुनी हो जाती है, जिससे कि उतने ही श्रमिक पहले २०० C का उत्पादन करने में जितना समय लगाते थे, अब उतने में २०० C का दुगुना उत्पादित करते हैं। इस हालत में (लागत क़ीमत के केवल मज़दूरीवाले हिस्से को ही लेने पर) १ C = $\frac{१०० \text{ पाउंड}}{४००}$ = ५ शिलिंग, क्योंकि अब १०० पाउंड = = ४०० C। अगर श्रम की उत्पादिता आधी हो जाये, तो उतना ही श्रम केवल $\frac{२०० C}{२}$ का उत्पादन करेगा और क्योंकि अब १०० पाउंड = $\frac{२०० C}{२}$, इसलिए १ C = $\frac{२०० \text{ पाउंड}}{२००}$ = = १ पाउंड। इस प्रकार जिंसों के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल में परिवर्तन, और इसलिए उनके मूल्य में परिवर्तन लागत क़ीमत के, और इसलिए उत्पादन दाम के, संदर्भ में उतनी ही मज़दूरी के लिए उतने ही कार्य काल में उत्पादित जिंसों की बड़ी या छोटी मात्रा के अनुसार अधिक या कम जिंसों के लिए उतनी ही मज़दूरी के एक भिन्न वितरण जैसे ही प्रतीत होते हैं। पूंजीपति को, और फलतः राजनीतिक अर्थशास्त्री को भी, जो दिखायी देता है, वह यह है कि प्रति नग जिंस पर शोधित श्रम का अंश श्रम की उत्पादिता के साथ बदलता जाता है और यह कि प्रति नग का मूल्य भी तदनुरूप बदल जाता है। जिस बात को वे नहीं देखते, वह यह है कि जिंस के हर नग में समाविष्ट अशोधित श्रम पर भी यही बात लागू होती है, और इस बात को इस कारण और भी कम समझा जाता है कि औसत लाभ वस्तुतः व्यष्टि पूंजीपति के क्षेत्र में अवशोषित श्रम द्वारा संयोग से ही निर्धारित किया जाता है। हम केवल ऐसे अपरिष्कृत और निरर्थक रूप में ही इसकी झलक पा सकते हैं कि जिंसों के मूल्य का निर्धारण उनमें समाविष्ट श्रम द्वारा किया जाता है।

अध्याय १०

प्रतिद्वंद्विता के जरिये सामान्य लाभ दर का समकरण। बाजार दाम और बाजार मूल्य। बेशी लाभ

कुछ उत्पादन क्षेत्रों में निवेशित पूंजी की एक माध्य, अथवा औसत, संरचना होती है, अर्थात उसकी संरचना वही, अथवा लगभग वही होती है, जो औसत सामाजिक पूंजी की होती है।

इन क्षेत्रों में उत्पादन दाम बिलकुल अथवा लगभग उतना ही होता है, जितना कि उत्पादित जिंस का द्रव्य में अभिव्यक्त मूल्य। गणितीय सीमांत पर पहुंचने का और कोई तरीका न हो, तो यह अवश्य होगा। प्रतिद्वंद्विता सामाजिक पूंजी को विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में इस प्रकार वितरित कर देती है कि प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन दाम इन क्षेत्रों में औसत संरचना के उत्पादन दामों के प्रतिरूप के अनुसार रूप ले लेते हैं, अर्थात वे $= k + kp'$ (लागत दाम जमा लागत दाम द्वारा गुणित औसत लाभ दर)। तथापि यह औसत लाभ दर औसत संरचना के उस क्षेत्र में लाभ का प्रतिशतांश होती है, जिसमें फलतः लाभ बेशी मूल्य के एकरूप होता है। अतः लाभ दर सभी उत्पादन क्षेत्रों में उतनी ही होती है, क्योंकि यह उन औसत उत्पादन क्षेत्रों के आधार पर समकृत होती है, जिनमें पूंजी की औसत संरचना होती है। फलतः, सभी उत्पादन क्षेत्रों में लाभों की राशि को बेशी मूल्यों की राशि के बराबर, और कुल सामाजिक उत्पाद के उत्पादन दामों की राशि को उसके मूल्य की राशि के बराबर होना चाहिए। किंतु यह प्रत्यक्ष है कि भिन्न संरचना के उत्पादन क्षेत्रों में संतुलन को उन्हें औसत संरचना के क्षेत्रों के साथ समकृत करने की ओर अभिमुख होना चाहिए, फिर चाहे वह सामाजिक औसत के बिलकुल समान हो अथवा केवल लगभग समान हो। औसत के कमोबेश निकट आते क्षेत्रों में भी समकरण की, आदर्श औसत प्राप्त करने की प्रवृत्ति होती है, अर्थात एक ऐसा औसत कि जो वस्तुतः अस्तित्वमान होता नहीं। दूसरे शब्दों में, उनमें इस आदर्श को मानक मानने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस प्रकार, उत्पादन दामों को मूल्य के मात्र परिवर्तित रूप बना देने की, अथवा लाभों को बेशी मूल्य के मात्र अंशों में बदल देने की प्रवृत्ति अनिवार्यतः व्याप्त होती है। तथापि ये उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र विशेष में उत्पादित बेशी मूल्य के समानुपात नहीं, वरन प्रत्येक क्षेत्र में नियोजित पूंजी की संहति के समानुपात वितरित होते हैं, जिससे कि पूंजी की समान संहतियां, उनकी संरचना चाहे कुछ भी क्यों न हो, कुल सामाजिक पूंजी द्वारा उत्पादित कुल बेशी मूल्य के समान अशेषभाजक अंश प्राप्त करती हैं।

इस प्रकार, औसत, अथवा लगभग औसत संरचना की पूंजियों के मामले में उत्पादन दाम मूल्य के समान, अथवा लगभग समान, और लाभ उनके द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य के समान,

अथवा लगभग समान होता है। अन्य सभी पूंजियां, उनकी संरचना चाहे कुछ हो, प्रतिद्वंद्विता के दबाव के कारण इस औसत की ओर ही अभिमुख होती हैं। लेकिन चूंकि औसत संरचना की पूंजियां बनावट में औसत सामाजिक पूंजी के समान, अथवा लगभग समान ही होती हैं, इसलिए सभी पूंजियों में, उनके द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य से निरपेक्ष, अपनी जिंस के दाम में स्वयं अपने बेशी मूल्य की सिद्धि करने की बनिस्बत औसत लाभ की सिद्धि करने की, अर्थात उत्पादन दामों की सिद्धि करने की प्रवृत्ति होती है।

इसके विपरीत कहा जा सकता है कि जहां कहीं भी – चाहे किसी भी साधन से – औसत लाभ, और फलतः सामान्य लाभ दर पैदा होते हैं, ऐसा औसत लाभ औसत सामाजिक पूंजी पर लाभ के सिवा और कुछ नहीं हो सकता, जिसकी राशि बेशी मूल्य की राशि के बराबर होती है। इसके अलावा, इस औसत लाभ को लागत क़ीमतों में जोड़ने से प्राप्त दाम उत्पादन दामों में रूपांतरित मूल्यों के सिवा और कुछ नहीं हो सकते। यदि कुछेक उत्पादन क्षेत्रों में निवेशित पूंजियां, किसी कारण, समकरण की प्रक्रिया के अधीन न भी हों, तो भी कोई अंतर न पड़ेगा। तब औसत लाभ सामाजिक पूंजी के उस अंश पर अभिकलित किया जायेगा, जो समकरण प्रक्रिया में प्रविष्ट होता है। यह प्रत्यक्ष है कि औसत लाभ पूंजियों की विभिन्न मात्राओं को भिन्न-भिन्न उत्पादन क्षेत्रों में उनके परिमाण के अनुपात में आवंटित बेशी मूल्य की कुल संहति के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। यह कुल सिद्धिकृत अशोधित श्रम है, और शोधित, घनीभूत अथवा सजीव श्रम की ही भांति यह कुल संहति जिंसों तथा द्रव्य की कुल संहति में विद्यमान होती है, जो पूंजीपतियों द्वारा हस्तगत की जाती है।

वस्तुतः, कठिन प्रश्न यह है: लाभों का सामान्य लाभ दर में यह समकरण संपन्न किस प्रकार होता है, क्योंकि प्रत्यक्षतः यह कोई प्रस्थान बिंदु नहीं, प्रत्युत परिणाम ही है?

पहली बात तो यही कि प्रत्यक्ष है कि जिंसों के मूल्यों का कोई भी प्राक्कलन, मिसाल के लिए, द्रव्य के अर्थों में उनके विनिमय का ही परिणाम हो सकता है। इसलिए अगर हम इस प्रकार के किसी प्राक्कलन की कल्पना करते हैं, तो हमें उसे जिंस मूल्य के जिंस मूल्य के साथ वास्तविक विनिमय का परिणाम मानना होगा। लेकिन जिंसों का अपने वास्तविक मूल्यों पर यह विनिमय होता कैसे है?

आरंभ में मान लीजिये कि विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में सभी जिंसें अपने वास्तविक मूल्यों पर बेची जाती हैं। इसका परिणाम क्या होगा? ऊपर जो कहा गया है, उसके अनुसार तब विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में अत्यंत भिन्न-भिन्न लाभ दरें व्याप्त होंगी। आया कि जिंसें अपने मूल्यों पर बेची जाती हैं (अर्थात उनमें समाविष्ट मूल्यों के अनुपात में उनके मूल्यों के अनुरूप दामों पर विनिमीत की जाती हैं), अथवा वे ऐसे दामों पर बेची जाती हैं कि उनकी बिक्री उनके अपने-अपने उत्पादन के लिए निवेशित पूंजियों की समान संहतियों के लिए समान लाभ देती हैं, – ये prima facie दो सर्वथा भिन्न बातें हैं।

यह तथ्य कि सजीव श्रम की असमान मात्राएं नियोजित करनेवाली पूंजियां बेशी मूल्य की असमान मात्राएं उत्पादित करती हैं, कम से कम कुछ सीमा तक यह पूर्वकल्पित कर लेता है कि शोषण की मात्रा या बेशी मूल्य दर एक जैसी ही हैं, या यह कि उनमें विद्यमान कोई भी अंतर प्रतिकार के वास्तविक अथवा कल्पित (रूढ़) आधारों द्वारा समकृत हो जाते हैं। यह मजदूरों में प्रतिद्वंद्विता और उनके एक उत्पादन क्षेत्र से दूसरे में निरंतर स्थानांतरण के ज़रिये समकरण की कल्पना करेगा। हमने ऐसी सामान्य बेशी मूल्य दर की कल्पना – अन्य सभी आर्थिक

नियमों की ही भांति एक प्रवृत्ति के रूप में – सैद्धांतिक सरलता की ख़ातिर की है। लेकिन वास्तव में यह पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की एक वास्तविक आधारिका है, यद्यपि व्यावहारिक टकराव इसमें कमोबेश बाधा डालते हैं, जिससे कमोबेश ख़ासे स्थानिक अंतर पैदा हो जाते हैं, उदाहरण के लिए, जैसे ब्रिटेन में खेत मज़दूरों के लिए अधिवास क़ानून। लेकिन सिद्धांत में यह माना जाता है कि पूंजीवादी उत्पादन के नियम अपने विशुद्ध रूप में काम करते हैं। वास्तव में केवल सन्निकटन ही होता है; किंतु पूंजीवादी उत्पादन पद्धति जितनी ही अधिक विकसित होती है और पूर्ववर्ती आर्थिक अवस्थाओं के अवशेषों से वह जितनी ही कम अपमिश्रित तथा संलयित होती है, यह सन्निकटन उतना ही अधिक होता है।

सारी कठिनाई इस तथ्य से ही पैदा होती है कि जिंसें महज़ **जिंसों** के नाते नहीं, बल्कि **पूंजियों के उत्पादों** के नाते विनिमीत की जाती हैं, जो बेशी मूल्य की कुल राशि में अपने परिमाण के अनुपात में, अथवा यदि वे समान परिमाण की हैं, तो समान सहभागिता का दावा करती हैं। और इस दावे की तुष्टि एक नियत पूंजी द्वारा एक ख़ास कालावधि में उत्पादित जिंसों के कुल दाम से करनी होती है। तथापि यह कुल दाम इस पूंजी द्वारा उत्पादित अलग-अलग जिंसों के दामों का मात्र योगफल ही होता है।

अगर हम मामले का विवेचन इस प्रकार करें, तो punctum saliens [मुख्य बिंदु] और भी स्पष्ट हो जायेगा: मान लीजिये कि उत्पादन साधन स्वयं श्रमिकों के हैं और वे अपनी जिंसों का एक दूसरे से विनिमय करते हैं। इस स्थिति में ये जिंसें पूंजी के उत्पाद नहीं होंगी। विभिन्न श्रम साधनों तथा सामग्रियों का मूल्य उत्पादन की भिन्न-भिन्न शाखाओं में संपन्न श्रमों की प्राविधिक प्रकृति के अनुसार भिन्न होगा। फिर, उनके द्वारा प्रयुक्त उत्पादन साधनों के असमान मूल्य के अलावा इसके अनुसार कि कोई जिंस एक घंटे में तैयार की जा सकती है, तो दूसरी एक दिन में, आदि-आदि, उन्हें श्रम की नियत मात्राओं के लिए उत्पादन साधनों की भिन्न-भिन्न मात्राओं की आवश्यकता होगी। यह भी मान लीजिये कि ये श्रमिक – भिन्न-भिन्न श्रम तीव्रताओं, आदि से पैदा होनेवाले प्रतिकारों को ध्यान में रखते हुए – समान औसत कालावधि काम करते हैं। ऐसे मामले में, दो मज़दूर, पहले, अपने-अपने परिव्ययों की, जो जिंसें उनके दिन भर के काम का उत्पाद हैं, उनमें उपभुक्त उत्पादन साधनों की लागत क़ीमतों की प्रतिस्थापना करते। उनके श्रम की प्राविधिक प्रकृति के अनुसार ये परिव्यय भिन्न-भिन्न होंगे। दूसरे, दोनों नये मूल्य की समान मात्राओं का सृजन करते, अर्थात उनके द्वारा उत्पादन साधनों में जोड़ा गया कार्य दिवस। यह उनकी मज़दूरी जमा बेशी मूल्य होगा, जिसमें अंतोक्त उनकी आवश्यक ज़रूरतों के अतिरिक्त बेशी श्रम का द्योतक है, जिसका उत्पाद फिर भी उनका होगा। पूंजीवादी ढंग से पेश करें, तो वे दोनों ही उतनी ही मज़दूरी जमा उतना ही लाभ, अथवा उतना ही मूल्य, मसलन, दस घंटे के कार्य दिवस के उत्पाद द्वारा व्यक्त मूल्य, प्राप्त करते हैं। लेकिन पहली बात तो यही है कि उनकी जिंसों के मूल्यों को भिन्न होना होगा। उदाहरण के लिए, जिंस I में उपभुक्त उत्पादन साधनों के अनुरूप मूल्य का अंश जिंस II की अपेक्षा ऊंचा हो सकता है। और, इसलिए कि सभी संभव अंतरों को ध्यान में रखा जा सके, आइये, हम अभी से मान लेते हैं कि जिंस II की तुलना में जिंस I अधिक सजीव श्रम को अवशोषित करती है और फलतः उत्पादित किये जाने के लिए अधिक समय की अपेक्षा करती है। अतः, जिंस I और जिंस II के मूल्यों में बहुत भिन्नता है। इसी प्रकार एक नियत समय में श्रमिक I तथा श्रमिक II द्वारा निष्पन्न श्रम के उत्पाद को व्यक्त करनेवाली जिंसों के मूल्यों की राशियों में

भी बहुत भिन्नता है। अगर हम लाभ दर को बेशी मूल्य का निवेशित उत्पादन साधनों के कुल मूल्य के साथ अनुपात मानें, तो लाभ दरों में भी काफ़ी भिन्नता होगी। उत्पादन के दौरान I तथा II द्वारा नित्य उपभुक्त निर्वाह साधन, जो मजदूरी का स्थान लेते हैं, यहां निवेशित उत्पादन साधनों का हिस्सा होते हैं, जिन्हें सामान्यतः परिवर्ती पूंजी कहा जाता है। लेकिन समान कार्य कालों के लिए बेशी मूल्य I और II के लिए उतने ही होंगे, अथवा – अधिक सटीकता-पूर्वक कहें, तो चूंकि I और II में प्रत्येक एक दिन के काम के उत्पाद का मूल्य पाता है, इसलिए निवेशित "स्थिर" तत्वों के मूल्य के घटाये जाने के बाद वे दोनों ही समान मूल्यों को प्राप्त करते हैं, और इन समान मूल्यों के एक अंश को उत्पादन में उपभुक्त निर्वाह साधनों का प्रतिस्थानिक, और दूसरे को उसके अतिरेक में बेशी मूल्य माना जा सकता है। अगर श्रमिक I के इख़राजात ज्यादा हैं, तो उनकी पूर्ति उसकी जिंस के मूल्य के इस "स्थिर" भाग को प्रतिस्थापित करनेवाले अधिक बड़े अंश से होती है और इसलिए उसे अपने उत्पाद के कुल मूल्य के अधिक बड़े अंश को इस स्थिर भाग के भौतिक तत्वों में पुनःपरिवर्तित करना होता है, जबकि श्रमिक II को, इसके लिए कम प्राप्त करने पर भी, कहीं कम अंश पुनःपरिवर्तित करना होता है। अतः, इन परिस्थितियों में लाभ दरों में अंतर महत्वहीन होगा, जैसे उजरती मजदूर के लिए आज यह महत्वहीन होता है कि कौनसी लाभ दर उससे झटके हुए बेशी मूल्य की रक़म को व्यक्त कर सकती है, और जैसे अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य में विभिन्न राष्ट्रीय लाभ दरों में अंतर जिंस विनिमय के लिए महत्वहीन होता है।

इस प्रकार, जिंसों के अपने मूल्यों पर, अथवा लगभग अपने मूल्यों पर विनिमय के लिए उनके अपने उत्पादन दामों पर विनिमय की बनिस्बत कहीं नीची मंज़िल अपेक्षित होती है, जिसके लिए पूंजीवादी विकास का एक निश्चित स्तर आवश्यक है।

विभिन्न जिंसों के दाम आरंभ में चाहे किसी भी ढंग से परस्पर नियत अथवा निर्धारित होते हों, उनके उतार-चढ़ाव सदा मूल्य के नियम द्वारा ही शासित होते हैं। अगर उनके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल घट जाता है, तो दाम गिर जाते हैं; अगर वह बढ़ जाता है, तो दाम चढ़ जाते हैं, बशर्ते कि अन्य अवस्थाएं यथावत बनी रहें।

दामों तथा दामों के उतार-चढ़ाव के मूल्य के नियम द्वारा शासित किये जाने के अलावा जिंसों के मूल्यों को केवल सिद्धांततः ही नहीं, वरन इतिहासतः भी उत्पादन दामों के prius [पूर्ववर्ती] मानना सर्वथा उपयुक्त ही है। यह बात उन अवस्थाओं पर लागू होती है, जिनमें श्रमिक अपने उत्पादन साधनों का स्वामी होता है, और प्राचीन तथा आधुनिक विश्व में भी अपने श्रम पर जीनेवाले भूस्वामी किसान और दस्तकार की अवस्था यही है। यह बात हमारे द्वारा पहले व्यक्त किये गये* इस विचार[27] के साथ भी मेल खाती है कि उत्पादों का जिंसों में विकास विभिन्न समुदायों के बीच, न कि एक ही समुदाय के सदस्यों के बीच विनिमय के जरिये अस्तित्व में आता है। जब तक प्रत्येक उत्पादन शाखा के उत्पादन साधन एक क्षेत्र से दूसरे को मुश्किल से ही अंतरित किये जा सकते हैं और इसलिए विभिन्न उत्पादन क्षेत्र एक दूसरे के साथ,

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण : खंड १, पृष्ठ १०५। – सं०

[27] १८६५ में यह मार्क्स का "विचार" मात्र था। आज, आदिम समुदायों के स्वरूप के बारे में माउरेर से लेकर मार्गन तक के विस्तृत अनुसंधान के बाद, यह एक स्वीकृत तथ्य है, जिसे कदाचित ही कहीं अस्वीकार किया जाता हो। – फ़्रे० एं०

कुछेक सीमाओं के भीतर, विदेशों या साम्यवादी समुदायों की तरह संबद्ध होते हैं, यह कथन न केवल इस आदिम अवस्था के बारे में ही, बल्कि दासत्व तथा भूदासत्व पर आधारित उत्तरवर्ती अवस्थाओं के बारे में, और हस्तशिल्पों के गिल्ड संगठनों के बारे में भी सही है।

जिंसें जिन दामों पर विनिमीत की जाती हैं, उनके जिंसों के मूल्यों के लगभग अनुरूप होने के लिए बस इतना ही आवश्यक है कि १) विभिन्न जिंसों का विनिमय निरा सांयोगिक अथवा केवल कदाचनिक न रहे; २) जहां तक जिंसों के प्रत्यक्ष विनिमय का संबंध है, ये जिंसें दोनों ओर पारस्परिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए लगभग पर्याप्त मात्राओं में उत्पादित की जायें, जो व्यापार में पारस्परिक अनुभव से सीखी बात है और इसलिए अनवरत व्यापार का एक स्वाभाविक परिणाम है; और ३) जहां तक विक्रय का संबंध है, कोई स्वाभाविक अथवा कृत्रिम एकाधिकार न हो, जिससे कि संविदाकारी पक्षों में से कोई भी जिंसों को उनके मूल्य से अधिक पर न बेच सके अथवा अधिक सस्ता बेचने के लिए विवश न हो सके। सांयोगिक एकाधिकार से हमारा आशय ऐसे एकाधिकार से है, जो कोई क्रेता अथवा विक्रेता पूर्ति तथा मांग की किसी सांयोगिक अवस्था के ज़रिये प्राप्त कर लेता है।

यह कल्पना कि विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों की जिंसें अपने मूल्य पर बेची जाती हैं, निस्संदेह, केवल यही सूचित करती है कि उनका मूल्य वह गुरुत्व केंद्र है, जिसके आसपास उनके दाम घटते-बढ़ते हैं और उनके निरंतर उतार-चढ़ाव समकृत होते हैं। इसके अलावा भिन्न-भिन्न उत्पादकों द्वारा उत्पादित विशेष जिंसों के व्यष्टिक मूल्य से **बाज़ार मूल्य** का भी विभेद किया जाना चाहिए, जिसके बारे में आगे और कहा जायेगा। इनमें से कुछ जिंसों का व्यष्टिक मूल्य उनके बाज़ार मूल्य से नीचे होगा (अर्थात उनके उत्पादन के लिए उससे कम श्रम काल आवश्यक होता है, जितना बाज़ार मूल्य में व्यक्त होता है), जबकि अन्यों का बाज़ार मूल्य से अधिक होगा। बाजार मूल्य को, एक ओर, किसी एक ही क्षेत्र में उत्पादित जिंसों के औसत मूल्य की तरह देखना होगा, और, दूसरी ओर, उस क्षेत्र की औसत अवस्थाओं में उत्पादित और उस क्षेत्र के उत्पादों के बहुलांश का निर्माण करनेवाली जिंसों के व्यष्टिक मूल्य की तरह। यह केवल असाधारण संयोगों में ही होता है कि बुरी से बुरी, अथवा सबसे अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसें बाज़ार मूल्य को नियमित करती हैं, जो, अपनी बारी में, बाजार दामों की घट-बढ़ का केंद्र बन जाता है। तथापि ये दाम एक ही प्रकार की जिंसों के लिए एक ही होते हैं। अगर साधारण मांग औसत मूल्य की, अतः दोनों चरमों के मध्यवर्ती मूल्य की जिंसों की पूर्ति से तुष्ट हो जाती है, तो वे जिंसें अतिरिक्त बेशी मूल्य, अथवा बेशी लाभ की सिद्धि करती हैं, जिनका व्यष्टिक मूल्य बाज़ार मूल्य से नीचे होता है, जबकि वे जिंसें अपने में समाविष्ट बेशी मूल्य के एक अंश की सिद्धि नहीं कर पातीं, जिनका व्यष्टिक मूल्य बाज़ार मूल्य से ऊपर होता है।

यह कहने से समस्या के समाधान में कोई सहायता नहीं मिलती कि न्यूनतम अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसों की बिक्री यह साबित करती है कि वे मांग की तुष्टि करने के लिए आवश्यक होती हैं। अगर कल्पित प्रसंग में दाम औसत बाज़ार मूल्य से ऊंचे हुए होते, तो मांग अल्पतर* होती। एक ख़ास दाम पर कोई जिंस बाजार में एक ख़ास स्थान ही ले

---

* मूल में "अधिक" [grösser] है, इसे मार्क्स की पांडुलिपि के आधार पर सही किया गया है। – सं०

सकती है। दाम परिवर्तन के मामले में यह स्थान केवल तभी वही बना रहता है कि अगर ऊंचे दाम के साथ-साथ जिंस की पूर्ति में गिरावट, और नीचे दाम के साथ पूर्ति में चढ़ाव आये। और अगर मांग इतनी ज्यादा है कि वह न्यूनतम अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसों के मूल्य द्वारा दाम के नियमित किये जाने पर संकुचित नहीं होती, तो ये जिंसें ही बाज़ार मूल्य को निर्धारित करती हैं। अगर मांग सामान्य से अधिक न हो, या अगर पूर्ति सामान्य स्तर से नीचे न गिरे, तो ऐसा नहीं हो सकता। अंततः, अगर उत्पादित जिंसों की कुल मात्रा औसत बाज़ार मूल्यों पर बेची जानेवाली मात्रा से अधिक होती है, तो सर्वाधिक अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसें बाज़ार मूल्य को नियमित करती हैं। वे, मिसाल के लिए, अपने बिलकुल अथवा लगभग व्यष्टिक मूल्य पर बेची जा सकती हैं, जिस स्थिति में न्यूनतम अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसें अपने लागत दाम तक की सिद्धि नहीं कर पायेंगी, जबकि औसत अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसें अपने में समाविष्ट बेशी मूल्य के केवल एक अंश की ही सिद्धि कर पाती हैं। यहां बाज़ार मूल्य के बारे में जो कहा गया है, वह ज्यों ही उत्पादन दाम बाज़ार मूल्य का स्थान ले लेता है, उस पर भी लागू हो जाता है। उत्पादन दाम प्रत्येक क्षेत्र में नियमित किया जाता है, और उसी प्रकार विशेष परिस्थितियों द्वारा ही नियमित किया जाता है। और, अपनी बारी में, यह उत्पादन दाम वह केंद्र है, जिसके आसपास दैनिक बाज़ार दाम घटते-बढ़ते हैं और निश्चित कालावधियों के भीतर एक दूसरे को समकारित करते हैं। (न्यूनतम अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत काम करनेवाले उद्यमों द्वारा उत्पादन दाम के निर्धारण के बारे में देखिये रिकार्डो*।)

दाम चाहे जैसे नियमित किये जाते हों, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं:

१) मूल्य का नियम दाम उतार-चढ़ाव को इस प्रकार शासित करता है कि आवश्यक श्रम काल में कटौतियां या वृद्धियां उत्पादन दामों को गिरा अथवा चढ़ा देती हैं। यह इसी अर्थ में है कि रिकार्डो (जिन्होंने निस्संदेह इस बात को अनुभव कर लिया था कि उनके उत्पादन दाम जिंसों के मूल्य से विचलन करते हैं) कहते हैं कि "मैं पाठक का ध्यान जिस विवेचन की ओर आकृष्ट करना चाहता हूं, वह जिंसों के आपेक्षिक मूल्य में, न कि उनके निरपेक्ष मूल्य में विचरणों के प्रभाव से संबद्ध है"।**

२) उत्पादन दामों को निर्धारित करनेवाले औसत लाभ को सदा बेशी मूल्य की उस मात्रा के लगभग बराबर होना चाहिए, जो कुल सामाजिक पूंजी के एक अशेषभाजक अंश के नाते व्यष्टिक पूंजी के हिस्से में आता है। मान लीजिये कि सामान्य लाभ दर, और इसलिए औसत लाभ, वास्तविक औसत बेशी मल्य के मुद्रा मूल्य की अपेक्षा अधिक मुद्रा मूल्य द्वारा व्यक्त किये जाते हैं। जहां तक पूंजीपतियों का संबंध है, तब यह महत्वहीन है कि वे परस्पर १०% लाभ प्रभारित करते हैं अथवा १५%। इन प्रतिशतों में से कोई भी दूसरे की अपेक्षा अधिक पण्य मूल्य को समावेशित नहीं करता, क्योंकि द्रव्य में अधिप्रभारण पारस्परिक है। जहां तक श्रमिक का संबंध है (कल्पना यह है कि वह अपनी साधारण मजदूरी पाता है और इसलिए औसत लाभ

---

* D. Ricardo, *On the Principles of Political Economy, and Taxation*, Third edition, London, 1821, pp. 60-61. – सं०

** D. Ricardo, *Principles of Political Economy*, *Works*, ed. by MacCulloch, 1852, p. 15. – सं०

में वृद्धि का अर्थ उसकी मजदूरी से कोई वास्तविक कटौती नहीं है, अर्थात वह पूंजीपति के साधारण बेशी मूल्य से सर्वथा भिन्न चीज़ को व्यक्त करती है), औसत लाभ की वृद्धि से जनित जिंस दामों में चढ़ाव को परिवर्ती पूंजी की द्रव्य अभिव्यक्ति में वृद्धि के अनुरूप होना चाहिए। कुल निवेशित पूंजी के साथ वास्तविक बेशी मूल्य के अनुपात द्वारा प्रदत्त सीमा के ऊपर लाभ दर और औसत लाभ में ऐसी सामान्य नामिक वृद्धि व्यवहार में मजदूरी में वृद्धि किये, और स्थिर पूंजी का निर्माण करनेवाली जिंसों के दामों में भी वृद्धि किये बिना संभव नहीं है। कटौती के मामले में इसका उलट सही होगा। चूंकि जिंसों का कुल मूल्य कुल बेशी मूल्य को नियमित करता है, और अपनी बारी में यह औसत लाभ के स्तर को और उससे सामान्य लाभ दर को—एक सामान्य नियम अथवा उतार-चढ़ाव को शासित करनेवाले नियम के रूप में—नियमित करता है, इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि मूल्य का नियम उत्पादन दामों को नियमित करता है।

प्रतिद्वंद्विता, पहले एक अकेले क्षेत्र में, जो हासिल करती है, वह जिंसों के विभिन्न व्यष्टिक मूल्यों से व्युत्पन्न एक एकल बाज़ार मूल्य और बाज़ार दाम है। और यह विभिन्न क्षेत्रों में पूंजियों की प्रतिद्वंद्विता ही है कि जो पहले उत्पादन दामों को उत्पन्न करती है, जो विभिन्न क्षेत्रों में लाभ दरों को समकारित करते हैं। अंतोक्त प्रक्रिया पूंजीवादी उत्पादन के पहलेवाले से उच्चतर विकास की अपेक्षा करती है।

एक ही उत्पादन क्षेत्र, एक ही प्रकार, और लगभग एक ही कोटि की जिंसों के अपने मूल्यों पर बिकने के लिए निम्न दो अपेक्षाएं आवश्यक हैं:

पहली, भिन्न-भिन्न व्यष्टिक मूल्यों को **एक** सामाजिक मूल्य, उपरोक्त बाज़ार मूल्य, पर समकृत होना चाहिए, और इसमें एक ही प्रकार की जिंसों के उत्पादकों में प्रतिद्वंद्विता का होना, और, इसी प्रकार, एक सामान्य बाज़ार का, जिसमें वे अपने माल विक्रयार्थ रखते हैं, होना भी सन्निहित है। एक जैसी, तथापि, प्रत्येक भिन्न-भिन्न व्यष्टिक परिस्थितियों के अंतर्गत उत्पादित, जिंसों के बाज़ार दाम के बाज़ार मूल्य के अनुरूप होने और न तो उसके ऊपर चढ़कर और न ही उसके नीचे गिरकर उससे विचलन न करने के लिए यह आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न विक्रेताओं द्वारा एक दूसरे पर डाला जानेवाला दबाव सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के वास्ते बाज़ार में पर्याप्त जिंसें लाने के लिए काफ़ी हो, अर्थात ऐसी मात्रा कि जिसका समाज बाज़ार मूल्य देने की क्षमता रखता हो। अगर उत्पाद संहति इस मांग से अधिक होगी, तो जिंसों को उनके बाज़ार मूल्य से कम पर बेचना होगा; और विलोमतः, अगर उत्पाद संहति मांग को पूरा करने के लिए काफ़ी न हो, अथवा, जो एक ही बात है, अगर विक्रेताओं में प्रतिद्वंद्विता का दबाव इतना प्रबल न हो कि इस उत्पाद संहति को बाज़ार में ला सके, तो उन्हें उनके बाज़ार मूल्य से अधिक पर बेचना होगा। अगर बाज़ार मूल्य बदलता है, तो इसमें उन शर्तों में परिवर्तन भी सन्निहित होगा, जिन पर कुल जिंस संहति को बेचा जा सकता है। अगर बाज़ार मूल्य गिरता है, तो इसमें औसत सामाजिक मांग (इसका मतलब हमेशा प्रभावी मांग ही लगाया जाता है) में चढ़ाव सन्निहित होगा, जो कुछ सीमाओं के भीतर, अधिक बड़ी जिंस संहतियों को जज्ब कर सकती है। अगर बाज़ार मूल्य चढ़ता है, तो इसमें सामाजिक मांग में गिरावट सन्निहित होगी और जिंसों की अल्पतर संहति जज्ब होगी। अतः, यदि पूर्ति और मांग बाज़ार दाम को, अथवा यों कहिये कि बाज़ार दाम के बाज़ार मूल्य से विचलनों को नियमित करती हैं, तो, अपनी बारी में, बाज़ार मूल्य पूर्ति के मांग के साथ अनुपात को,

अथवा उस केंद्र को नियमित करता है, जिसके आसपास पूर्ति और मांग के उतार-चढ़ाव बाजार दामों को घटाते-बढ़ाते हैं।

अधिक सूक्ष्मता से देखें, तो हम पाते हैं कि किसी अलग जिंस के मूल्य पर लागू होनेवाली शर्तें यहां निश्चित तरह की जिंस के सम्मुचय के मूल्य को शासित करनेवाली शर्तों की तरह पुनरुत्पादित होती हैं। पूंजीवादी उत्पादन आरंभ से ही पुंज उत्पादन होता है। किंतु दूसरी, कम विकसित उत्पादन पद्धतियों में भी छोटे पैमाने के, चाहे बहुत से ही सही, उत्पादकों द्वारा अपेक्षाकृत अल्प मात्राओं में सामान्य उत्पाद की तरह जो उत्पादित किया जाता है, वह – कम से कम अत्यावश्यक जिंसों के मामले में – बड़ी मात्राओं में अपेक्षाकृत थोड़े ही व्यापारियों के हाथों में संकेंद्रित हो जाता है। वे उन्हें संचित कर लेते हैं और उन्हें एक पूरी उत्पादन शाखा, अथवा उसके कमोबेश ख़ासे बड़े हिस्से के साझे उत्पाद के रूप में बेचते हैं।

यहां प्रसंगवश इसका उल्लेख कर देना चाहिए कि "सामाजिक मांग", अर्थात वह कारक कि जो मांग को नियमित करता है, तत्वतः भिन्न-भिन्न वर्गों के पारस्परिक संबंध और उनकी आर्थिक स्थितियों के, इसलिए विशेषकर पहले तो, कुल बेशी मूल्य के मज़दूरी के साथ अनुपात के, और दूसरे, बेशी मूल्य जिन विभिन्न भागों में विभक्त होता है (लाभ, ब्याज, किराया ज़मीन, कर, आदि), उनके संबंध के अधीन होता है। और इस प्रकार यह फिर यही दर्शाता है कि पूर्ति के मांग के साथ संबंध द्वारा, यह पता लगाने के पहले कि इस संबंध का आधार कसा है, बिलकुल किसी भी चीज़ की व्याख्या नहीं की जा सकती।

यद्यपि जिंस और द्रव्य, दोनों विनिमय मूल्य तथा उपयोग मूल्य की एकान्विति को प्रकट करते हैं, फिर भी हम पहले ही देख चुके हैं (Buch I, Kap. 1, 3)* कि क्रय तथा विक्रय में ये दोनों कृत्य दोनों चरमों पर ध्रुवित हो जाते हैं, जिनमें जिंस (विक्रेता) उपयोग मूल्य को प्रकट करती है और द्रव्य (क्रेता) विनिमय मूल्य को। विक्रय की एक प्रारंभिक आधारिका यह थी कि जिंस में उपयोग मूल्य होना चाहिए और इसलिए उसे एक सामाजिक आवश्यकता को तुष्ट करना चाहिए। दूसरी आधारिका यह थी कि जिंस में समाविष्ट श्रम की मात्रा को सामाजिक रूप में आवश्यक श्रम को प्रकट करना चाहिए, अर्थात उसके व्यष्टिक मूल्य (और, प्रस्तुत कल्पना के अनुसार जिसका वही अर्थ है, उसके विक्रय दाम) को उसके सामाजिक मूल्य के साथ मेल खाना चाहिए।[28]

आइये, इसे बाज़ार में प्राप्य जिंस संहति पर लागू करें, जो एक पूरे क्षेत्र के उत्पाद को प्रकट करती है।

अगर उद्योग की **एक** शाखा द्वारा उत्पादित जिंसों की सारी संहति को **एक** जिंस, और अनेक एक जैसी जिंसों के दामों के योगफल को **एक** दाम मान लिया जाये, तो मामला और भी सुगम हो जायेगा। एक अलग जिंस के बारे में जो कुछ भी कहा गया है, तब वह बाज़ार में प्राप्य एक संपूर्ण उत्पादन शाखा की जिंस संहति पर लागू हो जाता है। यह अपेक्षा अब पूरी हो जाती है, अथवा और भी निश्चित हो जाती है कि किसी जिंस के व्यष्टिक मूल्य को उसके सामाजिक मूल्य के अनुरूप होना चाहिए, क्योंकि संहति में अपने उत्पादन के लिए आव-

---

*'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, अध्याय १,३। – सं०

[28] Karl Marx, *Zur Kritik der politischen Oekonomie*, Berlin, 1859.

श्यक सामाजिक श्रम समाविष्ट है और क्योंकि इस संहति का मूल्य उसके बाज़ार मूल्य के बराबर है।

अब मान लीजिये कि इन जिंसों का अधिकांश लगभग समान सामान्य सामाजिक अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित होता है, जिससे कि यह मूल्य साथ ही इस संहति का निर्माण करनेवाली अलग-अलग जिंसों का व्यष्टिक मूल्य भी है। अब अगर ऐसा हो कि इन जिंसों का अपेक्षाकृत छोटा भाग इन अवस्थाओं से बदतर, और दूसरा बेहतर अवस्थाओं में उत्पादित किया गया हो, जिससे कि एक अंश का व्यष्टिक मूल्य जिंस राशि के औसत मूल्य से न्यून और दूसरे का उससे अधिक हो, किंतु ऐसे अनुपातों में कि ये चरम एक दूसरे को संतुलित कर लेते हैं, जिससे कि इन चरमों पर जिंसों का औसत मूल्य केंद्र में जिंसों के मूल्य के बराबर है, तो बाज़ार मूल्य औसत अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसों के मूल्य द्वारा निर्धारित किया जाता है।[29] संपूर्ण जिंस संहति का मूल्य समूचे तौर पर सभी अलग-अलग जिंसों के मूल्यों के वास्तविक योग के बराबर होता है, ये जिंसें चाहे औसत अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित हों, अथवा औसत से बेहतर या बदतर अवस्थाओं के अंतर्गत। इस हालत में जिंस संहति का बाज़ार मूल्य, अथवा सामाजिक मूल्य – उनमें समाविष्ट आवश्यक श्रम काल – प्रधान माध्य संहति के मूल्य द्वारा निर्धारित होता है।

इसके विपरीत, मान लीजिये कि बाज़ार में लायी जानेवाली विचाराधीन जिंसों की कुल संहति उतनी ही बनी रहती है, जबकि कम अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसों का मूल्य अधिक अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसों के मूल्य को प्रतिसंतुलित नहीं कर पाता है, जिससे कि संहति का कम अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित हिस्सा औसत संहति की तुलना में और दूसरे चरम की तुलना में भी अपेक्षाकृत गुरुतर मात्रा का निर्माण करता है। इस हालत में कम अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित संहति बाज़ार, अथवा सामाजिक, मूल्य को नियमित करती है।

आख़िर में, मान लीजिये कि औसत से बेहतर अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसों की संहति ख़राब अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंस संहति के मुक़ाबले ख़ासी ज्यादा है, और औसत अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित संहति की तुलना तक में अधिक है। इस हालत में बाज़ार मूल्य का निर्धारण सबसे अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित हिस्सा करता है। हम यहां पटे हुए बाज़ार को नजरअंदाज कर देते हैं, जिसमें हमेशा सबसे अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित होनेवाला हिस्सा ही बाज़ार दाम को नियमित करता है। हम यहां बाज़ार दाम, जिस सीमा तक वह बाज़ार मूल्य से भिन्न होता है, का नहीं, बल्कि स्वयं बाज़ार मूल्य के विभिन्न निर्धारणों का विवेचन कर रहे हैं।[30]

---

[29] वही।

[30] किराया ज़मीन के बारे में श्तोर्ख़ तथा रिकार्डो में यह विवाद (जो केवल विषय से ही संबद्ध है और जिसमें वास्तव में दोनों विरोधी एक दूसरे की तरफ़ कोई ध्यान नहीं देते) कि बाज़ार मूल्य (अथवा जिसे वे क्रमशः बाज़ार दाम और उत्पादन दाम कहते हैं) प्रतिकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसों द्वारा नियमित किया जाता है (रिकार्डो) [*On the Principles of Political Economy, and Taxation*, Third edition, London, 1821, pp. 60-61. – सं०], अथवा अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसों द्वारा (श्तोर्ख़) [*Cours d'économie politique, ou exposition de sprincipes, qui déterminent la prosperité*

दरअसल, प्रसंग I में, औसत मूल्यों द्वारा नियमित किये जाने के कारण, समस्त संहति का बाजार मूल्य, सही अर्थों में (वह वास्तव में निस्संदेह हजारों आपरिवर्तनों के साथ मोटा अनुमान ही होता है) उनके व्यष्टिक मूल्यों के योगफल के बराबर होता है; यद्यपि चरमों पर उत्पादित जिंसों के मामले में इस मूल्य को एक ऐसे औसत की तरह व्यक्त किया जाता है कि जो उन पर थोपा हुआ होता है। तब सबसे ख़राब चरम पर उत्पादन करनेवालों को अपनी जिंसों को व्यष्टिक मूल्य से कम पर बेचना होता है; सबसे अच्छे चरमों पर उत्पादन करनेवाले उन्हें उससे अधिक पर बेचते हैं।

प्रसंग II में दोनों चरमों पर उत्पादित जिंस मूल्यों के अलग-अलग ढेर एक दूसरे को संतुलित नहीं करते, बल्कि मामले को सबसे ख़राब अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित ढेर ही निर्णीत करता है। सही अर्थों में, प्रत्येक जिंस का, अथवा कुल संहति के प्रत्येक अशेषभाजक अंश का औसत दाम, अथवा बाजार मूल्य अब भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसों के मूल्यों को जोड़ने से प्राप्त संहति के कुल मूल्य द्वारा, और इस प्रकार कुल मूल्य के प्रत्येक जिंस के हिस्से में आनेवाले अशेषभाजक अंश के अनुसार निर्धारित होगा। इस प्रकार प्राप्त बाज़ार मूल्य न केवल अनुकूल चरम की जिंसों के ही, बल्कि औसत ढेर की जिंसों के व्यष्टिक मूल्य से भी अधिक होगा। लेकिन अब भी वह प्रतिकूल चरम पर उत्पादित जिंसों के व्यष्टिक मूल्य से कम ही होगा। बाजार मूल्य अंतोक्त के कितना निकट आ जाता है, अथवा अंततः उसके साथ मेल खा जाता है, यह पूर्णतः विचाराधीन जिंस क्षेत्र के प्रतिकूल चरम पर उत्पादित जिंसों के परिमाण पर निर्भर करेगा। अगर मांग पूर्ति से किंचित मात्र ही अधिक है, तो प्रतिकूलतः उत्पादित जिंसों का व्यष्टिक मूल्य बाजार दाम को निर्धारित करता है।

अंततः, अगर प्रतिकूल चरम पर उत्पादित जिंसों का ढेर दूसरे चरम की, और औसत ढेर की भी बनिस्बत ज्यादा है, जैसा कि प्रसंग III में होता है, तो बाज़ार मूल्य औसत मूल्य के नीचे गिर जाता है। औसत मूल्य, जिसे दोनों चरमों तथा मध्य के मूल्यों की राशियों को जोड़कर अभिकलित किया जाता है, यहां मध्य के मूल्य के नीचे ही रहता है, और अनुकूल चरम पर उत्पादित भाग के आपेक्षिक परिमाण के अनुसार वह उसके निकट आता है, अथवा विलोमतः इसका उलटा होता है। अगर मांग पूर्ति से कमज़ोर हुई, तो अनुकूल स्थितिवाला भाग, उसका परिमाण चाहे कुछ हो, अपने दाम को अपने व्यष्टिक मूल्य के बराबर करके

---

des nations, tome II, St.-Pétersbourg, 1815, pp. 78-79. — सं०], अंतिम विश्लेषण में अपने को इसमें परिणत कर लेता है कि दोनों सही हैं और दोनों ही ग़लत हैं, और दोनों ही औसत मामले का विवेचन नहीं कर पाये हैं। उन मामलों के बारे में, जिनमें दाम सबसे अनुकूल अवस्थाओं के अतर्गत उत्पादित जिंसों द्वारा नियमित किया जाता है, Corbet, [*An Inquiry into the Causes and Modes of the Wealth of Individuals*, London, 1841, pp. 42-44. — सं०] से तुलना कीजिये – "उनका" (रिकार्डो का) "आशय यह दावा करना नहीं है कि दो भिन्न जिंसों, यथा टोप और जूते का जोड़ा, के दो खास ढेर एक दूसरे से तब विनिमीत होते हैं कि जब ये दोनो खास ढेर श्रम की समान मात्राओं द्वारा ही उत्पादित किये गये थे। हमें यहां 'जिंस' का मतलब 'जिंस की क़िस्म' लगाना चाहिए, न कि कोई ख़ास अलग टोप, जूते का जोड़ा, आदि। वह सारा श्रम, जो इंगलैंड में सारे टोप उत्पादित करता है, इस प्रयोजन के लिए सभी टोपों में विभाजित समझा जाना चाहिए। मुझे लगता है कि इस बात को पहले, और इस मत के सामान्य निरूपण में, व्यक्त नहीं किया गया है।" (*Observations on Certain Verbal Disputes in Political Economy, etc.*, London, 1821, pp. 53-54.)

अपने लिए ज़बरदस्ती जगह बना लेता है। सिवा उस स्थिति के कि जब पूर्ति मांग से बहुत अधिक होती हैं, बाज़ार मूल्य कभी सबसे अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसों के इस व्यष्टिक मूल्य के समरूप नहीं हो सकता।

बाज़ार मूल्यों का निर्धारण करने की यह **अमूर्त** ढंग से पेश की गयी पद्धति वास्तविक मंडी में क्रेताओं के बीच प्रतिद्वंद्विता द्वारा संवर्धित होती है, बशर्ते कि मांग इतनी काफ़ी हो कि इस प्रकार निर्धारित मूल्यों पर जिंस संहति को जज़्ब कर सके। और इससे हम दूसरे मुद्दे पर पहुंच जाते हैं।

दूसरी अपेक्षा। यह कहना कि जिंस का उपयोग मूल्य होता है, महज़ यह कहने के बराबर ही है कि वह किसी सामाजिक आवश्यकता की तुष्टि करती है। जब तक हमारा साबिक़ा अलग-अलग जिंसों से ही था, हम यह कल्पना कर सकते थे कि किसी जिंस विशेष की आवश्यकता है – उसकी मात्रा उसके दाम द्वारा पहले ही सूचित होती थी – और हमें इस आवश्यकता की तुष्टि करने के लिए अपेक्षित मात्रा की और अधिक पड़ताल करने की कोई ज़रूरत नहीं होती थी। लेकिन एक पूरी उत्पादन शाखा के उत्पाद के एक तरफ़, और उसकी सामाजिक आवश्यकता के दूसरी तरफ़ रखे जाने के साथ यह मात्रा तात्विक महत्व की हो जाती है। तब इस सामाजिक आवश्यकता के विस्तार, अर्थात उसके परिमाण का विवेचन करना ज़रूरी हो जाता है।

बाज़ार दाम के पूर्वोक्त निर्धारणों में यह माना गया था कि उत्पादित जिंसों की संहति नियत होती है, अर्थात उतनी ही बनी रहती है, और परिवर्तन केवल उसके संघटक तत्वों के अनुपातों में ही होता है, जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित होते हैं, और इसलिए उसी जिंस संहति के बाज़ार मूल्य का नियमन अलग-अलग होता है। इस संभावना को अलग रखते हुए कि उत्पादित जिंसों का एक अंश अस्थायी रूप में बाज़ार से हटाया जा सकता है, मान लीजिये कि आकार में यह संहति पूर्ति के अनुरूप है। अब अगर इस संहति के लिए मांग भी उतनी ही बनी रहती है, तो पूर्वोक्त तीनों प्रसंगों में से चाहे कोई भी इस बाज़ार मूल्य को नियमित करता हो, यह जिंस अपने बाज़ार मूल्य पर ही बिकेगी। यह जिंस संहति न केवल एक आवश्यकता की तुष्टि ही करती है, बल्कि उसे उसकी पूरी सामाजिक सीमा तक तुष्ट करती है। लेकिन अगर इन जिंसों की मात्रा उनकी मांग की तुलना में कम या ज्यादा हुई, तो बाजार मूल्य से बाज़ार दाम के विचलन पैदा हो जायेंगे। और पहला विचलन यह है कि अगर पूर्ति बहुत थोड़ी है, तो बाज़ार मूल्य हमेशा न्यूनतम अनुकूल परिस्थितियों के अंतर्गत उत्पादित जिंसों द्वारा नियमित किया जाता है, अगर पूर्ति बहुत अधिक है, तो हमेशा सबसे अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंसों द्वारा; इसलिए बाज़ार मूल्य इस तथ्य के बावजूद चरमों में से एक के द्वारा ही निर्धारित किया जाता है कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित जिंस संहतियों के मात्र अनुपात के अनुसार जो परिणाम प्राप्त होता है, वह भिन्न होना चाहिए। अगर मांग और उत्पाद की उपलभ्य मात्रा के बीच अंतर ख़ासा ज्यादा है, तो बाजार दाम भी इसी प्रकार बाज़ार मूल्य से काफ़ी ऊंचा या नीचा होगा। लेकिन उत्पादित जिंसों की मात्रा और उनकी जो मात्रा बाज़ार मूल्य पर बेची जाती है, उसके बीच अंतर के दो कारण हो सकते हैं। या तो मात्रा स्वयं, बहुत छोटी या बहुत बड़ी बनकर, बदल जाती है, जिससे कि पुनरुत्पादन उससे भिन्न पैमाने पर हुआ होगा, जिसने नियत बाज़ार मूल्य को नियमित किया था। इस हालत में पूर्ति में परिवर्तन आया था, यद्यपि मांग उतनी ही बनी रही थी, और इसलिए आपेक्षिक अत्युत्पादन अथवा न्यूनोत्पादन हुआ था। या पुनरुत्पादन, और इस प्रकार पूर्ति, उतने

ही बने रहे, जबकि मांग घटी या बढ़ी, जिसके श्रनेक कारण हो सकते हैं। यद्यपि पूर्ति का निरपेक्ष परिमाण उतना ही था, किंतु उसका श्रापेक्षिक परिमाण, मांग की सापेक्षता में, श्रथवा मांग से मापने पर, बदल गया था। प्रभाव वही है, जो पहले प्रसंग में है, किंतु विपरीत दिशा में है। श्रंततः, श्रगर परिवर्तन दोनों श्रोर, किंतु या तो विपरीत दिशाश्रों में, या श्रगर उसी दिशा में, तो भी उसी सीमा तक नहीं, होते हैं, दूसरे शब्दों में, श्रगर परिवर्तन दोनों ही तरफ़ श्राते हैं, लेकिन साथ ही दोनों तरफ़ों के बीच के पहलेवाले श्रनुपातों को बदल देते हैं, तो श्रंतिम परिणाम सदा उपरोक्त दोनों प्रसंगों में से किसी एक की तरफ़ ही ले जायेगा।

पूर्ति श्रौर मांग की सामान्य परिभाषा को निरूपित करने में वास्तविक कठिनाई यह है कि यह सदा पुनरुक्ति का रूप लेती ही प्रतीत होती है। पहले पूर्ति को ही ले लीजिये – बाज़ार में उपलब्ध उत्पाद, श्रथवा वह उत्पाद कि जो बाज़ार में पहुंचाया जा सकता है। निरर्थक ब्यौरे में न पड़ने के लिए हम यहां केवल प्रत्येक नियत उत्पादन शाखा में प्रति वर्ष उत्पादित संहति को ही लेंगे श्रौर विभिन्न जिंसों की बाज़ार से निकाले जाने श्रौर उपभोग के निमित्त, मसलन, श्रगले साल तक, भंडार में रख दिये जाने की न्यूनाधिक क्षमता की उपेक्षा करेंगे। इस जिंस संहति को फुटकर में मापा जाता है या थोक में, इसके श्रनुसार इस वार्षिक पुनरुत्पादन को एक ख़ास मात्रा – भार में श्रथवा संख्या – द्वारा प्रकट किया जाता है। ये केवल मानव श्रावश्यकताश्रों की तुष्टि करनेवाले उपयोग मूल्य ही नहीं हैं, बल्कि ये उपयोग मूल्य बाज़ार में निश्चित मात्राश्रों में उपलब्ध होते हैं। दूसरे, जिंसों की इस मात्रा का एक विशिष्ट बाज़ार मूल्य होता है, जिसे जिंस के बाज़ार मूल्य के एक गुणज द्वारा, श्रथवा इकाई का काम देनेवाले श्रपने माप द्वारा प्रकट किया जा सकता है। इस प्रकार बाज़ार में जिंसों के मात्रात्मक परिमाण श्रौर उनके बाज़ार मूल्य में कोई श्रनिवार्य संबंध नहीं होता, क्योंकि, मिसाल के लिए, कुछ जिंसों का विशिष्टतः ऊंचा मूल्य होता है, तो श्रन्यों का विशिष्टतः नीचा मूल्य होता है, जिससे कि मूल्यों की एक नियत राशि एक जिंस की बहुत बड़ी मात्रा द्वारा श्रौर दूसरी जिंस की बहुत कम मात्रा द्वारा प्रकट की जा सकती है। वस्तुश्रों की बाज़ार में उपलब्ध मात्रा श्रौर इन वस्तुश्रों के बाज़ार मूल्य के बीच केवल निम्न संबंध ही होता है : श्रम उत्पादिता के एक नियत श्राधार पर उत्पादन की प्रत्येक शाखा विशेष में वस्तुश्रों की एक ख़ास मात्रा के उत्पादन के लिए सामाजिक श्रम काल की एक निश्चित मात्रा श्रावश्यक होती है; यद्यपि भिन्न-भिन्न उत्पादन क्षेत्रों में यह श्रनुपात भिन्न होता है श्रौर उसका इन वस्तुश्रों की उपयोगिता श्रथवा उनके उपयोग मूल्यों की प्रकृति विशेष के साथ कोई श्रांतरिक संबंध नहीं होता। श्रगर मान लें कि श्रन्य सभी परिस्थितियां समान हैं, श्रौर किसी जिंस की एक ख़ास मात्रा a का मोल b श्रम काल है, तो उसी जिंस की na मात्रा का मोल nb श्रम काल होगा। इसके श्रलावा, श्रगर समाज किसी श्रावश्यकता को तुष्ट करना चाहता है श्रौर इस प्रयोजन से कोई वस्तु उत्पादित कराना चाहता है, तो उसे उसका दाम चुकाना होगा। वस्तुतः, चूंकि जिंस उत्पादन के लिए श्रम विभाजन श्रावश्यक है, इसलिए समाज उपलभ्य श्रम काल के एक श्रंश को उसके उत्पादन पर लगाकर इस वस्तु का दाम चुकाता है। श्रतः, समाज उसे श्रपने प्रयोज्य श्रम काल की एक निश्चित मात्रा से ख़रीदता है। समाज का जो भाग श्रम विभाजन के ज़रिये श्रपने श्रम को इस वस्तु विशेष के उत्पादन में लगाता है, उसे वस्तुश्रों में समाविष्ट सामाजिक श्रम का समतुल्य प्राप्त होना चाहिए, जो स्वयं उसकी श्रावश्यकताश्रों को तुष्ट करता है। लेकिन, एक श्रोर, किसी सामाजिक वस्तु में प्रयुक्त सामाजिक श्रम की कुल मात्रा, श्रर्थात समाज की कुल श्रम शक्ति

के इस वस्तु के उत्पादनार्थ ग्रावंटित संखंड, ग्रथवा कुल उत्पादन में इस वस्तु के उत्पादन द्वारा लिये जानेवाले परिमाण, ग्रौर दूसरी ग्रोर, उस परिमाण के बीच कोई ग्रनिवार्य नहीं, वरन सांयोगिक संबंध ही होता है, जिससे समाज विचाराधीन वस्तु द्वारा परितोषित होनेवाली ग्राव-श्यकता को तुष्ट करने की कोशिश करता है। वस्तुतः, यह संभव है कि प्रत्येक पृथक वस्तु, ग्रथवा किसी जिंस की प्रत्येक निश्चित माला, में उसके उत्पादन के लिए ग्रावश्यक सामाजिक श्रम से ग्रधिक ग्रौर कुछ न हो, ग्रौर इस दृष्टिकोण से इस सारी जिंस का बाज़ार मूल्य केवल ग्रावश्यक श्रम को ही प्रकट करता है, लेकिन ग्रगर यह जिंस विद्यमान सामाजिक ग्रावश्यकताग्रों से ग्रधिक उत्पादित की गयी है, तो सामाजिक श्रम काल का उतना भाग फ़िज़ूल ख़र्च हुग्रा है ग्रौर जिंस संहति उसमें वास्तव में सामाजिक श्रम की जितनी माला समाविष्ट है, उससे कहीं कम माला को प्रकट करने लगती है। (उत्पादन जहां समाज के वास्तविक, पूर्वनिर्धारक नियंत्रण के ग्रधीन होता है, केवल वहां ही समाज निश्चित वस्तुग्रों के उत्पादन में लगाये जानेवाले सामाजिक श्रम काल के परिमाण, ग्रौर इन वस्तुग्रों द्वारा तुष्ट की जानेवाली सामाजिक ग्राव-श्यकता के परिमाण में संबंध स्थापित करता है।) इस कारण इन जिंसों को उनके बाज़ार मूल्य से कम पर बेचना पड़ता है ग्रौर उनका एक ग्रंश तो सर्वथा ग्रविक्रेय भी हो सकता है। ग्रगर किसी जिंस के उत्पादन में प्रयुक्त सामाजिक श्रम की माला इतनी कम हो कि उस जिंस की सामाजिक मांग को पूरा न कर पाये, तो इसकी उलटी बात होती है। लेकिन ग्रगर किसी वस्तु के उत्पादन में व्ययित सामाजिक श्रम की माला उस वस्तु के लिए सामाजिक मांग के ग्रनुरूप होती है, जिससे कि उत्पादित माला पुनरुत्पादन के सामान्य पैमाने के ग्रनुरूप होती है ग्रौर मांग ग्रपरिवर्तित बनी रहती है, तो वस्तु ग्रपने बाज़ार मूल्य पर बिकती है। जिंसों का ग्रपने मूल्य पर विनिमय ग्रथवा विक्रय ही तर्कसंगत स्थिति है, ग्रर्थात यह उनके संतुलन का नैसर्गिक नियम है। विचलनों की व्याख्या यह नियम करता है, न कि, इसके विपरीत, विचलन नियम की व्याख्या करते हैं।

ग्रब ग्राइये, दूसरे पक्ष – मांग – को लें।

जिंसों को या तो उत्पादन साधनों या निर्वाह साधनों के रूप में ख़रीदा जाता है, ताकि वे उत्पादक ग्रथवा व्यष्टिक उपभोग में प्रवेश कर सकें। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि कुछ जिंसें दोनों ही प्रयोजनों को पूरा कर सकती हैं। इस प्रकार उनके लिए उत्पादकों (यहां पूंजी-पतियों, क्योंकि हमने माना है कि उत्पादन साधन पूंजी में रूपांतरित हो चुके हैं) की ग्रौर उपभोक्ताग्रों की तरफ़ से मांग है। पहली निगाह में दोनों ही मांग के पक्ष में सामाजिक ग्राव-श्यकता की एक निश्चित माला को, जो कि पूर्ति पक्ष में विभिन्न उत्पादन शाखाग्रों के सामाजिक उत्पादन की एक निश्चित माला के ग्रनुरूप हो, पूर्वकल्पित मानते प्रतीत होते हैं। ग्रगर सूती उद्योग को नियत पैमाने पर ग्रपने वार्षिक पुनरुत्पादन की सिद्धि करनी है, तो उसके पास कपास की सामान्य पूर्ति होनी चाहिए, ग्रौर ग्रन्य परिस्थितियों के यथावत रहने पर, पूंजी के संचय से जनित पुनरुत्पादन के वार्षिक विस्तार के ग्रनुरूप कपास की ग्रतिरिक्त माला भी होनी चाहिए। निर्वाह साधनों के बारे में भी यह बात इतनी ही सही है। मजदूर वर्ग को ग्रगर ग्रपने ग्रभ्यासगत ग्रौसत ढंग से रहते रहना है, तो उसे जीवनावश्यक वस्तुग्रों की कम से कम उतनी ही माला प्राप्त होती रहनी चाहिए, यद्यपि वे विभिन्न प्रकार की जिंसों में कमोबेश भिन्न रूप में वितरित हो सकती हैं। इसके ग्रलावा, ग्राबादी की वार्षिक वृद्धि की गुंजाइश रखने के

लिए अतिरिक्त मात्रा भी होनी चाहिए। न्यूनाधिक आपरिवर्तनों के साथ अन्य वर्गों पर भी यही बात लागू होती है।

अतः, ऐसा प्रतीत होता है कि मांग पक्ष में निश्चित सामाजिक आवश्यकताओं का एक ख़ास परिमाण होता है, जो अपनी तुष्टि के लिए बाज़ार में किसी जिंस की एक निश्चित मात्रा की अपेक्षा करती हैं। लेकिन निश्चित सामाजिक आवश्यकताएं मात्रात्मक दृष्टि से बहुत लोचदार और परिवर्तनशील होती हैं। उनकी अचलता केवल आभासी ही होती है। अगर निर्वाह साधन सस्ते हुए होते, अथवा नक़द मजदूरी उच्चतर हुई होती, तो मजदूर उन्हें अधिक मात्रा में ख़रीदते और उनके वास्ते ज्यादा "सामाजिक जरूरत" पैदा हो जाती। यहां हम कंगालों, आदि की चर्चा नहीं कर रहे हैं, जिनकी "मांग" उनकी भौतिक आवश्यकताओं की न्यूनतम सीमाओं से भी नीचे होती है। दूसरी ओर, अगर, उदाहरण के लिए, कपास सस्ती हो, तो पूंजीपतियों की ओर से उसके लिए मांग बढ़ जायेगी, सूती उद्योग में और अतिरिक्त पूंजी झोंकी जायेगी, आदि। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि, हमारी कल्पना के अंतर्गत, उत्पादक उपभोग के लिए मांग पूंजीपति की मांग है, जिसका तात्विक उद्देश्य बेशी मूल्य का उत्पादन है, जिससे वह एक ख़ास जिंस का उत्पादन एकमात्र इसी लक्ष्य से करता है। फिर भी यह पूंजीपति को, जब तक कि वह बाज़ार में, मसलन, कपास के क्रेता की तरह आता है, इस कपास के लिए आवश्यकता का प्रतिनिधित्व करने से नहीं रोकता, जैसे कपास के विक्रेता के लिए भी यह महत्वहीन है कि क्रेता उसे क़मीजों के कपड़े में रूपांतरित करता है, या बारूदी रूई में, अथवा वह उसे स्वयं अपने, और सारी दुनिया के, कानों के लिए रूई की डाटों में बदलने की मंशा रखता है। लेकिन पूंजीपति किस प्रकार का क्रेता है, यह उस पर काफ़ी प्रभाव अवश्य डालता है। कपास के लिए उसकी मांग इस तथ्य से बहुत बदल जाती है कि वह उसकी मुनाफ़ा बनाने की वास्तविक आवश्यकता को छिपा लेती है। जिन सीमाओं के भीतर **बाजार** में जिंसों की आवश्यकता, मांग, **वास्तविक सामाजिक** आवश्यकता से मात्रात्मक रूप में भिन्न होती है, क़ुदरती तौर पर उनमें भिन्न जिंसों के लिए काफ़ी भिन्नता होती है; मेरा आशय जिंसों की अपेक्षित मात्रा और उस मात्रा के बीच अंतर से है, जिसकी अन्य नक़द दामों पर या क्रेताओं की अन्य द्रव्यगत अथवा निर्वाह अवस्थाओं में मांग होती।

मांग और पूर्ति की असंगतियों, और बाज़ार दामों के बाज़ार मूल्यों से तद्‌जनित विचलनों को समझना जितना आसान है, उतना और कुछ नहीं है। वास्तविक कठिनाई इसका निर्धारण करने में ही है कि पूर्ति और मांग के समीकरण का क्या अर्थ है।

पूर्ति और मांग में तब अनुरूपता आ जाती है, जब उनके पारस्परिक अनुपात ऐसे होते हैं कि एक निश्चित उत्पादन शाखा की उत्पादन संहति को अपने बाज़ार मूल्य पर, न उससे अधिक पर और न कम पर बेचा जा सकता है। यह तो हमारे सुनने में आनेवाली पहली बात है।

दूसरी बात यह है: अगर जिंसें अपने बाज़ार मूल्यों पर बिकती हैं, तो पूर्ति और मांग में अनुरूपता आ जाती है।

अगर पूर्ति मांग के बराबर हो जाती है, तो वे क्रिया करना बंद कर देती हैं, और इसी कारण जिंसें अपने बाज़ार मूल्यों पर बिकती हैं। जब भी दो शक्तियां विपरीत दिशाओं में समान रूप में काम करती हैं, वे एक दूसरी को संतुलित कर लेती हैं, कोई बाह्य प्रभाव नहीं डालतीं, और इन परिस्थितियों में घटनेवाली किन्हीं भी परिघटनाओं की व्याख्या इन दोनों शक्तियों के प्रभावों से अलग अन्य कारणों से करनी होती है। अगर पूर्ति और मांग एक

दूसरी को संतुलित कर लेती हैं, तो वे किसी भी चीज़ की व्याख्या करना बंद कर देती हैं, बाज़ार मूल्यों को प्रभावित करना बंद कर देती हैं और फलतः हमें इन कारणों के बारे में और भी अधिक अंधकार में डाल देती हैं कि बाज़ार मूल्य को क्यों केवल इसी द्रव्य राशि में व्यक्त किया जाता है, किसी और में क्यों नहीं। यह प्रत्यक्ष है कि पूंजीवादी उत्पादन के वास्तविक आंतरिक नियमों की व्याख्या पूर्ति तथा मांग की अंतःक्रिया से नहीं की जा सकती (इन दोनों सामाजिक प्रेरक शक्तियों के गहनतर विश्लेषण को छोड़कर, जो यहां प्रसंगेतर होगा), क्योंकि इन नियमों का अपनी शुद्ध अवस्था में प्रेक्षण केवल तब किया जा सकता है कि जब पूर्ति और मांग काम करना बंद कर देती हैं, अर्थात वे समीकृत हो जाती हैं। यथार्थ में पूर्ति तथा मांग कभी संपाती नहीं होतीं, और अगर ऐसा होता है, तो मात्र संयोग से, अतः वैज्ञानिक दृष्टि से यह = ० ही होगा, और इसे न हुआ ही माना जाना चाहिए। लेकिन राजनीतिक अर्थशास्त्र कल्पना करता है कि पूर्ति तथा मांग एक दूसरी की संपाती होती हैं। क्यों? इसलिए कि परिघटनाओं का उनके मूल संबंधों में, अर्थात उनकी संकल्पना के अनुरूप रूप में अध्ययन कर पाना उनका पूर्ति तथा मांग की गतियों से जनित स्वरूपों से स्वतंत्र अध्ययन करने जैसा ही है। दूसरा कारण उनकी गतियों की वास्तविक प्रवृत्तियों का पता चलाना और किसी हद तक उन्हें अभिलिखित करना है। चूंकि असंगतियां अंतर्विरोधी प्रकृति की होती हैं और चूंकि वे निरंतर एक के बाद एक करके आती हैं, इसलिए वे अपनी विरोधी गतियों और अपने परस्पर अंतर्विरोध के कारण एक दूसरी को संतुलित कर देती हैं। फलतः चूंकि पूर्ति और मांग कभी किसी भी नियत प्रसंग में एक दूसरी के बराबर नहीं होतीं, इसलिए उनके अंतर एक दूसरे का इस प्रकार अनुगमन करते हैं – और एक दिशा में विचलन का परिणाम यह होता है कि वह दूसरी दिशा में विचलन उत्पन्न करता है – कि अगर समूची गति को एक निश्चित कालावधि के दौर में देखें, तो पूर्ति और मांग सदा समीकृत होती हैं, किंतु केवल विगत गतियों के औसत के रूप में, और उनके अंतर्विरोध की सतत गति के रूप में ही। इस प्रकार अपने बाज़ार मूल्यों से विचलित हुए बाज़ार दाम, उन्हें उनकी औसत संख्या की दृष्टि से देखने से, अपने को समन्वित करके बाज़ार मूल्यों के बराबर हो जाते हैं, क्योंकि बाज़ार मूल्यों से विचलन एक दूसरे को जोड़-बाक़ी के रूप में निराकृत कर देते हैं। और पूंजी के लिए यह मात्र सैद्धांतिक ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक महत्व का भी होता है, जिसका निवेश न्यूनाधिक स्थिर अवधि के उतार-चढ़ावों और प्रतिकारों के आधार पर परिकलित किया जाता है।

इसलिए, एक ओर, मांग तथा पूर्ति का संबंध केवल बाज़ार दामों के बाज़ार मूल्यों से विचलनों की ही व्याख्या करता है। दूसरी ओर, यह इन विचलनों को निरसित करने की, अर्थात मांग तथा पूर्ति के संबंध के प्रभाव को निरसित करने की प्रवृत्ति की व्याख्या करता है। (यहां उन अपवादों जैसी जिंसों पर विचार नहीं किया जा रहा है, जिनका दाम तो होता है, पर मूल्य नहीं होता।) पूर्ति और मांग अपने अंतर से जनित प्रभाव को अनेक भिन्न-भिन्न तरीक़ों से निरसित कर सकती हैं। मिसाल के लिए, अगर मांग, और फलतः बाज़ार दाम गिरते हैं, तो पूंजी निकाली जा सकती है, जिससे पूर्ति संकुचित हो जायेगी। यह भी हो सकता है कि ऐसे आविष्कारों के परिणामस्वरूप कि जो आवश्यक श्रम काल को घटा देते हैं, स्वयं बाज़ार मूल्य संकुचित हो जाये और बाज़ार दाम के साथ संतुलित हो जाये। विलोमतः, अगर मांग बढ़ती है और फलतः, बाज़ार दाम बाज़ार मूल्य से ऊपर हो जाता है, तो इसके परिणामस्वरूप इस उत्पादन शाखा में बहुत अधिक पूंजी प्रवाहित हो सकती है और उत्पादन इतनी

सीमा तक बढ़ जा सकता है कि बाज़ार दाम गिरकर बाज़ार मूल्य से भी कम हो जायें। अथवा इसके परिणामस्वरूप ऐसी क़ीमत वृद्धि हो सकती है, जो मांग को कम कर देगी। कुछ उत्पादन शाखाओं में इसके कारण न्यूनाधिक अवधि के लिए स्वयं बाज़ार मूल्य में भी चढ़ाव आ सकता है, क्योंकि इस अवधि में अपेक्षित उत्पादों के कुछ अंश को सबसे ख़राब अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित करना पड़ता है।

यदि पूर्ति तथा मांग बाज़ार दाम को निर्धारित करती हैं, तो बाज़ार दाम, और गहनतर विश्लेषण में, बाज़ार मूल्य इसी प्रकार पूर्ति और मांग को निर्धारित करते हैं। मांग के मामले में यह प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह दामों के विपरीत दिशा में चलती है– जब दाम गिरते हैं, तो वह चढ़ती है, और इसी प्रकार विलोमतः भी। लेकिन यह बात पूर्ति के बारे में भी सही है। कारण कि पेश की गयी जिंसों में समाविष्ट उत्पादन साधनों की क़ीमतें इन उत्पादन साधनों की मांग को, और इस प्रकार इन जिंसों की पूर्ति को निर्धारित करती हैं, जिनकी पूर्ति में इन उत्पादन साधनों की मांग भी आ जाती है। सूती चीज़ों की पूर्ति में निर्धारक कपास के दाम होते हैं।

इस उलझन में–दामों का मांग और पूर्ति के ज़रिये निर्धारण, और, साथ ही, मांग और पूर्ति का दामों के ज़रिये निर्धारण–यह भी जोड़ा जाना चाहिए कि मांग पूर्ति को निर्धारित करती है, जैसे पूर्ति मांग को निर्धारित करती है, और उत्पादन बाज़ार का निर्धारण करता है, जैसे बाज़ार उत्पादन का निर्धारण करता है।[31]

---

[31] निम्न बारीकबीनी कोरी बकवास है: "जहां किसी वस्तु को उत्पादित करने के लिए अभीष्ट मजदूरी, पूंजी और ज़मीन की मात्रा जो पहले थी, उससे भिन्न हो जाती है, वहां जिसे ऐडम स्मिथ उसका नैसर्गिक दाम कहते हैं, वह भी भिन्न हो जाता है, और वह दाम कि जो पहले उसका नैसर्गिक दाम था, इस परिवर्तन के संदर्भ में उसका बाज़ार दाम हो जाता है, हालांकि पूर्ति और अभीष्ट मात्रा नहीं भी बदल सकती हैं"–मगर यहां दोनों ही बदलती हैं, ठीक इसलिए कि मूल्य में परिवर्तन के परिणामस्वरूप बाज़ार मूल्य, अथवा जैसे कि ऐडम स्मिथ कहते हैं, उत्पादन दाम, बदल जाता है–"यह पूर्ति अब उन लोगों के लिए यथार्थतः पर्याप्त नहीं होती, जो, अब जो उत्पादन लागत है, वह देने की क्षमता रखते हैं और देने के लिए तैयार हैं, मगर उससे या तो अधिक या कम होती है; जिससे कि पूर्ति का और नयी उत्पादन लागत के संदर्भ में अब जो प्रभावी मांग है, उसका अनुपात पहले से भिन्न हो जाता है। फलतः, अगर उसके रास्ते में कोई बाधा नहीं है, तो पूर्ति की दर में परिवर्तन आ जायेगा और अंततः, जिंस को उसके नये नैसर्गिक दाम पर ले आयेगा। अतः, कुछ लोगों को यह कहना उपयुक्त लग सकता है कि चूंकि जिंस अपनी पूर्ति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप अपने नैसर्गिक दाम पर पहुंचती है, इसलिए नैसर्गिक दाम भी उसी हद तक मांग तथा पूर्ति के एक अनुपात पर निर्भर करता है, जिस हद तक बाजार दाम दूसरे अनुपात पर करता है; और फलतः, नैसर्गिक दाम, बिलकुल बाज़ार दाम की भांति ही, उस अनुपात पर निर्भर करता है, जो मांग और पूर्ति का एक दूसरी के साथ होता है।" ("मांग और पूर्ति के महान सिद्धांत का प्रयोग उसका निर्धारण करने के लिए किया जाता है, जिसे ऐ० स्मिथ नैसर्गिक दामों के अलावा बाज़ार दाम भी कहते हैं।"–माल्थस।) [*Principles of Political Economy*, London, 1820, p. 75.–सं०] (*Observations on Certain Verbal Disputes, etc.*, London, 1821, pp. 60-51.) यह तथ्य इस भले आदमी की पकड़ में नहीं आता कि प्रस्तुत प्रसंग में यह उत्पादन लागत और इस प्रकार मूल्य में परिवर्तन ही है कि जिसने मांग में और इस प्रकार मांग तथा पूर्ति के अनुपात में परिवर्तन उत्पन्न किया है, और मांग में यह परिवर्तन पूर्ति में परिवर्तन ला सकता है। हमारे

साधारण अर्थशास्त्री तक (पादटिप्पणी देखिये) मानता है कि पूर्ति तथा मांग का अनुपात बाह्य परिस्थितियों द्वारा मांग अथवा पूर्ति में उत्पन्न किसी परिवर्तन के बिना भी जिंसों के बाज़ार मूल्य में परिवर्तन के परिणामस्वरूप बदल सकता है। उसे भी यह मानना होगा कि बाज़ार मूल्य चाहे कुछ हो, उसके सुस्थापित होने के लिए पूर्ति और मांग का परस्पर अनुरूप होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, मांग के साथ पूर्ति का अनुपात बाज़ार मूल्य की व्याख्या नहीं करता, बल्कि उलटे, बाज़ार मूल्य ही पूर्ति और मांग के उतार-चढ़ावों की व्याख्या करता है। पादटिप्पणी में उद्धृत अंश के बाद *Observations* का लेखक आगे कहता है: "लेकिन अगर 'मांग' और 'नैसर्गिक दाम' से हमारा आशय अब भी वही हो, जो अभी ऐडम स्मिथ के प्रसंग में था, तो इस" (मांग और पूर्ति के बीच) "अनुपात को हमेशा समानता का अनुपात ही होना होगा; क्योंकि जब पूर्ति प्रभावी मांग के, अर्थात उस मांग के कि जो नैसर्गिक दाम से न अधिक देना चाहती है, न कम, बराबर होती है, केवल तब ही नैसर्गिक दाम की वास्तव में अदायगी होती है; फलतः, हो सकता है कि उसी जिंस के अलग-अलग समयों पर दो बहुत भिन्न नैसर्गिक दाम हों, और फिर भी पूर्ति का मांग के साथ जो अनुपात है, वह दोनों ही मामलों में उतना ही, अर्थात समानता का अनुपात, बना रहे।" अतः, यह स्वीकार किया जाता है कि उसी जिंस के अलग-अलग समय दो भिन्न नैसर्गिक दाम हों, तो अगर जिंस को दोनों ही प्रसंगों में अपने नैसर्गिक दाम पर बिकना है, तो मांग तथा पूर्ति सदा एक दूसरी को संतुलित कर सकती हैं और अवश्य करती हैं। चूंकि किसी भी प्रसंग में मांग से पूर्ति के अनुपात में कोई अंतर नहीं है, वरन स्वयं नैसर्गिक दाम के परिमाण में ही अंतर है, निष्कर्ष यह निकलता है कि यह दाम प्रत्यक्षतः मांग और पूर्ति से स्वतंत्र रूप में निर्धारित होता है और इस प्रकार उनके द्वारा कदापि नहीं निर्धारित किया जा सकता।

किसी जिंस के अपने बाज़ार मूल्य पर, अर्थात उसमें समाविष्ट आवश्यक सामाजिक श्रम के यथानुपात बिकने के लिए यह आवश्यक है कि इस माल की कुल संहति उत्पादित करने में प्रयुक्त सामाजक श्रम की कुल मात्रा उसके लिए सामाजिक आवश्यकता की मात्रा के, अर्थात प्रभावी सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप हो। प्रतिद्वंद्विता, बाज़ार दामों की घट-बढ़, जो मांग तथा पूर्ति के उतार-चढ़ाव के अनुरूप होती हैं, प्रत्येक प्रकार की जिंस में लगनेवाली श्रम की कुल मात्रा को निरंतर इस पैमाने पर लाने का प्रयास करती हैं।

पूर्ति और मांग का अनुपात एक तो विनिमय मूल्य से उपयोग मूल्य के, द्रव्य से जिंस के, और विक्रेता से क्रेता के; और दूसरे, उपभोक्ता से उत्पादक के, यद्यपि ये दोनों तीसरे पक्षों – व्यापारियों – द्वारा प्रतिनिधित हो सकते हैं, संबंध को पुनरावर्तित करता है। क्रेता तथा विक्रेता का विचार करते समय उनके संबंध को प्रकट करने के लिए उन्हें अलग-अलग एक दूसरे के सामने रख देना काफ़ी रहता है। किसी जिंस के संपूर्ण रूपांतरण के लिए, और इसलिए समूचे तौर पर क्रय-विक्रय प्रक्रिया के लिए, तीन व्यक्ति काफ़ी होते हैं। **क** अपने माल को **ख** के द्रव्य में परिवर्तित कर लेता है, जिसे वह अपना माल बेचता है, और जब वह **ग** से कुछ

यह भले विचारक जिस बात को सिद्ध करना चाहते हैं, यह तो उससे बिलकुल उलटी ही बात को सिद्ध करेगी। इससे यह साबित होगा कि उत्पादन लागत में परिवर्तन किसी भी प्रकार मांग तथा पूर्ति के अनुपात के कारण नहीं होता, बल्कि, इसके विपरीत, इस अनुपात को नियमित ही करता है।

क्रय करता है, तो अपने द्रव्य को फिर जिंसों में पुनः परिवर्तित कर लेता है; सारी प्रक्रिया इन तीनों के बीच ही होती है। इसके अलावा, द्रव्य के अध्ययन में यह माना गया था कि जिंसें अपने मूल्यों पर बिकती हैं, क्योंकि दामों को मूल्य से भिन्न समझने का इसलिए सर्वथा कोई भी कारण न था कि यह महज़ जिंसों के द्रव्य में रूपांतरण और द्रव्य से जिंसों में पुनःपरिवर्तन में उनमें आनेवाले रूप-परिवर्तनों का मामला ही था। जैसे ही कोई माल बिकता है और प्राप्तियों से कोई नयी जिंस ख़रीदी जाती है कि संपूर्ण रूपांतरण हमारे सामने आ जाता है और स्वयं इस प्रक्रिया के लिए यह महत्वहीन है कि किसी जिंस का दाम उसके मूल्य से अधिक है या कम। माल का मूल्य आधार के नाते महत्वपूर्ण बना रहता है, क्योंकि द्रव्य की अवधारणा को और किसी आधार पर विकसित नहीं किया जा सकता है और, अपने सामान्य अर्थ में, दाम द्रव्य के रूप में मूल्य ही है। किसी भी सूरत में, परिचलन माध्यम के नाते द्रव्य के अध्ययन में यह कल्पित है कि किसी माल का केवल एक ही रूपांतरण नहीं होता। उलटे, अध्ययन इन रूपांतरणों के सामाजिक अंतःसंबंध का ही किया जाता है। केवल इसी तरीक़े से हम द्रव्य के परिचलन और परिचलन माध्यम के रूप में उसके कार्य के विकास पर पहुंच पाते हैं। लेकिन द्रव्य के परिचलन माध्यम में परिवर्तन और उसके तद्जनित रूप-परिवर्तन के लिए यह संबंध चाहे कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, व्यष्टि क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच लेन-देन में यह किसी महत्व का नहीं होता।

तथापि पूर्ति और मांग के मामले में पूर्ति किसी जिंस के विक्रेताओं अथवा उत्पादकों की समष्टि के बराबर, और मांग उसी प्रकार के माल के क्रेताओं अथवा उपभोक्ताओं (उत्पादक तथा व्यष्टि, दोनों) की समष्टि के बराबर होती है। ये समष्टियां एक दूसरी पर इकाइयों की तरह, समुच्चित शक्तियों की तरह प्रतिक्रिया करती हैं। व्यष्टि यहां केवल सामाजिक शक्ति के एक अंश, संहति के एक परमाणु के नाते ही महत्व रखता है और प्रतिद्वंद्विता ठीक इसी रूप में उत्पादन तथा उपभोग के **सामाजिक** चरित्र को प्रकट करती है।

प्रतिद्वंद्विता का जो पक्ष किसी नियत क्षण पर कमज़ोर होता है, वह ऐसा पक्ष भी होता है, जिसमें व्यक्ति अपने प्रतिद्वंद्वियों की संहति से स्वतंत्र रूप से और प्रायः उसके प्रत्यक्षतः विरुद्ध क्रियाशील होता है, और ठीक इसी तरीक़े से उन्हें एक की दूसरे पर निर्भरता का आभास होता है, जबकि प्रबलतर पक्ष अपने प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध सदा न्यूनाधिक संयुक्त समष्टि के रूप में ही क्रियाशील होता है। अगर किसी ख़ास क़िस्म के माल की मांग पूर्ति से अधिक है, तो – कुछेक सीमाओं के भीतर – एक क्रेता दूसरे से बढ़कर बोली लगाता है और इस प्रकार माल के दाम को उन सभी के लिए बाज़ार मूल्य से अधिक कर देता है, जबकि दूसरी ओर, उसे ऊंचे बाज़ार दाम पर बेचने की कोशिश करने में विक्रेता एक हो जाते हैं। इसके विपरीत, अगर पूर्ति मांग से अधिक हो जाती है, तो एक अपने माल को सस्ते भाव बेचना शुरू कर देता है और दूसरों को उसका अनुकरण करना पड़ता है, जबकि क्रेता बाज़ार दाम को बाज़ार मूल्य से यथासंभव नीचे लाने के प्रयास में एक हो जाते हैं। सामान्य हित को प्रत्येक केवल तभी तक महत्व देता है कि जब तक उसे उससे उसके बिना की बनिस्बत ज्यादा लाभ होता है। ज्यों ही कोई एक पक्ष कमज़ोर हो जाता है, त्यों ही कार्य एकता भंग हो जाती है और तब प्रत्येक अपने को यथासंभव अधिक से अधिक लाभ के साथ उबारने की कोशिश करता है। इसके अलावा, अगर एक प्रतिद्वंद्वी दूसरे से सस्ते उत्पादित करता है और ज्यादा वस्तुएं बेच सकता है और इस प्रकार चालू बाज़ार दाम, अथवा बाज़ार मूल्य, से कम पर बेचकर बाज़ार में अपने

लिए अधिक स्थान बना सकता है, तो वह ऐसा ही करेगा और इसके द्वारा एक ऐसी गति का आरंभ कर देगा कि जो धीरे-धीरे अन्यों को सस्ती उत्पादन पद्धतियां लागू करने के लिए विवश कर देती है और जो सामाजिक रूप में आवश्यक श्रम को घटाकर एक नये और निम्नतर स्तर पर ले आती है। अगर एक पक्ष अधिक अच्छी स्थिति में है, तो उस पक्ष में सभी फ़ायदे में रहते हैं। यह ऐसा ही है, मानो वे सभी अपने सामान्य एकाधिकार का उपयोग कर रहे हों। अगर एक पक्ष कमज़ोर हो, तो प्रत्येक प्रतिद्वंद्वी अपने ही बूते पर मज़बूत होने की (मसलन वह, जो नीची उत्पादन लागत से काम करता है), या कम से कम यथासंभव न्यूनतम नुक़सान के साथ छूटने की कोशिश कर सकता है, और ऐसे मामलों में हर कोई अपना देखे आप और बाक़ी सब जायें भाड़ में की उक्ति ही चरितार्थ होती है, यद्यपि उसके काम स्वयं उसे ही नहीं, बल्कि उसके सभी घनिष्ठ संगियों को भी प्रभावित करते हैं।[32]

मांग और पूर्ति में मूल्य का बाज़ार मूल्य में रूपांतरण सन्निहित है, और चूंकि वे पूंजीवादी आधार पर चलती हैं और जिंसें पूंजी का उत्पाद होती हैं, वे पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रियाओं पर, अर्थात वस्तुओं के मात्र क्रय-विक्रय से सर्वथा भिन्न संबंधों पर आधारित होती हैं। यहां जिंसों के मूल्य के दामों में औपचारिक रूपांतरण का, अर्थात कोरे रूप-परिवर्तन का ही सवाल नहीं है। प्रश्न बाज़ार दामों की मात्रा में बाज़ार मूल्यों से, और इसके अलावा, उत्पादन दामों से निश्चित विचलनों का है। साधारण क्रय-विक्रय में मालों के उत्पादकों का अपने में एक दूसरे के मुक़ाबले में होना ही काफ़ी रहता है। और गहरे जायें, तो पूर्ति और मांग विभिन्न वर्गों तथा वर्गों के अंशकों के अस्तित्व की पूर्वापेक्षा करती हैं, जो समाज की कुल आय का आपस में विभाजन करते हैं और उसका आय के रूप में उपभोग करते हैं और इसलिए आय द्वारा सृजित मांग का निर्माण करते हैं। साथ ही, दूसरी ओर, उत्पादकों द्वारा आपस में सृजित पूर्ति तथा मांग की समझ के लिए पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया के समग्र ढांचे की गहरी जानकारी पाना आवश्यक है।

पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत सवाल महज़ यही नहीं होता कि किसी जिंस के रूप में परिचलन में डाली गयी मूल्य संहति के बदले किसी दूसरे रूप में – चाहे वह द्रव्य का हो या किसी और माल का – समान मूल्य संहति प्राप्त की जाये, सवाल इसका भी होता है कि उत्पादन के लिए पेशगी दी गयी पूंजी पर, वह जिस किसी भी शाखा में लगायी जाये, उतने ही परिमाण की किसी अन्य पूंजी जितना, अथवा उसके परिमाण के pro rata [यथानुपात] बेशी मूल्य, अथवा लाभ, पाया जाये। इसलिए यह जिंसों को कम से कम ऐसे दामों पर कि जो औसत लाभ दें, बेचने का, अर्थात उत्पादन दामों पर बेचने का सवाल है। इस रूप में पूंजी को एक **सामाजिक शक्ति** के नाते अपनी चेतना हो जाती है, जिसमें प्रत्येक पूंजीपति कुल सामाजिक पूंजी में अपने अंश के यथानुपात भाग लेता है।

---

[32] "अगर वर्ग के हर आदमी को सभी के लाभों और धन-दौलत से एक नियत अंश, अथवा अशेषभाजक अंश से अधिक कभी न प्राप्त हो सके, तो वह इन लाभों को बढ़ाने के लिए दूसरों के साथ सहर्ष मिल जायेगा"; (पूर्ति से मांग का अनुपात जैसे ही इसकी संभावना देता है, वह ऐसा करने से नहीं चूकता) "यह एकाधिकार है। लेकिन जहां हर आदमी यह सोचता है कि वह स्वयं अपने हिस्से की निरपेक्ष राशि को किसी भी प्रकार बढ़ा सकता है, चाहे ऐसी प्रक्रिया से ही कि जो सारी राशि को घटाती है, तो वह अकसर ऐसा ही करेगा; यह प्रतिद्वंद्विता है।" (*An Inquiry into Those Principles Respecting the Nature of Demand, etc.*, London, 1821, p. 105.)

एक तो पूंजीवादी उत्पादन स्वयं ही विशिष्ट उपयोग मूल्य के प्रति और अपने द्वारा उत्पादित माल के विशेष अभिलक्षणों के प्रति पूर्णतः निरपेक्ष होता है। हर उत्पादन क्षेत्र में उसका एकमात्र सरोकार बेशी मूल्य उत्पन्न करने और श्रम के उत्पाद में समाविष्ट अशोधित श्रम की कुछ मात्रा को हस्तगत करने से ही होता है। इसी प्रकार यह पूंजी द्वारा वशीभूत उजरती श्रम का स्वभाव ही है कि वह अपने श्रम के विशिष्ट स्वरूप के प्रति निरपेक्ष होता है और उसे पूंजी की आवश्यकताओं के अनुरूप रूपांतरित होना और एक उत्पादन क्षेत्र से दूसरे को स्थानांतरित किया जाना स्वीकार करना पड़ता है।

दूसरे, वास्तव में कोई उत्पादन क्षेत्र बिलकुल उतना ही अच्छा या ख़राब होता है, जितना कि कोई दूसरा। उनमें से प्रत्येक वही लाभ देता है और अगर उसके द्वारा उत्पादित जिंसें किसी सामाजिक आवश्यकता की तुष्टि नहीं करतीं, तो उनमें से प्रत्येक बेकार होगा।

अतः, माल अगर अपने मूल्यों पर बिकते हैं, तो, जैसे कि हमने दिखाया है, विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में उनमें निवेशित पूंजी राशियों की भिन्न-भिन्न आंगिक संरचना के अनुसार अत्यंत भिन्न-भिन्न लाभ दरें उत्पन्न होंगी। लेकिन पूंजी निम्न लाभ दर वाले क्षेत्र से निकल आती है और दूसरे क्षेत्रों में घुस पड़ती है, जो उच्चतर लाभ देते हैं। इस निरंतर बहिर्वाह तथा अंतर्वाह के ज़रिये, अथवा संक्षेप में विभिन्न क्षेत्रों में अपने वितरण के ज़रिये, जो इस पर निर्भर करता है कि लाभ दर यहां या वहां कितनी गिरती या चढ़ती है, वह पूर्ति का मांग के साथ ऐसा अनुपात पैदा कर देती है कि विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में औसत लाभ उतना ही हो जाता है और इसलिए मूल्य उत्पादन दामों में परिवर्तित हो जाते हैं। पूंजी इस समकरण में इसके अनुसार न्यूनाधिक सफल होती है कि किसी राष्ट्र में पूंजीवादी विकास किस हद तक हुआ है, अर्थात विचाराधीन देश में अवस्थाएं किस हद तक पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के अनुकूल हो चुकी हैं। पूंजीवादी उत्पादन ज्यों-ज्यों प्रगति करता है, त्यों-त्यों वह स्वयं अपने अनुरूप अवस्थाएं भी विकसित करता जाता है और उत्पादन प्रक्रिया जिन सामाजिक पूर्वापेक्षाओं पर आधारित होती है, उन सभी को वह अपने विशिष्ट स्वरूप तथा अपने अंतर्वर्ती नियमों के अधीन बना लेता है।

सतत पैदा होनेवाली असमानताओं का निरंतर समकरण उतनी ही अधिक शीघ्रता से संपन्न होता है कि १) पूंजी जितनी अधिक गतिशील हो, अर्थात जितनी अधिक सुगमता से वह एक क्षेत्र और एक स्थान से दूसरे को स्थानांतरित की जा सकती है; २) श्रम शक्ति जितनी अधिक शीघ्रता से एक क्षेत्र से दूसरे को और एक उत्पादन स्थल से दूसरे को अंतरित की जा सकती है। पहली अवस्था में समाज के भीतर व्यापार की पूर्ण स्वतंत्रता और नैसर्गिक एकाधिकारों को छोड़कर, अर्थात जो पूंजीवादी उत्पादन पद्धति से स्वाभाविक रूप में उत्पन्न होते हैं, उन्हें छोड़कर सभी एकाधिकारों का निराकरण अपेक्षित है। इसके अलावा, इसमें उधार पद्धति का विकास सन्निहित है, जो व्यष्टि पूंजीपति के मुकाबले में प्रयोज्य सामाजिक पूंजी की अन-आंगिक संहति को संकेंद्रित करती है। अंततः, इसमें विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों का पूंजीपतियों के नियंत्रण के अधीन बनाया जाना सन्निहित है। यह अंतिम अपेक्षा हमारी आधारिकाओं में सम्मिलित है, क्योंकि हमने माना था कि यह पूंजीवादी ढंग से प्रयुक्त सभी उत्पादन क्षेत्रों में मूल्यों के उत्पादन दामों में परिवर्तित होने का मामला है। लेकिन जब भी पूंजीवादी आधार पर संचालित न किये जानेवाले बहुसंख्य और बड़े उत्पादन क्षेत्र (जैसे छोटे किसानों की खेती) पूंजीवादी उद्यमों के बीच फूट निकलते हैं और उनके साथ जुड़ जाते हैं, तो स्वयं इस समकरण के आगे और भी बाधाएं आ जाती हैं। बड़ा जनसंख्या घनत्व एक और अपेक्षा है। – दूसरी

अवस्था में ये सन्निहित हैं: श्रमिकों के एक उत्पादन क्षेत्र से दूसरे को और उत्पादन के एक स्थानीय केंद्र से दूसरे को स्थानांतरण को रोकनेवाले सभी नियमों का उन्मूलन; श्रमिक की अपने श्रम की प्रकृति के प्रति निरपेक्षता; सभी उत्पादन क्षेत्रों में श्रम का साधारण श्रम में यथासंभव अधिकतम रूपांतरण; श्रमिकों में सभी व्यावसायिक पूर्वाग्रहों का अंत; और अंतिम, किंतु कम महत्वपूर्ण नहीं, श्रमिक का पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के अधीन किया जाना। इसके बारे में और अधिक चर्चा प्रतिद्वंद्विता के विशेष विश्लेषण का अंग है।

उपरोक्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक उत्पादन शाखा विशेष में जैसे व्यष्टि पूंजीपति, वैसे ही समग्ररूपेण सभी पूंजीपति सकल मज़दूर वर्ग के समस्त पूंजी द्वारा शोषण में, और इस शोषण की मात्रा में, कोरी सामान्य वर्गजन्य सहानुभूति के कारण ही नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष आर्थिक कारणों से भी प्रत्यक्ष भाग लेते हैं। कारण कि अगर अन्य सभी अवस्थाओं को — जिनमें कुल पेशगी स्थिर पूंजी का मूल्य भी आता है — नियत माना जाये, तो औसत लाभ दर पूंजी के समस्त योग द्वारा श्रम के समस्त योग के शोषण की तीव्रता पर निर्भर करती है।

औसत लाभ पूंजी के प्रत्येक १०० द्वारा उत्पादित औसत बेशी मूल्य से मेल खाता है, और जहां तक बेशी मूल्य का संबंध है, पूर्वोक्त कथन स्वाभाविकतया ही लागू हो जाते हैं। औसत लाभ के मामले में पेशगी पूंजी का मूल्य लाभ दर का निर्धारण करनेवाला एक अतिरिक्त तत्व बन जाता है। वास्तव में किसी भी उत्पादन क्षेत्र के पूंजीपति, अथवा पूंजी, द्वारा प्रत्यक्षतः नियोजित श्रमिकों के शोषण में ली जानेवाली दिलचस्पी या तो असाधारण अतिश्रम, या मज़दूरी की औसत के नीचे कटौती के ज़रिये, या नियोजित श्रम की असाधारण उत्पादिता के ज़रिये अतिरिक्त नफ़ा — औसत से अधिक लाभ — बनाने तक ही सीमित होती है। अलावा इसके, अगर कोई पूंजीपति अपनी उत्पादन शाखा में कोई परिवर्ती पूंजी, और इसलिए कोई श्रमिक भी नियोजित नहीं करता है (दरअसल यह एक अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पना है), तो इसके बावजूद वह पूंजी द्वारा मज़दूर वर्ग के शोषण में उतनी ही दिलचस्पी रखता है और अशोधित बेशी श्रम से बिलकुल उसी तरह से अपना लाभ प्राप्त करता है कि जितना, उदाहरण के लिए, वह पूंजीपति, जो केवल परिवर्ती पूंजी का ही नियोजन करता है (यह एक और अतिशयोक्ति है) और जो इस प्रकार अपनी सारी पूंजी को मज़दूरी में निवेशित करता है। लेकिन श्रम के शोषण की मात्रा अगर कार्य दिवस नियत हो, तो श्रम की औसत तीव्रता पर, और अगर शोषण की तीव्रता नियत हो, तो कार्य दिवस की दीर्घता पर निर्भर करती है। श्रम के शोषण की मात्रा बेशी मूल्य दर को, और इसलिए परिवर्ती पूंजी की नियत कुल संहति के लिए बेशी मूल्य की संहति को, और फलतः लाभ के परिमाण को निर्धारित करती है। व्यष्टि पूंजीपति का — समग्ररूपेण अपने क्षेत्र से भिन्न — स्वयं अपने द्वारा नियोजित श्रमिकों का शोषण करने में वही विशेष स्वार्थ होता है, जो किसी क्षेत्र विशेष की पूंजी का — कुल सामाजिक पूंजी से भिन्न — उस क्षेत्र में प्रत्यक्षतः नियोजित श्रमिकों का शोषण करने में होता है।

दूसरी ओर, पूंजी के प्रत्येक क्षेत्र विशेष और प्रत्येक व्यष्टि पूंजीपति का पूंजी के समस्त योग द्वारा नियोजित सामाजिक श्रम की उत्पादिता में वही स्वार्थ होता है। इसका कारण यह है कि इस उत्पादिता पर दो बातें निर्भर करती हैं: एक तो उपयोग मूल्यों की संहति, जिसमें औसत लाभ व्यक्त होता है, और इसका दुहरा महत्व है, क्योंकि यह औसत लाभ नयी पूंजी के संचय के लिए निधि के नाते और उपभोग के निमित्त ख़र्च की जानेवाली आय की निधि के नाते काम देता है। दूसरे, निवेशित कुल पूंजी (स्थिर तथा परिवर्ती) का मूल्य, जो —

समस्त पूंजीपति वर्ग के बेशी मूल्य, अथवा लाभ, की मात्रा के नियत होने पर – लाभ दर को, अथवा पूंजी की किसी निश्चित मात्रा पर लाभ को निर्धारित करता है। किसी भी क्षेत्र विशेष में, अथवा इस क्षेत्र के किसी भी अलग उद्यम में, श्रम की विशेष उत्पादिता केवल उन पूंजीपतियों के लिए दिलचस्पी की होती है, जो प्रत्यक्षतः उसमें लगे होते हैं, क्योंकि वह कुल पूंजी की तुलना में उस क्षेत्र विशेष को, अथवा अपने क्षेत्र की तुलना में उस व्यष्टि पूंजीपति को, अतिरिक्त लाभ पाने में समर्थ बनाती है।

इस प्रकार, हमें यहां इसका गणितीय यथातथ्य प्रमाण मिल जाता है कि क्यों पूंजीपति इसके बावजूद समस्त मज़दूर वर्ग के मुक़ाबले में एक वास्तविक फ़्रीमेसन समाज बना देते हैं, जब कि भीषण प्रतिद्वंद्विता के कारण उनमें आपस में कदाचित ही कोई बंधुत्व होता है।

उत्पादन दाम में औसत लाभ सम्मिलित होता है। हम इसे उत्पादन दाम कहते हैं। वास्तव में यह वही है, जिसे ऐडम स्मिथ **नैसर्गिक दाम** कहते हैं, रिकार्डो **उत्पादन दाम**, अथवा **उत्पादन लागत** कहते हैं, और प्रकृतितंत्रवादी prix nécessaire [अनिवार्य दाम] कहते हैं, क्योंकि अंततोगत्वा यह पूर्ति की, प्रत्येक पृथक क्षेत्र में जिंसों के पुनरुत्पादन की पूर्वापेक्षा है।[33] लेकिन उनमें से किसी ने भी उत्पादन दाम और मूल्य के बीच अंतर को प्रकट नहीं किया है। इस बात को हम भली भांति समझ सकते हैं कि क्यों वही अर्थशास्त्री कि जो जिंसों के मूल्य का श्रम काल द्वारा, अर्थात उनमें समाविष्ट श्रम की मात्रा द्वारा निर्धारण किये जाने का विरोध करते हैं, क्यों वे सदा उत्पादन दामों के बारे में ऐसे केंद्रों के रूप में बात करते हैं, जिनके आसपास बाज़ार दाम घटते-बढ़ते हैं। वे ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि उत्पादन दाम जिंसों के मूल्य का एक नितांत बाह्य और prima facie [प्रत्यक्षरूपेण] निरर्थक रूप है, एक ऐसा रूप कि जो प्रतिद्वंद्विता में, और इसलिए अनघड़ पूंजीपति के दिमाग़ में, और फलतः अनघड़ अर्थशास्त्री के दिमाग़ में प्रकट होता है।

हमारे विश्लेषण ने प्रकट कर दिया है कि किस प्रकार बाज़ार मूल्य (और उसके बारे में कही गयी हर बात उपयुक्त परिवर्तनों के साथ उत्पादन दाम पर लागू होती है) में उन लोगों का बेशी लाभ समाविष्ट होता है, जो किसी उत्पादन क्षेत्र विशेष में सबसे अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादन करते हैं। संकट को, और सामान्य रूप में अत्युत्पादन को छोड़कर यह सभी बाज़ार दामों के बारे में भी सही है, चाहे वे उत्पादन के बाज़ार मूल्यों अथवा बाज़ार दामों से कितना भी विचलन क्यों न करते हों। कारण यह कि बाज़ार दाम इसका द्योतक होता है कि एक ही प्रकार के मालों के लिए एक ही दाम दिया जाता है, यद्यपि हो सकता है कि वे अत्यंत भिन्न व्यष्टिक अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित किये गये हों और इसलिए उनके लागत दाम भी काफ़ी भिन्न-भिन्न हों। (इस स्थल पर हम शब्द के सामान्य अर्थों में एकाधिकारों – चाहे कृत्रिम अथवा नैसर्गिक – के कारण उत्पन्न किन्हीं भी बेशी लाभों की बात नहीं करते।)

बेशी लाभ तब भी उत्पन्न हो सकता है कि अगर कुछेक उत्पादन क्षेत्र अपनी जिंसों के मूल्यों के उत्पादन दामों में रूपांतरित होने से, और इस प्रकार अपने लाभों के औसत लाभ में परिणत होने से बचने की स्थिति में हों। बेशी लाभ के इन दोनों रूपों के और अधिक आपरिवर्तनों की तरफ़ हम किराया ज़मीन विषयक भाग में ज़्यादा ध्यान देंगे।

---

[33] Malthus [*Principles of Political Economy*, London, 1837, pp. 77-78. – सं०]

अध्याय ११

मजदूरी की सामान्य घट-बढ़ का उत्पादन दामों पर प्रभाव

मान लीजिये कि सामाजिक पूंजी की औसत संरचना $८०_c + २०_v$ है और लाभ २०% है। अतः बेशी मूल्य दर १००% है। अन्य सभी चीजों के यथावत रहते हुए मजदूरी की सामान्य वृद्धि बेशी मूल्य दर में घटत के समान है। औसत पूंजी के मामले में लाभ और बेशी मूल्य एकसमान होते हैं। मान लीजिये कि मजदूरी २५% बढ़ जाती है। तब श्रम की उतनी ही मात्रा, जो पहले २० से गतिशील की जाती थी, अब २५ से की जायेगी। इसलिए अब हमारे पास आवर्त मूल्य $८०_c + २०_v + २०_p$ के बजाय $८०_c + २५_v + १५_p$ होगा। पहले की ही भांति परिवर्ती पूंजी द्वारा गतिशील किया गया श्रम ४० का मूल्य उत्पादित करता है। अगर v २० से बढ़कर २५ हो जाता है, तो बेशी s, अथवा p, सिर्फ़ १५ के बराबर ही होगा। १०५ की पूंजी पर १५ का लाभ १४ २/७% है, और यही नयी औसत लाभ दर होगी। चूंकि औसत पूंजी द्वारा उत्पादित जिंसों का उत्पादन दाम उनके मूल्य के बराबर होता है, इसलिए इन जिंसों का उत्पादन दाम अपरिवर्तित बना रहा होगा। इसलिए मजदूरी वृद्धि लाभ में तो गिरावट लायेगी, पर मालों के मूल्य और दाम में कोई परिवर्तन नहीं लायेगी।

पहले, जब तक औसत लाभ २०% था, एक आवर्त काल में उत्पादित जिंसों का उत्पादन दाम उनके लागत दाम जमा इस लागत दाम पर २०% लाभ के बराबर, अतः $= k + kp' = k + \frac{२० k}{१००}$ था। इस सूत्र में k एक परिवर्ती परिमाण है, जो मालों में लगनेवाले उत्पादन साधनों के मूल्य के और स्थायी पूंजी द्वारा उत्पाद को दी गयी मूल्यह्रास राशि के अनुरूप बदलता जाता है। अब उत्पादन दाम $k + \frac{१४\ २/७\ k}{१००}$ होगा।

अब एक ऐसी पूंजी चुन लीजिये, जिसकी संरचना $८०_c + २०_v$ की औसत सामाजिक पूंजी (जो अब $७६\ ४/२१_c + २३\ १७/२१_v$ में बदल गयी है) की मूल संरचना से निम्नतर, कहिये कि $५०_c + ५०_v$, है। इस हालत में मजदूरी वृद्धि के पहले वार्षिक उत्पाद का उत्पादन दाम $५०_c + ५०_v + २०_p = १२०$ होता – सरलता की ख़ातिर हमने यह मान लिया है कि समस्त स्थायी पूंजी मूल्यह्रास की बदौलत उत्पाद में चली जाती है और आवर्त अवधि उतनी ही है, जितनी पहले प्रसंग में थी। गतिशील किये गये श्रम की उतनी ही मात्रा के लिए २५% की मजदूरी वृद्धि का मतलब है परिवर्ती पूंजी का ५० से बढ़कर ६२ १/२ हो जाना। अगर वार्षिक उत्पाद पूर्ववर्ती १२० के उत्पादन दाम पर बिके, तो यह हमें $५०_c + ६२\ १/२_v + ७\ १/२_p$,

अथवा ६ २/३% की लाभ दर देगा। लेकिन नयी औसत लाभ दर १४ २/७% है और चूंकि हम यह मान रहे हैं कि अन्य सभी परिस्थितियां यथावत बनी रहती हैं, इसलिए ५०$_c$+ + ६२ १/२$_v$ की पूंजी को भी यह लाभ बनाना चाहिए। लेकिन ११२ १/२ की पूंजी १४ २/७% की लाभ दर से १६ १/१४ का लाभ बनाती है। इसलिए इस पूंजी द्वारा उत्पादित जिंसों का उत्पादन दाम अब ५०$_c$ + ६२ १/२$_v$ + १६ १/१४$_p$ = १२८ ८/१४ है। इसलिए २५% की मजदूरी वृद्धि के कारण उन्हीं मालों की उतनी ही मात्रा का उत्पादन दाम यहां १२० से बढ़कर १२८ ८/१४ हो गया है, अथवा ७% से अधिक बढ़ गया है।

विलोमतः, मान लीजिये कि हम औसत पूंजी की बनिस्बत उच्चतर संरचना का कोई उत्पादन क्षेत्र लेते हैं, उदाहरणार्थ, ९२$_c$+८$_v$। इस प्रसंग में मूल औसत लाभ अब भी २० ही होगा, और अगर हम फिर यही मान लेते हैं कि समस्त स्थायी पूंजी वार्षिक उत्पाद में अंतरित हो जाती है और आवर्त अवधि उतनी ही कि जितनी प्रसंग I तथा प्रसंग II में, तो माल का उत्पादन दाम यहां भी १२० ही होगा।

मजदूरी में २५% की वृद्धि के कारण श्रम की उतनी ही मात्रा के लिए परिवर्ती पूंजी ८ से बढ़कर १० और जिंसों की लागत क़ीमत १०० से बढ़कर १०२ हो जाती है, जबकि औसत लाभ दर २०% से गिरकर १४ २/७% हो जाती है। किंतु १०० : १४ २/७ = १०२ : १४ ४/७ है। इसलिए अब १०२ के हिस्से का लाभ १४ ४/७ है। इस कारण कुल उत्पाद $k + kp'$ = १०२+१४ ४/७ = ११६ ४/७ पर बिकता है। इसलिए उत्पादन दाम १२० से घटकर ११६ ४/७ हो गया है, अथवा ३ ३/७% घट गया है।

फलतः, अगर मजदूरी २५% बढ़ती है, तो :

१) औसत सामाजिक संरचना की पूंजी के मालों का उत्पादन दाम नहीं बदलता है;

२) निम्नतर संरचना की पूंजी के मालों का उत्पादन दाम बढ़ता है, किन्तु लाभ में गिरावट के अनुपात में नहीं;

३) उच्चतर संरचना की पूंजी के मालों का उत्पादन दाम गिरता है, किंतु उतने ही अनुपात में नहीं कि जितने में लाभ।

चूंकि औसत संरचना की पूंजी के मालों का उत्पादन दाम उतना ही, उत्पाद के मूल्य के बराबर ही बना रहा था, इसलिए सभी पूंजियों के उत्पादों के उत्पादन दाम भी उतने ही, समुच्चित पूंजी द्वारा उत्पादित मूल्यों के समस्त योग के बराबर ही बने रहे। एक तरफ़, वृद्धि और दूसरी तरफ़, गिरावट समुच्चित पूंजी के लिए औसत सामाजिक पूंजी के स्तर पर संतुलित हो जाती हैं।

अगर उत्पादन दाम प्रसंग II में चढ़ता है और प्रसंग III में गिरता है, तो अकेले ये दोनों विपरीत प्रभाव ही, जो बेशी मूल्य दर में गिरावट के द्वारा, अथवा सामान्य मजदूरी वृद्धि के द्वारा उत्पन्न होते हैं, दिखला देते हैं कि यह मजदूरी की वृद्धि की दामों में प्रतिपूर्ति का मामला नहीं हो सकता, क्योंकि प्रसंग III में उत्पादन दाम में गिरावट पूंजीपति की लाभ में गिरावट की प्रतिपूर्ति नहीं कर सकती, और प्रसंग II में दाम की वृद्धि लाभ की गिरावट को नहीं रोकती। उलटे, दोनों ही मामलों में – दाम चाहे चढ़े या गिरे – लाभ उतना ही रहता है कि जितना औसत पूंजी का, और इस हालत में दाम अपरिवर्तित रहता है। यह वही औसत लाभ है, जिसमें II के और III के मामले में भी ५ ५/७ की, अथवा २५% से कुछ अधिक की गिरावट आ गयी है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दाम अगर II में चढ़ा और III में गिरा नहीं

था, तो II को नये न्यूनित औसत लाभ के नीचे और III को उसके ऊपर बेचना होगा। यह स्वतःसिद्ध है कि इसके अनुसार कि प्रति १०० इकाई पूंजी के मज़दूरी के लिए ५० ख़र्च किये जाते हैं या २५ या १०, जिस पूंजीपति ने अपनी पूंजी के १/१० को मज़दूरी में निवेशित किया है, उस पर मज़दूरी वृद्धि का प्रभाव उस पूंजीपति से बिलकुल भिन्न होगा, जिसने १/४ या १/२ को निवेशित किया है। इसके अनुसार कि कोई पूंजी औसत सामाजिक संरचना के नीचे है या ऊपर, एक तरफ़, उत्पादन दाम में वृद्धि और दूसरी तरफ़, गिरावट सर्वथा लाभ के नये न्यूनित औसत लाभ के स्तर पर आने की प्रक्रिया की बदौलत ही होती है।

मज़दूरी में सामान्य घटत, और लाभ दर की – और इस प्रकार औसत लाभ की – तदनुरूप सामान्य बढ़त का औसत सामाजिक संरचना से विपरीत दिशाओं में विचलन करती पूंजियों द्वारा उत्पादित जिंसों के उत्पादन दामों पर क्या प्रभाव पड़ेगा? परिणाम प्राप्त करने के लिए हमें पूर्वगामी प्रतिपादन को बस उलटने की ज़रूरत होगी (जिसका रिकार्डो विश्लेषण नहीं कर पाते हैं)।

I. औसत पूंजी $= ८०_c + २०_v = १००$; बेशी मूल्य दर $= १००\%$; उत्पादन दाम = जिंसों का मूल्य $= ८०_c + २०_v + २०_p = १२०$; लाभ दर $= २०\%$। मान लीजिये कि मज़दूरी एक चौथाई गिर जाती है। तब उतनी ही स्थिर पूंजी २०_v के बजाय १५_v द्वारा गतिशील की जाती है। तब मालों का मूल्य $= ८०_c + १५_v + २५_p = १२०$। v द्वारा निष्पादित श्रम की मात्रा अपरिवर्तित रहती है, सिवाय इसके कि उसके द्वारा नवसृजित मूल्य पूंजीपति तथा श्रमिक के बीच भिन्नतः वितरित होता है। बेशी मूल्य बढ़कर २० से २५ हो जाता है और बेशी मूल्य दर बढ़कर $\frac{२०}{२०}$ से $\frac{२५}{१५}$, अथवा १००% से १६६ २/३% हो जाती है। अब ९५ पर लाभ = २५, जिससे कि प्रति सैकड़ा लाभ दर = २६ ६/१९। पूंजी की नयी संरचना अब प्रतिशत में $८४\ ४/१९_c + १५\ १५/१९_v = १००$ है।

II. निम्न संरचना। ऊपर की ही भांति, मूलतः $५०_c + ५०_v$। मज़दूरी के एक चौथाई गिरने के कारण v घटकर ३७ १/२, और फलतः पेशगी कुल पूंजी $५०_c + ३७\ १/२_v = ८७\ १/२_v$ हो जाती है। अगर इस पर २६ ६/१९% की नयी लाभ दर लगायें, तो हमें १०० : २६ ६/१९ = ८७ १/२ : २३ १/३८ प्राप्त होता है। वही जिंस संहति, जो पहले १२० की थी, अब ८७ १/२ + २३ १/३८ = ११० १०/१९ की हो गयी है, जो लगभग १०% का दाम घटाव है।

III. उच्च संरचना। मूलतः $९२_c + ८_v = १००$। मज़दूरी की एक चौथाई घटत ८_v को घटाकर ६_v और कुल पूंजी को ९८ कर देती है। अतः, १००:२६ ६/१९=९८ : २५ १५/१९। माल का दाम, जो पहले १०० + २० = १२० था, मज़दूरी में गिरावट के बाद अब ९८ + २५ १५/१९ = १२३ १५/१९ हो गया है। यह लगभग ४ का चढ़ाव है।

इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि हमें उपयुक्त आपरिवर्तनों के साथ इसी क्रम का विपरीत दिशा में अनुसरण करना ही होगा; मज़दूरी के सामान्य घटाव के साथ-साथ बेशी मूल्य का, बेशी मूल्य दर का, और, अन्य परिस्थितियों के यथावत रहने पर, लाभ दर का सामान्य चढ़ाव होता है, चाहे वह किसी भिन्न अनुपात में ही व्यक्त होता हो; निम्न संरचना की पूंजियों द्वारा उत्पादित मालों के लिए उत्पादन दामों की गिरावट और उच्च संरचना की पूंजियों द्वारा उत्पादित जिंसों के लिए उत्पादन दामों का चढ़ाव। परिणाम मज़दूरी के सामान्य चढ़ाव में

लक्षित परिणाम का एकदम उलटा होता है।[34] दोनों ही प्रसंगों – मजदूरी के चढ़ाव अथवा उतार – में यह कल्पित है कि कार्य दिवस उतना ही रहता है और निर्वाह साधनों के दाम भी उतने ही रहते हैं। इन परिस्थितियों में मजदूरी में गिरावट केवल तभी संभव है कि अगर वह श्रम के सामान्य दाम के ऊपर हो, अथवा वह इस दाम के नीचे हो। अगर मजदूरी में चढ़ाव या उतार मूल्य में, और फलतः श्रमिक द्वारा आम तौर पर उपभुक्त मालों के दामों में परिवर्तन के कारण हो, तो यह मामला किस प्रकार आपरिवर्तित हो जाता है, इसका विवेचन कुछ विस्तार के साथ किराया ज़मीन से संबद्ध भाग में किया जायेगा। तथापि, इस स्थल पर निम्न बातें अंतिम रूप में कह दी जानी चाहिए :

अगर मजदूरी में चढ़ाव या उतार जीवनावश्यक वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन के कारण है, तो पूर्वोक्त निष्कर्ष केवल उसी सीमा तक आपरिवर्तित हो सकते हैं कि वे माल भी, जिनका दाम परिवर्तन परिवर्ती पूंजी को उठाता या नीचा करता है, संघटक तत्वों के नाते स्थिर पूंजी में जाते हों और इसलिए केवल मजदूरी को ही प्रभावित न करते हों। लेकिन अगर वे सिर्फ़ मजदूरी पर ही प्रभाव डालते हैं, तो उपरोक्त विश्लेषण में वह सभी कुछ मौजूद है कि जो कहा जाना चाहिए।

इस पूरे अध्याय में सामान्य लाभ दर तथा औसत लाभ की स्थापना को, और फलतः, मूल्यों के उत्पादन दामों में रूपांतरण को नियत माना गया है। प्रश्न केवल यह था कि मजदूरी में सामान्य चढ़ाव या उतार मालों के कल्पित उत्पादन दामों पर क्या प्रभाव डालता है। इस भाग में विश्लेषित अन्य महत्वपूर्ण विषयों की तुलना में यह अत्यंत गौण प्रश्न है। लेकिन यही वह अकेला संबद्ध प्रश्न है कि जिसका रिकार्डो ने विश्लेषण किया है, और जैसे कि हम आगे देखेंगे,* उन्होंने इसका एकांगी और असंतोषजनक ढंग से ही विवेचन किया है।

---

[34] यह बड़ी विचित्र बात है कि रिकार्डो [*On the Principles of Political Economy, and Taxation*, Third edition, London, 1821, pp. 36-41. – सं०] (जिनका प्रगमन क़ुदरती तौर पर हमसे भिन्न है, क्योंकि वह मूल्यों के उत्पादन दामों के स्तर पर आने को नहीं समझते थे) ने इस संभाव्यता पर एक बार भी विचार नहीं किया है, बल्कि केवल पहले प्रसंग, मजदूरी वृद्धि और मालों के उत्पादन दामों पर उसके प्रभाव को ही लिया है। और servum pecus imitatorum [Horace, *Epistles*, Book I, *Epistle 19*. — शब्दशः, जीहुज़ूरिया नक़लचियों की भीड़। – सं०] ने इस अत्यंत स्वतःसिद्ध, वस्तुतः पुनरुक्ति, का व्यावहारिक उपयोग तक करने का प्रयास नहीं किया है।

* K. Marx, *Theorien über den Mehrwert*. K. Marx/F. Engels, *Werke*, Band 26, Teil 2, S. 181-94. – सं०

अध्याय १२

अनुपूरक टिप्पणियां

१. उत्पादन दाम में परिवर्तन लानेवाले कारण

किसी माल का उत्पादन दाम केवल दो कारणों से ही बदल सकता है :

पहला। सामान्य लाभ दर में परिवर्तन। यह केवल औसत बेशी मूल्य दर में परिवर्तन के कारण, अथवा, अगर औसत बेशी मूल्य दर वही बनी रहती है, तो कुल पेशगी सामाजिक पूंजी की राशि के साथ हस्तगत बेशी मूल्यों की राशि के अनुपात में परिवर्तन के कारण हो सकता है।

अगर बेशी मूल्य दर में परिवर्तन मजदूरी के सामान्य के नीचे गिरने, या उसके सामान्य के ऊपर चढ़ने के कारण – और इस तरह की गतियों को मात्र उतार-चढ़ाव ही समझा जाना चाहिए – नहीं है, तो यह केवल या तो श्रम शक्ति के मूल्य में चढ़ाव या उतार के कारण ही हो सकता है और इनमें से एक उतना ही असंभव है कि जितना दूसरा, बशर्ते कि निर्वाह साधनों का उत्पादन करनेवाले श्रम की उत्पादिता में, अर्थात श्रमिक द्वारा उपभुक्त जिंसों के मूल्य में परिवर्तन न आये।

अथवा, समाज की कुल पेशगी पूंजी के साथ हस्तगत बेशी मूल्य राशि के अनुपात में परिवर्तन आ सकता है। चूंकि इस मामले में परिवर्तन बेशी मूल्य दर द्वारा नहीं लाया जाता है, इसलिए वह कुल पूंजी, बल्कि यों कहिये कि उसके स्थिर भाग द्वारा ही लाया जा सकता है। प्राविधिक दृष्टि से इस भाग की संहति परिवर्ती पूंजी द्वारा ख़रीदी श्रम शक्ति की मात्रा के अनुपात में बढ़ती या घटती है और इस प्रकार उसकी मूल्य संहति स्वयं अपनी संहति के बढ़ने या घटने के साथ बढ़ती या घटती है। अतः, वह परिवर्ती पूंजी की मूल्य संहति के यथानुपात भी बढ़ती या घटती है। अगर उतना ही श्रम अधिक स्थिर पूंजी को गतिमान करता है, तो वह अधिक उत्पादक हो गयी है। अगर इसका उलटा होता है, तो वह कम उत्पादक हो गयी है। इस प्रकार, श्रम की उत्पादिता में परिवर्तन आ गया है और कुछ मालों के मूल्य में परिवर्तन अवश्य आया होगा।

अतः, दोनों ही मामलों पर यह नियम लागू होता है : अगर जिंस का उत्पादन दाम सामान्य लाभ दर में परिवर्तन के परिणामस्वरूप होता है, तो स्वयं उसका मूल्य अपरिवर्तित बना रह सकता है। किंतु अन्य जिंसों के मूल्य में परिवर्तन अवश्य आया होगा।

दूसरा। सामान्य लाभ दर अपरिवर्तित रहती है। इस मामले में जिंस का उत्पादन दाम सिर्फ़ तभी बदल सकता है कि जब स्वयं उसका मूल्य बदला हो। यह विचाराधीन जिंस का

पुनरुत्पादन करने के लिए या तो इस जिंस का उसके अंतिम रूप में उत्पादन करनेवाले श्रम की उत्पादिता में, या उसके उत्पादन में लगनेवाली जिंसों को उत्पादित करनेवाले श्रम की उत्पादिता में परिवर्तन के कारण अपेक्षित ज़्यादा या कम श्रम की वजह से हो सकता है। सूत का उत्पादन दाम या तो इस कारण गिर सकता है कि कपास पहले से सस्ती उत्पादित हो जाती है, या इस कारण कि कताई का श्रम सुधरी मशीनरी की बदौलत ज़्यादा उत्पादक हो गया है।

जैसे कि ऊपर दिखाया जा चुका है, उत्पादन दाम $= k + p$, अर्थात लागत दाम जमा लाभ है। किंतु यह $= k + kp'$, जिसमें लागत दाम, k, एक परिवर्ती परिमाण है, जो भिन्न-भिन्न उत्पादन क्षेत्रों के लिए बदलता रहता है और सभी जगह माल के उत्पादन में उपभुक्त स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के मूल्य के बराबर होता है, और p' प्रतिशत के रूप में औसत लाभ दर है। अगर $k = २००$, और $p' = २०\%$ तो उत्पादन दाम $k + kp' = २०० + २०० \times \frac{२०}{१००} = २०० + ४० = २४०$ होगा। यह उत्पादन दाम स्पष्टतः ज़िंसों के मूल्य में परिवर्तन के बावजूद उतना ही बना रह सकता है।

जिंसों के उत्पादन दाम में सभी परिवर्तन अंततोगत्वा मूल्य में परिवर्तनों में परिणत हो जाते हैं। किंतु यह आवश्यक नहीं कि मालों के मूल्य में सभी परिवर्तन अपने को उत्पादन दाम में परिवर्तनों में व्यक्त करें। उत्पादन दाम अकेले किसी एक माल के मूल्य द्वारा नहीं, वरन सभी मालों के समुच्चित मूल्य द्वारा निर्धारित होता है। अतः, जिंस क में परिवर्तन जिंस ख में विपरीत परिवर्तन द्वारा संतुलित किया जा सकता है, जिससे कि सामान्य संबंध वही बना रहता है।

२. औसत संरचना की जिंसों का उत्पादन दाम

हम देख चुके हैं कि मूल्यों से उत्पादन दामों में विचलन इस कारण आता है:

१) जिंस में समाविष्ट बेशी मूल्य के स्थान पर औसत लाभ का उसके लागत दाम में जोड़ा जाना;

२) उत्पादन दाम का, जो जिंस के मूल्य से इस प्रकार विचलन करता है, अन्य जिंसों के लागत दाम में उसके एक तत्व की तरह प्रवेश करना, जिससे कि जिंस के लागत दाम में स्वयं अपने विचलन से सर्वथा भिन्न, जो औसत लाभ तथा बेशी मूल्य के बीच अंतर के कारण उत्पन्न हो सकता है, पहले ही उसके द्वारा उपभुक्त उत्पादन साधनों के रूप में मूल्य से विचलन समाविष्ट हो सकता है।

इसलिए यह संभव है कि औसत संरचना पूंजियों द्वारा उत्पादित जिंसों का लागत दाम तक उन तत्वों के मूल्यों के योगफल से भिन्न हो, जो इसे अपने उत्पादन दाम का घटक बना लेते हैं। मान लीजिये कि औसत संरचना $८०_c + २०_v$ है। यह संभव है कि इस संरचना की वास्तविक पूंजियों में ८०_c c, अर्थात स्थिर पूंजी के मूल्य से अधिक या कम हो, क्योंकि यह c ऐसी जिंसों से निर्मित हो सकता है, जिनका उत्पादन दाम उनके मूल्य से भिन्न है। इसी प्रकार, अगर मजदूरी के उपभोग में ऐसी जिंसें शामिल हों, जिनका उत्पादन दाम उनके मूल्य से भिन्न है, तो २०_v भी अपने मूल्य से भिन्न हो सकता है। इस हालत में मजदूरों को

उन्हें वापस ख़रीदने के लिए (उन्हें प्रतिस्थापित करने के लिए) दीर्घतर अथवा न्यूनतर समय काम करना होगा और इस प्रकार उन्हें उससे अधिक या कम आवश्यक श्रम करना होगा, जितना तब आवश्यक होगा कि अगर ऐसी जीवनावश्यक वस्तुओं का उत्पादन दाम उनके मूल्यों के बराबर होता।

लेकिन यह संभावना उन निरूपित प्रमेयों की सत्यता को तनिक भी नहीं घटाती, जो औसत संरचना के मालों के लिए सही हैं। इन जिंसों में आनेवाले लाभ की मात्रा उनमें समाविष्ट बेशी मूल्य की मात्रा के बराबर होती है। उदाहरण के लिए, $८०_c + २०_v$ की नियत संरचना की पूंजी में बेशी मूल्य के निर्धारण में सबसे महत्वपूर्ण यह नहीं है कि ये संख्याएं वास्तविक मूल्यों की अभिव्यक्तियां हैं या नहीं, बल्कि यह है कि वे एक दूसरी से किस प्रकार संबंधित हैं, अर्थात $v =$ कुल पूंजी का १/५ और $c = ४/५$ है कि नहीं। जब भी बात ऐसी ही होती है, v द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य, जैसे कि माना गया था, औसत लाभ के बराबर होता है। दूसरी ओर, चूंकि यह औसत लाभ के बराबर है, इसलिए उत्पादन दाम = लागत दाम जमा लाभ $= k + p = k + s$ है, अर्थात व्यवहार में वह माल के मूल्य के बराबर होता है। इसका यह मतलब है कि मज़दूरी में चढ़ाव या उतार उत्पादन दाम, $k + p$, को उससे अधिक परिवर्तित नहीं करेगा कि जितना वह जिंसों के मूल्य को परिवर्तित करेगा और लाभ दर में मात्र तदनुरूप विपरीत गति, उतार या चढ़ाव, ही उत्पन्न करेगा। कारण यह कि मज़दूरी का चढ़ाव या उतार अगर यहां जिंसों के दाम में परिवर्तन लाता है, तो औसत संरचना के इन क्षेत्रों में लाभ दर अन्य क्षेत्रों में व्याप्त स्तर के ऊपर चढ़ या नीचे गिर जायेगी। औसत संरचना का क्षेत्र केवल तभी तक लाभ का अन्य क्षेत्रों जैसा स्तर बनाये रखता है कि जब तक दाम अपरिवर्तित रहता है। इसलिए व्यावहारिक परिणाम वही है, जो तब होता कि अगर उसके उत्पाद अपने वास्तविक मूल्य पर बेचे जाते। कारण कि अगर माल अपने वास्तविक मूल्यों पर बेचे जाते हैं, तो प्रत्यक्ष है कि अन्य अवस्थाएं समान होने पर मज़दूरी में चढ़ाव या उतार लाभ में अनुरूप उतार या चढ़ाव पैदा करेगा, लेकिन जिंसों के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं उत्पन्न करेगा, और सभी परिस्थितियों के अंतर्गत मज़दूरी में चढ़ाव या उतार मालों के मूल्य को कदापि नहीं, बल्कि केवल बेशी मूल्य के परिमाण को ही प्रभावित कर सकता है।

३. प्रतिपूर्ति के लिए पूंजीपति के आधार

यह बताया जा चुका है कि प्रतिद्वंद्विता भिन्न-भिन्न उत्पादन क्षेत्रों की लाभ दरों का एक सामान्य लाभ दर में समस्तरण कर देती है और इस प्रकार इन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के उत्पादों के मूल्यों को उत्पादन दामों में बदल देती है। यह पूंजी के एक क्षेत्र से दूसरे को, जिसमें उस समय लाभ औसत से ऊंचे स्तर पर होता है, निरंतर अंतरण द्वारा होता है। तथापि उद्योग की किसी भी नियत शाखा में नियत कालावधियों के भीतर एक के बाद एक समृद्धि और मंदी के वर्ष चक्र से उत्पन्न लाभ के उतार-चढ़ावों की तरफ़ उचित ध्यान दिया जाना चाहिए। विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों के बीच पूंजी का यह अविराम बहिर्वाह तथा अंतर्वाह लाभ दर में चढ़ाव और उतार के रुझान पैदा कर देता है, जो एक दूसरे को कमोबेश बराबर कर देते हैं और इस प्रकार सभी जगह लाभ दर को उस एक ही सामान्य स्तर पर समानीत करने की प्रवृत्ति रखते हैं।

पूंजियों की यह गति मुख्यतः बाज़ार दामों के स्तर के कारण उत्पन्न होती है, जो लाभों को एक जगह सामान्य औसत के ऊपर उठा देते हैं और दूसरी जगह उन्हें उसके नीचे गिरा देते हैं। फ़िलहाल हम व्यापारी पूंजी पर विचार नहीं कर रहे हैं, जो इस स्थल पर अप्रासंगिक है, क्योंकि कुछेक लोकप्रिय वस्तुओं में प्रकट होनेवाले सट्टेबाज़ी के आकस्मिक दौरों से हम जानते हैं कि यह पूंजी राशियों को असाधारण तेज़ी के साथ एक व्यवसाय शाखा से निकाल सकती है और उतनी ही तेज़ी से दूसरी में डाल सकती है। फिर भी वास्तविक उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र – उद्योग, कृषि, खनन, आदि – के विषय में पूंजी का एक क्षेत्र से दूसरे को अंतरण काफ़ी मुश्किलें पेश करता है, ख़ासकर विद्यमान स्थायी पूंजी के कारण। इसके अलावा, अनुभव दिखलाता है कि अगर उद्योग की कोई शाखा, जैसे, उदाहरण के लिए, सूती उद्योग, एक समय असाधारणतः ऊंचे लाभ प्रदान करती है, तो दूसरे समय वह बहुत कम मुनाफ़ा बनाती, बल्कि घाटा तक उठाती है, जिससे कि एक ख़ास वर्ष चक्र में औसत लाभ बहुत कुछ उतना ही रहता है कि जितना अन्य शाखाओं में। और पूंजी इस अनुभव को ध्यान में रखना जल्दी ही सीख लेती है।

लेकिन प्रतिद्वंद्विता जो **नहीं** दिखलाती, वह उत्पादन की गति को शासित करनेवाला मूल्य निर्धारण है; वह उत्पादन दामों की ओट में रहने और अन्ततोगत्वा उन्हें निर्धारित करनेवाले मूल्यों को नहीं दिखलाती। दूसरी ओर, प्रतिद्वंद्विता जो दिखलाती है, वह है: १) औसत लाभ, जो भिन्न-भिन्न उत्पादन क्षेत्रों में पूंजी की आंगिक संरचना से और इसलिए शोषण के किसी भी नियत क्षेत्र में किसी भी नियत पूंजी द्वारा हड़पी गयी सजीव श्रम संहति से भी स्वतंत्र होते हैं; २) मज़दूरी के स्तर में परिवर्तनों से उत्पादन दामों का चढ़ना-उतरना, जो एक ऐसी परिघटना है कि पहली निगाह में जिंसों के मूल्य संबंध को पूर्णतः नकारती है; ३) बाज़ार दामों के उतार-चढ़ाव, जो किसी नियत कालावधि के भीतर जिंसों के औसत बाज़ार दाम को बाज़ार **मूल्य** में नहीं, बल्कि अत्यंत भिन्न उत्पादन के बाज़ार दाम में परिणत कर देते हैं, जो इस बाज़ार मूल्य से काफ़ी भिन्न होता है। ये सभी परिघटनाएं मूल्य के श्रम काल द्वारा निर्धारण को उतना ही नकारती **प्रतीत होती हैं** कि जितना अशोधित बेशी श्रम को समाविष्ट करनेवाले बेशी मूल्य की प्रकृति को। **इस प्रकार प्रतिद्वंद्विता में सभी कुछ उलटा नज़र आता है।** आर्थिक संबंधों का जो अंतिम रूप सतह पर, अपने वास्तविक अस्तित्व में और फलतः उन संकल्पनाओं में दिखायी देता है, जिनके द्वारा इन संबंधों के वाहक तथा साधक उन्हें समझने की कोशिश करते हैं, वह उनके आंतरिक, किंतु प्रच्छन्न तात्विक रूप और तत्सम संकल्पना से अत्यधिक भिन्न और वस्तुतः सर्वथा उलटा ही होता है।

और आगे चलें। जैसे ही पूंजीवादी उत्पादन विकास के एक ख़ास स्तर पर पहुंचता है, अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न लाभ दरों का एकमात्र आकर्षण-प्रतिकर्षण की गतिविधि के ज़रिये, जिससे बाज़ार दाम पूंजी को आकर्षित अथवा प्रतिकर्षित करते हैं, सामान्य लाभ दर में समकरण होना बंद हो जाता है। जब औसत दाम और उनके अनुरूप बाज़ार दाम कुछ समय के लिए स्थिर हो जाते हैं, तब ही यह बात अलग-अलग पूंजीपतियों की **चेतना** में पहुंचती है कि यह समकरण **निश्चित अंतरों** को संतुलित करता है, जिससे वे इन्हें अपने आपसी परि-कलनों में शामिल कर लेते हैं। ये अंतर पूंजीपतियों के दिमाग़ में विद्यमान रहते हैं और इन्हें प्रतिपूर्ति करने के आधारों के नाते ध्यान में रखा जाता है।

बुनियादी संकल्पना औसत लाभ है, अर्थात यह कि समान परिमाण की पूंजियों को समान

कालावधियों में समान लाभ प्रदान करना चाहिए। स्वयं यह इस संकल्पना पर आधारित है कि प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र में पूंजी को अपने परिमाण के pro rata [यथानुपात] कुल सामाजिक पूंजी द्वारा श्रमिकों से निचोड़े कुल बेशी मूल्य में अंशभागी होना चाहिए ; अथवा यह कि प्रत्येक व्यष्टिक पूंजी को कुल सामाजिक पूंजी का मात्र एक अंश और प्रत्येक पूंजीपति को कुल सामाजिक उद्यम में एक अंशधारी समझना चाहिए, जो कुल लाभ में पूंजी के अपने अंश के pro rata अंशभागी होता है।

यह संकल्पना पूंजीपति के लिए परिकलनों के आधार का काम देती है। उदाहरण के लिए, अगर एक पूंजी का आवर्त दूसरी के आवर्त से इस कारण मंथर है कि जिंसों को उत्पादित करने में अधिक समय लगता है, या इसलिए कि वे अधिक दूरवर्ती बाजारों में बिकती हैं, तो भी वह इस प्रकार गंवाये लाभ को पूरा कर लेती है और दाम को चढ़ाकर अपनी प्रतिपूर्ति कर लेती है। या ज्यादा जोखिमवाली शाखाओं में, उदाहरणार्थ जहाजरानी में, पूंजी निवेशों की उच्चतर दामों से प्रतिपूर्ति की जाती है। पूंजीवादी उत्पादन और उसके साथ बीमा व्यवसाय के विकसित होने के साथ जोखिम वस्तुतः सभी उत्पादन क्षेत्रों के लिए समान हो जाते हैं (देखें कार्बेट*); लेकिन अधिक जोखिमवाली शाखाएं उच्चतर बीमा शुल्क देती हैं और उनकी अपने मालों के दामों में वसूली कर लेती हैं। व्यवहार में इस सब का मतलब यह है कि ऐसी हर परिस्थिति को, जो एक उत्पादन शाखा को — और कुछेक सीमाओं के भीतर उन सभी को समान रूप में आवश्यक समझा जाता है — कम लाभदायी और दूसरी को अधिक लाभदायी बना देती है, अंतिम रूप में प्रतिपूर्ति के वैध आधार की तरह ध्यान में ले लिया जाता है और इसके लिए इस प्रतिपूर्ति का परिकलन करने के उद्देश्यों या कारकों के औचित्य को सिद्ध करने के लिए हमेशा ही प्रतिपूर्ति की नवीकृत क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। पूंजीपति सीधे-सीधे भूल जाता है — बल्कि यों कहिये कि देख नहीं पाता, क्योंकि प्रतिद्वंद्विता यह उसे दिखलाती नहीं — कि भिन्न-भिन्न उत्पादन शाखाओं की जिंसों के दामों के परिकलन में पूंजीपतियों द्वारा प्रतिपूर्ति के लिए आपस में पेश किये गये इन सभी आधारों का सारतत्व मात्र यह है कि सामान्य लूट — कुल बेशी मूल्य — पर उन सभी का, अपनी-अपनी पूंजी के pro rata, समान दावा होता है। बल्कि उन्हें तो यही **लगता है** कि चूंकि उनके द्वारा प्राप्त लाभ उनके द्वारा हड़पे हुए बेशी मूल्य से भिन्न होता है, इसलिए प्रतिपूर्ति के ये आधार कुल बेशी मूल्य में उनकी सहभागिता को समतुलित नहीं करते, वरन **स्वयं लाभ ही सृजित करते हैं**, जो उनके मालों की लागत क़ीमतों में इस या उस आधार पर किये परिवर्धनों से ही उत्पन्न होता प्रतीत होता है।

बाक़ी बातों में बेशी मूल्य के स्रोत के बारे में पूंजीपतियों की कल्पनाओं के संबंध में अध्याय ७, पृष्ठ ११६** में कही सभी बातें औसत लाभ पर भी लागू होती हैं। प्रस्तुत प्रसंग केवल इसी हद तक भिन्न प्रतीत होता है कि अगर जिंसों के बाजार दाम और श्रम के शोषण को नियत माना जाये, तो लागत दाम में बचत वैयक्तिक व्यवसाय चातुर्य, सतर्कता, आदि पर निर्भर करती है।

---

* Th. Corbet, *An Inquiry into the Causes and Modes of the Wealth of Individuals*, London, 1841, pp. 100-02. — सं०

** प्रस्तुत संस्करण : पृष्ठ १२६ — १२७। — सं०

भाग ३

लाभ दर के गिरने की प्रवृत्ति का नियम

अध्याय १३

नियम का वास्तविक आशय

अगर मज़दूरी तथा कार्य दिवस को नियत माना जाये, तो परिवर्ती पूंजी, उदाहरण के लिए, १०० की, नियोजित श्रमिकों की एक ख़ास संख्या को व्यक्त करती है। यह इस संख्या की सूचक है। मान लीजिये, १०० पाउंड १०० मज़दूरों की, मसलन, एक सप्ताह की मज़दूरी हैं। अगर ये श्रमिक आवश्यक तथा बेशी श्रम की समान मात्राओं का निष्पादन करते हैं, अगर वे नित्य अपने लिए, अर्थात अपनी मज़दूरी के पुनरुत्पादन के लिए, उतने ही घंटे काम करते हैं कि जितने पूंजीपति के लिए, अर्थात बेशी मूल्य के उत्पादन के लिए, करते हैं, तो उनके कुल उत्पाद का मूल्य = २०० पाउंड और उनके द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य १०० पाउंड होगा। बेशी मूल्य दर, $\frac{s}{v}$, १००% होगी। लेकिन फिर भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह बेशी मूल्य दर स्थिर पूंजी, c, और फलतः कुल पूंजी, C, के भिन्न-भिन्न परिमाणों के अनुसार अपने को अत्यंत भिन्न-भिन्न लाभ दरों में व्यक्त करती है, क्योंकि लाभ दर = $\frac{s}{C}$ है। बेशी मूल्य दर १००% है:

अगर c = ५०, और v = १००, तो $p' = \frac{१००}{१५०}$ = ६६ २/३% ;

अगर c = १००, और v = १००, तो $p' = \frac{१००}{२००}$ = ५०% ;

अगर c = २००, और v = १००, तो $p' = \frac{१००}{३००}$ = ३३ १/३% ;

अगर c = ३००, और v = १००, तो $p' = \frac{१००}{४००}$ = २५% ;

अगर c = ४००, और v = १००, तो $p' = \frac{१००}{५००}$ = २०%।

बेशी मूल्य की उतनी ही दर श्रम के शोषण की उतनी ही मात्रा के अंतर्गत ह्रासमान लाभ दर में अपने को इस प्रकार व्यक्त करेगी, क्योंकि स्थिर पूंजी की भौतिक वृद्धि में उसके मूल्य में – यद्यपि उतने ही अनुपात में नहीं – और फलतः कुल पूंजी के मूल्य में वृद्धि भी सन्निहित होती है।

इसके अलावा अगर यह माना जाये कि पूंजी की संरचना में यह क्रमिक परिवर्तन केवल पृथक उत्पादन क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह न्यूनाधिक सभी, या कम से कम मुख्य उत्पादन क्षेत्रों में होता है, जिससे कि इसमें किसी समाज की कुल पूंजी की औसत आंगिक संरचना में परिवर्तन सम्मिलित होते हैं, तो जब तक बेशी मूल्य दर, अथवा पूंजी द्वारा श्रम के शोषण की तीव्रता उतनी ही बनी रहती है, परिवर्ती पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी की क्रमिक वृद्धि के फलस्वरूप अनिवार्यतः **सामान्य लाभ दर का क्रमिक ह्रास** होगा। अब हमने देख लिया है कि यह पूंजीवादी उत्पादन का एक नियम ही है कि उसके विकास के साथ-साथ स्थिर पूंजी की, और फलतः गतिशील की गयी कुल पूंजी की तुलना में परिवर्ती पूंजी का आपेक्षिक ह्रास होता है। यह महज़ इसी बात को कहने का दूसरा ढंग है कि पूंजीवादी व्यवस्था में विकसित होनेवाली विशिष्ट उत्पादन पद्धतियों के कारण मजदूरों की उतनी ही संख्या, अर्थात एक नियत मूल्य की परिवर्ती पूंजी द्वारा गतिशील श्रम शक्ति की उतनी ही मात्रा, उतनी ही समयावधि में श्रम साधनों, मशीनरी तथा भांति-भांति की स्थायी पूंजी, कच्चे मालों तथा सहायक सामग्री की निरंतर बढ़ती मात्रा – और फलतः निरंतर बढ़ते मूल्य की स्थिर पूंजी – को चालित करती, संसाधित करती और उत्पादक ढंग से उपभोग में लाती है। स्थिर, और फलतः कुल पूंजी की तुलना में परिवर्ती पूंजी का यह सतत आपेक्षिक ह्रास सामाजिक पूंजी की उत्तरोत्तर उच्च औसत संरचना के समरूप होता है। इसी प्रकार यह श्रम की सामाजिक उत्पादिता के प्रगामी विकास को व्यक्त करने का ही एक और ढंग है, जो ठीक इसी बात से प्रदर्शित होता है कि मशीनरी और सामान्यतः स्थायी पूंजी के बढ़ते प्रयोग की बदौलत मजदूरों की उतनी ही संख्या उतने ही समय में, अर्थात कम श्रम से, कच्ची तथा सहायक सामग्री की निरंतर बढ़ती मात्रा को उत्पादों में परिणत कर देती है। स्थिर पूंजी के मूल्य की इस बढ़ती मात्रा – चाहे वह केवल उन उपयोग मूल्यों की वास्तविक संहति को ही स्थूल रूप में दर्शाती है, जिनसे स्थिर पूंजी भौतिक रूप में बनी होती है – के अनुरूप उत्पाद उत्तरोत्तर सस्ते होते जाते हैं। प्रत्येक पृथक उत्पाद में, स्वयं अपने में लेने पर, उसकी अपेक्षा कम श्रम समाविष्ट होता है, जितना उसमें उत्पादन के निम्नतर स्तर पर समाविष्ट था, जब मजदूरी में निवेशित पूंजी उत्पादन साधनों में निवेशित पूंजी की तुलना में कहीं अधिक होती है। इसलिए इस अध्याय के आरंभ में निरूपित परिकल्पनात्मक शृंखला पूंजीवादी उत्पादन की वास्तविक प्रवृत्ति को व्यक्त करती है। यह उत्पादन पद्धति स्थिर पूंजी की तुलना में परिवर्ती पूंजी का प्रगामी आपेक्षिक ह्रास, और फलतः कुल पूंजी की आंगिक संरचना का निरंतर वर्धन उत्पन्न करती है। इसका सीधा परिणाम यह है कि श्रम के शोषण की उतनी ही, अथवा वर्धमान मात्रा तक पर बेशी मूल्य दर निरंतर ह्रासमान सामान्य लाभ दर द्वारा व्यक्त होती है। (हम आगे चलकर देखेंगे* कि यह ह्रास अपने को क्यों निरपेक्ष रूप में नहीं, बल्कि प्रगामी ह्रास की प्रवृत्ति की तरह अभिव्यक्त करता है।) इसलिए सामान्य लाभ दर के गिरने की प्रगामी प्रवृत्ति मात्र श्रम की सामाजिक उत्पादिता के प्रगामी विकास की **पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के लिए विशिष्ट अभिव्यक्ति** ही है। इसका मतलब यह कहना नहीं है कि लाभ दर अस्थायी रूप में अन्य कारणों से नहीं गिर सकती। किंतु पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की प्रकृति से ही उत्पन्न होने के कारण यह एक तर्कसंगत आवश्यकता बन जाती है कि अपने विकास में सामान्य औसत बेशी मूल्य दर अपने आपको

---

* प्रस्तुत संस्करण: अध्याय १४। – सं०

ह्रासमान सामान्य लाभ दर में व्यक्त करे। चूंकि नियोजित सजीव श्रम संहति अपने द्वारा गतिशील की गयी मूर्त श्रम संहति की, अर्थात उत्पादक ढंग से उपभुक्त उत्पादन साधनों की तुलना में निरंतर घटती रहती है, अतः निष्कर्ष यह है कि इस सजीव श्रम का अशोधित और बेशी मूल्य में घनीभूत अंश भी निवेशित कुल पूंजी द्वारा व्यक्त की जानेवाली मूल्य राशि की तुलना में निरंतर घटता रहेगा। चूंकि निवेशित कुल पूंजी के मूल्य के साथ बेशी मूल्य संहति का अनुपात ही लाभ दर होता है, इसलिए यह लाभ दर भी निरंतर गिरती जायेगी।

पूर्ववर्ती कथनों से यह नियम चाहे कितना सरल प्रतीत होता हो, फिर भी समूचे राजनीतिक अर्थशास्त्र को अब तक इसे खोजने में अधिक सफलता नहीं मिल पायी है, जैसे कि हम एक अग्गामी भाग में देखेंगे।* अर्थशास्त्रियों ने परिघटना को चीन्हा और उसका निर्वचन करने के कष्टकर प्रयासों में अपने दिमाग़ भिड़ाये। चूंकि यह नियम पूंजीवादी उत्पादन के लिए बहुत महत्व का है, इसलिए इसे एक ऐसा रहस्य कहा जा सकता है, जिसका समाधान ऐडम स्मिथ के समय से संपूर्ण राजनीतिक अर्थशास्त्र का लक्ष्य रहा है, और ऐडम स्मिथ के समय से विभिन्न धाराओं में अंतर समाधान के प्रति अलग-अलग अभिगमनों का ही रहा है। दूसरी ओर, जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि अब तक राजनीतिक अर्थशास्त्र स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के बीच विभेद के चक्कर में ही पड़ा रहा है, मगर कभी भी उसे यथार्थतः परिभाषित नहीं कर पाया है; उसने कभी बेशी मूल्य को लाभ से अलग नहीं किया है और लाभ पर कभी उसके औद्योगिक लाभ, वाणिज्यिक लाभ, ब्याज और किराया ज़मीन जैसे अलग-अलग और स्वतंत्र घटकों से भिन्न, उसके शुद्ध रूप में, विचार तक नहीं किया है; उसने कभी पूंजी की आंगिक संरचना में अंतरों का सम्यक विश्लेषण नहीं किया है और इस कारण सामान्य लाभ दर की उत्पत्ति का विश्लेषण करने की बात कभी सोची भी नहीं है – अगर हम इन सभी बातों पर विचार करें, तो इस पहेली को सुलझाने में असफलता ज़रा भी आश्चर्यजनक नहीं रह जाती है।

हम इस नियम को लाभ के विभिन्न स्वतंत्र संवर्गों में विभाजन में जाने के पहले जान-बूझकर प्रस्तुत कर रहे हैं। यह बात कि यह विश्लेषण लाभ के विभिन्न भागों में विभाजन से, जो लोगों के भिन्न-भिन्न संवर्गों के हिस्से में पड़ते हैं, स्वतंत्र रूप में किया जा रहा है, आरंभ में ही यह दर्शा देती है कि अपनी समग्रता में यह नियम इस विभाजन से स्वतंत्र है और लाभ के परिणामी संवर्गों के पारस्परिक संबंधों से भी इतना ही स्वतंत्र है। हम यहां जिस लाभ की बात कर रहे हैं, वह स्वयं बेशी मूल्य का ही एक और नाम मात्र है, जिसे मात्र परिवर्ती पूंजी के ही नहीं, जिससे वह उत्पन्न होता है, बल्कि कुल पूंजी के साथ अपनी सापेक्षता में ही पेश किया जाता है। इसलिए लाभ दर में ह्रास पेशगी कुल पूंजी के साथ बेशी मूल्य की ह्रासमान सापेक्षता को व्यक्त करता है और इसलिए वह इस बेशी मूल्य के विभिन्न संवर्गों के बीच किसी भी प्रकार के विभाजन से स्वतंत्र है।

हम देख चुके हैं कि पूंजीवादी विकास की एक विशेष अवस्था में, जहां पूंजी की आंगिक संरचना c : v = ५० : १०० थी, १००% की बेशी मूल्य दर ६६ २/३% की लाभ दर में व्यक्त होती थी, और उससे उच्चतर अवस्था में, जहां c : v = ४०० : १०० थी, वही बेशी

---

*K. Marx, *Theorien über den Mehrwert*. K. Marx/F. Engels, *Werke*, Band 26, Teil 2, S. 435-66, 541-43. – सं०

मूल्य दर केवल २०% की लाभ दर में व्यक्त होती थी। जो बात एक देश में विकास की विभिन्न क्रमिक अवस्थाओं के बारे में सही है, वह भिन्न-भिन्न देशों में विकास की विभिन्न सहअस्तित्वमान अवस्थाओं के बारे में भी सही है। अविकसित देश में, जिसमें पूंजी की पूर्वोक्त संरचना ही औसत है, सामान्य लाभ दर ६६ २/३% होगी, जबकि अंतोक्त संरचना और विकास की उच्चतर अवस्था के देश में वह २०% होगी।

दोनों राष्ट्रीय लाभ दरों में अंतर मिट और उलट भी सकता था, अगर कम विकसित देश में श्रम कम उत्पादक होता, जिससे कि उन्हीं मालों की अल्पतर मात्रा में श्रम की दीर्घतर मात्रा व्यक्त होती और कम उपयोग मूल्य में अधिक विनिमय मूल्य व्यक्त होता। तब श्रमिक स्वयं अपने निर्वाह साधन, अथवा उनका मूल्य पुनरुत्पादित करने में अपना अधिक समय और बेशी मूल्य उत्पादित करने में कम समय लगाता, फलतः वह कम बेशी श्रम करता, जिसके फलस्वरूप बेशी मूल्य दर निम्नतर होती। मान लीजिये, कम विकसित देश का श्रमिक २/३ कार्य दिवस स्वयं अपने लिए और १/३ पूंजीपति के लिए काम करता है; तब उपरोक्त दृष्टांतानुसार उसी श्रम शक्ति की अदायगी १३३ १/३ से की जायेगी और वह केवल ६६ २/३ बेशी देगी। ५० की स्थिर पूंजी १३३ १/३ की परिवर्ती पूंजी के अनुरूप होगी। बेशी मूल्य दर ६६ २/३ : : १३३ १/३ = ५०% और लाभ दर ६६ २/३ : १८३ १/३, अथवा लगभग ३६ १/२% होगी।

चूंकि हमने लाभ के विभिन्न संघटकों का अभी तक विश्लेषण नहीं किया है, अर्थात हमारे लिए वे अभी अस्तित्व में नहीं हैं, इसलिए महज़ ग़लतफ़हमी से बचने के लिए हम निम्न बातें कहे देते हैं: विकास की अलग-अलग अवस्थाओं के देशों की तुलना करते समय, अर्थात विकसित पूंजीवादी उत्पादनवाले देशों की ऐसे देशों से तुलना करते समय, जिनमें श्रम अभी औपचारिक रूप में पूंजी के अधीन नहीं है, यद्यपि यथार्थ में श्रमिक का पूंजीपति ही शोषण करता है (उदाहरण के लिए, जैसे भारत में, जहां रैयत अपनी खेतीबाड़ी एक स्वतंत्र उत्पादक की तरह करता है, इसलिए जिसका उत्पादन अपने आप में अभी तक पूंजी के अधीन नहीं है, चाहे सूदख़ोर सूद के ज़रिये उसे न सिर्फ़ अपने सारे बेशी श्रम से ही वंचित कर सकता है, बल्कि – पूंजीवादी पद का प्रयोग करें, तो – उसकी मज़दूरी का एक भाग भी काट सकता है), राष्ट्रीय लाभ दर के स्तर को, मसलन, राष्ट्रीय ब्याज दर के स्तर से मापना बहुत बड़ी ग़लती होगा। इस ब्याज में सारा लाभ, बल्कि लाभ से भी अधिक समाविष्ट होता है, बजाय इसके कि वह मात्र उत्पादित बेशी मूल्य, अथवा लाभ के एक अशेषभाजक अंश को ही व्यक्त करे, जैसे वह विकसित पूंजीवादी उत्पादनवाले देशों में करता है। दूसरी ओर, यहां ब्याज दर अधिकांशतः ऐसे संबंधों द्वारा निर्धारित होती है (सूदख़ोरों द्वारा बड़ी भूसंपत्तियों के स्वामियों को प्रदत्त ऋण, जो किराया ज़मीन लेते हैं), जिनका लाभ से कोई ताल्लुक़ नहीं होता, बल्कि जो यही दिखलाते हैं कि सूदख़ोरी किस हद तक किराया ज़मीन को हथिया लेती है।

जहां तक पूंजीवादी उत्पादन के विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं, और फलतः भिन्न-भिन्न आंगिक संरचना की पूंजियों वाले देशों की बात है, जिस देश में सामान्य कार्य दिवस दूसरे देश से छोटा होता है, उसमें बेशी मूल्य दर (उन कारकों में से एक, जो लाभ दर का निर्धारण करते हैं) उच्चतर हो सकती है। **प्रथमतः**, अगर इंगलैंड का १० घंटे का कार्य दिवस अपनी उच्चतर तीव्रता के कारण आस्ट्रिया के १४ घंटे के कार्य दिवस के बराबर है, तो दोनों ही मामलों में कार्य दिवस का समान विभाजन करने में इंगलैंड का ५ घंटे का बेशी श्रम विश्व बाज़ार में आस्ट्रिया के ७ घंटे के बेशी श्रम से अधिक मूल्य व्यक्त कर सकता है।

दूसरे, आस्ट्रिया के कार्य दिवस की अपेक्षा इंगलैंड के कार्य दिवस का अधिक बड़ा अंश बेशी श्रम को व्यक्त कर सकता है।

ह्रासमान लाभ दर का नियम, जो उसी, अथवा उच्चतर तक बेशी मूल्य दर को व्यक्त करता है, दूसरे शब्दों में कहता है कि औसत सामाजिक पूंजी की किसी भी मात्रा, मसलन, १०० की पूंजी में श्रम साधनोंवाला अंश लगातार बढ़ता और सजीव श्रमवाला अंश लगातार कम होता जाता है। लिहाजा, चूंकि उत्पादन साधनों के चालक सजीव श्रम की समुच्चित संहति इन उत्पादन साधनों के मूल्य की तुलना में घटती है, इसलिए पेशगी कुल पूंजी की तुलना में अशोधित श्रम और मूल्य के उस अंश को, जिसमें वह व्यक्त होता है, घटना चाहिए। अथवा: निवेशित कुल पूंजी का निरंतर न्यूनतर अंश सजीव श्रम में परिवर्तित होता है और इसलिए यह कुल पूंजी अपने परिमाण के अनुपात में निरंतर कम बेशी श्रम को अवशोषित करती है, यद्यपि प्रयुक्त श्रम का अशोधित अंश साथ ही शोधित अंश की तुलना में बढ़ सकता है। तथापि दोनों अंश निरपेक्ष परिमाण में चाहे कितना बढ़ें, जैसे हमने कहा है, परिवर्ती पूंजी की आपेक्षिक घटत और स्थिर पूंजी की बढ़त श्रम की अधिक उत्पादिता की मात्र एक और अभिव्यक्ति ही है।

मान लीजिये कि १०० की एक पूंजी $८०_c + २०_v$ से बनी है और अंतोक्त = २० श्रमिक है। मान लीजिये कि बेशी मूल्य दर १००% है, अर्थात श्रमिक आधा दिन अपने लिए और आधा दिन पूंजीपति के लिए काम करते हैं। अब मान लीजिये कि कम विकसित देश में १०० की पूंजी = $२०_c + ८०_v$ है और मान लीजिये कि अंतोक्त = ८० श्रमिक है। लेकिन इन श्रमिकों को २/३ दिन अपने लिए चाहिए और पूंजीपति के लिए वे सिर्फ़ १/३ दिन ही काम करते हैं। और सभी कुछ समान होने के कारण पहले प्रसंग में मजदूर ४० का मूल्य उत्पादित करते हैं और दूसरे में १२० का। पहली पूंजी $८०_c + २०_v + २०_s$ = १२० उत्पादित करती है; लाभ दर २०%। दूसरी पूंजी $२०_c + ८०_v + ४०_s$ = १४० उत्पादित करती है, लाभ दर = ४०%। इसलिए दूसरे प्रसंग में लाभ दर पहले से दुगुनी है, यद्यपि पहले में बेशी मूल्य दर = १००%, यानी दूसरे प्रसंग की दुगुनी है, जहां वह सिर्फ़ ५०% है। लेकिन फिर यह भी है कि उसी परिमाण की पूंजी पहले प्रसंग में केवल २० श्रमिकों के बेशी श्रम को हड़पती है, जबकि दूसरे प्रसंग में ८० श्रमिकों के बेशी श्रम को।

प्रगामी ह्रासमान लाभ दर, अथवा हड़पे हुए बेशी श्रम के आपेक्षिक ह्रास का नियम सजीव श्रम द्वारा गतिशील किये मूर्त श्रम की संहति की तुलना में किसी भी प्रकार न तो इसे वर्जित करता है कि सामाजिक पूंजी द्वारा गतिशील किये गये शोषित श्रम की निरपेक्ष संहति, और फलतः उसके द्वारा हड़पे गये बेशी श्रम की निरपेक्ष संहति बढ़ें; न वह इसे ही वर्जित करता है कि अलग-अलग पूंजीपतियों द्वारा नियंत्रित पूंजियां श्रम की और इसलिए बेशी श्रम की निरंतर बढ़ती संहति को, और अंतोक्त को तो तब भी कि चाहे उनके द्वारा नियोजित मज़दूरों की संख्या न ही बढ़ती हो, क़ाबू में रख सकें।

एक ख़ास संख्या की, उदाहरण के लिए, बीस लाख की श्रमिक आबादी ले लीजिये। इसके अलावा मान लीजिये कि औसत कार्य दिवस की दीर्घता तथा तीव्रता, और मज़दूरी का स्तर और इस प्रकार आवश्यक तथा बेशी श्रम के बीच अनुपात नियत हैं। इस हालत में इन बीस लाख श्रमिकों का समुच्चित श्रम, और बेशी मूल्य में व्यक्त उनका बेशी श्रम, सदा मूल्य का उतना ही परिमाण उत्पादित करता है। किंतु इस श्रम द्वारा गतिशील की गयी स्थिर

(स्थायी तथा प्रचल) पूंजी की संहति की वृद्धि के साथ उत्पादित मूल्य की यह मात्रा इस पूंजी के मूल्य की तुलना में घटती है, जो उसकी संहति के साथ बढ़ता है, चाहे बिलकुल उतने ही अनुपात में न सही। इस अनुपात, और फलतः लाभ दर, का इसके बावजूद संकुचन होता है कि नियंत्रणाधीन सजीव श्रम संहति उतनी ही है कि जितनी पहले थी और पूंजी द्वारा उससे बेशी श्रम की उतनी ही मात्रा को निचोड़ा जाता है। वह इसलिए बदल जाती है कि सजीव श्रम द्वारा गतिशील किये जानेवाले मूर्त श्रम की संहति बढ़ जाती है, न कि इसलिए कि सजीव श्रम की संहति संकुचित हो गयी है। यह एक आपेक्षिक घटत ही है, निरपेक्ष नहीं और वास्तव में इसका गतिशील किये गये श्रम तथा बेशी श्रम के निरपेक्ष परिमाण से कोई भी संबंध नहीं है। लाभ दर में उतार कुल पूंजी के परिवर्ती भाग की निरपेक्ष घटत नहीं, बल्कि केवल आपेक्षिक घटत के कारण है, अर्थात स्थिर भाग की तुलना में उसकी घटत के कारण है।

जो बात श्रम और बेशी श्रम की किसी भी नियत संहति पर लागू होती है, वह श्रमिकों की बढ़ती संख्या पर, और इस प्रकार, उपरोक्त कल्पना के अंतर्गत, सामान्यरूपेण नियंत्रणाधीन श्रम की किसी भी बढ़ती संहति पर, और विशेषरूपेण उसके अशोधित भाग, बेशी श्रम पर भी लागू होती है। अगर श्रमिक आबादी बीस लाख से बढ़कर तीस लाख हो जाती है, और अगर मजदूरी में निवेशित परिवर्ती पूंजी भी अपने पहले बीस लाख से बढ़कर तीस लाख हो जाती है, जबकि स्थिर पूंजी चालीस लाख से बढ़कर एक सौ पचास लाख हो जाती है, तो – स्थिर कार्य दिवस तथा स्थिर बेशी मूल्य की उपरोक्त कल्पना के अंतर्गत – बेशी श्रम की और बेशी मूल्य की संहति आधा गुना, अर्थात ५०% बढ़कर बीस लाख से तीस लाख हो जाती है। फिर भी, बेशी श्रम की, और इसलिए बेशी मूल्य की निरपेक्ष संहति की इस ५०% की वृद्धि के बावजूद परिवर्ती पूंजी का स्थिर पूंजी के साथ अनुपात २ : ४ से घटकर ३ : १५ हो जायेगा, और बेशी मूल्य का कुल पूंजी के साथ अनुपात यह होगा (दस लाखों में) :

I. $४_c + २_v + २_s$; $C = ६$, $p' = ३३\ १/३\%$ ।
II. $१५_c + ३_v + ३_s$; $C = १८$, $p' = १६\ २/३\%$ ।

जहां बेशी मूल्य संहति आधा गुना बढ़ी है, वहां लाभ दर आधा गुना गिर गयी है। लेकिन लाभ कुल सामाजिक पूंजी की सापेक्षता में परिकलित बेशी मूल्य ही तो है, और लाभ की संहति, उसका निरपेक्ष परिमाण, सामाजिक रूप में बेशी मूल्य के निरपेक्ष परिमाण के बराबर होता है। इसलिए लाभ के निरपेक्ष परिमाण में, उसकी कुल राशि में, पेशगी कुल पूंजी की तुलना में उसकी महती आपेक्षिक घटत के बावजूद, अथवा सामान्य लाभ दर में महत् ह्रास के बावजूद, ५०% की वृद्धि आयी होगी। फलतः, पूंजी द्वारा नियोजित श्रमिकों की संख्या, इसलिए उसके द्वारा गतिशील निरपेक्ष श्रम संहति और इसलिए उसके द्वारा अवशोषित निरपेक्ष बेशी श्रम संहति, उसके द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य संहति और इसलिए उसके द्वारा उत्पादित निरपेक्ष लाभ संहति लाभ दर में प्रगामी उतार के बावजूद प्रगामी रूप में बढ़ **सकती** हैं और बढ़ती हैं। और ऐसा केवल **हो ही नहीं सकता है**। अस्थायी उतार-चढ़ावों को छोड़कर पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर ऐसा होना ही **चाहिए**।

तत्वतः पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया साथ ही संचय की प्रक्रिया भी है। हम दिखला चुके हैं कि पूंजीवादी उत्पादन के विकास के साथ श्रम उत्पादिता की वृद्धि के संग-संग केवल पुनरुत्पादित किये तथा क़ायम रखे जानेवाले मूल्यों की संहति बढ़ती जाती है, चाहे नियोजित श्रम

शक्ति स्थिर ही बनी रहे। लेकिन श्रम की सामाजिक उत्पादिता के बढ़ने के साथ उत्पादित उपयोग मूल्यों की संहति, उत्पादन साधन जिसके एक अंग होते हैं, और भी अधिक बढ़ती है। और वह अतिरिक्त श्रम, जिसके हस्तगतकरण के ज़रिये इस अतिरिक्त संपदा को पूंजी में पुनः-परिवर्तित किया जा सकता है, मूल्य पर नहीं, वरन इन उत्पादन साधनों (निर्वाह साधनों सहित) की संहति पर निर्भर करता है, क्योंकि उत्पादन प्रक्रिया में श्रमिकों का उत्पादन साधनों के मूल्य से नहीं, बल्कि केवल उपयोग मूल्य से ही सरोकार होता है। तथापि संचय स्वयं और उसके साथ चलनेवाला पूंजी का संकेंद्रण उत्पादनशीलता को बढ़ाने का एक भौतिक साधन है। किंतु उत्पादन साधनों की इस वृद्धि में श्रमिक आबादी का बढ़ना, बेशी पूंजी के अनुरूप, बल्कि उसकी सामान्य आवश्यकताओं के भी अतिरेक में, श्रमिक आबादी का सृजन भी शामिल है, जिससे मज़दूरों का संख्याधिक्य हो जाता है। अपनी नियंत्रणाधीन श्रमिक आबादी पर बेशी पूंजी का क्षणिक अतिरेक दुहरा प्रभाव डालेगा। एक ओर, तो वह मज़दूरी को चढ़ाकर उन प्रतिकूल अवस्थाओं को हलका करेगा, जो मज़दूरों की संतान का नाश करती हैं और उनमें शादियां आसान बना देगा, जिससे आबादी की क्रमिक वृद्धि होगी। दूसरी ओर, ऐसी पद्धतियां लागू करके कि जो आपेक्षिक बेशी मूल्य उत्पन्न करती हैं (मशीनरी का प्रचलन तथा सुधार), वह कहीं अधिक तीव्र कृत्रिम, आपेक्षिक संख्याधिक्य पैदा करेगा, जो अपनी बारी में आबादी के वस्तुतः तीव्र प्रसार का मूलाधार बन जायेगा, क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत ग़रीबी आबादी को पैदा करती है। अतः पूंजीवादी संचय की प्रक्रिया, जो पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का एक पहलू ही है, की प्रकृति से अपने आप ही यह होता है कि उत्पादन साधनों की जिस वर्धित संहति को पूंजी में परिवर्तित होना है, वह सदा तदनुरूप, बल्कि अत्यधिक बढ़ी हुई शोषण करने योग्य श्रमिक आबादी को पा लेती है। अतः, उत्पादन तथा संचय की प्रक्रिया के बढ़ने के साथ-साथ उपलब्ध तथा हड़पी हुई बेशी श्रम संहति और इसलिए सामाजिक पूंजी द्वारा हड़पी हुई निरपेक्ष लाभ संहति को बढ़ना ही होगा। किंतु उत्पादन तथा संचय के वही नियम स्थिर पूंजी की मात्रा के साथ-साथ उसके मूल्य को भी पूंजी के परिवर्ती भाग की अपेक्षा, जो सजीव श्रम में निवेशित होती है, आरोही अनुक्रम में अधिक तीव्रतापूर्वक बढ़ा देते हैं। अतः, वही नियम सामाजिक पूंजी के लिए वर्धमान निरपेक्ष लाभ संहति और ह्रासमान लाभ दर भी उत्पन्न करते हैं।

हम यहां इस बात को पूरी तरह से नज़रअंदाज़ कर देंगे कि पूंजीवादी उत्पादन की उन्नति और सामाजिक श्रम की उत्पादनशीलता के सहवर्ती विकास तथा उत्पादन शाखाओं की और इसलिए उत्पादों की संख्या वृद्धि के साथ मूल्य की उतनी ही मात्रा उपयोग मूल्यों तथा उपभोगों की उत्तरोत्तर बढ़ती संहति को व्यक्त करती है।

पूंजीवादी उत्पादन तथा संचय का विकास श्रम प्रक्रियाओं को निरंतर बड़े पैमाने पर संपन्न करता है और इस प्रकार उन्हें निरंतर बड़े आयाम देता जाता है और इसके अनुरूप ही प्रत्येक पृथक प्रतिष्ठान के लिए पूंजी के बृहत्तर निवेश आवश्यक होते जाते हैं। इसलिए पूंजियों का बढ़ता संकेंद्रण (पूंजीपतियों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ, यद्यपि अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर) इसकी एक भौतिक आवश्यकता और इसका एक परिणाम भी है। इसी के साथ-साथ, परस्पर क्रिया करते हुए, कमोबेश प्रत्यक्ष उत्पादकों का प्रगामी स्वत्वहरण होता है। इसलिए अलग-अलग पूंजीपतियों के लिए अधिकाधिक बड़ी श्रमिक सेनाओं को नियंत्रण में लेना (चाहे स्थिर पूंजी की तुलना में परिवर्ती पूंजी कितनी भी घटे) स्वाभाविक ही है और यह भी स्वाभाविक ही

है कि उनके द्वारा हस्तगतकृत बेशी मूल्य संहति और इसलिए लाभ भी लाभ दर में ह्रास के साथ-साथ, और उसके बावजूद, बढ़े। वे कारण, जो श्रमिकों के समूहों को अलग-अलग पूंजीपतियों के नियंत्रण में संकेंद्रित करते हैं, बिलकुल वही हैं, जो निवेशित स्थायी पूंजी और कच्चे मालों तथा सहायक सामग्री की संहति को नियोजित सजीव श्रम संहति की तुलना में आरोही अनुपात में बढ़ाते हैं।

इस स्थल पर यह दिखाने के लिए एक सरसरा कथन ही काफ़ी होगा कि एक नियत श्रमिक आबादी के होने पर अगर बेशी मूल्य दर बढ़ती है, फिर चाहे वह कार्य दिवस के दीर्घीकरण या तीव्रीकरण के ज़रिये हो, अथवा श्रम की उत्पादनशीलता में वृद्धि के कारण मजदूरी के मूल्य में गिरावट के ज़रिये हो, तो बेशी मूल्य संहति और इसलिए निरपेक्ष लाभ संहति को बढ़ना ही होगा और उसे स्थिर पूंजी की तुलना में परिवर्ती पूंजी की आपेक्षिक घटत के बावजूद बढ़ना होगा।

सामाजिक श्रम की उत्पादनशीलता का वही विकास, वे ही नियम कि जो अपने आपको कुल पूंजी की तुलना में परिवर्ती पूंजी के आपेक्षिक ह्रास में और उसके द्वारा साधित संचय में व्यक्त करते हैं, जबकि अपनी बारी में यह संचय उत्पादनशीलता के और अधिक विकास का और परिवर्ती पूंजी के और अधिक आपेक्षिक ह्रास का प्रारंभ बिंदु बन जाता है – यही विकास अपने आपको, अस्थायी उतार-चढ़ावों को छोड़कर, कुल नियोजित श्रम शक्ति की प्रगामी वृद्धि और बेशी मूल्य की और इसलिए लाभ की निरपेक्ष संहति की प्रगामी वृद्धि में व्यक्त करता है।

अस्तु, उन्हीं कारणों से उत्पन्न लाभ की **दर** में घटत और लाभ की निरपेक्ष **संहति** में बढ़त के इस दुधारे नियम का रूप क्या होना चाहिए? इस तथ्य पर आधारित नियम का कि नियत अवस्थाओं के अंतर्गत बेशी श्रम की और इसलिए बेशी मूल्य की हथियायी हुई संहति बढ़ती है, और जहां तक कि कुल पूंजी, अथवा कुल पूंजी के अशेषभाजक अंश के नाते व्यष्टिक पूंजी का संबंध है, लाभ तथा बेशी मूल्य एकरूप परिमाण होते हैं?

आइये, पूंजी का एक अशेषभाजक अंश, उदाहरण के लिए, १०० ले लेते हैं, जिस पर हम लाभ दर का परिकलन करेंगे। ये १०० कुल पूंजी की औसत संरचना को व्यक्त करते हैं, मसलन, $८०_c + २०_v$। इस पुस्तक के दूसरे भाग में हम देख चुके हैं कि उत्पादन की विभिन्न शाखाओं में औसत लाभ दर प्रत्येक व्यष्टिक पूंजी की विशिष्ट संरचना द्वारा नहीं, वरन औसत सामाजिक संरचना द्वारा निर्धारित होती है। परिवर्ती पूंजी के स्थिर पूंजी, और इसलिए १०० की कुल पूंजी, की सापेक्षता में घटने के साथ-साथ लाभ दर, अथवा बेशी मूल्य, का आपेक्षिक परिमाण, अर्थात १०० की पेशगी कुल पूंजी के साथ उसका अनुपात, गिरता है, चाहे शोषण की तीव्रता उतनी ही बनी रहती है अथवा बढ़ तक जाती है। लेकिन गिरता अकेला यह आपेक्षिक परिमाण ही नहीं है। १०० की कुल पूंजी द्वारा अवशोषित बेशी मूल्य अथवा लाभ का परिमाण भी निरपेक्षतः गिरता है। १००% बेशी मूल्य दर से $६०_c + ४०_v$ की पूंजी ४० की बेशी मूल्य की, और इसलिए लाभ की, संहति उत्पादित करती है; $७०_c + ३०_v$ की पूंजी ३० की लाभ संहति पैदा करती है; और $८०_c + २०_v$ की पूंजी के लिए लाभ गिरकर २० रह जाता है। यह ह्रास बेशी मूल्य की, और इसलिए लाभ की संहति पर लागू होता है और इस तथ्य के कारण है कि १०० की कुल पूंजी कम सजीव श्रम को नियोजित करती है, और श्रम शोषण की तीव्रता के उतना ही बने रहने की वजह से कम बेशी श्रम को गतिमान करती है और इसलिए कम बेशी मूल्य का उत्पादन करती है। अगर सामाजिक पूंजी, अर्थात औसत

संरचना की पूंजी, के किसी भी अशेषभाजक अंश को ऐसा मानक मान लिया जाये कि जिससे बेशी मूल्य को मापा जाता है,–और लाभ के सभी परिकलनों में यही किया जाता है,–तो बेशी मूल्य का आपेक्षिक ह्रास आम तौर पर उसके निरपेक्ष ह्रास के सर्वसम ही होता है। उपरोक्त प्रसंगों में लाभ दर ४०% से गिरकर ३०% और फिर २०% हो जाती है, क्योंकि वास्तव में उसी पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य की, और इसलिए लाभ की संहति निरपेक्षतः ४० से गिरकर ३० और फिर २० हो जाती है। चूंकि पूंजी के मूल्य का परिमाण, जिससे बेशी मूल्य को मापा जाता है, वह नियत है, यानी १०० है, इसलिए बेशी मूल्य के अनुपात में इस नियत परिमाण का ह्रास केवल बेशी मूल्य तथा लाभ के निरपेक्ष परिमाण में घटत की ही एक और अभिव्यक्ति हो सकता है। यह वस्तुतः पुनरुक्ति ही है। लेकिन, जैसे कि दिखाया गया है, यह बात कि यह घटत होती भी है, उत्पादन की पूंजीवादी प्रक्रिया के विकास से ही उत्पन्न होती है।

लेकिन, दूसरी ओर, वही कारण कि जो किसी नियत पूंजी पर बेशी मूल्य की, और इसलिए लाभ की, और फलतः प्रतिशत में परिकलित लाभ दर की निरपेक्ष घटत पैदा करते हैं, वे सामाजिक पूंजी द्वारा (अर्थात समूचे तौर पर सभी पूंजीपतियों द्वारा) हड़पे हुए बेशी मूल्य, और इसलिए लाभ की निरपेक्ष संहति में वृद्धि भी उत्पन्न करते हैं। यह क्योंकर होता है, वह एकमात्र ढंग क्या है, जिससे ऐसा हो सकता है, और इस प्रतीयमान अंतर्विरोध में विद्यमान अवस्थाएं क्या हैं?

अगर सामाजिक पूंजी का १०० के बराबर कोई भी अशेषभाजक अंश, और इसलिए औसत सामाजिक संरचना की पूंजी का कोई भी सैकड़ा, एक नियत परिमाण है और इसलिए उसके वास्ते लाभ दर में ह्रास लाभ के निरपेक्ष परिमाण में ह्रास के साथ मेल खाता है, क्योंकि जो पूंजी यहां माप के मानक का काम देती है, वह एक स्थिर परिमाण है, तो व्यष्टि पूंजीपतियों के हाथों में स्थित पूंजी के परिमाण की तरह ही सामाजिक पूंजी का परिमाण भी परिवर्ती होगा, और हमारी कल्पना के अनुसार उसके परिवर्ती अंश में घटत के साथ उसमें व्युत्क्रम अनुपात में परिवर्तन आना चाहिए।

हमारे पिछले उदाहरण में, जब प्रतिशत संरचना $६०_c + ४०_v$ थी, उसके अनुरूप बेशी मूल्य, अथवा लाभ, ४० था और इसलिए लाभ दर ४०% थी। मान लीजिये कि संरचना की इस अवस्था में कुल पूंजी दस लाख थी। इस हालत में कुल बेशी मूल्य, और इसलिए कुल लाभ, ४,००,००० हुआ होता। अब, अगर संरचना बाद में $८०_c + २०_v$ हो जाती है, जबकि श्रम शोषण की मात्रा उतनी ही बनी रहती है, तो प्रत्येक १०० के लिए बेशी मूल्य अथवा लाभ २० होगा। लेकिन चूंकि, जैसे कि दिखलाया जा चुका है, बेशी मूल्य अथवा लाभ की निरपेक्ष संहति घटती लाभ दर के अथवा पूंजी के प्रति १०० द्वारा बेशी मूल्य के घटते उत्पादन के बावजूद बढ़ती है, और बढ़कर, मिसाल के लिए, ४,००,००० से ४,४०,००० हो जाती है, तो ऐसा एकमात्र इस कारण होता है कि वह कुल पूंजी, जो इस नयी संरचना के समय ही बनी थी, बढ़कर २२,००,००० हो गयी है। गतिमान की गयी कुल पूंजी की संहति १२०% अधिक हो गयी है, जबकि लाभ दर में ५०% का ह्रास आ गया है। अगर कुल पूंजी केवल दुगुनी ही हो गयी होती, तो उसे २०% की लाभ दर को प्राप्त करने के वास्ते उतना ही बेशी मूल्य तथा लाभ उत्पादित करना पड़ता कि जितना १०,००,००० की पुरानी पूंजी ४०% की लाभ दर से करती थी। अगर वह दुगुनी से कम बढ़ी होती, तो उसने १०,००,००० की

पुरानी पूंजी के मुक़ाबले कम बेशी मूल्य, अथवा लाभ का उत्पादन किया होता, जिसे, अपनी पहलेवाली संरचना में, अपने बेशी मूल्य को ४,००,००० से बढ़ाकर ४,४०,००० करने के लिए १०,००,००० से बढ़कर केवल ११,००,००० ही होना पड़ता।

यहां हमारा पहले* परिभाषित इस नियम के साथ फिर साबिक़ा पड़ता है कि परिवर्ती पूंजी की आपेक्षिक घटत, अतः श्रम की सामाजिक उत्पादनशीलता में विकास में श्रम शक्ति की उतनी ही मात्रा को गतिमान करने और बेशी श्रम की उतनी ही मात्रा को निचोड़ने के लिए कुल पूंजी की अधिकाधिक बड़ी संहति की आवश्यकता होती है। परिणामस्वरूप, पूंजीवादी उत्पादन जिस अनुपात में प्रगति करता है, उसी अनुपात में श्रमिक आबादी का आपेक्षिक बाहुल्य पैदा होने की संभावना इसलिए नहीं विकसित होती है कि सामाजिक श्रम की उत्पादनशीलता **घट जाती है**, बल्कि इसलिए कि वह **बढ़ जाती है**। इसलिए वह श्रम तथा निर्वाह साधनों के, अथवा इन निर्वाह साधनों के उत्पादन साधनों के बीच निरपेक्ष अनुपातहीनता से नहीं, वरन श्रम के पूंजीवादी शोषण द्वारा जनित अनुपातहीनता से, पूंजी की प्रगामी वृद्धि और बढ़ती आबादी के लिए उसकी आपेक्षिक रूप में संकुचित होती आवश्यकता के बीच अनुपातहीनता से उत्पन्न होती है।

अगर लाभ दर ५०% गिर जाती है, तो वह आधी रह जायेगी। अगर लाभ संहति को उतना ही रहना है, तो पूंजी को दुगुना करना होगा। इसके लिए कि ह्रासमान लाभ दर पर बनाये लाभ की संहति उतनी ही बनी रहे, कुल पूंजी की वृद्धि को सूचित करनेवाले गुणक को लाभ दर के ह्रास को सूचित करनेवाले भाजक के बराबर होना चाहिए। अगर लाभ दर गिरकर ४० से २० हो जाती है, तो कुल पूंजी को वही परिणाम प्राप्त करने के लिए २० : ४० की दर से व्युत्क्रमानुपात में बढ़ना चाहिए। अगर लाभ दर गिरकर ४० से ८ हो जाती है, तो पूंजी को ८ : ४० की दर से, अथवा पांच गुना बढ़ना होगा। १०,००,००० की पूंजी ४० % की दर से ४,००,००० पैदा करती है और ५०,००,००० की पूंजी भी ८% से इसी प्रकार ४,००,००० पैदा करती है। यह बात तब लागू होती है कि अगर हम चाहें कि फल वही रहे। किंतु अगर फल उच्चतर चाहिए, तो पूंजी को लाभ दर के गिरने की अपेक्षा अधिक दर से बढ़ना होगा। दूसरे शब्दों में, इसके लिए कि कुल पूंजी का परिवर्ती अंश निरपेक्ष अर्थों में उतना ही न बना रहे, बल्कि कुल पूंजी में अपने प्रतिशत अनुपात में गिरने के बावजूद निरपेक्षरूपेण बढ़े, कुल पूंजी को परिवर्ती पूंजी के प्रतिशत अनुपात के गिरने की अपेक्षा तीव्रतर दर से बढ़ना होगा। उसे इतना काफ़ी बढ़ जाना होगा कि अपनी नयी संरचना में उसे श्रम शक्ति ख़रीदने के लिए परिवर्ती पूंजी के पुराने अंश से अधिक की आवश्यकता हो। अगर १०० की पूंजी का परिवर्ती अंश ४० से गिरकर २० हो जाता है, तो कुल पूंजी को ४० से अधिक बड़ी परिवर्ती पूंजी को नियोजित कर पाने के लिए २०० से अधिक ऊंचा होना होगा।

अगर श्रमिक आबादी की शोषित संहति स्थिर भी बनी रहे और केवल कार्य दिवस की दीर्घता तथा तीव्रता ही बढ़ें, तो भी निवेशित पूंजी की संहति को बढ़ना होगा, क्योंकि पूंजी की संरचना के बदल जाने के बाद उसे शोषण की पुरानी अवस्थाओं के अंतर्गत श्रम की उतनी ही संहति को नियोजित करने के वास्ते अधिक होना होगा।

इस प्रकार, श्रम की सामाजिक उत्पादनशीलता का वही विकास पूंजीवादी उत्पादन की

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण : खंड १, पृष्ठ ६७६।—सं०

प्रगति के साथ अपने आपको एक ओर तो लाभ दर के उत्तरोत्तर ह्रासित होने की प्रवृत्ति में, और दूसरी ओर, हस्तगतकृत बेशी मूल्य, अथवा लाभ की निरपेक्ष संहति की उत्तरोत्तर वृद्धि में व्यक्त करता है; जिससे कि कुल मिलाकर परिवर्ती पूंजी और लाभ की सापेक्ष घटत के साथ दोनों की निरपेक्ष बढ़त होती है। जैसे कि हम देख चुके हैं, यह दुहरा प्रभाव अपने को सिर्फ़ कुल पूंजी की लाभ दर के गिरने की दर की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से वृद्धि में ही व्यक्त कर सकता है। इसके लिए कि निरपेक्षतः वर्धित परिवर्ती पूंजी का उच्चतर संरचना की पूंजी में, अथवा ऐसी पूंजी में कि जिसमें स्थिर पूंजी अपेक्षाकृत अधिक बढ़ी है, नियोजन किया जा सके, कुल पूंजी को न केवल अपनी उच्चतर संरचना के यथानुपात ही, बल्कि और भी अधिक तीव्रता के साथ बढ़ना चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति जैसे-जैसे विकसित होती जाती है, वैसे-वैसे श्रम की उतनी ही मात्रा को भी – बढ़ी हुई मात्रा की तो बात ही क्या – नियोजित करने के लिए पूंजी की अधिकाधिक बड़ी मात्रा की आवश्यकता होती जाती है। इस प्रकार, पूंजीवादी आधार पर श्रम की बढ़ती उत्पादनशीलता श्रमिक आबादी का अनिवार्यतः और स्थायी रूप में प्रतीयमान संख्याधिक्य पैदा करती है। अगर परिवर्ती पूंजी कुल पूंजी के पहले के १/२ के बजाय १/६ भाग का ही निर्माण करती है, तो उतनी ही श्रम शक्ति का नियोजन करने के वास्ते कुल पूंजी को तिगुना करना होगा। और अगर उससे दुगुनी श्रम शक्ति नियोजित की जानी है, तो कुल पूंजी को छः गुना बढ़ना होगा।

राजनीतिक अर्थशास्त्र, जो अब तक लाभ दर के ह्रासित होने की प्रवृत्ति के नियम की व्याख्या करने में असमर्थ रहा है, आत्मसंतोष के साथ लाभ की बढ़ती संहति की ओर, अर्थात लाभ के निरपेक्ष परिमाण की वृद्धि की ओर, फिर चाहे वह पृथक पूंजीपति के लिए हो या सामाजिक पूंजी के लिए, ही इंगित करता रहा है, लेकिन यह भी महज़ घिसी-पिटी बातों और अटकलबाज़ी पर ही आधारित था।

यह कहना कि लाभ संहति दो कारकों द्वारा – एक तो लाभ दर और दूसरे, इस दर पर निवेशित पूंजी की संहति द्वारा – निर्धारित होती है, कोरी पुनरुक्ति है। इसलिए यह कहना भी इस पुनरुक्ति का मात्र सहज परिणाम ही है कि इस लाभ संहति के इसके बावजूद बढ़ने की संभावना है कि चाहे लाभ दर साथ ही गिरती भी हो। यह हमारी क़दम भर भी आगे बढ़ने में सहायता नहीं करता, क्योंकि पूंजी के लिए लाभ संहति के बढ़े बिना बढ़ना, और उसके लिए तब भी बढ़ना उतना ही संभव है कि जब लाभ संहति गिरती है। कारण कि १०० की पूंजी २५% की दर से २५ पैदा करती है और ४०० की ५% की दर से केवल २० पैदा करती है।[35] लेकिन अगर उन्हीं कारणों में, जो लाभ दर को गिराते हैं, संचय, अर्थात अतिरिक्त

---

[35] "इसी प्रकार हम यह भी अपेक्षा कर सकते हैं कि जमीन के रूप में पूंजी के संचय और मजदूरी के चढ़ने के परिणामस्वरूप स्टाक (पूंजी–सं०) के लाभों की दर चाहे कितना क्यों न घटे, फिर भी लाभों की समुच्चित राशि बढ़ेगी ही। इस प्रकार, अगर मान लें कि १,००,००० पाउंड के बारंबार संचयों के साथ लाभ दर २०% से गिरते हुए १९%, १८%, १७% हो जाती है, अर्थात निरंतर ह्रासमान दर है, तो हम यह अपेक्षा करेंगे कि पूंजी के इन क्रमिक स्वामियों द्वारा प्राप्त लाभों की कुल राशि सदा प्रगामी ही होगी; पूंजी जब २,००,००० पाउंड होगी, तब वह उससे अधिक होगी कि जब पूंजी १,००,००० पाउंड थी; जब वह ३,००,००० पाउंड होगी, तब और अधिक होगी, आदि-आदि; और पूंजी की प्रत्येक वृद्धि के साथ बढ़ती चली जायेगी, चाहे ह्रासमान दर के साथ ही सही। तथापि, यह प्रगमन एक विशेष समय के

पूंजी का निर्माण भी सन्निहित हो, और अगर प्रत्येक अतिरिक्त पूंजी अतिरिक्त श्रम नियोजित करती है और अतिरिक्त बेशी मूल्य उत्पादित करती है; दूसरी ओर, अगर लाभ दर में मात्र गिरावट का मतलब यह हो कि स्थिर पूंजी, और उसके साथ कुल पुरानी पूंजी भी बढ़ गयी है, तो यह प्रक्रिया तनिक भी रहस्यमय नहीं रह जाती है। हम आगे चलकर देखेंगे* कि लाभ दर में कमी के साथ-साथ लाभ संहति में वृद्धि की संभावना को छिपाने के लिए कुछ लोग अपने परिकलनों में किस हद तक जान-बूझकर मिथ्याकरणों का सहारा लेते हैं।

हम दिखला चुके हैं कि किस प्रकार वही कारण कि जो सामान्य लाभ दर के गिरने की प्रवृत्ति को जन्म देते हैं, पूंजी के त्वरित संचय को और फलतः, उसके द्वारा हड़पे हुए बेशी श्रम (बेशी मूल्य, लाभ) के निरपेक्ष परिमाण, अथवा कुल संहति में वृद्धि को भी आवश्यक बनाते हैं। जैसे प्रतिद्वंद्विता में, और इस प्रकार प्रतिद्वंद्विता के साधकों की चेतना में, सभी कुछ उलटा नज़र आता है, वैसे ही यह नियम, दो प्रतीयमान असंगतियों के बीच यह आंतरिक तथा अनिवार्य संबंध, भी उलटा नज़र आता है। प्रत्यक्ष है कि ऊपर दिये अनुपातों के भीतर जो पूंजीपति बड़ी पूंजी लगा सकता है, वह उस छोटे पूंजीपति से ज्यादा बड़ी लाभ संहति प्राप्त करेगा, जो देखने में बड़े मुनाफ़े पाता है। इसके अलावा, प्रतिद्वंद्विता के सरसरे विवेचन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछेक परिस्थितियों में, जब बड़ा पूंजीपति बाज़ार में अपने लिए ज्यादा गुंजाइश पैदा करना और छोटे पूंजीपतियों को बाहर ठेलना चाहता है, जैसा संकटों के समय होता है, तो वह इसका व्यावहारिक उपयोग करता है, अर्थात छोटे पूंजीपतियों को किनारे करने के लिए वह अपनी लाभ दर को जान-बूझकर नीची कर देता है। व्यापारी पूंजी भी, जिसका हम अधिक विस्तार के साथ वर्णन आगे चलकर करेंगे, उल्लेखनीय रूप में ऐसी परिघटनाएं प्रदर्शित करती है, जिनके कारण लाभ दर में ह्रास व्यवसाय के, और इस प्रकार पूंजी के प्रसार से उत्पन्न होता प्रतीत होता है। इस मिथ्या संकल्पना का वैज्ञानिक विवेचन बाद में किया जायेगा। व्यवसाय की अलग-अलग शाखाओं में लाभ दरों की तुलना भी ऐसे ही सतही नज़रिये पैदा करती है, जिन्हें या तो मुक्त प्रतिद्वंद्विता के, या एकाधिकार के अधीन समझा जाता है। प्रतिद्वंद्विता के साधकों के दिमाग़ों में जो एकदम सतही संकल्पना बैठी हुई है, वह

लिए ही सही है; उदाहरण के लिए, २,००,००० पाउंड पर १६% १,००,००० पाउंड पर २०% से अधिक है, और ३,००,००० पाउंड पर १८% २,००,००० पाउंड पर १६% से अधिक है; लेकिन जब पूंजी संचित होकर बड़ी राशि हो जाती है और लाभ गिर जाते हैं, तो और अधिक संचय लाभों के समुच्चय को घटाता है। मसलन, मान लीजिये कि संचय १०,००,००० पाउंड है और लाभ ७% है, तो लाभों की कुल राशि ७०,००० पाउंड होगी; अब, अगर दस लाख में १,००,००० पाउंड की पूंजी और जोड़ दी जाये और लाभ गिरकर ६% हो जायें, तो स्टाक के स्वामियों को ६६,००० पाउंड, अर्थात ४,००० पाउंड कम प्राप्त होंगे, यद्यपि स्टाक की कुल राशि बढ़कर १०,००,००० पाउंड से ११,००,००० पाउंड हो गयी होगी।" – Ricardo, *Political Economy*, Chap. VI (*Works*, ed. by MacCulloch, 1852, pp. 68-69).—तथ्य यह है कि यहां कल्पना यह की गयी है कि पूंजी १०,००,००० पाउंड से बढ़कर ११,००,००० पाउंड हो गयी है, अर्थात १०% बढ़ गयी है, जबकि लाभ दर गिरकर ७ से ६ हो गयी है, अतः १४ २/७% घटी है। Hinc illae lacrimae! [अच्छा तो ये आंसू इस वजह हैं! Publius, Terence, *Andria*, Act I, Scene 1. – सं०]

* K. Marx, *Theorien über den Mehrwert*. K. Marx/F. Engels, *Werke*, Band 26, Teil 2, S. 435-66, 541-43. – सं०

रोशर में भी देखी जा सकती है, अर्थात यह कि लाभ दर में कटौती "अधिक विवेकपूर्ण तथा मानवोचित" है।* इस प्रसंग में लाभ दर में ह्रास पूंजी की वृद्धि का और पूंजीपति के इस सहवर्ती परिकलन का एक **प्रभाव** प्रतीत होता है कि उसके द्वारा खीसे में डाले जानेवाले लाभों की संहति न्यूनतर लाभ दर पर और भी अधिक होगी। यह सारी संकल्पना (केवल ऐडम स्मिथ की संकल्पना को छोड़कर, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे)** सामान्य लाभ दर क्या है, इसकी एकदम ग़लत समझ पर और इस अधकचरी धारणा पर आधारित है कि दामों का वस्तुतः निर्धारण जिंसों के वास्तविक मूल्य में लाभ के कमोबेश इच्छाधीन अंश को जोड़कर किया जाता है। ये विचार चाहे कितने भी अधकचरे हों, वे अनिवार्यतः उस उलटे दृष्टिकोण से ही उत्पन्न होते हैं, जिसे पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्भूत नियम प्रतिद्वंद्विता के क्षेत्र में व्यक्त करते हैं।

यह नियम कि उत्पादनशीलता में विकास के कारण लाभ दर में ह्रास के साथ-साथ लाभ संहति में वृद्धि होती है, अपने आपको इस तथ्य में भी व्यक्त करता है कि किसी पूंजी द्वारा उत्पादित जिंसों के दाम में ह्रास के साथ उनमें समाविष्ट और उनके विक्रय से सिद्धिकृत लाभ संहतियों की आपेक्षिक वृद्धि होती है।

चूंकि उत्पादनशीलता के विकास और पूंजी की अनुरूप उच्चतर संरचना से श्रम की लगातार घटती मात्रा के ज़रिये उत्पादन साधनों की लगातार बढ़ती मात्रा गतिमान होती जाती है, इसलिए कुल उत्पाद का प्रत्येक अशेषभाजक अंश, अर्थात प्रत्येक अलग माल अथवा उत्पादों की कुल संहति में जिंसों का प्रत्येक अलग ढेर कम सजीव श्रम को अवशोषित करता है और उसमें नियोजित स्थायी पूंजी के मूल्यह्रास के रूप में और उपभुक्त कच्चे मालों तथा सहायक सामग्री के रूप में मूर्त श्रम भी कम ही होता है। अतः प्रत्येक अलग जिंस में उत्पादन साधनों में मूर्त श्रम की और उत्पादन के दौरान नवयोजित श्रम की कम राशि समाविष्ट होती है। इसके कारण अलग-अलग माल का दाम गिर जाता है। किंतु फिर भी अगर निरपेक्ष अथवा आपेक्षिक बेशी मूल्य दर बढ़ती है, तो अलग-अलग जिंसों में समाविष्ट लाभों की संहति बढ़ सकती है। माल में कम नवयोजित श्रम समाविष्ट होता है, लेकिन उसका अशोधित अंश उसके शोधित अंश की तुलना में बढ़ जाता है। तथापि ऐसा केवल कुछेक सीमाओं के भीतर ही होता है। जैसे-जैसे उत्पादन विकास करता है, अलग-अलग जिंसों में समाविष्ट सजीव श्रम की निरपेक्ष मात्रा में भारी कमी आने के साथ उनमें समाविष्ट अशोधित श्रम की संहति भी इसी प्रकार कम हो जायेगी, चाहे शोधित अंश की तुलना में वह कितनी भी क्यों न बढ़ गयी हो। श्रम की उत्पादनशीलता के विकास के साथ बेशी मूल्य दर में वृद्धि के बावजूद प्रत्येक पृथक जिंस पर लाभ की संहति काफ़ी संकुचित हो जायेगी। और लाभ दर में ह्रास की ही भांति यह कमी केवल स्थिर पूंजी के तत्वों के सस्ता होने से और इस पुस्तक के पहले भाग में निरूपित की

---

* Roscher, *Die Grundlage der Nationalökonomie*, 3. Auflage, 1858, § 108, S. 192. – सं०

** K. Marx, *Theorien über den Mehrwert*. K. Marx/F. Engels, *Werke*, Band 26, Teil 2, S. 214-28. – सं०

गयी अन्य परिस्थितियों से ही विलंबित होती है, जो किसी नियत, बल्कि ह्रासमान तक बेशी मूल्य दर पर लाभ दर को बढ़ा देती हैं।

इसका कि जिन अलग-अलग जिंसों का योग पूंजी का कुल उत्पाद होता है, उनका दाम गिरता है, मतलब बस यही है कि श्रम की एक विशेष मात्रा की जिंसों की अधिक बड़ी मात्रा में सिद्धि होती है, जिससे कि प्रत्येक पृथक जिंस में पहले की बनिस्बत कम श्रम समाविष्ट होता है। अगर स्थिर पूंजी के एक भाग, जैसे कच्चे मालों, आदि, का दाम ही बढ़े, तब भी यही बात होती हैं। कुछ स्थितियों को छोड़कर (उदाहरण के लिए, अगर श्रम की उत्पादनशीलता स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के सभी तत्वों को समान रूप में सस्ता कर देती है) उच्चतर बेशी मूल्य दर के बावजूद लाभ दर गिर जायेगी, १) क्योंकि नवयोजित श्रम की अल्पतर कुल मात्रा का बृहत्तर अशोधित अंश भी पहले की बृहत्तर कुल मात्रा के अल्पतर अशोधित अशेषभाजक अंश से छोटा होता है, और २) क्योंकि पूंजी की उच्चतर संरचना पृथक जिंस में इस तथ्य से व्यक्त होती है कि उसके मूल्य का वह अंश, जिसमें नवयोजित श्रम मूर्त होता है, उसके मूल्य के उस अंश, जो कच्चे माल तथा सहायक सामग्री को व्यक्त करता है, और स्थायी पूंजी के मूल्यह्रास की सापेक्षता में घट जाता है। अलग-अलग मालों के दाम में विभिन्न घटकों के अनुपात में यह परिवर्तन, अर्थात दाम के उस अंश का घटना, जिसमें नवयोजित सजीव श्रम मूर्त होता है और उस अंश का बढ़ना, जिसमें पहले मूर्त हुआ श्रम व्यक्त होता है, ही वह रूप है कि जो अलग-अलग मालों के दाम के ज़रिये स्थिर पूंजी की सापेक्षता में परिवर्ती पूंजी के घटने को व्यक्त करता है। जिस प्रकार यह घटत पूंजी की एक ख़ास राशि, मान लीजिये कि १००, के लिए निरपेक्ष होती है, उसी प्रकार वह पुनरुत्पादित पूंजी के एक अशेष-भाजक अंश के रूप में प्रत्येक पृथक जिंस के लिए भी निरपेक्ष होती है। लेकिन अगर लाभ दर को केवल किसी अलग माल के दाम के तत्वों के आधार पर ही परिकलित किया जाता है, तो जो वह वस्तुतः है, उससे भिन्न होगी। और निम्नलिखित कारणों से :

[लाभ दर को निवेशित कुल पूंजी पर, किंतु एक निश्चित समय, वस्तुतः एक साल के लिए निवेशित कुल पूंजी पर परिकलित किया जाता है। लाभ दर एक वर्ष में उत्पादित तथा सिद्धिकृत बेशी मूल्य, अथवा लाभ का कुल पूंजी के साथ प्रतिशत में परिकलित अनुपात है। इसलिए वह अनिवार्यतः एक वर्ष के बजाय आवर्त काल के लिए परिकलित लाभ दर के बराबर नहीं होती है। अगर पूंजी ठीक एक साल में ही आवर्तित होती है, केवल तब ही दोनों बराबर होती हैं।

दूसरी ओर, एक वर्ष में बनाया लाभ केवल उसी साल के दौरान उत्पादित और बिके मालों पर लाभ का योग ही होता है। अगर हम जिंसों के लागत दाम पर लाभ का परिकलन करें, तो हमें लाभ दर $\frac{p}{k}$ प्राप्त होती है, जिसमें p एक वर्ष में सिद्धिकृत लाभ का और k उसी अवधि के भीतर उत्पादित तथा बेची गयी जिंसों के लागत दाम का द्योतक है। यह प्रत्यक्ष है कि $\frac{p}{k}$ की यह लाभ दर $\frac{p}{C}$ की वास्तविक लाभ दर, कुल पूंजी द्वारा विभाजित लाभ संहति के तब तक बराबर नहीं होगी कि जब तक $k=C$ न हो, अर्थात जब तक पूंजी ठीक एक साल में ही आवर्तित न हो।

हम किसी औद्योगिक पूंजी की तीन भिन्न-भिन्न अवस्थाएं ले लेते हैं।

I. ८,००० पाउंड की पूंजी प्रति वर्ष किसी जिंस के ५,००० नग उत्पादित करती और ३०

शिलिंग प्रति नग के हिसाब से बेचती है। इस प्रकार वह ७,५०० पाउंड का वार्षिक आवर्त करती है। वह हर नग पर १० शिलिंग का, अथवा प्रति वर्ष २,५०० पाउंड का लाभ कमाती है। इस प्रकार प्रत्येक नग में २० शिलिंग पेशगी पूंजी और १० शिलिंग लाभ समाविष्ट है, जिससे प्रति नग लाभ दर $\frac{१०}{२०}$ = ५०% हुई। ७,५०० पाउंड की आवर्तित राशि में ५,००० पाउंड पेशगी पूंजी और २,५०० पाउंड लाभ समाविष्ट है। प्रति आवर्त लाभ दर, $\frac{p}{k}$, इसी प्रकार ५०%' हुई। लेकिन कुल पूंजी पर परिकलित लाभ दर $\frac{p}{C} = \frac{२,५००}{८,०००}$ = ३३ १/४% होगी।

II. पूंजी बढ़कर १०,००० पाउंड हो जाती है। वर्धित श्रम उत्पादिता के कारण वह २० शिलिंग प्रति नग की लागत क़ीमत पर प्रति वर्ष माल के १०,००० नग उत्पादित कर देती है। मान लीजिये कि माल को प्रति नग ४ शिलिंग के लाभ पर, अतः २४ शिलिंग का बेचा जाता है। इस स्थिति में वार्षिक उत्पाद का दाम १२,००० पाउंड होगा, जिसमें १०,००० पाउंड पेशगी पूंजी है और २,००० पाउंड लाभ है। प्रति नग लाभ दर $\frac{p}{k_1} = \frac{४}{२०}$ और वार्षिक आवर्त के लिए $\frac{२,०००}{१०,०००}$, अथवा दोनों ही स्थितियों में = २०% होगी। और चूंकि कुल पूंजी लागत दामों के योग के बराबर, अर्थात १०,००० पाउंड है, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रसंग में वास्तविक लाभ दर, $\frac{p}{C}$, भी २०% ही है।

III. मान लीजिये कि श्रम की उत्पादनशीलता की निरंतर वृद्धि के कारण पूंजी बढ़कर १५,००० पाउंड हो जाती है और मान लीजिये कि वह किसी जिंस के १३ शिलिंग प्रति नग लागत दाम के हिसाब से प्रति वर्ष ३०,००० नग उत्पादित करती है और हर नग २ शिलिंग के लाभ पर अथवा १५ शिलिंग का बेचा जाता है। इस प्रकार वार्षिक आवर्त = १५ शिलिंग × × ३०,००० = २२,५०० पाउंड होगा, जिसमें १९,५०० पाउंड पेशगी पूंजी है और ३,००० पाउंड लाभ है। अतः, लाभ दर $\frac{p}{k} = \frac{२}{१३} = \frac{३,०००}{१९,५००}$ = १५ ५/१३% होगी। किंतु $\frac{p}{C} = \frac{३,०००}{१५,०००}$ = २०% होगा।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि केवल प्रसंग II में ही, जहां आवर्तित पूंजी मूल्य कुल पूंजी के बराबर है, प्रति नग लाभ दर, अथवा प्रति कुल आवर्त राशि लाभ दर वही है, जो कुल पूंजी पर परिकलित लाभ दर है। प्रसंग I में, जिसमें आवर्त की राशि कुल पूंजी से कम है, माल के लागत दाम पर परिकलित लाभ दर अधिक ऊंची है; और प्रसंग III में, जिसमें कुल पूंजी आवर्त की राशि से कम है, वह कुल पूंजी पर परिकलित दर से नीची है। यह एक सामान्य नियम है।

व्यावसायिक व्यवहार में आवर्त का परिकलन आम तौर पर ग़लत तरीक़े से किया जाता है। जैसे ही सिद्धिकृत जिंस दामों की राशि निवेशित कुल पूंजी की राशि के बराबर हो जाती है, यह मान लिया जाता है कि पूंजी एक बार आवर्तित हो चुकी है। लेकिन पूंजी एक संपूर्ण आवर्त केवल तब ही पूरा कर सकती है कि जब सिद्धिकृत जिंसों के **लागत दामों** की राशि कुल पूंजी की राशि के बराबर हो जाती है। – फ़े० एं०]

यह फिर यही दिखलाता है कि पूंजीवादी उत्पादन में अलग-अलग मालों को, अथवा किसी ख़ास कालावधि के जिंस उत्पाद को अलगाव में, अपने आप में मात्र माल समझने के बजाय पेशगी पूंजी के उत्पाद मानना और उस सारी पूंजी की सापेक्षता में देखना कितना महत्व-पूर्ण है, जो उन्हें उत्पादित करती है।

लाभ दर को परिकलित करने के लिए उत्पादित तथा सिद्धिकृत बेशी मूल्य संहति को न केवल पूंजी के जिंसों के रूप में पुनःप्रकट होनेवाले उपभुक्त अंश की सापेक्षता में, बल्कि इस अंश जमा पूंजी के उस अनुपभुक्त, किंतु प्रयुक्त अंश की, जो उत्पादन में कार्य करता रहता है, सापेक्षता में भी मापना जरूरी है। तथापि, लाभ संहति स्वयं जिंसों में समाविष्ट और उनके विक्रय द्वारा सिद्धिकृत होनेवाली लाभ अथवा बेशी मूल्य संहति के अलावा और किसी चीज के बराबर नहीं हो सकती।

अगर उद्योग की उत्पादिता बढ़ती है, तो अलग-अलग जिंसों का दाम गिर जाता है। उनमें कम श्रम, कम शोधित तथा अशोधित श्रम समाविष्ट होता है। मान लीजिये कि वही श्रम अपने पहले के उत्पाद का, कहिये कि तीन गुना उत्पादित करता है। तब २/३ कम श्रम एकल उत्पाद पैदा कर देता है। और चूंकि लाभ किसी अलग जिंस में समाविष्ट श्रम की मात्रा का केवल एक अंश ही हो सकता है, इसलिए एकल जिंस में लाभ संहति को घट जाना होगा और यह कुछेक सीमाओं के भीतर इसके बावजूद होता है कि बेशी मूल्य दर चाहे बढ़ती भी हो। किसी भी सूरत में, कुल उत्पाद पर लाभ संहति तब तक मूल लाभ संहति के नीचे नहीं गिरती, जब तक कि पूंजी मजदूरों की उतनी ही संख्या को शोषण की उतनी ही मात्रा के साथ नियोजित करती है। (ऐसा तब भी हो सकता है कि जब कम मजदूरों का शोषण की उच्चतर दर के साथ नियोजन किया जाये।) कारण यह कि अलग-अलग उत्पाद पर लाभ संहति उत्पादों की संख्या में वृद्धि के यथानुपात घटती है। लाभ संहति उतनी ही रहती है, किंतु मालों की कुल मात्रा पर वह भिन्न प्रकार से बंटी हुई होती है। न यह श्रमिकों तथा पूंजीपतियों के बीच नवयोजित श्रम द्वारा सृजित मूल्य की मात्रा के वितरण में ही कोई अंतर लाती है। अगर श्रम की उतनी ही मात्रा को नियोजित किया जाता है, तो लाभ संहति केवल उस अवस्था में ही बढ़ सकती है कि अशोधित बेशी श्रम बढ़ जाये, या, अगर शोषण की तीव्रता उतनी ही बनी रहती है, तो श्रमिकों की संख्या बढ़ जाये। अथवा, ये दोनों कारण मिलकर भी यही परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं। इन सभी अवस्थाओं में – किंतु, हमारी कल्पना के अनुसार, जो परिवर्ती पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी की वृद्धि को और कुल पूंजी के परिमाण में वृद्धि को आवश्यक मानती है – पृथक माल में लाभ की अल्पतर संहति समाविष्ट होती है और लाभ दर गिरती है, चाहे उसे पृथक जिंस के आधार पर भी परिकलित किया जाये। नवयोजित श्रम की एक नियत मात्रा मालों की अधिक बड़ी संख्या में मूर्त होती है। अलग-अलग जिंस का दाम गिर जाता है। मामले पर सिद्धांत रूप में विचार किया जाये, तो श्रम की अधिक उत्पादनशीलता के परिणामस्वरूप अलग-अलग जिंस के दाम के गिर जाने और साथ ही इस सस्ते माल की संख्या में वृद्धि होने पर भी लाभ दर उतनी ही बनी रह सकती है, अगर, उदाहरण के लिए, श्रम की उत्पादनशीलता में वृद्धि जिंस के सभी तत्वों पर समान रूप में और एकसाथ क्रिया करती है, जिससे कि उसका कुल दाम उसी अनुपात में गिरता है, जिसमें श्रम उत्पादिता बढ़ती है, जबकि दूसरी ओर, माल के दामों के भिन्न-भिन्न तत्वों का पारस्परिक संबंध वही बना रहता है। अगर बेशी मूल्य दर में वृद्धि के साथ-साथ स्थिर, और

विशेषकर स्थायी, पूंजी के तत्वों के मूल्य में भारी कमी आती, तो लाभ दर चढ़ तक सकती थी। लेकिन वास्तव में, जैसे कि हम देख चुके हैं, लाभ दर को अंततोगत्वा गिरना ही होगा। किसी भी मामले में किसी अलग जिंस के दाम में ह्रास अपने आप में लाभ दर का कोई सुराग़ नहीं देता। सभी कुछ उसके उत्पादन में निवेशित कुल पूंजी के परिमाण पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, अगर एक गज़ कपड़े का दाम गिरकर ३ शिलिंग से १ २/३ शिलिंग हो जाता है, और अगर हमें मालूम हो कि दाम के घटने के पहले उसमें १ २/३ शिलिंग स्थिर पूंजी, सूत, आदि, २/३ शिलिंग मजदूरी, और २/३ शिलिंग लाभ समाविष्ट था, जबकि दाम के घटने के बाद उसमें १ शिलिंग स्थिर पूंजी, १/३ शिलिंग मजदूरी, और १/३ शिलिंग लाभ समाविष्ट है, तो हम यह नहीं कह सकते कि लाभ दर उतनी ही रही है कि नहीं। यह बात इस पर निर्भर करती है कि पेशगी कुल पूंजी बढ़ी है कि नहीं और बढ़ी है, तो कितनी और एक नियत समय के भीतर वह कितने गज़ और उत्पादित करती है।

जहां तक पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की प्रकृति से उद्भूत इस परिघटना का संबंध है कि बढ़ती श्रम उत्पादिता का मतलब है पृथक जिंस के, अथवा एक ख़ास जिंस संहति के दाम में गिरावट, जिंसों की संख्या में वृद्धि, पृथक जिंस पर लाभ संहति में और जिंसों की समष्टि पर लाभ दर में कमी, और जिंसों की कुल मात्रा पर लाभ संहति में वृद्धि – यह परिघटना सतह पर केवल पृथक जिंस पर लाभ संहति में कमी, उसके दाम में गिरावट, कुल सामाजिक पूंजी अथवा किसी व्यष्टि पूंजीपति द्वारा उत्पादित जिंसों की वर्धित कुल संख्या पर लाभ संहति में वृद्धि में ही दृष्टिगोचर होती है। तब ऐसा प्रतीत होता है, मानो पूंजीपति स्वेच्छा से पृथक जिंस के दाम में कम लाभ जोड़ता है और उसकी क्षतिपूर्ति अपने द्वारा उत्पादित जिंसों की अधिक संख्या के ज़रिये करता है। यह संकल्पना वियोजन द्वारा लाभ की धारणा पर आधारित है, जो, अपनी बारी में, व्यापारी पूंजी की संकल्पना से निकाली गयी है।

हम पहली पुस्तक (Abschnitt ४ तथा ७)* में पहले ही देख चुके हैं कि श्रम उत्पादिता के साथ-साथ जिंस संहति का बढ़ना और अलग-अलग जिंसों का सस्ता होना (जहां तक कि ये जिंसें श्रम शक्ति के दाम में निर्धारकों की हैसियत से प्रवेश नहीं करतीं) अपने आप में ह्रासमान दाम के बावजूद पृथक जिंस में शोधित तथा अशोधित श्रम के बीच अनुपात पर कोई प्रभाव नहीं डालता है।

चूंकि प्रतिद्वंद्विता में सभी चीज़ें विरूपित, अर्थात उलटी, दिखायी देती हैं, इसलिए व्यष्टि पूंजीपति यह समझ सकता है: १) कि पृथक जिंस के दाम की कटौती करके वह उस पर अपने लाभ को कम कर रहा है, मगर फिर भी जिंसों को अधिक संख्या में बेचकर ज्यादा लाभ बना रहा है; २) कि वह अलग-अलग जिंसों का दाम निश्चित करता है और वह कुल उत्पाद के दाम को गुणन द्वारा निर्धारित करता है, जबकि मूल प्रक्रिया वास्तव में विभाजन की है (देखिये Buch I, Kap. X, S. 281),** और गुणन केवल गौणतः ही सही है, क्योंकि वह उस विभाजन पर आधारित है। अनगढ़ अर्थशास्त्री इसके अलावा लगभग और कुछ नहीं करता कि पूंजीपतियों की, जो प्रतिद्वंद्विता की दासता में पड़े हुए हैं, बेतुकी संकल्पनाओं को देखने में

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: भाग ४ तथा ७।– सं०

** 'पूंजी', हिन्दी संस्करण: खंड १, अध्याय १२, पृष्ठ ३४१-४२।– सं०

अधिक सैद्धांतिक तथा सामान्यीकृत भाषा में परिणत कर दे, और इन संकल्पनाओं के औचित्य को प्रमाणित करने का प्रयास करे।

जिंस दामों में गिरावट और इन सस्ती हुई जिंसों की वर्धित संहति पर लाभ संहति में वृद्धि वास्तव में लाभ संहति की सहकालिक वृद्धि के साथ ह्रासमान लाभ दर के नियम की ही एक और अभिव्यक्ति है।

ह्रासमान लाभ दर कहां तक चढ़ते दामों के साथ मेल खा सकती है, इसका विश्लेषण यहां उतना ही असमीचीन है कि जितना आपेक्षिक बेशी मूल्य के बारे में पहली पुस्तक (S. 280-81)* में पहले विवेचित विषय का। सुधरी हुई, किंतु अभी तक सामान्यत: न अपनायी गयी उत्पादन विधियों से काम करनेवाला पूंजीपति अपना माल बाज़ार दाम से कम, किंतु अपने व्यष्टिक उत्पादन दाम से अधिक पर बेचता है; उसकी लाभ दर तब तक चढ़ती जाती है कि जब तक प्रतिद्वंद्विता उसे समकृत नहीं कर देती। इस समकरण काल में दूसरी पूर्वापेक्षा, निवेशित पूंजी का प्रसार, प्रकट होती है। इस प्रसार की मात्रा के अनुसार पूंजीपति अपने भूतपूर्व श्रमिकों के एक भाग को, वास्तव में संभवत: सभी को, अथवा शायद अधिक को भी, नवीन अवस्थाओं के अंतर्गत नियोजित कर सकेगा और इसलिए उतनी ही, अथवा बृहत्तर लाभ संहति उत्पादित कर सकेगा।

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: पृष्ठ ३४१-४२।—सं०

अध्याय १४

प्रतिकारी प्रभाव

अगर सभी पूर्ववर्ती कालावधियों की तुलना में अकेले पिछले ३० वर्षों में ही सामाजिक श्रम की उत्पादक शक्तियों के ज़बरदस्त विकास पर विचार किया जाये, अगर विशेषकर–वास्तविक मशीनरी के अलावा–समूचे तौर पर सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया में लगनेवाली स्थायी पूंजी की विराट संहति पर विचार किया जाये, तो जो कठिनाई अर्थशास्त्रियों को अब तक परेशान करती आयी है, अर्थात ह्रासमान लाभ दर की व्याख्या करना, उसकी जगह एक विपरीत कठिनाई ले लेती है, अर्थात यह स्पष्ट करना कि यह ह्रास अधिक बड़ा और तीव्रतर क्यों नहीं होता। अवश्य ही कुछ ऐसे प्रतिकारक प्रभाव कार्यशील होने चाहिए कि जो सामान्य नियम के प्रभाव को काटते और निराकृत कर देते हैं और जो उसे मात्र एक प्रवृत्ति का अभिलक्षण प्रदान कर देते हैं और जिसके कारण हमने सामान्य लाभ दर के ह्रास को ह्रासित होने की प्रवृत्ति ही कहा है।

सबसे सामान्य प्रतिकारी शक्तियां निम्नलिखित हैं:

१. शोषण की बढ़ती तीव्रता

श्रम शोषण की मात्रा, बेशी श्रम तथा बेशी मूल्य के हस्तगतकरण में कार्य दिवस के दीर्घीकरण तथा श्रम के तीव्रीकरण से सुस्पष्ट वृद्धि आती है। इन दोनों मुद्दों का पहली पुस्तक में निरपेक्ष तथा सापेक्ष बेशी मूल्य के उत्पादन के प्रसंग में सर्वांगीण विवेचन किया जा चुका है। श्रम का तीव्रण करने के अनेक तरीक़े हैं, जिनमें परिवर्ती पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी का बढ़ना और इसलिए लाभ दर में ह्रास सन्निहित होता है, जैसे मज़दूर को ज्यादा मशीनें चलाने के लिए विवश करना। ऐसे मामलों में–और सापेक्ष बेशी मूल्यों के उत्पादन की साधक अधिकांश प्रक्रियाओं में भी–वे ही कारण कि जो बेशी मूल्य दर को बढ़ाते हैं, निवेशित कुल पूंजी की नियत मात्राओं की दृष्टि से, बेशी मूल्य संहति में ह्रास भी ला सकते हैं। तीव्रण के और पहलू भी हैं, जैसे मशीनरी के वेग का बढ़ाया जाना, जिससे उतने ही समय में अधिक कच्चे माल की खपत होती है, किंतु, जहां तक स्थायी पूंजी का संबंध है, मशीनरी कहीं अधिक तेज़ी के साथ घिसती है और फिर भी उसके मूल्य का उस श्रम के साथ, जो उसे गतिमान करता है, संबंध किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होता। लेकिन मुख्यतः यह कार्य दिवस का दीर्घीकरण,

आधुनिक उद्योग का यह आविष्कार, ही है कि जो नियोजित श्रम शक्ति के उसके द्वारा गतिमान की गयी स्थिर पूंजी के साथ अनुपात को तत्वतः बदले बिना हथियायी गयी बेशी श्रम संहति को बढ़ा देता है और जो वास्तव में इस पूंजी को सापेक्षतया घटाने का कारण होता है। इसके अलावा, यह पहले ही दिखलाया जा चुका है – और यही लाभ दर के ह्रासित होने की प्रवृत्ति का वास्तविक रहस्य है – कि सापेक्ष बेशी मूल्य उत्पादित करने की तिकड़मों का मतलब समूचे तौर पर एक ओर तो श्रम की एक ख़ास मात्रा के यथासंभव अधिकतम को बेशी मूल्य में रूपांतरित करना, और दूसरी ओर, निवेशित पूंजी के अनुपात में यथासंभव कम से कम श्रम का नियोजन करना है, जिससे कि वे ही कारण कि जो शोषण की तीव्रता को बढ़ाना संभव बनाते हैं, उसी पूंजी द्वारा श्रम की पहले जितनी ही मात्रा के शोषण को असंभव बना देते हैं। ये वे प्रतिकारी प्रवृत्तियां हैं, जो जहां बेशी मूल्य दर में चढ़ाव लाती हैं, वहां साथ ही किसी ख़ास पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य संहति और फलतः लाभ दर को भी घटाने का कारण बनती हैं। यहां महिला तथा बाल श्रम के व्यापक प्रचलन का भी उल्लेख किया जाना चाहिए, क्योंकि अब सारे ही परिवार को पूंजी के लिए पहले की बनिस्बत ज़्यादा बेशी श्रम करना होता है, चाहे इससे उनकी मज़दूरी की कुल मात्रा बढ़ ही जाती हो, जो किसी भी सूरत में हमेशा ही नहीं होता है। – ऐसी हर चीज़, जो निवेशित पूंजी के परिमाण को बदले बिना मात्र विधियों में सुधार से सापेक्ष बेशी मूल्य के उत्पादन को संवर्धित करती है, जैसे कृषि में, यही प्रभाव डालती है। चाहे यह सही है कि ऐसे मामलों में परिवर्ती पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी नहीं बढ़ती, क्योंकि हम परिवर्ती पूंजी को नियोजित श्रम शक्ति की मात्रा का सूचक मानते हैं, किंतु नियोजित श्रम शक्ति के अनुपात में उत्पाद की संहति अवश्य बढ़ती है। अगर श्रम की उत्पादनशीलता को (उसका उत्पाद चाहे श्रमिक के उपभोग में जाता हो, चाहे स्थिर पूंजी के तत्वों में) स्थिर पूंजी के साथ परिवर्ती पूंजी के अनुपात को प्रत्यक्षतः प्रभावित किये बिना संचार में बाधाओं से, ऐसी यादृच्छिक अथवा अन्य पाबंदियों से, जो समय के साथ बाधाएं बन गयी हैं, सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त कर दिया जाता है, तब भी ऐसा ही होता है।

यह पूछा जा सकता है कि क्या वे कारक, जो लाभ दर में ह्रास को रोकते हैं, किंतु अंततोगत्वा जो उसे सदा जल्दी ही गिराते हैं, क्या उन कारकों में बेशी मूल्य में सामान्य स्तर के ऊपर वे अस्थायी, परंतु सदा आवर्ती चढ़ाव भी सन्निहित होते हैं, जो उत्पादन की कभी इस, तो कभी उस शाखा में आते रहकर उन व्यष्टि पूंजीपतियों के लिए लाभदायी होते हैं, जो आविष्कारों, आदि को उनके अन्यत्र प्रचलन में आने के पहले उपयोग में ले आते हैं। इस प्रश्न का उत्तर हां में दिया जाना चाहिए।

किसी नियत परिमाण की पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य संहति दो गुणनखंडों का गुणनफल होती है – बेशी मूल्य दर गुणा इस दर पर नियोजित श्रमिकों की संख्या। अतः एक नियत बेशी मूल्य दर पर वह श्रमिकों की संख्या पर निर्भर करती है और जब श्रमिकों की संख्या नियत होती है, तो वह बेशी मूल्य दर पर निर्भर करती है। इसलिए आम तौर पर वह परिवर्ती पूंजी तथा बेशी मूल्य दर के निरपेक्ष परिमाणों के सम्मिश्र अनुपात पर निर्भर करती है। अब हमने देख लिया है कि जो कारक सापेक्ष बेशी मूल्य दर को उठाते हैं, औसत रूप में वे ही नियोजित श्रम शक्ति की संहति को घटाते हैं। किंतु यह प्रत्यक्ष है कि यह उतार या चढ़ाव न्यूनाधिक उस निश्चित अनुपात पर निर्भर करता है, जो इन विरोधी गतियों के बीच

होता है और लाभ दर में घटाव की प्रवृत्ति कार्य दिवस के दीर्घीकरण से उत्पन्न निरपेक्ष बेशी मूल्य दर में चढ़ाव से विशेषकर कमज़ोर हो जाती है।

हमने लाभ दर के मामले में देखा था कि लाभ दर में ह्रास के साथ आम तौर पर नियोजित कुल पूंजी की बढ़ती संहति के कारण लाभ संहति में वृद्धि आती है। समाज की कुल परिवर्ती पूंजी के दृष्टिकोण से उसने जो बेशी मूल्य उत्पादित किया है, वह उसके द्वारा उत्पादित लाभ के बराबर है। बेशी मूल्य की निरपेक्ष संहति तथा दर, दोनों ही बढ़ गयी हैं; पहली इसलिए कि समाज द्वारा नियोजित श्रम शक्ति की मात्रा बढ़ गयी है, और दूसरी इसलिए कि इस श्रम के शोषण की तीव्रता बढ़ गयी है। किंतु किसी नियत परिमाण, मसलन, १०० की पूंजी के मामले में हो सकता है कि बेशी मूल्य दर बढ़ जाये, जबकि औसत संहति घट जाये; कारण यह कि दर उस अनुपात द्वारा निर्धारित होती है, जिसमें परिवर्ती पूंजी मूल्य उत्पादित करती है, जबकि संहति कुल पूंजी के साथ परिवर्ती पूंजी के अनुपात द्वारा निर्धारित होती है।

बेशी मूल्य दर में चढ़ाव एक ऐसा कारक है कि जो बेशी मूल्य की संहति को, और इसलिए लाभ दर को भी निर्धारित करता है, क्योंकि यह विशेषकर ऐसी अवस्थाओं के अंतर्गत होता है, जिनमें, जैसे कि हम पहले देख चुके हैं, परिवर्ती पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी या तो बिलकुल ही नहीं बढ़ती है, या यथानुपात नहीं बढ़ती है। यह कारक सामान्य नियम को समाप्त नहीं कर देता। किंतु इसके कारण यह नियम एक प्रवृत्ति की तरह अवश्य काम करने लगता है, अर्थात एक ऐसे नियम की तरह, जिसका निरपेक्ष कार्य प्रतिकारी परिस्थितियों द्वारा अवरोधित, विलंबित तथा क्षीणित हो जाता है। लेकिन चूंकि वे ही प्रभाव कि जो बेशी मूल्य दर को चढ़ाते हैं (कार्य काल का दीर्घीकरण तक बड़े पैमाने के उद्योग का ही एक परिणाम है), किसी पूंजी द्वारा नियोजित श्रम शक्ति को घटाते भी हैं, इसलिए नतीजा यह निकलता है कि वे लाभ दर को घटाने और इस घटत को विलंबित करने के भी कारण होते हैं। अगर किसी श्रमिक को इतना श्रम करने के लिए विवश किया जाता है, जितना सामान्यतः कम से कम दो द्वारा किया जाता है और अगर यह ऐसी परिस्थितियों में किया जाता है, जिनमें यह एक श्रमिक तीन को प्रतिस्थापित कर सकता है, तो यह एक श्रमिक उतने ही बेशी श्रम का निष्पादन करेगा, जितने का पहले दो करते थे, और बेशी मूल्य दर भी यथानुपात ही बढ़ जायेगी। लेकिन वह उतने बेशी श्रम का निष्पादन नहीं करेगा, जितने का तीन करते थे और फलतः बेशी मूल्य संहति उतनी ही कम हो जायेगी। किंतु संहति में यह कमी बेशी मूल्य दर में चढ़ाव द्वारा प्रतिपूरित अथवा सीमित हो जायेगी। अगर सारी ही आबादी का उच्चतर बेशी मूल्य दर पर नियोजन किया जाता है, तो आबादी के उतना ही बने रहने के बावजूद बेशी मूल्य संहति बढ़ जायेगी। अगर आबादी बढ़ जाती है, तो यह और भी अधिक बढ़ जायेगी। और चाहे यह कमी कुल पूंजी के परिमाण के अनुपात में नियोजित श्रमिकों की संख्या की आपेक्षिक कमी के साथ जुड़ी होती है, फिर भी यह बेशी मूल्य दर में चढ़ाव से मंदित अथवा अवरोधित होती है।

इस प्रसंग को छोड़ने के पहले हम इस पर फिर ज़ोर देंगे कि किसी नियत परिमाण की पूंजी के मामले में बेशी मूल्य दर बढ़ सकती है, जबकि उसकी **संहति** घटती है, और विलोमतः भी ऐसा ही होता है। बेशी मूल्य संहति श्रमिकों की संख्या द्वारा गुणित बेशी मूल्य दर के बराबर होती है; तथापि दर कुल पूंजी नहीं, बल्कि सिर्फ़ परिवर्ती पूंजी पर, वस्तुतः प्रत्येक कार्य दिवस के लिए परिकलित की जाती है। इसके विपरीत, पूंजी मूल्य के नियत परिमाण के साथ **बेशी मूल्य संहति** के भी चढ़े या गिरे बिना **लाभ दर** न चढ़ सकती है, न गिर।

२. मज़दूरी का श्रम शक्ति के मूल्य के नीचे गिरना

इसका यहां केवल अनुभवतः ही उल्लेख किया जा रहा है, क्योंकि बहुतेरी अन्य बातों की तरह, जिन्हें उल्लिखित किया जा सकता है, इसका पूंजी के सामान्य विश्लेषण से कोई संबंध नहीं है, बल्कि जो प्रतिद्वंद्विता के विश्लेषण में आता है, जिसे इस पुस्तक में प्रस्तुत नहीं किया गया है। लेकिन यह लाभ दर के ह्रासित होने की प्रवृत्ति को अवरुद्ध करनेवाले सबसे महत्वपूर्ण कारकों में एक है।

३. स्थिर पूंजी के तत्वों का सस्ता होना

इस पुस्तक के पहले भाग में बेशी मूल्य दर के उतनी ही बने रहते हुए, अथवा बेशी मूल्य दर से निरपेक्ष, लाभ दर को चढ़ानेवाले कारकों के बारे में कही गयी हर बात को यहां लिया जाना चाहिए। इसलिए–कुल पूंजी के संदर्भ में– इस बात को भी यहीं लिया जाना चाहिए कि स्थिर पूंजी का मूल्य उसी अनुपात में नहीं बढ़ता है, जिसमें कि उसका भौतिक परिमाण बढ़ता है। मसलन, आधुनिक कारख़ाने में अकेले यूरोपीय कतवार द्वारा काती जानेवाली रूई की मात्रा यूरोपीय कतवार द्वारा चरखे से काती जानेवाली मात्रा की तुलना में अपरिमित रूप में बढ़ गयी है। फिर भी काती गयी रूई का मूल्य उसकी संहति जितने ही अनुपात में नहीं बढ़ा है। मशीनरी तथा अन्य स्थायी पूंजी के बारे में भी यही बात है। संक्षेप में, वही विकास, जो परिवर्ती पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी की संहति को बढ़ाता है, श्रम की वर्धित उत्पादिता के परिणामस्वरूप उसके तत्वों के मूल्य को घटाता है, और इसलिए स्थिर पूंजी के मूल्य को–चाहे वह लगातार बढ़ता रहता है–उसी गति से बढ़ने से रोकता है, जिससे उसका भौतिक परिमाण, अर्थात उतनी ही श्रम शक्ति द्वारा गतिमान किये जानेवाले उत्पादन साधनों का भौतिक परिमाण बढ़ता है। कुछेक मामलों में तो स्थिर पूंजी के तत्वों की संहति बढ़ तक सकती है, जबकि उसका मूल्य उतना ही बना रहता है, या गिर जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह विद्यमान पूंजी के (अर्थात उसके भौतिक तत्वों के) उद्योग के विकास के साथ होनेवाले मूल्यह्रास से संबद्ध है। यह लाभ दर के ह्रास को रोकनेवाला एक और निरंतर कार्यशील कारक है, यद्यपि कुछेक परिस्थितियों में यह लाभ प्रदान करनेवाली पूंजी संहति को घटाकर लाभ संहति को घटा सकता है। यह भी यही दिखलाता है कि वे ही प्रभाव कि जो लाभ दर के गिरने के कारण होते हैं, इस प्रवृत्ति के प्रभावों को मंदित भी करते हैं।

४. आपेक्षिक जनाधिक्य

इसका प्रवर्धन लाभ दर में ह्रास से व्यक्त होनेवाले श्रम उत्पादिता के विकास से अवियोज्य है और उसके द्वारा त्वरित होता है। किसी देश में पूंजीवादी उत्पादन पद्धति जितना ही अधिक विकसित होती है, उसमें आपेक्षिक जनाधिक्य उतना ही अधिक प्रत्यक्ष हो जाता है। अपनी बारी में यह इसका कारण है कि क्यों एक ओर तो बहुत सी उत्पादन शाखाओं में श्रम पूंजी की न्यूनाधिक अपूर्ण अधीनता में बना रहता है और पहली नज़र में विकास की सामान्य

अवस्था के साथ जितना संगत है, उससे अधिक समय तक बना रहता है। ऐसा उपलब्ध अथवा बेरोज़गार उजरती मज़दूरों के सस्तेपन तथा बाहुल्य के कारण, और कुछ उत्पादन शाखाओं द्वारा अपनी प्रकृति से ही शारीरिक कार्य के मशीनी उत्पादन में रूपांतरण में पेश किये जानेवाले अधिक विरोध के कारण होता है। दूसरी ओर, नयी उत्पादन शाखाएं खुल जाती हैं, विशेषकर विलास वस्तुओं के उत्पादन के लिए, और ये शाखाएं ही अकसर अन्य उत्पादन शाखाओं में स्थिर पूंजी की वृद्धि के ज़रिये मुक्त होनेवाले इस आपेक्षिक जनाधिक्य को अपना आधार बनाती हैं। ये नयी शाखाएं मुख्यतः सजीव श्रम से प्रारंभ करती हैं और शनैः शनैः उसी विकास क्रम से गुज़रती हैं, जिससे अन्य शाखाएं गुज़रती हैं। हर मामले में परिवर्ती पूंजी कुल पूंजी का ख़ासा बड़ा अंश होती है और मज़दूरी औसत से नीची होती है, जिससे इन उत्पादन शाखाओं में बेशी मूल्य की दर तथा संहति दोनों असाधारणतः ऊंची होती हैं। लेकिन चूंकि सामान्य लाभ दर अलग-अलग उत्पादन शाखाओं में लाभ दरों के समकरण से बनती है, इसलिए वही कारक, जो लाभ दर में ह्रासित होने की प्रवृत्ति पैदा करता है, इस प्रवृत्ति का प्रतिसंतुलक भी पैदा कर देता है और उसके प्रभावों को न्यूनाधिक निष्क्रिय कर देता है।

५. विदेश व्यापार

चूंकि विदेश व्यापार अंशतः स्थिर पूंजी के तत्वों को, और अंशतः उन जीवनावश्यक वस्तुओं को सस्ता करता है, जिनके लिए परिवर्ती पूंजी विनिमीत होती है, इसलिए बेशी मूल्य दर को बढ़ाकर और स्थिर पूंजी के मूल्य को गिराकर यह लाभ दर उठाने में सहायक बनता है। इस दिशा में यह सामान्यतः उत्पादन के पैमाने के प्रसार को संभव बनाकर कार्य करता है। इसके द्वारा एक ओर तो यह संचय की प्रक्रिया को त्वरित करता है, किंतु दूसरी ओर, स्थिर पूंजी की तुलना में परिवर्ती पूंजी को संकुचित कर देता है और इस प्रकार लाभ दर में ह्रास को त्वरित करता है। इसी प्रकार, विदेश व्यापार का विस्तार यद्यपि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के शैशव में उसका आधार था, लेकिन पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की और अधिक प्रगति के साथ वह इस उत्पादन पद्धति की अंतर्जात आवश्यकता – उसकी निरंतर फैलते बाज़ार की आवश्यकता – के फलस्वरूप स्वयं उसका अपना उत्पाद बन गया है। यहां हम एक बार फिर इस प्रभाव की द्वैध प्रकृति को देखते हैं। (रिकार्डो ने विदेश व्यापार के इस पहलू को सर्वथा अनदेखा छोड़ दिया है।*)

दूसरा प्रश्न – जो वास्तव में अपने विशेष स्वरूप के कारण हमारे विश्लेषण की परिधि के बाहर है – यह है: क्या सामान्य लाभ दर विदेश व्यापार, और विशेषकर औपनिवेशिक व्यापार में निवेशित पूंजी द्वारा उत्पन्न की जानेवाली उच्चतर लाभ दर से बढ़ जाती है?

विदेश व्यापार में निवेशित पूंजियां लाभ की उच्चतर दर प्रदान कर सकती हैं, क्योंकि एक तो यहां घटिया उत्पादन सुविधाओं से संपन्न देशों में उत्पादित मालों से प्रतिद्वंद्विता होती है, जिससे अधिक उन्नत देश अपने मालों को प्रतिद्वंद्वी देश की अपेक्षा सस्ते होने पर भी उनके मूल्य से अधिक पर बेचता है। जहां तक अधिक उन्नत देश का श्रम यहां उच्चतर विशिष्ट

---

* D. Ricardo, *On the Principles of Political Economy and Taxation*, Third edition, London, 1821, Ch. VII. – सं०

भार के श्रम के रूप में सिद्ध होता है लाभ दर बढ़ जाती है, क्योंकि उच्चतर कोटि के श्रम के नाते शोषन न किये जाने पर भी इस श्रम को इसी हैसियत से बेचा जाता है। ऐसा ही उस देश के संदर्भ में भी हो सकता है, जिसे मालों का निर्यात किया जाता है, और उस देश के संदर्भ में भी, जिससे मालों का आयात किया जाता है; अर्थात हो सकता है कि अंतोक्त देश **वस्तुरूप में** जितना श्रम प्राप्त करता है, उससे अधिक दे और फिर भी इसके द्वारा मालों को वह स्वयं उन्हें उत्पादित करने की अपेक्षा सस्ता प्राप्त कर ले। यह बात ठीक वैसे ही है, जैसे कि कोई निर्माता किसी नये आविष्कार को उसके सामान्य प्रयोग में आने के पहले उपयोग में ले लेता है, और अपने माल को अपने प्रतिद्वंद्वियों से सस्ता, मगर फिर भी उसके व्यष्टिक मूल्य के ऊपर बेचता है, अर्थात बेशी श्रम के रूप में अपने द्वारा नियोजित श्रम की विशिष्टतः उच्च उत्पादनशीलता की सिद्धि कर लेता है। इस प्रकार वह बेशी लाभ प्राप्त कर लेता है। दूसरी ओर, जहां तक उपनिवेशों, आदि में निवेशित पूंजियों का संबंध है, वे सीधे इस कारण भी उच्चतर लाभ दरें दे सकती हैं कि वहां लाभ दर पिछड़े विकास के कारण ऊंची है और इसी प्रकार दासों, कुलियों, आदि के उपयोग के कारण श्रम का शोषण भी ज्यादा है। क्या कारण है कि कुछेक शाखाओं में निवेशित पूंजियों द्वारा सिद्धिकृत और उनके द्वारा स्वदेश भेजी जानेवाली ये उच्चतर लाभ दरें सामान्य लाभ दर के समकरण में शामिल नहीं होतीं और इस प्रकार, pro tanto, उसे चढ़ाने की ओर प्रवृत्त नहीं होतीं, बशर्ते कि इजारे आड़े न आते हों।[36] इसे समझना इसलिए और भी कठिन है कि पूंजी निवेशन के ये क्षेत्र मुक्त प्रतिद्वंद्विता के नियमों के अधीन हैं। रिकार्डो जो सोचते हैं, वह मुख्यतः यह है: विदेशों में प्राप्त ऊंचे दामों से वहां बदले में माल ख़रीद लिये जाते हैं और स्वदेश भेज दिये जाते हैं। इस प्रकार ये माल घरेलू मंडी में बेच दिये जाते हैं, जो तथ्य इन इष्ट उत्पादन क्षेत्रों के लिए अन्य उत्पादन क्षेत्रों के मुक़ाबले हद से हद एक अस्थायी अतिरिक्त सुविधा ही हो सकता है। यह भ्रांति अपने द्रव्यरूप से वंचित किये जाने के साथ भंग हो जाती है। इष्ट देश कम श्रम के बदले अधिक श्रम वसूल कर लेता है, यद्यपि श्रम तथा पूंजी के बीच किसी भी विनिमय की ही भांति इस अंतर, इस अतिरेक को भी एक विशेष वर्ग ही हड़प लेता है। फलतः, लाभ दर चूंकि ऊंची है, क्योंकि औपनिवेशिक देश में वह आम तौर पर ऊंची ही होती है, इसलिए, अगर प्राकृतिक अवस्थाएं अनुकूल हों, तो वह नीची जिंस क़ीमतों की सहगामी भी हो सकती है। समकरण होता अवश्य है, लेकिन पुराने स्तर पर समकरण नहीं जैसा रिकार्डो सोचते हैं।

यही विदेश व्यापार स्वदेश में पूंजीवादी उत्पादन पद्धति को विकसित करता है, जिसका मतलब है स्थिर पूंजी की सापेक्षता में परिवर्ती पूंजी का घटना, और जो दूसरी ओर, विदेशी बाजारों के संदर्भ में अत्युत्पादन पैदा करता है, जिससे अंततोगत्वा वह फिर उलटा ही प्रभाव डालता है।

---

[36] इस मामले में ऐडम स्मिथ सही हैं न कि रिकार्डो, जो कहते हैं: "वे कहते हैं कि लाभ दरों की समानता लाभों के सामान्य चढ़ाव से पैदा होगी; और मेरी राय यह है कि इष्ट व्यापार के लाभ तेजी से सामान्य स्तर पर आ जायेंगे।" (*Works*, ed. by MacCulloch, p. 73.)

इस प्रकार हमने सामान्य रूप में देख लिया है कि वे ही प्रभाव कि जो सामान्य लाभ दर में ह्रासित होने की प्रवृत्ति पैदा करते हैं, अन्य प्रतिकारी प्रभाव भी उत्पन्न करते हैं, जो इस ह्रास को रोकते, मंदित करते और अंशतः निराकृत करते हैं। वे इस नियम को तो समाप्त नहीं कर देते, किंतु उसके प्रभाव को कमजोर अवश्य कर देते हैं। अन्यथा जो चीज अबोधगम्य होगी, वह सामान्य लाभ दर का ह्रास नहीं, वरन उसकी आपेक्षिक मंथरता होगी। इस प्रकार यह नियम मात्र एक प्रवृत्ति की तरह काम करता है। और कुछेक परिस्थितियों में और केवल लंबी कालावधियों के बाद ही इसके प्रभाव पूर्णतः स्पष्ट हो पाते हैं।

भ्रांतियों से बचने के लिए आगे बढ़ने से पहले हम दो मुद्दों को, जिनका बारंबार विवेचन किया जा चुका है, एक बार फिर उठाना चाहेंगे।

पहला: वही प्रक्रिया, जो पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के विकास के दौरान मालों को सस्ता करवाती है, जिंसों के उत्पादन में निवेशित सामाजिक पूंजी की आंगिक संरचना में परिवर्तन उत्पन्न करती है और फलतः लाभ दर को गिराती है। इसलिए हमें इसका ध्यान रखना चाहिए कि किसी अलग जिंस की आपेक्षिक लागत में, उसके उस अंश सहित कि जो मशीनरी की टूट-फूट को व्यक्त करता है, कमी को परिवर्ती पूंजी की सापेक्षता में स्थिर पूंजी के मूल्य में चढ़ाव के सर्वसम न समझ लें, यद्यपि विलोमतः स्थिर पूंजी की आपेक्षिक लागत में प्रत्येक कमी – यह मानते हुए कि उसके भौतिक तत्वों का परिमाण उतना ही बना रहता है, अथवा बढ़ जाता है – लाभ दर में चढ़ाव की, अर्थात pro tanto नियोजित परिवर्ती पूंजी के संकुचित होते अनुपातों की सापेक्षता में स्थिर पूंजी के मूल्य में कमी आने की द्योतक होती है।

दूसरा: यह तथ्य कि अलग-अलग जिंसों में, जो समूचे तौर पर पूंजी के उत्पाद का निर्माण करती हैं, समाविष्ट नवयोजित सजीव श्रम उनमें समाविष्ट मालों की तथा उनके द्वारा उपभुक्त श्रम साधनों की सापेक्षता में घटता जाता है; इसलिए यह तथ्य कि उनमें अतिरिक्त सजीव श्रम की उत्तरोत्तर घटती मात्रा साकार रूप ग्रहण करती है, क्योंकि सामाजिक उत्पादनशीलता के विकास के साथ उनके उत्पादन के लिए कम श्रम आवश्यक होता जाता है – यह तथ्य उस अनुपात को नहीं प्रभावित करता, जिसमें जिंसों में समाविष्ट सजीव श्रम शोधित तथा अशोधित श्रम में विखंडित होता है। बात एकदम उलटी है। यद्यपि मालों में समाविष्ट अतिरिक्त सजीव श्रम की कुल मात्रा घट जाती है, किंतु शोधित अंश के या तो निरपेक्ष, या सापेक्ष संकुचन के कारण शोधित अंश की सापेक्षता में अशोधित अंश बढ़ जाता है; कारण कि उसी उत्पादन पद्धति के साथ, जो किसी माल में अतिरिक्त सजीव श्रम की कुल मात्रा को घटाती है, निरपेक्ष तथा सापेक्ष बेशी मूल्य में चढ़ाव भी आता है। लाभ दर के ह्रासित होने की प्रवृत्ति बेशी मूल्य दर के चढ़ने की प्रवृत्ति के साथ, और इसलिए श्रम शोषण दर के चढ़ने की प्रवृत्ति के साथ भी जुड़ी हुई है। इसलिए लाभ दर में ह्रास का कारण मज़दूरी दर में वृद्धि बताने से अधिक निरर्थक और कोई बात नहीं हो सकती, यद्यपि अपवादस्वरूप ऐसा भी हो सकता है। सांख्यिकी उस समय तक विभिन्न युगों और देशों में मजदूरी दरों का वास्तविक विश्लेषण नहीं कर सकती कि जब तक लाभ दर को रूप देनेवाली अवस्थाओं को पूर्णतः न समझ लिया जाये। लाभ दर इसलिए नहीं गिरती है कि श्रम कम उत्पादक हो जाता है, बल्कि इसलिए कि वह अधिक उत्पादक हो जाता है। बेशी मूल्य दर में चढ़ाव और लाभ दर में ह्रास, ये दोनों मात्र ऐसे विशिष्ट रूप हैं, जिनके ज़रिये पूंजीवाद के अंतर्गत बढ़ती श्रम उत्पादिता को व्यक्त किया जाता है।

६. स्टाक पूंजी का बढ़ना

उपरोक्त पांच मुद्दों में यह एक और जोड़ा जा सकता है, मगर फ़िलहाल इसका अधिक विस्तार से विवेचन नहीं किया जायेगा। पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति के साथ, जो त्वरित संचय के साथ-साथ चलती है, पूंजी का एक अंश केवल ब्याजी पूंजी के रूप में परिकलित किया और लगाया जाता है। इस अर्थ में नहीं कि जिसमें पूंजी उधार देनेवाला प्रत्येक पूंजीपति तो ब्याज से ही संतोष कर लेता है, जबकि औद्योगिक पूंजीपति पूंजी निवेशक के लाभ को हड़प जाता है। इसका सामान्य लाभ दर के स्तर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि इसके लिए लाभ = ब्याज + सभी प्रकार का लाभ + किराया ज़मीन है; लाभ का इन विशेष संवर्गों में विभाजन सामान्य लाभ दर के लिए महत्वहीन है। लेकिन इस अर्थ में कि बड़े उत्पादक उद्यमों में निवेशित होने पर भी ये पूंजियां सारी लागतों के घटाये जाने के बाद केवल ब्याज की मात्र बड़ी या छोटी राशियां, तथाकथित लाभांश (डिविडेंड) ही प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए, रेलवे में। इसलिए ये लाभांश सामान्य लाभ दर के समकरण में नहीं जाते, क्योंकि वे औसत से नीची लाभ दर देते हैं। अगर वे उसमें प्रवेश करें, तो सामान्य लाभ दर कहीं अधिक नीचे गिर जायेगी। सिद्धांततः, उन्हें परिकलन में शामिल किया जा सकता है और तब परिणाम होगा प्रतीयमान विद्यमान दर से नीची लाभ दर, जो पूंजीपतियों के लिए निर्णायक होती है; यह दर इसलिए नीची होगी कि विशेषकर इन उद्यमों में स्थिर पूंजी परिवर्ती पूंजी की सापेक्षता में अधिकतम होती है।

अध्याय १५

नियम की आंतरिक असंगतियों का प्रतिपादन

१. सामान्य निरूपण

इस पुस्तक के पहले भाग में हम देख चुके हैं कि लाभ दर सदा बेशी मूल्य दर को जितनी वह वस्तुतः होती है, उससे नीची ही व्यक्त करती है। हमने अभी-अभी देखा है कि चढ़ती बेशी मूल्य दर तक ह्रासमान लाभ दर में व्यक्त होने की प्रवृत्ति रखती है। लाभ दर केवल तब ही बेशी मूल्य दर के बराबर हो सकती है कि जब $c = 0$ हो, अर्थात जब कुल पूंजी मजदूरी में ख़र्च की जाती हो। ह्रासमान लाभ दर केवल तब ही ह्रासमान बेशी मूल्य दर को व्यक्त करती है कि जब स्थिर पूंजी के मूल्य का उसे गतिमान करनेवाली श्रम शक्ति की मात्रा के साथ अनुपात अपरिवर्तित रहता है अथवा श्रम शक्ति की मात्रा स्थिर पूंजी के मूल्य की सापेक्षता में बढ़ जाती है।

लाभ दर का विश्लेषण करने के बहाने रिकार्डो वास्तव में केवल बेशी मूल्य दर का ही विश्लेषण करते हैं और वह भी केवल इस कल्पना पर कि कार्य दिवस विस्तार और गहनता की दृष्टि से एक स्थिर परिमाण है।

लाभ दर में ह्रास और त्वरित संचय एक ही प्रक्रिया की केवल वहीं तक भिन्न अभिव्यक्तियां हैं कि जहां दोनों उत्पादनशीलता के विकास को प्रतिबिंबित करते हैं। अपनी बारी में संचय लाभ दर के ह्रास को त्वरित करता है, क्योंकि उसमें श्रम का बड़े पैमाने पर संकेंद्रण और इसी प्रकार पूंजी की उच्चतर संरचना सन्निहित है। दूसरी ओर, लाभ दर में ह्रास भी छोटे पूंजीपतियों के स्वत्वहरण के ज़रिये, जो उन थोड़े से प्रत्यक्ष उत्पादकों में हैं कि जिनके पास स्वत्वहरण के लिए अब भी कुछ बाक़ी है, पूंजी के संकेंद्रण और उसके केंद्रीयकरण को तेज करता है। यह संहति के संदर्भ में संचय को त्वरित करता है, यद्यपि लाभ दर गिरने के साथ संचय दर भी गिरती है।

दूसरी ओर, कुल पूंजी की स्वप्रसार दर, अथवा लाभ दर के पूंजीवादी उत्पादन का प्रेरक होने के कारण (जैसे पूंजी का स्वप्रसार उसका एकमात्र प्रयोजन है) उसका ह्रास नयी स्वतंत्र पूंजियों की उत्पत्ति को रोकता है और इस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया के विकास के लिए ख़तरे जैसा प्रतीत होता है। वह अत्युत्पादन, सट्टाख़ोरी, संकटों और बेशी आबादी के साथ-साथ बेशी पूंजी को जन्म देता है। इसलिए जो अर्थशास्त्री रिकार्डो की तरह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को परम मानते हैं, वे इस स्थल पर अनुभव करते हैं कि यह प्रणाली स्वयं एक बाधा बन जाती है और इस कारण बाधा को उत्पादन नहीं, बल्कि प्रकृति से (किराये

के सिद्धांत में) जोड़ते हैं। लेकिन ह्रासमान लाभ दर की उनकी दहशत के बारे में मुख्य बात यह अहसास ही है कि अपनी उत्पादक शक्तियों के विकास में पूंजीवादी उत्पादन के आगे एक ऐसी बाधा आती है, जिसका स्वयं संपदा के उत्पादन से कोई संबंध नहीं होता; और यह विशेष बाधा पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की सीमाओं का और उसके मात्र ऐतिहासिक, अस्थायी स्वरूप का प्रमाण है; इसका प्रमाण है कि संपदा के उत्पादन के लिए यह कोई परम प्रणाली नहीं है और यही नहीं, बल्कि एक विशेष मंजिल में यह उसके आगामी विकास के साथ टकराती है।

बेशक, रिकार्डो और उनकी धारा ने केवल औद्योगिक लाभ को ही लिया है, जिसमें ब्याज शामिल है। लेकिन किराया ज़मीन की दर भी ह्रासित होने की प्रवृत्ति रखती है, चाहे उसकी निरपेक्ष संहति बढ़ती ही है, और यही नहीं, अनुपात में औद्योगिक लाभ से अधिक भी बढ़ सकती है। (देखिये एडवर्ड वैस्ट*, जिन्होंने किराया ज़मीन का नियम रिकार्डो **के पहले** विकसित किया था।) अगर हम कुल सामाजिक पूंजी को C मानें, और ब्याज तथा किराया ज़मीन घटाने के बाद बचनेवाले औद्योगिक लाभ के लिए p_1, ब्याज के लिए i, और किराया ज़मीन के लिए r का प्रयोग करें, तो $\frac{s}{C} = \frac{p}{C} = \frac{p_1 + i + r}{C} = \frac{p_1}{C} + \frac{i}{C} + \frac{r}{C}$ होगा। हम देख चुके हैं कि जहां बेशी मूल्य की कुल मात्रा, s, पूंजीवादी विकास के दौरान लगातार बढ़ती है, $\frac{s}{C}$ उतनी ही स्थिर गति से घटती है, क्योंकि C s से भी अधिक तेज़ी के साथ बढ़ती है। इसलिए यह किसी भी प्रकार कोई असंगति नहीं है कि p_1, i और r, प्रत्येक अलग-अलग, स्थिरतापूर्वक बढ़ते जायें, जबकि $\frac{s}{C} = \frac{p}{C}$, और इसी तरह $\frac{p_1}{C}$, $\frac{i}{C}$ तथा $\frac{r}{C}$ भी प्रत्येक अपने आप निरंतर घटते जायें, अथवा p_1 i की सापेक्षता में, या r p_1 की, अथवा p_1 और i की सापेक्षता में बढ़े। चढ़ते कुल बेशी मूल्य अथवा लाभ s = p, और साथ ही ह्रासित होती लाभ दर $\frac{s}{C} = \frac{p}{C}$ के साथ s = p को बनानेवाले भागों p_1, i तथा r के अनुपात s की कुल मात्रा द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर इस प्रकार इच्छानुसार बदल सकते हैं कि s अथवा $\frac{s}{C}$ के परिमाण पर कोई प्रभाव न पड़े।

p_1, i तथा r का पारस्परिक विचरण महज़ s का विभिन्न वर्गों में एक भिन्न वितरण ही है। फलतः, $\frac{p_1}{C}$, $\frac{i}{C}$ अथवा $\frac{r}{C}$, अर्थात व्यष्टिक औद्योगिक लाभ दर, ब्याज दर और कुल पूंजी के साथ किराया ज़मीन का अनुपात, एक दूसरे की सापेक्षता में चढ़ सकते हैं, जबकि सामान्य लाभ दर, $\frac{s}{C}$, गिरती है। एकमात्र शर्त यह है कि तीनों का योग $= \frac{s}{C}$। अगर लाभ दर ५०% से गिरकर २५% हो जाती है, क्योंकि किसी पूंजी की, जिसकी बेशी मूल्य दर मान लीजिये कि १००% है, संरचना $५०_c + ५०_v$ से बदलकर $७५_c + २५_v$ हो गयी है, तो पहले प्रसंग में १,००० की पूंजी ५०० का लाभ, और दूसरे प्रसंग में ४,००० की पूंजी १,००० का लाभ पैदा करेगी। हम देखते हैं कि s अथवा p दुगुना हो गया है, जबकि p′ आधा गिर गया है। और अगर वह ५०% पहले २० लाभ, १० ब्याज और २० किराये

---

* [E. West] *Essay on the Application of Capital to Land*, London, 1815. —सं०

में विभाजित था, तो $\frac{p_1}{C}$ = २०%, $\frac{i}{C}$ = १०% और $\frac{r}{C}$ = २०% थे। यदि ५०% से २५% में परिवर्तन के बाद भी अनुपात वही बने रहते, तो $\frac{p_1}{C}$ = १०%, $\frac{i}{C}$ = ५% और $\frac{r}{C}$ = १०% होते। लेकिन अगर $\frac{p_1}{C}$ गिरकर ८% और $\frac{i}{C}$ ४% हो जाता है, तो $\frac{r}{C}$ चढ़कर १३% हो जायेगा। r का आपेक्षिक परिमाण p_1 तथा i के मुक़ाबले चढ़ जायेगा, जबकि p' उतना ही बना रहेगा। दोनों ही कल्पनाओं के अंतर्गत p_1, i तथा r का योग बढ़ जायेगा, क्योंकि उसे चार गुनी बड़ी पूंजी ने उत्पादित किया है। इसके अलावा, रिकार्डो की यह कल्पना कि मूलतः औद्योगिक लाभ (जमा ब्याज) में समस्त बेशी मूल्य समाविष्ट होता है, ऐतिहासिक और तार्किक दृष्टि से ग़लत है। इसके विपरीत, यह पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति ही है कि जो १) सारा लाभ सीधे औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूंजीपतियों को और आगे वितरण के लिए दे देती है, और २) किराये को लाभ पर आधिक्य में परिणत कर देती है। इसके बाद इस पूंजीवादी आधार पर किराया फिर बढ़ता है, क्योंकि वह लाभ का (अर्थात कुल पूंजी के उत्पाद की दृष्टि से बेशी मूल्य का) एक अंश है, किंतु उत्पाद का वह विशिष्ट अंश नहीं कि जिसे पूंजीपति अपने जेब में डाल लेता है।

आवश्यक उत्पादन साधन, अर्थात पर्याप्त पूंजी संचय होने पर बेशी मूल्य के सृजन को अगर बेशी मूल्य दर, अर्थात शोषण की तीव्रता, नियत हो, तो केवल श्रमिक आबादी ही सीमित करती है; और अगर श्रमिक आबादी नियत हो, तो शोषण की तीव्रता के अलावा और कोई चीज सीमित नहीं करती। और पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया तत्वतः बेशी उत्पाद अथवा उत्पादित जिंसों के अशोधित श्रम को मूर्त करनेवाले अशोषभाजक अंश में व्यक्त बेशी मूल्य का उत्पादन ही है। इस बात को कभी नहीं भुलाया जाना चाहिए कि इस बेशी मूल्य का उत्पादन– और उसके एक अंश का पूंजी में पुनःरूपांतरण अथवा संचय, बेशी मूल्य के इस उत्पादन का एक अभिन्न अंग है– ही पूंजीवादी उत्पादन का प्रत्यक्ष लक्ष्य और अप्रतिरोध्य प्रेरक है। इसलिए पूंजीवादी उत्पादन को ऐसा दिखलाना, जैसा वह वस्तुतः है ही नहीं, बेकार होगा, अर्थात ऐसा उत्पादन, जिसका प्रत्यक्ष लक्ष्य उपभोग अथवा पूंजीपति के लिए उपभोग साधनों को बनाना है। ऐसा करने का मतलब उसके विशिष्ट स्वरूप को अनदेखा करना होगा, जो अपने संपूर्ण सारतत्व के साथ प्रकट हो जाता है।

इस बेशी मूल्य का सृजन ही उत्पादन की प्रत्यक्ष प्रक्रिया को पूरा करता है, जिसकी– जैसा कि हमने कहा है– ऊपर बतायी गयी सीमाओं के अलावा और कोई सीमाएं नहीं हैं। जैसे ही निचोड़े जा सकने योग्य सारे बेशी श्रम को जिंसों में समाविष्ट किया जाता है कि बेशी मूल्य उत्पादित हो जाता है। लेकिन यह बेशी मूल्य उत्पादन तो पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया के पहले अंक– प्रत्यक्ष उत्पादन प्रक्रिया– के पटाक्षेप को ही द्योतित करता है। पूंजी ने इतने-इतने अशोधित श्रम को अवशोषित कर लिया है। प्रक्रिया के विकास के साथ, जो अपने को लाभ दर के ह्रास में व्यक्त करती है, इस प्रकार उत्पादित बेशी मूल्य संहति फैलकर अपार आयाम प्राप्त कर लेती है। अब प्रक्रिया का दूसरा अंक शुरू होता है। सारी जिंस संहति, अर्थात उस अंश के, जो स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी को प्रतिस्थापित करता है, और उस अंश के, जो बेशी मूल्य को व्यक्त करता है, सहित कुल उत्पाद का बेचा जाना जरूरी है। अगर यह नहीं किया जाता, या केवल अंशतः किया जाता है, या उत्पादन दामों से कम दामों पर किया जाता है, तो श्रमिक का जो शोषण वास्तव में किया जा चुका है, वह शोषण पूंजीपति के लिए सिद्ध

नहीं हो पाता, और इसे मज़दूर से निचोड़े गये बेशी मूल्य को सिद्धिकृत करने की पूर्ण अथवा आंशिक असमर्थता के साथ, वस्तुत: पूंजी की आंशिक अथवा पूर्ण हानि तक के साथ जोड़ा जा सकता है। प्रत्यक्ष शोषण की, और उसके सिद्धिकरण की अवस्थाएं एकसमान नहीं होतीं। वे केवल स्थान और काल में ही नहीं, बल्कि तार्किक दृष्टि से भी भिन्न होती हैं। प्रथमोक्त को केवल समाज की उत्पादक शक्तियों द्वारा सीमित किया जाता है, जबकि अंतोक्त को उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के सापेक्ष संबंध और समाज की उपभोक्ता शक्ति द्वारा। लेकिन समाज की यह उपभोक्ता शक्ति न तो निरपेक्ष उत्पादक शक्ति द्वारा और न ही निरपेक्ष उपभोक्ता शक्ति द्वारा, बल्कि वितरण की विरोधी अवस्थाओं पर आधारित उपभोक्ता शक्ति द्वारा निर्धारित की जाती है, जो समाज के अधिकांश के उपभोग को न्यूनतम पर ले आती हैं, जिसमें कमोबेश संकीर्ण सीमाओं के भीतर ही कुछ अंतर होता है। इसके अलावा वह संचय करने की प्रवृत्ति, पूंजी का प्रसार करने और विस्तारित पैमाने पर बेशी मूल्य उत्पादित करने की ललक द्वारा भी सीमित की जाती है। यह स्वयं उत्पादन विधियों में अविराम क्रांतियों द्वारा, उनके साथ सदा जुड़ी रहनेवाली विद्यमान पूंजी के ह्रास द्वारा, सार्विक प्रतिस्पर्धात्मक संघर्ष और महज़ आत्म-परिरक्षण के साधन के रूप में तथा विनाश के ख़तरे के सामने उत्पादन को सुधारने और उसके पैमाने का प्रसार करने की आवश्यकता द्वारा थोपा गया पूंजीवादी उत्पादन का नियम है। इसलिए बाज़ार का निरंतर प्रसार करना होता है, जिससे उसके अंत:संबंध और उन्हें नियमित करनेवाली अवस्थाएं अधिकाधिक उत्पादक से स्वतंत्र रूप में कार्यशील नैसर्गिक नियम का रूप लेते जाते हैं और अधिकाधिक अनियंत्रणीय होते जाते हैं। यह आंतरिक असंगति अपने को उत्पादन के बहिर्वर्ती क्षेत्र के प्रसार के ज़रिये हल करने की कोशिश करती है। लेकिन उत्पादनशीलता जितना ही विकास करती है, उतना ही वह अपने को उस संकीर्ण आधार के विरोध में पाती है, जिस पर उपभोग की अवस्थाएं आधारित होती हैं। इस स्वत: असंगत आधार पर यह किसी भी प्रकार कोई असंगति नहीं है कि बढ़ती हुई बेशी आबादी के साथ-साथ ही पूंजी का भी आधिक्य हो जाता है। कारण यह कि जहां इन दोनों का संयोग सचमुच उत्पादित बेशी मूल्य की संहति को बढ़ायेगा, वहां वह साथ ही जिन अवस्थाओं के अंतर्गत यह बेशी मूल्य उत्पादित होता है और जिनके अंतर्गत उसकी सिद्धि होती है, उनके बीच असंगतियों को भी तेज़ करेगा।

अगर कोई विशेष लाभ दर दी हुई है, तो लाभ की संहति हमेशा पेशगी पूंजी के परिमाण पर निर्भर करती है। लेकिन इस हालत में संचय का निर्धारण इस संहति के उस अंश द्वारा किया जाता है, जो पूंजी में पुन:रूपांतरित होता है। जहां तक इस अंश का संबंध है, यह पूंजीपतियों द्वारा उपभुक्त आय से वियुक्त लाभ के बराबर होने के कारण केवल इस संहति के मूल्य पर ही नहीं, बल्कि पूंजीपति उससे जिन जिंसों को ख़रीद सकता है, जो आंशिक रूप में उसके उपभोग, उसकी आय में, और आंशिक रूप में उसकी स्थिर पूंजी में अंतरित होती हैं, उनके सस्तेपन पर भी निर्भर करेगा। (यहां मजदूरी को नियत माना गया है।)

श्रमिक द्वारा गतिमान की जानेवाली पूंजी की संहति, जिसके मूल्य को वह अपने श्रम द्वारा बनाये रखता है और अपने उत्पाद में पुनरुत्पादित करता है, उस मूल्य से सर्वथा भिन्न होती है, जो वह उसमें जोड़ता है। अगर पूंजी की संहति = १,००० और जोड़ा गया श्रम = १०० हैं, तो पुनरुत्पादित पूंजी = १,१०० होगी। अगर पूंजी की संहति = १०० और जोड़ा गया श्रम = २० हैं, तो पुनरुत्पादित पूंजी = १२० होगी। पहले प्रसंग में लाभ दर = १०%, और

दूसरे में = २०% होगी। और फिर भी २० की अपेक्षा १०० में से अधिक संचय किया जा सकता है। और इस प्रकार पूंजी का प्रवाह बना रहता है (उत्पादनशीलता की वृद्धि के ज़रिये मूल्यह्रास को छोड़कर), अथवा उसके संचय का प्रवाह बना रहता है, लाभ दर के अनुपात में नहीं, बल्कि उसमें पहले से जो आवेग विद्यमान है, उसके अनुपात में। ऊंची लाभ दर जहां तक ऊंची बेशी मूल्य दर पर आधारित होती है, केवल तभी संभव होती है कि जब कार्य दिवस बहुत लंबा हो, चाहे श्रम बहुत उत्पादक न हो। यह इसलिए संभव है कि श्रमिकों की आवश्यकताएं बहुत अल्प होती हैं, इसलिए औसत मज़दूरी भी बहुत नीची होती है, यद्यपि स्वयं श्रम अनुत्पादक होता है। नीची मज़दूरी श्रमिकों की कर्मशक्ति की कमी के अनुरूप होगी। तब ऊंची लाभ दर के बावजूद पूंजी धीरे-धीरे संचित होती है। आबादी स्थिर रहती है, उत्पाद में लगनेवाला कार्य काल बहुत होता है, जबकि श्रमिक को दी जानेवाली मज़दूरी कम होती है।

लाभ दर इसलिए नहीं गिर जाती है कि श्रमिक का कोई कम शोषण किया जाता है, बल्कि इसलिए कि आम तौर पर नियोजित पूंजी के अनुपात में कम श्रम का नियोजन किया जाता है।

अगर, जैसे हमने दिखाया है, ह्रासमान लाभ दर लाभ संहति में वृद्धि के साथ जुड़ी होती है, तो पूंजीपति द्वारा श्रम के वार्षिक उत्पाद का अधिक अंश पूंजी के संवर्ग के अंतर्गत (उपभुक्त पूंजी के प्रतिस्थापक के रूप में) और अपेक्षाकृत थोड़ा अंश लाभ के संवर्ग के अंतर्गत हस्तगत किया जाता है। इसी से पादरी चैमर्स* का यह अद्‌भुत विचार उत्पन्न होता है कि पूंजीपतियों द्वारा वार्षिक उत्पाद जितना ही कम पूंजी के रूप में ख़र्च किया जाता है, उतना ही अधिक वे मुनाफ़े बटोरते हैं। इस हालत में राजकीय चर्च उनकी सहायता को आ जाता है, ताकि यह सुनिश्चित कर सके कि बेशी उत्पाद का अधिकांश पूंजी की तरह प्रयोग में लाये जाने के बजाय उपभोग में लाया जाये। पादरी साहब कार्य को कारण के साथ उलझा देते हैं। इसके अलावा, लाभ संहति अपनी न्यून दर के बावजूद निवेशित पूंजी के साथ बढ़ती है। लेकिन इसके लिए पूंजी का सहकालिक संकेंद्रण आवश्यक है, क्योंकि तब उत्पादन की अवस्थाएं पूंजी के अधिक बड़े पैमाने पर नियोजन की अपेक्षा करती हैं। इसके लिए पूंजी का केंद्रीयकरण, अर्थात बड़े पूंजीपतियों द्वारा छोटे पूंजीपतियों का निगला जाना और उनका पूंजी से वंचित किया जाना भी आवश्यक है। यह भी महज़ उत्पादन की अवस्थाओं को उत्पादकों से, जिनकी कोटि में ये छोटे पूंजीपति अभी भी आते हैं, क्योंकि उनके मामले में स्वयं उनके श्रम की भूमिका बनी रहती है, अलग करने की ही बात है, चाहे द्वितीय घात पर ही सही। पूंजीपति का श्रम उसकी पूंजी के आकार के, अर्थात जिस सीमा तक वह पूंजीपति है, उसके सर्वथा व्युत्क्रमानुपात में होता है। उत्पादन की अवस्थाओं का उत्पादकों से यह पृथक्करण ही पूंजी की अवधारणा का निर्माण करता है। इसका आरंभ आद्य संचय (Buch I, Kap. XXIV)** के साथ होता है, पूंजी के संचय तथा संकेंद्रण में यह एक स्थायी प्रक्रिया के रूप में प्रकट होता है, और अंततोगत्वा अपने आपको विद्यमान पूंजियों के कुछ ही हाथों में संकेंद्रण और बहुतों के अपनी पूंजी से वंचित किये जाने (जो रूप अब स्वत्वहरण लेता है) में व्यक्त करता है।

---

* Th. Chalmers, *On Political Economy in Connexion with the Moral State and Moral Prospects of Society*, Second edition, Glasgow, 1832, p. 88. – सं०

** 'पूंजी', हिंदी संस्करण: भाग ८। – सं०

अगर प्रतिकारक प्रवृत्तियां न हुई होतीं, जो अभिकेंद्री प्रभाव के साथ-साथ निरंतर विकेंद्रीकारक प्रभाव भी डालती हैं, तो इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप बहुत जल्दी ही पूंजीवादी उत्पादन ढह गया होता।

२. उत्पादन के प्रसार और बेशी मूल्य के उत्पादन में टकराव

श्रम की सामाजिक उत्पादनशीलता का विकास दो प्रकार से व्यक्त होता है: एक तो पहले ही उत्पादित उत्पादक शक्तियों के परिमाण में, नया उत्पादन जिन उत्पादन अवस्थाओं में किया जाता है, उनके मूल्य तथा संहति में, और पहले ही संचित उत्पादक पूंजी के निरपेक्ष परिमाण में; दूसरे, पूंज उत्पादन के लिए मजदूरी में लगनेवाली पूंजी के अंश की आपेक्षिक लघुता में, अर्थात किसी नियत पूंजी के पुनरुत्पादन तथा स्वप्रसार के लिए आवश्यक सजीव श्रम की अपेक्षाकृत लघु मात्रा में। इसमें भी पूंजी का संकेंद्रण सन्निहित होता है।

नियोजित श्रम शक्ति के संबंध में भी उत्पादिता का विकास अपने को दो प्रकार से व्यक्त करता है: एक, बेशी श्रम की वृद्धि में, अर्थात श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन के लिए अपेक्षित आवश्यक श्रम काल का कम होना। दूसरे, किसी नियत पूंजी को गतिमान करने के लिए सामान्यत: नियोजित श्रम शक्ति की मात्रा (श्रमिकों की संख्या) के घटने में।

दोनों गतियां न केवल साथ-साथ ही चलती हैं, वरन एक दूसरे को प्रभावित भी करती हैं और दोनों ही ऐसी परिघटनाएं हैं कि जिनमें वही नियम अपने को अभिव्यक्त करता है। फिर भी वे लाभ दर को विपरीत प्रकार से प्रभावित करती हैं। कुल लाभ संहति कुल बेशी मूल्य संहति के बराबर है, लाभ दर $= \frac{s}{C} = \frac{\text{बेशी मूल्य}}{\text{पेशगी कुल पूंजी}}$। लेकिन बेशी मूल्य, उसका कुल योग, एक तो उसकी दर द्वारा और दूसरे, इस दर पर एक साथ नियोजित श्रम की संहति द्वारा, अथवा – जो एक ही बात है – परिवर्ती पूंजी के परिमाण द्वारा निर्धारित होता है। इनमें से एक गुणक, बेशी मूल्य दर, बढ़ता है और दूसरा गुणक, श्रमिकों की संख्या, घटता है (सापेक्षतया अथवा निरपेक्षतया)। चूंकि उत्पादक शक्तियों का विकास नियोजित श्रम के शोधित अंश को घटाता है, इसलिए वह बेशी मूल्य को बढ़ाता है, क्योंकि वह उसकी दर को बढ़ा देता है; लेकिन चूंकि वह किसी नियत पूंजी द्वारा नियोजित श्रम की कुल संहति को घटाता है, इसलिए वह संख्या के उस गुणक को भी घटाता है, जिससे बेशी मूल्य दर को गुणा करके उसकी संहति को प्राप्त किया जाता है। दो श्रमिक, जिनमें से प्रत्येक १२ घंटे रोज काम करता है, उतनी ही बेशी मूल्य संहति नहीं उत्पादित कर सकते, जितनी केवल २ घंटे काम करनेवाले २४ श्रमिक करते हैं, चाहे वे हवा पर ही क्यों न जीते हों, जिससे उन्हें अपने लिए काम करने की तनिक भी आवश्यकता न पड़ती हो। इस प्रकार, इस मामले में श्रमिकों की न्यूनित संख्या की शोषण की मात्रा को तीव्र करके प्रतिपूर्ति कर सकने की कुछ अलंघ्य सीमाएं हैं। इस कारण वह लाभ दर में ह्रास को चाहे रोक तो सकती है, पर उसे पूर्णत: ख़त्म नहीं कर सकती।

इसलिए पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के विकास के साथ लाभ दर गिरती जाती है, जबकि उसकी संहति नियोजित पूंजी की बढ़ती संहति के साथ बढ़ती जाती है। दर नियत हो, तो पूंजी की संहति में निरपेक्ष वृद्धि उसके विद्यमान परिमाण पर निर्भर करती है। किंतु, इसके

विपरीत, यदि यह परिमाण नियत हो, तो उसकी संवृद्धि की मात्रा, अर्थात उसकी वृद्धि की दर, लाभ दर पर निर्भर करती है। उत्पादनशीलता में वृद्धि (जो, इसके अलावा, हम फिर दुहरा दें, सदा उपलब्ध पूंजी के मूल्यह्रास के साथ-साथ चलती है) विद्यमान पूंजी के मूल्य को प्रत्यक्षतः केवल उसी अवस्था में बढ़ा सकती है कि जब लाभ दर को चढ़ाकर वह वार्षिक उत्पाद के मूल्य के उस अंश को बढ़ा दे, जो पूंजी में पुनःपरिवर्तित होता है। जहां तक श्रम उत्पादिता की बात है (क्योंकि इस उत्पादिता का विद्यमान पूंजी के **मूल्य** से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता), यह अंश केवल तब ही बढ़ सकता है कि जब सापेक्ष बेशी मूल्य बढ़े, अथवा स्थिर पूंजी का मूल्य घटे, जिससे वे जिंसें सस्ती हो जाती हैं, जो या तो श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन में, या स्थिर पूंजी के तत्वों में शामिल होती हैं। दोनों ही में विद्यमान पूंजी का मूल्यह्रास सन्निहित है, दोनों ही के साथ-साथ स्थिर पूंजी की सापेक्षता में परिवर्ती पूंजी घटती है। दोनों ही से लाभ दर गिरती है और दोनों से वह मंद होती है। इसके अलावा, चूंकि वर्धित लाभ दर श्रम की अधिक आवश्यकता उत्पन्न करती है, इसलिए उसके कारण श्रमजीवी आबादी और इस प्रकार वह सामग्री बढ़ती है, जिसके शोषण से ही पूंजी वास्तव में पूंजी बनती है।

लेकिन अप्रत्यक्षतः श्रम उत्पादिता का विकास उपयोग मूल्यों की संहति और विविधता को बढ़ाकर, जिनमें वही विनिमय मूल्य व्यक्त होता है और जो भौतिक सारतत्व का, अर्थात पूंजी के भौतिक तत्वों, स्थिर पूंजी को प्रत्यक्षतः, और परिवर्ती पूंजी को कम से कम अप्रत्यक्षतः बनानेवाले भौतिक पदार्थों का निर्माण करते हैं, विद्यमान पूंजी के मूल्य की वृद्धि में योग देता है। उसी पूंजी और उसी श्रम से अधिक उत्पाद पैदा किये जाते हैं, जिन्हें पूंजी में परिवर्तित किया जा सकता है, चाहे उनका विनिमय मूल्य कुछ भी क्यों न हो। ये उत्पाद अतिरिक्त श्रम को, और इस प्रकार अतिरिक्त बेशी श्रम को भी अवशोषित करने का काम दे सकते हैं और इसलिए अतिरिक्त पूंजी का सृजन कर सकते हैं। कोई पूंजी श्रम की जितनी संहति को अपने नियंत्रण में रख सकती है, वह उसके मूल्य पर नहीं, बल्कि कच्चे मालों तथा सहायक सामग्रियों, मशीनरी और स्थायी पूंजी के तत्वों तथा जीवनावश्यक वस्तुओं की संहति पर निर्भर करती है, जो सभी उसमें समाविष्ट होते हैं, फिर उनका मूल्य चाहे कुछ भी क्यों न हो। नियोजित श्रम की, और इस प्रकार बेशी श्रम की संहति के बढ़ने के साथ-साथ पुनरुत्पादित पूंजी के मूल्य में और उसमें नवयोजित बेशी मूल्य में भी वृद्धि आती है।

तथापि संचय की प्रक्रिया की परिधि में आनेवाले इन दोनों तत्वों को मात्र शांतिपूर्वक साथ-साथ रहनेवाले ही नहीं समझ लेना चाहिए, जैसे कि रिकार्डो समझते हैं। उनमें एक असंगति होती है, जो अपने आपको परस्परविरोधी प्रवृत्तियों और परिघटनाओं में अभिव्यक्त करती है। ये विरोधी कारक एक ही समय एक दूसरे को प्रतिकारित करते हैं।

श्रमिक आबादी की वास्तविक वृद्धि के उद्दीपकों के साथ-साथ, जो कुल सामाजिक उत्पाद के पूंजी का काम करनेवाले अंश की वृद्धि से उत्पन्न होते हैं, ऐसे कारक भी होते हैं कि जो केवल आपेक्षिक जनाधिक्य ही पैदा करते हैं।

लाभ दर में गिरावट के साथ-साथ पूंजियों की संहति बढ़ती है और इसके साथ ही साथ विद्यमान पूंजियों का मूल्यह्रास भी होता है, जो गिरावट को रोकता है और पूंजी मूल्यों के संचयन को त्वरक गति प्रदान करता है।

उत्पादिता के विकास के साथ-साथ पूंजी की उच्चतर संरचना विकसित होती है, अर्थात स्थिर पूंजी के साथ परिवर्ती पूंजी के अनुपात की आपेक्षिक कमी होती है।

ये भिन्न-भिन्न प्रभाव कभी मुख्यत: दिक में साथ-साथ कार्यशील होते हैं, तो कभी वे काल में एक दूसरे के बाद आते हैं। विरोधी कारकों का टकराव समय-समय पर संकटों में अभिव्यक्ति पाता है। संकट सदा विद्यमान असंगतियों के मात्र अस्थायी और बलात्कृत समाधान ही होते हैं। वे ऐसे प्रचंड उद्‌गार होते हैं कि जो कुछ समय के लिए बिगड़े हुए संतुलन को बहाल कर देते हैं।

बहुत ही सामान्य ढंग से कहा जाये, तो असंगति इसमें है कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति अपने में सन्निहित मूल्य तथा बेशी मूल्य के बावजूद और पूंजीवादी उत्पादन जिन सामाजिक अवस्थाओं के अंतर्गत होता है, उनके बावजुद उत्पादक शक्तियों के निरपेक्ष विकास की प्रवृत्ति रखती है; जबकि दूसरी ओर, उसका लक्ष्य विद्यमान पूंजी के मूल्य को बनाये रखना और उसके स्वप्रसार का अधिकतम सीमा तक संवर्धन करना (अर्थात इस मूल्य की अधिकाधिक तीव्र संवृद्धि का संवर्धन करना) है। इसका विशिष्ट लक्षण यह है कि वह पूंजी के विद्यमान मूल्य का इस मूल्य को अधिकतम सीमा तक बढ़ाने के साधन की तरह उपयोग करती है। जिन तरीक़ों से वह इसकी सिद्धि करती है, उनमें लाभ दर का गिरना, विद्यमान पूंजी का मूल्य-ह्रास, और पहले ही सृजित उत्पादक शक्तियों के मोल पर श्रम की उत्पादक शक्तियों का विकास सम्मिलित हैं।

विद्यमान पूंजी का आवधिक मूल्यह्रास – जो लाभ दर के ह्रास को रोकने और नयी पूंजी के निर्माण के ज़रिये पूंजी मूल्य के संचयन को त्वरित करने के लिए पूंजीवादी उत्पादन में अंतर्भूत साधनों में एक है – उन नियत अवस्थाओं को विक्षुब्ध कर देता है, जिनके अंतर्गत पूंजी के परिचलन तथा पुनरुत्पादन की प्रक्रिया संपन्न होती है और इसलिए उसके साथ उत्पादन प्रक्रिया में आकस्मिक विरामों और संकटों का सिलसिला चलता रहता है।

स्थिर पूंजी की सापेक्षता में परिवर्ती पूंजी का घटना, जो उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ-साथ चलता है, निरंतर कृत्रिम जनाधिक्य उत्पन्न करते हुए श्रमिक आबादी की संवृद्धि को प्रोत्साहित करता है। ह्रासमान लाभ दर से मूल्य के अर्थों में पूंजी का संचयन मंदित हो जाता है, जिससे उपयोग मूल्यों का संचयन और भी अधिक त्वरित हो जाता है, जबकि अपनी बारी में यह मूल्य के अर्थों में संचयन को नया संवेग प्रदान करता है।

पूंजीवादी उत्पादन इन अंतर्भूत बाधाओं पर पार पाने का निरंतर प्रयास करता है, किंतु वह उन पर पार केवल ऐसे साधनों से पाता है कि जो इन बाधाओं को उसके रास्ते में फिर तथा और भी अधिक विकट पैमाने पर खड़ा कर देते हैं।

पूंजीवादी उत्पादन की **वास्तविक बाधा स्वयं पूंजी** है। इसका मतलब यह है कि पूंजी और उसका स्वप्रसार प्रारंभ बिंदु और अंतिम बिंदु, उत्पादन का उद्देश्य और प्रयोजन बन जाते हैं; उत्पादन केवल **पूंजी** के लिए उत्पादन होता है, न कि इसके विपरीत, और उत्पादन साधन केवल उत्पादकों के **समाज** की जीवन प्रक्रिया के सतत विकास के ही साधन नहीं होते। उत्पादकों के भारी बहुलांश के स्वत्वहरण और दरिद्रीकरण के आधार पर जिन सीमाओं के भीतर पूंजी के मूल्य का परिरक्षण तथा स्वप्रसार हो सकता है, वे सीमाएं उन उत्पादन विधियों के निरंतर टकराव में आती हैं, जिन्हें पूंजी अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रयोग करती है और जो उत्पादन के असीमित प्रसार की तरफ़, स्वयं एक साध्य के नाते उत्पादन की तरफ़, श्रम की सामाजिक उत्पादिता के अप्रतिबंध विकास की तरफ़ धकेलती हैं। साधन – समाज की

उत्पादक शक्तियों का अप्रतिबंध विकास – सीमित साध्य – विद्यमान पूंजी का स्वप्रसार – के साथ निरंतर टकराता है। इसी कारण पूंजीवादी उत्पादन पद्धति उत्पादन की भौतिक शक्तियों को विकसित करने और उपयुक्त विश्व मंडी का निर्माण करने का एक ऐतिहासिक साधन है और, साथ ही, उसके इस ऐतिहासिक कार्यभार और सामाजिक उत्पादन के उसके अपने अनुरूप संबंधों के बीच सतत संघर्ष भी है।

३. अतिरिक्त पूंजी और अतिरिक्त आबादी

लाभ दर में ह्रास के साथ उस न्यूनतम पूंजी में वृद्धि होती है, जिसका व्यष्टि पूंजीपति के पास श्रम के उत्पादक नियोजन के लिए होना आवश्यक है; उसका सामान्यरूपेण दोहन करने के लिए भी आवश्यक है और इसलिए भी कि व्ययित श्रम काल को जिंसों के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल बनाया जा सके, जिससे कि वह जिंसों के उत्पादन के लिए अपेक्षित औसत सामाजिक श्रम काल से अधिक न हो। संकेंद्रण साथ-साथ ही बढ़ता जाता है, क्योंकि कुछेक सीमाओं के आगे न्यून लाभ दर की बड़ी पूंजी अधिक लाभ दर की छोटी पूंजी की अपेक्षा अधिक तेज़ी के साथ संचित होती है। एक विशेष उच्च बिंदु पर अपनी बारी में यह बढ़ता संकेंद्रण लाभ दर में एक नया ह्रास उत्पन्न कर देता है। इसके परिणामस्वरूप इन सारी छोटी बिखरी पूंजियों को सट्टाख़ोरी, उधार प्रपंचों, स्टाक की धोखाधड़ियों और संकटों की जोखिमी राह पर धकेल दिया जाता है। तथाकथित पूंजी अतिबाहुल्य सदा उस पूंजी के अतिबाहुल्य पर ही लागू होता है, जिसके लिए लाभ दर में ह्रास की प्रतिपूर्ति लाभ संहति के ज़रिये नहीं होती – पूंजी की सद्यःप्रसूत विकासमान शाखाओं के बारे में यह बात हमेशा सही होती है – अथवा उस अतिबाहुल्य पर लागू होता है कि जो अपने बूते पर कुछ कर सकने में अक्षम पूंजियों को उधार के रूप में बड़े उद्यमों के प्रबंधकों को उपलब्ध कर देता है। पूंजी का यह अतिबाहुल्य उन्हीं कारणों से उत्पन्न होता है कि जो आपेक्षिक जनाधिक्य पैदा करते हैं और इसलिए यह एक ऐसी परिघटना है कि जो अंतोक्त की अनुपूरक है, यद्यपि दोनों का स्थान विपरीत ध्रुवों पर है – अनियोजित पूंजी एक ध्रुव पर और अनियोजित श्रमिक आबादी दूसरे ध्रुव पर।

इसलिए पूंजी का, न कि अलग-अलग जिंसों का, अत्युत्पादन – यद्यपि पूंजी के अत्युत्पादन में जिंसों का अत्युत्पादन सदा शामिल रहता है – मात्र पूंजी का अतिसंचय ही है। यह समझने के लिए कि यह अतिसंचय होता क्या है (इसका सूक्ष्मतर विश्लेषण आगे चलकर किया जायेगा), यह कल्पना करना काफ़ी होगा कि यह निरपेक्ष होता है। पूंजी का अत्युत्पादन किन हालतों में निरपेक्ष हो सकता है? ऐसा अत्युत्पादन कि जो उत्पादन के केवल इस या उस अथवा कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों को ही नहीं प्रभावित करता, बल्कि अपनी पूरी व्याप्ति में निरपेक्ष होता है और इसलिए जिसका प्रसार उत्पादन के सभी क्षेत्रों पर होता है?

पूंजीवादी उत्पादन के प्रयोजनों के लिए अतिरिक्त पूंजी = 0 होते ही पूंजी का निरपेक्ष अत्युत्पादन हो जायेगा। तथापि पूंजीवादी उत्पादन का प्रयोजन पूंजी का स्वप्रसार, अर्थात बेशी श्रम का विनियोजन, बेशी मूल्य का, लाभ का उत्पादन है। इसलिए जैसे ही श्रमिक आबादी के अनुपात में पूंजी इतनी बढ़ जाती है कि न तो इस आबादी द्वारा प्रदत्त निरपेक्ष कार्य काल को और न ही आपेक्षिक बेशी कार्य काल को और अधिक बढ़ाया जा सकता है (अंतोक्त

किसी भी सूरत में ऐसे मामले में संभव नहीं होगा, जिसमें श्रम की मांग इतनी प्रबल हो कि उसके परिणामस्वरूप मज़दूरी के चढ़ने की प्रवृत्ति पैदा हो जाये); इसलिए ऐसे स्थल पर कि जब वर्धित पूंजी उतना ही अथवा उससे भी कम बेशी मूल्य उत्पन्न करती है कि जितना वह अपनी वृद्धि के पहले करती थी, पूंजी का निरपेक्ष अत्युत्पादन हो जाता है; अर्थात जब वर्धित पूंजी $C+\Delta C$ उससे अधिक नहीं, बल्कि उससे भी कम लाभ उत्पन्न करती है, जितना पूंजी C अपने ΔC द्वारा प्रसार के पहले करती थी। दोनों ही मामलों में सामान्य लाभ दर में भारी और आकस्मिक ह्रास होगा, लेकिन इस बार पूंजी की संरचना में उत्पादक शक्तियों के विकास द्वारा जनित परिवर्तन के कारण नहीं, बल्कि उलटे परिवर्ती पूंजी के मुद्रा मूल्य में चढ़ाव (वर्धित मज़दूरी के कारण) और आवश्यक श्रम के साथ बेशी श्रम के अनुपात में तदनुरूप कमी आने के कारण।

यथार्थ में यह प्रतीत होगा कि पूंजी का एक अंश पूर्णतः अथवा अंशतः निष्क्रिय पड़ा रहेगा (क्योंकि उसे पेश्तर इसके कि वह स्वयं अपने मूल्य का प्रसार कर सके, सक्रिय पूंजी में से कुछ को धकेल बाहर करना होगा), और दूसरा अंश अनियोजित अथवा केवल अंशतः नियोजित पूंजी के दबाव के कारण निम्नतर लाभ दर पर मूल्यों का उत्पादन करेगा। इस प्रसंग में यह महत्वहीन रहेगा कि अतिरिक्त पूंजी का एक भाग पुरानी पूंजी का स्थान ले लेता है और अंतोक्त अतिरिक्त पूंजी में अपनी जगह बना लेती है। हमारे पास अब भी सदा एक ओर, पुरानी पूंजी की राशि और दूसरी ओर, अतिरिक्त पूंजी की राशि ही होगी। इस स्थिति में लाभ दर में ह्रास के साथ लाभ संहति में निरपेक्ष कमी आयेगी, क्योंकि हमने जिन अवस्थाओं की कल्पना की थी, उनके अंतर्गत नियोजित श्रम शक्ति की संहति को नहीं बढ़ाया जा सकेगा और बेशी मूल्य दर को नहीं चढ़ाया जा सकेगा और इसलिए बेशी मूल्य संहति को भी नहीं बढ़ाया जा सकेगा। और न्यूनित लाभ संहति को वर्धित कुल पूंजी पर परिकलित करना होगा। लेकिन अगर यह भी मान लिया जाये कि नियोजित पूंजी पुरानी लाभ दर पर स्वप्रसार करती रहती है और इसलिए लाभ संहति उतनी ही बनी रहती है, तो भी इस संहति को वर्धित कुल पूंजी पर ही परिकलित करना होगा और इसमें भी इसी प्रकार लाभ दर में ह्रास सन्निहित है। अगर १,००० की कोई कुल पूंजी १०० का लाभ देती थी और बढ़ाकर १,५०० किये जाने के बाद भी १०० का ही लाभ देती है, तो दूसरे प्रसंग में १,००० की पूंजी केवल ६६ २/३ का लाभ देगी। पुरानी पूंजी का स्वप्रसार निरपेक्ष अर्थों में घट जायेगा। नयी अवस्थाओं के अंतर्गत पूंजी = १,००० उससे अधिक लाभ नहीं देगी, जितना पहले पूंजी = ६६६ २/३ देती थी।

लेकिन यह प्रत्यक्ष है कि पुरानी पूंजी का यह वास्तविक मूल्यह्रास संघर्ष के बिना नहीं हो सकता था और अतिरिक्त पूंजी ΔC संघर्ष के बिना पूंजी के कृत्यों को ग्रहण नहीं कर सकती थी। लाभ दर पूंजी के अत्युत्पादन से जनित प्रतिद्वंद्विता के प्रभावस्वरूप नहीं गिर जायेगी, बल्कि होगा इसका उलटा ही – लाभ दर का ह्रास और पूंजी का अत्युत्पादन चूंकि उन्हीं कारणों से होता है, इसलिए परिणामस्वरूप प्रतिद्वंद्विता शुरू हो जायेगी। पहले से कार्यरत पूंजीपतियों के हाथों में ΔC का जो भाग है, उसे वे कमोबेश निष्क्रिय ही रहने देंगे, ताकि स्वयं उनकी मूल पूंजी का मूल्यह्रास न होने पाये और उत्पादन के क्षेत्र में उसका स्थान सीमित न होने पाये। अथवा वे उसे इस तरह से नियोजित कर लेंगे – चाहे अस्थायी हानि उठाकर ही सही – कि अतिरिक्त पूंजी को निष्क्रिय रखने की आवश्यकता नवागंतुकों पर और सामान्य रूप में प्रतिद्वंद्वियों पर लद जाये।

ΔC का जो अंश अब नये हाथों में है, वह पुरानी पूंजी को निष्कासित करने की कोशिश करेगा और इसकी सिद्धि वह अंशतः पुरानी पूंजी के एक हिस्से को निष्क्रिय पड़ा रहने के लिए विवश करके करेगा। वह पुरानी पूंजी को अपना पुराना स्थान छोड़ने और पूर्णतः अथवा अशंतः अनियोजित अतिरिक्त पूंजी में शामिल होने के लिए मजबूर कर देगा।

पुरानी पूंजी के एक अंश को सभी हालतों में अप्रयुक्त पड़े रहना होता है; उसे पूंजी के अपने अभिलक्षक गुण को – जहां तक इस रूप में काम करने और मूल्य उत्पादित करने की बात है – त्यागना पड़ता है। इसका निर्णय प्रतिद्वंद्विता संघर्ष करता है कि उसका कौनसा भाग विशेषकर प्रभावित होगा। जब तक सब कुछ ठीक-ठाक रहता है, जैसे कि हमने सामान्य लाभ दर के समकरण के मामले में देखा था, प्रतिद्वंद्विता पूंजीपति वर्ग के बंधुत्व पर इस तरह से प्रभाव डालती है कि उनमें से प्रत्येक सामान्य लूट में से अपने-अपने निवेश के अनुपात में हिस्सा पा लेता है। लेकिन सवाल जैसे ही लाभ को बांटने का नहीं, वरन हानि को बांटने का हो जाता है कि हर कोई स्वयं अपने हिस्से को न्यूनतम करने और उसे दूसरे पर थोपने का यत्न करने लगता है। समूचे तौर पर पूंजीपति वर्ग को नुक़सान अनिवार्यतः झेलना पड़ता है। व्यष्टि पूंजीपति कितना नुक़सान उठाये, अर्थात उसमें हिस्सा बंटाये, तो कितना बंटाये, इसे ताक़त और चालाकी तय करती हैं और तब प्रतिद्वंद्विता परस्पर विरोधी भाइयों में लड़ाई बन जाती है। प्रत्येक व्यष्टि पूंजीपति के हितों में और समूचे तौर पर पूंजीपति वर्ग के हितों में विरोध तब उसी तरह से सतह पर आ जाता है कि जैसे पहले व्यवहार में इन हितों की एकता अपने को प्रतिद्वंद्विता के ज़रिये व्यक्त करती थी।

इस टकराव का समाधान कैसे होता है और कैसे वे अवस्थाएं बहाल हो जाती हैं, जो पूंजीवादी उत्पादन के "स्वस्थ" कार्य के अनुरूप हैं? समाधान की विधि उस टकराव के उद्‌भव में ही प्रकट हो चुकी है, जिसके समाधान की यहां चर्चा की जा रही है। इसमें अतिरिक्त पूंजी ΔC के पूरे मूल्य के बराबर पूंजी का, या कम से कम उसके एक भाग का आहरण और आंशिक विनाश तक सन्निहित है। चाहे, जैसे कि इस टकराव का हुलिया स्वयं ही दर्शाता है, हानि व्यष्टिक पूंजियों में किसी भी प्रकार समान रूप में वितरित नहीं होती, क्योंकि उसका वितरण प्रतिद्वंद्विता संघर्ष के ज़रिये ही निर्णीत होता है, जिसमें हानि विशेष सुविधाओं अथवा पहले हासिल स्थितियों के अनुसार बहुत भिन्न अनुपातों और रूपों में वितरित होती है, जिससे एक पूंजी अप्रयुक्त पड़ी रहती है, एक नष्ट हो जाती है और एक केवल आपेक्षिक हानि उठाती है, अथवा उसका केवल अस्थायी मूल्यह्रास ही होता है, आदि।

किंतु सभी अवस्थाओं में न्यूनाधिक पूंजी के आहरण अथवा विनाश तक के ज़रिये संतुलन बहाल हो जायेगा। यह अंशतः पूंजी के भौतिक सारतत्व पर भी चरितार्थ होगा, अर्थात उत्पादन साधनों का, स्थायी तथा प्रचल पूंजी का एक भाग कार्यरत नहीं होगा, पूंजी की तरह कार्य नहीं करेगा; तब पहले से कार्यरत प्रतिष्ठानों में से कुछ ठप हो जायेंगे। यद्यपि इस लिहाज से काल सभी उत्पादन साधनों (ज़मीन के सिवा) को आक्रांत करता और बिगाड़ता है, पर वास्तव में रुकावट उत्पादन साधनों को कहीं अधिक क्षति पहुंचायेगी। लेकिन इस मामले में मुख्य प्रभाव यह होगा कि ये उत्पादन साधन इस रूप में काम करना बंद कर देंगे, उत्पादन साधनों के रूप में उनका कार्य न्यूनाधिक अवधि के लिए भंग हो जायेगा।

मुख्य क्षति, और वह भी सबसे संगीन, पूंजी के प्रसंग में होगी और चूंकि पूंजी मूल्य का अभिलक्षण रखती है, इसलिए यह क्षति पूंजियों के **मूल्यों** के प्रसंग में होगी। पूंजी के मूल्य

का वह भाग, जो केवल बेशी मूल्य, अर्थात लाभ, के संभाव्य अंशों पर दावों के रूप में, वास्तव में विभिन्न रूपों में उत्पादन पर वचनपत्रों की सूरत में विद्यमान होता है, वह तुरंत उन प्राप्तियों के घटने से ह्रासित हो जाता है, जिन पर उसे परिकलित किया जाता है। सोने और चांदी का एक हिस्सा अप्रयुक्त पड़ा रहता है, अर्थात पूंजी की तरह कार्य नहीं करता। बाज़ार में जानेवाली जिंसों का एक हिस्सा अपनी परिचलन तथा पुनरुत्पादन प्रक्रिया को केवल अपने दाम के भारी संकुचन के ज़रिये ही, और इस प्रकार यह हिस्सा जिस पूंजी को व्यक्त करता है, उसके मूल्यह्रास के ज़रिये ही पूरा कर सकता है। स्थायी पूंजी के तत्वों का भी इसी प्रकार न्यूनाधिक मात्रा में मूल्यह्रास होता है। हम यह और कह दें कि निश्चित, पूर्वकल्पित दाम संबंध पुनरुत्पादन प्रक्रिया को शासित करते हैं, जिससे दामों में सामान्य ह्रास से यह प्रक्रिया रुक जाती है और अस्तव्यस्त हो जाती है। यह गड़बड़ी और गतिहीनता भुगतान के माध्यम के नाते द्रव्य के कार्य को ठप कर देती है, जिसका विकास पूंजी के विकास के साथ जुड़ा हुआ है और उन पूर्वकल्पित दाम संबंधों पर आधारित है। निश्चित तिथियों पर देय दायित्वों के भुगतान की शृंखला सैकड़ों स्थलों पर भंग हो जाती है। उधार प्रणाली के, जो पूंजी के साथ-साथ ही विकसित होती है, सहगामी ध्वंस से गड़बड़ और बढ़ जाती है और प्रचंड तथा संगीन संकटों, आकस्मिक और जबरन मूल्यह्रासों, पुनरुत्पादन प्रक्रिया के वास्तविक अटकाव तथा विघटन और फलतः पुनरुत्पादन में वास्तविक गिरावट की तरफ़ ले जाती है।

लेकिन साथ ही अन्य कारक भी कार्यरत रहे होंगे। उत्पादन के अटकाव ने मज़दूर वर्ग के एक हिस्से को अस्थायी तौर पर बेकार कर दिया होगा और इस प्रकार उसके बारोज़-गार हिस्से को ऐसी स्थिति में डाल दिया होगा कि जिसमें उसे मजदूरी के औसत के भी नीचे किये जाने को स्वीकार करना होगा। इसका पूंजी पर बिलकुल वही प्रभाव पड़ता है, जो औसत मज़दूरी पर सापेक्ष अथवा निरपेक्ष बेशी मूल्य की वृद्धि का पड़ता। समृद्धि के फलस्वरूप मज़दूरों में शादियां बढ़ जातीं और संतान की मृत्यु दर घट जाती। आबादी में वास्तविक वृद्धि का द्योतक होने पर भी यह तथ्य वास्तविक श्रमिक आबादी में वृद्धि की परिचायक नहीं है। लेकिन श्रमिक के पूंजी के साथ संबंधों को यह उसी प्रकार प्रभावित करता है, जैसे वस्तुतः कार्यशील श्रमिकों की संख्या में वृद्धि ने उन्हें प्रभावित किया होता। दूसरी ओर, दामों में ह्रास और प्रतिद्वंद्विता संघर्ष ने प्रत्येक पूंजीपति को अपने कुल उत्पाद के व्यष्टिक मूल्य को नयी मशीनों, नयी तथा सुधरी हुई कार्य विधियों, नये संयोगों के ज़रिये उसके सामान्य मूल्य के नीचे करने को, अर्थात श्रम की एक नियत मात्रा की उत्पादिता की वृद्धि करने को, स्थिर पूंजी के साथ परिवर्ती पूंजी के अनुपात को नीचा करने को, और इस प्रकार कुछ श्रमिकों को मुक्त करने को, संक्षेप में, कृत्रिम जनाधिक्य पैदा करने को विवश कर दिया होता। अंततोगत्वा, स्थिर पूंजी के तत्वों का मूल्यह्रास स्वयं लाभ दर चढ़ाने का कारण होगा। परिवर्ती पूंजी की सापेक्षता में नियोजित स्थिर पूंजी की संहति बढ़ गयी होती, किंतु उसका मूल्य गिर गया होता। उत्पादन के तद्जनित अटकाव ने – पूंजीवादी सीमाओं के भीतर – उत्पादन के अनुवर्ती प्रसार का आधार तैयार कर दिया होता।

इस प्रकार चक्र फिर से चल पड़ेगा। पूंजी का अपनी कार्यात्मक गतिहीनता से मूल्यह्रासित अंश अपना पुराना मूल्य पुनः प्राप्त कर लेगा। यही नहीं, विस्तारित उत्पादन अवस्थाओं के अंतर्गत, विस्तारित बाज़ार और वर्धित उत्पादक शक्तियों के साथ वही विषम चक्र एक बार फिर चल पड़ेगा।

तथापि, हमारे द्वारा कल्पित आत्यंतिक अवस्थाओं के अंतर्गत भी पूंजी का यह निरपेक्ष अत्युत्पादन सामान्य रूप में अत्युत्पादन, उत्पादन साधनों का निरपेक्ष अत्युत्पादन नहीं है। यह केवल वहीं तक उत्पादन साधनों का अत्युत्पादन है, जहां तक कि ये साधन **पूंजी की तरह काम करते हैं**, और फलतः उनमें मूल्य का स्वप्रसार सम्मिलित होगा, उन्हें वर्धित संहति के अनुपात में अतिरिक्त मूल्य उत्पादित करना होगा।

लेकिन फिर भी यह अत्युत्पादन ही होगा, क्योंकि पूंजी श्रम का पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया के "स्वस्थ", "सामान्य" विकास द्वारा अपेक्षित मात्रा तक, ऐसी मात्रा तक कि जो नियोजित पूंजी की बढ़ती संहति के साथ-साथ कम से कम लाभ संहति को भी बढ़ायेगी, फलतः ऐसी मात्रा तक कि जो लाभ दर को जितनी तेज़ी से पूंजी बढ़ती है, उतनी, या उससे भी अधिक तेज़ी से, गिरने से रोकेगी, शोषण नहीं कर पायेगी।

पूंजी का अत्युत्पादन कभी उत्पादन साधनों – श्रम साधनों तथा जीवनावश्यक वस्तुओं – के अत्युत्पादन के अलावा और कुछ नहीं होता, जो पूंजी की तरह कार्य कर सकते हैं, अर्थात शोषण की एक नियत मात्रा के साथ श्रम का शोषण कर सकते हैं; लेकिन शोषण की तीव्रता का एक ख़ास बिंदु के नीचे गिरना पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया में गड़बड़ और रुकावटों, संकटों और पूंजी नाश को उत्पन्न करता है। यह कोई असंगति नहीं है कि पूंजी के इस अत्युत्पादन के साथ न्यूनाधिक काफ़ी आपेक्षिक जनाधिक्य भी होता है। जिन परिस्थितियों ने श्रम की उत्पादनशीलता को बढ़ाया था, उत्पादित जिंस संहति की संवृद्धि की थी, बाज़ारों का विस्तार किया था, पूंजी के संचय को संहति और मूल्य, दोनों ही अर्थों में त्वरित किया था और लाभ दर को गिराया था – स्वयं उन्हीं परिस्थितियों ने आपेक्षिक जनाधिक्य को, श्रमिकों के जनाधिक्य को पैदा किया है और निरंतर करती रहती हैं, जिन्हें बेशी पूंजी द्वारा इसलिए नियोजित नहीं किया जाता कि शोषण की जिस एकमात्र मात्रा के साथ उन्हें नियोजित किया जा सकता था, वह बहुत नीची है, या कम से कम शोषण की उस मात्रा के साथ वे जो लाभ दर उत्पन्न करते, वह नीची है।

अगर पूंजी को विदेश भेजा जाता है, तो ऐसा इसलिए नहीं किया जाता है कि उसे स्वदेश में बिलकुल ही नहीं लगाया जा सकता था, बल्कि इसलिए कि विदेश में उसे उच्चतर लाभ दर पर नियोजित किया जा सकता है। लेकिन ऐसी पूंजी नियोजित श्रमिक आबादी के लिए और सामान्यरूपेण स्वदेश के लिए निरपेक्ष अतिरिक्त पूंजी होती है। यह इसी रूप में आपेक्षिक जनाधिक्य के साथ-साथ अस्तित्वमान रहती है और यह इसकी एक मिसाल है कि किस प्रकार दोनों साथ-साथ रहते हैं और परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

इसके विपरीत, लाभ दर में संचय से संबद्ध ह्रास अनिवार्यतः प्रतिद्वंद्विता संघर्ष पैदा करता है। लाभ दर में ह्रास के लाभ संहति में वृद्धि द्वारा प्रतिकरण की बात केवल कुल सामाजिक पूंजी और बड़े, सुस्थापित पूंजीपतियों पर ही लागू होती है। स्वतंत्र रूप में कार्यरत नयी अतिरिक्त पूंजी को ऐसी कोई प्रतिकारक अवस्थाएं नहीं प्राप्त होती हैं। उसे इन अवस्थाओं को अभी हासिल ही करना होता है, और इसलिए होता यह है कि लाभ दर में ह्रास पूंजीपतियों में प्रतिद्वंद्विता संघर्ष उत्पन्न करता है, न कि इसके विपरीत। बेशक, प्रतिद्वंद्विता संघर्ष के साथ-साथ मज़दूरी में अस्थायी चढ़ाव और उससे लाभ दर में और अधिक अस्थायी ह्रास भी आता है। ऐसा ही तब भी होता है कि जब जिंसों का अत्युत्पादन होता है, जब बाज़ार पटे हुए होते हैं। चूंकि पूंजी का लक्ष्य निश्चित आवश्यकताओं को पूरा करना नहीं, बल्कि लाभ उत्पन्न

करना है, और चूंकि वह इस उद्देश्य की सिद्धि ऐसे तरीक़ों से करती है कि जो उत्पादों की संहति को उत्पादन के पैमाने के अनुरूप कर लेते हैं, न कि इसके विपरीत, इसलिए पूंजीवाद के अंतर्गत उपभोग के सीमित आयामों और ऐसे उत्पादन के बीच निरंतर दरार आती रहेगी कि जो सदा इस अंतर्भूत बाधा के ऊपर जाने की ओर प्रवृत्त रहता है। इसके अलावा, पूंजी में जिंसें समाविष्ट होती हैं, और इसलिए पूंजी के अत्युत्पादन में जिंसों का अत्युत्पादन सन्निहित होता है। इसी से यह विलक्षण तथ्य उत्पन्न होता है कि वे ही अर्थशास्त्री कि जो जिंसों के अत्युत्पादन को अस्वीकार करते हैं, पूंजी के अत्युत्पादन को स्वीकार कर लेते हैं। यह कहना कि सामान्य अत्युत्पादन नहीं, वरन उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के भीतर असमानुपात ही होता है, यह कहने से अधिक कुछ नहीं है कि पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत अलग-अलग उत्पादन शाखाओं की समानुपातिकता असमानुपातिकता से एक निरंतर प्रक्रिया की तरह उपजती है, क्योंकि सकल उत्पादन की संसक्ति उत्पादन के अभिकर्ताओं पर एक अंधनियम की तरह प्रभाव डालती है, न कि ऐसे नियम की तरह, जो उनके सामान्य विवेक द्वारा बोधगम्य और फलतः नियंत्रित होने के कारण उत्पादक प्रक्रिया को उनके संयुक्त नियंत्रण के नीचे लाती है। इसके अलावा यह इसकी मांग करने के बराबर है कि जिन देशों में पूंजीवादी उत्पादन विकसित नहीं हुआ है, उन्हें ऐसी दर से उपभोग और उत्पादन करना चाहिए कि जो पूंजीवादी उत्पादनवाले देशों के अनुकूल हो। अगर यह कहा जाये कि अत्युत्पादन केवल सापेक्ष होता है, तो यह सही ही है; लेकिन सारी पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली केवल सापेक्ष ही है, जिसकी सीमाएं निरपेक्ष नहीं होतीं। वे केवल इस प्रणाली के लिए ही, अर्थात उसके आधार पर ही, निरपेक्ष होती हैं। अन्यथा ठीक उन्हीं जिंसों की मांग की कमी कैसे हो सकती है, जिनकी जनसाधारण को क़िल्लत होती है, और इस मांग को बाहर, विदेशी बाज़ारों में खोजना कैसे संभव हो सकता है, ताकि स्वदेश में श्रमिकों को जीवनावश्यकताओं की औसत मात्रा की अदायगी की जा सके? यह सिर्फ़ इसलिए संभव है कि इस विशिष्ट पूंजीवादी अंतःसंबंध में बेशी उत्पाद ऐसा रूप ग्रहण कर लेता है, जिसमें उसका स्वामी उसे तब तक उपभोग के लिए प्रस्तुत नहीं कर सकता कि जब तक उत्पाद पहले अपने आपको उसके लिए पूंजी में पुनःपरिवर्तित नहीं कर लेता। अंततोगत्वा, अगर यह कहा जाता है कि पूंजीपतियों को अपनी जिंसों का आपस में ही विनिमय और उपभोग करना होता है, तो इसका अर्थ पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की संपूर्ण प्रकृति को ही आंखों से ओझल कर देना है और इस तथ्य को भी भुला देना है कि बात पूंजी के मूल्य का प्रसार करने की है, न कि उसका उपभोग करने की। संक्षेप में, अत्युत्पादन की प्रत्यक्ष परिघटनाओं पर ये सभी आपत्तियां (ऐसी परिघटनाएं, जो इन आपत्तियों की कोई परवाह नहीं करतीं) यह दावा करने के बराबर हैं कि **पूंजीवादी** उत्पादन की सीमाएं **सामान्यतः उत्पादन** की सीमाएं नहीं होतीं और इसलिए इस विशिष्ट, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की सीमाएं नहीं हैं। लेकिन पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की असंगति उसकी उत्पादक **शक्तियों** के निरपेक्ष विकास की ओर प्रवृत्ति में निहित है, जो उत्पादन की उन विशिष्ट **अवस्थाओं** के साथ निरंतर टकराव में आती हैं, जिनमें पूंजी गति करती है और केवल पूंजी ही गति कर सकती है।

विद्यमान आबादी के अनुपात में कोई बहुत ज़्यादा जीवनावश्यक वस्तुएं नहीं उत्पादित की जातीं। बात बिलकुल उलटी ही है। जनसाधारण की आवश्यकताओं की समुचित और मानवोचित ढंग से तुष्टि कर पाने के लिए वे बहुत कम ही उत्पादित की जाती हैं।

आबादी के समर्थ अंश को काम पर लगाने के लिए कोई बहुत ज़्यादा उत्पादन साधन

नहीं उत्पादित किये जाते। बात बिलकुल उलटी ही है। पहले तो यही कि पैदा हुई आबादी का बहुत ही बड़ा हिस्सा वास्तव में काम नहीं कर सकता और परिस्थितिवश अन्यों के श्रम के शोषण पर अथवा ऐसा श्रम करने पर अवलंबित होता है कि जिसे किसी तुच्छ उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत ही श्रम की संज्ञा दी जा सकती है। दूसरे, इतने काफ़ी उत्पादन साधन नहीं उत्पादित किये जाते कि सारी ही समर्थ आबादी को सबसे उत्पादक अवस्थाओं के अंतर्गत काम पर लगाया जा सके, जिससे कि उनकी निरपेक्ष कार्य अवधि को काम के घंटों के दौरान नियोजित स्थिर पूंजी की संहति और प्रभाविता द्वारा कम किया जा सके।

दूसरी ओर, कभी-कभी इतने ज्यादा श्रम साधन और जीवनावश्यकताएं उत्पादित हो जाते हैं कि वे एक नियत लाभ दर पर श्रमिकों के शोषण के साधनों का काम नहीं दे सकते। इतनी ज्यादा जिंसें उत्पादित हो जाती हैं कि पूंजीवादी उत्पादन की विशिष्ट वितरण तथा उपभोग अवस्थाओं के अंतर्गत उनमें समाविष्ट मूल्य और बेशी मूल्य को सिद्धिकृत तथा नयी पूंजी में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, अर्थात इतनी ज्यादा कि चिर-आवर्ती विस्फोटों के बिना इस प्रक्रिया की निष्पत्ति नहीं हो सकती।

संपदा कोई बहुत ज्यादा नहीं उत्पादित होती है। किंतु कभी-कभी अपने पूंजीवादी, अंतर्विरोधी रूपों में ज्यादा ही संपदा उत्पादित हो जाती है।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की सीमाएं निम्न बातों में सतह पर आ जाती हैं:

१) श्रम उत्पादिता का विकास ह्रासमान लाभ दर में से एक ऐसे नियम को जन्म देता है, जो एक ख़ास स्थल पर स्वयं इस विकास के साथ टकराव में आ जाता है और इसलिए जिसका संकटों के ज़रिये ही निराकरण करना होता है।

२) उत्पादन के प्रसार अथवा संकुचन का निर्धारण अशोधित श्रम के हस्तगतकरण और इस अशोधित श्रम के सामान्य रूप में मूर्त श्रम के साथ अनुपात द्वारा, अथवा, पूंजीपतियों की भाषा में कहें, तो लाभ और नियोजित पूंजी के साथ इस लाभ के अनुपात द्वारा, इस प्रकार एक निश्चित लाभ दर द्वारा, किया जाता है, न कि उत्पादन के सामाजिक आवश्यकताओं के साथ, अर्थात सामाजिक रूप में विकसित मानवों की आवश्यकताओं के साथ संबंध द्वारा। यही कारण है कि उत्पादन की एक विशेष विस्तारित अवस्था में, जो दूसरी आधारिका से दृष्टिपात करने पर, उलटे, सर्वथा अपर्याप्त ही सिद्ध होती, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के सामने अवरोध आ जाते हैं। आवश्यकताओं की तुष्टि द्वारा नहीं, बल्कि उत्पादन और लाभ के सिद्धिकरण द्वारा निर्धारित एक स्थल पर आकर वह ठप हो जाती है।

अगर लाभ दर गिरती है, तो एक ओर, पूंजी द्वारा इसका प्रयास किया जाता है कि अलग-अलग पूंजीपति सुधरी विधियों, आदि के ज़रिये अपने मालों के व्यष्टिक मूल्य को सामाजिक औसत मूल्य के नीचे कर सकें और उसके द्वारा प्रचलित बाजार दाम पर अतिरिक्त लाभ प्राप्त कर सकें। दूसरी ओर, मंच पर सट्टे-बट्टे का अवतरण होता है, जो केवल इस लक्ष्य से कि सामान्य औसत से स्वतंत्र और उसके ऊपर लेशमात्र अतिरिक्त मुनाफ़ा हासिल किया जा सके, नयी उत्पादन विधियों, पूंजी के नये निवेशों, नये उपक्रमों की दीवानगीभरी जोखिमों की राह पर धकेलकर सट्टे-बट्टे को और बढ़ावा देता है।

लाभ दर, अर्थात पूंजी की सापेक्ष वृद्धि, मुख्यतः पूंजी की सभी नयी शाखाओं के लिए महत्वपूर्ण है, जो अपने लिए स्वतंत्र ठांव की खोज में होती हैं। और अगर पूंजी का निर्माण कुछ स्थापित बड़ी पूंजियों के हाथों में ही आ जाता है, जिनके लिए लाभ संहति ह्रासमान लाभ

दर की प्रतिपूर्ति कर देती है, तो उसी के साथ उत्पादन की जीवन ज्वाला पूर्णतः शांत हो जाती है। वह बुझ जाती है। लाभ दर पूंजीवादी उत्पादन की प्रेरक शक्ति है। चीज़ें सिर्फ़ तभी तक उत्पादित की जाती हैं कि जब तक उन्हें लाभ के साथ उत्पादित किया जा सकता है। यही ह्रासमान लाभ दर के बारे में अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों की चिंता का कारण है। इसकी संभावना मात्र का रिकार्डो को चिंतित कर देना पूंजीवादी उत्पादन की अवस्थाओं की उनकी गहरी समझ को दर्शाता है। रिकार्डो के संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण वही है, जिसे लेकर उन पर उंगली उठायी जाती है – "मानवों" के प्रति उदासीनता और केवल उत्पादक शक्तियों के विकास की ओर ध्यान, फिर चाहे मानवों और पूंजी मूल्यों के रूप में कितनी भी क़ीमत क्यों न चुकानी पड़े। सामाजिक श्रम की उत्पादक शक्तियों का विकास ही पूंजी का ऐतिहासिक कार्यभार और औचित्य है। इसी ढंग से वह अचेतन रूप में उत्पादन की उच्चतर प्रणाली की भौतिक आवश्यकताओं का सृजन करती है। रिकार्डो को चिंतित यह बात करती है कि लाभ दर, जो पूंजीवादी उत्पादन का प्रेरक तत्व, संचय का पूर्वाधार और चालक शक्ति है, स्वयं उत्पादन के विकास से ख़तरे में पड़ सकती है। और यहां मात्रात्मक अनुपात का मतलब है सभी कुछ। इसके मूल में सचमुच कुछ और रहस्य है, जिसका उन्हें अस्पष्ट अहसास ही है। यहां शुद्धतः आर्थिक ढंग से – अर्थात बूर्जुआ दृष्टिकोण से, पूंजीवादी समझ की परिसीमाओं के भीतर, स्वयं पूंजीवादी उत्पादन के दृष्टिकोण से – यह प्रकट हो जाता है कि यह कोई निरपेक्ष नहीं, वरन मात्र उत्पादन की भौतिक आवश्यकताओं के विकास में एक निश्चित सीमित युग के अनुरूप ऐतिहासिक उत्पादन प्रणाली है, जिसकी अपनी सीमा है और जो सापेक्षिक है।

४. अनुपूरक टिप्पणियां

चूंकि श्रम उत्पादिता का विकास उद्योग की विभिन्न शाखाओं में बहुत असमान होता है, और केवल मात्रा में ही असमान नहीं, बल्कि बहुधा विपरीत दिशाओं में भी होता है, इसलिए यह नतीजा निकलता है कि औसत लाभ संहति (= बेशी मूल्य) उस स्तर से काफ़ी नीचे होती होगी, जितने की उद्योग की सबसे उन्नत शाखाओं में उत्पादनशीलता के विकास के बाद स्वाभाविकतया अपेक्षा की जा सकती है। यह केवल प्रतिद्वंद्विता की अराजकता और बूर्जुआ उत्पादन प्रणाली की विलक्षणता के कारण ही नहीं है कि उद्योग की भिन्न-भिन्न शाखाओं में श्रम उत्पादिता का विकास काफ़ी भिन्न दरों पर और बहुधा विपरीत दिशाओं तक में होता है। श्रम उत्पादिता प्राकृतिक अवस्थाओं से भी जुड़ी होती है, जो अकसर उत्पादिता के बढ़ने के साथ कम उत्पादक होती जाती हैं, क्योंकि उत्पादिता सामाजिक अवस्थाओं पर निर्भर करती है। यही इन विभिन्न क्षेत्रों में विपरीत गतियों का कारण है – एक में प्रगति, तो दूसरे में अवनति। मिसाल के लिए, मौसमों के प्रभाव मात्र को ही ले लीजिये, जिस पर अधिकांश कच्चे मालों का परिमाण, वनभूमियों, कोयला तथा लोहा खानों, आदि का दोहन निर्भर करता है।

जहां स्थिर पूंजी का कच्चे माल, आदि जैसा प्रचल भाग श्रम उत्पादिता के अनुपात में अपनी संहति लगातार बढ़ाता है, वहां इमारतों, मशीनरी, और प्रदीपन तथा तापन सुविधाओं, आदि जैसी स्थायी पूंजी के साथ ऐसा नहीं होता। यद्यपि निरपेक्ष अर्थों में मशीन अपनी कायिक संहति की वृद्धि के साथ महंगी होती जाती है, पर सापेक्षतया वह सस्ती होती जाती है। अगर पांच श्रमिक जिंस को पहले की बनिस्बत दस गुना ज्यादा पैदा करते हैं, तो इससे स्थायी

पूंजी का परिव्यय दस गुना नहीं बढ़ जाता; यद्यपि स्थिर पूंजी के इस भाग का मूल्य उत्पादनशीलता के विकास के साथ बढ़ता है, पर वह किसी भी प्रकार उसी अनुपात में नहीं बढ़ता। परिवर्ती पूंजी के साथ स्थिर पूंजी के अनुपात में लाभ दर के ह्रास में व्यक्त अंतर और श्रम उत्पादिता के विकास के साथ व्यष्टिक माल तथा उसके दाम के संदर्भ में इसी अनुपात में व्यक्त अंतर की ओर हम कई बार इंगित कर चुके हैं।

[किसी जिंस का मूल्य उसमें समाविष्ट गत श्रम तथा सजीव श्रम के कुल श्रम काल द्वारा निर्धारित होता है। श्रम उत्पादिता में वृद्धि इसी में सन्निहित है कि सजीव श्रम का अंश घट जाता है, जबकि गत श्रम का अंश बढ़ जाता है, किंतु इस प्रकार कि उस माल में समाविष्ट श्रम की कुल मात्रा घट जाती है; इसलिए इस प्रकार कि गत श्रम जितना बढ़ता है, सजीव श्रम उससे ज्यादा घटता है। जिंस के मूल्य में समाविष्ट गत श्रम – पूंजी के स्थिर भाग – में अंशतः उस जिंस द्वारा पूर्णतः उपभुक्त स्थायी, और अंशतः प्रचल स्थिर पूंजी, जैसे कच्चे मालों तथा सहायक सामग्री की टूट-फूट सम्मिलित होती है। कच्चे मालों तथा सहायक सामग्री से व्युत्पन्न अंश वर्धित श्रम उत्पादिता के साथ घटना चाहिए, क्योंकि इन सामग्रियों के प्रसंग में उत्पादिता अपने को उनके मूल्य को घटाकर ही व्यक्त करती है। इसके विपरीत, बढ़ती श्रम उत्पादिता का एक सबसे चारित्रिक लक्षण यह है कि स्थिर पूंजी का स्थायी भाग और उसके साथ उसके मूल्य की टूट-फूट के जरिये जिंसों को अंतरित होनेवाला अंश भी बहुत बढ़ जाते हैं। कोई नयी उत्पादन पद्धति उत्पादिता में वास्तविक वृद्धि को व्यक्त कर सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह जिंस की प्रत्येक इकाई को टूट-फूट के रूप में स्थायी पूंजी के मूल्य का उससे न्यूनतर अतिरिक्त अंश अंतरित करे, जितना सजीव श्रम में बचत के जरिये उससे घटाया जाता है; संक्षेप में, वह जिंस के मूल्य को घटाये। प्रत्यक्षतः उसे ऐसा तब भी करना होगा, जैसे कि कुछ मामलों में होता भी है, जब जिंस के मूल्य में स्थायी पूंजी की टूट-फूटवाले अतिरिक्त अंश के अलावा भी ज्यादा या अधिक महंगी कच्ची अथवा सहायक सामग्रियों के लिए अतिरिक्त मूल्य जाता है। मूल्य में सभी परिवर्धनों का सजीव श्रम में घटत से जनित मूल्य में कमी से प्रतितुलन तो हो ही जाना चाहिए।

इसलिए माल में जानेवाले श्रम की कुल मात्रा का यह न्यूनीकरण वर्धित श्रम उत्पादिता का अनिवार्य मापदंड प्रतीत होता है, फिर चाहे उत्पादन किन्हीं भी सामाजिक अवस्थाओं के अंतर्गत क्यों न होता हो। वास्तव में ऐसे समाज में, जिसमें उत्पादक अपने उत्पादन का पूर्वकल्पित योजना के अनुसार नियमन करते हैं, अथवा साधारण पण्य उत्पादन के अंतर्गत भी श्रम उत्पादिता हमेशा इसी मानक से मापी जायेगी। लेकिन पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत स्थिति क्या है?

मान लीजिये कि पूंजीवादी उद्योग की एक शाखा विशेष अपने माल की सामान्य इकाई का उत्पादन निम्न अवस्थाओं के अंतर्गत करती है: स्थायी पूंजी की टूट-फूट प्रति नग १/२ शिलिंग है; उसमें प्रति नग १७ १/२ शिलिंग के कच्चे माल तथा सहायक सामग्री जाती है; मजदूरी २ शिलिंग है और १००% बेशी मूल्य दर से बेशी मूल्य २ शिलिंग है। इसलिए कुल मूल्य = =२२ शिलिंग। सरलता के लिए हम मान लेते हैं कि उत्पादन की इस शाखा में पूंजी सामाजिक पूंजी की औसत संरचना की है, जिससे जिंस का उत्पादन दाम उसके मूल्य के, और पूंजीपति का लाभ सृजित बेशी मूल्य के सर्वसम है। तब जिंस का लागत दाम = १/२ + १७ १/२ + २ =

= २० शिलिंग, औसत लाभ दर = $\frac{२}{२०}$ =१०%, और प्रति नग जिंस का दाम, उसके मूल्य की ही भांति = २२ शिलिंग।

मान लीजिये कि ऐसी मशीन का आविष्कार हो जाता है, जो प्रति नग जिंस द्वारा अपेक्षित सजीव श्रम को घटाकर आधा कर देती है, मगर उसके मूल्य के स्थायी पूंजी की टूट-फूट से जनित अंश को तिगुना कर देती है। ऐसी हालत में परिकलन यह होगा: टूट-फूट = १ १/२ शिलिंग, कच्चे माल तथा सहायक सामग्री, पहले की ही भांति, १७ १/२ शिलिंग, मज़दूरी १ शिलिंग, बेशी मूल्य १ शिलिंग, योग २१ शिलिंग। माल का मूल्य १ शिलिंग गिर गया है, नयी मशीन ने निस्संदेह श्रम उत्पादिता को बढ़ा दिया है। लेकिन पूंजीपति मामले को इस नज़र से देखता है: उसका लागत दाम अब टूट-फूट के लिए १ १/२ शिलिंग, कच्चे मालों तथा सहायक सामग्री के लिए १७ १/२ शिलिंग, मज़दूरी के लिए १ शिलिंग, कुल २० शिलिंग है, जैसे पहले था। चूंकि लाभ दर नयी मशीन से फ़ौरन ही नहीं बदलती है, इसलिए वह अपने लागत दाम के ऊपर १०%, अर्थात २ शिलिंग प्राप्त करेगा। इस प्रकार उत्पादन दाम अपरिवर्तित, २२ शिलिंग ही बना रहता है, लेकिन वह मूल्य से १ शिलिंग ऊपर है। पूंजीवादी उत्पादन अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादन करनेवाले समाज के लिए माल सस्ता **नहीं** हुआ है। नयी मशीन उसके लिए **कोई** सुधार **नहीं** है। इसलिए पूंजीपति की उसे प्रचलन में लाने में कोई दिलचस्पी नहीं है। और चूंकि उसका प्रचलन उसकी विद्यमान मशीनरी को, जो अभी जर्जर नहीं हुई है, सीधे-सीधे बेकार कर देगा, उसे रद्दी लोहे में बदल देगा, इसलिए निश्चित नुक़सान करेगा और इसलिए वह इसका ध्यान रखता है कि यह – उसके लिए यूटोपियाई – ग़लती न करे।

इसलिए वर्धित श्रम उत्पादिता का नियम पूंजी के लिए निरपेक्ष रूप में संगत नहीं है। जहां तक पूंजी का संबंध है, उत्पादिता सामान्यरूपेण सजीव श्रम में बचत के ज़रिये नहीं, बल्कि जैसा कि हम पहली पुस्तक (Kap. XIII, 2, S. 409/398)* में पहले ही सरसरी तौर पर दिखला चुके हैं, विगत में व्ययित श्रम की तुलना में सिर्फ़ सजीव श्रम के **शोषित** भाग में बचत के ज़रिये ही बढ़ती है। यहां पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली एक और असंगति से ग्रस्त है। उसका ऐतिहासिक लक्ष्य मानव श्रम की उत्पादिता का गुणोत्तर श्रेढ़ी में निर्बाध विकास है। यह लक्ष्य जब भी, जैसे यहां पर, उत्पादिता के विकास को निरुद्ध करता है, वह उससे फिर जाती है। इस तरह यह फिर दिखाता है कि वह जीर्ण हो रही है और अधिकाधिक कालातीत बनती जा रही है।][37]

प्रतिद्वंद्विता के अधीन उत्पादिता की वृद्धि के साथ किसी स्वतंत्र औद्योगिक प्रतिष्ठान के सफल संचालन के लिए आवश्यक न्यूनतम पूंजी की वृद्धि यह स्वरूप ग्रहण कर लेती है: जैसे ही नया, अधिक मूल्यवान उपस्कर सार्विक रूप में स्थापित हो जाता है, वैसे ही छोटी पूंजियां उस उद्योग से निष्कासित हो जाती हैं। छोटी पूंजियां केवल यांत्रिक आविष्कारों के शैशव में

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण : अध्याय १५, २, पृ० ४१९-४२०। – सं०

[37] इस अंश को वर्ग-कोष्ठकों में इसलिए रखा गया है कि यद्यपि यह मूल पांडुलिपि के विवरण का ही पुनःप्रस्तुतीकरण है, फिर भी कुछ बातों में यह मूल में प्राप्य सामग्री की परिधि के बाहर जाता है। – फ़े० एं०

ही उद्योग के विभिन्न क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप में कार्य कर सकती हैं। दूसरी ओर, रेलों जैसे बहुत बड़े उपक्रम, जिनमें स्थिर पूंजी का असाधारणतः ऊंचा अनुपात होता है, औसत लाभ दर नहीं, अपितु उसका केवल एक अंश, केवल सूद, ही प्रदान करते हैं। अन्यथा सामान्य लाभ दर और भी अधिक नीचे गिर गयी होती। किंतु इससे स्टाक के रूप में पूंजी के बड़े संकेंद्रणों का प्रत्यक्ष नियोजन संभव हो जाता है।

पूंजी की वृद्धि और अतः पूंजी के संचय में लाभ दर का ह्रास तब तक सन्निहित नहीं होता कि जब तक उसके साथ पूंजी के आंगिक संघटकों के अनुपात में उपरोक्त परिवर्तन भी न आयें। लेकिन होता यह है कि उत्पादन प्रणाली में निरंतर दैनंदिन क्रांतियों के बावजूद कुल पूंजी का कभी यह, तो कभी वह बड़ा या छोटा अंश इन संघटकों के नियत औसत अनुपात के आधार पर कुछ समय तक संचित होता रहता है, जिससे उसकी वृद्धि के साथ कोई आंगिक परिवर्तन नहीं आता, और फलतः लाभ दर में ह्रास का कोई कारण भी नहीं पैदा होता। उत्पादन की पुरानी पद्धति के आधार पर पूंजी का यह सतत प्रसार, और फलतः उत्पादन का भी प्रसार, जो उस समय भी स्थिरतापूर्वक होता रहता है कि जब उसके साथ-साथ नयी पद्धतियों का प्रचलन होने भी लगता है, इसका एक और कारण है कि लाभ दर उतनी ही नहीं गिरती, जितनी समाज की समग्र पूंजी बढ़ती है।

मजदूरी में व्ययित परिवर्ती पूंजी की सापेक्षिक घटत के बावजूद श्रमिकों की निरपेक्ष संख्या में वृद्धि उत्पादन की सभी शाखाओं में नहीं होती और न सभी में समान रूप में ही होती है। कृषि में सजीव श्रम के तत्व में घटत निरपेक्ष हो सकती है।

किसी भी सूरत में यह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की एक अपेक्षा मात्र है कि उजरती मजदूरों की संख्या उसकी सापेक्षिक घटत के बावजूद निरपेक्ष रूप में बढ़े। उसके लिए श्रम शक्ति को जैसे ही १२ से १५ घंटे रोज नियोजित करना आवश्यक नहीं रहता है कि वह फ़ालतू हो जाती है। उत्पादक शक्तियों का कोई ऐसा विकास कि जो श्रमिकों की निरपेक्ष संख्या को घटा देगा, अर्थात सारे राष्ट्र को अपने कुल उत्पादन को अल्पतर कालावधि में संपन्न करने में समर्थ बना देगा, वह एक क्रांति कर देगा, क्योंकि अधिकांश आबादी को करने को काम न रहेगा। यह पूंजीवादी उत्पादन की विशिष्ट सीमा की एक और अभिव्यक्ति है, जो यह भी दिखलाती है कि पूंजीवादी उत्पादन किसी भी प्रकार उत्पादक शक्तियों के विकास के लिए और संपदा के सृजन के लिए कोई निरपेक्ष रूप नहीं है, बल्कि इसके विपरीत, एक विशेष स्थल पर वह इस विकास के साथ टकराव में ही आता है। यह टकराव अंशतः नियतकालिक संकटों में प्रकट होता है, जो इस तथ्य से उत्पन्न होते हैं कि श्रमिक आबादी का कभी यह, तो कभी वह अंश अपनी पुरानी नियोजन प्रणाली के अंतर्गत फ़ालतू हो जाता है। पूंजीवादी उत्पादन की सीमा श्रमिकों का अतिरिक्त समय है। समाज द्वारा अर्जित निरपेक्ष ख़ाली समय से उसे कोई सरोकार नहीं। उत्पादिता के विकास से उसका केवल वहीं तक सरोकार है कि वह मजदूर वर्ग के बेशी श्रम काल को बढ़ाता है, न कि इसलिए कि वह सामान्यरूपेण भौतिक उत्पादन के लिए श्रम काल को घटाता है। इस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन असंगति में ही चलता है।

हम देख चुके हैं कि पूंजी के बढ़ते संचय में उसका बढ़ता संकेंद्रण सन्निहित है। इसी तरह से पूंजी की सत्ता बढ़ती है, पूंजीपति में मूर्त सामाजिक उत्पादन की अवस्थाओं का वास्तविक उत्पादकों से विसंबंधन होता है। पूंजी सामाजिक शक्ति के रूप में अधिकाधिक प्रमुखता प्राप्त करती जाती है, जिसका कर्ता पूंजीपति है। इस सामाजिक शक्ति का अब उससे कोई संभव

संबंध नहीं रहता, जो एक व्यक्ति का श्रम सर्जित कर सकता है। वह एक वियोजित, स्वतंत्र सामाजिक शक्ति बन जाती है, जो एक वस्तु के रूप में, और ऐसी वस्तु के रूप में कि जो पूंजीपति की सत्ता का स्रोत है, समाज के मुक़ाबले खड़ी होती है। पूंजी जिस सार्विक सामाजिक शक्ति में विकसित हो जाती है, एक ओर उसमें, और दूसरी ओर, इन सामाजिक उत्पादन अवस्थाओं के ऊपर व्यष्टि पूंजीपतियों की निजी सत्ता में असंगति अधिकाधिक अशाम्य होती जाती है, और तिस पर भी उसमें समस्या का समाधान मौजूद रहता है, क्योंकि उसमें साथ ही उत्पादन अवस्थाओं का सार्विक, साझी, सामाजिक अवस्थाओं में रूपांतरण भी सन्निहित है। इस रूपांतरण का मूल पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत उत्पादक शक्तियों के विकास में और यह विकास जिन उपायों और साधनों से होता है, उनमें होता है।

कोई भी पूंजीपति कभी किसी नयी उत्पादन पद्धति का जब तक वह लाभ दर को घटाती है, स्वेच्छा से प्रचलन नहीं करता, चाहे वह कितनी भी अधिक उत्पादक क्यों न हो और बेशी मूल्य दर को चाहे कितना भी क्यों न बढ़ाती हो। तिस पर भी ऐसी हर नयी उत्पादन पद्धति जिंसों को सस्ता करती है। इसलिए पूंजीपति मूलतः उन्हें उनके उत्पादन दामों के ऊपर, अथवा संभवतः, उनके मूल्य के ऊपर बेचता है। वह उनके लागत दामों और उच्चतर लागत दामों पर उत्पादित उन्हीं जिंसों के बाज़ार दामों में अंतर को हड़प लेता है। वह ऐसा इसलिए कर पाता है कि इन अंतोक्त जिंसों के उत्पादन के लिए सामाजिक रूप में अपेक्षित औसत श्रम काल नयी उत्पादन पद्धतियों के लिए अपेक्षित श्रम काल से उच्चतर होता है। उसकी उत्पादन पद्धति सामाजिक औसत से श्रेष्ठतर होती है। लेकिन प्रतिद्वंद्विता उसे सामान्य और सामान्य नियम के अधीन बना देती है। इसके बाद लाभ दर में ह्रास आता है – संभवतः पहले इस उत्पादन क्षेत्र में, और अंततः वह अन्यों के साथ संतुलन स्थापित कर लेता है – और इसलिए जो पूंजीपति की इच्छा से पूर्णतः स्वतंत्र होता है।

इस स्थल पर अभी यह कहा जाना बाक़ी है कि यही नियम उन उत्पादन क्षेत्रों को भी शासित करता है, जिनका उत्पाद श्रमिकों के उपभोग में न तो प्रत्यक्षतः और न ही अप्रत्यक्षतः, अथवा उन अवस्थाओं में अंतरित होता है, जिनमें उनकी जीवनावश्यक वस्तुएं उत्पादित होती हैं; इसलिए यह उन उत्पादन क्षेत्रों पर भी लागू होता है, जिनमें सापेक्षिक बेशी मूल्य को बढ़ाने अथवा श्रम शक्ति को सस्ता बनाने के लिए जिंसें सस्ती नहीं की जाती हैं। (किसी भी सूरत में, इन सभी शाखाओं में स्थिर पूंजी का सस्ता होना श्रम के शोषण के उतनी ही बने रहते हुए लाभ दर को बढ़ा सकता है।) जैसे ही नवीन उत्पादन पद्धति फैलने, और इस प्रकार इसका ठोस प्रमाण प्रस्तुत करने लगती है कि इन जिंसों को वास्तव में ज्यादा सस्ते उत्पादित किया जा सकता है कि पुरानी उत्पादन पद्धतियों से काम करनेवाले पूंजीपतियों के लिए अपने उत्पाद को उसके समग्र उत्पादन दाम के नीचे बेचना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि इस जिंस का मूल्य गिर गया है, और क्योंकि उसे उत्पादित करने के लिए उनके द्वारा अपेक्षित श्रम काल सामाजिक औसत से अधिक है। संक्षेप में – और यह प्रतिद्वंद्विता का ही एक प्रभाव है – इन पूंजीपतियों के लिए भी नयी उत्पादन पद्धति को प्रचलन में लाना अनिवार्य हो जाता है, जिसके अंतर्गत स्थिर पूंजी की सापेक्षता में परिवर्ती पूंजी का अनुपात घट जाता है।

वे सभी परिस्थितियां, जो अपने द्वारा उत्पादित जिंस के दाम को सस्ता करनेवाली

मशीनरी के उपयोग की तरफ़ ले जाती हैं, अंतिम विश्लेषण में उनका प्रभाव जिंस के प्रत्येक नग द्वारा अवशोषित श्रम को घटाना होता है; और दूसरे, मशीनरी की उस टूट-फूट को घटाना होता है, जिसका मूल्य जिंस के प्रत्येक नग में शामिल होता है। मशीनरी की टूट-फूट जितना ही कम तेज़ होगी, उतना ही वह अधिक जिंसों पर वितरित होगी और उतना ही वह अधिक सजीव श्रम को उसकी पुनरुत्पादन अवधि के आने के पूर्व प्रतिस्थापित करेगी। दोनों ही मामलों में स्थायी स्थिर पूंजी की मात्रा और मूल्य परिवर्ती पूंजी की सापेक्षता में बढ़ते हैं।

"अन्य सभी अवस्थाएं समान हों, तो किसी राष्ट्र की अपने लाभों से बचत करने की क्षमता लाभ दर के साथ बदलती रहती है – लाभ जब ऊंचे होते हैं, तो वह अधिक होती है, और जब वे नीचे होते हैं, तो कम होती है; किंतु लाभ दर के गिरने के साथ अन्य सभी अवस्थाएं समान नहीं रहतीं... लाभों की नीची दर के साथ आम तौर पर लोगों की संख्या की सापेक्षता में संचय की दर तेज़ हो जाती है, जैसे इंगलैंड में है... लाभों की ऊंची दर के साथ लोगों की संख्या की सापेक्षता में संचय की दर मंद हो जाती है। उदाहरण : पोलैंड, रूस, भारत, आदि।" (Richard Jones, *An Introductory Lecture on Political Economy*, London, 1833, p. 50 ff.) जोन्स इस पर सही ही ज़ोर देते हैं कि ह्रासमान लाभ दर के बावजूद संचय के उत्प्रेरणों और शक्तियों में संवृद्धि होती है; एक तो बढ़ते सापेक्षिक जनाधिक्य के कारण; दूसरे, क्योंकि बढ़ती श्रम उत्पादिता के साथ उसी विनिमय मूल्य द्वारा व्यक्त उपयोग मूल्यों की संहति में, अतः पूंजी के भौतिक तत्वों में वृद्धि होती है; तीसरे, क्योंकि उत्पादन की शाखाएं अधिक विविध हो जाती हैं; चौथे, उधार पद्धति, स्टाक कंपनियों, आदि के विकास, और उसके फलस्वरूप औद्योगिक पूंजीपति बने बिना भी द्रव्य के पूंजी में परिवर्तन के सुगम हो जाने के कारण; पांचवें, क्योंकि संपत्ति के लिए ज़रूरतें और लोभ बढ़ जाते हैं; और, छठे, क्योंकि स्थायी पूंजी में निवेशों की संहति बढ़ जाती है, आदि।

पूंजीवादी उत्पादन के बारे में तीन सर्वप्रमुख तथ्य ये हैं :

१) उत्पादन साधनों का कुछ ही हाथों में संकेंद्रण, जिससे उनका प्रत्यक्ष श्रमिकों की संपत्ति प्रतीत होना ख़त्म हो जाता है और वे सामाजिक उत्पादन क्षमताओं में परिणत हो जाते हैं। चाहे वे मूलतः पूंजीपतियों की निजी संपत्ति ही होते हैं। वे बूर्जुआ समाज के न्यासी हैं, किंतु वे इस न्यासधारिता की सभी प्राप्तियों को हड़प कर लेते हैं।

२) स्वयं श्रम का सामाजिक श्रम में संगठन : सहयोग, श्रम विभाजन, और श्रम के प्रकृतिविज्ञानों के साथ संयोग के ज़रिये।

इन दोनों अर्थों में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली निजी संपत्ति और निजी श्रम का उन्मूलन कर देती है, चाहे अंतर्विरोधी रूपों में ही सही।

३) विश्व मंडी का निर्माण।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत आबादी की सापेक्षता में विकसित होनेवाली असीम उत्पादिता, और पूंजीगत मूल्यों की (केवल उनके भौतिक तत्व की नहीं) – चाहे उसी अनुपात में न सही – वृद्धि, जो आबादी की तुलना में कहीं अधिक तेज़ी के साथ होती है, प्रसारमान संपदा की सापेक्षता में निरंतर संकीर्ण होते उस आधार के विरुद्ध जाती हैं, जिसके लिए यह असीम उत्पादिता काम करती है। वे उन अवस्थाओं के भी विरुद्ध जाती हैं, जिनके अंतर्गत यह स्फीतिमान पूंजी अपने मूल्य की संवृद्धि करती है। इसी से संकट पैदा होते हैं।

भाग ४

पण्य पूंजी तथा द्रव्य पूंजी का वाणिज्यिक पूंजी और द्रव्य-व्यापार पूंजी में रूपांतरण (व्यापारी पूंजी)

अध्याय १६

वाणिज्यिक पूंजी

व्यापारी अथवा व्यापारिक पूंजी दो रूपों अथवा उपविभागों, अर्थात वाणिज्यिक पूंजी तथा द्रव्य-व्यापार पूंजी में विभक्त हो जाती है, जिनकी जहां तक वह हमारे पूंजी के उसकी बुनियादी संरचना में विश्लेषण के लिए आवश्यक है, अब हम ज्यादा बारीकी से समीक्षा करेंगे। ऐसा करना इसलिए और भी आवश्यक है कि आधुनिक राजनीतिक अर्थशास्त्र, अपने सर्वोत्तम प्रतिपादकों के रूप में भी, व्यापारिक पूंजी और औद्योगिक पूंजी को बिना विचारे एकसाथ मिला देता है और व्यवहार में पूर्वोक्त की चारित्रिक विशेषताओं की पूर्णतः उपेक्षा करता है।

पण्य पूंजी की गतियों का दूसरी पुस्तक में विश्लेषण किया जा चुका है।* अगर समाज की कुल पूंजी को लिया जाये, तो उसका एक भाग – चाहे वह हमेशा भिन्न-भिन्न तत्वों से बना होता है और परिमाण तक में बदलता रहता है – सदा जिंसों के रूप में बाजार में विद्यमान रहता है, जिन्हें द्रव्य में परिवर्तित होना है। दूसरा भाग बाजार में द्रव्य के रूप में रहता है, जिसे जिंसों में परिवर्तित होना है। वह सदा इस संक्रमण की, इस रूपगत रूपांतरण की प्रक्रिया में रहती है। जहां तक परिचलन प्रक्रिया में पूंजी का यह कार्य एक विशेष कार्य की तरह, श्रम विभाजन के कारण पूंजीपतियों के एक विशेष समूह के लिए निर्धारित किये गये कार्य की तरह पूर्णतः अलग बना रहता है, पण्य पूंजी वाणिज्यिक पूंजी बन जाती है।

हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं (दूसरी पुस्तक, अध्याय ६, 'परिचलन की लागत',

---

*'पूंजी,' हिंदी संस्करण : खंड २, पृ० १२६-१४२, जहां इसे माल पूंजी और जिंस पूंजी भी कहा गया है। – सं०

२ तथा ३) कि किस सीमा तक वितरणीय रूप में मालों के परिवहन, भंडारण तथा वितरण को परिचलन प्रक्रिया के भीतर जारी उत्पादन प्रक्रियाएं माना जा सकता है। पण्य पूंजी के परिचलन की इन ग्रानुषंगिक घटनाग्रों को कभी-कभी व्यापारी ग्रथवा वाणिज्यिक पूंजी के विशिष्ट कार्यों के साथ उलझा दिया जाता है। कभी-कभी वे सचमुच इन विशिष्ट, सुस्पष्ट कार्यों से वास्तव में जुड़ी रहती हैं, यद्यपि श्रम के सामाजिक विभाजन के विकास के साथ व्यापारी पूंजी का कार्य शुद्ध रूप में, ग्रर्थात इन वास्तविक कार्यों से वियुक्त ग्रौर उनसे स्वतंत्र, विकसित हो जाता है। इसलिए ये कार्य हमारे प्रयोजन के लिए ग्रसंगत हैं, जिसे पूंजी के इस विशेष रूप के विशिष्ट ग्रंतर का निर्धारण करना है। जहां तक मात्र परिचलन प्रक्रिया में लगी पूंजी, विशेष वाणिज्यिक पूंजी, इन कार्यों को ग्रंशतः ग्रपने विशिष्ट कार्यों के साथ मिला लेती है, वह ग्रपने शुद्ध रूप में प्रकट नहीं होती। हम उसे इन सभी ग्रानुषंगिक कार्यों से वंचित करके ही उसके शुद्ध रूप को प्राप्त करते हैं।

हम देख चुके हैं कि पूंजी का पण्य पूंजी के रूप में ग्रस्तित्व ग्रौर पण्य पूंजी के नाते वह बाज़ार में परिचलन के क्षेत्र के भीतर जिस रूपांतरण से गुज़रती है, – ऐसा रूपांतरण, जो ग्रपने को क्रय-विक्रय में, पण्य पूंजी को द्रव्य पूंजी में ग्रौर द्रव्य पूंजी को पण्य पूंजी में परिवर्तित करने में वियोजित करता है – वह ग्रौद्योगिक पूंजी की पुनरुत्पादन प्रक्रिया में, ग्रतः समूचे तौर पर उसकी उत्पादन प्रक्रिया में एक चरण होता है। लेकिन हम यह भी देख चुके हैं कि परिचलन पूंजी के रूप में ग्रपने कार्य में वह उत्पादक पूंजी के रूप में ग्रपने कार्य से भिन्न होती है। ये उस एक ही पूंजी के ग्रस्तित्व के दो भिन्न ग्रौर पृथक रूप हैं। कुल सामाजिक पूंजी का एक ग्रंश परिवर्तन की इस प्रक्रिया से गुज़रता हुग्रा परिचलन पूंजी के रूप में निरंतर बाज़ार में बना रहता है, यद्यपि प्रत्येक पृथक पूंजी के लिए पण्य पूंजी के रूप में उसका ग्रस्तित्व ग्रौर उसका इस रूप में परिवर्तन ग्रपने में मात्र नित लुप्त होते ग्रौर नित नवीन संगमस्थलों, ग्रर्थात उसके उत्पादन की निरंतर प्रक्रिया के संक्रमणात्मक चरणों को ही प्रकट करते हैं ग्रौर यद्यपि बाज़ार में पण्य पूंजी के तत्व इस कारण निरंतर बदलते रहते हैं, क्योंकि वे जिंस बाज़ार से लगातार निकाले जाते रहते हैं ग्रौर उतनी ही नियतकालिकतापूर्वक उसमें उत्पादन प्रक्रिया के नये उत्पादों के रूप में वापस ग्राते जाते हैं।

वाणिज्यिक पूंजी बाज़ार में निरंतर प्राप्य इस परिचलन पूंजी के एक भाग के परिवर्तित रूप के ग्रलावा ग्रौर कुछ नहीं है, जो सदा ग्रपने रूपांतरण की प्रक्रिया में रहता है ग्रौर सदा परिचलन क्षेत्र की परिधि में बंधा रहता है। हमने एक भाग कहा है, क्योंकि जिंसों के क्रय-विक्रय का एक भाग हमेशा ग्रौद्योगिक पूंजीपतियों के बीच सीधे संपन्न होता है। हम इस भाग को इस विश्लेषण में विचार के बिलकुल बाहर छोड़ देते हैं, क्योंकि व्यापारी पूंजी के विशिष्ट स्वरूप की समझ में ग्रथवा ग्रवधारणा के निरूपण में वह तनिक भी योग नहीं देता, ग्रौर इसके ग्रलावा क्योंकि हमारे प्रयोजन के लिए इसका दूसरी पुस्तक में विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

मालों का व्यापारी, सामान्य रूप में पूंजीपति की ही तरह, बाज़ार में मूलतः एक ख़ास द्रव्य राशि के प्रतिनिधि की हैसियत में ग्राता है, जिसे वह पूंजीपति के नाते पेशगी देता है, ग्रर्थात जिसे वह x (उसके ग्राद्य मूल्य) से $x + \Delta x$ (मूल राशि जमा लाभ) में बदलना चाहता है। लेकिन – सामान्य रूप में सिर्फ़ पूंजीपति नहीं, बल्कि मालों के विशेष व्यापारी के नाते – उसे यह प्रकट है कि उसकी पूंजी को पहले बाज़ार में द्रव्य पूंजी के रूप में प्रवेश करना होगा, क्योंकि वह (व्यापारी) जिंसें नहीं उत्पादित करता है, वह महज़ उनका व्यापार करता

है, उनकी गति का माध्यम बनता है, और उनके साथ कारबार करने के लिए उसे पहले उन्हें ख़रीदना होगा, और, इसलिए, उसे द्रव्य पूंजी को हाथ में लेना होगा।

मान लीजिये कि मालों के किसी व्यापारी के पास ३,००० पाउंड हैं, जिन्हें वह व्यापारिक पूंजी की तरह निवेशित करना चाहता है। इन ३,००० पाउंड से वह, मान लें, किसी लिनन निर्माता से २ शिलिंग प्रति गज़ के हिसाब से ३०,००० गज़ लिनन ख़रीद लेता है। अब वह इस ३०,००० गज़ लिनन को बेच देता है। अगर वार्षिक औसत लाभ दर = १०% है और अगर वह सारे आनुषंगिक ख़र्चों को काटने के बाद १०% सालाना मुनाफ़ा बनाता है, तो साल के अंत तक वह अपने ३,००० पाउंड को ३,३०० पाउंड में बदल लेता है। यह मुनाफ़ा वह कैसे बनाता है, यह ऐसा सवाल है, जिस पर हम बाद में विचार करेंगे। फ़िलहाल हम केवल उसकी पूंजी की गतियों के रूप को ही लेना चाहेंगे। अपने ३,००० पाउंड से वह लिनन ख़रीदता और फिर बेचता रहता है; वह ख़रीदने-बेचने की इस क्रिया, $M — C — M'$, को लगातार दुहराता है, जो परिचलन प्रक्रिया में पूंजी द्वारा पूर्णतः ग्रहण किया जानेवाला, और उत्पादन प्रक्रिया द्वारा, जो इस पूंजी की गति और कार्य के बाहर रहती है, अबाधित साधारण रूप है।

अब इस वाणिज्यिक पूंजी का औद्योगिक पूंजी के मात्र एक अस्तित्व रूप के नाते पण्य पूंजी के साथ क्या संबंध है? जहां तक लिनन निर्माता का सवाल है, उसने व्यापारी पूंजी से अपने लिनन के मूल्य को प्राप्त कर लिया है और उसके द्वारा अपनी पण्य पूंजी के रूपांतरण में पहला चरण – उसका द्रव्य में परिवर्तन – पूरा कर लिया है। अन्य अवस्थाएं समान होने से अब वह इस द्रव्य को सूत, कोयला, मज़दूरी, आदि में और अपनी आय के उपभोग के लिए निर्वाह साधनों, आदि में पुनःपरिवर्तित करना शुरू कर सकता है। अतः यदि आय के ख़र्च को दरकिनार रखें, तो वह अपनी पुनरुत्पादन प्रक्रिया जारी रख सकता है।

लेकिन जहां उसके लिए, उत्पादक के रूप में, लिनन का विक्रय, द्रव्य में रूपांतरण हो चुका है, वहां यह स्वयं लिनन के लिए अभी नहीं हुआ है। वह अब भी बाज़ार में पण्य पूंजी के रूप में अपने पहले रूपांतरण से गुज़रने की – बेचे जाने की – प्रतीक्षा में है। इस लिनन के साथ इसके सिवा और कुछ नहीं हुआ है कि उसका मालिक बदल गया है। जहां तक उसके प्रयोजन का सवाल है, जहां तक प्रक्रिया में उसके स्थान का सवाल है, वह अब भी पण्य पूंजी, एक विक्रेय जिंस ही है, सिवा इस अंतर के कि अब वह निर्माता के बजाय व्यापारी के हाथों में है। उसे बेचने का, उसके रूपांतरण के पहले चरण को संपन्न करने का, कार्य निर्माता से व्यापारी को अंतरित हो गया है, व्यापारी का विशेष कार्य बन गया है, जबकि पहले वह एक ऐसा कार्य था कि जिसे निर्माता को उसके निर्माण का कार्य पूरा करने के बाद स्वयं संपन्न करना था।

आइये, मान लें कि व्यापारी ३०,००० गज़ लिनन को लिनन निर्माता द्वारा ३,००० पाउंड मूल्य का और ३०,००० गज़ लिनन बाज़ार में लाने के लिए अपेक्षित अंतराल के भीतर नहीं बेच पाता है। व्यापारी उसे फिर नहीं ख़रीद सकता, क्योंकि उसके पास अब भी अनबिका ३०,००० गज़ माल है, जो अभी तक द्रव्य पूंजी में पुनःपरिवर्तित नहीं किया गया है। परिणामस्वरूप एक ठहराव, अर्थात पुनरुत्पादन में व्यवधान, आ जाता है। बेशक, हो सकता है कि लिनन निर्माता के पास अतिरिक्त द्रव्य पूंजी हो, जिसे वह ३०,००० गज़ की बिक्री के लिहाज़ के बिना उत्पादक पूंजी में परिवर्तित कर सकता है, ताकि उत्पादन प्रक्रिया को जारी रख सके। किंतु इससे स्थिति बदल नहीं जाती। जहां तक ३०,००० गज़ लिनन में बंधी पूंजी का संबंध

है, उसकी पुनरुत्पादन प्रक्रिया अवरुद्ध है और रहेगी। सचमुच यहां यह आसानी से देखा जा सकता है कि व्यापारी की क्रियाएं वास्तव में उन क्रियाओं के सिवा कुछ भी नहीं हैं, जिन्हें उत्पादक की पण्य पूंजी को द्रव्य में परिवर्तित करने के लिए सभी सूरतों में करना होता है। ये वे क्रियाएं हैं, जो परिचलन तथा पुनरुत्पादन प्रक्रियाओं में पण्य पूंजी के कार्यों को साकार बनाती हैं। यदि बिक्री और ख़रीद का काम स्वतंत्र व्यापारी के बजाय अनन्यतः उत्पादक के मुनीम पर ही डाल दें, तो भी यह संबंध निमिष मात्र को नहीं छिप सकेगा।

अतः वाणिज्यिक पूंजी उत्पादक की पण्य पूंजी के सिवा और कुछ नहीं है, जिसे बाज़ार में पण्य पूंजी के अपने कार्य को करने के लिए द्रव्य में परिवर्तन की प्रक्रिया से गुज़रना होता है। अकेला अंतर यह है कि उत्पादक के किसी आनुषंगिक कार्य को व्यक्त करने के बजाय अब वह एक विशेष प्रकार के पूंजीपति, व्यापारी की अनन्य क्रिया है और पूंजी के विशेष निवेश के कारबार के रूप में अलग कर दी जाती है।

वाणिज्यिक पूंजी के परिचलन के विशिष्ट रूप में यह और भी प्रत्यक्ष हो जाता है। व्यापारी कोई माल ख़रीदता है और फिर उसे बेच देता है : $M — C — M'$। साधारण जिंस परिचलन में, अथवा औद्योगिक पूंजी की परिचलन प्रक्रिया, $C' — M — C$, तक में परिचलन जिस प्रकार प्रकट होता है, उसमें भी परिचलन द्रव्य के प्रत्येक अंश के दो बार एक हाथ से दूसरे हाथ में जाने के ज़रिये संपन्न होता है। लिनन निर्माता अपना माल – लिनन – बेचकर उसे द्रव्य में परिवर्तित करता है; क्रेता का द्रव्य उसके हाथों में आ जाता है। इस ही द्रव्य से वह सूत, कोयला, श्रम, आदि ख़रीदता है – लिनन के मूल्य को उसके उत्पादन तत्वों की संरचक जिंसों में पुनः-परिवर्तित करने के लिए द्रव्य का प्रसार करता है। वह जिस जिंस को ख़रीदता है, वह वही जिंस नहीं है, उसी प्रकार की जिंस नहीं है, जिसे वह बेचता है। उसने उत्पाद बेचे हैं और उत्पादन साधन ख़रीदे हैं। लेकिन व्यापारी पूंजी की गतियों के मामले में बात दूसरी है। अपने ३,००० पाउंड से लिनन व्यापारी ३०,००० गज़ लिनन ख़रीदता है; वह इसी ३०,००० गज़ लिनन को परिचलन से अपनी द्रव्य पूंजी (३,००० पाउंड जमा लाभ) पुनः प्राप्त करने के लिए बेच देता है। यहां द्रव्य के वही अंश नहीं, बल्कि वही जिंस दो बार स्थान परिवर्तन करती है; जिंस विक्रेता से क्रेता के हाथों में, और क्रेता के हाथों से, जो अब विक्रेता बन जाता है, दूसरे क्रेता के हाथों में चली जाती है। वह दो बार बिकी है, और व्यापारियों की शृंखला के ज़रिये बारंबार बेची जा सकती है। और ठीक इस बार-बार बिक्री के ज़रिये ही, उसी माल के इस दुहरे स्थानांतरण के ज़रिये ही पहले ग्राहक द्वारा उसके क्रय के लिए पेशगी दिये गये द्रव्य की पुनःप्राप्ति की जाती है, द्रव्य का उसे पश्चप्रवाह संपन्न होता है। एक मामले में $C'—M—C$ उसी द्रव्य का दुहरा स्थानांतरण संपन्न करता है – एक जिंस का एक रूप में विक्रय और एक जिंस का दूसरे रूप में क्रय। दूसरे मामले में $M — C — M'$ उसी जिंस का दोहरा स्थानांतरण संपन्न करता है – पेशगी पूंजी का परिचलन से आहरण। यह प्रत्यक्ष है कि उत्पादक के हाथों से व्यापारी के हाथों में जाकर माल अंतिम रूप में बिक नहीं गया है, क्योंकि व्यापारी महज़ विक्रय क्रिया को जारी रखता है – अथवा पण्य पूंजी के कार्य को पूरा करता है। किंतु साथ ही यह भी प्रत्यक्ष है कि उत्पादक पूंजीपति के लिए जो $C — M$, पण्य पूंजी के अपने अस्थायी रूप में उसकी पूंजी का कार्य मात्र है, वह व्यापारी के लिए $M — C — M'$, उसकी पेशगी द्रव्य पूंजी के मूल्य में विशिष्ट वृद्धि है। यहां जिंसों के रूपांतरण का एक चरण व्यापारी के संदर्भ में $M — C — M'$ के रूप में, अतः पूंजी के एक विशिष्ट प्रकार के उद्विकास के रूप में प्रकट होता है।

व्यापारी अंततः अपना माल, अर्थात लिनन, उपभोक्ता को बेच देता है, फिर चाहे वह उत्पादक उपभोक्ता (जैसे, ब्लीचर) हो, अथवा कोई ऐसा व्यक्ति, जो लिनन को अपने निजी उपयोग के लिए लेता है। व्यापारी उसके द्वारा अपनी पेशगी पूंजी वसूल कर लेता है (लाभ के साथ) और अपनी क्रिया फिर से शुरू कर सकता है। यदि द्रव्य ने लिनन के क्रय में मात्र भुगतान साधन का ही काम किया होता, जिससे व्यापारी को छः हफ़्ते बाद ही अदायगी करनी होती, और अगर वह इस अवधि के बीतने के पहले बेचने में सफल हो गया होता, तो उसने लिनन निर्माता को अपनी तनिक भी द्रव्य पूंजी पेशगी दिये बिना भुगतान कर दिया होता। अगर उसने लिनन बेचा न होता, तो उसे अपने ३,००० पाउंड लिनन की सुपुर्दगी के बजाय अवधि समापन तिथि पर पेशगी देने होते। और अगर बाज़ार दाम में गिरावट ने उसे क्रय दाम के नीचे बेचने को मजबूर कर दिया होता, तो उसे कमी को अपनी ख़ुद की पूंजी से पूरा करना हुआ होता।

अतः वह क्या है, जो वाणिज्यिक पूंजी को स्वतंत्र रूप में कार्यशील पूंजी का स्वरूप प्रदान कर देता है, जबकि अपनी बिक्री आप करनेवाले उत्पादक के हाथों में वह प्रकटतः उसकी पूंजी के परिचलन क्षेत्र में अवस्थान के दौरान पुनरुत्पादन प्रक्रिया के एक विशिष्ट चरण में उसका मात्र एक विशेष रूप ही होती है?

प्रथमतः, यह तथ्य कि पण्य पूंजी अंतिम रूप में द्रव्य में परिवर्तित हो जाती है, कि वह अपना प्रारंभिक रूपांतरण संपन्न करती है, अर्थात उत्पादक के अलावा किसी अन्य अभिकर्ता के हाथों में रहते हुए बाज़ार में पण्य पूंजी की हैसियत से अपने उपयुक्त कार्य का निष्पादन करती है, और पण्य पूंजी का यह कार्य व्यापारी द्वारा अपनी क्रियाओं – क्रय तथा विक्रय – में किया जाता है, जिससे ये क्रियाएं औद्योगिक पूंजी के अन्य कार्यों से भिन्न अलग उपक्रम का, और इसलिए एक स्वतंत्र उपक्रम का रूप ग्रहण कर लेती हैं। यह श्रम के सामाजिक विभाजन का एक विशिष्ट रूप है, जिससे कार्य का सामान्यतः पूंजी की पुनरुत्पादन प्रक्रिया के एक विशेष चरण, इस प्रसंग में – परिचलन, के रूप में निष्पादित किया जानेवाला अंश उत्पादक से भिन्न एक विशिष्ट परिचलन अभिकर्ता के अनन्य कार्य जैसा प्रतीत होता है। किंतु अकेला यही तथ्य इस विशेष काम को पुनरुत्पादन प्रक्रिया में लगी औद्योगिक पूंजी से भिन्न तथा उससे स्वतंत्र विशिष्ट पूंजी के कार्य का स्वरूप किसी भी प्रकार नहीं प्रदान कर देगा; सचमुच, जब व्यापार सफ़री विक्रेताओं अथवा औद्योगिक पूंजीपति के अन्य प्रत्यक्ष अभिकर्ताओं द्वारा किया जाता है, तो वह विशिष्ट पूंजी के कार्य जैसा नहीं होता। इसलिए इसमें कोई दूसरा तत्व भी अवश्य शामिल रहना चाहिए।

दूसरे, यह इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि अपनी स्वतंत्र परिचलन अभिकर्ता की हैसियत में व्यापारी द्रव्य पूंजी (अपनी ख़ुद की अथवा उधार ली हुई) पेशगी देता है। पुनरुत्पादन प्रक्रिया में औद्योगिक पूंजी के लिए जो लेन-देन मात्र $C - M$, अर्थात पण्य पूंजी का द्रव्य पूंजी में परिवर्तन, अथवा केवल विक्रय होता है, वह व्यापारी के लिए $M - C - M'$, अर्थात उसी माल के क्रय तथा विक्रय का, और इस प्रकार द्रव्य पूंजी के पश्चप्रवाह का रूप ग्रहण करता है, जो क्रय में उससे जुदा होती है और विक्रय में उसके पास लौट आती है।

व्यापारी के लिए, चूंकि वह जिंसों को उनके उत्पादकों से ख़रीदने के लिए पूंजी पेशगी देता है, जो $M - C - M$ का रूप ग्रहण करता है, वह सदा $C - M$, पण्य पूंजी का द्रव्य पूंजी में परिवर्तन होता है; वह सदा पण्य पूंजी का पहला रूपांतरण होता है, यद्यपि उत्पादक के

लिए, या पुनरुत्पादन प्रक्रिया में औद्योगिक पूंजी के लिए वही लेन-देन $M—C$ के, द्रव्य के मालों में (उत्पादन साधनों में) पुनःपरिवर्तन के, रूपांतरण के दूसरे चरण के समान हो सकता है। लिनन उत्पादक के लिए पहला रूपांतरण $C—M$, उसकी पण्य पूंजी का द्रव्य पूंजी में परिवर्तन था। व्यापारी के लिए वही क्रिया $M—C$ के रूप में, उसकी द्रव्य पूंजी के पण्य पूंजी में परिवर्तन के रूप में प्रकट होती है। अब अगर वह यह लिनन ब्लीचर को बेच देता है, तो इसका मतलब होगा $M—C$, अर्थात द्रव्य पूंजी का उत्पादक पूंजी में परिवर्तन, क्योंकि ब्लीचर के लिए यह उसकी पण्य पूंजी का दूसरा रूपांतरण है, जबकि व्यापारी के लिए इसका मतलब है $C—M$, उसके ख़रीदे लिनन की बिक्री। लेकिन वास्तव में इस स्थल पर आकर ही लिनन निर्माता द्वारा उत्पादित पण्य पूंजी अंतिम रूप में बिक पायी है। दूसरे शब्दों में, व्यापारी का यह $M—C—M$ वास्तव में दो निर्माताओं के बीच $C—M$ के लिए बिचौलिये के कार्य के अलावा कुछ और नहीं प्रकट करता। अथवा मान लीजिये कि लिनन निर्माता बिके हुए लिनन के मूल्य के एक अंश से किसी सूत विक्रेता से सूत ख़रीदता है। यह उसके लिए $M—C$ है। लेकिन सूत बेचनेवाले व्यापारी के लिए यह $C—M$, सूत का पुनर्विक्रय है। जहां तक पण्य पूंजी की हैसियत में सूत का संबंध है, यह उसकी अंतिम बिक्री से अधिक और कुछ नहीं है, जिसकी बदौलत वह परिचलन के क्षेत्र से उपभोग के क्षेत्र में चला जाता है; यह $C—M$, उसके पहले रूपांतरण की निष्पत्ति, है। व्यापारी चाहे ख़रीदे, चाहे औद्योगिक पूंजीपति को बेचे, उसका $M—C—M$, व्यापारी पूंजी का परिपथ, पण्य पूंजी के संदर्भ में सदा $C—M$, अथवा मात्र उसके पहले रूपांतरण के निष्पादन को, पुनरुत्पादन की प्रक्रिया में औद्योगिक पूंजी के एक अस्थायी रूप को ही व्यक्त करता है। व्यापारी पूंजी का $M—C$ सिर्फ़ औद्योगिक पूंजीपति के लिए ही $C—M$ है, उसके द्वारा उत्पादित पण्य पूंजी के लिए नहीं। यह मात्र पण्य पूंजी का औद्योगिक पूंजीपति से परिचलन अभिकर्ता को अंतरण है। जब तक व्यापारी पूंजी $C—M$, को बंद नहीं करती, तब तक कार्यशील पण्य पूंजी अपने अंतिम $C—M$ का निष्पादन नहीं करती। $M—C—M$ केवल उस एक ही पण्य पूंजी के दो $C—M$, उसके दो लगातार विक्रयों के बराबर होता है, जो महज़ उसके अंतिम और पूर्ण विक्रय को संपन्न करते हैं।

इस प्रकार वाणिज्यिक पूंजी में पण्य पूंजी एक स्वतंत्र प्रकार की पूंजी का रूप ग्रहण कर लेती है, क्योंकि व्यापारी द्रव्य पूंजी पेशगी देता है, जो अनन्यरूपेण पण्य पूंजी के रूपांतरण, उसके पूंजी के रूप में कार्य, अर्थात उसके द्रव्य में परिवर्तन को संपादित करने का काम करके ही पूंजी के नाते सिद्धिकृत होती और कार्य करती है और ऐसा वह जिंसों के निरंतर क्रय तथा विक्रय द्वारा करती है। यह उसका अनन्य कार्य है। औद्योगिक पूंजी की परिचलन प्रक्रिया को संपन्न करने की यह क्रिया उस द्रव्य पूंजी का अनन्य कार्य है, जिससे व्यापारी कारबार करता है। इस कार्य द्वारा वह अपने द्रव्य को द्रव्य पूंजी में परिवर्तित करता है, अपने M को $M—C—M'$ में परिणत करता है और इसी प्रक्रिया से पण्य पूंजी को वाणिज्यिक पूंजी में परिवर्तित करता है।

जब तक और जहां तक वाणिज्यिक पूंजी पण्य पूंजी के रूप में रहती है, वह प्रकटतः — कुल सामाजिक पूंजी की पुनरुत्पादन प्रक्रिया के दृष्टिकोण से — बाज़ार में रूपांतरण की प्रक्रिया में औद्योगिक पूंजी के एक अंश के सिवा और कुछ नहीं होती, जो पण्य पूंजी के रूप में होती तथा कार्य करती है। इसलिए पूंजी की समस्त पुनरुत्पादन प्रक्रिया के संदर्भ में केवल उस द्रव्य पूंजी को ही ध्यान में लेना चाहिए, जो व्यापारी द्वारा अनन्यरूपेण क्रय तथा विक्रय के निमित्त

ही पेशगी दी जाती है और जो इस कारण पण्य पूंजी तथा द्रव्य पूंजी के अलावा कभी कोई अन्य रूप नहीं, उत्पादक पूंजी का तो कभी भी नहीं, ग्रहण करती और सदा पूंजी के परिचलन क्षेत्र में ही बनी रहती है।

जैसे ही उत्पादक, लिनन निर्माता, अपना ३०,००० गज लिनन व्यापारी को ३,००० पाउंड का बेचता है, वह इस प्रकार प्राप्त द्रव्य का आवश्यक उत्पादन साधन खरीदने के लिए उपयोग कर लेता है, जिससे उसकी पूंजी उत्पादन प्रक्रिया में लौट आती है। उसकी उत्पादन प्रक्रिया बिना रुके चलती रहती है। जहां तक उसका संबंध है, उसके माल का द्रव्य में परिवर्तन संपन्न हो गया है। लेकिन, जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वयं लिनन के लिए ऐसा रूपांतरण अभी नहीं हो पाया है। वह अभी अंतिम रूप में द्रव्य में परिवर्तित नहीं हुआ है, उपयोग मूल्य के रूप में उत्पादक या व्यक्तिगत उपभोग में अभी नहीं गया है। बाज़ार में अब उसी पण्य पूंजी का प्रतिनिधित्व लिनन व्यापारी करता है, जिसे मूलतः लिनन निर्माता करता था। अंतोक्त के लिए रूपांतरण की प्रक्रिया घट गयी है, लेकिन सिर्फ़ इसलिए कि व्यापारी के हाथों में जारी रहे।

अगर लिनन उत्पादक को अपने लिनन के वास्तव में माल न बने रहने तक, अपने अंतिम क्रेता, अपने उत्पादक अथवा व्यक्तिगत उपभोक्ता के हाथों में पहुंच जाने तक इंतज़ार करना होता, तो उसकी पुनरुत्पादन प्रक्रिया भंग हो गयी होती। अथवा, उसके भंग होने से बचने लिए उसे अपनी क्रियाओं को काटना होता, अपने लिनन के अल्पतर अंश को सूत, कोयला, श्रम, आदि में, संक्षेप में, उत्पादक पूंजी के तत्वों में परिवर्तित करना होता और उसके अधिक बड़े अंश को द्रव्य रिज़र्व के रूप में रोके रखना होता, ताकि उसकी पूंजी का एक अंश जब बाज़ार में जिंसों के रूप में हो, तब दूसरा अंश उत्पादक प्रक्रिया को जारी रख सके; एक अंश मालों के रूप में बाज़ार में रहेगा, जबकि दूसरा द्रव्य के रूप में वापस आ जायेगा। उसकी पूंजी का यह विभाजन व्यापारी के हस्तक्षेप से मिट नहीं जाता। किंतु उसके बिना परिचलन पूंजी में द्रव्य रिज़र्व का अंश उत्पादक पूंजी के रूप में नियोजित अंश की अपेक्षा सदा अधिक रहेगा और उत्पादन के पैमाने को तदनुसार सीमित करना होगा। लेकिन अब निर्माता के लिए अपनी पूंजी के अधिक बड़े अंश को वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया में निरंतर नियोजित करना और कम अंश को द्रव्य रिज़र्व के रूप में रखना संभव हो जाता है।

किंतु दूसरी ओर, व्यापारी पूंजी के रूप में सामाजिक पूंजी का एक अन्य अंश निरंतर परिचलन क्षेत्र में बना रहता है। उसे लगातार केवल मात्र क्रय-विक्रय के लिए ही नियोजित किया जाता है। अतः, प्रतीत यही होता है कि पूंजी को अपने हाथों में रखनेवाले व्यक्तियों के बदल जाने के अलावा और कुछ भी नहीं हुआ है।

अगर व्यापारी ने ३,००० पाउंड के लिनन को फिर से बेचने के उद्देश्य से ख़रीदने के बजाय इन ३,००० पाउंड को उत्पादक ढंग से लगाया होता, तो समाज की उत्पादक पूंजी बढ़ी होती। बेशक, लिनन निर्माता को और व्यापारी को भी, जो अब औद्योगिक पूंजीपति में बदल गया है, अपनी पूंजी के अधिक बड़े अंश को द्रव्य रिज़र्व के रूप में रोके रखना होता। दूसरी ओर, व्यापारी अगर व्यापारी ही बना रहता है, तो निर्माता बेचने में लगनेवाला समय बचाता है, जिसे वह उत्पादन प्रक्रिया के अधीक्षण में लगा सकता है, जबकि व्यापारी को अपना सारा समय विक्रय में लगाना होता है।

अगर व्यापारी पूंजी अपने आवश्यक अनुपात के आगे नहीं जाती है, तो यह निष्कर्ष निकलता है:

१) कि श्रम विभाजन के परिणामस्वरूप अनन्यरूपेण क्रय-विक्रय में ही लगी पूंजी (और इसमें न सिर्फ़ मालों को ख़रीदने के लिए आवश्यक द्रव्य, बल्कि वह द्रव्य भी शामिल होता है, जिसे व्यापारी के प्रतिष्ठान को चलाने के लिए श्रम में तथा उसकी स्थिर पूंजी – गोदाम, परि-वहन, आदि – में निवेशित करना होता है) उसकी अपेक्षा न्यून होती है. जितनी वह तब होती कि अगर औद्योगिक पूंजीपति को अपने व्यवसाय के वाणिज्यिक भाग को ख़ुद ही पूरा करना होता;

२) कि व्यापारी के अपना सारा समय अनन्यरूपेण इस व्यवसाय में ही लगाने के कारण उत्पादक अपनी जिंसों को ज़्यादा तेज़ी से द्रव्य में परिवर्तित कर सकता है, और, इसके अलावा, स्वयं पण्य पूंजी अपने रूपांतरण से उसकी अपेक्षा ज़्यादा तेज़ी से गुज़रती है कि जितनी तेज़ी से उत्पादक के हाथों में रहते हुए गुज़रती;

३) कि अगर समग्र व्यापारी पूंजी पर औद्योगिक पूंजी की सापेक्षता में विचार किया जाता है, तो व्यापारी पूंजी का एक आवर्त न केवल एक उत्पादन क्षेत्र में अनेक पूंजियों के आवर्तों को ही, बल्कि कई पूंजियों के भिन्न-भिन्न उत्पादन क्षेत्रों में आवर्तों को भी प्रकट कर सकता है। प्रथमोक्त तब देखने में आता है, जब, उदाहरण के लिए, लिनन व्यापारी अपने ३,००० पाउंड से किसी लिनन उत्पादक के उत्पाद को ख़रीदने के बाद उसे उसी निर्माता द्वारा उतनी ही मात्रा की दूसरी खेप बाज़ार में लाने के पहले ही बेच देता है और फिर किसी और या कई और लिनन निर्माताओं का उत्पाद ख़रीदता और फिर बेच देता है और इस प्रकार उस एक ही उत्पादन क्षेत्र में भिन्न-भिन्न पूंजियों के आवर्तों को निष्पन्न करता है। अंतोक्त तब होता है कि जब, मसलन, व्यापारी अपने लिनन को बेचने के बाद रेशम ख़रीद लेता है और इस प्रकार एक भिन्न उत्पादन क्षेत्र में पूंजी का आवर्त संपन्न करता है।

सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि औद्योगिक पूंजी के आवर्त को केवल परिचलन काल ही नहीं, बल्कि उत्पादन काल भी परिसीमित करता है। एक ही प्रकार के माल में लगी व्यापारी पूंजी के आवर्त को सिर्फ़ एक अकेली औद्योगिक पूंजी का आवर्त ही नहीं, बल्कि उसी उत्पादन क्षेत्र में सभी औद्योगिक पूंजियों के आवर्त परिसीमित करते हैं। एक उत्पादक से लिनन को ख़रीदने और बेचने के बाद व्यापारी उसके द्वारा बाज़ार में दूसरी खेप के लाये जाने के पहले दूसरे उत्पादक के लिनन को ख़रीद और बेच सकता है। इसलिए वही व्यापारी पूंजी एक विशेष उत्पादन क्षेत्र में निवेशित पूंजियों के भिन्न-भिन्न आवर्तों को क्रमशः इस प्रकार संपन्न कर सकती है कि उसका आवर्त एक अकेली औद्योगिक पूंजी के आवर्तों के सर्वसम न हो और इस-लिए केवल उस अकेले द्रव्य रिज़र्व को प्रतिस्थापित न करे कि जिसे उस औद्योगिक पूंजीपति को in petto रखना होता। एक उत्पादन क्षेत्र में व्यापारी पूंजी का आवर्त क़ुदरती तौर पर उस क्षेत्र में कुल उत्पादन द्वारा सीमित होता है। किंतु वह उसी उत्पादन क्षेत्र में उत्पादन के पैमाने, अथवा किसी एक पूंजी की आवर्त अवधि द्वारा सीमित नहीं होता, क्योंकि उसकी आवर्त अवधि उसके उत्पादन काल से प्रतिबंधित होती है। मान लीजिये, क एक जिंस की पूर्ति करता है, जिसके उत्पादन में तीन महीने लगते हैं। उसे ख़रीदने और बेचने के बाद, कहिये कि एक महीने में, व्यापारी किसी और उत्पादक से उसी उत्पाद को ख़रीद और बेच सकता है। अथवा वह, मिसाल के लिए, एक किसान के अनाज को बेचने के बाद उसी द्रव्य से किसी दूसरे

किसान के अनाज को ख़रीद और बेच सकता है, आदि। उसकी पूंजी का आवर्त अनाज की उस मात्रा से परिसीमित होता है, जिसे वह एक विशेष अवधि, मसलन, एक साल में क्रमशः ख़रीद और बेच सकता है, जबकि किसान की पूंजी के आवर्त को – आवर्त काल से निरपेक्ष – उत्पादन काल परिसीमित करता है, जो एक साल का होता है।

लेकिन उसी व्यापारी पूंजी का आवर्त भिन्न-भिन्न उत्पादन क्षेत्रों की पूंजियों के आवर्तों को भी उतना ही निष्पन्न कर सकता है।

जहां तक वही व्यापारी पूंजी भिन्न-भिन्न आवर्तों में भिन्न-भिन्न पण्य पूंजियों को, उन्हें एक के बाद एक ख़रीद और बेचकर, द्रव्य में परिणत करने का काम करती है, वह द्रव्य पूंजी की हैसियत से पण्य पूंजी के संदर्भ में वही कार्य करती है, जो द्रव्य सामान्य रूप में जिंसों के संदर्भ में एक नियत काल में अपने आवर्तों की संख्या द्वारा करता है।

व्यापारी पूंजी का आवर्त समान आकार की औद्योगिक पूंजी के आवर्त, अथवा एक अकेले पुनरुत्पादन के सर्वसम नहीं है; इसके विपरीत, वह इस प्रकार की अनेक पूंजियों के आवर्तों के योग के बराबर होता है, चाहे वे उसी उत्पादन क्षेत्र में हों, अथवा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में। व्यापारी पूंजी जितना ही जल्दी आवर्तित होती है, कुल द्रव्य पूंजी का व्यापारी पूंजी का काम देनेवाला अंश उतना ही न्यून होता है; और इसके विपरीत, वह जितना ही धीरे आवर्तित होती है, यह अंश उतना ही बड़ा होता है। उत्पादन जितना कम विकसित होगा, परिचलन में डाली गयी जिंसों की कुल मात्रा के अनुपात में व्यापारी पूंजी की मात्रा उतनी ही ज्यादा होगी, किंतु निरपेक्ष रूप से, अथवा अधिक विकसित अवस्थाओं की तुलना में वह कम होगी, और विलोमतः इसका उलटा होगा। इसलिए ऐसी अविकसित अवस्थाओं में वास्तविक द्रव्य पूंजी का अधिकतर भाग व्यापारियों के हाथों में होता है, जिनकी संपदा अन्यों के मुक़ाबले में द्रव्य संपदा बन जाती है।

व्यापारी द्वारा पेशगी दी जानेवाली द्रव्य पूंजी का परिचलन वेग १) उत्पादन प्रक्रिया के फिर से शुरू होने और विभिन्न उत्पादन प्रक्रियाओं के एक दूसरे से जुड़ने की गति पर तथा २) उपभोग के वेग पर निर्भर करता है।

हमने ऊपर जिस आवर्त का विवेचन किया है, उसे संपन्न करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि व्यापारी पूंजी पहले अपने मूल्य की पूरी राशि के माल ख़रीदे और फिर उन्हें बेचे। व्यापारी इन दोनों क्रियाओं को एक साथ ही करता है। उसकी पूंजी तब दो भागों में विभक्त हो जाती है। उनमें से एक पण्य पूंजी से बनता है और दूसरा द्रव्य पूंजी से। एक जगह वह ख़रीदारी करता है और अपने द्रव्य को जिंसों में परिवर्तित करता है। दूसरी जगह वह बिक्री करता है और अपनी पण्य पूंजी के दूसरे भाग को द्रव्य में परिवर्तित करता है। एक तरफ़, उसकी पूंजी उसके पास द्रव्य पूंजी के रूप में लौटकर आती है, जबकि दूसरी तरफ़, वह पण्य पूंजी प्राप्त करता है। एक रूप में विद्यमान अंश जितना ही अधिक होता है, दूसरे रूप में वह उतना ही न्यून होता है। ये अंश अपना स्थान बदलते और एक दूसरे को संतुलित करते रहते हैं। अगर द्रव्य का परिचलन माध्यम के रूप में उपयोग उसके भुगतान साधन के रूप में उपयोग और उससे उत्पन्न उधार पद्धति के विकास के साथ जुड़ जाता है, तो व्यापारी पूंजी का द्रव्य पूंजी अंश इस व्यापारी पूंजी द्वारा निष्पादित सौदों के परिमाण की सापेक्षता में और भी कम हो जाता है। अगर मैं ३,००० पाउंड की शराब तीन महीने के उधार पर ख़रीदता हूं और इस शराब को इस अवधि के समाप्त होने के पहले ही नक़द बेच देता हूं, तो मुझे इन सौदों

के लिए एक पेंस भी पेशगी नहीं देना होता। इस मामले में यह भी एकदम प्रत्यक्ष है कि द्रव्य पूंजी, जो यहां व्यापारी पूंजी की तरह कार्य करती है, अपने द्रव्य पूंजी के रूप में द्रव्य के रूप में अपने पश्चप्रवाह की प्रक्रिया में औद्योगिक पूंजी के अलावा और कुछ नहीं है। (यह तथ्य मामले को किसी भी तरह नहीं बदलता और उसका व्यापारी पूंजी से कोई भी संबंध नहीं है कि तीन महीने के उधार पर शराब बेचनेवाला निर्माता अपना वचन-पत्र बैंकर को बट्टे पर दे सकता है।) अगर इस बीच बाज़ार दाम, कहिये कि १/१० गिर जाते हैं, तो व्यापारी मुनाफ़ा बनाना तो दूर, ३,००० पाउंड के बदले सिर्फ़ २,७०० पाउंड ही प्राप्त कर पायेगा। उसे ३०० पाउंड जेब से देने होंगे। ये ३०० पाउंड महज़ दाम में अंतर को संतुलित करने के लिए रिज़र्व का ही काम करेंगे। लेकिन निर्माता पर भी यही बात लागू होती है। अगर स्वयं उसने गिरते दाम पर बेचा होता, तो उसे भी इसी प्रकार ३०० पाउंड की हानि हुई होती और वह रिज़र्व पूंजी के बिना उत्पादन को उसी पैमाने पर फिर शुरू न कर पाया होता।

लिनन व्यापारी निर्माता से ३,००० पाउंड का लिनन ख़रीदता है। निर्माता ३,००० पाउंड में से सूत के लिए, मसलन, २,००० पाउंड देता है। यह सूत वह विक्रेता से ख़रीदता है। सूत विक्रेता को निर्माता जो द्रव्य देता है, वह लिनन विक्रेता का नहीं है, क्योंकि लिनन विक्रेता इतनी राशि की जिंसें प्राप्त कर चुका है। यह निर्माता की अपनी पूंजी का द्रव्य रूप है। सूत विक्रेता के हाथों में ये २,००० पाउंड वापस आयी द्रव्य पूंजी जैसे लगते हैं। लेकिन ये उन २,००० पाउंड से किस हद तक भिन्न हैं, जो लिनन के त्यक्त रूप और सूत के गृहीत रूप को प्रकट करते हैं? अगर सूत विक्रेता ने उधार पर ख़रीदा है और अपनी भुगतान तिथि के पहले नक़द बेचा है, तो इन २,००० पाउंड में उस द्रव्य रूप से भिन्न व्यापारी पूंजी का एक पेंस भी नहीं है, जो औद्योगिक पूंजी स्वयं अपने परिपथ के दौरान ग्रहण करती है। अतः वाणिज्यिक पूंजी जहां तक व्यापारी के हाथों में पण्य पूंजी अथवा द्रव्य पूंजी के रूप में औद्योगिक पूंजी का मात्र एक रूप ही नहीं होती, वह द्रव्य पूंजी के उस अंश के सिवा कुछ नहीं होती, जो सीधे व्यापारी की होती है और जिंसों के क्रय-विक्रय में परिचालित होती है। न्यूनीकृत पैमाने पर यह अंश उत्पादन के लिए पेशगी दी पूंजी के उस भाग को व्यक्त करता है, जिसे द्रव्य रिज़र्व तथा क्रय साधन के रूप में सदा उद्योगपति के हाथों में होना चाहिए और जिसे सदा उसकी द्रव्य पूंजी के रूप में परिचालित होना चाहिए। यह अंश अब, न्यूनीकृत पैमाने पर, व्यापारी पूंजीपतियों के हाथों में है और परिचलन प्रक्रिया में इसी रूप में अपने कार्यों का निष्पादन करता है। यह कुल पूंजी का वह अंश है, जिसे – आय के रूप में जो ख़र्च किया जाता है, उसके अलावा – पुनरुत्पादन प्रक्रिया के सातत्य को बनाये रखने के लिए बाज़ार में क्रय साधन के रूप में निरंतर परिचालित होते रहना चाहिए। पुनरुत्पादन प्रक्रिया जितनी ही द्रुत होगी और भुगतान साधन के रूप में द्रव्य का कार्य जितना ही अधिक विकसित होगा, अर्थात उधार पद्धति जितना ही विकसित होगी,[38] कुल पूंजी की सापेक्षता में यह अंश उतना ही छोटा होगा।

---

[38] व्यापारी पूंजी का उत्पादक पूंजी के रूप में वर्गीकरण कर पाने के लिए रैमज़े उसे परिवहन उद्योग के साथ उलझा देते हैं और वाणिज्य को "जिंसों का एक स्थान से दूसरे को परिवहन" कहते हैं। (*An Essay on the Distribution of Wealth*, p. 19.) Verry (*Meditazioni sulla Economia Politica*, § 4 [In: *Scrittori classici italiani di economia politica. Parte moderna*, t. XV, p. 32. – सं०]) तथा Say (*Traité d'économie politique*, I, 14,

व्यापारी पूंजी महज़ परिचलन क्षेत्र में कार्यरत पूंजी है। परिचलन प्रक्रिया समस्त पुनरुत्पादन प्रक्रिया का एक चरण होती है। किंतु परिचलन प्रक्रिया में कोई मूल्य नहीं उत्पादित होता और इसलिए कोई बेशी मूल्य भी नहीं उत्पादित होता। उसमें सिर्फ़ उसी मूल्य संहति का रूप परिवर्तन ही होता है। वास्तव में उसमें जिंसों के रूपांतरण के अलावा और कुछ नहीं होता और इसका स्वयं न मूल्यों के सृजन से कोई संबंध है और न ही उनके परिवर्तन से। अगर उत्पादित जिंसों की बिक्री में बेशी मूल्य की सिद्धि होती है, तो इसका कारण केवल यह है कि वह उनमें पहले से ही विद्यमान था। दूसरी क्रिया, जिंसों (उत्पादन तत्वों) के बदले द्रव्य पूंजी के पुनर्विनिमय में भी क्रेता किसी बेशी मूल्य को नहीं प्राप्त करता। वह महज़ अपने द्रव्य का उत्पादन साधनों तथा श्रम से विनिमय करके बेशी मूल्य के उत्पादन का समारंभ ही करता है। किंतु चूंकि ये रूपांतरण परिचलन अवधि की – ऐसी अवधि, जिसके दौरान पूंजी बेशी मूल्य की तो बात ही क्या, कुछ भी उत्पादित नहीं करती – अपेक्षा करते हैं, इसलिए उससे मूल्यों का सृजन परिसीमित हो जाता है, और बेशी मूल्य अपने को परिचलन काल की दीर्घता के व्युत्क्रमानुपात में लाभ दर के ज़रिये व्यक्त करता है। इसलिए व्यापारी पूंजी न मूल्य का सृजन करती है और न ही बेशी मूल्य का, कम से कम प्रत्यक्ष रूप में तो नहीं ही। जहां तक वह परिचलन काल के घटाने में योग देती है, वह परोक्ष रूप में औद्योगिक पूंजीपतियों द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य को बढ़ाने में सहायता दे सकती है। जहां तक वह बाज़ार का प्रसार करने में सहायता देती है और पूंजियों के बीच श्रम विभाजन संपन्न करती है और इसलिए पूंजी को बड़े पैमाने पर काम करने में समर्थ बनाती है, उसका कार्य औद्योगिक पूंजी की उत्पादिता को, और उसके संचय को बढ़ावा देता है। जहां तक वह परिचलन अवधि को घटाती है, वह पेशगी पूंजी की तुलना में बेशी मूल्य के अनुपात को, अतः लाभ दर को बढ़ाती है। और जिस हद तक वह पूंजी के अधिक छोटे अंश को द्रव्य पूंजी के रूप में परिचलन क्षेत्र में बांधे रखती है, वह पूंजी के उस अंश को बढ़ाती है, जो उत्पादन में प्रत्यक्ष रूप में लगा होता है।

---

15) भी यही उलझाव प्रदर्शित करते हैं। अपनी कृति *Elements of Political Economy* (Andover and New York, 1835) में एस० पी० न्यूमैन कहते हैं: "समाज की विद्यमान आर्थिक व्यवस्थाओं में उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच खड़े होने, पूर्वोक्त को पूंजी पेशगी देने और बदले में उत्पाद प्राप्त करने, और फिर इन उत्पादों को अंतोक्त के हाथों में देने और बदले में पूंजी प्राप्त करने का काम ही, जो कि व्यापारी द्वारा किया जाता है, एक ऐसा लेन-देन है कि जिससे समुदाय की आर्थिक प्रक्रियाएं आसान बनती हैं और उन उत्पादों का मूल्य भी बढ़ता है, जिनके संदर्भ में यह काम किया जाता है" (पृष्ठ १७४)। इस प्रकार उत्पादक तथा उपभोक्ता व्यापारी के हस्तक्षेप के ज़रिये समय और धन बचाते हैं। यह सेवा पूंजी और श्रम की पेशगी की अपेक्षा करती है और उसे प्रतिफल मिलना चाहिए, "क्योंकि वह उत्पादों का मूल्य बढ़ाती है, क्योंकि उपभोक्ताओं के हाथों में उन्हीं उत्पादों का मूल्य उत्पादकों के हाथों में होने की अपेक्षा अधिक होता है"। और इसलिए श्री सेय की ही भांति उन्हें भी वाणिज्य "शुद्धतः उत्पादन कार्य" जैसा ही प्रतीत होता है (पृष्ठ १७५)। न्यूमैन का यह दृष्टिकोण बुनियादी तौर पर ग़लत है। उपभोक्ता के हाथों में किसी जिंस का **उपयोग मूल्य** उत्पादक के हाथों की बनिस्बत अधिक होता है, क्योंकि उसका पहले उपभोक्ता द्वारा सिद्धिकरण किया जाता है। कारण यह कि किसी जिंस का उपयोग मूल्य तब तक कार्य करना शुरू नहीं करता कि जब तक वह उपभोग के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करती। जब तक वह उत्पादक के हाथों में रहती है, वह केवल संभाव्य रूप में ही रहता है। लेकिन किसी जिंस के लिए दो बार – पहले उसके विनिमय मूल्य के लिए, और फिर उसके उपयोग मूल्य के लिए – अदायगी नहीं की जाती। उसके विनिमय मूल्य को देकर मैं उसके उपयोग मूल्य को हस्तगत कर लेता हूं। और जिंस को उत्पादक अथवा बिचौलिये से उपभोक्ता को अंतरित कर देने से उसका विनिमय मूल्य लेश मात्र भी अधिक नहीं हो जाता है।

अध्याय १७

वाणिज्यिक लाभ

दूसरी पुस्तक* में हम देख चुके हैं कि परिचलन के क्षेत्र में पूंजी के शुद्ध कार्य – औद्योगिक पूंजीपति को एक तो अपनी जिंसों के मूल्य का सिद्धिकरण करने के लिए, और दूसरे, इस मूल्य को उत्पादन तत्वों में पुन:परिवर्तित करने के लिए जिन क्रियाओं को संपादित करना होता है, जो पण्य पूंजी के रूपांतरण, C′ — M — C को, और इसलिए विक्रय तथा क्रय की क्रियाओं को निष्पन्न करती हैं – न मूल्य और न ही बेशी मूल्य उत्पादित करते हैं। बल्कि देखा यह गया था कि इस प्रयोजन के लिए आवश्यक समय ही वस्तुपरक रूप में जिंसों के, और आत्मपरक रूप में पूंजीपति के संदर्भ में मूल्य तथा बेशी मूल्य के उत्पादन की सीमा को निर्धारित करता है। सामान्यत: जो पण्य पूंजी के रूपांतरण के बारे में सही है, उसमें निस्संदेह इस तथ्य से तनिक भी अंतर नहीं आता कि उसका एक भाग वाणिज्यिक पूंजी का रूप ग्रहण कर सकता है, अथवा पण्य पूंजी के रूपांतरण को संपन्न करनेवाली क्रियाएं पूंजीपतियों के एक विशेष समूह के विशेष मामले जैसी, अथवा द्रव्य पूंजी के एक अंश के अनन्य कार्य जैसी प्रतीत होती हैं। अगर औद्योगिक पूंजीपतियों द्वारा मालों की बिक्री और ख़रीदारी – और पण्य पूंजी का रूपांतरण, C′ — M — C वास्तव में यही हैं – अपने आप में वे क्रियाएं नहीं हैं, जो मूल्य अथवा बेशी मूल्य का सृजन करती हैं, तो वे इन क्रियाओं के औद्योगिक पूंजीपतियों के बजाय अन्य व्यक्तियों द्वारा किये जाने पर भी निश्चय ही इनमें से किसी को भी उत्पन्न नहीं करेंगी। इसके अलावा, अगर कुल सामाजिक पूंजी का वह अंश, जिसे इसलिए द्रव्य पूंजी के रूप में सदा उपलभ्य रहना चाहिए कि पुनरुत्पादन प्रक्रिया परिचलन प्रक्रिया द्वारा भंग न की जाये और निरंतर चलती रहे, – अगर यह द्रव्य पूंजी न मूल्य और न बेशी मूल्य को सृजित करती है, तो वह औद्योगिक पूंजीपतियों के बजाय पूंजीपतियों के किसी अन्य अंशक द्वारा इसी कार्य को संपन्न करने के लिए निरंतर परिचलन में डाले जाते रहने से उन्हें सृजित करने के गुणों को भी नहीं प्राप्त कर सकती। हम यह पहले ही दिखला चुके हैं कि व्यापारी पूंजी किस सीमा तक अप्रत्यक्षत: उत्पादक हो सकती है और हम आगे चलकर इस प्रश्न पर अधिक विस्तार के साथ विचार करेंगे।

इसलिए वाणिज्यिक पूंजी मालों के भंडारण, रवानगी, परिवहन, वितरण, खुदरा बिक्री जैसे सारे ही बहुविध कार्यों से, जो उसके साथ जुड़े हो सकते हैं, रहित कर दिये जाने और केवल बेचने के लिए ख़रीदने के वास्तविक कार्य तक ही सीमित कर दिये जाने पर न

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड २, पृष्ठ ८६-८७। – सं०

मूल्य उत्पादित करती है और न बेशी मूल्य, बल्कि उनके सिद्धिकरण में और इस प्रकार साथ-साथ जिंसों के वास्तविक विनिमय में, अर्थात उनके एक हाथ से दूसरे में जाने में, सामाजिक उपापचय में, बिचौलिये का काम करती है। लेकिन चूंकि औद्योगिक पूंजी का परिचलन चरण भी उत्पादन की ही भांति पुनरुत्पादन प्रक्रिया का एक चरण होता है, इसलिए परिचलन प्रक्रिया में स्वतंत्र रूप में कार्यरत पूंजी को उसी प्रकार औसत वार्षिक लाभ उत्पन्न करना चाहिए कि जैसे उत्पादन की विभिन्न शाखाओं में कार्यरत पूंजी करती है। अगर व्यापारी पूंजी औसत लाभ का औद्योगिक पूंजी की अपेक्षा उच्चतर प्रतिशत उत्पन्न करती है, तो औद्योगिक पूंजी का एक अंश अपने को व्यापारी पूंजी में परिवर्तित कर लेगा। अगर वह निम्नतर औसत लाभ उत्पन्न करती है, तो इसका उलटा होगा। तब व्यापारी पूंजी का एक अंश औद्योगिक पूंजी में रूपांतरित हो जायेगा। पूंजी की कोई भी क़िस्म इतनी आसानी से अपने प्रयोजन, अथवा कार्य को नहीं बदलती है कि जितनी आसानी से व्यापारी पूंजी बदलती है।

चूंकि व्यापारी पूंजी स्वयं बेशी मूल्य उत्पादित नहीं करती, इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि जिस बेशी मूल्य को वह औसत लाभ के रूप में हड़प जाती है, वह कुल उत्पादक पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य का एक अंश होता होगा। लेकिन अब यह सवाल पैदा होता है: व्यापारी पूंजी किस प्रकार उत्पादक पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य अथवा लाभ के अपने अंश को आकर्षित करती है?

यह एक कोरी भ्रांति है कि वाणिज्यिक लाभ जिंसों के दामों में उनके मूल्य के ऊपर मात्र एक योग, अथवा नाममात्र वृद्धि होता है।

यह स्पष्ट है कि व्यापारी अपना लाभ केवल अपने द्वारा बेची जिंसों के दाम से ही प्राप्त कर सकता है और यह इससे भी अधिक स्पष्ट है कि अपनी जिंसों के बेचने में वह जो मुनाफ़ा बनाता है, वह उसके क्रय दाम और उसके विक्रय दाम में अंतर के बराबर, अर्थात अंतोक्त के पूर्वोक्त पर आधिक्य के बराबर होना चाहिए।

यह संभव है कि मालों में उनके ख़रीदे जाने के बाद और बेचे जाने के पहले अतिरिक्त ख़र्च (परिचलन ख़र्च) प्रवेश कर जायें, और यह भी संभव है कि ऐसा न हो। अगर ऐसे ख़र्च होते हैं, तो यह स्पष्ट है कि क्रय दाम पर विक्रय दाम का आधिक्य सारा लाभ ही न होगा। विश्लेषण को सरल बनाने के लिए इस स्थल पर हम यह मान लेंगे कि ऐसे कोई ख़र्च नहीं होते हैं।

औद्योगिक पूंजीपति के लिए उसके मालों के विक्रय दाम और क्रय दाम में अंतर उनके उत्पादन दाम और उनके लागत दाम में अंतर के बराबर होता है, अथवा, कुल सामाजिक पूंजी के दृष्टिकोण से, जिंसों के मूल्य और पूंजीपतियों के लिए उनके लागत दाम में अंतर के बराबर होता है, अपनी बारी में जो उनमें समाविष्ट श्रम की कुल मात्रा और शोधित श्रम की मात्रा में अंतर के बराबर है। औद्योगिक पूंजीपति द्वारा ख़रीदी गयी जिंसों के बाज़ार में विक्रेय जिंसों के रूप में वापस डाले जाने के पहले वे उत्पादन प्रक्रिया से होकर गुज़रती हैं, जिसके दौरान ही उनका लाभ के रूप में सिद्धिकृत किये जानेवाले दाम का अंश सृजित होता है। लेकिन व्यापारी के साथ बात दूसरी होती है। जिंसें उसके हाथों में केवल तभी तक रहती हैं कि जब तक वे परिचलन प्रक्रिया में रहती हैं। वह केवल उनकी बिक्री को, उनके दाम के सिद्धिकरण को, जिसे उत्पादक पूंजीपति ने शुरू किया था, जारी रखता है और इसलिए उन्हें किसी ऐसी अंतर्वर्ती प्रक्रिया से नहीं गुज़ारता कि जिसमें वे फिर बेशी मूल्य का आत्मसात्करण

कर सकें। जहां औद्योगिक पूंजीपति परिचलन प्रक्रिया में महज़ पूर्वोत्पादित बेशी मूल्य, अथवा लाभ का सिद्धिकरण करता है, वहां व्यापारी को परिचलन के दौरान और परिचलन के ज़रिये सिर्फ़ अपने लाभ का सिद्धिकरण ही नहीं करना होता, बल्कि पहले उसे बनाना भी होता है। ऐसा करने का इसके सिवा और कोई तरीक़ा नज़र नहीं आता कि वह औद्योगिक पूंजीपति से जो जिंसें उनके उत्पादन दाम पर, अथवा, कुल पण्य पूंजी के दृष्टिकोण से, उनके मूल्य पर ख़रीदी हैं, उन्हें उनके उत्पादन दाम से ज़्यादा पर, उनके दाम में नाममात्र अतिरिक्त प्रभार जोड़ करके बेचे, इस तरह उन्हें, कुल पण्य पूंजी के दृष्टिकोण से, उनके मूल्य से अधिक पर बेचे और उनके वास्तविक मूल्य पर उनके नाममात्र मूल्य के इस आधिक्य को हड़प जाये; संक्षेप में, उन्हें वे जितने की हैं, उससे अधिक की बेचे।

अतिरिक्त प्रभार जोड़ने का यह तरीक़ा आसानी से समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए, १ गज़ लिनन का दाम २ शिलिंग है। अगर मैं उसकी फिर से बिक्री करने में १०% लाभ बनाना चाहूं, तो मुझे दाम में १/१० जोड़ देना चाहिए, अतः उसे २ शिलिंग २ २/५ पेंस का बेचना चाहिए। इसलिए उसके वास्तविक उत्पादन दाम और उसके विक्रय दाम में अंतर — २ २/५ पेंस हुआ, और यह २ शिलिंग पर १०% लाभ को प्रकट करता है। यह मेरे एक गज़ लिनन क्रेता को ऐसे दाम पर बेचने के समान है, जो वास्तव में १ १/१० गज़ का दाम है। अथवा, जो वही बात हुई, यह ऐसा है, मानो मैंने क्रेता को सिर्फ़ १०/११ गज़ २ शिलिंग का बेचा हो और शेष १/११ गज़ को अपने लिए रख लिया हो। वास्तव में मैं २ शिलिंग २ २/५ पेंस के दाम पर १/११ गज़ को २ २/५ पेंस में वापस ख़रीद सकता हूं। इसलिए यह जिंसों के दामों में नाममात्र वृद्धि द्वारा बेशी मूल्य और बेशी उत्पाद में हिस्सा बांटने का मात्र एक चक्करदार तरीक़ा ही होगा।

यह जिंसों के दाम चढ़ाकर वाणिज्यिक लाभ का सिद्धिकरण करना है, जैसा कि यह पहली नज़र में प्रतीत होता है। और वास्तव में, यह सारा विचार कि लाभ जिंसों के दामों में नाममात्र वृद्धि से, अथवा उनकी उनके मूल्य के ऊपर बिक्री से, उत्पन्न होता है, वाणिज्यिक पूंजी के दृष्टिकोण से ही उपजता है।

लेकिन बारीकी से देखने पर जल्दी ही प्रत्यक्ष हो जाता है कि यह कोरी भ्रांति है। अगर पूंजीवादी उत्पादन को प्रधान मान लिया जाये, तो वाणिज्यिक लाभ इस तरह से नहीं प्राप्त किया जा सकता। (यहां सवाल हमेशा औसतों का है, न कि वियुक्त मामलों का।) हम क्यों यह कल्पना करते हैं कि अपनी जिंसों को व्यापारी, मसलन, उनके उत्पादन दाम के १०% ऊपर बेचकर केवल १०% लाभ ही प्राप्त कर पायेगा? क्योंकि हम यह कल्पना करते हैं कि इन जिंसों के उत्पादक, औद्योगिक पूंजीपति (जो औद्योगिक पूंजी का मूर्तरूप होने के नाते बाहरी दुनिया के सामने उत्पादक की तरह आता है) ने उन्हें विक्रेता को उनके उत्पादन दामों पर बेचा था। अगर विक्रेता द्वारा दिया गया क्रय दाम उनके उत्पादन दाम के बराबर है, अथवा, अन्ततोगत्वा, उनके मूल्य के बराबर है, जिससे कि उत्पादन दाम अथवा, अन्ततोगत्वा, मूल्य, व्यापारी के लागत दाम को प्रकट करते हैं, तो उसके क्रय दाम पर उसके विक्रय दाम का आधिक्य — और केवल यह अंतर ही उसके लाभ का स्रोत है — सचमुच उनके वाणिज्यिक दाम का उनके उत्पादन दाम पर आधिक्य होगा, जिससे कि अंतिम विश्लेषण में व्यापारी सभी मालों को उनके मूल्यों से अधिक पर बेचता है। लेकिन यह क्यों माना गया था कि औद्योगिक पूंजीपति अपनी जिंसें व्यापारी को उनके उत्पादन दामों पर बेचता है? अथवा, यों कहिये कि

इस कल्पना में किस बात को मानकर चला गया था? वह यह थी कि व्यापारी पूंजी सामान्य लाभ दर के बनने में शामिल नहीं होती (हम अभी उसका उसकी वाणिज्यिक पूंजी की हैसियत में ही विवेचन कर रहे हैं)। सामान्य लाभ दर के विवेचन में हम अनिवार्यतः इस आधारिका को लेकर चले थे, एक तो इसलिए कि व्यापारी पूंजी इस रूप में उस समय हमारे लिए विद्य-मान नहीं थी, और, दूसरे, इसलिए कि औसत लाभ, और इसलिए औसत लाभ दर का पहले औद्योगिक पूंजियों द्वारा भिन्न-भिन्न उत्पादन क्षेत्रों में वस्तुतः उत्पादित लाभों, अथवा बेशी मूल्यों के समकरण के रूप में विवेचन किया जाना आवश्यक था। लेकिन व्यापारी पूंजी के मामले में हमारा सरोकार ऐसी पूंजी से है कि जो लाभ में उसके उत्पादन में भाग लिये बिना हिस्सा बंटाती है। इसलिए अब हमारे पूर्ववर्ती विवेचन की अनुपूर्ति करना आवश्यक हो गया है।

मान लीजिये कि वर्ष भर में पेशगी दी गयी कुल औद्योगिक पूंजी = ७२०$_c$ + १८०$_v$ = = ६०० (कहिये कि लाख पाउंड), और s' = १००%। अतः उत्पाद = ७२०$_c$ + १८०$_v$ + + १८०$_s$। इस उत्पाद अथवा उत्पादित पण्य पूंजी को हम C कहेंगे, जिसका मूल्य, अथवा उत्पा-दन दाम (क्योंकि जिंसों की समग्रता के लिए दोनों सर्वसम हैं) = १,०८०, और ६०० की कुल सामाजिक पूंजी के लिए लाभ दर = २०%। हमारे पूर्ववर्ती विश्लेषणों के अनुसार ये २०% औसत लाभ दर हैं, क्योंकि यहां बेशी मूल्य किसी विशेष संरचना की इस या उस पूंजी पर नहीं, बल्कि औसत संरचना की कुल औद्योगिक पूंजी पर परिकलित किया जा रहा है। इस प्रकार, C = १,०८०, और लाभ दर = २०%। लेकिन अब मान लीजिये कि औद्योगिक पूंजी के इन ६०० पाउंड के अलावा व्यापारी पूंजी के १०० पाउंड भी हैं, जो औद्योगिक पूंजी की ही भांति लाभ में अपने परिमाण के pro rata हिस्सा बांटती है। हमारी कल्पना के अनुसार यह १,००० की कुल पूंजी का १/१० है। अतः वह १८० के कुल बेशी मूल्य में १/१० की सीमा तक भाग लेती है और इस प्रकार १८% का लाभ प्राप्त करती है। इसलिए अब वास्तव में कुल पूंजी के अन्य ६/१० में बंटनेवाला लाभ = सिर्फ़ १६२, अथवा ६०० की पूंजी पर इसी प्रकार = १८% है। अतः ६०० की औद्योगिक पूंजी के स्वामियों द्वारा व्यापारियों को C को जिस दाम पर बेचा जाता है, वह = ७२०$_c$ + १८०$_v$ + १६२$_s$ = १,०६२। अब अगर विक्रेता अपनी १०० की पूंजी में १८% का औसत लाभ जोड़ देता है, तो वह जिंसों को १,०६२ + + १८ = १,०८० का, अर्थात उनके उत्पादन दाम पर, अथवा, कुल पण्य पूंजी के दृष्टिकोण से, उनके मूल्य पर बेचता है, यद्यपि वह लाभ केवल परिचलन प्रक्रिया के दौरान और उसके ज़रिये ही, और अपने क्रय दाम पर अपने विक्रय दाम के आधिक्य से ही बनाता है। फिर भी वह जिंसों को ठीक इसीलिए उनके मूल्य के ऊपर, अथवा उनके उत्पादन दाम के ऊपर नहीं बेचता कि उसने उन्हें औद्योगिक पूंजीपति से उनके मूल्य के नीचे, अथवा उनके उत्पादन दाम के नीचे ख़रीदा है।

इस प्रकार, व्यापारी पूंजी सामान्य लाभ दर के बनने में कुल पूंजी में अपने भाग के pro rata एक निर्धारक के रूप में प्रवेश करती है। अतः यदि निर्दिष्ट प्रसंग में हम यह कहते हैं कि औसत लाभ दर = १८%, तो अगर कुल पूंजी की १/१० व्यापारी पूंजी न हुई होती और उसके कारण सामान्य लाभ दर १/१० नीची न हो गयी होती, तो वह २०% होती। इससे उत्पादन दाम की अधिक सटीक और अधिक व्यापक परिभाषा निकलती है। उत्पादन दाम से पहले की ही भांति हमारा आशय यही होता है कि किसी जिंस का दाम=उसकी लागतें (उसमें समाविष्ट स्थिर + परिवर्ती पूंजी का मूल्य) + औसत लाभ। किंतु अब यह औसत

लाभ दूसरे तरीक़े से निर्धारित किया जाता है। वह कुल उत्पादक पूंजी द्वारा उत्पादित कुल लाभ द्वारा निर्धारित किया जाता है ; किंतु केवल कुल उत्पादक पूंजी पर ही परिकलित किये जाने के रूप में नहीं, जिससे कि अगर ऊपर के उदाहरण की भांति कुल उत्पादक पूंजी = =९००, और लाभ = १८०, तो औसत लाभ दर = $\frac{१८०}{९००}$ = २०%। बल्कि, इसके विपरीत, कुल उत्पादक पूंजी + व्यापारी पूंजी के आधार पर, जिससे कि ९०० की उत्पादक पूंजी और १०० की व्यापारी पूंजी के साथ औसत लाभ दर = $\frac{१८०}{१,०००}$ = १८%। इसलिए उत्पादन दाम = k (लागत) + १८, न कि k + २०। इस प्रकार कुल लाभ का व्यापारी पूंजी के हिस्से में आनेवाला अंश औसत लाभ दर में शामिल हो जाता है। इसलिए कुल पण्य पूंजी का वास्तविक मूल्य, अथवा उत्पादन दाम = k + p + h (जहां h वाणिज्यिक लाभ है)। इस प्रकार उत्पादन दाम, अथवा वह दाम, जिस पर औद्योगिक पूंजीपति अपनी जिंसें बेचता है, जिंस के वास्तविक उत्पादन दाम से कम होता है ; अथवा, सभी जिंसों के साकल्य की दृष्टि से, औद्योगिक पूंजीपति वर्ग अपनी जिंसों को जिन दामों पर बेचता है, वे उनके मूल्य से नीचे होते हैं। अतः, उपरोक्त प्रसंग में, ९०० (लागत) + ९०० पर १८%, अथवा ९०० + १६२ = १,०६२। तो निष्कर्ष यह निकलता है कि उस माल को ११८ का बेचते हुए, जिसके लिए उसने १०० दिया है, व्यापारी सचमुच दाम में १८% जोड़ देता है। लेकिन चूंकि यह माल, जिसके लिए उसने १०० दिया है, वास्तव में ११८ का है, इसलिए वह उसे मूल्य के ऊपर नहीं बेचता है। हम आगे उत्पादन दाम पद का उसके इस, अधिक सटीक रूप में ही प्रयोग करेंगे। इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि औद्योगिक पूंजीपति का लाभ जिंस के उत्पादन दाम के उसके लागत दाम पर आधिक्य के बराबर होता है, और औद्योगिक लाभ से भिन्न वाणिज्यिक लाभ विक्रय दाम के जिंस के उत्पादन दाम पर आधिक्य के बराबर होता है, जो व्यापारी के लिए उसका क्रय दाम है ; लेकिन जिंस का वास्तविक दाम = उसका उत्पादन दाम + वाणिज्यिक लाभ। जिस प्रकार औद्योगिक पूंजी केवल उन्हीं लाभों को सिद्ध करती है, जो बेशी मूल्य के रूप में जिंसों के मूल्य में पहले से विद्यमान होते हैं, उसी प्रकार व्यापारी पूंजी केवल इसीलिए लाभों की सिद्धि कर पाती है कि समस्त बेशी मूल्य, अथवा लाभ की अभी तक औद्योगिक पूंजीपति द्वारा लिये जानेवाले जिंसों के दाम में पूरी तरह से सिद्धि नहीं की गयी है।[39] इस प्रकार व्यापारी का विक्रय दाम क्रय दाम से इसलिए अधिक नहीं होता कि पूर्वोक्त कुल मूल्य से अधिक होता है, बल्कि इसलिए कि अंतोक्त इस मूल्य के नीचे होता है।

इसलिए व्यापारी पूंजी बेशी मूल्य का औसत लाभ के साथ समकरण में भाग लेती है, यद्यपि वह उसके उत्पादित किये जाने में भाग नहीं लेती। इस प्रकार सामान्य लाभ दर में व्यापारी पूंजी के हिस्से में जानेवाले बेशी मूल्य से एक कटौती और इसलिए औद्योगिक पूंजी के लाभ से एक कटौती शामिल होती है।

उपरोक्त से यह निष्कर्ष निकलता है :

१) औद्योगिक पूंजी के अनुपात में व्यापारी पूंजी जितना ही अधिक होती है, औद्योगिक लाभ दर उतना ही कम होती है, और इसी प्रकार इसके विपरीत भी होता है।

---

[39] John Bellers [*Essays about the Poor, Manufactures, Trade, Plantations, and Immorality*, London, 1699, p. 10. – सं०]

२) पहले भाग में दर्शाया गया था कि लाभ दर सदा वास्तविक बेशी मूल्य दर से नीची होती है, अर्थात वह शोषण की तीव्रता को हमेशा कम करके दिखलाती है, जैसे ऊपरवाले उदाहरण में, ७२०$_c$ + १८०$_v$ + १८०$_s$, बेशी मूल्य दर = १००%, और केवल २०% की लाभ दर। और अंतर और भी अधिक हो जाता है, क्योंकि अगर व्यापारी पूंजी के हिस्से में जानेवाले अंश को ध्यान में रखा जाये, तो अपनी बारी में औसत लाभ दर और भी न्यून हो जाती है – हमारे उदाहरण में २०% से १८% हो जाती है। इसलिए प्रत्यक्ष पूंजीपति शोषक की औसत लाभ दर वास्तविक लाभ दर से न्यून दर को प्रकट करती है।

अन्य सभी अवस्थाएं समान बनी रहती हैं, तो व्यापारी पूंजी (छोटे विक्रेता को छोड़कर, जो एक संकर रूप को प्रकट करता है) का आपेक्षिक परिमाण उसके आवर्त वेग के व्युत्क्रमानुपात में, अतः सामान्य रूप में पुनरुत्पादन प्रक्रिया की प्रचंडता के व्युत्क्रमानुपात में होता है। वैज्ञानिक विश्लेषण में सामान्य लाभ दर की उत्पत्ति औद्योगिक पूंजियों और उनकी प्रतिद्वंद्विता से होती प्रतीत है और बाद में जाकर ही व्यापारी पूंजी के हस्तक्षेप द्वारा संशोधित, अनुपूरित तथा आपरिवर्तित होती है। लेकिन अपने ऐतिहासिक विकास के क्रम में यह प्रक्रिया वास्तव में उलटी होती है। मालों के दामों को पहले वाणिज्यिक पूंजी कमोबेश उनके मूल्यों के अनुरूप निर्धारित करती है, और सामान्य लाभ दर आद्यतः परिचलन क्षेत्र में, पुनरुत्पादन प्रक्रिया का संवर्धन करनेवाले क्षेत्र में, रूप ग्रहण करती है। औद्योगिक लाभ को मूलतः वाणिज्यिक लाभ निर्धारित करता है। केवल पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के प्रधान बन जाने और स्वयं उत्पादक के व्यापारी बन जाने के बाद जाकर ही वाणिज्यिक लाभ सामाजिक पुनरुत्पादन की प्रक्रिया में लगी कुल पूंजी के एक संखंड के नाते व्यापारी पूंजी के हिस्से में जानेवाले कुल बेशी मूल्य के संखंड में परिणत हो पाता है।

व्यापारी पूंजी के हस्तक्षेप के ज़रिये लाभ के अनुपूरक समकरण में देखा गया था कि पेशगी व्यापारी द्रव्य पूंजी से मालों के मूल्य में कोई अतिरिक्त तत्व प्रवेश नहीं करता और व्यापारी दाम में जिस अतिरिक्त प्रभार से अपना मुनाफ़ा बनाता है, वह मात्र जिंसों के मूल्य के उस अंश के बराबर है, जिसे उत्पादक पूंजी ने उत्पादन दाम में परिकलित नहीं किया था, अर्थात छोड़ दिया था। इस द्रव्य पूंजी का मामला औद्योगिक पूंजीपति की स्थायी पूंजी जैसा ही है, क्योंकि वह उपभुक्त नहीं होती और इसलिए जिंस के मूल्य का तत्व नहीं बनती। पण्य पूंजी के क्रय दाम में ही व्यापारी द्रव्य में उसके उत्पादन दाम $= M$ की प्रतिस्थापना करता है। जैसे कि पहले दर्शाया गया था, उसका अपना विक्रय दाम $= M + \triangle M$ है, जहां $\triangle M$ मालों के दाम में सामान्य लाभ दर द्वारा निर्धारित वृद्धि का द्योतक है। जिंसों के बेच दिये जाने के साथ उसकी मूल द्रव्य पूंजी, जिसे उसने उनके क्रय के लिए पेशगी दिया था, इस $\triangle M$ के साथ उसके पास वापस आ जाती है। फिर हम यही देखते हैं कि उसकी द्रव्य पूंजी औद्योगिक पूंजी-पति की द्रव्य पूंजी में रूपांतरित पण्य पूंजी के सिवा और कुछ नहीं है, जो इस पण्य पूंजी के मूल्य के परिमाण को उससे अधिक प्रभावित नहीं करती कि जितना उसकी व्यापारी के बजाय अंतिम उपभोक्ता को सीधी बिक्री करती। वास्तव में वह केवल उपभोक्ता के शोधन की प्रत्याशा ही करती है। लेकिन यह सिर्फ़ अभी तक मानी हुई इस शर्त पर ही सही है कि व्यापारी को कोई ऊपरी ख़र्च नहीं करने पड़ते, अथवा जिंस रूपांतरण प्रक्रिया, क्रय-विक्रय प्रक्रिया में उस द्रव्य पूंजी के अलावा, जो उसे उत्पादक से जिंसें ख़रीदने के लिए पेशगी देनी होती है, उसे और कोई पूंजी, प्रचल अथवा स्थायी, पेशगी नहीं देनी पड़ती। लेकिन, जैसे कि हमने परि-

चलन लागत के विश्लेषण में देखा है (दूसरी पुस्तक, अध्याय ६), वास्तव में ऐसा नहीं होता। ये परिचलन लागतें अंशतः वे खर्च होते हैं, जिन्हें व्यापारी को अन्य परिचलन अभिकर्ताओं से प्राप्त करना होता है, और अंशतः उसके विशेष व्यवसाय से प्रत्यक्षतः उद्भूत व्यय होते हैं।

इन परिचलन लागतों का स्वरूप चाहे जो भी हो—चाहे वे अपने में व्यापारी के प्रतिष्ठान के शुद्धतः वाणिज्यिक स्वरूप से उत्पन्न हों और इसलिए व्यापारी की विशिष्ट परिचलन लागतों में आती हों, अथवा ऐसी मदों को प्रकट करती हों, जो परिचलन प्रक्रिया में जोड़ी गयी रवानगी, परिवहन, भंडारण, आदि जैसी उत्तरवर्ती उत्पादन प्रक्रियाओं के लिए प्रभार हों—वे व्यापारी से हमेशा जिंसों के क्रय के लिए पेशगी दी गयी उसकी द्रव्य पूंजी के अलावा ऐसे परिचलन साधनों के क्रय तथा भुगतान के लिए कुछ अतिरिक्त पूंजी की अपेक्षा करती हैं। इस लागत तत्व का जितना हिस्सा प्रचल पूंजी का होता है, वह एक अतिरिक्त तत्व के रूप में पूर्णतः जिंसों के विक्रय दाम में चला जाता है; और जितना हिस्सा स्थायी पूंजी का होता है, वह केवल अपनी टूट-फूट की सीमा तक ही उसमें जाता है। किंतु केवल एक ऐसे तत्व के नाते कि जो एक नाममात्र मूल्य की रचना करता है, चाहे शुद्धतः वाणिज्यिक परिचलन लागतों के रूप में वह जिंसों में कोई वास्तविक मूल्य नहीं जोड़ता। लेकिन चाहे स्थायी हो, अथवा प्रचल, यह सारी अतिरिक्त पूंजी सामान्य लाभ दर के बनाने में भाग लेती है।

शुद्धतः वाणिज्यिक परिचलन लागतें (अतः रवानगी, परिवहन, भंडारण, आदि की लागतों को छोड़कर) जिंसों के मूल्य का सिद्धिकरण करने के लिए, उसे जिंसों से द्रव्य में रूपांतरित करने के लिए, अथवा द्रव्य से जिंसों में बदलने के लिए, उनके विनिमय को संपन्न करने के लिए आवश्यक लागतों में परिणत हो जाती हैं। हम उन सभी संभव उत्पादन प्रक्रियाओं को अपने विवेचन के बाहर कर देते हैं, जो परिचलन प्रक्रिया में जारी रह सकती हैं और जिनसे व्यापारी के व्यवसाय को पूरी तरह से अलग किया जा सकता है; मिसाल के लिए, वास्तविक परिवहन उद्योग तथा मालों की रवानगी यथार्थ में वाणिज्य से सर्वथा भिन्न औद्योगिक शाखाएं हो सकती हैं और हैं; और क्रेय तथा विक्रेय जिंसों को गोदियों में अथवा अन्य सार्वजनिक स्थानों में रखा जा सकता है और तज्जनित भंडारण लागत को तीसरे व्यक्तियों द्वारा व्यापारी के नाम डाला जा सकता है, क्योंकि व्यापारी को उसे देना होता है। वास्तविक थोक व्यापार में यह सब होता है, जहां व्यापारी पूंजी अन्य कार्यों से अमिश्रित अपने शुद्धतम रूप में प्रकट होती है। माल रवाना करने की कंपनी का मालिक, रेल निदेशक और जहाज का मालिक "व्यापारी" नहीं हैं। हम यहां जिन लागतों पर विचार कर रहे हैं, वे क्रय-विक्रय की लागतें हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि ये लेखाकरण, हिसाब-किताब, विपणन, पत्रव्यवहार, आदि में परिणत हो जाती हैं। इस प्रयोजन के लिए आवश्यक स्थिर पूंजी में कार्यालय, काग़ज़, डाक, आदि आते हैं। अन्य लागतें व्यापारिक मज़दूरों के नियोजन के लिए पेशगी दी गयी परिवर्ती पूंजी में वियोजित हो जाती हैं। (माल रवानगी खर्च, परिवहन लागत, सीमा शुल्क के लिए पेशगियों, आदि को अंशतः व्यापारी द्वारा जिंसों के क्रय में पेशगी दिया गया माना जा सकता है और, इस प्रकार, जहां तक उसका संबंध है, वे क्रय दाम में शामिल हो जाती हैं।)

ये सभी खर्च जिंसों के उपयोग मूल्य को उत्पादित करने में नहीं, बल्कि उनके मूल्य के सिद्धिकरण में किये जाते हैं। वे शुद्ध परिचलन लागतें हैं। वे प्रत्यक्ष उत्पादन प्रक्रिया

में प्रवेश नहीं करतीं, किंतु चूंकि वे परिचलन प्रक्रिया का अंग होती हैं, इसलिए वे कुल पुनरुत्पादन प्रक्रिया का भी अंग होती हैं।

इस स्थल पर इन लागतों के जिस अकेले भाग में हमारी दिलचस्पी है, वह परिवर्ती पूंजी के रूप में पेशगी दिया गया भाग है। (निम्न प्रश्नों का भी विश्लेषण किया जाना चाहिए: पहला, यह नियम परिचलन प्रक्रिया में किस प्रकार कार्य करता है कि केवल आवश्यक श्रम जिंसों के मूल्य में प्रवेश करता है? दूसरा, व्यापारी पूंजी में संचय किस प्रकार होता है? तीसरा, समाज की वास्तविक समग्र पुनरुत्पादन प्रक्रिया में व्यापारी पूंजी किस प्रकार कार्य करती है?)

ये लागतें इस कारण उत्पन्न होती हैं कि उत्पाद जिंस का आर्थिक रूप होता है।

अगर वह श्रम काल, जो औद्योगिक पूंजीपति एक दूसरे को प्रत्यक्षतः माल बेचने में स्वयं गंवाते हैं – अतः, वस्तुपरक रूप में, जिंसों का परिचलन काल – इन जिंसों में मूल्य नहीं जोड़ता, तो यह प्रत्यक्ष है कि यह श्रम काल औद्योगिक पूंजीपति के बजाय व्यापारी के हिस्से में आने पर अपने स्वरूप को लेशमात्र भी नहीं बदलता। जिंसों (उत्पादों) का द्रव्य में, और द्रव्य का जिंसों (उत्पादन साधनों) में परिवर्तन औद्योगिक पूंजी का एक आवश्यक कार्य और इसलिए पूंजीपति की – जो वास्तव में स्वयं अपनी चेतना और संकल्प से युक्त मूर्त पूंजी मात्र है – एक आवश्यक क्रिया है। किंतु ये कार्य न मूल्य सृजित करते हैं और न बेशी मूल्य उत्पादित करते हैं। इन क्रियाओं का निष्पादन करने और परिचलन क्षेत्र में पूंजी के उन कार्यों को, जिन्हें उत्पादक पूंजीपति ने करना बंद कर दिया है, जारी रखने में व्यापारी महज़ औद्योगिक पूंजीपति की जगह ले लेता है। इन क्रियाओं के लिए अपेक्षित श्रम काल पूंजी की पुनरुत्पादन प्रक्रिया की कुछ आवश्यक क्रियाओं पर लगाया जाता है, किंतु कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं उत्पन्न करता। अगर व्यापारी ने इन क्रियाओं को संपन्न न किया होता (अतः आवश्यक श्रम काल को व्यय न किया होता), तो वह अपनी पूंजी को औद्योगिक पूंजीपति के परिचलन अभिकर्ता के रूप में न लगाता होता; तब वह औद्योगिक पूंजीपति के अंतरायित कार्य को जारी न रखता होता, और फलतः अपनी पेशगी पूंजी के pro rata पूंजीपति के रूप में औद्योगिक पूंजीपतियों द्वारा उत्पादित लाभ संहति में भाग न ले पाता। बेशी मूल्य संहति में हिस्सा पाने के लिए, पूंजी के रूप में अपनी पेशगी के मूल्य का प्रसार करने के लिए वाणिज्यिक पूंजीपति का उजरती मज़दूरों को नियोजित करना आवश्यक नहीं है। अगर उसका व्यवसाय और उसकी पूंजी अल्प हैं, तो वह उसमें अकेला मज़दूर हो सकता है। उसकी अदायगी लाभ के उस अंश से हो जाती है, जो उसके द्वारा जिंसों के लिए दिये गये क्रय दाम और उनके वास्तविक उत्पादन दाम में अंतर के ज़रिये उसके हिस्से में आता है।

किंतु दूसरी ओर, हो सकता है कि पेशगी पूंजी की अल्प मात्रा पर व्यापारी द्वारा सिद्धिकृत लाभ किसी अच्छी मज़दूरी पानेवाले कुशल उजरती मज़दूर की मज़दूरी से भी अधिक न हो, बल्कि कम ही हो। वास्तव में, वह उत्पादक पूंजीपति के कितने ही प्रत्यक्ष वाणिज्यिक अभिकर्ताओं के साथ-साथ काम करता है, यथा क्रेता, विक्रेता, सफ़री प्रतिनिधि, जो या तो मज़दूरी के रूप में, या प्रत्येक बिक्री से बने लाभ में अंश (कमीशन, बोनस) के रूप में उसके बराबर ही अथवा उच्चतर आय का उपभोग करते हैं। पहले प्रसंग में व्यापारी व्यापारिक लाभ को स्वतंत्र पूंजीपति की तरह जेब में डाल लेता है और दूसरे प्रसंग में सेल्समैन, जो औद्योगिक पूंजीपति का उजरती मज़दूर है, लाभ का एक अंश या तो मज़दूरी के रूप में, या

औद्योगिक पूंजीपति के, जिसका वह प्रत्यक्ष अभिकर्ता है, लाभ में समानुपातिक हिस्से के रूप में प्राप्त करता है, जबकि उसका नियोजक औद्योगिक तथा वाणिज्यिक लाभ, दोनों को ही जेब में डाल लेता है। लेकिन चाहे परिचलन अभिकर्ता को अपनी आय सामान्य मजदूरी जैसी ही, किये गये काम की अदायगी ही क्यों न प्रतीत होती हो, और चाहे जहां वह उसे ऐसी न लगती हो, वहां लाभ अच्छी मजदूरी पानेवाले श्रमिक की मजदूरी से अधिक ही क्यों न हो, इन सभी मामलों में उसकी आय केवल व्यापारिक लाभ से ही प्राप्त होती है। यह इस कारण है कि उसका श्रम ऐसा श्रम नहीं है कि जो मूल्य उत्पादित करता है।

परिचलन क्रिया का दीर्घीकरण औद्योगिक पूंजीपति के लिए १) समय की व्यक्तिगत हानि का, क्योंकि वह उसे उत्पादक प्रक्रिया के प्रबंधक के नाते अपने कार्य का स्वयं निष्पादन करने से रोकता है; २) उसके उत्पाद के द्रव्य अथवा पण्य रूप में परिचलन प्रक्रिया में, अतः एक ऐसी प्रक्रिया में, जहां वह मूल्य का प्रसार नहीं करता और जहां प्रत्यक्ष उत्पादन प्रक्रिया भंग हो जाती है, अधिक लंबे ठहराव का सूचक है। अगर इस प्रक्रिया को भंग नहीं करना है, तो या तो उत्पादन घटाया जाना चाहिए, या उत्पादन प्रक्रिया को उसी पैमाने पर बनाये रखने के लिए अधिक द्रव्य पूंजी पेशगी दी जानी चाहिए। इसका मतलब यह है कि या तो हर बार अब तक निवेशित पूंजी पर न्यूनतर लाभ बनता है, या पुराना लाभ प्राप्त करने के लिए अधिक द्रव्य पूंजी पेशगी देनी होती है। अगर औद्योगिक पूंजीपति की जगह व्यापारी ले लेता है, तो यह सब अपरिवर्तित बना रहता है। परिचलन प्रक्रिया पर औद्योगिक पूंजीपति के अधिक समय लगाने के बजाय ऐसा अब व्यापारी करता है; औद्योगिक पूंजीपति के बजाय अब व्यापारी परिचलन के लिए अतिरिक्त पूंजी पेशगी देता है; अथवा, जो वही बात है, औद्योगिक पूंजी के एक बड़े अंश के निरंतर परिचलन प्रक्रिया में लगाये जाने के बजाय व्यापारी पूंजी उसमें पूरी तरह से बंधी हुई है; और न्यूनतर लाभ बनाने के बजाय औद्योगिक पूंजीपति अपने लाभ का एक अंश पूरी तरह से व्यापारी को दे देता है। जब तक व्यापारी पूंजी आवश्यक सीमाओं के भीतर बनी रहती है, अंतर सिर्फ़ यह होता है कि पूंजी के कार्यों का यह विभाजन अनन्यतः परिचलन प्रक्रिया में लगे समय को घटा देता है, इस कार्य के लिए कम अतिरिक्त पूंजी पेशगी दी जाती है, और व्यापारिक लाभ के रूप में व्यक्त कुल लाभ में हानि उससे कम होती है, जितनी अन्यथा हुई होती। अगर उपरोक्त उदाहरण में $७२०_c + १८०_v + १८०_s$ की व्यापारी पूंजी १०० की सहायता से औद्योगिक पूंजीपति के लिए १६२, अथवा १८% लाभ उत्पन्न करती है और इस प्रकार १८ की कटौती को सूचित करती है, तो इस स्वतंत्र व्यापारी पूंजी के बिना आवश्यक अतिरिक्त पूंजी संभवतः २०० होती, और औद्योगिक पूंजीपति की कुल पेशगी ६०० के बजाय १,१०० हुई होती, जो १८० के बेशी मूल्य के आधार पर, केवल १६ ४/११ की लाभ दर प्रदान करती।

अगर अपने लिए अपने व्यापारी का काम करनेवाला औद्योगिक पूंजीपति अपने उत्पाद के परिचलन प्रक्रिया में द्रव्य में पुनःपरिवर्तित होने के पहले न सिर्फ़ नयी जिंसें ख़रीदने के लिए ही अतिरिक्त पूंजी, बल्कि अपनी पण्य पूंजी के मूल्य का सिद्धिकरण करने के लिए, अथवा, दूसरे शब्दों में, परिचलन प्रक्रिया के लिए भी पूंजी (कार्यालय व्यय तथा वाणिज्यिक कर्मचारियों की मजदूरी) पेशगी देता है, तो ये अनुपूर्तियां अतिरिक्त पूंजी का तो निर्माण करती हैं, मगर बेशी मूल्य का सृजन नहीं करतीं। उन्हें जिंसों के मूल्य से पूरा करना होता है, क्योंकि इन जिंसों के मूल्य के एक अंश को इन परिचलन लागतों में पुनःपरिवर्तित करना होता है।

किंतु इससे किसी अतिरिक्त बेशी मूल्य का सृजन नहीं होता। जहां तक इसका समाज की कुल पूंजी के साथ संबंध है, वास्तव में इसका मतलब यही है कि उसका एक अंश ऐसी गौण क्रियाओं के लिए अलग कर दिया जाना चाहिए, जो स्वप्रसार प्रक्रिया का कोई भाग नहीं होतीं, और सामाजिक पूंजी के इस अंश को इस प्रयोजन के लिए निरंतर पुनरुत्पादित किया जाना चाहिए। इससे व्यष्टि औद्योगिक पूंजीपति के लिए और औद्योगिक पूंजीपतियों के संपूर्ण वर्ग के लिए लाभ दर घट जाती है, अर्थात वही परिणाम प्राप्त होता है, जो उतनी ही परिवर्ती पूंजी संहति को गतिशील करने के लिए अतिरिक्त पूंजी लगाये जाने पर सदा उत्पन्न होता है।

जहां तक परिचलन के काम से संबद्ध ये अतिरिक्त लागतें औद्योगिक पूंजीपति से वाणिज्यिक पूंजीपति को अंतरित होती हैं, लाभ दर में इसी प्रकार की कमी आती है, अलबत्ता कम मात्रा में और दूसरे तरीक़े से। अब होता यह है कि व्यापारी अगर ये लागतें न होतीं तब जितनी आवश्यक होती, उससे अधिक पूंजी पेश करता है और इस अतिरिक्त पूंजी पर लाभ वाणिज्यिक लाभ की मात्रा को बढ़ा देता है, जिससे अधिक व्यापारी पूंजी औसत लाभ दर का समकरण करने में औद्योगिक पूंजी के साथ भाग लेती है और उससे औसत लाभ गिर जाता है। अगर हमारे उपरोक्त उदाहरण में विचाराधीन लागतों को पूरा करने के लिए १०० की व्यापारी पूंजी के अलावा ५० की अतिरिक्त पूंजी पेशगी दी जाती है, तो १८० का कुल बेशी मूल्य ९०० की उत्पादक पूंजी जमा १५० की व्यापारी पूंजी, कुल मिलाकर १,०५० के संदर्भ में वितरित होता है। इसलिए औसत लाभ दर गिरकर १७ १/७% हो जाती है। औद्योगिक पूंजीपति अपनी जिंसें व्यापारी को ९०० + १५४ २/७ = १,०५४ २/७ की बेचता है और व्यापारी उन्हें १,१३० (१,०८० + ५० लागतों के, जिनकी उसे पुनःप्राप्ति करनी होगी) की बेचेगा। इसके अलावा, यह मानना होगा कि व्यापारी तथा औद्योगिक पूंजी में विभाजन के साथ-साथ वाणिज्यिक ख़र्चों का केंद्रीयकरण होता है और फलतः उनमें कमी आती है।

अब प्रश्न यह पैदा होता है : वाणिज्यिक पूंजीपति, जो यहां व्यापारी है, द्वारा नियोजित वाणिज्यिक उजरती मज़दूरों के बारे में क्या बात लागू होती है?

एक ओर, ऐसा वाणिज्यिक कर्मचारी उसी प्रकार उजरती मज़दूर होता है, जैसे कोई और होता है। पहली बात तो यह कि उसकी श्रम शक्ति व्यापारी की परिवर्ती पूंजी से ख़रीदी जाती है, न कि आय के रूप में व्ययित द्रव्य से और फलतः निजी सेवा के लिए नहीं, वरन उसके लिए पेशगी दी गयी पूंजी के मूल्य का प्रसार करने के लिए ख़रीदी जाती है। दूसरी बात यह कि उसकी श्रम शक्ति के मूल्य, और इस प्रकार मज़दूरी, का निर्धारण उसी प्रकार किया जाता है कि जैसे दूसरे उजरती मज़दूरों का, अर्थात उसकी विशिष्ट श्रम शक्ति के उत्पादन तथा पुनरुत्पादन की लागत द्वारा, न कि उसके श्रम के उत्पाद द्वारा।

लेकिन हमें उसके और औद्योगिक पूंजी द्वारा प्रत्यक्षतः नियोजित उजरती मज़दूरों के बीच वही भेद करना चाहिए, जो औद्योगिक पूंजी और व्यापारी पूंजी के बीच, और इस प्रकार औद्योगिक पूंजीपति तथा व्यापारी के बीच अस्तित्वमान होता है। चूंकि मात्र एक परिचलन अभिकर्ता के नाते व्यापारी न तो मूल्य उत्पन्न करता है और न ही बेशी मूल्य (क्योंकि अपने ख़र्चों के ज़रिये वह जिंसों में जो अतिरिक्त मूल्य जोड़ता है, वह पहले से विद्यमान मूल्यों के जोड़े जाने में परिणत हो जाता है, यद्यपि यहां यह प्रश्न सामने आता है : वह अपनी स्थिर पूंजी के इस मूल्य को क्योंकर बनाये रखता है?), इसलिए परिणाम यह निकलता है कि उसके द्वारा उन्हीं कार्यों में नियोजित व्यापारिक कर्मचारी उसके लिए बेशी मूल्य प्रत्यक्षतः नहीं

सृजित कर सकते। उत्पादक श्रमिकों के प्रसंग की भांति ही हम यहां यह मान लेते हैं कि मजदूरी श्रम शक्ति के मूल्य द्वारा निर्धारित होती है और इसलिए व्यापारी मजदूरी को गिराकर अपने को धनी नहीं बनाता, जिससे कि वह अपने लागत लेखे में श्रम के लिए दत्त पेशगी को नहीं दर्ज करता, जिसे उसने अंशतः ही दिया है, दूसरे शब्दों में, वह अपने क्लर्कों, आदि को ठगने के ज़रिये अपने को धनी नहीं बनाता।

व्यापारिक उजरती मजदूरों के बारे में जो कठिनाई है, वह यह स्पष्ट करने की नहीं है कि वे अपने मालिक के लिए कोई प्रत्यक्ष बेशी मूल्य (लाभ जिसका एक परिवर्तित रूप मात्र है) सृजित किये बिना प्रत्यक्ष लाभ कैसे उत्पन्न करते हैं। इस प्रश्न को तो वाणिज्यिक लाभों के सामान्य विश्लेषण में पहले ही सुलझाया जा चुका है। जिस प्रकार औद्योगिक पूंजी मालों में मूर्त और सिद्धिकृत अशोधित श्रम को बेचकर लाभ बनाती है, उसी प्रकार व्यापारी पूंजी अपना लाभ मालों में (मालों में, क्योंकि उनके उत्पादन में निवेशित पूंजी कुल औद्योगिक पूंजी के एक संखंड की तरह कार्य करती है) सन्निहित समस्त अशोधित श्रम के लिए उत्पादक पूंजी का पूरा शोधन न करके और बिक्री करते समय मालों में अब भी सन्निहित इस अशोधित अंश के लिए भुगतान की मांग करके प्राप्त करती है। बेशी मूल्य के साथ व्यापारी पूंजी का संबंध उसके साथ औद्योगिक पूंजी के संबंध से भिन्न होता है। अंतोक्त अन्यों के अशोधित श्रम के प्रत्यक्ष आत्मसात्करण द्वारा बेशी मूल्य उत्पन्न करती है। पूर्वोक्त इस बेशी मूल्य के एक अंश को उसे औद्योगिक पूंजी से अपने को अंतरित करवाकर हड़पती है।

व्यापारी पूंजी मूल्यों के सिद्धिकरण के अपने कार्य के ज़रिये ही पुनरुत्पादन प्रक्रिया में पूंजी की तरह कार्य करती है और इसलिए कुल पूंजी द्वारा उत्पन्न बेशी मूल्य को प्राप्त करती है। व्यष्टि व्यापारी की लाभ संहति वह इस प्रक्रिया में जितनी पूंजी लगा सकता है, उसकी संहति पर निर्भर करती है, और उसके क्लर्कों का अशोधित श्रम जितना ही अधिक होता है, उतनी ही अधिक पूंजी वह क्रय-विक्रय में लगा सकता है। स्वयं वह कार्य, जिसकी बदौलत व्यापारी का द्रव्य पूंजी बन पाता है, अधिकांशतः उसके कर्मचारियों द्वारा किया जाता है। इन क्लर्कों का अशोधित श्रम चाहे बेशी मूल्य का सृजन नहीं करता, फिर भी वह उसके लिए बेशी मूल्य को हड़पना संभव बना देता है, जिसका व्यवहार में उसकी पूंजी के संदर्भ में उसके लिए यही अर्थ है। इस प्रकार यह उसके लिए लाभ का एक स्रोत है। अन्यथा वाणिज्य कभी बड़े पैमाने पर, पूंजीवादी पैमाने पर, न किया जा सकेगा।

जिस प्रकार श्रमिक का अशोधित श्रम उत्पादक पूंजी के लिए प्रत्यक्षतः बेशी मूल्य सृजित करता है, उसी प्रकार वाणिज्यिक उजरती मजदूरों का अशोधित श्रम इस बेशी मूल्य के एक अंश को व्यापारी पूंजी के लिए सुनिश्चित कर देता है।

कठिनाई इस बात में है: अगर व्यापारी का श्रम काल और श्रम मूल्य सृजित नहीं करते, यद्यपि वे उसे पहले ही उत्पादित बेशी मूल्य का एक अंश प्राप्त कराते हैं, तो उस परिवर्ती पूंजी के मामले में क्या होता है, जिसे वह वाणिज्यिक श्रम शक्ति ख़रीदने में ख़र्च करता है? क्या इस परिवर्ती पूंजी को पेशगी दी गयी व्यापारी पूंजी के लागत परिव्यय में शामिल किया जाना चाहिए? अगर शामिल नहीं किया जाता, तो यह लाभ दर के समकरण के नियम से टकराता प्रतीत होता है – अगर पूंजीपति पेशगी पूंजी खाते में सिर्फ़ १०० ही डाल पाये, तो भला कौन पूंजीपति १५० पेशगी देगा? अगर ऐसा ही है, तो यह व्यापारी पूंजी की प्रकृति से टकराता लगता है, क्योंकि इस प्रकार की पूंजी अन्यों के श्रम को गतिशील करके पूंजी की

तरह काम नहीं करती, जैसे औद्योगिक पूंजी करती है, बल्कि इसके विपरीत अपना काम करके ही करती है, अर्थात क्रय-विक्रय के कार्यों को संपन्न करके, क्योंकि केवल इसी कारण और इसी की बदौलत वह औद्योगिक पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य के एक अंश को प्राप्त कर पाती है।

(इसलिए हमें निम्न प्रश्नों का विश्लेषण करना चाहिए: परिवर्ती व्यापारी पूंजी; परिचलन क्षेत्र में आवश्यक श्रम का नियम; व्यापारी का श्रम उसकी स्थिर पूंजी को क्योंकर बनाये रखता है; समूचे तौर पर पुनरुत्पादन प्रक्रिया में व्यापारी पूंजी द्वारा अदा की जानेवाली भूमिका; और अंतिम, एक ओर, पण्य पूंजी तथा द्रव्य पूंजी में, और दूसरी ओर, वाणिज्यिक पूंजी तथा द्रव्य पण्य पूंजी में द्विरावृत्ति।)

यदि हर व्यापारी के पास केवल इतनी ही पूंजी होती कि उसे वह स्वयं अपने श्रम से आवर्तित कर पाता, तो व्यापारी पूंजी का असीम विखंडन हो जाता। यह विखंडन पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विकास में उत्पादक पूंजी द्वारा उत्पादन के बढ़ाने और अधिकाधिक बड़ी संहतियों से कार्य करते जाने के अनुपात में बढ़ता जाता। फलतः दोनों के बीच अनुपातहीनता बढ़ती जाती। परिचलन क्षेत्र में पूंजी उसी अनुपात में विकेंद्रित हो जाती कि जितने में वह उत्पादन क्षेत्र में केंद्रीकृत होती। इससे औद्योगिक पूंजीपति का शुद्धतः वाणिज्यिक कारबार और इस प्रकार उसका शुद्धतः वाणिज्यिक व्यय असीम रूप में बढ़ जाते, क्योंकि उसे, उदाहरण के लिए, १०० के स्थान पर १,००० व्यापारियों के साथ व्यौहार करना होता। इस प्रकार स्वतंत्र रूप में कार्यरत व्यापारी पूंजी के लाभ बहुत हद तक जाते रहते। और केवल शुद्धतः वाणिज्यिक व्यय ही नहीं, बल्कि अन्य परिचलन लागतें, यथा छंटाई ख़र्च, रवानगी ख़र्च, आदि भी बढ़ जातीं। यह तो जहां तक औद्योगिक पूंजी का संबंध है, उसी की बात रही। अब ज़रा व्यापारी पूंजी को भी लेना चाहिए। पहले शुद्धतः वाणिज्यिक क्रियाओं को ही ले लीजिये। बड़े आंकड़ों से निपटने में छोटे आंकड़ों से कोई अधिक समय नहीं लगता। १००-१०० पाउंड के दस क्रय करने में १,००० पाउंड का एक क्रय करने की बनिस्बत दस गुना समय लगता है। दस छोटे व्यापारियों के साथ चिट्ठी-पत्री करने में एक बड़े व्यापारी की अपेक्षा दस गुना पत्र-व्यवहार, काग़ज़ और डाक ख़र्च लगता है। वाणिज्यिक प्रतिष्ठान में श्रम का सुस्पष्ट विभाजन, जिसके तहत एक व्यक्ति हिसाब-किताब रखता है, दूसरा रोकड़ को देखता है, तीसरा पत्र-व्यवहार को संभालता है, कोई ख़रीदारी करता है, तो कोई बिक्री करता है और कोई सफ़रों पर जाता है, आदि, श्रम काल की विपुल मात्राओं की बचत करता है, जिसके कारण थोक वाणिज्य में नियोजित कर्मचारियों की संख्या का प्रतिष्ठान के सापेक्षिक आकार के साथ कोई संबंध नहीं होता। ऐसा इसलिए है कि उद्योग की अपेक्षा वाणिज्य में उसी कार्य के लिए उतने ही श्रम काल की कहीं अधिक आवश्यकता होती है, फिर चाहे वह बड़े पैमाने पर किया जाये या छोटे पैमाने पर। यही कारण है कि संकेंद्रण ऐतिहासिक दृष्टि से व्यापारी के कारबार में औद्योगिक कार्यशाला से पहले प्रकट होता है। इसके अलावा, स्थिर पूंजी में परिव्यय को भी ले लीजिये। सौ छोटे कार्यालय एक बड़े कार्यालय की अपेक्षा महंगे पड़ते हैं, १०० छोटे गोदाम एक बड़े गोदाम की अपेक्षा महंगे पड़ते हैं, आदि-आदि। परिवहन लागतें, जो वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों के हिसाब-किताब में कम से कम पेशगी दी जानेवाली लागतों के रूप में प्रवेश करती हैं, विखंडन के साथ बढ़ती जाती हैं।

औद्योगिक पूंजीपति को अपने कारबार के वाणिज्यिक हिस्से में श्रम तथा परिचलन लागतों

में अधिक परिव्यय करना होगा। बहुत से छोटे व्यापारियों के बीच विभाजित किये जाने पर उतनी ही व्यापारी पूंजी को इस विखंडन के कारण अपने कार्यों का निष्पादन करने के लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकता पड़ेगी, और इसके अलावा उतनी ही पण्य पूंजी को आवर्तित करने के लिए अधिक व्यापारी पूंजी आवश्यक होगी।

मान लीजिये कि B जिंसों के क्रय-विक्रय में प्रत्यक्ष रूप में लगी समस्त व्यापारी पूंजी है और b वाणिज्यिक कर्मचारियों को मजदूरी में दी जानेवाली अनुरूप परिवर्ती पूंजी है। तब B+b कुल व्यापारी पूंजी B से तब की अपेक्षा कम होगी कि जितनी तब होती, अगर हर व्यापारी को सहायकों के बिना काम चलाना होता और इसलिए b में कुछ भी निवेशित न करना हुआ होता। लेकिन हम इस कठिनाई को अभी तक नहीं सुलझा पाये हैं।

जिंसों के विक्रय दाम को इसके लिए पर्याप्त होना चाहिए कि १) B+b पर औसत लाभ को प्राप्त किया जा सके। इसकी सिर्फ़ इसी तथ्य से व्याख्या की जा सकती है कि B+b सामान्य रूप में मूल B की एक कटौती होती है, जो उससे न्यून व्यापारी पूंजी को व्यक्त करती है कि जितनी b के बिना आवश्यक होती। किंतु इस विक्रय दाम को इसके लिए पर्याप्त होना चाहिए कि २) न केवल b पर अतिरिक्त लाभ को ही पूरा कर सके, बल्कि दी गयी मजदूरी, परिवर्ती व्यापारी पूंजी b को भी प्रतिस्थापित कर सके। यह अंतिम अवस्था ही कठिनाई को जन्म देती है। क्या b दाम के किसी नये घटक को व्यक्त करती है, अथवा वह B+b के जरिये बनाये गये लाभ का अंश मात्र है, जो केवल व्यापारिक उजरती मजदूर के सिलसिले में ही मजदूरी की तरह सामने आता है और व्यापारी के सिलसिले में बस परिवर्ती पूंजी को ही प्रतिस्थापित करता है? अंतोक्त मामले में अपनी पेशगी पूंजी B+b पर व्यापारी का लाभ b को सामान्य दर के कारण मिलनेवाले लाभ जमा उस b के बराबर ही होगा, जो वह मजदूरी के रूप में देता है, मगर जो स्वयं कोई लाभ नहीं पैदा करता।

वास्तव में सारी समस्या का सारतत्व यह है कि b के सीमांतों का पता लगाया जाये (गणितीय दृष्टि से)। इसलिए हमें सबसे पहले तो समस्या को सटीकता के साथ सामने रखना चाहिए। मान लीजिये कि B से जिंसों के प्रत्यक्ष क्रय-विक्रय में निवेशित पूंजी को, K से इस कार्य में उपभुक्त स्थिर पूंजी (वास्तविक निपटान लागतों) को, और b से व्यापारी द्वारा निवेशित परिवर्ती पूंजी को व्यक्त किया जाता है।

B की पुनःप्राप्ति कोई भी कठिनाई नहीं पेश करती। व्यापारी के लिए वह मात्र सिद्धिकृत क्रय दाम और निर्माता के लिए उत्पादन दाम है। यह व्यापारी द्वारा अदा किया जानेवाला दाम है और पुनर्विक्रय करके वह B को अपने विक्रय दाम के एक अंश के नाते पुनःप्राप्त कर लेता है; इस B के अलावा वह, जैसे कि पहले ही दिखाया जा चुका है, B पर लाभ भी बनाता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि जिंस १०० पाउंड की है। यह भी मान लीजिये कि लाभ १०% है। इस सूरत में जिंस ११० पाउंड की बेची जाती है। पहले जिंस १०० पाउंड की थी, और १०० की व्यापारी पूंजी उसमें बस १० ही जोड़ती है।

अब अगर K को लिया जाये, तो हम पाते हैं कि वह हद से हद स्थिर पूंजी के उस अंश के जितनी ही बड़ी, किंतु वास्तव में उससे छोटी है, जितनी उत्पादक क्रय-विक्रय में प्रयुक्त करेगा, लेकिन तब वह उस स्थिर पूंजी में एक वृद्धि होगी, जिसकी उसे उत्पादन में प्रत्यक्ष रूप में आवश्यकता होगी। तथापि इस अंश की माल के दाम से निरंतर पुनःप्राप्ति होती रहनी चाहिए, अथवा, जो यही बात है, माल का एक अनुरूप अंश इस रूप में निरंतर व्यय होते

रहना चाहिए, अथवा, समाज की कुल पूंजी के दृष्टिकोण से, इस रूप में निरंतर पुनरुत्पादित होते रहना चाहिए। पेशगी स्थिर पूंजी का यह अंश लाभ दर पर उसी प्रकार सीमाकारी प्रभाव डालेगा, जिस प्रकार उत्पादन में प्रत्यक्षतः निवेशित उसकी संपूर्ण संहति डालती है। जहां तक औद्योगिक पूंजीपति अपने कारबार का वाणिज्यिक हिस्सा व्यापारी के लिए रहने देता है, उसे पूंजी के इस भाग को पेश करने की कोई जरूरत नहीं। उसके स्थान पर यह भाग व्यापारी द्वारा पेश किया जाता है। एक प्रकार से वह नाममात्र के लिए ही ऐसा करता है, क्योंकि अपने द्वारा उपभुक्त स्थिर पूंजी (वास्तविक निपटान लागत) को व्यापारी न उत्पादित करता है और न पुनरुत्पादित। अंतोक्त का उत्पादन कुछ औद्योगिक पूंजीपतियों का पृथक कारबार, या कम से कम कारबार के अंग जैसा लगता है, जो इस प्रकार जीवनावश्यक वस्तुओं के उत्पादकों को स्थिर पूंजी मुहैया करनेवालों के समान ही भूमिका अदा करते हैं। इसलिए एक तो व्यापारी को इस स्थिर पूंजी की पुनःप्राप्ति होती है, और दूसरे, वह उस पर अपना लाभ प्राप्त करता है। इसलिए औद्योगिक पूंजीपति का लाभ इन दोनों के जरिये कम हो जाता है। लेकिन श्रम विभाजन से जुड़े मितव्यय तथा संकेंद्रण की बदौलत इस लाभ में उसकी अपेक्षा कम संकुचन आता है, जितना तब आता कि अगर उसे इस पूंजी को स्वयं पेशगी देना होता। लाभ दर में घटत कम होती है, क्योंकि इस प्रकार पेशगी दी गयी पूंजी भी कम होती है।

इसलिए अभी तक विक्रय दाम B+K जमा B+K पर लाभ से ही बनता है। उसका यह अंश और कोई कठिनाई नहीं पेश करता। लेकिन अब उसमें व्यापारी द्वारा लगायी गयी परिवर्ती पूंजी, b, शामिल हो जाती है।

परिणामी विक्रय दाम हुआ B+K+b+B+K पर लाभ+b पर लाभ।

B केवल क्रय दाम की पुनःप्राप्ति करती है और उसमें B पर लाभ के अलावा और कुछ नहीं जोड़ती। K K पर लाभ, और स्वयं K को जोड़ती है; किंतु K+K पर लाभ, स्थिर पूंजी के रूप में पेश की गयी परिचलन लागत जमा अनुरूप औसत लाभ, व्यापारी के हाथों की अपेक्षा औद्योगिक पूंजीपति के हाथों में अधिक बड़ा होगा। औसत लाभ का संकुचन पेशगी औद्योगिक पूंजी से B+K को घटाकर परिकलित पूर्ण औसत लाभ के रूप में प्रकट होता है, जिसमें B+K पर औसत लाभ से कटौती व्यापारी को दे दी जाती है, जिससे यह कटौती एक विशिष्ट पूंजी, व्यापारी पूंजी के लाभ जैसी प्रतीत होती है।

किंतु b+b पर लाभ के सिलसिले में, अथवा प्रस्तुत प्रसंग में स्थिति भिन्न है, जिसमें माना गया है कि लाभ दर = b+१/१०b के साथ १०%। और वास्तविक कठिनाई इसी में है।

व्यापारी b से जो ख़रीदता है, हमारी कल्पना के अनुसार वह वाणिज्यिक श्रम, अतः प्रचल पूंजी के कार्यों, C–M तथा M–C, का निष्पादन करने के लिए आवश्यक श्रम के अलावा और कुछ नहीं है। किंतु वाणिज्यिक श्रम वह श्रम है, जो सामान्यतः पूंजी के व्यापारी पूंजी की तरह कार्य करने के लिए, जिंसों को द्रव्य में और द्रव्य को जिंसों में परिवर्तित करने में सहायता देने के लिए आवश्यक होता है। यह वह श्रम है, जो मूल्यों का सिद्धिकरण तो करता है, पर सृजन नहीं करता। और सिर्फ़ जहां तक कोई पूंजी इन कार्यों का निष्पादन करती है– अतः कोई पूंजीपति अपनी पूंजी से इन क्रियाओं, अथवा इस काम को निष्पन्न करता है– वहीं तक वह व्यापारी पूंजी के रूप में काम देती है और सामान्य लाभ दर का नियमन करने में, अर्थात कुल लाभ से अपना लाभांश लेने में भाग लेती है। लेकिन b+b पर लाभ में एक

तो श्रम के लिए भुगतान (क्योंकि इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि औद्योगिक पूंजीपति व्यापारी को स्वयं उसके श्रम के लिए अदायगी करता है, अथवा व्यापारी द्वारा अदा किये गये क्लर्कों के श्रम के लिए), और दूसरे, इस श्रम के लिए, जिसे व्यापारी को ख़ुद करना होता, भुगतान पर लाभ सम्मिलित होता है। व्यापारी पूंजी पहले अपनी b को वापस पाती है, और दूसरे, उस पर लाभ बनाती है। अतः यह इस तरह होता है कि पहले तो उसकी उस काम के लिए अदायगी करना ज़रूरी होता है, जिसके कारण वह **व्यापारी** पूंजी की तरह कार्य करती है, और दूसरे, वह लाभ की अपेक्षा करती है, क्योंकि वह **पूंजी** की तरह कार्य करती है, अर्थात क्योंकि वह ऐसा कार्य करती है कि जिसके लिए उसे कार्यरत पूंजी के नाते लाभ की अदायगी की जाती है। इसलिए यही वह समस्या है, जिसे सुलझाया जाना है।

मान लें कि B = १००, b = १०, और लाभ दर = १०%। हम मान लेते हैं कि K=O है, ताकि क्रय दाम के इस तत्व को विवेचन के बाहर रखा जा सके, जिसका यहां स्थान नहीं है और जिसकी पहले ही व्याख्या की जा चुकी है। अतः विक्रय दाम = B + p + b + p (= B + Bp′ + b + bp′; जहां p′ लाभ दर को व्यक्त करता है) = १०० + १० + १० + १ = = १२१ होगा।

लेकिन अगर b को व्यापारी द्वारा मजदूरी में निवेशित नहीं किया जाता है – क्योंकि b को सिर्फ़ वाणिज्यिक श्रम के लिए, अतः औद्योगिक पूंजी द्वारा बाज़ार में डाली गयी पण्य पूंजी के मूल्य का सिद्धिकरण करने के वास्ते आवश्यक श्रम के लिए ही अदा किया जाता है – तो स्थिति यह होगी : B = १०० के लिए क्रय अथवा विक्रय करने के वास्ते व्यापारी को अपना समय लगाना होगा, और हम यह कल्पना करना चाहेंगे कि उसके पास केवल यही समय है। b, अथवा १० द्वारा व्यक्त वाणिज्यिक श्रम, अगर उसका भुगतान मजदूरी के बजाय लाभ से किया जाता है, दूसरी व्यापारी पूंजी = १०० की पूर्वापेक्षा करेगा, क्योंकि १०% के हिसाब से उसकी b = १० होगी। यह दूसरी B = १०० जिंसों के दाम में अतिरिक्त रूप में प्रवेश नहीं करेगी, किंतु १०% का प्रवेश ज़रूर होगा। अतः १००=२०० पर दो क्रियाएं होंगी, जिससे जिंसें २०० + २० = २२० की ख़रीदी जायेंगी।

चूंकि व्यापारी पूंजी परिचलन प्रक्रिया में लगी औद्योगिक पूंजी के एक अंश के व्यष्टीकृत रूप के अलावा और कुछ नहीं है, इसलिए उससे संबद्ध सभी प्रश्नों को समस्या को मुख्यतः ऐसे रूप में प्रकट करके हल किया जाना चाहिए, जिसमें व्यापारी पूंजी के लिए विशिष्ट परिघटनाएं अभी स्वतंत्र रूप में नहीं, बल्कि औद्योगिक पूंजी के प्रत्यक्ष संबंध में, उसकी एक शाखा के रूप में ही सामने आती हैं। कार्यशाला से भिन्न कार्यालय के नाते व्यापारिक पूंजी परिचलन प्रक्रिया में निरंतर कार्यरत रहती है। यहीं – स्वयं औद्योगिक पूंजीपति के कार्यालय में ही – हमें इस समय विचाराधीन b का पहले विश्लेषण करना चाहिए।

औद्योगिक कार्यशाला की तुलना में कार्यालय आरंभ से ही बेहद छोटा होता है। जहां तक और बातों का सवाल है, स्पष्ट है कि उत्पादन के पैमाने के फैलाये जाने के साथ-साथ वे वाणिज्यिक क्रियाएं भी उसी के अनुरूप बढ़ती जाती हैं, जिनकी औद्योगिक पूंजी के परिचलन के लिए लगातार आवश्यकता होती है, ताकि पण्य पूंजी के रूप में विद्यमान उत्पाद को बेचा जा सके, इस प्रकार प्राप्त द्रव्य को उत्पादन साधनों में पुनःपरिवर्तित किया जा सके और सारी प्रक्रिया का हिसाब रखा जा सके। दामों का परिकलन, लेखाकरण, निधियों की व्यवस्था, पत्र-व्यवहार – ये सब इसी मद के तहत आते हैं। उत्पादन का पैमाना जितना ही विकसित

होता है, उतना ही – चाहे उसी अनुपात में न सही – औद्योगिक पूंजी की वाणिज्यिक क्रियाएं भी अधिक होती हैं, और फलतः मूल्य तथा बेशी मूल्य के सिद्धिकरण में सन्निहित श्रम तथा अन्य परिचलन लागतें भी अधिक होती हैं। यह वाणिज्यिक उजरती मज़दूरों का रखा जाना आवश्यक बना देता है, जो वास्तविक कार्यालय कर्मीवृंद को बनाते हैं। इनके लिए परिव्यय, चाहे वह मज़दूरी के रूप में ही किया जाता है, उत्पादक श्रम के क्रय में व्ययित परिवर्ती पूंजी से भिन्न होता है। यह बेशी मूल्य को प्रत्यक्षतः बढ़ाये बिना औद्योगिक पूंजीपति के परिव्यय, पेशगी दी जानेवाली पूंजी की संहति को बढ़ा देता है। कारण यह कि यह मात्र पहले से सृजित मूल्य का सिद्धिकरण करने में नियोजित श्रम के लिए परिव्यय है। इस प्रकार के हर अन्य परिव्यय की ही भांति यह लाभ दर को भी घटा देता है, क्योंकि पेशगी पूंजी तो बढ़ती है, पर बेशी मूल्य नहीं बढ़ता। अगर बेशी मूल्य s स्थिर रहता है, जबकि पेशगी पूंजी C बढ़कर $C + \Delta C$ हो जाती है, तो लाभ दर $\frac{s}{C}$ न्यूनतर लाभ दर $\frac{s}{C + \Delta C}$ से प्रतिस्थापित हो जाती है। इसलिए औद्योगिक पूंजीपति स्थिर पूंजी के लिए अपने व्ययों की ही भांति इन परिचलन व्ययों को घटाकर न्यूनतम करने का प्रयास करता है। अतः औद्योगिक पूंजी अपने वाणिज्यिक उजरती मज़दूरों के प्रति वही नज़रिया नहीं रखती है, जो वह अपने उत्पादक मज़दूरों के प्रति रखती है। अन्यथा समान अवस्थाओं में वह जितना ही अधिक उत्पादक श्रमिकों को नियोजित करती है, उतना ही अधिक उत्पादन, और उतना ही अधिक बेशी मूल्य, अथवा लाभ होता है। लेकिन, इसके विपरीत, उत्पादन का पैमाना जितना ही अधिक होगा, सिद्धिकृत किये जानेवाले मूल्य तथा बेशी मूल्य की मात्रा जितना ही अधिक होगी, उत्पादित पण्य पूंजी जितना ही अधिक होगी, निरपेक्ष, यदि सापेक्ष नहीं, कार्यालय लागतें उतना ही अधिक होंगी और उतना ही अधिक वे एक प्रकार का श्रम विभाजन उत्पन्न करेंगी। लाभ किस सीमा तक इन परिव्ययों की एक पूर्वापेक्षा है, यह अन्य बातों के अलावा इससे ज़ाहिर होता है कि वाणिज्यिक वेतनों के बढ़ने के साथ उनका एक भाग प्रायः लाभ में एक अंश के रूप में अदा किया जाता है। यह स्वाभाविक ही है कि मात्र अंशतः मूल्यों के परिकलन से, अंशतः उनके सिद्धिकरण से, और अंशतः सिद्धिकृत द्रव्य के उत्पादन साधनों में पुनःपरिवर्तन से संबद्ध तथा मात्र मध्यवर्ती क्रियाओं का सा श्रम, ऐसा श्रम है, जिसका परिमाण इसलिए उत्पादित तथा सिद्धिकृत किये जानेवाले मूल्यों की मात्रा पर निर्भर करता है और जो प्रत्यक्षतः उत्पादक श्रम की भांति इन मूल्यों के परिमाणों तथा संहतियों के कारण के रूप में नहीं, वरन परिणाम के रूप में कार्य करता है। अन्य परिचलन लागतों पर भी यही बात लागू होती है। काफ़ी मपाई, तुलाई, पैकिंग और परिवहन करने के लिए हाथ में काफ़ी होना चाहिए। पैकिंग, परिवहन, आदि का परिमाण जिंसों की मात्रा पर, जो इस गतिविधि के विषय हैं, निर्भर करता है, न कि इसके विपरीत होता है।

वाणिज्यिक कर्मी प्रत्यक्षतः कोई बेशी मूल्य नहीं उत्पन्न करता। लेकिन उसके श्रम का दाम उसकी श्रम शक्ति के मूल्य द्वारा, अतः उसकी उत्पादन लागत द्वारा निर्धारित होता है, जबकि इस श्रम शक्ति का उपयोग, उसका आयास, ऊर्जा व्यय तथा छीजन – हर अन्य उजरती मज़दूर की ही भांति – किसी भी प्रकार अपने मूल्य से सीमित नहीं होता। इसलिए उसकी मज़दूरी अनिवार्यतः उस लाभ संहति के यथानुपात नहीं होती, जिसका सिद्धिकरण करने में वह पूंजीपति की सहायता करता है। पूंजीपति को उसके लिए क्या ख़र्च करना पड़ता है और वह

पूंजीपति के लिए क्या लाता है, ये दो भिन्न चीजें हैं। वह किसी बेशी मूल्य का सृजन नहीं करता, लेकिन वह पूंजीपति की आय में बेशी मूल्य का सिद्धिकरण करने के ख़र्च को घटाने में सहायता देकर योग देता है, क्योंकि वह अंशतः अशोधित श्रम का निष्पादन करता है। बिलकुल सही अर्थों में वाणिज्यिक कर्मी अच्छा वेतन पानेवाले उजरती मजदूरों की श्रेणी में आता है, उन मजदूरों की श्रेणी में, जिनका श्रम कुशल श्रम माना जाता है और औसत श्रम से ऊपर समझा जाता है। लेकिन फिर भी पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विकसित होने के साथ-साथ औसत श्रम के संदर्भ में भी मजदूरी गिरती ही जाती है। यह अंशतः कार्यालय में श्रम विभाजन के कारण है, जिसमें श्रम क्षमता का एकांगी विकास सन्निहित है, जिसका ख़र्च पूरी तरह से पूंजीपति के ऊपर नहीं पड़ता, क्योंकि इस कार्य के करने के जरिये श्रमिक का कौशल अपने आप विकसित होता जाता है और श्रम विभाजन उसे जितना ही अधिक एकांगी करता जाता है, उतना ही अधिक तेजी के साथ विकसित होता जाता है। दूसरे, इस कारण कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली शिक्षा विधियों, आदि को व्यावहारिक लक्ष्यों की ओर जितना ही अधिक निदेशित करती है, विज्ञान तथा सार्वजनिक शिक्षा की प्रगति के साथ आवश्यक प्रशिक्षण, वाणिज्यिक पद्धतियों, भाषाओं, आदि का ज्ञान उतना ही अधिक शीघ्रता, सुगमता, सार्विकता और कम ख़र्च के साथ पुनरुत्पादित होता है। सार्वजनिक शिक्षा की व्यापकता के कारण पूंजीपतियों के लिए ऐसे श्रमिकों को उन वर्गों से भरती करना संभव हो जाता है, जिनकी पहले इन पेशों में पहुंच नहीं थी और जो निम्नतर जीवन स्तर के आदी थे। इसके अलावा, इससे पूर्ति और इसलिए प्रतिद्वंद्विता भी बढ़ जाती है। इसलिए कुछेक अपवादों को छोड़कर इन लोगों की श्रम शक्ति का पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति के साथ-साथ अवमूल्यन होता जाता है। उनकी उजरत घटती जाती है, जबकि श्रम क्षमता बढ़ती जाती है। पूंजीपति को जब भी अधिक मूल्य तथा लाभों का सिद्धिकरण करना होता है, वह इन श्रमिकों की संख्या बढ़ा देता है। इस श्रम की वृद्धि हमेशा अधिक बेशी मूल्य का एक परिणाम ही होता है, कारण कदापि नहीं।[39a]

इस प्रकार, द्विरावृत्ति होती है। एक ओर, पण्य पूंजी और द्रव्य पूंजी (जिसके कारण उसे आगे व्यापारी पूंजी कहा गया है) के नाते कार्य औद्योगिक पूंजी द्वारा ग्रहण किये जानेवाले सामान्य निश्चित रूप हैं। दूसरी ओर, विशिष्ट पूंजियां और फलतः पूंजीपतियों के विशिष्ट समूह इन कार्यों में अनन्य रूप से लगे हुए हैं; और इस प्रकार ये कार्य पूंजी के स्वप्रसार के विशिष्ट क्षेत्रों में परिणत हो जाते हैं।

[39a] वाणिज्यिक सर्वहारा की नियति के बारे में १८६५ में लिखी गयी यह भविष्यवाणी समय की कसौटी पर कितनी खरी उतरी है, इसकी पुष्टि उन सैकड़ों जर्मन क्लर्कों से की जा सकती है, जो सभी वाणिज्यिक क्रियाओं में प्रशिक्षित और तीन या चार भाषाओं से परिचित होते हैं और लंदन सिटी में २५ शिलिंग प्रति सप्ताह पर, जो कुशल मिस्तरी की मजदूरी से भी कहीं नीचे है, व्यर्थ ही अपनी सेवाएं पेश करते हैं। पांडुलिपि में दो ख़ाली पन्ने यह दिखलाते हैं कि इस विषय का अधिक विस्तार के साथ विवेचन किया जाना था। इस प्रसंग में हम पाठक से दूसरी पुस्तक (Kap. VI, S. 105-13) ('परिचलन की लागत') ['पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड २, पृष्ठ १२३-२६।– सं०] देखने को कहेंगे, जहां इस मद में आनेवाले विभिन्न विषयों की चर्चा की गयी है।– फ़े० एं०

व्यापारिक पूंजी के मामले में वाणिज्यिक कार्य तथा परिचलन लागतें केवल व्यष्टीकृत रूप में ही पाये जाते हैं। औद्योगिक पूंजी का वह पक्ष, जो परिचलन में लगा होता है, न केवल पण्य पूंजी तथा द्रव्य पूंजी के रूप में ही, बल्कि कार्यशाला के साथ-साथ कार्यालय में भी निरंतर अस्तित्वमान रहता है। लेकिन व्यापारिक पूंजी के मामले में वह स्वतंत्र हो जाता है। अंतोक्त मामले में कार्यालय ही उसकी एकमात्र कार्यशाला होता है। पूंजी का परिचलन लागतों के रूप में नियोजित अंश उद्योगपति की तुलना में बड़े व्यापारी के मामले में कहीं बड़ा प्रतीत होता है, क्योंकि हर औद्योगिक कार्यशाला से संबद्ध अपने कार्यालयों के अलावा पूंजी का वह अंश, जिसे औद्योगिक पूंजीपतियों के संपूर्ण वर्ग द्वारा लगाया जाता, थोड़े से व्यापारियों के हाथों में संकेंद्रित होता है, जो परिचलन के कार्यों को निष्पादित करने के साथ-साथ उनके सातत्य से संबद्ध बढ़ते व्ययों को भी वहन करते हैं।

औद्योगिक पूंजी के लिए परिचलन लागतें अनुत्पादक व्ययों जैसी होती हैं और वास्तव में होती भी अनुत्पादक व्यय ही हैं। व्यापारी के लिए वे उसके लाभ का स्रोत होती हैं, जो नियत सामान्य लाभ दर पर लागतों के अनुपात में होता है। इसलिए इन लागतों के लिए किया जानेवाला परिव्यय व्यापारिक पूंजी के लिए एक उत्पादक निवेश होता है। और इसी कारण उसके लिए वह वाणिज्यिक श्रम भी, जिसे वह ख़रीदता है, प्रत्यक्ष रूप में उत्पादक होता है।

अध्याय १८

व्यापारी पूंजी का आवर्त। दाम

औद्योगिक पूंजी का आवर्त उसकी उत्पादन अवधि तथा परिचलन काल का संयोग होता है और इसलिए वह समूची उत्पादन प्रक्रिया को अपनी परिधि में ले लेता है। इसके विपरीत, वास्तव में पण्य पूंजी की वियोजित गति के सिवा और कुछ न होने के कारण व्यापारी पूंजी का आवर्त जिंस के रूपांतरण में केवल पहली अवस्था, $C-M$, को एक विशिष्ट पूंजी की पश्चप्रवाही गति की तरह ही प्रकट करता है; व्यापारिक दृष्टि से $M-C, C-M$ व्यापारी पूंजी का आवर्त होता है। व्यापारी ख़रीदारी करके अपने द्रव्य को जिंसों में परिवर्तित करता है, फिर वह बिक्री करके उन्हें द्रव्य में परिवर्तित करता है और इसी प्रकार निरंतर दुहराता रहता है। परिचलन के भीतर औद्योगिक पूंजी का रूपांतरण अपने को सदा C_1-M-C_2 के रूप में प्रकट करता है; उत्पादित जिंस C_1 के विक्रय से सिद्धिकृत द्रव्य का नये उत्पादन साधन, C_2, ख़रीदने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह व्यवहार में C_1 के C_2 के साथ विनिमय के बराबर है और इस प्रकार वही द्रव्य दो बार एक के हाथ से दूसरे के हाथ में जाता है। उसकी गति दो भिन्न प्रकारों की जिंसों, C_1 तथा C_2, के विनिमय का माध्यम बनती है। लेकिन, इसके विपरीत, व्यापारी के मामले में $M-C-M'$ में दो बार एक हाथ से दूसरे हाथ में वही जिंस जाती है। वह केवल उसके द्रव्य का पश्चवाह ही करवाती है।

उदाहरण के लिए, अगर कोई व्यापारी पूंजी १०० पाउंड है और व्यापारी इन १०० पाउंड की जिंसें ख़रीदता है और उन्हें ११० पाउंड में बेच देता है, तो उसकी १०० की पूंजी ने एक आवर्त पूरा कर लिया है, और प्रति वर्ष ऐसे आवर्तों की संख्या इस पर निर्भर करती है कि $M-C-M'$ की यह गति कितनी बार दुहरायी जाती है।

हम यहां उन लागतों को विचार के बिलकुल बाहर छोड़ देते हैं, जो क्रय दाम तथा विक्रय दाम के बीच अंतर में छिपी हो सकती हैं, क्योंकि वे किसी भी प्रकार उस रूप को नहीं बदलतीं, जिसका हम इस समय विवेचन कर रहे हैं।

इस प्रकार, नियत व्यापारी पूंजी के आवर्तों की संख्या इस प्रसंग में मात्र परिचलन माध्यम के नाते द्रव्य के पुनरावृत्त चक्रों के सदृश ही होती है। जिस प्रकार दस चक्र पूरे करने में एक वही टालर* जिंसों के रूप में अपने मूल्य से दस गुना ख़रीदता है, उसी प्रकार दस बार आवर्तित किये जाने पर व्यापारी की वही द्रव्य पूंजी जिंसों के रूप में अपने मूल्य से दस

*चांदी का एक पुराना जर्मन सिक्का। – सं०

गुना ख़रीदती है, अथवा अपने मूल्य से कुल दस गुना द्रव्य पूंजी का सिद्धिकरण करती है; उदाहरण के लिए, १०० की व्यापारी पूंजी दस गुना मूल्य = १,००० का। लेकिन एक अंतर है: परिचलन माध्यम के रूप में द्रव्य के चक्र में वही मुद्रा भिन्न-भिन्न हाथों से गुज़रती है, इस प्रकार वह उन्हीं कार्यों का बारंबार निष्पादन करती है और इसलिए अपने वेग से परिचलनगत द्रव्य संहति की प्रतिपूर्ति कर देती है। लेकिन व्यापारी के मामले में इससे निरपेक्ष कि वह किस प्रकार की मुद्रा से निर्मित है, वही द्रव्य पूंजी, वही मुद्रा मूल्य अपने मूल्य के बराबर पण्य पूंजी बारंबार ख़रीदती और बेचती है और इसलिए उन्हीं हाथों में, उसी प्रस्थान बिंदु पर लौट आती है कि जिस पर $M + \Delta M$, अर्थात मूल्य जमा बेशी मूल्य। यही उसके आवर्त को पूंजी के आवर्त का चरित्र प्रदान करता है। वह परिचलन में जितना द्रव्य डालती है, उसमें से उससे सदा अधिक निकालती है। किसी भी सूरत में यह स्वयंसिद्ध है कि व्यापारी पूंजी के त्वरित आवर्त का मतलब (विकसित उधार पद्धति हो, तो उसमें भुगतान साधन के रूप में द्रव्य के कार्य का प्राधान्य होता है) द्रव्य की उसी मात्रा का अधिक तीव्र परिचलन होता है।

किंतु वाणिज्यिक पूंजी का पुनरावृत्त आवर्त पुनरावृत्त क्रय-विक्रय के अलावा और कुछ भी नहीं द्योतित करता, जबकि औद्योगिक पूंजी का पुनरावृत्त आवर्त समस्त पुनरुत्पादन प्रक्रिया (जिसमें उपभोग प्रक्रिया सम्मिलित है) की आवर्तिता तथा नवीकरण का द्योतक है। व्यापारी पूंजी के लिए यह एक बाह्य प्रतिबंध की तरह सामने आता है। औद्योगिक पूंजी के लिए मालों को बाज़ार में निरंतर लाना और उससे निकालना आवश्यक है, जिससे कि व्यापारी पूंजी का तीव्र आवर्तन संभव बना रहे। अगर पुनरुत्पादन प्रक्रिया मंद है, तो व्यापारी पूंजी का आवर्त भी मंद होगा। यह ठीक है कि व्यापारी पूंजी उत्पादक पूंजी के आवर्त का संवर्धन करती है, किंतु इसी अर्थ में कि वह उसके परिचलन काल को घटाती है। उसका उत्पादन काल पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है, जो औद्योगिक पूंजी की आवर्त अवधि की एक सीमा भी है। यह व्यापारी पूंजी की पहली सीमा है। दूसरे, पुनरुत्पादक उपभोग द्वारा निर्मित सीमा को अगर अलग छोड़ दें, तो व्यापारी पूंजी के आवर्त को अंततः कुल व्यष्टिक उपभोग का वेग तथा परिमाण परिसीमित करते हैं, क्योंकि वह सारी पण्य पूंजी, जो उपभोग निधि का हिस्सा होती है, उसी पर निर्भर करती है।

लेकिन (अगर वाणिज्यिक जगत में आवर्तों को विवेचन के बाहर रहने दिया जाये, जिसमें एक व्यापारी सदा उसी माल को दूसरे व्यापारी को बेचता है और सट्टेबाज़ी के समय इस प्रकार का परिचलन अत्यधिक लाभप्रद प्रतीत हो सकता है), पहली बात तो यही है कि व्यापारी पूंजी उत्पादक पूंजी के लिए $C - M$ चरण को संक्षिप्त कर देती है। दूसरे, आधुनिक उधार पद्धति के अंतर्गत वह कुल सामाजिक द्रव्य पूंजी के काफ़ी बड़े अंश का व्ययन करती है, जिसके कारण वह पहले की ख़रीद को निश्चित तौर पर बेचने के भी पहले अपनी ख़रीदारियों की पुनरावृत्ति कर सकती है। और इस प्रसंग में यह महत्वहीन है कि हमारा व्यापारी अंतिम उपभोक्ता को प्रत्यक्षतः बेचता है, या उनके बीच दर्जन भर और अंतर्वर्ती व्यापारी हैं। पुनरुत्पादन प्रक्रिया की असीम लोच के कारण, जिसे सदा किसी भी नियत सीमा के आगे ले जाया जा सकता है, उसे स्वयं उत्पादन में किसी भी अवरोध का सामना नहीं करना पड़ता, या हद से हद बहुत लोचदार अवरोध का ही सामना करना पड़ता है। परिणामस्वरूप $C - M$ और $M - C$ के वियोजन के अलावा, जो मालों के स्वरूप से उत्पन्न होता है, एक मिथ्या मांग पैदा हो जाती है। अपनी स्वतंत्र हैसियत के बावजूद व्यापारी पूंजी की गति सदा परिचलन

क्षेत्र के भीतर औद्योगिक पूंजी की गति के अलावा और कुछ नहीं होती। लेकिन अपनी स्वतंत्र हैसियत की बदौलत वह कुछ सीमाओं के भीतर पुनरुत्पादन प्रक्रिया की परिधि से स्वतंत्र रूप में गति करती है और उसके द्वारा उसे उसकी सीमाओं के आगे तक ले जाती है। यह आंतरिक निर्भरता और बाहरी स्वतंत्रता व्यापारी पूंजी को एक ऐसी हद तक ले जाती हैं कि जहां संकट के ज़रिये आंतरिक संबंध बलपूर्वक बहाल हो जाता है।

इसी से यह परिघटना पैदा होती है कि संकट सतह पर पहले ख़ुदरा व्यापार में, जिसका प्रत्यक्ष उपभोग से संबंध होता है, नहीं आते, नहीं फूटते, वरन थोक व्यापार के और बैंकिंग के क्षेत्र में सतह पर आते और फूटते हैं, जो समाज की द्रव्य पूंजी को पूर्वोक्त के लिए उपलब्ध करता है।

व्यवहार में निर्माता निर्यातक को बेच सकता है और अपनी बारी में निर्यातक अपने विदेशी ग्राहक को बेच सकता है; आयातक अपना कच्चा माल निर्माता को बेच सकता है और वह अपने उत्पाद थोक विक्रेता को बेच सकता है, आदि। लेकिन हो सकता है कि किसी विशेष अगोचर बिंदु पर माल अनबिके पड़े रहें, या फिर सभी उत्पादकों और बिचौलियों के पास मालों का अतिसंचय हो जाये। ऐसे समयों पर आम तौर पर उपभोग अपने चरम पर होता है, या तो इस कारण कि एक औद्योगिक पूंजीपति अन्यों के सिलसिले को गतिशील कर देता है, या इस कारण कि उनके द्वारा नियोजित मज़दूर पूरी तरह से काम पर लगे होते हैं और उनके पास ख़र्च करने के लिए सामान्यतः जितना होता है, उससे अधिक होता है। पूंजीपतियों के ख़र्च उनकी बढ़ती आय के साथ-साथ बढ़ते जाते हैं। इसके अलावा, जैसे कि हम देख चुके हैं (दूसरी पुस्तक, भाग ३),* स्थिर पूंजी और स्थिर पूंजी के बीच निरंतर परिचलन होता है (त्वरित संचयन को अलग भी रहने दिया जाये, तो भी)। आरंभ में वह व्यष्टिक उपभोग से स्वतंत्र होता है, क्योंकि वह कभी उसमें प्रवेश नहीं करता। लेकिन फिर भी यह उपभोग उसे निश्चित रूप से सीमित करता है, क्योंकि स्थिर पूंजी को कभी उसी की ख़ातिर नहीं, बल्कि मात्र इसलिए उत्पादित किया जाता है कि उन उत्पादन क्षेत्र में अधिक स्थिर पूंजी की आवश्यकता होती है, जिनके उत्पाद व्यष्टिक उपभोग में जाते हैं। लेकिन प्रत्याशित मांग के बढ़ावे से कुछ समय तक यह सब निर्विघ्न चलता रह सकता है, और इसलिए इस तरह की शाखाओं में व्यापारियों और उद्योगपतियों का कारबार ज़ोरों से चलता रहता है। संकट तब आता है कि जब उन व्यापारियों के, जो दूरवर्ती बाज़ारों में बिक्री करते हैं (अथवा जिनके माल आंतरिक बाज़ार में संचित भी हो जाते हैं), प्रतिफल इतने मंथर और अल्प हो जाते हैं कि बैंक अदायगी के लिए तक़ाज़ा करने लगते हैं, या जब ख़रीदी गयी जिंसों के लिए दिये गये रुक्के (वचनपत्र) उनके दुबारा बिकने के पहले ही देय हो जाते हैं। तब बलात बिक्रियां, अदायगियां करने के लिए बिक्रियां शुरू होती हैं। तब एकदम गिरावट आती है, जो आभासी समृद्धि का यकायक ही ख़ात्मा कर देती है।

लेकिन व्यापारी पूंजी का आवर्त इसलिए और भी अधिक सतही और निरर्थक होता है कि उस एक ही व्यापारी पूंजी का आवर्त एकसाथ ही अथवा उत्तरोत्तर अनेक उत्पादक पूंजियों के आवर्तों को प्रवर्तित कर सकता है।

व्यापारी पूंजी का आवर्त केवल अनेक औद्योगिक पूंजियों के आवर्तों को ही नहीं प्रवर्तित

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण: खंड २, पृष्ठ ३७०-७३, ३७६-८०।—सं०

करता, वह पण्य पूंजी के रूपांतरण के विपरीत चरणों को त्वरित भी कर सकता है। मसलन, व्यापारी निर्माता से लिनन ख़रीदता है और उसे ब्लीचर को बेच देता है। इसलिए इस प्रसंग में उस एक ही व्यापारी पूंजी का भ्रावर्त – वास्तव में वही C — M, भ्रर्थात लिनन का सिद्धिकरण – दो भिन्न औद्योगिक पूंजियों के दो विपरीत चरणों को प्रकट करता है। चूंकि व्यापारी उत्पादक उपभोग के लिए बेचता है, इसलिए उसका C — M सदा एक औद्योगिक पूंजीपति के लिए M — C होगा, और इस औद्योगिक पूंजीपति का M — C, हमेशा किसी दूसरे औद्योगिक पूंजीपति के लिए C — M होगा।

अगर हम परिचलन लागत, K, को अलग रहने दें, जैसे इस अध्याय में किया भी जा रहा है, दूसरे शब्दों में, अगर हम पूंजी के उस अंश को अलग रहने दें, जो व्यापारी जिंसें ख़रीदने के लिए आवश्यक द्रव्य के साथ पेश करता है, तो होता यह है कि हम ΔK, इस अतिरिक्त पूंजी पर बनाये अतिरिक्त लाभ, को भी अलग छोड़ देते हैं। इसलिए अगर हम यह देखना चाहें कि व्यापारी पूंजी का लाभ और आवर्त दामों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, तो विश्लेषण का एकदम तर्कसंगत और गणितसम्मत ढंग यही होगा।

अगर १ पाउंड शकर का उत्पादन दाम १ पाउंड हुआ होता, तो १०० पाउंड की रक़म से व्यापारी १०० पाउंड शकर ख़रीद सकता था। अगर वह इस मात्रा को एक साल के दौरान ख़रीदता और बेचता है, और अगर औसत वार्षिक लाभ दर १५% है, तो वह १०० पाउंड में १५ पाउंड, और १ पाउंड शकर के उत्पादन दाम १ पाउंड में ३ शिलिंग जोड़ देगा। मतलब यह कि वह १ पाउंड शकर को १ पाउंड ३ शिलिंग में बेचेगा। लेकिन अगर १ पाउंड शकर का उत्पादन दाम गिरकर १ शिलिंग हो जाये, तो व्यापारी १०० पाउंड से २,००० पाउंड शकर ख़रीद सकेगा और उसे १ शिलिंग १ ४/५ पेंस प्रति पाउंड के हिसाब से बेच सकेगा। शकर के कारबार में निवेशित पूंजी पर लाभ अब भी हर १०० पाउंड पर १५ पाउंड ही रहेगा। लेकिन व्यापारी को पहले प्रसंग में १०० पाउंड, तो दूसरे में २,००० पाउंड शकर को बेचना होता है। उत्पादन दाम के ऊंचे या नीचे स्तर का लाभ दर से कोई संबंध नहीं होता। लेकिन वह शकर के हर पाउंड के विक्रय दाम के उस संखंड पर भारी और निर्णायक प्रभाव डालेगा, जो व्यापारिक लाभ में, अर्थात दाम में उस वृद्धि में परिणत हो जाता है, जो व्यापारी जिंसों अथवा उत्पादों की एक ख़ास मात्रा पर करता है। अगर जिंस का उत्पादन दाम अल्प है, तो वह रक़म भी अल्प होगी, जो व्यापारी उसके क्रय दाम में, अर्थात उसकी एक ख़ास मात्रा के लिए देता है। अतः, एक नियत लाभ दर से वह सस्ते मालों की इस मात्रा पर जो लाभ बनाता है, वह भी अल्प होता है। अथवा, जो वही बात है, अब वह एक ख़ास पूंजी राशि, मसलन १००, से इन सस्ती जिंसों की ज्यादा बड़ी मात्रा ख़रीद सकता है और प्रति १०० पर बननेवाला उसका कुल १५ का लाभ इस जिंस संहति के प्रत्येक पृथक नग अथवा अंश पर छोटे-छोटे खंडों में विखंडित हो जाता है। अगर इसके विपरीत होता है, तो उलटी बात होती है। यह पूर्णतः उस औद्योगिक पूंजी की अधिक या कम उत्पादिता पर निर्भर करता है, जिसके उत्पादों का वह कारबार करता है। अगर हम उन मामलों को छोड़ दें, जिनमें व्यापारी एकाधिकारी होता है और साथ ही उत्पादन को भी एकाधिकृत कर लेता है, जैसा डच ईस्ट इंडिया कंपनी अपने समय में करती थी, तो इस प्रचलित विचार से अधिक हास्यास्पद और कोई बात नहीं हो सकती कि यह व्यापारी पर निर्भर है कि वह अपनी जिंसों के हर अलग नग पर कम लाभ के साथ बहुत सी जिंसें बेचे या बड़े लाभ के साथ थोड़ी बेचे। उसके

विक्रय दाम की दो सीमाएं हैं : एक ओर, जिंसों का उत्पादन दाम, जिस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता; दूसरी ओर, औसत लाभ दर, जिस पर उसका इतना ही कम नियंत्रण होता है। उसके हाथों में बस यह निर्णय करना होता है कि वह महंगे मालों में कारबार करना चाहता है या सस्ते में, और इसमें भी उसकी उपलब्ध पूंजी का आकार तथा अन्य परिस्थितियां भी अपना असर रखती हैं। इसलिए यह पूर्णतः पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विकास की सीमा पर, न कि व्यापारी की सदिच्छा पर निर्भर करता है कि वह कौनसा रास्ता अपनाये। पुरानी डच ईस्ट इंडिया कंपनी, जिसे उत्पादन पर एकाधिकार प्राप्त था, जैसी कोई शुद्धतः वाणिज्यिक कंपनी ही यह समझ सकती थी कि वह सर्वथा बदली हुई अवस्थाओं के अंतर्गत भी उस पद्धति को जारी रख सकती है, जो पूंजीवादी उत्पादन के प्रारंभ के लिए ही सबसे उपयुक्त थी।[40]

औरों के साथ-साथ निम्न परिस्थितियां भी इस व्यापक पूर्वाग्रह को बनाये रखने में सहायता देती हैं, जो लाभ विषयक सभी भ्रांत धारणाओं की तरह सिर्फ़ वाणिज्य की तरफ़ ही देखने और व्यापारियों के पूर्वाग्रह से पैदा होता है :

पहली : प्रतिद्वंद्विता की परिघटनाएं, लेकिन जो सिर्फ़ अलग-अलग व्यापारियों में, जो कुल व्यापारी पूंजी के अंशधारी होते हैं, व्यापारिक लाभ के वितरण पर ही लागू होती है; मिसाल के लिए, अगर एक व्यापारी अपने प्रतिद्वंद्वियों को मैदान से हटाने के लिए उनसे सस्ता बेचता है।

दूसरी : लाइपसिग के प्रोफ़ेसर रोशर जैसी प्रतिभा का कोई अर्थशास्त्री ही अब भी यह मान सकता है कि विक्रय दामों में परिवर्तन को "सामान्य बुद्धि तथा मानवतावादी"* कारण उत्पन्न करते हैं और वह स्वयं उत्पादन प्रणाली में आये आमूल परिवर्तन का परिणाम नहीं होता।

तीसरी : अगर उत्पादन दाम श्रम की अधिक उत्पादिता के कारण गिरते हैं और विक्रय दाम भी इसी कारण गिरते हैं, तो मांग और उसके साथ-साथ बाज़ार दाम भी अक्सर पूर्ति से भी ज्यादा तेजी के साथ चढ़ते हैं, जिसके परिणामस्वरूप विक्रय दाम सामान्य लाभ से अधिक लाभ प्रदान करते हैं।

चौथी : व्यापारी अपने विक्रय दाम को घटा सकता है (जो उसके द्वारा दाम में जोड़े जानेवाले सामान्य लाभ को घटाने के अलावा कभी और कुछ नहीं होता), ताकि ज्यादा बड़ी पूंजी को अधिक तेज़ी के साथ आवर्तित कर सके। ये सब ऐसी बातें हैं, जिनका सिर्फ़ स्वयं व्यापारियों की प्रतिद्वंद्विता से ही संबंध है।

---

[40] "सामान्य नियमानुसार दाम चाहे कुछ हो, लाभ हमेशा उतना ही होता है; वह चढ़ते-उतरते ज्वार पर तैरते पिंड की तरह अपनी जगह को बनाये रखता है। इसलिए जब दाम चढ़ते हैं, तो व्यापारी दाम बढ़ा देता है और जब दाम गिरते हैं, तो व्यापारी दाम गिरा देता है।" (Corbet, *An Inquiry into the Causes, etc., of the Wealth of Individuals*, London, 1841, p. 20.) पाठ में जैसे आम तौर पर है, वैसे ही यहां भी यह सिर्फ़ सामान्य वाणिज्य का मामला है, न कि सट्टाख़ोरी का। व्यापारिक पूंजी के वर्गीकरण से संबद्ध अन्य सभी बातों की तरह सट्टे का विश्लेषण भी हमारे अनुसंधान के क्षेत्र के बाहर है। "व्यापार का लाभ पूंजी में जोड़ा गया मूल्य है, जो दाम से स्वतंत्र होता है, दूसरा" (सट्टा) "पूंजी के मूल्य में अथवा स्वयं दाम में विचरण पर आधारित होता है" (पूर्वो०, पृष्ठ १२८)।

* Roscher, *Die Grundlagen der Nationalökonomie*, 3. Auflage, 1858, S. 192. – सं०

हम पहली पुस्तक* में पहले ही दर्शा चुके हैं कि ऊंचे या नीचे पण्य दाम न तो नियत पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य संहति को निर्धारित करते हैं और न ही बेशी मूल्य दर को; यद्यपि श्रम की एक नियत मात्रा द्वारा उत्पादित जिंसों की आपेक्षिक मात्रा के अनुसार किसी जिंस का दाम और उसके साथ इस दाम में बेशी मूल्य का अंश अधिक या न्यून होते हैं। किसी जिंस की हर निर्दिष्ट मात्रा के दाम, जहां तक वे मूल्यों के अनुरूप होते हैं, इस जिंस में समाविष्ट श्रम की कुल मात्रा द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। अगर अधिक जिंस में कम श्रम समाविष्ट होता है, तो जिंस का इकाई दाम निम्न होता है और उसमें सन्निहित बेशी मूल्य कम होता है। किसी जिंस में समाविष्ट श्रम किस प्रकार शोधित तथा अशोधित श्रम में विखंडित होता है और इसलिए उसके दाम का कौनसा अंश बेशी मूल्य को प्रकट करता है, उसका श्रम की इस कुल मात्रा के साथ, और फलतः, जिंस के दाम के साथ कोई संबंध नहीं है। लेकिन बेशी मूल्य दर जिंस के इकाई दाम में समाविष्ट बेशी मूल्य के निरपेक्ष परिमाण पर निर्भर नहीं करती। वह उसके आपेक्षिक परिमाण, उसी जिंस में सन्निहित मजदूरी के साथ उसके अनुपात पर निर्भर करती है। इसलिए हो सकता है कि बेशी मूल्य दर अधिक हो, जबकि जिंस की प्रति इकाई में बेशी मूल्य का निरपेक्ष परिमाण कम हो। जिंस के हर नग में बेशी मूल्य का यह निरपेक्ष परिमाण मुख्यतः श्रम उत्पादिता पर निर्भर करता है और उसके शोधित तथा अशोधित श्रम में विभाजन पर गौणतः ही निर्भर करता है।

अस्तु, वाणिज्यिक विक्रय दाम के मामले में उत्पादन दाम एक नियत बाह्य पूर्वापेक्षा है।

पुराने जमाने में ऊंचे पण्य दामों के कारण थे: १) ऊंचे उत्पादन दाम अर्थात श्रम की निम्न उत्पादकता; २) सामान्य लाभ दर का अभाव, जिसमें व्यापारी पूंजी बेशी मूल्य के उससे कहीं अधिक अंश को जज्ब कर लेती थी कि जो पूंजियों को अधिक सामान्य गतिशीलता प्राप्त होने की स्थिति में उसके हिस्से में आता। इसलिए अपने दोनों ही पहलुओं में इस स्थिति का अंत पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विकास का परिणाम है।

वाणिज्य की विभिन्न शाखाओं में व्यापारी पूंजी के आवर्तों की दीर्घता अलग-अलग होती है और फलस्वरूप उनकी वार्षिक संख्या भी ज्यादा या कम होती है। एक ही शाखा के भीतर आवर्त आर्थिक चक्र के विभिन्न चरणों में अधिक या कम तेजी के साथ पूरा होता है। तिस पर भी आवर्तों की एक औसत संख्या होती है, जिसे अनुभव द्वारा निर्धारित किया जाता है।

हम देख ही चुके हैं कि व्यापारी पूंजी का आवर्त औद्योगिक पूंजी के आवर्त से भिन्न होता है। यह स्वाभाविक ही है। औद्योगिक पूंजी के आवर्त में एक अकेला चरण स्वतंत्र संरचनावाली व्यापारी पूंजी के, अथवा उसके हिस्से तक के भी संपूर्ण आवर्त की तरह सामने आता है। इसी प्रकार लाभ तथा दाम निर्धारण के संदर्भ में भी व्यापारी पूंजी का आवर्त भिन्न होता है।

औद्योगिक पूंजी के मामले में उसका आवर्त, एक ओर, पुनरुत्पादन की आवर्तिता को प्रकट करता है, और इसलिए एक विशेष कालावधि में बाजार में डाली गयी जिंसों की संहति उस पर निर्भर करती है। दूसरी ओर, उसका परिचलन काल एक सीमा – चाहे लचीली ही सही – उत्पन्न कर देता है और मूल्य तथा बेशी मूल्य के सृजन पर न्यूनाधिक रोक लगाता है, क्योंकि वह उत्पादन प्रक्रिया के परिमाण पर प्रभाव डालता है। इसलिए आवर्त प्रति वर्ष उत्पादित बेशी मूल्य की संहति पर, और इसलिए सामान्य लाभ दर की उत्पत्ति पर एक

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण: खंड १, पृष्ठ ५४६। – सं०

निर्णायक तत्व की तरह क्रिया करता है, किंतु वह सकारात्मक तत्व नहीं, वरन परिसीमक तत्व की तरह क्रिया करता है। इसके विपरीत, व्यापारी पूंजी के लिए औसत लाभ दर एक नियत परिमाण होती है। व्यापारी पूंजी लाभ अथवा बेशी मूल्य का सर्जन करने में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेती और सामान्य लाभ दर की रचना में सिर्फ़ इसी सीमा तक शामिल होती है कि वह औद्योगिक पूंजी द्वारा उत्पादित लाभ संहति से कुल पूंजी में अपने अंश के यथानुपात एक लाभांश प्राप्त करती है।

पुस्तक २, भाग २ में वर्णित अवस्थाओं के अंतर्गत औद्योगिक पूंजी के आवर्तों की संख्या जितनी ही अधिक होती है, उसके द्वारा सृजित लाभ संहति उतनी ही अधिक होती है। यह ठीक है कि सामान्य लाभ दर की उत्पत्ति के जरिये कुल लाभ विभिन्न पूंजियों में उसके उत्पादन में उनके वास्तविक भाग के यथानुपात नहीं, वरन कुल पूंजी के जिस संखंड का वे निर्माण करती हैं, उसके अनुपात में, अर्थात उनके परिमाण के अनुपात में विभाजित होता है। लेकिन इससे मामले के सारतत्व में कोई अंतर नहीं आता। कुल औद्योगिक पूंजी के आवर्तों की संख्या जितनी ही अधिक होती है, लाभों की संहति, प्रति वर्ष उत्पादित बेशी मूल्य की संहति, और इसलिए, अन्य परिस्थितियों के यथावत बने रहने पर, लाभ दर भी उतनी ही अधिक होती है। व्यापारी पूंजी के मामले में बात दूसरी होती है। उसके संदर्भ में लाभ दर, एक ओर, औद्योगिक पूंजी द्वारा उत्पादित लाभ संहति द्वारा, और दूसरी ओर, कुल व्यापारी पूंजी के आपेक्षिक परिमाण द्वारा, उत्पादन तथा परिचलन प्रक्रियाओं में पेशगी दी गयी पूंजी राशि के साथ उसके मात्रात्मक संबंध द्वारा निर्धारित एक नियत परिमाण होती है। निस्संदेह, उसके आवर्तों की संख्या कुल पूंजी के साथ उसके संबंध को, अथवा परिचलन के लिए अपेक्षित व्यापारी पूंजी के आपेक्षिक परिमाण को निर्णायक रूप में प्रभावित करती है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष है कि अपेक्षित व्यापारी पूंजी का निरपेक्ष परिमाण और उसके आवर्त वेग व्युत्क्रमानुपात में होते हैं। किंतु, अन्य सभी अवस्थाएं यथावत रहने पर, व्यापारी पूंजी का आपेक्षिक परिमाण, अथवा कुल पूंजी के जिस भाग का वह निर्माण करती है, वह उसके निरपेक्ष परिमाण द्वारा निर्धारित होता है। अगर कुल पूंजी १०,००० है और व्यापारी पूंजी इस राशि की १/१० है, तो वह = =१,००० होगी; अगर कुल पूंजी १,००० है, तो वह उसका १/१० = १०० होगी। व्यापारी पूंजी का निरपेक्ष परिमाण कुल पूंजी के परिमाण के अनुसार बदलता रहता है, यद्यपि उसका आपेक्षिक परिमाण उतना ही रहता है। लेकिन यहां हम मान लेते हैं कि उसका आपेक्षिक परिमाण, मसलन कुल पूंजी का १/१०, नियत है। लेकिन अपनी बारी में यह आपेक्षिक परिमाण भी आवर्त द्वारा निर्धारित होता है। तेजी से आवर्तित किये जाने पर, मिसाल के लिए, पहले प्रसंग में उसका निरपेक्ष परिमाण = १,००० पाउंड, दूसरे प्रसंग में = १००, और इसलिए उसका आपेक्षिक परिमाण १/१० है। धीमे आवर्त के साथ मान लीजिये कि पहले प्रसंग में उसका निरपेक्ष परिमाण = २,००० और दूसरे प्रसंग में = २०० है। तब उसका आपेक्षिक परिमाण कुल पूंजी के १/१० से बढ़कर १/५ हो जायेगा। व्यापारी पूंजी के औसत आवर्त को घटानेवाली परिस्थितियां, उदाहरण के लिए, परिवहन साधनों का विकास, व्यापारी पूंजी के निरपेक्ष परिमाण को pro tanto घटा देती हैं और इस प्रकार सामान्य लाभ दर को बढ़ा देती हैं। अगर इसके विपरीत होता है, तो उलटी बात लागू होती है। पूर्ववर्ती अवस्थाओं की तुलना में विकसित पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली व्यापारी पूंजी पर दुहरा प्रभाव डालती है। एक ओर तो मालों की उतनी ही मात्रा वस्तुतः कार्यरत व्यापारी पूंजी की अल्पतर संहति से आवर्तित होती है;

व्यापारी पूंजी के अधिक तीव्र आवर्त के कारण, और अधिक तीव्र पुनरुत्पादन प्रक्रिया के कारण, जिस पर यह निर्भर करता है, औद्योगिक पूंजी के साथ व्यापारी पूंजी का अनुपात घटता है। दूसरी ओर, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विकास के साथ सारा उत्पादन पण्य उत्पादन बन जाता है, जो सभी उत्पादों को परिचलन के अभिकर्ताओं के हाथों में रख देता है। इसमें यह जोड़ा जाना चाहिए कि पूर्ववर्ती उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत, जो छोटे पैमाने पर उत्पादन करती थी, उत्पादकों का बहुत बड़ा हिस्सा अपने माल उपभोक्ताओं को सीधे बेचता था, अथवा उनके निजी आदेशों पर काम करता था – सिवा उत्पादों की उस संहति के कि जिसे उत्पादक स्वयं प्रत्यक्षतः in natura [वस्तुरूपेण] उपभोग में लाते थे और in natura निष्पादित सेवाओं की संहति के। इसलिए जहां पूर्ववर्ती उत्पादन प्रणालियों में वाणिज्यिक पूंजी उस पण्य पूंजी की सापेक्षता में अधिक होती थी, जिसे वह आवर्तित करती थी, वहां वह:

१) निरपेक्ष रूप में न्यूनतर होती थी, क्योंकि कुल उत्पाद का बहुत ही छोटा हिस्सा जिंसों के रूप में उत्पादित किया जाता था और पण्य पूंजी के रूप में परिचलन में जाकर व्यापारियों के हाथों में पड़ता था। वह छोटी होती थी, क्योंकि पण्य पूंजी छोटी होती थी। लेकिन साथ ही वह सापेक्षतः बड़ी होती थी, न सिर्फ़ इसलिए कि उसका आवर्त धीमा होता था और न सिर्फ़ उसके द्वारा आवर्तित जिंस संहति की सापेक्षता में ही। वह इसलिए भी बड़ी होती थी कि इस जिंस संहति का दाम, और इसलिए उसके वास्ते दी जानेवाली व्यापारी पूंजी भी निम्न श्रम उत्पादिता के कारण उससे अधिक होते थे कि जितने पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उतना ही मूल्य न्यूनतर जिंस संहति में समाविष्ट होता था।

२) न सिर्फ़ यह कि पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर अधिक बड़ी जिंस संहति उत्पादित होती है (इस जिंस संहति के घटे हुए मूल्य को भी ध्यान में रखते हुए), बल्कि वह उत्पाद संहति, मसलन, अनाज की, अधिक बड़ी जिंस संहति का भी निर्माण करती है, अर्थात उसका अधिकाधिक भाग वाणिज्य का विषय बनता जाता है। परिणामस्वरूप न केवल व्यापारी पूंजी की संहति, बल्कि परिचलन में लगायी गयी सारी पूंजी, यथा जहाजरानी, रेलों, तार, आदि में, की भी वृद्धि होती है।

३) लेकिन, – और यह एक ऐसा पहलू है, जो "पूंजियों में प्रतिद्वंद्विता" के विवेचन में आता है, – निष्क्रिय अथवा केवल अर्ध-कार्यरत व्यापारी पूंजी, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की प्रगति के साथ – खुदरा व्यापार में प्रवेश करने की आसानी के साथ, सट्टेबाजी के साथ, और विमुक्त पूंजी के अतिरेक के साथ बढ़ती है।

लेकिन, कुल पूंजी के साथ व्यापारी पूंजी के आपेक्षिक परिमाण को नियत मानते हुए, वाणिज्य की विभिन्न शाखाओं में आवर्तों में अंतर न व्यापारी पूंजी के हिस्से में आनेवाले कुल लाभ के परिमाण को प्रभावित करता है और न ही सामान्य लाभ दर को। व्यापारी के लाभ को उसके द्वारा आवर्तित पण्य पूंजी की संहति नहीं, बल्कि इस आवर्त को प्रवर्तित करने के लिए उसके द्वारा दी गयी द्रव्य पूंजी का आकार निर्धारित करता है। अगर सामान्य वार्षिक लाभ दर १५% है और व्यापारी १०० पाउंड लगाता है, जिन्हें वह वर्ष में एक बार आवर्तित करता है, तो वह अपनी जिंसों को ११५ पाउंड में बेचेगा। अगर उसकी पूंजी वर्ष में पांच बार आवर्तित होती है, तो वह १०० में ख़रीदी पण्य पूंजी को साल में पांच बार १०३ की बेचेगा, अतः एक साल में ५०० की पण्य पूंजी को ५१५ की बेचेगा। यह उसकी १०० की पेशगी पूंजी पर १५ का वही वार्षिक लाभ देता है। अगर ऐसा न होता, तो व्यापारी

पूंजी अपने आवर्तों के यथानुपात औद्योगिक पूंजी की अपेक्षा कहीं ऊंचा लाभ प्रदान करती, जो सामान्य लाभ दर के नियम के साथ असंगत हुआ होता।

अतः, वाणिज्य की विभिन्न शाखाओं में व्यापारी पूंजी के आवर्तों की संख्या का मालों के व्यापारिक दामों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। व्यापारिक दाम में जुड़नेवाली रक़म, किसी नियत पूंजी के व्यापारिक लाभ का वह संखंड, जो किसी जिंस के उत्पादन दाम के हिस्से में पड़ता है, वाणिज्य की विभिन्न शाखाओं में व्यापारी पूंजियों के आवर्तों की संख्या, अथवा आवर्त वेग के व्युत्क्रमानुपात में होता है। अगर कोई व्यापारी पूंजी साल में पांच बार आवर्तित होती है, तो वह समान मूल्य की पण्य पूंजी में उसका मात्र १/५ ही जोड़ेगी, जितना कि कोई और व्यापारी पूंजी, जो साल में सिर्फ़ एक बार ही आवर्तित होती है, समान मूल्य की पण्य पूंजी में जोड़ती है।

वाणिज्य की विभिन्न शाखाओं में पूंजियों की औसत आवर्त अवधि द्वारा विक्रय दामों के आपरिवर्तित किये जाने का मतलब यह है कि व्यापारी पूंजी के किसी भी नियत परिमाण के लिए सामान्य वार्षिक लाभ दर द्वारा निर्धारित, अतः इस पूंजी की वाणिज्यिक क्रियाओं के विशिष्ट स्वरूप से निरपेक्षतः निर्धारित लाभों की वही संहति समान मूल्य की जिंस संहतियों पर आवर्त दर के यथानुपात भिन्नतः वितरित होती है, जिससे कि अगर, मिसाल के लिए, कोई व्यापारी पूंजी साल में पांच बार आवर्तित होती है, तो जिंसों के दाम में $\frac{१५\%}{५} = ३\%$, और अगर वह एक बार आवर्तित होती है, तो १५% जुड़ता है।

इसलिए वाणिज्य की भिन्न-भिन्न शाखाओं में लाभ का उतना ही प्रतिशत जिंसों के विक्रय दामों को उनके मूल्यों के सर्वथा भिन्न प्रतिशतों से बढ़ाता है और यह सब उनकी आवर्त अवधियों पर निर्भर करता है।

इसके विपरीत, औद्योगिक पूंजी के मामले में आवर्त अवधि उत्पादित की जानेवाली अलग-अलग जिंसों के मूल्य के परिमाण को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करती, यद्यपि वह एक नियत पूंजी द्वारा एक नियत समय के भीतर उत्पादित मूल्यों तथा बेशी मूल्यों की संहति को अवश्य प्रभावित करती है, क्योंकि वह शोषित श्रम संहति को प्रभावित करती है। बेशक, यह प्रच्छन्न होता है और ध्यान को उत्पादन दामों की तरफ़ मोड़ने के साथ यह अन्यथा प्रतीत होने लगता है। लेकिन इसका कारण सिर्फ़ यह तथ्य है कि विभिन्न जिंसों के उत्पादन दाम पहले विश्लेषित नियमों के अनुसार उनके मूल्यों से विचलन करते हैं। अगर उत्पादन प्रक्रिया पर समूचे तौर पर, और कुल औद्योगिक पूंजी द्वारा उत्पादित जिंसों की संहति पर विचार किया जाये, तो हम तुरंत सामान्य नियम को प्रमाणित होता हुआ ही पायेंगे।

इसलिए जहां औद्योगिक पूंजी द्वारा मूल्यों की रचना पर आवर्त काल के प्रभाव का अधिक सूक्ष्म अनुसंधान हमें सामान्य नियम की ओर तथा राजनीतिक अर्थशास्त्र की इस बुनियाद की तरफ़ वापस ले जाता है कि जिंसों के मूल्य उनमें समाविष्ट श्रम काल द्वारा निर्धारित होते हैं, वहां व्यापारिक दामों पर व्यापारी पूंजी के आवर्तों का प्रभाव ऐसी परिघटनाओं को प्रकट करता है कि जो संयोजक कड़ियों के बहुत ही दूरगामी विश्लेषण के अभाव में यही इंगित करती प्रतीत होती हैं कि दामों को शुद्धतः मनमाने ढंग से निर्धारित किया जाता है, अर्थात यह कि दाम सीधे-सीधे एक साल के दौरान लाभ की एक ख़ास राशि हस्तगत करने को तुली हुई पूंजी द्वारा तय किये जाते हैं। आवर्तों के विशेषकर इस प्रभाव के कारण ऐसा प्रतीत होता

है कि कुछेक सीमाओं के भीतर परिचलन प्रक्रिया अपने में पण्य दामों को उत्पादन प्रक्रिया से स्वतंत्र रूप में निर्धारित करती है। समूचे तौर पर पुनरुत्पादन प्रक्रिया की सभी सतही और भ्रांत धारणाएं व्यापारी पूंजी के उन अन्वीक्षणों से और उन धारणाओं से उत्पन्न होती हैं, जो उसकी विशेष गतियां परिचलन अभिकर्ताओं के दिमाग़ों में पैदा करती हैं।

अगर, जैसे कि पाठक ने अत्यंत निराशा के साथ देख भी लिया होगा, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के वास्तविक अंतर्भूत संबंधों का विश्लेषण एक बहुत ही जटिल और बहुत ही विस्तृत मामला है; अगर दृश्य, मात्र बाह्य गति को यथार्थ अंतर्भूत गति में परिणत करना विज्ञान का काम है, तो यह स्वतःस्पष्ट है कि पूंजीवादी अत्पादन और परिचलन के अभिकर्ताओं के दिमाग़ों में उत्पादन के नियमों के बारे में जो धारणाएं उत्पन्न होती हैं, वे इन वास्तविक नियमों से प्रचंड रूप में अपसरित होंगी और मात्र दृश्य गतियों की ही चेतन अभिव्यक्ति होती होंगी। व्यापारी, शेयर दलाल और बैंकर की अवधारणाएं अनिवार्यतः अत्यधिक विरूपित होती हैं। निर्माताओं की अवधारणाएं उनकी पूंजी परिचलन की जिन क्रियाओं के अधीन होती है, उनसे, और सामान्य लाभ दर के समकरण से संदूषित हो जाती हैं।[41] इसी प्रकार प्रतिद्वंद्विता भी उनके दिमाग़ों में पूर्णतः विकृत भूमिका ग्रहण करती है। अगर मूल्य तथा बेशी मूल्य की सीमाएं निर्धारित हों, तो यह समझना आसान है कि पूंजियों की प्रतिद्वंद्विता किस प्रकार मूल्यों को उत्पादन दामों में और फिर तिजारती या व्यापारिक दामों में, और बेशी मूल्य को औसत लाभ में परिवर्तित कर देती है। लेकिन इन सीमाओं के बिना यह पूरी तरह से अबोधगम्य रहता है कि क्यों प्रतिद्वंद्विता सामान्य लाभ दर को एक स्तर के बजाय दूसरे पर ले आती है, उदाहरण के लिए, उसे १,५००% के बजाय १५% बना देती है। प्रतिद्वंद्विता हद से हद सामान्य लाभ दर को **एक** स्तर पर ही ला सकती है। लेकिन उसमें ऐसा कोई तत्व नहीं होता कि जिससे वह स्वयं इस स्तर को निर्धारित कर सके।

इसलिए व्यापारी पूंजी के दष्टिकोण से यह प्रतीत होता है कि दामों को आवर्त ही निर्धारित करता है। इसके विपरीत, जहां औद्योगिक पूंजी की आवर्त दर, जिस सीमा तक वह किसी पूंजी के लिए अधिक या कम श्रम का शोषण करना संभव बनाती है, लाभ संहति पर, और इस प्रकार सामान्य लाभ दर पर एक निर्णायक और परिसीमक प्रभाव डालती है, वहां यह लाभ दर व्यापारी पूंजी के लिए एक बाह्य तथ्य जैसी होती है, क्योंकि बेशी मूल्य के उत्पादन के साथ उसका आंतरिक संबंध पूर्णतः लुप्त हो जाता है। अगर, अन्यथा समान परिस्थितियों और विशेषकर उसी आंगिक संरचना के अंतर्गत, वही औद्योगिक पूंजी साल में दो बार के बजाय चार बार आवर्तित की जाती है, तो वह दुगना बेशी मूल्य, और फलतः लाभ उत्पन्न करती है। और यह वैसे ही प्रत्यक्ष हो जाता है कि जैसे ही और जब तक के लिए इस पूंजी का सुधरी हुई उत्पादन पद्धति पर एकाधिकार होता है, जो इस त्वरित आवर्त को संभव बना देता है। विलोमतः, वाणिज्य की भिन्न-भिन्न शाखाओं में आवर्त कालों में अंतर अपने आपको इस

---

[41] यह एक बहुत ही भोली-भाली, किंतु साथ ही बहुत सही भी उक्ति है: "निस्संदेह यह तथ्य कि वही माल भिन्न विक्रेताओं से काफ़ी भिन्न-भिन्न दामों पर प्राप्त किया जा सकता है, प्रायः हिसाब की ग़लतियों के कारण होता है।" (Feller und Odermann, *Das Ganze der kaufmännischen Arithmetik*, 7. Auflage, 1859, S. 451.) यह इसे दर्शाता है कि दामों का निर्धारण कितना शुद्धतः सैद्धांतिक, अर्थात अमूर्त बन जाता है।

तथ्य में मूर्त करते हैं कि एक नियत पण्य पूंजी के आवर्त पर बनाया गया लाभ द्रव्य पूंजी इस पण्य पूंजी को जितनी बार आवर्तित करती है, उसके व्युत्क्रमानुपात में होता है। दूकानदार को छोटे लाभ और शीघ्र प्रतिलाभ ही ऐसे सिद्धांत जैसे प्रतीत होते हैं कि जिनका वह शुद्ध सिद्धांतवशात पालन करता है।

जहां तक और बातों का संबंध है, यह स्वतःस्पष्ट है कि व्यापारी पूंजी के आवर्त का यह नियम प्रत्यावर्ती, परस्पर प्रतिकारी और द्रुत अथवा मंथर आवर्तों से निरपेक्ष रूप से वाणिज्य की प्रत्येक शाखा में केवल प्रत्येक शाखा विशेष में निवेशित समस्त व्यापारी पूंजी द्वारा किये जानेवाले आवर्तों के लिए ही लागू होता है। हो सकता है कि क की पूंजी, जो उसी शाखा में कारबार करता है कि जिसमें ख आवर्तों की औसत संख्या से अधिक या कम आवर्त करे। इस मामले में अन्य पूंजियां तदनुरूप कम या अधिक आवर्त करेंगी। इससे इस शाखा में निवेशित व्यापारी पूंजी की कुल संहति के आवर्त में कोई अंतर नहीं आता। लेकिन व्यष्टि व्यापारी या दूकानदार के लिए इसका निर्णायक महत्व होता है। इस मामले में वह अतिरिक्त लाभ बनाता है, ठीक जैसे औद्योगिक पूंजीपति अगर औसत से बेहतर अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादन करें, तो वे अतिरिक्त लाभ बनाते हैं। अगर प्रतिद्वंद्विता उसे विवश करती है, तो वह अपने लाभ को औसत से नीचा किये बिना अपने प्रतिद्वंद्वियों से सस्ता बेच सकता है। अगर वे अवस्थाएं, जो उसे अपनी पूंजी को अधिक शीघ्रतापूर्वक आवर्तित करने में समर्थ बना सकती हैं, स्वयं बिकाऊ हों, जैसे दूकान की अनुकूल स्थिति, तो वह उसके लिए अतिरिक्त किराया दे सकता है, अर्थात अपने बेशी लाभ के एक अंश को किराया ज़मीन में परिवर्तित कर सकता है।

अध्याय १९

द्रव्य-व्यापार पूंजी

द्रव्य द्वारा औद्योगिक पूंजी की, और, जैसे कि हम अब जोड़ सकते हैं, वाणिज्यिक पूंजी की (क्योंकि वह औद्योगिक पूंजी की परिचलन गति के एक भाग को स्वयं अपनी, विशिष्ट गति के रूप में ग्रहण कर लेती है) परिचलन प्रक्रिया में निष्पादित की जानेवाली शुद्धतः प्राविधिक गतियां किसी विशेष पूंजी के कार्यों का, जो इन और केवल मात्र इन्हीं क्रियाओं को अपनी विशिष्ट गतियों की तरह निष्पादित करती है, विशिष्टीकृत रूप लेकर इस पूंजी को द्रव्य-व्यापार पूंजी में परिवर्तित कर देती हैं। औद्योगिक पूंजी का, और – अधिक सटीकतापूर्वक कहें, तो – वाणिज्यिक पूंजी का भी एक अंश सदैव न केवल सामान्यरूपेण द्रव्य पूंजी की हैसियत से द्रव्य के रूप में, बल्कि ठीक इन्हीं प्राविधिक कार्यों में निरत द्रव्य पूंजी के रूप में रहता है। कुल पूंजी का एक निश्चित भाग अपने को शेष पूंजी से वियोजित कर लेता है और द्रव्य पूंजी के रूप में अलग बना रहता है, जिसका पूंजीवादी कार्य अनन्यतः इन क्रियाओं को औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूंजीपतियों के संपूर्ण वर्ग के लिए निष्पन्न करना ही होता है। जिस प्रकार वाणिज्यिक पूंजी के मामले में होता है, उसी प्रकार औद्योगिक पूंजी का द्रव्य पूंजी के रूप में परिचलन प्रक्रिया में लगा एक अंश शेष पूंजी से अलग हो जाता है और पुनरुत्पादन प्रक्रिया की इन क्रियाओं को अन्य सभी पूंजियों के लिए निष्पादित करता है। अतः अपनी बारी में इस द्रव्य पूंजी की गतियां केवल पुनरुत्पादन प्रक्रिया में निरत औद्योगिक पूंजी के विशिष्टीकृत भाग की गतियां ही होती हैं।

पूंजी जब पहली बार निवेशित की जाती है – और यह बात संचय के लिए भी सही है – सिर्फ़ उसी स्थिति में और वहीं तक द्रव्य रूप में पूंजी गति के प्रारंभ बिंदु और अंतिम परिणाम की तरह सामने आती है। लेकिन प्रक्रिया में पहले से निरत सभी अन्य पूंजियों के मामले में ये प्रारंभिक तथा अंतिम बिंदु मात्र संक्रमण बिंदुओं की तरह आते हैं। जैसे कि साधारण पण्य परिचलन के मामले में पहले ही देखा जा चुका है, चूंकि उत्पादन क्षेत्र को छोड़ने के क्षण से लेकर अपने पुनःप्रवेश के क्षण तक औद्योगिक पूंजी $C'—M—C$ रूपांतरण से गुज़रती है, इसलिए M वास्तव में सिर्फ़ इसलिए रूपांतरण के एक चरण के अंतिम परिणाम को ही प्रकट करता है कि उलटे चरण का प्रारंभ बिंदु बन सके, जो उसकी अनुपूर्ति करता है। और यद्यपि औद्योगिक पूंजी का $C—M$ व्यापारी पूंजी के लिए सदैव $M—C—M$ होता है, एक बार कार्य करना शुरू कर देने के बाद उसके लिए भी वास्तविक प्रक्रिया निरंतर $C—M—C$ ही होती है। लेकिन वह $C—M$ और $M—C$ क्रियाओं को एकसाथ निष्पन्न करती है। कहने का मतलब यह कि ऐसा नहीं कि $C—M$ अवस्था में सिर्फ़ एक पूंजी होती है, जबकि $M—C$ अवस्था में दूसरी पूंजी

होती है, बल्कि वही पूंजी उत्पादन प्रक्रिया की निरंतरता के कारण एक ही समय निरंतर ख़रीदती और निरंतर बेचती है। वह दोनों ही अवस्थाओं में सदा एक ही समय विद्यमान रहती है। जहां उसका एक भाग द्रव्य में परिवर्तित हो जाता है, जिससे कि बाद में जिंसों में पुनःपरिवर्तित किया जा सके, वहां दूसरा भाग जिंसों में परिवर्तित हो जाता है, ताकि बाद में फिर द्रव्य में परिवर्तित किया जा सके।

द्रव्य यहां परिचलन साधन का काम करता है या भुगतान साधन का, यह सब पण्य विनिमय के रूप पर ही निर्भर करता है। दोनों ही मामलों में पूंजीपति को कई लोगों को लगातार द्रव्य की अदायगी करनी होती है और लगातार कई लोगों से द्रव्य प्राप्त करना होता है। द्रव्य का संवितरण तथा प्राप्त करने की यह शुद्धतः प्राविधिक क्रिया अपने आप में श्रम है, जो, जब तक द्रव्य भुगतान साधन के रूप में काम करता है, भुगतान विवरणियां तैयार करने और लेखा संतुलन की क्रियाओं को आवश्यक बना देता है। यह श्रम एक परिचलन लागत है, अर्थात मूल्य का सृजन करनेवाला श्रम नहीं है। वह इस कारण कम हो जाता है कि उसे शेष पूंजीपति वर्ग के लिए विशेष अभिकर्ता अथवा पूंजीपति पूरा करते हैं।

पूंजी के एक निश्चित अंश को सदा अपसंचय के रूप में, संभाव्य द्रव्य पूंजी के रूप में – क्रय साधनों के रिज़र्व या आरक्षित निधि, भुगतान साधनों के रिज़र्व, और काम में लगाये जाने की प्रतीक्षा में द्रव्य की शक्ल में – हाथ में रहना होता है। एक और अंश इस रूप में निरंतर वापस प्रवाहित होता रहता है। द्रव्य की प्राप्ति, अदायगी और हिसाब-किताब के अलावा इसमें अपसंचय का सुरक्षण भी सन्निहित है, जो अपने आप में एक पूरी क्रिया है। परिणामस्वरूप, व्यवहार में अपसंचय को निरंतर परिचलन साधनों और भुगतान साधनों में परिवर्तित करते रहना और बिक्रियों तथा प्राप्य रक़मों से प्राप्त द्रव्य द्वारा बहाल करते रहना होता है। पूंजी के स्वयं पूंजी के कार्य से वियोजित द्रव्य के रूप में अस्तित्वमान भाग की इस निरंतर गति, इस शुद्धतः प्राविधिक कार्य के कारण स्वयं उसके श्रम और व्यय को परिचलन लागत के रूप में वर्गीकृत किया जाता है।

श्रम विभाजन यह करता है कि पूंजी के कार्यों पर निर्भर ये प्राविधिक क्रियाएं जहां तक संभव हो, समस्त पूंजीपति वर्ग के लिए अपने अनन्य व्यवसाय के रूप में अभिकर्ताओं अथवा पूंजीपतियों के एक विशेष अंशक द्वारा निष्पादित की जायें – अथवा यह कि ये क्रियाएं उनके हाथों में संकेंद्रित हो जायें। जैसे व्यापारी पूंजी के मामले में होता है, वैसे ही यह दुहरे अर्थ में श्रम विभाजन है। वह एक विशिष्ट व्यवसाय बन जाता है और संपूर्ण वर्ग की द्रव्य क्रिया-विधि के लिए एक विशिष्ट व्यवसाय की तरह किये जाने के कारण वह संकेंद्रित हो जाता है और बड़े पैमाने पर किया जाता है। उसके भीतर विभिन्न स्वतंत्र शाखाओं में विभाजन के ज़रिये और इन शाखाओं के भीतर काम के खंडीकरण (विशाल कार्यालयों, अनेक मुनीमों और ख़ज़ांचियों तथा श्रम के दूरगामी विभाजन) के भी ज़रिये और श्रम विभाजन होता है। द्रव्य की प्राप्ति और अदायगी, लेन-देन का निपटारा, चालू हिसाब रखना, द्रव्य का संग्रहण, आदि – ये सब इन सभी प्राविधिक क्रियाओं को आवश्यक बनानेवाले कामों से वियुक्त होकर इन कार्यों के लिए पेशगी दी जानेवाली पूंजी को द्रव्य-व्यापार पूंजी बना देते हैं।

जिन विभिन्न क्रियाओं का विशिष्ट व्यवसायों में विशिष्टीकरण द्रव्य व्यापार को जन्म देता है, वे स्वयं द्रव्य के भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से और उन कार्यों से उत्पन्न होती हैं, जिन्हें पूंजी को इसी प्रकार अपने द्रव्य रूप में करना होता है।

मैं यह पहले ही दिखला चुका हूं कि वित्त मूलतः भिन्न समुदायों के बीच उत्पादों के विनिमय से विकसित हुआ था।[42]

अतः द्रव्य व्यापार, द्रव्यरूप जिंसों का कारबार सबसे पहले अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य में उत्पन्न हुआ। भिन्न-भिन्न राष्ट्रीय सिक्कों के अस्तित्व में आने के बाद से ही विदेशों में ख़रीदारी करनेवाले व्यापारी अपने राष्ट्रीय सिक्कों का स्थानीय, और स्थानीय सिक्कों का अपने सिक्कों से विनिमय, अथवा भिन्न-भिन्न सिक्कों का अनढले शुद्ध सोने या चांदी – विश्व द्रव्य – से विनिमय करते आये हैं। अतः विनिमय व्यवसाय को आधुनिक वित्त का एक नैसर्गिक मूलाधार माना जाना चाहिए।[43] इसी से विनिमय बैंकों का उदय हुआ, जिनमें करेंसी (मुद्रा) से भिन्न रजत (अथवा स्वर्ण) विश्व द्रव्य का काम करता है, जिसे अब बैंक द्रव्य अथवा वाणिज्यिक द्रव्य कहा जाता है। जहां तक यात्रियों को एक देश में द्रव्य की अदला-बदली करनेवाले सर्राफ़ द्वारा दूसरे देश के सर्राफ़ के नाम दिये गये भुगतान पत्रों या हुंडियों के रूप में ही विनिमय व्यवसाय की बात है, वह तो द्रव्य की वास्तविक अदला-बदली से रोम और यूनान में ही उत्पन्न हो चुका था।

सोने और चांदी का जिंसों (विलास वस्तुएं बनाने के लिए कच्चे मालों) के रूप में व्यापार बहुमूल्य धातु व्यापार (बुलियन ट्रेड) अथवा उस व्यापार का स्वाभाविक आधार है,

---

[42] *Zur Kritik der politischen Oekonomie*, S. 27.

[43] "सिक्कों के भार तथा शुद्धता में और मुद्रा ढालने का विशेषाधिकार रखनेवाले बहुत से राजाओं तथा नगरों के सिक्कों के भारी अंतरों ने व्यापारियों द्वारा वहां स्थानीय मुद्रा का उपयोग कर सकने के लिए व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का निर्माण आवश्यक बना दिया, जहां भिन्न-भिन्न सिक्कों की प्रतिपूर्ति करनी होती थी। विदेशी मंडियों को जानेवाले व्यापारी नक़द अदायगियां कर सकने के लिए साथ में अनढली शुद्ध चांदी या सोना रखते थे। इसी तरह स्वदेश लौटते समय वे स्थानीय मंडी से प्राप्त द्रव्य को अनढली चांदी या सोने से बदल लेते थे। द्रव्य का विनिमय करने का व्यवसाय, अनढली बहुमूल्य धातुओं का स्थानीय सिक्कों से विनिमय और उनका धातु से विनिमय एक व्यापक और लाभदायी व्यवसाय बन गया।" (Hüllmann, *Städtewesen des Mittelalters*, Bonn, 1826-29, I, S. 437-38.) "विनिमय बैंकों ने अपना नाम इस कारण नहीं पाया है कि वे विनिमय पत्र (हुंडियां) जारी करते हैं, बल्कि इस कारण कि वे सिक्कों का विनिमय करते थे। १६०९ में एम्सटर्डम विनिमय बैंक की स्थापना के बहुत पहले डच व्यापारिक नगरों में सर्राफ़ और सर्राफ़े की कोठियां और विनिमय बैंक तक भी हुआ करते थे।... इन सर्राफ़ों का काम विदेशी व्यापारियों द्वारा देश में लाये नाना प्रकार के सिक्कों का राज्य में प्रचलित मुद्रा से विनिमय करना था। धीरे-धीरे उनकी गतिविधियों का क्षेत्र फैलता गया।... वे अपने समय के बैंकर और रोकड़िया बन गये। लेकिन एम्सटर्डम की सरकार रोकड़ और विनिमय व्यवसायों के संयोग को ख़तरनाक समझती थी और इस ख़तरे का सामना करने के लिए रोकड़ तथा विनिमय – दोनों – क्रियाएं करने में समर्थ एक बड़ी अधिपत्रित संस्था की स्थापना करने का निश्चय किया गया। यह संस्था थी १६०९ में स्थापित प्रसिद्ध एम्सटर्डम विनिमय बैंक। इसी प्रकार वेनिस, जेनोवा, स्टाकहोम और हैमबर्ग के विनिमय बैंकों को भी द्रव्य की अदला-बदली करने की निरंतर आवश्यकता ही अस्तित्व में लायी थी। इन सब में अकेला हैमबर्ग विनिमय बैंक ही अब भी कारबार कर रहा है, क्योंकि इस व्यापारिक नगर में, जिसमें कोई टकसाल, आदि नहीं है, इस तरह की संस्था की आवश्यकता अब भी अनुभव की जाती है।" (S. Vissering, *Handboek van Praktische Staathuishoudkunde*, Amsterdam, 1860-61, I, 247-48.)

जो द्रव्य के सार्विक द्रव्य के रूप में कार्यों के लिए माध्यम का काम करता है। जैसे कि पहले बतलाया जा चुका है (Buch I, Kap. III, 3, c),* ये कार्य दोहरे हैं – अंतर्राष्ट्रीय भुगतान संतुलित करने के लिए और ब्याज की खोज में पूंजी के देशांतरणों के संदर्भ में परिचलन के विभिन्न राष्ट्रीय क्षेत्रों के बीच इधर-उधर मुद्रा संचलन ; और साथ ही साथ, बहुमूल्य धातुओं का विश्व मंडी के ज़रिये अपने उत्पादन स्रोतों से प्रवाह और उनका विभिन्न राष्ट्रीय परिचलन क्षेत्रों के बीच वितरण। इंगलैंड में सत्रहवीं शताब्दी के अधिकांश तक में सुनार ही बैंकरों का काम किया करते थे। हुंडियों की आढ़त, आदि में अंतर्राष्ट्रीय लेखा संतुलन आगे किस प्रकार और विकसित हुआ, इसे, और इसी प्रकार मूल्यवान रुक़्क़ों के लेन-देन से संबद्ध सभी बातों को हम अपने विवेचन के बिल्कुल बाहर रखेंगे ; संक्षेप में, हम उधार पद्धति के उन सभी विशेष रूपों को अपने विचार के बाहर रहने देंगे, जिनसे अभी हमारा यहां कोई सरोकार नहीं है।

राष्ट्रीय द्रव्य सार्विक द्रव्य के रूप में अपना स्थानिक चरित्र गंवा देता है, एक राष्ट्रीय मुद्रा को दूसरी करेंसी में व्यक्त कर दिया जाता है और इस प्रकार अंत में उन सभी को अपने स्वर्ण अथवा रजत अंश में परिणत कर दिया जाता है, जबकि विश्व द्रव्य के नाते परिचलन करनेवाली दो जिंसों के नाते सोने और चांदी को साथ ही उनके परस्पर मूल्यानुपात में परिणत कर दिया जाता है, जो निरंतर बदलता रहता है। द्रव्य व्यापारी इस अंतर्वर्ती क्रिया को ही अपना विशेष व्यवसाय बनाता है। इस प्रकार, द्रव्य विनिमय और बहुमूल्य धातु व्यापार ही द्रव्य व्यापार के मूल रूप हैं और द्रव्य के दोहरे – राष्ट्रीय द्रव्य और विश्व द्रव्य के रूप में – कार्यों से उत्पन्न होते हैं।

सामान्यरूपेण – प्राक्-पूंजीवादी पद्धतियों तक के अंतर्गत – वाणिज्य की ही भांति पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का अर्थ है :

प्रथमतः, द्रव्य का अपसंचय के रूप में, अर्थात यहां पूंजी के उस भाग के रूप में संचयन, जिसे भुगतान साधनों और क्रय की आरक्षित निधि के नाते द्रव्य के रूप में सदा हाथ में होना चाहिए। यह अपसंचय का पहला रूप है, जो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत पुनः प्रकट होता है और जो सामान्यतः व्यापारी पूंजी के विकास के साथ प्रकट होता है – कम से कम इस पूंजी के प्रयोजनों के लिए। ये दोनों बातें राष्ट्रीय परिचलन तथा अंतर्राष्ट्रीय परिचलन के बारे में भी सही हैं। अपसंचय निरंतर प्रवहमान स्थिति में रहता है – वह अविराम परिचलन में प्रवाहित होता और उससे अविराम वापस आता रहता है। अपसंचय का दूसरा रूप नवसंचित और अभी तक अनिवेशित द्रव्य पूंजी सहित द्रव्य के रूप में निष्क्रिय, अस्थायी तौर पर अनियोजित पूंजी का होता है। अपसंचय के इस निर्माण से संबद्ध कार्य मुख्यतः द्रव्य का संरक्षण, लेखा-करण, आदि हैं।

दूसरे, इसमें ख़रीदारियों के लिए द्रव्य का परिव्यय, बिक्रियों से प्राप्य द्रव्य की वसूली, भुगतान करना और पाना, भुगतान संतुलन, आदि सन्निहित हैं। द्रव्य व्यापारी इन सभी कार्यों को पहले व्यापारियों और औद्योगिक पूंजीपतियों के मात्र **रोकड़िया** के नाते करता है।[44]

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण : खंड १, अध्याय ३, ३, ग। – सं०

[44] "रोकड़िया की संस्था ने संभवतः और कहीं अपने मूल स्वतंत्र चरित्र की इतनी शुद्धता को नहीं बनाये रखा है कि जितना डच व्यापारिक नगरों में" (देखिये E. Lusac, *Holland's Rykdom*, Part III में एम्सटर्डम में रोकड़िया व्यवसाय की उत्पत्ति के बारे में)। "उसके कार्य आंशिक

अपने सामान्य कार्यों में लेन-देन और उधार के और जुड़ जाने के साथ द्रव्य व्यापार अपनी प्रारंभिक अवस्थाओं में भी पूर्णतः विकसित हो जाता है। इसकी अगले भाग में अधिक विस्तार के साथ चर्चा की जायेगी, जिसमें ब्याजी पूंजी का विवेचन किया गया है।

स्वयं बुलियन (बहुमूल्य धातु या कलधौत) व्यापार, एक देश से दूसरे को सोने या चांदी का स्थानांतरण जिंस व्यापार का परिणाम मात्र है। उसका निर्धारण विनिमय दर द्वारा होता है, जो विभिन्न मंडियों में अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों की स्थिति को और ब्याज दरों को व्यक्त करती है। अपने में बुलियन व्यापारी मात्र परिणामों के वाहक का ही काम करता है।

द्रव्य के और साधारण पण्य परिचलन से उसकी गतियों तथा रूपों के विकसित होने के ढंग के विवेचन में हमने देखा था (Buch I, Kap. III)* कि क्रय तथा भुगतान साधनों के रूप में परिचालित द्रव्य की संहति की गतियां जिंसों के रूपांतरण पर, इस रूपांतरण के परिमाण और वेग पर निर्भर करती हैं, जो – जैसे कि हम अब जानते हैं – समस्त पुनरुत्पादन प्रक्रिया में एक चरण मात्र हैं। जहां तक द्रव्य सामग्रियों – सोने और चांदी – को उनके उत्पादन स्रोतों से प्राप्त करने का सवाल है, वह एक प्रत्यक्ष जिंस विनिमय में, जिंस रूप में सोने और चांदी के अन्य जिंसों से विनिमय में परिणत हो जाता है। अतः अपने आप में यह उसी प्रकार जिंस विनिमय का एक चरण है कि जिस प्रकार लोहे या अन्य धातुओं को हासिल करना होता है। लेकिन जहां तक बहुमूल्य धातुओं की विश्व मंडी में गति की बात है (हम यहां ऋणों द्वारा

रूप में पुराने एम्सटर्डम विनिमय बैंक के कार्यों के साथ मेल खाते हैं। रोकड़िया व्यापारियों से, जो उसकी सेवाओं का उपयोग करते हैं, कोई द्रव्य राशि प्राप्त करता है, जिसके लिए वह उनके नाम अपनी बहियों में एक 'जमा-खाता' खोल देता है। बाद में वे उसके पास अपने दावे भेजते हैं, जिन्हें वह उनकी तरफ़ से वसूल करता है और उनके खाते में जमा कर देता है। साथ ही वह उनकी हुंडियों (kassiers briefes) की अदायगी भी करता है और इन राशियों को उनके खाते में डाल देता है। वह इन प्राप्तियों और अदायगियों के लिए थोड़ा सा शुल्क लेता है, जो उसे उभय पक्षों के बीच संपन्न आवर्त के अनुरूप अपने श्रम का पारिश्रमिक प्रदान कर देता है... अगर भुगतान का दो ऐसे व्यापारियों के बीच निपटारा किया जाना है, जिनका उसी रोकड़िये से संबंध है, तो अदायगियों का सीधे-सादे बहियों में आपसी इंदराजों से ही निपटारा हो जाता है, क्योंकि रोकड़िये उनके आपसी दावे दिन प्रति दिन संतुलित कर देते हैं। इस प्रकार, रोकड़िये का वास्तविक व्यवसाय मूलतः भुगतानों में यह मध्यस्थता करना ही है। इसलिए इसमें औद्योगिक उद्यमों, सट्टे और असीमित उधार की कोई गुंजाइश नहीं होती, क्योंकि इस व्यवसाय में नियम यही रहेगा कि रोकड़िया उसके पास खाता रखनेवाले किसी भी पक्ष की जमा से अधिक का भुगतान नहीं करेगा।" (Vissering, *loc. cit.*, p. 134.) वेनिस के बैंकिंग संघों के बारे में: "वेनिस की आवश्यकताओं और अवस्थिति ने, जहां बुलियन लाना-ले जाना अन्य स्थानों की अपेक्षा कम सुविधाजनक था, उस नगर के बड़े व्यापारियों को उपयुक्त पूर्वोपायों, अधीक्षण तथा प्रबंध के अंतर्गत बैंकिंग संघ स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। ऐसे संघों के सदस्य कुछ राशि जमा करते थे, जिसके आधार पर वे अपने लेनदारों के नाम हुंडियां देते थे, जिससे दी गयी राशि देनदार के खाते से बही में उस कार्य के लिए नियुक्त पन्ने से निकाल दी जाती थी और उसी बही में लेनदार के खाते में जोड़ दी जाती थी। यही तथाकथित जिरो बैंकों के प्रारंभ का द्योतक है। ये संघ वास्तव में पुराने हैं। लेकिन अगर उन्हें १२वीं सदी का बताया जाता है, तो उन्हें ११७१ में स्थापित राजकीय ऋण संस्थान के साथ उलझाया जाता है।" (Hüllmann, *loc. cit.*, pp. 453-54.)

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण: खंड १, अध्याय ३। – सं०

पूंजी के अंतरण को व्यक्त करनेवाली गतियों को अलग छोड़ देते हैं, जो पण्य पूंजी की शक्ल में भी होता है), तो वह बिलकुल उसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय पण्य विनिमय द्वारा निर्धारित होती है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय क्रय तथा भुगतान साधन के रूप में द्रव्य की गति घरेलू बाज़ार में जिंस विनिमय द्वारा निर्धारित होती है। बहुमूल्य धातुओं का एक राष्ट्रीय परिचलन क्षेत्र से दूसरे में अंतर्वाह तथा बहिर्वाह, जहां तक कि यह मात्र राष्ट्रीय मुद्रा के मूल्यह्रास के कारण अथवा दोहरे मान के कारण होता है, अपने में द्रव्य परिचलन के लिए परकीय हैं और केवल राजकीय आज्ञप्तियों द्वारा मनमाने तरीक़े से लाये गये विचलनों के निवारण को ही प्रकट करते हैं। अंततः, जहां तक उन अपसंचयों के निर्माण का संबंध है, जो क्रय तथा भुगतान साधनों की आरक्षित निधि होते हैं, फिर चाहे वह आंतरिक व्यापार के लिए हो या विदेशी व्यापार के लिए, और जो इसी प्रकार पूंजी के केवल अस्थायी तौर पर निष्क्रिय रूप को ही प्रकट करते हैं, वे दोनों ही मामलों में परिचलन प्रक्रिया के अनिवार्य अवक्षेप होते हैं।

अगर समस्त द्रव्य परिचलन परिमाण, रूप तथा गति में विशुद्धतः पण्य परिचलन का एक परिणाम है, जो, अपनी बारी में, पूंजीवादी दृष्टिकोण से पूंजी की एकमात्र परिचलन प्रक्रिया है (जिसमें पूंजी का आय से और जहां तक आय का परिव्यय खुदरा व्यापार के ज़रिये संपन्न होता है, आय का आय से विनिमय भी सम्मिलित है), यह स्वतःस्पष्ट है कि द्रव्य-व्यापार केवल द्रव्य परिचलन को ही नहीं प्रवर्तित करता, जो पण्य परिचलन का एक परिणाम और परिघटना मात्र है। द्रव्य-व्यापार में स्वयं इस द्रव्य परिचलन को, जो जिंस परिचलन में एक चरण है, मानकर चला जाता है। द्रव्य-व्यापार केवल द्रव्य परिचलन की प्राविधिक क्रियाओं को ही प्रवर्तित करता है, जिसे वह संकेंद्रित, संक्षिप्त और सरल करता है। द्रव्य-व्यापार अपसंचयों का निर्माण नहीं करता। वह उन प्राविधिक साधनों को उपलब्ध कराता है, जिनके द्वारा अपसंचयों के निर्माण को – जहां तक कि वह स्वैच्छिक होता है (अतः अनियोजित पूंजी की अथवा पुनरुत्पादन प्रक्रिया में विघ्नों की अभिव्यक्ति नहीं होता) – अपनी निम्नतम आर्थिक सीमा पर लाया जा सकता है, क्योंकि – समूचे तौर पर पूंजीपति वर्ग की तरफ़ से संचालित किये जाने पर – क्रय तथा भुगतान साधनों की आरक्षित निधि का उतना बड़ा होना आवश्यक नहीं है कि जितना प्रत्येक पूंजीपति द्वारा अपनी निधि का संचालन करने पर आवश्यक होता। द्रव्य व्यापारी बहुमूल्य धातुएं नहीं ख़रीदते। वे केवल जिंस व्यापार द्वारा उनके ख़रीदे जाने के साथ उनके वितरण को ही संभालते हैं। जहां तक द्रव्य भुगतान साधन का काम करता है, वे भुगतान शेष के निपटारे को सुगम बनाते हैं और इन निपटारों की कृत्रिम क्रियाविधि के ज़रिये इस कार्य के लिए आवश्यक द्रव्य की मात्रा को घटाते हैं। लेकिन वे पारस्परिक भुगतानों के न संबंधों को निर्धारित करते हैं और न परिमाण को। मसलन, बैंकों और समाशोधन गृहों में जिन चैकों और हुंडियों का एक दूसरे से विनिमय किया जाता है, वे सर्वथा पृथक लेन-देनों को प्रकट करते हैं और नियत क्रियाओं के परिणाम होते हैं और यह महज़ इन परिणामों के बेहतर प्राविधिक निपटारे की ही बात होती है। जहां तक द्रव्य एक क्रय साधन के रूप में परिचालित होता है, क्रय-विक्रय के परिमाण और संख्या का द्रव्य-व्यापार से किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं होता। द्रव्य-व्यापार हद से हद क्रय-विक्रय के साथ चलनेवाली प्राविधिक क्रियाओं को ही छोटा कर सकता है और इस प्रकार जिंसों के आवर्तन के लिए आवश्यक नक़द द्रव्य राशि को घटा सकता है।

इस प्रकार, हम यहां द्रव्य-व्यापार का अपने जिस शुद्ध रूप में, अर्थात उधार पद्धति से

पृथक्कृत रूप में, विवेचन कर रहे हैं, उसका बस पण्य परिचलन के एक विशेष चरण, अर्थात द्रव्य परिचलन और अपने परिचलन में उत्पन्न द्रव्य के कार्यों की प्रविधि से ही सरोकार है।

यह द्रव्य के कारबार को जिंसों के कारबार से काफ़ी अलग कर देता है, जो जिंसों के रूपांतरण और उनके विनिमय का प्रवर्तन करता है, अथवा पण्य पूंजी की इस प्रक्रिया को औद्योगिक पूंजी से पृथक्कृत पूंजी की प्रक्रिया तक का आभास प्रदान कर देता है। इसलिए $C-M-C$ के विपरीत, जिसमें द्रव्य दो बार अंतरित होता है और इस प्रकार पण्य विनिमय का प्रवर्तन करता है, जहां वाणिज्यिक पूंजी का अपना परिचलन रूप $M-C-M$ होता है, जिसमें जिंस दो बार अंतरित होती है और इस प्रकार द्रव्य का पश्चप्रवाह संभव बनाती है, वहां द्रव्य-व्यापार पूंजी के मामले में ऐसा कोई विशेष रूप नहीं होता।

जहां तक द्रव्य परिचलन के इस प्राविधिक प्रवर्तन में द्रव्य पूंजी पूंजीपतियों के एक अलग वर्ग द्वारा पेशगी दी जाती है – वह पूंजी, जो न्यूनित पैमाने पर उस अतिरिक्त पूंजी को प्रकट करती है, जिसे अन्यथा स्वयं व्यापारियों तथा पूंजीपतियों को इस प्रयोजन के लिए पेशगी देना होता, – वहां पूंजी का सामान्य रूप, $M—M'$, यहां भी पाया जाता है। M पेशगी देकर द्रव्य देनेवाला पूंजीपति $M+\Delta M$ हासिल करता है। लेकिन $M—M'$ का प्रवर्तन यहां रूपांतरण की भौतिक नहीं, बल्कि सिर्फ़ प्राविधिक प्रक्रियाओं से ही संबद्ध है।

प्रत्यक्ष है कि द्रव्य व्यापारी जिस द्रव्य पूंजी संहति से काम करते हैं, वह परिचलन प्रक्रिया में व्यापारियों तथा औद्योगिक पूंजीपतियों की द्रव्य पूंजी ही है और द्रव्य व्यापारियों की क्रियाएं वास्तव में उन व्यापारियों तथा औद्योगिक पूंजीपतियों की ही क्रियाएं हैं, जिनमें वे बिचौलियों का काम करते हैं।

यह भी इतना ही प्रत्यक्ष है कि द्रव्य व्यापारियों का लाभ बेशी मूल्य से कटौती के अलावा और कुछ नहीं होता, क्योंकि वे पहले से सिद्धिकृत मूल्यों से काम करते हैं (चाहे मूल्यों को लेनदारों के दावों के रूप में ही सिद्धिकृत किया जाये)।

जिंस व्यापार की ही भांति यहां भी कार्यों की द्विरावृत्ति होती है, क्योंकि द्रव्य परिचलन से संबद्ध प्राविधिक क्रियाओं के एक हिस्से को स्वयं जिंसों के व्यापारियों और उत्पादकों को पूरा करना होता है।

अध्याय २०

व्यापारी पूंजी के बारे में ऐतिहासिक तथ्य

वाणिज्यिक तथा द्रव्य-व्यापार पूंजियां जिस विशेष रूप में द्रव्य का संचयन करती हैं, उसका विवेचन अगले भाग में किया जायेगा।

पहले जो कुछ कहा जा चुका है, उससे स्वतःस्पष्ट है कि व्यापारी पूंजी को, चाहे वह वाणिज्यिक पूंजी की शक्ल में हो या चाहे द्रव्य-व्यापार पूंजी की, औद्योगिक पूंजी की, उदाहरण के लिए, खनन, कृषि, पशुपालन, उद्योग, परिवहन, आदि जैसी कोई विशेष क़िस्म मानने से अधिक निरर्थक और कोई बात नहीं हो सकती, जो औद्योगिक पूंजी के सामाजिक श्रम के विभाजन से उत्पन्न सहायक कार्य और फलतः निवेश के अलग-अलग क्षेत्र ही हैं। इस तरह की भोंडी धारणा को निर्मूल सिद्ध करने के लिए यह सीधा-सादा कथन ही काफ़ी होना चाहिए कि अपनी पुनरुत्पादन प्रक्रिया की परिचलन अवस्था में प्रत्येक औद्योगिक पूंजी पण्य पूंजी के रूप में और द्रव्य पूंजी के रूप में ठीक उन्हीं कार्यों को निष्पन्न करती है, जो व्यापारी पूंजी के दोनों रूपों के अनन्य कार्य प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत, वाणिज्यिक तथा द्रव्य-व्यापार पूंजी में उत्पादक पूंजी के नाते औद्योगिक पूंजी और परिचलन क्षेत्र में उसी पूंजी के बीच अंतर इस तथ्य से विशिष्टता प्राप्त करते हैं कि पूंजी उस समय जो निश्चित रूप तथा कार्य ग्रहण करती है, वे पूंजी के एक पृथक अंश के स्वतंत्र रूपों तथा कार्यों की तरह लगते हैं और उससे अनन्यतः जुड़े होते हैं। औद्योगिक पूंजी का अंतरित रूप और उद्योग की भिन्न-भिन्न शाखाओं में लगायी जानेवाली उत्पादक पूंजियों में भौतिक अंतर सर्वथा भिन्न-भिन्न चीज़ें हैं।

अर्थशास्त्री जिस भोंडेपन से आम तौर पर रूप के अंतरों पर विचार करता है, जिनसे वास्तव में उसका तात्विक पक्ष से ही सरोकार होता है, उसके अलावा अप्रामाणिक अर्थशास्त्री की इस भ्रांत धारणा के दो और आधार हैं। एक तो व्यापारिक लाभ के विशिष्ट स्वरूप की व्याख्या कर पाने की उसकी अक्षमता, और दूसरे, उसके पण्य पूंजी तथा द्रव्य पूंजी और फिर वाणिज्यिक पूंजी तथा द्रव्य-व्यापार पूंजी को स्वयं उत्पादन प्रक्रिया से अनिवार्यतः उत्पन्न होने-वाले रूप सिद्ध करने के मंडनात्मक प्रयास, जबकि वास्तव में वे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विशिष्ट रूप से उत्पन्न होते हैं, जो सर्वोपरि जिंस परिचलन की और इसलिए द्रव्य परिचलन की अपने आधार के नाते पूर्वकल्पना करती है।

अगर वाणिज्यिक पूंजी तथा द्रव्य-व्यापार पूंजी और अन्नोत्पादन के बीच सिर्फ़ उतना ही अंतर हो कि जितना अंतोक्त और पशुपालन तथा उद्योग के बीच, तो यह एकदम साफ़ होगा कि उत्पादन और पूंजीवादी उत्पादन सर्वथा समान हैं और अन्य चीज़ों के साथ-साथ समाज के सदस्यों में सामाजिक उत्पादों के वितरण का, चाहे उत्पादक उपभोग के लिए या चाहे व्यष्टिक उपभोग के लिए, उसी प्रकार निरंतर व्यापारियों तथा बैंकरों द्वारा संचालन किया जाना चाहिए कि जिस प्रकार मांस के उपभोग का पशुपालन द्वारा और वस्त्रों के उपभोग का उनके निर्माताओं द्वारा।[45]

महान अर्थशास्त्रियों, यथा स्मिथ, रिकार्डो, आदि की उलझन का कारण व्यापारिक पूंजी का एक विशेष प्रकार होना है, क्योंकि वे पूंजी के मूल रूप, औद्योगिक पूंजी के रूप में पूंजी, और परिचलन पूंजी (पण्य पूंजी तथा द्रव्य पूंजी) को सिर्फ़ इसीलिए विचार में लेते हैं कि वह हर पूंजी की पुनरुत्पादन प्रक्रिया में एक चरण है। औद्योगिक पूंजी के अपने अनुसंधान से उनके द्वारा प्रत्यक्षतः निकाले मूल्य रचना लाभ, आदि विषयक नियम व्यापारी पूंजी पर सीधे लागू नहीं होते। इसलिए वे व्यापारी पूंजी को पूर्णतः अलग छोड़ देते हैं और उसका सिर्फ़ एक प्रकार की औद्योगिक पूंजी की तरह ही उल्लेख करते हैं। जहां भी वे उसका विशेष विश्लेषण करते हैं, जैसे विदेश व्यापार के संदर्भ में रिकार्डो करते हैं, वे यही सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि वह किसी मूल्य (और फलतः बेशी मूल्य) का सृजन नहीं करती। लेकिन जो कुछ भी विदेश व्यापार के बारे में सही है, वह घरेलू व्यापार के बारे में भी सही है।

हमने अभी तक व्यापारी पूंजी पर केवल पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के दृष्टिकोण से और उसकी सीमाओं के भीतर ही विचार किया है। लेकिन वाणिज्य ही नहीं, बल्कि व्यापारी पूंजी भी पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से अधिक प्राचीन है और, वास्तव में, ऐतिहासिक दृष्टि से, वह पूंजी के अस्तित्व की प्राचीनतम स्वतंत्र अवस्था है।

---

[45] महाविद्वान श्री रोशर [*Die Grundlagen der Nationalökonomie*, 3. Auflage, 1858, § 60, S. 103. – सं०] यह विचार पेश करते हैं कि चूंकि कुछ लोग व्यापार को उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के बीच **मध्यस्थता** की संज्ञा देते हैं, इसलिए स्वयं उत्पादन को भी उपभोग की **मध्यस्थता** (किसके बीच?) की संज्ञा दी जा "सकती" है, और निस्संदेह, इसका अर्थ है कि व्यापारी पूंजी भी उसी प्रकार उत्पादक पूंजी का अंग होती है कि जिस प्रकार कृषि पूंजी अथवा औद्योगिक पूंजी होती है। दूसरे शब्दों में, चूंकि मैं कह सकता हूं कि आदमी अपना उपभोग केवल उत्पादन द्वारा ही व्यवहित कर सकता है (और उसे यह अपनी शिक्षा लाइपसिग में प्राप्त किये बिना भी करना होता है), अथवा यह कि प्रकृति के उत्पादों के हस्तगतकरण के लिए (जिसे **मध्यस्थता** कहा जा सकता है) श्रम की आवश्यकता होती है, तो, निस्संदेह, निष्कर्ष यह निकलता है कि उत्पादन के एक विशिष्ट सामाजिक स्वरूप से उत्पन्न सामाजिक **मध्यस्थता** क्योंकि **मध्यस्थता** है, इसलिए वह आवश्यकता का वही निरपेक्ष चरित्र, वही हैसियत रखता है। **मध्यस्थता** शब्द सभी बातों को तय कर देता है। प्रसंगतः, व्यापारी उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के बीच (उत्पादकों से भिन्न उपभोक्ताओं, अर्थात उत्पादन न करनेवाले उपभोक्ताओं को फ़िलहाल अलग छोड दिया गया है) नहीं, बल्कि स्वयं इन उत्पादकों के बीच उत्पादों के विनिमय में मध्यस्थ होते हैं। वे विनिमय में बिचौलिये मात्र होते हैं, जो हजारों मामलों में उनके बिना ही होता रहता है।

चूंकि हम पहले ही देख चुके हैं कि द्रव्य-व्यापार तथा उसके लिए पेशगी दी जानेवाली पूंजी को अपने विकास के लिए थोक व्यापार और फिर वाणिज्यिक पूंजी के अस्तित्व के अलावा और किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं होती, इसलिए यहां हम अपने को वाणिज्यिक पूंजी के विवेचन में ही लगायेंगे।

चूंकि व्यापारी पूंजी परिचलन क्षेत्र में बंद रहती है और चूंकि उसका कार्य मात्र जिंसों के विनिमय का संवर्धन करना ही होता है, इसलिए उसे अपने अस्तित्व के लिए – प्रत्यक्ष विनिमय से उत्पन्न अविकसित रूपों को छोड़कर – जिंसों तथा द्रव्य के साधारण परिचलन के लिए आवश्यक शर्तों के अलावा और किसी शर्त की ज़रूरत नहीं है। या, यह कहना चाहिए कि अंतोक्त ही **उसके** अस्तित्व की शर्त है। परिचलन में जिंसों के रूप में डाले जानेवाले उत्पाद चाहे किसी भी आधार पर उत्पादित किये जायें – चाहे आदिम समुदाय के, दास उत्पादन के, लघु कृषक तथा निम्न बुर्जुआ आधार पर अथवा पूंजीवादी आधार पर – उत्पादों का जिंसों के नाते स्वरूप नहीं बदलता और जिंसों के नाते उन्हें विनिमय की प्रक्रिया और उसके अनुवर्ती रूप परिवर्तनों से गुज़रना होता है। व्यापारी पूंजी जिन चरमों के बीच मध्यस्थ के रूप में काम करती है, वे उसके लिए उसी प्रकार नियत होते हैं, जिस प्रकार वे द्रव्य तथा उसकी गतियों के लिए नियत होते हैं। ज़रूरी चीज़ सिर्फ़ यह है कि ये चरम जिंसों के रूप में उपलभ्य रहें, फिर चाहे उत्पादन पूर्णतः पण्य उत्पादन है या चाहे सिर्फ़ स्वतंत्र उत्पादकों की स्वयं अपने उत्पादन से परितुष्ट तात्कालिक आवश्यकताओं का आधिक्य ही बाज़ार में डाला जाता है। व्यापारी पूंजी सिर्फ़ इन चरमों की, इन जिंसों की गतियों का ही संवर्धन करती है, जो स्वयं उसके अस्तित्व की पूर्वापेक्षाएं हैं।

उत्पाद जिस हद तक व्यापार की वस्तु बनते हैं और व्यापारी के हाथों से गुज़रते हैं, वह उत्पादन प्रणाली पर निर्भर करती है और अपने अधिकतम पर वह पूंजीवादी उत्पादन के पूर्ण विकास में पहुंचती है, जिसमें उत्पाद एकमात्र जिंस के रूप में ही उत्पादित किया जाता है, न कि प्रत्यक्ष निर्वाह साधन के रूप में। दूसरी ओर, व्यापार प्रत्येक उत्पादन प्रणाली के आधार पर विनिमय के लिए विहित बेशी उत्पादों के उत्पादन में सहायक होता है, जिससे कि उत्पादकों (यहां आशय उत्पादों के स्वामियों से है) के उपभोगों अथवा संपदा को बढ़ाया जा सके। अतः वाणिज्य उत्पादन को विनिमय मूल्य की ओर अधिकाधिक निदेशित चरित्र प्रदान करता है।

जिंसों के रूपांतरण, उनकी गति में १) भौतिक वस्तु की दृष्टि से विभिन्न जिंसों का एक दूसरी से विनिमय, और २) रूपात्मक दृष्टि से जिंसों का विक्रय द्वारा द्रव्य में, और द्रव्य का क्रय द्वारा जिंसों में परिवर्तन सन्निहित है। और व्यापारी पूंजी का कार्य जिंसों के ख़रीदने-बेचने की इन्हीं क्रियाओं में परिणत हो जाता है। इसलिए वह केवल जिंस विनिमय का ही प्रवर्तन करती है, तथापि इस विनिमय को आरंभ से ही प्रत्यक्ष उत्पादकों के बीच कोरा जिंस विनिमय नहीं समझ लेना चाहिए। दासप्रथा, सामंतवाद और ख़िराजगुज़ारी के अंतर्गत (जहां तक आदिम समुदायों का संबंध है) दासस्वामी, सामंत और ख़िराज लेनेवाला राज्य उत्पादों के स्वामी, और इसलिए विक्रेता होते हैं। व्यापारी बहुत से लोगों के लिए ख़रीदारी और बिक्री करता है। ख़रीदारियां और बिक्रियां उसके हाथों में संकेंद्रित होती हैं और फलस्वरूप क्रेता की प्रत्यक्ष आवश्यकताओं (व्यापारी के नाते) से बंधी नहीं रहतीं।

लेकिन व्यापारी जिन उत्पादन क्षेत्रों के जिंस विनिमय का प्रवर्तन करता है, उनका

सामाजिक संगठन चाहे कुछ हो, उसकी संपत्ति सदा द्रव्य के रूप में अस्तित्वमान होती है और उसका द्रव्य सदा पूंजी का काम देता है। उसका रूप सदा $M — C — M'$ रहता है। विनिमय मूल्य का स्वतंत्र रूप, द्रव्य, ही प्रस्थान बिंदु होता है और विनिमय मूल्य को बढ़ाना अपने आप में एक साध्य होता है। अपने में जिंस विनिमय और उसे संपन्न करनेवाली क्रियाएं – उत्पादन से पृथक्कृत तथा ग़ैर-उत्पादकों द्वारा निष्पादित – संपत्ति को मात्र संपत्ति के रूप में नहीं, वरन अपने सबसे सार्विक सामाजिक रूप में, विनिमय मूल्य के रूप में बढ़ाने का एक साधन मात्र हैं। बाध्यकारी हेतु और निर्धारक लक्ष्य M का $M + \Delta M$ में परिवर्तन करना हैं। $M — C$ तथा $C — M'$ लेन-देन, जो $M — M'$ को प्रवर्तित करते हैं, M के $M + \Delta M$ में परिवर्तन में महज़ संक्रमण के चरणों की तरह ही सामने आते हैं। व्यापारी पूंजी की यह चारित्रिक गति, $M — C — M'$, उसे उत्पादकों के बीच प्रत्यक्ष जिंस व्यापार, $C — M — C$, से अलग करती है, जिसका अंतिम लक्ष्य उपयोग मूल्यों का विनिमय है।

उत्पादन जितना ही कम विकसित होता है, उतना ही द्रव्य रूप में अधिक संपत्ति व्यापारियों के हाथों में संकेंद्रित होती है अथवा व्यापारियों की संपत्ति के विशिष्ट रूप में प्रकट होती है।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के भीतर – अर्थात पूंजी द्वारा उत्पादन पर अपना प्रभुत्व स्थापित किये जाने और उसे सर्वथा परिवर्तित तथा विशिष्ट रूप प्रदान किये जाने के साथ – व्यापारी पूंजी महज़ एक **विशिष्ट** कार्य रखनेवाली पूंजी के रूप में ही सामने आती है। सभी पूर्ववर्ती उत्पादन प्रणालियों में, और इससे भी अधिक जहां भी उत्पादन उत्पादक की तात्कालिक आवश्यकताओं का साधन करता है, व्यापारी पूंजी पूंजी के कार्य का par excellence निष्पादन करती प्रतीत होती है।

इसलिए यह समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं है कि क्यों व्यापारी पूंजी पूंजी द्वारा उत्पादन पर स्वयं अपने प्रभुत्व की स्थापना किये जाने के बहुत पहले ही पूंजी के ऐतिहासिक रूप की तरह प्रकट हो जाती है। उसका अस्तित्व और एक ख़ास स्तर तक विकास स्वयं अपने में पूंजीवादी उत्पादन के विकास के ऐतिहासिक पूर्वाधार हैं १) द्रव्य संपत्ति के संकेंद्रण के पूर्वाधार के नाते और २) इसलिए कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली व्यापार के लिए, बड़े पैमाने पर, न कि अकेले ग्राहक को, और अतः ऐसे व्यापारी को भी कि जो अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए क्रय नहीं करता, बल्कि अपनी एक ख़रीदारी में बहुत से क्रेताओं की ख़रीदारियों को संकेंद्रित कर लेता है, विक्रय के लिए उत्पादन की पूर्वापेक्षा करती है। दूसरी ओर, व्यापारी पूंजी का सारा विकास उत्पादन को अधिकाधिक विनिमय मूल्य के लिए उत्पादन का चरित्र प्रदान करने और उत्पादों को अधिकाधिक जिंसों में परिवर्तित करने की ओर अभिमुख होता है। लेकिन, जैसे कि हम जल्दी ही देखेंगे, उसका विकास स्वयं अपने में इसकी क्षमता नहीं रखता कि एक उत्पादन प्रणाली से दूसरी उत्पादन प्रणाली में संक्रमण को प्रवर्तित कर सके अथवा उसकी व्याख्या कर सके।

पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत व्यापारी पूंजी अपने पूर्ववर्ती स्वतंत्र अस्तित्व रूप से पूंजी के निवेश में एक विशेष चरण में परिणत हो जाती है और लाभों का समकरण उसकी लाभ दर को सामान्य औसत में परिणत कर देता है। वह केवल उत्पादक पूंजी के अभिकर्ता के रूप में ही कार्य करती है। व्यापारी पूंजी के विकास के साथ जो विशेष सामाजिक अवस्थाएं रूप लेती हैं, वे अब सर्वोपरि नहीं रहतीं। इसके विपरीत, जहां कहीं भी व्यापारी पूंजी का अब भी प्रभुत्व बना रहता है, वहां हम पिछड़ी हुई अवस्थाएं ही पाते हैं। यह बात उस एक ही

देश की सीमाओं के भीतर भी लागू होती है, जहां, उदाहरण के लिए, विशिष्टरूपेण व्यापारिक नगर विगत अवस्थाओं के साथ औद्योगिक नगरों की अपेक्षा कहीं अधिक ज़ोरदार सादृश्यताएं प्रस्तुत करते हैं।[46]

पूंजी का व्यापारी पूंजी के रूप में स्वतंत्र और अभिभावी विकास उत्पादन के पूंजी की अनाधीनता के बराबर, अतः पूंजी के परकीय सामाजिक उत्पादन प्रणाली के आधार पर, जो उससे स्वतंत्र भी है, विकसित होने के बराबर है। इसलिए व्यापारी पूंजी का स्वतंत्र विकास समाज के सामान्य आर्थिक विकास के व्युत्क्रमानुपात में रहता है।

पूंजी के अभिभावी रूप के नाते स्वतंत्र व्यापारिक संपत्ति परिचलन प्रक्रिया के अपने चरमों से पृथक्करण को प्रकट करती है और ये चरम विनिमय करनेवाले उत्पादक स्वयं हैं। वे परिचलन प्रक्रिया से उसी प्रकार स्वतंत्र रहते हैं, जिस प्रकार वह उनसे स्वतंत्र रहती है। उत्पाद वाणिज्य के माध्यम से जिंस बन जाता है। यहां उत्पादों को वाणिज्य जिंसों में परिणत करता है, न कि उत्पादित जिंस, अपनी गतियों से वाणिज्य को जन्म देती है। इस प्रकार पूंजी यहां पहले परिचलन प्रक्रिया में पूंजी के रूप में प्रकट होती है। परिचलन प्रक्रिया में ही द्रव्य विकसित होकर पूंजी का रूप लेता है। परिचलन प्रक्रिया में ही उत्पाद पहले विनिमय मूल्यों के रूप में, जिंसों के रूप में और द्रव्य के रूप में विकसित होते हैं। पूंजी परिचलन प्रक्रिया में निर्मित हो सकती है और उसे उसमें निर्मित होना भी चाहिए, इसके पहले कि वह उसके चरमों को – जिन विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों के बीच परिचलन मध्यस्थता करता है, उनको नियंत्रित करना सीखे। द्रव्य तथा पण्य परिचलन अत्यंत भिन्न संगठन के उत्पादन क्षेत्रों में मध्यस्थता कर सकते हैं, जिनकी आंतरिक संरचना अभी मुख्यतः उपयोग मूल्यों के उत्पादन के लिए ही समायोजित होती है। परिचलन प्रक्रिया के इस पृथक्करण का, जिसमें उत्पादन क्षेत्र एक तीसरे क्षेत्र द्वारा अंतःसंबद्ध होते हैं, दुहरा महत्व है। एक ओर यह कि परिचलन ने अभी उत्पादन पर क़ाबू नहीं पाया है, बल्कि उसके साथ एक नियत पूर्वाधार की तरह संबद्ध है। दूसरी ओर यह कि उत्पादन प्रक्रिया ने परिचलन को अभी उत्पादन के एक चरण मात्र की तरह आत्मसात नहीं किया है। लेकिन पूंजीवादी उत्पादन में दोनों ही सूरतें होती हैं। उत्पादन प्रक्रिया पूर्णतः परिचलन पर आधारित होती है और परिचलन उत्पादन का एक अंतर्वर्ती चरण मात्र होता है, जिसमें जिंस के रूप में सृजित उत्पाद का सिद्धिकरण होता है और उसके उत्पादन तत्वों की, जो उसी प्रकार जिंसों के रूप में सृजित किये जाते हैं, प्रतिस्थापना होती है। पूंजी का वह रूप – व्यापारी पूंजी – जो परिचलन से सीधे विकसित हुआ था, यहां महज़ पूंजी के

---

[46] श्री वि० कीसेलबाख़ (अपनी पुस्तक *Der Gang des Welthandels im Mittelalter*, 1860) में सचमुच अभी एक ऐसी दुनिया के विचारों में ही उलझे हुए हैं, जिसमें व्यापारी पूंजी ही पूंजी का सामान्य रूप है। उन्हें पूंजी के आधुनिक अर्थ का उसी प्रकार तनिक भी आभास नहीं है कि जैसे श्री मोमज़न को, जो अपने रोम के इतिहास में "पूंजी" की और पूंजी के शासन की बात करते हैं। आधुनिक आंग्ल इतिहास में स्वयं वाणिज्यिक श्रेणी और व्यापारिक नगर राजनीतिक दृष्टि से भी प्रतिक्रियावादी हैं और उनकी औद्योगिक पूंजी के ख़िलाफ़ भूस्वामियों तथा वित्तशाही के साथ सांठ-गांठ है। उदाहरण के लिए, लीवरपूल की राजनीतिक भूमिका की मैंचेस्टर तथा बरमिंघम की राजनीतिक भूमिका से तुलना कीजिये। आंग्ल व्यापारी पूंजी तथा वित्तशाही ने औद्योगिक पूंजी के पूर्ण प्रभुत्व को अनाज क़ानूनों के उन्मूलन, आदि के बाद आकर ही स्वीकार किया था।

उसकी पुनरुत्पादन प्रक्रिया में उत्पन्न होनेवाले रूपों में से एक रूप की तरह ही सामने आता है।

यह नियम कि व्यापारी पूंजी का स्वतंत्र विकास पूंजीवादी उत्पादन के विकास की मात्रा के व्युत्क्रमानुपात में होता है, मालवहन व्यापार, उदाहरण के लिए, वेनिसवासियों, जेनोवावासियों, डचों, आदि के बीच, के इतिहास में विशेषकर स्पष्टता के साथ लक्षित होता है, जहां इसके परिणामस्वरूप मुख्य लाभ घरेलू उत्पादों के निर्यात द्वारा नहीं, बल्कि वाणिज्यिक और सामान्यतः आर्थिक लिहाज़ से अविकसित समाजों के बीच उत्पादों के विनिमय के संवर्धन द्वारा और दोनों उत्पादक देशों के शोषण द्वारा हासिल किये जाते थे।[47] यहां व्यापारी पूंजी अपने शुद्ध रूप में, अर्थात अपने चरमों से – जिन उत्पादन क्षेत्रों के बीच वह मध्यस्थता करती है, उनसे – पृथक्कृत रूप में देखने में आती है। यही उसके विकास का मुख्य स्रोत है। किंतु मालवहन व्यापार का यह एकाधिकार और उसके साथ-साथ स्वयं यह व्यापार भी उन क़ौमों के आर्थिक विकास के यथानुपात विखंडित होता जाता है, जिनका वह अपने क्रम के दोनों ही छोरों पर शोषण करता है और जिनके विकास का अभाव ही उसके अस्तित्व का आधार था। मालवहन व्यापार के मामले में यह न केवल वाणिज्य की एक विशेष शाखा के, बल्कि शुद्धतः व्यापारिक राष्ट्रों के प्राधान्य के, और सामान्य रूप में उनकी वाणिज्यिक संपदा, जो मालवहन व्यापार पर आधारित थी, के भी ह्रास के रूप में परिलक्षित होता है। यह बस एक विशेष रूप मात्र है, जो यह व्यक्त करता है कि पूंजीवादी उत्पादन की उन्नति के साथ व्यापारी औद्योगिक पूंजी के नीचे आते जाते हैं। जहां कहीं भी व्यापारी पूंजी उत्पादन को शासित करती है, वहां उसका आचरण न केवल सामान्य रूप में औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था (तथाकथित औपनिवेशिक व्यवस्था) द्वारा ही, बल्कि बिलकुल विशिष्ट रूप में पुरानी डच ईस्ट इंडिया कंपनी के तौर-तरीक़ों द्वारा बड़े सुस्पष्ट ढंग से दर्शाया जाता है।

चूंकि व्यापारी पूंजी की गति $M — C — M'$ है, इसलिए व्यापारी का लाभ प्रथमतः उन क्रियाओं में बनता है, जो केवल परिचलन प्रक्रिया के भीतर होती हैं, अतः वह क्रय तथा विक्रय की दो क्रियाओं में बनता है; और, दूसरे, वह अंतिम क्रिया – विक्रय – में सिद्धिकृत होता है। इसलिए यह अन्यसंक्रामण पर लाभ है। Prima facie शुद्ध और स्वतंत्र वाणिज्यिक लाभ जब तक उत्पाद अपने मूल्य पर बेचे जाते रहें, तब तक असंभव प्रतीत होता है। सस्ता ख़रीदो, ताकि महंगा बेचो – यही व्यापार का नियम है। इसलिए यह समतुल्यों का विनिमय नहीं हो सकता। इसमें मूल्य की अवधारणा वहीं तक सम्मिलित है कि जहां तक सभी विभिन्न जिंसें मूल्य, और इसलिए द्रव्य होती हैं। कोटि के संदर्भ में वे सभी सामाजिक श्रम की अभिव्यक्तियां होती हैं। लेकिन वे समान परिमाण के मूल्य नहीं होतीं। उत्पाद जिस मात्रात्मक अनु-

---

[47] "व्यापारिक नगरों के निवासी अधिक संपन्न देशों से परिष्कृत निर्मित मालों तथा मूल्यवान विलास वस्तुओं का आयात करके बड़े भूस्वामियों के अहंकार को किसी हद तक तुष्ट करते थे, जो स्वयं अपनी ज़मीनों की कच्ची उपज की विशाल मात्राओं के एवज़ में उन्हें ख़रीद लेते थे। फलस्वरूप, यूरोप के काफ़ी बड़े भाग का वाणिज्य उस समय मुख्यतः स्वयं उनकी अपनी कच्ची उपज का अधिक सभ्य देशों के निर्मित सामानों से विनिमय करना ही था।... जब यह शौक़ इतना व्यापक हो गया कि उसने काफ़ी मांग पैदा कर दी, तो व्यापारियों ने वहन व्यय बचाने के लिए क़ुदरती तौर पर अपने ही देशों में इसी प्रकार के कुछ उद्यम शुरू करने का प्रयास किया।" (A. Smith [*Wealth of Nations*], Book III, Ch. III, London, 1776, pp. 489, 490.)

पात में, अदले-बदले जाते हैं, वह आरंभ में बिल्कुल मनमाना होता है। वे इसीलिए जिंस बनते हैं कि वे विनिमेय होते हैं, अर्थात उसी तीसरे की अभिव्यक्तियां होते हैं। निरंतर विनिमय और विनिमय के लिए अधिक नियमित पुनरुत्पादन इस यादृच्छिकता को अधिकाधिक कम करता जाता है। लेकिन पहले उत्पादक तथा उपभोक्ता के लिए नहीं, वरन अपने बिचौलिये, व्यापारी के लिए, जो द्रव्यरूप दामों की तुलना करता है और अंतर को जेब में डाल लेता है। वह समतुल्यता को स्वयं अपनी ही गतियों के ज़रिये स्थापित करता है।

व्यापारी पूंजी मूलतः ऐसे चरमों के बीच, जिन्हें वह नियंत्रित नहीं करती, और ऐसे पूर्वाधारों के बीच, जिन्हें वह बनाती नहीं, केवल अंतर्वर्ती गति ही होती है।

जिस प्रकार स्वयं पण्य परिचलन के सरलतम रूप, $C - M - C$, से द्रव्य न केवल मूल्य के माप और परिचलन के माध्यम के रूप में, बल्कि जिंस के, और इसलिए संपत्ति, अथवा अपसंचय के निरपेक्ष रूप के नाते भी उत्पन्न होता है, जिससे कि द्रव्य की हैसियत से उसका संरक्षण और संचयन स्वयं अपने में एक साध्य बन जाता है, उसी प्रकार एक ऐसी चीज़ के रूप में कि जो अपने आपको मात्र अन्यसंक्रामण के ज़रिये परिरक्षित करती और बढ़ाती है, द्रव्य, अपसंचय, व्यापारी पूंजी के परिचलन के सरलतम रूप, $M - C - M'$, से भी उत्पन्न होता है।

प्राचीन काल के व्यापारिक राष्ट्रों की स्थिति ब्रह्मांड के मध्यवर्ती लोकों में एपिक्यूरस के देवताओं जैसी, या यों कहिये कि पोलिश समाज के रंध्रों में यहूदियों जैसी थी। पहले स्वतंत्र समृद्ध व्यापारिक नगरों और तिजारती राष्ट्रों का व्यापार उत्पादक राष्ट्रों की बर्बरता पर शुद्ध मालवहन व्यापार की तरह टिका हुआ था, जिनके बीच वे बिचौलियों का काम करते थे।

समाज की पूंजीवाद-पूर्व अवस्थाओं में वाणिज्य उद्योग को शासित करता था। आधुनिक समाज में इसका उलट सही है। निस्संदेह, जिन समुदायों के बीच वाणिज्य किया जाता है, उन पर वह न्यूनाधिक प्रतिप्रभाव डालेगा। वह विलास वस्तुओं तथा निर्वाह साधनों को उत्पादों के तात्कालिक उपयोग के बजाय बिक्री पर अधिकाधिक निर्भर बनाकर उत्पादन को विनिमय मूल्य के अधिकाधिक अधीन करता जायेगा। उसके द्वारा वह पुराने संबंध को भंग कर देता है। वह द्रव्य परिचलन को बढ़ा देता है। अब वह केवल उत्पादन के आधिक्य को ही अपनी परिधि में नहीं ले लेता है, बल्कि उत्पादन में अधिकाधिक गहरे घुसता जाता है और उसकी पूरी की पूरी शाखाओं को अपने पर आश्रित बना लेता है। तथापि यह विघटनकारी प्रभाव उत्पादक समुदाय के स्वरूप पर बहुत अधिक निर्भर करता है।

जब तक व्यापारी पूंजी अविकसित समाजों के बीच उत्पादों के विनिमय का संवर्धन करती है, वाणिज्यिक लाभ न सिर्फ़ बेहतर सौदेबाज़ी और ठगी का ही फल प्रतीत होता है, बल्कि काफ़ी हद तक उनसे ही उत्पन्न भी होता है। इस बात के अलावा कि वह विभिन्न देशों में उत्पादन दामों में अंतरों का लाभ उठाती है (और इस लिहाज से वह जिंसों के मूल्यों को समकृत और नियत करने का प्रयास करती है), इन उत्पादन प्रणालियों के अंतर्गत होता यह है कि व्यापारी पूंजी अंशतः ऐसे समुदायों के बीच, जो अब भी अधिकांशतः उपयोग मूल्य के लिए उत्पादन करते हैं और जिनके आर्थिक संगठन के लिए उनके उत्पाद के परिचलन में प्रवेश करनेवाले अंश की बिक्री, बल्कि वस्तुतः उत्पादों की अपने मूल्य पर बिक्री गौण महत्व की होती है, मध्यस्थ के नाते, और अंशतः इसलिए उत्पाद के भारी बहुलांश को हड़प लेती है कि इन पूर्ववर्ती उत्पादन प्रणालियों के अंतर्गत व्यापारी का बेशी उत्पाद के जिन मुख्य स्वामियों से वास्ता होता था, वे, अर्थात दासस्वामी, सामंत और राज्य (मसलन, पूर्वी स्वेच्छा-

चारी शासक), उस उपभोग करनेवाली संपदा तथा विलास को प्रकट करते हैं, जिसे व्यापारी फंसाना चाहता है, जैसे कि ऐडम स्मिथ ने सामंत काल के बारे में पूर्वोद्धरण में ठीक ही भांपा है। व्यापारी पूंजी को जब प्रभुत्व की स्थिति प्राप्त होती है, तो वह सब कहीं डकैती की व्यवस्था की प्रतीक होती है,[48] जिसके कारण प्राचीन तथा आधुनिक काल के व्यापारी राष्ट्रों में उसका विकास सदा लूट-मार, जलदस्युता, दास अपहरण और औपनिवेशिक विजयों के साथ प्रत्यक्षतः संबद्ध रहा है, जैसे कार्थेज और रोम में, और बाद में वेनिसवासियों, पुर्तगालियों, डचों, आदि के बीच।

वाणिज्य और व्यापारी पूंजी का विकास हर कहीं विनिमय मूल्य उत्पन्न करने की प्रवृत्ति को जन्म देता है, उसके परिमाण को बढ़ाता है, उसे अधिक बहुविध बनाता है, उसे सार्वभौम बनाता है और द्रव्य को विश्व द्रव्य में विकसित कर देता है। इसलिए वाणिज्य सभी जगह ऐसे उत्पादनकारी संगठन पर न्यूनाधिक विलयनकारी प्रभाव डालता है, जो उसे प्राप्य होता है और जिसके विभिन्न रूपों को मुख्यतः उपयोग मूल्य की दृष्टि से ही चलाया जाता है। पुरानी उत्पादन प्रणाली को वह किस सीमा तक विलयित करता है, यह उसकी ठोसता और आंतरिक संरचना पर निर्भर करता है। और यह विलयन प्रक्रिया किधर ले जायेगी, दूसरे शब्दों में, कौनसी नयी उत्पादन प्रणाली पुरानी को प्रतिस्थापित करेगी, यह वाणिज्य पर नहीं, बल्कि स्वयं पुरानी

---

[48] "आजकल व्यापारियों को अमीर-उमरा, या डाकुओं के बारे में बहुत शिकायत है, क्योंकि उन्हें बहुत ख़तरे में व्यापार करना होता है और अपहरण, पिटाई, धौंस से ऐंठाई और लुटने का जोखिम रहता है। अगर उन्हें इन सब बातों को न्याय की ख़ातिर सहना पड़े, तब तो व्यापारी लोग महात्मा होंगे।... लेकिन चूंकि व्यापारी दुनिया भर में और आपस तक में इतने भारी गुनाह और काफ़िराना चोरी और डकैती करते हैं, इसलिए यह क्या कोई अचरज की बात है कि ईश्वर व्यवस्था करे कि ग़लत तरीक़ों से हासिल इतनी सारी दौलत फिर जाती रहे या चुरा ली जाये और ख़ुद उनके सिरों पर चोटें पड़ें या उन्हें क़ैदी बनाया जाये?... और राजाओं का काम है कि ऐसे नाजायज़ सौदों के लिए वाजिब सख़्ती से सज़ा दें और इसका ध्यान रखें कि उनके प्रजाजन व्यापारियों द्वारा ऐसी ढीठता से न छले जायें। वे चूंकि ऐसा नहीं कर पाते हैं, इसीलिए ईश्वर नाइटों और डाकुओं से काम लेता है और उनके ज़रिये व्यापारियों को गुनाहों की सज़ा देता है और उन्हें अपने शैतानों की तरह इस्तेमाल करता है, जैसे वह मिस्र को और सारी दुनिया को अपने शैतानों से तंग करता है या शत्रुओं के ज़रिये नष्ट करता है। इस तरह वह इसका संकेत दिये बिना एक को दूसरे से भिड़ाता है कि नाइट व्यापारियों की बनिस्बत कोई कम डाकू हैं, यद्यपि व्यापारी तो सारी दुनिया को रोज़ ही लूटते हैं, जबकि नाइट एकाध साल में एक-दो को लूट सकता है।" "यशायाह के आदेश पर चलो: तेरे राजा डाकुओं के साथी बन गये हैं। कारण कि चोरों को तो वे फांसी पर लटका देते हैं, जिन्होंने एकाध गुल्डन ही चुराया है, पर वे उनके साथ मेलजोल करते हैं, जो सारी दुनिया को लूटते हैं और बाक़ी सभी से ज़्यादा दिलेरी के साथ चोरी करते हैं, जिससे यह कहावत सच्ची साबित होती है: बड़े चोर छोटे चोरों को फांसी देते हैं; और जैसे कि रोमन सीनेटर कातो ने कहा था: क्षुद्र चोर तो जेलों और बेड़ियों में पड़े रहते हैं, मगर जगत चोर सुनहरे और रेशमी कपड़े पहनकर घूमते हैं। लेकिन ईश्वर अंत में क्या कहेगा? वह वैसा ही करेगा कि जैसा उसने यहेजकेल से कहा था; वह सीसे और लोहे की तरह राजाओं और व्यापारियों को, एक चोर को दूसरे चोर के साथ ऐसे मिला देगा कि जैसे जब कोई शहर जलता है, तो न राजा बचते हैं, न व्यापारी।" (Martin Luther, *Von Kauffshandlung und Wucher*, 1524, S. 296-97.)

उत्पादन प्रणाली के स्वरूप पर निर्भर करता है। प्राचीन विश्व में वाणिज्य के प्रभाव और व्यापारी पूंजी के विकास का परिणाम सदा दास अर्थव्यवस्था रहा है, बस, प्रस्थान बिंदु के अनुसार प्रत्यक्ष निर्वाह साधनों के उत्पादन में लगी पितृसत्तात्मक दास प्रथा का बेशी मूल्य के उत्पादन में निरत दास प्रथा में रूपांतरण ही रहा है। लेकिन आधुनिक विश्व में इसका परिणाम पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने में ये परिणाम व्यापारी पूंजी के विकास के अलावा अन्य परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं।

यह स्वाभाविक ही है कि जैसे ही शहरी उद्योग अपने में कृषि उद्योग से अलग होता है कि उसके उत्पाद आरंभ से ही जिंस बन जाते हैं और इस प्रकार उन्हें अपनी बिक्री के लिए वाणिज्य की मध्यस्थता की आवश्यकता होती है। वाणिज्य का नगरों के विकास की तरफ़ झुकाव, और दूसरी ओर, नगरों की वाणिज्य पर निर्भरता यहां तक स्वाभाविक ही हैं। लेकिन यह सर्वथा भिन्न परिस्थितियों पर निर्भर करता है कि औद्योगिक विकास किस हद तक इस विकास के साथ-साथ चलेगा। अपने गणतांत्रिक काल के उत्तरवर्ती दौर में प्राचीन रोम ने शिल्पों के विकास में कोई भी प्रगति किये बिना व्यापारी पूंजी को प्राचीन विश्व में तब तक अभूतपूर्व सीमा तक विकसित कर लिया था, जबकि कोरिंथ तथा यूरोप और एशिया-ए-कोचक के अन्य यूनानी नगरों में अतिविकसित शिल्प वाणिज्य के विकास के सहगामी रहे थे। दूसरी ओर, नगरों तथा सहगामी अवस्थाओं के विकास के सर्वथा विपरीत ग़ैर-आबाद, ख़ानाबदोश क़ौमों में व्यापार भावना और व्यापारी पूंजी का विकास अकसर देखने में आते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं – और ठीक इसी तथ्य ने पूर्णतः भ्रांत धारणाओं को जन्म दिया है – कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में भौगोलिक खोजों के साथ वाणिज्य में जो महान क्रांतियां हुई थीं और जिन्होंने व्यापारी पूंजी के विकास को त्वरित किया, वे सामंती उत्पादन प्रणाली से पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में संक्रमण को बढ़ावा देनेवाले मुख्य तत्वों में एक हैं। विश्व मंडी का आकस्मिक प्रसार, परिचलनगत जिंसों की संख्यावृद्धि, एशिया के उत्पादों और अमरीका की संपदाओं का स्वामित्व प्राप्त करने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों का प्रतिस्पर्धात्मक उत्साह और औपनिवेशिक व्यवस्था – सभी ने उत्पादन पर सामंती बेड़ियां नष्ट करने में भौतिक योगदान किया है। लेकिन अपने पहले दौर – विनिर्माण अथवा मैनुफ़ेक्चर युग – में आधुनिक उत्पादन प्रणाली ने केवल वहीं विकास किया, जहां उसके लिए अवस्थाएं मध्य युग में ही रूप ले चुकी थीं। मिसाल के लिए, हालैंड की पुर्तगाल से तुलना कीजिये।[49] और जब सोलहवीं सदी में और अंशतः सत्रहवीं सदी तक में वाणिज्य के सहसा प्रसार तथा नयी विश्व मंडी के उदय ने पुरानी उत्पादन

---

[49] हालैंड के विकास के लिए अन्य परिस्थितियों के अलावा मछलीमारी, विनिर्माण और कृषि का क्या महत्व था, यह अठारहवीं सदी के लेखकों, मसलन, मैसी [पृष्ठ ६०] द्वारा पहले ही बताया जा चुका है। पुराने दृष्टिकोण के विपरीत, जिसमें एशिया में, प्राचीन काल में और मध्य युग में वाणिज्य के परिमाण तथा महत्व को कम करके आंका जाता था, अब उसे अत्यधिक ऊंचा आंकने का रिवाज चल पड़ा है। इस अवधारणा के विरुद्ध सबसे अच्छा प्रतिकारक प्रारंभिक अठारहवीं सदी में इंगलैंड के आयात तथा निर्यात का अध्ययन करना और उसकी आधुनिक आयात-निर्यात से तुलना करना है। और इतने पर भी वह किसी भी अन्य भूतपूर्व व्यापारी राष्ट्र के आयात-निर्यात से अतुलनीय रूप में अधिक था। (देखिये Anderson, *An Historical and Chronological Deduction of the Origin of Commerce.* [Vol. II, London, 1764, p. 261 et seq. – सं०])

प्रणाली के पतन और नये पूंजीवादी उत्पादन के आविर्भाव में जबरदस्त योग दिया, तो इसके विपरीत, ऐसा पहले से विद्यमान पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के आधार पर हुआ। विश्व मंडी स्वयं इस उत्पादन प्रणाली का आधार है। दूसरी ओर, इस उत्पादन प्रणाली की चिरविस्तृत पैमाने पर उत्पादन करने की अंतर्निहित आवश्यकता विश्व मंडी को निरंतर प्रसार की ओर ले जाती है, जिससे कि इस मामले में यह वाणिज्य नहीं है कि जो उद्योग में क्रांति उत्पन्न करता है, बल्कि उद्योग वाणिज्य में क्रांति लाता है। वाणिज्यिक प्रधान्यता स्वयं अब बड़े उद्योग के लिए अवस्थाओं की न्यूनाधिक मात्रा में व्याप्ति के साथ जुड़ जाती है। उदाहरण के लिए, इंगलैंड और हालैंड की तुलना कीजिये। अभिभावी व्यापारिक राष्ट्र के नाते हालैंड के अपकर्ष का इतिहास व्यापारी पूंजी के औद्योगिक पूंजी के नीचे आने का इतिहास है। पूंजीवाद-पूर्व राष्ट्रीय उत्पादन प्रणालियों के आंतरिक ठोसपन तथा संगठन द्वारा वाणिज्य के क्षयकारी प्रभाव के आगे पेश की जानेवाली बाधाएं अंग्रेजों के भारत तथा चीन के साथ सम्पर्क में बड़े सुस्पष्ट रूप में देखी जा सकती हैं। यहां छोटे पैमाने की कृषि और गृहोद्योग की एकता उत्पादन प्रणाली का व्यापक आधार प्रदान करती है, जिसमें हमें भारत के मामले में भूमि के साझे स्वामित्व पर निर्मित ग्राम समुदायों के रूप को भी जोड़ना चाहिए, जो प्रसंगतः चीन में भी मूल रूप था। अंग्रेजों ने भारत में इन छोटे आर्थिक समुदायों को भंग करने के लिए शासकों और भूस्वामियों के नाते अपनी प्रत्यक्ष राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति का अविलंब प्रयोग किया।[60] उनके वाणिज्य ने इन समुदायों पर सिर्फ़ इतना ही क्रांतिकारी प्रभाव डाला और उन्हें विच्छिन्न किया कि उसके मालों के कम दामों ने कताई तथा बुनाई उद्योगों को नष्ट करने का काम किया, जो औद्योगिक तथा कृषि उत्पादन की इस एकता के एक प्राचीन ऐक्यकारी तत्व थे। और फिर भी विघटन का यह कार्य बहुत धीरे-धीरे ही चलता है। चीन में तो यह और भी धीमी गति से हो रहा है, जहां उसे प्रत्यक्ष राजनीतिक सत्ता का सहारा नहीं है। कृषि और मैनुफ़ैक्चर के सहयोग द्वारा प्रदत्त समय तथा धन की इस भारी बचत ने बड़े उद्योगों के उत्पादों के आगे प्रचंड प्रतिरोध प्रस्तुत किया, जिनके दामों में परिचलन प्रक्रिया का faux frais [अनुत्पादक व्यय] शामिल रहता है, जो उनमें व्याप्त होता है। दूसरी ओर, अंग्रेज़ी वाणिज्य के विपरीत रूसी वाणिज्य एशियाई उत्पादन की आर्थिक बुनियाद को अछूता रहने देता है।[61]

सामंती उत्पादन प्रणाली से संक्रमण दोहरा होता है। नैसर्गिक कृषि अर्थव्यवस्था और मध्ययुगीन शहरी उद्योगों की श्रेणीबद्ध दस्तकारियों के विपरीत उत्पादक व्यापारी तथा पूंजीपति बन जाता है। यही वास्तविक क्रांतिकर पथ है। अथवा व्यापारी उत्पादन पर प्रत्यक्ष प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह चाहे सोपान का कितना ही काम क्यों न देता हो, – मिसाल के लिए, सत्रहवीं सदी के अंग्रेज पोशाक निर्माताओं पर नजर डालिये, जो

---

[60] अगर किसी भी राष्ट्र का इतिहास व्यर्थ और वस्तुतः निरर्थक (व्यवहार में घृणित) आर्थिक प्रयोगों का सिलसिला है, तो यह भारत में अंग्रेज़ों का इतिहास है। बंगाल में उन्होंने इंगलैंड की विशाल जागीरों की उपहासजनक नक़ल खड़ी की, दक्षिण-पूर्वी भारत में छोटी बंटी हुई भूसंपत्ति की नक़ल पैदा की, उत्तर-पश्चिम में उन्होंने ज़मीन के साझे स्वामित्व के भारतीय आर्थिक समुदाय को अपनी ही भौंडी नक़ल में बदलने के लिए भरसक सभी कुछ किया।

[61] यह स्थिति भी बदलने लगी है, क्योंकि रूस स्वयं अपना पूंजीवादी उत्पादन विकसित करने के लिए प्रचंड प्रयास कर रहा है, जो अनन्य रूप में उसके घरेलू तथा निकटवर्ती एशियाई बाज़ार पर निर्भर है। – फ़े० एं०

बुनकरों के बिलकुल स्वतंत्र होने पर भी उन्हें उनकी ज़रूरत का ऊन बेचकर और उनके बुने कपड़े को ख़रीदकर अपने नियंत्रण में ले आते थे—अपने आप में यह पुरानी उत्पादन प्रणाली का तख़्ता पलटने में योग नहीं दे सकता, बल्कि उलटे, अपनी पूर्वापेक्षा के रूप में उसे बचाने और बनाये रखने की ही कोशिश करता है। उदाहरण के लिए, फ़्रांसीसी रेशम उद्योग और अंग्रेज़ी होज़री तथा लेस उद्योगों में निर्माता इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के मध्य तक अधिकांशतः बस नाम को ही निर्माता हुआ करता था। वास्तव में वह महज़ व्यापारी ही था, जो बुनकरों को अपना धंधा अपने पुराने असंगठित तरीक़े से चलाने देता था और केवल व्यापारियों जैसा नियंत्रण ही रखता था, क्योंकि असल में काम वे उसी के लिए करते थे।[52] यह व्यवस्था हर कहीं वास्तविक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के आगे एक बाधा पेश करती है और उसके विकास के साथ पराभूत होकर ख़त्म हो जाती है। उत्पादन प्रणाली में क्रांति लाये बिना वह प्रत्यक्ष उत्पादकों की स्थिति को सिर्फ़ बदतर ही बनाती है, पूंजी के प्रत्यक्ष नियंत्रण के तहत जैसी अवस्थाएं होती हैं, उन्हें उनसे भी ख़राब अवस्थाओं के अंतर्गत मात्र उजरती मज़दूरों और सर्वहाराओं में परिणत कर देती है और उनके बेशी श्रम को पुरानी उत्पादन प्रणाली की बुनियाद पर हड़प लेती है। लंदन के दस्तकारी फ़र्नीचर उद्योग के कुछ हिस्से में भी यही अवस्थाएं कुछ बदले हुए रूप में विद्यमान हैं। विशेषकर टावर हैमलेट्स में इस प्रथा का व्यापक प्रचलन है। सारा उद्योग व्यवसाय की बहुत सी एक दूसरी से स्वतंत्र पृथक शाखाओं में बंटा है। एक प्रतिष्ठान सिर्फ़ कुरसियां ही बनाता है, तो दूसरा सिर्फ़ मेज़ें और तीसरा सिर्फ़ अलमारियां। लेकिन स्वयं ये प्रतिष्ठान एक अकेले मामूली उस्ताद और कुछ कारीगरों द्वारा कमोबेश दस्तकारी उद्यमों की तरह संचालित किये जाते हैं। अलबत्ता उत्पादन सीधे अलग-अलग व्यक्तियों के आर्डर पूरा करने के लिए ज़रूरत से ज्यादा बड़ा होता है। यहां क्रेता फ़र्नीचर दूकानों के मालिक होते हैं। शनिवार को उस्ताद उनके पास जाता है और उन्हें अपना सामान बेचता है और सौदा बिलकुल ऐसी ही झकझक के साथ संपन्न होता है कि जैसी क़र्ज़ के सिलसिले में गिरवीघरों में होती है। उस्ताद लोग और कुछ नहीं, तो इसलिए इस साप्ताहिक बिक्री पर निर्भर करते हैं कि आगामी सप्ताह के लिए कच्चे माल ख़रीद सकें तथा मज़दूरी अदा कर सकें। ऐसी हालत में वे दरअसल व्यापारी और स्वयं अपने मज़दूरों के बीच बिचौलिये ही होते हैं। असली पूंजीपति तो व्यापारी है, जो बेशी मूल्य के बहुलांश को हड़प लेता है।[53] जिन शाखाओं को पहले दस्तकारियों या ग्रामोद्योगों के सहायक धंधों की तरह चलाया जाता था, उनके मैनुफ़ेक्चर में संक्रमण में भी लगभग यही बात लागू होती है। बड़े उद्योग में संक्रमण इन छोटे मालिकों द्वारा संचालित प्रतिष्ठानों के—जहां भी वे ऐसी मशीनरी का उपयोग करते हैं कि जो दस्तकारी यंत्र की तरह चलायी जा सकती है—प्राविधिक विकास पर निर्भर करता है। मशीन को हाथ से चलाने के

---

[52] राइन के रिबन तथा फ़ीता निर्माताओं और रेशम बुननेवालों के बारे में भी यही बात सही है। इन ग्रामीण हथबुनकरों के शहरी "विनिर्माता" के साथ सम्पर्क के लिए क्रेफ़ेल्द के निकट एक रेलमार्ग तक बनाया गया है। लेकिन बाद में यांत्रिक बुनाई उद्योग ने हथबुनकरों के साथ-साथ इसे भी बेकार बना दिया है।—फ़्रे० एं०

[53] १८६५ के बाद से यह व्यवस्था और भी ज्यादा बड़े पैमाने पर विकसित कर ली गयी है। ब्यौरे के लिए देखिये *First Report of the Select Committee of the House of Lords on the Sweating System*, London, 1888.—फ़्रे० एं०

बजाय भाप से चलाया जाता है। पिछले कुछ समय से ऐसा ही होता आ रहा है, मसलन, अंग्रेज़ी होज़री उद्योग में।

इस प्रकार, संक्रमण त्रिमुखी होता है। एक तो व्यापारी प्रत्यक्ष रूप में औद्योगिक पूंजीपति बन जाता है। यह बात व्यापार पर आधारित दस्तकारियों के मामले में लागू होती है, विशेषकर वे दस्तकारियां, जो विलास वस्तुएं उत्पादित करती हैं और जिन्हें व्यापारियों द्वारा विदेशों से कच्चे मालों और मज़दूरों के साथ आयात किया जाता है, जैसे इटली में पंद्रहवीं सदी में क़ुस्तुंतीनिया से किया जाता था। दूसरे, व्यापारी छोटे उस्तादों को अपने बिचौलियों में परिणत कर देता है, अथवा स्वतंत्र उत्पादक से सीधे ख़रीदता है – वह उसे नाम मात्र को स्वतंत्र रहने देता है और उसकी उत्पादन प्रणाली अपरिवर्तित छोड़ देता है। तीसरे, उद्योगपति व्यापारी बन जाता है और थोक बाज़ार के लिए प्रत्यक्ष रूप में उत्पादन करता है।

मध्य युग में, जैसे पोप्पे ठीक ही कहते हैं, व्यापारी सिर्फ़ शिल्पी संघों अथवा किसानों द्वारा उत्पादित मालों को "अंतरित" ही किया करता था।* व्यापारी उद्योगपति बन जाता है, अथवा यह कहिये कि अपने लिए दस्तकारों से, ख़ासकर छोटे ग्रामीण उत्पादकों से काम करवाता है। विलोमतः उत्पादक व्यापारी बन जाता है। मिसाल के लिए, उस्ताद बुनकर ऊन अथवा सूत ख़ुद ख़रीदता है और कपड़ा व्यापारी को बेचता है, बजाय इसके कि ऊन थोड़ा-थोड़ा करके व्यापारी से पाये और अपने कारीगरों सहित उसके वास्ते काम करे। उत्पादन तत्व स्वयं उसके द्वारा ख़रीदी जिंसों के रूप में उत्पादन प्रक्रिया में जाते हैं। और किसी अलग व्यापारी या निर्दिष्ट ग्राहकों के लिए उत्पादन करने के बजाय वह व्यापार जगत के लिए ही उत्पादन करता है। स्वयं उत्पादक ही व्यापारी है। व्यापारी पूंजी परिचलन प्रक्रिया को जारी रखने के अलावा और कुछ नहीं करती। मूलतः दस्तकारियों, ग्रामीण गृहोद्योगों तथा सामंती कृषि के पूंजीवादी उद्यमों में रूपांतरण की पूर्वापेक्षा वाणिज्य था। वह उत्पाद को अंशतः उसके लिए बाज़ार पैदा करके, और अंशतः नये पण्य समतुल्यों का प्रवर्तन करके और उत्पादन को नयी कच्ची तथा सहायक सामग्रियां मुहैया करके और इस प्रकार घरेलू तथा विश्व मंडी के लिए भी उत्पादन के संदर्भ में, और विश्व मंडी में उत्पन्न होनेवाली उत्पादन अवस्थाओं के भी संदर्भ में आरंभ से ही वाणिज्य पर आधारित नयी उत्पादन शाखाएं खोलकर जिंसों में विकसित कर देता है। जैसे ही मैनुफ़ैक्चर, और विशेषकर बड़े पैमाने का उद्योग, पर्याप्त शक्ति प्राप्त कर लेता है कि अपनी बारी में वह अपनी जिंसों के ज़रिये मंडी पर क़ब्ज़ा करने के लिए अपने वास्ते उसे पैदा कर लेता है। इस स्थल पर आकर वाणिज्य औद्योगिक उत्पादन का सेवक बन जाता है, जिसके लिए बाज़ार का सतत प्रसार एक मर्मभूत आवश्यकता बन जाता है। सदा-सर्वदा विस्तारित होता जाता बृहदस्तरीय उत्पादन विद्यमान बाज़ार को पाटता जाता है और उसे निरंतर और भी अधिक फैलाता चला जाता है, जिससे वह अपनी सीमाओं को तोड़ डालता है। इस बृहदस्तरीय उत्पादन को जो चीज़ सीमित करती है, वह वाणिज्य (जिस हद तक वह विद्यमान मांग को प्रकट करता है) नहीं, बल्कि नियोजित पूंजी का परिमाण और श्रम उत्पादिता के विकास का स्तर है। औद्योगिक पूंजीपति के आगे विश्व मंडी सदा ही रहती

---

* Poppe, *Geschichte der Technologie seit der Wiederherstellung der Wissenschaften bis an das Ende des achtzehnten Jahrhunderts*, Band I, Göttingen, 1807, S. 70. – सं०

है, वह अपने लागत दामों की देश में और दुनिया भर में बाजार दामों से तुलना करता है और उसे निरंतर करते भी रहना चाहिए। पुराने ज़माने में इस तरह की तुलना लगभग पूरी तरह से व्यापारियों के ही हिस्से में आती थी और इस प्रकार वह व्यापारी पूंजी को औद्योगिक पूंजी पर प्रभुत्व प्रदान करवा देती थी।

आधुनिक उत्पादन प्रणाली – व्यापारिक प्रणाली – का पहला सैद्धांतिक विवेचन अनिवार्यतः व्यापारी पूंजी की गतियों में सतही परिघटनाओं द्वारा प्राप्त अभिव्यक्तियों के आधार पर ही हुआ और इसलिए वह सिर्फ़ उनके बाहरी रूप को ही पकड़ सका। अंशतः इसलिए कि व्यापारी पूंजी ही सामान्य रूप में पूंजी के अस्तित्व की पहली स्वतंत्र अवस्था है। और अंशतः सामंती उत्पादन के पहले क्रांतिकर दौर में – आधुनिक उत्पादन के जन्म काल में – उसके द्वारा डाले जानेवाले ज़बरदस्त प्रभाव के कारण। आधुनिक अर्थव्यवस्था का वास्तविक विज्ञान सिर्फ़ तब जाकर ही शुरू होता है कि जब सैद्धांतिक विश्लेषण परिचलन प्रक्रिया से उत्पादन प्रक्रिया में जाता है। ब्याजी या सब्याज पूंजी भी वास्तव में पूंजी का एक बहुत ही पुराना रूप है। लेकिन हम आगे चलकर देखेंगे कि क्यों वाणिज्यवाद इसे अपना प्रस्थान बिंदु नहीं मानता, बल्कि उलटे, इसके ख़िलाफ़ वितंडा ही करता है।

भाग ५

लाभ का ब्याज तथा उद्यम के लाभ में विभाजन। ब्याजी पूंजी

अध्याय २१

ब्याजी पूंजी

सामान्य अथवा औसत लाभ दर के हमारे पहले विवेचन (इस पुस्तक का दूसरा भाग) में यह दर अपने संपूर्ण रूप में हमारे सामने नहीं थी, क्योंकि लाभ का समकरण केवल भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में निवेशित औद्योगिक पूंजियों के समकरण की सूरत में ही प्रकट होता था। इसकी अनुपूर्ति पूर्ववर्ती भाग में की गयी थी, जिसमें इस समकरण में व्यापारी पूंजी की सहभागिता और वाणिज्यिक लाभ का भी विवेचन किया गया था। परिणामस्वरूप सामान्य लाभ दर और औसत लाभ अब पहले की अपेक्षा संकीर्णतर सीमाओं में सामने आये। अपने विश्लेषण में हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि आगे जहां कहीं भी सामान्य लाभ दर अथवा औसत लाभ का उल्लेख आये, वहां हमारा आशय इस बादवाले अर्थ और इसलिए औसत लाभ के अंतिम रूप से ही है। और चूंकि यह दर व्यापारिक तथा औद्योगिक पूंजी के लिए भी एक ही है, इसलिए जहां तक इस औसत लाभ का संबंध है, औद्योगिक तथा वाणिज्यिक लाभ में विभेद करना आवश्यक नहीं है। पूंजी चाहे उत्पादन के क्षेत्र में औद्योगिक पूंजी की हैसियत से निवेशित की जाये, चाहे वाणिज्यिक पूंजी के नाते परिचलन क्षेत्र में, वह अपने परिमाण के pro rata उतना ही औसत वार्षिक लाभ पैदा करती है।

द्रव्य, जिसे यहां या तो वस्तुतः द्रव्य के रूप में, या जिंसों के रूप में विद्यमान मूल्य की एक ख़ास मात्रा की स्वतंत्र अभिव्यक्ति माना जाता है, पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर पूंजी में परिवर्तित किया जा सकता है और फलतः एक नियत मूल्य से स्वप्रसारी, अथवा वर्धमान, मूल्य में रूपांतरित किया जा सकता है। वह लाभ उत्पादित करता है, अर्थात वह पूंजीपति को श्रमिकों से अशोधित श्रम, बेशी उत्पाद और बेशी मूल्य की एक ख़ास मात्रा का निष्कर्षण करने और उसे हड़पने में समर्थ बनाता है। इस प्रकार वह द्रव्य के रूप में अपने उपयोग मूल्य के अलावा एक अतिरिक्त उपयोग मूल्य, अर्थात पूंजी का काम देनेवाला उपयोग मूल्य, प्राप्त कर लेता है। इसलिए उसका उपयोग मूल्य उस लाभ में ही सन्निहित है, जो वह पूंजी में परिवर्तित किये जाने पर उत्पादित करता है। संभाव्य पूंजी की इस हैसियत में, लाभ उत्पादित करने के साधन के रूप में, वह जिंस बन जाता है, लेकिन sui generis [अनन्य अथवा अपने ही ढंग की] जिंस। अथवा, जो वही बात हुई, पूंजी पूंजी के रूप में जिंस या पण्य बन जाती है।[54]

---

[54] इस स्थल पर कुछ उद्धरण दिये जा सकते हैं, जिनमें अर्थशास्त्री मामले को इसी तरह से देखते हैं। – "आप (बैंक ऑफ़ इंगलैंड) **पूंजी-पण्य** के बहुत बड़े व्यापारी हैं?" यह प्रश्न

मान लीजिये, वार्षिक ग्रौसत लाभ दर २०% है। इस हालत में १०० पाउंड मूल्य की मशीन ग्रौसत ग्रवस्थाग्रों तथा ग्रौसत बुद्धि ग्रौर सोद्देश्य प्रयास के ग्रधीन पूंजी की तरह प्रयुक्त की जाने पर २० पाउंड का लाभ पैदा करेगी। इसलिए जिस ग्रादमी के पास १०० पाउंड हैं, वह १०० पाउंड से १२० पाउंड बना लेने की, ग्रथवा २० पाउंड का लाभ पैदा करने की शक्ति रखता है। उसके पास १०० पाउंड की संभाव्य पूंजी है। ग्रगर वह ये १०० पाउंड किसी ग्रौर व्यक्ति को एक साल के लिए दे देता है, जिससे कि दूसरा ग्रादमी उनका वास्तविक पूंजी की तरह प्रयोग कर सके, तो वह उसे २० पाउंड का लाभ उत्पादित करने की शक्ति दे देता है, जो ऐसा बेशी मूल्य है कि जिसके लिए दूसरे ग्रादमी को कुछ नहीं खर्च करना होता ग्रौर जिसके बदले वह कोई समतुल्य नहीं देता। ग्रगर दूसरा व्यक्ति वर्ष की समाप्ति पर १०० पाउंड के स्वामी को उत्पादित लाभ से, मसलन, ५ पाउंड देता हो, तो वह इस प्रकार १०० पाउंड का उपयोग मूल्य – पूंजी के नाते उसके कार्य का उपयोग मूल्य, २० पाउंड का लाभ उत्पादित करने का कार्य – ग्रदा करता होगा। लाभ का स्वामी को दिया जानेवाला ग्रंश ब्याज या सूद कहलाता है, जो पूंजी द्वारा कार्य की प्रक्रिया में स्वयं ग्रपने जेब में डालने के बजाय पूंजी के स्वामी को दिये गये लाभ के ग्रंश का एक ग्रौर नाम ग्रथवा विशेष पद मात्र है।

साफ़ है कि १०० पाउंड का ग्रपने पास होना उनके स्वामी को ब्याज – उसकी पूंजी द्वारा उत्पादित लाभ के उस खास ग्रंश – को जेब में डालने की शक्ति दे देता है। ग्रगर उसने ये १०० पाउंड दूसरे व्यक्ति को न दिये होते, तो दूसरा व्यक्ति कोई लाभ न उत्पादित कर पाया होता ग्रौर इन १०० पाउंड के संदर्भ में पूंजीपति का कार्य कदापि न कर पाया होता।[55]

यहां नैसर्गिक न्याय की बात करना, जैसे गिलबर्ट करते हैं (टिप्पणी देखिये), निरर्थक है। उत्पादन के ग्रभिकर्ताग्रों के बीच लेन-देनों का न्याय इस तथ्य पर ग्राधारित है कि वे उत्पादन संबंधों से नैसर्गिक परिणामों की तरह उत्पन्न होते हैं। ये ग्रार्थिक लेन-देन संबद्ध पक्षों के स्वेच्छायुक्त कार्यों के नाते, उनकी सामान्य इच्छा की ग्रभिव्यक्तियों की शक्ल में ग्रौर ऐसी संविदाग्रों के रूप में कि जिन्हें किसी एक पक्ष के विरुद्ध क़ानून द्वारा लागू करवाया जा सकता है, जिन विधिक रूपों में प्रकट होते हैं, वे मात्र रूप होने के कारण इस ग्रंतर्य को नहीं निर्धारित कर सकते। वे उसे केवल व्यक्त करते हैं। यह ग्रंतर्य वहीं उचित ग्रथवा न्याय्य होता है, जहां वह उत्पादन प्रणाली के ग्रनुरूप, उसके उपयुक्त होता है। जहां वह उस प्रणाली के विरुद्ध होता है, वहां वह ग्रनुचित ग्रथवा ग्रन्याय्य होता है। पूंजीवादी उत्पादन के ग्राधार पर दास प्रथा ग्रन्याय्य है, इसी प्रकार जिंसों की गुणवत्ता के मामले में कपट ग्रन्याय्य है।

१०० पाउंड २० पाउंड का लाभ इसलिए उत्पादित करते हैं कि वे पूंजी के रूप में – चाहे वह ग्रौद्योगिक पूंजी हो या वाणिज्यिक पूंजी – कार्य करते हैं। किंतु पूंजी के इस कार्य की sine qua non [ग्रपरिहार्य शर्त] यह है कि वे पूंजी के नाते व्ययित हों, ग्रर्थात वे उत्पादन

इस बैंक के एक निदेशक के ग्रागे तब रखा गया था, जब उससे बैंक ग्रधिनियमों पर रिपोर्ट के सिलसिले में गवाह के रूप में पूछताछ की गयी थी। (*H. of C. 1857*, p. 104.)

[55] "यह नैसर्गिक न्याय का एक स्वतःस्पष्ट सिद्धांत है कि ग्रगर कोई ग्रादमी द्रव्य को उससे लाभ बनाने की दृष्टि से उधार लेता है, तो उसे ग्रपने लाभ का कुछ ग्रंश ऋणदाता को देना चाहिए।" (Gilbart, *The History and Principles of Banking*, London, 1834, p. 163.)

साधनों को (औद्योगिक पूंजी के मामले में) या जिंसों को (व्यापारी पूंजी के मामले में) ख़रीदने में ख़र्च किये जायें। लेकिन ख़र्च किये जाने के लिए उनका उपलब्ध होना आवश्यक है। अगर १०० पाउंड का स्वामी, क, उन्हें या तो अपने व्यक्तिगत उपभोग के लिए ख़र्च कर दे, या उन्हें अपसंचय के रूप में रखे रहे, तो वे ख द्वारा कार्यकारी पूंजीपति की हैसियत से पूंजी के रूप में निवेशित न किये जा सकेंगे। ख स्वयं अपनी पूंजी को नहीं, बल्कि क की पूंजी को व्ययित करता है। लेकिन वह क की पूंजी को क की सहमति के बिना व्यय नहीं कर सकता। इसलिए वास्तव में यह क ही है कि जो मूलतः १०० पाउंड को पूंजी की तरह ख़र्च करता है, हालांकि पूंजीपति के नाते उसका कार्य १०० पाउंड के पूंजी के रूप में इस परिव्यय तक ही सीमित है। इन १०० पाउंड के संदर्भ में ख सिर्फ़ इसीलिए पूंजीपति का कार्य करता है कि क उसे ये १०० पाउंड उधार दे देता है और इस प्रकार उन्हें पूंजी के रूप में ख़र्च करता है।

आइये, पहले ब्याजी पूंजी के विशिष्ट परिचलन का विवेचन करें। इसके बाद हमें उस विशेष ढंग का विश्लेषण करना होगा, जिसमें वह जिंस की तरह बेची जाती है, अर्थात सदा-सदा के लिए त्यागी जाने के बजाय उधार दी जाती है।

हमारा प्रस्थान बिंदु वह द्रव्य है, जो क ख को देता है। यह द्रव्य प्रतिभूति अथवा ज़मानत के साथ या उसके बिना दिया जा सकता है। लेकिन प्रथमोक्त रूप अधिक प्राचीन है, सिवा जिंसों की अथवा विनिमय पत्रों या हुंडियों, शेयरों, आदि जैसी दस्तावेज़ों की ज़मानत पर दी जानेवाली रक़मों के। इन विशेष रूपों से इस स्थल पर हमें कोई सरोकार नहीं है। हम यहां ब्याजी पूंजी का उसके सामान्य रूप में ही विवेचन कर रहे हैं।

ख के क़ब्ज़े में द्रव्य वस्तुतः पूंजी में परिवर्तित होता है, $M-C-M'$ से होकर गुज़रता है और फिर क के पास M' के रूप में, $M+\Delta M$ के रूप में, लौट आता है, जहां ΔM ब्याज का द्योतक है। सरलता की ख़ातिर हम उस स्थिति को नहीं लेंगे, जिसमें पूंजी ख के क़ब्ज़े में लंबी अवधि तक रहती है और नियमित अंतरालों पर ब्याज दिया जाता है।

इस प्रकार गति यह है:

$$M-M-C-M'-M'.$$

यहां पर १) पूंजी के रूप में द्रव्य के परिव्यय, और २) सिद्धिकृत पूंजी के रूप में, M' अथवा $M+\Delta M$ के रूप में, उसके पश्चवाह की पुनरावृत्ति होती लगती है।

व्यापारी पूंजी की गति, $M-C-M'$, में अगर एक व्यापारी दूसरे व्यापारी को बेचता है, तो वही जिंस दो बार, अथवा दो बार से भी अधिक हस्तांतरित होती है। लेकिन उसी जिंस का इस तरह का हर स्थानांतरण एक रूपांतरण का, जिंस जब तक उपभोग में प्रवेश न कर जाये, तब तक उसके क्रय अथवा विक्रय का द्योतक होता है, चाहे प्रक्रिया कितनी भी बार क्यों न दुहरायी जाये।

दूसरी ओर, $C-M-C$ में वही द्रव्य दो बार हस्तांतरण करता है, लेकिन यह जिंस के पूर्ण रूपांतरण का द्योतक है, जो पहले द्रव्य में और इसके बाद द्रव्य से फिर दूसरी जिंस में परिवर्तित होती है।

लेकिन ब्याजी पूंजी में M का पहला हस्तांतरण किसी भी प्रकार न पण्य रूपांतरण का चरण है और न पूंजी पुनरुत्पादन का। उसके हस्तांतरण में यह चरण सिर्फ़ तब आता है, जब वह सक्रिय पूंजीपति द्वारा दूसरी बार व्ययित होती है, जो उससे व्यापार करता है अथवा उसे उत्पादक पूंजी में बदलता है। M का पहला रूपांतरण यहां उसके क से ख को अंतरण के अलावा और कुछ नहीं व्यक्त करता, जो आम तौर पर कुछेक विधिक रूपों और अनुबंधों के अंतर्गत ही होता है।

पूंजी के नाते द्रव्य के इस दोहरे परिव्यय के, जिसमें से पहला उसका मात्र क से ख को अंतरण ही है, बराबर ही उसका दोहरा पश्चवाह होता है। M' अथवा $M+\Delta M$ के रूप में वह प्रक्रिया से वापस प्रवाहित होकर पूंजीपति का कार्य करते ख के पास चला जाता है। इसके बाद ख उसे क को वापस अंतरित कर देता है, लेकिन लाभ के एक अंश के साथ, सिद्धिकृत पूंजी के रूप में, $M+\Delta M$ के रूप में, जिसमें ΔM समस्त लाभ नहीं, वरन लाभ का मात्र एक अंश – ब्याज – ही है। वह ख के पास सिर्फ़ उसी रूप में वापस प्रवाहित होता है, जिसमें उसने उसे ख़र्च किया था, कार्यरत पूंजी के रूप में, लेकिन क की संपत्ति की तरह। अतः उसके पश्चवाह को पूरा करने के लिए जरूरी है कि ख उसे क को लौटाये। लेकिन पूंजी के अलावा क को ख द्वारा लाभ का एक अंश भी देना होता है, जो ब्याज कहलाता है और जिसे उसने इस पूंजी से बनाया था, क्योंकि क ने उसे द्रव्य सिर्फ़ पूंजी के नाते, अर्थात ऐसे मूल्य के नाते दिया था, जो न सिर्फ़ अपनी गति में बना ही रहता है, बल्कि अपने स्वामी के लिए बेशी मूल्य भी पैदा करता है। वह ख के हाथों में सिर्फ़ तभी तक रहता है कि जब तक वह पूंजी की तरह कार्य करता है। और अनुबद्ध तिथि पर अपने पश्चवाह के साथ वह पूंजी के रूप में कार्य करना बंद कर देता है। लेकिन अब पूंजी के रूप में कार्यरत न रहने पर उसका क को फिर लौटाया जाना आवश्यक है, जिसने उसका वैध स्वामी होना कभी नहीं छोड़ा है।

इस जिंस के लिए, जिंस के नाते पूंजी के लिए विक्रय के बजाय उधारदान का विशिष्ट रूप, जो अन्य लेन-देनों में भी पाया जाता है, इस सहज विशेषता से उत्पन्न होता है कि पूंजी यहां जिंस के रूप में काम करती है, अथवा पूंजी के नाते द्रव्य एक जिंस बन जाता है।

यहां एक भेद करना आवश्यक है।

हम देख चुके हैं (खंड २, अध्याय १) और यहां सरसरी तौर पर दोहरा देते हैं कि परिचलन प्रक्रिया में पूंजी पण्य पूंजी का और द्रव्य पूंजी का काम करती है। लेकिन पूंजी इनमें से किसी भी रूप में पूंजी के नाते जिंस नहीं बनती।

जैसे ही उत्पादक पूंजी पण्य पूंजी में परिणत होती है, उसका जिंस की तरह बेचे जाने के लिए बाज़ार में रखा जाना आवश्यक हो जाता है। वहां वह सिर्फ़ जिंस का ही काम करती है। ऐसी अवस्था में पूंजीपति सिर्फ़ जिंसों के विक्रेता की तरह ही सामने आता है, ठीक जिस प्रकार क्रेता केवल जिंसों का ग्राहक ही होता है। जिंस के नाते उत्पाद को अपने विक्रय द्वारा परिचलन प्रक्रिया में अपने मूल्य का सिद्धिकरण करना होता है, द्रव्य का अपना अंतरित रूप धारण करना होता है। यही कारण है कि यह भी सर्वथा महत्वहीन है कि कोई जिंस उपभोक्ता द्वारा जीवनावश्यक वस्तु के नाते ख़रीदी जाती है, या पूंजीपति द्वारा उत्पादन साधन के नाते, अर्थात अपनी

पूंजी के संघटक अंग के नाते। परिचलन प्रक्रिया में पण्य पूंजी केवल जिंस की तरह कार्य करती है, न कि पूंजी की तरह। सामान्य जिंस से भिन्न वह पण्य **पूंजी** होती है, १) क्योंकि वह बेशी मूल्य से युक्त होती है, इसलिए उसके मूल्य का सिद्धिकरण साथ ही बेशी मूल्य का भी सिद्धिकरण होता है; किंतु इससे जिंस के नाते, एक ऐसे उत्पाद के नाते, जिसका एक ख़ास दाम है, उसके सहज अस्तित्व में कोई अंतर नहीं आता; २) क्योंकि जिंस के नाते उसका कार्य पूंजी के नाते उसकी पुनरुत्पादन प्रक्रिया में एक चरण होता है और इसलिए जिंस के नाते उसकी गति उसकी प्रक्रिया की एक आंशिक गति होने के कारण साथ ही उसकी पूंजी के नाते गति भी होती है। फिर भी वह स्वयं बिक्री के ज़रिये पण्य पूंजी नहीं बनती, बल्कि सिर्फ़ पूंजी की हैसियत से मूल्य की इस विशेष मात्रा की सारी गति के साथ विक्रय के संबंध के ज़रिये ही बनती है।

बिलकुल द्रव्य पूंजी की भांति ही वास्तव में यह बस द्रव्य की तरह कार्य करती है, अर्थात जिंसें (उत्पादन तत्व) ख़रीदने के साधन के रूप में। यह तथ्य कि यह द्रव्य साथ ही द्रव्य पूंजी, पूंजी का एक रूप भी है, क्रय की क्रिया – द्रव्य के रूप में उसके द्वारा यहां किये जानेवाले वास्तविक कार्य – से नहीं, बल्कि इस क्रिया के पूंजी की कुल गति के साथ संबंध से उपजता है, क्योंकि पूंजी द्वारा द्रव्य के रूप में निष्पादित यह क्रिया ही पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का समारंभ करती है।

लेकिन जहां तक वे वस्तुतः कार्य करती हैं, अर्थात प्रक्रिया में वस्तुतः भूमिका अदा करती हैं, वहां तक यहां पण्य पूंजी सिर्फ़ जिंस की तरह और द्रव्य पूंजी सिर्फ़ द्रव्य की तरह कार्य करती है। रूपांतरण को अलग से लें, तो उसके दौरान पूंजीपति कभी क्रेता को अपनी जिंसें **पूंजी** की तरह नहीं बेचता, यद्यपि उसके लिए वे पूंजी को ही व्यक्त करती हैं और न ही वह क्रेता को द्रव्य पूंजी की तरह देता है। दोनों ही सूरतों में वह अपनी जिंसें महज़ जिंसों के नाते देता है और द्रव्य मात्र द्रव्य के नाते, अर्थात जिंसें ख़रीदने के साधन के नाते।

परिचलन प्रक्रिया में पूंजी के नाते पूंजी केवल समस्त प्रक्रिया के संबंध में, उस घड़ी में सामने आती है कि जब प्रस्थान बिंदु साथ ही प्रत्यावर्तन बिंदु बन जाता है, अर्थात $M — M'$ अथवा $C — C'$ में (जबकि उत्पादन प्रक्रिया में वह श्रमिक के पूंजीपति के अधीनीकरण और बेशी मूल्य के उत्पादन के ज़रिये पूंजी के रूप में प्रकट होती है)। लेकिन प्रत्यावर्तन की इस घड़ी में संबंध विलुप्त हो जाता है। हमारे पास अब M', अथवा $M + \Delta M$, एक द्रव्य राशि है, जो मूलतः पेश की गयी रक़म जमा वृद्धि – सिद्धिकृत बेशी मूल्य – के बराबर है (इससे निरपेक्ष कि ΔM द्वारा वर्धित मूल्य राशि द्रव्य के रूप में है, या जिंसों के, या उत्पादन तत्वों के)। और ठीक इस प्रत्यावर्तन बिंदु पर ही, जहां पूंजी सिद्धिकृत पूंजी के रूप में, विस्तारित मूल्य के रूप में, अस्तित्वमान होती है, पूंजी कभी इस रूप में परिचलन में प्रवेश नहीं करती, – जहां तक कि यह बिंदु विश्राम बिंदु की तरह नियत होता है, चाहे वास्तविक अथवा काल्पनिक, – बल्कि उलटे, सारी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप परिचलन से निकाल ली गयी प्रतीत होती है। यदि वह फिर व्ययित होती है, तो दूसरे को कभी **पूंजी के रूप में** नहीं दे दी जाती, बल्कि उसे सामान्य जिंस के रूप में बेची जाती है, अथवा उसे जिंसों के बदले साधारण द्रव्य के रूप में दी जाती है। अपनी परिचलन प्रक्रिया में वह कभी पूंजी के रूप में नहीं, बल्कि जिंस या द्रव्य के रूप में ही प्रकट होती है, और इस स्थल पर **अन्यों के लिए** उसके अस्तित्व का केवल यही रूप होता है। जिंसें और द्रव्य यहां इसलिए पूंजी नहीं हैं कि जिंसें द्रव्य में बदल जाती हैं या द्रव्य जिंसों

में बदल जाता है, न विक्रेताओं अथवा क्रेताओं के साथ अपने वास्तविक संबंधों में ही हैं, बल्कि सिर्फ़ स्वयं पूंजीपति के साथ अपने अधिकल्पित संबंधों में (आत्मनिष्ठ दृष्टि से), अथवा पुनरुत्पादन प्रक्रिया में चरणों के नाते (वस्तुनिष्ठ दृष्टि से) ही हैं। पूंजी वास्तविक गति में पूंजी के रूप में परिचलन प्रक्रिया में नहीं, बल्कि सिर्फ़ उत्पादन प्रक्रिया में, उस प्रक्रिया में अस्तित्वमान होती है, जिसके द्वारा श्रम शक्ति का शोषण किया जाता है।

लेकिन ब्याजी पूंजी के साथ बात दूसरी है और यह अंतर ही उसे अपना विशिष्ट लक्षण प्रदान करता है। द्रव्य का जो स्वामी अपने द्रव्य को ब्याजी पूंजी के नाते बढ़ाना चाहता है, वह उसे अन्य व्यक्ति को दे देता है, उसे परिचलन में डाल देता है, उसे **पूंजी** के नाते जिंस में परिणत कर देता है – सिर्फ़ स्वयं अपने लिए पूंजी में नहीं, बल्कि अन्यों के लिए भी। यह मात्र उसी व्यक्ति के लिए पूंजी नहीं है कि जो उसे दे देता है, बल्कि बिल्कुल आरंभ से ही अन्य व्यक्ति को पूंजी के नाते, बेशी मूल्य सृजित करने, लाभ सृजित करने के उपयोग मूल्य से युक्त मूल्य के नाते दी जाती है; यह ऐसा मूल्य है कि जो अपनी गति में अपने को बनाये रखता है और अपने कार्य को पूरा करने के बाद अपने मूल स्वामी, इस प्रसंग में द्रव्य के स्वामी के पास लौट आता है। अतः वह उसे केवल एक निर्दिष्ट अवधि के लिए ही छोड़ती है, केवल अस्थायी रूप में ही अपने स्वामी के क़ब्ज़े से कार्यरत पूंजीपति के क़ब्ज़े में अंतरित होती है और इसलिए न भुगतान में दी जाती या बेची जाती है, बल्कि महज़ उधार ही दी जाती है, महज़ इस समझ के साथ त्यागी जाती है कि एक तो एक निश्चित कालावधि के बाद अपने प्रस्थान बिंदु पर लौट आयेगी और दूसरे, वह सिद्धिकृत पूंजी के रूप में – ऐसी पूंजी, जिसने अपने उपयोग मूल्य का, बेशी मूल्य का सृजन करने की अपनी शक्ति का सिद्धिकरण कर लिया है – वापस आयेगी।

पूंजी के नाते उधार दी जानेवाली जिंसें अपने गुणों के अनुसार या तो स्थायी अथवा प्रचल पूंजी के रूप में उधार दी जाती हैं। द्रव्य दोनों में से किसी भी रूप में उधार दिया जा सकता है। मिसाल के लिए, ऐसी सूरत में वह स्थायी पूंजी के रूप में उधार दिया जा सकता है कि अगर उसे वार्षिकी या सालियाना की शक्ल में वापस चुकाया जाता है, जिससे पूंजी का एक अंश ब्याज के साथ वापस प्रवाहित होता रहता है। मकान, जहाज़, मशीन, आदि जैसी कुछ जिंसें अपने उपयोग मूल्यों की प्रकृति के कारण सिर्फ़ स्थायी पूंजी की तरह ही उधार दी जा सकती हैं। फिर भी सारी उधार दी गयी पूंजी हमेशा द्रव्य पूंजी का एक विशिष्ट रूप ही होती है, चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो और चाहे उसके उपयोग मूल्य की प्रकृति उसकी वापसी को कैसे भी क्यों न आपरिवर्तित कर दे। कारण यह कि जो चीज़ उधार दी जाती है, वह हमेशा एक निश्चित द्रव्य राशि होती है और ब्याज का परिकलन इस राशि पर ही किया जाता है। अगर उधार दी जानेवाली चीज़ न द्रव्य है और न प्रचल पूंजी, तो उसकी अदायगी भी स्थायी पूंजी के वापस आने के ढंग से ही की जाती है। उधारदाता समय-समय पर ब्याज और स्वयं स्थायी पूंजी के उपभुक्त मूल्य का एक अंश – आवधिक टूट-फूट का समतुल्य – पाता रहता है। निर्दिष्ट अवधि की समाप्ति पर उधार दी स्थायी पूंजी का अनुपभुक्त अंश वस्तुरूप में लौटा दिया जाता है। अगर उधार दी पूंजी प्रचल पूंजी है, तो इसी प्रकार उसे भी प्रचल पूंजी के विशिष्ट ढंग से लौटाया जाता है।

इसलिए पश्चप्रवाह का **ढंग** हमेशा पूंजी द्वारा पुनरुत्पादन क्रिया में निष्पादित परिपथ से और उसकी विशिष्ट क़िस्मों से निर्धारित होता है। लेकिन जहां तक उधार दी गयी पूंजी की

बात है, उसका पश्चप्रवाह वापसी अदायगियों का रूप ग्रहण करता है, क्योंकि उसका पेशगी दिया जाना, जिसके द्वारा उसे अंतरित किया जाता है, उधार का रूप रखता है।

इस अध्याय में हम सिर्फ़ वास्तविक द्रव्य पूंजी का विवेचन कर रहे हैं, जिससे उधार पूंजी के अन्य रूपों का जन्म होता है।

उधार पूंजी दो तरीक़ों से वापस प्रवाहित होती है। पुनरुत्पादन प्रक्रिया में वह कार्यरत पूंजीपति के पास लौट आती है और इसके बाद उसकी वापसी उधारदाता – द्रव्य पूंजीपति – को अंतरण के रूप में, वास्तविक स्वामी को, अपने विधिक प्रस्थान बिंदु पर वापसी अदायगी के रूप में एक बार फिर अपनी पुनरावृत्ति करती है।

वास्तविक परिचलन प्रक्रिया में पूंजी सदा जिंस या द्रव्य के रूप में सामने आती है और उसकी गति हमेशा क्रय-विक्रयों की शृंखला में विभक्त होती है। संक्षेप में, परिचलन प्रक्रिया जिंसों के रूपांतरण में परिणत हो जाती है। जब हम पुनरुत्पादन प्रक्रिया पर समूचे तौर पर विचार करते हैं, तब बात दूसरी होती है। अगर हम द्रव्य से शुरू करें (और अगर हम प्रारंभ जिंसों से करें, तो भी बात वही होगी, क्योंकि हम उनके मूल्य से आरंभ करते हैं और इसलिए उन्हें द्रव्य की sub specie [उपजाति] मानते हैं), तो हम देखेंगे कि एक ख़ास द्रव्य राशि व्ययित होती है और एक ख़ास कालावधि के बाद वृद्धि के साथ लौट आती है। पेशगी दी हुई द्रव्य राशि बेशी मूल्य के साथ लौटती है। एक ख़ास चक्र पूरा करने में वह अक्षत रही है और बढ़ गयी है। लेकिन अब, पूंजी के नाते उधार दिये जाने में द्रव्य मात्र एक द्रव्य राशि के नाते उधार दिया जाता है, जो अपने को बनाये रखता और प्रसारित करता है, जो एक ख़ास अवधि के बाद वृद्धि के साथ लौट आता है और उसकी प्रक्रिया को फिर से निष्पन्न करने के लिए सदा तैयार रहता है। वह न द्रव्य के नाते ख़र्च किया जाता है, न जिंस के नाते, इस प्रकार वह द्रव्य के रूप में दिये जाते समय न जिंस से बदला जाता है, न जिंस के रूप में दिये जाते समय द्रव्य के बदले बेचा जाता है; उलटे, वह पूंजी के नाते ख़र्च किया जाता है। पूंजी का स्वयं अपने साथ यह संबंध, जिसमें पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया पर समूचे तौर पर और एकान्विति के रूप में विचार करते समय वह अपने को प्रस्तुत करती है और जिसमें पूंजी ऐसे द्रव्य के रूप में प्रकट होती है कि जो द्रव्य पैदा करता है, यहां उसे किसी अंतर्वर्ती गति के बिना अपने ही चरित्र, अपने ही अभिधान के रूप में प्रदान किया जाता है। और जब उसे द्रव्य पूंजी के नाते उधार दिया जाता है, तो उसे इस अभिधान के साथ त्यागा जाता है।

द्रव्य पूंजी की भूमिका के बारे में प्रूदों विचित्र धारणा रखते हैं (*Gratuité du Crédit. Discussion entre M. F. Bastiat et M. Proudhon*, Paris, 1850)। उधारदान प्रूदों को एक अनिष्ट लगता है, क्योंकि वह विक्रय नहीं है। ब्याज के लिए उधारदान "जो चीज़ बेची जा रही है, उसके स्वामित्व का एक बार भी परित्याग किये बिना उस एक ही वस्तु को बारंबार फिर बेचने और उसके दाम को बारंबार प्राप्त करने की क्षमता है" (पृष्ठ ९)।* चीज़ – द्रव्य, मकान, आदि – उस तरह से स्वामी नहीं बदलती, जैसे क्रय-विक्रय में करती है। लेकिन प्रूदों यह नहीं देखते कि ब्याजी पूंजी के रूप में दिये गये द्रव्य के बदले कोई समतुल्य नहीं प्राप्त

---

* उद्धृत शब्द शेवे के हैं, जो *La Voix du peuple* अख़बार के संपादकों में एक हैं और *Gratuité du Crédit. Discussion entre M. F. Bastiat et M. Proudhon*, Paris, 1850 पुस्तक में "पहले पत्र" के लेखक हैं। – सं०

होता है। ठीक है कि क्रय-विक्रय की प्रत्येक क्रिया में, जहां तक कि विनिमय प्रक्रियाओं के होने का सवाल है, चीज़ दे दी जाती है। विक्रीत वस्तु का स्वामित्व सदा त्याग दिया जाता है। किंतु उसका मूल्य नहीं त्याग दिया जाता। विक्रय में जिंस दे दी जाती है, लेकिन उसका मूल्य नहीं दे दिया जाता, जो द्रव्य के रूप में, अथवा, जो यहां उसी का एक और रूप है, वचनपत्रों या प्रोमिसरी नोटों अथवा भुगतान के हकनामों, आदि के रूप में लौट आता है। क्रय करते हुए द्रव्य दे दिया जाता है, किंतु उसका मूल्य नहीं, जिसकी जिंसों के रूप में प्रतिस्थापना हो जाती है। औद्योगिक पूंजीपति के हाथों में समस्त पुनरुत्पादन प्रक्रिया के दौरान वही मूल्य (बेशी मूल्य को छोड़कर) बना रहता है, लेकिन भिन्न रूपों में।

चूंकि विनिमय होता है, अर्थात वस्तुओं का विनिमय, इसलिए मूल्य में कोई अंतर नहीं आता। उसी पूंजीपति के हाथों में हमेशा उतना ही मूल्य रहता है। लेकिन जब तक बेशी मूल्य पूंजीपति द्वारा उत्पादित किया जाता है, तब तक कोई विनिमय नहीं होता। जैसे ही कोई विनिमय होता है, बेशी मूल्य पहले ही जिंसों में समाविष्ट हो जाता है। अगर हम विनिमय की पृथक क्रियाओं के बजाय पूंजी द्वारा निष्पादित संपूर्ण परिपथ, $M-C-M'$, पर दृष्टिपात करें, तो हम देखेंगे कि मूल्य की एक निश्चित मात्रा को निरंतर पेश किया जाता है और उतनी ही मात्रा जमा बेशी मूल्य, अथवा लाभ को परिचलन से निकाला जाता है। किसी भी सूरत में विनिमय की वास्तविक क्रियाएं यह नहीं ज़ाहिर करतीं कि यह प्रक्रिया किस प्रकार प्रवर्तित होती है। और द्रव्य उधारदाता पूंजीपति का ब्याज ठीक M के नाते पूंजी की इस प्रक्रिया पर ही निर्भर करता है और उसी से उत्पन्न होता है।

प्रूदों कहते हैं: "दरअसल, टोप बनानेवाला, जो टोप बेचता है... उनका मूल्य ही प्राप्त करता है – न कुछ ज्यादा और न कुछ कम। लेकिन द्रव्य उधार देनेवाला पूंजीपति... सिर्फ़ अपनी पूंजी की ही पुनःप्राप्ति नहीं करता है, बल्कि वह अपनी पूंजी से अधिक की, विनिमय में वह जो डालता है, उससे अधिक की भी पुनःप्राप्ति करता है; वह अपनी पूंजी के अलावा ब्याज भी पाता है" (पृष्ठ ६९)। यहां टोपफ़रोश ऋणदाता पूंजीपति से भिन्न उत्पादक पूंजीपति को प्रतिनिधित करता है। स्पष्टतः प्रूदों इस रहस्य को नहीं समझ पाये हैं कि कैसे उत्पादक पूंजीपति अपनी जिंसों को उनके मूल्य पर (यहां उत्पादन दामों के ज़रिये समकरण उनके लिए कोई महत्व नहीं रखता) बेच सकता है और फिर भी विनिमय में वह जितनी पूंजी डालता है, उसके अलावा लाभ भी प्राप्त कर सकता है। मान लीजिये कि १०० टोपों का उत्पादन दाम = ११५ पाउंड है और यह उत्पादन दाम टोपों के मूल्य के समान है, जिसका मतलब यह है कि टोप उत्पादित करनेवाली पूंजी की संरचना औसत सामाजिक पूंजी जैसी ही है। अगर लाभ = १५%, तो टोपफ़रोश अपनी जिंसों को उनके मूल्य पर ११५ पाउंड का बेचकर १५ पाउंड लाभ बनाता है। उसके लिए उनकी लागत सिर्फ़ १०० पाउंड है। अगर वह उन्हें स्वयं अपनी पूंजी से उत्पादित करता है, तो वह १५ पाउंड की सारी बेशी अपने जेब में डाल लेता है, लेकिन अगर वह ऐसा उधार पूंजी से करता है, तो उसे ५ पाउंड ब्याज के रूप देने पड़ सकते हैं। इससे अंतर टोपों के मूल्य में नहीं, सिर्फ़ इस मूल्य में पहले से सन्निहित बेशी मूल्य के विभिन्न व्यक्तियों के बीच वितरण में ही आता है। इसलिए अगर ब्याज की अदायगी टोपों के मूल्य को प्रभावित नहीं करती, तो प्रूदों का यह कहना निरर्थक है कि "चूंकि वाणिज्य में जिंसों के दाम की रचना में पूंजी पर ब्याज श्रमिकों की मजदूरी में जोड़ दिया जाता है, इसलिए श्रमिक के लिए अपने ही श्रम के उत्पाद को वापस ख़रीदना असंभव होता है। Vivre en travaillant [काम करते

हुए जीना] के सिद्धांत में ब्याज के शासन के अधीन अंतर्विरोध रहता है" (पृष्ठ १०५)।[56]

पूंजी की प्रकृति को प्रूदों कितना कम समझते थे, यह निम्न कथन से स्पष्ट होता है, जिसमें वह पूंजी की सामान्यरूपेण गति का वर्णन ब्याजी पूंजी की विशिष्ट गति की तरह करते हैं: "चूंकि द्रव्यपूंजी विनिमय से ब्याज के संचयन के ज़रिये अपने स्रोत पर लौट आती है, अतः निष्कर्ष यह है कि सदा उसी व्यक्ति द्वारा किया पुनःनिवेश निरंतर उसी व्यक्ति को लाभ प्रदान करता है," (पृष्ठ १५४)।

वह क्या है, जो ब्याजी पूंजी की विशिष्ट गति में उन्हें अब भी चकराता है? संवर्ग – ख़रीदारी, दाम, वस्तुओं का त्यागा जाना, और वह तात्कालिक रूप, जिसमें बेशी मूल्य यहां प्रकट होता है। संक्षेप में, यह परिघटना कि पूंजी अपने में जिंस बन गयी है और फलतः विक्रय उधारदान में और दाम लाभ के एक अंश में परिणत हो गया है।

पूंजी का अपने प्रस्थान बिंदु को प्रत्यावर्तन ही आम तौर पर अपने समस्त परिपथ में पूंजी की लाक्षणिक गति है। यह किसी भी प्रकार अकेली ब्याजी पूंजी का ही लक्षण नहीं है। उसकी लाक्षणिकता तो किसी भी परिपथ के हस्तक्षेप के बिना उसके प्रत्यावर्तन का बाह्य रूप है। ऋणदाता पूंजीपति कोई समतुल्य प्राप्त किये बिना अपनी पूंजी दे देता है, उसे औद्योगिक पूंजीपति को अंतरित कर देता है। उसके द्वारा अंतरण पूंजी की वास्तविक परिचलन प्रक्रिया का कार्य है ही नहीं। वह अंतरण केवल इस परिपथ को शुरू करने का काम करता है, जिसे औद्योगिक पूंजीपति पूरा करता है। द्रव्य की स्थिति का पहला परिवर्तन रूपांतरण की किसी भी क्रिया को नहीं व्यक्त करता – न क्रय को और न विक्रय को। स्वामित्व नहीं त्यागा गया है, क्योंकि कोई विनिमय नहीं हुआ है और कोई समतुल्य नहीं प्राप्त हुआ है। औद्योगिक पूंजीपति के हाथों से ऋणदाता पूंजीपति के हाथों में द्रव्य का प्रत्यावर्तन केवल पूंजी के दिये जाने की पहली क्रिया की अनुपूर्ति ही करता है। द्रव्य के रूप में दी गयी पूंजी चक्कर लगाकर फिर द्रव्य के रूप में औद्योगिक पूंजीपति के पास लौट आती है। लेकिन चूंकि वह उसके द्वारा निवेशित किये जाते समय उसकी नहीं थी, इसलिए अपने प्रत्यावर्तन के बाद भी वह उसकी नहीं हो सकती। पुन-रुत्पादन प्रक्रिया से होकर गुज़रना पूंजी को किसी भी प्रकार उसकी संपत्ति में परिणत नहीं कर सकता। इसलिए उसे पूंजी ऋणदाता को वापस करनी होगी। पूंजी का पहला व्यय, जो उसे ऋणदाता से ऋणी को अंतरित करता है, एक विधिक लेन-देन है, जिसका वास्तविक पुनरुत्पादन प्रक्रिया से कोई संबंध नहीं है। वह इस प्रक्रिया का पूर्वरंग मात्र है। वापसी अदायगी, जो इसी प्रकार ऋणी से ऋणदाता को वापस प्रवाहित होनेवाली पूंजी को अंतरित करती है, एक और विधिक लेन-देन है, जो पहले की अनुपूर्ति करता है। एक लेन-देन वास्तविक प्रक्रिया का आरंभ करता है, दूसरा इस प्रक्रिया की अनुपूरक क्रिया है। इस प्रकार प्रस्थान बिंदु और

---

[56] अगर प्रूदों की चले, तो "मकान", "द्रव्य", आदि को "पूंजी" के नाते उधार नहीं दिया जायेगा, बल्कि "जिंसों" के नाते... "लागत दाम" पर बेचा ही जायेगा (पृष्ठ ४४)। लूथर की समझ प्रूदों से कुछ बेहतर थी। वह जानते थे कि लाभ बनाना उधार देने या ख़रीदने के ढंग पर नहीं निर्भर करता: "वे क्रय को भी सूदख़ोरी में बदल देते हैं। लेकिन एकसाथ ग्रहण करने के लिए यह ज़रा ज्यादा ही है। हमें पहले एक ही चीज – उधार में सूदख़ोरी – को ही लेना चाहिए, और जब हम उसे रुकवा देंगे (क़यामत के बाद), तो हम **ख़रीदारी में सूदख़ोरी** के ख़िलाफ़ उपदेश देने से नहीं चूकेंगे।" (Martin Luther, *An die Pfarherrn wider den Wucher zu predigen*, Wittenberg, 1540.)

प्रत्यावर्तन बिंदु – उधार पूंजी का दिया जाना और उसकी पुनःप्राप्ति – विधिक लेन-देनों द्वारा प्रवर्तित यादृच्छिक गतियों की तरह प्रकट होते हैं, जो पूंजी की वास्तविक गति के पहले और बाद में होती हैं और जिनका अपने में उससे कोई सरोकार नहीं होता। जहां तक इस वास्तविक गति का संबंध है, तो पूंजी अगर आरंभ से ही औद्योगिक पूंजीपति की हुई होती और उसके पास वापस आयी होती, अतः उसकी अपनी पूंजी के नाते आयी होती, तो भी यही बात हुई होती।

पहली प्रवर्तनात्मक क्रिया में ऋणदाता ऋणी को अपनी पूंजी देता है। अनुपूरक तथा समापन क्रिया में ऋणी पूंजी ऋणदाता को लौटाता है। इसलिए जहां तक इन दोनों के बीच लेन-देन की बात है, और – फ़िलहाल व्याज को विवेचन के बाहर रहने दिया जाये, तो – जहां तक ऋणदाता तथा ऋणी के बीच उधार पूंजी की गति का संबंध है, दोनों क्रियाएं (न्यूनाधिक कालावधि के अंतर से, जिसके दौरान पूंजी के पुनरुत्पादन की वास्तविक प्रक्रिया होती है) सारी गति को अपने दायरे में लेती हैं। और यह गति – वापसी की शर्त पर देना – per se [अपने आप में] उधारदान तथा ऋणादान (उधार लेना) की गति, द्रव्य अथवा जिंसों के सप्रतिबंध अन्यसंक्रामण का विशिष्ट रूप है।

सामान्य रूप में पूंजी की लाक्षणिक गति, द्रव्य का पूंजीपति को प्रत्यावर्तन, अर्थात पूंजी की अपने प्रस्थान बिंदु को वापसी, व्याजी पूंजी के मामले में वास्तविक गति से, जिसका वह एक रूप है, अलग सर्वथा बाह्य आकार ग्रहण करती है। क अपना द्रव्य द्रव्य के नाते नहीं, पूंजी के नाते देता है। पूंजी में कोई रूपांतरण नहीं होता। वह सिर्फ़ एक के पास से दूसरे के पास चली जाती है। उसका पूंजी में वास्तविक रूपांतरण उसके ख के हाथों में पहुंच जाने पर ही होता है। लेकिन क के लिए वह तभी पूंजी बन जाता है कि जब वह उसे ख को देता है। उत्पादन तथा परिचलन प्रक्रियाओं से पूंजी का वास्तविक पश्चप्रवाह सिर्फ़ ख के लिए होता है। लेकिन क के लिए पश्चप्रवाह वही रूप ग्रहण करता है, जो अन्यसंक्रामण करता है। पूंजी ख से क के पास लौट आती है। द्रव्य का एक ख़ास अवधि के लिए दिया जाना, अर्थात उधारदान और व्याज (बेशी मूल्य) के साथ प्राप्त करना ही अपने में व्याजी पूंजी की विशिष्ट गति का पूर्ण रूप है। पूंजी के नाते उधार द्रव्य की वास्तविक गति एक ऐसी क्रिया है कि जो ऋणदाता तथा ऋणी के लेन-देनों के बाहर है। इनमें अंतर्वर्ती क्रिया लुप्त हो जाती है, अदृश्य होती है और प्रत्यक्षतः सम्मिलित नहीं होती। एक विशेष प्रकार की जिंस होने के नाते पूंजी के अन्य-संक्रामण का अपना विशिष्ट ढंग होता है। इसलिए उसका प्रत्यावर्तन भी अपने आपको आर्थिक प्रक्रियाओं की किसी निश्चित श्रृंखला के परिणाम और फल के रूप में नहीं, बल्कि क्रेता तथा विक्रेता के बीच एक विशिष्ट विधिक समझौते के कार्य के रूप में व्यक्त करता है। प्रत्यावर्तन काल पुनरुत्पादन प्रक्रिया की प्रगति पर निर्भर करता है; व्याजी पूंजी के प्रसंग में उसका प्रत्यावर्तन पूंजी के नाते ऋणदाता तथा ऋणी के बीच महज़ समझौते पर निर्भर **प्रतीत होता है**। इसलिए इस लेन-देन के संदर्भ में पूंजी का प्रत्यावर्तन अब पुनरुत्पादन प्रक्रिया से उत्पन्न परिणाम की तरह नहीं प्रतीत होता, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उधार पूंजी ने द्रव्य के रूप को कभी नहीं खोया था। बेशक, यथार्थ में ये लेन-देन वास्तविक पुनरुत्पादक प्रत्यावर्तनों द्वारा ही निर्धारित होते हैं। लेकिन स्वयं लेन-देन में यह प्रत्यक्ष नहीं होता। न ऐसा सदा व्यवहार में ही होता है।

अगर वास्तविक वापसी नियत कालावधि में नहीं होती, तो ऋणी को ऋणदाता के संबंध में अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए अन्य साधनों को खोजना होता है। पूंजी का सादा रूप – एक विशेष राशि, A, के रूप में व्ययित द्रव्य, जो एक नियत कालांतर के बाद इस अवधि के गुज़रने के अलावा और किसी अंतर्वर्ती क्रिया के बिना $A + \frac{1}{x} A$ राशि के रूप में लौट आता है – पूंजी की वास्तविक गति का एक निरर्थक रूप मात्र है।

पूंजी की वास्तविक गति में उसका प्रत्यावर्तन परिचलन प्रक्रिया में एक चरण है। द्रव्य पहले उत्पादन साधनों में परिवर्तित होता है; उत्पादन उन्हें जिंसों में रूपांतरित कर देता है; जिंसें विक्रय के ज़रिये द्रव्य में पुनःपरिवर्तित हो जाती हैं और इस रूप में पूंजीपति के हाथों में लौट आती हैं, जिसने आरंभ में द्रव्य के रूप में पूंजी पेशगी दी थी। लेकिन ब्याजी पूंजी के मामले में अन्यसंक्रामण की ही भांति प्रत्यावर्तन भी पूंजी के स्वामी तथा एक अन्य पक्ष के बीच विधिक लेन-देन का परिणाम होता है। हम सिर्फ़ अन्यसंक्रामण और वापसी अदायगी को ही देखते हैं। अंतराल में जो कुछ होता है, वह अभिलुप्त हो जाता है।

लेकिन चूंकि पूंजी के नाते दिये जानेवाले द्रव्य में उसे पेशगी देनेवाले व्यक्ति के पास, उसे पूंजी के रूप में व्ययित करनेवाले के पास लौट आने का गुण होता है, और चूंकि $M — C — M'$ पूंजी की गति का अंतर्वर्ती रूप है, इसलिए द्रव्य का स्वामी इसी कारण उसे पूंजी के नाते, एक ऐसी चीज़ के नाते उधार दे सकता है, जो अपने प्रस्थान बिंदु पर लौटने का, अपनी गति के दौरान अपने मूल्य को बनाये रखने का और बढ़ाने का गुण रखती है। वह उसे पूंजी के नाते दे देता है, क्योंकि पूंजी के रूप में नियोजित रहने के बाद वह अपने प्रस्थान बिंदु पर लौट आती है, अतः ऋणी द्वारा एक ख़ास अवधि के बाद ठीक इसी कारण वापस की जा सकती है कि वह उसके पास लौट आयी है।

इसलिए पूंजी की तरह द्रव्य का उधारदान – एक विशेष अवधि के बाद उसके लौटाये जाने की शर्त पर उसका अन्यसंक्रामण – इसकी पूर्वापेक्षा करता है कि उसे पूंजी की तरह वस्तुतः नियोजित किया जायेगा और वह अपने प्रारंभ बिंदु को वास्तव में वापस प्रवाहित हो जायेगी। इसलिए द्रव्य द्वारा पूंजी के नाते निष्पन्न वास्तविक चक्र ही उस विधिक लेन-देन का पूर्वाधार है, जिसके द्वारा ऋणी को द्रव्य ऋणदाता को लौटाना होता है। अगर ऋणी द्रव्य का पूंजी की तरह उपयोग नहीं करता, तो यह उसका अपना मामला है। ऋणदाता उसे पूंजी के नाते उधार देता है और इस रूप में उससे यही अपेक्षित होता है कि वह पूंजी के कार्यों का निष्पादन करेगी, जिनमें द्रव्य के रूप में अपने प्रारंभ बिंदु पर लौट आने तक द्रव्य पूंजी का परिपथ भी सम्मिलित है।

परिचलन क्रियाएं $M — C$ तथा $C — M'$, जिनमें एक ख़ास मूल्य राशि द्रव्य अथवा जिंसों की तरह कार्य करती है, कुल गति के चरण मात्र, केवल मध्यवर्ती प्रक्रियाएं ही हैं। पूंजी के नाते वह संपूर्ण $M — M'$ गति संपन्न करती है। वह द्रव्य अथवा किसी न किसी रूप में मूल्यों की राशि के नाते पेश की जाती है और मूल्यों की राशि के नाते ही वापस लौटती है। द्रव्य उधार देनेवाला उसे जिंसें ख़रीदने में व्ययित नहीं करता, अथवा, यदि यह मूल्य राशि जिंसरूप में है, तो वह उसे द्रव्य के बदले नहीं बेचता। वह उसे पूंजी की तरह, $M — M'$ की तरह, एक मूल्य की तरह पेशगी देता है, जो एक ख़ास अवधि के बाद अपने प्रस्थान बिंदु पर लौट आती है। वह क्रय अथवा विक्रय के बजाय उधार देता है। इसलिए यह उधारदान ही

मूल्य का द्रव्य अथवा जिंसों के नाते अन्यसंक्रामण करने के बजाय **पूंजी के नाते** अन्यसंक्रामण करने का उपयुक्त रूप है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उधारदान ऐसे लेन-देनों का रूप भी नहीं ले सकता, जिनका पूंजीवादी पुनरुत्पादन प्रक्रिया के साथ कोई संबंध नहीं होता।

हमने अभी तक उधार **पूंजी** की उसके स्वामी और औद्योगिक पूंजीपति के बीच गतियों पर ही विचार किया है। अब हमें **ब्याज** का विवेचन करना चाहिए।

उधारदाता अपना द्रव्य पूंजी के नाते ख़र्च करता है; उसके द्वारा दूसरे व्यक्ति को मूल्य की जो राशि दी जाती है, वह पूंजी होती है और फलतः उसके पास लौट आती है। किंतु उसका मात्र प्रत्यावर्तन उधार दी मूल्य राशि का **पूंजी के नाते** पश्चप्रवाह नहीं, वरन केवल उधार दी मूल्य राशि का प्रत्यावर्तन ही होगा। पूंजी के नाते लौटने के लिए दी गयी मूल्य राशि को गति में न केवल बनाये ही रखे जाना चाहिए, बल्कि प्रसारित भी होना चाहिए, मूल्य में बढ़ना चाहिए, अर्थात बेशी मूल्य के साथ, $M+\Delta M$ के रूप में लौटना चाहिए, जिसमें अंतोक्त ब्याज अथवा औसत लाभ का एक अंश है, जो कार्यरत पूंजीपति के हाथों में नहीं रहता, बल्कि द्रव्य पूंजीपति के हिस्से में चला जाता है।

इस तथ्य का कि अंतोक्त ने उसे पूंजी के नाते दिया है, मतलब यह है कि वह उसे $M+\Delta M$ के नाते वापस लौटायी जानी चाहिए। आगे चलकर हमें अपना ध्यान उस रूप की तरफ़ भी मोड़ना होगा, जिसमें इस बीच ब्याज नियत अंतरालों पर चुकाया जाता है, लेकिन पूंजी के बिना, जिसकी वापसी एक लंबी अवधि की समाप्ति पर होती है।

द्रव्य पूंजीपति उधार लेनेवाले को, औद्योगिक पूंजीपति को, क्या देता है? वह उसे वास्तव में क्या अंतरित करता है? वास्तव में सिर्फ़ द्रव्य हस्तांतरित करने की यह क्रिया ही है कि जो द्रव्य उधार देने को द्रव्य के पूंजी के नाते अन्यसंक्रामण में, अर्थात पूंजी के एक जिंस के नाते अन्यसंक्रामण में बदल देती है।

केवल अन्यसंकामण की इस क्रिया द्वारा ही द्रव्य का उधारदाता पूंजी को जिंस के नाते उधार देता है, अथवा उसके अधिकाराधीन जिंस दूसरे व्यक्ति को पूंजी के नाते दी जाती है।

सामान्य विक्रय में किस चीज़ का अन्यसंक्रामण होता है? विक्रीत जिंस के मूल्य का नहीं, क्योंकि यह बस उसके रूप को ही बदलता है। मूल्य जिंस में उसके वास्तव में द्रव्य की तरह विक्रेता के हाथों में पहुंचने के पहले उसके दाम की शक्ल में अभिकल्पित रूप में अस्तित्वमान होता है। वही मूल्य और वही मूल्य राशि मात्र अपना रूप बदलते हैं। एक प्रसंग में वे जिंसरूप में अस्तित्वमान होते हैं, तो दूसरे में द्रव्यरूप में। विक्रेता वास्तव में जिसका अन्यसंक्रामण करता है और इसलिए जो क्रेता के वैयक्तिक अथवा उत्पादक उपभोग में चला जाता है, वह है जिंस का उपयोग मूल्य, उपयोग मूल्य के रूप में जिंस।

तो, भला यह उपयोग मूल्य क्या है, जिसे द्रव्य पूंजीपति क़र्ज़ की मीयाद के लिए तज देता है और उत्पादक पूंजीपति – उधार लेनेवाले – के लिए छोड़ देता है? यह वह उपयोग मूल्य है, जो द्रव्य अपनी प्रक्रिया के दौरान अपने मूल मूल्य परिमाण को बनाये रखने के अलावा पूंजी बनने की, पूंजी के कार्यों को निष्पन्न करने की और एक निश्चित बेशी मूल्य, औसत लाभ, सृजित करने की (जो भी इसके ऊपर अथवा नीचे होता है, वह यहां सांयोगिक ही होता है) क्षमता रखने की बदौलत प्राप्त करता है। अन्य जिंसों के मामले में उपयोग मूल्य अंततोगत्वा

उपभुक्त हो जाता है। उनका सत्व, और उसके साथ-साथ उनका मूल्य भी लुप्त हो जाता है। इसके विपरीत, पण्य-पूंजी की विशिष्टता यह है कि उसका मूल्य तथा उपयोग मूल्य न केवल अक्षत रहते हैं, बल्कि उसके उपयोग मूल्य के उपभोग के ज़रिये बढ़ते भी हैं।

द्रव्य पूंजीपति पूंजी के नाते द्रव्य के इस उपयोग मूल्य – औसत लाभ उत्पादित करने की इस क्षमता – को ही उस अवधि के लिए औद्योगिक पूंजीपति को सौंप देता है, जिसके दौरान वह अंतोक्त के अधिकाराधीन रहती है।

इस मामले में इस प्रकार उधार दिये हुए द्रव्य की श्रम शक्ति से औद्योगिक पूंजीपति के साथ उसके संबंध में कुछ समानता होती है। अंतर यह है कि औद्योगिक पूंजीपति को श्रम शक्ति का मूल्य अदा करना होता है, जबकि उसे उधार ली पूंजी का मूल्य सिर्फ़ वापस ही करना होता है। औद्योगिक पूंजीपति के लिए श्रम का उपयोग मूल्य यह है कि श्रम शक्ति अपने उपभोग में उससे अधिक मूल्य (लाभ) सृजित करती है, जितना स्वयं उसमें होता है, जितने की वह है, उससे अधिक मूल्य उत्पन्न करती है। यह अतिरिक्त मूल्य औद्योगिक पूंजीपति के लिए उपयोग मूल्य है। और इसी प्रकार उधारदत्त पूंजी का उपयोग मूल्य उसकी मूल्य उत्पन्न करने और बढ़ाने की क्षमता के रूप में प्रकट होता है।

वास्तव में द्रव्य पूंजीपति एक उपयोग मूल्य का अन्यसंक्रामण करता है और इस प्रकार वह जो कुछ भी देता है, वह सब जिंस की तरह ही दिया जाता है। जिंस के साथ सादृश्य per se [अपने आप में] इस लिहाज से भी पूरा है। पहली बात तो यही है कि यह एक ऐसा मूल्य है कि जो एक हाथ से दूसरे को अंतरित होता है। सामान्य जिंस के, जिंसरूप में जिंस के, मामले में क्रेता तथा विक्रेता के हाथों में उतना ही मूल्य रहता है, अलबत्ता सिर्फ़ भिन्न-भिन्न रूपों में; दोनों के पास उतना ही मूल्य है, जितना उनके पास लेन-देन के पहले था और जिसका उन्होंने अन्यसंक्रामण किया था – एक का जिंस के रूप में और दूसरे का द्रव्य के रूप में। अंतर यह है कि उधार के मामले में द्रव्य पूंजीपति ही लेन-देन में कोई मूल्य त्यागता है, लेकिन वह उसे प्रत्याशित वापसी के ज़रिये बनाये रखता है। ऋण के लेन-देन में सिर्फ़ एक पक्ष ही मूल्य प्राप्त करता है, क्योंकि सिर्फ़ एक पक्ष ही मूल्य को त्यागता है। दूसरी बात यह है कि एक पक्ष द्वारा वास्तविक उपयोग मूल्य त्यागा जाता है और दूसरे पक्ष द्वारा प्राप्त तथा उपभुक्त किया जाता है। लेकिन सामान्य जिंसों के विपरीत यह उपयोग मूल्य अपने आप में मूल्य होता है, अर्थात द्रव्य के पूंजी के नाते प्रयोग के ज़रिये मूल मूल्य पर सिद्धिकृत आधिक्य होता है। लाभ यही उपयोग मूल्य है।

उधार दिये द्रव्य का उपयोग मूल्य उसका पूंजी का काम दे सकने की, और इस प्रकार औसत अवस्थाओं के अंतर्गत औसत लाभ उत्पादित करने की क्षमता में निहित होता है।[57]

तो, भला औद्योगिक पूंजीपति क्या अदा करता है, और इसलिए उधार ली पूंजी का दाम क्या है? मैसी के अनुसार, "लोग जो उधार लेते हैं, उसके उपयोग के लिए ब्याज के रूप

---

[57] "ब्याज लेने का औचित्य व्यक्ति के लाभ बनाने या न बनाने पर नहीं, वरन द्रव्य की ठीक से नियोजित किये जाने पर लाभ उत्पन्न करने की क्षमता पर निर्भर करता है"। (*An Essay on the Governing Causes of the Natural Rate of Interest, wherein the sentiments of Sir W. Petty and Mr. Locke, on that head, are considered*, London, 1750, p. 49. इस गुमनाम कृति के लेखक जे० मैसी हैं।)

में जो अदा करते हैं, वह उस लाभ का हिस्सा होता है, जो उसके द्वारा उत्पादित किया जा सकता है," वहीं, पृष्ठ ४६ [58]।

एक सामान्य जिंस का क्रेता जो ख़रीदता है, वह उसका उपयोग मूल्य है; वह जिसकी अदायगी करता है, वह उसका मूल्य है। इसी प्रकार द्रव्य उधार लेनेवाला जो ख़रीदता है, वह उसका पूंजी के नाते उपयोग मूल्य ही है, लेकिन वह अदायगी किसकी करता है? निश्चय ही उसके दाम या मूल्य की नहीं, जैसे सामान्य जिंसों के मामले में होता है। उधार लेनेवाले तथा देनेवाले के बीच हस्तांतरित होनेवाले मूल्य में कोई रूप परिवर्तन नहीं होता, जैसे क्रेता और विक्रेता के बीच होता है, जब वह एक प्रसंग में द्रव्य के रूप में, तो दूसरे में जिंस के रूप में रहता है। अन्यसंक्रामित तथा प्रत्यावर्तित मूल्य की एकरूपता यहां सर्वथा भिन्न प्रकार से प्रकट होती है। मूल्य राशि, अर्थात द्रव्य, बिना किसी समतुल्य के दी जाती है और एक ख़ास अवधि के बाद वापस की जाती है। उधार देनेवाला उसी मूल्य का सदा, उसके अपने हाथों से उधार लेनेवाले के हाथों में पहुंच जाने के बाद भी, स्वामी बना रहता है। जिंसों के सामान्य विनिमय में द्रव्य सदा क्रेता की तरफ़ से आता है, लेकिन उधार देने में वह सदा विक्रेता की तरफ़ से आता है। यहां द्रव्य को एक विशेष अवधि के लिए देनेवाला विक्रेता होता है और उसे जिंस के रूप में प्राप्त करनेवाला पूंजी का ग्राहक होता है। लेकिन यह सिर्फ़ तभी तक संभव है कि जब तक द्रव्य पूंजी की तरह कार्य करता है और इसलिए पेशगी दिया जाता है। उधार लेनेवाला द्रव्य को पूंजी के नाते, अधिक मूल्य उत्पादित करनेवाले मूल्य के नाते उधार लेता है। लेकिन अपने दिये जाते समय यह द्रव्य अभी संभाव्य पूंजी ही होता है, जिस प्रकार अपने प्रारंभ बिंदु पर, अपने दिये जाते समय कोई भी अन्य पूंजी होती है। अपने नियोजन के ज़रिये ही वह अपना मूल्य प्रसार करता है और पूंजी के नाते अपना सिद्धिकरण करता है। तथापि उधार लेनेवाले को उसे **सिद्धिकृत** पूंजी के रूप में, अतः मूल्य जमा बेशी मूल्य (ब्याज) के रूप में लौटाना होता है। और अंतोक्त केवल सिद्धिकृत लाभ का अंश ही हो सकता है। उसका एक अंश मात्र, न कि सारे का सारा। कारण कि उधार पूंजी का उधार लेनेवाले के लिए यही उपयोग मूल्य है कि वह उसके लिए लाभ उत्पादित करती है। अन्यथा ऋणदाता की ओर से उपयोग मूल्य का कोई अन्यसंक्रामण न हुआ होता। दूसरी ओर, सारा ही लाभ उधार लेनेवाले के हिस्से में नहीं जा सकता। अन्यथा वह अन्यसंक्रामित उपयोग मूल्य के लिए कुछ भी न देगा और ऋणदाता को पेशगी पूंजी सामान्य द्रव्य की तरह लौटायेगा, न कि पूंजी की तरह, सिद्धिकृत पूंजी की तरह, क्योंकि वह सिर्फ़ $M + \Delta M$ के रूप में ही सिद्धिकृत पूंजी होती है।

दोनों, ऋण देनेवाला तथा ऋण लेनेवाला, उसी द्रव्य राशि को पूंजी की तरह व्यय करते हैं। लेकिन सिर्फ़ ऋण लेनेवाले के हाथों में ही वह पूंजी के रूप में काम देती है। उसी द्रव्य राशि के दो व्यक्तियों के लिए पूंजी के रूप में दोहरे अस्तित्व से लाभ दुगुना नहीं हो जाता। द्रव्य सिर्फ़ लाभ को बांटकर ही दोनों के लिए पूंजी का काम कर सकता है। जो अंश ऋणदाता के हिस्से में जाता है, वह ब्याज या सूद कहलाता है।

जैसे कि कल्पना की गयी है, सारा लेन-देन दो प्रकार के पूंजीपतियों के बीच होता है – द्रव्य पूंजीपति और औद्योगिक अथवा व्यापारी पूंजीपति।

---

[58] "धनी लोग अपने द्रव्य का स्वयं उपयोग करने के बजाय... उसे और लोगों को उधार दे देते हैं, जिससे वे उससे लाभ बनायें और इस प्रकार बनाये गये लाभ का एक अंश द्रव्य के स्वामियों के लिए आरक्षित रखें" (पूर्वो०, पृष्ठ २३-२४)।

यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि यहां पूंजी के नाते पूंजी जिंस है, अथवा यहां विवेचित जिंस पूंजी है। इसलिए यहां देखे जानेवाले सभी संबंध सामान्य जिंस के दृष्टिकोण से, अथवा पूंजी, जहां तक वह पुनरुत्पादन प्रक्रिया में पण्य पूंजी की तरह काम करती है, के दृष्टिकोण से असंगत होंगे। विक्रय तथा क्रय के बजाय ऋण देना तथा लेना एक ऐसा भेद है, जो यहां जिंस – पूंजी – के विशिष्ट स्वरूप से ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार यह तथ्य भी कि यहां ब्याज अदा किया जाता है, न कि जिंस का दाम। अगर हम ब्याज को द्रव्य पूंजी का दाम कहें, तो यह दाम का जिंसों के दाम की अवधारणा से सर्वथा भिन्न असंगत रूप होगा।[59] यहां दाम को अपने शुद्धतः अमूर्त और निरर्थक रूप में परिणत कर लिया गया है, जो यह दिखलाता है कि यह किसी न किसी प्रकार एक उपयोग मूल्य का काम देनेवाली किसी चीज के लिए अदा की जानेवाली एक ख़ास द्रव्य राशि है, जबकि दाम की अवधारणा वास्तव में द्रव्य में अभिव्यक्त किसी उपयोग मूल्य के मूल्य की द्योतक है।

पूंजी के दाम को द्योतित करनेवाला ब्याज आरंभ से ही एकदम असंगत अभिव्यक्ति है। प्रसंगाधीन जिंस का दोहरा मूल्य है, पहले तो मूल्य, और फिर इस मूल्य से भिन्न दाम, जबकि दाम मूल्य की द्रव्य में अभिव्यक्ति को प्रकट करता है। द्रव्य पूंजी द्रव्य की एक राशि, अथवा जिंसों की एक ख़ास मात्रा के एक द्रव्य राशि में नियत किये मूल्य के अलावा और कुछ नहीं है। अगर कोई जिंस पूंजी के नाते उधार दी जाती है, तो वह मात्र एक द्रव्य राशि का प्रच्छन्न रूप ही है। कारण कि जो चीज पूंजी की तरह उधार दी गयी है, वह इतने-इतने पाउंड रूई नहीं है, बल्कि रूई के रूप में उसके मूल्य के नाते अस्तित्वमान इतनी-इतनी द्रव्य राशि है। इसलिए पूंजी का दाम उसे एक द्रव्य राशि की तरह ही सूचित करता है, चाहे मुद्रा (करेंसी) की तरह न ही सही, जैसे श्री टॉरेंस सोचते हैं (पादटिप्पणी [59] देखिये)। फिर भला एक मूल्य राशि का स्वयं अपने दाम के अलावा, स्वयं उसके अपने द्रव्यरूप में व्यक्त दाम के अलावा और दाम कैसे हो सकता है? आख़िर दाम किसी जिंस का उसके उपयोग मूल्य से भिन्न मूल्य होता है (यह बात बाजार दाम के बारे में भी सही है, जिसका मूल्य से अंतर गुण का नहीं, बल्कि मात्रा का होता है, जिसका आशय सिर्फ़ मूल्य के परिमाण से होता है)। ऐसा दाम, जो मूल्य से गुण में भिन्न हो, एक निरर्थक असंगति है।[60]

पूंजी अपने को स्वप्रसार के ज़रिये पूंजी की तरह अभिव्यक्त करती है। उसके स्वप्रसार का परिमाण उस मात्रात्मक परिमाण को व्यक्त करता है, जिसमें वह पूंजी की तरह अपना

---

[59] "करेंसी (मुद्रा) के लिए प्रयुक्त किये जाने पर 'मूल्य' पद के तीन भिन्न अर्थ होते हैं... २) किसी भावी तिथि को... प्राप्त होनेवाली उतनी ही मात्रा की मुद्रा की तुलना में... वस्तुतः अपने पास विद्यमान मुद्रा। इस प्रसंग में मुद्रा का मूल्य ब्याज की दर द्वारा मापा जाता है, और ब्याज की दर देय पूंजी की मात्रा और उसके लिए मांग के बीच अनुपात द्वारा निर्धारित होती है।" (Colonel R. Torrens, *On the Operation of the Bank Charter Act of 1844, etc.*, 2nd ed., 1847, pp. 5,6.)

[60] "जिंसों के विनिमय मूल्य और पूंजी के उपयोग मूल्य, दोनों को द्योतित करने के लिए 'द्रव्य का मूल्य' अथवा 'मुद्रा का मूल्य' पद को, जब उसका बिना भेद किये प्रयोग किया जाता है, अनेकार्थकता उलझन का एक सतत स्रोत है।" (Tooke, *Inquiry into the Currency Principle*, p. 7.) यह मुख्य उलझन (जो स्वयं मामले में निहित है) कि मूल्य स्वयं (ब्याज) पूंजी का उपयोग मूल्य बन जाता है, टूक के ध्यान से निकल गयी है।

सिद्धिकरण करती है। उसके द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य अथवा लाभ – उसकी दर अथवा परिमाण – को केवल पेशगी पूंजी के मूल्य के साथ तुलना द्वारा ही मापा जा सकता है। इसलिए ब्याजी पूंजी का न्यूनाधिक स्वप्रसार भी इसी प्रकार केवल ब्याज की मात्रा की, कुल लाभ में उसके अंश की पेशगी पूंजी के मूल्य के साथ तुलना द्वारा ही मापा जा सकता है। इसलिए अगर दाम जिंस के मूल्य को व्यक्त करता है, तो ब्याज द्रव्य पूंजी के स्वप्रसार को व्यक्त करता है और इस प्रकार उसके लिए ऋणदाता को दिये गये दाम की तरह प्रकट होता है। इससे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि क्रय-विक्रय में द्रव्य के माध्यम से सरल संबंधों को यहां लागू करना, जैसे प्रूदों करते हैं, आरंभ से ही कितना बेमानी है। बुनियादी पूर्वाधार ठीक यह है कि द्रव्य पूंजी की तरह कार्य करता है और इस प्रकार उसी रूप में, अर्थात संभाव्य पूंजी के रूप में, अन्य व्यक्ति को अंतरित किया जा सकता है।

लेकिन पूंजी यहां जिंस के रूप में सामने आती है, क्योंकि वह बाज़ार में पेश की जाती है और द्रव्य के उपयोग मूल्य का वस्तुतः पूंजी के नाते अन्यसंक्रामण होता है। तथापि उसका उपयोग मूल्य लाभ उत्पादित करने में निहित है। पूंजी के नाते नियोजित द्रव्य अथवा जिंसों का मूल्य द्रव्य के नाते अथवा जिंसों के नाते उनके मूल्य पर नहीं, बल्कि उनके द्वारा अपने स्वामी के लिए उत्पादित बेशी मूल्य की मात्रा पर निर्भर करता है। पूंजी का उत्पाद लाभ है। पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर यह द्रव्य का एक भिन्न उपयोग मात्र है – आया कि उसे द्रव्य कि तरह ख़र्च किया जाता है, या पूंजी की तरह पेशगी दिया जाता है। द्रव्य, अथवा जिंसें, अपने आप में संभाव्य पूंजी हैं, जैसे श्रम शक्ति भी संभाव्य पूंजी है। कारण यह कि १) द्रव्य उत्पादन तत्वों में परिवर्तित किया जा सकता है और, जैसे कि वह है भी, उनकी अमूर्त अभिव्यक्ति मात्र है – उनके मूल्य के रूप में अस्तित्व की; २) संपदा के भौतिक तत्वों में संभाव्य रूप में पूंजी बन जाने का गुण होता है, क्योंकि उनका अनुपूरक वैपरीत्य, जो उन्हें पूंजी में परिणत करता है, अर्थात उजरती श्रम, पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर उपलभ्य है।

भौतिक संपदा के अंतर्विरोधी सामाजिक लक्षण – उजरती श्रम के नाते श्रम से उसका विरोध – अपने में पूंजीवादी संपत्ति में उत्पादन प्रक्रिया से निरपेक्षतः व्यक्त होते हैं। स्वयं पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से अलग रखने पर यह विशेष तथ्य, जो उसी से निरंतर उत्पन्न होता है और उसके सतत परिणाम के रूप में एक सतत पूर्वापेक्षा का काम करता है, अपने आप को इस बात में व्यक्त करता है कि द्रव्य और जिंसें समान रूप में इस लिहाज़ से गुप्त, संभाव्य, पूंजी हैं कि उन्हें पूंजी की तरह बेचा जा सकता है, और इस रूप में वे अन्यों के श्रम को आत्मसात करने का दावा करते हुए अन्यों के श्रम को अपने अधिकार में ला सकते हैं और इसलिए स्वप्रसारी मूल्यों को व्यक्त करते हैं। यह भी स्पष्टतः प्रत्यक्ष हो जाता है कि यह संबंध, न कि पूंजीपति द्वारा समतुल्य की तरह प्रस्तुत श्रम, ही अन्यों के श्रम को आत्मसात करने के अधिकार और साधन प्रदान करता है।

इसके अलावा, पूंजी जिंस की सूरत में सामने आती है, क्योंकि लाभ का ब्याज और स्वयं लाभ में विभाजन पूर्ति तथा मांग द्वारा, अर्थात प्रतिद्वंद्विता द्वारा नियमित किया जाता है, जैसे जिंसों के बाज़ार दाम भी नियमित किये जाते हैं। लेकिन यहां अंतर उतना ही प्रत्यक्ष है कि जितना सादृश्य है। अगर पूर्ति और मांग मेल खाती हैं, तो जिंसों का बाज़ार दाम उनके उत्पादन दाम के अनुरूप होता है, अर्थात तब उनका दाम पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्हित नियमों द्वारा, प्रतिद्वंद्विता से निरपेक्ष रूप में नियमित किया जाता प्रतीत होता है, क्योंकि मांग तथा

पूर्ति के उतार-चढ़ाव बाज़ार दामों के उत्पादन दामों से विचलनों के अलावा और किसी चीज़ की व्याख्या नहीं करते। ये विचलन आपस में एक दूसरे को संतुलित करते हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप कुछ लंबी कालावधियों के दौरान औसत बाज़ार दाम उत्पादन दामों के बराबर रहते हैं। जैसे ही पूर्ति और मांग मेल खाती हैं कि ये शक्तियां काम करना, अर्थात एक दूसरी का प्रतिकरण करना बंद कर देती हैं और तब दाम निर्धारित करने का सामान्य नियम अलग-अलग मामलों पर भी लागू होने लग जाता है। तब बाज़ार दाम न केवल बाज़ार दाम के उतार-चढ़ाव के औसत के रूप में, बल्कि अपने प्रत्यक्ष रूप में भी उत्पादन दाम के अनुरूप हो जाता है, जो स्वयं उत्पादन प्रणाली के अंतर्भूत नियमों द्वारा नियमित किया जाता है। यही बात मज़दूरी पर भी लागू होती है। अगर पूर्ति तथा मांग मेल खाती हैं, तो वे एक दूसरे के प्रभाव को निराकृत कर देती हैं और मज़दूरी श्रम शक्ति के मूल्य के बराबर हो जाती है। लेकिन द्रव्य पूंजी पर ब्याज की बात और है। इस मामले में नियम से विचलनों को प्रतिद्वंद्विता नहीं नियमित करती। बल्कि यह कहना चाहिए कि यहां प्रतिद्वंद्विता द्वारा थोपे गये नियम के अलावा विभाजन का और कोई नियम नहीं है, क्योंकि, जैसे कि हम आगे चलकर देखेंगे, "नैसर्गिक" ब्याज दर जैसी कोई चीज नहीं होती। नैसर्गिक ब्याज दर से लोगों का आशय केवल मुक्त प्रतिद्वंद्विता द्वारा स्थापित नियमों से ही होता है। ब्याज दर के लिए कोई "नैसर्गिक" सीमाएं नहीं होतीं। जहां भी प्रतिद्वंद्विता केवल विचलनों और उतार-चढ़ावों का ही निर्धारण नहीं करती, अतः जहां भी विरोधी शक्तियों का निराकरण हर किसी निर्धारण का अंत कर देता है, वहां निर्धारण स्वयं यादृच्छिक और नियमनिरपेक्ष हो जाता है। इस बारे में अगले अध्याय में अधिक विस्तार के साथ बताया जायेगा।

ब्याजी पूंजी के मामले में सभी कुछ सतही प्रतीत होता है – पूंजी का पेशगी दिया जाना मात्र उधार देनेवाले से उधार लेनेवाले को अंतरण और सिद्धिकृत पूंजी का पश्चवाह मात्र वापस अंतरण, उधार लेनेवाले द्वारा ऋणदाता को ब्याज के साथ वापसी भुगतान जैसा ही लगता है। यही बात पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में अंतर्भूत इस तथ्य पर भी लागू होती है कि लाभ दर एक अकेले आवर्त में बननेवाले लाभ के पेशगी पूंजी के मूल्य के साथ संबंध द्वारा ही नहीं, बल्कि इस आवर्त अवधि की दीर्घता द्वारा भी निर्धारित होती है, अतः औद्योगिक पूंजी द्वारा निश्चित कालावधियों के भीतर प्रदत्त लाभ के रूप में निर्धारित होती है। ब्याजी पूंजी के मामले में भी यह बात इसी तरह सतह पर प्रकट होती है, जिससे यह लगता है कि ऋणदाता को एक निश्चित कालावधि के लिए एक निश्चित ब्याज दिया जाता है।

वस्तुओं के आंतरिक संबंध में अपनी सामान्य अंतर्दृष्टि से रूमानी आदम म्यूल्लर कहते हैं (*Elemente der Staatskunst*, Berlin, 1809, Dritter Theil, S. 138): "वस्तुओं के दामों के निर्धारण में समय पर विचार नहीं किया जाता है, जबकि ब्याज के निर्धारण में समय ही मुख्य कारक होता है।" वह इस बात को नहीं देखते कि उत्पादन काल और परिचलन काल जिंस दामों के निर्धारण में कैसे प्रवेश करते हैं और कैसे यही वह चीज है कि जो पूंजी के आवर्त की एक नियत अवधि के लिए लाभ दर को निर्धारित करती है, जबकि ब्याज एक नियत अवधि के लिए लाभ के ठीक इसी निर्धारण द्वारा निर्धारित होता है। और सभी जगहों की तरह यहां भी उनकी मनीषा सतह पर धूल के बादलों को देखने और इसके बाद अहंकारपूर्वक यह घोषित कर देने में ही प्रकट होती है कि यह धूल कोई रहस्यमय और महत्वपूर्ण चीज है।

अध्याय २२

लाभ का विभाजन। ब्याज दर। नैसर्गिक ब्याज दर

साख अथवा उधार (क्रेडिट) की अन्य सभी परिघटनाओं की ही भांति, जिनसे आगे चलकर हमारा साबिक़ा पड़ेगा, इस अध्याय के विषय का भी यहां विस्तार से विश्लेषण नहीं किया जा सकता। क़र्ज़ देने और लेनेवालों के बीच प्रतिद्वंद्विता तथा द्रव्य बाज़ार के परिणामी मामूली उतार-चढ़ाव हमारे अन्वेषण की परिधि के बाहर पड़ते हैं। ब्याज दर द्वारा औद्योगिक चक्र के दौरान निर्मित परिपथ अपने निरूपण के लिए स्वयं इस चक्र के विश्लेषण की अपेक्षा करता है, लेकिन उसे भी यहां नहीं दिया जा सकता। विश्व बाज़ार में ब्याज दर के न्यूनाधिक लगभग समकरण के बारे में भी यही बात सही है। यहां हमारा सरोकार सिर्फ़ ब्याजी पूंजी के स्वतंत्र रूप और लाभ से भिन्न ब्याज के विविक्त रूप से ही है।

हम जिस कल्पना को लेकर चल रहे हैं, चूंकि उसके अनुसार ब्याज सिर्फ़ औद्योगिक पूंजीपति द्वारा द्रव्य पूंजीपति को अदा किये जानेवाले लाभ का एक भाग ही होता है, इसलिए ब्याज की अधिकतम सीमा स्वयं लाभ ही है, जिस हालत में उत्पादक पूंजीपति द्वारा जेब में डाला जानेवाला अंश =0 होगा। ऐसे आपवादिक मामलों के अलावा, जिनमें ब्याज वस्तुतः लाभ से अधिक हो सकता है, लेकिन ऐसी सूरत में लाभ से अदा नहीं किया जा सकता, ब्याज की अधिकतम सीमा को कुल लाभ वियुत उसका वह अंश (जिसका बाद में विश्लेषण किया जायेगा) माना जा सकता है, जो अधीक्षण मजदूरी में परिणत हो जाता है। ब्याज की न्यूनतम सीमा बिलकुल अनिर्धार्य होती है। वह गिरकर किसी भी न्यूनतम हद तक जा सकती है। लेकिन ऐसी सूरत में प्रतिकारक प्रभाव हमेशा उसे फिर इस आपेक्षिक न्यूनतम के ऊपर उठाने लग जायेंगे।

"पूंजी के उपयोग के लिए अदा की जानेवाली रक़म और स्वयं इस पूंजी के बीच संबंध ब्याज दर को व्यक्त करता है, जिसे द्रव्य में मापा जाता है।" "ब्याज दर १) लाभ दर पर; २) कुल लाभ के ऋणदाता तथा ऋण लेनेवाले के बीच विभाजित होने के अनुपात पर निर्भर करती है।" (*Economist*, २२ जनवरी, १८५३।) "अगर लोग जो उधार लेते हैं, उसके उपयोग के लिए जो ब्याज के रूप में देते हैं, वह उस लाभ का हिस्सा हो, जो वह उत्पादित कर सकता है, तो यह ब्याज सदा इस लाभ द्वारा शासित होना चाहिए।" (Massie, *l.* c.,p. 49.)

आइये, पहले यह मान लेते हैं कि कुल लाभ और उसके द्रव्य पूंजीपति को ब्याज के रूप में अदा किये जानेवाले भाग के बीच एक नियत संबंध है। इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि ब्याज कुल लाभ के साथ-साथ उठेगा अथवा गिरेगा और स्वयं कुल लाभ सामान्य लाभ दर तथा उसके

उतार-चढ़ाव द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए, अगर औसत लाभ दर = २०% हो और ब्याज = लाभ का १/४, तो ब्याज दर = ५% होगी ; अगर औसत लाभ दर = १६% हो, तो ब्याज दर = ४% होगी। लाभ दर २०% हो जाये, तो ब्याज दर बढ़कर ८% हो जायेगी, लेकिन औद्योगिक पूंजीपति अब भी उतना ही लाभ बनायेगा कि जितना वह तब बनाता कि अगर लाभ दर = १६% और ब्याज दर = ४% होती, अर्थात १२%। अगर ब्याज सिर्फ़ ६% या ७% तक चढ़ता है, तो ऐसी हालत में भी वह लाभ के अधिक बड़े भाग को रख सकेगा। अगर ब्याज औसत लाभ के एक स्थिर नियतांश के बराबर हो, तो इससे यह नतीजा निकलता है कि सामान्य लाभ दर जितना ही अधिक ऊंची होगी, कुल लाभ तथा ब्याज के बीच निरपेक्ष अंतर उतना ही अधिक होगा और उत्पादक पूंजीपति द्वारा कुल लाभ का उतना ही अधिक अंश हथियाया जायेगा और विलोमतः इसका उलटा होगा। मान लीजिये कि ब्याज = = औसत लाभ का १/५। १० का पंचमांश = २ ; कुल लाभ और ब्याज के बीच अंतर = ८। २० का १/५ = ४ ; अंतर = २० − ४ = १६ ; २५ का १/५ = ५ ; अंतर = २५ − ५ = २० ; ३० का १/५ = ६ ; अंतर = ३० − ६ = २४ ; ३५ का १/५ = ७ ; अंतर = ३५ − ७ = २८। ४%, ५%, ६%, ७% की भिन्न-भिन्न ब्याज दरें यहां हमेशा कुल लाभ के पंचमांश, अथवा २०% के अलावा और कुछ न व्यक्त करेंगी। इसलिए अगर लाभ दरें भिन्न हों, तो भिन्न ब्याज दरें कुल लाभ के उन्हीं अशेषभाजक अंशों, अथवा कुल लाभ के उसी प्रतिशतांश को व्यक्त कर सकती हैं। ब्याज के ऐसे स्थिर अनुपातों के अंतर्गत औद्योगिक लाभ (कुल लाभ और ब्याज के बीच अंतर) सामान्य लाभ दर के यथानुपात बढ़ेगा और विलोमतः इसका उलटा होगा।

अगर अन्य अवस्थाओं को समान मान लिया जाये, अर्थात अगर ब्याज तथा कुल लाभ के बीच अनुपात को न्यूनाधिक स्थिर मान लिया जाये, तो कार्यरत पूंजीपति लाभ दर के स्तर के अनुक्रमानुपात ऊंचा या नीचा ब्याज अदा कर सकता है और करने को तैयार होता है।[61] चूंकि हमने देख लिया है कि लाभ दर पूंजीवादी उत्पादन के विकास के व्युत्क्रमानुपात में होती है, इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी देश में ऊंची या नीची ब्याज दर औद्योगिक विकास की सीमा के उसी व्युत्क्रमानुपात में होती है, कम से कम जहां तक कि ब्याज दर में अंतर वस्तुतः लाभ दरों में अंतर को व्यक्त करता है। आगे चलकर प्रकट होगा कि ऐसा हमेशा ही होना आवश्यक नहीं है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि ब्याज लाभ के ज़रिये, अथवा लाभ दर के ज़रिये नियमित किया जाता है। और ब्याज के नियमन का यह ढंग उसके औसत अधिक सटीकतः, सामान्य तक पर लागू होता है।

हर हालत में औसत लाभ दर को ब्याज की अधिकतम सीमा का अंतिम निर्धारक मानना होगा।

इस तथ्य पर कि ब्याज औसत लाभ से संबद्ध रहता है, अभी विस्तार के साथ विचार किया जायेगा। जब भी किसी निर्दिष्ट वस्तु, उदाहरण के लिए, लाभ को दो पक्षों में विभाजित करना होता है, तो स्वाभाविकतया बात सर्वोपरि विभाजित की जानेवाली वस्तु के परिमाण पर निर्भर करती है, और इसे, लाभ के परिमाण को, उसकी औसत दर निर्धारित करती है।

---

[61] "नैसर्गिक ब्याज दर अलग-अलग उद्यमों के व्यावसायिक लाभों द्वारा शासित होती है।" (Massie, e. c., p. 51.)

मान लीजिये कि एक नियत ग्राकार, उदाहरणार्थ १००, की पूंजी के लिए सामान्य लाभ दर ग्रौर इसलिए लाभ का परिमाण नियत है। तब ब्याज के विचलन प्रत्यक्षत: लाभ के उस भाग के व्युत्क्रमानुपात में होंगे, जो उधार पूंजी से काम करनेवाले उत्पादक पूंजीपति के हाथों में बना रहता है। ग्रौर विभाजित किये जानेवाले लाभ की, ग्रशोधित श्रम द्वारा उत्पादित मूल्य की मात्रा को निर्धारित करनेवाली परिस्थितियां उन परिस्थितियों से बहुत ही भिन्न होती हैं कि जो इन दो प्रकारों के पूंजीपतियों के बीच वितरण को निर्धारित करती हैं ग्रौर बहुधा सर्वथा विपरीत परिणाम उत्पन्न करती हैं।[62]

ग्रगर हम ग्राधुनिक उद्योग जिन चक्रों में चलता है – निष्क्रियता की ग्रवस्था, बढ़ता पुन: प्रवर्तन, समृद्धि, ग्रत्युत्पादन, संकट, गतिहीनता, निष्क्रियता की ग्रवस्था, ग्रादि, जो हमारे विश्लेषण की परिधि के बाहर हैं – उनका ग्रवलोकन करें, तो हम पायेंगे कि नीची ब्याज दर ग्राम तौर पर समृद्धि ग्रथवा ग्रतिरिक्त लाभ के दौरों के साथ मेल खाती है, ब्याज में चढ़ाव समृद्धि ग्रौर उसके विलोम को ग्रलग करता है, ग्रौर घोर सूदखोरी की सीमा तक जानेवाला ग्रधिकतम ब्याज संकट की ग्रवधियों का सहगामी होता है।[63] १८४३ की गरमियों ने ग्रसाधारण समृद्धि के जमाने का समारंभ किया; ब्याज दर, जो १८४२ के वसंत में ४ १/२% ही थी, १८४३ के वसंत ग्रौर गरमियों में गिरकर २% हो गयी;[64] सितंबर में तो वह १ १/२ ही रह गयी (Gilbart, I, p. 166); जिसके उपरांत १८४७ के संकट के दौरान वह ८% तक ग्रौर उसके भी ऊपर चढ़ गयी।

लेकिन नीचे ब्याज का गतिहीनता के साथ चलना ग्रौर मामूली तौर पर चढ़ते ब्याज का फिर से शुरू होनेवाली सक्रियता के साथ चलना संभव है।

ब्याज दर ग्रपने चरम पर संकटों के दौरान पहुंचती है, जब ग्रदायगियां करने के लिए द्रव्य किसी भी मोल उधार लिया जाता है। चूंकि ब्याज दर में चढ़ाव का मतलब प्रतिभूतियों के दाम गिरना है, इसलिए जिन लोगों के हाथों में द्रव्य पूंजी होती है, उन्हें ऐसी ब्याजी प्रतिभूतियां हास्यास्पद रूप में नीचे दामों पर हासिल करने का बढ़िया मौक़ा मिल जाता है,

---

[62] इस स्थल पर पांडुलिपि में यह टिप्पणी है: "इस ग्रध्याय का क्रम यह दिखलाता है कि लाभ वितरण के नियमों का विश्लेषण करने के पहले उस ढंग का पता लगा लेना बेहतर है, जिससे मात्रा का विभाजन गुण का विभाजन बन जाता है। पिछले ग्रध्याय से संक्रमण करने के लिए सिर्फ़ यही कल्पना करने की ग्रावश्यकता है कि ब्याज लाभ का एक ख़ास ग्रनिश्चित ग्रंश होता है।"

[63] "पहले दौर में, दबाव के फ़ौरन बाद, सट्टे के बिना द्रव्य का प्राचुर्य होता है; दूसरे दौर में द्रव्य प्रचुर होता है ग्रौर सट्टे का दौर-दौरा रहता है; तीसरे दौर में सट्टा घटने लगता है ग्रौर द्रव्य की मांग होती है; चौथे दौर में द्रव्य दुर्लभ होता है ग्रौर दबाव शुरू हो जाता है।" (Gilbart, *A Practical Treatise on Banking*, 5th ed., Vol. I, London, 1849, p. 149.)

[64] टूक इसकी "पूर्ववर्ती वर्षों में उसके लाभदायी नियोजन की विरलता के साथ ग्रनिवार्यत: होनेवाले बेशी पूंजी के संचयन से, ग्रपसंचयों के मुक्त होने से, ग्रौर वाणिज्यिक संभावनाग्रों में विश्वास के फिर से पैदा होने से" व्याख्या करते हैं। (*History of Prices from 1839 till 1847*, London, 1848, p. 54.)

जिनका सामान्य क्रम में ब्याज दर के फिर से गिरने के साथ कम से कम अपने औसत दामों पर पहुंच जाना अनिवार्य होता है।[65]

लेकिन ब्याज दर में लाभ दर में उतार-चढ़ावों से सर्वथा निरपेक्ष रूप में गिरने की भी प्रवृत्ति होती है और वस्तुतः इसके दो मुख्य कारण हैं :

I. "अगर हम यह तक मान लें कि पूंजी को उत्पादक नियोजन के अलावा और किसी दृष्टि से कभी उधार नहीं लिया जाता, तो भी मैं इसे बहुत संभव समझता हूं कि ब्याज दर सकल लाभ दर में किसी परिवर्तन के बिना भी बदल सकती है। कारण कि राष्ट्र के समृद्धि के पथ पर प्रगति करते जाने के साथ-साथ लोगों का एक ऐसा वर्ग पैदा हो जाता है और अधिकाधिक बढ़ता जाता है, जो अपने पूर्वजों के श्रम की बदौलत अपने पास इतना धन पाते हैं कि जिससे महज़ ब्याज से ही ख़ूब मज़े में गुज़र-बसर की जा सकती है। बहुत से ऐसे लोग भी, जो अपनी जवानी और मध्यावस्था में व्यवसाय में सक्रिय रूप में लगे रहे थे, बुढ़ापे में स्वयं अपने द्वारा संचित रक़मों के ब्याज पर आराम से गुज़र करने के लिए अवकाश ले लेते हैं। इन दोनों वर्गों की प्रवृत्ति देश की समृद्धि के साथ बढ़ते जाने की होती है, कारण कि जो लोग यथेष्ट पूंजी के साथ शुरूआत करते हैं, उनके उन लोगों की अपेक्षा जल्दी स्वावलंबन प्राप्त कर लेने की संभावना होती है, जो कम पूंजी से शुरू करते हैं। इसलिए होता यह है कि पुराने तथा संपन्न देशों में समाज की कुल उत्पादक पूंजी में राष्ट्रीय पूंजी के उस हिस्से का, जो उन लोगों के क़ब्ज़े में होता है कि जो उसका नियोजन करने की ज़हमत को ख़ुद उठाने के अनिच्छुक होते हैं, अनुपात हाल ही में आबाद और ग़रीब ज़िलों की अपेक्षा अधिक होता है। इंगलैंड में... आबादी के अनुपात में किरायाजीवियों अथवा वार्षिकीभोगियों (rentiers) का वर्ग कितना बड़ा है! किरायाजीवियों के वर्ग के बढ़ने के साथ-साथ पूंजी उधार देनेवालों का वर्ग भी बढ़ता जाता है, क्योंकि असल में ये दोनों एक ही हैं।" (Ramsay, *An Essay on the Distribution of Wealth*, pp. 201-202.)

II. उधार पद्धति के विकास और समाज के सभी वर्गों की नक़द बचतों पर उद्योगपतियों तथा व्यापारियों के तज्जनित निरंतर बढ़ते नियंत्रण, जो बैंकरों के ज़रिये संपन्न होता है, और इन बचतों के उत्तरोत्तर ऐसी राशियों में संकेंद्रण, जो द्रव्य पूंजी का काम दे सकती हैं, के कारण भी ब्याज दर अवश्य गिरनी चाहिए। इसके बारे में अधिक विस्तार से बाद में चर्चा की जायेगी।

ब्याज दर के निर्धारण के बारे में रैमज़े कहते हैं कि वह "अंशतः सकल लाभ दर पर और अंशतः उस अनुपात पर निर्भर करती है, जिसमें ये लाभ पूंजी के लाभों और उद्यम के लाभों में बंटे होते हैं। स्वयं यह अनुपात पूंजी के देनदारों और लेनदारों में प्रतिद्वंद्विता पर निर्भर करता है और यह प्रतिद्वंद्विता प्रत्याशित सकल लाभ दर द्वारा प्रभावित होती है, यद्यपि कदापि

---

[65] "एक बैंकर ने एक पुराने ग्राहक को २,००,००० पाउंड के बंधपत्र (बांड) पर ऋण देने से इन्कार कर दिया; जब ग्राहक वहां से जाकर यह ज़ाहिर करने को तैयार हुआ कि अदायगी न कर पायेगा, तो उससे कहा गया कि ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है और जो परिस्थितियां हैं, उनमें बैंक बंधपत्र को १,५०,००० पाउंड में ख़रीद लेगा।" ([H. Roy], *The Theory of the Exchanges. The Bank Charter Act of 1844, etc.*, London, 1869. p. 80.)

पूर्णतः नियमित नहीं होती।[66] और प्रतिद्वंद्विता एकमात्र इसी कारण से क्यों नहीं नियमित होती है, यह एक तरफ़ तो इसलिए है कि बहुत से लोग उत्पादक नियोजन के किसी भी विचार के बिना क़र्ज़ लेते हैं, और दूसरी तरफ़, इसलिए कि उधार दी जानेवाली सारी पूंजी का परिमाण देश की संपन्नता के साथ सकल लाभ में किसी परिवर्तन से निरपेक्षतः बदलता रहता है।" (Ramsay, e. c., pp. 206-207.)

औसत ब्याज दर के निर्धारण के लिए १) औसत ब्याज दर का मुख्य औद्योगिक चक्रों में अपने विचरणों के दौरान परिकलन करना; और २) उन निवेशों के लिए ब्याज दर का निकालना, जिनके वास्ते पूंजी के दीर्घकालिक ऋणों की ज़रूरत होती है, आवश्यक हैं।

किसी देश में प्रचलित औसत ब्याज दर – निरंतर चढ़ती-गिरती बाज़ार दरों से भिन्न – किसी नियम द्वारा निर्धारित नहीं की जा सकती। इस क्षेत्र में उस अर्थ में नैसर्गिक ब्याज दर जैसी कोई चीज़ नहीं होती, जिसमें अर्थशास्त्री नैसर्गिक लाभ दर और नैसर्गिक मज़दूरी दर की बात करते हैं। मैसी इस प्रसंग में ठीक ही कहते हैं (पृष्ठ ४९): "इस सिलसिले में किसी आदमी को सिर्फ़ इसी चीज़ के बारे में शक हो सकता है कि इन लाभों में क़ायदे से कितना हिस्सा क़र्ज़दार का है और कितना लेनदार का; और इसे निर्धारित करने का सामान्यरूपेण क़र्ज़दारों और लेनदारों की रायों के अलावा और कोई तरीक़ा नहीं है; क्योंकि इस मामले में जो आम सहमति बना देती है, वही उचित अथवा अनुचित होता है।" पूर्ति और मांग को – यह मानते हुए कि औसत लाभ दर नियत है – समीकृत करना यहां कोई माने नहीं रखता। अन्यत्र जहां भी इस सूत्र को अपनाया जाता है (और तब यह व्यावहारिक रूप में ठीक ही होता है), वह मूल नियम का, जो प्रतिद्वंद्विता से स्वतंत्र है, बल्कि उसे निर्धारित करता है, पता लगाने (सीमाओं को नियमित करने अथवा परिमाणों को नियमित करने) के सूत्र का ही काम देता है; अर्थात उन लोगों के लिए सूत्र का काम करता है, जिन्हें प्रतिद्वंद्विता के चलन ने और उसकी परिघटनाओं ने तथा उनसे उत्पन्न अवधारणाओं ने क़ैद कर रखा है और जो फिर प्रतिद्वंद्विता के भीतर प्रचलित आर्थिक रिश्तों के आंतरिक संबंध के बारे में सतही विचार पर पहुंचने में ही सहायक होता है। यह प्रतिद्वंद्विता के साथ चलनेवाले विचरणों से इन विचरणों की सीमाओं पर जाने का तरीक़ा है। औसत ब्याज दर के साथ यह बात नहीं है। इसका कोई उपयुक्त कारण नहीं कि क्यों प्रतिद्वंद्विता की औसत अवस्थाएं, ऋणदाता तथा ऋण लेनेवाले के बीच संतुलन ऋणदाता को अपनी पूंजी पर ३%, ४%, ५%, आदि की ब्याज दर, अथवा सकल लाभ का एक ख़ास, मसलन २०% या ५०%, प्रतिशतांश प्रदान कर दें। जहां भी प्रतिद्वंद्विता स्वयं किसी बात को निर्धारित करती है, वहां निर्धारण शुद्धतः सांयोगिक, शुद्धतः आनुभविक ही होता है और इस संयोग को सिर्फ़ पांडित्यप्रदर्शन अथवा सनक ही आवश्यकता सिद्ध करने का प्रयास कर सकते हैं।[67] बैंक विधान और वाणिज्यिक संकटों के बारे

[66] चूंकि ब्याज दर कुल मिलाकर औसत लाभ दर द्वारा निर्धारित होती है, इसलिए नीची ब्याज दर के साथ अकसर अत्यधिक ठगी भी जुड़ी रहती है। उदाहरण के लिए, १८४४ की गरमियों की रेलवे धोखाधड़ी को ले लीजिये। बैंक ऑफ़ इंगलैंड की ब्याज दर १६ अक्तूबर, १८४४ के बाद जाकर ही बढ़ाकर ३% पर लायी गयी थी।

[67] उदाहरणार्थ, जे० जी० ओपडाइक अपनी *Treatise on Political Economy* (New York, 1851) में शाश्वत नियमों द्वारा ५% ब्याज दर की सार्विकता की व्याख्या करने का बहुत ही निष्फल प्रयास करते हैं। *Die naturgemässe Volkswirtschaft, gegenüber dem*

में पार्लियामेंट की १८५७ और १८५८ की रिपोर्टों में "उत्पादित वास्तविक दर" की बाबत सुनने से ज़्यादा मज़ेदार और कोई बात नहीं है, जहां बैंक ऑफ़ इंगलैंड के निदेशक, लंदन के बैंकर, प्रादेशिक बैंकर और पेशेवर सिद्धांतकार अपनी अविराम बकवास में कभी ऐसी घिसी-पिटी बातों के आगे नहीं जाते कि जैसे "उधारार्थ पूंजी के उपयोग के लिए दिया जानेवाला दाम ऐसी पूंजी की पूर्ति के साथ बदलना चाहिए," और "ऊंची दर और निम्न लाभ सदा नहीं बने रह सकते," और ऐसी ही अन्य सत्याभासी सामान्योक्तियां।[68] प्रथाओं, विधिक परंपराओं, आदि का औसत ब्याज दर के निर्धारण से, जहां तक कि वह मात्र एक औसत के नाते नहीं, बल्कि वास्तविक परिमाण के नाते अस्तित्वमान होती है, उतना ही संबंध है कि जितना स्वयं प्रतिद्वंद्विता का। बहुत से क़ानूनी विवादों में, जहां ब्याज का परिकलन करना होता है, विधिक दर के नाते एक औसत ब्याज दर की कल्पना करनी पड़ती है। अगर हम इसकी और गहराई में जायें कि क्यों औसत ब्याज दर की सीमाएं सामान्य नियमों से नहीं निकाली जा सकतीं, तो हम पायेंगे कि इसका उत्तर सीधे-सीधे ब्याज की प्रकृति में ही है। वह औसत लाभ का एक हिस्सा मात्र होता है। वही पूंजी दो भूमिकाओं में प्रकट होती है – ऋणदाता के हाथों में उधारार्थ पूंजी के रूप में और कार्यरत पूंजीपति के हाथों में औद्योगिक, अथवा वाणिज्यिक पूंजी के रूप में। लेकिन वह कार्य सिर्फ़ एक ही बार करती है और लाभ सिर्फ़ एक ही बार उत्पादित करती है। स्वयं उत्पादन प्रक्रिया में उधारार्थ पूंजी के नाते पूंजी की प्रकृति कोई भूमिका नहीं अदा करती। उस पर जिन दोनों पक्षों का दावा है, वे लाभ का किस प्रकार बंटवारा करते हैं, यह अपने आप में उसी तरह संयोग की परिधि में आनेवाला शुद्धतः अनुभवाश्रित मामला है, जैसे व्यावसायिक साझेदारी में सामान्य लाभ के प्रतिशत हिस्सों का विभाजन। बेशी मूल्य तथा मजदूरी के बीच विभाजन में, जो ब्याज दर को तत्वतः निर्धारित करता है, दो सर्वथा भिन्न तत्व – श्रम शक्ति और पूंजी – निर्धारकों का कार्य करते हैं; ये दो स्वतंत्र चरों के कार्य हैं, जो एक दूसरे को

Monopoliengeist und dem Kommunismus, etc., Hanau, 1845 में श्री कार्ल आर्न्द और भी भोलापन दिखलाते हैं। उसमें कहा गया है: "माल उत्पादन के स्वाभाविक क्रम में सिर्फ़ **एक ही** परिघटना है, जो पूरी तरह से आबाद देशों में किसी हद तक ब्याज दर को नियमित करती प्रतीत होती है; यह है वह अनुपात, जिसमें यूरोपीय वनों में अपनी वार्षिक वृद्धि के ज़रिये लकड़ी की बढ़ती होती है। यह नयी वृद्धि १०० पर ३ या ४ की दर से उनके विनिमय मूल्य से सर्वथा निरपेक्ष रूप में होती है।" (कैसी विचित्र बात है कि पेड़ अपनी नयी वृद्धि का अपने विनिमय मूल्य से निरपेक्षतः ध्यान रखें!) "इसके अनुसार सबसे धनी देशों में ब्याज दर में अपने वर्तमान स्तर से नीचे गिरावट की आशा नहीं की जा सकती" (पृष्ठ १२४)। (उनका आशय है, क्योंकि पेड़ों की नयी वृद्धि उनके विनिमय मूल्य से निरपेक्ष होती है, चाहे उनका विनिमय मूल्य उनकी नयी वृद्धि पर कितना भी क्यों न निर्भर हो।) इसे तो "आद्य वन ब्याज दर" की ही संज्ञा दी जानी चाहिए। इसका आविष्कारक इस कृति में "हमारे विज्ञान" को "कुत्ता कर के तत्वज्ञ" के नाते एक और प्रशंसनीय योगदान करता है। [मार्क्स का० आर्न्द को व्यंग्यपूर्वक "कुत्ता कर का तत्वज्ञ" कह रहे हैं, क्योंकि अपनी पुस्तक के एक विशेष अनुच्छेद (§८८, पृष्ठ ४२०-२१) में उन्होंने इस कर की पैरवी थी। – सं०]

[68] बैंक ऑफ़ इंगलैंड अपनी बट्टा दर को सदा, निस्संदेह, सोने के आयात तथा निर्यात के अनुरूप खुले बाजार में प्रचलित दरों की तरफ़ उचित ध्यान देते हुए ही चढ़ाता अथवा गिराता है।" जिससे बैंक दर में परिवर्तनों की प्रत्याशा से बट्टे में सट्टा ही द्रव्य केंद्र के सरग़नों का आधा व्यापार बन गया है" – अर्थात लंदन द्रव्य बाजार के। ([H. Roy], *The Theory of the Exchanges, etc.*, p. 113.)

सीमित करते हैं और उनका **गुणात्मक भेद** ही उत्पादित मूल्य के **मात्रात्मक विभाजन** का स्रोत है। हम आगे चलकर देखेंगे कि बेशी मूल्य के किराये अथवा लगान (rent) और लाभ में विखंडन में भी यही होता है। ब्याज के मामले में ऐसा कुछ नहीं होता। यहां, जैसे कि हम अभी देखेंगे, इसके विपरीत **गुणात्मक भेद** बेशी मूल्य की उसी राशि के शुद्धतः **मात्रात्मक विभाजन** से उत्पन्न होता है।

उपरिलिखित से यही निष्कर्ष निकलता है कि "नैसर्गिक" ब्याज दर जैसी कोई चीज़ नहीं होती। किंतु यदि, सामान्य लाभ दर के विपरीत, एक ओर औसत ब्याज, अथवा निरंतर घटती-बढ़ती बाज़ार ब्याज दरों से भिन्न औसत ब्याज दर की सीमाएं निर्धारित करने का कोई नियम नहीं है, क्योंकि यह केवल सकल लाभ को भिन्न शीर्षक के अंतर्गत पूंजी के दो स्वामियों में बांटने की ही बात है; तो दूसरी ओर, ब्याज दर – चाहे वह औसत हो अथवा हर प्रसंग विशेष में लागू बाज़ार दर – सामान्य लाभ दर से सर्वथा भिन्न रूप में एक समरूप, निश्चित और गोचर परिमाण की तरह सामने आती है।[69]

ब्याज दर का लाभ दर से उसी प्रकार संबंध होता है, जैसे किसी जिंस के बाज़ार दाम का उसके मूल्य से होता है। ब्याज दर जहां तक लाभ दर द्वारा निर्धारित होती है, वह सदा सामान्य लाभ दर ही होती है, न कि उद्योग की किसी शाखा विशेष में व्याप्त कोई विशिष्ट लाभ दर, और ऐसा कोई अतिरिक्त लाभ तो किसी भी प्रकार नहीं कि जो कोई अलग पूंजीपति व्यवसाय की किसी शाखा विशेष में बना लेता है।[70] इसलिए यह एक तथ्य है कि सामान्य लाभ दर औसत ब्याज दर में एक आनुभविक, **नियत यथार्थ** की तरह आती है, यद्यपि अंतोक्त पूर्वोक्त की कोई शुद्ध अथवा विश्वसनीय अभिव्यक्ति नहीं है।

ठीक है कि ब्याज दर स्वयं ऋण लेनेवालों द्वारा प्रस्तुत प्रतिभूतियों की कोटियों के अनुसार और द्रव्य उधार लेने की अवधि की दीर्घता के अनुसार लगातार बदलती रहती है, किंतु ऐसी

---

[69] "जिंसों का दाम निरंतर घटता-बढ़ता रहता है; वे सभी भिन्न-भिन्न उपयोगों के लिए बनायी जाती हैं; द्रव्य ही सारे काम देता है। जिंसें, एक ही प्रकार की जिंसें तक, कोटि के अनुसार भिन्न होती हैं; नक़द द्रव्य का सदा वही मूल्य होता है, अथवा कम से कम माना ऐसा ही जाता है। यही कारण है कि द्रव्य के दाम में, जिसे हम ब्याज की संज्ञा देते हैं, किसी भी और चीज़ से अधिक स्थायित्व और एकरूपता होती है।" (J. Steuart, *Principles of Political Economy*, फ़्रांसीसी अनुवाद, 1789, IV, p. 27.)

[70] "लेकिन लाभ विभाजन करने का यह नियम विशेषकर प्रत्येक ऋणदाता और ऋणप्रापक पर नहीं, बल्कि सामान्यरूपेण ऋणदाताओं और ऋणप्रापकों पर लागू किया जाना चाहिए... असाधारणतः बड़े और छोटे लाभ चतुराई के और समझ की कमी के पुरस्कार हैं, जिनसे ऋणदाताओं का कोई भी सरोकार नहीं है; कारण कि अगर उन्हें एक से कोई हानि नहीं होगी, तो दूसरे से कोई लाभ भी नहीं होना चाहिए। जो बात उसी व्यवसाय में विशेष व्यक्तियों के बारे में कही गयी है, वह विशेष प्रकारों के व्यवसाय पर भी लागू हो सकती है; अगर व्यवसाय की किसी एक शाखा में लगे व्यापारी और व्यवसायी अपने द्वारा लिये उधार से उसी देश के अन्य व्यापारियों तथा व्यवसायियों द्वारा बनाये जानेवाले लाभ से अधिक बनाते हैं, तो यह असाधारण फ़ायदा उन्हीं का है, यद्यपि उसे हासिल करने के लिए केवल सामान्य चतुराई और समझ की ही ज़रूरत थी; न कि ऋणदाताओं की, जिन्होंने उन्हें द्रव्य दिया था... क्योंकि ऋणदाताओं ने अपना द्रव्य व्यवसाय की किसी भी शाखा को चलाने के लिए आम ब्याज दर से रिआयती शर्तों पर उधार न दिया होता; और इसलिए उन्हें उससे अधिक प्राप्त नहीं करना चाहिए, चाहे उनके द्रव्य से कितना भी फ़ायदा न बनाया जाये।" (Massie, *l. c.*, pp. 50, 51.)

हर कोटि के लिए वह नियत क्षण पर एकरूप होती है। अतः यह भिन्नता ब्याज दर की स्थिरता तथा एकरूपता के प्रतिकूल नहीं जाती।[71]

औसत ब्याज दर प्रत्येक देश में ख़ासी लंबी कालावधियों के दौरान एक स्थिर परिमाण की तरह सामने आती है, क्योंकि सामान्य लाभ दर—विशिष्ट लाभ दरों में निरंतर परिवर्तनों के बावजूद, जिनमें एक क्षेत्र में परिवर्तन दूसरे क्षेत्र में विपरीत परिवर्तन से प्रतिसंतुलित हो जाता है—दीर्घतर अंतरालों के बाद ही बदलती है। और उसकी आपेक्षिक स्थिरता औसत अथवा आम ब्याज दर की ठीक इस न्यूनाधिक स्थिर प्रकृति में ही प्रकट होती है।

किंतु जहां तक निरंतर घटती-बढ़ती बाज़ार ब्याज दर का संबंध है, तो जिंसों के बाज़ार दाम की ही भांति वह किसी भी क्षण एक स्थिर परिमाण के रूप में रहती है, क्योंकि द्रव्य बाज़ार में सारी उधारार्थ पूंजी कार्यरत पूंजी के सामने निरंतर एक समुच्चित संहति के रूप में आती है, जिससे एक ओर, उधारार्थ पूंजी की पूर्ति और दूसरी ओर, उसके लिए मांग का संबंध ही किसी भी नियत समय पर ब्याज के बाज़ार स्तर को निर्धारित करता है। ऐसा उतना ही अधिक होता है, जितना उधार पद्धति का विकास और परिणामी संकेंद्रण उधारार्थ पूंजी को अधिक सामान्य सामाजिक स्वरूप प्रदान कर देता है और उसे द्रव्य बाज़ार में एकसाथ डाल देता है। इसके विपरीत, सामान्य लाभ दर कभी विशिष्ट लाभ दरों को समकृत करने की एक प्रवृत्ति, एक गति के सिवा और कुछ नहीं होती। पूंजीपतियों की प्रतिद्वंद्विता—जो स्वयं समकरण की ओर यह गति ही है—यहां उनके अपनी पूंजी को धीरे-धीरे उन क्षेत्रों से निकाल लेने, जिनमें लाभ काफ़ी समय तक औसत के नीचे रहता है और उसे धीरे-धीरे उन क्षेत्रों में निवेशित करने में सन्निहित है, जिनमें लाभ औसत के ऊपर होता है। अथवा यह अतिरिक्त पूंजी के अपने को इन क्षेत्रों के बीच धीरे-धीरे और भिन्न-भिन्न अनुपातों में वितरित करने में सन्निहित हो सकती है। इन विभिन्न क्षेत्रों के संदर्भ में पूंजी की पूर्ति तथा आहरण में निरंतर विचरण ही होता है और कभी एककालिक संहित प्रभाव नहीं उत्पन्न होता, जैसे ब्याज दर के निर्धारण के संदर्भ में होता है।

हमने देखा कि ब्याजी पूंजी एक ऐसा संवर्ग होने पर भी कि जो जिंस से सर्वथा भिन्न है, sui generis [अनन्यजातिक] जिंस बन जाती है, जिससे ब्याज उसका दाम बन जाता

---

[71] बैंक दर ५%
बाज़ार बट्टा दर, ६० दिन की हुंडी (ड्राफ़्ट) पर ३ ५/८%
बाज़ार बट्टा दर, ३ महीने की हुंडी पर ३ १/२%
बाज़ार बट्टा दर, ६ महीने की हुंडी पर ३ ५/१६%
हुंडी दलालों को ऋण, प्रति दिन . . . . १ से २%
हुंडी दलालों को ऋण, एक सप्ताह के लिए ३%
पखवाड़े की अंतिम दर, स्टाक दलालों को ऋण के लिए . . . . ४ ३/४ से ५%
जमा छूट (बैंक) ३ १/२%
जमा छूट (बट्टाघर) . . . . ३ से ३ १/४%

उस एक ही दिन के लिए यह अंतर कितना अधिक हो सकता है, यह १० दिसंबर के *Daily News* के बाज़ार भाव संबंधी लेख के लिए लंदन द्रव्य बाज़ार की ६ दिसंबर, १८८९ की ब्याज दरों के पिछले आंकड़ों से पता चलता है। न्यूनतम दर १% है और अधिकतम ५%। [फ़े० एं०]

है, जो सामान्य जिंस के बाज़ार दाम की तरह ही सदा पूर्ति और मांग द्वारा निश्चित किया जाता है। इसलिए लगातार घटती-बढ़ती रहने पर भी ब्याज की बाज़ार दर किसी भी नियत क्षण पर ऐसे ही स्थिर और एकरूप प्रतीत होती है कि जैसे हर अलग प्रसंग में किसी जिंस का प्रचलित बाज़ार दाम। द्रव्य पूंजीपति इस जिंस को मुहैया करते हैं और कार्यरत पूंजीपति उसके लिए मांग पैदा करते हुए उसे ख़रीदते हैं। जब समकरण सामान्य लाभ दर उत्पन्न कर देता है, तो ऐसा नहीं होता। अगर एक क्षेत्र में जिंसों के दाम उत्पादन दाम के नीचे या ऊपर हों (जहां हम हरेक उद्यम में औद्योगिक चक्र के विभिन्न चरणों के साथ आनेवाले उतार-चढ़ावों को जान-बूझकर अलग छोड़ देते हैं), तो संतुलन उत्पादन के प्रसार अथवा संक्षेपण, अर्थात अलग-अलग उत्पादन क्षेत्रों में तथा उनसे पूंजी के अंतर्वाह अथवा बहिर्वाह के कारण औद्योगिक पूंजियों द्वारा बाज़ार में डाली जानेवाली जिंसों की संहतियों के प्रसार अथवा संक्षेपण, के ज़रिये क़ायम किया जाता है। जिंसों के औसत बाज़ार दामों के उत्पादन दामों के साथ इस समकरण द्वारा ही विशिष्ट लाभ दरों के सामान्य, अथवा औसत लाभ दर से विचलनों को दुरुस्त किया जाता है। ऐसा नहीं हो सकता कि इस प्रक्रिया में औद्योगिक अथवा व्यापारिक पूंजी **उसी रूप में** कभी ग्राहक के प्रसंग में जिंसों का आभास ग्रहण कर ले, जैसा ब्याजी पूंजी के मामले में होता है। अगर यह प्रक्रिया गोचर है, तो वह केवल जिंसों के बाज़ार दामों के उत्पादन दामों के साथ उतार-चढ़ावों और समकरणों में ही है, न कि औसत लाभ के प्रत्यक्ष निर्धारण के रूप में। व्यवहार में सामान्य लाभ दर का निर्धारण १) कुल पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य से, २) कुल पूंजी के मूल्य के साथ इस बेशी मूल्य के अनुपात द्वारा, और ३) प्रतिद्वंद्विता द्वारा किया जाता है, किंतु केवल उसी हद तक कि जहां तक प्रतिद्वंद्विता एक ऐसी गति है कि जिसके द्वारा विशेष उत्पादन क्षेत्रों में निवेशित पूंजियां इस बेशी मूल्य से अपने आपेक्षिक परिमाणों के यथानुपात समान लाभांश खींचने का प्रयास करती हैं। अतः सामान्य लाभ दर वास्तव में ब्याज की बाज़ार दर से बहुत भिन्न और कहीं अधिक जटिल कारणों से उत्पन्न होती है, जो सीधे और तात्कालिक रूप में पूर्ति तथा मांग के अनुपात द्वारा निर्धारित होती है और इसलिए ब्याज दर की तरह से सुनिश्चित और प्रत्यक्ष तथ्य नहीं है। विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में अलग-अलग लाभ दरें स्वयं न्यूनाधिक अनिश्चित होती हैं; लेकिन जहां तक वे प्रकट होती हैं, वहां तक गोचर उनकी समानता नहीं, वरन उनकी भिन्नताएं होती हैं। तथापि सामान्य लाभ दर केवल लाभ की न्यूनतम सीमा के नाते ही प्रकट होती है, न कि वास्तविक ब्याज दर के आनुभविक, प्रत्यक्षतः दृश्य रूप के नाते।

ब्याज दर तथा लाभ दर के बीच इस अंतर पर ज़ोर देते हुए भी हम इन दो मुद्दों को छोड़ रहे हैं, जो ब्याज दर के सुदृढ़ीकरण में सहायक होते हैं: १) ब्याजी पूंजी का इतिहास में पूर्व-अस्तित्व और पारंपरिक सामान्य ब्याज दर का अस्तित्व; २) किसी देश की आर्थिक अवस्थाओं से निरपेक्षतः ब्याज दर की स्थापना पर लाभ दर पर उसके प्रभाव की तुलना में विश्व मंडी द्वारा डाला जानेवाला कहीं अधिक प्रत्यक्ष प्रभाव।

औसत लाभ एक प्रत्यक्षतः स्थापित तथ्य के रूप में नहीं प्राप्त होता, बल्कि उसे विपरीत उतार-चढ़ावों के समकरण के एक अंतिम परिणाम के रूप में निर्धारित करना होता है। ब्याज दर के साथ ऐसा नहीं है। यह एक ऐसी चीज़ है कि जिसे अपनी सामान्य, कम से कम स्था-निक, मान्यता में नित्य निश्चित किया जाता है, एक ऐसी चीज़ कि जो औद्योगिक तथा व्यापारिक पूंजियों के लिए एक पूर्वापेक्षा और उनके कार्य के परिकलन में एक कारक तक के रूप

में काम आती है। वह १०० पाउंड की हर द्रव्य राशि की २, ३, ४, ५ पाउंड प्रदान करने की सामान्य क्षमता बन जाती है। मौसमवैज्ञानिक रिपोर्टें वायुदाबमापी और तापमापी के पठनांकों को कभी इतनी यथार्थता के साथ व्यक्त नहीं करतीं कि जितनी यथार्थता के साथ शेयर बाजार—स्टाक एक्सचेंज—की रिपोर्टें इस या उस पूंजी के लिए नहीं, बल्कि द्रव्य बाजार में पूंजी के लिए, अर्थात सामान्यतः उधारार्थ पूंजी के लिए ब्याज दर को व्यक्त करती हैं।

द्रव्य बाजार में सिर्फ़ ऋण देनेवाले और ऋण लेनेवाले एक दूसरे के सामने आते हैं। जिंस का वही एक रूप होता है—द्रव्य। यहां उत्पादन के विशेष क्षेत्रों अथवा परिचलन में अपने निवेशन के अनुसार पूंजी के सभी विशिष्ट रूप मिट जाते हैं। वह स्वतंत्र मूल्य के अविभेदित समजातीय रूप—द्रव्य के रूप—में ही अस्तित्वमान होती है। अलग-अलग क्षेत्रों की प्रतिद्वंद्विता उसे प्रभावित नहीं करती। वे सभी द्रव्य के लेनेवालों के रूप में एक हो जाते हैं, और पूंजी उन सभी के सामने एक ऐसे रूप में आती है, जिसमें वह अभी अपने निवेश के संभाव्य ढंग के प्रति उदासीन होती है। यह बात सबसे सशक्त ढंग से **तत्वतः एक वर्ग की सामान्य पूंजी** के रूप में पूंजी की पूर्ति तथा मांग में देखी जाती है—जो एक ऐसी चीज है, जिसे औद्योगिक पूंजी विभिन्न पृथक क्षेत्रों के बीच गति और प्रतिद्वंद्विता में ही करती है। इसके विपरीत, द्रव्य बाजार में द्रव्य पूंजी वस्तुतः उस रूप में होती है, जिसमें, अपने विशिष्ट नियोजन से उदासीन, वह प्रत्येक पृथक क्षेत्र में उत्पादन की आवश्यकताओं के निर्देशानुसार विभिन्न क्षेत्रों के बीच, पूंजीपति वर्ग के बीच, एक सामान्य तत्व की तरह विभाजित की जाती है। इसके अलावा, बड़े पैमाने के उद्योग के विकास के साथ द्रव्य पूंजी—जहां तक उसके बाजार में प्रकट होने की बात है—किसी अलग पूंजीपति द्वारा, बाजार में पूंजी के एक या दूसरे अंश के स्वामी द्वारा नहीं प्रतिनिधित की जाती, बल्कि वह एक संकेंद्रित, संगठित संहति का रूप ग्रहण कर लेती है, जो—वास्तविक उत्पादन से सर्वथा भिन्न—बैंकरों, अर्थात सामाजिक पूंजी के प्रतिनिधियों के नियंत्रण के अधीन होती है। ऐसी हालत में, जहां तक मांग के रूप की बात है, उधारार्थ पूंजी के सामने वर्ग समूचे तौर पर होता है, जबकि पूर्ति के क्षेत्र में उधारार्थ पूंजी en masse [संहति रूप में] होती है।

ये इसके कुछ कारण हैं कि क्यों सामान्य लाभ दर एक निश्चित ब्याज दर के साथ, जो परिमाण में तो घट-बढ़ सकती है, पर ऋण लेनेवालों के सामने सदा नियत और निश्चित रूप में ही आती है, क्योंकि वह उन सभी के लिए समान रूप में भिन्न होती है, अस्पष्ट और धुंधली प्रतीत होती है। उसी प्रकार कि जैसे द्रव्य के मूल्य में विचरण उसका सभी जिंसों के संदर्भ में वही मूल्य रखना नहीं रोकते। उसी प्रकार कि जैसे जिंसों के बाजार दामों में दैनंदिन उतार-चढ़ाव उनका नित्य अख़बारों में प्रकाशित होना नहीं रोकते। इसलिए ब्याज दर को नियमित रूप में "द्रव्य के दाम" के नाते प्रकाशित किया जाता है। ऐसा इसलिए है कि पूंजी स्वयं यहां द्रव्य के रूप में जिंस की तरह पेश की जा रही है। इस प्रकार उसके दाम का निर्धारण उसके बाजार दाम का निर्धारण है, जैसे अन्य सभी जिंसों के साथ भी होता है। इसलिए ब्याज दर हमेशा सामान्य ब्याज दर की तरह ही, इतने द्रव्य के लिए इतने द्रव्य की तरह, एक निश्चित मात्रा की तरह ही प्रकट होती है। इसके विपरीत, विभिन्न पूंजियां उसी जिंस को जिन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित करती हैं, उनके अनुसार लाभ दर उस एक ही क्षेत्र में उस एक ही दाम की जिंसों के लिए बदल भी सकती है, क्योंकि किसी अलग पूंजी की लाभ दर जिंस के बाजार दाम द्वारा नहीं, बल्कि बाजार दाम तथा लागत दाम में अंतर

द्वारा निर्धारित होती है। और ये भिन्न-भिन्न लाभ दरें संतुलन – पहले उसी क्षेत्र के भीतर और उसके बाद विभिन्न क्षेत्रों के बीच – केवल निरंतर उतार-चढ़ाव के जरिये ही स्थापित कर सकती हैं।

(बाद में निरूपण के लिए टिप्पणी।) उधार का एक विशिष्ट रूप: ज्ञात है कि जब द्रव्य क्रय साधन के बजाय भुगतान साधन का काम करता है, तो जिंस का अन्यसंक्रामण हो जाता है, लेकिन उसके मूल्य का बाद में जाकर ही सिद्धिकरण होता है। अगर भुगतान जिंस के फिर से बेच दिये जाने तक नहीं होता, यह बिक्री ख़रीद के परिणाम के रूप में नहीं सामने आती; इसके विपरीत, क्रय का सिद्धिकरण इस विक्रय के जरिये ही होता है। दूसरे शब्दों में, विक्रय क्रय का साधन बन जाता है। दूसरे, क़र्ज़ों के हक़नामे, हुंडियां, आदि क़र्ज़दार के लिए भुगतान साधन बन जाते हैं। तीसरे, क़र्ज़ के हक़नामों का मुआवज़ा द्रव्य का स्थान ले लेता है।

अध्याय २३

ब्याज और उद्यम का लाभ

जैसे कि हमने पिछले दो अध्यायों में देखा है, ब्याज मूलतः लाभ, अर्थात बेशी मूल्य के उस अंश की तरह प्रकट होता है, मूलतः वैसा है और वास्तव में मात्र वही बना भी रहता है, जो कार्यरत पूंजीपति, उद्योगपति अथवा व्यापारी को, जब भी वह स्वयं अपनी पूंजी के बजाय उधार पूंजी का उपयोग करता है, द्रव्य पूंजी के स्वामी तथा ऋणदाता को देना होता है। अगर वह स्वयं अपनी पूंजी का उपयोग करता है, तो लाभ का ऐसा कोई विभाजन नहीं होता; तब वह पूर्णतः उसका ही होता है। वास्तव में, जब तक पूंजी के स्वामी उसका अपने बूते पर पुनरुत्पादन प्रक्रिया में नियोजन करते रहते हैं, तब तक वे ब्याज दर के निर्धारण की प्रतिद्वंद्विता में शामिल नहीं होते। अकेली यही बात यह दिखला देती है कि ब्याज का संवर्ग – जो ब्याज दर के निर्धारण के बिना असंभव है – उसी हैसियत में औद्योगिक पूंजी की गतियों के लिए परकीय है।

"ब्याज दर को वह समानुपातिक रक़म कहा जा सकता है, जो द्रव्य पूंजी की एक ख़ास मात्रा के उपयोग के लिए ऋणदाता प्राप्त करने को, और ऋण लेनेवाला प्रति वर्ष, अथवा किसी भी न्यूनाधिक अवधि तक अदा करने को राज़ी होता है।... जब किसी पूंजी का स्वामी उसका पुनरुत्पादन में सक्रिय रूप में नियोजन करता है, तो वह उन पूंजीपतियों की गणना में नहीं आता, ऋण लेनेवालों की संख्या के साथ जिनका अनुपात ब्याज दर को निर्धारित करता है।" (Th. Tooke, *History of Prices*, London, 1838, II, pp. 355-356.) वास्तव में पूंजीपतियों का द्रव्य पूंजीपतियों और औद्योगिक पूंजीपतियों में पृथक्करण ही लाभ के एक अंश को ब्याज में परिणत कर देता है, जो सामान्यरूपेण ब्याज संवर्ग का निर्माण करता है और यह सिर्फ़ इन दोनों प्रकारों के पूंजीपतियों की प्रतिद्वंद्विता ही है कि जो ब्याज दर को जन्म देती है।

जब तक पूंजी पुनरुत्पादन प्रक्रिया में कार्य करती रहती है – अगर यह तक मान लिया जाये कि वह औद्योगिक पूंजीपति की है और उसे पूंजी ऋणदाता को वापस चुकाने की कोई ज़रूरत नहीं है – तब तक एक निजी व्यक्ति के नाते पूंजीपति के नियंत्रण में स्वयं यह पूंजी नहीं, वरन केवल उसका लाभ ही होता है, जिसे वह आय के रूप में ख़र्च कर सकता है। जब तक उसकी पूंजी पूंजी के रूप में कार्य करती रहती है, वह पुनरुत्पादन प्रक्रिया की होती है, उसमें बंधी होती है। निस्संदेह, वह उसका स्वामी होता है, लेकिन जब तक वह उसका पूंजी के नाते श्रम के शोषण के लिए उपयोग करता रहता है, यह स्वामित्व उसे उसका किसी और प्रकार

निपटारा करने की क्षमता नहीं प्रदान कर देता। द्रव्य पूंजीपति के बारे में भी यही बात सही है। जब तक उसकी पूंजी उधार दी जाती रहती और इस प्रकार द्रव्य पूंजी का काम देती रहती है, वह उसे ब्याज, लाभ का एक अंश, प्रदान करती रहती है, मगर वह मूलधन का निपटारा नहीं कर सकता। हर बार जब वह अपनी पूंजी को, मसलन एक साल या अधिक के लिए, उधार देता है और अपने मूलधन की वापसी के बिना कुछेक निर्दिष्ट अवधियों पर ब्याज प्राप्त करता है, तो यह देखने में आता है। लेकिन मूलधन की वापसी भी यहां कोई फ़र्क़ नहीं पैदा करती। अगर वह उसे वापस पा भी जाता है, तो भी जब तक उसे उसके लिए पूंजी की तरह– यहां द्रव्य पूंजी की तरह–कार्य करना है, उसे हमेशा फिर उधार देते रहना होगा। जब तक वह उसे अपने ही हाथों में रखे रहता है, वह कोई ब्याज नहीं एकत्र करती और पूंजी की तरह कार्य नहीं करती; और जब तक वह ब्याज एकत्र करती और पूंजी की तरह काम देती रहती है, वह उसके हाथों के बाहर रहती है। इसीलिए पूंजी को लगातार उधार पर चलाने की संभावना पैदा होती है। इसलिए टूक के बोसनक्वैट के विरुद्ध निदेशित निम्न विचार सर्वथा ग़लत हैं। वह बोसनक्वैट (*Metallic, Paper and Credit Currency*, London, 1842, p. 73.) को उद्धृत करते हैं: "अगर ब्याज दर को गिराकर १% पर ले आया जाये, तो उधार ली जानेवाली पूंजी स्वत्वाधीन पूंजी की लगभग समतुल्यता पर (on a par) आ जायेगी।" इसमें टूक निम्न पार्श्व टिप्पणी जोड़ देते हैं: "यह प्रस्थापना कि इस या इससे नीची भी दर पर उधार ली गयी पूंजी को स्वत्वाधीन पूंजी की लगभग समतुल्यता पर समझा जाये, इतनी अनोखी है कि अगर इतने बुद्धिमान, और विषय के कुछ पहलुओं के बारे में इतने सुविज्ञ लेखक द्वारा प्रतिपादित न की जाती, तो संभवतः गंभीरता से विचार करने योग्य भी न होती। क्या उन्होंने इस तथ्य को नजरंदाज कर दिया है, या वह इसे कम महत्व का समझते हैं कि कल्पनानुसार वापसी की भी शर्त होनी चाहिए?"(Th. Tooke, *An Inquiry into the Currency Principle*, 2nd ed., London, 1844, p. 80) यदि ब्याज = 0, तो उधार पूंजी पर काम करनेवाला औद्योगिक पूंजीपति स्वयं अपनी पूंजी का प्रयोग करनेवाले पूंजीपति के समतुल्य हो जायेगा। दोनों उतना ही औसत लाभ हासिल करेंगे, और पूंजी, चाहे वह उधार की हो या ख़ुद अपनी, पूंजी की तरह तभी तक काम देती है कि जब तक वह लाभ उत्पादित करती है। वापस अदायगी की शर्त कुछ भी नहीं बदलेगी। ब्याज दर शून्य के जितना ही निकट पहुंचती जाती है, उदाहरण के लिए, गिरकर १% तक आ जाती है, उतना ही उधार पूंजी स्वामी की पूंजी के समतुल्य होने के निकट आती जाती है। जब तक द्रव्य पूंजी को द्रव्य पूंजी की तरह रहना है, उसे हमेशा उधार दिये जाते रहना होगा, और वस्तुतः प्रचलित ब्याज दर, मसलन १% पर और सदा औद्योगिक और वाणिज्यिक पूंजीपतियों के उसी वर्ग को उधार देना होगा। जब तक वे लोग पूंजीपतियों की तरह कार्य करते हैं, तब तक उधार पूंजी से काम करनेवाले पूंजीपति और स्वयं अपनी पूंजी से काम करनेवाले पूंजीपति के बीच एकमात्र अंतर यही रहता है कि पूर्वोक्त को ब्याज देना होता है और अंतोक्त को नहीं देना होता है; एक सारे लाभ p को जेब में डालता है, जबकि दूसरा p — i, लाभ वियुत ब्याज को ही डालता है। ब्याज जितना ही शून्य के निकट पहुंचता है, p — i उतना ही p के निकट पहुंचता है और इसलिए दोनों पूंजियां समतुल्य होने के उतना ही निकट पहुंचती हैं। एक के लिए पूंजी वापस चुकाना और फिर से उधार लेना जरूरी है, तो दूसरे के लिए जब तक उसकी पूंजी को कार्य करना है, उसे इसी प्रकार बारंबार उत्पादन प्रक्रिया को उधार देना आवश्यक है और वह उसका इस प्रक्रिया से अलग

निपटारा नहीं कर सकता। उन दोनों के बीच बचा रहनेवाला एकमात्र अंतर यह प्रत्यक्ष अंतर है कि एक पूंजी का स्वामी है, जबकि दूसरा नहीं है।

अब जो प्रश्न पैदा होता है, वह यह है। लाभ का निवल लाभ और ब्याज में शुद्धतः मात्रात्मक विभाजन किस प्रकार गुणात्मक विभाजन में परिणत हो जाता है? दूसरे शब्दों में, यह कैसे होता है कि वह पूंजीपति, जो एकमात्र अपनी, उधार की नहीं, पूंजी नियोजित करता है, अपने सकल लाभ का एक भाग ब्याज के विशिष्ट संवर्ग के अंतर्गत वर्गीकृत करता है और उसे इसी रूप में अलग परिकलित करता है? और इसके अलावा यह कैसे होता है कि सारी पूंजी, चाहे वह उधार की हो या न हो, को ब्याजी पूंजी के रूप में स्वयं अपने से निवल लाभ उत्पादित करनेवाली पूंजी के रूप में विभेदित किया जाता है?

विदित है कि लाभ का हर ही सांयोगिक मात्रात्मक विभाजन इस तरह से गुणात्मक विभाजन में नहीं परिणत हो जाता। जैसे, कुछ औद्योगिक पूंजीपति कोई व्यवसाय चलाने के लिए मिल जाते हैं और बाद में लाभ को किसी विधिक समझौते के अनुसार आपस में बांट लेते हैं। दूसरे अपना कारबार अपने बूते पर, बिना किसी हिस्सेदारों के चलाते हैं। ये दूसरे पूंजीपति अपने लाभों का दो शीर्षकों के अंतर्गत परिकलन नहीं करते – एक अंश व्यष्टिक लाभ के रूप में, और दूसरा कंपनी लाभों के रूप में अपने अविद्यमान हिस्सेदारों के लिए। इसलिए इस मामले में मात्रात्मक अंतर गुणात्मक अंतर नहीं बन जाता है। ऐसा तब ही होता है कि जब स्वामित्व अनेक विधिक व्यक्तियों में निहित होता है। अगर मामला यह नहीं होता, तो ऐसा नहीं होता।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें ब्याज की रचना में वास्तविक प्रस्थान बिंदु पर कुछ अधिक विचार करना होगा; अर्थात हमें इस कल्पना को लेकर चलना होगा कि द्रव्य पूंजीपति तथा औद्योगिक पूंजीपति वस्तुतः एक दूसरे के सामने केवल विधितः भिन्न व्यक्तियों के ही रूप में नहीं, बल्कि पुनरुत्पादन प्रक्रिया में बिल्कुल भिन्न भूमिकाएं निबाहनेवाले व्यक्तियों के रूप में, अथवा ऐसे व्यक्तियों के रूप में भी आते हैं, जिनके हाथों में वही पूंजी वास्तव में दोहरी और सर्वथा भिन्न गति संपन्न करती है। एक उसे सिर्फ़ उधार देता है, दूसरा उसका उत्पादक ढंग से नियोजन करता है।

उधार पूंजी के बूते पर काम करनेवाले उत्पादक पूंजीपति के लिए सकल लाभ दो हिस्सों में बंट जाता है – ब्याज, जो उसे ऋणदाता को देना है, और ब्याज के अलावा बेशी, जो लाभ के उसके अपने अंश का निर्माण करती है। अगर सामान्य लाभ दर नियत है, तो यह अंतोक्त अंश ब्याज दर द्वारा निर्धारित होता है और अगर ब्याज दर नियत हो, तो सामान्य लाभ दर द्वारा। और इसके अलावा: प्रत्येक पृथक मामले में सकल लाभ, कुल लाभ के वास्तविक मूल्य, का औसत लाभ से चाहे कितना भी अपसरण हो, जो हिस्सा कार्यरत पूंजीपति का होता है, उसका निर्धारण ब्याज द्वारा होता है, क्योंकि वह सामान्य ब्याज दर द्वारा निश्चित किया जाता है (अगर विशेष विधिक उपबंधों को अलग रहने दिया जाये) और पहले से, उत्पादन प्रक्रिया के शुरू होने के पहले, अतः उसके परिणाम, सकल लाभ, के प्राप्त किये जाने के पहले, नियत माना जाता है। हम देख चुके हैं कि पूंजी का वास्तविक विशिष्ट उत्पाद बेशी मूल्य, अथवा अधिक सटीकतापूर्वक कहें, तो लाभ है। लेकिन उधार पूंजी पर काम करनेवाले पूंजीपति के लिए यह लाभ नहीं, बल्कि लाभ वियुत ब्याज, लाभ का वह अंश होता है, जो ब्याज अदा करने के बाद उसके पास बच रहता है। अतः लाभ का यह अंश अनिवार्यतः उसे पूंजी का

उत्पाद तभी तक प्रतीत होता है कि जब तक वह कार्यरत रहती है; और जहां तक उसका संबंध है, वह कार्यरत है, क्योंकि वह पूंजी का सिर्फ़ कार्यरत पूंजी के नाते ही प्रतिनिधित्व करता है। जब तक वह कार्य करती रहती है, वह उसका साकार रूप होता है, और वह तब तक कार्य करती है कि जब तक वह उद्योग अथवा वाणिज्य में लाभदायक ढंग से निवेशित की जाती है और अपने नियोक्ता के ज़रिये उससे उद्योग की संबद्ध शाखा द्वारा विहित कार्यों को हाथ में लिया जाता है। ब्याज से, जो उसे सकल लाभ से ऋणदाता को अदा करना होता है, भिन्न लाभ का जो अंश उसके हिस्से में आता है, वह अनिवार्यतः औद्योगिक अथवा वाणिज्यिक लाभ का रूप, अथवा अगर दोनों का समावेश करनेवाले एक जर्मन शब्द का प्रयोग किया जाये, तो Unternehmergewinn [उद्यम के लाभ] का रूप ग्रहण कर लेता है। अगर सकल लाभ औसत लाभ के बराबर हो, तो उद्यम के लाभ का परिमाण अनन्यरूपेण ब्याज दर द्वारा निर्धारित होता है। अगर सकल लाभ औसत लाभ से विचलन करे, तो औसत लाभ से उसका अंतर (दोनों से ब्याज घटाने के बाद) उन सभी परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है, जो कोई अस्थायी विचलन पैदा करती हैं, फिर चाहे वह किसी शाखा विशेष में सामान्य लाभ दर से लाभ दर का हो, अथवा किसी शाखा विशेष में किसी पृथक पूंजीपति के लाभ का इस शाखा के औसत लाभ से हो। लेकिन हम देख चुके हैं कि स्वयं उत्पादन प्रक्रिया के भीतर लाभ दर अकेले बेशी मूल्य पर ही नहीं, बल्कि कई अन्य परिस्थितियों पर भी निर्भर करती है, जैसे उत्पादन साधनों के क्रय दाम, औसत से अधिक उत्पादक विधियां, स्थायी पूंजी की बचतें, आदि। और उत्पादन दाम के अलावा वह विशेष परिस्थितियों पर, और प्रत्येक अलग व्यावसायिक सौदे में पूंजीपति के कम या अधिक चातुर्य और उद्यमशीलता पर – आया कि और किस हद तक वह उत्पादन दाम के ऊपर अथवा नीचे बेचता या ख़रीदता है और इस तरह परिचलन प्रक्रिया में कुल बेशी मूल्य के अधिक या कम अंश का नियोजन करता है – निर्भर करती है। बहरहाल, सकल लाभ का मात्रात्मक विभाजन यहां गुणात्मक विभाजन में बदल जाता है तथा इसलिए और भी अधिक कि मात्रात्मक विभाजन स्वयं इस पर निर्भर करता है कि क्या विभाजित किया जाना है, सक्रिय पूंजीपति **किस ढंग से** अपनी पूंजी का प्रबंध करता है और वह उसे कार्यरत पूंजी के नाते, अर्थात सक्रिय पूंजीपति की हैसियत से उसके कार्यों के परिणामस्वरूप, क्या सकल लाभ प्रदान करती है। यहां यह माना गया है कि कार्यरत पूंजीपति पूंजी का स्वामी नहीं है। उसके संदर्भ में पूंजी के स्वामित्व का प्रतिनिधित्व द्रव्य पूंजीपति, ऋणदाता, द्वारा किया जाता है। इस प्रकार उसके द्वारा अंतोक्त को दिया जानेवाला ब्याज सकल लाभ के उस अंश जैसा लगता है, जो पूंजी के इस रूप में स्वामित्व के कारण उत्पन्न होता है। इसके विपरीत, लाभ का जो अंश सक्रिय पूंजीपति के हिस्से में आता है, वह अब उद्यम के लाभ जैसा लगता है, जो केवल उन क्रियाओं, अथवा कार्यों से उत्पन्न होता है, जिन्हें वह पुनरुत्पादन प्रक्रिया में पूंजी से निष्पन्न करता है, अतः विशेषकर उन कार्यों से, जिन्हें वह उद्योग अथवा वाणिज्य में उद्यमकर्ता के नाते निष्पन्न करता है। इसलिए उसके संदर्भ में ब्याज मात्र पूंजी का, पूंजी की पुनरुत्पादन प्रक्रिया से इस रूप में अपाकर्षित पूंजी का स्वामी होने का फल जैसा लगता है, क्योंकि वह "काम" नहीं करती, कार्य निष्पादन नहीं करती; जबकि उद्यम का लाभ उसे पूंजी से अपने द्वारा निष्पन्न किये जानेवाले कार्यों का अनन्य फल, पूंजी की गति और निष्पादन, ऐसा निष्पादन कि जो उसे उत्पादन प्रक्रिया में द्रव्य पूंजीपति की अक्रियता, असहभागिता के विपरीत अपनी ही सक्रियता जैसा लगता है, का फल प्रतीत होता है। सकल लाभ के दोनों अंशों में यह

गुणात्मक भेद कि ब्याज अपने में पूंजी का, उत्पादन प्रक्रिया से निरपेक्ष पूंजी के स्वामित्व का फल होता है और उद्यम का लाभ निष्पादनरत पूंजी का, उत्पादन प्रक्रिया में कार्यरत पूंजी का, और इसलिए पुनरुत्पादन प्रक्रिया में पूंजी के नियोक्ता द्वारा अदा की जानेवाली सक्रिय भूमिका का फल होता है—यह गुणात्मक विभेद किसी भी प्रकार, एक ओर, द्रव्य पूंजीपति का और दूसरी ओर, औद्योगिक पूंजीपति का कोरा आत्मगत विचार नहीं है। यह एक वस्तुगत तथ्य पर आधारित है, क्योंकि ब्याज द्रव्य पूंजीपति को, ऋणदाता को, जाता है, जो पूंजी का स्वामी मात्र है और इसलिए उत्पादन प्रक्रिया के पहले और उसके बाहर ही पूंजी के सिर्फ़ स्वामित्व को प्रकट करता है, जबकि उद्यम का लाभ अकेले कार्यरत पूंजीपति को ही जाता है, जो पूंजी का स्वामी नहीं होता।

सकल लाभ का दो भिन्न व्यक्तियों में, जिनमें दोनों के उसी पूंजी पर और इसलिए उसके द्वारा उत्पादित लाभ पर भिन्न विधिक दावे हैं, मात्र परिमाणात्मक विभाजन इस प्रकार औद्योगिक पूंजीपति के लिए, जहां तक कि वह उधार पूंजी पर कारबार करता है, और द्रव्य पूंजीपति के लिए भी, जहां तक कि वह अपनी पूंजी को स्वयं नहीं लगाता, एक गुणात्मक विभाजन में परिणत हो जाता है। लाभ का एक अंश अब एक रूप में पूंजी से उत्पन्न फल की तरह, ब्याज की तरह आता है; दूसरा अंश एक विपरीत रूप में पूंजी के फल जैसा और इस प्रकार उद्यम के लाभ जैसा लगता है। एक अनन्यरूपेण पूंजी से कारबार करने के फल, कार्यरत पूंजी के फल, अथवा सक्रिय पूंजीपति द्वारा निष्पादित कार्यों के फल जैसा प्रतीत होता है। और सकल लाभ के दोनों भागों का एक दूसरे के संदर्भ में यह दृढ़ीभवन और पृथक्करण, मानो वे तत्वतः दो भिन्न स्रोतों से उत्पन्न हुए हों, अब समस्त पूंजीपति वर्ग और कुल पूंजी के लिए पक्का रूप ले लेता है। और यह इससे निरपेक्ष कि आया कि सक्रिय पूंजीपति द्वारा नियोजित पूंजी उधार की है या नहीं और आया कि द्रव्य पूंजीपति की पूंजी स्वयं उसके द्वारा नियोजित की जाती है या नहीं। हर पूंजी का लाभ, और फलतः पूंजियों के समकरण द्वारा स्थापित औसत लाभ, गुणात्मक रूप से दो भिन्न, परस्पर स्वतंत्र और अलग-अलग पृथक्कृत भागों, अर्थात ब्याज और उद्यम के लाभ में विखंडित अथवा पृथक हो जाता है, जिनमें से दोनों का निर्धारण अलग नियमों द्वारा होता है। उधार पूंजी पर काम करनेवाले पूंजीपति की ही भांति स्वयं अपनी पूंजी पर काम करनेवाला पूंजीपति सकल लाभ को स्वामी के नाते, स्वयं अपने ऋणदाता के नाते, स्वयं अपने को देय ब्याज में, और अपना कार्य निष्पादित करते सक्रिय पूंजीपति के नाते अपने को देय उद्यम के लाभ में विभाजित करता है। इसलिए जहां तक इस विभाजन की गुणात्मक विभाजन के रूप में बात है, यह महत्वहीन है कि पूंजीपति की वास्तव में किसी और के साथ हिस्सेदारी है या नहीं। पूंजी का नियोक्ता, स्वयं अपनी पूंजी से काम करते समय तक भी, दो व्यक्तित्वों में विखंडित हो जाता है—पूंजी का स्वामी और पूंजी का नियोजनकर्ता; उसकी पूंजी भी अपने द्वारा उत्पन्न लाभ संवर्गों के संदर्भ में पूंजी-संपत्ति, उत्पादन प्रक्रिया के बाहर पूंजी, जो अपने आप ब्याज देती है, और उत्पादन प्रक्रिया में पूंजी, जो अपने कार्य के जरिये उद्यम का लाभ देती है, में विखंडित हो जाती है।

अतः, ब्याज इतनी अच्छी तरह से जड़ जमा लेता है कि अब उत्पादन के प्रति उस उदासीनता के सकल लाभ के भाग जैसा नहीं लगता, जो कभी-कभी तब होती है कि जब औद्योगिक पूंजीपति किसी और की पूंजी से कारबार करता होता है। उसका लाभ जब वह अपनी ही पूंजी से कारबार करता है, तब भी ब्याज और उद्यम के लाभ में विखंडित होता है। इस प्रकार

एकमात्र मात्रात्मक विभाजन गुणात्मक विभाजन में बदल जाता है। यह इस आकस्मिक तथ्य से निरपेक्षतः होता है कि औद्योगिक पूंजीपति अपनी पूंजी का स्वामी है कि नहीं है। यह केवल विभिन्न व्यक्तियों को समनुदेशित लाभ के विभिन्न नियतांशों की ही नहीं, बल्कि लाभ के दो भिन्न संवर्गों की बात है, जो पूंजी से भिन्नतः संबंधित होते हैं और इसलिए पूंजी के भिन्न-भिन्न पहलुओं से संबंध रखते हैं।

अब सकल लाभ के ब्याज तथा उद्यम के लाभ में विभाजन के एक गुणात्मक विभाजन बन जाने की बदौलत उन कारणों का पता लगाना आसान हो गया है, जिनसे वह कुल पूंजी और समस्त पूंजीपति वर्ग के लिए गुणात्मक विभाजन का यह स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

पहले, यह इस सीधे-सादे आनुभविक तथ्य से उत्पन्न होता है कि अधिकांश औद्योगिक पूंजीपति, चाहे भिन्न संख्यागत अनुपात में ही सही, स्वयं अपनी और उधार पूंजी से काम करते हैं और अलग-अलग समयों पर अपनी और उधार पूंजी में अनुपात बदलता रहता है।

दूसरे, सकल लाभ के एक अंश का ब्याज के रूप में रूपांतरण उसके दूसरे अंश को उद्यम के लाभ में बदल देता है। अंतोक्त वास्तव में ब्याज पर, उसके एक स्वतंत्र संवर्ग के नाते अस्तित्व में आने के साथ, सकल लाभ के आधिक्य द्वारा धारण किया जानेवाला विलोम रूप मात्र है। सकल लाभ ब्याज और उद्यम के लाभ में कैसे विभेदित होता है, इस समस्या का सारा विश्लेषण इस अन्वेषण में परिणत हो जाता है कि सकल लाभ का एक अंश कैसे ब्याज के रूप में सर्वतः दृढ़ीभूत तथा पृथक्कृत हो जाता है। तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से ब्याजी पूंजी का एक संपूरित पारंपरिक रूप के नाते और फलतः ब्याज का पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य के एक संपूरित उपभाग के नाते पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और उसकी सहवर्ती पूंजी तथा लाभ की अवधारणाओं के बहुत पहले से अस्तित्व रहा है। यही कारण है कि जन मानस के लिए द्रव्य पूंजी, अथवा ब्याजी पूंजी, आज भी अपने में पूंजी है, par excellence [सर्वोत्कृष्ट] पूंजी है। दूसरी ओर, यही कारण है कि मैसी के समय तक यही धारणा व्याप्त थी कि यह अपने में द्रव्य ही है कि जो ब्याज में अदा किया जाता है। यह तथ्य कि उधार पूंजी इससे निरपेक्षतः ब्याज देती है कि उसे वास्तव में पूंजी की तरह नियोजित किया गया है कि नहीं – सिर्फ़ उपभोग के लिए उधार ली जाने पर भी – इस विचार को बल प्रदान करता है कि पूंजी के इस रूप का स्वतंत्र अस्तित्व होता है। लाभ के संदर्भ में ब्याज को और औद्योगिक पूंजी के संदर्भ में ब्याजी पूंजी को पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के प्रारंभिक काल में जो स्वतंत्रता प्राप्त थी, उसका सबसे अच्छा प्रमाण यह है कि ठेठ अठारहवीं सदी के मध्य में जाकर ही यह खोजा गया था (मैसी द्वारा* और उनके बाद ह्यूम द्वारा**) कि ब्याज सकल लाभ का एक अंश मात्र होता है, और यह कि ऐसी खोज की आवश्यकता तक पड़ी।

तीसरे, औद्योगिक पूंजीपति अपनी पूंजी से कारबार करता है या उधार पूंजी से, इससे यह तथ्य नहीं बदलता कि उसके सामने द्रव्य पूंजीपतियों का वर्ग एक विशेष प्रकार के पूंजीपतियों

---

* [J. Massie], *An Essay on the Governing Causes of the Natural Rate of Interest*, London, 1750. – सं०

** D. Hume, *On Interest*. In: *Essays and Treatises on Several Subjects*, Vol. I, London, 1764. – सं०

की तरह आता है, द्रव्य पूंजी पूंजी के एक स्वतंत्र प्रकार की तरह आती है, और ब्याज इस विशिष्ट पूंजी के लिए विशेष बेशी मूल्य के एक स्वतंत्र रूप की तरह आता है।

गुणात्मक अर्थों में ब्याज पूंजी के स्वामित्व मात्र द्वारा उत्पन्न बेशी मूल्य है; वह पूंजी द्वारा पूंजी की हैसियत से उत्पन्न किया जाता है, चाहे उसका स्वामी पुनरुत्पादन प्रक्रिया के बाहर ही रहता है। अतः, ब्याज पूंजी द्वारा अपनी प्रक्रिया के बाहर सिद्धिकृत बेशी मूल्य है।

मात्रात्मक अर्थों में लाभ का वह अंश, जो ब्याज का निर्माण करता है, औद्योगिक अथवा वाणिज्यिक पूंजी से नहीं, बल्कि द्रव्य पूंजी से संबद्ध प्रतीत होता है, और बेशी मूल्य के इस अंश की दर, ब्याज दर, इस संबंध का प्रबलन करती है। कारण कि एक तो सामान्य लाभ दर पर अपनी निर्भरता के बावजूद ब्याज दर स्वतंत्र रूप में निर्धारित की जाती है, और दूसरे, जिंसों के बाजार दाम की ही भांति अगोचर लाभ दर के विपरीत यह अपने सभी विचरणों के संदर्भ में एक निश्चित, एकरूप, गोचर और नियत संबंध के रूप में प्रकट होती है। अगर सारी पूंजी औद्योगिक पूंजीपतियों के ही हाथों में हो, तो ब्याज और ब्याज दर जैसी कोई चीज़ न होगी। सकल लाभ के मात्रात्मक विभाजन द्वारा धारण किया जानेवाला स्वतंत्र रूप गुणात्मक विभाजन को पैदा करता है। औद्योगिक पूंजीपति यदि अपनी द्रव्य पूंजीपति से तुलना करे, तो उसे सबसे पहले उसका उद्यम का लाभ, उसके सकल लाभ का औसत ब्याज पर, जो ब्याज दर की बदौलत अनुकल्पित रूप में नियत प्रतीत होता है, आधिक्य ही दूसरे व्यक्ति से अलग करेगा। इसके विपरीत, यदि वह उधार पूंजी के बजाय स्वयं अपनी पूंजी से काम करनेवाले औद्योगिक पूंजीपति से अपनी तुलना करे, तो अंतोक्त उससे सिर्फ़ इसी बात में भिन्न होगा कि द्रव्य पूंजीपति की तरह वह भी ब्याज को जेब में डाल लेता है, बजाय इसके कि उसे किसी और को अदा करे। ब्याज से पृथक्कृत सकल लाभ का अंश दोनों ही मामलों में उसके आगे उद्यम के लाभ की तरह, और स्वयं ब्याज पूंजी द्वारा अपने में उत्पन्न बेशी मूल्य की तरह आता है, जिसे वह उत्पादक उपयोग में न लायी जाने पर भी उत्पन्न करती।

अकेले पूंजीपति के मामले में यह व्यवहार में सही है। इससे निरपेक्ष कि पूंजी आरंभ से ही द्रव्य पूंजी के रूप में है, या उसे अभी द्रव्य पूंजी में परिवर्तित किया जाना है, उसके पास अपनी पूंजी को ब्याजी पूंजी के नाते उधार देकर उपयोग में लाने का, अथवा उसे उत्पादक पूंजी के नाते इस्तेमाल करके ख़ुद उसके मूल्य का प्रसार करने का विकल्प होता है। लेकिन इसे समाज की कुल पूंजी पर लागू करना, जैसे कुछ अप्रामाणिक अर्थशास्त्री करते हैं, और इसे लाभ के कारण की संज्ञा देने की हद तक चले जाना निस्संदेह हास्यास्पद है। निस्संदेह, उत्पादन साधनों को, जो द्रव्य में अस्तित्वमान अपेक्षतया छोटे से अंश के सिवा कुल सामाजिक पूंजी का निर्माण करते हैं, ख़रीदने और इस्तेमाल करनेवाले लोगों के बिना सारी पूंजी को द्रव्य पूंजी में परिवर्तित करने का विचार ही कोरी बकवास है। यह सोचना तो और भी ज्यादा बेतुका होगा कि पूंजीवादी आधार पर पूंजी कोई उत्पादक कार्य निष्पन्न किये बिना, अर्थात बेशी मूल्य सृजित किये बिना, ब्याज जिसका मात्र एक अंश होता है, ब्याज उत्पन्न करेगी और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली पूंजीवादी उत्पादन के बिना आगे बढ़ती रहेगी। अगर पूंजीपतियों का एक अत्यधिक बड़ा भाग अपनी पूंजी द्रव्य पूंजी में परिवर्तित कर ले, तो उसका परिणाम द्रव्य पूंजी का भयंकर मूल्यह्रास और ब्याज दर में भयानक गिरावट होगा; बहुतों के लिए अपने ब्याज पर गुज़र-बसर तुरंत असंभव हो जायेगी और इसलिए वे औद्योगिक पूंजीपतियों में पुनःपरिवर्तित होने को विवश हो जायेंगे। लेकिन हम फिर कहते हैं कि अकेले पूंजीपति के लिए यह एक

तथ्य है। यही कारण है कि स्वयं अपनी पूंजी से कारबार करते समय भी वह अपने औसत लाभ के उस भाग को, जो औसत ब्याज के बराबर होता है, अनिवार्यतः उत्पादन प्रक्रिया से पृथक्कृत उसी रूप में अपनी पूंजी का फल समझता है, और ब्याज के रूप में अलग किये इस अंश से भिन्न सकल लाभ की बेशी को सिर्फ़ उद्यम का लाभ ही मानता है।

चौथे, [पांडुलिपि में यहां जगह ख़ाली छूटी हुई है]।

इस प्रकार हमने देखा कि कार्यरत पूंजीपति को लाभ का जो अंश उधार पूंजी के स्वामी को देना होता है, वह लाभ के उस अंश के एक स्वतंत्र रूप में रूपांतरित हो जाता है, जो सारी पूंजी, चाहे वह उधार की हो या न हो, ब्याज के नाम के अंतर्गत उत्पन्न करती है। इस अंश का आकार औसत ब्याज दर पर निर्भर करता है। उसका मूल अभी केवल इस तथ्य में प्रकट होता है कि कार्यरत पूंजीपति, जब वह अपनी पूंजी का स्वामी होता है, ब्याज दर के निर्धारण में प्रतिद्वंद्विता नहीं करता – कम से कम सक्रिय रूप में तो नहीं। लाभ का ऐसे दो व्यक्तियों के बीच, जिनका उस पर अलग-अलग क़ानूनी हक़ है, शुद्धतः मात्रात्मक विभाजन इस प्रकार एक गुणात्मक विभाजन में परिणत हो गया है, जो स्वयं पूंजी और लाभ की प्रकृति से ही उपजता प्रतीत होता है। कारण यह कि जैसे हम देख चुके हैं, लाभ के एक अंश के सर्वतः ब्याज का रूप धारण करने के साथ औसत लाभ और ब्याज के बीच अंतर, अथवा लाभ का ब्याज के अतिरिक्त अंश, ब्याज का विलोम रूप – उद्यम के लाभ का रूप – ग्रहण कर लेता है। ये दोनों रूप, ब्याज और उद्यम का लाभ, केवल विपरीत रूपों में ही अस्तित्व में होते हैं। अतः, वे बेशी मूल्य से, जिसके वे भिन्न-भिन्न संवर्गों, शीर्षकों अथवा नामों के अंतर्गत नियत भाग मात्र होते हैं, नहीं, बल्कि इसके विपरीत एक दूसरे से संबद्ध होते हैं। ऐसा इसलिए है कि लाभ का एक अंश ब्याज में परिणत हो जाता है और दूसरा अंश उद्यम के लाभ की तरह सामने आता है।

लाभ से यहां हमारा आशय सदा औसत लाभ ही है, क्योंकि इस विश्लेषण में हमारा विचरणों या उतार-चढ़ावों से सरोकार नहीं है, फिर चाहे वे व्यष्टिक लाभों के हों अथवा विभिन्न क्षेत्रों में लाभों के, अतः औसत लाभ, अथवा बेशी मूल्य के वितरण को प्रभावित करनेवाले प्रतिद्वंद्विता संघर्ष तथा अन्य परिस्थितियों से जनित विचरण हों। सामान्यतः यह बात इस सारे अन्वेषण पर लागू होती है।

इस प्रकार ब्याज, रैमज़े द्वारा दी गयी संज्ञा के अनुसार, निवल लाभ है, जो पूंजी का स्वामित्व या तो सीधे-सीधे ऋणदाता को, जो पुनरुत्पादन प्रक्रिया के बाहर रहता है, या स्वामी को, जो अपनी पूंजी सदा उत्पादक रूप में नियोजित करता है, प्रदान करता है। लेकिन पूंजी के स्वामी के मामले में भी पूंजी उसे यह निवल लाभ उसकी उत्पादक पूंजीपति की नहीं, बल्कि द्रव्य पूंजीपति की हैसियत में, ब्याजी पूंजी की तरह स्वयं अपनी पूंजी अपने को, जैसे कि किसी कार्यरत पूंजीपति को, ऋणदाता की हैसियत में प्रदान करती है। जैसे द्रव्य का, और सामान्यतः मूल्य का पूंजी में परिवर्तन पूंजीवादी उत्पादन का सतत परिणाम है, वैसे ही पूंजी के रूप में उसका अस्तित्व उसकी सतत पूर्वापेक्षा है। उत्पादन साधनों में रूपांतरित किये जाने की अपनी क्षमता द्वारा वह अशोधित श्रम को सदा वश में रखती है और उसके द्वारा जिंसों के उत्पादन तथा परिचलन की प्रक्रियाओं को अपने स्वामी के लिए बेशी मूल्य के उत्पादन में बदल देती है। अतः, ब्याज इस तथ्य की अभिव्यक्ति है कि सामान्यरूपेण मूल्य – अपने सामान्य सामाजिक रूप में मूर्त श्रम – अथवा वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया में उत्पादन साधनों का रूप ग्रहण करनेवाला

मूल्य सजीव श्रम शक्ति के सामने एक स्वतंत्र शक्ति की तरह आता है और अशोधित श्रम को हड़पने का एक साधन है; और वह ऐसी शक्ति इसलिए बनता है कि वह श्रमिक के सामने किसी और की संपत्ति की तरह आता है। लेकिन दूसरी ओर, ब्याज के रूप में उजरती श्रम के प्रति यह वैषम्य मिट जाता है, क्योंकि अपने में ब्याजी पूंजी का विलोम उजरती श्रम नहीं, बल्कि उत्पादक पूंजी है। ऋणदाता पूंजीपति का सामना पुनरुत्पादन प्रक्रिया में अपने वास्तविक कार्य को निष्पन्न करते पूंजीपति से होता है, न कि उजरती मजदूर से, जिसे ठीक पूंजीवादी उत्पादन के अधीन ही उत्पादन साधनों से वंचित किया जाता है। ब्याजी पूंजी **कार्य के रूप** में पूंजी से भिन्न **संपत्ति के रूप** में पूंजी है। लेकिन पूंजी जब तक अपने कार्य का निष्पादन नहीं करती, वह श्रमिकों का शोषण नहीं करती और श्रम के विरोध में नहीं आती।

इसके विपरीत, उद्यम के लाभ का विलोम के रूप में उजरती श्रम से नहीं, बल्कि सिर्फ़ ब्याज से ही संबंध होता है।

पहली बात, अगर यह मान लिया जाये कि औसत लाभ नियत है, तो उद्यम के लाभ की दर मजदूरी द्वारा नहीं, बल्कि ब्याज दर द्वारा निर्धारित की जाती है। वह उसके व्युत्क्रमानुपात में ऊंची या नीची होती है।[72]

दूसरी बात, कार्यरत पूंजीपति उद्यम के लाभों पर, अतः स्वयं उद्यम के लाभ पर अपना दावा पूंजी के अपने स्वामित्व से नहीं, बल्कि उस निश्चित रूप से भिन्न कि जिसमें वह केवल अक्रिय संपत्ति ही होती है, पूंजी के कार्य से प्राप्त करता है। जब भी वह उधार पूंजी से कारबार करता है और इसलिए ब्याज तथा उद्यम का लाभ भिन्न लोगों को जाते हैं, यह तुरंत एक प्रत्यक्ष विरोधाभास की तरह सामने आता है। उद्यम का लाभ पुनरुत्पादन प्रक्रिया में पूंजी के कार्य से, अतः उन क्रियाओं और कारबारों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है, जिनसे कार्यरत पूंजीपति औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूंजी के इस कार्य का संवर्धन करता है। लेकिन कार्यरत पूंजी का प्रतिनिधित्व करना ब्याजी पूंजी को प्रतिनिधित करने जैसा कोई अल्पश्रमी धंधा नहीं है। पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर पूंजीपति उत्पादन प्रक्रिया और परिचलन प्रक्रिया को निदेशित करता है। उत्पादक श्रम के दोहन अथवा शोषण में प्रयास सन्निहित होता है, फिर चाहे वह उसका स्वयं दोहन करे, अथवा उसका अपनी ओर से किसी और द्वारा शोषण करवाये। इसलिए अपना उद्यम का लाभ उसके लिए ब्याज से भिन्न, पूंजी के स्वामित्व से स्वतंत्र, बल्कि उलटे, एक ग़ैर-स्वामी – एक **श्रमिक** – के नाते अपने कार्य के परिणाम की तरह प्रकट होता है।

इसलिए उसके दिमाग़ में अनिवार्यतः यह विचार पैदा होता है कि उसका उद्यम का लाभ उजरती श्रम के मुक़ाबले पर रखे जाने की तो बात ही क्या और दूसरों का अशोधित श्रम होने की तो बात ही क्या, उलटे ख़ुद ही श्रम के अधीक्षण की **मजदूरी** है, जो सामान्य श्रमिक की मजदूरी से ऊंची होती है, १) क्योंकि यह काम कहीं अधिक जटिल होता है, और २) क्योंकि वह मजदूरी ख़ुद अपने को देता है। इस तथ्य को कि पूंजीपति के नाते उसका कार्य बेशी मूल्य, अर्थात अशोधित श्रम, सृजित करना और उसे सबसे लाभकारी अवस्थाओं में सृजित करना है, इस तथ्य के सामने सर्वथा भुला दिया जाता है कि ब्याज तो पूंजीपति के हिस्से में तब भी आता

---

[72] "उद्यम के लाभ पूंजी के निवल लाभों पर निर्भर करते हैं, न कि अंतोक्त पूर्वोक्त पर।" (Ramsay, *Essay on the Distribution of Wealth*, p. 214. रैमज़े के लिए निवल लाभ का अर्थ सदा ब्याज ही है।)

है कि जब वह चाहे पूंजीपति के कार्य का निष्पादन न भी करता हो और महज़ पूंजी का स्वामी ही हो; और दूसरी ओर, उद्यम का लाभ कार्यरत पूंजीपति के ही हिस्से में आता है, चाहे वह जिस पूंजी के बल पर कारबार करता है, उसका स्वामी न भी हो। लाभ, और इसलिए बेशी मूल्य, जिन दो भागों में विभक्त होता है, उनके विरोधी रूप के कारण वह भूल जाता है कि दोनों बेशी मूल्य के भाग मात्र हैं और यह विभाजन बेशी मूल्य की प्रकृति, उद्गम और अस्तित्व के ढंग में कुछ भी नहीं बदलता।

पुनरुत्पादन प्रक्रिया में कार्यरत पूंजीपति उजरती मज़दूरों के संदर्भ में किसी और की संपत्ति के रूप में पूंजी का प्रतिनिधित्व करता है, और द्रव्य पूंजीपति, जिसे कार्यरत पूंजीपति प्रतिनिधित करता है, श्रम के शोषण में हाथ बंटाता है। पुनरुत्पादन प्रक्रिया में पूंजी के कार्य तथा पुनरुत्पादन प्रक्रिया के बाहर पूंजी के स्वामित्व मात्र के बीच अंतर्विरोध में इस तथ्य को भुला दिया जाता है कि निवेशक पूंजीपति मज़दूरों से अपने लिए काम करवाने के, अथवा उत्पादन साधनों का पूंजी के नाते नियोजन करने के, अपने कार्य को केवल मज़दूरों के संदर्भ में उत्पादन साधनों के प्रतिनिधि के रूप में ही निष्पादित कर सकता है।

वास्तव में लाभ के, अर्थात बेशी मूल्य के, दोनों भागों द्वारा धारण किया जानेवाला ब्याज और उद्यम के लाभ का रूप श्रम के साथ किसी भी संबंध को नहीं प्रकट करता, क्योंकि यह संबंध केवल श्रम और लाभ के, अथवा यों कहिये कि एक राशि के नाते, एक समष्टि, इन दोनों भागों की एकान्विति के नाते बेशी मूल्य के बीच ही अस्तित्वमान होता है। लाभ जिस अनुपात में विभाजित होता है, और यह विभाजन जिन अलग-अलग क़ानूनी हक़नामों द्वारा अनुमोदित किया जाता है, इस मान्यता पर आधारित होते हैं कि लाभ पहले से ही अस्तित्वमान है। इसलिए अगर पूंजीपति उस पूंजी का स्वामी है, जिस से वह कारबार करता है, तो वह सारे लाभ, अथवा बेशी मूल्य को हथिया लेता है। श्रमिक के लिए यह सर्वथा महत्वहीन है कि आया कि पूंजीपति यह करता है, या उसे उसका एक भाग किसी अन्य व्यक्ति को उसके वैध स्वामी के नाते देना पड़ता है। इस प्रकार, लाभ को दो प्रकार के पूंजीपतियों में विभाजित करने के पीछे निहित कारण अप्रत्यक्ष रूप से लाभ, बेशी मूल्य, के अस्तित्वमान होने के कारणों में परिणत हो जाते हैं, जिसे विभाजित करना होता है और जिसे पूंजी अपने में किसी भी परवर्ती विभाजन से निरपेक्षतः पुनरुत्पादन प्रक्रिया से प्राप्त करती है। चूंकि ब्याज उद्यम के लाभ का, और उद्यम का लाभ ब्याज का विलोम होता है, और चूंकि वे दोनों ही एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं, किंतु श्रम के नहीं, इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि उद्यम का लाभ जमा ब्याज, अर्थात लाभ, और अन्ततोगत्वा बेशी मूल्य प्राप्त होते हैं – भला किससे? उसके दोनों भागों के विरोधी रूप से! लेकिन लाभ इसके पहले उत्पादित होता है कि उसका विभाजन किया जाये और इसके पहले कि उसके बारे में सोचा भी जाये।

ब्याजी पूंजी उसी रूप में केवल तभी तक रहती है कि जब तक उधार पूंजी वस्तुतः पूंजी में परिवर्तित की जाती है और उससे बेशी पैदा की जाती है, ब्याज जिसका एक भाग होता है। लेकिन यह इसे नहीं वर्जित करता कि उत्पादन प्रक्रिया से निरपेक्षतः ब्याज प्राप्त करना उसका सहज गुण है। इसी प्रकार श्रम शक्ति भी मूल्य उत्पादित करने के अपने गुण को सिर्फ़ तभी तक बनाये रखती है कि जब तक वह श्रम प्रक्रिया में नियोजित और मूर्त होती रहती है; लेकिन यह बात इस तथ्य के ख़िलाफ़ नहीं जाती कि वह संभाव्य रूप में, एक शक्ति के नाते, एक ऐसी सक्रियता है कि जो मूल्य का सृजन करती है, और इस रूप में वह उत्पादन

प्रक्रिया से नहीं उत्पन्न होती, बल्कि उलटे, उसकी पूर्वगामी होती है। उसे अपने में मूल्य सृजित करने की क्षमता की तरह ख़रीदा जाता है। लेकिन उसे उत्पादक रूप में काम पर न लगाकर सिर्फ़ निजी प्रयोजनों के लिए भी ख़रीदा जा सकता है, उदाहरण के लिए, व्यक्तिगत सेवाओं के लिए, आदि। पूंजी पर भी यही बात लागू होती है। यह क़र्ज़दार का अपना मामला है कि आया कि वह उसे पूंजी के रूप में नियोजित करता है, अतः बेशी मूल्य उत्पादित करने के उसके अंतर्निहित गुण को हरकत में लाता है। हर सूरत में वह जिंस के नाते पूंजी में स्वाभाविक रूप में सन्निहित संभाव्य बेशी मूल्य के लिए ही दाम देता है।

आइये, अब उद्यम के लाभ का अधिक विस्तार के साथ विवेचन करें।

चूंकि पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत पूंजी का विशिष्ट सामाजिक लक्षण – दूसरे की श्रम शक्ति को वशीभूत करने का गुण – स्थापित हो जाता है, जिससे ब्याज इस अंतःसंबंध में पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य का एक भाग लगता है, इसलिए बेशी मूल्य का दूसरा भाग – उद्यम का लाभ – अनिवार्यतः ऐसा लगता है, जैसे वह पूंजी के नाते पूंजी से नहीं, वरन अपने विशिष्ट सामाजिक लक्षण से पृथक, जिसका विशिष्ट अस्तित्व रूप पूंजी पर आवधिक या मीयादी ब्याज की सूरत में पहले ही व्यक्त हो चुका है, उत्पादन प्रक्रिया से आता है। किंतु पूंजी से पृथक्कृत उत्पादन प्रक्रिया मात्र श्रम प्रक्रिया ही होती है। इसलिए पूंजी के स्वामी के विपरीत औद्योगिक पूंजीपति पूंजी को प्रवर्तित करनेवाले के रूप में नहीं, बल्कि, इसके विपरीत, पूंजी से निरपेक्ष एक कार्यकर्ता के रूप में, अथवा सामान्यतः श्रम प्रक्रिया के एक साधारण अभिकर्ता के रूप में, और वस्तुतः उजरती मज़दूर के रूप में सामने आता है।

अपने में ब्याज ठीक पूंजी के नाते श्रम की अवस्थाओं के अस्तित्व को, श्रम के साथ उनके सामाजिक वैषम्य में तथा श्रम के संदर्भ में और उसके ऊपर व्यक्तिगत शक्ति में उनके रूपांतरण में, ही व्यक्त करता है। वह अन्यों के श्रम के उत्पादों को हथियाने के साधन के रूप में पूंजी के स्वामित्व को प्रकट करता है। लेकिन वह पूंजी के इस अभिलक्षण को इस प्रकार प्रकट करता है कि जैसे वह उत्पादन प्रक्रिया के बाहर की कोई चीज़ है और स्वयं इस उत्पादन प्रक्रिया के विशिष्टतः पूंजीवादी लक्षण का किसी भी प्रकार परिणाम नहीं है। ब्याज इस अभिलक्षण को श्रम के प्रत्यक्षतः विरोधी की तरह नहीं, बल्कि, इसके विपरीत, श्रम से असंबद्ध अभिलक्षण की तरह, मात्र एक पूंजीपति के दूसरे पूंजीपति के साथ संबंध की तरह प्रकट करता है। अतः, श्रम के साथ पूंजी के संबंध के बाहर और उससे असंबद्ध लक्षण की तरह प्रकट करता है। इसलिए ब्याज में, लाभ के उस विशिष्ट रूप में कि जिसमें पूंजी का विरोधी स्वरूप एक स्वतंत्र रूप ग्रहण कर लेता है, यह इस प्रकार व्यक्त किया जाता है कि वैषम्य पूर्णतः मिट जाता और अमूर्त हो जाता है। ब्याज दो पूंजीपतियों के बीच संबंध है, न कि पूंजीपति और श्रमिक के बीच संबंध।

दूसरी ओर, ब्याज का यह रूप लाभ के दूसरे अंश को उद्यम के लाभ का, और इसके अलावा अधीक्षण की मज़दूरी का गुणात्मक रूप प्रदान कर देता है। पूंजीपति को अपने में जो विशिष्ट कार्य निष्पन्न करने होते हैं और जो श्रमिक से भिन्न और उसके विपरीत उसके हिस्से में आते हैं, उन्हें मात्र श्रम के कार्यों की तरह प्रस्तुत किया जाता है। वह बेशी मूल्य इसलिए नहीं सृजित करता कि वह **पूंजीपति की तरह** काम करता है, बल्कि इसलिए कि पूंजीपति की

अपनी हैसियत से निरपेक्ष, वह काम भी करता है। इस प्रकार बेशी मूल्य का यह अंश अब बेशी मूल्य नहीं रह जाता, बल्कि उसका विलोम, किये गये श्रम के लिए समतुल्य बन जाता है। पूंजी के अन्यसंक्रामित स्वरूप के कारण श्रम से उसके वैषम्य के शोषण की वास्तविक प्रक्रिया के बाहर, अर्थात ब्याजी पूंजी पर डाल दिये जाने से स्वयं यह शोषण प्रक्रिया साधारण श्रम प्रक्रिया जैसी लगने लगती है, जिसमें कार्यरत पूंजीपति बस श्रमिक से भिन्न प्रकार का श्रम ही करता है। इसके कारण शोषण करने का श्रम और शोषित श्रम दोनों श्रम के नाते एकरूप प्रतीत होते हैं। शोषण करने का श्रम उसी प्रकार श्रम है कि जिस प्रकार शोषित श्रम। ब्याज पूंजी का सामाजिक रूप बन जाता है, लेकिन तटस्थ और उदासीन रूप में। उद्यम का लाभ पूंजी का आर्थिक कार्य बन जाता है, लेकिन इस कार्य के विशिष्ट पूंजीवादी स्वरूप से पृथक होकर।

इस मामले में पूंजीपति के दिमाग़ में बिलकुल वैसी ही बात आती है, जैसी इस पुस्तक के दूसरे भाग में दर्शाये औसत लाभ में समकरण में प्रतिपूरण के कारणों के मामले में। प्रतिपूरण के ये कारण, जो बेशी मूल्य के वितरण में निर्धारकों की तरह शामिल होते हैं, पूंजीपति के दिमाग़ में विरूपित होकर स्वयं लाभ के उद्गम और उसके (आत्मपरक) औचित्य के आधारों का रूप ले लेते हैं।

उद्यम के लाभ के ब्याज से वैषम्य से उद्भूत यह धारणा कि उद्यम का लाभ श्रम का अधीक्षण करने की मजदूरी है, इस तथ्य से और भी पुष्ट होती है कि लाभ का एक अंश वस्तुतः मजदूरी के रूप में अलग किया जा सकता है और वास्तव में किया जाता है, या इसकी उलटी ही बात कि मजदूरी का एक अंश पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत लाभ के अभिन्न अंग के रूप में प्रकट होता है। यह अंश, जैसे ऐडम स्मिथ ने सही ही निगमित किया था, अपने को शुद्ध रूप में, एक ओर, लाभ (ब्याज और उद्यम के लाभ के योग के रूप में) से, और दूसरी ओर, लाभ के उस अंश से स्वतंत्र और पूर्णतः अलग किये हुए रूप में प्रकट करता है, जो ब्याज के घटाये जाने के बाद उद्यम के लाभ के रूप में व्यवसाय की उन शाखाओं के प्रबंधकों के वेतन में बच रहता है, जिनका आकार, आदि प्रबंधक के विशेष वेतन का औचित्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त श्रम विभाजन का अवसर प्रदान करता है।

अधीक्षण तथा प्रबंध का श्रम वहां हमेशा क़ुदरती तौर पर जरूरी होता है, जहां उत्पादन की प्रत्यक्ष प्रक्रिया संयुक्त सामाजिक प्रक्रिया का रूप ले लेती है, न कि स्वतंत्र उत्पादकों के वियुक्त श्रम का।[73] लेकिन इसकी प्रकृति द्वैध है।

एक ओर, वह सारा श्रम, जिसमें बहुत से लोग सहयोग करते हैं, अनिवार्यतः प्रक्रिया को समन्वित तथा एकीभूत करने के लिए एक नियंत्रणकारी इच्छा और ऐसे कार्यों की अपेक्षा करता है, जिनका आंशिक कार्यों से नहीं, बल्कि कार्यशाला की समग्र गतिविधि से, बिलकुल जैसे वाद्यवृंदनायक की गतिविधि से संबंध होता है। यह एक उत्पादक श्रम है, जिसका हर संयुक्त उत्पादन प्रणाली में निष्पादन किया जाना आवश्यक है।

दूसरी ओर, वाणिज्यिक विभागों को सर्वथा अलग भी छोड़ दें, तो यह अधीक्षण कार्य प्रत्यक्ष उत्पादक के नाते श्रमिक और उत्पादन साधनों के स्वामी के बीच वैषम्य पर आधारित सभी उत्पादन प्रणालियों में अनिवार्यतः उत्पन्न होता है। यह विरोध जितना ही अधिक होता

---

[73] "यहां" (फ़ार्म मालिक के मामले में) "अधीक्षण सर्वथा अनावश्यक है।" (J. E. Cairnes, *The Slave Power*, London, 1862, p. 48.)

है, अधीक्षण द्वारा निबाही जानेवाली भूमिका उतना ही अधिक होती है। यही कारण है कि दास प्रथा में यह अपने चरम पर पहुंच जाता है।[74] लेकिन पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में भी यह अपरिहार्य है, क्योंकि उसमें उत्पादन प्रक्रिया साथ ही पूंजीपति द्वारा श्रम शक्ति के उपभोग की प्रक्रिया भी होती है। बिलकुल स्वेच्छाचारी राज्यों की ही भांति अधीक्षण और शासन द्वारा सर्वतोमुखी हस्तक्षेप में सभी समुदायों की प्रकृति से उद्भूत सामान्य कार्यकलाप, और शासन तथा जनसाधारण के बीच वैषम्य से उद्भूत विशिष्ट कार्यों, दोनों का निष्पादन सन्निहित है।

प्राचीन लेखकों की कृतियों में, जिनके सामने दास प्रथा ही थी, अधीक्षण कार्य के दोनों पहलू सिद्धांततः अभिन्न रूप में जुड़े हुए हैं, जैसे वे व्यवहारतः थे भी। यही आधुनिक अर्थशास्त्रियों की कृतियों में भी देखने में आता है, जो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को निरपेक्ष समझते हैं। दूसरी ओर, जैसे मैं अभी एक उदाहरण से स्पष्ट करूंगा, आधुनिक दास प्रथा के पैरोकार अधीक्षण कार्य का बिलकुल उसी प्रकार दास प्रथा के औचित्यस्थापन की तरह उपयोग करते हैं, जैसे दूसरे अर्थशास्त्री उजरत प्रथा का औचित्य ठहराने के लिए करते हैं।

कातो के समय का villicus: "दास अर्थव्यवस्थावाली जागीर (familia rustica) के शिखर पर प्रबंधक (villicus, villa—जागीर) है, जो प्राप्तियां और व्यय करता है, क्रय-विक्रय करता है, मालिक से, जिसकी अनुपस्थिति में वह आदेश और दंड देता है, निर्देश लेता है।... प्रबंधक को क़ुदरती तौर पर अन्य दासों से अधिक आज़ादी प्राप्त थी; मगोनी ग्रंथों में सलाह दी गयी है कि उसे शादी करने, बच्चे पैदा करने और अपना पैसा रखने की छूट दी जानी चाहिए और कातो यह सुझाता है कि उसकी शादी प्रबंधिका से की जानी चाहिए; शायद उसे ही अच्छे आचरण की दशा में मालिक से आज़ादी पा सकने की कोई संभावना थी। जहां तक शेष सब की बात है, सभी साझी गृहस्थी का हिस्सा होते थे।... स्वयं प्रबंधक सहित हर दास को निश्चित अंतरालों पर और नियत हिसाब से अपने मालिक के ख़र्च पर ज़रूरत की चीज़ें मिल जाती थीं और उन्हीं से काम चलाना होता था।... मात्रा श्रम के अनुसार भिन्न-भिन्न होती थी और यही वजह है कि मिसाल के लिए, प्रबंधक को, जिसका काम दूसरे दासों से आसान था, उनके मुक़ाबले कम रसद मिलती थी।" (Mommsen, *Römische Geschichte*, 2. Auflage, Bd. I, 1856, S. 809-10.)

अरस्तू: "'Ο γὰρ δεσπότης οὐκ ἐν τῷ κτᾶσθαι τοὺς δούλους, ἀλλ' ἐν τῷ χρῆσθαι δούλους." ("क्योंकि मालिक"—पूंजीपति—"अपने को मालिक ग़ुलाम ख़रीदकर"—पूंजी का स्वामित्व पाकर, जो उसे श्रम शक्ति को ख़रीदने की शक्ति प्रदान कर देता है—"नहीं, बल्कि ग़ुलामों को इस्तेमाल करके"—श्रमिकों का, आज के उजरती श्रमिकों का उत्पादन प्रक्रिया में उपयोग करके—"साबित करता है।") "'Εστὶ δὲ αὕτη ἡ ἐπιστήμη οὐδὲν μέγα ἔχουσα οὐδὲ σεμνόν" ("लेकिन इस शास्त्र में न कोई महानता है, न कोई उदात्तता।") "ἃ γὰρ τὸν δοῦλον ἐπίστασθαι δεῖ ποιεῖν, ἐκεῖνον δεῖ ταῦτα ἐπίστασθαι ἐπιτάττειν" ("लेकिन ग़ुलाम जो कुछ भी कर सकता है,

---

[74] "अगर काम की प्रकृति के लिए यह आवश्यक हो कि कामगारों" (अर्थात दासों) "को अधिक व्यापक क्षेत्र पर फैला दिया जाये, तो अधीक्षकों की संख्या, और इसलिए उस श्रम की लागत यथानुपात बढ़ जायेगी, जिसके लिए यह अधीक्षण आवश्यक है।" (Cairnes, *l.c.*, p. 44.)

मालिक को उसका हुक्म देने लायक़ होना चाहिए।") "Διὸ ὅσοις ἐξουσία μὴ αὐτοὺς κακοπαθεῖν, ἐπίτροπος λαμβάνει ταυτὴν τὴν τιμήν, αὐτοὶ δὲ πολιτεύονται ἢ φιλοσοφοῦσιν". ("जब भी मालिकों को अधीक्षण की ज़हमत ख़ुद उठाने के लिए मजबूर नहीं होना पड़ता है, तो **इस सम्मान** को प्रबंधक ग्रहण कर लेता है, जबकि मालिक लोग राजकाज की बातों या दर्शन के अध्ययन में लगे रहते हैं।") (Aristotle, *De republica*, Bekker edition, 1837, Book. I, 7.)

अरस्तू ने सीधे-सीधे यही कहा है कि राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में प्राधान्य शासन के कृत्य शासक शक्तियों पर डाल देता है, और इसलिए उन्हें आर्थिक क्षेत्र में श्रम शक्ति खपाने की कला आनी चाहिए। और वह आगे कहता है कि यह अधीक्षण कार्य कोई बहुत महत्वपूर्ण मामला नहीं है और इसीलिए समर्थ होते ही मालिक इस ज़हमत को उठाने का "सम्मान" किसी अधीक्षक को दे देता है।

प्रबंध तथा अधीक्षण का काम, जहां तक कि वह एक ऐसा विशेष कार्य है कि जो समस्त संयुक्त श्रम की प्रकृति द्वारा नहीं, बल्कि इसके विपरीत, उत्पादन साधनों के स्वामी और मात्र श्रम शक्ति के स्वामी के बीच वैषम्य द्वारा निर्धारित होता है, चाहे इस श्रम शक्ति को स्वयं श्रमिक को मोल लेकर ख़रीदा जाता है, जैसे दास प्रथा के अधीन होता है, अथवा श्रमिक स्वयं अपनी श्रम शक्ति को बेचता है, जिससे उत्पादन प्रक्रिया ऐसी प्रक्रिया भी बन जाती है, जिससे पूंज़ी उसके श्रम को उपभोग में लाती है—प्रत्यक्ष उत्पादकों की पराधीनता से उत्पन्न इस कार्य की तरफ़ इस संबंध का औचित्य ठहराने के लिए बहुधा इंगित किया गया है। और शोषण, अन्यों के अशोधित श्रम को हड़पने को भी बहुधा ऐसे पुरस्कार के रूप में प्रस्तुत किया गया है कि जो पूंजी के स्वामी को अपने काम के लिए उचित ही मिलना चाहिए; लेकिन कभी उससे बेहतर तरीक़े से नहीं कि जैसे संयुक्त राज्य अमरीका में दास प्रथा के एक समर्थक, ओ'कॉनर नामक वकील ने "दक्षिण के लिए न्याय" के नारे के तहत १६ दिसंबर, १८५६ को न्यूयार्क की एक सभा में पेश किया था। तालियों की तुमुल गड़गड़ाहट के बीच उन्होंने कहा था: "तो सज्जनो, नीग्रो को दासता की यह अवस्था तो प्रकृति ने स्वयं ही प्रदान की है।... उसके पास ताक़त है और श्रम करने की शक्ति है; लेकिन जिस प्रकृति ने इस शक्ति को पैदा किया है, उसने उसे न तो नियंत्रण करने की योग्यता दी है और न ही काम करने की इच्छा।" (तालियां) "उसे ये दोनों चीज़ें नहीं दी गयी हैं। और जिस प्रकृति ने नीग्रो को मेहनत करने की इच्छा नहीं प्रदान की है, उसी ने यह इच्छा बलात पैदा करने के लिए और नीग्रो को एक ऐसे वातावरण में कि जिसमें वह अपने लिए और अपने को नियंत्रित करनेवाले मालिक के लिए उपयोगी ढंग से जी सकता है... उपयोगी सेवक बनाने के लिए एक मालिक भी प्रदान किया है। मैं ज़ोर देकर कहता हूं कि नीग्रो को उस अवस्था में रखना, जिसमें प्रकृति ने उसे रखा है, उसे नियंत्रित करने के लिए उसे एक मालिक देना कोई अन्याय नहीं है... न यह उसे उसके किसी अधिकार से वंचित करना ही है कि उसे बदले में मेहनत करने के लिए मजबूर किया जाये और मालिक को उसे नियंत्रित करने और उसे स्वयं अपने और समाज के लिए उपयोगी बनाने में प्रयुक्त मेहनत और प्रतिभा के लिए उचित मुआवज़ा दिया जाये।"*

और ग़ुलाम की भांति ही उजरती मज़दूर का भी एक मालिक होना चाहिए कि जो उससे

---

* *New-York Daily Tribune*, December 20, 1859, pp. 7-8.—सं०

काम करवाये और उस पर नियंत्रण रखे। और अगर यह मान लिया जाये कि स्वामित्व तथा पराधीनता का यह संबंध विद्यमान है, तो उजरती मजदूर को स्वयं अपनी मजदूरी और उसके साथ-साथ उसके नियंत्रण और अधीक्षण के मुआवजे के तौर पर, अथवा "उसे नियंत्रित करने और उसे स्वयं अपने और समाज के लिए उपयोगी बनाने में प्रयुक्त मेहनत और प्रतिभा के लिए उचित मुआवजे" के रूप में अधीक्षण की मजदूरी भी उत्पादित करने के लिए विवश करना बिलकुल वाजिब ही है।

एक वैषम्य से, श्रम पर पूंजी के प्राधान्य से उत्पन्न होने के कारण, और फलतः पूंजीवादी प्रणाली की भांति वर्ग विरोधों पर आधारित सभी उत्पादन प्रणालियों की सामान्य विशेषता होने के कारण अधीक्षण तथा प्रबंध का काम पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत उन सभी उत्पादक कार्यों के साथ प्रत्यक्षतः और अवियोज्य रूप से जुड़ा रहता है, जो समस्त संयुक्त सामाजिक श्रम अलग-अलग व्यक्तियों को उनके विशेष कार्यभारों के नाते सौंपता है। किसी प्रबंधक, या जैसे सामंती फ़्रांस में उसे कहा जाता था, किसी epitropos अथवा régisseur की मजदूरी लाभ से सर्वथा वियुक्त होती है, और व्यवसाय को जब भी इतने बड़े पैमाने पर चलाया जाता है कि ऐसे प्रबंधक के लिए अदायगी आवश्यक हो जाये, वह कुशल श्रम के लिए मजदूरी का रूप ही ग्रहण करती है, चाहे हमारे औद्योगिक पूंजीपतियों के मामले में "राजकाज या दर्शन के अध्ययन में लगे रहने" की बात दूर से भी लागू नहीं होती।

श्री यूरे[75] द्वारा यह पहले ही कहा जा चुका है कि "हमारी औद्योगिक व्यवस्था की आत्मा" औद्योगिक पूंजीपति नहीं, वरन औद्योगिक प्रबंधक हैं। जहां तक किसी प्रतिष्ठान के वाणिज्यिक भाग की बात है, उसके बारे में जो भी आवश्यक है, वह पूर्ववर्ती भाग में कहा जा चुका है।*

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि जिसमें अधीक्षण का काम, जो पूंजी के स्वामित्व से सर्वथा वियुक्त होता है, सदा तुरंत प्राप्य होता है। इसलिए अब स्वयं पूंजीपति के लिए उसे करना निरर्थक हो गया है। वाद्यवृंदनायक के लिए अपने वृंद के वाद्ययंत्रों का स्वामी होना आवश्यक नहीं, न दूसरे संगीतज्ञों की "मजदूरी" से कोई सरोकार रखना ही वृंदनायक के नाते उसके कर्तव्य क्षेत्र में आता है। सहकारी कारखाने इसका प्रमाण उपलब्ध करते हैं कि उत्पादन में कार्यकर्ता के नाते पूंजीपति भी उतना ही अनावश्यक हो गया है कि जितना अपने ऊंचे आसन से नीचे दृष्टिपात करता वह स्वयं बड़े जमींदार को पाता है। चूंकि पूंजीपति का काम शुद्धतः पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में नहीं उत्पन्न होता और इसलिए चूंकि पूंजी के ख़त्म होने पर यह काम ख़ुद भी नहीं ख़त्म हो जाता; चूंकि वह अपने को केवल अन्यों के श्रम का शोषण करने के कार्य तक ही सीमित नहीं रखता; अतः चूंकि वह श्रम प्रक्रिया के सामाजिक रूप से, एक सामान्य परिणाम के अनुसरण में अनेक लोगों के संयोग और सहयोग से उत्पन्न होता है, इसलिए वह पूंजी से उतना ही स्वतंत्र होता है कि जितना यह रूप स्वयं अपने पूंजीवादी

---

[75] A. Ure, *Philosophie des manufactures*, Tome I, Paris, 1836, p. 67-68, जहां कारख़ानेदारों का यह पिंदार [एक प्राचीन यूनानी कवि – अनु०] साथ ही यह भी प्रमाणित करता है कि अधिकांश कारख़ानेदारों को उन मशीनों की लेशमात्र भी समझ नहीं होती, जिन्हें वे इस्तेमाल करते हैं।

* प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ २५२–२५५। – सं०

आवरण को भेद निकलते समय होता है। यह कहने का कि यह श्रम पूंजीवादी श्रम के रूप में, अथवा पूंजीपति के कार्य के रूप में आवश्यक है, मतलब सिर्फ़ यही है कि vulgus [अप्रामाणिक] अर्थशास्त्री पूंजीवादी उत्पादन की गोद में विकसित रूपों की कल्पना करने में असमर्थ है, जो अपने विरोधी पूंजीवादी स्वरूप से पृथक और स्वतंत्र हैं। द्रव्य पूंजीपति की तुलना में औद्योगिक पूंजीपति मजदूर है, लेकिन पूंजीपति के अर्थ में ही मजदूर, अर्थात दूसरों के श्रम के शोषक के अर्थ में ही। इस श्रम के लिए वह जो मजदूरी मांगता है और हड़पता है, वह दूसरे के श्रम की हड़पी गयी मात्रा के बिलकुल बराबर होती है और प्रत्यक्षतः इस श्रम की शोषण दर पर निर्भर करती है, क्योंकि वह इस शोषण के लिए आवश्यक प्रयास का दायित्व लेता है, किंतु वह इस शोषण द्वारा अपेक्षित प्रयास की मात्रा पर नहीं निर्भर करती, जिसे वह मामूली से वेतन पर किसी प्रबंधक पर डाल सकता है। हर संकट के बाद इंगलैंड के औद्योगिक इलाक़ों में ऐसे काफ़ी भूतपूर्व कारख़ानेदार मिल जाते हैं, जो मामूली मजदूरी पर उन्हीं कारख़ानों का, जो पहले उनके ही थे, नये मालिकों के लिए, जो प्रायः उनके महाजन होते हैं, अधीक्षण करने को तैयार होते हैं।[76]

वाणिज्यिक, और इसी प्रकार औद्योगिक प्रबंधक की भी प्रबंध मजदूरी मजदूरों के सहकारी कारख़ानों और पूंजीपतियों की संयुक्त पूंजी कंपनियों में भी उद्यम के लाभ से सर्वथा पृथक होती है। प्रबंध मजदूरी का उद्यम के लाभ से वियोजन, जो अन्य अवसरों पर एकदम सांयोगिक ही होता है, यहां अचल होता है। सहकारी कारख़ानों में अधीक्षण के श्रम की विरोधी प्रकृति लुप्त हो जाती है, क्योंकि उनमें प्रबंधक मजदूरों के लिए विरोधी पूंजी का प्रतिनिधि होने के बजाय उनका वेतनभोगी होता है। उधार पद्धति के साथ विकसित होनेवाली स्टाक कंपनियां सामान्यतः कार्य के नाते प्रबंध के इस काम को पूंजी के स्वामित्व से अलग करने की अधिकाधिक प्रवृत्ति रखती हैं, फिर चाहे पूंजी स्वयं उनकी हो या उधार की। वैसे ही कि जैसे बूर्जुआ समाज के विकास के साथ न्यायाधीशों और प्रशासकों के कार्यों का भू-स्वामित्व से, जिसके वे सामंती काल में लक्षण थे, वियोजन हो गया। लेकिन चूंकि एक ओर, पूंजी के मात्र स्वामी, द्रव्य पूंजीपति के सामने कार्यरत पूंजीपति होता है, जबकि द्रव्य पूंजी उधार के साथ बैंकों में संकेंद्रित होने और अपने मूल स्वामियों के बजाय उनके द्वारा उधार दी जाने के कारण सामाजिक स्वरूप ग्रहण कर लेती है, और चूंकि दूसरी ओर, कार्यरत पूंजीपति के नाते उससे संबद्ध सभी वास्तविक कार्य मात्र प्रबंधक द्वारा ही निष्पादित किये जाते हैं, जिसका पूंजी पर न तो उधार के ज़रिये और न अन्यथा ही कोई हक़ होता है, इसलिए उत्पादन प्रक्रिया में सिर्फ़ कार्यकर्ता ही रह जाता है और पूंजीपति अनावश्यक होकर उससे विलुप्त हो जाता है।

इंगलैंड में सहकारी कारख़ानों के सार्वजनिक लेखा विवरणों से स्पष्ट है[77] कि – प्रबंधक की मजदूरी घटाने के बाद, जो अन्य श्रमिकों की मजदूरी की ही भांति निवेशित परिवर्ती पूंजी का

---

[76] मैं एक ऐसे मामले से परिचित हूं, जिसमें १८६८ के संकट के बाद एक दिवालिया कारख़ानेदार अपने ही भूतपूर्व श्रमिकों का उजरती मजदूर बन गया था। मालिक का दिवाला निकलने के बाद कारख़ाने को मजदूर सहकारी बनाकर चलाने लगे और भूतपूर्व स्वामी को उसमें प्रबंधक के रूप में रख लिया गया। – फ़्रे॰ एं॰

[77] यहां उद्धृत लेखा विवरण १८६४ के आगे नहीं जाते, क्योंकि उपरोक्त अंश १८६५ में लिखा गया था। – फ़्रे॰ एं॰

हिस्सा होती है – उनका लाभ औसत लाभ से अधिक था, यद्यपि उन्हें कभी-कभी निजी कारख़ानेदारों की अपेक्षा कहीं ऊंचा ब्याज देना होता था। इन सभी मामलों में अधिक ऊंचे लाभ का स्रोत था स्थिर पूंजी के लगाने में अधिक मितव्ययिता। लेकिन इसमें जो बात हमारे लिए सबसे ज्यादा दिलचस्पी की है, वह यह है कि औसत लाभ (= ब्याज + उद्यम का लाभ) यहां वस्तुतः और सुस्पष्टतः प्रबंध मजदूरी से सर्वथा स्वतंत्र परिमाण के रूप में प्रस्तुत होता है। चूंकि यहां लाभ औसत लाभ से ऊंचा था, इसलिए उद्यम का लाभ भी सामान्य से ऊंचा था।

कुछ पूंजीवादी स्टाक कंपनियों, मसलन संयुक्त पूंजी बैंकों, के संबंध में भी यही देखने में आता है। लंदन एंड वेस्टमिन्स्टर बैंक ने १८६३ में ३०% का लाभांश दिया था, जबकि यूनियन बैंक ऑफ़ लंदन तथा अन्यों ने १५% दिया। निदेशकों के वेतन के अलावा जमाओं पर दिया जानेवाला ब्याज यहां सकल लाभ से घटा दिया जाता है। यहां ऊंचे लाभ का कारण जमाओं के मुक़ाबले प्रदत्त पूंजी का स्वल्प अनुपात है। उदाहरण के लिए, लंदन एंड वेस्टमिन्स्टर बैंक के मामले में, १८६३ में: प्रदत्त पूंजी – १०,००,००० पाउंड; जमाएं – १,४५,४०,२७५ पाउंड। जहां तक यूनियन बैंक ऑफ़ लंदन की बात है, १८६३ में: प्रदत्त पूंजी – ६,००,००० पाउंड; जमाएं – १,२३,८४,१७३ पाउंड।

उद्यम के लाभ और अधीक्षण अथवा प्रबंध मजदूरी को आरंभ में ब्याज के संदर्भ में लाभ की बेशी द्वारा ग्रहण किये जानेवाले विरोधी रूप के कारण उलझा दिया गया था। लाभ को अशोधित श्रम से प्राप्त बेशी मूल्य के रूप में नहीं, बल्कि पूंजीपति द्वारा किये जानेवाले काम के लिए उसकी मजदूरी की तरह प्रकट करने के मंडनात्मक लक्ष्य ने इसे और बढ़ाया। इसके मुक़ाबले समाजवादियों ने यह मांग पेश की कि लाभ को उतना ही कर दिया जाये, जितना वह सैद्धांतिक रूप में होने का दिखावा करता है, अर्थात मात्र अधीक्षण मजदूरी। और यह मांग सैद्धांतिक मुलम्मासाज़ी के लिए उतना ही अप्रिय होती गयी, जितना किसी भी अन्य प्रकार की मजदूरी की ही भांति यह अधीक्षण मजदूरी, एक ओर, औद्योगिक तथा वाणिज्यिक प्रबंधकों के एक नानासंख्य वर्ग के विकास के साथ अपना निश्चित स्तर और निश्चित बाज़ार दाम पाती गयी,[78] और दूसरी ओर, जितना ही कुशल श्रम के लिए और किसी भी मजदूरी की तरह ही उस सामान्य विकास के साथ गिरती गयी, जो विशेषतः प्रशिक्षित श्रम शक्ति के उत्पादन दाम को घटा देता है।[79] मजदूरों द्वारा सहकारिता के, और बूर्जुआजी द्वारा स्टाक उद्यमों के विकसित किये जाने के साथ उद्यम के लाभ और प्रबंध मजदूरी के उलझाव का आख़िरी बहाना भी जाता रहा और लाभ व्यवहार में भी, जैसे वह सिद्धांत में अकाट्य रूप में प्रकट होता था, मात्र

[78] "मालिक लोग श्रमिक भी होते हैं और अपने कारीगर (कमेरे) भी। इस हैसियत से उनका हित बिलकुल अपने श्रमिकों के हित जैसा ही होता है। लेकिन वे या तो पूंजीपति या पूंजीपतियों के अभिकर्ता भी होते हैं, और इस लिहाज़ से उनका हित निश्चित रूप में श्रमिकों के हितों के विरुद्ध होता है" (पृष्ठ २७)। "इस देश के कमेरे मिस्तरियों में शिक्षा का व्यापक प्रसार उन व्यक्तियों की, जिन्हें अपना धंधे का विशेष ज्ञान प्राप्त है, संख्या को बढ़ाकर लगभग सभी मालिकों और नियोजकों के श्रम और कौशल के मूल्य को नित्य घटाता जा रहा है।" (पृष्ठ ३०, Hodgskin, *Labour Defended Against the Claims of Capital*, etc., London, 1825.)

[79] "पारंपरिक अवरोधों के सामान्यरूपेण शिथिलन, शिक्षा की अधिक सुविधाओं के परिणामस्वरूप अकुशल श्रम की मजदूरी के बढ़ने के बजाय कुशल श्रम की मजदूरी गिरती ही है।" (J. St. Mill, *Principles of Political Economy*, 2nd ed., London, 1849, I, p. 479.)

बेशी मूल्य के रूप में, ऐसे मूल्य के रूप में कि जिसके लिए कोई समतुल्य नहीं अदा किया जाता, सिद्धिकृत अशोधित श्रम के रूप में प्रकट हो गया। तब यह प्रत्यक्ष हो गया कि कार्यरत पूंजीपति वास्तव में श्रम का शोषण करता है, और, जब कारबार उधार पूंजी से किया जाता है, तो उसके शोषण का फल ब्याज और उद्यम के लाभ, ब्याज पर लाभ की बेशी में विभाजित हो जाता है।

पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर स्टाक कंपनियों में प्रबंध मजदूरी के सिलसिले में एक नयी ठगी पैदा हो जाती है, इसलिए कि वास्तविक निदेशक के ऊपर नानासंख्य प्रबंधकों अथवा निदेशकों के मंडलों को रख दिया जाता है, जिनके लिए अधीक्षण और प्रबंध सिर्फ़ अंशधारियों को लूटने और दौलत बटोरने के बहाने का ही काम देते हैं। *The City or the Physiology of London Business; with Sketches on 'Change, and the Coffee Hauses*, London, 1845 में इसके बारे में बड़े विचित्र विवरण पाये जा सकते हैं। "आठ या नौ अलग-अलग कंपनियों के निदेशन से बैंकर और व्यापारी क्या पाते हैं, यह निम्न उदाहरण से देखा जा सकता है: श्री टिमटी ऐब्राहम कर्टिस का निजी पक्का चिट्ठा, जो इन सज्जन के दिवालिया हो जाने पर दिवाला न्यायालय के सामने रखा गया था, निदेशकत्व से... सालाना ८०० और ६०० पाउंड के बीच हस्तगत आय का एक नमूना पेश करता था। चूंकि श्री कर्टिस बैंक ऑफ़ इंगलैंड और ईस्ट इंडिया हाउस के संचालक निकायों से संबद्ध रह चुके थे, इसलिए किसी सार्वजनिक कंपनी के लिए उनकी सेवाएं अपने निदेशक मंडल के लिए हासिल कर पाना बड़ा लाभप्रद समझा जाता था" (पृष्ठ ८१, ८२)। ऐसी कंपनियों के निदेशकों का हर साप्ताहिक बैठक के लिए पारिश्रमिक कम से कम एक गिनी होता है। दिवाला न्यायालय की कार्यवाहियां दिखलाती हैं कि यह अधीक्षण मजदूरी आम तौर पर इन नाम के निदेशकों द्वारा निष्पादित वास्तविक अधीक्षण के व्युत्क्रमानुपात में ही होती थी।

अध्याय २४

ब्याजी पूंजी के रूप में पूंजी के संबंधों का बाह्यीकरण

पूंजी के संबंध अपना सर्वाधिक बाह्यीकृत तथा देवकवत रूप ब्याजी पूंजी में ग्रहण करते हैं। हमारे आगे यहां $M—M'$, और अधिक द्रव्य का सृजन करता द्रव्य है, इन दोनों चरमों को पूरा करनेवाली प्रक्रिया के बिना स्वप्रसारमान मूल्य है। व्यापारी पूंजी, $M—C—M'$, में कम से कम पूंजी की गति का सामान्य रूप होता है, यद्यपि यह अपने को केवल परिचलन क्षेत्र तक सीमित रखती है, जिससे लाभ मात्र अन्यसंक्रामण से प्राप्त लाभ की तरह सामने आता है; किंतु वह कम से कम एक सामाजिक **संबंध** का उत्पाद प्रतीत होता है, न कि मात्र किसी **वस्तु** का उत्पाद। व्यापारी पूंजी का रूप कम से कम एक प्रक्रिया को, विरोधी चरणों की एकान्विति को, ऐसी गति को प्रकट करता है, जो दो विरोधी क्रियाओं – जिंसों के क्रय और विक्रय – में विघटित हो जाती है। $M—M'$, ब्याजी पूंजी के रूप में यह मिट जाता है। मिसाल के लिए, अगर कोई पूंजीपति १,००० पाउंड ५% की ब्याज दर पर उधार देता है, तो एक वर्ष के लिए १,००० पाउंड का पूंजी के नाते मूल्य $= C + Ci'$ होगा, जहां C पूंजी है और i' ब्याज दर। अतः $५\% = \frac{५}{१००} = \frac{१}{२०}$ और $१,००० + १,००० \times \frac{१}{२०} = १,०५०$ पाउंड। पूंजी के नाते १,००० पाउंड का मूल्य = १,०५० पाउंड, अर्थात पूंजी मात्र एक परिमाण नहीं है। वह परिमाणों का **संबंध** है, एक स्वप्रसारमान मूल्य के नाते स्वयं अपने को दिये मूल्य के रूप में राशि का, ऐसी मूल राशि का कि जिसने बेशी मूल्य उत्पादित किया है, संबंध है। और हम देख चुके हैं कि पूंजी की हैसियत से पूंजी स्वप्रसारमान मूल्य का यह रूप सभी सक्रिय पूंजीपतियों के लिए ग्रहण करती है, चाहे वे स्वयं अपनी पूंजी से कारबार करते हों, अथवा उधार पूंजी से।

$M—M'$: यहां हमारे आगे पूंजी का मूल प्रारंभ बिंदु, $M—C—M'$ सूत्र में अपने दोनों चरमों $M—M'$ में परिणत द्रव्य है, जिसमें $M' = M + \Delta M$, यानी और अधिक द्रव्य का सृजन करता द्रव्य है, यह पूंजी का एक निरर्थक संक्षेपण में परिणत प्राथमिक और सामान्य सूत्र है। यह तैयार पूंजी है, उत्पादन प्रक्रिया और परिचलन प्रक्रिया की एकान्विति है, अतः एक विशेष कालावधि में एक निश्चित बेशी मूल्य उत्पन्न करनेवाली पूंजी है। ब्याजी पूंजी के रूप में यह प्रत्यक्षतः, उत्पादन तथा परिचलन प्रक्रियाओं की सहायता के बिना सामने आ जाती है। पूंजी ब्याज के एक रहस्यमय और स्वयंभू स्रोत, स्वयं अपनी वृद्धि के स्रोत, की तरह सामने आती है। **वस्तु** (द्रव्य, जिंस, मूल्य) अब मात्र वस्तु के रूप में भी पूंजी है और पूंजी अब मात्र वस्तु हो जाती है। समस्त पुनरुत्पादन प्रक्रिया का परिणाम स्वयं वस्तु में अंतर्निहित गुण प्रतीत

होता है। यह द्रव्य के, अर्थात अपने निरंतर विनिमेय रूप में जिंस के स्वामी पर निर्भर करता है कि वह उसे द्रव्य की तरह खर्च करना चाहता है, या पूंजी की तरह उधार देना। अत: ब्याजी पूंजी में यह स्वनिविष्ट देवक, स्वप्रसारमान मूल्य, द्रव्य को उत्पन्न करता द्रव्य, अपने शुद्ध रूप में सामने आ जाता है और इस रूप में उस पर अब अपने उद्गम के जन्मचिह्न नहीं रहते। सामाजिक संबंध एक वस्तु, द्रव्य के स्वयं अपने साथ संबंध में पूर्णता तक पहुंच जाता है। द्रव्य के पूंजी में वास्तविक रूपांतरण के स्थान पर हम यहां इस रूपांतरण के केवल अंतर्यहीन रूप को ही देखते हैं। जैसे श्रम शक्ति के प्रसंग में, वैसे ही यहां भी द्रव्य का उपयोग मूल्य उसकी मूल्य का सृजन करने की – उसमें जितना मूल्य समाविष्ट है, उससे अधिक मूल्य पैदा करने की – क्षमता है। द्रव्य के नाते द्रव्य संभाव्य रूप में स्वप्रसारमान मूल्य होता है और इसी हैसियत में उधार दिया जाता है, जो इस विशेष जिंस की बिक्री का रूप है। मूल्य उत्पन्न करना और ब्याज देना उसी प्रकार द्रव्य का एक गुण बन जाता है, जिस प्रकार नाशपाती देना नाशपाती के पेड़ का गुण होता है। और ऋणदाता अपने द्रव्य को बिलकुल ऐसी ब्याजी चीज की तरह ही बेचता है। लेकिन यही सारी बात नहीं है। जैसे कि हम देख चुके हैं, वास्तव में कार्यरत पूंजी भी इस तरह से पेश होती है, मानो वह ब्याज कार्यरत पूंजी के नाते नहीं, बल्कि स्वयं पूंजी के ही नाते, द्रव्य पूंजी के नाते पैदा करती हो।

इसी तरह से इस मामले में भी विरूपण होता है – यद्यपि ब्याज उस लाभ का, अर्थात बेशी मूल्य का, जो कार्यरत पूंजीपति श्रमिक से ऐंठता है, केवल एक अंश ही होता है, तथापि अब, इसके विपरीत, प्रतीत ऐसा होता है, मानो ब्याज पूंजी का प्रारूपिक उत्पाद, प्राथमिक उपादान हो, और उद्यम के लाभ की सूरत में लाभ पुनरुत्पादन प्रक्रिया का मात्र एक उपांग और उपोत्पाद ही हो। इस तरह से हम पूंजी के देवक रूप और दैवी पूंजी की अवधारणा को प्राप्त करते हैं। $M — M'$ में हमारे सामने पूंजी का अर्थहीन रूप, उत्पादन संबंधों का अधिकतम मात्रा में विपर्यास तथा वास्तवीकरण, पूंजी का ब्याजी रूप, पूंजी का सरल रूप होता है, जिसमें वह स्वयं अपनी पुनरुत्पादन प्रक्रिया की पूर्वगामी होती है। यह द्रव्य की, अथवा एक जिंस की, पुनरुत्पादन से निरपेक्ष रूप में स्वयं अपने मूल्य का प्रसार करने की क्षमता है – यह पूंजी का अपने स्पष्टतम रूप में रहस्यमयीकरण है।

अप्रामाणिक राजनीतिक अर्थशास्त्र के लिए, जो पूंजी को मूल्य के, मूल्य सृजन के एक स्वतंत्र स्रोत की तरह पेश करने की कोशिश करता है, यह रूप स्वाभाविकतया एक वास्तविक खोज है, यह एक ऐसा रूप है, जिसमें लाभ का स्रोत अब पहचानने योग्य नहीं रह जाता है और जिसमें पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का परिणाम – प्रक्रिया से वियुक्त – एक स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त कर लेता है।

केवल द्रव्य पूंजी का रूप प्राप्त करने के बाद ही द्रव्य जिंस बन पाता है, जिसकी स्वप्रसार क्षमता का हर बार हर प्रवर्तमान ब्याज दर में एक निश्चित दाम बताया जाता है।

ब्याजी पूंजी के रूप में, और विशेषकर अपने ब्याजी द्रव्य पूंजी के प्रत्यक्ष रूप में (ब्याजी पूंजी के अन्य रूप, जिनसे यहां हमारा संबंध नहीं है, इस रूप से व्युत्पन्न हैं और उसके अस्तित्व की पूर्वापेक्षा करते हैं) ही पूंजी अपना शुद्ध देवक रूप धारण करती है, क्योंकि $M — M'$,, यहां विषय – विक्रेय वस्तु – है। एक तो द्रव्य के रूप में अपने निरंतर अस्तित्व के कारण जो एक ऐसा रूप है, जिसमें उसके सारे विशिष्ट लक्षण मिट जाते हैं और उसके वास्तविक तत्व अदृश्य

होते हैं। कारण कि द्रव्य ठीक वह रूप है, जिसमें उपयोग मूल्यों के नाते जिंसों के विशिष्ट परिलक्षण, और अतः औद्योगिक पूंजियों के भी, जो इन जिंसों और उनकी उत्पादन अवस्थाओं से निर्मित होती हैं, विशिष्ट परिलक्षण छिप जाते हैं। यह वह रूप है, जिसमें मूल्य – इस प्रसंग में पूंजी – एक स्वतंत्र विनिमय मूल्य की तरह अस्तित्वमान होता है। पूंजी की पुनरुत्पादन प्रक्रिया में द्रव्य रूप क्षणिक – मात्र एक संक्रमण बिंदु – ही होता है। किंतु द्रव्य बाजार में पूंजी सदा इसी रूप में रहती है। दूसरे, उसके द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य, यहां भी द्रव्य के रूप में ही, उसका एक अंतर्निहित अंग जैसा लगता है। जिस प्रकार वर्धन प्रक्रिया पेड़ों का गुण है, उसी प्रकार द्रव्य जनन (τόκος) द्रव्य पूंजी के रूप में पूंजी की अंतर्जात विशेषता प्रतीत होती है।

ब्याजी पूंजी में पूंजी की गति संकुचित हो जाती है। मध्यवर्ती प्रक्रिया को छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार, पूंजी = १,००० एक ऐसी वस्तु के रूप में निश्चित की जाती है, जो स्वयं = १,००० है, और जो एक विशेष कालावधि के बाद वैसे ही १,१०० में बदल जाती है, जैसे सुरागार में रखी शराब एक विशेष कालावधि के बाद अपना उपयोग मूल्य सुधार लेती है। पूंजी अब एक वस्तु है, किंतु वस्तु के रूप में वह पूंजी है। द्रव्य अब आपन्नसत्व है।* उसे जैसे ही उधार दिया अथवा पुनरुत्पादन प्रक्रिया में निवेशित किया जाता है (क्योंकि वह कार्यरत पूंजीपति को अपने स्वामी के नाते उद्यम के लाभ से अलग ब्याज देता है), उस पर दिन-रात ब्याज पैदा होने लगता है, फिर चाहे वह जागृत हो अथवा निद्रास्थ, घर में हो या विदेश में। इस प्रकार ब्याजी द्रव्य पूंजी (और सारी पूंजी अपने मूल्य के अर्थों में द्रव्य पूंजी ही होती है, या द्रव्य पूंजी की अभिव्यक्ति मानी जाती है) जमाखोरों की अंतरतम इच्छा को पूरा करती है।

द्रव्य पूंजी के साथ ब्याज का यह सहज अंतर्गुंफन, जैसे कि दोनों एक ही चीज हों (पूंजी के जरिये बेशी मूल्य का उत्पादन यहां ऐसा ही लगता है), ही सूदखोरी के ख़िलाफ़ भोलेपन से भरे अपने जिहाद में लूथर का ध्यान इतना अधिक खींचता है। यह दिखलाने के बाद कि अगर क़र्ज़ को निश्चित तिथि पर न चुकाये जाने से ऋणदाता को, जिसे स्वयं भी कोई अदायगी करने के लिए रक़म की जरूरत है, कोई नुक़सान होता है, या उसके कारण वह किसी सौदे में, मसलन, बाग़ ख़रीदने में लाभ नहीं बना पाता है, तो ब्याज मांगा जा सकता है, लूथर आगे कहते हैं: "चूंकि मैंने तुम्हें ये (१०० गूल्डन) उधार दिये हैं, सो तुम मेरा दुहरा नुक़सान करवाते हो – एक तरफ़ तो मेरे अदा न कर पाने की वजह से, और दूसरी तरफ़, मेरे ख़रीद न पाने की वजह से, जिससे मुझे दोनों तरफ़ नुक़सान उठाना पड़ता है। इसे duplex interesse, damni emergentis et lucri cessantis कहते हैं।... यह सुनकर कि जॉन को अपने १०० गूल्डन के क़र्ज़ पर नुक़सान हुआ है और वह वाजिब हरजाना मांगता है, वे दौड़े आते हैं और हर १०० गूल्डन पर दुगुना लेते हैं, दुहरी वसूली करते हैं, अर्थात अदायगी न कर पाने से हुए नुक़सान के लिए और सौदे पर मुनाफ़ा न बना पाने के लिए, जैसे कि इन १०० गूल्डन पर दुहरा नुक़सान उगा हुआ था, जिससे उनके पास जब भी १०० गूल्डन होते हैं, वे उन्हें उधार दे देते हैं और दो नुक़सानों के लिए वसूली करते हैं, जो उन्हें बिलकुल भी नहीं हुए हैं।... इसलिए तुम सूदखोर हो, जो अपने पड़ोसी के धन से ऐसे काल्पनिक नुक़सान के लिए हरजाना लेते हो, जो तुम्हें हुआ ही नहीं है और जिसका तुम न सबूत दे सकते हो,

---

* Goethe, *Faust*, Part I, Scene 5. – सं०

न हिसाब लगा सकते हो। इस तरह के नुक़सान को क़ानूनदां non verum, sed phantasticum interesse कहते हैं। यह ऐसा नुक़सान है, जिसे हर कोई अपने लिए गढ़ लेता है।...

"इसलिए यह कहने से काम नहीं चलेगा कि नुक़सान हो सकते थे, क्योंकि मैं अदायगी या ख़रीदारी न कर पाता। नहीं तो इसका मतलब ex contingente necessarium होगा, यानी कुछ नहीं से कुछ बनाना, अनिश्चित चीज़ को पूरी तरह से निश्चित चीज़ में बदल देना। क्या ऐसी सूदख़ोरी कुछ ही साल के भीतर दुनिया को खा नहीं जायेगी? ... अगर उसके साथ उसकी मरज़ी के ख़िलाफ़ कोई नाख़ुशगवार हादसा हो जाये और उसे उससे संभलना हो, तो वह उसके लिए हरजाना मांग सकता है, लेकिन सूदख़ोरी के धंधे में बात दूसरी और बिलकुल उलटी ही होती है। उसमें लोग अपने ज़रूरतमंद पड़ोसियों की क़ीमत पर फ़ायदा उठाने के, इसके मनसूब बनाते हैं कि किस तरह दौलत बटोरें और अमीर हो जायें, जिससे बिला किसी परेशानी, ख़तरे और नुक़सान के आलस और निठल्लेपन से औरों की मेहनत पर आराम से जी सकें। मैं बेफ़िक्री से हाथ तापते बैठा रहूं और मेरे १०० गूल्डन मेरे लिए देश में बिला किसी ख़तरे और जोखिम के दौलत जमा करते रहें और फिर भी वे मेरे जेब में ही पड़े रहें, क्योंकि वे सिर्फ़ उधार ही दिये गये हैं – मेरे दोस्त, भला कौन यह न चाहेगा?" (Martin Luther, *An die Pfarherun wider den Wucher zu predigen, etc.*, Wittenberg, 1540.)

एक स्वपुनरुत्पादी और स्वप्रसारी, चिरस्थायी और अपने अंतर्जात गुणों की बदौलत – अतः पांडित्यवादियों के बताये प्रच्छन्न गुणों की बदौलत – निरंतर बढ़ते मूल्य के नाते पूंजी की अवधारणा डाक्टर प्राइस को ऐसी विस्मयजनक कल्पनाओं पर ले गयी है, जिनके आगे कीमियागरों की स्वैरकल्पनाएं कुछ भी नहीं हैं, और जिनमें पिट पूरी गंभीरता से विश्वास करते थे और जिन्हें उन्होंने निक्षेप निधि के बारे में अपने क़ानूनों में अपने वित्तीय प्रशासन का आधार बनाया है।

"चक्रवृद्धि ब्याजवाला द्रव्य आरंभ में धीरे-धीरे बढ़ता है। लेकिन चूंकि वृद्धि की दर निरंतर त्वरित होती रहती है, इसलिए कुछ समय में वह इतनी तीव्र हो जाती है कि कल्पना की सारी शक्तियों को मात दे देती है। हमारे मुक्तिदाता [यीशू – सं०] के जन्म के समय ५ प्रतिशत चक्रवृद्धि दर पर उधार दी गयी एक पेनी हमारे समय तक बढ़कर इतनी बड़ी राशि बन गयी होती कि उसके लिए ठोस सोने से बनी पंद्रह करोड़ पृथ्वियां भी पूरी न पड़ेंगी। लेकिन अगर उसे साधारण ब्याज पर उधार दिया गया होता, तो वह इतने ही समय में सात शिलिंग और साढ़े चार पेंस से अधिक न हुई होती। हमारी सरकार ने अभी तक द्रव्य को इन उपायों में से पहले के बजाय आख़िरी से ही बढ़ाना श्रेयस्कर समझा है।"[80]

---

[80] Richard Price, *An Appeal to the Public on the Subject of National Debt*, 2nd ed., London, 1774, p. 19. वह भोले मज़ाक़ में कहते हैं: "यह द्रव्य को साधारण ब्याज पर उधार लेना है, ताकि उसे चक्रवृद्धि ब्याज पर बढ़ाया जा सके।" (R. Hamilton, *An Inquiry into the Rise and Progress of National Debt of Great Britain*, 2nd ed., Edinburgh, 1814, p. 133.) इसके अनुसार निजी लोगों के लिए भी उधार लेना धन एकत्र करने का सबसे निरापद साधन होगा। लेकिन अगर मैं ५% वार्षिक ब्याज पर १०० पाउंड उधार लेता हूं, तो मुझे साल के अंत में ५ पाउंड देने पड़ते हैं, और अगर ऋण १० करोड़ साल भी चलता है, तो भी इस बीच मेरे पास उधार देने को हर साल सिर्फ़ १०० पाउंड ही होते हैं और मुझे हर साल ५

अपनी *Observations on Reversionary Payments, etc.*, London, 1772 में तो उनकी कल्पना और भी ऊंची उड़ान लेती है। वहां हम पढ़ते हैं: "हमारे मुक्तिदाता के जन्म के समय" (अनुमानतः यरूशलम के मंदिर में) "६% चक्रवृद्धि ब्याज पर दिया गया एक शिलिंग... बढ़कर समूचे सौर मण्डल में, अगर उसे शनि की कक्षा के व्यास के बराबर व्यास का गोला मान लिया जाये, जितनी राशि समा सकती है, उससे भी अधिक हो गया होता।" "इसलिए राज्य को कभी किसी कठिनाई में नहीं आना चाहिए, क्योंकि न्यूनतम बचत से भी वह, उसका हित जितने की अपेक्षा कर सकता है, उतने से समय के भीतर बड़े से बड़े ऋण को भी चुकता कर सकता है" (पृष्ठ XIII, XIV) इंगलैंड के राष्ट्रीय ऋण के बारे में कितनी बढ़िया सैद्धांतिक प्रस्तावना है!

गुणोत्तर श्रेढ़ी में प्राप्य विराट परिमाणों से प्राइस बस चकित ही हो गये थे। चूंकि वह पुनरुत्पादन तथा श्रम की अवस्थाओं पर कोई ध्यान नहीं देते थे और पूंजी को एक स्वनियामक मानवाचारी यंत्र, मात्र एक ऐसी संख्या कि जो अपने आप बढ़ती जाती है, जैसा ही समझते थे, ठीक वैसे, जैसे माल्थस जनसंख्या को गुणोत्तर श्रेढ़ी में बढ़ता हुआ समझते थे,* इसलिए उन्होंने यह मान लिया था कि $s = c\ (1 + i)^n$ सूत्र में उन्होंने उसकी वृद्धि के नियम का पता लगा लिया है, जिसमें s = पूंजी राशि + चक्रवृद्धि ब्याज, c = पेशगी पूंजी, i = ब्याज दर (१०० के अशेषभाजक अंशों में व्यक्त) और n यह प्रक्रिया जितने वर्षों में होती है, उनकी संख्या को द्योतित करता है।

डाक्टर प्राइस के रहस्यमयीकरण को पिट पूरी गंभीरता से लेते हैं। कामन्स सभा ने १७८६ में लोक कल्याण के लिए १० लाख पाउंड उगाहने का प्रस्ताव स्वीकार किया था। प्राइस के अनुसार, जिनमें पिट विश्वास करते थे, लोगों पर कर लगाने का, निस्संदेह, इससे बेहतर और कोई तरीक़ा न था, ताकि उगाहे जाने के बाद इस राशि को "संचित" किया जा सके और इस तरीक़े से राष्ट्रीय ऋण को चक्रवृद्धि ब्याज के रहस्य के ज़रिये तिरोहित किया जा सके। कामन्स सभा के उपरोक्त प्रस्ताव के कुछ ही बाद पिट ने एक क़ानून रखा, जिसने २,५०,००० पाउंड के तब तक संचयन का आदेश दिया कि जब तक "कालातीत वार्षिकियों

पाउंड चुकाने होते हैं। इस प्रक्रिया से मैं १०० पाउंड उधार लेकर कभी १०५ पाउंड क़र्ज़ में नहीं दे सकता। और भला ५% मैं कैसे अदा करूंगा? नये ऋणों द्वारा, या अगर बात राज्य की हो, तो नये करों द्वारा। अगर औद्योगिक पूंजीपति द्रव्य उधार लेता है और उसका लाभ, मान लीजिये, १५% है, तो वह ५% ब्याज दे सकता है, ५% अपने निजी व्ययों पर ख़र्च कर सकता है (यद्यपि उसकी लिप्सा उसकी आय के साथ-साथ बढ़ती जाती है), और ५% का पूंजीकरण कर सकता है। इस प्रसंग में १५% निरंतर ५% ब्याज अदा करते रहने की पूर्वशर्त है। अगर यह प्रक्रिया चलती रहती है, तो पिछले अध्यायों में बतलाये कारणों से, लाभ दर १५% से गिरकर, मसलन, १०% हो जायेगी। लेकिन प्राइस यह बिलकुल भूल जाते हैं कि ५% का ब्याज १५% की लाभ दर की पूर्वापेक्षा करता है और यह मान लेते हैं कि वह पूंजी के संचय के साथ बनी रहती है। उनका संचय की वास्तविक प्रक्रिया से कोई सरोकार नहीं है, बल्कि इसके विपरीत, सिर्फ़ द्रव्य उधार देने और चक्रवृद्धि ब्याज के साथ वापस पाने से ही है। यह क्योंकर होता है, यह उनके लिए महत्वहीन है, क्योंकि यह ब्याजी पूंजी का अंतर्जात गुण है।

* Malthus, *An Essay on the Principle of Population*, London, 1798, pp. 25-26. – सं०

के साथ निधि बढ़कर ४०,००,००० पाउंड प्रति वर्ष न हो जाये।" (Act 26, George III, Chap. 31.*)

अपने १७९२ के भाषण में, जिसमें पिट ने यह प्रस्तावित किया था कि निक्षेप निधि में लगी राशि बढ़ायी जानी चाहिए, उन्होंने इंगलैंड की वाणिज्यिक प्रभुता के कारणों में मशीनों, उधार, आदि का उल्लेख किया था, लेकिन "सबसे व्यापक और टिकाऊ कारण संचय" बतलाया था। उन्होंने कहा कि यह सिद्धांत महामनीषी स्मिथ की कृति में पूर्णत: विकसित किया गया था, और आगे कहा कि यह संचय वार्षिक लाभ के कम से कम एक अंश को मूलधन बढ़ाने के उद्देश्य से अलग रखकर होता है, जिसका अगले साल इसी तरह से उपयोग किया जाना चाहिए और जो इस प्रकार निरंतर लाभ देता रहेगा। इस प्रकार पिट डाक्टर प्राइस की सहायता से स्मिथ के संचय के सिद्धांत को ऋणों के संचयन द्वारा राष्ट्र के समृद्धिकरण में बदल देते हैं और इस तरह अनंत ऋणों की सुखद श्रेढ़ी पर पहुंच जाते हैं – ऋणों की अदायगी के लिए ऋण।

आधुनिक बैंकिंग के जनक, जोजिआ चाइल्ड, द्वारा पहले ही कहा जा चुका है कि १०% की दर से १०० पाउंड ७० साल में चक्रवृद्धि ब्याज से १,०२,४०० पाउंड पैदा कर देंगे। (*Traitès sur le commerce, etc.*, par J. Child, traduit, etc., Amsterdam et Berlin, 1754, p. 115. १६६९ में लिखित।)

डाक्टर प्राइस की अवधारणा का आधुनिक अर्थशास्त्री कितनी लापरवाही से प्रयोग करते हैं, यह *Economist* से लिये इस उद्धरण से प्रकट होता है: "बचायी हुई पूंजी के हर अंश पर चक्रवृद्धि ब्याज के साथ पूंजी इतनी सर्वग्राही होती है कि संसार की वह सारी संपदा, जिससे आय प्राप्त की जाती है, कभी की पूंजी का ब्याज बन चुकी है।... सारा लगान अब जमीन में पहले निवेशित पूंजी पर ब्याज की अदायगी ही है।" (*Economist*, July 19, 1851.) अपनी ब्याजी पूंजी की हैसियत में पूंजी उस सारी संपदा के स्वामित्व का दावा करती है, जो कभी भी पैदा की जा सकती है, और उसने अब तक जो कुछ भी पा लिया है, वह उसकी सर्वग्राही क्षुधा के लिए एक किस्त मात्र है। पूंजी के अंतर्जात नियमों से वह सारा श्रम, जो मानवजाति कभी भी कर सकती है, उसी का होता है। संक्षेप में, वह मोलाक** है।

अंत में, रूमानी म्यूलर की यह खिचड़ी भी देखिये: "डाक्टर प्राइस की चक्रवृद्धि ब्याज की, अथवा मनुष्य की स्वत्वरक शक्तियों की प्रभूत वृद्धि अनेक शताब्दियों तक अविभाजित, अथवा अविच्छिन्न, समान उपयोग की पूर्वापेक्षा करती है, ताकि वे इतने जबरदस्त परिणाम उत्पन्न कर सकें। जैसे ही पूंजी विभाजित की जाती है, अनेक स्वतंत्र रूप में बढ़ती प्रशाखाओं में बांटी जाती है, वैसे ही संचयकारी शक्तियों की कुल प्रक्रिया नये सिरे से शुरू हो जाती है। प्रकृति ने प्रत्येक श्रमिक (!) के हिस्से में औसत रूप में आनेवाले शक्ति आरोहण को कोई २० से २५ साल के विस्तार पर वितरित किया है। इस अवधि के बीतने के बाद श्रमिक अपने

---

* "वर्ष की प्रत्येक तिमाही के अंत में कुछ धनराशियों के आयुक्तों द्वारा राष्ट्रीय ऋण घटाने में लगाये जाने के लिए उनके अधिकार में दिये जाने का अधिनियम।" (Anno 26, Georgii III, Regis, Cap. 31.) – सं०

** एक प्राचीन सामी देवता, जिसके आगे बच्चों को बलि किया जाता था। अब यह नाम किसी विनाशक और क्रूर शक्ति को द्योतित करता है। – सं०

पेशे को छोड़ देता है और उसे श्रम के चक्रवृद्धि ब्याज द्वारा संचित पूंजी को, अधिकांशत: उसे अनेक श्रमिकों अथवा बच्चों में बांटते हुए, एक नये श्रमिक को दे देना होता है। इन लोगों को पहले पूंजी के अपने हिस्से को गति में लाना और लगाना सीखना होता है, पेशतर इसके कि वे उससे कोई वास्तविक चक्रवृद्धि ब्याज प्राप्त कर सकें। फिर, नागरिक समाज में अनेक वर्षों के दौरान हासिल की गयी पूंजी की एक विराट माला अत्यंत अशांत समुदायों तक में धीरे-धीरे संचित होती रहती है और श्रम के किसी तात्कालिक प्रसार में प्रयुक्त नहीं होती। इसके बजाय, जैसे ही कोई पर्याप्त राशि एकव्र होती है कि वह ऋण की मद के तहत किसी अन्य व्यक्ति, श्रमिक, बैंक या राज्य को अंतरित कर दी जाती है। और तब पानेवाला पूंजी को वस्तुत: गतिमान करता है और उससे चक्रवृद्धि ब्याज प्राप्त करता है जिससे वह आसानी से ऋणदाता को साधारण ब्याज देने का वचन दे सकता है। अंतत:, उपभोग, लोभ, तथा अपव्यय का नियम उन विराट श्रेढ़ियों का विरोध करता है, जिनमें एकमात्र उत्पादन अथवा मितव्यय के नियम के ही कार्यरत होने पर मनुष्य की शक्तियों और उनके उत्पादों का प्रवर्धन होने लगता।" (A. Müller, *Elemente der Staatskunst*, Teil III, S. 147-49.)

इतनी कम पंक्तियों में इससे अधिक भयानक बकवास को गढ़ पाना असंभव है। श्रमिक तथा पूंजीपति, श्रम शक्ति के मूल्य और पूंजी पर ब्याज, आदि के हास्यकर उलझाव को छोड़ भी दें, तो भी चक्रवृद्धि ब्याज के लिये जाने की व्याख्या इस तथ्य से होती मानी जाती है कि पूंजी चक्रवृद्धि ब्याज पाने के लिए ही उधार दी जाती है। हमारे म्यूलर जिस तरीक़े का उपयोग करते हैं, वह पूरी तरह से जीवन के सभी क्षेत्रों में रूमानियतपरस्ती का लक्षण है। वह वस्तुओं के एकदम सतही सादृश्य से निकाले प्रचलित पूर्वाग्रहों का ही सम्मिश्रण है। इसके बाद इस ग़लत और घिसे-पिटे अंतर्य को रहस्योत्पादक अभिव्यंजना शैली द्वारा "चढ़ाकर" उदात्त बनाना ही बाक़ी रहता है।

पूंजी के संचय की प्रक्रिया को इस अर्थ में चक्रवृद्धि ब्याज का संचय माना जा सकता है कि लाभ (बेशी मूल्य) का जो अंश पूंजी में पुन:परिवर्तित होता है, अर्थात अधिक बेशी श्रम को आत्मसात करने का काम देता है, उसे ब्याज कहा जा सकता है। लेकिन:

१) समस्त आकस्मिक हस्तक्षेप के अलावा भी उपलभ्य पूंजी के काफ़ी बड़े हिस्से का पुनरुत्पादन प्रक्रिया के दौरान निरंतर मूल्यह्रास होता रहता है, क्योंकि जिंसों का मूल्य उनके उत्पादन में मूलत: व्ययित श्रम काल द्वारा नहीं, बल्कि उनके पुनरुत्पादन में व्ययित श्रम काल द्वारा निर्धारित होता है, और यह श्रम की सामाजिक उत्पादिता के विकास के कारण निरंतर घटता जाता है। इस कारण सामाजिक उत्पादिता के उच्चतर स्तर पर समस्त उपलभ्य पूंजी संचय की लंबी प्रक्रिया के बजाय पुनरुत्पादन की अपेक्षाकृत अल्प अवधि के परिणाम जैसी लगती है।[81]

२) जैसे कि इस पुस्तक के तीसरे भाग में दिखलाया जा चुका है, लाभ दर पूंजी के

---

[81] इस प्रसंग में मिल तथा कैरी, और रोशर की भ्रांतिपूर्ण टीका देखिये। [मार्क्स इन कृतियों की तरफ़ इशारा कर रहे हैं · J. St. Mill, *Principles of Political Economy*, 2nd ed., Vol. I, London, 1849, pp. 91-92; H. Ch. Carey, *Principles of Social Science*, Vol. III, Philadelphia, 1859, pp. 71-73; W. Roscher, *Die Grundlagen der Nationalökonomie*, 3. Auflage, Stuttgart und Augsburg, 1858, § 45. – सं०]

बढ़ते संचय और सामाजिक श्रम की तदनुरूप बढ़ती उत्पादिता के अनुपात में घटती जाती है, जो ठीक पूंजी के स्थिर अंश की तुलना में परिवर्ती अंश के आपेक्षिक और उत्तरोत्तर ह्रास में ही व्यक्त होती है। एक श्रमिक द्वारा गतिमान की जानेवाली स्थिर पूंजी के दसगुना बढ़ जाने के बाद उतनी ही लाभ दर पैदा करने के लिए बेशी श्रम काल को दसगुना बढ़ना होगा, और जल्दी ही कुल श्रम काल, और अंत में दिन के पूरे २४ घंटे भी इसके लिए पर्याप्त न हो पायेंगे, चाहे पूंजी उन्हें पूर्णत: भी क्यों न हड़प ले। लेकिन यही विचार तो कि लाभ दर संकुचित नहीं होती है, प्राइस की श्रेढ़ी का आधार है और सामान्यत: "चक्रवृद्धि ब्याज के साथ सर्वग्राही पूंजी" का आधार है।[82]

बेशी मूल्य तथा बेशी श्रम की एकरूपता पूंजी संचय पर एक गुणात्मक सीमा लगा देती है। इसमें **कुल कार्य दिवस** और उत्पादक शक्तियों तथा आबादी का प्रवर्तमान विकास सन्निहित है, जो एकसाथ समुपयोज्य कार्य दिवसों की संख्या को सीमित कर देता है। लेकिन अगर बेशी मूल्य को ब्याज के अर्थहीन रूप की तरह माना जाये, तो यह सीमा केवल मात्रात्मक होती है और कल्पना को भी मात दे देती है।

लेकिन देवक के रूप में पूंजी की अवधारणा ब्याजी पूंजी में अपने चरम पर पहुंचती है, क्योंकि वह ऐसी अवधारणा है कि जो श्रम के संचित उत्पाद को, और वह भी द्रव्य के स्थिर रूप में, एक मानवाचारी यंत्र की तरह गुणोत्तर श्रेढ़ी में बेशी मूल्य का सृजन करने की सहज गूढ़ शक्ति से युक्त बताती है, जिससे कि श्रम का संचित उत्पाद, जैसे *Economist* सोचता है, संसार की सारी संपदा को सदा-सदा अपनी ही, और उचित ही अपने पास आनेवाली मानता रहा है। विगत श्रम का उत्पाद, स्वयं विगत श्रम, यहां वर्तमान अथवा भावी सजीव बेशी श्रम के एक अंश को अपने गर्भ में धारण किये हुए है। लेकिन हम जानते हैं कि वास्तव में विगत श्रम के उत्पादों के मूल्य का संरक्षण, और इस सीमा तक पुनरुत्पादन भी, सजीव श्रम के साथ उनके संपर्क का **मात्र** परिणाम होता है, और दूसरे, सजीव बेशी श्रम के उत्पादों पर विगत श्रम के उत्पादों का प्राधान्य केवल तभी तक बना रहता है कि जब तक पूंजी के वे संबंध बने रहते हैं, जो इन विशेष सामाजिक संबंधों पर आधारित होते हैं, जिनमें विगत श्रम का सजीव श्रम पर स्वतंत्ररूपेण और अत्यधिक प्राधान्य होता है।

---

[82] "यह स्पष्ट है कि किसी भी श्रम, किसी भी उत्पादक शक्ति, किसी भी चातुर्य और किसी भी कला द्वारा चक्रवृद्धि ब्याज की ज़बरदस्त अपेक्षाओं को पूरा नहीं किया जा सकता। लेकिन सारी बचत पूंजीपति की आय से की जाती है, जिससे ये अपेक्षाएं वास्तव में निरंतर की जाती हैं और उतनी ही निरंतरता से श्रम की उत्पादक शक्ति उनकी तुष्टि करने से इन्कार करती है। इसलिए निरंतर एक तरह का संतुलन स्थापित होता रहता है।" (*Labour Defended Against the Claims of Capital*, p. 23. By Hodgskin.)

अध्याय २५

उधार तथा आभासी पूंजी

उधार पद्धति का तथा उसके द्वारा स्वयं अपने उपयोग के लिए पैदा किये जानेवाले साधनों (साख द्रव्य, आदि) का सर्वांगीण विश्लेषण हमारी योजना की परिधि के बाहर है। हम यहां केवल कुछ ऐसे विशेष मुद्दों को ही लेना चाहेंगे, जो सामान्य रूप में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का लक्षण वर्णन करने के लिए आवश्यक हैं। हम सिर्फ़ वाणिज्यिक तथा बैंक उधार का ही विवेचन करेंगे। उधार के इस रूप के विकास और सार्वजनिक साख के विकास के बीच संबंध पर यहां विचार नहीं किया जायेगा।

हम पहले दिखला चुके हैं (Buch I, Kap. III, 3, b)* कि किस प्रकार साधारण जिंस परिचलन से द्रव्य के भुगतान साधन के रूप में कार्य और उसके साथ जिंसों के उत्पादक तथा व्यापारी के बीच लेनदार और देनदार संबंध विकसित हो जाते हैं। वाणिज्य के और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के, जो सिर्फ़ परिचलन को दृष्टि में रखते हुए ही उत्पादन करती है, विकास के साथ उधार पद्धति का यह स्वाभाविक आधार विस्तारित, सामान्यीकृत और विकसित होता जाता है। द्रव्य यहां ज्यादातर केवल भुगतान साधन का ही काम देता है, अर्थात जिंसों को द्रव्य के बदले नहीं, बल्कि उनके लिए एक विशेष तिथि पर अदायगी करने के लिखित वचन पर बेचा जाता है। संक्षेप के लिए हम ऐसे सभी वचन पत्रों अथवा रुक़्क़ों को विनिमय पत्रों (विपत्रों) अथवा हुंडियों के सामान्य शीर्षक के अंतर्गत रख सकते हैं। अपनी बारी में ये विनिमय पत्र अपने देय होने की तिथि तक भुगतान साधनों के रूप में संचलन करते हैं और वे वास्तविक वाणिज्यिक द्रव्य का निर्माण करते हैं। चूंकि वे अंततः दावों और क़र्ज़ों के संतुलन के जरिये एक दूसरे को निराकृत कर देते हैं, इसलिए वे निरपेक्ष द्रव्य के रूप में काम करते हैं, यद्यपि वास्तविक द्रव्य में कोई अंतिम रूपांतरण नहीं होता है। जिस प्रकार उत्पादकों तथा व्यापारियों के ये पारस्परिक लेन-देन ही उधार की वास्तविक बुनियाद का निर्माण करते हैं, उसी प्रकार उनके संचलन का साधन, विनिमय पत्र, वास्तविक साख द्रव्य की, बैंक नोटों की बुनियाद होता है। ये द्रव्य के, फिर चाहे वह धातु मुद्रा हो या सरकार द्वारा जारी की गयी काग़ज़ी मुद्रा, संचलन पर नहीं, बल्कि विनिमय पत्रों के परिचलन पर निर्भर हैं।

वि० लैथम (यार्कशायर के बैंकर) अपनी *Letters on the Currency*, 2nd ed., London, 1840 में लिखते हैं: "तो मैं पाता हूं कि १८३९ के पूरे साल के लिए योगफल... ५२,८४,९३, ८४२ पाउंड है" (उनका अनुमान था कि विदेशी विनिमय पत्र कुल विपत्रों का

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण: खंड १, अध्याय ३, ३ ख।—सं०

लगभग पांचवां हिस्सा बनाते हैं) "और उपरोक्त वर्ष में किसी भी एक समय घूमते विपत्रों का योगफल १३,२१,२३,४६० पाउंड है" (पृष्ठ ५६)। "शेष सारे मिलकर जो हिस्सा बनाते हैं," विनिमय पत्र उससे "बड़ा संघटक भाग" हैं (पृष्ठ ३)। "विनिमय पत्रों की यह विशाल अधिरचना बैंक नोटों और स्वर्ण की राशि द्वारा निर्मित आधार पर टिकी (!) हुई है, और जब, घटनाओं के कारण, यह आधार अत्यधिक संकुचित हो जाता है, तब उसकी मज़बूती और उसके अस्तित्व तक को ख़तरा हो जाता है" (पृष्ठ ८)। "अगर मैं सारी मुद्रा" (उनका आशय बैंक नोटों से है) "और सभी बैंकों की मांग पर देय देनदारियों का अनुमान लगाऊं, तो मेरे हिसाब से १,५३० लाख की रक़म बनती है, जिसे क़ानून के अनुसार स्वर्ण में परिवर्तित किया जा सकता है... और इस मांग को पूरा करने के लिए स्वर्ण की मात्रा" सिर्फ़ १४० लाख है (पृष्ठ ११)। "विनिमय पत्र... द्रव्य की प्रचुरता, बेहद ऊंची और नीची ब्याज या बट्टा दरों, जो उनके एक हिस्से को पैदा करती हैं और उनके ज़बरदस्त और ख़तरनाक प्रसार को प्रोत्साहित करती हैं, को रोके जाने के अलावा और किसी नियंत्रण के अधीन नहीं रखे जाते हैं। यह निश्चय कर पाना असंभव है कि कौनसा हिस्सा यथार्थतः bonâ fide [वास्तविक] लेन-देनों, यथा सचमुच के सौदे और बिक्री से उत्पन्न हुआ है, या कौनसा आभासी और मात्र निभाव पत्र है, अर्थात जहां दूसरे चालू विपत्र को बदलने के लिए और विनिमय पत्र लिख दिया जाता है, ताकि इतनी और मुद्रा पैदा करके आभासी पूंजी जमा की जा सके। मैं जानता हूं कि प्रचुरता और सस्ते द्रव्य के जमाने में यह विराट परिमाण ग्रहण कर लेता है" (पृष्ठ ४३-४४)। J. W. Bosanquet, *Metallic, Paper and Credit Currency*, London, 1842 : "समाशोधन गृह (जहां लंदन के बैंकर देय हुंडियों और दाख़िल चैकों का विनिमय करते हैं) के ज़रिये साल में कामकाज के हर दिन औसतन ३०,००,००० पाउंड से ऊपर की राशि की अदायगियों का निपटान होता है, और इस कार्य के लिए आवश्यक द्रव्य की दैनिक राशि २,००,००० पाउंड से कुछ ही अधिक होती है" (पृष्ठ ८६)। [१८८६ में समाशोधन गृह का कुल आवर्त ७,६१,८७ १/२ लाख पाउंड का था, जिसका लगभग ३०० कामकाज के दिनों में औसत २५५ लाख पाउंड प्रति दिन बैठता है। – फ़्रे० एं०] "विनिमय पत्र निस्संदेह द्रव्य से स्वतंत्र मुद्रा की तरह काम करते हैं," क्योंकि वे पृष्ठांकन द्वारा संपत्ति का एक से दूसरे को अंतरण करते हैं (पृष्ठ ९२)। यह माना जा सकता है कि "औसतन परिचलनगत हर विनिमय पत्र पर दो पृष्ठांकन होते हैं, और... देय होने के पूर्व प्रत्येक विनिमय पत्र दो भुगतान निष्पन्न करता है। इस कल्पना के आधार पर यह प्रकट होगा कि १८३९ के साल में केवल पृष्ठांकन द्वारा ही ५,२८० लाख के दुगने, अथवा १,०५,६०,००,००० पाउंड मूल्य की संपत्ति का विनिमय पत्रों के माध्यम से हस्तांतरण हुआ, जो ३० लाख पाउंड प्रति दिन से अधिक का औसत है। इसलिए हम निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जमाएं और हुंडियां मिलकर, द्रव्य की सहायता के बिना एक से दूसरे को प्रति दिन कम से कम १८० लाख पाउंड की संपत्ति हस्तांतरित करके द्रव्य के कार्यों का निष्पादन करती हैं" (पृष्ठ ९३)।

टूक सामान्य रूप में उधार के बारे में यह कहते हैं: "अपनी सरलतम अभिव्यक्ति में उधार अथवा साख वह विश्वास है, जो अपनी न्यूनाधिक विश्वसनीयता के आधार पर एक व्यक्ति को द्रव्य में, अथवा द्रव्य में परस्पर सम्मत अभिकलित मूल्य पर मालों में, और प्रत्येक मामले में एक निश्चित अवधि की समाप्ति पर देय, पूंजी की विशेष मात्रा सौंपने की तरफ़ ले जाता है। अगर पूंजी द्रव्य के रूप में उधार दी जाती है, अर्थात चाहे बैंक नोटों में, चाहे

नक़द उधार में, चाहे किसी अभिकर्ता के नाम आदेश के रूप में, तो वापस की जानेवाली रक़म में पूंजी के उपयोग के लिए हर १०० पाउंड पर कुछ राशि को और जोड़ दिया जाता है। उन मालों के मामले में, द्रव्य में जिनका मूल्य परस्पर सम्मत हो चुका है और जिनका अंतरण विक्रय का द्योतक होता है, जो रक़म वापस करनी होती है, उसमें भुगतान के लिए नियत अवधि की समाप्ति तक पूंजी के उपयोग के लिए और जोखिम के लिए प्रतिफल शामिल रहता है। अधिकांशतः ये उधार नियत तिथियों पर अदायगी के लिखित वचन पत्रों के साथ होते हैं। और चूंकि ये तिथ्युत्तर वचन पत्र अथवा इक़रारनामे हस्तांतरणीय होते हैं, इसलिए वे ऐसे साधन बन जाते हैं, जिनके द्वारा लेनदारों के लिए अपने हाथ में पड़े विनिमय पत्रों की अवधि की समाप्ति के पहले चाहे द्रव्य अथवा मालों के रूप में अपनी पूंजी का उपयोग करने का अवसर मिलने पर इन पत्रों पर अधिकांशतः स्वयं अपने नाम के अलावा अन्य नामों की बदौलत अपनी साख को मजबूत करके निम्नतर दरों पर उधार लेना अथवा ख़रीदारी करना संभव होता है।" (*Inquiry into the Currency Principle*, p. 87.)

Ch. Coquelin, *Du Crédit et des Banques dans l'Industrie, Revue des Deux Mondes*, 1842, Tome 31: "प्रत्येक देश में अधिकांश उधार लेन-देन औद्योगिक संबंधों की परिधि के भीतर ही किये जाते हैं।... कच्चे माल का उत्पादक उसे संसाधक निर्माता को दे देता है और उससे एक निश्चित तिथि पर अदायगी का वचन प्राप्त कर लेता है। अपने हिस्से का काम पूरा करने के बाद निर्माता अपने उत्पाद को समान शर्तों पर दूसरे निर्माता को दे देता है, जिसे उसे और आगे संसाधित करना होता है, और इस तरह उधार का सिलसिला एक से दूसरे को होता हुआ ठेठ उपभोक्ता तक फैलता चला जाता है। थोक विक्रेता स्वयं निर्माता अथवा कमीशन एजेंट से माल उधार पर पाता है और फुटकर विक्रेता को उधार पर जिंसें देता है। सभी एक हाथ से उधार – कभी-कभी द्रव्य भी, किंतु अधिकांशतः उत्पाद – लेते हैं और दूसरे हाथ से उधार देते हैं। इस तरह से औद्योगिक संबंधों में लेन-देन का एक अविराम विनिमय होता रहता है, जो सभी दिशाओं में मिलते और प्रतिच्छेदित होते हैं। उधार का विकास ठीक पारस्परिक लेन-देनों के इस गुणन तथा वृद्धि में ही सन्निहित है और उसी में उसकी सत्ता का वास्तविक केंद्र है।"

उधार पद्धति का दूसरा पहलू द्रव्य व्यापार के विकास के साथ संबद्ध है, जो, निस्संदेह, जिंसी लेन-देन के विकास के साथ पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत उन्नति करता रहता है। हम पूर्ववर्ती भाग (अध्याय १६) में यह देख चुके हैं कि किस प्रकार व्यवसायियों की आरक्षित निधियों की देखभाल, द्रव्य प्रापण तथा संवितरण की, अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों की, और इस प्रकार बहुमूल्य धातु व्यापार की प्राविधिक क्रियाएं द्रव्य व्यापारियों के हाथों में संकेंद्रित हो जाती हैं। उधार पद्धति का दूसरा पहलू – ब्याजी पूंजी, अथवा द्रव्य पूंजी का प्रबंध – इस द्रव्य व्यापार के साथ ही द्रव्य व्यापारियों के एक विशेष कार्य की तरह विकसित होता है। द्रव्य उधार लेना और देना उनका विशेष व्यवसाय बन जाता है। वे द्रव्य पूंजी के वास्तविक ऋणदाता और क़र्ज़दार के बीच बिचौलियों का काम करते हैं। सामान्यतः, बैंकिंग व्यवसाय के इस पक्ष में उधारार्थ द्रव्य पूंजी की विशाल राशियों का बैंकरों के हाथों में संकेंद्रण सन्निहित होता है, जिसके परिणामस्वरूप अलग-अलग साहूकार के स्थान पर सभी साहूकारों के प्रतिनिधियों के रूप में बैंकर औद्योगिक और वाणिज्यिक पूंजीपतियों के सामने आते हैं। वे द्रव्य पूंजी के सामान्य प्रबंधक बन जाते हैं। दूसरी ओर, सारे वाणिज्य जगत के लिए उधार लेकर वे सारे साहूकारों के संदर्भ में सारे ऋणियों को संकेंद्रित कर देते हैं। बैंक, एक ओर, द्रव्य पूंजी के, ऋणदाताओं के

केंद्रीकरण को और दूसरी ओर, ऋणियों के केंद्रीकरण को प्रकट करता है। उसका लाभ सामान्यतः वह जितनी ब्याज दर उधार देने में पाता है, उससे नीची दर पर उधार लेने से बनता है।

बैंकों के पास जो उधारार्थ पूंजी होती है, वह उनके पास विभिन्न ढंगों से आती है। एक तो औद्योगिक पूंजीपतियों के ख़ज़ांची या रोकड़िया होने के नाते वह सारी द्रव्य पूंजी उनके हाथों में संकेंद्रित हो जाती है, जो हर उत्पादक तथा व्यापारी के पास आरक्षित निधि के रूप में रहनी चाहिए, या जिसे वह अदायगी में पाता है। इस प्रकार ये निधियां उधारार्थ द्रव्य पूंजी में बदल जाती हैं। इस तरह से एक सामान्य कोष में संकेंद्रित हो जाने के कारण वाणिज्यिक जगत की आरक्षित निधि अपने आवश्यक न्यूनतम पर पहुंच जाती है और द्रव्य पूंजी का एक अंश, जो अन्यथा आरक्षित निधि के रूप में प्रसुप्त पड़ा रहता, उधार दे दिया जाता है और ब्याजी पूंजी का काम करता है। दूसरे, बैंकों की उधारार्थ पूंजी द्रव्य पूंजीपतियों की जमाओं से बनती है, जो इन्हें उधार देने का काम बैंकों को सौंप देते हैं। फिर, बैंकिंग पद्धति के विकास के साथ, और विशेषकर बैंकों द्वारा जमाओं पर ब्याज देना शुरू किये जाने के साथ सभी वर्गों की नक़द बचतों और अस्थायी रूप में निष्क्रिय द्रव्य को उनके पास जमा करवाया जाने लगा। छोटे-छोटे खाते, जो अलग-अलग द्रव्य पूंजी की हैसियत में काम नहीं कर सकते, एकसाथ मिलकर विशाल राशियों में परिणत हो जाते हैं और इस प्रकार एक द्रव्य शक्ति बन जाते हैं। छोटे खातों का यह समूहन बैंकिंग पद्धति के वास्तविक द्रव्य पूंजीपतियों और ऋणियों के बीच बिचौलिया कार्य से अलग विशिष्ट कार्य माना जाना चाहिए। अंतिम बात यह कि प्राप्तियां भी बैंकों में ही जमा की जाती हैं, जो सामान्यतः धीरे-धीरे ही उपभोग में लायी जाती हैं।

ऋण (यहां हमारा आशय केवल वाणिज्यिक उधार से ही है) विनिमय पत्रों को भुना अथवा चुकता करके – विनिमय पत्रों को उनके देय होने के पूर्व द्रव्य में परिणत करके – और तरह-तरह के उधार द्वारा दिया जाता है: वैयक्तिक साख पर प्रत्यक्ष उधार, ब्याजी ऋणपत्रों, सरकारी काग़ज, सभी प्रकार के स्टाकों जैसी प्रतिभूतियों पर क़र्ज़, और विशेषकर लदान पत्रों, गोदी अधिपत्रों तथा जिंसों के स्वामित्व के अन्य प्रमाणीकृत हक़नामों पर ओवरड्राफ़्ट और जमा से अधिक निकाला जाना, आदि।

बैंकर द्वारा दिया जानेवाला उधार विभिन्न रूप ले सकता है, जैसे अन्य बैंकों के नाम हुंडियां और चैक, उसी प्रकार के उधार खाते, और अंततः, अगर बैंक को नोट जारी करने का अधिकार है, तो स्वयं बैंक के बैंक नोट। बैंक नोट किसी बैंकर के नाम ड्राफ़्ट या धनादेश के अलावा और कुछ नहीं है, जो धारक को किसी भी समय देय होता है और बैंकर द्वारा निजी ड्राफ़्टों की जगह दिया जाता है। उधार का यह अंतिम रूप आम लोगों को विशेषकर महत्वपूर्ण और असाधारण लगता है, क्योंकि एक तो साख द्रव्य का यह रूप मात्र वाणिज्यिक परिचलन की सीमाओं को तोड़कर आम परिचलन में चला जाता है और वहां द्रव्य का काम करता है; और क्योंकि अधिकांश देशों में नोट जारी करनेवाले मुख्य बैंकों को, राष्ट्रीय और निजी बैंकों का एक अजीब मिश्रण होने के कारण वास्तव में राष्ट्रीय साख का समर्थन प्राप्त होता है और उनके नोट कमोबेश वैध मुद्रा होते हैं; कारण कि यहां यह प्रत्यक्ष है कि बैंकर स्वयं उधार का ही कारबार करता है, क्योंकि बैंक नोट उधार का संचलनशील प्रतीक या टोकन मात्र होता है। लेकिन बैंकर का साख से उसके अन्य रूपों में भी सरोकार होता है, फिर चाहे वह अपने पास जमा किये नक़द द्रव्य को ही उधार दे रहा हो। वास्तव में बैंक नोट

सिर्फ़ थोक व्यापार के सिक्के का ही प्रतिनिधित्व करता है, और बैंकों के लिए सर्वाधिक महत्त्व हमेशा जमा का ही होता है। स्कॉटलैंड के बैंक इसकी सबसे अच्छी मिसाल पेश करते हैं।

हमारे प्रयोजन के लिए बैंकों के विशेष रूपों जैसी विशेष ऋण संस्थाओं के और अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

"बैंकरों के व्यवसाय को... दो शाखाओं में विभाजित किया जा सकता है। बैंकर के व्यवसाय की एक शाखा उन लोगों से **पूंजी** को एकत्र करना, जो उसका प्रत्यक्ष नियोजन नहीं कर सकते, और उसे उन लोगों को वितरित अथवा अंतरित करना है, जो उसका प्रत्यक्ष नियोजन कर सकते हैं। दूसरी शाखा अपने ग्राहकों की **आयों** की जमाओं को प्राप्त करना, और इस रक़म को ग्राहकों की इच्छानुसार उनके उपभोग की वस्तुओं में ख़र्च के लिए दे देना है।... इनमें पूर्वोक्त **पूंजी** का संचलन है और अंतोक्त **मुद्रा** का।..." एक का "एक ओर, पूंजी के संकेंद्रण और दूसरी ओर, उसके वितरण से संबंध है," और दूसरी का "इलाक़े की स्थानीय आवश्यकताओं के लिए परिचलन के व्यवस्थापन में उपयोग किया जाता है।" Tooke, *Inquiry into the Currency Principle*, pp. 36, 37. हम आगे चलकर, अट्ठाईसवें अध्याय में, इस उद्धरण पर फिर लौटकर आयेंगे।

Reports of Committees, vol. VIII, *Commercial Distress*, vol. II, Part I, 1847-48, Minutes of Evidence. (इसे आगे *Commercial Distress*, 1847-48 कहा गया है।) पांचवें दशक में, लंदन में विनिमय पत्रों को चुकाते समय, एक बैंक के दूसरे बैंक के नाम २१ दिन की अवधि के ड्राफ़्ट अकसर बैंक नोटों के स्थान पर स्वीकार कर लिये जाते थे। (जे० पीज़, प्रादेशिक बैंकर का बयान, क्रमांक ४६३६ तथा ४६४५।) इसी रिपोर्ट के अनुसार, जब भी मुद्रा दुर्लभ होती थी, बैंकर अपने ग्राहकों को अदायगी में इस तरह के विनिमय पत्र नियमित रूप में देने के आदी थे। अगर पानेवाला बैंक नोट चाहता था, तो उसे इस विनिमय पत्र को फिर से चुकवाना पड़ता था। बैंकों के लिए यह पैसा बनाने के विशेषाधिकार के बराबर था। मेसर्ज़ जोन्स, लॉयड एंड कंपनी मुद्रा के दुर्लभ होते ही और ब्याज दर के ५% के ऊपर चढ़ने के साथ "स्मरणातीत काल से" इस तरह से भुगतान करते आये थे। ग्राहक जोन्स, लॉयड एंड कंपनी से ऐसे बैंक-विपत्र पाकर ख़ुश ही होता था, क्योंकि वे स्वयं उसके विनिमय पत्रों की बनिस्बत आसानी से चुकता कर दिये जाते थे; इसके अलावा, वे अकसर बीस से तीस लोगों के हाथों से होकर गुज़रा करते थे। (वही, क्रमांक ९०१ से ९०४, ९०५, ९९२।)

ये सभी रूप भुगतान दावों को हस्तांतरणीय बनाने का काम करते हैं। – "साख को शायद ही किसी ऐसे रूप में ढाला जा सकता है कि जिसमें उससे जब-तब द्रव्य के कार्य निष्पादित करने की अपेक्षा न की सके; और यह रूप चाहे बैंक नोट का हो, या विनिमय पत्र का, या बैंकर के चैक का, प्रत्येक सारभूत विवरण में प्रक्रिया यही रहती है और परिणाम भी यही रहता है।" Fullarton, *On the Regulation of Currencies*, 2nd ed., London, 1845, p. 38. – "बैंक नोट उधार की रेज़गारी हैं" (पृष्ठ ५१)।

यह अंश जे० डब्ल्यू० गिलबर्ट की पुस्तक *The History and Principles of Banking*, London, 1834 से लिया गया है: "किसी बैंक की व्यापार पूंजी को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है – निवेशित पूंजी और उधार ली बैंकिंग पूंजी" (पृष्ठ ११७)। "बैंकिंग अथवा उधार पूंजी एकत्र करने के तीन तरीक़े हैं। पहला, जमाएं प्राप्त करके; दूसरा, नोट

जारी करके; तीसरा, विनिमय पत्र करके। अगर कोई व्यक्ति मुझे १०० पाउंड यों ही उधार दे देता है और मैं ये १०० पाउंड किसी अन्य व्यक्ति को चार प्रतिशत ब्याज पर उधार दे देता हूं, तो इस लेन-देन से मैं एक साल में ४ पाउंड पा लूंगा। इसी प्रकार, अगर कोई व्यक्ति मेरा 'अदा करने का वचन' ले लेता है," ("मैं अदा करने का वचन देता हूं" – यह इंगलैंड के बैंक नोटों की सामान्य इबारत है) "और साल के अंत में उसे मेरे पास वापस ले आता है और मुझे उसके लिए चार प्रतिशत वैसे ही अदा करता है, मानो मैंने उसे १०० सावरिन* उधार दिये थे, तो मैं इस लेन-देन से ४ पाउंड पा जाऊंगा; और इसी प्रकार, अगर कोई व्यक्ति किसी प्रादेशिक नगर में मेरे पास इस शर्त पर १०० पाउंड लाता है कि मैं इक्कीस दिन बाद उतनी ही रक़म लंदन में एक व्यक्ति को दे दूंगा, तो इन इक्कीस दिनों में मैं इस द्रव्य पर जो भी ब्याज बना सकता हूं, वह मेरा लाभ होगा। यह बैंकिंग कार्यों का, और जिस तरीक़े से जमाओं, नोटों और हुंडियों के द्वारा बैंकिंग पूंजी का निर्माण किया जाता है, उसका ख़ासा अच्छा निरूपण है" (पृष्ठ ११७)। "बैंकर का लाभ सामान्यतया उसकी बैंकिंग अथवा उधार पूंजी की मात्रा के अनुपात में होता है।... बैंक के वास्तविक लाभ का निश्चयन करने के लिए निवेशित पूंजी पर ब्याज को सकल लाभ से घटाना चाहिए, और जो बाक़ी बचता है, वही बैंकिंग लाभ होता है" (पृष्ठ ११८)। **"बैंकरों के अपने ग्राहकों को ऋण दूसरे लोगों के द्रव्य से दिये जाते हैं"** (पृष्ठ १४६)। "ठीक वे बैंकर ही, जो नोट जारी नहीं करते, बट्टे पर हुंडियां चुकाकर बैंकिंग पूंजी पैदा करते हैं। वे अपने बट्टों को अपनी जमाओं को बढ़ाने का साधन बना लेते हैं। लंदन के बैंकर उन प्रतिष्ठानों के अलावा और किसी के लिए हुंडी नहीं चुकायेंगे, जिनके उनके यहां जमा खाते हैं" (पृष्ठ ११९)। "जिस पक्ष ने हुंडियों का भुगतान करवाया है और सारी रक़म पर ब्याज अदा किया है, उसे इस रक़म का कुछ अंश बैंकर के हाथों में बिना ब्याज के छोड़ देना पड़ता है। इस तरीक़े से बैंकर वस्तुतः उधार दिये गये द्रव्य पर चालू ब्याज दर से अधिक प्राप्त कर लेता है और उसके पास जो शेष बच रहता है, उसके बराबर बैंकिंग पूंजी पैदा कर लेता है" (पृष्ठ ११९-२०)। आरक्षित निधियों, जमाओं, चैकों पर मितव्यय: "जमा बैंक संचलनशील माध्यम के उपयोग की किफ़ायत करने का काम देते हैं। ऐसा हक़ के अंतरण के सिद्धांत पर किया जाता है।... इसी प्रकार यह हो पाता है कि जमा बैंकों के लिए... थोड़े से द्रव्य से बहुत से लेन-देनों को निपटाना संभव हो जाता है। इस प्रकार विमुक्त द्रव्य बैंकर द्वारा अपने ग्राहकों को, बट्टे द्वारा या अन्यथा, ऋण देने में इस्तेमाल किया जाता है। अतः अंतरण का सिद्धांत जमा पद्धति को अतिरिक्त दक्षता प्रदान कर देता है..." (पृष्ठ १२३)। "इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि आया कि जिन दो पक्षों का एक दूसरे के साथ कारबार है, उनका उसी बैंकर के साथ हिसाब है, या अलग-अलग बैंकरों के साथ; क्योंकि बैंकर अपने चैकों का एक दूसरे से समाशोधन गृह में विनिमय कर लेते हैं।... इस तरह जमा पद्धति को, अंतरणों द्वारा, ऐसी हद तक ले जाया जा सकता है कि वह धातु मुद्रा के उपयोग का पूर्णतः स्थान ले ले। अगर हर आदमी किसी बैंक में जमा खाता रखे, और अपने सारे भुगतान चैकों द्वारा करे, तो द्रव्य स्थानच्युत हो सकता है और चैक एकमात्र संचलनशील माध्यम बन सकते हैं। लेकिन इस स्थिति में यह मानना होगा कि बैंकर के हाथ में द्रव्य है, अन्यथा चैकों का कोई मूल्य न होगा (पृष्ठ १२४)। बैंकों के हाथों में स्थानीय लेन-देनों का केंद्रीकरण

*१ पाउंड का सोने का सिक्का, जो अब प्रचलन में नहीं है। – सं०

इस प्रकार होता है : १) शाखा बैंकों के ज़रिये। प्रादेशिक बैंकों की अपने ज़िलों के छोटे शहरों में, और लंदन के बैंकों की नगर के विभिन्न इलाक़ों में शाखाएं हैं। २) एजेंसियों के ज़रिये। "हर प्रादेशिक बैंकर अपने नोटों अथवा विनिमय पत्रों के भुगतान के लिए... और लंदन में रहनेवाले पक्षों द्वारा देश के अन्य भागों में रहनेवाले पक्षों के उपयोग के लिए रखी जानेवाली रक़मों को प्राप्त करने के वास्ते... लंदन में एक एजेंट का उपयोग करता है" (पृष्ठ १२७)। "हर बैंकर दूसरे बैंकरों के नोटों को स्वीकार करता है, लेकिन उन्हें फिर से जारी नहीं करता। सभी बड़े नगरों में वे सप्ताह में एक या दो बार इकट्ठा होते हैं और अपने नोटों की अदला-बदली कर लेते हैं। बक़ाया लंदन के ड्राफ़्ट द्वारा अदा किया जाता है" (पृष्ठ १३४)। "वाणिज्य को सुविधाएं देना बैंकिंग का लक्ष्य है, और जिससे भी वाणिज्य में सुविधा मिलती है, उससे सट्टे में भी सुविधा मिलती है। वाणिज्य और सट्टे में कुछ मामलों में इतना घनिष्ठ संबंध है कि यह कहना असंभव है कि ठीक किस स्थल पर वाणिज्य ख़त्म होता है और सट्टा शुरू हो जाता है।... जहां भी बैंक होते हैं, वहां पूंजी अधिक आसानी से और सस्ती दर पर प्राप्त हो जाती है। पूंजी का सस्तापन सट्टे को आसान बनाता है, ठीक वैसे कि जैसे गोश्त और बीयर के सस्ते होने से पेटूपन और शराबख़ोरी बढ़ते हैं" (पृष्ठ १३७, १३८)। "चूंकि नोट संचालक बैंक सदा अपने नोट जारी करते हैं, इसलिए लगेगा कि उनका बट्टे का कारबार एक-मात्र अंतिम प्रकार की पूंजी से ही किया जाता है, किंतु ऐसा नहीं है। बैंकर के लिए यह बिल-बहुत संभव है कि अपने द्वारा चुकाये सभी विनिमय पत्रों के लिए ख़ुद अपने नोट जारी कर दे और फिर भी उसके हाथ के ९/१० विनिमय पत्र वास्तविक पूंजी को व्यक्त करें। कारण कि यद्यपि प्रथमतः, बैंकर के नोट विनिमय पत्र के लिए दिये गये हैं, फिर भी हो सकता है कि ये नोट विनिमय पत्र के देय होने तक संचलन में न रहें – विनिमय पत्र की मीयाद तीन महीना हो सकती है और नोट तीन दिन में लौट आ सकते हैं" (पृष्ठ १७२)। "नक़द उधार लेखे का अध्याहरण (जमा से अधिक निकालना) कारबार की एक नियमित बात है; वास्तव में यही वह उद्देश्य है कि जिसके लिए नक़द उधार की स्वीकृति दी जाती है।... नक़द उधार सिर्फ़ व्यक्तिगत प्रतिभूति पर ही नहीं, बल्कि सार्वजनिक निधियों की प्रतिभूति पर भी स्वीकृत किये जाते हैं" (पृष्ठ १७४, १७५)। "माल की प्रतिभूति पर उधार द्वारा दी गयी पूंजी वैसा ही प्रभाव उत्पन्न करेगी कि जैसे विनिमय पत्रों के भुनाने में दी गयी पूंजी। अगर कोई पक्ष अपने माल की प्रतिभूति पर १०० पाउंड उधार लेता है, तो यह ऐसा ही है, मानो उसने अपना माल १०० पाउंड की हुंडी पर बेचा हो और उसे बैंकर से भुनवाया हो। यह पेशगी पाकर उसके लिए अपने माल को बेहतर बाज़ार के लिए रखे रखना संभव हो जाता है और वह एक ऐसा त्याग करने से बच जाता है, जो अन्यथा उसे तात्कालिक प्रयोजनों के लिए द्रव्य एकत्र करने के निमित्त करने को तैयार होना पड़ता" (पृष्ठ १८०-८१)।

The Currency Theory Reviewed, *etc.*, pp. 62-63: "यह निस्संदिग्ध रूप में सही है कि आप आज जो १,००० पाउंड **क** के पास जमा करते हैं, वे कल फिर जारी किये जा सकते हैं और **ख** के पास जमा बन सकते हैं। परसों **ख** के पास से फिर से जारी होकर वे **ग** के पास जमा बन सकते हैं... और इस तरह यह सिलसिला अनंत चलता रह सकता है; इस प्रकार द्रव्य में १,००० पाउंड की वही राशि अंतरणों की शृंखला द्वारा अपने को बढ़ाकर जमाओं की एक एकदम अनंत राशि में परिवर्तित कर सकती है। इसलिए यह संभव है कि **ग्रेट ब्रिटेन में कुल जितनी जमाएं हैं, उनमें से ९/१० का उन बैंकरों के बहीखातों के बाहर कहीं अस्तित्व ही न**

हो, जो अलग-अलग उनके लिए उत्तरदायी हैं।... इस प्रकार, उदाहरण के लिए, स्कॉटलैंड में मुद्रा (वह भी अधिकांशतः काग़ज़ी मुद्रा) कभी ३० लाख पाउंड से अधिक नहीं रही है, पर बैंकों में जमाएं २७० लाख पाउंड की कूती जाती हैं।... अगर बैंकों पर टूट ही न पड़ा जाये, तो १,००० पाउंड की वही रक़म अपनी यात्रा पर वापस भेज दिये जाने पर उतनी ही आसानी से उतनी ही अनंत राशि को निराकृत कर देगी। जैसे जिन १,००० पाउंड से आप आज एक व्यापारी का क़र्ज़ चुकाते हैं, वे कल उस पर दूसरे व्यापारी के क़र्ज़ को, परसों इस दूसरे व्यापारी पर बैंक के क़र्ज़ को, और इसी तरह से अनंत सीमा तक क़र्ज़ों को ख़त्म कर सकते हैं, वैसे ही वही १,००० पाउंड एक हाथ से दूसरे को, और एक बैंक से दूसरे बैंक को अंतरित हो सकते हैं, और कल्पनीय जमाओं की किसी भी राशि को निराकृत कर सकते हैं।"

[हमने देखा कि १८३४ तक में गिलबर्ट को यह मालूम था कि "जिससे भी वाणिज्य में सुविधा मिलती है, उससे सट्टे में भी सुविधा मिलती है। वाणिज्य और सट्टे में कुछ मामलों में इतना घनिष्ठ संबंध है कि यह कहना असंभव है कि ठीक किस स्थल पर वाणिज्य ख़त्म होता है और सट्टा शुरू हो जाता है।" अनबिकी जिंसों पर क़र्ज़ पाना जितना ही आसान होता है, उतना ही इस तरह के क़र्ज़ ज़्यादा लिये जाते हैं और उतना ही **जिंसों** का उत्पादन करने का, अथवा पहले ही निर्मित जिंसों को सुदूर बाज़ारों में झोंकने का लोभ अधिक होता है, महज़ इसलिए कि उनकी ज़मानत पर द्रव्य के ऋण प्राप्त किये जा सकें। किसी देश का व्यावसायिक जगत किस हद तक इस तरह की ठगी की जकड़ में आ सकता है और उसका आख़िर क्या हश्र होता है, १८४५-४७ के दौरान ब्रिटिश व्यवसाय का इतिहास इसे बहुत ही अच्छी तरह से दर्शाता है। वह हमें दिखलाता है कि साख क्या हासिल कर सकती है। अगले उदाहरणों के पहले कुछ परिचयात्मक बातें कह दें।

१८४२ के अंत में अंग्रेज़ी उद्योग १८३७ से लगभग लगातार जिस दबाव की जकड़ में आया हुआ था, वह उठने लगा। आगामी दो वर्षों में अंग्रेज़ी औद्योगिक मालों के लिए विदेशी मांग और भी ज़्यादा बढ़ गयी; १८४५ और १८४६ अधिकतम समृद्धि के दौर के द्योतक थे। १८४३ में अफ़ीम युद्ध ने चीन को अंग्रेज़ी व्यापार के लिए खोल दिया था। नयी मंडी ने एक प्रसारमान उद्योग, विशेषकर सूती वस्त्र उद्योग के और भी अधिक प्रसार को नया प्रोत्साहन प्रदान किया। "हम भला कभी भी आवश्यकता से अधिक उत्पादन कर कैसे सकते हैं? आख़िर हमें ३० करोड़ लोगों के लिए कपड़ा तैयार करना होता है," मैंचेस्टर के एक कारख़ानेदार ने लेखक से उस समय कहा था। लेकिन सारे नवनिर्मित कारख़ाना भवन और उनमें लगाये भाप इंजन और कताई तथा बुनाई मशीनें भी लंकाशायर से प्रवाहित होते बेशी मूल्य को आत्मसात करने के लिए काफ़ी न थे। उत्पादन का प्रसार करने में दिखाये जानेवाले जोश के साथ ही लोग रेलों के बनाने में लगे हुए थे। कारख़ानेदारों और व्यापारियों की सट्टे की तृष्णा की पहले, और १८४४ की गरमियों में ही, इस क्षेत्र में तृप्ति हुई। स्टाक पूर्णतः जोखिम अंकित था, अर्थात जहां तक प्रारंभिक अदायगियों को पूरा करने के लिए द्रव्य का सवाल था। रही बात बाक़ी की, तो समय आने पर देखा जायेगा! लेकिन जब अगली अदायगियां करने का समय आया – प्रश्न १०५६, *Commercial Distress*, १८४८/५७, दिखलाता है कि १८४६-४७ में रेलों में निवेशित पूंजी ७५० लाख पाउंड थी – तो उधार का सहारा लेना पड़ा, और अधिकांश मामलों में फ़र्म के बुनियादी प्रतिष्ठानों को भी पैसा उगलना पड़ा।

और अधिकांश मामलों में ये बुनियादी प्रतिष्ठान पहले ही बेहद दबाव में थे। ललचाने की हद तक ऊंचे लाभों के परिणामस्वरूप कारबार इतना अधिक बढ़ा दिया गया था कि जो उपलब्ध तरल (नक़द) साधनों की दृष्टि से उचित न था। लेकिन फिर भी उधार तो था ही, जो आसानी से और सस्ता मिल सकता था। बैंक बट्टा दर नीची ही थी : १८४४ में १ ३/४ से २ ३/४% , अक्तूबर, १८५४ तक ३% से कम, जो कुछ समय के लिए (फ़रवरी, १८४६) में चढ़कर ५% तक पहुंचने के बाद दिसंबर, १८४६ में गिरकर फिर ३ १/४% पर आ गयी थी। बैंक ऑफ़ इंगलैंड की तिजोरियों में सोने का अश्रुतपूर्व भंडार था। सभी आंतरिक भाव पहले किसी भी समय की अपेक्षा ऊंचे थे। तो फिर इस सुनहरे अवसर को क्यों निकल देने दिया जाये? क्यों न बहती गंगा में फ़ौरन हाथ धो लिये जायें? क्यों न जितना भी उत्पादित किया जा सकता है, वह विदेशी बाज़ारों को भेज दिया जाये, जो अंग्रेज़ी मालों के लिए तरसते हैं? और क्यों न ख़ुद कारख़ानेदार सुदूर पूर्व में सूत और कपड़े बेचकर और इंगलैंड में वहां से लाये माल को बेचकर दुहरा मुनाफ़ा बनाये?

इस प्रकार भारत और चीन को पेशगी अदायगियों पर मालों के पुंज परेषण की प्रणाली उत्पन्न हुई और शीघ्र ही यह, जैसे नीचे की टिप्पणियों में अधिक विस्तार के साथ बतलाया गया है, सिर्फ़ पेशगियां ही प्राप्त करने के लिए परेषणों की प्रणाली में परिणत हो गयी, जिसने अनिवार्यतः बाज़ारों को पाट दिया और तबाही ले आयी।

इस तबाही को १८४६ की फ़सल की बरबादी ने पैदा किया था। इंगलैंड, और विशेषकर आयरलैंड को खाद्य पदार्थों और ख़ासकर अनाज और आलू के ज़बरदस्त पैमाने पर आयात की आवश्यकता थी। लेकिन जो देश उन्हें मुहैया कर सकते थे, उनकी अंग्रेज़ी उद्योग के उत्पादों से बहुत सीमित हद तक ही अदायगी की जा सकती थी। इसलिए बहुमूल्य धातुओं का दिया जाना अनिवार्य हो गया। कम से कम नब्बे लाख का सोना विदेश भेजा गया। इसमें से कम से कम पचहत्तर लाख बैंक ऑफ़ इंगलैंड के ख़ज़ाने से आये थे, द्रव्य बाज़ार में जिसकी कुछ कर पाने की स्वतंत्रता इसके कारण काफ़ी कम हो गयी। अन्य बैंक, जिनकी आरक्षित निधियां बैंक ऑफ़ इंगलैंड में जमा थीं और व्यावहारिक रूप में उसकी निधियों से अभिन्न थीं, भी इस प्रकार द्रव्य के निभाव को कम करने के लिए विवश हो गये। अदायगियों का तीव्र और सुगम प्रवाह, पहले जहां-तहां, और फिर सामान्य रूप में अवरुद्ध हो गया। बैंक बट्टा दर, जो जनवरी, १८४७ में अभी ३ से ३ १/२% ही थी, अप्रैल में, पहली दहशत के फूट पड़ने पर, ७% पर जा पहुंची। गरमियों में स्थिति कुछ सहज हुई (६ १/२%, ६%), लेकिन जब नयी फ़सल भी मारी गयी, तो दहशत फिर फूट पड़ी और पहले से भी ज्यादा ज़ोरों के साथ। अधिकृत न्यूनतम बैंक बट्टा दर चढ़कर अक्तूबर में ७ और नवंबर में १०% पर पहुंच गयी; अर्थात विनिमय पत्रों में से अधिकांश या तो अत्यधिक दुरूह ब्याज दरों पर ही भुनवाये जा सकते थे, या भुन ही नहीं सकते थे। अदायगियों की सामान्य समाप्ति के परिणामस्वरूप अनेक प्रमुख तथा बहुत सारी मझोली तथा छोटी फ़र्मों का दिवाला निकल गया। बैंक ऑफ़ इंगलैंड स्वयं १८४४ के धूर्ततापूर्ण बैंक अधिनियम द्वारा लगाये परिसीमनों के कारण ख़तरे में था। सरकार व्यापक विरोध के आगे झुक गयी और उसने २५ अक्तूबर को बैंक अधिनियम को निलंबित कर दिया और इस प्रकार बैंक पर लगायी बेतुकी क़ानूनी बेड़ियों को ख़त्म कर दिया। अब उसके लिए बैंक नोटों के अपने भंडार को बिना किसी बाधा के संचलन में डालना संभव हो गया। चूंकि इन बैंक नोटों की साख व्यवहार में राष्ट्र की साख द्वारा प्रत्याभूत और फलतः

अक्षत थी, इसलिए द्रव्य का अभाव इस प्रकार तुरंत और निर्णायक रूप में कम हो गया। स्वाभाविकतया, कितनी ही बेतरह फंसी बड़ी और छोटी फ़र्में फिर भी दिवालिया हो गयीं, लेकिन संकट के चरम पर पार पा लिया गया, बैंक बट्टा दर दिसंबर में गिरकर ५% हो गयी, और १८४८ में व्यावसायिक सरगरमी की एक नयी लहर शुरू हो गयी, जिसने १८४९ में महाद्वीप में क्रांतिकारी आंदोलनों के ज्वार को रोक दिया और जिसने छठे दशक में एक और अभूतपूर्व औद्योगिक समृद्धि का समारंभ किया, लेकिन ख़ुद उसका भी अंत १८५७ की तबाही में ही हुआ। – फ़्रे० एं०]

I. लॉर्ड सभा द्वारा १८४८ में जारी की गयी एक दस्तावेज़ १८४७ के संकट के दौरान सरकारी काग़ज़ (रुक्क़ों) और बांडों के प्रचंड मूल्यह्रास के बारे में हैं। उसके अनुसार २३ अक्तूबर, १८४७ के दिन उसी वर्ष फ़रवरी की तुलना में मूल्यह्रास इस प्रकार था :

ब्रिटिश सरकार के बांडों पर	९,३८,२४,२१७ पाउंड
गोदियों तथा नहरों के स्टाक पर . . .	१३,५८,२८८ पाउंड
रेलों के स्टाक पर	१,९५,७९,८२० पाउंड
योग	११,४७,६२,३२५ पाउंड

II. ईस्ट इंडिया व्यापार में ठगी के संदर्भ में, जिसमें ड्राफ़्ट अब जिंसें ख़रीदने के लिए नहीं किये जाते थे, बल्कि इसके विपरीत, जिंसें इसलिए ख़रीदी जाती थीं कि जिससे ऐसे बट्टे पर भुनवाये जा सकनेवाले ड्राफ़्ट किये जा सकें कि जो द्रव्य में परिवर्तनीय हों, २४ नवंबर, १८४७ का *Manchester Guardian* लिखता है :

"लंदन में **क** मैंचेस्टर में **ख** को कारख़ानेदार **ग** से ईस्ट इंडिया में **घ** को भेजे जाने के लिए जिंसें ख़रीदने का आदेश देता है। **ग** की अदायगी **ख** छः महीने की मीयाद के ड्राफ़्टों में करता है, जो **ग ख** द्वारा देय बनायेगा। **ख** अपनी बारी में **क** द्वारा देय छः महीने की मीयाद के ड्राफ़्ट बनाकर अपने को निरापद कर लेता है। जैसे ही माल रवाना किया जाता है, **क** डाक से भेजे गये लदान पत्र पर **घ** द्वारा देय छः महीने की मीयाद के ड्राफ़्ट बनाता है। "इस प्रकार परेषक और परेषिती (माल पानेवाला) दोनों, को – उनके द्वारा मालों का वस्तुतः भुगतान किये जाने के महीनों पहले – धनराशि का स्वामित्व मिल गया था; और, बहुत करके, इन विनिमय पत्रों को 'लंबे सौदे' में प्रतिफल के लिए समय देने के बहाने मीयाद पूरी होने पर नवीकृत कर दिया गया होगा। अभाग्यवश, ऐसे धंधे से हानि उसका संकुचन कराने के बजाय प्रत्यक्षतः उसका प्रसार ही कराती थी। लोग जितना ही ग़रीब होते जाते थे, उतना ही उन्हें और ख़रीदने की ज़रूरत होती थी, ताकि नयी पेशगियों से पिछले जोखिम सौदों में खोयी पूंजी की कसर पूरी कर सकें। इस प्रकार ख़रीदारियां पूर्ति और मांग का सवाल नहीं, वरन कठिनाइयों के बोझ से ग्रस्त फ़र्म के वित्तीय कारबार का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा बन जाती थीं। लेकिन यह तो तसवीर का सिर्फ़ एक ही पहलू है। जो कुछ माल के निर्यात के संदर्भ में देश में हो रहा था, वही विदेश में पैदावार की ख़रीद और परेषण में भी हो रहा था। भारत में जिन प्रतिष्ठानों के पास अपने विनिमय पत्र दे सकने की साख थी, वे शकर, नील, रेशम या कपास ख़रीदते थे – इसलिए नहीं कि पिछली स्थलमार्गीय डाक से लंदन से दामों की जो सूचना प्राप्त हुई थी, वह भारत में विद्यमान

दामों पर लाभ की संभावना दिखाती थी, बल्कि इसलिए कि लंदन के प्रतिष्ठान के नाम बनाये पुराने विनिमय पत्र शीघ्र ही देय हो जायेंगे और उनके भुगतान की व्यवस्था करना जरूरी है। इसका इससे ज़्यादा सरल तरीक़ा और क्या हो सकता है कि शकर का एक नौभार ख़रीद लिया जाये, उसकी अदायगी लंदन के प्रतिष्ठान के नाम दस महीने की मीयाद की हुंडी में कर दी जाये, परेषण पत्र स्थलमार्गीय डाक से भेजे दिये जायें, और दो महीने से भी कम में उस माल को, जो अभी बीच समुद्र में ही होता था, या शायद अभी हुगली के मुहाने से भी नहीं निकल पाया था, लंबार्ड स्ट्रीट में गिरवी रख दिया जाता था और इस तरह से लंदन के प्रतिष्ठान के हाथ में इन मालों पर ड्राफ़्टों के देय होने के आठ महीने पहले ही पैसा पहुंचा दिया जाता था। और यह सब तब तक बिना किसी विराम अथवा कठिनाई के चलता रहा कि जब तक आढ़तियों के पास लदान पत्रों और गोदी अधिपत्रों पर पेशगी देने तथा भारतस्थित प्रतिष्ठानों के मिंसिंग लेन में प्रतिष्ठित फ़र्मों के नाम बनाये विनिमय पत्रों को बिना किसी सीमा के चुकाने के लिए 'मांग पर' द्रव्य का प्राचुर्य था।"

[यह कपटपूर्ण सिलसिला तब तक चलता रहा कि जब तक भारत को भेजे जानेवाले और वहां से आनेवाले मालों को बादबानी जहाजों में केप (दक्षिण अफ़्रीका का आशा अंतरीप–सं०) का चक्कर काटना पड़ता था। लेकिन जब से उनका वाष्पपोतों में स्वेज़ नहर के ज़रिये भेजा जाना शुरू हुआ है, तब से आभासी पूंजी गढ़ने का यह तरीक़ा अपने आधार–माल की लंबी समुद्र यात्रा–से वंचित हो गया है। और जब से तार अंग्रेज़ व्यवसायियों को भारतीय बाज़ार के बारे में और भारतीय व्यापारियों को अंग्रेज़ी बाज़ार के बारे में उसी दिन सूचित करने लग गया है, यह तरीक़ा पूरी तरह से अव्यावहारिक हो गया है।–फ़्रे० एं०]

III. निम्न अंश पूर्वोद्धृत *Report on Commercial Distress*, १८४७-४८ से लिया गया है: "अप्रैल, १८४७ के अंतिम सप्ताह में बैंक ऑफ़ इंगलैंड ने रॉयल बैंक ऑफ़ लीवरपूल को सूचित किया कि आगे से वह अंतोक्त के साथ अपने बट्टे के कारबार को आधा कर देगा। इस घोषणा ने इस कारण विशेष कठिनाई पैदा कर दी कि पिछले कुछ समय से लीवरपूल बैंक में अदायगियां नक़द की अपेक्षा विपत्रों में कहीं अधिक होती रही थीं और जो व्यापारी आम तौर पर अपने सकारे विपत्रों का भुगतान करने के लिए बैंक में काफ़ी मात्रा में नक़दी लाया करते थे, वे पिछले कुछ समय से विपत्र ही ला पा रहे थे, जो उन्हें अपनी कपास तथा अन्य उपजों के लिए प्राप्त हुए थे, और कठिनाइयों के बढ़ने के साथ यह बहुत तेज़ी से बढ़ रहा था।... बैंक को जिन सकारे विपत्रों के लिए व्यापारियों की ओर से भुगतान करना होता था, वे अधिकांशतः उनके नाम विदेशों में किये विपत्र थे और वे इन सकारे विपत्रों को अपनी उपज के लिए जो भी रक़म मिले, उससे चुकता करने के अभ्यस्त हैं।... नक़दी के बदले... व्यापारी जो विपत्र आम तौर पर लाते थे,... वे विभिन्न तिथियों के और विभिन्न प्रकार के होते थे; उनमें से काफ़ी विपत्र तीन महीने की मीयाद की बैंक हुंडियां थीं, जिनमें अधिकांश कपास की हुंडियां होती थीं। ये विनिमय पत्र जब बैंक हुंडियों के रूप में होते थे, तो वे लंदन के बैंकरों द्वारा और चाहे किसी भी व्यापार शाखा का नाम ले लीजिये–ब्राज़िली, अमरीकी, कनेडियाई, वेस्ट इंडियन–उसके व्यापारियों द्वारा स्वीकार कर लिये जाते थे।... व्यापारी एक दूसरे के नाम हुंडी नहीं करते थे; लेकिन भीतरी इलाक़ों के वे पक्ष, जिन्होंने व्यापारियों से माल ख़रीदा था, व्यापारियों के पास लंदन के बैंकरों के नाम विपत्र, अथवा लंदन में विभिन्न पक्षों के नाम विपत्र, अथवा किसी के भी नाम विपत्र, भेज दिया करते थे। बैंक ऑफ़ इंगलैंड की घोषणा के परिणामस्वरूप

विदेशी मालों की बिक्री की जमानत पर बनाये जानेवाले विपत्रों के देय होने की मीयाद को, जो बहुधा तीन महीने से अधिक की होती थी, घटा दिया गया" (पृष्ठ २६, २७)।

इंगलैंड में १८४४ से १८४७ तक का समृद्धि का दौर, जैसे कि ऊपर बताया जा चुका हैं, पहले बड़े रेल घोटाले से जुड़ा हुआ है। उपरोक्त रिपोर्ट सामान्यतः व्यापार पर इस घोटाले के प्रभाव के बारे में यह कहती है: अप्रैल, १८४७ में "लगभग सभी व्यापारिक प्रतिष्ठान... अपनी वाणिज्यिक पूंजी के एक हिस्से को रेलों के लिए लेकर... अपने कारबार को कमोबेश पूजी से वंचित कर रहे थे" (पृष्ठ ४२)। "रेल शेयरों के लिए निजी व्यक्तियों द्वारा, बैंकरों द्वारा और बीमा कार्यालयों द्वारा ऊंची ब्याज दर, मसलन ८%, पर क़र्ज़ दिये जा रहे थे" (पृष्ठ ६६)। "रेलों को वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों द्वारा इतनी अधिक सीमा तक ऋणों ने उन्हें विपत्रों के भुनाने द्वारा बैंकों पर अत्यधिक निर्भर होने के लिए प्रेरित किया, जिससे कि इस प्रकार अपने वाणिज्यिक कारबार को चला सकें" (पृष्ठ ६७)। (प्रश्न :) "क्या आप यह कहेंगे कि रेलों से संबंधित मांगों का" (द्रव्य बाज़ार पर) "उस दबाव को पैदा करने में बहुत हाथ था, जो अप्रैल और अक्तूबर" (१८४७) "में पड़ा था?" – (उत्तर:) "मैं कहूंगा कि दबाव पैदा करने में उनका अप्रैल में शायद ही कोई हाथ था; मैं तो यही सोचूंगा कि अप्रैल तक, और शायद, गरमियों तक भी उन्होंने कुछ बातों के लिहाज़ से बैंकरों की ताक़त को घटाने के बजाय बढ़ाया ही था, क्योंकि ख़र्च इतना तेज़ नहीं था कि जितना मांगें थीं और इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश बैंकों के पास वर्ष के आरंभ में रेल द्रव्य की काफ़ी बड़ी रक़म ही थी।" (*C. D.*, 1848-57 में बैंकरों के बहुत से बयानों से इसकी पुष्टि होती है।) "गरमियों में वह शनैः शनैः विलीन हो गयी, और ३१ दिसंबर को वह काफ़ी कम थी। अक्तूबर में दबाव का एक कारण... बैंकरों के हाथों में रेल द्रव्य का क्रमिक ह्रास था; २२ अप्रैल और ३१ दिसंबर के बीच हमारे हाथों में रेलों की जमा शेष एक तिहाई कम हो गयी और रेलों से संबंधित मांगों ने भी... देश भर में यही असर पैदा किया है; वे बैंकरों की जमाओं को धीरे-धीरे निचोड़ती रही हैं" (पृष्ठ ४३, ४४)। इसी प्रकार सैम्युएल गर्नी (कुख्यात फ़र्म ओवरेंड, गर्नी एंड कंपनी के प्रधान) का भी कहना है: "१८४६ के साल के दौरान... रेलों की स्थापना के लिए पूंजी की काफ़ी मांग रही थी,... लेकिन उसने द्रव्य के मूल्य को नहीं बढ़ाया।... छोटी रक़मों का बड़ी राशियों में संघनन हो गया और ये बड़ी राशियां हमारी मंडी में इस्तेमाल होती थीं; जिससे कुल मिलाकर परिणाम यही रहा कि सिटी के द्रव्य बाज़ार में उससे अधिक द्रव्य डाला गया, जितना उससे निकाला गया था" (पृष्ठ १५६)।

लीवरपूल जॉइंट स्टाक बैंक के निदेशक ए० हॉजसन दिखलाते हैं कि विनिमय पत्र किस सीमा तक बैंकरों के लिए आरक्षित निधि बन सकते हैं: "यह हमारा दस्तूर है कि हम अपनी सारी जमाओं के कम से कम ६/१० को, और हमारे पास दूसरों के द्रव्य को अपनी विपत्र पेटी में दिन प्रति दिन देय होनेवाले विपत्रों में रखें,... यहां तक कि भारी मांग पैदा हो जाने की हालत में भी देय होनेवाले विपत्र हम पर रोज़-ब-रोज़ आ खड़ी होनेवाली मांग की राशि के लगभग बराबर ही थे" (पृष्ठ ५३)।

सट्टा विपत्र। – "५०६२। ये (बिकी हुई कपास पर) विपत्र आम तौर पर किसके द्वारा स्वीकार किये जाते थे?" – (सूती कारख़ानेदार आर० गार्डनर, जिनका इस कृति में बारंबार उल्लेख आया है): "माल आढ़तियों द्वारा: कोई आदमी कपास ख़रीदता है और उसे आढ़तिये के हाथों में दे देता है और उसके द्वारा देय विपत्र बनवाता है और उन विपत्रों को

बट्टे पर चुकता करवा लेता है।" – "५०६४। और वे लीवरपूल में बैंकों में लाये जाते हैं और चुकता करवाये जाते हैं? – हां, और इसके अलावा दूसरी जगहों में भी।... मेरा विश्वास है कि इस तरह के, और विशेषकर लीवरपूल के बैंकरों द्वारा प्रदत्त निभाव के बिना पिछले साल कपास में कभी इतनी तेज़ी न आयी होती, जैसी १ १/२ या २ पेंस प्रति पाउंड की आयी थी।" – "६००। आपने कहा है कि सट्टाखोरों द्वारा बनाये गये लीवरपूल के आढ़तियों द्वारा देय बहुत सारे विपत्र परिचलन में डाल दिये गये थे; क्या यह प्रथा कपास के अलावा औपनिवेशिक तथा विदेशी मालों के सकारे विपत्र पर आपकी पेशगियों पर भी लागू होती है?" (ए० हॉजसन, लीवरपूल के बैंकर): "इसका आशय सभी प्रकार के औपनिवेशिक मालों से है, पर विशेष रूप में कपास से।" – "६०१। क्या आप, बैंकर के नाते इस तरह के विपत्रों को निरुत्साहित करते हैं? – नहीं, सीमित मात्रा में हो, तो हम इस प्रकार के विपत्र को बहुत उचित समझते हैं। इस प्रकार का विपत्र बहुधा नवीकृत हो जाता है।"

ईस्ट इंडियन तथा चीनी बाज़ार में धोखाधड़ी, १८४७। – चार्ल्स टर्नर (लीवरपूल में एक प्रमुख ईस्ट इंडियन प्रतिष्ठान के प्रधान): "हम सब मारीशसी व्यापार और इसी प्रकार के अन्य व्यापारों के सिलसिले में घटी घटनाओं से अवगत हैं। आढ़तियों का दस्तूर यह रहा है कि वे... न सिर्फ़ मालों पर उनकी आमद के बाद इन मालों पर बनाये विपत्रों का भुगतान करने के लिए ही, जो पूरी तरह से संगत है, और लदान पत्रों पर पेशगियां देते रहे हैं,... बल्कि... उन्होंने माल के रवाना किये जाने के पहले, और कुछ मामलों में तो उनके उत्पादित होने के भी पहले पेशगियां दी हैं। अब, अपनी निजी मिसाल ही दूं, तो मैंने एक ख़ास मामले में कलकत्ता में छः या सात हज़ार पाउंड के विपत्र ख़रीदे हैं; विपत्रों की प्राप्तियां शकर के उत्पादन में सहायता देने के लिए मारीशस चली गयीं; ये विपत्र इंगलैंड आये और उनमें से आधे से अधिक का नकार-प्रमाणन हो गया, क्योंकि जब शकर पहुंची, तो इन विपत्रों की अदायगी करने के लिए रोके रखे जाने के बजाय उसे... उसके रवाना किये जाने के भी पहले, सच तो यह कि तैयार होने के भी पहले... अन्य पक्षों के पास गिरवी रख दिया गया था" (पृष्ठ ७८)। "अब कारख़ानेदार नक़द अदायगी का आग्रह कर रहे हैं, लेकिन यह कोई बहुत मानी नहीं रखता, क्योंकि अगर किसी क्रेता की लंदन में कोई भी साख है, तो वह उस प्रतिष्ठान के नाम विपत्र बनाकर उसे भुनवा सकता है; वह लंदन जाता है, जहां आजकल बट्टा दरें सस्ती हैं; वह विपत्र को भुनवा लेता है और कारख़ानेदार को नक़द अदा कर देता है।... माल भेजनेवाले को भारत से अपनी प्रतिप्राप्ति में कम से कम बारह महीने लगते हैं... दस या पंद्रह हज़ार पाउंड से भारतीय व्यापार में लगनेवाला कोई आदमी लंदन में किसी प्रतिष्ठान के पास उसे एक प्रतिशत देते हुए काफ़ी गुंजाइश का उधार खाता खोल लेगा; वह इस सहमति पर लंदन के प्रतिष्ठान के नाम विपत्र बनाता है कि जो माल भेजा जा रहा है, उसकी प्राप्तियां लंदन के प्रतिष्ठान को लौटा दी जायेंगी, लेकिन दोनों पक्ष इस बात को भली भांति समझते हैं कि लंदन में आदमी को नक़द ऋण से अलग रखा जायेगा; दूसरे शब्दों में मतलब यह कि विपत्रों को प्राप्तियां के आने तक नवीकृत किया जाता रहेगा। विपत्र लीवरपूल, मैंचेस्टर... अथवा लंदन में भुनवाये गये... उनमें से बहुत से स्कॉटलैंड के बैंकों में पड़े हैं" (पृष्ठ ७९)। – "७८६। लंदन में एक प्रतिष्ठान है, जो हाल ही में दिवालिया हुआ था, और उसके मामलों की जांच में एक ऐसे ही लेन-देन का होना साबित हुआ था; एक व्यावसायिक प्रतिष्ठान मैंचेस्टर में है और दूसरा कलकत्ता में है; उन्होंने लंदन में एक

प्रतिष्ठान में २,००,००० पाउंड तक का उधार खाता खोला ; कहने का मतलब यह कि मैंचेस्टर के इस प्रतिष्ठान के लोगों को, जो ईस्ट इंडियन प्रतिष्ठान को ग्लासगो और मैंचेस्टर से मालों का परेषण करते थे, लंदन के प्रतिष्ठान के नाम २,००,००० पाउंड तक के विपत्र बनाने का हक मिल गया ; साथ ही यह सहमति थी कि कलकत्ता में संपर्की प्रतिष्ठान लंदन के प्रतिष्ठान के नाम २,००,००० पाउंड तक के विपत्र बनायेगा ; कलकत्ता में बिके विपत्रों की प्राप्तियों से उसे और विपत्र खरीदने थे और उन्हें लंदन के प्रतिष्ठान के पास ग्लासगो में पहले बनाये विपत्रों को ले लेने के लिए भेज देना था।... इस लेन-देन पर ६,००,००० पाउंड के विपत्र पैदा हो गये होते।" – "९७१। इस समय अगर कलकत्ता में कोई प्रतिष्ठान" (इंगलैंड भेजने के लिए) "माल खरीदता है और अदायगी में अपने लंदन के संपर्की के नाम स्वयं अपने विपत्र देता है, और वह लदान पत्र यहां भेज देता है, तो ये लदान पत्र... उसे लंबार्ड स्ट्रीट में ऋण पाने के लिए तुरंत उपलभ्य हो जाते हैं, और इसके पूर्व कि उसके संपर्की को भुगतान करना पड़े, वह द्रव्य का आठ महीने उपयोग कर सकता है।"

IV. १८४८ में लॉर्ड सभा की एक गुप्त समिति ने १८४७ के संकट के कारणों की जांच की थी। लेकिन समिति के सामने दिया साक्ष्य १८५७ तक प्रकाशित नहीं किया गया था (*Minutes of Evidence, taken before the Secret Committee of the H. of L. appointed to inquire into the Causes of Distress, etc.*, 1857, जिसे *C. D.*, 1848/57 कहा गया है)। यूनियन बैंक ऑफ़ लीवरपूल के निदेशक श्री लिस्टर ने समिति के सामने अपने साक्ष्य में और बातों के अलावा यह कहा था :

"२४४४। १८४४ के वसंत में उधार का अनुचित विस्तार हो गया था, ... क्योंकि हर आदमी ने संपत्ति व्यवसाय से रेलों में लगा दी थी और फिर भी वैसे ही पैमाने पर व्यवसाय करते रहने का आकांक्षी था। शायद उसने पहले यही सोचा होगा कि वह रेल के शेयरों को मुनाफ़े के साथ बेच देगा और द्रव्य को फिर अपने व्यवसाय में लगा लेगा। लेकिन शायद उसने पाया कि ऐसा नहीं किया जा सकता, और तब उसने अपने व्यवसाय में उधार लिया, जहां पहले वह नक़द भुगतान किया करता था। इस कारण उधार का प्रसार हुआ।"

"२५००। क्या वे विपत्र, ... जिन पर बैंकों ने उन्हें रोके रखकर नुक़सान उठाया था, मुख्यतः अनाज पर बनाये विपत्र थे या कपास पर बनाये विपत्र? – वे सभी प्रकार के मालों – अनाज और कपास और शकर, सभी प्रकार के सारे विदेशी मालों – पर विपत्र थे। तेल को छोड़कर शायद ही कोई ऐसी चीज़ रही हो कि जिसके दाम न गिरे हों।" – "२५०६। जो आढ़तिया किसी विपत्र को सकारता है, वह उसे तब ही सकारेगा कि जब मूल्य के संदर्भ में अच्छी गुंजाइश हो।"

"२५१२। माल पर दो तरह के विपत्र बनाये जाते हैं; पहला उसका आयात करनेवाले व्यापारी द्वारा देय मूल विपत्र है।... माल पर बनाये जानेवाले विपत्र बहुधा माल के पहुंचने के पहले देय हो जाते हैं। इसलिए अगर उसकी आमद के समय व्यापारी के पास पर्याप्त पूंजी न हो, तो उसे उस माल को तब तक के लिए आढ़तिये के पास गिरवी रखना पड़ता है कि जब तक वह उसे बेच न पाये। तब लीवरपूल में व्यापारी द्वारा आढ़तिये के नाम से फ़ौरन ही उस माल की ज़मानत पर एक नये प्रकार का विपत्र बनाया जाता है।... तब यह बैंकर का ज़िम्मा हो जाता है कि वह आढ़तिये से पता लगाये कि माल उसके पास है या नहीं और

उसने उस पर किस हद तक पेशगी दी है। यह निश्चित करना उसका काम है कि आढ़तियों के पास नुक़सान हो जाने की हालत में अपने को बचाने के लिए संपत्ति है या नहीं।"

"२५१६। हमें विदेशों से भी विपत्र प्राप्त होते हैं।... कोई आदमी विदेश में इंगलैंड के लिए बना विपत्र ख़रीदता है और उसे इंगलैंड में किसी प्रतिष्ठान के पास भेज देता है; हम यह नहीं कह सकते कि विपत्र विवेकपूर्वक बनाया गया है या अविवेकपूर्वक, वह माल के लिए है या हवा के लिए।"

"२५३३। आपने कहा है कि लगभग हर प्रकार का विदेशी माल बड़े नुक़सान पर बिका। क्या आप यह समझते हैं कि यह उस माल में अनुचित सट्टे का परिणाम था? – यह बहुत अधिक आयात के कारण हुआ, क्योंकि उसका निराकरण करने के लिए समान उपभोग नहीं था। ऐसा लगता है कि उपभोग में काफ़ी गिरावट आ गयी थी।" – "२५३४। अक्तूबर में माल को बेच पाना लगभग असंभव था।"

संकट के चरम के समय किस तरह sauve qui peut [जो अपने को बचा सकता है, बचा ले] का सार्विक चीत्कार पैदा हो जाता है, यह इसी रिपोर्ट में अव्वल दरजे के विशेषज्ञ, सम्मानित चतुर क्वेकर, ओवरेंड, गर्नी एंड कंपनी के सैम्युएल गर्नी द्वारा प्रकट किया जाता है: "१२६२।... जब संकट आया हुआ होता है, तो कोई आदमी अपने से यह नहीं पूछता कि वह अपने बैंक नोटों के लिए क्या पा सकता है, अथवा यह कि अपने राजकोष पत्रों को बेचने से उसे एक या दो प्रतिशत की हानि होगी या तीन प्रतिशत की। जब वह दहशत में होता है, तो वह लाभ या हानि की परवाह नहीं करता, बल्कि अपने को निरापद बनाता है और बाक़ी सारी दुनिया को अपनी मरज़ी के मुताबिक़ करने देता है।"

V. दोनों बाज़ारों की पारस्परिक परितृप्ति के बारे में ईस्ट इंडिया के व्यापारी श्री एलैग्जैंडर १८५७ के बैंक अधिनियम पर निम्न सदन की समिति के सामने (जिसे *B. C.*, 1857 कहा गया है) अपने बयान में कहते हैं: "४३३०। इस समय अगर मैं मैंचेस्टर में ६ शिलिंग लगाता हूं, तो मुझे भारत में ५ शिलिंग वापस मिलते हैं; अगर मैं ६ शिलिंग भारत में लगाता हूं, तो मुझे लंदन में ५ शिलिंग वापस मिलते हैं।" इसलिए इस तरह से भारतीय बाज़ार को इंगलैंड परितृप्त करता है, और अंग्रेज़ी बाज़ार को भारत करता है। १८४७ के कटु अनुभव के मुश्किल से दस ही साल बाद, १८५७ की गरमियों में स्थिति सचमुच यही थी!

अध्याय २६

द्रव्य पूंजी का संचय। ब्याज दर पर उसका प्रभाव

"इंगलैंड में अतिरिक्त संपदा का सतत संचय होता रहता है, जिसकी प्रवृत्ति अंततः द्रव्य का रूप ग्रहण कर लेने की है। द्रव्य का अर्जन करने की अभिलाषा के बाद संभवतः सबसे अधिक महत्व उससे कुछ इस प्रकार के निवेशों के लिए फिर से जुदा होने की इच्छा का ही है कि जिनसे या तो ब्याज प्राप्त हो या लाभ, क्योंकि द्रव्य के नाते द्रव्य इनमें से किसी को भी नहीं पैदा करता। इसलिए बेशी पूंजी के इस अविराम अंतर्वाह के साथ-साथ अगर उसके नियोजन के क्षेत्र का क्रमिक और पर्याप्त विस्तार न हो, तो हमें समय-समय पर निवेश चाहते द्रव्य के संचयों का सामना करना पड़ेगा, जो घटनाओं की गति के अनुसार न्यूनाधिक परिमाण के हो सकते हैं। लगातार कई वर्षों तक इंगलैंड की बेशी संपदा का प्रधान अवशोषक हमारा सार्वजनिक ऋण ही था।... जैसे ही यह ऋण १८१६ में अपने चरम पर पहुंचा और उसने अवशोषक की तरह काम करना बंद कर दिया, वैसे ही प्रति वर्ष कम से कम २७० लाख की रक़म के लिए निवेश के अन्य रास्तों को ढूंढना अनिवार्य हो गया। इसी के साथ-साथ पूंजी के विभिन्न वापसी भुगतान भी किये गये थे।... ऐसे उद्यम, जिनके लिए बड़ी पूंजी आवश्यक होती है और जो समय-समय पर अनियोजित पूंजी के आधिक्य के लिए अवसर पैदा करते हैं... नितांत आवश्यक हैं, कम से कम हमारे देश में, जिससे कि समाज की अतिरिक्त संपदा के आवधिक संचयों का ध्यान रख सकें, जो लगाने के सामान्य क्षेत्रों में गुंजाइश पाने में असमर्थ रहती है।" (*The Currency Theory Reviewed*, London, 1845, pp. 32-34.) १८४५ के बारे में यही पुस्तक कहती है: "एकदम हाल के समय के भीतर दाम मंदी के निम्नतम बिंदु से उछलकर ऊपर चले गये हैं।... कंसोल (बेमीयादी बांड) अंकित मूल्य पर पहुंच रहे हैं।... बैंक ऑफ़ इंगलैंड की तिजोरियों में बुलियन ... मात्रा में अपनी स्थापना के समय से इस प्रतिष्ठान के पास जितना खज़ाना था, उससे भी अधिक हो गया है। हर प्रकार के शेयर औसतन सर्वथा अभूतपूर्व दामों पर आ गये हैं और ब्याज की दरें गिरकर लगभग नामिक ही रह गयी हैं। मानो ये सब इसके प्रमाण नहीं हैं कि इंगलैंड में इस समय अनियोजित संपदा का एक और भारी संचय अस्तित्वमान है, सट्टे की गरमबाज़ारी का एक और दौर निकट ही है।" (वही, पृष्ठ ३६।)

"यद्यपि... बुलियन का आयात विदेश व्यापार में लाभ का निश्चित प्रमाण नहीं है, फिर भी, किसी व्याख्यात्मक कारण के अभाव में, वह prima facie उसके एक अंश को अवश्य प्रकट करता है।" (J. L. Hubbard, *The Currency and the Country*, London,

1843, pp. 40-41.) "मान लीजिये ... कि स्थिर व्यापार, अच्छे दामों ... और पूरे, किंतु अनावश्यक नहीं, संचलन के दौर में अपर्याप्त फ़सल अनाज का आयात और पचास लाख के सोने का निर्यात ज़रूरी बना देती है। निस्संदेह, संचलन [जैसा कि हम अभी देखेंगे, इसका आशय है निष्क्रिय द्रव्य पूंजी, न कि संचलन साधन। – फ़े० एं०] में इतनी ही रक़म की कमी आ जायेगी। संचलन की इतनी ही मात्रा अब भी अलग-अलग व्यक्तियों के हाथों में हो सकती है, लेकिन व्यापारियों की अपने बैंकरों के पास जमाएं, बैंकरों की अपने दलालों के पास बाक़ी रक़म, और उनकी तिजोरियों में निधि, ये सभी कम हो जायेंगी और अनियोजित पूंजी की मात्रा में इस कमी का तात्कालिक परिणाम ब्याज दर में वृद्धि होगा। मैं मान लूंगा कि ४ प्रतिशत से ६ प्रतिशत हो जायेगी। व्यापार के सुस्थिर अवस्था में होने के कारण विश्वास तो नहीं डिगेगा, पर साख का महत्व और अधिक बढ़ जायेगा।" (वही, पृष्ठ ४२।) "लेकिन कल्पना कीजिये ... कि सभी दाम गिर जाते हैं। ... अतिरिक्त मुद्रा बैंकरों के पास बढ़ी हुई जमाओं के रूप में लौट आती है – अनियोजित पूंजी का बाहुल्य ब्याज दर को गिराकर न्यूनतम स्तर पर ले आता है, और यह हालत तब तक बनी रहती है कि जब तक या तो ऊंचे दामों की फिर से बहाली नहीं होती, या अधिक सक्रिय व्यापार निष्क्रिय अथवा प्रसुप्त मुद्रा को काम में नहीं ले आता, या जब तक कि वह विदेशी स्टाकों अथवा विदेशी मालों में निवेशों द्वारा आत्मसात नहीं कर ली जाती।" (पृष्ठ ६८)।

निम्न उद्धरण भी वाणिज्यिक संकट, १८४७-४८ पर संसदीय रिपोर्ट से लिये गये हैं। – १८४६-४७ की ख़राब फ़सल और अकाल के कारण खाद्य पदार्थों का बड़े पैमाने पर आयात आवश्यक हो गया। "इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप देश के आयातों का ... निर्यातों ... पर बहुत बड़ा आधिक्य हो गया ... बैंकों पर काफ़ी भार आया और हुंडी दलालों का ... विपत्रों को बट्टे पर भुनाने के लिए ... उपयोग बढ़ा। ... वे विपत्रों की संवीक्षा करने लगे। ... तब प्रतिष्ठानों की सुविधाओं में बहुत गंभीर कमी आने लगी, और कमज़ोर प्रतिष्ठान दिवालिया होने लगे। वे प्रतिष्ठान, जो ... उधार पर निर्भर करते थे ... दिवालिये हो गये। इसने उस दहशत को और बढ़ा दिया, जिसे पहले भी अनुभव किया जा रहा था; और बैंकरों तथा अन्यों ने यह देखकर कि वे अपने वादों को पूरा करने के लिए अपने विपत्रों तथा अन्य द्रव्य प्रतिभूतियों को बैंक नोटों में बदलने में उतने ही विश्वास पर नहीं निर्भर कर सकते कि जितना पहले करते थे, अपनी साख को और भी अधिक संकुचित कर दिया, और बहुत से मामलों में तो उसे रोक ही दिया; उन्होंने अपने बैंक नोटों को तालाबंद कर दिया – बहुत से मामलों में ख़ुद अपने वादों को निपटाने के लिए; उन्हें उनसे जुदा होते डर लगता था। ... दहशत और संभ्रांति दिन प्रति दिन बढ़ती गयीं; और अगर लॉर्ड जॉन रसेल ... ने बैंक को पत्र न भेजा होता, तो ... नतीजा सार्विक दिवाला ही होता।" (पृष्ठ ७४-७५।) रसेल के पत्र ने बैंक अधिनियम को निलंबित कर दिया। – पूर्वोक्त चार्ल्स टर्नर अपनी गवाही में कहते हैं: "कुछ प्रतिष्ठानों के पास बड़े साधन थे, मगर वे उपलभ्य नहीं थे। उनकी सारी पूंजी मारीशस में भू-संपत्ति, या नील के कारख़ानों, या शकर के कारख़ानों में जकड़ी हुई थी। उनके ऊपर ५,००,००० या ६,००,००० पाउंड तक की देनदारियां हो गयी थीं और अपने विपत्रों का भुगतान करने के लिए कोई उपलभ्य परिसंपत्ति नहीं थी, और अंत में यह सिद्ध हुआ कि अपने विपत्रों के भुगतान के लिए वे पूर्णतः उधार पर ही निर्भर करते थे।" (पृष्ठ ८१।) पूर्वोद्धृत सैम्युएल गर्नी ने कहा [१६६४]: "इस समय (१८४८) लेन-देन सीमित है

और द्रव्य का जबरदस्त अतिबाहुल्य है।" – "१७६३। मैं नहीं समझता कि यह पूंजी के अभाव के कारण था; यह उस समय जो दहशत छायी हुई थी, उसके कारण था कि ब्याज दर इतनी ऊंची हो गयी।"

१८४७ में इंगलैंड ने विदेशों से आयातित खाद्य पदार्थों के लिए कम से कम ९० लाख पाउंड का सोना दिया। इस राशि में से ७५ लाख पाउंड बैंक ऑफ़ इंगलैंड से और १५ लाख पाउंड दूसरे स्रोतों से आये थे (पृष्ठ २४५)। – बैंक ऑफ़ इंगलैंड के गवर्नर, मॉरिस: "देश में सार्वजनिक स्टाकों और नहरों तथा रेलों के शेयरों में २३ अक्तूबर, १८४७ तक ही कुल मिलाकर ११,४७,५२,२२५ पाउंड का मूल्यह्रास हो चुका था।" (पृष्ठ ३१२।) लॉर्ड जी० बैंटिंक के प्रश्न के उत्तर में यही मॉरिस: "क्या आपको मालूम नहीं है कि स्टाकों में और हर प्रकार के मालों में निवेशित सारी संपत्ति का इसी तरह से मूल्यह्रास हो गया था; और कपास, कच्चे रेशम और कच्चे ऊन को इसी ह्रासित दाम पर महाद्वीपीय यूरोप को भेजा गया था... और शकर, काफ़ी तथा चाय को इस तरह दे दिया गया था कि जैसे जबरी बिक्रियों में देना पड़ता है? – यह... अनिवार्य ही था कि देश को खाद्य पदार्थों के भारी आयात के परिणामस्वरूप होनेवाले बुलियन के बहिर्वाह का सामना करने के लिए काफ़ी त्याग करना पड़े।" – "क्या आप यह नहीं सोचते कि बैंक की तिजोरियों में पड़े ८०,००,००० पाउंड को दबाकर रखे रहना इतने त्याग पर सोने को वापस पाने का प्रयास करने से बेहतर रहता? – **नहीं, मैं ऐसा नहीं समझता।" –** और अब ऐसी जांबाज़ी पर की गयी कुछ टीकाओं पर आया जाये। डिज़रायली बैंक ऑफ़ इंगलैंड के एक निदेशक और भूतपूर्व गवर्नर, श्री डब्ल्यू० कॉटन से पूछते हैं: "बैंक मालिकों को १८४४ में क्या लाभांश दर दी गयी थी?" – "वह उस साल ७ प्रतिशत थी।" – "१८४७ के लिए लाभांश क्या है?" – "नौ प्रतिशत।" – "क्या बैंक इस साल अपने मालिकों के लिए आय कर अदा कर रहा है?" – "कर रहा है।" – "क्या उसने १८४४ में ऐसा किया था?" – "नहीं किया था।"[83] – "तब तो यह (१८४४ का) बैंक अधिनियम मालिकों के लिए बहुत अच्छा ही रहा, न?... तो नतीजा यही है कि अधिनियम के पारित होने के बाद से मालिकों का लाभांश बढ़ाकर ७ प्रतिशत से ९ प्रतिशत कर दिया गया है और आय कर, जो इस अधिनियम के पहले मालिकों द्वारा अदा किया जाता था, अब बैंक द्वारा चुकाया जाता है? – **ऐसा ही है।"** (क्रमांक ४३५६-६१।)

१८४७ के संकट के दौरान बैंकों में अपसंचयन के बारे में एक प्रादेशिक बैंकर, श्री पीज़, यह कहते हैं: "४६०५। जब बैंक को अपनी ब्याज दर को और भी ऊंचा करना पड़ा, तो हर कोई आशंकाग्रस्त हो गया लगता था; प्रादेशिक बैंकरों ने अपने हाथों में बुलियन की मात्रा को बढ़ाया और अपने नोटों के रिज़र्व को बढ़ाया और हम में से कई लोगों ने, जो शायद कुछ सौ पाउंड का सोना तथा बैंक नोट रखा करते थे, फ़ौरन अपनी मेज़ों और दराज़ों में हज़ारों डाल लिये, और क्योंकि बट्टों के बारे में तथा बाजार में हमारे विपत्रों के चालू रहने

---

[83] दूसरे शब्दों में, इसके पूर्व वे पहले लाभांश निर्धारित करते थे, और फिर आय कर को काटते थे, क्योंकि लाभांश अलग अंशधारी को दिया जाता था; लेकिन १८४४ के बाद बैंक ने पहले अपने कुल लाभ पर आय कर दिया और फिर "आय कर मुक्त" लाभांश देने लगा। इसलिए वही नामिक अनुपात अंतोक्त मामले में आय कर की रक़म जितना अधिक हो गया। – फ़े० एं०

के बारे में अनिश्चितता थी, इसलिए व्यापक जमाख़ोरी शुरू हो गयी।" समिति के एक सदस्य कहते हैं: "४६६१। तो, पिछले १२ वर्षों के दौरान कारण चाहे कुछ भी रहा हो, परिणाम यहूदी और साहूकार के ही माफ़िक रहा है, न कि सामान्यतः उत्पादक वर्गों के।"

साहूकार संकट के दिनों का किस हद तक लाभ उठाते हैं, यह टूक प्रकट करते हैं: "वार्विकशायर और स्टैफ़र्डशायर के लोहे का सामान बनानेवाले ज़िलों में १८४७ में मालों के लिए बहुत से आदेशों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया गया था, क्योंकि कारख़ानेदार को अपने विपत्रों को भुनवाने के लिए जो ब्याज दर देनी पड़ती थी, वह उसके सारे लाभ से भी अधिक को आत्मसात कर लेती थी" (क्रमांक ५४५१)।

आइये, अब पहले उद्धृत एक और संसदीय रिपोर्ट – *Report of Select Committee on Bank Acts, communicated from the Commons to the Lords*, 1857 (जिसे आगे *B. C.*, 1857 कहा गया है) – को लें। उसमें बैंक ऑफ़ इंगलैंड के निदेशक और मुद्रा सिद्धांत के पैरोकारों में एक प्रमुख व्यक्ति, श्री नॉर्मन, से इस प्रकार पूछताछ की गयी है:

"३६३५। आपने कहा है कि आप यह मानते हैं कि ब्याज दर नोटों की मात्रा पर नहीं, बल्कि पूंजी की पूर्ति और मांग पर निर्भर करती है। क्या आप बतायेंगे कि आप 'पूंजी' में नोटों और सिक्कों के अलावा और क्या शामिल करते हैं? – मेरा विश्वास है कि 'पूंजी' की सामान्य परिभाषा उत्पादन में प्रयुक्त जिंसें अथवा सेवाएं हैं।" – "३६३६। जब आप ब्याज दर की बात करते हैं, तो क्या आप 'पूंजी' शब्द में सभी जिंसों को शामिल करते हैं? – उत्पादन में प्रयुक्त सभी जिंसें।" – "३६३७। जब आप इसकी बात करते हैं कि ब्याज दर को क्या नियमित करता है, तो आप 'पूंजी' शब्द में यह सब शामिल करते हैं? – हां। अगर यह मान लें कि किसी सूती कारख़ानेदार को अपने कारख़ाने के लिए रूई की ज़रूरत है, तो वह उसे पाने के लिए जिस तरह से चलेगा, वह संभवतः अपने बैंकर से ऋण पाना है, और इस प्रकार प्राप्त नोटों से वह लीवरपूल जाता है और ख़रीदारी कर लेता है। वह असल में जो चीज चाहता है, वह रूई है; वह नोट या सोना नहीं चाहता, सिवा रूई पाने के साधन के नाते। अथवा उसे अपने मजदूरों को भुगतान करने के साधनों की आवश्यकता हो सकती है; तब भी वह नोट उधार लेता है और नोटों से अपने मजदूरों की मजदूरी अदा कर देता है; और मजदूरों को भी खाने और आवास की ज़रूरत है, और द्रव्य इनके लिए भुगतान करने का साधन है।" – "३६३८। लेकिन ब्याज तो द्रव्य के लिए दिया जाता है? – मोटे तौर पर कहें तो दिया जाता है। लेकिन एक और उदाहरण लें। मान लें कि वह रूई बैंक के पास ऋण के लिए गये बिना उधार ख़रीदता है, तब नक़द दाम और उसे रूई के लिए जिस समय अदायगी करनी है, उस समय के उधार दाम के बीच अंतर ही ब्याज की माप होगी। ब्याज तो तब भी मौजूद रहेगा, चाहे द्रव्य हो ही नहीं।"

यह आत्मतोषी बकवास मुद्रा सिद्धांत के इस स्तंभ के सर्वथा उपयुक्त है। पहले तो यह अनूठी खोज कि बैंक नोट अथवा सोना कुछ ख़रीदने के साधन होते हैं और उन्हें स्वयं अपने लिए नहीं उधार लिया जाता। और इसे सामने रखा जाता है इसकी व्याख्या करने के लिए कि ब्याज दर नियमित की जाती है, लेकिन भला किसके द्वारा? जिंसों की मांग तथा पूर्ति द्वारा, जिनके बारे में हमें अभी तक यही मालूम था कि वे सिर्फ़ जिंसों के बाज़ार दामों का ही नियमन करती हैं। लेकिन यह संभव है कि जिंसों के एक ही बाजार दामों के साथ-साथ भी अत्यंत भिन्न-भिन्न ब्याज दरें हों। – लेकिन अब यह चालाकी। उनके सामने यह सही बात

रखी जाती है : "लेकिन ब्याज तो द्रव्य के लिए दिया जाता है," जिसमें, निस्संदेह, यह निहितार्थ है : "बैंकर द्वारा, जिसका जिंसों से कोई भी सरोकार नहीं होता, प्राप्त ब्याज का इन जिंसों के साथ क्या संबंध है? और क्या कारख़ानेदारों को द्रव्य उसी ब्याज दर पर नहीं प्राप्त होता है, चाहे वे उसे अत्यंत भिन्न-भिन्न बाज़ारों में, और इस प्रकार उत्पादन में प्रयुक्त जिंसों के लिए मांग तथा पूर्ति की अत्यंत भिन्न-भिन्न अवस्थाओं वाले बाज़ारों में निवेशित करते हैं?" इन प्रश्नों के उत्तर में यह विश्रुत मनीषी जो कुछ भी कह सकते हैं, वह बस यह कि अगर कारख़ानेदार रूई उधार ख़रीदता है, तो "नक़द दाम और उसे रूई के लिए जिस समय अदायगी करनी है, उस समय के उधार दाम के बीच अंतर ही ब्याज की माप होगी।" बात सर्वथा उलटी है। चालू ब्याज दर, महामनीषी नॉर्मन से जिसके नियमन की व्याख्या करने के लिए कहा गया था, वह नक़द दाम और भुगतान के देय होने तक उधार दाम में अंतर की माप है। पहले रूई अपने नक़द दाम पर बेची जानी है, और इसका निर्धारण बाज़ार दाम द्वारा किया जाता है, जो स्वयं पूर्ति तथा मांग की अवस्था से नियमित होता है। मान लीजिये कि दाम = १,००० पाउंड। जहां तक क्रय तथा विक्रय का संबंध है, इसके साथ कारख़ानेदार और आढ़तिये के बीच लेन-देन पूरा हो जाता है। अब दूसरा लेन-देन आता है। यह ऋण देनेवाले और लेनेवाले के बीच लेन-देन है। १,००० पाउंड का मूल्य कारख़ानेदार को रूई के रूप में उधार दे दिया जाता है, और उसे उसकी द्रव्य में, कहिये कि तीन महीने में, वापस अदायगी करनी है। और १,००० पाउंड के लिए तीन महीने का ब्याज, जो ब्याज की बाज़ार दर द्वारा निर्धारित होता है, नक़द दाम के अलावा अतिरिक्त प्रभार का द्योतक है। रूई का दाम पूर्ति तथा मांग द्वारा निर्धारित होता है। लेकिन रूई के अग्रिम दिये गये मूल्य का, तीन महीने के लिए अग्रसारित १,००० पाउंड का दाम ब्याज दर द्वारा निर्धारित होता है। और यह तथ्य – कि रूई इस प्रकार द्रव्य पूंजी में रूपांतरित हो जाती है – श्री नॉर्मन को यह सिद्ध करता है कि ब्याज तो तब भी मौजूद रहेगा, चाहे द्रव्य हो ही नहीं। अगर द्रव्य होता ही नहीं, तो सामान्य ब्याज दर निश्चय ही नहीं होती।

पहली बात तो यही है कि पूंजी की "उत्पादन में प्रयुक्त जिंसों" की तरह बाज़ारू संकल्पना की गयी है। जहां तक ये जिंसें पूंजी की तरह काम करती हैं, उनके **जिंसों** के नाते मूल्य से भिन्न उनका **पूंजी** के नाते मूल्य लाभ में व्यक्त होता है, जो उनके उत्पादक अथवा व्यापारिक नियोजन से प्राप्त होता है। और लाभ दर का सभी परिस्थितियों में ख़रीदी हुई जिंसों के बाज़ार दाम और उनकी मांग तथा पूर्ति से कोई संबंध अवश्य होता है, किंतु उसका निर्धारण सर्वथा भिन्न परिस्थितियों द्वारा किया जाता है। और इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्याज दर को सामान्यतः लाभ दर सीमित करती है। लेकिन श्री नॉर्मन हमें यह तो बतायें कि यह सीमा निर्धारित किस प्रकार होती है। और यह पूंजी के अन्य रूपों **से भिन्न** द्रव्य पूंजी की पूर्ति तथा मांग द्वारा निर्धारित की जाती है। आगे यह भी पूछा जा सकता है कि द्रव्य पूंजी की मांग तथा पूर्ति किस प्रकार निर्धारित की जाती हैं? निस्संदेह यह सच है कि भौतिक पूंजी की पूर्ति और द्रव्य पूंजी की पूर्ति के बीच एक निहित संबंध होता है, और इसी प्रकार औद्योगिक पूंजीपतियों की द्रव्य पूंजी के लिए मांग वास्तविक उत्पादन की अवस्थाओं द्वारा निर्धारित की जाती है। हमें इसका ज्ञान प्रदान करने के बजाय नॉर्मन हमें यह ज्ञानपूर्ण सम्मति देते हैं कि द्रव्य पूंजी के लिए मांग द्रव्य के नाते द्रव्य के लिए मांग से भिन्न है; और बस यही ज्ञान देते हैं, क्योंकि उन्हें, ओवरस्टोन तथा मुद्रा के अन्य प्रवक्ताओं को आत्मा निरंतर कचोटती रहती

है, क्योंकि वे विधान के कृत्रिम हस्तक्षेप द्वारा अपने में उत्पादन साधनों से पूंजी बनाने का और ब्याज दर को चढ़ाने का प्रयास कर रहे हैं।

अब लॉर्ड ओवरस्टोन, उर्फ़ सैम्युएल जोन्स लॉयड पर आते हैं, जब उनसे यह समझाने को कहा जा रहा है कि वह अपने "द्रव्य" के लिए १०% क्यों लेते हैं, अगर "पूंजी" उनके देश में इतनी दुर्लभ है।

"३६५३। ब्याज दर में उतार-चढ़ाव इन दो में से एक कारण से उत्पन्न होते हैं: पूंजी के मूल्य में हेर-फेर" (बहुत बढ़िया! पूंजी का मूल्य, सामान्य अर्थों में, ठीक ब्याज दर को ही द्योतित करता है! इस प्रकार ब्याज दर में परिवर्तन को ब्याज दर से ही उत्पन्न होता बना दिया गया है। जैसा कि हम अन्यत्र दिखला चुके हैं, "पूंजी के मूल्य" की सिद्धांत में कभी दूसरी तरह से कल्पना नहीं की जाती। अथवा, "पूंजी का मूल्य" पद से अगर लॉर्ड ओवरस्टोन का आशय लाभ दर से है, तो यह गहन चिंतक इसी धारणा पर लौट आते हैं कि ब्याज दर का नियमन लाभ दर द्वारा ही किया जाता है!) "या देश में द्रव्य की मात्रा में हेर-फेर। ब्याज के सभी बड़े उतार-चढ़ावों को, कालावधि में या विस्तार में बड़े उतार-चढ़ावों को मूल पूंजी के मूल्य में हेर-फेरों में स्पष्टतः चीन्हा जा सकता है। इस तथ्य की दो सबसे प्रभावशाली व्यावहारिक मिसालें हैं ब्याज दर में १८४७ में और पिछले दो वर्षों (१८५५-५६) के दौरान आया चढ़ाव; ब्याज दर में मामूली उतार-चढ़ाव, जो द्रव्य की मात्रा में हेर-फेर से पैदा होते हैं, विस्तार में भी और दीर्घता में भी छोटे होते हैं। वे प्रायिक होते हैं, और वे जितना ही ज़्यादा तीव्र तथा प्रायिक होते हैं, अपने विहित लक्ष्य की सिद्धि करने में उतना ही अधिक कारगर रहते हैं", यानी ओवरस्टोन जैसे बैंकरों को और धनी बनाते हैं। मित्र सैम्युएल गर्नी इसे लॉर्ड सभा की समिति, *C. D.*, 1848 [1857] के सामने बड़ी निष्कपटतापूर्वक प्रकट करते हैं: "१३२४। आपके विचार में ब्याज दर में पिछले साल जो बड़े उतार-चढ़ाव आये हैं, वे बैंकरों और द्रव्य का कारबार करनेवालों के लिए लाभकर हैं या नहीं हैं? – मेरे विचार में वे द्रव्य का कारबार करनेवालों के लिए लाभकर हैं। वाणिज्य में सभी उतार-चढ़ाव जानकार के लिए लाभकर होते हैं।" – "१३२५। क्या ऊंची ब्याज दरों से अपने सबसे अच्छे ग्राहकों को निर्धन करने के कारण बैंकर को अंततः नुक़सान नहीं उठाना पड़ सकता है? – नहीं, मैं नहीं समझता कि उससे स्पष्टतः यह परिणाम उत्पन्न होता है।" — Voilà ce que parler veut dire.*

हम उपलभ्य द्रव्य की मात्रा के ब्याज दर पर प्रभाव पर अंत में फिर आयेंगे। लेकिन इस बात को यहीं ध्यान में रख लेना चाहिए कि ओवरस्टोन फिर एक quid pro quo [अदल-बदल] करते हैं। द्रव्य के लिए मांग १८४७ में (अक्तूबर के पहले द्रव्याभाव के, अथवा जैसे वह कहते थे, "द्रव्य की मात्रा" के बारे में कोई दुश्चिंता नहीं थी) विभिन्न कारणों से बढ़ी थी, जैसे अनाज तथा कपास के दामों का चढ़ना, अत्युत्पादन के कारण शकर के क्रेताओं का अभाव, रेलों के शेयरों का सट्टा और उनमें सहसा गिरावट, विदेशी बाजारों का सूती मालों से पाटा जाना और विनिमय पत्रों के सट्टे के लिए भारत को जबरी निर्यात और वहां से जबरी आयात, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है। इन सभी बातों, उद्योग में अत्युत्पादन और कृषि में न्यूनोत्पादन – दूसरे शब्दों में, अत्यंत भिन्न-भिन्न कारणों – ने द्रव्य पूंजी के लिए, अर्थात उधार

---

*यही तो कहा जाना था। – सं०

तथा द्रव्य के लिए, वर्धित मांग उत्पन्न कर दी। द्रव्य पूंजी के लिए वर्धित मांग का मूल स्वयं उत्पादक प्रक्रिया के क्रम में ही था। लेकिन कारण चाहे कुछ भी रहा हो, ब्याज दर, द्रव्य पूंजी के मूल्य को चढ़ाया द्रव्य पूंजी की मांग ने ही। ग्रोवरस्टोन का ग्राशय ग्रगर यह कहना हो कि द्रव्य पूंजी का मूल्य चढ़ा, **क्योंकि** वह चढ़ा, तो यह पिष्ट-पेषण ही है। लेकिन ग्रगर "पूंजी के मूल्य" से उनका ग्राशय यह हो कि लाभ दर में चढ़ाव ब्याज दर में चढ़ाव का कारण है, तो हम फ़ौरन देख लेंगे कि वह ग़लत हैं। द्रव्य पूंजी के लिए मांग, ग्रौर फलतः "पूंजी का मूल्य" तब भी चढ़ सकते हैं कि लाभ चाहे घटता ही हो; द्रव्य पूंजी की ग्रापेक्षिक पूर्ति जैसे ही संकुचित होती है कि उसका "मूल्य" बढ़ जाता है। ग्रोवरस्टोन जो साबित करना चाहते हैं, वह यह है कि १८४७ के संकट ग्रौर उसकी सहवर्ती ऊंची ब्याज दर का "द्रव्य की मात्रा" से, ग्रर्थात १८४४ के बैंक ग्रधिनियम, जिसे उन्होंने प्रेरित किया था, के विनियमों से कोई संबंध नहीं था; यद्यपि वास्तव में वह उनसे संबद्ध था, क्योंकि बैंक रिजर्व – ग्रोवरस्टोन की एक ईजाद – के ख़ाली हो जाने के डर ने १८४७-४८ के संकट में मुद्रा संत्रास का योगदान किया था। लेकिन यहां प्रश्न यह नहीं है। उपलब्ध साधनों की तुलना में कारबार के ग्रतिशय परिमाण के कारण ग्रौर फ़सल के मारे जाने, रेलों में ग्रधिनिवेश, ग्रत्युत्पादन – विशेषकर सूती मालों के, भारत ग्रौर चीन के साथ व्यापार में ठगी के कारबार, सट्टे, शकर के ग्रतिशय ग्रायात, ग्रादि से पुनरुत्पादन प्रक्रिया में गड़बड़ के कारण द्रव्य पूंजी का ग्रभाव हो गया था। १२० शिलिंग प्रति क्वार्टर के भाव ग्रनाज ख़रीदनेवालों के पास उसका भाव गिरकर ६० शिलिंग हो जाने पर ग्रब इन ६० शिलिंग का ही, जिनका उन्होंने ग्रधिक भुगतान किया था ग्रौर इस रक़म के लिए ग्रनाज पर लंबार्ड स्ट्रीट की पेशगियों में ग्रनुरूप उधार का ही ग्रभाव था। यह किसी भी प्रकार बैंक नोटों का ग्रभाव नहीं था कि जिसने उन्हें ग्रपने ग्रनाज को उसके १२० शिलिंग के पुराने दाम पर द्रव्य में परिवर्तित नहीं करने दिया। यही बात उन लोगों पर भी लागू होती थी, जिन्होंने ग्रधिक शकर का ग्रायात कर लिया था, जो लगभग ग्रविक्रेय हो गयी। इसी प्रकार यह उन सज्जनों पर भी लागू होती थी, जिन्होंने ग्रपनी ग्रस्थायी पूंजी को रेलों में जकड़ दिया था ग्रौर जो उसकी ग्रपने "वैध" व्यवसाय में प्रतिस्थापना करने के लिए उधार का सहारा लेते थे। ग्रोवरस्टोन के लिए यह सब "उसके द्रव्य के बढ़े हुए मूल्य के नैतिक बोध" का द्योतक है। लेकिन द्रव्य पूंजी का यह वर्धित मूल्य दूसरी ग्रोर प्रत्यक्षतः वास्तविक पूंजी (पण्य पूंजी तथा उत्पादक पूंजी) के ह्रासित द्रव्य मूल्य के ग्रनुरूप था। एक रूप में पूंजी का मूल्य इसी लिए बढ़ा कि दूसरे रूप में पूंजी का मूल्य गिरा था। लेकिन ग्रोवरस्टोन पूंजी के भिन्न प्रकारों के दो मूल्यों का सामान्यतः पूंजी के एकल मूल्य में एकात्मीकरण करना चाहते हैं ग्रौर वह ऐसा उन दोनों को संचलन माध्यम की, उपलभ्य द्रव्य की दुर्लभता के विरोध में रखकर करने का प्रयास करते हैं। लेकिन द्रव्य पूंजी की उतनी ही मात्रा संचलन माध्यम की बहुत भिन्न मात्राग्रों से उधार दी जा सकती है।

१८४७ का उनका उदाहरण ही ले लीजिये। ग्रधिकृत बैंक दर जनवरी में ३% से ३ १/२%; फ़रवरी में ४% से ४ १/२% थी। मार्च में वह ग्राम तौर पर ४% थी। ग्रप्रैल (संत्रास) में ४% से ७ १/२%। मई में ५% से ५ १/२%, जून में, कुल मिलाकर, ५%। जुलाई में ५%। ग्रगस्त में ५% से ५ १/२%। सितंबर में ५ १/४%, ५ १/२%, ६% के मामूली हेर-फेर के साथ ५%। ग्रक्तूबर में ५%, ५ १/२%, ७%। नवंबर में ७% से १०%। दिसंबर में ७% से ५%। – इस प्रसंग में ब्याज इसलिए चढ़ा था कि लाभ घट गये थे ग्रौर

जिंसों के द्रव्य मूल्यों में जबरदस्त गिरावट आयी थी। इसलिए, अगर ओवरस्टोन यहां यह कहते हैं कि १८४७ में ब्याज दर इसलिए बढ़ी थी कि पूंजी का मूल्य बढ़ा था, तो उनका पूंजी के मूल्य से आशय द्रव्य पूंजी के मूल्य के अलावा और कुछ नहीं हो सकता, और द्रव्य पूंजी का मूल्य ब्याज दर ही है और कुछ नहीं। लेकिन बाद में उन्होंने अपनी असलियत दिखला दी और पूंजी के मूल्य का लाभ दर से एकात्मीकरण कर दिया।

जहां तक १८५६ में दी जानेवाली ऊंची ब्याज दर की बात है, ओवरस्टोन को सचमुच इसका ज्ञान नहीं था कि यह अंशतः इस बात का लक्षण था कि ऋण-आढ़तिये (क्रेडिट जॉबर) सामने आने लगे थे, जो ब्याज अपने लाभ से नहीं, वरन दूसरों की पूंजी से देते थे; १८५७ के संकट के कुछ ही महीने पहले भी वह इसी बात पर अड़े हुए थे कि "व्यवसाय की हालत एकदम चंगी है।"

इसके अलावा उन्होंने कहा था: [*B. C.*, 1857] "३७२२। ब्याज दर में चढ़ाव से व्यापार के लाभों के नष्ट होने का विचार अत्यधिक भ्रांत है। पहली बात तो यह कि ब्याज दर में चढ़ाव कदाचित ही कोई बहुत लंबी अवधि का होता है; दूसरी बात यह कि अगर वह लंबी अवधि और बड़े विस्तार का है, तो वह वास्तव में पूंजी के मूल्य में चढ़ाव ही है, और पूंजी का मूल्य क्यों चढ़ता है? इसलिए कि लाभ दर बढ़ जाती है।"–तो, आख़िर यहां आकर हमें यह पता चलता है कि "पूंजी के मूल्य" का मतलब है क्या। इसके अलावा लाभ दर लंबी अवधि तक ऊंची बनी रह सकती है, मगर इतने पर भी उद्यम का लाभ गिर सकता है और ब्याज दर चढ़कर ऐसे बिंदु पर पहुंच सकती है कि जहां वह लाभ के अधिकांश को निगल जाती है।

"३७२४। ब्याज दर में चढ़ाव देश के व्यापार में भारी वृद्धि और लाभों की दर में भारी चढ़ाव के परिणामस्वरूप हुआ है; और ब्याज दर के बारे में उन दो चीज़ों का विनाशक होने की शिकायत करना, जो स्वयं उसे उत्पन्न करने का कारण रही हैं, एक ऐसी तार्किक विसंगति है कि जिसके साथ क्या किया जाये, यह समझ में नहीं आता।"–यह इतना ही तर्कसंगत है कि मानो उन्होंने यह कहा होता: लाभ दर में चढ़ाव सट्टे द्वारा जिंस दामों में चढ़ाव के परिणामस्वरूप हुआ है, और यह शिकायत करना कि दामों में चढ़ाव स्वयं अपने कारण, अर्थात सट्टे को नष्ट करता है, एक तार्किक विसंगति है, आदि-आदि। यह बात कि कोई भी चीज़ अंततोगत्वा स्वयं अपने कारण को नष्ट कर सकती है, केवल ऊंची ब्याज दर में अनुरक्त कुसीदजीवी के लिए ही तार्किक असंगति है। रोमनों की महानता उनकी विजयों का कारण थी, और उनकी विजयों ने उनकी महानता को नष्ट कर दिया। संपत्ति विलासिता का कारण है और विलासिता संपत्ति पर विनाशक प्रभाव डालती है। वाह रे लाल बुझक्कड़! इस करोड़पति–घूरे के रईस–के "तर्क" ने सारे इंगलैंड में जो सम्मान प्राप्त किया है, आधुनिक बूर्जुआ विश्व की मूढ़ता को उससे बेहतर तरीके से नहीं दिखलाया जा सकता। इसके अलावा, अगर ऊंची लाभ दर और व्यापार का प्रसार ऊंची ब्याज दर के कारण हों, तो ऊंची ब्याज दर किसी भी प्रकार ऊंचे लाभ का कारण नहीं हो सकती। प्रश्न यथार्थतः यही है कि क्या ऐसी ऊंची ब्याज दर (जैसी संकट के समय वस्तुतः देखी गयी थी) ऊंची लाभ दर के सभी नाशवान वस्तुओं की तरह कभी का ख़त्म हो जाने के बाद भी बनी रही अथवा, जो और भी महत्वपूर्ण है, अपने चरम पर पहुंची।

"३७१८। जहां तक बट्टा दर में काफ़ी चढ़ाव आने का संबंध है, यह पूर्णतः पूंजी के

वर्धित मूल्य से ही उत्पन्न होता है, और मेरा ख़याल है कि पूंजी के इस वर्धित मूल्य के कारण का कोई भी व्यक्ति पूरी स्पष्टता के साथ पता चला सकता है। मैं इस तथ्य की ओर पहले ही इंगित कर चुका हूं कि इस अधिनियम के प्रचलन में रहने के १३ वर्षों के दौरान इस देश का व्यापार ४,५०,००,००० पाउंड से बढ़कर १२,००,००,००० पाउंड का हो गया है। इस छोटे से कथन में जो सभी घटनाएं सन्निहित हैं, कोई भी व्यक्ति उन पर ज़रा विचार करे; वह व्यापार की इतनी विराट वृद्धि को जारी रखने के उद्देश्य से पूंजी पर आनेवाली ज़बरदस्त मांग को ध्यान में लाये, और साथ ही वह इस बात को भी ध्यान में रखे कि इस भारी मांग की जिस नैसर्गिक स्रोत से पूर्ति की जानी चाहिए, अर्थात इस देश की वार्षिक बचतें, वह पिछले तीन-चार वर्ष से युद्ध के अलाभकर व्यय में ख़त्म होता रहा है। मैं स्वीकार करता हूं कि मुझे आश्चर्य है कि ब्याज दर जितनी अब है, उससे अधिक ऊंची क्यों नहीं है; अथवा, दूसरे शब्दों में, मुझे आश्चर्य है कि इन विराट कार्यों को जारी रखने के लिए पूंजी के लिए मांग जितना आपने उसे पाया है, उससे कहीं अधिक ज़बरदस्त क्यों नहीं है।"

कुसीद के हमारे तर्कशास्त्री कैसा अदभुत शब्द जंजाल खड़ा करते हैं! यहां वह अपने पूंजी के वर्धित मूल्य को लेकर फिर आ जाते हैं! वह ऐसा समझते प्रतीत होते हैं कि एक ओर तो पुनरुत्पादन प्रक्रिया का एक विराट विस्तार, अतः वास्तविक पूंजी का संचय हुआ, और दूसरी ओर, एक "पूंजी" विद्यमान थी, जिसके लिए "ज़बरदस्त मांग" पैदा हो गयी, ताकि वाणिज्य की इस विराट वृद्धि की सिद्धि की जा सके! क्या उत्पादन की यह ज़बरदस्त वृद्धि स्वयं पूंजी की वृद्धि नहीं थी, और अगर उसने मांग पैदा की, तो क्या उसने पूर्ति भी, और साथ ही द्रव्य पूंजी की वर्धित पूर्ति भी नहीं पैदा की? अगर ब्याज दर बहुत ऊंची हो गयी, तो महज़ इसलिए कि द्रव्य पूंजी के लिए मांग उसकी पूर्ति की अपेक्षा कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ी, जिसका आशय, दूसरे शब्दों में, यह है कि औद्योगिक उत्पादन के प्रसार के साथ उधार के आधार पर उसके संचालन का भी प्रसार हुआ। कहने का मतलब यह कि वास्तविक औद्योगिक प्रसार ने "निभाव" के लिए वर्धित मांग पैदा कर दी, और प्रत्यक्षतः हमारे बैंकर का "पूंजी के लिए ज़बरदस्त मांग" से आशय इस अंतोक्त मांग से ही है। निस्संदेह, यह केवल पूंजी के लिए इस मांग का प्रसार ही नहीं था कि जिसने निर्यात व्यवसाय को ४५० लाख पाउंड से बढ़ाकर १,२०० लाख पाउंड पर पहुंचा दिया। और इसके अलावा यह कहने में ओवरस्टोन का क्या आशय है कि क्रीमियाई युद्ध द्वारा हड़प ली जानेवाली देश की वार्षिक बचतें इस भारी मांग की पूर्ति का नैसर्गिक स्रोत हैं? पहली बात तो यह कि इंगलैंड १७९२ – १८१५ में, जो छोटे से क्रीमियाई युद्ध से अत्यधिक भिन्न प्रकार का युद्ध था, क्योंकर संचय कर पाया? दूसरी बात यह कि अगर नैसर्गिक स्रोत सूख गया था, तो पूंजी भला आयी किस स्रोत से? सुविदित है कि इंगलैंड ने विदेशों से ऋणों का अनुरोध नहीं किया था। फिर भी अगर नैसर्गिक स्रोत के अलावा कोई कृत्रिम स्रोत भी होता, तो किसी राष्ट्र के लिए नैसर्गिक स्रोत का युद्ध में और कृत्रिम स्रोत का व्यवसाय में उपयोग करना ही सबसे अच्छा रहता। लेकिन अगर सिर्फ़ पुरानी द्रव्य पूंजी ही उपलभ्य होती, तो क्या वह ऊंची ब्याज दर के ज़रिये अपनी प्रभाविता को द्विगुणित कर सकती थी? श्री ओवरस्टोन प्रत्यक्षतः यही सोचते हैं कि देश की वार्षिक बचतें (लेकिन जिन्हें इस मामले में समाप्त हो गया समझा जाता है) केवल द्रव्य पूंजी में ही परिवर्तित होती हैं। लेकिन अगर कोई वास्तविक संचय, अर्थात उत्पादन का प्रसार तथा उत्पादन

साधनों का आवर्धन, न हुआ होता, तो इस उत्पादन पर देनदार के द्रव्य संबंधी दावों के संचय से क्या लाभ होता?

उच्च लाभ दर से उत्पन्न "पूंजी के मूल्य" में वृद्धि का ओवरस्टोन द्रव्य पूंजी के लिए अधिक मांग से जनित वृद्धि के साथ एकात्मीकरण करते हैं। यह मांग लाभ दर से सर्वथा निरपेक्ष कारणों से भी चढ़ सकती है। वह स्वयं वास्तविक पूंजी के मूल्यह्रास के परिणामस्वरूप १८४७ में उसके चढ़ाव का उदाहरण देते हैं। उनके प्रयोजन के लिए जो उपयुक्त हो, उसके अनुसार वह पूंजी के मूल्य को वास्तविक पूंजी अथवा द्रव्य पूंजी को प्रदान कर देते हैं।

हमारे बैंकपति की बेईमानी और अपने औपदेशिक पुट से युक्त उनके संकीर्णमना बैंकर दृष्टिकोण इसमें और खुलकर सामने आते हैं: (३७२८। प्रश्न:) "आपने कहा है कि आपके विचार में व्यापारी के लिए बट्टा दर का कोई तात्विक महत्व नहीं है। क्या आप कृपया यह बतलायेंगे कि आपकी राय में सामान्य लाभ दर क्या है?" – श्री ओवरस्टोन कह देते हैं कि इस प्रश्न का उत्तर देना "असंभव" है। – "३७२९। अगर औसत लाभ दर को, मसलन, ७% से १०% मान लिया जाये, तो बट्टा दर में २% से ७% या ८% के विचरण का लाभ दर पर तात्विक प्रभाव पड़ना चाहिए, है न?" (यह प्रश्न स्वयं उद्यम की लाभ दर को लाभ दर से मिला देता है और इस तथ्य को नज़रअंदाज़ कर देता है कि लाभ दर ब्याज और उद्यम के लाभ का सामान्य स्रोत है। ब्याज दर लाभ दर को अछूता छोड़ सकती है, मगर उद्यम के लाभ को नहीं। ओवरस्टोन ने उत्तर दिया:) "पहली बात तो यही है कि संबद्ध पक्ष ऐसी बट्टा दर नहीं अदा करेंगे कि जो उनके लाभों में गंभीर बाधा डालती हो; ऐसा करने के बजाय वे अपने व्यवसाय को बंद कर देंगे।" (बेशक, अगर वे अपना सत्यानाश किये बिना ऐसा कर सकें, तो। जब तक उनका लाभ ऊंचा रहता है, वे बट्टा इसलिए देते हैं कि देना चाहते हैं, और जब वह नीचा होता है, तो इसलिए देते हैं कि उन्हें देना पड़ता है।) "बट्टे का अर्थ क्या है? कोई भला विपत्र को बट्टे पर क्यों भुनवाता है? ... क्योंकि वह पूंजी की अधिक मात्रा का नियंत्रण प्राप्त करना चाहता है।" (Halte-la! [ठहरिये ज़रा!] क्योंकि वह अपनी बंधी हुई पूंजी की वापसी को प्रत्याशित करना और अपने व्यवसाय के बंद होने को रोकना चाहता है; क्योंकि उसे अपनी देय अदायगियों को पूरा करना है। वह अधिक पूंजी की सिर्फ़ तभी मांग करता है, जब व्यवसाय अच्छा होता है, अथवा जब वह दूसरे की पूंजी पर सट्टा करता है, चाहे व्यवसाय ख़राब हालत में ही हो। बट्टा किसी भी प्रकार महज़ व्यवसाय का प्रसार करने का ही साधन नहीं है।) "और वह पूंजी की अधिक मात्रा का नियंत्रण क्यों प्राप्त करना चाहता है? क्योंकि वह उस पूंजी को नियोजित करना चाहता है; और वह उस पूंजी को क्यों नियोजित करना चाहता है? क्योंकि ऐसा करना उसके लिए लाभदायक है; अगर बट्टा उसके लाभ को नष्ट कर देता है, तो ऐसा करना उसके लिए लाभदायक न होगा।"

यह दंभी तर्कशास्त्री मानते हैं कि विनिमय पत्र सिर्फ़ व्यवसाय के प्रसार के उद्देश्य से ही बट्टे पर भुनवाये जाते हैं, और व्यवसाय का इसलिए प्रसार किया जाता है कि ऐसा करना लाभकर होता है। पहली मान्यता ग़लत है। साधारण व्यवसायी अपनी पूंजी के द्रव्य रूप को प्रत्याशित करने और इस प्रकार अपनी पुनरुत्पादन प्रक्रिया को प्रवहमान रखने के लिए बट्टा देता है; अपने व्यवसाय का प्रसार करने या अतिरिक्त पूंजी प्राप्त करने के लिए नहीं, बल्कि जो उधार वह देता है, उसका जो उधार वह पाता है, उससे संतुलन करने के लिए। और अगर वह अपने व्यवसाय का प्रसार उधार पर करना चाहता है, तो विपत्रों को बट्टे पर

भुनाना उसके लिए अधिक लाभकर न होगा, क्योंकि वह उस द्रव्य पूंजी का, जो उसके हाथों में पहले ही है, एक रूप से दूसरे में परिवर्तन मात्र है; इसके बजाय वह लंबी अवधि के लिए सीधा क़र्ज़ ही ले लेगा। उधारचोर अपनी व्यावसायिक गतिविधियों का प्रसार करने के लिए, एक कुत्सित व्यावसायिक सौदे को दूसरे से छिपाने के लिए अपने निभाव पत्रों को भुनवायेगा; लाभ बनाने के लिए नहीं, बल्कि दूसरे की पूंजी पर क़ब्ज़ा पाने के लिए।

श्री ओवरस्टोन इस प्रकार बट्टे पर भुनाई का अतिरिक्त पूंजी के उधार लेने के साथ (पूंजी को प्रकट करनेवाले विपत्रों के नक़द द्रव्य में परिवर्तित किये जाने के साथ के बजाय) एकात्मीकरण करते ही हैं कि कसाई शुरू किये जाने के साथ वह तुरंत कन्नी काटने लगते हैं। – (३७३०। प्रश्न:) "चूंकि व्यापारी व्यवसाय में लगे होते हैं, इसलिए क्या उन्हें बट्टा दर में कैसी भी अस्थायी वृद्धि के बावजूद अपने कारबार को एक विशेष अवधि तक नहीं चलाते रहना पड़ता है?" – (ओवरस्टोन:) "इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी भी विशेष लेन-देन में अगर कोई व्यक्ति पूंजी पर अपना नियंत्रण ऊंची ब्याज दर के बजाय नीची ब्याज दर पर पा सकता है, तो मामले को इस सीमित दृष्टि से देखते हुए यह उसके लिए सुविधाजनक रहता है।" – लेकिन, दूसरी ओर, यह एक बहुत ही असीमित दृष्टिकोण है, जो श्री ओवरस्टोन को यकायक सिर्फ़ अपनी, बैंकर की पूंजी को ही "पूंजी" जैसा समझने और यह मानने में समर्थ बना देता है कि जो आदमी उनसे बट्टे पर विनिमय पत्र चुकता करवाता है, वह बिन पूंजी आदमी है, सिर्फ़ इसलिए कि उसकी पूंजी जिंसों के रूप में विद्यमान है, या इसलिए कि उसकी पूंजी का द्रव्य रूप विनिमय पत्र है, जिसे श्री ओवरस्टोन एक और द्रव्य रूप में परिवर्तित कर लेते हैं।

"३७३२। १८४४ के अधिनियम के संदर्भ में क्या आप बता सकते हैं कि बैंक में बुलियन की मात्रा के अनुपात में औसत ब्याज दर क्या रही है; क्या यह कहना सत्य होगा कि जब बुलियन की मात्रा लगभग ९० लाख या १०० लाख पाउंड रही है, तब ब्याज दर ६ या ७ प्रतिशत रही है, और जब वह १६० लाख पाउंड रही है, तब ब्याज दर, मसलन, ३ से ४ प्रतिशत रही है?" (जांचकर्ता उन्हें इसके लिए बाध्य करना चाहता है कि वह ब्याज दर का, जहां तक कि वह बैंक में बुलियन की मात्रा द्वारा प्रभावित होती है, ब्याज दर के, जहां तक कि वह पूंजी के मूल्य द्वारा प्रभावित होती है, आधार पर स्पष्टीकरण करें।) – "मैं नहीं समझता कि ऐसा है... लेकिन अगर ऐसा ही है, तो मेरा ख़याल है कि हमें १८४४ के अधिनियम द्वारा अपनाये गये उपायों से भी अधिक कठोर उपाय अपनाने चाहिए, क्योंकि अगर यह सही हो कि जितना ही बुलियन का भंडार अधिक होगा, उतना ही ब्याज दर कम होगी, तो हमें, मामले के इस दृष्टिकोण के अनुसार, बुलियन के भंडार को असीमित मात्रा तक बढ़ाने का काम करना शुरू कर देना चाहिए, और तब हम ब्याज को शून्य पर ले आयेंगे।" – जांचकर्ता, कैली, इस फीके मज़ाक़ से विचलित हुए बिना आगे प्रश्न करते हैं: "३७३३। अगर ऐसा ही हो, तो अगर यह मान लिया जाये कि ५० लाख पाउंड का बुलियन बैंक को वापस कर दिया जाता है, तो अगले छः महीने में बुलियन की मात्रा, मसलन, १६० लाख पाउंड की हो जायेगी, और अगर यह मान लिया जाये कि ब्याज दर इस प्रकार गिरकर ३ या ४ प्रतिशत हो जायेगी, तो यह कैसे कहा जा सकेगा कि ब्याज दर में गिरावट देश के व्यापार में भारी कमी के कारण आयी थी? – मैंने कहा था कि ब्याज दर में हाल का चढ़ाव, न कि ब्याज दर में गिरावट, देश के व्यापार में भारी वृद्धि के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ

था।" – लेकिन कैली जो कह रहे हैं, वह यह है : अगर स्वर्ण रिज़र्व के संकुचन के साथ ब्याज दर में चढ़ाव व्यवसाय में प्रसार का संकेत है, तो स्वर्ण रिज़र्व के प्रसार के साथ ब्याज दर में गिरावट को व्यवसाय के संकुचन का सूचक होना चाहिए। ओवरस्टोन के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। – (३७३६। प्रश्न :) "मैंने आपको" (रिपोर्ट के मूलपाठ में सदा Your Lordship है) "यह कहते सुना है कि द्रव्य पूंजी को प्राप्त करने का साधन है।" (वस्तुतः ग़लती यही है – द्रव्य को साधन मानना; वह पूंजी का एक रूप है।) (बैंक ऑफ़ इंगलैंड के) "बुलियन के अपवाह के अंतर्गत क्या, इसके विपरीत, **पूंजीपतियों** के लिए द्रव्य को प्राप्त करना ही मुख्य कठिनाई नहीं है?" – (ओवरस्टोन :) "नहीं, द्रव्य को जो प्राप्त करना चाहते हैं, वे पूंजीपति नहीं, बल्कि वे लोग हैं कि जो पूंजीपति नहीं हैं। वे द्रव्य क्यों प्राप्त करना चाहते हैं? इसलिए कि द्रव्य के ज़रिये वे उन व्यक्तियों के व्यवसाय को चलाने के लिए, जो पूंजीपति नहीं हैं, पूंजीपतियों की पूंजी पर नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं।" – यहां वह खुले-खुले ऐलान कर देते हैं कि कारखानेदार और व्यापारी पूंजीपति नहीं हैं और पूंजीपति की पूंजी केवल द्रव्य पूंजी ही होती है। – "३७३७। क्या जो पक्ष विनिमय पत्र बनाते हैं, वे पूंजीपति नहीं होते? – जो पक्ष विनिमय पत्र बनाते हैं, वे पूंजीपति हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं।" – यहां वह फंस जाते हैं।

तब उनसे यह पूछा जाता है कि क्या व्यापारी के विनिमय पत्र उन जिंसों को प्रकट करते हैं, जो बेची जा चुकी हैं या रवाना की जा चुकी हैं। वह इससे इन्कार करते हैं कि ये विपत्र उसी प्रकार जिंसों के मूल्य को प्रकट करते हैं कि जिस प्रकार बैंक नोट सोने को प्रकट करते हैं। (३७४०, ३७४१।) यह कथन कुछ धृष्टतापूर्ण है।

"३७४२। क्या व्यापारी का उद्देश्य द्रव्य प्राप्त करना नहीं है? – नहीं, विपत्र बनाने में उद्देश्य द्रव्य प्राप्त करना नहीं होता; द्रव्य प्राप्त करना विपत्र को भुनाने में उद्देश्य होता है।" विनिमय पत्र बनाना जिंसों को साख द्रव्य के एक रूप में परिवर्तित करना है, जैसे विनिमय पत्रों को बट्टे पर भुनवाना इस साख द्रव्य को एक अन्य द्रव्य, अर्थात बैंक नोटों में परिवर्तित करना है। कुछ भी हो, श्री ओवरस्टोन यहां स्वीकार करते हैं कि भुनवाने का उद्देश्य द्रव्य प्राप्त करना है। कुछ ही पहले उन्होंने कहा था कि भुनवाना पूंजी को एक रूप से दूसरे में परिवर्तित करने का एक ढंग नहीं है, बल्कि अतिरिक्त पूंजी प्राप्त करने का ढंग है।

"३७४३। संत्रास के दबाव में, जैसे आपके कथनानुसार १८२५, १८३७ और १८३९ में आये थे, व्यापारी समुदाय की मुख्य आकांक्षा क्या होती है; उनका लक्ष्य पूंजी का स्वामित्व पाना होता है या वैध मुद्रा का? – उनका लक्ष्य अपने व्यवसाय को सहारा देने के लिए पूंजी का नियंत्रण प्राप्त करना होता है।" – उनका उद्देश्य ऋण के विद्यमान अभाव के कारण अपने पर देय विनिमय पत्रों की अदायगी के लिए साधन प्राप्त करना होता है, जिससे उन्हें अपनी जिंसों को दाम के नीचे न जाने देना पड़े। अगर स्वयं उनके पास बिलकुल भी पूंजी नहीं होती, तो वे उसे भुगतान साधनों के साथ प्राप्त करते हैं, क्योंकि वे मूल्य को समतुल्य के बिना प्राप्त करते हैं। द्रव्य के नाते द्रव्य प्राप्त करने की लालसा सदा मूल्य को जिंसों अथवा लेनदार के दावों के रूप से द्रव्य के रूप में परिवर्तित करने की इच्छा में ही सन्निहित रहती है। संकट को यदि अलग भी छोड़ दिया जाये, तो भी यही पूंजी के उधार लेने और बट्टे में भारी अंतर का कारण है, क्योंकि अंतोक्त मुद्रा दावों का एक रूप से दूसरे रूप में, अथवा वास्तविक द्रव्य में परिवर्तन मात्र है।

[इस स्थल पर मैं संपादक के नाते कुछ बातें जोड़ने की छूट लेता हूं।

नॉर्मन के और लॉयड-ओवरस्टोन के भी संदर्भ में, बैंकर हमेशा वह होता है, जो दूसरों को "पूंजी अग्रसारित करता" है और उसके ग्राहक वे होते हैं, जो उससे "पूंजी" की मांग करते हैं। मिसाल के लिए, ओवरस्टोन कहते हैं कि लोग उनके जरिये विनिमय पत्रों को चुकता करवाते हैं, "क्योंकि वे **पूंजी** का नियंत्रण प्राप्त करना चाहते हैं" (३७२६), और ऐसे लोगों के लिए यह सुखद है कि वे "नीची ब्याज दर पर **पूंजी का नियंत्रण** प्राप्त कर सकें" (३७३०)। "द्रव्य **पूंजी** को प्राप्त करने का साधन है" (३७३६), और संत्रास के समय व्यापारी समुदाय की मुख्य आकांक्षा "**पूंजी** का नियंत्रण प्राप्त करना है" (३७४३)। लॉयड-ओवरस्टोन को पूंजी क्या है, इसके बारे में चाहे जो भी भ्रांति हो, कम से कम यह स्पष्ट है कि बैंकर अपने ग्राहक को जो देता है, उसे वह पूंजी की संज्ञा देते हैं, ऐसी पूंजी को, जो ग्राहक के पास पहले थी नहीं, मगर जो उसे उसके पास जो पहले से था, उसकी अनुपूर्ति करने के लिए अग्रसारित की गयी है।

बैंकर द्रव्य रूप में उपलब्ध सामाजिक पूंजी के वितरक (क़र्ज़ों के जरिये) का काम करने का इतना अभ्यस्त हो गया है कि वह ऐसे हर कार्य को, जिसके द्वारा वह द्रव्य वितरित करता है, ऋण देना समझता है। उसके द्वारा दिया जानेवाला सारा द्रव्य उसे क़र्ज जैसा लगता है। अगर द्रव्य प्रत्यक्षतः उधार दिया जाता है, तो यह शब्दशः सही है। अगर उसे विपत्र भुनाने के व्यवसाय में निवेशित किया जाता है, तो वास्तव में वह विपत्र के देय होने तक उसी के द्वारा अग्रसारित किया जाता है। इस प्रकार उसकी यह धारणा बन जाती है कि उसके द्वारा की जानेवाली सभी अदायगियां पेशगियां होती हैं; इसके अलावा यह कि वे सिर्फ़ इसी अर्थ में पेशगियां नहीं होती हैं कि ब्याज अथवा लाभ प्राप्त करने के लक्ष्य से द्रव्य के प्रत्येक निवेशन को अर्थशास्त्रीय दृष्टि से द्रव्य का ऐसा अग्रसारण माना जाता है कि जो संबद्ध द्रव्य का स्वामी अपनी अलग व्यक्ति की हैसियत से अपने को उद्यमकर्ता की हैसियत में करता है, बल्कि इस निश्चित अर्थ में पेशगियां कि बैंकर अपने ग्राहक को एक द्रव्य राशि उधार देता है, जो अंतोक्त को पहले से प्राप्य पूंजी का आवर्धन करती है।

वास्तव में यही वह अवधारणा है कि जिसने बैंकर के कार्यालय से राजनीतिक अर्थशास्त्र में अंतरित होकर यह भ्रांतिकर विवाद उत्पन्न किया है कि बैंकर अपने ग्राहक को नक़दी में जो सौंपता है, वह पूंजी है या मात्र द्रव्य, एक संचलन माध्यम, अथवा मुद्रा। इस – मूलतः सरल – विवाद का निर्णय करने के लिए हमें अपने आपको बैंक के ग्राहक की स्थिति में रखना होगा। यह सब इस पर निर्भर करता है कि यह ग्राहक किस चीज का अनुरोध करता है और क्या पाता है।

अगर बैंक अपने ग्राहक को उसकी तरफ़ से किसी प्रतिभूति के बिना महज उसकी निजी साख पर ऋण की अनुमति दे देता है, तब मामला साफ़ है। तब वह निश्चय ही उसने पहले से जो पूंजी निवेशित कर रखी है, उसके अनुपूरक के रूप में एक निश्चित मूल्य की पेशगी प्राप्त करता है। वह उसे द्रव्य के रूप में प्राप्त करता है, अतः वह न केवल द्रव्य, वरन द्रव्य **पूंजी** भी प्राप्त करता है।

इसके विपरीत, अगर उसे पेशगी प्रतिभूतियों, आदि पर मिलती है, तो यह उसे इस शर्त पर दिये गये द्रव्य के अर्थ में उधार है कि वह उसे वापस लौटाये। लेकिन यह पूंजी का अग्रसारण नहीं है। कारण कि प्रतिभूतियां पूंजी को, और इसके अलावा, पेशगी से बड़ी रक़म

को प्रकट करती हैं। अतः प्रापक जितना ज़मानत के रूप में जमा करता है, उससे कम पूंजी मूल्य प्राप्त करता है ; उसके लिए यह किसी अतिरिक्त पूंजी की प्राप्ति का परिचायक नहीं है। वह लेन-देन में इसलिए नहीं आता कि उसे पूंजी की दरकार है – वह अपनी प्रतिभूतियों में उसके पास मौजूद है – बल्कि इसलिए कि उसे द्रव्य की आवश्यकता है। इसलिए यह **द्रव्य** के अग्रसारण का उदाहरण है, न कि पूंजी के।

अगर ऋण विपत्रों को भुनाकर दिया जाता है, तो पेशगी का **रूप** तक ख़त्म हो जाता है। तब यह शुद्धतः क्रय-विक्रय का मामला हो जाता है। विपत्र पृष्ठांकन द्वारा बैंक के क़ब्ज़े में चला जाता है, जबकि द्रव्य ग्राहक के। उसकी ओर से किसी वापसी अदायगी का सवाल नहीं होता है। अगर ग्राहक किसी विनिमय पत्र अथवा ऐसे ही किसी अन्य उधार प्रपत्र से नक़दी ख़रीदता है, तो यह बिलकुल वैसे ही – न ज़्यादा, न कम – पेशगी है कि जैसे तब होता कि वह अपनी कपास, लोहा या अनाज जैसी अन्य जिंसों से द्रव्य ख़रीदता। इसे **पूंजी** का अग्रसारण तो और भी कम कहा जा सकता है। एक व्यापारी और दूसरे व्यापारी के बीच हर क्रय-विक्रय पूंजी का अंतरण होता है। लेकिन पूंजी का अग्रसारण केवल तब होता है कि जब पूंजी का अंतरण पारस्परिक नहीं, बल्कि एक-पार्श्विक और एक मीयाद के लिए होता है। इसलिए विपत्र भुनाई के ज़रिये पूंजी का अग्रसारण केवल तब हो सकता है कि जब वह विपत्र सट्टे का हो, जो किसी भी तरह की विक्रीत जिंसों को नहीं प्रकट करता है, और कोई भी बैंकर, अगर वह उसके स्वरूप से परिचित हो, तो ऐसे विपत्र को स्वीकार नहीं करेगा। अतः विपत्र भुनाने के सामान्य कारबार में बैंक के ग्राहक को न पूंजी की और न द्रव्य की पेशगी प्राप्त होती है। उसे बस बिकी हुई जिंसों के लिए द्रव्य ही प्राप्त होता है।

इस प्रकार जिन मामलों में ग्राहक बैंक से पूंजी मांगता और प्राप्त करता है, वे उन मामलों से स्पष्टतः भिन्न होते हैं, जिनमें वह बैंक से केवल द्रव्य की पेशगी प्राप्त करता है, अथवा बैंक से द्रव्य ख़रीदता है। और चूंकि स्वयं श्री लॉयड-ओवरस्टोन ने तो विरलतम अवसरों के सिवा शायद ही कभी संपार्श्विक या अमानत के बिना अपनी निधियां अग्रसारित की हों (वह मैंचेस्टर में मेरी फ़र्म के बैंकर थे), इसलिए यह भी प्रत्यक्ष है कि उदारहस्त बैंकरों द्वारा पूंजी-याची कारख़ानेदारों को पूंजी की बड़ी-बड़ी रक़मों के उधार दिये जाने के उनके सुहाने वर्णन कोरी मनगढ़ंतें ही हैं।

प्रसंगतः, बत्तीसवें अध्याय में मार्क्स तत्वतः यही बात कहते हैं: "जहां तक व्यापारी और उत्पादक अच्छी प्रतिभूतियां पेश कर सकते हैं, भुगतान साधनों की मांग, मात्र **द्रव्य में परिवर्तनीयता** के लिए मांग होती है; जहां भी कोई संपार्श्विक नहीं होता है, वहां यह **द्रव्य पूंजी** के लिए मांग होती है, जिससे भुगतान साधनों का उधार उन्हें न केवल **द्रव्य का रूप**, बल्कि भुगतान करने के लिए चाहे किसी भी रूप में वह **समतुल्य** भी प्रदान कर देता है, जिसका उनके पास अभाव है।" – और तेंतीसवें अध्याय में फिर: "विकसित उधार पद्धति के अंतर्गत, जिसमें द्रव्य बैंकरों के हाथों में संकेंद्रित होता है, उसे, **कम से कम नामिक रूप में**, वे ही उधार देते हैं। इस उधार का संबंध सिर्फ़ संचलनगत मुद्रा से है। यह **संचलन** का अग्रसारण है, न कि उसके द्वारा परिचालित होनेवाली पूंजियों का अग्रसारण।" इसी प्रकार श्री चैपमैन भी, जिन्हें जानना चाहिए, बट्टे पर चुकता करने के कारबार की इस अवधारणा की संपुष्टि करते हैं : *B. C.*, 1857: "बैंकर के पास विपत्र है, बैंकर ने **विपत्र को ख़रीद लिया है।**" बयान। प्रश्न ५१३९।

तथापि अट्ठाईसवें अध्याय में हम इस प्रश्न पर फिर आयेंगे। – फ़्रे० एं०]

"३७४४। क्या आप यह बतलाने की कृपा करेंगे कि 'पूंजी' शब्द से आपका वास्तव में क्या अभिप्राय है?" – (ओवरस्टोन:) "पूंजी में विभिन्न जिंसें होती हैं, जिनके द्वारा व्यापार किया जाता है; स्थायी पूंजी भी होती है और प्रचल पूंजी भी होती है। आपके जहाज़, आपकी गोदियां, आपके जहाज़घाट... स्थायी पूंजी हैं; आपके खाने-पीने का सामान, आपके कपड़े, आदि प्रचल पूंजी हैं।"

"३७४५। क्या देश बुलियन के अपवाह से पीड़ित है? – इस शब्द के बुद्धिसंगत अर्थों में तो नहीं।" (इसके बाद पुराना रिकार्डो का द्रव्य सिद्धांत आता है।) ... "मामलों की नैसर्गिक अवस्था में संसार का द्रव्य विश्व के विभिन्न देशों में कुछ विशेष अनुपातों में वितरित होता है, ये अनुपात ऐसे होते हैं कि" (द्रव्य के) "इस वितरण के अंतर्गत संसार के किसी भी एक देश तथा अन्य सभी देशों के बीच व्यवहार विनिमय का व्यवहार होगा; लेकिन इस वितरण को प्रभावित करनेवाली विक्षोभकारी परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं, और जब ये उत्पन्न होती हैं, तो किसी एक नियत देश को प्रदत्त द्रव्य का एक विशेष अंश अन्य देशों के पास चला जाता है।" – "३७४६। श्रीमन अब 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। मैं समझता हूं कि आपने पहले कहा था कि यह पूंजी की हानि थी। – वह पूंजी की हानि थी?" – "३७४७। बुलियन का निर्यात? – नहीं, मैंने ऐसा नहीं कहा था। अगर आप बुलियन को पूंजी जैसा समझते हैं, तो निस्सन्देह यह पूंजी की हानि है; यह इन बहुमूल्य धातुओं के, जो संसार का द्रव्य हैं, एक ख़ास परिमाण से वंचित होना है।" – "३७४८। मैंने श्रीमन के कहने का मतलब यह समझा था कि बट्टा दर में परिवर्तन केवल पूंजी के मूल्य में ही परिवर्तन का संकेत है? – मैंने यही कहा था।" – "३७४९। और यह कि बट्टा दर आम तौर पर बैंक ऑफ़ इंगलैंड में बुलियन के भंडार की अवस्था के साथ बदलती है? – हां, लेकिन मैं पहले ही कह चुका हूं कि किसी देश में द्रव्य की मात्रा" (अतः यहां उनका आशय वस्तुतः विद्यमान स्वर्ण की मात्रा है) "में परिवर्तन से ब्याज दर में जो उतार-चढ़ाव पैदा होते हैं, वे अत्यल्प होते हैं।"

"३७५०। तो क्या श्रीमन का आशय यह है कि जब बट्टा दर में सामान्य की अपेक्षा अधिक सतत, किंतु अस्थायी वृद्धि होती है, तब जितनी पूंजी थी, उससे कम पूंजी हो जाती है? – एक अर्थ में कम। पूंजी और उसके लिए मांग के बीच अनुपात बदल जाता है; यह वर्धित मांग के कारण बदल सकता है, पूंजी की मात्रा के घटने के कारण नहीं।" (लेकिन क्षण भर ही पहले पूंजी = द्रव्य अथवा स्वर्ण थी, और उसके कुछ ही पहले उन्होंने ब्याज दर में चढ़ाव का कारण व्यवसाय अथवा पूंजी के संकुचन नहीं, प्रसार से जनित ऊंची लाभ दर बताया था।)

"३७५१। वह पूंजी कौनसी है, जिसका आप विशेषकर संकेत कर रहे हैं? – यह पूर्णतः इस पर निर्भर है कि प्रत्येक व्यक्ति को कौनसी पूंजी चाहिए। यह वह पूंजी है, जो देश के पास अपना कारबार चलाने के लिए है और जब यह कारबार दुगुना हो जाता है, तो जिस पूंजी से इसे चलाया जाना है, उसके लिए मांग में बहुत वृद्धि हो जायेगी।" (चतुर बैंकर पहले व्यावसायिक कार्यकलाप को दुगुना करते हैं और फिर पूंजी के लिए मांग को, जिससे इसे दुगुना किया जाना है। वह अपने आगे सिर्फ़ अपना ग्राहक ही देखते हैं, जो श्री लॉयड से और पूंजी मांगता है, जिससे अपने व्यवसाय के परिमाण को दुगुना कर सके।) – "पूंजी

किसी भी अन्य जिंस की तरह होती है" (किंतु श्री लॉयड के अनुसार पूंजी जिंसों की समग्रता के सिवा और कुछ नहीं है,) "वह पूर्ति और मांग के अनुसार अपने दाम में भिन्न-भिन्न होगी" (अतः जिंसें अपने दाम दो बार बदलती हैं—एक बार जिंसों के नाते और दूसरी बार पूंजी के नाते)।

"३७५२। बट्टा दर में परिवर्तन सामान्यतः सोने की उस मात्रा में परिवर्तनों से संबद्ध होते हैं, जो बैंक ऑफ़ इंगलैंड की तिजोरियों में है। क्या श्रीमन जिसका उल्लेख कर रहे हैं, वह यही पूंजी है? – नहीं।" – "३७५३। क्या श्रीमन ऐसा कोई उदाहरण दे सकते हैं, जिसमें बैंक ऑफ़ इंगलैंड में पूंजी का बड़ा भंडार ऊंची बट्टा दर से संबद्ध रहा हो? – बैंक ऑफ़ इंगलैंड पूंजी जमा करने की जगह नहीं है, वह द्रव्य जमा करने की जगह है।" – "३७५४। श्रीमन ने कहा है कि ब्याज दर पूंजी की मात्रा पर निर्भर करती है; क्या आप कृपया यह बतलायेंगे कि आपका किस पूंजी से आशय है, और क्या आप कोई ऐसा उदाहरण दे सकते हैं, जिसमें बैंक में बुलियन का बड़ा भंडार रहा हो और साथ ही ऊंची ब्याज दर भी रही हो? – यह बहुत संभव है" (अहा!) "कि बैंक में बुलियन का संचय नीची ब्याज दर का संपाती रहा हो, क्योंकि वह कालावधि, जिसमें पूंजी के लिए ह्रासित मांग होती है" (अर्थात द्रव्य पूंजी के लिए; जिस कालावधि की ओर यहां संकेत किया जा रहा है, वह, १८४४ और १८४५, समृद्धि का दौर था) "ऐसी कालावधि होती है, जिसके दौरान वे साधन अथवा उपकरण, जिनके ज़रिये आप पूंजी को नियंत्रित करते हैं, निस्संदेह, संचित हो सकते हैं।" – "३७५५। तो आपका ख़याल है कि बट्टा दर और बैंक की तिजोरियों में बुलियन की मात्रा के बीच कोई संबंध नहीं है? – संबंध हो सकता है, किंतु यह बुनियादी संबंध नहीं है" (लेकिन उनके १८४४ के बैंक अधिनियम ने ब्याज दर का अपने क़ब्ज़े में बुलियन की मात्रा से नियमन बैंक ऑफ़ इंगलैंड का एक बुनियादी उसूल बना दिया था), "यह समय का संयोग हो सकता है।" – "३७५८। क्या मैंने आपकी बात को ठीक समझा है कि ऊंची बट्टा दर के परिणामस्वरूप दबाव की हालत में इस देश में व्यापारियों की कठिनाई पूंजी पाने में है, न कि द्रव्य पाने में? – आप दो चीज़ों को एकसाथ मिला रहे हैं, जिन्हें मैं इस रूप में नहीं मिलाता हूं; उनकी कठिनाई पूंजी पाने में है, और उनकी कठिनाई द्रव्य पाने में भी है।... द्रव्य पाने की कठिनाई और पूंजी पाने की कठिनाई एक ही कठिनाई की अपनी प्रगति की दो क्रमिक अवस्थाएं हैं।" – यहां मछली फिर जाल में फंस जाती है। पहली कठिनाई विनिमय पत्र को बट्टे पर चुकता करवाना, अथवा जिंसों की प्रतिभूति पर उधार प्राप्त करना है। यह पूंजी को, अथवा पूंजी के एक वाणिज्यिक प्रतीक को द्रव्य में परिवर्तित करने की कठिनाई है। और यह कठिनाई और बातों के अलावा ऊंची ब्याज दर में व्यक्त होती है। लेकिन जैसे ही पूंजी प्राप्त हो जाती है, तो फिर दूसरी कठिनाई क्या है? बात जब सिर्फ़ भुगतान करने की हो, तब क्या कभी किसी को अपने द्रव्य से पिंड छुड़ाने में कोई कठिनाई होती है? और अगर बात ख़रीदारी की हो, तो क्या संकट के दौरों में ख़रीदारी करने में किसी को कभी कोई कठिनाई हुई है? और, अगर तर्क के लिए, इसका आशय अनाज, कपास, आदि में किसी विशेष अभाव से हो, तो यह कठिनाई सिर्फ़ इन जिंसों के दामों में प्रकट हो सकती है, न कि द्रव्य पूंजी के मूल्य में, अर्थात न कि ब्याज दर में; और इस कठिनाई पर अंततोगत्वा इस तथ्य से पार पा ली जाती है कि हमारे आदमी के पास अब उन्हें ख़रीदने के लिए द्रव्य है।

"३७६०। लेकिन ऊंची बट्टा दर तो द्रव्य प्राप्त करने की एक वर्धित कठिनाई है? – यह

द्रव्य प्राप्त करने की एक वर्धित कठिनाई है, लेकिन यह इसलिए नहीं है कि आप द्रव्य पाना चाहते हैं; यह केवल वह रूप है" (और यही रूप बैंकर के जेब में मुनाफ़ा लाता है) "जिसमें पूंजी प्राप्त करने की बढ़ी हुई कठिनाई सभ्य राज्य के जटिल संबंधों के अनुसार अपने को प्रस्तुत करती है।"

"३७६३। (ओवरस्टोन का उत्तर:) बैंकर वह बिचौलिया है, जो एक तरफ़, जमाएं प्राप्त करता है, और दूसरी तरफ़, इन जमाओं को विनियोग में लाता है, उन्हें, **पूंजी के रूप में**, ऐसे लोगों के हाथों में सौंप देता है, जो, आदि।"

आख़िर हम जान गये कि पूंजी से उनका क्या आशय है। वह द्रव्य को "सौंपकर", कम मीठे शब्दों में, उसे ब्याज पर उधार देकर, पूंजी में परिवर्तित करते हैं।

श्री ओवरस्टोन यह कहने के बाद कि बट्टा दर में परिवर्तन बैंक में स्वर्ण रिज़र्व की मात्रा में, अथवा उपलब्ध द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन से अनिवार्यतः संबद्ध नहीं होता, बल्कि हद से हद समय का संयोग ही होता है, फिर कहते हैं:

"३८०५। जब देश में द्रव्य अपवाह से ह्रासित हो जाता है, तो उसका मूल्य बढ़ जाता है, और बैंक ऑफ़ इंगलैंड को द्रव्य के मूल्य में इस परिवर्तन का समनुगमन करना होगा" (इसीलिए द्रव्य का मूल्य **पूंजी के नाते**; दूसरे शब्दों में, ब्याज दर, क्योंकि **द्रव्य के नाते** द्रव्य का मूल्य, जिंसों की तुलना में उतना ही रहता है), "जो ब्याज दर को चढ़ाने के प्राविधिक पद का आशय है।"

"३८१६। मैं इन दोनों को कभी नहीं उलझाता हूं।"—आशय द्रव्य और पूंजी से है, और इस सीधे से कारण से कि उन्होंने इन दोनों में कभी विभेद किया भी नहीं था।

"३८३४। देश के लिए आवश्यक रसद के लिए" (१८४७ में अनाज के लिए) "जो अत्यधिक भारी धनराशि देनी पड़ी थी और जो **वास्तव में पूंजी थी।**"

"३८४१। बट्टा दर में हेर-फेर का निस्संदेह" (बैंक ऑफ़ इंगलैंड के) "रिज़र्व की अवस्था से बहुत निकट संबंध है, क्योंकि रिज़र्व की अवस्था ही देश में द्रव्य की मात्रा के बढ़ने अथवा घटने का सूचक है; और देश में द्रव्य जिस अनुपात में बढ़ता अथवा घटता है, उस द्रव्य का मूल्य भी उसी अनुपात में बढ़ेगा अथवा घटेगा और बैंक की बट्टा दर उस परिवर्तन का समनुगमन करेगी।"—इस प्रकार ओवरस्टोन यहां उस बात को स्वीकार कर लेते हैं, जिसे उन्होंने प्रश्न संख्या ३७५५ में ज़ोर से अस्वीकार किया था।—"३८४२। उनके बीच घनिष्ठ संबंध है।" मतलब, एक ओर निर्गम विभाग में बुलियन की मात्रा, और दूसरी ओर, बैंकिंग विभाग में नोटों का रिज़र्व। यहां वह ब्याज दर में परिवर्तन का कारण द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन को बताते हैं। लेकिन यह कथन ग़लत है। रिज़र्व इस कारण संकुचित हो सकता है कि देश में प्रचल द्रव्य बढ़ जाता है। जब लोग ज़्यादा नोट लेते हैं और धातु का ज़ख़ीरा घटता नहीं, तब ऐसा ही होता है। लेकिन ऐसे मामले में ब्याज दर चढ़ जाती है, क्योंकि तब बैंक ऑफ़ इंगलैंड की बैंकिंग पूंजी को १८४४ का अधिनियम सीमित कर देता है। लेकिन वह इसका उल्लेख करने का साहस नहीं कर सकते, क्योंकि इस क़ानून के कारण दोनों विभागों का एक दूसरे के साथ कोई भी संबंध नहीं है।

"३८५६। ऊंची लाभ दर हमेशा पूंजी के लिए बड़ी मांग पैदा करेगी; पूंजी के लिए बड़ी मांग उसके मूल्य को चढ़ा देगी।"—आख़िर यहां हमें, जिस तरह ओवरस्टोन उसे देखते हैं, ऊंची लाभ दर और पूंजी के लिए मांग के बीच सूत्र मिल जाता है। ऐसा है कि सूती

उद्योग में, मिसाल के लिए, १८४४-४५ में लाभ दर ऊंची थी, क्योंकि कपास सस्ती थी, और ऐसी ही बनी भी रही, हालांकि सूती मालों के लिए मांग तगड़ी थी। पूंजी का मूल्य (और एक पुराने विवरण में ओवरस्टोन ने पूंजी उसे कहा है, जिसकी हर किसी को अपने व्यवसाय में आवश्यकता होती है), इसलिए इस मामले में कपास का मूल्य, कारख़ानेदार के लिए नहीं बढ़ा था। हो सकता है कि ऊंची लाभ दर ने किसी सूती कारख़ानेदार को अपने व्यवसाय का प्रसार करने के उद्देश्य से उधार पर द्रव्य प्राप्त करने के लिए प्रेरित कर दिया हो। इस तरह **द्रव्य** पूंजी के लिए उसकी मांग बढ़ गयी, लेकिन और कुछ के लिए नहीं।

"३८८८। बुलियन द्रव्य हो सकता है और नहीं भी हो सकता है, जैसे काग़ज़ बैंक नोट हो सकता है और नहीं भी हो सकता है।"

"३८९६। क्या मैं श्रीमन के आशय को ठीक से समझ रहा हूं कि आप इस तर्क को त्याग रहे हैं, जिसका आपने १८४० में उपयोग किया था कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड से निकलनेवाले नोटों में उतार-चढ़ाव को बुलियन की मात्रा में उतार-चढ़ाव का समनुगमन करना चाहिए? – मैं इसे इस सीमा तक त्याग देता हूं... कि अब हमारे पास जो सूचना साधन हैं, उनके दृष्टिगत बैंक ऑफ़ इंगलैंड से निकलनेवाले नोटों ने अपने में उन नोटों को जोड़ दिया होगा, जो बैंक ऑफ़ इंगलैंड के रिज़र्व में हैं।" यह लाजवाब है। इस मनमानी व्यवस्था में कि बैंक उसके ख़ज़ाने में जितना सोना है, उसके जितने काग़ज़ी नोट और इसके अलावा और १४० लाख पाउंड के नोट जारी कर सकता है, निस्संदेह यह सन्निहित है कि उसका नोटों का निर्गम स्वर्ण रिज़र्व के साथ उतरता-चढ़ता है। लेकिन चूंकि अब "हमारे पास जो सूचना साधन हैं" वे स्पष्टत: दिखलाते थे कि बैंक इस प्रकार नोटों के जिस अंबार का उत्पादन कर सकता है (और जिसे निर्गम विभाग बैंकिंग विभाग को अंतरित कर देता है) – कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड के दोनों विभागों के बीच स्वर्ण रिज़र्व के उतार-चढ़ाव के साथ उतरता-चढ़ता यह संचलन बैंक ऑफ़ इंगलैंड के बाहर नोटों के संचलन को निर्धारित नहीं करता, तब अंतोक्त – वास्तविक संचलन – बैंक प्रशासन के लिए उदासीनता का विषय बन जाता है, और बैंक के दोनों विभागों के बीच संचलन, वास्तविक संचलन से जिसका अंतर रिज़र्व में प्रतिबिंबित होता है, ही निर्णायक बन जाता है। बाहरी दुनिया के लिए यह आंतरिक संचलन सिर्फ़ इसलिए महत्वपूर्ण है कि रिज़र्व यह दिखलाता है कि बैंक अपने नोट निर्गमन के वैध अधिकतम के कितना निकट पहुंच रहा है और उसके ग्राहक बैंकिंग विभाग से अब भी कितना प्राप्त कर सकते हैं।

निम्न उद्धरण ओवरस्टोन की mala fides [कदाशयता] की एक शानदार मिसाल है:

"४२४३। आपके विचार में क्या पूंजी की मात्रा मास प्रति मास इस सीमा तक दोलन करती है कि उसके मूल्य को इस तरह से बदल देती है कि जैसे हाल के वर्षों में बट्टा दर के दोलनों में देखने में आया है? – पूंजी की मांग और पूर्ति के बीच संबंधों में निस्संदेह अल्प अवधियों के भीतर भी उतार-चढ़ाव आ सकता है।... अगर फ़्रांस कल यह ज़ाहिर कर दे कि वह बहुत बड़ा ऋण लेना चाहता है, तो इसमें कोई शक नहीं कि यह इस देश में **द्रव्य के मूल्य में, अर्थात पूंजी के मूल्य में,** भारी हेर-फेर पैदा कर देगा।"

"४२४५। अगर फ़्रांस यह घोषित कर दे कि वह, किसी भी प्रयोजन के लिए, अचानक ३ करोड़ की जिंसें चाहता है, तो अधिक विज्ञानसम्मत और सरल पद का प्रयोग करें, तो **पूंजी** के लिए बड़ी मांग हो जायेगी।"

"४२४६। फ़्रांस अपने ऋण से जिस **पूंजी** को ख़रीदना चाहेगा, वह **एक चीज़ है,** और

जिस **द्रव्य** से वह उसे ख़रीदता है, वह **दूसरी चीज़ है**, क्या यह **द्रव्य** है, जो मूल्य में बदलता है, या नहीं? – लगता है कि हम पुराने प्रश्न को फिर से उठा रहे हैं, जो मेरे विचार में इस समिति कक्ष की अपेक्षा किसी अध्येता के कमरे के अधिक उपयुक्त है।" – और इसी के साथ वह चले जाते हैं, किंतु किसी अध्येता के कमरे में नहीं।[84]

---

[84] पूंजी विषयक मामलों में ओवरस्टोन की शब्द-भ्रांति के बारे में बत्तीसवें अध्याय के अंत में और विस्तार से कहा गया है। – [फ़े० एं०]

अध्याय २७

पूंजीवादी उत्पादन में उधार की भूमिका

उधार पद्धति के बारे में हमने अभी तक जो सामान्य विचार प्रकट किये थे, वे इस प्रकार हैं:

I. लाभ दर के समकरण, अथवा इस समकरण की गतियों को संपन्न करने के लिए, जिस पर समस्त पूंजीवादी उत्पादन आधारित है, उसका अनिवार्य विकास।

II. परिचलन लागतों का घटना।

१) परिचलन की एक मुख्य लागत स्वयं मूल्य होने के नाते द्रव्य स्वयं है। उधार के ज़रिये उसकी तीन ढंगों से किफ़ायत होती है।

क) कई लेन-देनों में बिलकुल अनावश्यक हो जाने से।

ख) संचलनशील माध्यम के त्वरित परिचलन से।[85] यह २) के अंतर्गत जो कहा जायेगा, अंशतः उसके साथ मेल खाता है। त्वरण, एक ओर, प्राविधिक होता है; अर्थात द्रव्य अथवा द्रव्य प्रतीकों की न्यूनतर राशि उपभोग के लिए जिंसों के उतने ही परिमाण और आवर्तों की वास्तविक संख्या के साथ उसी कार्य को निष्पादित करती है। यह बैंकिंग प्रविधि से संबद्ध है। दूसरी ओर, उधार जिंसों के रूपांतरण के वेग को और उसके द्वारा द्रव्य संचलन के वेग को त्वरित करता है।

---

[85] "वर्ष के दौरान संचलनगत नोटों का औसत १८१२ में १०,६५,३८,००० फ्रैंक और १८१८ में १०,१२,०५,००० फ्रैंक था; जबकि मुद्रा की गति, अथवा सभी मदों पर संवितरणों और प्राप्तियों का वार्षिक योग १८१२ में २,८३,७७,१२,००० फ्रैंक व १८१८ में ६,६६,५०,३०,००० फ्रैंक था। इसलिए फ़्रांस में १८१८ में मुद्रा की सक्रियता उसकी १८१२ में सक्रियता की तुलना में ३ : १ के अनुपात में थी। संचलन वेग का मुख्य नियामक उधार है।... इससे इसका स्पष्टीकरण हो जाता है कि द्रव्य बाज़ार पर भारी दबाव क्यों आम तौर पर पूर्ण संचलन का समवर्ती होता है।" (*The Currency Theory Reviewed, etc.*, p. 65.) – "सितंबर, १८३३ और सितंबर, १८४३ के बीच युनाइटेड किंगडम भर में विभिन्न नोट जारी करनेवालों में लगभग ३०० बैंक बढ़ गये थे; इसका परिणाम संचलन में पचीस लाख की कमी आना था; सितंबर, १८३३ के अंत में वह ३,६०,३५,२४४ पाउंड, और सितंबर, १८४३ के अंत में ३,३५,१८,५५४ पाउंड था।" (वही, पृष्ठ ५३) – "स्कॉटलैंड में संचलन की असाधारण सक्रियता के परिणामस्वरूप वहां १०० पाउंड से उतने ही मौद्रिक लेन-देन संपन्न किये जा सकते हैं कि जितने के लिए इंगलैंड में ४२० पाउंड की आवश्यकता होती है।" (वही, पृष्ठ ५५। अंतिम बात सिर्फ़ कारबार के प्राविधिक पहलू के बारे में ही है।)

ग) स्वर्ण मुद्रा की काग़ज़ से प्रतिस्थापना से।

२) उधार द्वारा परिचलन के पृथक चरणों का अथवा जिंसों के रूपांतरण का त्वरण, बाद में पूंजी का रूपांतरण और उसके साथ सामान्यरूपेण पुनरुत्पादन प्रक्रिया का त्वरण। (दूसरी ओर, उधार क्रय तथा विक्रय क्रियाओं को अधिक समय तक जुदा रखने में सहायता देता है और इस प्रकार सट्टे की बुनियाद का काम देता है।) आरक्षित निधियों का संकुचन, जिसे दो तरह से देखा जा सकता है : एक ओर, संचलनशील माध्यम के न्यूनीकरण की तरह, और दूसरी ओर, पूंजी के उस अंश के न्यूनीकरण की तरह, जिसे सदा द्रव्य के रूप में रहना चाहिए।[86]

III. स्टाक कंपनियों का निर्माण। उसके द्वारा :

१) उत्पादन के पैमाने का और उद्यमों का ज़बरदस्त प्रसार, जो अलग-अलग पूंजियों के लिए असंभव था। साथ ही वे उद्यम, जो पहले सरकारी थे, अब सार्वजनिक उद्यम बन गये।

२) पूंजी, जो स्वयं एक सामाजिक उत्पादन प्रणाली पर आधारित होती है और उत्पादन साधनों तथा श्रम शक्ति के सामाजिक संकेंद्रण की पूर्वापेक्षा करती है, यहां निजी पूंजी से भिन्न सामाजिक पूंजी (प्रत्यक्ष रूप में संबद्ध व्यक्तियों की पूंजी) के रूप से युक्त हो जाती है और उसके उपक्रम निजी उपक्रमों के विपरीत सामाजिक उपक्रमों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। यह स्वयं पूंजीवादी उत्पादन के ढांचे के भीतर निजी संपत्ति के नाते पूंजी का उन्मूलन है।

३) वस्तुतः कार्यरत पूंजीपति का अन्य लोगों की पूंजी के प्रबंधक, प्रशासक मात्र में, और पूंजी के स्वामी का द्रव्य पूंजीपति मात्र में रूपांतरण। वे जो लाभांश प्राप्त करते हैं, उनमें चाहे ब्याज और उद्यम का लाभ शामिल होते हैं, अर्थात कुल लाभ (क्योंकि प्रबंधक का वेतन एक विशिष्ट प्रकार के कुशल श्रम की मज़दूरी भर होता है, अथवा होना चाहिए, जिसका दाम श्रम बाज़ार में किसी भी दूसरे श्रम के दाम की तरह ही नियमित होता है), लेकिन यह कुल लाभ आगे से सिर्फ़ ब्याज के रूप में ही प्राप्त होता है, अर्थात महज़ पूंजी का स्वामी होने के मुआवज़े की तरह, जो अब वास्तविक पुनरुत्पादन प्रक्रिया में कार्य से पूर्णतः अलग हो गयी है, जैसे प्रबंधक के व्यक्तित्व में यह कार्य भी पूंजी के स्वामित्व से पृथक हो गया है। इस प्रकार लाभ (अब उसका केवल वह अंश, ब्याज नहीं, जो अपना औचित्य क़र्ज़दार के लाभ से प्राप्त करता है) केवल अन्यों के बेशी श्रम को हड़पने की तरह प्रकट होता है, जिसका उद्गम उत्पादन साधनों के पूंजी में परिवर्तन में है, अर्थात वास्तविक उत्पादक की सापेक्षता में उनके अन्यसंक्रामण में, दूसरे की संपत्ति के नाते उनके उत्पादन में वस्तुतः कार्यरत प्रत्येक व्यक्ति, प्रबंधक से लेकर आख़िरी दिहाड़िये तक, से वैपरीत्य में है। स्टाक कंपनियों में कार्य पूंजी के स्वामित्व से अलग हो जाता है, अतः श्रम भी उत्पादन साधनों और बेशी श्रम के स्वामित्व से पूर्णतः जुदा हो जाता है। पूंजीवादी उत्पादन के चरम विकास का यह परिणाम पूंजी के उत्पादकों की संपत्ति में पुनःपरिवर्तन की दिशा में एक अनिवार्य संक्रामक चरण है, चाहे अब अलग-अलग उत्पादकों की निजी संपत्ति के रूप में नहीं, बल्कि सहयोगी उत्पादकों की संपत्ति के रूप में, पूर्णतया सामाजिक संपत्ति के रूप में। दूसरी ओर, स्टाक कंपनी पुनरुत्पादन

---

[86] "बैंकों की स्थापना के पहले... मुद्रा के प्रयोजन से प्रत्याहृत पूंजी की मात्रा हमेशा ही उससे अधिक होती थी, जितनी जिंसों के वास्तविक परिचलन के लिए आवश्यक होती थी।" (*Economist*, 1845, p. 238.)

प्रक्रिया में उन सभी कार्यों के, जो पूंजीवादी संपत्ति से अब भी जुड़े रहते हैं, केवल सहयोगी उत्पादकों के कार्यों में, सामाजिक कार्यों में परिवर्तन की दिशा में संक्रमण है।

इसके पहले कि आगे बढ़ा जाये, अभी इस महत्वपूर्ण आर्थिक तथ्य का उल्लेख करना बाक़ी रहता है: चूंकि लाभ यहां ब्याज का शुद्ध रूप ग्रहण करता है, इसलिए इस प्रकार के उपक्रम अब भी केवल तब ही संभव हो सकते हैं कि अगर वे मात्र ब्याज ही उत्पन्न करें, और यह सामान्य लाभ दर के पतन को रोकनेवाले कारणों में एक है, क्योंकि ऐसे उपक्रम, जिनमें परिवर्ती पूंजी के साथ स्थिर पूंजी का अनुपात इतना भारी होता है अनिवार्यतः सामान्य लाभ दर के समकरण में प्रवेश नहीं करते हैं।

[मार्क्स ने जब उपरोक्त पंक्तियां लिखी थीं, जैसे कि हम जानते हैं, उसके बाद औद्योगिक उपक्रमों के नये रूप विकसित हो गये हैं, जो स्टाक कंपनियों के दूसरे और तीसरे चरण को प्रकट करते हैं। बड़े पैमाने के उद्योग के सभी क्षेत्रों में आज उत्पादन को जिस नित बढ़ती रफ़्तार के साथ बढ़ाया जा सकता है, वह इन बढ़े हुए उत्पादों के लिए बाज़ार का जिस अधिकाधिक मंथरता से प्रसार होता है, उससे निराकृत हो जाती है। उद्योग जितना महीनों में पैदा कर लेता है, बाज़ार उतना वर्षों में मुश्किल से जज़्ब कर पाता है। और इसमें उस संरक्षी प्रशुल्क नीति को भी शामिल कर लीजिये, जिसके द्वारा प्रत्येक औद्योगिक देश अपने को अन्य औद्योगिक देशों से, विशेषकर इंगलैंड से अलग बंद कर लेता है, और कृत्रिम तरीक़े से स्वदेशी उत्पादन क्षमता को भी बढ़ाता है। इसके नतीजे हैं सार्विक चिरकारी अत्युत्पादन, गिरे हुए दाम और ह्रासमान तथा पूर्णतः विलुप्त तक होते लाभ; संक्षेप में, पुरानी बहुश्लाघित प्रतिद्वंद्विता की स्वतंत्रता अपने अंत पर पहुंच गयी है और उसे अपने ज़ाहिरा और शर्मनाक दिवालियेपन का ख़ुद ऐलान कर देना चाहिए। और यह हर देश में किसी विशेष शाखा के बड़े-बड़े उद्योगपतियों के उत्पादन का नियमन करने के लिए उत्पादक संघों या कार्टेलों में संयुक्त होने के ज़रिये हो रहा है। एक समिति प्रत्येक प्रतिष्ठान द्वारा उत्पादित की जानेवाली मात्रा को नियत करती है और वह आनेवाले आदेशों के उनमें वितरण का अंतिम प्राधिकरण है। कभी-कभी अंतर्राष्ट्रीय कार्टेल तक स्थापित किये गये हैं, जैसे ब्रिटिश और जर्मन लोहा उद्योगों के। लेकिन उत्पादन में सहयोग का यह रूप तक पर्याप्त सिद्ध नहीं हुआ। अलग-अलग फ़र्मों के बीच हित वैषम्य बारंबार फूटकर प्रतिद्वंद्विता को फिर से पैदा कर देता था। इसके परिणामस्वरूप कुछ शाखाओं में, जहां उत्पादन का पैमाना इसे सम्भव बनाता था, उद्योग की उस शाखा के समस्त उत्पादन का एक इकहरे प्रबंध के अंतर्गत एक बड़ी संयुक्त पूंजी कंपनी के रूप में संकेंद्रण हो गया। अमरीका में ऐसा बार-बार हुआ है; यूरोप में अभी तक इसका सबसे बड़ा उदाहरण युनाइटेड एल्कली ट्रस्ट है, जो ब्रिटेन के सारे क्षार उत्पादन को एक ही व्यावसायिक फ़र्म के हाथों में ले आया है। तीस से अधिक अलग-अलग कारख़ानों के भूतपूर्व मालिकों को समस्त प्रतिष्ठानों के निर्धारित मूल्य के कुल कोई ५० लाख पाउंड के शेयर दे दिये गये हैं, जो ट्रस्ट की स्थायी पूंजी को प्रकट करते हैं। प्राविधिक प्रबंध उन्हीं हाथों में है, जिनमें पहले था, लेकिन व्यावसायिक प्रबंध सामान्य प्रबंधक वर्ग के हाथों में है। कुल कोई १० लाख पाउंड की अस्थायी पूंजी जनता को अंश (शेयर) ख़रीदने के लिए पेश की गयी। इसलिए कुल पूंजी ६० लाख पाउंड है। इस प्रकार इस शाखा में, जो सारे रासायनिक उद्योग का आधार है, इंगलैंड में प्रतिद्वंद्विता का स्थान एकाधिकार – इजारेदारी – ने ले लिया है, और बड़े संतोषजनक

ढंग से समस्त समाज – राष्ट्र – द्वारा भावी स्वामित्वहरण के लिए पथ प्रशस्त हो गया है। – फ़े० एं०]

यह स्वयं पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के भीतर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का उन्मूलन है और इसलिए एक आत्मविलेय अंतर्विरोध है, जो prima facie उत्पादन के एक नये रूप में संक्रमण के एक चरण मात्र को प्रकट करता है। यह अपने आपको अपने प्रभावों में ऐसे अंतर्विरोध की तरह अभिव्यक्त करता है। यह कुछेक क्षेत्रों में एकाधिकार स्थापित कर देता है और उसके द्वारा राजकीय हस्तक्षेप को आवश्यक बनाता है। यह प्रवर्तकों, सटोरियों और सीधे-सीधे नामिक निदेशकों के रूप में एक नये वित्तीय अभिजात वर्ग को, परजीवियों की एक नयी क़िस्म को, कंपनी प्रवर्तन, अंश निर्गमन और अंशों की सट्टाख़ोरी के ज़रिये ठगी और धोखाधड़ी की एक संपूर्ण प्रणाली को पुनरुत्पादित कर देता है। यह निजी संपत्ति के नियंत्रण के बिना निजी उत्पादन है।

IV. स्टाक कंपनी व्यवसाय के अलावा, जो स्वयं पूंजीवादी व्यवस्था के आधार पर पूंजीवादी निजी उद्योग के उन्मूलन को प्रकट करता है और निजी उद्योग को, ज्यों-ज्यों वह प्रसार करता तथा उत्पादन के नये-नये क्षेत्रों में दाख़िल होता जाता है, त्यों-त्यों नष्ट करता जाता है, उधार व्यष्टि पूंजीपति को, अथवा जिसे पूंजीपति माना जाता है, कुछेक सीमाओं के भीतर अन्यों की पूंजी तथा संपत्ति पर, और परिणामस्वरूप अन्यों के श्रम पर निरपेक्ष नियंत्रण प्रदान करता है।[87] स्वयं अपनी व्यष्टिक पूंजी नहीं, सामाजिक पूंजी पर नियंत्रण उसे सामाजिक श्रम का नियंत्रण प्रदान कर देता है। वह पूंजी, जिस पर किसी व्यक्ति का वास्तव में स्वामित्व होता है अथवा लोगों की राय में माना जाता है, उधार की अधिरचना के लिए आधार मात्र बन जाती है। थोक व्यापार के बारे में, सामाजिक उत्पाद का सबसे बड़ा अंश जिससे होकर गुज़रता है, यह बात ख़ासकर सही है। माप के सभी मानक, पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत न्यूनाधिक उचित सभी बहाने यहां लुप्त हो जाते हैं। सट्टे में प्रवृत्त थोक व्यापारी जिसे जोखिम में डालता है, वह **उसकी अपनी** नहीं, सामाजिक संपत्ति होती है। पूंजी के उद्‌गम को बचत के साथ जोड़नेवाली अभिव्यक्ति भी इतनी ही बीभत्स हो जाती है, क्योंकि वह जिस बात की मांग करती है, वह यह है कि **दूसरे** उसके लिए बचायें। [जैसे सारे फ़्रांस ने पनामा नहर

---

[87] उदाहरण के लिए, *Times* में १८५७ जैसे संकट के किसी साल में व्यावसायिक दिवालों की सूची देखिये और इन दिवालियों की उनके क़र्ज़ों की राशि से तुलना कीजिये। "सच तो यह है कि जिन लोगों के पास पूंजी और साख हैं, उनकी ख़रीदने की शक्ति उससे कहीं अधिक है, जिसकी सट्टा बाज़ारों से लगभग अपरिचित लोग कल्पना भी कर सकते हैं।" Tooke, *Inquiry into the Currency Principle*, p. 79.) "जो आदमी अपने पास अपने नियमित व्यवसाय के लिए पर्याप्त पूंजी होने के लिए मशहूर है और जिसकी अपने व्यापार में अच्छी साख है, वह जिस माल में तिजारत करता है, उसमें अगर भाव में तेज़ी की संभावना का आशावादी दृष्टिकोण लेता है और परिस्थितियां उसके फाटके के आरंभ तथा भावी क्रम में उसके अनुकूल रहती हैं, वह अपनी पूंजी की तुलना में सचमुच विराट पैमाने पर ख़रीदारियां संपन्न कर सकता है" (वही, पृष्ठ १३६)। "व्यापारी, कारख़ानेदार, आदि स्वयं केवल अपनी पूंजी के उपयोग से उनके लिए जितना संभव हो सकता था, उससे कहीं अधिक पैमाने पर कारबार करते हैं।... किसी वाणिज्यिक प्रतिष्ठान के लेन-देनों की सीमा होने के बजाय पूंजी वह आधार है, जिस पर अच्छी साख क़ायम की जाती है।" (*Economist*, 1847, p. 333.)

घोटालेबाजों के लिए हाल ही में डेढ़ अरब फ्रैंक बचाये थे। वास्तव में, सारे पनामा घोटाले की तफ़सील का यहां उसके होने के पूरे बीस साल पहले सही पूर्वानुमान कर लिया गया है।—फ़े० एं०] निवृत्ति विषयक दूसरी उक्ति का उसकी ऐयाशी पूरी तरह से खंडन कर देती है, जो अब स्वयं उधार का एक साधन है। जिन अवधारणाओं का पूंजीवादी उत्पादन की कम विकसित अवस्थाओं में कुछ अर्थ रहता है, वे यहां सर्वथा निरर्थक बन जाती हैं। यहां सफलता और विफलता दोनों पूंजी के केंद्रीकरण की ओर, और इस प्रकार अत्यधिक विशाल पैमाने पर स्वत्वहरण की ओर ले जाती हैं। यहां स्वत्वहरण की परिधि प्रत्यक्ष उत्पादकों से लेकर स्वयं छोटे और मंझोले पूंजीपतियों तक है। यह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का प्रस्थान बिंदु है—इसकी सिद्धि ही इस उत्पादन का लक्ष्य है। उसका अंतिम लक्ष्य सभी व्यक्तियों के उत्पादन साधनों का स्वत्वहरण करना है। सामाजिक उत्पादन के विकास के साथ उत्पादन साधन निजी उत्पादन साधन और निजी उत्पादन के उत्पाद नहीं रह जाते हैं और तदनंतर वे सिर्फ़ सहयोगी उत्पादकों के हाथों में ही उत्पादन साधन, अर्थात उनकी सामाजिक संपत्ति हो सकते हैं, जैसे वे उनके सामाजिक उत्पाद भी होते हैं। लेकिन यह स्वत्वहरण पूंजीवादी व्यवस्था के भीतर कुछ लोगों द्वारा सामाजिक संपत्ति के हस्तगतकरण की तरह परस्परविरोधी रूप में प्रकट होता है, और उधार उन्हें अधिकाधिक फाटकेबाजों का स्वरूप प्रदान करता जाता है। चूंकि संपत्ति यहां स्टाक के रूप में होती है, इसलिए उसकी गतियां और अंतरण महज़ शेयर बाज़ार में जुए का नतीजा बन जाते हैं, जहां छोटी मछलियों को शार्क और मेमनों को शेयर बाज़ार के भेड़िये लील जाते हैं। स्टाक कंपनियों में पुराने रूप का विरोध होता है, जिसमें उत्पादन के सामाजिक साधन निजी संपत्ति जैसे लगते हैं, लेकिन स्टाक के रूप में परिवर्तन अब भी पूंजीवाद की बेड़ियों में जकड़ा होता है, इसलिए संपदा के स्वरूप में सामाजिक और निजी संपदा के बीच वैषम्य पर पार पाने के बजाय स्टाक कंपनियां उसे बस एक नये रूप में विकसित ही करती हैं।

श्रमिकों के सहकारी कारखाने स्वयं पुराने रूप के भीतर नये रूप के पहले अंकुरों को प्रकट करते हैं, चाहे अपने वास्तविक सामाजिक संगठन में वे सभी जगह विद्यमान व्यवस्था की सभी ख़ामियों को क़ुदरती तौर पर पुनरुत्पादित करते हैं और पुनरुत्पादित करना चाहिए भी। लेकिन उनके भीतर पूंजी और श्रम के बीच वैषम्य पर क़ाबू पा लिया जाता है, चाहे पहले सहयोगी मजदूरों को स्वयं अपने ही पूंजीपतियों में परिणत करके ही, अर्थात उन्हें उत्पादन साधनों का स्वयं अपने श्रम के नियोजनार्थ उपयोग करने में समर्थ बनाकर। वे यह दिखलाते हैं कि जब उत्पादन की भौतिक शक्तियों का विकास और सामाजिक उत्पादन के तदनुकूल रूपों का विकास एक विशेष मंज़िल पर पहुंच जाते हैं, तो किस प्रकार पुरानी उत्पादन प्रणाली से एक नयी उत्पादन प्रणाली स्वाभाविक रूप में उत्पन्न हो जाती है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से कारखाना पद्धति के उत्पन्न हुए बिना सहकारी कारख़ाने नहीं पैदा हो सकते थे। न ये उसी उत्पादन प्रणाली से उत्पन्न होनेवाली उधार पद्धति के बिना विकास ही कर सकते थे। उधार पद्धति सिर्फ़ पूंजीवादी निजी उद्यमों के पूंजीवादी स्टाक कंपनियों में क्रमिक रूपांतरण की मुख्य बुनियाद ही नहीं है, बल्कि उसी प्रकार सहकारी उद्यमों के न्यूनाधिक राष्ट्रव्यापी पैमाने पर क्रमिक प्रसार का साधन भी प्रदान करती है। सहकारी कारख़ानों की ही भांति पूंजीवादी स्टाक कंपनियों को भी इस अंतर के साथ पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के सहकारी उत्पादन प्रणाली में संक्रमण के रूप समझा जाना चाहिए कि वैपरीत्य का समाधान एक में नकारात्मक ढंग से होता है और दूसरे में सकारात्मक ढंग से।

अभी तक हमने उधार पद्धति के विकास और पूंजीवादी संपत्ति के अंतर्निहित अव्यक्त उन्मूलन पर मुख्यतः औद्योगिक पूंजी के संदर्भ में विचार किया है। आगामी अध्यायों में हम उधार पर ब्याजी पूंजी के, और इस पूंजी पर उसके प्रभाव तथा उसके द्वारा वह जो रूप ग्रहण करती है, उसके संदर्भ में विचार करेंगे; और सामान्य रूप में कुछ और विशिष्टतः आर्थिक टिप्पणियां करना अभी बाक़ी रहता है।

लेकिन पहले यह:

उधार पद्धति अत्युत्पादन और वाणिज्य में अतिसट्टाखोरी का मुख्य उत्तोलक केवल इसलिए होती है कि पुनरुत्पादन प्रक्रिया को, जो स्वभाव से ही लोचदार होती है, यहां अपनी चरम सीमाओं पर जाने के लिए बाधित कर दिया जाता है, और बाधित इसलिए किया जाता है कि सामाजिक पूंजी के काफ़ी बड़े भाग को ऐसे लोगों द्वारा नियोजित किया जाता है, जिनका उस पर स्वामित्व नहीं होता है और जो फलतः कारबार का संचालन पूंजी के स्वामी से सर्वथा भिन्न प्रकार से करते हैं, जो अपनी निजी पूंजी की – जहां तक वह स्वयं उससे कारबार करता है – संभावनाओं को बड़ी सावधानी के साथ कूतता है। यह केवल इसी बात को दर्शाता है कि पूंजीवादी उत्पादन की अंतर्विरोधी प्रकृति पर आधारित पूंजी का स्वप्रसार केवल एक विशेष स्थल तक ही वस्तुतः निर्बाध विकास होने देता है, जिससे वास्तव में वह उत्पादन के लिए एक अंतर्भूत बंधन और बाधा होता है, जिन्हें उधार पद्धति निरंतर तोड़ती रहती है।[88] अतः उधार पद्धति उत्पादक शक्तियों के भौतिक विकास और विश्व मंडी की स्थापना को त्वरित करती है। नयी उत्पादन प्रणाली के इन भौतिक मूलाधारों को पूर्णता की एक निश्चित सीमा तक पहुंचाना ही पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का ऐतिहासिक कार्य है। साथ ही साख इस अंतर्विरोध के प्रचंड प्रस्फोटों – संकटों – को और उसके द्वारा पुरानी उत्पादन प्रणाली के विखंडन के तत्वों को त्वरित करती है।

उधार पद्धति में अंतर्भूत दो लाक्षणिकताएं हैं – एक ओर, पूंजीवादी उत्पादन की प्रेरणा, दूसरों के श्रम के शोषण के जरिये संपन्नीकरण को विकसित करके जुए और ठगी के शुद्धतम तथा विशालतम रूप पर पहुंचाना और सामाजिक संपदा का दोहन करनेवाले थोड़े से लोगों की संख्या को अधिकाधिक कम करना; दूसरी ओर, नयी उत्पादन प्रणाली में संक्रमण का रूप बन जाना। यह दुहरी प्रकृति ही लॉ से लेकर इसाक पेरैरा तक उधार के सभी मुख्य पैरोकारों को ठग और पैग़ंबर के मिश्रण के सुखद चरित्र से विभूषत करती है।

---

[88] Th. Chalmers [*On Political Economy, ets.*, Glasgow, 1832. – सं॰]

अध्याय २८

संचलन माध्यम तथा पूंजी ; टूक और फ़ुलार्टन के विचार

मुद्रा तथा पूंजी के बीच भेद, जैसे टूक[89], विलसन तथा अन्य लोग उसे प्रस्तुत करते हैं, जिससे संचलन माध्यम में द्रव्य के नाते, सामान्यतः द्रव्य पूंजी के नाते, और ब्याजी पूंजी (अंग्रेज़ी में moneyed capital – सद्रव्य पूंजी – के अर्थ में) के नाते एकसाथ गडमड हो जाते हैं, सारतः दो बातों में सिमट आता है।

---

[89] हम यहां टूक का संबद्ध अंश मूल रूप में दे रहे हैं, जो जर्मन में पृष्ठ ३६० [प्रस्तुत संस्करण : पृष्ठ ३५३] पर उद्धृत किया गया था: "The business of bankers, setting aside the issue of promissory notes payable on demand, may be divided into two branches, corresponding with the distinction pointed out by Dr. (Adam) Smith of the transactions between dealers and dealers, and between dealers and consumers. One branch of the bankers' business is to collect *capital* from those, who have not immediate employment for it, and to distribute or transfer it to those who have. The other branch is to receive deposits of the *incomes* of their customers, and to pay out the amount, as it is wanted for expenditure by the latter in the objects of their consumption... the former being a circulation of *capital*, the latter of *currency*." ["मांग देय वचन पत्रों के निर्गमन के अलावा बैंकरों के व्यवसाय को डाक्टर (ऐडम) स्मिथ द्वारा इंगित किये गये विक्रेताओं और विक्रेताओं के बीच, और विक्रेताओं तथा उपभोक्ताओं के बीच भेद के अनुसार, दो शाखाओं में विभाजित किया जा सकता है। बैंकर के व्यवसाय की एक शाखा उन लोगों से **पूंजी** को, एकत्र करना, जो उसका प्रत्यक्ष नियोजन नहीं कर सकते, और उसे उन लोगों को वितरित अथवा अंतरित करना है, जो उसका प्रत्यक्ष नियोजन कर सकते हैं। दूसरी शाखा अपने ग्राहकों की **आयों** की जमाओं को प्राप्त करना, और इस रक़म को ग्राहकों की इच्छानुसार उनके उपभोग की वस्तुओं में ख़र्च के लिए दे देना है... पूर्वोक्त **पूंजी** का संचलन है और अंतोक्त **मुद्रा** का।"] (Tooke, *Inquiry into the Currency Priniciple*, London, p. 36.) पहला "एक ओर पूंजी का संकेंद्रण और दूसरी ओर उसका वितरण" है; अंतोक्त "इलाक़े के स्थानीय प्रयोजनों के लिए संचलन का उपयोग" करना है। (वही, पृष्ठ ३७।) निम्न अंश में किन्नियर द्वारा कहीं अधिक सही अवधारणा पेश की गयी है: "द्रव्य का... दो तत्वतः भिन्न क्रियाओं का निष्पादन करने के लिए उपयोग किया जाता है।... विक्रेताओं तथा विक्रेताओं के बीच विनिमय माध्यम के नाते यह वह साधन है, जिसके द्वारा पूंजी के अंतरण संपन्न किये जाते हैं; अर्थात द्रव्य के रूप में पूंजी की एक विशेष मात्रा का जिंसों के रूप में पूंजी की समान मात्रा से विनिमय। किंतु मजदूरी की अदायगी में और विक्रेताओं

एक ओर, मुद्रा जहां तक कि वह **आय के व्यय** का प्रवर्तन करती है, अतः अलग-अलग उपभोक्ताओं और खुदरा व्यापारियों के बीच, जिस संवर्ग में उपभोक्ताओं को – उत्पादक उपभोक्ताओं अथवा उत्पादकों से भिन्न अलग-अलग उपभोक्ताओं को – बिक्री करनेवाले सभी व्यापारी आ जाते हैं, लेन-देन प्रवर्तित करती है, **सिक्के** (द्रव्य) के रूप में संचलन करती है। यहां सिक्के के कार्य में द्रव्य परिचलन करता है, यद्यपि वह निरंतर **पूंजी प्रतिस्थापित करता है।** एक देश विशेष में **द्रव्य** का एक निश्चित अंश निरंतर इसी कार्य में लगा रहता है, यद्यपि इस अंश में अविराम बदलते अलग-अलग सिक्के ही होते हैं। लेकिन दूसरी ओर, जहां तक द्रव्य या तो क्रय साधन (संचलन माध्यम) के रूप में अथवा भुगतान साधन के रूप में **पूंजी के अंतरण** का प्रवर्तन करता है, वह **पूंजी** है। अतः उसे सिक्के से न उसका क्रय साधन के नाते कार्य विभेदित करता है, न भुगतान साधन की तरह कार्य, क्योंकि यह एक विक्रेता और दूसरे विक्रेता के बीच, जहां तक वे एक दूसरे से नक़दी में ख़रीदारी करते हैं, क्रय साधन का भी काम कर सकता है और विक्रेता तथा उपभोक्ता के बीच, जहां तक कि उधार दिया जाता है और अदायगी के पहले आय उपभुक्त होती है, भुगतान साधन का भी काम कर सकता है। इसलिए अंतर यह है कि दूसरे प्रसंग में यह द्रव्य न केवल एक पक्ष, विक्रेता, के लिए पूंजी को ही प्रतिस्थापित करता है, बल्कि दूसरे पक्ष, क्रेता, द्वारा पूंजी की तरह व्ययित, अग्रसारित किया जाता है। अतः अंतर वास्तव में **आय के द्रव्य रूप** और **पूंजी के द्रव्य रूप के बीच** है, किंतु मुद्रा और पूंजी के बीच नहीं, क्योंकि द्रव्य की एक ख़ास मात्रा उपभोक्ताओं तथा विक्रेताओं के बीच लेन-देनों की ही भांति विक्रेताओं के बीच लेन-देनों में भी **परिचालित होती है।** अतः वह **दोनों** ही कार्यों में समान रूप से **मुद्रा** है। टूक की अवधारणा इस प्रश्न में विभिन्न प्रकार से उलझन ले आती है:

१) कार्यात्मक विभेदों को उलझाकर;

२) दोनों कार्यों में एकसाथ परिचलन करते **द्रव्य** की मात्रा के प्रश्न को लाकर;

३) दोनों कार्यों में और इस प्रकार पुनरुत्पादन प्रक्रिया के दोनों क्षेत्रों में संचलनशील मुद्रा की मात्राओं के आपेक्षिक अनुपातों के प्रश्न को लाकर।

प्रसंग १) इन कार्यात्मक विभेदों को उलझाकर कि द्रव्य एक रूप में मुद्रा है और दूसरे रूप में पूंजी है। जहां तक द्रव्य एक या दूसरे कार्य में काम करता है, चाहे वह आय की सिद्धि करना हो या पूंजी का अंतरण करना, वह क्रय तथा विक्रय में, और भुगतान में, क्रय साधन या भुगतान साधन के रूप में कार्य करता है, और, शब्द के अधिक व्यापक अर्थों में, मुद्रा की तरह कार्य करता है। अपने व्ययकर्ता अथवा प्रापक के सोच-विचार में वह उसके लिए पूंजी अथवा आय होने का जो और प्रयोजन रखता है, वह किसी भी प्रकार कोई अंतर नहीं पैदा करता और यह भी दो बार देखने में आता है। यद्यपि दोनों क्षेत्रों में परिचलन करता द्रव्य अलग-अलग प्रकार का होता है, लेकिन द्रव्य का वही प्रतीक, उदाहरण के लिए पांच पाउंड

तथा उपभोक्ताओं के बीच क्रय-विक्रय में प्रयुक्त द्रव्य पूंजी नहीं, वरन आय है; समुदाय की आयों का वह अंश, जो दैनिक व्यय में लगा होता है। वह निरंतर दैनिक उपयोग में परिचालित होता है, और केवल वह ही पूर्ण औचित्य के साथ मुद्रा कहला सकता है। पूंजी की पेशगियां पूरी तरह से बैंक तथा पूंजी के क़ब्ज़ेदारों की इच्छा पर निर्भर करती हैं, क्योंकि क़र्ज़ लेनेवाले तो हमेशा उपलभ्य होते हैं, लेकिन मुद्रा की मात्रा दैनिक व्यय के लिए समुदाय की आवश्यकताओं पर निर्भर करती है, जिसमें द्रव्य परिचालित होता है।" (J. G. Kinnear, *The Crises and the Currency*, London, 1847 [pp. 3-4].)

का नोट, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चला जाता है और बारी-बारी से दोनों कार्यों को करता है, जो अनिवार्य है, चाहे इसीलिए ही सही कि खुदरा व्यापारी अपनी पूंजी को द्रव्य का रूप सिर्फ़ उस सिक्के की सूरत में ही दे सकता है, जो वह अपने ग्राहकों से प्राप्त करता है। यह माना जा सकता है कि वास्तविक रेजगारी का संचलन गुरुत्व केंद्र खुदरा व्यापार के अनुक्षेत्र में होता है; खुदरा व्यापारी को छुट्टा भूनने के लिए उसकी निरंतर आवश्यकता होती है और वह अपने ग्राहकों से भुगतान में उसे निरंतर पाता रहता है। लेकिन वह द्रव्य, अर्थात सिक्का, उस धातु में भी प्राप्त करता है ,जो मूल्य के मानक का काम करती है, अतः इंगलैंड में एक पाउंड के सिक्कों में और बैंक नोटों तक में, विशेषकर छोटे मूल्य वर्ग के नोटों में, जैसे पांच और दस पाउंड के नोट। खुदरा विक्रेता इन सोने के सिक्कों और नोटों को जितनी भी रेजगारी के बिना वह काम चला सकता है, उसके साथ हर दिन अथवा हर हफ़्ते अपने बैंक में जमा करा देता है, और अपनी ख़रीदारियों के लिए वह अपनी बैंक जमा पर चैक काटकर अदायगी करता है। लेकिन इन्हीं सोने के सिक्कों और नोटों को इतनी ही निरंतरता के साथ सारी जनता द्वारा अपनी उपभोक्ता की हैसियत में अपनी आय के द्रव्य रूप के नाते प्रत्यक्षतः या परोक्षतः निकाल लिया जाता है (जैसे, कारख़ानेदारों द्वारा मजदूरी अदा करने के लिए रेज़-गारी) और वे निरंतर खुदरा विक्रेताओं के पास वापस आते रहते हैं, जिनके लिए वे इस प्रकार फिर उनकी पूंजी के एक अंश का, लेकिन साथ ही उनकी आयों के एक अंश का भी सिद्धिकरण करते हैं। यह अंतिम तथ्य महत्वपूर्ण है और टूक इसे पूरी तरह से अनदेखा छोड़ देते हैं। पूंजी मूल्य शुद्धतः उसी रूप में सिर्फ़ तभी अस्तित्वमान होता है कि जब द्रव्य पुनरुत्पादन प्रक्रिया के आरंभ में द्रव्य पूंजी की तरह ख़र्च किया जाता है (पुस्तक २, भाग १)*। कारण कि उत्पादित जिंसों में सिर्फ़ पूंजी ही नहीं, बल्कि बेशी मूल्य भी सन्निहित होता है; वे स्वयं अपने में ही पूंजी नहीं होतीं, बल्कि पूंजी के रूप में सिद्धिकृत पूंजी, ऐसी पूंजी, जिसमें आय का स्रोत समाविष्ट है, हो चुकी होती हैं। इसलिए खुदरा व्यापारी अपने पास लौटते द्रव्य के बदले जो चीज़ – अपनी जिंसें – देता है, वह उसके लिए पूंजी जमा लाभ, पूंजी जमा आय है।

इसके अलावा, खुदरा व्यापारी के पास संचलनगत द्रव्य का लौटकर आना उसकी पूंजी के द्रव्य रूप को बहाल कर देता है।

इसलिए आय के परिचलन और पूंजी के परिचलन के रूप में परिचलन के भेद को मुद्रा और पूंजी के भेद में परिणत कर देना पूरी तरह से ग़लत है। टूक के मामले में यह अभिव्यंजना सिर्फ़ इस कारण है कि उन्होंने स्वयं अपने बैंक नोट जारी करनेवाले बैंकर के नज़रिये को अपना लिया है। उसके जो नोट लगातार जनता के हाथों में रहते हैं (चाहे वे निरंतर अलग-अलग नोट ही क्यों न हों) और मुद्रा का काम करते हैं, उनके लिए उसे काग़ज़ और छपाई की लागत के अलावा कुछ भी नहीं ख़र्च करना पड़ता। वे स्वयं उसके नाम बनाये गये संचलन-शील ऋणग्रस्तता प्रमाणपत्र (विनिमय पत्र) हैं, लेकिन वे उसके पास द्रव्य लाते हैं और इस प्रकार उसकी पूंजी का प्रसार करने के साधन का काम देते हैं। लेकिन वे उसकी पूंजी से भिन्न होते हैं, चाहे वह उसकी अपनी हो या उधार ली हुई हो। यही कारण है कि उसके लिए मुद्रा और पूंजी के बीच विशेष भेद है, लेकिन जिसका अपने में इन पदों की परिभाषा से कोई संबंध नहीं है, और टूक की परिभाषा से तो और भी कम।

---

*'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड २, पृष्ठ ३४-४१। – सं०

यह विशिष्ट लक्षण संचलन माध्यम के नाते द्रव्य के चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं लाता कि वह आय के द्रव्य रूप का काम दे रहा है या पूंजी के द्रव्य रूप का; वह इन दोनों में से चाहे किसी भी कार्य को करता हो, इस चरित्र को बनाये रखता है। बेशक, आय के द्रव्य रूप में कार्य करते हुए द्रव्य क्रय तथा विक्रय के छितराव के कारण और इसलिए वास्तविक संचलन माध्यम (सिक्के, क्रय साधन) का काम अधिक देता है कि आय के अधिकांश संवितरक, श्रमिक, उधार पर अपेक्षतया कम ही ख़रीद सकते हैं, जबकि व्यवसाय जगत के लेन-देन में, जहां संचलन माध्यम पूंजी का द्रव्य रूप होता है, द्रव्य अंशतः संकेंद्रण के कारण, और अंशतः उधार पद्धति के कारण मुख्यतः भुगतान साधन का ही काम करता है। लेकिन भुगतान के रूप में द्रव्य और क्रय साधन (संचलन साधन) के रूप में द्रव्य के बीच भेद ऐसा भेद है जिसका आशय स्वयं द्रव्य से ही है। यह कोई द्रव्य और पूंजी के बीच भेद नहीं है। खुदरा व्यापार में अधिक तांबे और चांदी का और थोक व्यापार में अधिक सोने का संचलन होता है। लेकिन एक ओर, चांदी और तांबे तथा दूसरी ओर, सोने में भेद ही संचलन साधन और पूंजी के बीच भेद नहीं है।

प्रसंग २) दोनों कार्यों में एकसाथ परिचलन करते द्रव्य की मात्रा के प्रश्न को लाकर। जहां तक द्रव्य परिचालित होता है, फिर चाहे क्रय साधन के रूप में अथवा भुगतान साधन के रूप में – वह दोनों में से चाहे किसी भी क्षेत्र में क्यों न परिचालित होता हो और आय अथवा पूंजी का सिद्धिकरण करने के उसके कार्य से निरपेक्ष – उसकी संचलनशील संहति की मात्रा जिंसों के साधारण परिचलन के विवेचन में पहले विकसित किये नियमों के अंतर्गत आती है (Buch I, Kap. III, 2, b)*। दोनों ही मामलों में संचलनशील द्रव्य की, मुद्रा की संहति को संचलन वेग, अतः एक नियत अवधि के भीतर द्रव्य के उन्हीं प्रतीकों अथवा सिक्कों द्वारा क्रय साधन तथा भुगतान साधन के नाते उसी कार्य की पुनरावृत्तियों की संख्या, एककालिक क्रयों तथा विक्रयों अथवा भुगतानों की संहति, परिचालित जिंसों के दामों की राशि, और अंततः उसी कालावधि में निपटाये जानेवाले भुगतान शेष निर्धारित करते हैं। इस प्रकार यह महत्वहीन है कि नियोजित द्रव्य देनेवाले या लेनेवाले के लिए पूंजी को प्रकट करता है या आय को, और यह बात को किसी भी तरह नहीं बदलता। उसकी संहति का निर्धारण केवल क्रय तथा भुगतान साधन के नाते उसके कार्य द्वारा किया जाता है।

प्रसंग ३) दोनों कार्यों में और इस प्रकार पुनरुत्पादन प्रक्रिया के दोनों क्षेत्रों में संचलन-शील मुद्रा की मात्राओं के आपेक्षिक अनुपातों के प्रश्न के बारे में। दोनों क्षेत्र आंतरिक रूप में संबद्ध हैं, क्योंकि एक ओर, ख़र्च की जानेवाली आयों की संहति उपभोग के परिमाण को व्यक्त करती है, और दूसरी ओर, उत्पादन तथा वाणिज्य में परिचलनशील पूंजी राशियों का परिमाण पुनरुत्पादन प्रक्रिया के परिमाण तथा वेग को प्रकट करता है। फिर भी, वही परि-स्थितियां दोनों कार्यों अथवा क्षेत्रों में परिचलनशील द्रव्य की मात्रा पर, अथवा जैसे बैंकिंग की बोलचाल में अंग्रेज कहते हैं, मुद्रा की मात्रा पर, भिन्न, बल्कि विपरीत दिशाओं तक में प्रभाव डालती हैं। और यह टूक के पूंजी तथा मुद्रा के बीच अप्रामाणिक विभेद का एक नया कारण देता है। यह तथ्य कि मुद्रा सिद्धांत के पक्षधर सज्जन दो भिन्न बातों को उलझा देते हैं, इसका कोई कारण नहीं है कि उन्हें दो भिन्न अवधारणाओं की तरह प्रस्तुत किया जाये।

समृद्धि, पुनरुत्पादन प्रक्रिया के तीव्र प्रसार, त्वरण और वर्धिष्णुता के समय मजदूर पूरी

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण: खंड १, अध्याय ३, २, ख।–सं०

तरह से बारोज़गार होते हैं। सामान्यतया मज़दूरी में भी चढ़ाव आता है, जो किसी हद तक व्यावसायिक चक्र के दूसरे दौरों में उसके औसत से नीचे गिरने की क़सर पूरी कर देता है। साथ ही पूंजीपतियों की आयें भी काफ़ी बढ़ जाती हैं। उपभोग आम तौर पर बढ़ता है। जिंस भाव भी नियमित रूप से बढ़ते हैं, कम से कम व्यवसाय की विभिन्न महत्वपूर्ण शाखाओं में। फलतः संचलनशील द्रव्य की मात्रा, कम से कम निश्चित सीमाओं के भीतर, बढ़ती है, क्योंकि अपनी बारी में संचलन का अधिक वेग मुद्रा की मात्रा की वृद्धि पर कुछेक अवरोध लगा देता है। चूंकि सामाजिक आय का वह अंश, जो मज़दूरी से बना होता है, मूलतः औद्योगिक पूंजीपति द्वारा परिवर्ती पूंजी के रूप में, और सदा द्रव्य रूप में ही, अग्रसारित किया जाता है, इसलिए समृद्धि के समय उसके परिचलन के लिए अधिक द्रव्य की आवश्यकता होती है। लेकिन इसकी दो बार गणना नहीं की जानी चाहिए – पहले परिवर्ती पूंजी के परिचलन के लिए आवश्यक द्रव्य के रूप में और फिर श्रमिकों की आय के परिचलन के लिए आवश्यक द्रव्य के रूप में। श्रमिकों को मज़दूरी की तरह दिया गया द्रव्य खुदरा व्यापार में ख़र्च हो जाता है और हफ़्ते में कोई एक बार खुदरा व्यापारियों की जमाओं की सूरत में छोटे-छोटे चक्रों में विभिन्न मध्यवर्ती लेन-देनों से होकर गुज़रने के बाद बैंकों में लौट आता है। समृद्धि के जमानों में औद्योगिक पूंजीपतियों के लिए द्रव्य का पश्चवाह सुचारु रूप में होता रहता है और इस कारण द्रव्य निभाव की आवश्यकता इसलिए नहीं बढ़ जाती कि अधिक मज़दूरी देनी होती है और उनकी परिवर्ती पूंजी के परिचलन के लिए अधिक द्रव्य आवश्यक होता है।

कुल नतीजा यह होता है कि आय के व्यय के साधक संचलनशील माध्यम की संहति समृद्धि के दौरों में निर्णायक रूप में बढ़ जाती है।

जहां तक पूंजी के अंतरण के लिए आवश्यक परिचलन की, अतः केवल पूंजीपतियों के बीच आवश्यक परिचलन की बात है, तेज़ व्यवसाय का दौर साथ ही अत्यंत लोचदार और आसान उधार का भी दौर होता है। स्वयं पूंजीपतियों के बीच संचलन वेग प्रत्यक्षतः उधार द्वारा नियमित किया जाता है और अदायगियों का – नक़द ख़रीदारियों तक में – निपटान करने के लिए आवश्यक संचलनशील माध्यम की संहति उसके अनुसार घट जाती है। वह निरपेक्ष अर्थों में बढ़ सकती है, किंतु पुनरुत्पादन प्रक्रिया के प्रसार की तुलना में सभी अवस्थाओं में घटती है। एक तरफ़, द्रव्य की मध्यस्थता के बिना बड़ी सामूहिक अदायगियों का निपटान होता है, दूसरी ओर, प्रक्रिया की वर्धिष्णुता के कारण क्रय साधन तथा भुगतान साधन – दोनों – के नाते द्रव्य की उतनी ही मात्राओं की अधिक तीव्र गति होती है। द्रव्य की उतनी ही मात्रा संख्या में अधिक व्यष्टिक पूंजियों का पश्चवाह करवाती है।

कुल मिलाकर ऐसी अवधियों में द्रव्य का संचलन पूर्ण प्रतीत होता है, यद्यपि उसका क्षेत्र II (पूंजी का अंतरण), कम से कम अपेक्षतया, संकुचित होता है, जबकि उसका क्षेत्र I (आय का व्यय) निरपेक्ष अर्थों में प्रसार करता है।

जैसे कि हम दूसरी पुस्तक, भाग १ में पुनरुत्पादन प्रक्रिया के विवेचन में देख चुके हैं, पश्चप्रवाह पण्य पूंजी के द्रव्य में पुनः परिवर्तन, M—C—M′, को व्यक्त करते हैं। उधार द्रव्य रूप में पश्चप्रवाह को औद्योगिक पूंजीपति और व्यापारी दोनों के लिए वास्तविक पश्चप्रवाह के समय से स्वतंत्र कर देता है। दोनों ही उधार बेचते हैं; इस प्रकार उनकी जिंसें उनके लिए द्रव्य में पुनःपरिवर्तित होने के पहले, अतः द्रव्य रूप में उनके पास वापस आने के पहले ही अन्यसंक्रामित हो जाती हैं। दूसरी ओर, वे उधार ख़रीदते हैं और इस तरह उनकी जिंसों

का मूल्य इसके भी पहले कि वह वस्तुतः द्रव्य में रूपांतरित हो, अर्थात इसके पूर्व कि जिंस दाम देय हो और दिया जाये, उत्पादक पूंजी अथवा पण्य पूंजी में पुनःपरिवर्तित हो जाता है। समृद्धि के ऐसे दौरों में पश्चप्रवाह सुचारुता तथा सुगमतापूर्वक हो जाता है। खुदरा विक्रेता सही वक़्त पर थोक विक्रेता की अदायगी कर देता है, थोक विक्रेता कारख़ानेदार की, कारख़ानेदार कच्चे मालों के आयातक की, आदि। आनेवाले उधार की बदौलत द्रुत तथा विश्वसनीय पश्च-प्रवाहों का आभास व्यवहार में सदा उनके समाप्त हो जाने के बाद भी बना रहता है, क्योंकि उधार के पश्चप्रवाह वास्तविक पश्चप्रवाहों का स्थान ले लेते हैं। बैंकों के ग्राहक जैसे ही द्रव्य की अपेक्षा विनिमय पत्र अधिक जमा करने लगते हैं कि वे ख़तरे को भांप जाते हैं। देखें लीवर-पूल के बैंकर का बयान, पृष्ठ ३६८।*

एक बात जोड़ दें, जो मैं पहले कह चुका हूं: "उत्कर्षमान उधार के दौरों में द्रव्य का संचलन वेग जिंस दामों से अधिक तेज़ी से बढ़ता है, जबकि ह्रासमान उधार के दौरों में जिंस दाम संचलन वेग से कम गति से गिरते हैं।" (*Zur Kritik der politischen Oekonomie*, 1859, S. 83, 84.)

संकट के काल में इसकी उलटी बात सही होती है। संचलन क्रमांक I संकुचित होता है, दाम गिरते हैं और इसी तरह मजदूरी भी गिरती है; बारोज़गार श्रमिकों की संख्या कम होती है, लेन-देनों की संहति घटती है। इसके विपरीत, संचलन क्रमांक II में द्रव्य निभाव की आवश्यकता उधार संकुचन के साथ बढ़ती है। इस बात का हम अधिक विस्तार के साथ विवेचन करेंगे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि उधार घटने के साथ, जो पुनरुत्पादन प्रक्रिया में गतिहीनता के साथ चलता है, क्रमांक I, आय के व्यय, के लिए आवश्यक संचलन संहति का संकुचन होता है, जबकि क्रमांक II, पूंजी के अंतरण, के लिए आवश्यक संहति का प्रसार होता है। किंतु फ़ुलार्टन तथा अन्य लोग जिस पर ज़ोर देते हैं, उससे यह कथन कहां तक मेल खाता है, इसका विश्लेषण करना अभी बाक़ी रहता है: "उधार पर पूंजी के लिए मांग और अतिरिक्त संचलन के लिए मांग सर्वथा भिन्न चीज़ें हैं और प्रायः साथ-साथ नहीं पायी जातीं।" (फ़ुला-र्टन, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृष्ठ ८२, अध्याय ५ का शीर्षक।)[90]

पहले तो प्रत्यक्ष है कि उपरोक्त दोनों में से पहले मामले में, समृद्धि के दौरों में, जब संचलनशील माध्यम की संहति को बढ़ जाना चाहिए, तो उसके लिए मांग बढ़ जाती है। किंतु

---

*प्रस्तुत पुस्तक: पृष्ठ ३६० – ३६३।– सं०

[90] "यह मानना सचमुच बहुत बड़ी ग़लती है कि द्रव्य निभाव के लिए" (अर्थात पूंजी के ऋण के लिए) "मांग अतिरिक्त संचलन साधनों के लिए मांग के ही समान है, अथवा यह भी कि ये दोनों प्रायः संबद्ध होती हैं। प्रत्येक मांग विशेषकर स्वयं उसे ही प्रभावित करने-वाली और एक दूसरे से बहुत भिन्न परिस्थितियों से उपजती है। जब सभी कुछ समृद्धि की हालत में लगता है, जब मजदूरी ऊंची होती है, दाम चढ़ते होते हैं और कारख़ाने व्यस्त होते हैं, सामान्यतया तब ही अधिक बड़े और संख्या में अधिक भुगतान करने की आवश्यकता से अवियोज्य अतिरिक्त कार्यों का निष्पादन करने के लिए **मुद्रा** की अतिरिक्त पूर्ति की ज़रूरत पड़ती है; जबकि मुख्यतः वाणिज्यिक चक्र की अधिक आगे की अवस्था में, जब कठिनाइयां सामने आने लगती हैं, जब बाजार पटे होते हैं और प्रतिफल विलंबित हो जाते हैं, तब ही ब्याज चढ़ता है और बैंक पर **पूंजी** की पेशगियों के लिए दबाव आता है। यह सही है कि अप वचन पत्रों के अलावा और कोई माध्यम नहीं है, जिसके ज़रिये बैंक पूंजी अग्रसारित किय

इसी प्रकार यह भी प्रत्यक्ष है कि जब कोई कारख़ानेदार बैंक से अपनी जमा में से इसलिए ज़्यादा सोना या बैंक नोट निकालता है कि उसे द्रव्य के रूप में अधिक पूंजी ख़र्च करनी होती है, तो उससे पूंजी के लिए उसकी मांग नहीं बढ़ जाती। बढ़ती केवल इस विशेष रूप के लिए उसकी मांग ही है, जिसमें वह अपनी पूंजी ख़र्च करता है। इस मांग का आशय केवल उस

करता हो, और इसलिए इन पत्नों को अस्वीकार करना निभाव अस्वीकार करना है। लेकिन निभाव प्रदान किये जाने के साथ हर चीज़ अपने को बाज़ार की आवश्यकताओं के अनुसार समंजित कर लेती है; क़र्ज़ बना रहता है, और मुद्रा, यदि अनावश्यक है, तो निर्गामी के पास लौटने का रास्ता निकाल लेती है। अतः संसदीय विवरणों की अत्यंत सतही समीक्षा भी किसी को भी इसका क़ायल कर सकती है कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड के हाथों में प्रतिभूतियों में उसके संचलन के विपरीत जितना उतार-चढ़ाव आते हैं, उतना उसके अनुरूप नहीं आते और इसलिए इस महान प्रतिष्ठान का उदाहरण उस सिद्धांत का कोई अपवाद नहीं पेश करता, जिस पर प्रादेशिक बैंकरों द्वारा इतना ज़ोर दिया जाता है कि कोई भी बैंक अपने संचलन को नहीं बढ़ा सकता, अगर वह संचलन उन प्रयोजनों के लिए पर्याप्त हो, जिनके लिए बैंक नोट संचलन का सामान्यतः उपयोग किया जाता है, लेकिन इस सीमा के बाहर निकल जाने के बाद उसे अपने अग्रसारणों में हर वृद्धि अपनी पूंजी से करनी होगी और उसकी पूर्ति अपनी कुछ आरक्षित प्रतिभूतियों से, या इस तरह की प्रतिभूतियों में और अधिक निवेश रोककर करनी होगी। पिछले एक पृष्ठ पर मैं १८३३ और १८४० के मध्यांतर के लिए संसदीय विवरणों से तैयार की गयी जिस तालिका का उल्लेख कर चुका हूं, वह इस सचाई के लगातार उदाहरण प्रदान करती है, लेकिन इनमें से दो इतने अनूठे हैं कि उनके आगे जाना मेरे लिए सर्वथा अनावश्यक होगा। ३ जनवरी, १८३७ को, जब उधार बनाये रखने और द्रव्य बाज़ार की कठिनाइयों का सामना करने में बैंक ऑफ़ इंगलैंड के साधनों पर अधिकतम दबाव था, हम उधार और बट्टे पर अग्रसारणों को १,७०,२२,००० पाउंड की विशाल राशि पर ले जाया गया पाते हैं, जितनी बड़ी रक़म युद्ध के बाद शायद ही कभी हुई हो और जो लगभग कुल सकल निर्गमों के बराबर है, जो इस बीच १,७०,७६,००० पाउंड जैसे निम्न बिंदु पर निश्चल पड़े रहते हैं! दूसरी ओर, ४ जून, १८३३ को हम १,८८,९२,००० पाउंड का संचलन और उसके साथ मात्र ९,७२,००० पाउंड की हस्तगत निजी प्रतिभूतियों का ही प्रत्यावर्तन पाते हैं, जो पिछली आधी सदी के लिए अगर बिलकुल ही न्यूनतम नहीं, तो भी लगभग न्यूनतम रेकार्ड तो ज़रूर है!" (फ़ुलार्टन, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृष्ठ ९७, ९८।) यह बात कि द्रव्य निभाव के लिए आवश्यकता का किसी भी प्रकार सोने के लिए (जिसे टूक, विलसन तथा अन्य लोग पूंजी कहते हैं) मांग के सर्वसम होना अनिवार्य नहीं है, बैंक ऑफ़ इंगलैंड के गवर्नर, श्री वैंगलिन के इस बयान से देखी जा सकती है: "विपत्नों का इस सीमा तक चुकता किया जाना" (लगातार तीन दिन दस लाख पाउंड रोज़) "आरक्षित निधि" (बैंक नोटों की) "को तब तक नहीं घटायेगा कि जब तक लोग सक्रिय संचलन की अधिक माला की मांग न करें। विपत्नों के चुकता किये जाने पर जारी किये गये नोट बैंकरों के माध्यम से और जमाओं के ज़रिये लौट आयेंगे। अगर ये लेन-देन बुलियन का निर्यात करने के उद्देश्य से ही न हों, और अगर कुछ माला में आंतरिक संत्रास न हो, जो लोगों को अपने नोट ताले में बंद कर देने को और उन्हें बैंकरों के हाथों न देने को प्रेरित कर दे, तो आरक्षित निधि पर लेन-देनों के परिमाण का कोई प्रभाव न पड़ेगा।" — "बैंक ऑफ़ इंगलैंड पंद्रह लाख पाउंड रोज़ चुकता कर सकता है, और यह हर दिन किया जा सकता है, और उसकी आरक्षित निधि पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि नोट जमाओं के रूप में वापस आते रहेंगे और महज़ एक खाते से दूसरे खाते में अंतरण के अलावा और कोई परिवर्तन नहीं आयेगा।" (बैंक अधिनियम, १८५७, पर रिपोर्ट, साक्ष्य सं० २४१, ५००) इसलिए नोट यहां मात्र जमाओं का अंतरण करने का ही काम करते हैं।

प्राविधिक रूप से है, जिसमें वह अपनी पूंजी को परिचलन में डालता है। वैसे ही, जैसे उधार पद्धति के भिन्न विकास के मामले में, मिसाल के लिए, उसी परिवर्ती पूंजी, अथवा मज़दूरी की उतनी ही मात्रा को एक देश की अपेक्षा दूसरे देश में, मसलन, स्कॉटलैंड की अपेक्षा इंगलैंड में और इंगलैंड की अपेक्षा जर्मनी में, संचलन साधनों की अधिक संहति की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कृषि में, पुनरुत्पादन प्रक्रिया में लगी उसी पूंजी को अपने कार्य का निष्पादन करने के लिए अलग-अलग मौसमों में द्रव्य की अलग-अलग मात्राओं की आवश्यकता होती है।

लेकिन फ़ुलार्टन जो वैषम्य दिखलाते हैं, वह सही नहीं है। मंदी के दौर को समृद्धि के दौर से जो बात विभेदित करती है, वह किसी भी प्रकार क़र्ज़ों के लिए प्रबल मांग नहीं है, जैसे वह कहते हैं, बल्कि वह सुगमता है, जिससे समृद्धि के दौरों में यह मांग तुष्ट हो जाती है और वे कठिनाइयां हैं, जिनका उसे मंदी के दौरों में सामना करना पड़ता है। वस्तुतः समृद्धि के दौर में उधार पद्धति का जो ज़बरदस्त विकास होता है और इसलिए उधार पूंजी के लिए मांग में जो ज़बरदस्त वृद्धि आती है और ऐसे दौरों में पूर्ति उसे जिस तत्परता से तुष्ट करती है, उसी के कारण मंदी के दौर में उधार का अभाव पैदा होता है। इसलिए यह क़र्ज़ों के लिए मांग के परिमाण में अंतर नहीं है कि जो इन दोनों दौरों की विशेषता होता है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, दोनों दौरों में मुख्य अंतर यह है कि समृद्धि के दौरों में उपभोक्ताओं तथा विक्रेताओं के बीच संचलन के लिए मांग का प्राधान्य होता है और मंदी के दौरों में पूंजीपतियों के बीच संचलन के लिए मांग का प्राधान्य होता है। मंदी के दौरान पूर्वोक्त घट जाता है और अंतोक्त बढ़ जाता है।

फ़ुलार्टन तथा अन्यों को जो चीज़ निर्णायक महत्व की प्रतीत होती है, वह यह परिघटना है कि ऐसे दौरों में जब बैंक ऑफ़ इंगलैंड के क़ब्ज़े में स्थित प्रतिभूतियों में वृद्धि आती है, तब उसके नोटों के संचलन में कमी आती है और इसी प्रकार विपरीत क्रम में इसका उलटा होता है। लेकिन प्रतिभूतियों का स्तर द्रव्य निभाव के आयतन को, चुकता किये विनिमय पत्रों के और विक्रेय संपार्श्विक की ज़मानत पर दी गयी पेशगियों के परिमाण को व्यक्त करता है। इस प्रकार उपरोक्त अंश में फ़ुलार्टन कहते हैं (पादटिप्पणी ९०, पृष्ठ ४३५*) कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड के हाथों की प्रतिभूतियां अधिकांशतः उसके संचलन की उलटी दिशा में घटती-बढ़ती हैं और इससे निजी बैंकों के इस पुराने मत की पुष्टि होती है कि कोई भी बैंक अपने नोटों के निर्गमन को अपने ग्राहकों की आवश्यकताओं द्वारा एक विशेष बिंदु के आगे नहीं ले जा सकता; लेकिन अगर कोई बैंक इस सीमा के आगे अग्रसारण करना चाहता है, तो उसे ये अग्रसारण अपनी पूंजी से करने होंगे, अतः उसे या तो प्रतिभूतियों पर वसूली करनी होगी, या उन जमाओं का उपयोग करना होगा, जिन्हें उसने अन्यथा प्रतिभूतियों में निवेशित कर दिया होता।

लेकिन इससे यह भी प्रकट हो जाता है कि फ़ुलार्टन का पूंजी से क्या अभिप्राय है। यहां पूंजी क्या द्योतित करती है? यह कि बैंक अब स्वयं अपने बैंक नोटों से, या वचन पत्रों से अग्रसारण नहीं कर सकता, जिनके लिए उसे निस्संदेह कुछ ख़र्च नहीं करना पड़ता। लेकिन उस सूरत में वह अग्रसारण करता किस चीज़ से है? आरक्षित रखी प्रतिभूतियों, अर्थात सरकारी बांडों, स्टाकों तथा अन्य ब्याजी पत्रों की बिक्री से। और ऐसे पत्रों की बिक्री की अदायगी में उसे क्या प्राप्त होता है? द्रव्य–सोना अथवा बैंक नोट, जहां तक अंतोक्त वैध मुद्रा होते

* प्रस्तुत संस्करण: पृष्ठ ३९४–३९५।–सं०

हैं, जैसे बैंक ऑफ़ इंगलैंड के बैंक नोट हैं। बैंक जो अग्रसारित करता है, वह सभी परिस्थितियों में द्रव्य ही होता है। किंतु यह द्रव्य अब उसकी पूंजी का हिस्सा बन जाता है। अगर वह सोना अग्रसारित करता है, तो यह स्वतःस्पष्ट है। अगर वह नोट देता है, तो अब ये नोट पूंजी को प्रकट करते हैं, क्योंकि उसने उनके लिए कुछ वास्तविक मूल्य को छोड़ा है, जैसे ब्याजी पत्र। निजी बैंकों के मामले में उनके द्वारा प्रतिभूतियों की बिक्री के ज़रिये हासिल किये गये नोट, कुल मिलाकर, बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोटों या ख़ुद उनके नोटों के अलावा और कुछ नहीं हो सकते, क्योंकि दूसरे नोट मुश्किल से ही प्रतिभूतियों के भुगतान में लिये जायेंगे। अगर यह बैंक स्वयं बैंक ऑफ़ इंगलैंड है, तो स्वयं अपने नोट, जो वह बदले में पाता है, उसे पूंजी, अर्थात ब्याजी पत्रों के ख़र्च पर मिलते हैं। इसके अलावा, वह उसके द्वारा स्वयं अपने नोटों का संचलन से प्रत्याहरण करता है। अगर वह इन नोटों का पुनर्निर्गमन करता है, अथवा उनकी जगह नये नोट जारी करता है, तो वे अब पूंजी को प्रकट करते हैं। और वे पूंजी का समान रूप से तब भी काम देते हैं, जब पूंजीपतियों को ऋण देने के लिए उपयोग में लाये जाते हैं, और तब भी कि जब उनका बाद में, जब ऐसे द्रव्य निभावों के लिए मांग घट जाती है, प्रतिभूतियों में पुनर्निवेशन के लिए उपयोग किया जाता है। इन सभी मामलों में पूंजी शब्द का सिर्फ़ बैंकर के दृष्टिकोण से ही प्रयोग किया गया है, और उसका मतलब है कि बैंकर को मात्र अपनी जमा से अधिक उधार देना पड़ता है।

जैसे कि ज्ञात है, बैंक ऑफ़ इंगलैंड अपने सभी अग्रसारण अपने ही नोटों में करता है। लेकिन, इसके बावजूद, अगर सामान्यतः बैंक का बैंक नोट संचलन उसके हाथ में स्थित बट्टागत विनिमय पत्रों तथा संपार्श्विकों और इस प्रकार उसके अग्रसारणों के बढ़ने के साथ अनुपात में घट जाता है, तो संचलन में डाले गये नोटों का क्या होता है? वे बैंक ऑफ़ इंगलैंड के पास कैसे वापस आते हैं?

पहली बात तो यही है कि अगर द्रव्य निभाव की मांग प्रतिकूल राष्ट्रीय भुगतान शेष से पैदा होती है और इस प्रकार उसमें स्वर्ण का अपवाह सन्निहित होता है, तब तो बात बिलकुल सीधी है। विनिमय पत्र बैंक नोटों में चुकता किये जाते हैं। बैंक नोटों का स्वयं बैंक ऑफ़ इंगलैंड द्वारा अपने निर्गम विभाग में सोने से विनिमय कर लिया जाता है और इस सोने का निर्यात कर दिया जाता है। यह ऐसा ही है, मानो बैंक ऑफ़ इंगलैंड ने विनिमय पत्रों को चुकता करने में नोटों की मध्यस्थता के बिना सीधे ही सोने का भुगतान कर दिया हो। ऐसी बढ़ी हुई मांग, जो कुछ मामलों में ७० से १०० लाख पाउंड की हो सकती है, क़ुदरती तौर पर देश के आंतरिक संचलन में एक पांच पाउंड के नोट की भी वृद्धि नहीं करती। अब अगर यह कहा जाता है कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड पूंजी अग्रसारित करता है, मुद्रा नहीं, तो इसका मतलब दो बातें हैं। पहली यह कि वह ऋण नहीं, वरन वास्तविक मूल्यों का, स्वयं अपनी पूंजी के अथवा अपने पास जमा करायी पूंजी के एक हिस्से का अग्रसारण करता है। दूसरी यह कि वह द्रव्य अंतर्देशीय नहीं, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय संचलन के लिए अग्रसारित करता है, वह विश्व द्रव्य अग्रसारित करता है और इस प्रयोजन के लिए द्रव्य को सदा अपसंचय या जख़ीरे के रूप में, अपने धात्विक रूप में, उस रूप में रहना चाहिए, जिसमें वह मात्र मूल्य का एक रूप नहीं, वरन स्वयं मूल्य होता है, जिसका वह द्रव्य रूप है। यद्यपि यह सोना अब बैंक ऑफ़ इंगलैंड के लिए और निर्यातक स्वर्ण-विक्रेता के लिए भी पूंजी को, अर्थात बैंकिंग या वाणिज्यिक पूंजी को प्रकट करता है, उसके लिए मांग पूंजी के लिए नहीं, बल्कि द्रव्य पूंजी के निरपेक्ष रूप के लिए मांग है। यह मांग

ठीक उस क्षण पैदा होती है, जब विदेशी बाज़ार अविक्रेय ब्रिटिश पण्य पूंजी से पटे पड़े होते हैं। इसलिए जिसकी आवश्यकता है, वह पूंजी के नाते **पूंजी** नहीं, बल्कि **द्रव्य** के नाते पूंजी है, उस रूप में पूंजी है, जिसमें द्रव्य एक सार्विक विश्व बाज़ार जिंस का काम देता है; और यह उसका बहुमूल्य धातु का मूल रूप है। अतः, स्वर्ण अपवाह "मात्र पूंजी का प्रश्न" नहीं है, जैसे फ़ुलार्टन, टूक, आदि दावा करते हैं। इसके विपरीत, यह "द्रव्य का प्रश्न" है, चाहे एक विशिष्ट कार्य में ही सही। यह तथ्य कि यह **अंतर्देशीय** संचलन का प्रश्न नहीं है, जैसे मुद्रा सिद्धांत के पैरोकार मानते हैं, यह बिलकुल भी नहीं सिद्ध करता कि यह मात्र पूंजी का प्रश्न है, जैसे फ़ुलार्टन तथा अन्य लोग सोचते हैं। यह द्रव्य का उस रूप में प्रश्न है, जिसमें द्रव्य अंतर्राष्ट्रीय भुगतान साधन होता है। "यह पूंजी" (स्वदेश में फ़सल मारे जाने के बाद दस लाख क्वार्टर गेहूं ख़रीदने की क़ीमत) "मालों के रूप में अंतरित होती है या धातु के रूप में, एक ऐसी बात है कि जो लेन-देन के स्वरूप को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करती।" (फ़ुलार्टन, पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृष्ठ १३१।) किंतु वह इस प्रश्न पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है कि स्वर्ण अपवाह है कि नहीं है। पूंजी बहुमूल्य धातु के रूप में अंतरित की जाती है, क्योंकि जिंसों के रूप में वह या तो अंतरित की ही नहीं जा सकती, या बहुत हानि के साथ ही की जा सकती है। आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का स्वर्ण अपवाह का भय तो उससे भी अधिक है, जिसकी मुद्रा प्रणाली कल्पना भी कर सकती थी, जो बहुमूल्य धातुओं को एकमात्र यथार्थ संपत्ति मानती थी। उदाहरण के लिए, १८४७-४८ के संकट पर संसदीय समिति के सामने बैंक ऑफ़ इंगलैंड के गवर्नर मॉरिस के इस बयान को ले लीजिये। (३८४६। प्रश्न:) "जब मैं भंडारों और स्थायी पूंजी के मूल्यह्रास की बात कर रहा था, तो आपको मालूम है न कि भंडारों में और सभी प्रकार के मालों में निवेशित सारी ही संपत्ति इसी प्रकार मूल्यह्रासित हो गयी थी और कपास, कच्चे रेशम और कच्चे ऊन को इसी ह्रासित दाम पर महाद्वीप भेजा गया था और शकर, कॉफ़ी तथा चाय को ऐसे तजना पड़ा था, जैसे जबरी बिक्रियों में करना पड़ता है? – यह अनिवार्य ही था कि देश को **बुलियन के बहिर्वाह** का जो अनाज के भारी आयात के परिणामस्वरूप हुआ था, सामना करने के लिए **काफ़ी त्याग** करना पड़े।" – "३८४८। क्या आप यह नहीं समझते कि ऐसा त्याग करके सोना वापस पाने का प्रयास करने की अपेक्षा बैंक ऑफ़ इंगलैंड की तिजोरियों में पड़े ८० लाख पाउंड का अतिक्रमण करना बेहतर रहता? – **नहीं, मैं नहीं समझता।**" – यहां यह सोना ही है, जो एकमात्र यथार्थ संपत्ति का परिचायक है।

फ़ुलार्टन टूक की इस खोज का उल्लेख करते हैं कि "सिर्फ़ एक-दो अपवादों के साथ, और जिनका संतोषजनक कारण देना संभव है, पिछली आधी सदी के दौरान विनिमय की स्वर्ण अपवाह द्वारा अनुसृत हर उल्लेखनीय गिरावट हमेशा संचलन माध्यम की अपेक्षाकृत निम्न अवस्था की सहगामिनी रही है और विपरीत क्रम में इसका उलटा रहा है।" (फ़ुलार्टन, पृष्ठ १२१।) यह खोज सिद्ध करती है कि ऐसे स्वर्ण अपवाह सामान्यतः "शुरू हो चुके निपात के संकेत... बाज़ारों के पटे होने के, हमारे मालों के लिए विदेशी मांग के ख़त्म हो जाने के, विलंबित आवर्तों के सूचक, और, इन सभी के अनिवार्य परिणाम के रूप में, वाणिज्यिक साख के उठने, कारख़ानों के बंद होने, कारीगरों के भूखों मरने और उद्योग तथा उद्यमशीलता के सामान्य गतिरोध" की सूरत में तेजी और फाटके के दौर के बाद होते हैं (पृष्ठ १२६)। स्वाभाविकतया यह साथ ही मुद्रा सिद्धांत के पैरोकारों के इस दावे का सर्वोत्तम खंडन है कि "पूर्ण संचलन बुलियन को बाहर धकेल देता है और कम संचलन उसे खींचता है।" उलटे,

बैंक ऑफ़ इंगलैंड जहां समृद्धि के दौर में आम तौर पर विशाल स्वर्ण आरक्षण बनाये रखता है, इस जख़ीरे का निर्माण आम तौर पर मंदी के उस दौर में ही होता है, जो तेजी के बाद आता है।

इस प्रकार स्वर्ण अपवाह के बारे में यह सारा सयानापन यह कहने जैसा है कि **अंतर्राष्ट्रीय** संचलन तथा भुगतान साधनों के लिए मांग **आंतरिक** संचलन तथा भुगतान साधनों के लिए मांग से भिन्न होती है (और इसलिए यह कहना अनावश्यक है कि "अपवाह के होने में संचलन के लिए आंतरिक मांग में अनिवार्यतः कोई ह्रास सन्निहित नहीं है," जैसे फ़ुलार्टन अपनी कृति के पृष्ठ ११२ पर कहते हैं) और यह कि बहुमूल्य धातु का निर्यात तथा उसका अंतर्राष्ट्रीय संचलन में डाला जाना आंतरिक संचलन में नोट अथवा बहुमूल्य धातु डालने के बराबर नहीं है। इसके अलावा, मैं पहले ही अन्यत्र दिखला चुका हूं* कि अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए आरक्षित निधि के रूप में संकेंद्रित अपसंचय की गतियों का अपने में संचलन माध्यम के नाते द्रव्य की गतियों से कोई संबंध नहीं है। बहरहाल, प्रश्न को यह तथ्य पेचीदा बना देता है कि अपसंचय के विभिन्न कार्य, जिन्हें मैंने द्रव्य की प्रकृति से निकाला है – जैसे उसका घरेलू व्यापार में देय विपत्रों के लिए भुगतान साधनों की आरक्षित निधि का कार्य, मुद्रा की आरक्षित निधि का कार्य, और अंततः, विश्व द्रव्य की आरक्षित निधि का कार्य – यहां एक अकेली आरक्षित निधि से जुड़े हैं। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि कुछेक परिस्थितियों में बैंक से सोने का आंतरिक बाजार को अपवाह विदेश को अपवाह से संयुक्त हो सकता है। लेकिन प्रश्न इस तथ्य से और पेचीदा हो जाता है कि इस अपसंचय पर उन देशों में बैंक नोटों की विनिमेयता को प्रत्याभूत करने की निधि का काम देने का अतिरिक्त कार्य मनमाने ढंग से डाल दिया जाता है, जिनमें उधार पद्धति और साख द्रव्य विकसित होते हैं। और इन सभी के बाद १) राष्ट्रीय आरक्षित निधि का एक अकेले केंद्रीय बैंक में संकेंद्रण, और २) उसका यथासंभव न्यूनतम तक घटाया जाना आता है। और इसी से फ़ुलार्टन की यह शिकायत भी पैदा होती है (पृष्ठ १४३): "इस बात पर विचार करते हुए कि इंगलैंड में बैंक के कोष का निःशेष होने के निकट पहुंचना हर बार जो बेचैनीभरी अशांति और आशंका उत्पन्न करता है, उसकी तुलना में महाद्वीपीय देशों में विनिमय के विचरण जितनी शांति तथा सुगमतापूर्वक संपन्न हो जाते हैं, इस मामले में धातु मुद्रा को जो भारी श्रेष्ठता प्राप्त है, उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता।"

लेकिन हम अगर अब स्वर्ण अपवाह को अलग छोड़ दें, तो भला बैंक ऑफ़ इंगलैंड की तरह नोट जारी करनेवाला कोई बैंक अपने बैंक नोट निर्गमन को बढ़ाये बिना अपने द्वारा प्रदत्त द्रव्य निभाव की मात्रा को कैसे बढ़ा सकता है?

जहां तक स्वयं बैंक का संबंध है, उसकी दीवारों के बाहर सभी नोट, वे चाहे संचलनगत हों, या निजी जख़ीरों में हों, संचलन में हैं, अर्थात उसके क़ब्ज़े में नहीं हैं। इसलिए अगर बैंक अपने बट्टा तथा महाजनी कार्य का, प्रतिभूतियों पर अग्रसारणों का, प्रसार करता है, तो उसके द्वारा इस प्रयोजन के लिए जारी किये गये सभी नोटों को लौट आना चाहिए, क्योंकि अन्यथा वे संचलन के परिमाण को बढ़ायेंगे, और यही नहीं होना चाहिए। यह प्रत्यावर्तन दो तरीक़ों से हो सकता है।

पहला: बैंक क को प्रतिभूतियों की जमानत पर नोट देता है; क उनका ख को देय विनिमय पत्रों का भुगतान करने के लिए उपयोग करता है, और ख इन नोटों को एक बार

---

*'पूंजी', हिन्दी संस्करण: खंड १, पृष्ठ १६३-६५। – सं०

फिर बैंक में जमा कर देता है। इसके साथ इन नोटों का संचलन संपूर्ण हो जाता है, लेकिन क़र्ज़ बना रहता है। ("क़र्ज़ बना रहता है, और मुद्रा, यदि अनावश्यक है, तो निर्गामी के पास लौटने का रास्ता निकाल लेती है।" फ़ुलार्टन, पृष्ठ ९७।) बैंक ने क को जो नोट अग्रसारित किये थे, अब उसके पास लौट आये हैं, लेकिन वह इन नोटों में अभिव्यक्त मूल्य के लिए क का, अथवा जिसने भी क द्वारा भुनाये हुए विपत्र को बनाया है, उसका लेनदार है और ख का देनदार है और इस प्रकार बैंक की पूंजी का एक अनुरूप अंश ख के पास है।

दूसरा: क ख को नोट देता है, और ख स्वयं, या ग, जिसे वह ये नोट देता है, इन नोटों का प्रत्यक्षतः बैंक को देय विपत्रों का भुगतान करने के लिए उपयोग कर लेता है। इस प्रसंग में बैंक को की गयी अदायगी स्वयं उसके अपने नोटों में होती है। इससे लेन-देन पूरा हो जाता है (बैंक को क द्वारा वापस अदायगी तक)।

अब क को बैंक के अग्रसारणों को किस सीमा तक पूंजी का अग्रसारण, अथवा मात्र भुगतान साधनों का अग्रसारण माना जायेगा? [91]

[यह स्वयं ऋण की प्रकृति पर निर्भर करता है। इसमें हमें तीन स्थितियों में भेद करना होगा।

पहली स्थिति: क बैंक से अपनी निजी साख पर कोई ज़मानत दिये बिना रक़में उधार पाता है। इस स्थिति में वह केवल भुगतान साधन ही नहीं, बल्कि निस्संदिग्ध रूप में नयी पूंजी भी प्राप्त करता है, जिसका वह अपने व्यवसाय में नियोजन कर सकता है और भुगतान तिथि तक अतिरिक्त पूंजी की तरह सिद्धिकरण कर सकता है।

दूसरी स्थिति: क ने बैंक को संपार्श्विक के रूप में प्रतिभूतियां, राष्ट्रीय बांड अथवा स्टाक (पूंजीपत्र) दिये हैं, और उनके बदले, मिसाल के लिए, उनके सामयिक मूल्य का दो-तिहाई तक नक़द ऋण के रूप में प्राप्त किया है। इस स्थिति में उसने अपनी ज़रूरत के भुगतान साधन तो प्राप्त कर लिये हैं, पर कोई अतिरिक्त पूंजी नहीं प्राप्त की है, क्योंकि उसने बैंक से जितना प्राप्त किया है, उसकी अपेक्षा अधिक पूंजी मूल्य उसे सौंपा है। लेकिन यह अधिक पूंजी मूल्य, एक ओर, उसकी सामयिक आवश्यकताओं (भुगतान साधनों) के लिए अनुपलभ्य था, क्योंकि वह एक विशेष ब्याजी रूप में निवेशित था; दूसरी ओर, क अपने निजी कारणों से इस पूंजी मूल्य को बेचकर सीधे भुगतान साधनों में परिवर्तित नहीं करना चाहता था। और बातों के अलावा उसकी प्रतिभूतियों ने आरक्षित पूंजी का काम किया और उसने उन्हें उसी रूप में चालू किया। इसलिए क तथा बैंक के बीच लेन-देन पूंजी का अस्थायी पारस्परिक अंतरण ही है, जिससे क कोई अतिरिक्त पूंजी नहीं प्राप्त करता (बात बिलकुल उलटी ही है!), यद्यपि वह वांछित भुगतान साधन पा जाता है। इसके विपरीत, बैंक के लिए यह लेन-देन ऋण के रूप में द्रव्य पूंजी का एक अस्थायी निवेशन, द्रव्य पूंजी का एक रूप से दूसरे में परिवर्तन है, और यह परिवर्तन ही वस्तुतः बैंकिंग व्यवसाय का तात्विक कार्य है।

---

[91] मूल प्रति में इसके बाद जो अंश आता है, वह इस संदर्भ में दुर्बोध है और संपादक ने वर्ग-कोष्ठकों के अंत तक उसका पुनर्लेखन किया है। एक अन्य प्रसंग में इस मुद्दे को छब्बीसवें अध्याय में पहले ही लिया जा चुका है। [प्रस्तुत संस्करण: पृष्ठ ३७६ – ३७८। – सं०] – फ़े० एं०

तीसरी स्थिति : क ने बैंक से विनिमय पत्र भुनवाया और बट्टा काटने के बाद उसका मूल्य नक़दी में प्राप्त किया। इस स्थिति में उसने मूल्य की विनिमेय रूप में रक़म के बदले अविनिमेय द्रव्य पूंजी बेची है। उसने अपने अभी चालू विपत्र को नक़द द्रव्य के बदले बेचा है। विनिमय पत्र अब बैंक की संपत्ति है। इससे इस बात में कोई अंतर नहीं आता कि विनिमय पत्र के अंतिम पृष्ठांकनकर्ता (बेचानकर्ता) के नाते क उसके लिए अदायगी की चूक की हालत में बैंक के प्रति उत्तरदायी है। इस उत्तरदायित्व में वह विनिमयपत्र के अन्य पृष्ठांकनकर्ताओं और उसे बनानेवाले का सहभागी है, जिनमें से सभी उसके प्रति उत्तरदायी हैं। इसलिए इस स्थिति में हमारे सामने ऋण की नहीं, बल्कि सामान्य क्रय-विक्रय की ही बात है। यही कारण है कि क को बैंक को कुछ वापस नहीं करना है। बैंक विनिमय पत्र के देय हो जाने पर उसका भुगतान करवाकर स्वयं अपनी प्रतिपूर्ति कर लेता है। यहां भी क और बैंक के बीच पूंजी का अंतरण हुआ है और बिलकुल उसी प्रकार कि जैसे किसी भी अन्य जिंस के क्रय-विक्रय में होता है, और यही कारण है कि क ने कोई अतिरिक्त पूंजी नहीं प्राप्त की। उसे जिसकी जरूरत थी और जो उसने प्राप्त किया, वे भुगतान साधन थे, और उसने उन्हें बैंक से अपनी द्रव्य पूंजी के एक रूप – अपने विनिमय पत्र – को दूसरे रूप – द्रव्य – में परिवर्तित करवाकर प्राप्त कर लिया।

इसलिए सिर्फ़ पहली स्थिति में ही पूंजी के वास्तविक अग्रसारण का कोई सवाल पैदा होता है, दूसरी और तीसरी स्थितियों में इसे केवल इसी अर्थ में ऐसा माना जा सकता है कि पूंजी के प्रत्येक निवेश में "पूंजी का अग्रसारण" सन्निहित होता है। इस अर्थ में बैंक क को द्रव्य पूंजी अग्रसारित करता है, लेकिन क के लिए वह हद से हद इसी अर्थ में **द्रव्य पूंजी** है कि वह उसकी सामान्य रूप में पूंजी का एक अंश है। और वह उसे विशेष रूप से पूंजी के नाते नहीं, बल्कि विशेषकर भुगतान साधन के नाते चाहता है और इस्तेमाल करता है। अन्यथा जिंसों की हर ऐसी सामान्य बिक्री को, जिससे भुगतान साधन प्राप्त किये जाते हैं, पूंजी का ऋण प्राप्त करना माना जा सकता है। – फ़्रे० एं०]

स्वयं अपने नोट जारी करनेवाले निजी बैंकों के मामले में यह अंतर होता है कि अगर उनके नोट न तो स्थानीय संचलन में रहते हैं और न ही उनके पास जमाओं के रूप में अथवा देय विनिमय पत्रों की अदायगी में लौटकर आते हैं, तो वे ऐसे लोगों के हाथों में पड़ जाते हैं, जो निजी बैंक को इन नोटों का सोने में या बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोटों में भुगतान करने के लिए विवश करते हैं। इसलिए इस प्रसंग में उसके नोटों का उधार दिया जाना वास्तव में बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोटों के उधार दिये जाने, अथवा, जो निजी बैंक के लिए वही बात है, सोने के, अतः उसकी बैंक पूंजी के एक अंश के अग्रसारण को व्यक्त करती है। यही उस स्थिति में भी होता है, जब स्वयं बैंक ऑफ़ इंगलैंड या नोट जारी करने की नियत वैध अधिकतम सीमा रखनेवाले किसी और बैंक को स्वयं अपने नोटों का संचलन से प्रत्याहरण करने के लिए और फिर उन्हें ऋणों के रूप में फिर से जारी करने के लिए प्रतिभूतियों को बेचना होता है; इस मामले में बैंक के अपने नोट उसकी संग्रहीत बैंक पूंजी के एक अंश को प्रकट करते हैं।

अगर संचलन केवल धातु मुद्रा का ही होता, तो भी यह संभव हुआ होता कि १) स्वर्ण अपवाह [प्रत्यक्षतः मार्क्स यहां ऐसे स्वर्ण अपवाह की बात कर रहे हैं, जो, कम से कम अंशतः, विदेश जाये] कोष को रिक्त करे, और २) चूंकि सोने की जरूरत मुख्यतः बैंक को अदायगियां

करने (विगत लेन-देनों के निपटारे में) के लिए पड़ेगी, इसलिए संपार्श्विक पर अग्रसारण काफ़ी बढ़ जायेगा, लेकिन जमाओं के रूप में अथवा देय विनिमय पत्रों की अदायगी में उसके पास वापस आ जायेगा, जिसके कारण एक ओर तो बैंक का कुल कोष उसके हाथों में प्रतिभूतियों की वृद्धि के साथ घटता जायेगा, जबकि दूसरी ओर, अब उसके क़ब्ज़े में अपने जमाकर्ताओं के देनदार के नाते उतनी ही रक़म होगी, जितनी उसके पास पहले स्वामी के नाते थी, और अंततः मुद्रा की कुल मात्रा घट जायेगी।

अभी तक हम यह मानते आये हैं कि ऋण नोटों में दिये जाते हैं, जिससे कि वे अपने साथ नोट निर्गमन में कम से कम एक अस्थायी, चाहे तत्क्षण विलोपमान ही सही, वृद्धि को लेकर चलते हैं। किंतु यह आवश्यक नहीं है। काग़ज़ी नोट देने के बजाय बैंक क के लिए एक जमा खाता खोल सकता है, जिस स्थिति में यह क, बैंक का देनदार, उसका कल्पित जमाकर्ता बन जाता है। वह अपने लेनदारों का बैंक के नाम चैकों से भुगतान करता है और इन चैकों का प्रापक उन्हें स्वयं अपने बैंकर के पास भेज देता है, जो उनका समाशोधन गृह में अपने पर बक़ाया चैकों से विनिमय कर लेता है। इस प्रसंग में नोटों की मध्यस्थता बिलकुल भी नहीं होती और सारा लेन-देन इसी बात तक सीमित रहता है कि बैंक अपने क़र्ज़ का स्वयं अपने नाम बने चैक से निपटारा कर लेता है और उसकी वास्तविक पुनःप्रतिपूर्ति क पर उसके दावे में ही सन्निहित होती है। इस प्रसंग में बैंक ने स्वयं अपनी बैंक पूंजी के एक अंश को स्वयं अपने लेनदारी के दावे के कारण क को उधार दिया है।

द्रव्य निभाव के लिए यह मांग जहां तक पूंजी के लिए मांग है, वह सिर्फ़ द्रव्य पूंजी के किए ही मांग है। वह सिर्फ़ बैंकर के दृष्टिकोण से ही पूंजी है, अर्थात सोना (विदेश स्वर्ण निर्यात के मामले में) अथवा नेशनल बैंक के नोट, जिन्हें निजी बैंक सिर्फ़ एक समतुल्य के बदले क्रय द्वारा ही प्राप्त कर सकता है और इसलिए जो उसके लिए पूंजी को प्रकट करते हैं। या फिर यह ब्याजी पत्रों, सरकारी बांडों, स्टाकों, आदि की बात होती है, जिन्हें सोना अथवा बैंक नोट प्राप्त करने के लिए बेचना होता है। लेकिन ऐसे विपत्र – अगर वे सरकारी बांडों के रूप में हैं – सिर्फ़ क्रेता के लिए ही पूंजी होते हैं, जिसके लिए वे क्रय दाम को, उसके द्वारा उनमें निवेशित पूंजी को प्रकट करते हैं। अपने आप में वे पूंजी नहीं होते, बल्कि महज़ लेनदारी के दावे ही होते हैं। अगर वे रेहननामे हों, तो वे सिर्फ़ भावी किराया ज़मीन पर हक़नामे ही होते हैं। और अगर वे स्टाक के शेयर हैं, तो वे मात्र स्वामित्व के हक़नामे हैं, जो धारक को भावी बेशी मूल्य में अंश पाने का अधिकार प्रदान करते हैं। ये सब वास्तविक पूंजी नहीं हैं। वे पूंजी के संघटक अंग नहीं हैं, न वे अपने आप में मूल्य ही हैं। इसी प्रकार के लेन-देनों के ज़रिये बैंक का द्रव्य जमाओं में रूपांतरित किया जा सकता है, जिससे बैंक इस द्रव्य के स्वामी के बजाय देनदार बन जाता है और उसे एक भिन्न स्वत्वाधिकार के अंतर्गत अपने पास रखता है। बैंक के लिए यह चाहे कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, वह आरक्षित पूंजी की संहति, अथवा किसी देश विशेष में उपलभ्य द्रव्य पूंजी की संहति तक में कोई अंतर नहीं लाता। इसलिए पूंजी यहां सिर्फ़ द्रव्य पूंजी को ही व्यक्त करती है, और यदि वह द्रव्य के वास्तविक रूप में उपलब्ध न हो, तो पूंजी पर मात्र हक़ को ही प्रकट करती है। यह बात बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि **बैंक** पूंजी की दुर्लभता, और उसके लिए सख़्त मांग को **वास्तविक** पूंजी के घटाव के साथ उलझा दिया जाता है, जो विलोमतः ऐसे मामलों में उत्पादन साधनों तथा मालों के रूप में प्रचुरता में होती है और बाजारों को आप्लावित कर देती है।

इस प्रकार, इसकी व्याख्या करना सुगम ही है कि बैंक के क़ब्ज़े में संपार्श्विक के रूप में प्रतिभूतियों की संहति किस प्रकार बढ़ती जाती है, अतः बैंक द्वारा द्रव्य निभाव के लिए बढ़ती मांग किस प्रकार तुष्ट की जा सकती है, जबकि मुद्रा की कुल संहति उतनी ही बनी रहती है अथवा घट जाती है। द्रव्याभाव की ऐसी अवधियों में यह कुल संहति दो प्रकार से नियंत्रण में रहती है: १) स्वर्ण अपवाह द्वारा; २) मात्र भुगतान साधन की हैसियत में द्रव्य के लिए मांग द्वारा, जब निर्गमित बैंक नोट फ़ौरन वापस आ जाते हैं, अथवा जब लेन-देन नोटों की मध्यस्थता के बिना उधार खाते के ज़रिये होते हैं, इसलिए जब अदायगियां सिर्फ़ उधार लेन-देन के ज़रिये ही की जाती हैं, क्योंकि इन भुगतानों का निपटारा ही बैंक कार्य का एकमात्र उद्देश्य होता है। द्रव्य की यह विशेषता है कि मात्र भुगतानों का निपटारा करने का काम देते समय (और संकट के दौरों में क़र्ज़ ख़रीदारी करने के बजाय अदायगी करने के लिए, नये लेन-देन करने के बजाय पुराने लेन-देनों को ख़त्म करने के लिए लिये जाते हैं) उसका संचलन उस समय भी क्षणिक ही होता है कि जब हिसाब का निपटारा द्रव्य की मध्यस्थता के बिना, मात्र उधार क्रियाओं से नहीं होता, फलतः जब द्रव्य निभाव के लिए प्रबल मांग होती है, तब संचलन के प्रसार के बिना इस प्रकार के लेन-देन विराट संख्या में हो सकते हैं। लेकिन मात्र यही बात कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड का संचलन उसके द्वारा द्रव्य के व्यापक निभाव के साथ-साथ स्थिर बना रहता है या घट तक जाता है, prima facie यह नहीं सिद्ध करती कि भुगतान साधन के अपने कार्य में द्रव्य का (बैंक नोटों का) संचलन बढ़ता या विस्तारित नहीं होता है, जैसा कि फ़ुलार्टन, टूक तथा अन्य लोग मानते हैं (अपनी इस भ्रांत धारणा के कारण कि द्रव्य निभाव अतिरिक्त पूंजी के रूप में उधार पूंजी प्राप्त करने के समान ही होता है)। चूंकि क्रय साधनों के नाते नोटों का संचलन व्यावसायिक मंदी के दौरान कम हो जाता है, जब इस तरह का व्यापक निभाव आवश्यक होता है, इसलिए भुगतान साधनों के रूप में उनका संचलन बढ़ सकता है और संचलन का कुल परिमाण, क्रय तथा भुगतान साधनों का कार्य करते नोटों का योग स्थिर रह सकता है अथवा घट तक सकता है। निर्गामी बैंक को भुगतान साधनों के रूप में तुरंत वापस आते बैंक नोटों का संचलन तो इन अर्थशास्त्रियों की आंखों में संचलन है ही नहीं।

अगर भुगतान साधनों के रूप में संचलन उससे अधिक गति से बढ़ता है, जिससे क्रय साधनों के रूप में वह घटता है, तो कुल संचलन बढ़ जायेगा, यद्यपि क्रय साधनों का काम देनेवाली द्रव्य मात्रा काफ़ी कम हो जायेगी। और संकट की कुछेक अवधियों में वस्तुतः ऐसा ही होता है, अर्थात जब उधार पूर्णतः समाप्त हो जाता है और जब न सिर्फ़ जिंसें और प्रतिभूतियां ही अविक्रेय हो जाती हैं, बल्कि विनिमय पत्र भी चुकता नहीं होते हैं और द्रव्य रूप अदायगी, या व्यापारियों की बोली में, नक़दी के सिवा और किसी चीज़ की कोई पूछ नहीं रहती। चूंकि फ़ुलार्टन, आदि यह नहीं समझते कि भुगतान साधनों के रूप में नोटों का संचलन द्रव्याभाव की ऐसी अवधियों का चारित्रिक लक्षण है, इसलिए वे इस परिघटना को आकस्मिक मानते हैं। "जहां तक फिर बैंक नोट पाने की ज़बरदस्त होड़ के उदाहरणों की बात है, जो दहशत के दौरों के सूचक हैं और जो कभी-कभी, जैसे १८२५ के अंत में, उस समय भी कि जब बुलियन का बहिर्वाह अभी जारी ही होता है, नोटों की अचानक, चाहे अस्थायी ही सही, वृद्धि करवा देते हैं, मेरी समझ में इन्हें स्वल्प विनिमय के नैसर्गिक अथवा आवश्यक सहगामियों में नहीं माना जाना चाहिए; ऐसे मामलों में मांग संचलन के लिए" (क्रय साधन के रूप में संचलन पढ़िये) "नहीं, बल्कि अपसंचय के लिए, आशंकाग्रस्त बैंकरों और पूंजीपतियों की मांग होती है, जो

आम तौर पर संकट के अंतिम अंक में" (अतः भुगतान साधनों की आरक्षित निधि के लिए), "अपवाह के दीर्घकालिक सातत्य के बाद पैदा होती है, और उसके अंत की पूर्वगामी होती है।" (फ़ुलार्टन, पृष्ठ १३०।)

भुगतान साधन के रूप में द्रव्य के विवेचन में (Buch I, Kap. III, 3, b)* हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि किस प्रकार, जब भुगतानों की शृंखला अचानक भंग हो जाती है, द्रव्य अपने अधिकल्पित रूप से भौतिक रूप में, और साथ ही जिंसों की सापेक्षता में मूल्य के निरपेक्ष रूप में परिणत हो जाता है। इसे कुछ उदाहरणों से दर्शाया गया था (पादटिप्पणी १०० तथा १०१)**। यह व्यवधान स्वयं उधार की अस्थिरता और उसके साथ चलनेवाली बाजारों की अतिपूर्ति, जिंसों का मूल्यह्रास, उत्पादन का भंग होना, आदि जैसी परिस्थितियों का अंशतः एक परिणाम और अंशतः एक कारण है।

लेकिन यह प्रत्यक्ष है कि फ़ुलार्टन क्रय साधन के रूप में द्रव्य और भुगतान साधन के रूप में द्रव्य के भेद को मुद्रा और पूंजी के मिथ्या भेद में बदल देते हैं। यह भी संचलन की बैंकर की संकीर्णमना अवधारणा के कारण ही है।

अब भी पूछा जा सकता है: दुर्लभता की ऐसी अवधियों में किसका अभाव होता है – पूंजी का या भुगतान साधन के रूप में अपने विशिष्ट कार्य में द्रव्य का? और यह एक सुज्ञात विवाद है।

पहली बात तो यह है कि जहां तक दुर्लभता स्वर्ण अपवाह द्वारा व्यक्त होती है, प्रत्यक्ष है कि मांग अंतर्राष्ट्रीय भुगतान साधनों की है। किंतु अंतर्राष्ट्रीय भुगतान साधन की अपनी विशिष्ट हैसियत में द्रव्य अपनी धात्विक वास्तविकता में सोना है, जो स्वयं अपने में एक मूल्यवान पदार्थ, मूल्य की एक मात्रा है। साथ ही वह पूंजी भी है, पण्य पूंजी के नाते पूंजी नहीं, बल्कि द्रव्य पूंजी के नाते, जिंसों के रूप में पूंजी नहीं, बल्कि द्रव्य के रूप में (और वह भी शब्द के उत्कृष्ट अर्थ में द्रव्य के, जिसमें वह सार्विक विश्व बाजार जिंस के रूप में अस्तित्वमान होता है)। यहां यह भुगतान साधन के नाते द्रव्य के लिए मांग और पूंजी के लिए मांग के बीच कोई अंतर्विरोध नहीं है। बल्कि अंतर्विरोध अपने द्रव्य रूप में पूंजी और अपने पण्य रूप में पूंजी के बीच है; और जिस रूप में उसकी यहां मांग की जाती है और केवल जिस रूप में वह कार्य कर सकती है, वह उसका द्रव्य रूप ही है।

सोने (अथवा चांदी) के लिए इस मांग को छोड़कर यह नहीं कहा जा सकता कि संकट के ऐसे दौरों में पूंजी की कोई भी दुर्लभता होती है। अनाज के दामों में चढ़ाव अथवा कपास के दुष्काल, आदि जैसी असाधारण परिस्थितियों में ऐसा हो सकता है, किंतु ये परिघटनाएं ऐसे दौरों की अनिवार्य अथवा नियमित सहचारी नहीं हैं; और पूंजी के इस प्रकार के अभाव को पहले ही, बिना और कठिनाई के, केवल इसी तथ्य के आधार पर नहीं माना जा सकता कि द्रव्य निभाव के लिए भारी मांग है। बात उलटी ही है। बाजार पटे हुए हैं, पण्य पूंजी से भरे हुए हैं। इसलिए किसी भी सूरत में यह **पण्य** पूंजी का अभाव नहीं है कि जो दुर्लभता उत्पन्न करता है। हम इस प्रश्न पर बाद में फिर आयेंगे।

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: अध्याय ३, ३, ख।–सं०

** 'पूंजी', हिंदी संस्करण: पहली पुस्तक, पृष्ठ १५७। पादटिप्पणी ९९ तथा १००–सं०

तीसरी पुस्तक

समग्र रूप में पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया

२

भाग ५

लाभ का ब्याज तथा उद्यम के लाभ में विभाजन। ब्याजी पूंजी

(जारी)

अध्याय २६
बैंक पूंजी के संघटक अंग

अब बैंक पूंजी के संघटक अंगों का अधिक विस्तार के साथ विवेचन किया जाना चाहिए।

हमने अभी-अभी देखा है कि फ़ुलार्टन तथा अन्य लोग संचलन साधन के नाते द्रव्य और भुगतान साधन के नाते द्रव्य – सार्विक द्रव्य भी, क्योंकि इसका स्वर्ण अपवाह से संबंध है – के बीच भेद को मुद्रा तथा पूंजी के बीच भेद में परिणत कर देते हैं।

इस प्रसंग में पूंजी द्वारा अदा की जानेवाली विशेष भूमिका के कारण ही बैंकरों का अर्थशास्त्र उतने ही आग्रह के साथ यह सिखाता है कि द्रव्य वास्तव में par excellence पूंजी है, जितने आग्रह के साथ प्रबुद्ध अर्थशास्त्र यह सिखाता था कि द्रव्य पूंजी नहीं है।

आगामी विश्लेषणों में हम यह दर्शायेंगे कि द्रव्य पूंजी (money capital) को यहां ब्याजी पूंजी के अर्थ में सद्रव्य पूंजी (moneyed capital) के साथ उलझाया जा रहा है, जबकि पहले अर्थ में द्रव्य पूंजी सदा – पूंजी के अन्य रूपों, अर्थात पण्य पूंजी तथा उत्पादक पूंजी के विपरीत – पूंजी का एक अस्थायी रूप ही होती है।

बैंक पूंजी में १) नक़द द्रव्य, सोना अथवा नोट; २) प्रतिभूतियां या ऋणाधार सन्निहित हैं। अंतोक्त को दो भागों में बांटा जा सकता है – वाणिज्यिक पत्र अथवा विनिमय पत्र, जो कुछ समय जारी रहते हैं, समय-समय पर देय होते जाते हैं और जिन्हें सकारना ही बैंकर का मुख्य काम होता है; और सार्वजनिक प्रतिभूतियां, जैसे सरकारी बांड, सरकारी नोट, सभी प्रकार के स्टाक, संक्षेप में, ब्याजी पत्र, लेकिन जो विनिमय पत्रों से महत्वपूर्ण रूप में भिन्न होता है। इनमें रेहननामों को भी शामिल किया जा सकता है। इन गोचर संघटक अंगों से निर्मित पूंजी को भी बैंकर की निवेशित पूंजी और जमाओं में, जो उसकी बैंकिंग पूंजी अथवा उधार पूंजी का निर्माण करती है, बांटा जा सकता है। उन बैंकों के मामले में, जो नोटों का निर्गमन करते हैं, इन नोटों को भी शामिल किया जाना चाहिए। हम जमाओं और नोटों को फ़िलहाल अपने विचार के बाहर रखेंगे। बहरहाल यह प्रत्यक्ष है कि विभिन्न तत्व चाहे बैंकर की अपनी पूंजी को व्यक्त करें, चाहे जमाओं, अर्थात अन्य लोगों की पूंजी को, बैंकर की पूंजी (द्रव्य , विनिमय पत्र, जमा मुद्रा) के वास्तविक संघटक अंग अप्रभावित बने रहते हैं। अपने कारबार को वह चाहे सिर्फ़ स्वयं अपनी पूंजी से चलाये या सिर्फ़ अपने पास जमा की हुई पूंजी से, यही विभाजन बना रहेगा।

यह ब्याजी पूंजी के रूप के कारण ही है कि प्रत्येक निश्चित और नियमित नक़द संप्राप्ति किसी पूंजी पर ब्याज जैसी प्रतीत होती है, चाहे वह किसी पूंजी से उत्पन्न हो या न हो। नक़द आय पहले ब्याज में परिवर्तित की जाती है, और ब्याज से उस पूंजी का निर्धारण किया जा सकता है, जिससे वह उत्पन्न होता है। इसी प्रकार ब्याजी पूंजी के मामले में प्रत्येक मूल्य राशि, जब तक उसे आय के रूप में ख़र्च न किया जाये, पूंजी प्रतीत होती है, अर्थात वह जो संभाव्य अथवा वास्तविक ब्याज प्रदान कर सकती है, उसकी सापेक्षता में मूलधन प्रतीत होती है।

बात सीधी सी है। मान लेते हैं कि औसत ब्याज दर ५% सालाना है। अब ब्याजी पूंजी में परिवर्तित कर दी जाने पर ५०० पाउंड की रक़म २५ पाउंड प्रति वर्ष प्रदान करेगी। तब २५ पाउंड की हर नियत वार्षिक आय को ५०० पाउंड की पूंजी पर ब्याज जैसा माना जा सकता है। लेकिन सिवा ऐसे मामले के, जिसमें २५ पाउंड का स्रोत, चाहे वह मात्र स्वामित्व का हक़ अथवा दावा हो, अथवा स्थावर संपदा जैसा वास्तविक उत्पादन तत्व हो, प्रत्यक्षतः अंतरणीय होता है, अथवा ऐसा रूप ग्रहण कर लेता है, जिसमें वह अंतरणीय हो जाता है, यह कल्पना शुद्धतः भ्रामक है और बनी रहती है। हम राष्ट्रीय ऋण और मज़दूरी को उदाहरणों की तरह ले सकते हैं।

राज्य को अपने ऋणदाताओं को उनसे उधार ली पूंजी के लिए प्रति वर्ष ब्याज की एक ख़ास रक़म अदा करनी होती है। इस मामले में ऋणदाता अपने निवेश को अपने ऋणी से वापस नहीं मांग सकता, बल्कि सिर्फ़ अपने दावे, अथवा अपने स्वामित्व के हक़ को बेच सकता है। पूंजी स्वयं उपभुक्त कर ली गयी है, अर्थात राज्य द्वारा ख़र्च कर दी गयी है। वह अब अस्तित्वमान नहीं है। राज्य के ऋणदाता के पास जो है, वह है: १) राज्य का, मसलन, १०० पाउंड का वचनपत्र; २) यह वचनपत्र ऋणदाता को राज्य की वार्षिक संप्राप्ति – राजस्व – पर, अर्थात वार्षिक कर प्राप्तियों पर एक ख़ास रक़म, उदाहरण के लिए, ५ पाउंड अथवा ५% का दावा प्रदान कर देता है; ३) ऋणदाता १०० पाउंड का यह वचनपत्र किसी और व्यक्ति को स्वनिर्णयानुसार बेच सकता है। अगर ब्याज दर ५% है, और राज्य द्वारा प्रदत्त ऋणाधार अच्छा है, तो इस वचनपत्र का स्वामी, क, उसे साधारणतया ख को १०० पाउंड का बेच सकता है; क्योंकि ख के लिए यह एक ही बात है कि वह १०० पाउंड को ५% सालाना की दर पर उधार देता है, या १०० पाउंड की अदायगी द्वारा अपने लिए राज्य से ५ पाउंड का वार्षिक ख़िराज प्रत्याभूत कर लेता है। लेकिन इन सभी मामलों में राजकीय भुगतानों को जिस पूंजी का प्ररोह (ब्याज) माना जा रहा है, वह भ्रामक, आभासी पूंजी है। सिर्फ़ यही बात नहीं है कि राज्य को उधार दी गयी रक़म अब अस्तित्वमान नहीं है, बल्कि यह कभी अभिप्रेत नहीं था कि उसे पूंजी की तरह व्ययित किया जायेगा, और केवल पूंजी की तरह निवेशित करके ही उसे एक आत्मपरिरक्षणशील मूल्य में परिवर्तित किया जा सकता था। मूल ऋणदाता, क, के लिए वार्षिक करों का उसे प्राप्त होनेवाला अंश उसकी पूंजी पर ब्याज को व्यक्त करता है, जैसे उड़ाऊ आदमी की दौलत का अपने हिस्से में आनेवाला अंश महाजन को प्रतीत होता है, यद्यपि दोनों ही मामलों में उधार दी गयी रक़म को पूंजी की तरह नहीं निवेशित किया गया था। राज्य के वचनपत्र को बेच सकने की संभावना क के लिए अपने मूलधन को फिर से प्राप्त करने के संभाव्य साधन को प्रकट करती है। जहां तक ख की बात है, उसकी पूंजी, उसके

Das Kapital.

Kritik der politischen Oekonomie.

Von

Karl Marx.

Dritter Band, zweiter Theil.

Buch III:

Der Gesammtprocess der kapitalistischen Produktion.

Kapitel XXIX bis LII.

Herausgegeben von Friedrich Engels.

Hamburg
Verlag von Otto Meissner.
1894.

'पूंजी', खंड ३, भाग २ के प्रथम जर्मन संस्करण के मुखपृष्ठ का चित्र

अपने दृष्टिकोण से, ब्याजी पूंजी की तरह निवेशित की गयी है। जहां तक लेन-देन का संबंध है, ख ने बस राज्य के राजस्व पर क के दावे को ख़रीदकर उसका स्थान ही ले लिया है। यह लेन-देन चाहे कितनी ही बार क्यों न दुहराया जाये, राजकीय ऋण की पूंजी शुद्धतः आभासी बनी रहती है, और वचनपत्रों के अविक्रेय होने के साथ पूंजी का आभास विलुप्त हो जाता है। तिस पर भी इस आभासी पूंजी के गति के अपने नियम होते हैं, जैसे हम अभी देखेंगे।

अब हम राष्ट्रीय ऋण की पूंजी के, जहां एक ऋणात्मक राशि पूंजी की तरह प्रकट होती है, जैसे सामान्य रूप में ब्याजी पूंजी सभी प्रकार के विकृत रूपों का मूलस्रोत होती है, जिससे, उदाहरण के लिए, बैंकर को ऋण जिंसों जैसे लग सकते हैं, मुक़ाबले में श्रम शक्ति पर विचार करेंगे। यहां मजदूरी को ब्याज की तरह, और इसलिए श्रम शक्ति को यह ब्याज देनेवाली पूंजी की तरह कल्पना की गयी है। मिसाल के लिए, अगर एक साल की मजदूरी ५० पाउंड और ब्याज की दर ५% हो, तो वार्षिक श्रम शक्ति १,००० पाउंड के बराबर होगी। पूंजीवादी संकल्पना प्रणाली की मूढ़ता यहां अपने चरम पर पहुंच जाती है, क्योंकि पूंजी के प्रसार की श्रम शक्ति के शोषण के आधार पर व्याख्या करने के बजाय यहां बात को उलटा दिया जाता है और श्रम शक्ति की उत्पादिता की व्याख्या ब्याजी पूंजी का यह रहस्यमय गुण स्वयं श्रम शक्ति को प्रदान करके की जाती है। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यह एक प्रिय संकल्पना हुआ करती थी (उदाहरण के लिए, पैटी की), लेकिन कुछ अप्रामाणिक अर्थशास्त्रियों द्वारा और उससे भी अधिक विशेषकर कुछ जर्मन सांख्यिकीविदों द्वारा आज भी पूरी गंभीरता के साथ इसका उपयोग किया जाता है।[1] अभाग्यवश दो अप्रिय रूप में कुंठाकारी तथ्य इस विचारहीन संकल्पना को बिगाड़ देते हैं। एक तो श्रमिक को यह ब्याज प्राप्त करने के लिए काम करना होगा। दूसरे, वह अपनी श्रम शक्ति के पूंजी मूल्य को किसी और को अंतरित करके नक़दी में नहीं रूपांतरित कर सकता। अलावा इसके, उसकी श्रम शक्ति का वार्षिक मूल्य उसकी औसत वार्षिक मजदूरी के बराबर है, और उसे क्रेता को अपने श्रम के ज़रिये जो लौटाना है, वह यही मूल्य जमा एक बेशी मूल्य, अर्थात उसके श्रम द्वारा जोड़ी गयी संवृद्धि है। दास समाज में श्रमिक का एक पूंजी मूल्य होता है, अर्थात उसका क्रय दाम। और जब उसे किराये पर दिया जाता है, तो भाड़ेदार को एक तो इस क्रय दाम पर ब्याज देना होता है, और उसके अलावा पूंजी पर वार्षिक छीज की प्रतिस्थापना करनी होती है।

आभासी पूंजी का निर्माण पूंजीकरण कहलाता है। हर नियतकालिक आय को उसे औसत ब्याज दर के आधार पर ऐसी आय के रूप में परिकलित करके पूंजीकृत किया जाता है, जो इस ब्याज दर पर उधार दी गयी किसी पूंजी से प्राप्त होती। उदाहरण के लिए, अगर वार्षिक आय १०० पाउंड और ब्याज ५% हो, तो १०० पाउंड २,००० पाउंड पर वार्षिक ब्याज के द्योतक होंगे, और २,००० पाउंड को १०० पाउंड वार्षिक पर वैध स्वत्वाधिकार का पूंजी मूल्य माना जायेगा। इस स्वत्वाधिकार को ख़रीदनेवाले के लिए १०० पाउंड की वार्षिक आय वस्तुतः

---

[1] "श्रमिक का एक पूंजी मूल्य होता है, जिसे उसकी वार्षिक मजदूरी के द्रव्य मूल्य को ब्याज से आय मानकर आकलित किया जाता है।... औसत दैनिक मजदूरी का ४% की दर से... पूंजीकरण करने से... हमें पुरुष खेत मजदूर का यह औसत मूल्य प्राप्त होता है: जर्मन आस्ट्रिया – १,५०० तालेर; प्रशा – १,५००; इंगलैंड – ३,७५०; फ़्रांस – २,०००; भीतरी रूस – ७५० तालेर।" (Von Reden, *Vergleichende Kulturstatistik*, Berlin, 1848, S. 434.)

५% की दर से निवेशित उसकी पूंजी पर ब्याज को व्यक्त करती है। इस प्रकार पूंजी की वास्तविक प्रसार प्रक्रिया के साथ सारा संबंध पूर्णतः लुप्त हो जाता है और उससे पूंजी के बारे में यह अवधारणा पुष्ट होती है कि वह स्वतः स्वप्रसार के गुणों से युक्त होती है।

जब वचनपत्र – प्रतिभूति – शुद्धतः आभासी पूंजी को नहीं भी व्यक्त करता है, जैसे वह राजकीय ऋणों के मामले में करता है, तब भी ऐसे पत्रों का पूंजी मूल्य पूर्णतः आभासी ही होता है। हम पहले देख चुके हैं कि उधार पद्धति किस प्रकार शेयर या अंश पूंजी का निर्माण करती है। पत्र स्वत्वाधिकार का काम करता है, जो इस पूंजी को प्रकट करता है। रेलों, खदानों, जहाज़ी कंपनियों तथा ऐसी ही दूसरी कंपनियों के स्टाक वास्तविक पूंजी को प्रकट करते हैं, अर्थात ऐसे उद्यमों में निवेशित तथा कार्यरत पूंजी, अथवा स्टाकधारियों द्वारा ऐसे उद्यमों में पूंजी की तरह प्रयुक्त की जाने के लिए अग्रसारित द्रव्य राशि को। इससे यह संभावना नहीं ख़त्म हो जाती कि ये शुद्ध धोखाधड़ी के द्योतक हो सकते हैं। लेकिन यह पूंजी दो बार अस्तित्व में नहीं आती – एक ओर, एक बार स्वामित्व (स्टाकों) के हक़नामों के रूप में और दूसरी ओर, इन उद्यमों में वस्तुतः निवेशित, अथवा निवेशित की जानेवाली वास्तविक पूंजी के रूप में। वह केवल अंतोक्त रूप में ही अस्तित्व में होती है, और स्टाक में हिस्सा मात्र उसके द्वारा सिद्ध किये जानेवाले बेशी मूल्य के अनुरूप हिस्से पर स्वत्वाधिकार ही होता है। क यह स्वत्व ख को बेच सकता है, और ख उसे ग को बेच सकता है। ये लेन-देन समस्या के सार को बिलकुल नहीं बदलते। अब क अथवा ख के पास उसका स्वत्व पूंजी के रूप में है, लेकिन ग ने अपनी पूंजी को मात्र स्टाक पूंजी से प्रत्याशित बेशी मूल्य पर स्वत्वाधिकार में रूपांतरित कर लिया है।

इन स्वत्वाधिकारों के, केवल सरकारी बांडों के ही नहीं, बल्कि स्टाकों के भी, मूल्य की स्वतंत्र गति इस भ्रांति को बल प्रदान करती है कि पूंजी अथवा उस दावे के साथ-साथ, जिसके लिए उनका अधिकार हो सकता है, वे वास्तविक पूंजी का निर्माण करते हैं। कारण कि वे जिंसें बन जाते हैं, जिनके दाम की अपनी चारित्रिक गतियां होती हैं और जो अपने ही ढंग से स्थापित होता है। उनका बाज़ार मूल्य उनके अंकित (खाता) मूल्य से अलग ढंग से, वास्तविक पूंजी के मूल्य में किसी भी परिवर्तन के बिना (इसके बावजूद कि उसका प्रसार बदल सकता है) निर्धारित होता है। एक ओर, उनका बाज़ार मूल्य उन प्राप्तियों की राशि और विश्वसनीयता के साथ घटता-बढ़ता रहता है, जिन पर वे वैध स्वत्व प्रदान करती हैं। अगर किसी स्टाकांश का खाता मूल्य, अर्थात इस अंश द्वारा मूलतः व्यक्त निवेशित रक़म, १०० पाउंड हो, और उद्यम ५% के बजाय १०% देता हो, तो और समान अवस्थाओं के अंतर्गत जब तक ब्याज दर ५% रहती है, उसका बाज़ार मूल्य बढ़कर २०० पाउंड हो जाता है, क्योंकि ५% की दर से पूंजीकृत किये जाने पर वह अब २०० पाउंड की आभासी पूंजी को प्रकट करता है। जो भी उसे २०० पाउंड में ख़रीद लेता है, वह पूंजी के इस निवेश पर ५% की आय प्राप्त करेगा। उद्यम से प्राप्तियां घट जाती हैं, तो इसका उलटा होता है। इस पत्र का बाज़ार मूल्य आंशिक रूप में आनुमानिक होता है, क्योंकि वह केवल वास्तविक आय ही नहीं, अपितु पहले से परिकलित प्रत्याशित आय द्वारा भी निर्धारित होता है। लेकिन अगर वास्तविक पूंजी के प्रसार को स्थिर मान लिया जाये, अथवा जहां पूंजी नहीं होती, जैसे राजकीय ऋणों के

मामले में, वहां वार्षिक आय को क़ानून द्वारा नियत अथवा अन्यथा पर्याप्त रूप में सुनिश्चित मान लिया जाये, तो इन प्रतिभूतियों का दाम ब्याज दर के व्युत्क्रमानुपात में चढ़ता-गिरता है। अगर ब्याज दर बढ़कर ५% से १०% हो जाती है, तो ५ पाउंड की आय को प्रत्याभूत करने-वाली प्रतिभूतियां अब केवल ५० पाउंड की पूंजी को प्रकट करेंगी। विलोमतः, अगर ब्याज दर गिरकर २ १/२% हो जाती है, तो वे ही प्रतिभूतियां २०० पाउंड की पूंजी को व्यक्त करेंगी। उनका मूल्य सदा मात्र पूंजीकृत आय ही होता है, अर्थात एक आभासी पूंजी के आधार पर प्रचलित ब्याज दर से परिकलित आय। इसलिए द्रव्य बाज़ार में दुर्लभता होने पर इन प्रति-भूतियों के दाम में दो कारणों से गिरावट आती है: एक तो इसलिए कि ब्याज दर चढ़ जाती है, और दूसरे इसलिए कि उन्हें द्रव्य में परिवर्तित करने के लिए बाज़ार में बड़ी मात्राओं में डाला जाता है। दाम में यह गिरावट तब भी आती है कि जब यह पत्र अपने स्वामी को जो आय प्रत्याभूत करता है, वह स्थिर होती है, जैसे सरकारी बांडों के मामले में होता है, और तब भी आती है कि जब वह वास्तविक पूंजी के जिस प्रसार को व्यक्त करता है, जैसे औद्योगिक उद्यमों में, उस पर पुनरुत्पादन प्रक्रिया में गड़बड़ियों से प्रभाव पड़ सकता है। अंतोक्त मामले में उपरोक्त मूल्यह्रास में बस एक और ह्रास ही जुड़ जायेगा। तूफ़ान के ख़त्म होने के साथ यह पत्र चढ़कर फिर अपने पूर्व स्तर पर पहुंच जाता है, बशर्ते कि वह किसी व्यावसायिक दिवालियापन अथवा धोखाधड़ी को व्यक्त न करता हो। संकट के दौरों में उसका मूल्यह्रास संपत्तियों के केंद्रीकरण के सशक्त साधन का काम देता है।[2]

जहां तक कि इस पत्र के मूल्य में ह्रास अथवा चढ़ाव जिस वास्तविक पूंजी को वह प्रकट करता है, उसके मूल्य की गति से स्वतंत्र होता है, राष्ट्र की संपदा उसके मूल्य में ह्रास अथवा वृद्धि के बाद भी उतनी ही रहती है, जितनी उसके पहले थी। "२३ अक्तूबर, १८४७ तक भी सार्वजनिक स्टाकों और नहरों तथा रेलों के शेयरों में कुल मिलाकर ११,४७,५२,२२५ पाउंड का ह्रास आ चुका था।" (मॉरिस, बैंक ऑफ़ इंगलैंड के गवर्नर, वाणिज्यिक संकट, १८४७-४८, पर रिपोर्ट में साक्ष्य [क्रमांक ३८००])। अगर यह ह्रास उत्पादन के और नहरों तथा रेलों पर यातायात के वास्तविक रुकाव को अथवा शुरू किये जा चुके उद्यमों के निलंबन को, या निश्चित रूप में बेकार जोखिमों में पूंजी के उड़ाये जाने को ही नहीं प्रतिबिंबित करता है, तो नामिक द्रव्य पूंजी के इस साबुन के बुलबुले के फूटने से राष्ट्र तनिक भी निर्धन नहीं हुआ।

वास्तव में ये सारे पत्र भावी उत्पादन पर संचित दावों, अथवा वैध स्वत्वाधिकारों के अलावा और कुछ नहीं हैं, जिसका द्रव्य अथवा पूंजी मूल्य या तो पूंजी को बिलकुल भी व्यक्त

---

[2] [फ़रवरी क्रांति के फ़ौरन बाद, जब जिंसें और प्रतिभूतियां अत्यधिक ह्रासित और नितांत अविक्रेय थीं, लीवरपूल में एक स्विस व्यापारी, श्री० आर० त्स्विलखेनबार्त ने, जिन्होंने यह बात मेरे पिता को बतायी थी, अपनी सारी संपत्ति को नक़दी में बदल लिया और सारी नक़दी को लेकर पेरिस पहुंचकर रोतशिल्द से मिले और उनके साथ एक संयुक्त उद्यम में सहभागिता का प्रस्ताव रखा। रोतशिल्द ने उन्हें आंखें टिकाकर देखा और लपककर उनके कंधों को कसकर पकड़कर पूछा: "Avez-vous de l'argent sur vous?"—"Oui, M. le baron."—"Alors vous êtes mon homme!" ("क्या आपके पास पैसा है?" – "है, बैरन।" – "तो मुझे आपकी ही ज़रूरत है!") – और उन्होंने मिलकर ख़ूब ज़ोरदार कारबार किया। – फ़्रे० एं०]

नहीं करता, जैसे राजकीय ऋणों के मामले में, होता है या उस वास्तविक पूंजी के मूल्य से निरपेक्षत: नियमित होता है, जिसे वह व्यक्त करता है।

पूंजीवादी उत्पादन पर आधारित सभी देशों में इस रूप में तथाकथित ब्याजी पूंजी, अथवा सद्रव्य पूंजी बहुत बड़ी मात्रा में विद्यमान होती है। और द्रव्य पूंजी के संचयन से उत्पादन पर इन दावों के संचयन, बाज़ार दामों, इन दावों के आभासी पूंजी मूल्य के संचयन के अलावा और कुछ नहीं अभिप्रेत होता है।

बैंकर की पूंजी का एक हिस्सा अब इस तथाकथित ब्याजी पत्र में निवेशित हो जाता है। यह स्वयं आरक्षित पूंजी का एक अंश है, जो वास्तविक बैंकिंग कारबार में कोई कार्य नहीं कर करती। इस पत्र का सबसे महत्वपूर्ण अंश विनिमय पत्रों का, अर्थात औद्योगिक पूंजीपतियों या व्यापारियों द्वारा दिये भुगतान करने के वचनों का होता है। महाजन के लिए ये विनिमय पत्र ब्याजी होते हैं, दूसरे शब्दों में, जब वह उन्हें ख़रीदता है, तो वह जितनी अवधि उन्हें अभी और चालू रहना है, उसके लिए ब्याज काट लेता है। इसे बट्टा काटना, उन्हें सकारना या चुकता करना कहते हैं। यह चालू ब्याज दर पर निर्भर करता है कि विनिमय पत्र जितनी राशि को प्रकट करता है, उससे कितनी कटौती की जाती है।

अंतिम बात यह कि बैंकर की पूंजी का आख़िरी हिस्सा सोने और नोटों के रूप में उसके आरक्षित द्रव्य का होता है। जमाएं अगर एक निश्चित अवधि के लिए समझौते द्वारा बंधी हुई न हों, तो जमाकर्ता द्वारा कभी भी इच्छानुसार निकाली जा सकती हैं। वे निरंतर घटाव-बढ़ाव की अवस्था में रहती हैं। लेकिन अगर एक जमाकर्ता अपने खाते से निकालता है, तो दूसरा अपने खाते में जमा करता है, जिसके कारण सामान्य कारबार की अवधियों में जमाओं के सामान्य औसत कुल योग में अधिक घट-बढ़ नहीं होती।

विकसित पूंजीवादी उत्पादनवाले देशों में बैंकों की आरक्षित निधियां सदा औसत रूप में अपसंचय के रूप में अस्तित्वमान द्रव्य की मात्रा को ही प्रकट करती हैं और अपनी बारी में इस अपसंचय का एक हिस्सा पत्रों, सोने के लिए ड्राफ़्टों का ही होता है, जिनका अपने में कोई मूल्य नहीं होता। इसलिए बैंकर की पूंजी का अधिकांश शुद्धत: आभासी और दावों (विनिमय पत्रों), सरकारी प्रतिभूतियों (जो व्ययित पूंजी को प्रकट करती हैं) तथा स्टाकों (भावी प्राप्ति पर ड्राफ़्टों) का होता है। और यह नहीं भूलना चाहिए कि बैंकर की तिजोरियों में रखे इस पत्र द्वारा द्योतित पूंजी का द्रव्य मूल्य स्वयं आभासी होता है, क्योंकि पत्र की गणना में प्रत्याभूत आय पर ड्राफ़्ट (उदाहरण के लिए, सरकारी प्रतिभूतियां), अथवा वास्तविक पूंजी के स्वत्वपत्र (यथा स्टाक) ही आते हैं और इस मूल्य का नियमन वास्तविक पूंजी के मूल्य से भिन्न प्रकार से होता है, जो कम से कम अंशत: पत्र द्वारा व्यक्त किया जाता है; अथवा अगर पत्र केवल आय पर दावों को ही, न कि पूंजी को प्रकट करता है, तो उसी आय पर दावा निरंतर परिवर्तनशील आभासी द्रव्य पूंजी में व्यक्त होता है। इसके अलावा इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि बैंकर की यह आभासी पूंजी अधिकांशत: स्वयं उसकी नहीं, बल्कि आम लोगों की पूंजी को प्रकट करती है, जो उसके पास पूंजी जमा करते हैं, वह चाहे ब्याजी हो, या न हो।

जमाएं हमेशा द्रव्य में, सोने अथवा नोटों में, या इनके लिए ड्राफ़्टों में की जाती हैं। आरक्षित निधि को छोड़कर, जो वास्तविक संचलन की आवश्यकताओं के अनुसार संकुचन या प्रसार करती है, ये जमाएं वास्तव में सदा, एक ओर, औद्योगिक पूंजीपतियों तथा व्यापारियों के हाथों में रहती हैं, जिससे उनके विनिमय पत्र चुकता होते हैं और जो इस प्रकार पेशगियां

प्राप्त करते हैं; दूसरी ओर, वे प्रतिभूतियों का कारबार करनेवालों (स्टाक दलालों) के हाथों में, अथवा अपनी प्रतिभूतियां बेच देनेवाले पक्षों के हाथों में या सरकार के हाथों में (सरकारी नोटों और नये ऋणों के मामले में) रहती हैं। स्वयं जमाएं दोहरी भूमिका अदा करती हैं। एक ओर, जैसे हमने अभी बताया है, वे ब्याजी पूंजी की तरह उधार दे दी जाती हैं और इसलिए बैंकों की तिजोरियों में नहीं होतीं, बल्कि बस उनकी बहियों में ही जमाकर्ताओं की जमाओं के रूप में आती हैं। दूसरी ओर, वे केवल ऐसे इंदराजों का ही कार्य करती हैं, क्योंकि जमाकर्ताओं के पारस्परिक दावे उनकी जमाओं पर चैकों द्वारा चुकता हो जाते हैं और इस प्रकार आपस में बेबाक़ किये जा सकते हैं। इस प्रसंग में यह महत्वहीन है कि ये जमाएं एक ही बैंकर के सुपुर्द की जाती हैं, जो इस प्रकार विभिन्न खातों को आपस में बराबर कर सकता है, या ऐसा भिन्न-भिन्न बैंकों द्वारा किया जाता है, जो चैकों को आपस में बदलते हैं और एक दूसरे को सिर्फ़ बक़ाया ही देते हैं।

ब्याजी पूंजी और उधार प्रणाली के विकास के साथ जिन विभिन्न ढंगों से वही पूंजी अथवा संभवतः किसी क़र्ज़ पर वही दावा तक भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होता है, उससे सारी पूंजी अपने को दुगुना और कभी-कभी तो तिगुना तक कर लेती लगती है।[3] इस "द्रव्य पूंजी" का अधिकांश एकदम आभासी होता है। आरक्षित निधि के अलावा सारी जमाएं बैंकर पर दावे मात्र होती हैं, लेकिन वे कभी जमाओं के रूप में अस्तित्व में नहीं होतीं। जहां तक वे समाशोधन गृह के लेन-देनों में काम देती हैं, बैंकरों के लिए वे – उनके द्वारा उधार दे दिये जाने के बाद – पूंजी का कार्य करती हैं। वे अपने आपसी लेखों का बक़ाया निकालकर एक दूसरे के अस्तित्वहीन जमाओं के आधार पर अपने पारस्परिक ड्राफ़्ट दे देते हैं।

द्रव्य के उधार दिये जाने में पूंजी द्वारा अदा की जानेवाली भूमिका के बारे में ऐडम स्मिथ कहते हैं: "लेकिन सद्रव्य ब्याज तक में द्रव्य मानो वह समनुदेशन विलेख ही होता है, जो उन

---

[3] [पूंजी के इस द्विगुणन और त्रिगुणन का हाल के वर्षों में काफ़ी और विकास हुआ है, मिसाल के लिए, वित्तीय न्यासों के ज़रिये, जिन्हें लंदन स्टाक एक्सचेंज की रिपोर्ट में अब भी अपने अलग शीर्षक के नीचे स्थान प्राप्त है। एक विशेष प्रकार के ब्याजी पत्र, यथा विदेशी सरकारी प्रतिभूतियां, ब्रिटिश म्युनिसिपल या अमरीकी सार्वजनिक बांड, रेल स्टाक, आदि, ख़रीदने के लिए एक कंपनी संगठित कर ली जाती है। पूंजी, मिसाल के लिए २० लाख पाउंड, स्टाक अभिदान द्वारा जुटा ली जाती है। निदेशकमंडल संबद्ध मूल्यों को ख़रीद लेता है अथवा उनमें कमोबेश सक्रिय सट्टेबाज़ी करता है, और ख़र्चों को काटने के बाद वार्षिक ब्याज को स्टाकधारियों में लाभांशों की तरह बांट देता है। इसके अलावा कुछ स्टाक कंपनियों ने सामान्य स्टाक को दो संवर्गों – अधिमान्य (preferred) और आस्थगित (deferred) – में विभक्त करने की प्रथा अपना ली है। अधिमान्य को एक स्थिर दर, मसलन ५%, से ब्याज मिलता है, बशर्ते कि कुल लाभ इसकी अनुमति दे; अगर इसके बाद भी कुछ बच रहता है, तो वह आस्थगित को जाता है। इस प्रकार पूंजी का अधिमान्य अंशों में "ठोस" निवेश वास्तविक सट्टेबाज़ी से – आस्थगित अंशों से – कमोबेश अलग हो जाता है। चूंकि कुछ बड़े उद्यम इस नयी प्रथा को अपनाने के अनिच्छुक रहे हैं, इसलिए नयी कंपनियां संगठित करने का उपाय अपनाया गया है, जो पुरानी कंपनियों के अंशों में दस लाख पाउंड या उससे भी अधिक निवेशित कर देती हैं और फिर ख़रीदे गये अंशों के खाता मूल्य के नये अंश जारी कर देती हैं, लेकिन उनमें से आधे अधिमान्य और शेष आधे आस्थगित अंशों के रूप में जारी किये जाते हैं। ऐसे मामलों में मूल अंश दुगुने हो जाते हैं, क्योंकि वे नये अंशों के निर्गमन के आधार का काम देते हैं। – फ़े० एं०]

पूंजियों को एक हाथ से दूसरे को हस्तांतरित कर देता है, जिनके स्वामी स्वयं उनको नियोजित करने की चिंता नहीं करते। ये पूंजियां उस द्रव्य राशि से लगभग किसी भी अनुपात में अधिक हो सकती हैं, जो उनके हस्तांतरण के साधन का काम देती है, क्योंकि वही द्रव्य प्रतीक लगातार कई अलग-अलग क़र्ज़ों के और कई भिन्न-भिन्न क्रयों के लिए भी काम दे सकते हैं। उदाहरण के लिए, ख को क १,००० पाउंड उधार देता है, जिनसे ख तुरंत ग से १,००० पाउंड का माल ख़रीद लेता है। चूंकि ग के पास स्वयं द्रव्य का उपयोग करने का कोई अवसर नहीं है, इसलिए वह इन्हीं द्रव्य प्रतीकों को घ को उधार दे देता है, जिनसे घ तुरंत च से और १,००० पाउंड का माल ख़रीद लेता है। च उसी प्रकार और उन्हीं कारणों से उन्हें छ को उधार दे देता है, जो स्वयं उनसे ज से माल ख़रीद लेता है। इस तरीक़े से वही प्रतीक, चाहे वे सिक्के हों या नोट, कुछ ही दिनों के दौरान तीन भिन्न ऋणों के, और तीन भिन्न क्रयों के साधन का काम दे सकते हैं, जिनमें से प्रत्येक मूल्य में इन प्रतीकों की कुल मात्रा के बराबर है। तीन द्रव्यपति, क, ग तथा च तीन ऋणियों, ख, घ तथा छ को जो सौंपते हैं, वह ये क्रय करने की शक्ति है। इस शक्ति में इन ऋणों का मूल्य तथा उपयोग दोनों निहित हैं। तीनों द्रव्यपतियों द्वारा उधार दिया गया स्टाक उस माल के मूल्य के बराबर है, जो उससे ख़रीदा जा सकता है और उस द्रव्य के मूल्य से तीन गुना अधिक है, जिससे ये क्रय किये जाते हैं। तथापि ये सभी ऋण विभिन्न क़र्ज़दारों द्वारा ख़रीदे माल के इस प्रकार नियोजित किये जाने के कारण पूर्णतः प्रत्याभूत हो सकते हैं कि माल यथासमय या तो सिक्के के या नोटों के बराबर मूल्य वापस ला सके। और चूंकि द्रव्य के वही प्रतीक अपने मूल्य के तीन गुने, और उसी कारण, तीस गुने तक भिन्न-भिन्न ऋणों के साधन के रूप में काम दे सकते हैं, इसलिए उसी प्रकार वे लगातार वापसी के साधन का भी काम दे सकते हैं।" ([*An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations*, Aberdeen, London, 1848, p. 236, – सं०] Book II, Chap.IV.)

चूंकि अपने संचलन वेग के अनुरूप वही द्रव्य प्रतीक विभिन्न क्रयों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है, अतः वह उसी प्रकार विभिन्न ऋणों के लिए भी इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योंकि ख़रीदारियां उसे एक व्यक्ति से दूसरे के पास ले जाती हैं और ऋण एक व्यक्ति से दूसरे को क्रय की मध्यस्थता के बिना मात्र अंतरण ही तो होता है। प्रत्येक विक्रेता के लिए द्रव्य उसकी जिंसों की रूपांतरित आकृति को ही प्रकट करता है। आजकल, जब प्रत्येक मूल्य पूंजी मूल्य की तरह व्यक्त किया जाता है, वह विभिन्न ऋणों में क्रमशः विभिन्न पूंजियों को प्रकट करता है। यह इस पुराने कथन को अभिव्यक्त करने का बस एक और तरीक़ा ही है कि वह क्रमशः विभिन्न पण्य मूल्यों का सिद्धिकरण कर सकता है। साथ ही वह संचलन माध्यम का भी काम करता है, ताकि वास्तविक पूंजियों को एक व्यक्ति से दूसरे को अंतरित किया जा सके। ऋणों के मामले में वह एक व्यक्ति से दूसरे को संचलन माध्यम की तरह नहीं अंतरित होता। जब तक वह ऋणदाता के हाथों में रहता है, वह उसके हाथों में संचलन माध्यम नहीं, बल्कि उसकी पूंजी का मूल्य के रूप में अस्तित्व होता है। और जब वह उसे दूसरे को उधार देता है, तो उसे इसी रूप में अंतरित करता है। अगर क ने ख को, और ख ने ग को क्रयों की मध्यस्थता के बिना द्रव्य उधार दिया होता, तो वही द्रव्य तीन अलग-अलग पूंजियों को नहीं,

बल्कि केवल एक – **एक अकेले** पूंजी मूल्य – को ही प्रकट करता। वह वस्तुतः कितनी पूंजियों को प्रकट करता है, उनकी संख्या इस पर निर्भर करती है कि वह कितनी बार विभिन्न पण्य पूंजियों के मूल्य रूप की तरह कार्य करता है।

जो बात ऐडम स्मिथ सामान्य रूप में ऋणों के बारे में कहते हैं, वही बात जमाओं पर भी लागू होती है, जो उन ऋणों के लिए महज़ एक और नाम ही है, जो लोग बैंकरों को देते हैं। वही द्रव्य प्रतीक कितनी भी जमाओं के साधन का काम दे सकते हैं।

"यह निश्चय ही सही है कि आप आज जो १,००० पाउंड क के यहां जमा कराते हैं, उनका कल पुनःनिर्गमन हो सकता है और वे ख के यहां जमा बन सकते हैं। परसों ख के यहां से पुनःनिर्गमित होकर वे ग के यहां जमा बन सकते हैं... और यह सिलसिला इसी प्रकार निरंतर चलता रह सकता है; और इस प्रकार द्रव्य के रूप में वही १,००० पाउंड अंतरणों के सातत्य द्वारा अपने आपको जमाओं की एक एकदम अपरिमित राशि में गुणित कर सकते हैं। इसलिए यह संभव है कि युनाइटेड किंगडम में कुल जमाओं के ९/१० का उन बैंकरों के बहीखातों के इंदराजों के बाहर कोई वजूद भी न हो, जो क्रमशः उनके लिए उत्तरदायी होते हैं।... इस प्रकार, उदाहरण के लिए, स्कॉटलैंड में, जहां संचलनगत मुद्रा कभी ३० लाख पाउंड से अधिक नहीं रही है, बैंकों में जमाएं २७० लाख पाउंड कूती जाती हैं। अगर बैंकों से जमाएं निकालने का तांता ही न बंध जाये, तो अपनी यात्राओं पर वापस रवाना कर दिये जाने पर वही १,००० पाउंड उतनी ही सुगमता के साथ उतनी ही अपरिमित राशि को निरसित कर देंगे। जिस तरह से वही १,००० पाउंड, जिनसे आज आप किसी दूकानदार की अपने पर क़र्ज़दारी को निरसित करते हैं, कल उस पर व्यापारी के क़र्ज़ को, उसके अगले दिन व्यापारी पर बैंक के ऋण को, और इसी प्रकार निरंतर अन्य क़र्ज़ों को निरसित कर सकते हैं, उसी तरह से वही १,००० पाउंड एक आदमी से दूसरे को, और एक बैंक से दूसरे बैंक को अंतरित हो सकते हैं और जमाओं की किसी भी कल्पनीय राशि को निरसित कर सकते हैं।" (*The Currency Theory Reviewed*, pp. 62-63.)

जिस प्रकार इस उधार पद्धति में सभी कुछ द्विगुणित तथा त्रिगुणित हो जाता है और कल्पना के एक छायाभास मात्र में रूपांतरित हो जाता है, उसी प्रकार "आरक्षित निधि" के साथ भी यही होता है, जहां अंततोगत्वा कुछ वास्तविकता पाने की आशा की जा सकती है।

आइये, एक बार फिर बैंक ऑफ़ इंगलैंड के गवर्नर, श्री मॉरिस की बात सुनें: "निजी बैंकरों की आरक्षित निधियां जमाओं की शक्ल में बैंक ऑफ़ इंगलैंड के हाथों में हैं।... सोने का निर्यात प्रथमतः केवल बैंक ऑफ़ इंगलैंड की आरक्षित निधि पर ही प्रभाव डालता है; लेकिन वह बैंकरों की आरक्षित निधियों पर भी असर डालता होगा, क्योंकि वह बैंक ऑफ़ इंगलैंड में उनकी आरक्षित निधि के एक अंश का आहरण है। वह देश भर में सभी बैंकरों की आरक्षित निधियों पर असर डालता होगा।" (*Commercial Distress*, 1847-48, क्रमांक ३६३९, ३६४२।) इस प्रकार, अंततोगत्वा, आरक्षित निधियां बैंक ऑफ़ इंगलैंड की आरक्षित निधि में समाविष्ट हो जाती है।[4] लेकिन इस आरक्षित निधि का भी दुहरा अस्तित्व है। बैंक विभाग

[4] [उस समय के बाद से इसका कितना और विकास हुआ है, यह १५ दिसंबर, १८९२ के *Daily News* से लिये नवंबर, १८९२ में लंदन के पंद्रह सबसे बड़े बैंकों की आरक्षित बैंक निधियों के निम्न सारणीकरण से प्रकट होता है:

की आरक्षित निधि संचलनगत नोटों के अलावा बैंक जितने नोट जारी करने के लिए प्राधिकृत है, नोटों के उस आधिक्य के बराबर है। नोट निर्गमन का वैध अधिकतम १४० लाख पाउंड (जिसके लिए कोई बुलियन आरक्षण आवश्यक नहीं है; यह लगभग वह रक़म है, जिसका राज्य बैंक को देनदार है) जमा बैंक का बहुमूल्य धातु का भंडार है। अगर बैंक में बहुमूल्य धातु का भंडार १४० लाख पाउंड के बराबर है, तो बैंक इस प्रकार नोटों में २८० लाख पाउंड निर्गमित कर सकता है, और अगर इनमें से २०० लाख पाउंड संचलनगत हैं, तो बैंक विभाग की आरक्षित निधि ८० लाख पाउंड है। इसलिए ये ८० लाख पाउंड के नोट क़ानूनन बैंकर की बैंक के अधिकार में पूंजी हैं और साथ ही वे उसकी जमाओं के लिए आरक्षित निधि भी हैं। अब अगर कोई ऐसा स्वर्ण अपवाह होता है, जिसके कारण बैंक में बहुमूल्य धातु का भंडार ६० लाख पाउंड घट जाता है – जिससे नोटों की समतुल्य संख्या को नष्ट करना आवश्यक हो जाता है –

बैंक का नाम	देनदारियां (पाउंड)	नक़द आरक्षण (पाउंड)	प्रतिशत
सिटी	९३,१७,६२९	७,४६,५५१	८.०१
कैंपिटल एंड काउंटीज़ .	१,१३,९२,७४४	१३,०७,४८३	११.४७
इंपीरियल	३९,८७,४००	४,४७,१५७	११.२२
लॉयड्ज़	२,३८,००,९३७	२९,६६,८०६	१२.४६
लंडन एंड वैस्टमिनस्टर .	२,४६,५१,५७९	३८,१८,८८५	१५.५०
लंडन एंड साउथ वैस्टर्न .	५५,७०,२६८	८,१२,३५३	१४.५९
लंडन जॉइंट स्टाक . .	१,२१,२७,९९३	१२,८८,९७७	१०.६२
लंडन एंड मिडलैंड . . .	८८,१४,४९९	११,२७,२८०	१२.७९
लंडन एंड काउंटी	३,७१,११,०३५	३६,००,३७४	९.७०
नैशनल	१,११,६३,८२९	१४,२६,२२५	१२.७७
नैशनल प्रॉविंशियल . . .	४,१९,०७,३८४	४६,१४,७८०	११.०१
पार्स एंड दि एलायेंस . .	१,२७,९४,४८९	१५,३२,७०७	११.९८
प्रैस्कॉट एंड कंपनी . . .	४०,४१,०५८	५,३८,५१७,	१३.०७
यूनियन ऑफ़ लंडन . .	१,५५,०२,६१८	२३,००,०८८	१४.८४
विलियम्स, डीकन एंड . मैंचेस्टर एंड कंपनी .	१,०४,५२,३८१	१३,१७,६२८	१२.६०
योग	२३,२६,५५,८२३	२,७८,४५,८०७	११.९७

लगभग २८० लाख की इस कुल आरक्षित निधि में से कम से कम २५० लाख बैंक ऑफ़ इंगलैंड में जमा हैं और हद से हद ३० लाख ही स्वयं १५ बैंकों की तिजोरियों में नक़द रूप में हैं। लेकिन बैंक ऑफ़ इंगलैंड के बैंक विभाग का नक़द आरक्षण नवंबर, १८९२ के इसी महीने में १६० लाख से कम था। – फ़्रे० एं०]

तो बैंक विभाग की आरक्षित निधि ८० लाख पाउंड से घटकर २० लाख पाउंड हो जायेगी। एक तरफ़, बैंक अपनी ब्याज दर को काफ़ी चढ़ा देगा ; दूसरी तरफ़, उसके पास जमाएं रखनेवाले बैंक तथा अन्य जमाकर्ता बैंक में स्वयं अपनी जमाओं को संरक्षित करनेवाली आरक्षित निधि में बहुत भारी कमी आती देखेंगे। १८५७ में लंदन के सबसे बड़े चार स्टाक बैंकों ने धमकी दी कि अगर बैंक ऑफ़ इंगलैंड १८४४ के बैंक अधिनियम को निलंबित करने के लिए "सरकार का पत्र" प्राप्त नहीं करता,[6] तो वे अपनी जमाएं वापस ले लेंगे और इस प्रकार बैंक विभाग को दिवालिया कर देंगे। इस तरह से बैंक विभाग का, १८४७ की ही भांति, दिवाला निकल सकता था, चाहे उसके निर्गम विभाग में संचलनगत नोटों की विनिमेयता को प्रत्याभूत करने के लिए कितने ही लाख (उदाहरण के लिए, १८४७ में ८० लाख) क्यों न रोककर रखे जायें। लेकिन यह भी भ्रांतिजनक ही है।

"स्वयं बैंकरों के पास जिसके लिए कोई तात्कालिक मांग नहीं होती, (जमाओं का) वह भारी भाग विपत्र दलालों के हाथों में चला जाता है, जो बैंकर को बदले में उनके द्वारा लंदन में तथा देश के विभिन्न भागों में लोगों के लिए पहले ही चुकता किये गये वाणिज्यिक विपत्र बैंकर द्वारा उन्हें अग्रसारित राशि की जमानत की तरह दे देते हैं। विपत्र दलाल इस द्रव्य के मांग पर भुगतान के लिए बैंकर के प्रति उत्तरदायी होता है ; और इन लेन-देनों का परिमाण इतना विशाल है कि बैंक [ऑफ़ इंगलैंड] के वर्तमान गवर्नर श्री नीव ने बयान में कहा : 'हम जानते हैं कि एक दलाल के पास ५० लाख थे, और हमें यह विश्वास हो गया था कि एक और दलाल के पास ८० और १०० लाख के बीच थे ; एक के पास ४० लाख थे, एक और के पास ३५ लाख और एक तीसरे के पास ८० के ऊपर थे। मैं दलालों के पास जमाओं की बात कर रहा हूं।'" (*Report of Committee on Bank Acts, 1857-58*, p. 5, Section 8.)

"लंदन के विपत्र दलाल अपने देय होनेवाले विपत्रों के आवक पर, अथवा बेहद तंगी की हालत में, भुनाये हुए विपत्रों की प्रतिभूति पर बैंक ऑफ़ इंगलैंड से पेशगियां प्राप्त करने की शक्ति पर निर्भर करते हुए बिना किसी नक़द आरक्षित निधि के अपने भारी लेन-देन करते थे।" (वही, पृष्ठ VIII, अनुच्छेद १७।) "लंदन में दो विपत्र दलाली प्रतिष्ठानों ने १८४७ में भुगतान का निलंबन कर दिया ;. दोनों ही ने बाद में कारबार फिर शुरू कर दिया। १८५७ में दोनों के फिर निलंबन कर दिया। एक प्रतिष्ठान की देनदारियां १८४७ में, मोटे तौर पर, १,८०,००० पाउंड की पूंजी के साथ २६,८३,००० पाउंड की थीं, १८५७ में उसी प्रतिष्ठान की देनदारियां ५३,००,००० पाउंड की थीं और पूंजी शायद उसकी चौथाई से भी अधिक नहीं थी, जितनी १८४७ में थी। दूसरे प्रतिष्ठान की देनदारियां निलंबन की हर अवस्था में ३०,००,००० और ४०,००,००० पाउंड के बीच थीं और पूंजी ४५,००० पाउंड से अधिक नहीं थी।" (वही, पृष्ठ XXI, अनुच्छेद ५२)।

---

[6] १८४४ के बैंक अधिनियम का निलंबन बैंक ऑफ़ इंगलैंड को अपने क़ब्ज़े में स्वर्ण आरक्षण प्रत्याभूति से निरपेक्ष कितनी भी मात्रा में बैंक नोट जारी करने की, इस प्रकार आभासी काग़ज़ी द्रव्य पूंजी की मनमानी मात्रा का सृजन करने की, और उसका बैंकों को, स्टाक दलालों को, और उनके ज़रिये वाणिज्य को ऋण प्रदान करने के उद्देश्य से उपयोग करने की अनुमति देता है।–[फ़े० एं०]

अध्याय ३०

द्रव्य पूंजी और वस्तुरूप पूंजी । १

उधार पद्धति के विवेचन में हम जिन अकेले कठिन प्रश्नों पर अब पहुंच रहे हैं, वे ये हैं:

पहला: वास्तविक द्रव्य पूंजी का संचय। पूंजी के वास्तविक संचय का, अर्थात विस्तारित पैमाने पर पुनरुत्पादन का यह किस हद तक सूचक है और किस हद तक नहीं? क्या तथाकथित पूंजी अतिबाहुल्य – जो केवल ब्याजी पूंजी, अर्थात सद्रव्य पूंजी के संदर्भ में प्रयुक्त अभिव्यक्ति है – मात्र औद्योगिक अत्युत्पादन को व्यक्त करने का एक विशेष ढंग ही है, या यह उसके साथ-साथ कोई अलग परिघटना है? क्या यह अतिबाहुल्य, अथवा द्रव्य पूंजी का अतिशय संभरण, गतिहीन द्रव्य संहतियों (बुलियन, सोने के सिक्कों और बैंक नोटों) के अस्तित्व के साथ मेल खाता है, जिससे कि वास्तविक अथवा चालू द्रव्य (actual money) का यह अतिप्राचुर्य उधार पूंजी के उस अतिबाहुल्य का अभिव्यंजक और बाह्य रूप है?

दूसरा: द्रव्य की दुर्लभता, अर्थात उधार पूंजी की कमी, किस हद तक वस्तुरूप अथवा वास्तविक (real) पूंजी (पण्य पूंजी तथा उत्पादक पूंजी) की कमी को व्यक्त करती है? दूसरी ओर, किस हद तक यह द्रव्य की द्रव्य के रूप में कमी, संचलन माध्यम की कमी के साथ मेल खाती है?

जहां तक कि हमने द्रव्य पूंजी के और सामान्यतः द्रव्य संपदा के संचय के विशिष्ट रूप का अब तक विवेचन किया है, उसने अपने आपको श्रम पर स्वामित्व के दावों में परिणत कर लिया है। राष्ट्रीय ऋण की पूंजी के संचय का अर्थ, जैसे कि प्रकट हुआ है, केवल राजकीय ऋणदाताओं के वर्ग में वृद्धि आना ही है, जिन्हें कर-राजस्व के एक विशेष अंश पर पक्के दावे का विशेषाधिकार होता है।[6] इन तथ्यों द्वारा, जिससे ऋणों तक का संचय पूंजी के संचय जैसा

---

[6] "लोक निधि कल्पित पूंजी के सिवा और कुछ नहीं है, जो वार्षिक राजस्व के उस अंश को दर्शाती है, जो ऋण की अदायगी के लिए अलग कर दिया जाता है। पूंजी की एक समतुल्य राशि ख़र्च की गयी है; ऋण के लिए यही हर का काम देती है, लेकिन लोक निधि द्वारा इसे नहीं व्यक्त किया जाता है, क्योंकि पूंजी अब अस्तित्व में नहीं है। उद्योग के कार्य द्वारा नयी संपत्ति का सृजन किया जाना चाहिए; इस संपत्ति का एक अंश प्रति वर्ष उन लोगों के लिए पहले ही अलग कर दिया जाता है, जिन्होंने उस संपत्ति को उधार दिया था, जो ख़र्च कर दी गयी है; यह अंश करों द्वारा उन लोगों से ले लिया जाता है, जो उसे उत्पन्न करते हैं, और राज्य के ऋणदाताओं को दे दिया जाता है, और देश में पूंजी तथा ब्याज के बीच प्रयागत अनुपात के अनुसार एक कल्पित पूंजी को उस पूंजी का समतुल्य मान लिया जाता है, जो वह वार्षिक आय उत्पन्न कर सकती थी, जो इन ऋणदाताओं को प्राप्त करनी है।" (Sismondi, *Nouveaux principes* [Seconde édition, Paris, 1827], II, p. 230.)

प्रतीत हो सकता है, उधार पद्धति में होनेवाले विरूपीकरण की चरम सीमा प्रत्यक्ष हो जाती है। ये वचनपत्र, जो कभी की ख़र्च की जा चुकी मूलतः उधार ली हुई गयी पूंजी के लिए जारी किये जाते हैं, उपभुक्त पूंजी के ये काग़ज़ी प्रतिरूप अपने स्वामियों के लिए इस सीमा तक पूंजी का काम देते हैं कि वे विक्रेय जिंस होते हैं और इसलिए पूंजी में पुनःपरिवर्तित किये जा सकते हैं।

जैसे कि हम भी देख चुके हैं, सार्वजनिक निर्माण-कार्यों, रेलों, खदानों, आदि पर स्वामित्व के हक़नामे वास्तव में वस्तुरूप पूंजी के लिए हक़नामे होते हैं। लेकिन वे इस पूंजी पर नियंत्रण नहीं प्रदान कर देते। उसका आहरण नहीं किया जा सकता। वे केवल उसके द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य के एक अंश पर विधिक दावों को ही द्योतित करते हैं। लेकिन ये स्वत्व भी इसी प्रकार वस्तुरूप पूंजी के काग़ज़ी प्रतिरूप बन जाते हैं; यह ऐसा ही है, मानो कोई लदान पत्र माल से, उसके साथ-साथ और एक ही समय, अलग कोई मूल्य प्राप्त कर ले। वे नाममात्र को अविद्यमान पूंजी को व्यक्त करने लगते हैं। कारण यह कि वस्तुरूप पूंजी उनके साथ-साथ विद्यमान रहती है और इन प्रतिरूपों के एक व्यक्ति से दूसरे को अंतरण के परिणामस्वरूप दूसरे हाथों में नहीं चली आती। वे ब्याजी पूंजी का रूप ग्रहण करते हैं, सिर्फ़ इसीलिए नहीं कि वे एक ख़ास आय प्रत्याभूत करते हैं, बल्कि इसलिए भी कि उनकी बिक्री के ज़रिये उनका पूंजी मूल्यों के नाते वापसी भुगतान प्राप्त किया जा सकता है। जिस हद तक यह काग़ज़ रेलों, खदानों, वाष्पपोतों, आदि के संचय को व्यक्त करता है, उस हद तक वह वास्तविक पुनरुत्पादन प्रक्रिया के विस्तार को व्यक्त करता है – बिलकुल जैसे, मिसाल के लिए, चल संपत्ति पर कर सूची का विस्तार इस संपत्ति के प्रसार को द्योतित करता है। लेकिन प्रतिरूपों के नाते, जो स्वयं जिंसों की तरह लेन-देनों के विषय होते हैं और इस प्रकार पूंजी मूल्यों के रूप में परिचालित हो सकते हैं, वे आभासी होते हैं और उनका मूल्य जिस वस्तुरूप पूंजी के वे हक़नामे होते हैं, उसके मूल्य की गति से सर्वथा निरपेक्षतः गिर अथवा चढ़ सकता है। उनके मूल्य की, अर्थात शेयर बाज़ार में उनके निर्ख़ की अनिवार्यतः ब्याज दर में गिरावट के साथ चढ़ने की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि यह गिरावट – द्रव्य पूंजी की चारित्रिक गतियों से निरपेक्ष – केवल लाभ दर के गिरने की प्रवृत्ति के कारण होती है; इसलिए यह कल्पित संपत्ति पूंजीवादी उत्पादन के क्रम में, चाहे केवल इसी कारण सही, विशिष्ट मूल नामिक मूल्य के अपने अशेषभाजक अंशों के प्रत्येक भाग के लिए व्यक्त मूल्य के अनुसार प्रसार करती है।[7]

स्वामित्व के इन हक़नामों के दामों में उतार-चढ़ावों के ज़रिये नफ़ा-नुक़सान और उनका रेलपतियों, आदि के हाथों में केंद्रीकरण अपनी प्रकृति से ही अधिकाधिक जुएबाज़ी का मामला बनते जाते हैं, जो पूंजीगत संपदा प्राप्त करने के मूल तरीक़े के नाते श्रम का स्थान ले लेता जान पड़ता है और नग्न बल का भी स्थान ले लेता है। इस प्रकार की कल्पित द्रव्य संपदा न केवल

---

[7] संचित उधारार्थ द्रव्य पूंजी का एक अंश वास्तव में केवल औद्योगिक पूंजी की अभिव्यक्ति होता है। मसलन, जब इंगलैंड ने, १८५७ में, ८०० लाख पाउंड अमरीकी रेलों तथा अन्य उद्यमों में निवेशित किये थे, तो यह निवेश लगभग पूरी तरह से अंग्रेज़ी जिंसों के निर्यात से संपन्न किया गया था, जिसके लिए अमरीकियों को बदले में अदायगी नहीं करनी पड़ी थी। अंग्रेज़ निर्यातक इन जिंसों के लिए अमरीका द्वारा देय विनिमय पत्र बना देते थे, जिन्हें अंग्रेज़ स्टाक अभिदाता ख़रीद लेते थे और फिर स्टाक अभिदान ख़रीदने के लिए अमरीका भेज दिया जाता था।

अलग लोगों की द्रव्य संपदा का, बल्कि बैंकर की पूंजी का भी काफ़ी बड़ा हिस्सा होती है, जैसे हम पहले ही इंगित कर चुके हैं।

इस सवाल का जल्दी निपटारा करने के लिए हम यह भी बतला दें कि द्रव्य पूंजी के संचय से आशय, एक ओर, द्रव्य पूंजीपतियों और दूसरी ओर, राज्य, समुदायों तथा पुनरुत्पादक ऋणियों के बीच बिचौलियों की तरह काम करनेवाले बैंकरों (पेशे से साहूकारों) के हाथों में संपत्ति का संचय भी हो सकता है। कारण कि वे उधार पद्धति के संपूर्ण विराट विस्तार का, और सामान्यतः सारे उधार का अपनी निजी संपत्ति की तरह उपयोग करते हैं। इन लोगों के पास पूंजी और आयें हमेशा द्रव्यरूप में अथवा द्रव्य पर सीधे दावों के रूप में ही होती हैं। इस वर्ग की संपत्ति का संचय वास्तविक संचय से सर्वथा भिन्नतः हो सकता है, किंतु किसी भी सूरत में इससे यही सिद्ध होता है कि यह वर्ग वास्तविक संचय के काफ़ी हिस्से को अपने हाथों में ले लेता है।

हम अपने सम्मुख उपस्थित समस्या की परिधि को और कम कर दें। स्टाकों और सभी प्रकारों की प्रतिभूतियों की ही भांति सरकारी प्रतिभूतियां भी उधारार्थ पूंजी – ब्याज धारण करने के लिए अभिप्रेत पूंजी – के लिए निवेश के क्षेत्र हैं। वे इस तरह की पूंजी को उधार देने के रूप हैं। लेकिन वे स्वयं वह उधार पूंजी नहीं हैं, जो उनमें निवेशित है। दूसरी ओर, उधार पद्धति चूंकि पुनरुत्पादन प्रक्रिया में प्रत्यक्ष भूमिका निबाहती है, इसलिए उद्योगपति या व्यापारी जब अपने विपत्र को चुकता कराना या क़र्ज़ को मंजूर करवाना चाहता है, तब उसे जिसकी ज़रूरत होती है, वह न स्टाक हैं और न ही सरकारी प्रतिभूतियां। उसे जिसकी ज़रूरत है, वह है द्रव्य। इसलिए अगर वह किसी और तरीक़े से द्रव्य हासिल नहीं कर सकता, तो वह इन प्रतिभूतियों को गिरवी रख देता है या बेच देता है। हमें यहां इस उधार पूंजी के संचय का, और विशेषकर उधारार्थ द्रव्य पूंजी के संचय का ही विवेचन करना है। हमारा यहां मकानों, मशीनों अथवा अन्य स्थायी पूंजी के ऋणों से कोई सरोकार नहीं है। न हमारा उन अग्रसारणों से ही सरोकार है, जो उद्योगपति तथा व्यापारी एक दूसरे को जिंसों में और पुनरुत्पादन प्रक्रिया की परिधि के भीतर करते हैं, यद्यपि हमें इस प्रश्न को भी पहले अधिक विस्तार के साथ जांचना चाहिए। हमारा अनन्यरूपेण द्रव्य ऋणों से ही सरोकार है, जो बैंकरों द्वारा बिचौलियों के नाते उद्योगपतियों और व्यापारियों को दिये जाते हैं।

तो, आइये, आरंभ में वाणिज्यिक उधार का, अर्थात उस उधार का ही विश्लेषण करते हैं, जो पुनरुत्पादन में लगे पूंजीपति एक दूसरे को देते हैं। यह उधार पद्धति के आधार का निर्माण करता है। इसे विनिमय पत्र, एक निश्चित भुगतान अवधि का वचनपत्र, अर्थात आस्थगित भुगतान का प्रलेख प्रतिरूपित करता है। हर कोई एक हाथ उधार देता है और दूसरे हाथ उधार लेता है। हम फ़िलहाल बैंकर के उधार को बिलकुल अलग छोड़ देते हैं, जो एक सर्वथा भिन्न क्षेत्र है। जहां तक ये विनिमय पत्र स्वयं व्यापारियों के बीच ही एक से दूसरे को पृष्ठांकन द्वारा भुगतान साधन के नाते ही – सकारे जाने की मध्यस्थता के बिना – परिचालित होते हैं, यह मात्र क से ख को दावे का अंतरण ही है और बात को बिलकुल भी नहीं बदलता। यह मात्र एक व्यक्ति की दूसरे से प्रतिस्थापना ही करता है। और इस प्रसंग में भी परिसमापन द्रव्य के हस्तक्षेप के बिना हो सकता है। उदाहरण के लिए, कतवार क को रूई के दलाल ख को,

और उसे आयातक ग को किसी विपत्र की अदायगी करनी है। अब अगर ग सूत निर्यात भी करता हो, जैसा प्रायः होता भी है, तो वह सूत कतवार क से विनिमय पत्र पर ख़रीद सकता है और क दलाल ख को स्वयं दलाल के उस विनिमय पत्र से चुका सकता है, जो उसे, यानी क को, ग से भुगतान में मिला था। हद से हद बक़ाया ही द्रव्य में अदा करना होगा। अतः यह सारा लेन-देन रूई और सूत में विनिमय में ही सन्निहित है। निर्यातक केवल कतवार का और रूई का दलाल कपास उगानेवाले का प्रतिनिधित्व करता है।

अब इस शुद्धतः वाणिज्यिक उधार के परिपथ में दो बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

पहली: इन पारस्परिक दावों का निपटारा पूंजी के वापसी प्रवाह पर, अर्थात $C-M$ पर निर्भर करता है, जो आस्थगित मात्र है। अगर कतवार किसी सूती माल निर्माता से विनिमय पत्र प्राप्त करता है, तो निर्माता भुगतान कर सकता है, बशर्ते कि उसका जो माल बाज़ार में है, वह इस बीच बिक जाता है। अगर अनाज के सटोरिये के पास उसके एजेंट पर बना विपत्र है, तो एजेंट भुगतान कर सकता है, बशर्ते कि अनाज इस बीच में अपेक्षित दाम पर बिक जाये। इसलिए ये अदायगियां पुनरुत्पादन की प्रवाहिता पर, अर्थात उत्पादन तथा उपभोग प्रक्रियाओं पर निर्भर करती हैं। लेकिन उधार चूंकि पारस्परिक हैं, इसलिए एक की शोधनक्षमता दूसरे की शोधनक्षमता पर निर्भर करती है, क्योंकि विनिमय पत्र बनाते हुए उनमें से कोई भी या तो स्वयं अपने व्यवसाय में पूंजी के वापसी प्रवाह पर या ऐसे किसी तीसरे पक्ष के व्यवसाय में पूंजी के वापसी प्रवाह पर भरोसा कर सकता था, जिसका विनिमय पत्र इस बीच देय बन चुका है। पूंजी के वापसी प्रवाह की संभावना को छोड़कर भुगतान केवल विनिमय पत्र बनानेवाले के पास मौजू वापसीद प्रवाह के विलंबित हो जाने की हालत में अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए विनियोज्य आरक्षित पूंजी द्वारा ही संभव हो सकता है।

दूसरी: यह उधार पद्धति नक़द अदायगियों की आवश्यकता का अंत नहीं कर देती। एक तो व्ययों का काफ़ी बड़ा भाग हमेशा नक़द ही होता है, जैसे मजदूरी, कर, आदि। इसके अला-वा, पूंजीपति ख को, जिसने ग से नक़द अदायगी के स्थान पर विनिमय पत्र प्राप्त किया है, स्वयं अपना विनिमय पत्र चुकाना हो सकता है, जो ग के विनिमय पत्र के देय होने के पहले देय हो गया है और इसलिए उसके पास तैयार नक़दी होना आवश्यक है। ऊपर जिस तरह के पुनरुत्पादन के पूर्ण परिपथ – कपास उगानेवाले से कतवार तक और फिर वापस – की कल्पना की गयी है, वह केवल अपवाद ही हो सकता है; वह अनेक बिंदुओं पर निरंतर अंत-रायित होता रहेगा। पुनरुत्पादन प्रक्रिया के विवेचन में हम देख चुके हैं (दूसरी पुस्तक, भाग ३*) कि स्थिर पूंजी के उत्पादक अपने बीच अंशतः स्थिर पूंजी का विनिमय करते हैं। परि-णामस्वरूप विनिमय पत्र एक दूसरे का न्यूनाधिक निपटारा कर सकते हैं। इसी प्रकार उत्पादन के आरोही क्रम में भी होता है, जहां रूई का दलाल कतवार के नाम, कतवार सूती माल के निर्माता के नाम, निर्माता निर्यातक के नाम, निर्यातक आयातक (संभवतः फिर कपास के ही) के नाम विनिमय पत्र बनाता है। लेकिन लेन-देनों का परिपथ और इसलिए दावों की शृंखला का पलटाव एक ही समय नहीं होता। मिसाल के लिए, कतवार के बुनकर पर दावे का कोयला विक्रेता के मशीन निर्माता पर दावे से निपटारा नहीं हो जाता। कतवार का अपने व्यवसाय में

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड २, पृष्ठ ३७०-७३। – सं०

मशीन निर्माता पर कोई उलटा दावा नहीं होता, क्योंकि उसका उत्पाद, सूत, मशीन निर्माता की पुनरुत्पादन प्रक्रिया में एक तत्व के नाते कभी प्रवेश नहीं करता। इसलिए ऐसे दावों का निपटारा द्रव्य द्वारा ही करना होता है।

अगर उन पर अपने में विचार किया जाये, तो इस वाणिज्यिक उधार की सीमाएं हैं: १) उद्योगपतियों तथा व्यापारियों का धन, अर्थात प्रतिफलों के विलंबित हो जाने की स्थिति में आरक्षित पूंजी पर उनका नियंत्रण; २) स्वयं ये प्रतिफल। यह संभव है कि ये प्रतिफल विलंबित हो जायें, अथवा इस बीच में जिंसों के दाम गिर जायें या मंदे बाज़ार के कारण जिंसें अस्थायी रूप में अविक्रेय हो जायें। विनिमय पत्रों की मीयाद जितना ही ज्यादा होती है, आरक्षित पूंजी को उतना ही बड़ी होना चाहिए और दामों में गिरावट या बाज़ार में मालों की भरमार के कारण प्रतिफलों के घट जाने या विलंबित होने की संभावना उतना ही अधिक होनी चाहिए। और इसके अलावा मूल लेन-देन जिंसों के दामों के चढ़ने या गिरने की अटकल पर जितना ही ज्यादा आधारित था, प्रतिफल उतना ही कम प्रत्याभूत होंगे। लेकिन यह प्रत्यक्ष है कि श्रम की उत्पादक शक्ति के और इस प्रकार बड़े पैमाने पर उत्पादन के विकास के साथ: १) बाज़ारों का फैलाव होता है और वे उत्पादन स्थल से अधिक दूर हो जाते हैं; २) इसलिए उधारों को अधिक दीर्घकालिक हो जाना चाहिए; ३) इस प्रकार लेन-देनों पर सट्टे के अंश का अधिकाधिक प्राधान्य होते जाना चाहिए। बड़े पैमाने पर और दूरस्थ बाज़ारों के लिए उत्पादन कुल उत्पाद को वाणिज्य के हाथों में डाल देता है, लेकिन यह असंभव है कि किसी राष्ट्र की पूंजी अपने को इस तरह द्विगुणित कर ले कि वाणिज्य स्वयं समस्त राष्ट्रीय उत्पाद को ख़ुद अपनी ही पूंजी से ख़रीद सकने और फिर बेच लेने में समर्थ हो जाये। अतएव उधार यहां अपरिहार्य है, जिसका परिमाण उत्पादन के मूल्य के परिमाण के साथ बढ़ता जाता है और जिसकी कालावधि बाज़ारों की बढ़ती दूरी के साथ बढ़ती जाती है। यहां एक अन्योन्यक्रिया होती है। उत्पादन प्रक्रिया का विकास उधार को विस्तारित करता है और उधार की बदौलत औद्योगिक तथा वाणिज्यिक क्रियाओं का विस्तार होता है।

इस उधार पर अगर बैंकर के उधार से अलग रूप में विचार किया जाये, तो यह प्रत्यक्ष है कि स्वयं औद्योगिक पूंजी के बढ़ते परिमाण के साथ वह बढ़ता जाता है। उधार पूंजी और औद्योगिक पूंजी यहां एकसमान हैं। उधार दी गयी पूंजी पण्य पूंजी है, जो या तो अंतिम व्यक्तिगत उपभोग के लिए या उत्पादक पूंजी के स्थिर तत्वों की प्रतिस्थापना के लिए अभीष्ट है। यहां जो उधार पूंजी के रूप में प्रकट होती है, वह सदा पुनरुत्पादन प्रक्रिया के किसी निश्चित चरण में अस्तित्वमान पूंजी ही होती है, लेकिन जो क्रय-विक्रय के ज़रिये एक व्यक्ति से दूसरे के पास चली जाती है, जबकि क्रेता द्वारा उसका समतुल्य बाद में किसी नियत काला-वधि पर चुकाया जाता है। उदाहरण के लिए, विनिमय पत्र के बदले कपास का कतवार को, सूत का विनिमय पत्र के बदले सूती माल निर्माता को और सूती माल का विनिमय पत्र के बदले व्यापारी को अंतरण किया जाता है, जिसके हाथों से माल विनिमय पत्र के बदले निर्यातक को, और फिर विनिमय पत्र के बदले भारत में किसी व्यापारी के पास चला जाता है, जो माल को बेच देता है और उसके बदले में नील, आदि ख़रीद लेता है। कपास के एक हाथ से दूसरे हाथ में इस अंतरण के दौरान उसका सूती माल में रूपांतरण संपन्न हो जाता है और सूती माल को अंततः भारत भेज दिया जाता है और नील से बदल लिया जाता है, जिसे यूरोप रवाना कर दिया जाता है और वहां वह फिर से पुनरुत्पादन प्रक्रिया में प्रवेश कर जाता है। पुनरुत्पादन

प्रक्रिया के विभिन्न चरणों का प्रवर्तन यहां कपास के लिए कतवार, सूत के लिए सूती माल के निर्माता, सूती माल के लिए व्यापारी, आदि की तरफ़ से किसी भी तरह के कोई भुगतान के बिना उधार द्वारा ही किया जाता है। प्रक्रिया की प्रारंभिक अवस्थाओं में जिंस, कपास, उत्पादन के अपने विभिन्न चरणों से होकर गुज़रती है और यह संक्रमण उधार द्वारा प्रवर्तित किया जाता है। लेकिन जैसे ही कपास उत्पादन में जिंस के नाते अपना अंतिम रूप प्राप्त कर लेती है कि वही पण्य पूंजी केवल अलग-अलग व्यापारियों के हाथों से ही होकर गुज़रती है, जो उसके सुदूर बाज़ारों को परिवहन का प्रवर्तन करते हैं और जिनमें से अंतिम व्यापारी अंततः ये जिंसें उपभोक्ता को बेंच देता है और उनके बदले में दूसरी जिंसें ख़रीद लेता है, जो या तो उपभुक्त हो जाती हैं या पुनरुत्पादन प्रक्रिया में चली जाती हैं। इसलिए यहां दोनों अवस्थाओं में विभेद करना आवश्यक है: पहली अवस्था में उधार वस्तु विशेष के उत्पादन में वास्तविक आनुक्रमिक चरणों का प्रवर्तन करता है; दूसरी अवस्था में उधार मात्र वस्तु के परिवहन सहित एक व्यापारी से दूसरे को अंतरण का ही प्रवर्तन करता है, दूसरे शब्दों में, $C-M$ प्रक्रिया का। लेकिन यहां भी जिंस कम से कम परिचलन प्रक्रिया में, अर्थात पुनरुत्पादन प्रक्रिया के एक चरण में तो होती ही है।

तो निष्कर्ष यह निकलता है कि यहां जो उधार दी जाती है, वह कभी निष्क्रिय पूंजी नहीं होती, वरन ऐसी पूंजी होती है, जिसे अपने स्वामी के हाथों में अपने रूप को बदलना होता है; वह स्वामी के लिए केवल पण्य पूंजी के रूप में ही अस्तित्व रखती है, अर्थात ऐसी पूंजी कि जिसे पुनःरूपांतरित करना होता है, और आरंभ में कम से कम द्रव्य में परिवर्तित करना होता है। इसलिए उधार द्वारा यहां जिंसों के रूपांतरण का प्रवर्तन किया जाता है – केवल $C-M$ ही नहीं, बल्कि $M-C$ तथा वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया का भी। बैंकर के उधार को अलग छोड़ दिया जाये, तो पुनरुत्पादन परिपथ के भीतर उधार की बहुत बड़ी मात्रा कोई निष्क्रिय पूंजी की बड़ी मात्रा को द्योतित नहीं करती, जिसे उधार के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है और जो लाभकर निवेश की खोज में है। इसके विपरीत वह पुनरुत्पादन प्रक्रिया में पूंजी के बड़े नियोजन को प्रकट करती है। इस प्रकार, उधार यहां १) जहां तक औद्योगिक पूंजीपतियों का संबंध है, औद्योगिक पूंजी के एक चरण से दूसरे चरण में संक्रमण का, उत्पादन के संबद्ध तथा अंतर्ग्रंथित क्षेत्रों के संयोजन का; २) जहां तक व्यापारियों का संबंध है, जिंसों का द्रव्य के बदले निश्चित विक्रय हो जाने अथवा उनका अन्य जिंसों से विनिमय हो जाने तक उनके परिवहन और एक व्यक्ति से दूसरे को अंतरण का प्रवर्तन करता है।

उधार का अधिकतम यहां औद्योगिक पूंजी के पूर्णतम नियोजन के, अर्थात उपभोग की सीमाओं के लिहाज़ से निरपेक्ष उसकी पुनरुत्पादक शक्ति के अधिकतम उपयोग में लाये जाने के समान है। उपभोग की ये सीमाएं स्वयं पुनरुत्पादन प्रक्रिया के आयासों द्वारा विस्तारित हो जाती हैं। इससे, एक ओर, श्रमिकों तथा पूंजीपतियों द्वारा आय का उपभोग बढ़ता है और दूसरी ओर, यह उत्पादक उपभोग के उपयोग में लाये जाने के समान है।

जब तक पुनरुत्पादन प्रक्रिया अनवरत रहती है और इसलिए वापसी प्रवाह सुनिश्चित रहता है, तब तक यह उधार अस्तित्वमान रहता और प्रसार करता है और उसका प्रसार स्वयं पुनरुत्पादन प्रक्रिया के प्रसार पर आधारित होता है। जैसे ही विलंबित प्रतिफलों, पटे हुए बाज़ारों, अथवा गिरे हुए दामों के परिणामस्वरूप कोई ठहराव आता है, वैसे ही औद्योगिक पूंजी का अतिबाहुल्य उपलब्ध हो जाता है, परंतु ऐसे रूप में कि जिसमें वह अपने कार्यों का निष्पादन नहीं

कर सकती। पण्य पूंजी की विशाल राशियां, किंतु अविक्रेय। स्थायी पूंजी की विशाल राशियां, किंतु गतिरुद्ध पुनरुत्पादन के कारण अधिकांशतः निष्क्रिय। उधार संकुचित हो जाता है, १) इसलिए कि यह पूंजी निष्क्रिय होती है, अर्थात अपने पुनरुत्पादन के किसी चरण में निरुद्ध हो जाती है, क्योंकि वह अपने रूपांतरण को पूरा नहीं कर पाती; २) इसलिए कि पुनरुत्पादन की निरंतरता में विश्वास डिग जाता है; ३) इसलिए कि वाणिज्यिक उधार के लिए मांग घट जाती है। कतवार को, जिसने अपने उत्पादन को घटा दिया है और जिसके पास भंडार में बिन बिका सूत बड़ी मात्रा में मौजूद है, उधार पर कपास ख़रीदने की कोई ज़रूरत नहीं है; व्यापारी को उधार पर जिंसें ख़रीदने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसके पास वैसे ही वे ज़रूरत से ज़्यादा हैं।

इसलिए अगर पुनरुत्पादन प्रक्रिया के इस प्रसार अथवा उसके सामान्य प्रवाह तक में कोई गड़बड़ होती है, तो उधार भी दुर्लभ हो जाता है; उधार पर जिंसें प्राप्त कर पाना अधिक कठिन हो जाता है। तथापि, नक़द अदायगी के लिए मांग और उधार बिक्री के मामले में लक्षित होनेवाली सतर्कता औद्योगिक चक्र के सहसा गिरावट के बाद आनेवाले चरण के लिए विशेषकर लाक्षणिक होती हैं। स्वयं संकट के दौरान भी, जब हर किसी के पास बेचने के लिए माल होते हैं, जिन्हें वह बेच नहीं पाता है और फिर भी अदायगियां कर सकने के लिए जिन्हें बेचना ही होता है, ठीक उसी समय कि जब उधार की कमी सबसे संगीन होती है (और इसलिए बैंकर से उधार के लिए बट्टा दर उच्चतम होती है), निष्क्रिय तथा निवेशाकांक्षी पूंजी की संहति नहीं, बल्कि अपनी पुनरुत्पादन प्रक्रिया में अवरुद्ध पूंजी की संहति ही सबसे अधिक होती है। तब पहले ही निवेशित पूंजी वास्तव में बड़ी मात्राओं में निष्क्रिय हो जाती है, क्योंकि पुनरुत्पादन प्रक्रिया निश्चल हो जाती है। कारख़ाने बंद कर दिये जाते हैं, कच्चे माल संचित हो जाते हैं और तैयार माल जिंसों के रूप में बाज़ार को आप्लावित कर देते हैं। इसलिए ऐसी अवस्था के लिए उत्पादक पूंजी की दुर्लभता को दोष देने से अधिक भ्रांतिपूर्ण और कोई बात नहीं हो सकती। ठीक ऐसे ही दौरों में उत्पादक पूंजी का अंशतः पुनरुत्पादन के सामान्य, किंतु अस्थायी रूप में घटे हुए पैमाने की सापेक्षता में अतिबाहुल्य उत्पन्न होता है।

आइये, मान लेते हैं कि सारा समाज केवल औद्योगिक पूंजीपतियों और उजरती मज़दूरों से ही बना हुआ है। इसके अलावा, आइये, हम दामों के उतार-चढ़ावों को भी अलग छोड़ देते हैं, जो कुल पूंजी के बड़े-बड़े अंशों के अपने को अपने औसत अनुपातों में प्रतिस्थापित करने को रोकते हैं और जिन्हें समस्त उत्पादन प्रक्रिया के उन सामान्य अंतःसंबंधों के कारण, जो विशेषकर उधार की बदौलत विकसित होते हैं, अस्थायी प्रकार के आम ठहराव हमेशा पैदा ही करने होते हैं। हम उन बनावटी लेन-देनों और सट्टेबाज़ियों को भी अलग छोड़ देंगे, जिनमें उधार सहायक होता है। संकट की व्याख्या तब केवल अर्थव्यवस्था की विभिन्न शाखाओं में उत्पादन की अनुपातहीनता के परिणाम और पूंजीपतियों के उपभोग तथा उनके संचय के बीच अनुपातहीनता के परिणाम के रूप में ही की जा सकेगी। लेकिन स्थिति जैसी है, उसमें उत्पादन में निवेशित पूंजी का प्रतिस्थापन अधिकांशतः अनुत्पादक वर्गों की उपभोग क्षमता पर ही निर्भर करता है, जबकि श्रमिकों की उपभोग क्षमता कुछ तो मज़दूरी के नियमों और कुछ इस तथ्य से सीमित हो जाती है कि उनका सिर्फ़ तभी तक उपयोग किया जाता है कि जब तक पूंजीपति वर्ग उनका लाभकर नियोजन कर सकता है। सभी वास्तविक संकटों का अंतिम कारण सदा पूंजीवादी उत्पादन की उत्पादक शक्तियों को ऐसे कि मानो समाज की निरपेक्ष

उपभोग क्षमता ही उनकी सीमा हो, विकसित करने की सहज प्रवृत्ति के मुक़ाबले जनसाधारण का नैर्धन्य और सीमित उपभोग ही बना रहता है।

उत्पादक पूंजी का वास्तविक अभाव होने की बात, कम से कम पूंजीवादी ढंग से विकसित देशों में, सिर्फ़ या तो मुख्य खाद्यान्नों में या मुख्य औद्योगिक कच्चे मालों में फ़सल की आम तबाही की हालतों में ही कही जा सकती है।

लेकिन इस वाणिज्यिक उधार के अलावा हमारे सामने चालू द्रव्य उधार भी है। उद्योग-पतियों तथा व्यापारियों के आपस में एक दूसरे को द्रव्य अग्रसारण उन्हें बैंकरों तथा महाजनों द्वारा किये जानेवाले द्रव्य अग्रसारणों के साथ संलयित हो जाते हैं। विनिमय पत्रों के भुनाये जाने में अग्रसारण केवल नाममात्र ही होता है। निर्माता अपना माल विनिमय पत्र के बदले बेचता है और उसे किसी हुंडी दलाल से भुनवा लेता है। वास्तव में दलाल सिर्फ़ अपने बैंकर के उधार का ही अग्रसारण करता है, जो अपनी बारी में दलाल को अपने जमाकर्ताओं की द्रव्य पूंजी ही अग्रसारित करता है। जमाकर्ताओं में स्वयं औद्योगिक पूंजीपतियों और व्यापारियों तथा श्रमिकों (बचत बैंकों के ज़रिये) के अलावा किराया ज़मीन पानेवाले तथा अन्य अनुत्पादक वर्ग भी होते हैं। इस तरह से हर अलग औद्योगिक निर्माता और व्यापारी बड़ी आरक्षित निधि रखने और अपने वास्तविक प्रतिफलों पर निर्भर रहने की आवश्यकता से निकल आता है। दूसरी ओर, कुछ तो सीधे-सीधे विनिमय पत्रों के हेर-फेर के कारण, और कुछ एकमात्र विनिमय पत्र गढ़ने के उद्देश्य से ही जिंस लेन-देन के कारण सारी प्रक्रिया इतनी उलझ जाती है कि प्रतिफलों के सुचारु प्रवाह से संपन्न अत्यंत शोधनक्षम व्यवसाय का आभास उसके भी बहुत समय बाद तक आसानी से बना रह सकता है कि जब व्यवहार में प्रतिफल अंशतः तो ठगे गये साहूकारों की और अंशतः ठगे गये उत्पादकों की क़ीमत पर ही आने लगते हैं। इस प्रकार, सहसा गिरावट की ठीक पूर्ववेला में व्यवसाय हमेशा ही लगभग अत्यधिक शोधनक्षम प्रतीत होता है। इसका सबसे अच्छा प्रमाण, उदाहरण के लिए, १८५७ तथा १८५८ के बैंक अधिनियमों से संबंधित रिपोर्टों से उपलब्ध होता है, जिनमें सभी बैंक निदेशकों और व्यापारियों ने, संक्षेप में सभी आमंत्रित विशेषज्ञों ने, जिनके प्रधान लॉर्ड ओवरस्टोन थे, व्यवसाय की समृद्धि और शोधनक्षमता पर एक दूसरे को बधाइयां दी थीं – और सो भी अगस्त, १८५७ में संकट के फूट पड़ने के सिर्फ़ एक ही महीने पहले। और अचरज की बात है कि अपनी पुस्तक *History of Prices* में टूक प्रत्येक संकट के इतिहासकार के नाते एक बार फिर इस भ्रांति के शिकार हो जाते हैं। व्यवसाय हमेशा ही ठोस और कारबार पूरे ज़ोरों पर होता है कि अचानक तबाही आ दबोचती है।

अब हम द्रव्य पूंजी के संचय पर लौट आते हैं।

उधारार्थ द्रव्य पूंजी का हर ही आवर्धन पूंजी के वास्तविक संचय अथवा पुनरुत्पादन प्रक्रिया के प्रसार को द्योतित नहीं करता है। औद्योगिक चक्र के संकट के फ़ौरन बाद आनेवाले चरण में यह सबसे सुस्पष्ट होता है, जब उधार पूंजी विशाल मात्राओं में निष्क्रिय पड़ी रहती है। ऐसे दौरों में, जब उत्पादन प्रक्रिया घटी हुई होती है (१८४७ के संकट के बाद इंगलैंड के औद्योगिक ज़िलों में उत्पादन एक तिहाई कम हो गया था), जब जिंसों के दाम अपने निम्नतम स्तर पर होते हैं, जब उद्यम का हौसला ठंडा पड़ा होता है, तब ब्याज दर नीची होती है, जो इस प्रसंग में ठीक औद्योगिक पूंजी के संकुचन तथा निश्चलन के परिणामस्वरूप उधारार्थ पूंजी की

वृद्धि के सिवा और कुछ नहीं व्यक्त करती। यह स्पष्ट ही है कि जब जिंसों के दाम गिर जाते हैं, लेन-देनों की संख्या घट जाती है और मज़दूरी के लिए ख़र्च की जानेवाली पूंजी कम हो जाती है, तब संचलन माध्यम की अल्पतर मात्रा की आवश्यकता होती है; दूसरी ओर, विदेशी ऋणों के या तो सोने के निर्यात द्वारा या दिवाले निकल जाने के परिणामस्वरूप परिसमाप्त कर दिये जाने के बाद विश्व द्रव्य का कार्य करने के लिए अतिरिक्त द्रव्य की आवश्यकता नहीं होती है; और अंततः, विनिमय पत्रों को भुनाने से संबद्ध कारबार का परिमाण स्वयं विनिमय पत्रों की घटी हुई संख्या और परिमाणों के यथानुपात घटता जाता है। अतः, उधारार्थ पूंजी के लिए या तो संचलन माध्यम के रूप में या भुगतान साधन के रूप में काम करने की मांग (नयी पूंजी के निवेशित किये जाने का सवाल ही नहीं उठता) घट जाती है और इसलिए इस पूंजी का आपेक्षिक बाहुल्य हो जाता है। लेकिन ऐसी हालतों में उधारार्थ पूंजी की पूर्ति भी बढ़ जाती है, जैसे कि हम आगे चलकर देखेंगे।

इस प्रकार, १८४७ के संकट के बाद स्थिति का चारित्रिक लक्षण था "लेन-देन का सीमित हो जाना और द्रव्य का भारी अतिबाहुल्य।" (*Commercial Distress*, 1847-48, Evidence क्रमांक १६६४।) ब्याज दर "वाणिज्य के लगभग पूर्ण विनाश और द्रव्य को नियोजित करने के साधनों के लगभग पूर्ण अभाव" के कारण बहुत नीची थी (पूर्वो०, पृष्ठ ४५, रॉयल बैंक ऑफ़ लीवरपूल के निदेशक हॉजसन का बयान)। इन तथ्यों की व्याख्या करने के लिए इन महानुभावों ने कैसी-कैसी बेहूदा बातें गढ़ीं (और हॉजसन उनमें से श्रेष्ठतमों में एक हैं), यह इस उक्ति से देखा जा सकता है: "दबाव" (१८४७) "अंशतः संसार के सभी भागों से आयातों के लिए सोने में अदायगी करने की आवश्यकता से, और अंशतः अस्थायी पूंजी के स्थायी पूंजी में अवशोषित होने से जनित देश की सद्रव्य पूंजी के वास्तविक ह्रास से उत्पन्न हुआ था।" [पूर्वो०, पृष्ठ ३९।] अस्थायी पूंजी का स्थायी पूंजी में परिवर्तन किसी देश की द्रव्य पूंजी को कैसे कम कर देता है, यह बात अबोधगम्य है। कारण कि रेलों के मामले में, मिसाल के लिए, जिनमें उस समय मुख्यतः पूंजी निवेशित की गयी थी, पुलों और पटरियों के लिए न सोने और न काग़ज़ का ही प्रयोग किया जाता है, और रेलों के स्टाक के लिए द्रव्य ने, जिस हद तक वह केवल भुगतान में जमा किया गया था, बिलकुल उन्हीं कार्यों का निष्पादन किया था, जो बैंकों में जमा किया कोई भी अन्य द्रव्य करता है और उधारार्थ पूंजी को अस्थायी रूप में बढ़ा तक दिया था, जैसे ऊपर दर्शाया जा चुका है; लेकिन जिस हद तक वह निर्माण में वस्तुतः ख़र्च किया गया था, वह देश में क्रय साधन तथा भुगतान साधन के नाते परिचालित हुआ। सिर्फ़ जहां तक कि स्थायी पूंजी का निर्यात नहीं किया जा सकता, जिससे कि उसके निर्यात की असंभाव्यता के साथ निर्यातित वस्तुओं से प्राप्त प्रतिफल से, जिनमें नक़दी अथवा बुलियन में प्रतिफल भी शामिल हैं, उपलब्ध पूंजी भी विषयेतर हो जाती है, द्रव्य पूंजी सिर्फ़ उसी सीमा तक प्रभावित हो सकती थी। लेकिन उस समय ब्रिटिश निर्यात मालों के भी विदेशी बाज़ारों में बिन बिक पाये विशाल अंबार लगे हुए थे। सही है कि मैंचेस्टर, आदि के व्यापारियों और कारख़ानेदारों की, जिनकी सामान्य व्यावसायिक पूंजी का एक अंश रेलों के स्टाकों में बंधा हुआ था और जो इसलिए अपना कारबार चलाने के लिए उधार की पूंजी पर निर्भर थे, अस्थायी पूंजी स्थायी बन गयी थी और इसलिए उन्हें नतीजों को भोगना पड़ा। लेकिन बात तब भी यही रही होती कि अगर उनके व्यवसाय की, मगर उससे आहृरित, पूंजी रेलों के बजाय – उदाहरण के लिए – खदानों में निवेशित कर दी गयी होती, क्योंकि लोहा, कोयला,

तांबा जैसे खनन उत्पाद अपनी बारी में स्वयं अस्थायी पूंजी हैं। फ़सलों के मारे जाने, अनाज के आयात और सोने के निर्यात के कारण उपलब्ध द्रव्य पूंजी का वास्तव में कम हो जाना एक ऐसा तथ्य था कि जिसका क़ुदरती तौर पर रेल घोटाले से कोई संबंध नहीं था। – "लगभग सभी व्यापारिक प्रतिष्ठानों ने अपने व्यवसाय को... अपनी वाणिज्यिक पूंजी का कुछ हिस्सा रेलों के लिए लेकर... पूंजी से कमोबेश वंचित करना शुरू कर दिया था।" – "वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों द्वारा रेलों को इतनी बड़ी हद तक के ऋणों [पूर्वो०, पृष्ठ ४२] ने उन्हें... विपत्रों की बट्टे पर चुकौती द्वारा, जिससे कि अपने कारबार को चला सकें, बैंकों... पर अत्यधिक आश्रित होने के लिए प्रेरित किया" (वही हॉजसन, पूर्वो०, पृष्ठ ६७)। "मैंचेस्टर में रेलों में सट्टे के परिणामस्वरूप अपार हानियां हुई हैं" (Buch I, Kap. XIII, 3, c* तथा अन्य अनेक स्थलों में पहले उद्धृत आर० गार्डनर, साक्ष्य क्रमांक ४८८४, पूर्वो०)।

१८४७ के संकट के मुख्य कारणों में से एक बाज़ार का अत्यधिक आप्लावन और जिंसों के ईस्ट इंडियन व्यापार में कल्पनातीत घोटाला था। लेकिन इस शाखा में अत्यंत धनी फ़र्मों को दिवालिया बनानेवाली अन्य परिस्थितियां भी थीं: "उनके पास विशाल साधन थे, किंतु वे हाथ में नहीं थे। उनकी सारी पूंजी मारीशस में भू-संपत्तियों, या नील के कारख़ानों, या शकर के कारख़ानों में अटकी हुई थी। ५-६ लाख पाउंड तक की देनदारियां हो जाने पर उनके पास अपने विपत्रों की अदायगी करने के लिए कोई उपलब्ध पूंजी न थी और अंततः यह सिद्ध हुआ कि अपने विपत्रों की अदायगी करने के लिए वे पूर्णतः अपनी साख पर ही निर्भर थे।" (चा० टर्नर, लीवरपूल के एक बड़े ईस्ट इंडियन व्यापारी, क्रमांक ७३०, पूर्वो०)। गार्डनर का कथन भी देखिये (क्रमांक ४८७२, पूर्वो०): "चीनी संधि के फ़ौरन बाद देश के सामने चीन के साथ हमारे व्यापार के प्रसार की इतनी बड़ी संभावना पेश की गयी थी कि विशेषकर उस प्रकार के कपड़े का निर्माण करने के लिए, जो मुख्यतः चीनी बाज़ार के लिए लिया जाता है, केवल इसी व्यापार के लिए कई बड़े कारख़ाने क़ायम किये गये थे और हमारे पुराने कारख़ानेदारों में ये सब और जुड़ गये थे।" – "४८७४। यह व्यापार कैसा साबित हुआ है? – अत्यंत विनाशकारी, लगभग वर्णनातीत; मैं नहीं समझता कि १८४४ और १८४५ में चीन को जो कुल माल भेजा गया था, उसके लिए दो तिहाई से ज़्यादा रक़म वापस आयी हो; वापसी अदायगी का मुख्य माल चाय होने और जो प्रत्याशा दिलायी गयी थी, उसके परिणामस्वरूप हम, कारख़ानेदारों के नाते, चाय पर शुल्क में बड़ी कमी आने पर पूरा भरोसा कर रहे थे।" – और अब अंग्रेज़ कारख़ानेदारों का निष्कपटतापूर्वक व्यक्त लाक्षणिक सिद्धांत आता है; "विदेशी बाज़ारों के साथ हमारा वाणिज्य जिंसें ख़रीदने की उनकी शक्ति द्वारा सीमित नहीं किया जाता है, लेकिन अपने मालों के बदले हम जो पाते हैं, उसे खपाने की हमारी शक्ति उसे यहां, इस देश में सीमित कर देती है।" (इंगलैंड जिन अपेक्षतः निर्धन देशों के साथ व्यापार करता है, वे तो, निस्संदेह, कितनी भी मात्रा में अंग्रेज़ी मालों का दाम चुका सकते हैं और उन्हें खपा सकते हैं, किंतु अभाग्यवश धनी इंगलैंड बदले में भेजे मालों को अपने यहां नहीं खपा सकता है।) – "४८७६। मैंने आरंभ में इस पक्के विश्वास के साथ अपना कुछ माल भेजा और वह कोई १५ प्रतिशत की हानि के साथ बिका कि मेरे अभिकर्ता जिस दाम पर चाय ख़रीद सकेंगे, वह देश में इतना लाभ दे देगा कि कसर पूरी हो जायेगी, लेकिन लाभ के बदले मुझे कुछ मामलों में २५, बल्कि

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, अध्याय १३, ३ ग। – सं०

५० प्रतिशत तक का भी नुक़सान हुआ।" – "४८७७। क्या कारख़ानेदार आम तौर पर ख़ुद निर्यात करते थे? – अधिकतर; मेरे ख़्याल में व्यापारियों ने बहुत जल्दी ही समझ लिया कि इससे लाभ नहीं होगा और उन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष दिलचस्पी लेने के बजाय कारख़ानेदारों को माल परेषण के लिए प्रोत्साहित किया।" – इसके विपरीत, १८५७ में नुक़सान और दिवाले मुख्यतः व्यापारियों पर ही पड़े, क्योंकि कारख़ानेदारों ने विदेशी बाज़ारों को पाटने का काम "ख़ुद उन पर" डाल दिया था।

द्रव्य पूंजी का ऐसा प्रसार, जो बैंकिंग के प्रसार के दृष्टिगत (नीचे इप्सविच का उदाहरण देखें, जहां १८५७ के तुरंत पहले के कुछ वर्षों के दौरान पूंजीवादी फ़ार्मरों की जमाएं चौगुनी हो गयी थीं) इस कारण होता है कि पहले का निजी अपसंचय या सिक्कों का निचय हमेशा एक निश्चित अवधि के लिए उधारार्थ पूंजी में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार उत्पादक पूंजी की वृद्धि को नहीं सूचित करता है कि जिस प्रकार लंदन के स्टाक बैंकों में उनके द्वारा जमाओं पर ब्याज दिया जाना शुरू किये जाने के बाद जमाओं का बढ़ना नहीं सूचित करता था। जब उत्पादन का पैमाना वही बना रहता है, इस प्रसार से केवल उत्पादक पूंजी की तुलना में उधारार्थ पूंजी का बाहुल्य ही होता है। इसी से ब्याज दर नीची होती है।

पुनरुत्पादन प्रक्रिया के अति-आयास से पहलेवाली समृद्धि की अवस्था में फिर पहुंच जाने के बाद वाणिज्यिक उधार बहुत विस्तारित हो जाता है; वस्तुतः प्रतिफलों के सुचारु प्रवाह और विस्तारित उत्पादन के लिए यही फिर "स्वस्थ" आधार का निर्माण करता है। इस अवस्था में ब्याज दर अब भी नीची ही होती है, चाहे वह अपने न्यूनतम के ऊपर हो जाती है। वास्तव में यही वह **अकेला** समय है कि जब यह कहा जा सकता है कि नीची ब्याज दर और फलतः उधारार्थ पूंजी की सापेक्षिक बहुलता औद्योगिक पूंजी के वास्तविक विस्तार की हंपाती होती है। विस्तृत वाणिज्यिक उधार के साथ-साथ प्रतिफलों का सुचारु प्रवाह और नैरंतर्य उधार पूंजी के लिए बढ़ी संई मांग के बावजूद उसकी पूर्ति को सुनिश्चित करता है और ब्याज दर के स्तर को चढ़ने से रोकता है। दूसरी ओर, वे जांबाज़ अब पहली बार ख़ासी संख्या में सामने आते हैं, जो बिना किसी भी आरक्षित पूंजी के अथवा पूंजी के बिलकुल ही बिना काम करते हैं और इस प्रकार लगभग पूरी तरह से द्रव्य उधार के आधार पर ही कारबार करते हैं। और इसमें अब स्थायी पूंजी के सभी रूपों में भारी प्रसार और विशाल तथा दूरगामी पैमाने पर नये उद्यमों के खुलने का भी संयोग हो जाता है। ब्याज दर चढ़कर अब अपने औसत स्तर पर पहुंच जाती है। नये संकट के शुरू होने के साथ वह फिर अपने अधिकतम स्तर पर पहुंच जाती है। तब उधार अचानक बंद हो जाता है, भुगतान निलंबित कर दिये जाते हैं, पुनरुत्पादन प्रक्रिया ठप हो जाती है और पूर्वोद्धृत अपवादों को छोड़कर उधार पूंजी के लगभग पूर्ण अभाव के साथ-साथ निष्क्रिय औद्योगिक पूंजी का अतिबाहुल्य प्रकट हो जाता है।

इस प्रकार, उधार पूंजी की गति, जिस प्रकार वह ब्याज दर में व्यक्त होती है, कुल मिलाकर औद्योगिक पूंजी की गति के विपरीत दिशा में होती है। जिस चरण में निम्न, किंतु निम्नतम से ऊपर, ब्याज दर संकट के बाद "सुधार" और बढ़ते विश्वास की संपाती होती है, और जिस चरण में ब्याज दर अपने औसत स्तर पर, अपने न्यूनतम तथा अधिकतम के ठीक बीच में पहुंच जाती है, अकेले दो दौर हैं, जिनके दौरान उधार पूंजी का बाहुल्य औद्योगिक पूंजी के भारी प्रसार के साथ विद्यमान होता है। किंतु औद्योगिक चक्र के आरंभ में नीची ब्याज

दर औद्योगिक पूंजी के संकुचन की संपाती होती है और औद्योगिक चक्र के अंत में ऊंची ब्याज दर औद्योगिक पूंजी के अतिबाहुल्य की सँपाती होती है। "सुधार" के साथ आनेवाली नीची ब्याज दर यह दर्शाती है कि वाणिज्यिक उधार को बैंक उधार की बहुत कम सीमा तक ही आवश्यकता होती है, क्योंकि अभी वह आत्मनिर्भर ही होता है।

औद्योगिक चक्र की प्रकृति ही ऐसी है कि पहला आवेग प्रदान किये जाने के साथ उसी परिपथ को अपने को नियतकालिक रूप में पुनरुत्पादित करना होता है।[8] मंदी के दौर में उत्पादन उस स्तर के नीचे गिर जाता है, जो उसने पूर्ववर्ती चक्र में प्राप्त किया था और जिसके लिए प्राविधिक आधार अब तैयार हो गया है। समृद्धि – मध्यवर्ती दौर – के दौरान वह इसी आधार पर विकसित होता रहता है। अत्युत्पादन और ठगी के दौर में वह उत्पादक शक्तियों को अधिकतम पर ले जाता है, यहां तक कि वह उत्पादन प्रक्रिया की पूंजीवादी सीमाओं के बाहर भी चला जाता है।

प्रत्यक्ष है कि संकट काल में भुगतान साधनों की कमी होती है। विनिमय पत्रों की विनिमेयता स्वयं जिंसों के रूपांतरण का स्थान ले लेती है और ऐसे समयों पर ऐसा ठीक जितना अधिक होता है, उतना ही अधिक फ़र्में शुद्ध उधार पर कारबार करती हैं। अज्ञानतापूर्ण और भ्रांत बैंक विधान, मिसाल के लिए, १८४४-४५ का, इस द्रव्य संकट को बढ़ा सकता है। लेकिन किसी भी प्रकार का बैंक विधान संकट का उन्मूलन नहीं कर सकता।

ऐसी उत्पादन पद्धति में, जिसके अंतर्गत पुनरुत्पादन प्रक्रिया की समस्त निरंतरता उधार

---

[8] [जैसे कि मैं अन्यत्र पहले ही कह चुका हूं ('पूंजी', खंड १, पृष्ठ ३६। – सं०), पिछले बड़े आम संकट के बाद से इसमें एक अंतर आ चुका है। आवर्ती प्रक्रिया के अपने पुराने दसवर्षीय चक्रवाले तीव्र रूप ने विभिन्न औद्योगिक देशों में भिन्न-भिन्न समयों पर होनेवाले व्यवसाय के अपेक्षतया अल्पकालिक और मामूली सुधार तथा अपेक्षतया दीर्घकालिक, अनिश्चित मंदी के बीच अधिक चिरकारी, देर तक चलनेवाले एकांतरण को जगह दे दी जान पड़ती है। लेकिन शायद इस चक्र की अवधि के दीर्घीकरण की ही बात हो। यह दिखलाया जा सकता है कि विश्व वाणिज्य के प्रारंभिक वर्षों, १८१५-४७ में यह चक्र कोई पांच साल चला करता था; १८४७ से १८६७ तक चक्र स्पष्टतः दस वर्ष का है; क्या यह संभव है कि हम अब अपूर्व प्रचंडता के एक नये विश्व सहसापात की प्रारंभिक अवस्था में हों? अनेक तथ्य इसी ओर इंगित करते लगते हैं। १८६७ के पिछले आम संकट के बाद से अनेक गहन परिवर्तन आ चुके हैं। परिवहन तथा संचार साधनों के ज़बरदस्त प्रसार – महासागरगामी जलपोतों, रेलों, बिजली के तार, स्वेज़ नहर – ने वास्तविक विश्व बाज़ार को एक असलियत बना दिया है। उद्योग में इंगलैंड के पुराने एकाधिकार को अनेक प्रतिद्वंद्वी देशों ने चुनौती दी है; बेशी यूरोपीय पूंजी निवेश के लिए संसार के सभी भागों में असीमतः अधिक और विविध क्षेत्र उन्मुक्त कर दिये गये हैं, जिससे वह कहीं अधिक व्यापक रूप में वितरित हो गयी है और स्थानीय अतिसट्टे को अधिक सुगमतापूर्वक पराभूत किया जा सकता है। इन सभी की बदौलत संकटों के अधिकांश जननस्थलों और उनके विकसित होने के अवसरों को ख़त्म कर दिया गया है या बहुत अधिक कम कर दिया गया है। साथ ही घरेलू बाज़ार में प्रतिद्वंद्विता उत्पादक संघों और न्यासों के आगे घट जाती है, जबकि विदेशी बाज़ार में वह उन संरक्षण प्रशुल्कों से प्रतिबंधित है, जिनसे इंगलैंड के सिवा सभी प्रमुख औद्योगिक देश अपने को घेर लेते हैं। किंतु ये संरक्षण प्रशुल्क अंतिम व्यापक औद्योगिक युद्ध के लिए तैयारियों के अलावा और कुछ नहीं हैं, जो इसका निर्णय करेगा कि विश्व बाज़ार में किसका प्राधान्य है। इस प्रकार पुराने संकटों की पुनरावृत्ति के विरुद्ध कार्य करनेवाला प्रत्येक कारक अपने भीतर कहीं अधिक शक्तिशाली भावी संकट के कीटाणु लिये होता है। – फ़े० एं०.]

पर ही आधारित होती है, संकट – भुगतान साधनों के लिए असाधारण मांग का पैदा होना – स्पष्टतः तभी आना चाहिए कि जब उधार अचानक बंद हो जाता है और सिर्फ़ नक़द भुगतान ही मान्य बन जाता है। इसलिए पहली नजर में सारा संकट केवल उधार तथा द्रव्य संकट जैसा ही प्रतीत होता है। और वास्तव में यह सिर्फ़ विनिमय पत्रों की द्रव्य में विनिमेयता का ही सवाल है। लेकिन इन विनिमय पत्रों में से अधिकांश वास्तविक क्रय-विक्रयों को प्रकट करते हैं, जिनका समाज की आवश्यकताओं से कहीं अधिक बढ़ाया जाना ही आखि़र सारे संकट का आधार होता है। साथ ही इन विनिमय पत्रों की एक विशाल मात्रा कोरी ठगी को प्रकट करती है, जो अब ज़ाहिर हो जाती है और ढेर हो जाती है; इसके अलावा वह अन्य लोगों की पूंजी से असफल सट्टाख़ोरी को, और अंततः ऐसी पण्य पूंजी को, जो मूल्यह्रासित हो गयी है या बिलकुल अविक्रेय है, अथवा ऐसे प्रतिफलों को प्रकट करती है, जिनकी अब कभी फिर वसूली नहीं हो सकती। निस्संदेह, पुनरुत्पादन प्रक्रिया के बलात प्रसार की इस सारी कृत्रिम पद्धति को इस तरह से दुरुस्त नहीं किया जा सकता कि कोई बैंक, उदाहरण के लिए, बैंक ऑफ़ इंगलैंड, अपने काग़ज़ के ज़रिये ठगों को दुर्लभ पूंजी प्रदान करता रहे और सारी मूल्यह्रासित जिंसों को उनके पुराने अंकित मूल्यों पर ख़रीदता रहे। प्रसंगतः, यहां सभी कुछ विरूपित रूप में ही प्रकट होता है, क्योंकि इस काग़ज़ी दुनिया में वास्तविक दाम और उसका वास्तविक आधार तो कहीं भी नहीं, बल्कि सिर्फ़ बुलियन, धातु मुद्रा, नोट, विनिमय पत्र, प्रतिभूतियां ही नज़र आते हैं। यह विरूपण विशेषकर उन केंद्रों में ही प्रत्यक्ष हो पाता है, जहां देश का समस्त द्रव्य व्यवसाय संकेंद्रित होता है, मिसाल के लिए, लंदन में; सारी प्रक्रिया अबोधगम्य हो जाती है; उत्पादन के केंद्रों में ऐसा कम होता है।

प्रसंगतः, औद्योगिक पूंजी के उस अतिबाहुल्य के सिलसिले में, जो संकट के दौरान प्रकट होता है, इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए: पण्य पूंजी स्वयं अपने में साथ ही द्रव्य पूंजी, अर्थात जिंसों के दाम में व्यक्त मूल्य की एक निश्चित मात्रा भी होती है। उपयोग मूल्य के नाते यह उपयोगिता वस्तुओं की एक निश्चित प्रमात्रा होती है और संकट के समयों में इनका बाहुल्य पाया जाता है। लेकिन अपने में द्रव्य पूंजी के नाते, संभाव्य द्रव्य पूंजी के नाते, उसका निरंतर प्रसार और संकुचन होता रहता है। संकट के पहले, और उसके दौरान, अपनी संभाव्य द्रव्य पूंजी की हैसियत में पण्य पूंजी संकुचित हो जाती है। वह उस समय की बनिस्बत, जब उसे ख़रीदा गया था और उस पर आधारित बट्टागत चुकौतियों और रेहनों को संपन्न किया गया था, अपने स्वामी और उसके ऋणदाताओं के लिए कम द्रव्य पूंजी (और विनिमय पत्रों तथा ऋणों के लिए कम प्रतिभूति भी) प्रकट करती है। अगर इस दावे का कि तंगी के समयों में किसी देश की द्रव्य पूंजी कम हो जाती है, मतलब यही हो, तो यह ऐसा कहने के ही बराबर है कि जिंसों के दाम गिर गये हैं। दामों में इस तरह की गिरावट महज़ उनकी पहले की स्फीति को संतुलित ही करती है।

अनुत्पादक वर्गों की और उन सभी लोगों की कि जो नियत आय पर निर्वाह करते हैं, आयें अत्युत्पादन तथा अतिसट्टे के साथ-साथ चलनेवाली दामस्फीति के दौरान कुल मिलाकर स्थिर रहती हैं। इसलिए उनकी उपभोग क्षमता सापेक्षतया घट जाती है और उसके साथ कुल पुनरुत्पादन के उस अंश को प्रतिस्थापित करने की उनकी क्षमता भी घट जाती है, जो उनके उपभोग में सामान्यतया प्रवेश करता। जब उनकी मांग नाममात्र को उतनी ही भी बनी रहती है, तब भी व्यवहार में वह घटती ही है।

आयात-निर्यात के सिलसिले में इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि एक के बाद एक करके सभी देश संकटग्रस्त होते जाते हैं और तब यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि कुछ अपवादों के सिवा उन सभी ने बहुत अधिक ही निर्यात और आयात किया था और फलस्वरूप **उन सभी का प्रतिकूल भुगतान शेष है**। इसलिए संकट का कारण वास्तव में भुगतान शेष में नहीं निहित होता। उदाहरण के लिए, इंगलैंड को स्वर्ण अपवाह का सामना करना पड़ता है। उसने आयात बहुत अधिक किया है। लेकिन साथ ही अन्य सभी देशों को अंग्रेज़ी मालों की अतिपूर्ति भी की गयी है। इस प्रकार, उन्होंने भी आयात बहुत अधिक किया है, या उनसे आयात अधिक करवाया गया है। (निस्संदेह, उधार पर निर्यात करनेवाले देश और उन देशों में अंतर होता है, जो उधार पर कम निर्यात करते हैं या बिलकुल भी नहीं करते है, लेकिन बदले में अंतोक्त देश उधार पर आयात करते हैं; और सिर्फ़ उसी हालत में ऐसा नहीं होता कि जब उन्हें जिंसें चालानी – परेषण पर – भेजी जाती हैं।) संकट सबसे पहले इंगलैंड में, उस देश में फूट सकता है, जो अधिकांश उधार का अग्रसारण करता है और सबसे कम उधार लेता है, क्योंकि भुगतान शेष, देय भुगतानों का संतुलन, जिनका तुरंत निपटान किया जाना चाहिए, **प्रतिकूल है,** चाहे सामान्य व्यापार शेष **अनुकूल ही है**। ऐसा आंशिक रूप में उसके द्वारा अनुदत्त ऋण के परिणाम-स्वरूप, और आंशिक रूप में विदेशों को उधार दी गयी पूंजी की विशाल मात्राओं के परिणाम-स्वरूप होता है, जिससे वास्तविक व्यापारिक प्रतिफलों के अलावा जिंसों के रूप में प्रतिफलों की विशाल मात्राएं उसके पास वापस प्रवाहित हो आती हैं। (लेकिन संकट का कभी-कभी सबसे पहले प्रस्फुटन अमरीका में हुआ है, जो अधिकांश वाणिज्यिक तथा पूंजीगत उधार इंगलैंड से लेता है।) इंगलैंड में सोने के अपवाह द्वारा शुरू किया गया और उसके साथ चलनेवाला सहसापात कुछ तो उसके आयातकों के दिवाले द्वारा (जिसके बारे में नीचे और भी कहा जायेगा), कुछ उसकी पण्य पूंजी के एक हिस्से को दूसरे देशों में कम दामों पर निपटाकर और कुछ विदेशी प्रतिभूतियों की बिक्री, अंग्रेज़ी प्रतिभूतियों की ख़रीदारी, आदि द्वारा इंगलैंड के भुगतान शेष का निपटान कर देता है। अब किसी दूसरे देश की बारी आती है। भुगतान शेष क्षणिक रूप में उसके अनुकूल था; लेकिन भुगतान शेष तथा व्यापार शेष के बीच सामान्य रूप में बना रहनेवाला समय का अंतराल अब संकट द्वारा मिटा दिया या कम से कम घटा दिया गया है: अब सारे भुगतानों के तुरंत ही किये जाने की अपेक्षा की जाती है। अब यहां भी इस सभी की पुनरावृत्ति होती है। इंगलैंड को अब सोने का पश्चप्रवाह हो रहा है, जबकि दूसरे देश से स्वर्ण अपवाह हो रहा है। एक देश में जो अतिशय आयात जैसा लगता है, वह दूसरे देश में अतिशय निर्यात प्रतीत होता है तथा तत्प्रतिक्रमात। लेकिन सभी देशों में अतिआयात और अतिनिर्यात (यहां हम फ़सलों के मारे जाने, आदि की नहीं, बल्कि आम संकट की बात कर रहे हैं), अर्थात उधार तथा उसके साथ-साथ चलनेवाली दामों की सामान्य स्फीति द्वारा संवर्धित अत्युत्पादन हुआ है।

१८५७ में संयुक्त राज्य अमरीका में संकट फूट पड़ा। परिणामस्वरूप इंगलैंड से अमरीका को स्वर्ण अपवाह हुआ। लेकिन जैसे ही अमरीका में बुलबुला फटा कि वैसे ही संकट इंगलैंड में फूट पड़ा और सोने का अमरीका से इंगलैंड को प्रवाह होने लग गया। इंगलैंड तथा महाद्वीपीय यूरोप के बीच भी यही हुआ। आम संकट के समय भुगतान शेष सभी देशों के, कम से कम वाणिज्यिक दृष्टि से विकसित प्रत्येक देश के प्रतिकूल होता है, लेकिन वह हमेशा – जैसे गोलियों की सिलसिलेवार बौछार में होता है – बारी-बारी से ही हर देश के प्रतिकूल होता है,

अर्थात हर देश की भुगतान करने की बारी आने के साथ; और एक बार जहां किसी देश में, उदाहरण के लिए, इंगलैंड में संकट फूटा नहीं कि वह इन अवधियों की शृंखला को एक अत्यल्प कालावधि में संपीडित कर लेता है। तब यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि इन सभी राष्ट्रों ने एक ही समय अतिनिर्यात (फलतः अत्युत्पादन) और अतिआयात (फलतः अतिव्यापार) किया था, उन सभी में दाम स्फीत थे और उधार बहुत अधिक फैला हुआ था। और तब उन सभी में एक ही जैसा सहसापात होता है। तब स्वर्ण अपवाह की परिघटना उन सभी में बारी-बारी से घटित होती है और ठीक अपने सामान्य स्वरूप से ही यह सिद्ध करती है १) कि स्वर्ण अपवाह संकट की एक परिघटना मात्र है, उसका कारण नहीं; २) कि जिस क्रम में वह विभिन्न देशों को आक्रांत करता है, वह केवल यही दिखलाता है कि उनमें से प्रत्येक के लिए क़यामत का दिन कब आया है, अर्थात संकट का समारंभ कब हुआ और उसके अंतर्निहित तत्व वहां सामने आते हैं।

यह अंग्रेज़ आर्थिक लेखकों की लाक्षणिकता है – और १८३० से उल्लेख करने योग्य आर्थिक साहित्य अपने को मुख्यतः मुद्रा, उधार तथा संकटों पर साहित्य में ही परिणत कर लेता है – कि विनिमय दरों में आनेवाले परिवर्तन के बावजूद वे संकट के समयों में बहुमूल्य धातुओं के निर्यात को सिर्फ़ इंगलैंड के दृष्टिकोण से, विशुद्धतः एक राष्ट्रीय परिघटना की तरह ही देखते हैं और इस तथ्य की तरफ़ से सर्वथा आंखें मूंद लेते हैं कि अन्य सभी यूरोपीय बैंक अपनी ब्याज दर तब ही चढ़ाते हैं कि जब उनका बैंक संकट के समय अपनी ब्याज दर को चढ़ा देता है, और अगर उनके देश में स्वर्ण अपवाह पर हाहाकार आज मचाया जाता है, तो कल वह अमरीका में और परसों जर्मनी तथा फ़्रांस में भी मचाया जायेगा।

१८४७ में "इस देश से संबंध रखनेवाले दायित्वों का चुकाया जाना आवश्यक था" [अधिकांशतः अनाज के लिए]। "अभाग्यवश, काफ़ी हद तक उन्हें दिवालों द्वारा चुकाया गया" [महाद्वीप तथा अमरीका के प्रति अपनी देनदारियों से वैभवशाली इंगलैंड ने दिवालों द्वारा राहत प्राप्त की], "लेकिन जहां तक उन्हें दिवालों से नहीं चुकाया गया, उन्हें बुलियन के निर्यात से चुकाया गया।" (*Report of Committee on Bank Acts, 1857.*) दूसरे शब्दों में, चूंकि इंगलैंड में संकट बैंक विधान द्वारा तीव्र हो जाता है, इसलिए यह विधान अकाल के ज़मानों में अनाज निर्यातक देशों को पहले तो उनके अनाज पर और फिर अनाज के लिए धन पर ठगने का साधन है। इसलिए ऐसे देशों द्वारा, जो स्वयं अभावों के कारण कमोबेश मुसीबत उठा रहे हैं, ऐसे समयों में अनाज के निर्यात पर पाबंदी का लगाया जाना बैंक ऑफ़ इंगलैंड की "दिवालों द्वारा" अनाज के आयात के "दायित्वों को चुकाने" की इस योजना को विफल करने के लिए बहुत संगत उपाय है। आख़िर यह कहीं बेहतर है कि अनाज के उत्पादक और सटोरिये इंगलैंड के भले के लिए अपनी पूंजी को गंवाने के बजाय अपने देश के भले के लिए अपने लाभ का एक हिस्सा गंवा दें।

उपरोक्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि संकटों और व्यावसायिक मंदी के ज़मानों में पण्य पूंजी काफ़ी हद तक संभाव्य द्रव्य पूंजी को प्रकट करने की अपनी क्षमता गंवा देती है। आभासी पूंजी, ब्याजी काग़ज़, जहां तक कि वह द्रव्य पूंजी की तरह शेयर बाज़ार में संचलन करती है, के बारे में भी यही बात सही है। चढ़ते ब्याज के साथ उसका दाम गिरता जाता है। इसके अलावा, उसका दाम उधार की आम कमी की वजह से गिरता है, जो उसके स्वामियों को द्रव्य प्राप्त करने के लिए उसे बड़ी मात्राओं में बाज़ार में डालने के लिए मजबूर कर देती है। अंततः, स्टाकों के मामले में वह अंशतः उन संप्राप्तियों में

कमी आने के परिणामस्वरूप, जिनके लिए वह धनादेशों का काम करता है, और अंशतः वह जिन उद्यमों को बहुधा द्योतित करता है, उनके नक़ली स्वरूप के परिणामस्वरूप गिरता है। संकट के कालों में इस आभासी द्रव्य पूंजी में, और उसके साथ उसके स्वामियों की उसके आधार पर बाज़ार में द्रव्य उधार लेने की क्षमता में जबरदस्त कमी आ जाती है। तथापि, शेयर बाज़ार सारणी में इन प्रतिभूतियों के द्रव्य समतुल्यों के घटने का उस वास्तविक पूंजी से तो कोई नहीं, पर उनके स्वामियों की शोधनक्षमता से निस्संदेह बहुत संबंध होता है।

अध्याय ३१

द्रव्य पूंजी और वस्तुरूप पूंजी। २
(जारी)

इस प्रश्न के अंत पर हम अब भी नहीं पहुंच पाये हैं कि उधारार्थ द्रव्य पूंजी के रूप में पूंजी का संचय किस हद तक वास्तविक संचय, अर्थात पुनरुत्पादन प्रक्रिया के प्रसार के साथ मेल खाता है।

द्रव्य का उधारार्थ पूंजी में रूपांतरण द्रव्य के उत्पादक पूंजी में रूपांतरण से कहीं अधिक सीधा-सादा मामला है। लेकिन इसमें दो बातों में विभेद करना होगा :

१) द्रव्य का उधार पूंजी में मात्र रूपांतरण ;

२) पूंजी अथवा संप्राप्ति या आय का द्रव्य में रूपांतरण, जो उधार पूंजी में रूपांतरित हो जाता है।

केवल अंतोक्त में ही औद्योगिक पूंजी के वास्तविक संचय से संबद्ध उधार पूंजी के सकारात्मक संचय का समावेश हो सकता है।

१. द्रव्य का उधार पूंजी में रूपांतरण

हम पहले ही देख चुके हैं कि उधार पूंजी की ऐसी बड़ी वृद्धि या बेशी हो सकती है, जो उत्पादक संचय से सिर्फ़ इसी हद तक संबद्ध होती है कि वह उसके व्युत्क्रमानुपात में होती है। ऐसा औद्योगिक चक्र के दो चरणों में होता है, अर्थात एक तो, जब उत्पादक तथा पण्य पूंजी के अपने दोनों रूपों में औद्योगिक पूंजी संकुचित होती है, अर्थात संकट के बाद चक्र के आरंभ में; और दूसरे, जब सुधार शुरू हो जाता है, लेकिन जब वाणिज्यिक उधार अब भी बैंक उधार का बहुत हद तक उपयोग नहीं करता है। पहले प्रसंग में द्रव्य पूंजी, जो पहले उत्पादन तथा वाणिज्य में लगी हुई थी, निष्क्रिय उधार पूंजी की तरह सामने आती है; दूसरे प्रसंग में वह अधिकाधिक प्रयोग में आती लगती है, लेकिन बहुत नीची ब्याज दर पर, क्योंकि अब औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूंजीपति द्रव्य पूंजीपति से अपनी शर्तें मनवाते हैं। उधार पंजी का आधिक्य पहले प्रसंग में औद्योगिक पूंजी की निश्चलता को, और दूसरे प्रसंग में प्रतिफलों की सुप्रवाहिता, अल्पकालीन ऋण और स्वयं अपनी पंजी से कारबार के प्राधान्य के आधार पर बैंक उधार से वाणिज्यिक उधार की आपेक्षिक स्वतंत्रता को व्यक्त करता है। सटोरिये, जो दूसरों की उधार पूंजी पर आश्रित होते हैं, अभी मैदान में नहीं आये हैं; स्वयं अपनी पूंजी से काम करनेवाले अब भी लगभग शुद्ध उधार क्रियाओं से बहुत दूर हैं। पहले चरण में उधार पूंजी का आधिक्य

वास्तविक संचय का प्रत्यक्षतः उलटा है। दूसरे चरण में वह पुनरुत्पादन प्रक्रिया के नवीकृत प्रसार से संपात कर है – वह उसके साथ-साथ चलता है, लेकिन उसका कारण नहीं है। उधार पूंजी के आधिक्य ने घटना भी शुरू कर दिया है, अर्थात मांग की तुलना में वह अब भी केवल सापेक्षिक ही है। दोनों ही प्रसंगों में वास्तविक संचय प्रक्रिया को इस तथ्य द्वारा प्रवर्तित किया जाता है कि नीची ब्याज दर, जो पहले प्रसंग में नीचे दामों की और दूसरे प्रसंग में धीरे-धीरे चढ़ते दामों की सहपाती होती है, लाभ के उस अंश को बढ़ा देती है, जो उद्यम के लाभ में परिणत हो जाता है। समृद्धि काल के चरम में ब्याज के चढ़कर अपने औसत स्तर पर पहुंच जाने पर ऐसा और भी अधिक हद तक होता है, जब वह बढ़ तो सचमुच जाती है, पर लाभ की सापेक्षता में नहीं।

दूसरी ओर, हम देख चुके हैं कि उधार पूंजी का संचय किसी वास्तविक संचय के बिना भी हो सकता है, अर्थात मात्र ऐसे प्राविधिक साधनों से, जैसे बैंकिंग पद्धति का प्रसार तथा संकेंद्रण, और संचलन रिज़र्व में, या निजी भुगतान साधनों की आरक्षित निधि में बचत, जिन्हें फिर हमेशा थोड़े समय के लिए उधार पूंजी में परिणत कर दिया जाता है। यद्यपि यह उधार पूंजी, जो इस कारण अस्थायी पूंजी भी कहलाती है, सदा अल्प अवधियों के लिए ही उधार पूंजी का रूप बनाये रखती है (और निस्संदेह उसका सिर्फ़ अल्प कालावधियों के लिए बट्टागत चुकौतियों के वास्ते उपयोग भी किया जाना चाहिए), तथापि उसका निरंतर उतार-चढ़ाव होता रहता है। अगर कोई कुछ निकाल लेता है, तो दूसरा उसमें और जोड़ देता है। इस प्रकार उधारार्थ द्रव्य पूंजी की संहति वास्तविक संचय से सर्वथा निरपेक्षतः बढ़ती है (हम यहां कई वर्षों के लिए ऋणों की बात बिलकुल भी नहीं कर रहे हैं, बल्कि सिर्फ़ विनिमय पत्रों और जमाओं पर अल्पकालीन ऋणों की ही कर रहे हैं)।

Bank Committee, 1857, प्रश्न ५०१। 'अस्थायी पूंजी' "आपका से क्या अभिप्राय है? – [बैंक ऑफ़ इंगलैंड के गवर्नर, श्री वैंगलिन का उत्तर:] "यह अल्प अवधियों के लिए द्रव्य ऋणों के निमित्त प्रयोज्य पूंजी है।... (५०२) बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोट... प्रादेशिक बैंक संचलन और देश में विद्यमान सिक्कों की राशि।" – [प्रश्न:] "समिति के सामने जो विवरण हैं, उनसे यह नहीं प्रतीत होता कि अगर अस्थायी पूंजी से आपका आशय सक्रिय संचलन से है" [बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोटों का], "तो क्या सक्रिय संचलन में कोई बहुत बड़ा विचरण है?" [लेकिन यह बहुत बड़ा अंतर है कि यह सक्रिय संचलन साहूकार द्वारा अग्रसारित किया जाता है या स्वयं पुनरुत्पादक पूंजीपति द्वारा। वैंगलिन का उत्तर:] "मैं अस्थायी पूंजी में बैंकरों की आरक्षित निधि को शामिल करता हूं, जिसमें काफ़ी उतार-चढ़ाव है।" अर्थात मतलब यह कि जमाओं के उस अंश में काफ़ी उतार-चढ़ाव है, जिसे बैंकरों ने फिर से उधार नहीं दे दिया है, बल्कि जो उनकी आरक्षित निधि के रूप में, और अधिकांशतः बैंक ऑफ़ इंगलैंड की भी आरक्षित निधि के रूप में सामने आता है, जहां उन्हें जमा किया गया है। अंत में यही सज्जन कहते हैं: अस्थायी पूंजी बुलियन हो सकती है, अर्थात सिल्लियां और सिक्के (५०३)। – यह सचमुच आश्चर्यजनक है कि द्रव्य बाज़ार के इस उधार विषयक शब्दजाल में किस तरह राजनीतिक अर्थशास्त्र के सभी संवर्ग भिन्न अर्थ और भिन्न रूप प्राप्त कर लेते हैं। अस्थायी पूंजी वहां प्रचल पूंजी के लिए प्रयुक्त है, जबकि व्यवहार में वह सर्वथा भिन्न चीज़ है, उसमें द्रव्य पूंजी है, और बुलियन पूंजी है, और बैंक नोट संचलन हैं, और पूंजी पण्य या जिंस है, और ऋण जिंसें हैं और स्थायी पूंजी मुश्किल से बिक पानेवाले काग़ज़ में निवेशित द्रव्य है!

"लंदन के संयुक्त पूंजी बैंकों ने ... अपनी जमाओं को बढ़ाकर १८४७ में ८८,५०,७७४ पाउंड से १८५७ में ४,३१,००,७२४ पाउंड कर दिया है। ... समिति के सम्मुख प्रस्तुत साक्ष्य इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि इस विशाल राशि का एक बड़ा हिस्सा ऐसे स्रोतों से प्राप्त किया गया है, जो पहले इस प्रयोजन के लिए उपलब्ध नहीं किये जाते थे, और बैंकरों के यहां खाते खोलने और द्रव्य जमा करने का चलन अनेक उन वर्गों में फैल गया है, जो अपनी पूंजी (!) पहले इस तरह नियोजित नहीं करते थे। प्रादेशिक निजी बैंकर संघ" [संयुक्त पूंजी बैंकों से भिन्न] "के अध्यक्ष, तथा संघ द्वारा इस समिति के सम्मुख साक्ष्य देने के लिए प्रत्यायुक्त, श्री रॉडवैल ने कहा है कि इप्सविच के आसपास हाल के समय में इस चलन की उस ज़िले के फ़ार्मरों और दूकानदारों में चार गुना वृद्धि हुई है और लगभग हर फ़ार्मर – सिर्फ़ ५० पाउंड सालाना लगान देनेवाला तक – अब बैंकरों के यहां जमाएं रखता है। इन जमाओं की समष्टि बेशक व्यवसाय के नियोजनों में ही पहुंचती है और विशेषकर लंदन, वाणिज्यिक हलचल के केंद्र की तरफ़ अभ्याकर्षित होती है, जहां उसका पहले विपत्रों के चुकता करने में, अथवा लंदन के बैंकरों के ग्राहकों को अन्य अग्रसारणों में नियोजन किया जाता है। तथापि वह बड़ा अंश, जिसके लिए स्वयं बैंकरों की कोई तात्कालिक मांग नहीं होती, विपत्र दलालों के हाथों में चला जाता है, जो बैंकर द्वारा अग्रसारित राशि के लिए प्रतिभूति के रूप में बैंकर को बदले में उनके द्वारा लंदन तथा देश के विभिन्न भागों में लोगों के लिए पहले ही चुकता किये वाणिज्यिक विपत्र देते हैं।" (*Bank Committee*, 1858, p. V.)

विपत्र दलाल को उन विनिमय पत्रों पर, जिन्हें यह दलाल पहले ही एक बार चुकता कर चुका है, अग्रसारण करके बैंकर वस्तुतः उन्हें पुनः चुकता करता है; लेकिन वास्तव में इनमें से बहुत से विपत्रों को विपत्र दलाल पहले ही पुनः चुकता कर चुका है, और बैंकर जिस द्रव्य का विपत्र दलाल के विपत्र पुनः चुकता करने के लिए उपयोग करता है, उसी से दलाल नये विपत्रों को पुनः चुकता करता है। इसका परिणाम क्या होता है, यह इससे पता चलता है: "निभाव पत्रों और मुक्त ऋणों द्वारा, जिनके लिए प्रादेशिक संयुक्त पूंजी बैंकों के ऐसे विपत्रों को सिर्फ़ बैंक की साख पर ही और विपत्रों की कोटि की ओर सर्वथा ध्यान दिये बिना चुकता करने और उन्हें लंदन के बाज़ार में विपत्र दलालों के पास पुनः चुकता कराने के दस्तूर से बहुत सुविधाएं प्रदान की गयी हैं, व्यापक आभासी ऋण पैदा कर दिये गये हैं" (पूर्वो०, पृष्ठ XXI)।

इस पुनः चुकता करने के और उधारार्थ द्रव्य पूंजी की यह विशुद्धतः प्राविधिक वृद्धि उधार की धोखाधड़ियों को जो सहायता देती है, उसके बारे में *Economist* से लिया निम्न उद्धरण रोचक है: "पिछले कुछ वर्षों में देश के कुछ ज़िलों में पूंजी" [अर्थात उधारार्थ द्रव्य पूंजी] "का संचय उसे उपयोग में ला पाने की अपेक्षा कहीं अधिक तेज़ी से हुआ है, जबकि दूसरे ज़िलों में पूंजी को नियोजित करने के साधन स्वयं पूंजी की अपेक्षा कहीं तेज़ी से बढ़े हैं। जहां देश भर के शुद्धतः कृषिप्रधान ज़िलों में बैंकरों को स्वयं अपने ज़िलों में अपनी जमाओं को लाभपूर्वक तथा निरापदतापूर्वक नियोजित करने के कोई पर्याप्त साधन नहीं मिल पाये, वहां बड़े व्यापारिक नगरों में और उद्योग तथा खननप्रधान ज़िलों में उन्हें स्वयं उनके साधन जितनी पूंजी की पूर्ति कर सकते थे, उससे कहीं बड़ी मांग मिली। भिन्न-भिन्न ज़िलों की इस अन्योन्यान्वित अवस्था के परिणामस्वरूप पिछले कुछ वर्षों में पूंजी के वितरण में एक नये प्रकार के प्रतिष्ठानों का संस्थापन तथा तीव्र प्रसार हुआ है, जो यद्यपि सामान्यतः कहलाते तो विपत्र दलाल हैं, पर वास्तव में बहुत ही बड़े पैमाने पर बैंकर हैं। इन प्रतिष्ठानों का व्यवसाय सम्मत कालावधियों

के लिए और सम्मत ब्याज दरों पर उन ज़िलों के बैंकरों की बेशी को, जहां उसे नियोजित नहीं किया जा सकता था, और इसी प्रकार सार्वजनिक कंपनियों तथा बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठानों की अस्थायी रूप में अनियोजित रक़मों को प्राप्त करना और उन्हें उन ज़िलों में, जहां पूंजी अधिक मांग में होती थी, आम तौर पर अपने ग्राहकों से लिये विपत्रों को पुनः चुकता करके, बैंकर को उच्चतर ब्याज दरों पर अग्रसारित करना रहा है... और इस तरह से लंबार्ड स्ट्रीट वह बड़ा केंद्र बन गयी है, जिसमें फालतू पूंजी का देश के एक भाग से, जहां उसका लाभपूर्वक नियोजन नहीं किया जा सकता था, दूसरे भाग को, जहां उसके लिए मांग थी, और इसी प्रकार ऐसी ही स्थिति में पड़े व्यक्तियों के बीच अंतरण किया जाता है। आरंभ में ये लेन-देन लगभग पूरी तरह से बैंक प्रतिभूतियों पर उधार लेने और देने तक ही सीमित थे। लेकिन जैसे-जैसे देश की पूंजी अधिक तेज़ी के साथ संचित होती गयी और बैंकों की स्थापना से अधिकाधिक किफ़ायती होती गयी, वैसे-वैसे इन 'बट्टाघरों' को प्राप्य निधियां इतनी बड़ी होती गयीं कि पहले तो वे माल के गोदी अधिपत्रों या वारंटों (गोदियों में जिंसों के भंडारण बीजकों) पर, और इसके बाद लदान पत्रों पर, जो ऐसे माल को व्यक्त करते थे कि जो अभी इस देश में पहुंचा तक नहीं था, चाहे वह कभी-कभी – आम तौर पर नहीं, तो भी – व्यापारी द्वारा अपने दलाल पर बनाये विनिमय पत्र द्वारा प्रत्याभूत होता था, अग्रसारण करने के लिए प्रेरित हुए। इस चलन ने अंग्रेज़ी वाणिज्य के सारे स्वरूप को ही तेज़ी से बदल दिया। इस प्रकार लंबार्ड स्ट्रीट में प्रदत्त सुविधाओं ने मिंसिंग लेन में दलालों को व्यापक शक्तियां प्रदान कर दीं, जिन्होंने अपनी बारी में... आयातक व्यापारी को उसका पूरा सुलाभ प्रदान किया, जिसने इस हद तक लाभ उठाया कि जहां २५ साल पहले यह तथ्य कि किसी व्यापारी ने लदान पत्रों पर, अथवा अपने गोदी अधिपत्रों तक पर, अग्रसारण प्राप्त किये थे, उसकी साख के लिए घातक होता था, वहां हाल के वर्षों में यह प्रथा इतनी आम हो गयी है कि अब इसे सामान्य नियम कहा जा सकता है, न कि वह विरल अपवाद, जो वह २५ साल पहले था। यही नहीं, इस पद्धति को इतना आगे ले जाया जा चुका है कि लंबार्ड स्ट्रीट में सुदूर उपनिवेशों की **आगामी** फ़सलों पर बनाये विपत्रों पर भी बड़ी-बड़ी धनराशियां जुटायी गयी हैं। आयातक व्यापारियों को इस प्रकार प्रदान की जानेवाली ऐसी सुविधाओं के परिणामस्वरूप वे अपने लेन-देनों का विदेशों में प्रसार करने लगे और अपनी उस अस्थायी पूंजी को, जिससे उनके व्यवसाय का अब तक संचालन होता रहा है, सभी स्थायी प्रतिभूतियों में से सर्वाधिक आपत्तिजनक – विदेशी बाग़ानों – में निवेशित करने लगे, जिन पर वे या तो बहुत कम नियंत्रण रख सकते थे या बिलकुल भी नहीं रख सकते थे। और इस प्रकार हम उधार के प्रत्यक्ष परिवर्तन को देखते हैं, जिसके ज़रिये हमारे देहाती इलाक़ों में, और प्रादेशिक बैंकों में जमाओं की सूरत में छोटी-छोटी रक़मों में, और लंबार्ड स्ट्रीट में नियोजन के लिए केंद्रों में इकट्ठा की गयी देश की पूंजी को पहले, हमारे खनन तथा उद्योगप्रधान ज़िलों में उन इलाक़ों में बैंकों को विनिमय पत्रों के पुनः चुकता किये जाने के ज़रिये कारबार का प्रसार करने के लिए; फिर, गोदी अधिपत्रों तथा लदान पत्रों पर अग्रसारणों द्वारा विदेशी माल के आयात के लिए अधिक सुविधाएं प्रदान करने के वास्ते, और इस प्रकार विदेशी तथा औपनिवेशिक व्यापार में लगे प्रतिष्ठानों की 'वैध' वाणिज्यिक पूंजी को उन्मुक्त करते हुए और उसे विदेशी बाग़ानों पर अपने सबसे आपत्तिजनक अग्रसारणों के लिए प्रेरित करते हुए उपलब्ध किया गया है।" (*Economist*, २० नवंबर, १८४७, पृष्ठ १३३४।) इस तरह से उधारों को "सफ़ाई के साथ" डकारा जाता है। देहाती जमाकर्ता सोचता है कि वह

सिर्फ़ अपने बैंकर के पास ही जमा करता है और इसके अलावा यह सोचता है कि जब उसका बैंकर उसे दूसरों को उधार देता है, तो उन निजी लोगों को ही देता है, जिन्हें वह जानता है। उसे इसका संदेह तक नहीं होता कि यह बैंकर उसकी जमा लंदन के किसी विपत्र दलाल के हवाले कर देता है, जिसके कारबार पर उन दोनों में से किसी का लेशमात्र भी नियंत्रण नहीं है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि रेलों जैसे बड़े सार्वजनिक उद्यम किस प्रकार इस तथ्य के कारण उधार पूंजी को अस्थायी रूप में बढ़ा सकते हैं कि वस्तुतः उपयोग में लाये जाने तक जमा रक़में हमेशा एक ख़ास कालावधि तक बैंकरों के अधिकार में रहती हैं।

प्रसंगतः, उधार पूंजी की संहृति संचलन की मात्रा से सर्वथा भिन्न होती है। संचलन की मात्रा से यहां हमारा आशय है किसी देश में बहुमूल्य धातुओं की सिल्लियों सहित विद्यमान तथा संचलनशील सारे बैंक नोटों और सिक्कों की राशि। इस मात्रा का एक अंश बैंकों की आरक्षित निधि का निर्माण करता है, जिसका परिमाण निरंतर बदलता रहता है।

"१२ नवंबर, १८५७" [१८४४ के बैंक अधिनियम के निलंबन की तिथि] "को बैंक ऑफ़ इंगलैंड की (लंदन और उसकी सभी शाखाओं सहित) समस्त आरक्षित निधि केवल ५,८०,७५१ पाउंड थी; उसी समय उनकी जमाएं २,२५,००,००० पाउंड थीं, जिनमें से लगभग पैंसठ लाख लंदन के बैंकरों के थे।" (*Bank Acts*, 1858, p. LVII.)

ब्याज दर में विचरण (लंबी कालावधियों में होनेवाले अथवा विभिन्न देशों की ब्याज दर में विचरणों के अलावा, पूर्वोक्त सामान्य लाभ दरों में विचरणों पर और अंतोक्त लाभ दरों में तथा उधार के विकास में अंतरों पर निर्भर होते हैं) औद्योगिक पूंजी के विपरीत, जो अपने में – पण्य रूप में – वाणिज्यिक उधार के ज़रिये स्वयं पुनरुत्पादन के कर्ताओं के बीच उधार दी जाती है, उधार पूंजी की पूर्ति पर (अन्य सभी परिस्थितियों, विश्वास की अवस्था, आदि के समान होने पर), अर्थात द्रव्य, सिक्के तथा नोटों के रूप में उधार दी गयी पूंजी की पूर्ति पर निर्भर करते हैं।

तथापि यह उधारार्थ द्रव्य पूंजी संहृति संचलनशील द्रव्य संहृति से भिन्न तथा स्वतंत्र होती है।

उदाहरण के लिए, अगर २० पाउंड प्रति दिन पांच बार उधार दिये जाते हैं, तो १०० पाउंड की द्रव्य पूंजी उधार दी जायेगी और साथ ही इसमें यह भी निहित होगा कि इसके अलावा ये २० पाउंड कम से कम चार बार क्रय अथवा भुगतान साधन का काम दे सकते थे; कारण कि अगर कोई क्रय अथवा भुगतान साधन बीच में न आया होता, जिससे वे पूंजी के परिवर्तित रूप (जिंसें, श्रम शक्ति सहित) के कम से कम चार गुने को प्रकट न करते, तो वे १०० पाउंड की पूंजी नहीं होते, वरन मात्र २०-२० पाउंड के पांच दावे ही हुए होते।

विकसित उधारवाले देशों में हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उधार के लिए उपलब्ध सारी द्रव्य पूंजी बैंकों और साहूकारों के यहां जमाओं के रूप में विद्यमान है। कम से कम समूचे तौर पर व्यवसाय के लिए तो यह बात सही ही है। इसके अलावा, उत्कर्षमान व्यवसाय के ज़मानों में, असली सट्टे के शुरू होने के पहले, जब उधार सहज होता है और विश्वास चढ़ाव पर होता है, संचलन के अधिकांश कार्यों का सिक्के अथवा काग़ज़ी द्रव्य की सहायता के बिना उधार के सामान्य अंतरण द्वारा ही निपटारा हो जाता है।

संचलन माध्यम की अपेक्षाकृत अल्प प्रमात्रा के उपलब्ध होने पर जमाओं की बड़ी राशियों के होने की संभावना मात्र केवल इन पर निर्भर करती है :

१) उसी सिक्के द्वारा निष्पन्न क्रयों तथा भुगतानों की संख्या ;

२) वापसी उत्क्रमों की संख्या, जिनके द्वारा वह सिक्का जमाओं की तरह बैंकों में वापस जाता है, जिसके परिणामस्वरूप क्रय तथा भुगतान साधन के नाते उसके पुनरावृत्त कार्य का उसके जमाओं में नवीकृत रूपांतरण के ज़रिये प्रवर्तन होता है। मिसाल के लिए, कोई छोटा विक्रेता अपने बैंकर के पास हर हफ़्ते १०० पाउंड द्रव्य में जमा करता है ; बैंकर इससे किसी कारख़ानेदार की जमा का एक अंश दे देता है ; कारख़ानेदार उसे अपने मज़दूरों को दे देता है ; और मज़दूर उसे छोटे विक्रेता का भुगतान करने में इस्तेमाल कर लेते हैं, जो उसे फिर बैंक में जमा कर देता है। इस प्रकार इस छोटे विक्रेता द्वारा जमा किये गये १०० पाउंड ने ये-ये काम किये हैं : पहले, कारख़ानेदार को उसकी जमा की अदायगी ; दूसरे, मज़दूरों की अदायगी ; तीसरे, स्वयं विक्रेता की अदायगी ; चौथे, उसी छोटे विक्रेता की द्रव्य पूंजी के एक और अंश को जमा करना ; इस प्रकार बीस सप्ताह के अंत में, अगर उसे स्वयं इस द्रव्य के आधार पर फिर से निकालने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, उसने इन्हीं १०० पाउंड के ज़रिये बैंक में २,००० पाउंड जमा कर दिये होंगे।

यह द्रव्य पूंजी किस हद तक निष्क्रिय होती है, यह सिर्फ़ बैंकों की आरक्षित निधि में उतार-चढ़ाव से ही पता चलता है। इसलिए १८५७ में बैंक ऑफ़ इंगलैंड के गवर्नर श्री वैगलिन यह निष्कर्ष निकालते हैं कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड का सोना ही "एकमात्र" आरक्षित पूंजी है : "१२५८। मेरे विचार में बट्टा दर व्यवहार में देश में विद्यमान अनियोजित पूंजी की मात्रा द्वारा शासित होती है। अनियोजित पूंजी की मात्रा को बैंक ऑफ़ इंगलैंड की आरक्षित निधि व्यक्त करती है, जो व्यवहार में बुलियन की ही आरक्षित निधि है। इसलिए जब बुलियन का आहरण किया जाता है, तो वह देश में अनियोजित पूंजी की मात्रा को घटाता है और फलतः जितना बुलियन बचता है, उसके मूल्य को बढ़ा देता है।" – [न्यूमार्च] "१३६४। बैंक ऑफ़ इंगलैंड में बुलियन की आरक्षित निधि वास्तव में केंद्रीय आरक्षित निधि, अथवा निधि का निचय है, जिसके आधार पर देश का सारा व्यवसाय चलाया जाता है।... और विदेशी विनिमयों के विचरणों का सदा इस निचय अथवा आगार पर ही प्रभाव पड़ता है।" (*Report on Bank Acts, 1857*, [pp. 108, 119.])

निर्यात तथा आयात के आंकड़े वस्तुरूप, अर्थात उत्पादक तथा पण्य पूंजी के संचय के पैमाने को दर्शाते हैं। वे हमेशा यही दिखलाते हैं कि ब्रिटिश उद्योग के विकास (१८१५ से १८७० तक) की दसवर्षीय चक्रीय अवधियों के दौरान संकट **के पूर्व** पिछली समृद्धि का अधिकतम सदा अगली समृद्धि के न्यूनतम के रूप में पुनःप्रकट होता है, जिसके बाद वह चढ़कर एक नये तथा और भी ऊंचे शिखर पर पहुंच जाता है।

१८२४ के समृद्धि के वर्ष में ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड से निर्यातित मालों का वास्तविक अथवा घोषित मूल्य ४,०३,९६,३०० पाउंड था। इसके बाद १८२५ के संकट के साथ निर्यातों की मात्रा इस रक़म के नीचे गिर जाती है और ३५० तथा ३६० लाख प्रति वर्ष के बीच घटती-बढ़ती रहती है। १८३४ में समृद्धि की वापसी के साथ वह अपने पूर्ववर्ती अधिकतम से ऊपर चढ़कर ४, १६, ४९, १६१ पाउंड हो जाती है और १८३६ में ५, ३३, ६८, ५७१

के नये अधिकतम पर पहुंच जाती है। १८३७ से शुरू करके वह फिर गिरकर ४२० लाख हो जाती है, जिससे नया न्यूनतम पहले ही पुराने अधिकतम से ऊंचा है और इसके बाद ५०० तथा ५३० लाख के बीच घटती-बढ़ती रहती है। समृद्धि का प्रत्यावर्तन १८४४ में निर्यात की मात्रा को उठाकर ५,८५,००,००० पाउंड पर पहुंचा देता है, जो १८३६ के शिखर से पहले ही कहीं अधिक है। १८४५ में वह ६,०१,११,०८२ पाउंड पर पहुंच जाती है; इसके बाद वह गिरकर १८४६ में ५७० लाख से कुछ ऊपर हो जाती है, १८४७ में लगभग ५९० लाख, १८४८ में लगभग ५३० लाख पर पहुंच जाती है, १८४९ में चढ़कर ६,३५,००,००० पाउंड पर, १८५३ में क़रीब-क़रीब ९९० लाख पर, १८५४ में ९७० लाख पर, १८५५ में ९,४५,००,००० पर, १८५६ में लगभग १,१६० लाख पर और १८५७ में १,२२० लाख के चरम पर पहुंच जाती है। १८५८ में वह गिरकर १,१६० लाख पर आ जाती है, १८५९ में चढ़कर १,३०० लाख पर आ चुकी होती है, १८६० में क़रीब १,३६० लाख पर आ जाती है, १८६१ में सिर्फ़ १,२५० लाख होती है (नया निम्नतम यहां भी पूर्ववर्ती शिखर से ऊंचा है), १८६३ में १४,६५,००,००० पर पहुंच जाती है।

निस्संदेह, आयातों के मामले में भी यही बात दिखलायी जा सकती है, जो बाज़ार के प्रसार को दर्शाती है; यहां बात सिर्फ़ उत्पादन के पैमाने की है। [बेशक, इंगलैंड के प्रसंग में यह बात सिर्फ़ उसके वास्तविक औद्योगिक एकाधिकार के समय के लिए ही सही है; लेकिन सामान्य रूप में यह, जब तक विश्व बाज़ार प्रसार करता रहता है, आधुनिक बड़े पैमाने के उद्योगों वाले देशों के सारे समूह पर लागू होती है। – फ़्रे० एं०]

२. पूंजी अथवा संप्राप्ति का द्रव्य में रूपांतरण, जो उधार पूंजी में रूपांतरित हो जाता है

हम यहां द्रव्य पूंजी के संचय का, जहां तक कि वह वाणिज्यिक उधार के प्रवाह में किसी रुकावट को या बचत – फिर चाहे वह वास्तविक संचलनशील माध्यम में बचत हो या पुनरुत्पादन में लगे कर्ताओं की आरक्षित पूंजी में – को नहीं अभिव्यक्त करता है, विवेचन करेंगे।

इन दोनों अवस्थाओं के अलावा द्रव्य पूंजी का संचय सोने के असामान्य अंतर्वाह से भी उत्पन्न हो सकता है, जैसे नयी आस्ट्रेलियाई तथा कैलीफ़ोर्नियाई स्वर्ण खदानों के परिणामस्वरूप १८५२ और १८५३ में हुआ था। यह सोना बैंक ऑफ़ इंगलैंड में जमा कर दिया गया था। जमाकर्ताओं को उसके बदले में नोट मिले थे, जिन्हें उन्होंने बैंकरों के यहां सीधे फिर से जमा नहीं किया। इससे संचलनशील माध्यम में असामान्य वृद्धि आ गयी थी। (वैगलिन का साक्ष्य, *B. C.*, 1857, क्रमांक १३२९।) बैंक ने अपनी बट्टा दर को घटाकर २% करके इन जमाओं का उपयोग करने का प्रयास किया। बैंक में संचित सोने की संहति १८५३ के छः महीनों में बढ़कर २२०-२३० लाख पर पहुंच गयी।

सभी द्रव्य उधारदाता पूंजीपतियों का संचय स्वाभाविकतया सदा सीधे द्रव्य रूप में होता है, जबकि औद्योगिक पूंजी का वास्तविक संचय, जैसे हम देख चुके हैं, सामान्यतया स्वयं पुनरुत्पादक पूंजी के तत्वों में वृद्धि द्वारा संपन्न होता है। अतः, उधार पद्धति के विकास और साहूकारी व्यवसाय के बड़े बैंकों के हाथों में ज़बरदस्त संकेंद्रण को बढ़ाते ख़ुद ही उधारार्थ पूंजी

के संचय को वास्तविक संचय से एक भिन्न रूप की तरह त्वरित करना चाहिए। इसलिए उधार पूंजी का यह तीव्र विकास वास्तविक संचय का एक परिणाम है, क्योंकि यह पुनरुत्पादन प्रक्रिया के विकास का एक फल है, और जो लाभ इन द्रव्य पूंजीपतियों के लिए संचय के स्रोत का निर्माण करता है, वह उस बेशी मूल्य से एक कटौती मात्र है, जिसे पुनरुत्पादक पूंजीपति चुरा लेते हैं (और साथ ही यह अन्यों की बचतों से ब्याज के एक अंश को हड़पना भी है)। उधार पूंजी औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूंजीपतियों, दोनों ही के मोल पर संचित होती है। हम देख चुके हैं कि औद्योगिक चक्र के प्रतिकूल चरणों में ब्याज दर इतनी ऊंची हो जा सकती है कि वह वक़्ती तौर पर व्यवसाय की कुछ शाखाओं के सारे ही लाभ को खा जाती है, जो विशेषकर कठिनाई में होती हैं। साथ ही सरकारी तथा अन्य प्रतिभूतियों के दाम गिर जाते हैं। ऐसे ही समय द्रव्य पूंजीपति इस मूल्यह्रासित काग़ज़ को विशाल संख्याओं में ख़रीद लेते हैं, जो बाद के चरणों में अपने पुराने स्तर को जल्दी ही फिर से प्राप्त कर लेता है और उसके ऊपर भी चला जाता है। तब उसे फिर बेच दिया जाता है और इस प्रकार जनसाधारण की द्रव्य पूंजी के एक हिस्से को हड़प लिया जाता है। जिस अंश को बेचा नहीं जाता, वह उच्चतर ब्याज दर प्रदान करता है, क्योंकि उसे अवमूल्य पर ख़रीदा गया था। लेकिन द्रव्य पूंजीपति अपने द्वारा बनाये और पूंजी में पुनःपरिवर्तित सभी लाभों को पहले उधारार्थ द्रव्य पूंजी में परिवर्तित करते हैं। इस प्रकार जब हम सिर्फ़ अपने में द्रव्य पूंजीपतियों, बैंकरों, आदि को भी लेते हैं, तब भी पूंजीपतियों के इस वर्ग के संचय की तरह द्रव्य पूंजी का संचय – वास्तविक संचय से भिन्न, किंतु उसी की एक प्रशाखा के रूप में – होता ही है। और उसे उधार पद्धति के उस प्रत्येक प्रसार के साथ-साथ बढ़ते ही जाना चाहिए, जो पुनरुत्पादन प्रक्रिया के वास्तविक प्रसार का सहगामी होता है।

अगर ब्याज दर नीची होती है, तो द्रव्य पूंजी के इस मूल्यह्रास का प्रभाव मुख्यतः जमा-कर्ताओं पर ही पड़ता है, न कि बैंकों पर। स्टाक बैंकों के पैदा होने के पहले इंगलैंड में तीन चौथाई जमाएं बिना कोई ब्याज प्रदान किये बैंकों में पड़ी रहती थीं। अब अगर उन पर ब्याज दिया भी जाता है, तो वह चालू ब्याज दर से कम से कम १% नीची दर पर दिया जाता है।

जहां तक पूंजीपतियों के अन्य वर्गों के द्रव्य संचय की बात है, हम उसके उस अंश को अपने विचार के बाहर रहने देते हैं, जो ब्याजी काग़ज़ में निवेशित होता है और इसी रूप में संचित होता है। हम केवल उसी अंश पर विचार करते हैं, जो उधारार्थ द्रव्य पूंजी के रूप में बाज़ार में डाला जाता है।

सबसे पहले हमारे पास यहां लाभ का वह अंश है, जिसे संप्राप्ति की तरह ख़र्च नहीं किया जाता है, बल्कि संचय के लिए अलग कर दिया जाता है, मगर जिसके लिए फ़िलहाल स्वयं अपने व्यवसाय में औद्योगिक पूंजीपतियों के पास कोई उपयोग नहीं है। यह लाभ सीधे पण्य पूंजी में अस्तित्वमान है, जिसके मूल्य का वह एक अंश है और जिसके साथ द्रव्य में सिद्धिकृत किया जाता है। अगर उसे पण्य पूंजी के उत्पादन तत्वों में पुनःपरिवर्तित नहीं किया जाता है (फ़िलहाल हम व्यापारी को अलग छोड़ देंगे, जिस पर हम अलग विचार करेंगे), तो उसे कुछ समय द्रव्य के रूप में बने रहना होगा। यह रक़म स्वयं पूंजी की रक़म के साथ बढ़ती जाती है, चाहे लाभ दर घटती ही जाये। जिस अंश को संप्राप्ति की तरह ख़र्च किया जाना है, वह धीरे-धीरे उपभुक्त होता जाता है, लेकिन इस बीच वह, जमाओं के रूप में, बैंकर के पास उधार पूंजी रहता है। इस तरह, लाभ के उस अंश की वृद्धि भी, जो संप्राप्ति के रूप में ख़र्च किया जाता

है, अपने आपको उधार पूंजी के क्रमिक और निरंतर आवृत्तिशील संचय की तरह प्रकट करती है। यही बात दूसरे अंश के लिए भी सही है, जो संचय के लिए अभीष्ट है। इसलिए उधार पद्धति और उसके संगठन के विकास के साथ संप्राप्ति, अर्थात औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूंजीपतियों के उपभोग में वृद्धि तक उधार पूंजी के संचय की तरह अभिव्यक्त होती है। और यह बात सभी संप्राप्तियों पर, जहां तक वे धीरे-धीरे उपभुक्त होती हैं, लागू होती है, दूसरे शब्दों में, किराया जमीन, अपने उच्चतर रूपों में मजदूरी, अनुत्पादक वर्गों की आयें, आदि पर। वे सभी कुछ समय के लिए द्रव्य संप्राप्ति का रूप ग्रहण करती हैं और इसलिए जमाओं में और इस प्रकार उधार पूंजी में परिवर्तनीय होती हैं। सारी संप्राप्ति, चाहे वह उपभोग के लिए अभीष्ट हो या संचय के लिए, जब तक द्रव्य के किसी रूप में रहती है, वह द्रव्य में रूपांतरित पण्य पूंजी के मूल्य का अंग होती है और इस कारण वास्तविक संचय की अभिव्यक्ति और परिणाम होती है, लेकिन स्वयं उत्पादक पूंजी नहीं होती। अगर कोई कतवार अपने सूत का कपास से – लेकिन जो अंश संप्राप्ति है, उसका द्रव्य से – विनिमय कर लेता है, तो उसकी औद्योगिक पूंजी का वस्तुरूप अस्तित्व सूत है, जो बुनकर के, या शायद किसी निजी उपभोक्ता के हाथों में चला गया है, और सूत वास्तव में – चाहे वह पुनरुत्पादन के लिए हो या उपभोग के लिए – पूंजी मूल्य का तथा उसमें समाविष्ट बेशी मूल्य का भी अस्तित्व है। द्रव्य में रूपांतरित बेशी मूल्य का परिमाण सूत में समाविष्ट बेशी मूल्य के परिमाण पर निर्भर करता है। लेकिन जैसे ही उसे द्रव्य में रूपांतरित किया जाता है कि यह द्रव्य केवल इस बेशी मूल्य का मूल्यरूप अस्तित्व हो जाता है। और इस रूप में वह उधार पूंजी का एक चरण बन जाता है। और इसके लिए, अगर उसे उसके स्वामी ने पहले ही उधार नहीं दे दिया है, तो इसके सिवा और कुछ आवश्यक नहीं है कि उसे जमा में रूपांतरित कर दिया जाये। लेकिन, इसके विपरीत, उसके उत्पादक पूंजी में पुनः रूपांतरित होने के लिए उसका पहले ही एक निश्चित न्यूनतम सीमा पर पहुंच चुका होना आवश्यक है।

अध्याय ३२
द्रव्य पूंजी और वस्तुरूप पूंजी। ३
(समाप्त)

द्रव्य की इस तरह से पूंजी में फिर से रूपांतरित की जानेवाली संहति प्रकांड पुनरुत्पादन प्रक्रिया का परिणाम होती है, लेकिन उसे स्वयं अपने में, उधारार्थ द्रव्य पूंजी के नाते देखा जाये, तो वह स्वयं पुनरुत्पादक पूंजी की संहति नहीं है।

हमारे अब तक के विवेचन का सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि संप्राप्ति के उपभोग के लिए अभीष्ट अंश का प्रसार (श्रमिक को विवेचन के बाहर रहने देकर, क्योंकि उसकी संप्राप्ति परिवर्ती पूंजी के बराबर है) पहले पहल द्रव्य पूंजी के संचय की तरह प्रकट होता है। फलतः, द्रव्य पूंजी के संचय में एक कारक आ जाता है, जो औद्योगिक पूंजी के संचय से तत्वतः भिन्न होता है, क्योंकि वार्षिक उत्पाद का वह अंश किसी भी प्रकार पूंजी नहीं बन जाता, जो उपभोग के लिए अभीष्ट होता है। उसका एक अंश पूंजी, अर्थात उपभोग साधनों के उत्पादकों की स्थिर पूंजी को **प्रतिस्थापित करता है**, किंतु जहां तक वह पूंजी में वस्तुतः रूपांतरित होता है, वह इस स्थिर पूंजी के उत्पादकों की संप्राप्ति के नैसर्गिक रूप में रहता है। वही द्रव्य, जो संप्राप्ति को प्रकट करता है और केवल उपभोग के प्रवर्तन का काम देता है, कुछ समय तक नियमित रूप में उधारार्थ द्रव्य पूंजी में रूपांतरित होता रहता है। जहां तक यह द्रव्य मज़दूरी को व्यक्त करता है, वह साथ ही परिवर्ती पूंजी का द्रव्यरूप होता है और जहां तक उपभोग साधनों के उत्पादकों की स्थिर पूंजी को प्रतिस्थापित करता है, वह उनकी स्थिर पूंजी द्वारा वक़्ती तौर पर धारण किया द्रव्यरूप होता है और उनकी स्थिर पूंजी के वस्तुरूप में प्रतिस्थापित किये जानेवाले संघटकों को ख़रीदने का काम देता है। इन दोनों में से किसी भी रूप में वह स्वयं अपने में संचय को व्यक्त नहीं करता है, यद्यपि उसकी मात्रा पुनरुत्पादन प्रक्रिया की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती जाती है। लेकिन अस्थायी रूप में वह उधारार्थ द्रव्य का, अर्थात द्रव्य पूंजी का कार्य निष्पादित करता है। फलतः, इस लिहाज से द्रव्य पूंजी के संचय को इस तथ्य के कारण सदा पूंजी के उससे अधिक संचय को प्रतिबिंबित करना चाहिए, जितना वास्तव में अस्तित्व में होता है कि द्रव्य द्वारा प्रवर्तित किये जाने की बदौलत वैयक्तिक उपभोग का विस्तार द्रव्य पूंजी के संचय जैसा प्रतीत होता है, क्योंकि वह वास्तविक संचय के लिए द्रव्यरूप प्रस्तुत करता है, अर्थात उस द्रव्य के लिए, जो पूंजी के वास्ते नये निवेशों के क्षेत्र उन्मुक्त करता है।

इस प्रकार, उधारार्थ द्रव्य पूंजी का संचय आंशिक रूप में केवल इस तथ्य को व्यक्त करता है कि अपने परिपथ के दौरान औद्योगिक पूंजी जिस द्रव्य में रूपांतरित होती है, वह सभी पुन-

त्पादक पूंजीपतियों द्वारा **अग्रसारित** द्रव्य का नहीं, वरन उनके द्वारा **उधार लिये गये** द्रव्य का रूप धारण करता है; जिसके कारण द्रव्य का वह अग्रसारण, जो पुनरुत्पादन प्रक्रिया में अवश्य होना चाहिए, दरअसल उधार लिये द्रव्य के अग्रसारण जैसा प्रतीत होता है। व्यवहार में वाणिज्यिक उधार के आधार पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को पुनरुत्पादन प्रक्रिया के लिए आवश्यक द्रव्य उधार देता है। लेकिन अब वह यह रूप ग्रहण कर लेता है: बैंकर, जो द्रव्य को पुनरुत्पादक पूंजीपतियों के एक समूह से उधार की तरह प्राप्त करता है, उसे पुनरुत्पादक पूंजीपतियों के दूसरे समूह को उधार दे देता है, जिसके फलस्वरूप बैंकर एक परम हितकारी की भूमिका में सामने आता है; और साथ ही अपनी बिचौलिये की हैसियत की बदौलत इस पूंजी पर नियंत्रण पूरी तरह से बैंकर के हाथों में आ जाता है।

द्रव्य पूंजी के संचय के कुछ विशेष रूपों का उल्लेख करना अब भी बाक़ी ही रहता है। उदाहरण के लिए, उत्पादन तत्वों, कच्चे मालों, आदि के दाम में गिरावट से पूंजी का निर्मोचन होता है। अगर औद्योगिक पूंजीपति अपनी पुनरुत्पादन प्रक्रिया का तत्काल प्रसार नहीं कर पाता है, तो उसकी द्रव्य पूंजी का एक अंश फालतू की तरह से परिपथ से निष्कासित हो जाता है और उधारार्थ द्रव्य पूंजी में रूपांतरित हो जाता है। लेकिन इसके अलावा द्रव्य के रूप में पूंजी, जब-जब उसके व्यवसाय में व्यवधान आते हैं, विशेषकर व्यापारी द्वारा भी निर्मोचित की जाती है। अगर व्यापारी ने लेन-देनों की एक शृंखला को पूरा कर लिया है और इस तरह के व्यवधानों के कारण वह नयी शृंखला को कुछ समय बाद तक शुरू नहीं कर सकता, तो सिद्धिकृत द्रव्य उसके लिए केवल अपसंचय, बेशी पूंजी को ही व्यक्त करता है। लेकिन साथ ही वह उधारार्थ द्रव्य पूंजी के प्रत्यक्ष संचय को भी प्रकट करता है। पहले प्रसंग में द्रव्य पूंजी का संचय अधिक अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत पुनरुत्पादन प्रक्रिया की पुनरावृत्ति को, पहले बंधी हुई पूंजी के एक अंश के वास्तविक निर्मोचन को, दूसरे शब्दों में, द्रव्य की उतनी ही मात्रा से पुनरुत्पादन प्रक्रिया का प्रसार करने के अवसर को व्यक्त करता है। लेकिन दूसरे प्रसंग में वह केवल लेन-देनों के प्रवाह में व्यवधान को ही व्यक्त करता है। तथापि, दोनों ही प्रसंगों में वह उधारार्थ द्रव्य पूंजी में परिवर्तित होता है, उसके संचय को द्योतित करता है, द्रव्य बाज़ार तथा ब्याज दर को समान रूप में प्रभावित करता है – यद्यपि पहले प्रसंग में वह वास्तविक संचय प्रक्रिया के प्रवर्तन को और दूसरे में उसके अवरोधन को व्यक्त करता है। अंतिम बात यह कि द्रव्य पूंजी का संचय उन लोगों की संख्या द्वारा प्रभावित होता है, जो ख़ूब मालामाल होने के बाद पुनरुत्पादन के क्षेत्र से निकलकर बाहर आ जाते हैं। उनकी संख्या उतना ही बढ़ती जाती है, जितना औद्योगिक चक्र के दौरान मुनाफ़े अधिक बनाये जाते हैं। इस प्रसंग में उधारार्थ द्रव्य पूंजी का संचय, एक ओर, वास्तविक संचय (उसके सापेक्षिक विस्तार के अनुसार) को, और दूसरी ओर, औद्योगिक पूंजीपतियों के मात्र द्रव्य पूंजीपतियों में रूपांतरण की सीमा को व्यक्त करता है।

जहां तक लाभ के दूसरे अंश की बात है, जो संप्राप्ति के रूप में उपभोग के लिए अभीष्ट नहीं होता है, वह द्रव्य पूंजी में सिर्फ़ तब ही परिवर्तित होता है कि जब वह उस उत्पादक क्षेत्र में, जिसमें उसे बनाया गया था, व्यवसाय के प्रसार में निवेश के लिए तत्काल स्थान नहीं पा सकता है। ऐसा दो कारणों से हो सकता है। या तो इस कारण कि उत्पादन का यह क्षेत्र पूंजी से संतृप्त है, या इस कारण कि संचय का, इसके पूर्व कि वह पूंजी का काम दे सके, इस क्षेत्र विशेष में अपेक्षित नयी पूंजी के निवेश के परिमाणों के अनुसार, एक निश्चित परिमाण पर पहुंच जाना आवश्यक है। अतएव वह कुछ समय के लिए उधारार्थ द्रव्य पूंजी में परिवर्तित हो

जाता है और दूसरे क्षेत्रों में उत्पादन के प्रसार में सहायता देता है। अगर अन्य सभी अवस्थाओं को समान मान लिया जाये, तो पूंजी में फिर से रूपांतरित किये जाने के लिए अभीष्ट लाभों की मात्रा बनाये गये लाभों की मात्रा पर और इस प्रकार स्वयं पुनरुत्पादन प्रक्रिया के विस्तार पर निर्भर करेगी। लेकिन अगर इस नये संचय को अपने नियोजन में निवेश के लिए क्षेत्रों के अभाव के ज़रिये, अर्थात उत्पादन शाखाओं में उधार पूंजी की बेशी और अतिपूर्ति के कारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, तो उधारार्थ पूंजी का यह अतिबाहुल्य केवल पूंजीवादी उत्पादन की सीमाओं को ही प्रकट करता है। बाद में होनेवाली उधार की धोखाधड़ी यही साबित करती है कि इस बेशी पूंजी के नियोजन के रास्ते में कोई वास्तविक रुकावट नहीं होती है। तथापि उसके प्रसार के नियमों में, अर्थात जिन सीमाओं के भीतर पूंजी अपना पूंजी की तरह सिद्धिकरण कर सकती है, उनमें निस्संदेह एक बाधा अंतर्निहित है। अपने में द्रव्य पूंजी का अतिबाहुल्य अनिवार्यतः अत्युत्पादन को, पूंजी के निवेश क्षेत्रों की कमी तक को भी नहीं द्योतित करता है।

उधार पूंजी के संचय में केवल इतना ही सन्निहित है कि द्रव्य का उधारार्थ द्रव्य के रूप में अवक्षेपण होता है। यह प्रक्रिया पूंजी में वास्तविक रूपांतरण से बहुत भिन्न होती है; यह बस द्रव्य का एक ऐसे रूप में संचय है कि जिसमें वह पूंजी में रूपांतरित हो सकता है। लेकिन, जैसे कि हम दिखला ही चुके हैं, यह संचय ऐसी घटनाओं को प्रतिबिंबित कर सकता है, जो वास्तविक संचय से अत्यधिक भिन्न होती हैं। जब तक वास्तविक संचय निरंतर प्रसार करता रहता है, तब तक द्रव्य पूंजी का यह विस्तारित संचय आंशिक रूप में उसका परिणाम, आंशिक रूप में उसके साथ-साथ रहनेवाली, मगर सर्वथा भिन्न अवस्थाओं का परिणाम, और अंततः आंशिक रूप में वास्तविक संचय के लिए रुकावटों तक का परिणाम हो सकता है। अगर और किसी कारण नहीं, तो इस कारण कि उधार पूंजी के संचय को ऐसी अवस्थाओं द्वारा स्फीत किया जाता है, जो वास्तविक संचय से स्वतंत्र होती हैं, किंतु फिर भी उसके साथ-साथ चलती हैं, चक्र के निश्चित चरणों में द्रव्य पूंजी का निरंतर अतिबाहुल्य होना चाहिए और उधार के प्रसार के साथ इस अतिबाहुल्य को विकसित होना चाहिए। और इसी के साथ-साथ उत्पादन प्रक्रिया को उसकी पूंजीवादी सीमाओं से बाहर ले जाने की आवश्यकता को भी विकसित होना चाहिए, अर्थात अतिव्यापार, अत्युत्पादन और अतिशय उधार का विकास होना चाहिए। साथ ही यह हमेशा ऐसे रूपों में होना चाहिए, जिनकी प्रतिक्रिया उत्पन्न होना अवश्यंभावी होता है।

जहां तक किराया ज़मीन, मजदूरी, आदि से द्रव्य पूंजी के संचय का संबंध है, इस विषय का यहां विवेचन किया जाना आवश्यक नहीं है। यहां सिर्फ़ एक ही पहलू पर ज़ोर दिया जाना चाहिए और वह यह है कि पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति के साथ आनेवाले श्रम विभाजन की बदौलत वास्तविक बचत और संयम (जख़ीरेबाजों द्वारा) का काम, जहां तक कि वह संचय के तत्व उपलब्ध कराता है, उन लोगों के ऊपर आ जाता है, जिन्हें ये तत्व न्यूनतम मात्रा में प्राप्त होते हैं और जो बहुधा अपनी बचतों तक को गंवा बैठते हैं, जैसे बैंकों के फ़ेल होने पर मजदूर गंवा बैठते हैं। एक ओर, औद्योगिक पूंजीपति की पूंजी स्वयं उसके द्वारा नहीं "बचायी" जाती है, बल्कि उसे अपनी पूंजी के परिमाण के अनुपात में अन्यों की बचतों पर नियंत्रण प्राप्त होता है; दूसरी ओर, द्रव्य पूंजीपति अन्यों की बचतों को स्वयं अपनी पूंजी बना लेता है और उस उधार को, जो पुनरुत्पादक पूंजीपति एक दूसरे को देते हैं और जो जनता उन्हें देती है, अपना संपन्नीकरण करने का एक निजी स्रोत बना लेता है। इसके साथ-साथ पूंजीवादी व्यवस्था

की यह अंतिम भ्रांति नष्ट हो जाती है कि पूंजी स्वयं अपने श्रम और बचतों का परिणाम होती है। न केवल यही कि अन्यों के श्रम का हस्तगतकरण ही लाभ होता है, बल्कि वह पूंजी भी, जिससे अन्यों के इस श्रम को क्रियाशील किया और उसका दोहन किया जाता है, अन्य लोगों की संपत्ति होती है, जिसे द्रव्य पूंजीपति औद्योगिक पूंजीपतियों के उपयोजनार्थ रख देता है और जिसके लिए अपनी बारी में वह उनका दोहन करता है।

उधार पूंजी के बारे में अभी कुछ और बातें कहना बाक़ी रहता है।

जैसे हम पहले ही दिखला चुके हैं, यह बात कि वही द्रव्य कितनी प्रायिकता से उधार पूंजी के रूप में सामने आता है, पूर्णतया इस पर निर्भर करती है:

१) कितनी प्रायिकता से वह विक्रय अथवा भुगतान में पण्य मूल्यों का सिद्धिकरण, और फलतः पूंजी का अंतरण करता है, और इसके अलावा कितनी प्रायिकता से वह आय का सिद्धिकरण करता है। इसलिए यह बात प्रत्यक्षतः वास्तविक लेन-देनों की सीमा तथा परिमाण पर निर्भर करती है कि वह कितनी प्रायिकता से या तो पूंजी या संप्राप्ति के सिद्धिकृत मूल्य की तरह दूसरे हाथों में जाता है;

२) यह भुगतानों की क़िफ़ायत और उधार पद्धति के विकास तथा संगठन पर निर्भर करती है;

३) अंततः, उधारों की क्रिया की क्रमबद्धता तथा वेग पर निर्भर करती है, जिससे द्रव्य जब एक स्थल पर जमा के रूप में आता है, तो साथ ही दूसरे स्थल पर उधार के रूप में निकल आता है।

अगर यह तक मान लिया जाये कि उधार पूंजी का जिस रूप में अस्तित्व होता है, वह केवल वस्तुरूप द्रव्य, सोने अथवा चांदी – वह जिंस, जिसका सत्व मूल्य के माप का काम देता है – का ही होता है, तो भी इस द्रव्य पूंजी का काफ़ी बड़ा हिस्सा हमेशा अनिवार्यतः शुद्धतः आभासी, अर्थात मूल्य का हक़ ही होता है, जैसे काग़ज़ी द्रव्य होता है। जहां तक द्रव्य पूंजी के परिपथ में कार्य करता है, वह उस क्षण वास्तव में द्रव्य पूंजी होता है, लेकिन वह उधारार्थ पूंजी में रूपांतरित नहीं होता, बल्कि या तो उत्पादक पूंजी के तत्वों से विनिमीत हो जाता है, या आय के सिद्धिकरण में संचलन माध्यम के नाते अदा हो जाता है और इसलिए वह अपने स्वामी के लिए उधार पूंजी में रूपांतरित नहीं हो सकता। लेकिन जहां तक वह उधार पूंजी में रूपांतरित होता है और वही द्रव्य उधार पूंजी को बारंबार प्रकट करता है, यह स्पष्ट है कि वह केवल एक स्थल पर ही धातु द्रव्य के रूप में अस्तित्व में होता है; अन्य सभी स्थलों पर वह केवल पूंजी पर दावों के रूप में ही होता है। हमने जो कल्पना की है, उसके अनुसार इन दावों का संचय वास्तविक संचय से उत्पन्न होता है, अर्थात पण्य पूंजी, आदि के मूल्य के द्रव्य में रूपांतरण से; लेकिन फिर भी इन दावों अथवा हक़ों का संचय उस वास्तविक संचय से, जिससे वह उत्पन्न होता है, और उस भावी संचय (नयी उत्पादन प्रक्रिया) से भी भिन्न होता है, जो इस द्रव्य के उधार देने से प्रवर्तित होता है।

उधार पूंजी prima facie सदा द्रव्य के रूप में,[9] और बाद में द्रव्य के दावे के रूप में

---

[9] *B. A.* 1857. बैंकर ट्वैल्स का साक्ष्य: "४५१६। बैंकर के नाते आप कारबार पूंजी का करते हैं या द्रव्य का? – हम द्रव्य का कारबार करते हैं।" – "४५१७। आपके बैंक में जमाएं किस तरह की जाती हैं? – द्रव्य में।" – "४५१८। वे किस तरह चुकायी जाती हैं? – द्रव्य में।" – "४५१९। तब क्या उन्हें द्रव्य के अलावा और कुछ कहा जा सकता है? – नहीं।"

अस्तित्व में होती है, क्योंकि जिस द्रव्य में वह मूलतः अस्तित्वमान है, वह अब वास्तविक द्रव्यरूप में क़र्ज़दार के हाथों में है। ऋणदाता के लिए वह द्रव्य के दावे में, स्वामित्व के हक़ में रूपांतरित हो गयी है। इसलिए वही वास्तविक द्रव्य संहति अत्यंत भिन्न द्रव्य पूंजी संहतियों को व्यक्त कर सकती है। अगर हम सामान्य रूप का विकसित उधार पद्धति के अंतर्गत अवलोकन करें, तो कोरा द्रव्य, चाहे वह सिद्धिकृत पूंजी को प्रकट करता हो या सिद्धिकृत संप्राप्ति को, मात्र उधार दिये जाने की क्रिया के ज़रिये, अपने जमा में रूपांतरण के ज़रिये, उधार पूंजी बन जाता है। जमाकर्ता के लिए जमा द्रव्य पूंजी होती है। लेकिन बैंकर के हाथों में वह मात्र संभाव्य द्रव्य पूंजी हो सकती है, जो अपने स्वामी की तिजोरी के बजाय उसकी तिजोरी में निष्क्रिय पड़ी होती है।[10]

ओवरस्टोन (देखें अध्याय २६) "पूंजी" और "द्रव्य" को निरंतर उलझाते हैं। "द्रव्य का मूल्य" उनके लिए ब्याज का भी अर्थ रखता है, लेकिन जहां तक उसका निर्धारण द्रव्य संहति द्वारा किया जाता है, "पूंजी के मूल्य" को ब्याज मानना चाहिए, चूंकि वह उत्पादक पूंजी के लिए मांग और उसके द्वारा बनाये लाभ से निर्धारित होता है। वह कहते हैं: "४१४०। 'पूंजी' शब्द का प्रयोग बहुत ख़तरनाक है।"—"४१४८। इस देश से बुलियन का निर्यात इस देश में द्रव्य की मात्रा का ह्रास है, और इस देश में द्रव्य की मात्रा के ह्रास को निस्संदेह सामान्यतः द्रव्य बाज़ार पर दबाव पैदा करना चाहिए" [किंतु, इसके अनुसार, पूंजी बाज़ार में नहीं]।—"४११२। देश से द्रव्य के बाहर जाने के साथ-साथ देश में उसकी मात्रा घटती जाती है। देश में बच रही मात्रा का यह ह्रास उस द्रव्य का वर्धित मूल्य उत्पन्न कर देता है" [उनके सिद्धांत में इसका मूलतः अर्थ जिंसों के मूल्यों की तुलना में संचलन के संकुचन के ज़रिये द्रव्य के मूल्य में वृद्धि है; दूसरे शब्दों में, द्रव्य के मूल्य में वृद्धि और जिंसों के मूल्य में उतार एक ही बात है। लेकिन चूंकि इस बीच में वह निस्संदिग्ध रूप में इसके क़ायल हो गये हैं कि संचलनगत द्रव्य की संहति दामों का निर्धारण **नहीं** करती है, इसलिए अब संचलन माध्यम के नाते द्रव्य में ह्रास को ब्याजी पूंजी के नाते उसके मूल्य को और इस प्रकार ब्याज दर को बढ़ाना चाहिए]। "और जो बच रहता है, उसका यह वर्धित मूल्य द्रव्य के निकास को रोक देता है, और उसे तब तक ऊंचा रखा जाता है कि वह द्रव्य की उस मात्रा को वापस नहीं ले आता, जो संतुलन को बहाल करने के लिए आवश्यक होती है।"—ओवरस्टोन के अंतर्विरोधों के बारे में आगे और देखें।

[10] इस स्थल पर उलझाव शुरू हो जाता है: "द्रव्य" इन दोनों ही को होना चाहिए, अर्थात बैंकर से भुगतान के दावे के रूप में जमा, और बैंकर के हाथों में जमा किया हुआ द्रव्य। बैंकर ट्वैल्स १८५७ की बैंकिंग समिति के सामने यह मिसाल रखते हैं: "अगर मैं १०,००० पाउंड से धंधा शुरू करूं, तो मैं ५,००० पाउंड से जिंसें ख़रीद लेता हूं और उन्हें मालगोदाम में रख देता हूं। बाक़ी ५,००० पाउंड मैं बैंकर के पास जमा कर देता हूं, ताकि उसे अपनी ज़रूरत के मुताबिक़ निकाल सकूं और इस्तेमाल कर सकूं। मैं अब भी इसे अपने लिए १०,००० पाउंड पूंजी मानता हूं, यद्यपि ५,००० पाउंड जमाओं या द्रव्य की सूरत में है" (४५२८)।—इससे अब यह विचित्र बहस पैदा हो जाती है।—"४५३१। आपने अपने ५,००० पाउंड के नोट किसी और को दे दिये हैं?—हां।"—"४५३२। तो जमाओं के ५,००० पाउंड उसके पास हैं?—हां।"—"४५३३। और आपके पास जमाओं के ५,००० पाउंड बाक़ी रह जाते हैं?——बिलकुल ठीक।"—"४५३४। उसके पास ५,००० पाउंड द्रव्य में हैं और आपके पास ५,००० पाउंड द्रव्य में हैं?—हां।"—"४५३५। तो आख़िर क्या यह द्रव्य ही है?—नहीं।" यह उलझाव अंशतः इस तथ्य के कारण है कि क, जिसने ५,००० पाउंड जमा कराये हैं, उसे निकाल सकता है और ऐसे ख़र्च कर सकता है, मानो वह अब भी उसी के पास हो। उस हद तक वह

भौतिक संपदा की वृद्धि के साथ-साथ द्रव्य पूंजीपति वर्ग की वृद्धि होती है; एक ओर, व्यवसाय से निवृत्त होनेवाले पूंजीपतियों, वार्षिकीभोगियों (rentiers), की संख्या और संपदा बढ़ती है; और दूसरी ओर, उधार पद्धति के विकास को बढ़ावा मिलता है, जिससे बैंकरों, साहूकारों, वित्तकारों, आदि की संख्या बढ़ती है। जैसे हम पहले दिखला चुके हैं, उपलभ्य द्रव्य पूंजी के विकास के साथ ब्याजी काग़ज़, सरकारी प्रतिभूतियों, स्टाकों, आदि की संख्या भी बढ़ती जाती है। लेकिन साथ ही उपलभ्य द्रव्य पूंजी के लिए मांग भी बढ़ती है, जिसमें इस काग़ज़ से सट्टा करनेवाले स्टाक आढ़तिये द्रव्य बाज़ार में प्रमुख भूमिका अदा करते हैं। अगर इस काग़ज़ के सभी क्रय-विक्रय पूंजी के वास्तविक निवेशों की अभिव्यक्ति मात्र होते, तो यह कहना सही होता कि उनका उधार पूंजी के लिए मांग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था, क्योंकि जब **क** अपना काग़ज़ बेचता है, तो वह ठीक उतना ही द्रव्य निकालता है, जितना **ख** काग़ज़ में डालता है। ऐसी सूरत तक में कि चाहे सिर्फ़ स्वयं काग़ज़ ही अस्तित्वमान हो, मगर वह पूंजी नहीं (कम से कम द्रव्य पूंजी के रूप में नहीं) जिसे वह मूलतः प्रकट करता था, वह सदा ऐसी द्रव्य पूंजी के लिए pro tanto नयी मांग उत्पन्न करता है। लेकिन किसी भी सूरत में वह तब वह द्रव्य पूंजी होती है, जो पहले **ख** के नियंत्रण में थी, लेकिन अब **क** के नियंत्रण में है।

B. A., 1857. क्रमांक ४८८६। "क्या आपकी राय में यह कहना बट्टा दर को निर्धारित करनेवाले कारणों का सही वर्णन होगा कि यह बाज़ार में पूंजी की उस मात्रा द्वारा नियत की जाती है, जो अन्य क़िस्मों की प्रतिभूतियों से भिन्न व्यापारिक विपत्रों की बट्टागत चुकौतियों पर लगायी जा सकती है?" – [चैपमैन:] "नहीं, मैं समझता हूं कि ब्याज का प्रश्न प्रचलित प्रकार की सभी विनिमेय प्रतिभूतियों से प्रभावित होता है; उसे सिर्फ़ विपत्रों की चुकौती तक ही सीमित करना ग़लत होगा, क्योंकि यह कहना बेतुका होगा कि अगर कंसोलों या बेमीयादी बांडों [की जमा] पर ही नहीं, बल्कि राजकोष विपत्रों (Exchequer bills) तक पर वाणिज्यिक दर से कहीं अधिक ऊंची दर पर द्रव्य के लिए भारी मांग होती है, जैसी हाल के

उसके लिए संभाव्य द्रव्य का काम करता है। लेकिन जब-जब वह अपनी जमा से निकालता है, वह उसे pro tanto नष्ट करता है। अगर वह बैंक से वस्तुरूप द्रव्य निकालता है, और स्वयं उसका द्रव्य पहले ही किसी और को उधार दे दिया गया है, तो उसे स्वयं अपना द्रव्य नहीं, बल्कि किसी और जमाकर्ता का द्रव्य दिया जाता है। अगर वह अपने बैंकर पर बनाये चैक से **ख** के क़र्ज़ की अदायगी करता है और **ख** इस चैक को अपने बैंकर के यहां जमा कर देता है, और अगर **क** के बैंकर के पास **ख** के बैंकर पर बना चैक भी है, जिससे कि दोनों बैंकर बस चैकों की अदला-बदली ही करते हैं, तो **क** द्वारा जमा किये द्रव्य ने द्रव्य का कार्य दो बार निष्पादित किया है – पहले, उसके हाथों में, जिसने **क** द्वारा जमा किया द्रव्य प्राप्त किया है; दूसरी बार, ख़ुद **क** के हाथों में। दूसरे कार्य में यह द्रव्य का उपयोग किये बिना दावों (**क** का अपने बैंकर पर दावा, और अंतोक्त का **ख** के बैंकर पर दावा) का जमा-नामे बराबर करना है। यहां जमा दो बार द्रव्य की तरह कार्य करती है, अर्थात वस्तुरूप द्रव्य के रूप में और फिर द्रव्य पर दावे के रूप में। द्रव्य के कोरे दावे केवल दावों के जमा-नामे बराबर किये जाने के ज़रिये ही द्रव्य का स्थान ले सकते हैं।

समय में बहुत अधिक रही है, तो हमारा व्यापारिक जगत उससे प्रभावित नहीं होता; उस पर उसका बहुत भारी प्रभाव पड़ता है।" – "४८६०। अगर बाज़ार में ऐसी खरी और प्रचलित प्रतिभूतियां हों, जिन्हें बैंकर ऐसी ही मानते हों, और लोग उन पर द्रव्य उधार लेना चाहें, तो यह तथ्य निस्संदेह वाणिज्यिक विपत्रों पर अपना प्रभाव डालता है; उदाहरण के लिए, मैं किसी आदमी से कदाचित ही इसकी अपेक्षा कर सकता हूं कि वह वाणिज्यिक विपत्रों पर ५% की दर पर अपना द्रव्य ले लेने देगा, अगर वह अपना द्रव्य उसी समय ६% की दर पर बेमीयादी बांडों, या वह चाहे कैसा भी काग़ज़ हो, पर उधार दे सकता है; यह बात हमें इसी तरह से प्रभावित करती है; अगर मैं अपना द्रव्य ६% की दर पर उधार दे सकता हूं, तो कोई आदमी कदाचित ही मुझसे यह अपेक्षा कर सकता है कि मैं उसके विपत्रों को ५ १/२% की दर पर चुकता करूं।" – "४८६२। हम उन निवेशकों के बारे में, जो अपने २,००० पाउंड, या ५,००० पाउंड, या १०,००० पाउंड के विपत्र ख़रीदते हैं, यह नहीं कहते कि वे द्रव्य बाज़ार को कोई बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। अगर आप मुझसे बेमीयादी बांडों [की जमा] पर ब्याज दर के बारे में पूछते हैं, तो मैं उन लोगों की तरफ़ इशारा करूंगा, जो लाखों पाउंड का कारबार करते हैं, जिन्हें जॉबर (स्टाक आढ़तिये) कहा जाता है, जो सार्वजनिक ऋणों के बड़े-बड़े हिस्से ले लेते हैं, अथवा बाज़ार में उनकी ख़रीदारियां करते हैं, और जिन्हें इस स्टाक को तभी तक रोके रखना होता है कि जब तक उसे लोग उनके हाथों से मुनाफ़े के साथ नहीं ले लेते; इसलिए इन लोगों को द्रव्य की आवश्यकता होती है।"

उधार पद्धति के विकास के साथ-साथ विशाल संकेंद्रित द्रव्य बाज़ारों का निर्माण होता है, जैसे लंदन, जो साथ ही इस काग़ज़ में व्यापार के प्रधान केंद्र भी होते हैं। बैंकर जनता की द्रव्य पूंजी की विराट राशियां कारबारियों की इस ग़लीज़ भीड़ के प्रयोजनार्थ रख देते हैं और इस तरह से जुआरियों का यह झुंड बढ़ता ही जाता है। १८४८ में बैंक ऑफ़ इंगलैंड के गवर्नर पद के तत्कालीन धारक जेम्स मॉरिस ने लॉर्ड सभा की गुप्त समिति के सामने कहा था: "शेयर बाज़ार में द्रव्य सामान्यतः किसी भी और जगह की बनिस्बत सस्ता होता है।" (*C. D.*,1848, १८५७ में मुद्रित, क्रमांक २१९।)

ब्याजी पूंजी पर विचार करते समय यह पहले ही दिखलाया जा चुका है कि अगर अन्य अवस्थाएं समान बनी रहती हैं, तो वर्षों लंबी अवधि के लिए औसत ब्याज का निर्धारण औसत लाभ दर द्वारा होता है, न कि उद्यम के लाभ द्वारा, जो लाभ वियुत ब्याज के सिवा और कुछ नहीं होता।*

इसी प्रकार इसका भी उल्लेख किया गया था और आगे चलकर इसका अन्यत्र और भी विवेचन किया जायेगा कि वाणिज्यिक ब्याज, अर्थात वाणिज्यिक जगत के भीतर बट्टों और ऋणों के लिए साहूकारों द्वारा परिकलित किये जानेवाले ब्याज में विचरणों के लिए भी औद्योगिक चक्र के दौरान एक ऐसा चरण आता है कि जिसमें ब्याज दर अपने न्यूनतम स्तर से अधिक हो जाती है और अपने माध्य स्तर पर पहुंच जाती है (जिससे वह बाद में अधिक हो जाती है) और यह गति लाभों में चढ़ाव का एक परिणाम है।

फ़िलहाल, यहां दो बातों की तरफ़ ध्यान दिया जाना चाहिए:

पहली: जब ब्याज दर लंबे समय तक ऊंची बनी रहती है (हम यहां इंगलैंड की तरह

---

* प्रस्तुत संस्करण: पृष्ठ ३१८–३१९।–सं।

किसी नियत देश में ब्याज दर की बात कर रहे हैं, जहां लंबी कालावधियों के लिए ब्याज दर नियत होती है, और दीर्घकालीन ऋणों पर दिये जानेवाले ब्याज में भी प्रकट होती है, जिसे निजी ब्याज कहा जा सकता है), तो यह prima facie इसका प्रमाण है कि इस अवधि में लाभ दर ऊंची है, लेकिन अनिवार्यतः इसका प्रमाण नहीं है कि उद्यम की लाभ दर ऊंची है। उन पूंजीपतियों के लिए यह अंतोक्त भेद कमोबेश दूर हो जाता है, जो मुख्यतः स्वयं अपनी पूंजी से कारबार करते हैं; वे ऊंची लाभ दर पा जाते हैं, क्योंकि वे ब्याज अपने को ही देते हैं। जब लाभ दर ऊंची होती है, तो दीर्घकालिक ऊंची ब्याज दर की संभावना मौजूद होती है, लेकिन यह बात वास्तविक अधिसंकुचन के चरण पर लागू नहीं होती। लेकिन यह संभव है कि ऊंची ब्याज दर के घटाये जाने के बाद ऊंची लाभ दर केवल नीची उद्यम लाभ दर ही छोड़े। उद्यम लाभ दर संकुचित हो सकती है, लेकिन तब भी ऊंची लाभ दर बनी रह सकती है। ऐसा इसलिए संभव है कि एक बार शुरू किये जाने के बाद उद्यमों का जारी रखा जाना जरूरी होता है। इस चरण में कारबार बड़ी हद तक ख़ालिस उधार पूंजी (दूसरे लोगों की पूंजी) से चलाया जाता है, इसलिए ऊंची लाभ दर अंशतः अपेक्षी और संभावित हो सकती है। लाभदर के ऊंची, मगर उद्यम के लाभ के ह्रासमान होने पर भी ऊंची ब्याज दर अदा की जा सकती है। उसे लाभ से नहीं, बल्कि स्वयं उधार ली पूंजी से भी दिया जा सकता है (और सट्टे के समय आंशिक रूप में ऐसा किया जाता है), और कुछ समय तक ऐसा ही होता रह सकता है।

दूसरी: यह कथन कि द्रव्य पूंजी के लिए मांग, और फलतः ब्याज दर इसलिए बढ़ती है कि लाभ दर ऊंची होती है, इस कथन के सर्वसम नहीं है कि औद्योगिक पूंजी के लिए मांग बढ़ती है और इसलिए ब्याज दर ऊंची होती है।

संकट के समय उधार पूंजी के लिए मांग और इसलिए ब्याज दर अपने चरम पर पहुंच जाती है; लाभ दर, और उसके साथ-साथ औद्योगिक पूंजी के लिए मांग, व्यवहारतः विलुप्त हो जाती है। ऐसे समय हर कोई सिर्फ़ भुगतान करने के उद्देश्य से, पहले से गृहीत दायित्वों का निपटारा करने के लिए ही उधार लेता है। इसके विपरीत, संकट के बाद नयी सक्रियता के दौर में उधार पूंजी की मांग ख़रीदारी करने के उद्देश्य से और द्रव्य पूंजी को उत्पादक अथवा वाणिज्यिक पूंजी में रूपांतरित करने के उद्देश्य से की जाती है। और तब इसकी मांग या तो औद्योगिक पूंजीपति या व्यापारी द्वारा की जाती है। औद्योगिक पूंजीपति उसे उत्पादन साधनों और श्रम शक्ति में निवेशित करता है।

श्रम शक्ति के लिए बढ़ती मांग अपने आप में कभी चढ़ती ब्याज दर का कारण नहीं हो सकती, जहां तक कि अंतोक्त लाभ दर द्वारा निर्धारित होती है। ऊंची मज़दूरी कभी ऊंचे मुनाफ़ों का कारण नहीं होती, यद्यपि वह औद्योगिक चक्र के किन्हीं विशेष चरणों में ऊंचे मुनाफ़ों का एक परिणाम हो सकती है।

श्रम शक्ति के लिए मांग इसलिए बढ़ सकती है कि श्रम का शोषण विशेषकर अनुकूल परिस्थितियों के अंतर्गत होता है, किंतु श्रम शक्ति के लिए, और फलतः परिवर्ती पूंजी के लिए बढ़ती मांग अपने आप में लाभ को नहीं बढ़ा देती; इसके विपरीत, वह उसे pro tanto घटाती ही है। लेकिन फिर भी उसी समय परिवर्ती पूंजी के लिए मांग और इस प्रकार द्रव्य पूंजी के लिए भी मांग बढ़ सकती है, जो ब्याज दर को चढ़ा सकती है। तब श्रम शक्ति का बाज़ार दाम अपने औसत के ऊपर उठ जाता है, औसत से अधिक संख्या में मज़दूर काम पा लगे होते हैं, और साथ ही ब्याज दर चढ़ जाती है, क्योंकि ऐसी परिस्थितियों के अंतर्गत द्रव्य पूंजी

के लिए मांग बढ़ जाती है। श्रम शक्ति के लिए बढ़ती मांग सभी अन्य जिंसों की ही भांति इस जिंस को महंगा कर देती है, उसके दाम को बढ़ा देती है; लेकिन वह लाभ को नहीं बढ़ाती, जो मुख्यतः विशेषकर इस जिंस के सापेक्षिक सस्तेपन पर निर्भर करता है। लेकिन उसी समय – कल्पित अवस्थाओं के अंतर्गत – वह ब्याज दर को चढ़ा देती है, क्योंकि वह द्रव्य पूंजी के लिए मांग को बढ़ा देती है। अगर द्रव्य पूंजीपति द्रव्य उधार देने के बजाय अपने को औद्योगिक पूंजीपति में परिणत कर ले, तो इस तथ्य से कि उसे श्रम शक्ति के लिए अधिक देना पड़ता है, उसका लाभ बढ़ नहीं जायेगा, बल्कि उलटे pro tanto घट ही जायेगा। कारबार की अवस्था ऐसी हो सकती है कि फिर भी उसका लाभ बढ़े ही, लेकिन ऐसा कभी भी इस कारण नहीं होगा कि वह श्रम के लिए अधिक द्रव्य देता है। तथापि अंतोक्त तथ्य, जहां तक वह द्रव्य पूंजी के लिए मांग को बढ़ाता है, ब्याज दर को चढ़ाने के लिए काफ़ी है। अगर अन्य प्रकार से कारबार की प्रतिकूल अवस्था में मज़दूरी किसी कारण चढ़ जाती है, तो मज़दूरी में चढ़ाव लाभ दर को नीचा कर देगा, लेकिन ब्याज दर को, जहां तक वह द्रव्य पूंजी के लिए मांग बढ़ाती है, उठा देगा।

अगर श्रम को अलग रहने दिया जाये, तो जिस चीज़ को ओवरस्टोन "पूंजी के लिए मांग" कहते हैं, वह महज़ जिंसों के लिए मांग ही है। जिंसों के लिए मांग उनके दाम को चढ़ा देती है, या तो इसलिए कि वह औसत के ऊपर चली जाती है, या इसलिए कि जिंसों की पूर्ति औसत के नीचे पहुंच जाती है। अगर औद्योगिक पूंजीपति या व्यापारी को अब, उदाहरण के लिए, जिंसों की उतनी ही मात्रा के लिए १५० पाउंड देने पड़ते हैं, जिसके लिए वह १०० पाउंड दिया करता था, तो उसे अब पहले के १०० पाउंड के स्थान पर १५० पाउंड उधार लेने होंगे, और अगर ब्याज दर ५% हो, तो उसे पहले के ५ पाउंड की तुलना में अब ७ १/२ पाउंड का ब्याज देना होगा। उसके द्वारा दी जानेवाली ब्याज की राशि बढ़ जायेगी, क्योंकि अब उसे अधिक पूंजी उधार लेनी पड़ती है।

श्री ओवरस्टोन का सारा प्रयास यही दिखलाने में है कि उधार पूंजी और औद्योगिक पूंजी के हित अभिन्न हैं, जबकि उनका बैंक अधिनियम ठीक इसी लिए अभिप्रेत है कि हितों के इसी अंतर का द्रव्य पूंजी के लाभ के लिए उपयोग किया जाये।

यह संभव है कि पूर्ति के औसत के नीचे गिर जाने की हालत में जिंसों की मांग पहले से अधिक द्रव्य पूंजी को न आत्मसात करे। उनके कुल मूल्य के लिए उतनी ही, या शायद अल्पतर राशि देनी पड़ती है, मगर उतनी ही राशि के बदले उपयोग मूल्यों की अल्पतर राशि प्राप्त होती है। इस प्रसंग में उधारार्थ पूंजी के लिए मांग अपरिवर्तित होगी और इसलिए ब्याज दर नहीं चढ़ेगी, यद्यपि जिंसों के लिए मांग उनकी पूर्ति की तुलना में बढ़ गयी होगी और परिणामस्वरूप जिंसों के दाम अधिक ऊंचे हो गये होंगे। ब्याज दर केवल उसी स्थिति में प्रभावित हो सकती है कि उधार पूंजी के लिए कुल मांग बढ़े, और उपरोक्त कल्पनाओं में ऐसा नहीं है।

किसी वस्तु की पूर्ति औसत के नीचे भी गिर सकती है, जैसा अनाज, कपास, आदि में फ़सलों के मारे जाने पर होता है, और उधार पूंजी के लिए मांग भी बढ़ सकती है, क्योंकि इन जिंसों में सट्टा दामों में और अधिक चढ़ाव पर भरोसा करता है और उन्हें चढ़ाने का सबसे आसान तरीक़ा पूर्ति के कुछ हिस्से को अस्थायी रूप में बाज़ार से निकाल लेना है। लेकिन ख़रीदी हुई जिंसों की उन्हें बेचे बिना अदायगी करने के लिए द्रव्य वाणिज्यिक "विनियम पत्र क्रियाओं" द्वारा प्राप्त किया जाता है। ऐसी स्थिति में उधार पूंजी की मांग बढ जाती है और

जिंस की पूर्ति के कृत्रिम तरीक़े से बाज़ार पहुंचना रोकने के इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप ब्याज दर चढ़ सकती है। तब ऊंची ब्याज दर पण्य पूंजी की पूर्ति में कृत्रिम ह्रास को प्रतिबिंबित करती है।

दूसरी ओर, किसी वस्तु की मांग इसलिए बढ़ सकती है कि उसकी पूर्ति बढ़ गयी है और वस्तु अपने औसत दाम के नीचे बिक रही है।

इस स्थिति में उधार पूंजी की मांग उतनी ही बनी रह सकती है या गिर तक सकती है, क्योंकि उतनी ही द्रव्य राशि से अधिक जिंसें प्राप्त की जा सकती हैं। तथापि या तो उत्पादन प्रयोजनों के लिए अनुकूलतम समय का लाभ उठाने के उद्देश्य से, या दामों में भावी चढ़ाव की प्रत्याशा में अपेक्षी माल अधिसंचयन भी हो सकता है। इस स्थिति में उधार पूंजी की मांग बढ़ सकती है और तब ब्याज दर में चढ़ाव उत्पादक पूंजी के तत्वों के अतिरिक्त अधिसंचयन में पूंजी निवेश को प्रतिबिंबित करेगा। हम यहां सिर्फ़ उधार पूंजी की मांग, जहां तक वह पण्य पूंजी की मांग और पूर्ति द्वारा प्रभावित होती है, पर ही विचार कर रहे हैं। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि औद्योगिक चक्र के चरणों में पुनरुत्पादन प्रक्रिया की परिवर्तनशील अवस्था उधार पूंजी की पूर्ति को किस प्रकार प्रभावित करती है। इस सतही प्रस्थापना को कि बाज़ार की ब्याज दर का निर्धारण (उधार) पूंजी की पूर्ति तथा मांग द्वारा किया जाता है, ओवरस्टोन चालाकी से ख़ुद अपनी प्रस्थापना के साथ उलझा देते हैं और वह यह कि उधार पूंजी तथा सामान्यरूपेण पूंजी सर्वसम होती हैं; और इस तरीक़े से वह सूदख़ोर को एकमात्र पूंजीपति और उसकी पूंजी को एकमात्र पूंजी में परिणत करने का प्रयत्न करते हैं।

अभाव के समयों में उधार पूंजी के लिए मांग केवल भुगतान साधनों के अलावा और किसी चीज़ की मांग नहीं होती है; वह किसी भी प्रकार क्रय साधन के लिए द्रव्य की मांग नहीं होती है। साथ ही ब्याज दर इससे निरपेक्षतः चढ़कर बहुत ऊंची हो सकती है कि वस्तुरूप पूंजी, अर्थात उत्पादक तथा पण्य पूंजी, बहुलता में विद्यमान है या दुर्लभ है। जहां तक व्यापारी और उत्पादक अच्छी प्रतिभूतियां पेश कर सकते हैं, भुगतान साधनों की मांग मात्र **द्रव्य** में परिवर्तनीयता की मांग होती है; जहां भी कोई संपार्श्विक नहीं होता, वहां यह **द्रव्य पूंजी** के लिए मांग होती है, जिससे भुगतान साधनों का उधार उन्हें न केवल **द्रव्य का रूप**, बल्कि भुगतान करने के लिए चाहे किसी भी रूप में वह **समतुल्य** भी प्रदान कर देता है, जिसका उनके पास अभाव है। यही वह स्थल है, जहां संकटों के प्रचलित सिद्धांत पर विवाद के दोनों पक्ष एक ही समय सही भी हैं और ग़लत भी हैं। जो लोग यह कहते हैं कि केवल भुगतान साधनों का ही अभाव होता है, उनके दिमाग़ में या तो सिर्फ़ bona fide [वास्तविक] प्रतिभूतियों के स्वामी ही होते हैं, या वे मूर्ख हैं, जो यह विश्वास करते हैं कि सभी दिवालिये ठगों को काग़ज़ जारी करके शोधनक्षम तथा सम्मानित पूंजीपतियों में रूपांतरित करना ही बैंकों का कर्तव्य और शक्ति है। जो लोग यह कहते हैं कि केवल पूंजी का अभाव होता है, वे या तो महज़ वितंडा करते हैं, क्योंकि अतिआयात और अत्युत्पादन के परिणामस्वरूप ठीक ऐसे समय ही **अपरिवर्तनीय** पूंजी की भरमार होती है, या सिर्फ़ उन ऋणबांकुरों की तरफ़ इशारा करते हैं, जो सचमुच अब ऐसी स्थिति में पड़ जाते हैं कि अपनी तिकड़मों के लिए औरों की पूंजी अब और नहीं प्राप्त कर सकते हैं और अब इसकी मांग करते हैं कि बैंकों को उनकी न केवल इसी में सहायता करनी चाहिए कि वे नष्ट पूंजी की अदायगी कर सकें, बल्कि उन्हें अपनी धोखाधड़ियों को जारी रखने में समर्थ भी बनाना चाहिए।

यह पूंजीवादी उत्पादन का एक बुनियादी उसूल है कि मूल्य के एक स्वतंत्र रूप के नाते द्रव्य जिंसों के मुक़ाबले में खड़ा होता है, अथवा विनिमय मूल्य को द्रव्य में स्वतंत्र रूप ग्रहण करना होता है; और यह केवल तभी संभव हो सकता है कि अगर कोई निश्चित जिंस वह सामग्री बन जाती है, जिसका मूल्य अन्य सभी जिंसों का माप बन जाता है, जिससे कि इस प्रकार वह अन्य सभी जिंसों से भिन्न सामान्य जिंस, par excellence पण्य, बन जाती है। इसे अपने आपको दो पहलुओं में व्यक्त करना चाहिए, विशेषकर विकसित पूंजीवाद के राष्ट्रों में, जो एक ओर तो उधार क्रियाओं द्वारा, और दूसरी ओर, उधार द्रव्य द्वारा बड़ी हद तक द्रव्य को प्रतिस्थापित कर देते हैं। अभाव के दौरों में, जब उधार संकुचित हो जाता है या बिलकुल ही बंद हो जाता है, द्रव्य अचानक अन्य सभी जिंसों के पूर्ण विरोध में एकमात्र भुगतान साधन और मूल्य का वास्तविक अस्तित्व रह जाता है। यही जिंसों के सार्विक मूल्यह्रास और उन्हें द्रव्य में, अर्थात स्वयं अपने शुद्धतः अतिकाल्पनिक रूप में रूपांतरित करने की कठिनाई या असंभाव्यता तक का कारण है। लेकिन दूसरी ओर, उधार द्रव्य सिर्फ़ उसी सीमा तक द्रव्य होता है कि वह अपने नामिक मूल्य की राशि तक वास्तविक द्रव्य का पूर्णतः स्थान लेता है। सोने के अपवाह के साथ उसकी विनिमेयता, अर्थात वास्तविक स्वर्ण से उसकी तद्रूपता अनिश्चित हो जाती है। यही इस विनिमेयता की अवस्थाओं की सुरक्षा करने के उद्देश्य से निग्रही उपायों, ब्याज दर के चढ़ाये जाने, आदि का कारण है। द्रव्य विषयक मिथ्या सिद्धांतों पर आधारित और राष्ट्र पर साहूकारों – ओवरस्टोनों और उनके भाई-बंदों – के हितों में थोपे जानेवाले भ्रांत क़ानूनों द्वारा इसे कमोबेश चरम तक ही ले जाया जा सकता है। लेकिन आधार तो स्वयं उत्पादन पद्धति के आधार के साथ ही प्रदत्त होता है। उधार द्रव्य का मूल्यह्रास (प्रसंगतः, द्रव्य के नाते उसके चरित्र के शुद्धतः काल्पनिक लोप की तो बात ही क्या) सभी विद्यमान संबंधों को डांवांडोल कर देगा। इसलिए जिंसों के मूल्य का द्रव्य में इस मूल्य के अतिकाल्पनिक तथा स्वतंत्र अस्तित्व को सुरक्षित करने की ख़ातिर बलिदान कर दिया जाता है। द्रव्य मूल्य के नाते वह केवल तभी तक सुनिश्चित होता है कि जब तक द्रव्य सुनिश्चित होता है। इसलिए द्रव्य में कुछ लाख की ख़ातिर जिंसों में कई लाख का बलिदान करना होता है। पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत यह अनिवार्य है और यह उसकी एक ख़ूबसूरती है। पूर्ववर्ती उत्पादन पद्धतियों में यह नहीं होता, क्योंकि वे जिस संकीर्ण आधार पर आधारित होते हैं, उसमें न उधार का बहुत विकास हो सकता है और न उधार द्रव्य का ही। जब तक श्रम का **सामाजिक** स्वरूप जिंसों के **द्रव्यरूप अस्तित्व** की तरह, और इस प्रकार वास्तविक उत्पादन के लिए बाहरी **चीज़** की तरह प्रकट होता है, वास्तविक संकटों से स्वतंत्र अथवा उनके तीव्रण की तरह द्रव्य संकट अनिवार्य हैं। दूसरी ओर, यह स्पष्ट है कि जब तक किसी बैंक की साख ध्वस्त नहीं होती, वह ऐसे मामलों में उधार द्रव्य को बढ़ाकर दहशत को कम करेगा और उसका संकुचन करके उसे बढ़ायेगा। आधुनिक उद्योग का सारा इतिहास यही दिखलाता है कि सिर्फ़ अगर घरेलू उत्पादन संगठित हो, तो धातु की आवश्यकता सचमुच केवल अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य के संतुलन के अस्थायी रूप में भंग होने पर उसे बराबर करने के लिए ही पड़ेगी। यह बात कि घरेलू बाज़ार को आज भी धातु की तनिक भी आवश्यकता नहीं है, तथाकथित राष्ट्रीय बैंकों के नक़द भुगतानों के निलंबन से सिद्ध होती है, जो सभी आत्यंतिक मामलों में इस उपाय को एकमात्र उपचार की तरह अपनाते हैं।

दो व्यक्तियों के प्रसंग में यह कहना हास्यास्पद होगा कि उनके एक दूसरे के साथ लेन-देनों में दोनों का प्रतिकूल भुगतान शेष है। अगर वे परस्पर एक दूसरे के लेनदार और देनदार हैं, तो यह प्रत्यक्ष है कि जब उनके दावे बराबर नहीं बैठते हैं, तो शेष के लिए उनमें से एक को लेनदार और दूसरे को देनदार होना चाहिए। राष्ट्रों के साथ ऐसा किसी भी प्रकार नहीं होता। और यह कि ऐसा नहीं होता, सभी अर्थशास्त्रियों द्वारा स्वीकार किया जाता है, जब वे यह मानते हैं कि भुगतान शेष किसी राष्ट्र के लिए अनुकूल या प्रतिकूल हो सकता है, यद्यपि उसके व्यापार शेष का अंततोगत्वा निपटारा किया जाना चाहिए। भुगतान शेष का व्यापार शेष से यह अंतर है कि वह ऐसा व्यापार शेष होता है, जिसका एक निश्चित समय पर निपटारा किया जाना आवश्यक होता है। संकट यही करते हैं कि भुगतान शेष तथा व्यापार शेष के बीच अंतर को घटाकर अल्प अंतरावधि का कर देते हैं; और संकट से ग्रस्त राष्ट्र में जो विशिष्ट अवस्थाएं विकसित होती हैं और फलतः जिसके लिए भुगतान करने का समय आ जाता है, इन अवस्थाओं के परिणामस्वरूप पहले ही भुगतान काल का ऐसा संकुचन हो जाता है। पहले, बहुमूल्य धातुओं का बाहर भेजा जाना; फिर परेषित मालों का नीचे पर दामों बेचा जाना; जिंसों का निपटान करने के लिए अथवा उन पर देश में नक़द ऋण प्राप्त करने के लिए निर्यात; ब्याज दर का बढ़ाया जाना, उधार का प्रत्याह्वान करना, प्रतिभूतियों का मूल्यह्रास, विदेशी प्रतिभूतियों से छुटकारा पाना, इन मूल्यह्रासित प्रतिभूतियों में निवेश के लिए विदेशी पूंजी आकर्षित करना, और अंत में दिवाला, जो ढेरों दावों का निपटारा कर देता है। साथ ही अब भी ऐसे देश को धातु प्रायः भेजी जाती है, जहां संकट फूट पड़ा है, क्योंकि वहां के ड्राफ़्ट अविश्वसनीय हैं और सोने-चांदी में अदायगी ही सबसे विश्वसनीय होती है। इसके अलावा, एशिया के संदर्भ में सभी पूंजीवादी राष्ट्र आम तौर पर एक ही साथ – प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः – उसके देनदार हैं। जैसे ही ये विभिन्न परिस्थितियां दूसरे संबद्ध राष्ट्र पर अपना पूरा प्रभाव डालती हैं कि वह भी इसी प्रकार सोने और चांदी का निर्यात करने लग जाता है, संक्षेप में उसके लिए अदायगियां करने का समय आ जाता है और फिर इन्हीं सारी परिघटनाओं की पुनरावृत्ति होती है।

वाणिज्यिक उधार में उधार दाम तथा नक़द दाम के बीच अंतर के नाते ब्याज जिंसों के दाम में सिर्फ़ उसी सीमा तक प्रवेश करता है कि जहां तक विनिमय पत्रों के चलन की अवधि सामान्य से अधिक होती है। नहीं, तो ऐसा नहीं होता। और इसकी व्याख्या इस तथ्य से होती है कि हर कोई एक हाथ उधार लेता है और दूसरे हाथ उधार देता है। [यह मेरे अनुभव से मेल नहीं खाता है। – फ़े० एं०] लेकिन जहां तक बट्टा इस रूप में यहां आता है, उसका नियमन वाणिज्यिक उधार द्वारा नहीं, बल्कि द्रव्य बाज़ार द्वारा किया जाता है।

अगर द्रव्य पूंजी की पूर्ति और मांग, जो ब्याज दर को निर्धारित करती हैं, ओवरस्टोन के दावे के अनुसार वास्तविक पूंजी की पूर्ति और मांग के ही अनुरूप हुई होतीं, तो ब्याज इस पर निर्भर करते हुए एक ही समय ऊंचा और नीचा हुआ होता कि आया कि विभिन्न जिंसों पर विचार किया जा रहा है या उसी जिंस के विभिन्न चरणों (कच्ची सामग्री, अर्धतैयार, माल, तैयार माल) पर। १८४४ में बैंक ऑफ़ इंगलैंड की ब्याज दर ४% (जनवरी से सितंबर तक) और २ १/२% और ३% (नवंबर से वर्ष के अंत तक) के बीच रही थी। १८४५ में ब्याज दर जनवरी से अक्तूबर तक २ १/२%, २ ३/४%, और ३%, और शेष महीनों में ३% और ५% के बीच थी। अच्छी ओर्लियेंज कपास की गांठ का औसत दाम १८४४ में ६ १/४

पेंस और १८४५ में ४ ७/८ पेंस था। ३ मार्च, १८४४ को लीवरपूल में कपास का भंडार ६,२७,०४२ गांठें और ३ मार्च, १८४५ को ७,७३,८०० गांठें था। कपास के नीचे दाम के हिसाब से १८४५ में ब्याज दर नीची होनी चाहिए थी और वास्तव में इस समय के अधिकांश में वह नीची थी भी। लेकिन सूत के दाम के हिसाब से ब्याज दर ऊंची होनी चाहिए थी, क्योंकि दाम सापेक्षतया ऊंचे थे और लाभ निरपेक्षतया ऊंचे थे। ४ पेंस प्रति पाउंड की कपास से १८४५ में ४ पेंस की कताई लागत से (अच्छा सैकुंडा म्यूल सूत नं० ४०), अथवा कतवार के लिए कुल ८ पेंस की लागत से सूत काता जा सकता था, जिसे वह सितंबर और अक्तूबर, १८४५ में १० १/२ या ११ १/२ पेंस प्रति पाउंड के भाव बेच सकता था। (नीचे वाईली का साक्ष्य देखें।)

अब सारे सवाल को इस तरह से हल किया जा सकता है :

उधार पूंजी की पूर्ति और मांग सामान्यतः पूंजी की पूर्ति और मांग (यद्यपि यह पिछला कथन निरर्थक है; औद्योगिक अथवा वाणिज्यिक पूंजीपति के लिए जिंस उसकी पूंजी का एक रूप होती है, फिर भी वह कभी पूंजी नहीं मांगता, बल्कि जिंस विशेष ही मांगता है, वह उसे जिंस, मसलन अनाज या कपास के नाते ख़रीदता और उसका दाम देता है, चाहे उसे उसकी पूंजी के परिपथ में कैसी भी भूमिका अदा करनी हो) सिर्फ़ तब ही सर्वसम हो सकती हैं कि अगर कोई साहूकार न हो, और अगर उनके बजाय उधार देनेवाले पूंजीपतियों का मशीनरी, कच्चे मालों, आदि पर स्वामित्व हो, जिन्हें वे उसी प्रकार कि जैसे अब मकान किराये पर दिये जाते हैं, औद्योगिक पूंजीपतियों को उधार अथवा किराये पर दें, जो स्वयं इनमें से कुछ चीजों के स्वामी हैं। ऐसी परिस्थितियों में उधार पूंजी की पूर्ति औद्योगिक पूंजीपति के लिए उत्पादन तत्वों और व्यापारी के लिए जिंसों की पूर्ति के सर्वसम होगी। लेकिन यह स्पष्ट है कि तब लेनदार और देनदार के बीच लाभ का विभाजन आरंभ से ही पूरी तरह से उस पूंजी के, जो उधार दी जाती है, उस पूंजी से संबंध पर निर्भर करेगा, जो उसकी संपत्ति है, जो उसे नियोजित करता है।

श्री वैंगलिन के अनुसार(*B. A.*, 1857), ब्याज दर का निर्धारण "अनियोजित पूंजी की राशि" करती है (२५२); वह "मात्र नियोजनाकांक्षी पूंजी की बड़ी राशि की सूचक" होती है (२७१); बाद में यह अनियोजित पूंजी "अस्थायी पूंजी" बन जाती है (४८५) और इससे उनका आशय है "बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोट और देश में संचलन के अन्य प्रकार, उदाहरण के लिए, प्रादेशिक बैंकों का संचलन तथा देश में विद्यमान सिक्के की मात्रा।... मैं अस्थायी पूंजी में बैंकरों की आरक्षित निधियां शामिल करता हूं" (५०२, ५०३), और बाद में स्वर्ण बुलियन भी (५०३)। इस प्रकार यही श्री वैंगलिन कहते हैं कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड ऐसे वक़्तों पर ब्याज दर पर बहुत प्रभाव डालता है, जब "हम" [बैंक ऑफ़ इंगलैंड] "अनियोजित पूंजी के अधिक बड़े भाग के धारक होते हैं" (११९८), जबकि श्री ओवरस्टोन के उपरोक्त साक्ष्य के अनुसार, बैंक ऑफ़ इंगलैंड "पूंजी के लिए कोई जगह नहीं है"। श्री वैंगलिन आगे कहते हैं: "मेरे विचार में बट्टा दर देश में अनियोजित पूंजी की जितनी मात्रा है, उसके द्वारा शासित होती है। अनियोजित पूंजी को बैंक ऑफ़ इंगलैंड की आरक्षित निधि प्रकट करती है, जो व्यवहारतः बुलियन की आरक्षित निधि है। इसलिए जब बुलियन निकाला जाता है, तो वह देश में अनियोजित पूंजी की राशि को घटा देता है और फलतः जितनी बच रहती है, उसके मूल्य को चढ़ा देता है" (१२५८)। जे० स्टुअर्ट मिल कहते हैं (२१०२): "बैंक ऑफ़ इंगलैंड को अपने बैंकिंग विभाग की शोधन क्षमता के लिए इस पर

निर्भर करना पड़ता है कि वह इस विभाग में आरक्षित निधि की पुनःपूर्ति के लिए क्या कर सकता है; और इसलिए जैसे ही वह यह देखता है कि कोई अपवाह हो रहा है, वैसे ही उसे अपनी आरक्षित निधि की सुरक्षा का ख़याल करना पड़ता है और अपने चुकौती के काम को संकुचित करना या प्रतिभूतियों की बिक्री करना शुरू पड़ता है।" – आरक्षित निधि, जहां तक सिर्फ़ बैंकिंग विभाग का संबंध है, केवल जमाओं के लिए ही आरक्षित निधि है। ओवरस्टोन जैसे लोगों के अनुसार, बैंकिंग विभाग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह नोटों के "स्वतः" निर्गमन से निरपेक्ष सिर्फ़ बैंकर का ही काम करेगा। लेकिन वास्तविक अभाव के दौरों में बैंक अपने बैंकिंग विभाग की आरक्षित निधि से, जो सिर्फ़ नोटों की ही होती है, अलग बुलियन रिज़र्व पर कड़ी निगाह रखता है और अगर वह दिवालिया नहीं होना चाहता है, तो उसे रखनी भी चाहिए। कारण कि जिस हद तक बुलियन निधि घटती है, उस हद तक बैंक नोट निधि भी घटती है, और इसकी और किसी को इतनी जानकारी नहीं हो सकती, जितनी श्री ओवरस्टोन को होगी, जिन्होंने वस्तुतः अपने १८४४ के बैंक अधिनियम से इतनी दूरदर्शिता के साथ इसकी व्यवस्था की है।

अध्याय ३३

उधार पद्धति में संचलन माध्यम

"उधार मुद्रा संचलन वेग का महान नियामक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य बाज़ार पर सख़्त दबाव क्यों आम तौर पर पूर्ण संचलन का संपाती होता है।" (*The Currency Theory Reviewed*, p. 65.) इस बात को दोहरे अर्थ में लिया जाना चाहिए। एक ओर, वे सभी तरीक़े जो संचलन माध्यम की बचत करते हैं, उधार पर आधारित हैं। लेकिन दूसरी ओर, उदाहरण के लिए, ५०० पाउंड का एक नोट ले लीजिये। **क** यह नोट एक ख़ास दिन विपत्र की अदायगी में **ख** को दे देता है; **ख** उसे उसी दिन अपने बैंकर के पास जमा कर देता है; बैंकर उससे उसी दिन **ग** के विपत्र को चुकता करता है; **ग** यह नोट अपने बैंक को अदा कर देता है, बैंक उसे विपत्र दलाल को उधार दे देता है, आदि। क्रयों तथा भुगतानों का काम देने के लिए नोट यहां जिस वेग से संचलन करता है, वह उस वेग से उत्पन्न होता है, जिससे वह बारंबार किसी के पास जमा के रूप में आता है और फिर किसी और के पास ऋण के रूप में जाता है। संचलन माध्यम की पूर्ण क़िफ़ायत का सर्वोच्च विकास समाशोधन गृह में – उन विपत्रों के सादे विनिमय में, जो देय हो जाते हैं – और केवल शेषों का निपटारा करने के लिए भुगतान साधन के नाते द्रव्य के प्रधान कार्य में प्रकट होता है। किंतु इन विपत्रों का स्वयं अस्तित्व ही अपनी बारी में उस उधार पर निर्भर है, जो उद्योगपति तथा व्यापारी परस्पर एक दूसरे को देते हैं। अगर यह उधार घटता है, तो विपत्रों की, विशेषकर लंबी मीयादवाले विपत्रों की संख्या और फलतः लेखा-जोखा बराबर करने की इस विधि की कारगरता भी घट जाती है। और यह किफ़ायत, जो द्रव्य को लेन-देनों से निकाल देने में ही सन्निहित है और पूर्णतः भुगतान साधन के नाते द्रव्य के कार्य पर आधारित है, जो अपनी बारी में उधार पर आधारित होता है, केवल दो प्रकार की हो सकती है (ऐसे भुगतानों के संकेंद्रण की न्यूनाधिक विकसित प्रविधि को छोड़कर): विपत्रों अथवा चैकों द्वारा द्योतित दावे या तो उसी बैंकर द्वारा, जो दावे को बस एक खाते से दूसरे में अंतरित कर देता है, या विभिन्न बैंकरों द्वारा आपस में संतुलित कर दिये जाते हैं।[11] ८० से १०० लाख विपत्रों का एक ही आढ़तिये, मसलन ओवरैंड, गर्नी एंड कंपनी जैसी फ़र्म के हाथों में संकेंद्रण ऐसे स्थानीय संतुलन के पैमाने का प्रसार करने का एक मुख्य साधन था। ऐसी किफ़ायत के ज़रिये संचलन माध्यम की कारगरता बढ़ जाती है, जहां तक उसकी महज़ हिसाब बराबर करने के लिए अल्पतर मात्रा आवश्यक होती है। दूसरी ओर,

[11] बैंक नोट जितने दिन संचलन में रहा, उनकी औसत संख्या :

संचलन माध्यम के रूप में प्रवहमान द्रव्य का वेग (जिससे उसकी क़िफ़ायत भी होती है) पूर्णतः क्रय-विक्रय के प्रवाह पर, और भुगतानों की शृंखला पर, जहां तक वे द्रव्य में लगातार होते हैं, निर्भर करता है। लेकिन संचलन वेग को उधार उत्पन्न करता और फलतः बढ़ाता है। उदाहरण के लिए, एक अकेला सिक्का तब सिर्फ़ पांच गतियां ही संपन्न कर सकता है और उधार के बीच में आये बिना केवल संचलन माध्यम के रूप में हर व्यक्ति के हाथों में अधिक देर तक रहता है कि जब उसका मूल स्वामी क ख से, ख ग से, ग घ से, घ च से और च छ से क्रय करता है, अर्थात जब उसका एक हाथ से दूसरे को अंतरण केवल वास्तविक क्रयों तथा विक्रयों के कारण है। किंतु जब क से भुगतान में प्राप्त द्रव्य को ख अपने बैंकर के पास जमा कर देता है और बैंकर उसका उपयोग ग का विपत्र चुकता करने में करता है, ग अपनी बारी में घ से क्रय करता है, घ उसे अपने बैंकर के पास जमा कर देता है और वह उसे च को उधार देता है, जो छ से क्रय करता है, तो मात्र संचलन माध्यम (क्रय साधन) के रूप में भी उसका वेग अनेक उधार क्रियाओं से उत्पन्न होता है: ख का अपने बैंकर के पास जमा करना और बैंकर का ग का विपत्र चुकता करना, घ का अपने बैंकर के पास जमा करना और बैंकर का च का विपत्र चुकता करना; दूसरे शब्दों में चार उधार क्रियाओं के ज़रिये। इन उधार क्रियाओं के बिना वही सिक्का नियत कालावधि के भीतर पांच क्रय नहीं संपन्न कर सकता था। इस तथ्य ने कि उसका हस्तांतरण वास्तविक क्रय-विक्रय की मध्यस्थता के बिना, जमा करने और बट्टागत चुकौतियों के ज़रिये हुआ है, यहां वास्तविक लेन-देनों की शृंखला में उसके हस्तांतरण को त्वरित कर दिया है।

हम पहले देख चुके हैं कि वही एक नोट अनेक बैंकों में जमा बन सकता है। इसी प्रकार वह उसी बैंक में भी विभिन्न जमाएं बन सकता है। क के जमा किये नोट से बैंकर ख का विपत्र चुकता कर देता है, ख उससे ग की अदायगी करता है और ग उसी नोट को उसी बैंक में जमा कर देता है, जिसने उसे जारी किया था।

साधारण द्रव्य संचलन के विवेचन में हम पहले ही दिखला चुके हैं (Buch I, Kap. III, 2)*

वर्ष	५ पाउंड का नोट	१० पाउंड का नोट	२०-१०० पाउंड का नोट	२००-५०० पाउंड का नोट	१,००० पाउंड का नोट
१७९२	?	२३६	२०९	३१	२२
१८१८	१४८	१३७	१२१	१८	१३
१८४६	७९	७१	३४	१२	८
१८५६	७०	५८	२७	९	७

(*Report of Bank Acts, 1857*, Appendix II, 300-301 में बैंक ऑफ़ इंगलैंड के रोकड़िया, मार्शल, द्वारा संकलित।)

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, अध्याय ३, २।–सं०

कि संचलन वेग और भुगतानों की किफ़ायत को अगर नियत मान लिया जाये, तो वास्तविक संचलनगत द्रव्य संहति का निर्धारण जिंसों के दामों और लेन-देनों की संख्या द्वारा किया जाता है। नोटों के संचलन को भी यही नियम शासित करता है।

निम्न तालिका में बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोटों की, अर्थात ५ और १० पाउंड के नोट, २० से १०० पाउंड के नोट, और २०० तथा १,००० पाउंड के बीच बड़े मूल्य के नोट, जहां तक वे जनता के हाथों में थे, औसत वार्षिक संख्या दी गयी है और यह भी दिखलाया गया है कि इनमें से प्रत्येक समूह कुल संचलन का कितना प्रतिशत है। राशियां हज़ारों में हैं, अर्थात अंतिम तीन अंकों को छोड़ दिया गया है।*

वर्ष	५ से १० पाउंड के नोट	%	२० से १०० पाउंड के नोट	%	२०० से १,००० पाउंड के नोट	%	पाउंडों में योग
१८४४	९,२६३	४५.७	५,७३५	२८.३	५,२५३	२६.०	२०,२४१
१८४५	९,६९८	४६.९	६,०८२	२९.३	४,९४२	२३.८	२०,७२२
१८४६	९,९१८	४८.९	५,७७८	२८.५	४,५९०	२२.६	२०,२८६
१८४७	९,५९१	५०.१	५,४९८	२८.७	४,०६६	२१.२	१९,१५५
१८४८	८,७३२	४८.३	५,०४६	२७.९	४,३०७	२३.८	१८,०८५
१८४९	८,६९२	४७.२	५,२३४	२८.५	४,४७७	२४.३	१८,४०३
१८५०	९,१६४	४७.२	५,५८७	२८.८	४,६४६	२४.०	१९,३९८
१८५१	९,३६२	४८.१	५,५५४	२८.५	४,५५७	२३.४	१९,४७३
१८५२	९,८३९	४५.०	६,१६१	२८.२	५,८५६	२६.८	२१,८५६
१८५३	१०,६९९	४७.३	६,३९३	२८.२	५,५४१	२४.५	२२,६५३
१८५४	१०,५६५	५१.०	५,९१०	२८.५	४,२३४	२०.५	२०,७०९
१८५५	१०,६२८	५३.६	५,७०६	२८.९	३,४५९	१७.५	१९,७९३
१८५६	१०,६८०	५४.४	५,६४५	२८.७	३,३२३	१६.९	१९,६४८
१८५७	१०,६५९	५४.७	५,५६७	२८.६	३,२४१	१६.७	१९,४६७

(*B. A.*, 1858, p. XXVI.) इसलिए संचलनगत बैंक नोटों का कुल योग १८४४ से १८५७ की अवधि में निश्चित रूप से घटा, यद्यपि वाणिज्यिक कारबार, जैसा कि निर्यात तथा आयात के आंकड़ों से पता चलता है, दुगुने से अधिक हो गया था। जैसे कि तालिका दिखलाती है, ५ और १० पाउंड के छोटे बैंक नोटों का योग १८४४ में ९२,६३,००० पाउंड से बढ़कर १८५७ में १,०६,५९,००० पाउंड हो गया। और यह उस समय स्वर्ण संचलन में विशेषकर भारी वृद्धि के साथ-साथ हुआ। दूसरी ओर, उच्चतर मूल्य के (२०० पाउंड से १,००० पाउंड तक) नोटों

---

* यह तालिका मार्क्स द्वारा उल्लिखित स्रोत की फ़ोटो प्रतिलिपि से बनायी गयी है। इसकी सारी ही पूर्ण संख्याएं सही नहीं हैं। – सं०

का योग १८५२ में ५८,५६,००० पाउंड से घटकर १८५७ में ३२,४१,००० पाउंड हो गया, अर्थात उनमें २५ लाख पाउंड से अधिक की कमी आयी। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है : "८ जून, १८५४ को लंदन के निजी बैंकरों ने संयुक्त पूंजी बैंकों को समाशोधन गृह के कामकाज में शामिल कर लिया और कुछ ही बाद अंतिम समाशोधन बैंक ऑफ़ इंगलैंड में होने लगा। अब दैनिक समाशोधन अनेक बैंकों द्वारा इस संस्था में रखे जानेवाले खातों में अंतरणों द्वारा संपन्न होते हैं। यह पद्धति अपनाये जाने के परिणामस्वरूप वे बड़े नोट अब आवश्यक नहीं रह गये हैं, जिनका बैंकर पहले अपने हिसाब-किताब का समाशोधन करने के लिए उपयोग किया करते थे।" (*B. A.*, 1858, p. V.)

थोक व्यापार में द्रव्य का उपयोग घटाकर किस न्यूनतम स्तर तक ले आया गया है, इसका अनुमान पहली पुस्तक (Kap. III, पादटिप्पणी १०३)* में पुनर्मुद्रित तालिका से लगाया जा सकता है, जिसे बैंक समिति के सामने मॉरिसन, डिलन एंड कंपनी द्वारा पेश किया गया था, जो लंदन की उन सबसे बड़ी फ़र्मों में एक है, जिनसे छोटा दूकानदार ऐसी सभी जिंसों को ख़रीद सकता है, जिन्हें वह बेचता है।

१८५७ की बैंक समिति के सामने डब्ल्यू० न्यूमार्च के साक्ष्य (क्रमांक १७४१) के अनुसार संचलनशील माध्यम की किफ़ायत में अन्य परिस्थितियों ने भी योग दिया – पेनी पोस्टेज, रेलें, तार, संक्षेप में सुधरे हुए संचार साधन; इस प्रकार इंगलैंड अब बैंक नोटों के उतने ही संचलन से पांच-छः गुना अधिक कारबार कर सकता है। इसका एक महत्वपूर्ण कारण १० पाउंड से ऊंचे मूल्य के नोटों का संचलन से निकाला जाना भी है। इसमें न्यूमार्च को इस परिघटना का एक नैसर्गिक कारण दिखायी देता है कि स्कॉटलैंड तथा आयरलैंड में, जहां एक पाउंड के नोटों का भी संचलन है, नोट संचलन लगभग ३१% बढ़ गया है (१७४७)। ग्रेट ब्रिटेन में एक पाउंड के नोटों सहित बैंक नोटों का कुल संचलन ३६० लाख पाउंड बतलाया जाता है (१७४६)। स्वर्ण संचलन ७०० लाख पाउंड है (१७५०)। स्कॉटलैंड में नोटों का संचलन १८३४ में ३१,२०,००० पाउंड, १८४४ में ३०,२०,००० पाउंड, और १८५४ में ४०,५०,००० पाउंड था (१७५२)।

सिर्फ़ इन आंकड़ों से भी प्रत्यक्ष है कि जब तक नोट सदा द्रव्य से विनिमेय रहते हैं, नोट जारी करनेवाले बैंक संचलनगत नोटों की संख्या हरगिज़ नहीं बढ़ा सकते हैं। यहां अपरिवर्तनीय काग़ज़ी मुद्रा पर विचार किया ही नहीं जा रहा है; अपरिवर्तनीय बैंक नोट सिर्फ़ वहीं सामान्य संचलन माध्यम बन सकते हैं कि जहां उन्हें वास्तव में राजकीय साख का समर्थन प्राप्त होता है, जैसा इस समय रूस में है। तब वे राज्य द्वारा निर्गमित अपरिवर्तनीय काग़ज़ी मुद्रा के नियमों के अधीन आ जाते हैं, जिनका पहली पुस्तक (Kap. III, 2, c)**, 'सिक्का और मूल्य के प्रतीक' में पहले ही निरूपण किया जा चुका है। – फ़्रे० एं०]

संचलनगत नोटों की संख्या का नियमन आवर्त की आवश्यकताएं करती हैं और हर फ़ालतू नोट घूमता-घूमता सीधे निर्गमकर्ता के पास वापस पहुंच जाता है। चूंकि इंगलैंड में सिर्फ़ बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोट ही सर्वत्र वैध भुगतान साधन के रूप में संचलन करते हैं, इसलिए इस स्थल पर हम प्रादेशिक बैंकों के नगण्य और मात्र स्थानीय नोट संचलन को नज़रअंदाज़ कर सकते हैं।

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण : अध्याय ३, पृष्ठ १५६, पादटिप्पणी १०३। – सं०

** 'पूंजी', हिन्दी संस्करण : अध्याय ३, २, ग। – सं०

१८५८ की बैंक समिति के सामने अपने साक्ष्य में बैंक ऑफ़ इंगलैंड के गवर्नर श्री नीव कहते हैं : "क्रमांक ६४७। (प्रश्न :) आपका कहना है कि आप चाहे जो क़दम उठायें, लोगों के पास नोटों की रक़म लगभग उतनी ही रहती है, अर्थात कोई २,००,००,००० पाउंड के आसपास ? – सामान्य ज़माने में लोगों के उपयोगों के लिए लगभग २,००,००,००० पाउंड की रक़म चाहिए। साल में कुछ ऐसी विशेष नियतकालिक घड़ियां आती हैं, जब इनमें १० या १५ लाख पाउंड की वृद्धि हो जाती है। मैंने कहा था कि लोग अगर ज़्यादा चाहें, तो वे उसे बैंक ऑफ़ इंगलैंड से हमेशा ले सकते हैं।" – "६४८। आपने कहा था कि दहशत के समय लोग आपको नोटों की रक़म नहीं घटाने देंगे ; मैं आपसे इसका कारण जानना चाहता हूं। – मेरे विचार में दहशत के समय लोगों को बैंक से नोट लेने का पूरा अधिकार होता है ; और निस्संदेह, जब तक बैंक का दायित्व है, वे बैंक से नोट लेने के लिए इस दायित्व का पूरा उपयोग कर सकते हैं।" – "६४६। तो क्या हमेशा ही कोई २,००,००,००० पाउंड के लगभग वैध मुद्रा की आवश्यकता रहती है ? – लोगों के हाथ में २,००,००,००० पाउंड के नोट ; यह रक़म बदलती रहती है। यह १,८५,००,००० पाउंड, १,६०,००,००० पाउंड, २,००,००,००० पाउंड, आदि हो सकती है, लेकिन औसत के रूप में आप इसे १,६०,००,००० से २,००,००,००० पाउंड कह सकते हैं।"

लॉर्ड सभा की वाणिज्यिक संकट संबंधी समिति के सम्मुख टॉमस टूक का साक्ष्य (*C. D.*, 1848/57), क्रमांक ३०६४ : "बैंक स्वयं अपनी इच्छा से लोगों के हाथ में अपने संचलन की रक़म को बढ़ाने की क्षमता नहीं रखता ; लेकिन वह लोगों के हाथों में नोटों की मात्रा घटा सकता है, अलबत्ता बहुत ही सख़्त कार्रवाई के बिना नहीं।"

नॉटिंघम में ३० साल से बैंकर जे० सी० राइट लोगों की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं से अधिक नोटों को संचलन में रख सकने की प्रादेशिक बैंकों की असंभाव्यता के बारे में विस्तार से बताने के बाद बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोटों के बारे में कहते हैं (*C. D.*, 1848/57), क्रमांक २८४४ : "मुझे इसकी जानकारी नहीं है कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड पर" (नोटों के निर्गम के लिए) "कोई नियंत्रण है, लेकिन संचलन का हर आधिक्य जमाओं में चला जायेगा और इस तरह से एक भिन्न नाम ग्रहण कर लेगा।"

यही बात स्कॉटलैंड के बारे में भी सही है, जहां काग़ज़ी के सिवा और किसी मुद्रा का संचलन लगभग नहीं है, क्योंकि वहां और आयरलैंड में भी एक पाउंड के नोटों का भी चलन है और "स्कॉच लोग सोने से नफ़रत करते हैं"। एक स्कॉटिश बैंक के निदेशक कैनेडी घोषित करते हैं कि नोटों के अपने संचलन को बैंक संकुचित तक नहीं कर सकते और "समझते हैं कि जब तक ऐसे आंतरिक लेन-देन हैं, जिनको संपन्न करने के लिए नोटों अथवा सोने का होना ज़रूरी है, तब तक बैंकरों को या तो अपने जमाकर्ताओं की मांगों के ज़रिये या किसी न किसी शक्ल में उतनी मुद्रा उपलब्ध करनी ही होगी, जितनी इन लेन-देनों के लिए आवश्यक होती है।... स्कॉटिश बैंक अपने लेन-देन को सीमित कर सकते हैं, लेकिन वे अपनी मुद्रा को नियंत्रित नहीं कर सकते।" (वही, क्रमांक ३४४६, ३४४८।) इसी प्रकार यूनियन बैंक ऑफ़ स्कॉटलैंड के निदेशक एंडरसन कहते हैं (वही, क्रमांक ३५७८) : "क्या आपके बीच [स्कॉटिश बैंकों में] विनिमय पद्धति किसी एक बैंक द्वारा अधिनिर्गमन का निरोध करती है ? – हां, लेकिन विनिमय पद्धति से भी अधिक शक्तिशाली एक निरोधक है" [जिसका वास्तव में इससे कोई संबंध नहीं है, लेकिन जो प्रत्येक बैंक के नोटों की स्कॉटलैंड भर में संचलन करने की क्षमता को अवश्य प्रत्याभूत करता है], "स्कॉटलैंड में बैंकों में हिसाब रखने का सर्वव्यापी रिवाज है ; जिसके

पास जरा भी पैसा है, उसका बैंक में खाता होता है और वह हर दिन वह पैसा जमा कर देता है, जिसकी उसे फ़ौरन जरूरत नहीं है, जिससे दिन का कामकाज ख़त्म होने के समय उस पैसे के अलावा कदाचित ही कोई द्रव्य बैंकों के बाहर होता है, जो लोगों के अपने जेबों में है।"

यही बात आयरलैंड के बारे में भी है, जैसे कि बैंक ऑफ़ आयरलैंड के गवर्नर मैक-डॉनैल और प्राविंशियल बैंक ऑफ़ आयरलैंड के निदेशक मरे के उसी समिति के सम्मुख साक्ष्य से सूचित होता है।

नोट संचलन बैंक की तिजोरियों में उस स्वर्ण संचिति या आरक्षित निधि की अवस्था से, जो इन नोटों की परिवर्तनीयता को प्रत्याभूत करती है, उतना ही स्वतंत्र है कि जितना वह बैंक ऑफ़ इंगलैंड की इच्छा से है। "१८ सितंबर, १८४६ को बैंक ऑफ़ इंगलैंड का संचलन २,०६,००,००० पाउंड और बैंक में बुलियन १,६२,७३,००० पाउंड था; और ५ अप्रैल, १८४७ को संचलनगत नोट २,०८,१५,००० पाउंड के थे और बुलियन १,०२,४६,००० पाउंड था।... प्रत्यक्ष है कि साठ लाख पाउंड के सोने का देश के संचलन के किसी भी प्रकार के संकुचन के बिना निर्यात कर दिया गया था।" (J. G. Kinnear, *The Crisis and the Currency*, London, 1847, p. 5.) बेशक, यह बात इंगलैंड में व्याप्त वर्तमान अवस्थाओं के अंतर्गत ही लागू होती है, और इसमें भी सिर्फ़ वहीं तक कि क़ानून नोटों के निर्गमन और धातु संचिति में कोई भिन्न संबंध नहीं विहित करता।

अतः, संचलनशील द्रव्य–नोटों और सोने–की मात्रा पर सिर्फ़ स्वयं व्यवसाय की आवश्यकताएं ही प्रभाव डालती हैं। यहां सबसे पहले व्यवसाय की सामान्य अवस्था से निरपेक्षतः अपने को प्रति वर्ष दोहरानेवाले नियतकालिक उतार-चढ़ावों की तरफ़ ध्यान दिया जाना चाहिए, जिससे कि पिछले बीस वर्षों से "एक महीने में संचलन ऊंचा होता है, तो दूसरे महीने में वह नीचा होता है और एक और ख़ास महीने में एक मध्यम बिंदु पर आ जाता है"। (न्यूमार्च, *B. A.*, 1857, क्रमांक १६५०।)

इस प्रकार हर साल अगस्त में कुछ लाख पाउंड, आम तौर पर सोने में, बैंक ऑफ़ इंगलैंड से फ़सल ख़र्चों की अदायगी के लिए घरेलू संचलन में चले जाते हैं; चूंकि इसमें मुख्य अदायगियां मजदूरी की ही होती हैं, इसलिए इंगलैंड में इस प्रयोजन के लिए बैंक नोट कम उपयोगी हैं। साल के अंत तक यह धन बैंक में वापस प्रवाहित हो चुका होता है। स्कॉटलैंड में सावरिनों के बजाय एक पाउंड के नोटों के सिवा और लगभग कुछ नहीं हैं; अतः यहां नोट संचलन का अनुरूप परिस्थिति में, अर्थात साल में दो बार–मई और नवंबर में–३० लाख से ४० लाख का प्रसार होता है; एक पखवाड़े बाद पश्चप्रवाह शुरू हो जाता है और लगभग एक महीने में वह लगभग पूरा हो चुका होता है। (Anderson, *C. D.*, 1848/57, क्रमांक ३५६५-३६००।)

बैंक ऑफ़ इंगलैंड का नोट संचलन हर तीसरे महीने "लाभांशों", अर्थात राष्ट्रीय ऋण पर ब्याज के तिमाही भुगतान के कारण भी अल्पकालिक उतार-चढ़ाव का अनुभव करता है, जिसके द्वारा बैंक नोटों को पहले संचलन से निकाला जाता है और फिर दुबारा डाल दिया जाता है, मगर वे बहुत जल्दी फिर लौट आते हैं। वेंगलिन (*B. A.*, 1857, क्रमांक ३८) कहते हैं कि नोट संचलन में यह उतार-चढ़ाव पचीस लाख का होता है। लेकिन कुख्यात फ़र्म ओवरेंड, गर्नी एंड कंपनी के श्री चैपमैन के अनुमान के अनुसार द्रव्य बाजार में इस प्रकार जनित विक्षोभ कहीं अधिक ऊंची रक़म का होता है। "जब आप संचलन से राजस्व के ६०-७० लाख पाउंड

लाभांशों की प्रत्याशा में निकाल लेते हैं, तो बीच के समय में कोई उसकी पूर्ति करने का माध्यम भी अवश्य होना चाहिए।" (B. A., 1857, क्रमांक ५१६६।)

संचलनशील माध्यम की मात्रा में औद्योगिक चक्र के विभिन्न चरणों के अनुरूप उतार-चढ़ाव कहीं अधिक महत्वपूर्ण और टिकाऊ होते हैं। आइये, इस प्रश्न पर उस फ़र्म के एक और साझेदार, सम्मानीय क्वेकर सैम्युएल गर्नी की बात सुनें (*C. D.*, 1848/57, क्रमांक २६४५) : "अक्तूबर (१८४७) के अंत में लोगों के हाथों में २,०८,००,००० पाउंड के नोट थे। उस समय द्रव्य बाज़ार में बैंक नोट प्राप्त करना बहुत मुश्किल था। यह मुश्किल १८४४ के अधिनियम के प्रतिबंध के परिणामस्वरूप उन्हें न पा सकने के भय से पैदा हुई थी। इस समय" [मार्च, १८४८] "लोगों के हाथों में... १,७७,००,००० पाउंड के नोट हैं, लेकिन अब किसी भी प्रकार के वाणिज्यिक भय के न होने के कारण वे आवश्यकता से कहीं अधिक हैं। लंदन में ऐसा कोई बैंकिंग प्रतिष्ठान या मुद्रा व्यापारी नहीं है, जिसके पास जितने का वह उपयोग कर सकता है, उससे अधिक बैंक नोट न हों।"–"२६५०। वाणिज्य जगत की अवस्था और उधार की अवस्था को भी विचार में लाये बिना बैंक ऑफ़ इंगलैंड के क़ब्ज़े के बाहर... बैंक नोटों की राशि... संचलन की सक्रिय अवस्था का सर्वथा अपर्याप्त सूचक प्रदान करती है।"–"२६५१। लोगों के हाथों में संचलन की वर्तमान राशि के अंतर्गत हमें आधिक्य का जो अनुभव होता है, वह बहुत अंश तक भारी मंदी की हमारी मौजूदा अवस्था के कारण है। ऊंचे दामों और कारबार की तेज़ी की अवस्था में १,७७,००,००० पाउंड से हम प्रतिबंधित अनुभव करते।"

[जब तक व्यवसाय की अवस्था ऐसी होती है कि दिये गये क़र्ज़ों की वापसियां नियमित रूप से होती रहती हैं और इस प्रकार साख अविचल बनी रहती है, संचलन का प्रसार और संकुचन केवल उद्योगपतियों और व्यापारियों की आवश्यकताओं पर निर्भर करते हैं। चूंकि कम से कम इंगलैंड में सोना थोक व्यापार में महत्व नहीं रखता और मौसमी उतार-चढ़ावों को छोड़कर सोने के संचलन को लंबी कालावधि के लिए स्थिर ही माना जा सकता है, इसलिए बैंक ऑफ़ इंगलैंड का नोट संचलन इन परिवर्तनों का काफ़ी सही पैमाना है। संकट के बाद आनेवाली मंदी या गतिहीनता की अवधि में संचलन अल्पतम होता है; नयी मांग के साथ संचलनशील माध्यम के लिए अधिक आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है, जो बढ़ती समृद्धि के साथ बढ़ती जाती है; संचेलनशील माध्यम की मात्रा अपने चरम पर अतितनाव और अतिफाटके की अवधि में पहुंचती है–संकट सहसा फूट पड़ता है और रातोंरात वे बैंक नोट बाज़ार से ग़ायब हो जाते हैं, जिनकी अभी कल ही तक भरमार थी और उन्हीं के साथ-साथ विपत्रों को सकारनेवाले, प्रतिभूतियों पर ऋण देनेवाले और जिंसों को ख़रीदनेवाले भी ग़ायब हो जाते हैं। बैंक ऑफ़ इंगलैंड को सहायता के लिए गुहारा जाता है, मगर उसकी शक्तियां भी शीघ्र ही निःशेष हो जाती हैं, क्योंकि १८४४ का बैंक अधिनियम उसे ठीक उस क्षण अपने नोट संचलन को संकुचित करने के लिए विवश कर देता है कि जब सारी दुनिया नोटों के लिए सिर फोड़ती होती है; जब जिंसों के मालिक बिक्री नहीं कर पाते, मगर फिर भी उन्हें अदायगियां करनी होती हैं और जो सिर्फ़ बैंक नोट हासिल करने के लिए ही कोई भी बलिदान करने को तैयार होते हैं। "दहशत के समय," पूर्वोद्धृत बैंकर राइट कहते हैं (पूर्वो०, क्रमांक २६३०), "देश को सामान्य समय की अपेक्षा दुगुने संचलन की आवश्यकता होती है, क्योंकि बैंकर तथा अन्य लोग संचलन की जमाख़ोरी करते हैं।"

संकट फूटा नहीं कि सवाल सिर्फ़ भुगतान साधनों का बन जाता है। लेकिन क्योंकि हर

कोई इन भुगतान साधनों के लिए किसी और पर आश्रित होता है, और कोई भी यह नहीं जानता कि अगला आदमी देय होने पर अपनी अदायगी कर पायेगा कि नहीं, इसलिए बाजार में उपलब्ध इन भुगतान साधनों के लिए, अर्थात बैंक नोटों के लिए भगदड़ मच जाती है। हर कोई जितने नोट हाथ लगते हैं, उनकी जमाख़ोरी कर लेता है और इस प्रकार नोट ठीक उसी दिन संचलन से ग़ायब हो जाते हैं कि जब उनकी सबसे ज्यादा जरूरत होती है। सैम्युएल गर्नी *C. D.*, 1848/57 क्रमांक १११६) के अनुमान के अनुसार अक्तूबर, १८४७ में एक ऐसी ही दहशत की अवधि में तालाबंद किये बैंक नोटों की राशि ४० से ५० लाख पाउंड तक पहुंच गयी थी। – फ़े० एं०]

इस प्रसंग में गर्नी के सहयोगी चैपमैन, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है, की १८५७ की बैंक समिति के सम्मुख प्रतिपरीक्षा विशेषकर रोचक है। मैं यहां उसकी मुख्य विषय-वस्तु संदर्भ में दे रहा हूं, यद्यपि कुछ ऐसे भी मुद्दे ले लिये गये हैं, जिनका हम बाद में ही विवेचन करेंगे।

श्री चैपमैन के पास कहने को यह है:

"४६६३। मुझे यह कहने में भी कोई संकोच नहीं है कि मैं इसे सही नहीं समझता कि जब संचलन का परिमाण बहुत ही न्यून होता है, मुद्रा बाजार तब भारी दुर्लभता और दबाव पैदा करने के लिए किसी अकेले पूंजीपति के नियंत्रण में हो (जैसे लंदन में है)। यह संभव है... एक से अधिक पूंजीपति हों, जो – अगर उन्हें इससे कोई लक्ष्य सिद्ध करना हो – संचलनशील माध्यम से १० या २० लाख पाउंड के नोट निकाल सकते हैं।" – ४६६५।* बड़ा सटोरिया १० या २० लाख पाउंड के बेमीयादी बांड बेच सकता है और इस तरह से बाजार से द्रव्य को निकाल सकता है। बहुत कुछ ऐसा ही अभी हाल में हुआ है, "यह बहुत प्रचंड दबाव पैदा कर देता है"।

४६६७। ऐसी हालत में नोट निश्चय ही अनुत्पादक हैं। "लेकिन अगर यह उसके बड़े लक्ष्य को पूरा कर सकता है, तो यह कुछ भी नहीं है; उसका बड़ा लक्ष्य है निधियों को गिराना, दुर्लभता पैदा करना, और ऐसा करना पूर्णतः उसकी शक्ति में है।" उदाहरण भी ले लीजिये: एक दिन शेयर बाजार में द्रव्य की भारी मांग थी; कोई भी उसका कारण नहीं जानता था; किसी ने चैपमैन से ७% की दर पर ५०,००० पाउंड उधार मांगे। चैपमैन को आश्चर्य हुआ, क्योंकि उनकी ब्याज दर कहीं नीची थी; उन्होंने उधार दे दिया। कुछ ही बाद वह आदमी वापस आया; ७ १/२% की दर से ५०,००० पाउंड और उधार लिये, फिर ८% की दर से १,००,००० पाउंड लिये और अब ८ १/२% की दर से और लेने चाहे। तब चैपमैन तक आशंकित हो गये। बाद में पता चला कि काफ़ी द्रव्य राशि को बाजार से अचानक निकाल लिया गया था। लेकिन चैपमैन कहते हैं: "फिर भी मैंने ८% पर बड़ी रक़म उधार दी; इसके आगे जाते मैं डरता था; मैं नहीं जानता था कि क्या होनेवाला है।"

यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि यद्यपि यह समझा जाता है कि नोटों में १६० से २०० लाख पाउंड लगभग निरंतर लोगों के हाथों में होते हैं, फिर भी एक ओर तो इन नोटों के वास्तव में संचलन करनेवाले अंश में और दूसरी ओर, उस अंश में, जिसे आरक्षित निधि के रूप में बैंक निष्क्रिय रखते हैं, आपस में हमेशा और महत्वपूर्ण अंतर रहता है। अगर यह

---

* १८६४ के जर्मन संस्करण में यह ४६६५ छपा हुआ है। – सं०

निधि बड़ी और फलतः वास्तविक संचलन थोड़ा है, तो मुद्रा बाजार के दृष्टिकोण से इसका मतलब यह है कि संचलन पूर्ण है और द्रव्य प्रचुर है; अगर निधि अल्प और फलतः वास्तविक संचलन पूर्ण है, तो मुद्रा बाजार की भाषा में संचलन नीचा और द्रव्य दुर्लभ है – दूसरे शब्दों में, निष्क्रिय उधार पूंजी को द्योतित करनेवाला अंश छोटा है। संचलन का औद्योगिक चक्र के चरणों से निरपेक्ष वास्तविक प्रसार अथवा संकुचन – लेकिन जिसके साथ उसकी लोगों की ज़रूरत की मात्रा उतनी ही बनी रहती है – सिर्फ़ प्राविधिक कारणों से ही होता है, मसलन, करों अथवा राष्ट्रीय ऋण पर ब्याज के देय होने के समय। जब कर अदा किये जाते हैं, तब नोटों और सोने की सामान्य से अधिक राशि बैंक ऑफ़ इंगलैंड में प्रवाहित होती है और वस्तुतः संचलन को उसकी ज़रूरतों से निरपेक्षतः संकुचित कर देती है। जब राष्ट्रीय ऋण पर लाभांशों की अदायगी की जाती है, तब इसका उलटा होता है। पहले प्रसंग में बैंक से संचलनशील माध्यम को प्राप्त करने के लिए ऋण दिये जाते हैं। दूसरे प्रसंग में निजी बैंकों में उनकी आरक्षित निधि में क्षणिक वृद्धि के कारण ब्याज दर गिर जाती है। इसका संचलनशील माध्यम की निरपेक्ष मात्रा से कोई संबंध नहीं होता; लेकिन उस बैंकिंग फ़र्म का अवश्य इससे सरोकार होता है, जो इस संचलनशील माध्यम को गतिमान करती है और जिसके लिए यह प्रक्रिया उधार पूंजी के स्वत्वांतरण को द्योतित करती है और जो इसके परिणामस्वरूप मुनाफ़ों को हथिया लेती है।

एक प्रसंग में संचलनशील माध्यम का अस्थायी विस्थापन मात्र होता है, जिसे बैंक ऑफ़ इंगलैंड तिमाही करों के देय होने के कुछ पहले और राष्ट्रीय ऋण पर तिमाही लाभांशों के देय होने के पहले भी कम ब्याज पर अल्पकालीन ऋणों द्वारा संतुलित करता है; इन अतिरिक्त नोटों का निर्गमन पहले करों की अदायगी से जनित अंतर को पाट देता है, जबकि इसके कुछ ही समय बाद बैंक को वापसी अदायगी उन अतिशय नोटों को वापस ले आती है, जो लाभांशों की अदायगी के ज़रिये लोगों के हाथों में पहुंचे थे।

दूसरे प्रसंग में अल्प अथवा पूर्ण संचलन सदा बस संचलनशील माध्यम की उतनी ही मात्रा के सक्रिय संचलन तथा जमाओं, अर्थात ऋणों के एक साधन में भिन्न वितरण को ही द्योतित करता है।

दूसरी ओर, अगर, उदाहरण के लिए, जारी किये नोटों की संख्या बैंक ऑफ़ इंगलैंड में सोने के प्रवाह के आधार पर बढ़ जाती है, तो ये नोट बैंक के बाहर हुंडियों की बट्टागत चुकौती में सहायता देते हैं और क़र्ज़ों की वापसी के ज़रिये उसके पास लौट आते हैं, जिससे कि संचलनशील नोटों की निरपेक्ष संख्या में केवल क्षणिक वृद्धि ही आती है।

अगर व्यवसाय के प्रसार के कारण संचलन पूर्ण है (जो तब भी हो सकता है कि चाहे दाम सापेक्षतया नीचे ही हों), तो ब्याज दर चढ़ते लाभों तथा बढ़े हुए नये निवेशों के परिणामस्वरूप उधार पूंजी की मांग के कारण सापेक्षतया ऊंची हो सकती है। अगर संचलन व्यावसायिक संकुचन के कारण, या संभवतः उधार के अत्यंत प्रचुर होने के कारण अल्प है, तो ब्याज दर दामों के ऊंचे होने के बावजूद नीची हो सकती है। (हब्बर्ड का साक्ष्य देखिये।*)

संचलन का निरपेक्ष परिमाण सिर्फ़ क़िल्लत के समय ही ब्याज दर पर निर्धारक प्रभाव डालता है। पूर्ण संचलन की मांग (द्रव्य संचलन के और बिलकुल उसी द्रव्य के उधार पूंजी

* देखिये प्रस्तुत संस्करण का पृष्ठ ४८५। – सं०

में निरंतर रूपांतरण के न्यूनित वेग को नज़रअंदाज़ करते हुए) या तो उधार के अभाव के कारण मात्र जमाखोरी के माध्यम की मांग को प्रतिबिंबित कर सकती है, जैसा १८४७ में हुआ था, जब बैंक अधिनियम के निलंबन ने संचलन का कोई प्रसार नहीं किया था, मगर जमा किये नोटों को बाहर लाने और उन्हें संचलन में ले जाने का काम किया था; या ऐसा हो सकता है कि कुछ परिस्थितियों में वास्तव में अधिक संचलन साधनों की आवश्यकता होती है, जैसा १८५७ में था, जब बैंक अधिनियम के निलंबन के बाद संचलन का वास्तव में कुछ समय के लिए प्रसार हुआ।

और किसी अवस्था में संचलन की निरपेक्ष मात्रा का ब्याज दर पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है, क्योंकि – मुद्रा की किफ़ायत और वेग को स्थिर मानते हुए – एक तो उसका निर्धारण जिंस दामों और लेन-देनों के परिमाण द्वारा (जिससे इनमें से एक आम तौर पर दूसरे के प्रभाव को निराकृत कर देता है) और अंत में उधार की अवस्था द्वारा किया जाता है, जबकि यह अंतोक्त पर कोई भी विलोम प्रभाव नहीं डालता; और दूसरे, क्योंकि जिंस दामों और ब्याज का अनिवार्यतः एक दूसरे से कोई प्रत्यक्ष अन्योन्यसंबंध नहीं होता है।

बैंक निबंधन अधिनियम के कार्य काल (१७९७–१८१९) में मुद्रा की बेशी थी तथा नक़द भुगतानों का पुनरारंभ किये जाने के बाद की अपेक्षा ब्याज दर हमेशा ऊंची थी। बाद में, नोट निर्गमन के निबंधन और चढ़ती हुंडी दरों के साथ यह तेज़ी से गिरी। १८२२, १८२३ और १८३२ में सामान्य संचलन नीचा था और ब्याज दर भी नीची ही थी। १८२४, १८२५ और १८३६ में संचलन पूर्ण था और ब्याज दर चढ़ गयी थी। १८३० की गरमियों में संचलन पूर्ण था और ब्याज दर नीची थी। नये स्वर्णक्षेत्रों के खोजे जाने के बाद से यूरोप भर में मुद्रा संचलन का प्रसार हुआ है और ब्याज दर चढ़ी है। इस प्रकार, ब्याज दर संचलनशील मुद्रा की मात्रा पर नहीं निर्भर करती है।

संचलनशील माध्यम के निर्गमन और पूंजी के उधार दिये जाने में अंतर वास्तविक पुनरुत्पादन प्रक्रिया में सबसे अच्छी तरह से प्रदर्शित होता है। हम देख चुके हैं (दूसरी पुस्तक, भाग ३) कि किस प्रकार उत्पादन के भिन्न-भिन्न घटकों का एक दूसरे से विनिमय किया जाता है। उदाहरण के लिए, परिवर्ती पूंजी में तत्वतः श्रमिकों के निर्वाह साधन होते हैं, अर्थात स्वयं उनके उत्पाद का एक अंश। किंतु यह उन्हें द्रव्य में खंडशः दी जाती है। इसे पूंजीपति को अग्रसारित करना होता है, और यह बात कि वह अगले सप्ताह नयी परिवर्ती पूंजी उस पुराने द्रव्य से दे सकता है या नहीं, जो उसने पिछले सप्ताह दिया था, उधार पद्धति के संगठन पर बहुत अधिक निर्भर करती है। कुल सामाजिक पूंजी के विभिन्न घटकों में, उदाहरण के लिए, उपभोग साधनों तथा उपभोग साधनों के उत्पादन साधनों के बीच, विनिमय के बारे में भी यही बात सही है। जैसे कि हम देख चुके हैं, उनके परिचालन के लिए द्रव्य विनिमय करनेवाले पक्षों में से एक या दोनों द्वारा अग्रसारित करना होता है। इसके बाद द्रव्य संचलन में बना रहता है, लेकिन विनिमय के संपूर्ण हो जाने के बाद वह उसके पास लौट आता है, जिसने उसे अग्रसारित किया था, क्योंकि उसने उसे अपनी वस्तुतः नियोजित औद्योगिक पूंजी के अलावा अग्रसारित किया था (दूसरी पुस्तक, अध्याय २०)*। विकसित उधार पद्धति के अंतर्गत, जिसमें द्रव्य बैंकरों के हाथों में संकेंद्रित होता है, उसे, **कम से कम नामिक रूप में**, वे ही

---

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण: खंड २, पृष्ठ ३६१-७०। – सं०

उधार देते हैं। इस उधार का संबंध सिर्फ़ संचलनगत मुद्रा से है। यह **संचलन** का अग्रसारण है, न कि उसके द्वारा परिचालित होनेवाली पूंजियों का अग्रसारण।

चैपमैन: "५०६२। ऐसे भी समय आ सकते हैं कि जब लोगों के हाथों में मौजूद नोट, चाहे वे बड़े नोट ही हों, नहीं प्राप्त हो पाते हैं।" द्रव्य दहशत के समय भी अस्तित्वमान होता है, लेकिन हर कोई इसका ध्यान रखता है कि उसे उधारार्थ पूंजी में, अर्थात उधार देने योग्य द्रव्य में, न परिणत करे; हर कोई उसे इसलिए संभालकर रखे रहता है कि वास्तविक भुगतान की आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

"५०९९। देहाती इलाक़ों के प्रादेशिक बैंकर अपने अनियोजित शेष आपके पास और दूसरे प्रतिष्ठानों के पास भेजते हैं? – हां।" – "५१००। दूसरी ओर, लंकाशायर और यार्कशायर ज़िलों को अपने कारबार के उपयोग के लिए आपसे विपत्र भुनाने की आवश्यकता पड़ती है? – हां।" – "५१०१। तो इसी तरीक़े से देश के एक हिस्से का बेशी द्रव्य देश के दूसरे हिस्से की ज़रूरतों के लिए मुहैया किया जाता है? – बिलकुल यही बात है।"

चैपमैन कहते हैं कि बैंकों के अपनी बेशी द्रव्य पूंजी को कंसोलों और सरकारी नोटों में निवेशित करने के चलन में हाल के समय में काफ़ी कमी आ गयी है, जब से इस द्रव्य को मांग देय (at call) उधार देने का रिवाज चल पड़ा है। वह स्वयं अपने व्यवसाय के लिए इस तरह के काग़ज़ के क्रय को बहुत अव्यावहारिक समझते हैं। इसलिए वह अपना द्रव्य विश्वसनीय विपत्रों में निवेशित करते हैं, जिनमें से कुछ रोज़ देय होते जाते हैं, जिससे उन्हें हमेशा पता रहता है कि वह दिन प्रति दिन कितने तैयार द्रव्य पर निर्भर कर सकते हैं। [५१०१ से ५१०५।]

निर्यातों की वृद्धि तक अपने आपको कमोबेश हर देश के लिए, लेकिन विशेषकर उधार प्रदान करनेवाले देश के लिए, घरेलू मुद्रा बाज़ार पर बढ़ती मांग के रूप में व्यक्त करती है, लेकिन इसे अभाव का समय आने तक अनुभव नहीं किया जाता है। जब निर्यात बढ़ते हैं, तो ब्रिटिश कारख़ानेदार आम तौर पर ब्रिटिश मालों के परेषणों के आधार पर निर्यात व्यापारियों द्वारा देय लंबी मीयाद के विपत्र बनाते हैं (५१२६)। – "५१२७। क्या आम तौर पर ऐसा नहीं होता है कि यह रज़ामंदी रहती है कि ये विपत्र समय-समय पर नवीकृत किये जाते रहेंगे? – [चैपमैन:] यह एक ऐसी बात है कि जिसे वे हम से छिपाकर रखते हैं; हम इस तरह के किसी विपत्र को नहीं लेंगे।... मैं ज़रूर कहूंगा कि ऐसा किया जाता होगा, लेकिन मैं इस तरह की चीज़ के बारे में कुछ नहीं कह सकता।" [भोले चैपमैन।] "५१२९। अगर देश के निर्यात में भारी वृद्धि होती है, जैसी पिछले साल ही २०० लाख पाउंड की हुई थी, तो क्या इसके स्वाभाविक परिणाम के तौर पर इन निर्यातों को द्योतित करनेवाले विपत्रों की चुकौती के लिए पूंजी की भारी मांग नहीं पैदा होगी? – निस्संदेह।" – "५१३०। चूंकि यह देश सामान्यतया विदेशों को सभी निर्यातों के लिए उधार देता है, इसलिए क्या ऐसा करना अस्थायी रूप में पूंजी की अनुरूप वृद्धि को आत्मसात करना नहीं होगा? – यह देश अत्यधिक उधार देता है, लेकिन अपनी बारी में वह अपने कच्चे मालों के लिए उधार लेता है। अमरीका से हमें हमेशा ६० दिन के, और दूसरे देशों से ९० दिन के विपत्र किये जाते हैं। दूसरी ओर, हम उधार देते हैं; अगर हम माल जर्मनी भेजते हैं, तो हम दो या तीन महीने की मीयाद देते हैं।"

चैपमैन से विलसन पूछते हैं (५१३१) कि क्या इंगलैंड द्वारा देय हुंडियां इन आयातित कच्चे मालों और औपनिवेशिक मालों की लदाई के साथ-साथ ही नहीं बनायी जाती हैं और क्या ये हुंडियां

लदान पत्रों के साथ-साथ ही नहीं पहुंचती हैं? चैपमैन का ख़याल है कि ऐसा ही है, लेकिन वह ऐसे "वाणिज्यिक" लेन-देनों के बारे में अनभिज्ञता प्रकट करते हैं और इस क्षेत्र में विशेषज्ञों से पूछताछ करने का सुझाव देते हैं—अमरीका को निर्यात में, चैपमैन कहते हैं, "माल का पारवहन में प्रतीकीकरण हो जाता है," ५१३३; इस शब्दजाल का यह मतलब निकालना चाहिए कि अंग्रेज निर्यात व्यापारी अपने माल पर लंदन में किसी बड़े अमरीकी बैंकिंग प्रतिष्ठान को चार महीने का विपत्र कर देता है और यह फ़र्म अमरीका से संपार्श्विक प्राप्त कर लेती है।

"५१३६। सामान्यतया क्या अधिक दूर के लेन-देन व्यापारी द्वारा नहीं किये जाते हैं, जो माल के बिकने तक अपनी पूंजी के लिए प्रतीक्षा करता है? —ऐसे बहुत धनी प्रतिष्ठान हो सकते हैं, जिनके लिए स्वयं अपनी पूंजी को लगाना और माल पर कोई उधार न लेना संभव हो; लेकिन अधिकांश मामलों में इन मालों को कुछ सुख्यात प्रतिष्ठानों की स्वीकृति द्वारा ऋणों में परिवर्तित कर दिया जाता है।"—"५१३७। ये प्रतिष्ठान... लंदन, या लीवरपूल, या अन्यत्र स्थित हैं।—"५१३८। अतः, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि कारख़ानेदार अपना द्रव्य लगाता है या लंदन या लीवरपूल में किसी व्यापारी से अग्रसारित करवाता है; वह इस देश में उधार ही रहेगा? —बिलकुल ऐसा ही है। कारख़ानेदार का कुछ ही मामलों में उससे कोई सरोकार होता है" [लेकिन १८४७ में लगभग हर मामले में था]। "निर्मित माल में, मसलन मैंचेस्टर में, कारबार करनेवाला माल ख़रीदेगा और लंदन में किसी सुख्यात प्रतिष्ठान के ज़रिये उसे विदेश रवाना कर देगा; जब लंदन का प्रतिष्ठान इस बारे में संतुष्ट हो जाता है कि माल सहमति के अनुसार पैक किया गया है, तो वह (व्यापारी) भारत या चीन या जहां भी जानेवाले इस माल पर लंदन के इस प्रतिष्ठान द्वारा देय छः महीने का विपत्र बना देता है; अब इसमें बैंकिंग जगत भी आ जाता है और उसके लिए इस विपत्र को चुकता कर देता है; जिससे जब उसे इस माल के लिए अदायगी करनी होती है, तब तक उसके पास इस विपत्र के चुकता होने से द्रव्य आ चुका होता है।"—"५१३९। अगर उसके पास द्रव्य हो, तो भी क्या बैंकर को द्रव्य देना पड़ता? —**बैंकर के पास विपत्र है, बैंकर ने विपत्र को ख़रीद लिया है**; वह अपनी बैंकिंग पूंजी का इस रूप में, अर्थात वाणिज्यिक विपत्रों की चुकौतियां करने में उपयोग करता है।" [अतः, चैपमैन तक विपत्रों के चुकता करने को द्रव्य का उधार दिया जाना नहीं, बल्कि जिंसों का ख़रीदा जाना समझते हैं।—फ़े० एं०]—"५१४०। लेकिन फिर भी यह लंदन में मुद्रा बाज़ार पर मांग का हिस्सा ही है? — बेशक, यह मुद्रा बाज़ार और बैंक ऑफ़ इंगलैंड का वास्तविक कार्य है। बैंक ऑफ़ इंगलैंड इन विपत्रों को उतनी ही ख़ुशी से लेता है कि जितनी से हम, क्योंकि वह जानता है कि ये अच्छी संपत्ति हैं।"—"५१४१। तो इस तरह से निर्यात व्यापार के बढ़ने के साथ-साथ मुद्रा बाज़ार पर मांग भी बढ़ती जाती है? —देश की समृद्धि बढ़ने के साथ-साथ हम" [चैपमैन जैसे लोग] "भी समृद्ध होते जाते हैं।"—"५१४२। तो जब पूंजी के नियोजन के ये विभिन्न क्षेत्र अचानक बढ़ जाते हैं, तो निस्संदेह इसका स्वाभाविक परिणाम यही होता है कि ब्याज दर ऊंची हो जाती है? —इसमें कोई संदेह नहीं है।"

५१४३ में चैपमैन यह "बिलकुल नहीं समझ सकते कि हमारे भारी निर्यातों के अंतर्गत बुलियन की ऐसी आवश्यकता रही है।"

५१४४ में माननीय विलसन पूछते हैं: "ऐसा तो नहीं है कि हम अपने निर्यातों पर उससे अधिक उधार देते हैं, जितने अपने आयातों पर उधार लेते हैं? —इस मुद्दे पर तो स्वयं मुझे भी संदेह है। अगर कोई आदमी भारत को भेजे अपने मैंचेस्टरी माल पर विपत्र स्वीकारता

है, तो उसकी मीयाद दस महीने से कम की नहीं हो सकती। हमें भारत से अदायगी जब होती है, अमरीका को उसकी कपास के लिए उसके कुछ पहले अदायगी करनी पड़ी है (यह बिलकुल सही है); लेकिन फिर भी अपनी क्रियाविधि में यह अत्यंत सूक्ष्म है।" – "५१४५। अगर, जैसे पिछले साल हुआ था, हमारे निर्मित मालों के निर्यात में २०० लाख पाउंड की वृद्धि हुई है, तो उसके पहले कच्चे मालों के हमारे आयात में भी भारी वृद्धि आयी होगी" [और इस प्रकार अभी से अतिनिर्यात का अतिआयात के साथ और अत्युत्पादन का अतिव्यापार के साथ तादात्म्यीकरण किया जा रहा है], "ताकि मालों की यह वर्धित राशि बन सके? – निस्संदेह।" – "५१४६। हमें काफ़ी बड़े अतिशेष को चुकाना होगा, कहने का मतलब यह कि अतिशेष इस अवधि में निस्संदेह हमारे प्रतिकूल हो जायेगा, लेकिन समूचे तौर पर, अमरीका के साथ... विनिमय हमारे अनुकूल ही हैं और पिछले कुछ समय से हम अमरीका से बड़ी राशि में बुलियन प्राप्त करते रहे हैं।"

५१४८। विलसन महाकुसीद चैपमैन से पूछते हैं कि क्या वह अपनी ऊंची ब्याज दर को भारी समृद्धि और ऊंची लाभ दर का संकेत नहीं समझते हैं। इस जीहुज़ूरिये के भोलेपन से प्रत्यक्षतः चकित चैपमैन निस्संदेह इसकी पुष्टि करते हैं, लेकिन उनमें इतनी ईमानदारी है कि यह और जोड़ देते हैं: "कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिनके पास कोई चारा नहीं होता; उनकी वचनबद्धताएं होती हैं और फिर यह लाभदायी हो या न हो, उन्हें पूरा करना ही होता है, लेकिन" [ऊंची ब्याज दर का] "अगर सातत्य बना रहता है, तो वह समृद्धि को सूचित करेगी।" – दोनों भूल जाते हैं कि ऊंची ब्याज दर, जैसे १८५७ में वह इंगित करती थी, यह भी इंगित कर सकती है कि उन बेपरवाह ऋणबांकुरों द्वारा देश का आर्थिक तलोच्छेदन किया जा रहा है, जो ऊंचा ब्याज दे सकते हैं, क्योंकि उसे वे और लोगों के जेबों से देते हैं (लेकिन जिसके द्वारा वे सभी के लिए ब्याज दर के निर्धारण में सहायता देते हैं), और इस बीच वे प्रत्याशित लाभों पर ऐश से रहते हैं। प्रसंगतः, इसी के साथ-साथ कारखानेदारों तथा अन्यों के लिए यही अत्यंत लाभदायी धंधा सिद्ध हो सकता है। उधार पद्धति के परिणामस्वरूप प्रतिफल पूर्णतः भ्रामक हो जाते हैं। इससे निम्नांश का भी स्पष्टीकरण हो जाता है, यद्यपि जहां तक बैंक ऑफ़ इंगलैंड का संबंध है, कोई स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं होना चाहिए, क्योंकि जब ब्याज दर ऊंची होती है, तो वह अन्यों की अपेक्षा नीची दर पर बट्टागत चुकौतियां करता है।

"५१५६। मैं कह सकता हूं", चैपमैन कहते हैं, "कि इस समय, जब इतने लंबे समय से ब्याज दर ऊंची रही है, हमारा विपत्र भुनाने का काम अपने अधिकतम पर है।" [चैपमैन ने यह बात २१ जुलाई, १८५७ को, महापात के कुछ ही महीने पहले, कही थी।] – "५१५७। १८५२ में" [जब ब्याज दर नीची थी] "वह लगभग इतना अधिक नहीं था।" कारण कि तब कारबार सचमुच कहीं अधिक सुस्थिर था।

"५१५९। अगर बाजार में मुद्रा की भारी बाढ़ आ जाती... और बैंक दर नीची होती, तो विपत्र हमारे पास कम हो जाते।... १८५२ में बात बिलकुल दूसरी थी। देश का आयात-निर्यात आज के मुक़ाबले कुछ भी न था।" – "५१६१। इस ऊंची बट्टा दर के अंतर्गत हमारा कारबार उतना ही बड़ा है, जितना वह १८५४ में था।" [जब ब्याज दर ५ और ५१/२% के बीच थी।]

चैपमैन के साक्ष्य का एक बहुत ही मजेदार अंश यह दिखलाता है कि किस तरह ये लोग जनता के धन को वास्तव में अपना ही समझते हैं और अपने

द्वारा भुनाये जानेवाले विपत्रों को द्रव्य में लगातार परिवर्तित करने को अपना अधिकार मान लेते हैं। प्रश्न और उत्तर बड़े भोलेपन का प्रदर्शन करते हैं। बड़ी फ़र्मों द्वारा सकारे विपत्रों को सदा द्रव्य में परिवर्तनीय बनाना और यह सुनिश्चित करना विधान का कर्तव्य बन जाता है कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड को उन्हें सभी परिस्थितियों में हुंडी दलालों के लिए चुकता करते रहना चाहिए। और तिस पर भी १८५७ में तीन ऐसे दलाल दिवालिये हुए, जिन पर लगभग ८० लाख की देनदारियां थीं और इन क़र्ज़ों की तुलना में ख़ुद उनकी पूंजी नहीं के ही बराबर थी। – "५१७७। क्या आपका आशय यह है कि इन्हें" [अर्थात बेरिंगों अथवा लॉयडों द्वारा सकारे विपत्रों को] "उसी प्रकार अनिवार्यतः शोधनीय होना चाहिए कि जिस प्रकार बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोट इस समय सोने से अनिवार्यतः विनिमेय हैं? – मेरे ख़याल में यह बहुत ही खेद-जनक होगा कि वे भुनाये न जा सकें ; यह बहुत ही असाधारण स्थिति होगी कि कोई आदमी, जिसके हाथों में स्मिथ, पेन एंड कंपनी या जोन्स, लॉयड एंड कंपनी के सकारे हुए विपत्र हों, सिर्फ़ इस कारण भुगतान करना बंद कर दे कि वह उन्हें भुनवा नहीं सका है।" – "५१७८। क्या मैसर्ज़ बेरिंग की वचनबद्धता विपत्र के देय होने पर एक ख़ास द्रव्य राशि अदा करने की वचनबद्धता नहीं है? – यह बिलकुल सही है ; लेकिन जब मैसर्ज़ बेरिंग यह वचनबद्धता ग्रहण करते हैं और हर व्यापारी, जो किसी वचनबद्धता को ग्रहण करता है, उन्हें इसका ख़याल तक नहीं होता कि उन्हें उसकी अदायगी सावरिनों में करनी होगी ; वे यही सोचते हैं कि वे उसकी अदायगी समाशोधन गृह में करेंगे।" – "५१८०। क्या आपकी राय में कोई ऐसी व्यवस्था निकाली जानी चाहिए, जिसके द्वारा लोगों को विपत्र के देय होने के पहले इस तरह से द्रव्य पाने का अधिकार प्राप्त हो जाये कि कोई और उसे चुकता करे? – नहीं, सकारनेवाले से नहीं ; लेकिन अगर इससे आपका आशय यह हो कि हमारे पास वाणिज्यिक विपत्रों को चुकता करवाने की संभावना न रहे, तो हमें सारी व्यवस्था को ही बदल देना चाहिए।" – "५१८२। तो आपका विचार है कि उसे" [वाणिज्यिक विपत्र को] "बिलकुल उसी तरह से द्रव्य में परिवर्तनीय होना चाहिए कि जिस तरह से बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोट को सोने में परिवर्तनीय होना चाहिए? – निश्चय ही, कुछेक परिस्थितियों में ऐसा ही होना चाहिए।" – "५१८४। तो आपका ख़याल है कि मुद्रा संचलन को इस तरह से व्यवस्थित किया जाना चाहिए कि पूर्णतः विश्वसनीय विपत्र को हमेशा ही बिलकुल बैंक नोट की तरह ही तुरंत द्रव्य में विनिमेय होना चाहिए? – मेरा यही ख़याल है।" – "५१८५। क्या आपका आशय यह है कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड या किसी भी व्यक्ति के लिए उसका विनिमय करना क़ानून द्वारा अनिवार्य होना चाहिए? – मेरे कहने का आशय यह है कि मुद्रा संचलन के लिए विधेयक बनाते समय हमें इसकी व्यवस्था करनी चाहिए कि देश के विपत्रों की – अगर वे निस्संदिग्ध रूप में ठोस और विधिसंगत हैं – अपरिवर्तनीयता की संभावना न उत्पन्न होने पाये।" – यह बैंक नोटों की परिवर्तनीयता की तुलना में वाणिज्यिक विपत्र की परिवर्तनीयता है।

"५१९०। देश के मुद्रा व्यापारी ही यथार्थतः जनता का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।" जैसे बाद में डेविसन मुक़दमे में श्री चैपमैन ने अभिसत्र न्यायालय (court of assizes) में किया था। देखिये *Great City Frauds.**

---

* S. Laing, *New Series of the Great City Frauds of Cole, Davison, and Cordon*, London. – सं०

"५१६६। हर तिमाही" [जब लाभांश अदा किये जाते हैं] "यह ... एकदम अनिवार्य है कि हम बैंक ऑफ़ इंगलैंड जायें। जब आप लाभांशों की प्रत्याशा में संचलन से राजस्व के ६० या ७० लाख पाउंड निकाल लेते हैं, तो बीच की अवधि में उसकी पूर्ति करने का किसी को तो माध्यम होना ही चाहिए।" – [तो इस प्रसंग में सवाल द्रव्य की पूर्ति का है, न कि पूंजी या उधार पूंजी का।]

"५१६६। हमारे वाणिज्यिक जगत से परिचित हर व्यक्ति जानता है कि जब हम ऐसी स्थिति में होते हैं कि हम राजकोष विपत्रों (Exchequer bills) को बेचना असंभव पाते हैं, जब ईस्ट इंडिया कंपनी के बांड पूर्णतः निष्प्रयोजन होते हैं, जब वरिष्ठ वाणिज्यिक विपत्रों को भी चुकता नहीं किया जा सकता है, तब उन लोगों को बहुत चिंता होती होगी, जिनका व्यवसाय उन्हें मांग पर देश के संचलनशील माध्यम को अदा करने का देनदार बना देता है, और ऐसा सभी बैंकरों के साथ होता है। तब इसका असर यह होता है कि हर कोई अपनी आरक्षित निधि को दुगुना कर लेता है। ख़ुद ही देख लीजिये कि अगर हर प्रादेशिक बैंकर को, जिनकी संख्या ५०० के लगभग है, अपने लंदन अभिकर्ता को उसे बैंक नोटों में ५,००० पाउंड प्रेषित करने के लिए कहना हो, तो देश भर में इसका क्या परिणाम पड़ता है। इस छोटी सी रक़म को भी औसत मान लिया जाये, जो बिलकुल बेतुकी ही है, तो संचलन से निकाली रक़म २५,००,००० पाउंड बन जाती है। इसकी पूर्ति क्योंकर की जायेगी?"

दूसरी ओर, निजी पूंजीपति, आदि जिनके पास द्रव्य है, वे उसे किसी भी सूद पर नहीं देते, क्योंकि चैपमैन के ढब पर वे भी कहते हैं: "५१९५। यह शक रहने के बजाय कि जरूरत पड़ने पर हमें द्रव्य मिल सकेगा या नहीं, हमारे लिए यह बेहतर है कि हमें ब्याज बिलकुल भी न मिले।"

"५१७३। हमारी प्रणाली यह है: हम पर ३०,००,००,००० पाउंड की देनदारियां हैं, जिन्हें हमें किसी एक ही निमिष में देश की मुद्रा में अदा करना पड़ सकता है, और देश की मुद्रा राशि, अगर उस सारी को ही बदले में इस्तेमाल किया जाये, २,३०,००,००० पाउंड, या जितनी भी हो, है; तो क्या यह ऐसी अवस्था नहीं है कि जो किसी भी क्षण हमारे यहां उथल-पुथल मचा सकती है?" यही संकटों के समय उधार पद्धति के मुद्रा पद्धति में आकस्मिक परिवर्तन का कारण है।

संकटों के समय देश में आंतरिक संत्रास को छोड़कर द्रव्य के परिमाण की बात सिर्फ़ वहीं तक की जा सकती है कि जहां तक वह बुलियन की, सार्विक द्रव्य की बात होती है। और चैपमैन ठीक इसी को छोड़ देते हैं; वह सिर्फ़ **बैंक नोटों** में २३० लाख की ही बात करते हैं।

यही चैपमैन कहते हैं: "५२१८। मुद्रा बाजार में अव्यवस्था" [१८४७ के अप्रैल और बाद में अक्तूबर में] "का मुख्य कारण निस्संदेह उस साल के असाधारण आयातों के परिणामस्वरूप हमें अपने विनिमयों का नियमन करने के लिए आवश्यक द्रव्य के परिमाण में ही निहित था।"

एक तो विश्व बाजार द्रव्य की यह आरक्षित निधि उस समय घटकर अपने न्यूनतम स्तर पर आ चुकी थी। दूसरे, वह साथ ही साख द्रव्य, बैंक नोटों की परिवर्तनीयता के लिए प्रतिभति का काम भी दे रही थी। इस प्रकार उसमें दो सर्वथा भिन्न कार्यों का संयोग था, किंतु ये दोनों कार्य द्रव्य की प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वास्तविक द्रव्य सदा विश्व बाजार द्रव्य होता है और साख द्रव्य हमेशा विश्व बाजार द्रव्य पर आधारित होता है।

१८४७ में १८४४ के बैंक अधिनियम के निलंबन के बिना "समाशोधन गृहों का निपटारा नहीं हो सका होता।" (५२२१।)

फिर भी चैपमैन को आसन्न संकट का आभास अवश्य था : "५२३६। मुद्रा बाज़ार की कुछेक अवस्थाएं ऐसी होती हैं (और वर्तमान अवस्था उससे कोई बहुत भिन्न नहीं है), जब द्रव्य बहुत ही दुष्प्राप्य होता है और बैंक का सहारा लेना ही पड़ता है।"

"५२३६। जहां तक उन रक़मों की बात है, जो हमने शुक्रवार, शनिवार और सोमवार, १६, २० और २२ अक्तूबर, १८४७ को बैंक से ली थीं, विपत्रों को अगले बुधवार को वापस पाकर हम अत्यधिक आभारी ही हुए होते; दहशत के ख़त्म होने के साथ द्रव्य हमारे पास फिर आने लगा था।" – मंगलवार, २३ अक्तूबर को बैंक अधिनियम निलंबित कर दिया गया था और इस प्रकार संकट को समाप्त कर दिया गया था।

चैपमैन का विचार है (५२७४) कि लंदन पर एकसाथ आनेवाले विपत्रों की रक़म १० या १२ करोड़ पाउंड होती है। इसमें प्रादेशिक फ़र्मों पर बने स्थानीय विपत्र शामिल नहीं हैं।

"५२८७। हालांकि अक्तूबर, १८५६ में लोगों के हाथों में २,११,५५,००० पाउंड की रक़म के नोट थे, फिर भी द्रव्य प्राप्त करने में असाधारण कठिनाई थी; लोगों के हाथों में इतना द्रव्य होने के बावजूद हम उसे छू भी नहीं पाते थे।" – यह उस अधिसंकुचन से जनित भय के कारण था, जिससे ईस्टर्न बैंक कुछ समय के लिए (मार्च, १८५६) ग्रस्त हो गया था।

५२६०-६२। जैसे ही संत्रास समाप्त होता है कि "ब्याज से अपने लाभ प्राप्त करनेवाले सभी बैंकर तुरंत द्रव्य को नियोजित करने लग जाते हैं"।

५३०२। बैंक आरक्षित निधि के घट जाने पर जो आकुलता फैली होती है, चैपमैन उसका कारण जमाओं के बारे में आशंका नहीं, बल्कि इसके विपरीत यह बताते हैं कि वे सभी लोग, जिन्हें अचानक बड़ी-बड़ी रक़में देने के लिए विवश होना पड़ सकता है, इस बात को भली भांति जानते हैं कि जब मुद्रा बाज़ार में दुर्लभता होती है, तब उन्हें अपना अंतिम सहारा बैंक में ही पाने के लिए मजबूर होना पड़ सकता है; और "अगर बैंकों के पास बहुत कम आरक्षित निधि है, तो हमारे आने से उन्हें कोई ख़ुशी नहीं होती है, बल्कि इसका उलटा ही होता है।"

प्रसंगतः, यह देखना बड़ा दिलचस्प है कि वास्तविक परिमाण के नाते आरक्षित निधि किस प्रकार घटती जाती है। चालू व्यावसायिक आवश्यकताओं के लिए बैंकर अपने हाथों में या बैंक ऑफ़ इंगलैंड में एक न्यूनतम आरक्षित निधि रखते हैं। हुंडी दलाल बिना किसी आरक्षित निधि के "देश की अबद्ध बैंक मुद्रा" को क़ब्ज़े में रखते हैं। और बैंक ऑफ़ इंगलैंड के पास जमाओं के लिए अपनी देनदारियों का प्रतिकरण करने के लिए कुछ सार्वजनिक जमाओं, आदि सहित बैंकरों तथा अन्यों की आरक्षित निधियों के सिवा और कुछ नहीं होता, जिसे वह बहुत नीचे स्तर तक, मिसाल के लिए, २० लाख पाउंड तक गिर जाने देता है। इस प्रकार, काग़ज़ में इन २० लाख पाउंड को छोड़कर इस सारे प्रपंच के पास बुलियन आरक्षित निधि के सिवा दुर्लभता के समय (जो आरक्षित निधि को और घटाता है, क्योंकि बहिर्गामी बुलियन की जगह लेने के लिए आनेवाले नोटों को रद्द करना होता है) और कोई आरक्षित निधि नहीं होती, और इस प्रकार स्वर्ण अपवाह द्वारा इस आरक्षित निधि का प्रत्येक ह्रास संकट को बढ़ाता है।

"५३०६। अगर लेन-देनों का निपटारा करने के लिए समाशोधन गृह में मुद्रा न हो,

तो मेरी नज़र में एकमात्र दूसरा विकल्प आपस में मिलना और अपनी अदायगियां वरिष्ठ विपत्रों में, राजकोष विपत्रों और मेसर्ज़ स्मिथ, पेन एंड कंपनी, आदि के नाम विपत्रों में करना ही होगा।" – "५३०७। अतः यदि सरकार आपको संचलनशील माध्यम न प्रदान कर पाये, तो उसे आप स्वयं पैदा कर लेंगे? – हम कर ही क्या सकते हैं? लोग आते हैं और संचलनशील माध्यम हमारे हाथों से ले जाते हैं; वह रहता ही नहीं।" – "५३०८। तो आप लंदन में बस वही करते होंगे, जो मैंचेस्टर में हफ़्ते में हर दिन किया जाता है? – हां।"

कैली (एटवुड धारा के एक बरमिंघमवासी) द्वारा प्रस्तुत ओवरस्टोन की पूंजी की धारणा के बारे में प्रश्न का चैपमैन का उत्तर विशेषकर सयानेपन का है: "५३१५। इस समिति के सामने कहा गया है कि १८४७ जैसे दबाव के समय लोग द्रव्य नहीं, पूंजी को खोजते हैं। आपकी इसके बारे में क्या राय है? – मैं प्रश्न समझा नहीं; हम केवल द्रव्य में ही कारबार करते हैं; मैं समझा नहीं कि आपका इससे क्या आशय है।" – "५३१६। अगर उससे [वाणिज्यिक पूंजी से] आपका आशय आदमी की अपने व्यवसाय में जो स्वयं अपनी पूंजी होती है, उससे है, अगर आप उसे पूंजी कहते हैं, तो अधिकांश मामलों में वह उस द्रव्य का बहुत छोटा अंश ही होती है, जिसका वह अपने कारबार में उस उधार के ज़रिये प्रयोग करता है, जो उसे लोगों द्वारा दिया जाता है" – अर्थात चैपमैनों की मध्यस्थता के ज़रिये।

"५३३९। क्या यह संपत्ति की चाह के कारण है कि हम अपनी नक़द अदायगियां करना बंद कर देते हैं? – हरगिज़ नहीं।... बात यह नहीं है कि हम संपत्ति चाहते हैं, बल्कि बात यह है कि हम अत्यधिक कृत्रिम व्यवस्था में चल रहे हैं; अगर हमारे यहां हमारी मुद्रा पर अतिशय उपरिस्थ मांग हो, तो ऐसी परिस्थितियां पैदा हो सकती हैं कि जिनके कारण हम इस मुद्रा को प्राप्त न कर पायें। क्या देश का सारा वाणिज्यिक कारबार ठप हो जाये? क्या हम नियोजन के सभी रास्तों को बंद कर दें?" – "५३३८। अगर यह सवाल पैदा होता है कि नक़द अदायगियों को बनाये रखा जाये या देश के उद्योग को क़ायम रखा जाये, तो मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि मैं किसे त्याग दूंगा।"

"दबाव को बढ़ाने और परिणामों का लाभ उठाने की दृष्टि से" बैंक नोटों की जमाख़ोरी के बारे में वह कहते हैं [५३५८] कि यह बहुत आसानी से हो सकता है। इसके लिए तीन बड़े बैंक काफ़ी होंगे। "५३८३। क्या इस महानगरी के बड़े-बड़े लेन-देनों से सुपरिचित व्यक्ति के नाते आपको यह मालूम नहीं है कि पूंजीपति इन संकटों का इसके लिए उपयोग करते हैं कि उनका शिकार हुए लोगों के विनाश से भारी मुनाफ़े बना सकें? – इसके बारे में कोई शक नहीं हो सकता।" – और इस विषय में हम श्री चैपमैन पर पूरी तरह से विश्वास कर सकते हैं, चाहे अंत में, वाणिज्यिक अर्थों में, स्वयं अपनी गरदन उन्होंने "शिकार हुए लोगों के विनाश से भारी मुनाफ़े" बनाने के प्रयास में ही तोड़ी। कारण कि जहां उनके सहयोगी गर्नी कहते हैं: व्यवसाय में हर परिवर्तन जानकार के लिए लाभदायी होता है, वहां चैपमैन कहते हैं: "समाज का एक हिस्सा दूसरे के बारे में कुछ भी नहीं जानता है; मसलन, एक कारख़ानेदार है, जो महाद्वीप को निर्यात और वहां से अपनी कच्ची सामग्री का आयात करता है और वह उस आदमी के बारे में कुछ नहीं जानता जो बुलियन का कारबार करता है।" (५०४६।) – और इस तरह एक दिन हुआ यह कि स्वयं गर्नी तथा चैपमैन "जानकार नहीं थे" और कुख्यात दिवालिये हो गये।

हम पहले देख चुके हैं कि नोट निर्गम सभी मामलों में पूंजी के अग्रसारण को नहीं द्योतित

करता है। लॉर्ड सभा की वाणिज्यिक संकट समिति (*C. D.*, 1848) के सम्मुख टूक का निम्न साक्ष्य केवल यही दिखलाता है कि बैंक द्वारा नये नोटों के निर्गम की सहायता से संपन्न किये जाने पर भी पूंजी का अग्रसारण संचलनशील नोटों की संख्या में वृद्धि को बिलाशर्त नहीं द्योतित करता है :

"३०९९। क्या आप सोचते हैं कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड, मिसाल के लिए, अपने अग्रसारण को काफ़ी बढ़ा सकता है और फिर भी उसके कारण नोटों का कोई अतिरिक्त निर्गम न हो? – इसे सिद्ध करने के लिए कितने ही तथ्य हैं; एक अत्यंत सुस्पष्ट उदाहरण १८३५ में था, जब बैंक ने लोगों को विस्तारित अग्रसारणों के लिए वैस्ट इंडिया जमाओं का और ईस्ट इंडिया कंपनी से ऋण का उपयोग किया था। उस समय लोगों के हाथों में नोटों का परिमाण वस्तुतः घटा ही था। लगभग ऐसी ही असंगति १८४६ में रेल जमाओं के बैंक में दिये जाने के समय भी देखी जाती है; प्रतिभूतियां [बट्टे और जमाओं में] बढ़कर ३०० लाख के लगभग हो गयी थीं, जबकि लोगों के हाथों में नोटों के परिमाण पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा था।"

बैंक नोटों के अलावा थोक व्यापार का एक और संचलन माध्यम भी है, जो उसके लिए कहीं अधिक महत्वपूर्ण है – विनिमय पत्र या हुंडियां। श्री चैपमैन ने हमें दिखलाया था कि व्यवसाय के नियमित प्रवाह के लिए अच्छी हुंडियों को सभी जगह और सभी अवस्थाओं में भुगतान में स्वीकार किया जाना कितना आवश्यक है। "Gilt nicht mehr der Tausves Jontof, was soll gelten, Zeter, Zeter!"* भला ये दोनों संचलन माध्यम आपस में किस प्रकार संबंधित हैं?

इस विषय में गिलबर्ट लिखते हैं: "...नोट संचलन के परिमाण का न्यूनीकरण विपत्र संचलन के परिमाण को समरूपेण बढ़ाता है। ये विपत्र दो तरह के होते हैं – वाणिज्यिक हुंडियां और बैंक विपत्र... जब द्रव्य दुर्लभ हो जाता है, तो साहूकार कहते हैं, 'हमारे नाम हुंडी कर दीजिये और हम उसे सकार लेंगे। और जब कोई प्रादेशिक बैंकर अपने ग्राहक की हुंडी को चुकता करता है, तो वह उसे नक़द देने के बजाय अपने लंदन अभिकर्ता के नाम अपना इक्कीस दिन का ड्राफ़्ट दे देगा। ये विपत्र मुद्रा का काम देते हैं।" (J. W. Gilbart, *An Inquiry into the Causes of the Pressure*, etc., p. 31.)

कुछ बदले रूप में न्यूमार्च भी इसकी पुष्टि करते हैं (*B. A.*, 1857, क्रमांक १४२६) :

"विपत्र संचलन के परिमाण में विचरणों और बैंक नोट संचलन में विचरणों के बीच कोई संबंध नहीं है... एकमात्र ख़ासा सतत परिणाम यह है... कि जब भी मुद्रा बाजार पर तनिक भी दबाव आता है, जो बट्टा दर में चढ़ाव से सूचित होता है, तब ही विपत्र संचलन का परिमाण बहुत अधिक बढ़ जाता है, तथा तत्प्रतिक्रमात।"

---

*ये पंक्तियां जर्मन कवि हाइने की व्यंग्यरचना 'शास्त्रार्थ' से हैं। कैथोलिक मठवासी और यहूदी धर्मगुरु (रब्बी) के बीच शास्त्रार्थ में रब्बी धार्मिक-वैचारिक ग्रंथ 'ताउसफ़ज-योंतफ़' को उद्धृत करता है, तो जवाब में मठवासी 'ताउसफ़ज-योंतफ़' को शैतान के हवाले कर देता है। इस पर रब्बी ग़ुस्से में भरकर कहता है :

"अरे नीच परनिंदक!
ताउसफ़ज़-योंतफ़ भी अगर कुछ नहीं है,
तो फिर भला और क्या है?" – सं०

लेकिन ऐसे वक्तों में किये जानेवाले विनिमय पत्र किसी भी प्रकार गिलबर्ट द्वारा उल्लिखित अल्पावधि बैंक विपत्र ही नहीं होते। इसके विपरीत वे अधिकांशतः निभाव पत्र होते हैं, जो या तो वास्तविक लेन-देनों को बिलकुल भी प्रकट नहीं करते, या सिर्फ़ उनकी बिना पर हुंडी करने के उद्देश्य से किये गये लेन-देनों को ही व्यक्त करते हैं; हम दोनों ही के काफ़ी उदाहरण दे चुके हैं। अतः ऐसे विपत्रों की प्रतिभूति की बैंक नोटों की प्रतिभूति से तुलना करते हुए *Economist* (विलसन) कहता है: "मांग देय नोटों को कभी आधिक्य में बाहर नहीं रखा जा सकता, क्योंकि आधिक्य भुगतान के लिए सदा बैंक लौट आयेगा, जबकि दो महीने की मीयाद के विपत्र काफ़ी आधिक्य में जारी किये जा सकते हैं, क्योंकि उनके भुगतान तिथि पर पहुंचने के पहले उनके निर्गम की जांच-पड़ताल करने का कोई साधन नहीं है, जब उनकी अन्य विपत्रों द्वारा प्रतिस्थापना की जा चुकी हो सकती है। कैसे लोग केवल एक सुदूर तिथि पर देय विपत्रों के संचलन को तो निरापद मानते हैं, और मांग पर देय काग़ज़ के संचलन की निरापदता को अस्वीकार करते हैं, यह हमारे लिए सर्वथा अबोधगम्य है।" (*Economist*, May 22, 1847, p. 575.)

इसलिए संचलनशील विनिमय पत्रों की संख्या का, बैंक नोटों की संख्या की ही भांति, निर्धारण केवल वाणिज्य की आवश्यकताओं द्वारा ही किया जाता है; छठे दशक में ग्रेट ब्रिटेन में सामान्य दिनों में बैंक नोटों में ३.६ करोड़ पाउंड के अलावा विनिमय पत्रों में लगभग ३० करोड़ पाउंड संचलन में थे, जिनमें से १०-१२ करोड़ के सिर्फ़ लंदन के ही थे। संचलनशील विनिमय पत्रों के परिमाण का नोट संचलन पर कोई प्रभाव नहीं होता और वह नोट संचलन से सिर्फ़ तंगी के समय ही प्रभावित होता है, जब विपत्रों की संख्या बढ़ जाती है और कोटि गिर जाती है। अंततः, संकट के समय विपत्रों का संचलन पूर्णतः ध्वस्त हो जाता है; भुगतान करने के वचन का कोई भी उपयोग नहीं कर सकता, क्योंकि हर कोई सिर्फ़ नक़द अदायगी ही स्वीकार करेगा; सिर्फ़ बैंक नोट ही, कम से कम अभी तक इंगलैंड में, संचलन करने की अपनी क्षमता बनाये रखता है, क्योंकि राष्ट्र अपनी कुल संपदा से बैंक ऑफ़ इंगलैंड को सहारा दिये रहता है।

हम देख चुके हैं कि श्री चैपमैन तक, जो १८५७ में आख़िर ख़ुद मुद्रा बाजार में एक हस्ती थे, लंदन में कई ऐसे बड़े और इतनी क्षमता रखनेवाले द्रव्य पूंजीपतियों के होने की कटुतापूर्वक शिकायत करते हैं कि जो किसी भी क्षण सारे मुद्रा बाजार की हलचल को विच्छिन्न कर सकते हैं और इस प्रकार छोटे मुद्रा व्यापारियों को कंगाल कर सकते हैं। उन्होंने कहा था कि ऐसे अनेक बड़े मगरमच्छ हैं, जो दस-बीस लाख के कंसोल (बेमीयादी बांड) बेचकर और उसके द्वारा बाजार से समान परिमाण के बैंक नोटों (और साथ ही उपलभ्य उधार पूंजी) को निकालकर दुर्लभता को काफ़ी प्रखर कर सकते हैं। तीन बड़े बैंकों की संयुक्त कार्रवाई ऐसी ही तिकड़म से दुर्लभता को दहशत में परिणत करने को काफ़ी होगी।

लंदन में सबसे बड़ी पूंजी शक्ति निस्संदेह बैंक ऑफ़ इंगलैंड ही है, किंतु अपनी अर्ध-सरकारी संस्था की हैसियत के कारण वह अपना प्रभुत्व इतने बर्बर ढंग से नहीं दिखला सकता है। लेकिन फिर भी अपनी तिजोरियां भरने के उपायों और साधनों के बारे में वह काफ़ी कुछ जानता है, विशेषकर १८४४ के बैंक अधिनियम के बनने के बाद से।

बैंक ऑफ़ इंगलैंड की पूंजी १,४५,५३,००० पाउंड है, और इसके अलावा कोई ३० लाख पाउंड "प्रतिशेष", अर्थात अवितरित लाभ और सरकार द्वारा संगृहीत करों, आदि का सारा द्रव्य भी, जिसे जब तक जरूरत न पड़े बैंक के पास जमा रहना चाहिए, उसके अधिकार में है। इसमें अगर हम अन्य जमाओं की राशि को, जो आम वक़्तों में ३०० लाख पाउंड के क़रीब होती है, और आरक्षित निधि के समर्थन के बिना निर्गमित नोटों को और जोड़ दें, तो हम पायेंगे कि न्यूमार्च का अनुमान तब ख़ासा परिमित है, जब वह कहते हैं (*B. A.*, 1857, क्रमांक १८८६) : "मैंने अपने को क़ायल कर लिया है कि" [लंदन] "मुद्रा बाज़ार में निरंतर नियोजनाधीन निधियों की राशि १२,००,००,००० पाउंड के लगभग मानी जा सकती है; और इस १२,००,००,००० पाउंड का काफ़ी बड़ा भाग, कोई १५ या २० प्रतिशत, बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नियंत्रण में रहता है।"

जहां तक बैंक ऑफ़ इंगलैंड ऐसे नोट जारी करता है, जो उसकी तिजोरियों में बुलियन आरक्षित निधि द्वारा प्रत्याभूत नहीं होते, वह मूल्य प्रतीक सर्जता है, जो उसके लिए केवल संचलनशील माध्यम ही नहीं, बल्कि इन अप्रत्याभूत नोटों की नामिक राशि के बराबर अतिरिक्त – चाहे आभासी ही सही – पूंजी भी होते हैं। और यह अतिरिक्त पूंजी अतिरिक्त लाभ उत्पन्न करती है। *B. A.*, 1857 में विलसन न्यूमार्च से पूछते हैं : "१५६३। बैंकर का संचलन, अर्थात बैंक के बाहर उसके नोटों की औसत राशि, उस बैंकर की प्रभावी पूंजी में अभिवृद्धि है, है न? – निस्संदेह है।" – "१५६४। तो इस संचलन से वह जो भी लाभ प्राप्त करता है, वह साख से प्राप्त लाभ है, न कि उसके पास वास्तव में जो पूंजी है, उससे प्राप्त लाभ? – बिलकुल ऐसा ही है।"

नोट जारी करनेवाले निजी बैंकों के बारे में भी निस्संदेह यही बात सही है। अपने क्रमांक १८६६ से १८६८ के उत्तरों में न्यूमार्च बैंकों द्वारा निर्गमित सभी नोटों के दो-तिहाई (उनके शेष तिहाई का इन बैंकों में बुलियन आरक्षित निधि द्वारा प्रत्याभूत होना अनिवार्य है) को "इतनी ही पूंजी का सर्जन" जैसा मानते हैं, क्योंकि इतनी रक़म के सिक्कों की बचत हो जाती है। हो सकता है कि इसके परिणामस्वरूप बैंकर का लाभ अन्य पूंजीपतियों के लाभ से अधिक न हो। तथापि तथ्य यही है कि वह लाभ सिक्के की इस राष्ट्रीय बचत से ही बनाता है। यह तथ्य कि राष्ट्रीय बचत एक निजी लाभ बन जाता है, बूर्जुआ अर्थशास्त्रियों को तनिक भी चकित नहीं करता, क्योंकि लाभ सामान्यतया राष्ट्रीय श्रम का हस्तगतकरण ही होता है। उदाहरण के लिए, क्या इससे भी अधिक कोई बेतुकी बात हो सकती है कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड (१७९७ से १८१७), जिसके नोटों की केवल राज्य की बदौलत ही साख है, राज्य द्वारा उसे प्रदत्त इन्हीं नोटों को कागज से द्रव्य में रूपांतरित करने और फिर उसे राज्य को वापस उधार देने की शक्ति के बूते पर ही राज्य से, अर्थात जनता से सरकारी ऋणों पर ब्याज के रूप में रक़में ले?

प्रसंगत:, बैंकों के पास पूंजी बनाने के और भी साधन हैं। न्यूमार्च के ही अनुसार बैंक अपनी अतिरिक्त निधियां (अर्थात बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोट) बट्टागत विपत्रों के बदले लंदन के हुंडी दलालों को भेज देते हैं। इन विपत्रों का बैंक ऑफ़ इंगलैंड अपने ग्राहकों के सेवार्थ उपयोग करता है, क्योंकि वह इस नियम पर चलता है कि अपने ग्राहकों से प्राप्त विपत्रों को पुन: जारी न करे, ताकि उनके व्यावसायिक लेन-देन अपने ही इलाक़े में प्रकट न होने पायें। लंदन से प्राप्त ये विपत्र न सिर्फ़ उस हालत में लंदन में सीधी अदायगियां करनेवाले ग्राहकों

को जारी किये जाने के काम आ जाते हैं कि जब वे लंदन के लिए स्वयं बैंक ऑफ़ इंगलैंड के ड्राफ़्ट नहीं लेना चाहते, बल्कि वे अपने ही यहां भुगतानों का निपटारा करने का भी काम देते हैं, क्योंकि बैंकर के पृष्ठांकन की बदौलत उन्हें स्थानीय साख प्राप्त हो जाती है। मिसाल के लिए, इस प्रकार लंकाशायर में ऐसे विपत्रों ने स्थानीय बैंकों के सभी नोटों को और बैंक ऑफ़ इंगलैंड के नोटों के काफ़ी बड़े हिस्से को संचलन के बाहर धकेल दिया है। (वही, १५६८ से १५७४।)

इस प्रकार हम देखते हैं कि बैंक किस तरह से साख तथा पूंजी का सर्जन करते हैं: १) स्वयं अपने नोट जारी करके, २) लंदन के लिए २१ दिन तक की मीयाद के ड्राफ़्ट बनाकर, मगर जिनकी उन्हें जारी किये जाने के साथ नक़द अदायगी हो जाती है, और ३) बट्टागत विपत्रों की अदायगी करके, जिन्हें – कम से कम जहां तक उसी इलाक़े की बात होती है – मुख्यत: और अनिवार्यत: बैंक के ज़रिये पृष्ठांकन द्वारा ही शोधनक्षमता प्राप्त होती है।

बैंक ऑफ़ इंगलैंड की शक्ति उसके बाज़ार ब्याज दर के नियमन से प्रकट होती है। सामान्य कारबार के समय हो सकता है कि बैंक बट्टा दर को चढ़ाकर अपनी बुलियन निधि से सोने के मामूली अपवाह को न रोक पाये,[12] क्योंकि भुगतान साधनों की मांग निजी बैंकों, स्टाक बैंकों और हुंडी दलालों द्वारा तुष्ट कर दी जाती है, जिनकी पूंजी शक्ति गत तीस वर्षों में काफ़ी बढ़ गयी है। ऐसे मामले में बैंक ऑफ़ इंगलैंड को अन्य साधन अपनाने होंगे। लेकिन फिर भी संकट के दौरों के लिए बैंकर ग्लिन (ग्लिन, मिल्स, करी एंड कंपनी के) का *C. D.*, 1848/57 के सामने बयान ही लागू होता है: – "१७०६। देश पर भारी दबाव की परिस्थितियों में बैंक ऑफ़ इंगलैंड ही ब्याज दर को शासित करता है।" – "१७१०। असाधारण दबाव के समय... जब भी निजी बैंकों अथवा दलालों का बट्टे का काम अपेक्षाकृत सीमित हो जाता है, वे बैंक ऑफ़ इंगलैंड का ही सहारा लेते हैं और तब बाजार दर को शासित करने की शक्ति बैंक ऑफ़ इंगलैंड के ही पास होती है।"

तथापि शासकीय संरक्षण के अधीन सार्वजनिक संस्था होने और उसके अनुरूप विशेषाधिकारों का उपभोग करने के कारण बैंक ऑफ़ इंगलैंड अपनी शक्ति का वैसी ही निष्ठुरता के साथ उपयोग नहीं कर सकता कि जैसे निजी व्यवसाय करता है। इसी कारण हब्बर्ड बैंक समिति के सामने यह मत प्रकट करते हैं (*B. A.*, 1857): "२८४४। [प्रश्न:] क्या ऐसा नहीं है कि जब बट्टा दर उच्चतम होती है, तब द्रव्य पाने के लिए सबसे सस्ती जगह बैंक ऑफ़ इंगलैंड ही है

---

[12] १७ जनवरी, १८६४ को यूनियन बैंक ऑफ़ लंदन के अंशधारियों की आम सभा में अध्यक्ष रिची बताते हैं कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड ने १८६३ में बट्टा जुलाई में २ १/२% से बढ़ाकर अगस्त में ३% और ४% कर दिया और क्योंकि इसके बावजूद उसने चार सप्ताह के भीतर सोने में पूरे ४५ लाख पाउंड गंवाये, इसलिए उसने बैंक दर को बढ़ाकर ५% कर दिया, जिसके बाद सोना उसके पास वापस आने लगा और बैंक दर घटाकर सितंबर में ४% और फिर अक्तूबर में ३% कर दी गयी। लेकिन यह बैंक दर बाजार में मान्य नहीं थी। "जब बैंक दर ५% थी, बट्टा दर ३ १/२% और ब्याज दर २ १/२% थी; जब बैंक दर गिरकर ४% हो गयी, तब बट्टा दर २ ३/८% और ब्याज दर १ ३/४% थी; जब बैंक दर ३% थी, तब बट्टा दर गिरकर १ १/२% हो गयी थी और ब्याज दर उसके कुछ नीचे पहुंच गयी थी।" (*Daily News*, January 18, 1894.) – फ़्रे॰ एं॰

और जब वह निम्नतम होती है, तब उसके लिए हुंडी दलाल सबसे सस्ते रहते हैं? –[हब्बर्ड:] हमेशा ऐसा ही रहेगा, क्योंकि बैंक ऑफ़ इंगलैंड अपनी दर को कभी उस हद तक नहीं गिराता, जहां तक उसके प्रतिद्वंद्वी गिरा देते हैं, और जब उसकी दर उच्चतम होती है, तब भी वह कभी उनकी दर की तरह ऊंची नहीं होती।"

लेकिन फिर भी अगर अभाव के समय बैंक ऑफ़ इंगलैंड, जैसा कि कहते हैं, पेंच कस देता है, अर्थात अगर वह पहले से ही औसत स्तर से ऊंची ब्याज दर को और चढ़ा देता है, तो व्यवसाय जगत में यह एक गंभीर घटना होती है। "जैसे ही बैंक ऑफ़ इंगलैंड पेंच कसता है कि विदेशों को निर्यात के लिए सारी ख़रीदारियां तुरंत बंद हो जाती हैं... निर्यातक दामों के मंदी के निम्नतम बिंदु पर पहुंचने तक ठहरते हैं और केवल तब, उसके पहले नहीं, जाकर ही वे अपनी ख़रीदारियां करते हैं। लेकिन जब यह बिंदु आता है, तब तक विनिमयों को समंजित किया जा चुका होता है–मंदी के निम्नतम बिंदु के आने के पहले ही सोने का विदेश जाना बंद हो चुका होता है। निर्यात के लिए मालों की ख़रीदारियों से यह हो सकता है कि जो सोना विदेश भेजा जा चुका है, उसका कुछ हिस्सा वापस आ जाये, मगर इसके लिए वे बहुत विलंबित हो चुकी होती हैं कि अपवाह को रोका जा सके।" (J. W. Gilbart, *An Inquiry into the Causes of the Pressure on the Money Market*, London, 1840, p. 35.) – "विदेशी विनिमयों द्वारा मुद्रा के नियमन का एक और प्रभाव यह है कि दबाव के दौरों में उसके परिणामस्वरूप ब्याज दर अत्यधिक ऊंची हो जाती है।" (पूर्वो०, पृष्ठ ४०।) – "विनिमयों को समंजित करने का ख़र्च देश के उत्पादक उद्योग पर पड़ता है, जबकि इस प्रक्रिया में कम धनराशि से अपना कारबार चलाने के परिणामस्वरूप बैंक ऑफ़ इंगलैंड के लाभ वास्तव में बढ़ जाते हैं।" (पूर्वो०, पृष्ठ ५२।)

लेकिन, हमारे मित्र सैम्युएल गर्नी कहते हैं: "ब्याज दर में भारी उतार-चढ़ाव बैंकरों और मुद्रा व्यापारियों के लिए लाभकर रहते हैं–व्यवसाय में सभी उतार-चढ़ाव जानकार के लिए लाभकर होते हैं।" और चाहे व्यापार की अनिश्चित अवस्था से निष्ठुरतापूर्वक लाभ उठाते हुए मक्खन गर्नी जैसे ही निथार लेते हैं, जबकि बैंक ऑफ़ इंगलैंड उतनी ही आज़ादी से ऐसा नहीं कर सकता, फिर भी वह भी ख़ासा अच्छा मुनाफ़ा बनाता है–व्यापार की सामान्य अवस्था का पता लगाने के असाधारण अवसर की बदौलत उसके निदेशकों के हाथों में अपने आप ही आनेवाले लाभों की तो बात ही क्या। लॉर्ड सभा की १८१७ की समिति के सम्मुख प्रस्तुत आंकड़ों के अनुसार नक़द भुगतानों के फिर शुरू किये जाने के समय १७६७ से १८१७ तक की समस्त अवधि में बैंक ऑफ़ इंगलैंड को प्राप्त होनेवाले लाभ इस प्रकार थे:

बोनस तथा बढ़े हुए लाभांश	७४,५१,१३६
अंशधारियों में वितरित नये स्टाक . . .	७२,७६,५००
पूंजीका वर्धित मूल्य	१,५५,५३,०००
योग	२,६२,८०,६३६

यह १,१६,४२,४०० पाउंड की पूंजी पर १६ वर्ष की अवधि में है (D. Hardcastle, *Banks and Bankers*, 2nd. ed., London, 1843, p. 120.) अगर इसी पद्धति से बैंक ऑफ़ आयरलैंड

के कुल लाभ का अनुमान लगाया जाये, जिसने भी १७६७ में नक़द भुगतान निलंबित कर दिये थे, तो हमें यह परिणाम प्राप्त होता है:

१८२१ तक प्राप्य वार्षिक लाभांश	४७, ३६, ०८५
घोषित बोनस	१२, २५, ०००
वर्धित परिसंपत्तियां	१२, १४, ८०००
पूंजी का वर्धित मूल्य	४१, ८५, ०००
योग	१, १३, ६०, ८८५

और यह ३० लाख पाउंड की पूंजी पर है। (वही, पृष्ठ ३६३-६४।*)

यह है केंद्रीकरण की बात! उधार पद्धति, जिसका केंद्र बिंदु तथाकथित राष्ट्रीय बैंकों और उनके आसपास के बड़े साहूकारों तथा सूदखोरों में है, स्वयं विराट केंद्रीकरण की द्योतक है और वह परजीवियों के इस वर्ग को न सिर्फ़ कभी-कभी औद्योगिक पूंजीपतियों को ही लूटने की, बल्कि वास्तविक उत्पादन में भी बहुत ही ख़तरनाक तरीक़े से हस्तक्षेप करने की कल्पनातीत शक्ति प्रदान करती है — और यह गिरोह उत्पादन के बारे में कुछ भी नहीं जानता है और उसके साथ उसका कोई भी सरोकार नहीं है। १८४४ और १८४५ के अधिनियम इन लुटेरों की बढ़ती शक्ति के प्रमाण हैं, जिनमें साहूकार और स्टाक आढ़तिये भी शामिल होते जा रहे हैं।

अगर अब भी किसी को यह संदेह हो कि ये सम्मानीय लुटेरे राष्ट्रीय तथा विश्व उत्पादन का मात्र उत्पादन और स्वयं शोषितों के हितों में ही दोहन करते हैं, तो वह निश्चय ही बैंकरों के उच्च नैतिक मूल्य के बारे में निम्नलिखित प्रवचन से ज्यादा जानकारी हासिल करेगा: "बैंकिंग प्रतिष्ठान ... नैतिक तथा धार्मिक संस्थाएं हैं।... कितनी बार युवा व्यापारी को अपने बैंकर की सतर्क और नाराज़ीभरी निगाह ने उच्छृंखल और फ़िज़ूलख़र्च मित्रों की संगत में पड़ने से बचाया है? क्या वह अपने को बैंकर की निगाहों में शरीफ़ दिखाने के लिए परेशान नहीं रहा है? क्या बैंकर के भौंहें तानने का उस पर अपने मित्रों के तानों और निरुत्साहनों से अधिक असर नहीं पड़ा है? क्या वह इस डर से नहीं कांपता रहा है कि उसे धोखे या ज़रा सी भी ग़लत-बयानी का दोषी समझ लिया जायेगा, जिससे शक पैदा हो जायेगा और परिणामस्वरूप उसका निभाव सीमित या बंद कर दिया जायेगा? और क्या बैंकर की मित्रतापूर्ण सलाह उसके लिए पादरी की सलाह से भी अधिक मूल्यवान नहीं रही है?" (जी० एस० बैल, एक स्कॉटिश बैंक निदेशक, *The Philosophy of Joint Stock Banking*, London, 1840, pp. 46, 47.)

---

*१८६४ के जर्मन संस्करण में १६३ छपा है।—सं०

अध्याय ३४

मुद्रा सिद्धांत और १८४४ का ब्रिटिश बैंक विधान

[एक पूर्व कृति[13] में रिकार्डो के द्रव्य के मूल्य के सिद्धांत का जिंस दामों के संदर्भ में विवेचन किया जा चुका है; अतः हम अपने को यहां सर्वथा अपरिहार्य बातों तक ही सीमित कर सकते हैं। रिकार्डो के अनुसार धातु मुद्रा का मूल्य उसमें समाविष्ट श्रम काल द्वारा निर्धारित होता है, लेकिन सिर्फ़ तभी तक कि जब तक मुद्रा के परिमाण का विनिमीत की जानेवाली जिंसों की मात्रा और क़ीमत के साथ सही अनुपात रहता है। अन्य सभी अवस्थाएं समान मान ली जायें, तो अगर मुद्रा का परिमाण इस अनुपात के ऊपर हो जाता है, तो उसका मूल्य गिर जाता है और जिंस दाम चढ़ जाते हैं; अगर वह सही अनुपात के नीचे हो जाता है, तो उसका मूल्य चढ़ जाता है और जिंस दाम गिर जाते हैं। पहले प्रसंग में जिस देश में यह अतिरिक्त सोना है, वह सोने का निर्यात करेगा, जिसका मूल्य ह्रासित हो गया है और जिंसों का आयात करेगा; दूसरे प्रसंग में सोना उन देशों की तरफ़ प्रवाहित होगा, जिनमें उसे अपने मूल्य के ऊपर कूता जाता है, जबकि मूल्य से नीचे कूती जानेवाली जिंसें इन देशों से अन्य देशों की तरफ़ प्रवाहित होती हैं, जहां उनके दाम सामान्य होते हैं। चूंकि इन परिस्थितियों में "सोना स्वयं, या तो सिक्के या बुलियन के रूप में, ख़ुद अपने मूल्य से अधिक अथवा न्यून परिमाण के धातु मूल्य का प्रतीक बन जा सकता है, अतः यह प्रत्यक्ष है कि संचलनगत परिवर्तनीय बैंक नोटों का भी हश्र यही होना चाहिए। यद्यपि बैंक नोट परिवर्तनीय होते हैं और इसलिए उनका वास्तविक मूल्य उनके अंकित मूल्य के अनुरूप होता है, तथापि कुल मुद्रा – सिक्कों और परिवर्तनीय नोटों – का मूल्य उसके कुल परिमाण के अनुसार वर्धित अथवा ह्रासित होकर पहले बतलाये कारणों से संचलनगत जिंसों के विनिमय मूल्य तथा सोने के धातु मूल्य द्वारा निर्धारित स्तर के ऊपर चढ़ या नीचे गिर सकता है... स्वर्ण की तुलना में काग़ज़ी मुद्रा का नहीं, बल्कि स्वर्ण और काग़ज़ी मुद्रा का एकसाथ, अथवा किसी देश की कुल मुद्रा का यह मूल्य ह्रास रिकार्डो की मुख्य खोजों में एक है, जिसे लॉर्ड ओवरस्टोन मंडली ने अपने सेवार्थ लगा लिया और सर रॉबर्ट पील के १८४४ और १८४५ के बैंक विधान का एक मूल सिद्धांत बना दिया।" (पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृष्ठ १५५।)

हमारे लिए यहां रिकार्डो के इस सिद्धांत की असत्यता के प्रमाण को दुहराना आवश्यक नहीं है, जो उद्धृत पुस्तक में दिया गया है। हमारी दिलचस्पी सिर्फ़ इस बात में है कि बैंक

---

[13] Karl Marx, *Zur Kritik der politischen Oekonomie*, Berlin, 1859, S. 150 ff.

सिद्धांतकारों की उस धारा ने, जिसने पील के उपरोद्धृत बैंक अधिनियमों को प्रेरित किया, रिकार्डो की प्रस्थापनाओं का किस प्रकार विशदीकरण किया है।

"उन्नीसवीं सदी के वाणिज्यिक संकटों, विशेषकर १८२५ और १८३६ के महासंकटों के फलस्वरूप रिकार्डो के द्रव्य सिद्धांत में कोई नये विकास नहीं आये, लेकिन उन्होंने उसके नये उपयोग अवश्य उपलब्ध किये। ये अब कोई वियुक्त आर्थिक परिघटनाएं नहीं थीं, जैसे ह्यूम के अनुसार सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में मूल्यवान धातुओं का मूल्यह्रास अथवा रिकार्डो के अनुसार अठारहवीं तथा प्रारंभिक उन्नीसवीं सदियों में काग़ज़ी मुद्रा का मूल्यह्रास थे, वरन विश्व मंडी में प्रचंड तूफ़ान थे, जिनमें पूंजीवादी उत्पादन के सभी तत्वों का द्वंद्व अपने को विसर्जित कर देता है और जिनके उद्गम तथा उपचार को इस प्रक्रिया के सबसे सतही और अमूर्त क्षेत्र, मुद्रा संचलन के क्षेत्र में खोजा जाता था। जिस वास्तविक सैद्धांतिक पूर्वधारणा से आर्थिक मौसमद्रष्टाओं का यह पंथ प्रारंभ करता है, वह वास्तव में इस अंधमत में परिणत हो जाती है कि रिकार्डो ने शुद्धतः धात्विक संचलन को शासित करनेवाले नियम ही खोजे थे। उनके लिए सिर्फ़ साख और बैंक नोट संचलन को इन नियमों के अंतर्गत लाना ही शेष रह जाता है।

"वाणिज्यिक संकटों में सबसे आम और सुस्पष्ट परिघटना दीर्घकालिक समग्र चढ़ाव के बाद दामों में अचानक आम उतार है। जिंस दामों में आम गिरावट को सभी जिंसों के संदर्भ में द्रव्य के सापेक्ष मूल्य में चढ़ाव की तरह, और दामों में आम चढ़ाव को द्रव्य के सापेक्ष मूल्य में उतार की तरह व्यक्त किया जा सकता है। दोनों ही अभिव्यक्तियों में परिघटना का वर्णन तो हो जाता है, पर उसकी व्याख्या नहीं होती... इबारत की भिन्नता से समस्या में इतना ही कम अंतर आता है कि जितना उसका जर्मन से अंग्रेज़ी में अनुवाद करने से आया होता। इसलिए रिकार्डो का द्रव्य सिद्धांत अत्यधिक समयानुकूल था, क्योंकि वह एक पुनरुक्ति को कारण संबंध का आभास प्रदान कर देता है। जिंस दामों में आवधिक उतार कहां से आता है? द्रव्य के सापेक्ष मूल्य में चढ़ाव से। दामों में आम आवधिक चढ़ाव कहां से आता है? द्रव्य के सापेक्ष मूल्य में आवधिक ह्रास से। इतनी ही सचाई से यह भी कहा जा सकता था कि दामों में आवधिक चढ़ाव और उतार उनके आवधिक चढ़ाव और उतार के कारण होता है... पुनरुक्ति को अगर एक बार कारण संबंध मान लिया जाये, तो शेष सब बड़ी आसानी से समझा जा सकता है। जिंस दामों में चढ़ाव द्रव्य के मूल्य में गिरावट से आता है और द्रव्य के मूल्य में गिरावट, जैसे कि हम रिकार्डो से जानते हैं, मुद्रा की अधिपूर्ति, अर्थात मुद्रा के परिमाण में स्वयं उसके यथार्थ मूल्य और जिंसों के यथार्थ मूल्य द्वारा निर्धारित स्तर के ऊपर चढ़ाव से आती है। इसी प्रकार जिंस दामों में आम गिरावट का कारण मुद्रा की अल्पपूर्ति के परिणामस्वरूप द्रव्य के मूल्य में उसके यथार्थ मूल्य के ऊपर चढ़ाव आना होता है। अतः दाम समय-समय पर इसलिए चढ़ते और उतरते हैं कि समय-समय पर संचलन में द्रव्य या तो बहुत अधिक होता है या बहुत कम होता है। अगर दामों में चढ़ाव संकुचित मुद्रा संचलन के साथ और दामों में उतार विस्तारित संचलन के साथ आता है, तो इसके बावजूद यह दावा किया जा सकता है कि संचलनगत मुद्रा की मात्रा बाज़ार में जिंसों के परिमाण के संकुचन अथवा प्रसार के परिणामस्वरूप यद्यपि पूर्णतः नहीं, फिर भी सापेक्षतः बढ़ या घट गयी है, चाहे आंकड़ों द्वारा इसे सिद्ध न भी किया जा सके। हम पहले ही देख चुके हैं कि रिकार्डो के अनुसार ये आम दाम उतार-चढ़ाव शुद्धतः धात्विक संचलन के साथ भी आने चाहिए, लेकिन वे बारी-बारी से एक दूसरे को संतुलित करते हैं; इस प्रकार, उदाहरण के लिए, मुद्रा की

अल्पपूर्ति के कारण दामों में उतार आता है, जिंसों का विदेश निर्यात होता है, लेकिन इस निर्यात के कारण विदेश से स्वर्ण का आयात होता है, जो अपनी बारी में दामों में चढ़ाव लाता है; मुद्रा की अधिपूर्ति के मामले में इसकी विपरीत गति होती है, जब जिंसों का आयात और स्वर्ण का निर्यात होता है। लेकिन चूंकि इन आम दाम उतार-चढ़ावों के बावजूद, जिनकी रिकार्डो के धात्विक संचलन से पूर्ण संगति है, उनका उग्र तथा प्रचंड रूप, उनका संकट का रूप, विकसित उधार पद्धति के समय का ही है, इसलिए यह एकदम साफ़ है कि बैंक नोटों का निर्गम बिलकुल धात्विक संचलन के नियमों के अनुसार ही नहीं होता है। धात्विक संचलन के पास मूल्यवान धातु के आयात तथा निर्यात के रूप में अपना परिहार होता है, जो सिक्कों के रूप में संचलन में तुरंत प्रवेश कर जाती है और इस प्रकार, अपने अंतर्वाह अथवा बहिर्वाह द्वारा, जिंस दामों को गिरा या चढ़ा देती है। दामों पर यही प्रभाव अब धात्विक संचलन के नियमों का अनुकरण करके बैंकों द्वारा कृत्रिम रूप में डाला जाना चाहिए। अगर सोना विदेश से आ रहा है, तो वह यह सिद्ध करता है कि मुद्रा अल्पपूर्ति में है, द्रव्य का मूल्य बहुत ही ऊंचा है और जिंस दाम बहुत नीचे हैं और परिणामस्वरूप नवआयातित सोने के अनुपात में बैंक नोटों को संचलन में डाला जाना चाहिए। इसके विपरीत, देश से निर्यातित सोने के अनुपात में नोटों को संचलन से निकाला जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, बैंक नोटों का निर्गम मूल्यवान धातु के आयात तथा निर्यात द्वारा अथवा विनिमय दर द्वारा विनियमित किया जाना चाहिए। रिकार्डो की भ्रांत पूर्वधारणा कि सोना सिर्फ़ सिक्का ही है और इसलिए सारा आयातित सोना मुद्रा का विस्तार करता है, जिससे दाम चढ़ जाते हैं, जबकि सारा निर्यातित सोना मुद्रा को कम करता है, जिससे दामों में उतार आता है,—इस सैद्धांतिक पूर्वधारणा को यहां **प्रत्येक मामले में उपलब्ध सोने के परिमाण के बराबर सिक्के के परिमाण को संचलन में डालने के व्यावहारिक प्रयोग में परिणत कर दिया जाता है।** लॉर्ड **ओवरस्टोन** (जोन्स लॉयड के बैंकर), कर्नल टॉरेंस, नॉर्मन, क्ले, आर्बथनॉट तथा अनेक अन्य लेखकों ने, जो इंगलैंड में "मुद्रा सिद्धांत के प्रतिपादकों के रूप में विज्ञात हैं, न केवल इस सिद्धांत का प्रचार ही किया है, बल्कि १८४४ और १८४५ में सर रॉबर्ट पील के बैंक अधिनियमों की सहायता से इसे आंग्ल तथा स्कॉटिश बैंक विधान का आधार बनाने में भी सफलता प्राप्त कर ली। व्यापकतम राष्ट्र-व्यापी पैमाने पर प्रयोगों के बाद इस सिद्धांत की सैद्धांतिक और व्यावहारिक लिहाज से भी घोर विफलता का विवेचन सिर्फ़ साख सिद्धांत के सिलसिले में ही किया जा सकता है।" (पूर्वोद्धृत पुस्तक, पृष्ठ १६५-६८।)

इस पंथ का मीमांसात्मक विवेचन टॉमस टूक, जेम्स विलसन (१८४४ से १८४७ तक *Economist* में) तथा जॉन फ़ुलार्टन ने किया था। लेकिन हम अनेक अवसरों पर, विशेषकर इस पुस्तक के अट्ठाईसवें अध्याय में देख चुके हैं कि उन्होंने भी स्वर्ण की प्रकृति को कितनी अपूर्णता से समझा है और द्रव्य तथा पूंजी के संबंध के बारे में उन्हें कितनी अस्पष्टता थी। हम यहां महज़ पील के बैंक अधिनियमों के बारे में निम्न सदन की १८५७ की समिति (*B. C.* 1857) की कार्रवाइयों के सिलसिले में कुछ उदाहरणों का ही उल्लेख कर रहे हैं।—फ़े० एं०]

बैंक ऑफ़ इंगलैंड के भूतपूर्व गवर्नर, जे० जी० हब्बर्ड यह साक्ष्य देते हैं: "२४००। स्वर्ण के निर्यात के प्रभाव का... जिंसों के दामों से कोई भी संबंध नहीं है। वह ब्याजी प्रतिभूतियों के दाम पर प्रभाव डालता है और बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है, क्योंकि ब्याज दर के बदलने के साथ-साथ जिंसों के मूल्य पर भी अनिवार्यतः जबरदस्त प्रभाव पड़ता है, जो इस

ब्याज को मूर्त करता है।"– वह १८३४ से १८४३ और १८४४ से १८५३* के वर्षों की दो तालिकाएं पेश करते हैं, जो यह दिखलाती हैं कि पंद्रह मुख्य वाणिज्यिक मालों के दाम उतार-चढ़ाव सोने के आयात-निर्यात और ब्याज दर से सर्वथा स्वतंत्र थे। किंतु दूसरी ओर, वे सोने के, जो सचमुच "हमारी अनिवेशित पूंजी का प्रतिनिधि" है, निर्यात तथा आयात और ब्याज दर में निकट संबंध दिखलाती हैं।–" [२४०२] १८४७ में बहुत सारी अमरीकी प्रतिभूतियां अमरीका को और रूसी प्रतिभूतियां रूस को वापस अंतरित की गयीं और अन्य महाद्वीपीय प्रतिभूतियां उन स्थानों को अंतरित की गयीं, जहां से हमने अपने खाद्यान्न मंगवाये थे।"

जिन पंद्रह मुख्य मालों पर हब्बर्ड की निम्न तालिकाएं आधारित हैं, वे कपास, सूत, सूती वस्त्र, ऊन, ऊनी कपड़ा, फ़्लैक्स, लिनन, नील, ढलवां लोहा, टीन, तांबा, चरबी, शकर, काफ़ी और रेशम हैं (तालिकाएं अगले पृष्ठ पर दी गयी हैं)।

हब्बर्ड इस संबंध में टीका करते हैं: "१८३४-४३ के दस वर्षों की ही भांति १८४४-५३ में भी बैंक के बुलियन में गतियों के साथ-साथ बट्टे पर उधार दिये जानेवाले द्रव्य के उधारार्थ मूल्य में अनिवार्यतः कमी या वृद्धि आयी; और इस देश में जिंसों के दामों में उतार-चढ़ाव जैसा कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड में बुलियन के उतार-चढ़ाव से प्रकट होता है, संचलन के परिमाण से पूर्ण स्वतंत्रता प्रदर्शित करते हैं।" (*Bank Acts Report*, 1857, II, pp. 290, 291.)

चूंकि जिंसों की मांग और पूर्ति उनके बाजार दामों का नियमन करती हैं, इसलिए यहां यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि बट्टा दर द्वारा व्यक्त उधारार्थ द्रव्य पूंजी की मांग का (बल्कि उससे पूर्ति के विचलनों का) वास्तविक "पूंजी" की मांग से तदात्मीकरण करने में ओवरस्टोन कितनी ग़लती करते हैं। इस दावे को कि जिंस दामों का नियमन मुद्रा की मात्रा में उतार-चढ़ावों द्वारा किया जाता है, अब इस वाक्यांश द्वारा छिपा लिया जाता है कि बट्टा दर के उतार-चढ़ाव द्रव्य पूंजी से भिन्न वास्तविक भौतिक पूंजी की मांग में उतार-चढ़ावों को व्यक्त करते हैं। हम देख चुके हैं कि इसी समिति के सामने नॉर्मन और ओवरस्टोन, दोनों ने वास्तव में यही दावा किया था, और अंतोक्त को तो ख़ासकर बहुत ही लचर दलीलों का सहारा लेना पड़ा था, यहां तक कि वह पूरी तरह से जकड़ में आ गये (अध्याय २६)। यह सचमुच एक पुरानी बकवास है कि किसी देश विशेष में सोने की विद्यमान मात्रा में परिवर्तनों को उस देश में संचलन माध्यम के परिमाण को बढ़ा या घटाकर जिंस दामों को चढ़ा या गिरा देना चाहिए। अगर सोने का निर्यात होता है, तो–इस मुद्रा सिद्धांत के अनुसार–इस सोने का आयात करनेवाले देश में जिंस दामों को और उसके द्वारा स्वर्ण निर्यातक देश से निर्यातों के मूल्य को स्वर्ण आयातक देश के बाजारों में चढ़ जाना चाहिए; दूसरी ओर, स्वर्ण आयातक देश के निर्यातों का मूल्य स्वर्ण निर्यातक देश के बाजार में गिर जायेगा, जबकि वह घरेलू बाजार में, अर्थात सोना पानेवाले देश में चढ़ जायेगा। लेकिन वास्तव में सोने के परिमाण में कमी सिर्फ़ ब्याज दर को ही चढ़ाती है, जबकि सोने के परिमाण में वृद्धि ब्याज दर को नीचा कर देती है; और अगर यह बात न होती कि ब्याज दर में उतार-चढ़ाव लागत दामों के निर्धारण में, अथवा मांग तथा पूर्ति के निर्धारण में, शामिल होते हैं, तो जिंस दाम उनसे सर्वथा अप्रभावित रहे होते।

---

* १८९४ के जर्मन संस्करण में इसकी जगह १८५६ छपा है।–सं०

I. १८३४-१८४३

तिथि	बैंक की बुलियन निधि (पाउंडों में)	बाजार बट्टा दर	पंद्रह मुख्य मालों के दामों में		
			चढ़ाव	उतार	कोई अंतर नहीं
१८३४, १ मार्च	६१,०४,०००	२ ३/४%	—	—	—
१८३५, १ मार्च	६२,७४,०००	३ ३/४%	७	७	१
१८३६, १ मार्च	७६,१८,०००	३ १/४%	११	३	१
१८३७, १ मार्च	४०,७७,०००	५%	५	६	१
१८३८, १ मार्च	१,०४,७१,०००	२ ३/४%	४	११	—
१८३९, १ सितंबर	२६,८४,०००	६%	८	५	२
१८४०, १ जून	४५,७१,०००	४ ३/४%	५	६	१
१८४०, १ दिसंबर	३६,४२,०००	५ ३/४%	७	६	२
१८४१, १ दिसंबर	४८,७३,०००	५%	३	१२	—
१८४२, १ दिसंबर	१,०६,०३,०००	२ १/२%	२	१३	—
१८४३, १ जून	१,१५,६६,०००	२ १/४%	१	१४	—

II. १८४४-१८५३

तिथि	बैंक की बुलियन निधि (पाउंडों में)	बाजार बट्टा दर	पंद्रह मुख्य मालों के दामों में		
			चढ़ाव	उतार	कोई अन्तर नहीं
१८४४, १ मार्च	१,६१,६२,०००	२ १/४%	—	—	—
१८४५, १ दिसंबर	१,३२,३७,०००	४ १/२%	११	४	—
१८४६, १ सितंबर	१,६३,६६,०००	३%	७	८	—
१८४७, १ सितंबर	९१,४०,०००	६%	६	६	३
१८५०, १ मार्च	१,७१,२६,०००	२ १/२%	५	९	१
१८५१, १ जून	१,३७,०५,०००	३%	२	११	२
१८५२, १ सितंबर	२,१८,५३,०००	१ ३/४%	९	५	१
१८५३, १ दिसंबर	१,५०,९३,०००	५%	१४	—	१

इसी रिपोर्ट में भारत के साथ कारबार करनेवाली एक बड़ी फ़र्म के प्रधान, एन० एलैक्जेंडर, छठे दशक के मध्य में भारत तथा चीन को चांदी के भारी अपवाह के बारे में निम्नलिखित विचार प्रकट करते हैं। यह अपवाह अंशतः चीनी गृहयुद्ध के कारण, जिसने चीन में

ब्रिटिश कपड़े की बिक्री को रोका, और अंशतः यूरोप में रेशम के कीड़ों में बीमारी फैलने के कारण हुआ था, जिससे इटली तथा फ़्रांस में रेशम के कीड़ों के पालन में सख़्त कमी आ गयी थी :

"४३३७। अपवाह चीन को है या भारत को? – आप चांदी भारत भेजते हैं और उसके काफ़ी हिस्से से अफ़ीम ख़रीद लेते हैं, जो सब रेशम ख़रीदने की निधि उपलब्ध करवाने के लिए चीन चली जाती है; और भारत में बाज़ारों की अवस्था (वहां चांदी का संचय होने के बावजूद) व्यापारी के लिए वहां खुदरा मालों या इंगलैंड में निर्मित सामानों को भेजने के बजाय चांदी को लगाना अधिक लाभकर निवेश बना देती है।" – "४३३८। क्या चांदी प्राप्त करने के लिए फ़्रांस से बहुत अधिक अपवाह नहीं हुआ है? – हां, बहुत बड़ा अपवाह हुआ है।" – "४३४४। फ़्रांस और इटली से रेशम लाने के बजाय हम बंगाल से और चीन से भी वहां बड़ी मात्राओं में रेशम भेज रहे हैं।"

दूसरे शब्दों में, चांदी, इस महाद्वीप की मुद्रा धातु, जिंसों के बजाय एशिया भेजी गयी थी, इसलिए नहीं कि उन्हें उत्पादित करनेवाले देश (इंगलैंड) में जिंस दाम चढ़ गये थे, बल्कि इसलिए कि उनका आयात करनेवाले देश में अतिआयात के परिणामस्वरूप दाम गिर गये थे, और यह इस तथ्य के बावजूद कि इंगलैंड द्वारा चांदी फ़्रांस से प्राप्त की गयी थी और उसके लिए अंशतः सोने में अदायगी करनी पड़ी थी। इस तरह के आयातों के परिणामस्वरूप मुद्रा सिद्धांत के अनुसार दामों को इंगलैंड में गिरना चाहिए था और भारत तथा चीन में चढ़ना चाहिए था।

एक और उदाहरण। लॉर्ड सभा की समिति (*C. D.* 1848/57) के सामने लीवरपूल के सबसे पहले व्यापारियों में एक, विली, यह साक्ष्य देते हैं: "१९९४। १८४५ के अंत में और कोई व्यवसाय ऐसा नहीं था, जो अधिक लाभदायी था और जिसमें इतना भारी मुनाफ़ा था [कपास कताई के मुक़ाबले में]। कपास का भंडार अच्छा और बड़ा था, बढ़िया कपास ४ पेंस प्रति पाउंड के भाव ख़रीदी जा सकती थी और ऐसी कपास से नंबर ४० का अच्छा सैकुंडा म्यूल ट्विस्ट सूत इससे कोई अधिक ख़र्च पर नहीं, यों कहिये कि कताई कारख़ानेदार को कुल मिलाकर ८ पेंस प्रति पाउंड की लागत पर बनाया जा सकता था। सितंबर और अक्तूबर, १८४५ में यह सूत ज्यादातर १० १/२ और ११ १/२ पेंस प्रति पाउंड के भाव से बेचा और वायदे पर दिया गया था और कुछ मामलों में तो कारख़ानेदारों ने कपास की पहली लागत जितना लाभ भी प्राप्त किया था।" – "१९९६। १८४६ के शुरू तक व्यवसाय लाभदायी बना रहा" – "२०००। ३ मार्च, १८४४ को कपास का भंडार [६,२७,०४२ गांठ] उसके दुगुने से भी अधिक था, जितना आज है [३ मार्च, १८४८ को, जब वह ३,०१,०७० गांठ था] और फिर भी दाम १ १/४ पेंस प्रति पाउंड ज्यादा था।" [५ पेंस के मुक़ाबले ६ १/४ पेंस।] साथ ही सूत, नंबर ४० के अच्छे सैकुंडा म्यूल ट्विस्ट का भाव ११ १/२ - १२ पेंस प्रति पाउंड से गिरकर १८४७ के अक्तूबर में ९ १/२ पेंस और दिसंबर के अंत में ७ ३/४ पेंस हो गया; सूत उस कपास के क्रय दाम पर बिक रहा था, जिससे वह काता गया था (वही, क्रमांक २०२१ तथा २०२२)। यह ओवरस्टोन के सयानेपन की स्वार्थपरता को दिखलाता है, जिसके अनुसार द्रव्य को "महंगा" होना चाहिए, क्योंकि पूंजी "दुर्लभ" है। बैंक ब्याज दर ३ मार्च, १८४४ को ३% थी, १८४७ के अक्तूबर और नवंबर में वह चढ़कर ८ और ९% हो गयी और ३ मार्च, १८४८ को भी वह ४% थी। बिक्रियों के पूर्ण स्थगन और संत्रास तथा उससे उत्पन्न

ऊंची ब्याज दर के कारण कपास के दाम उस दाम से बहुत ज्यादा नीचे गिर गये, जो पूर्ति की अवस्था के अनुरूप था। नतीजे के तौर पर एक तरफ़ तो १८४८ में आयातों में जबरदस्त कमी आयी, और दूसरी तरफ़, अमरीका में उत्पादन में कमी आयी, जिसके कारण १८४६ में कपास के दाम में नया चढ़ाव आया। ओवरस्टोन के अनुसार, जिंसें बहुत महंगी हो गयीं, क्योंकि देश में द्रव्य बहुत अधिक हो गया था।

"२००२। सूती कारखानों में हालत में हाल की खराबी का कारण कच्चे मालों का अभाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि दाम नीचा ही रहा प्रतीत होता है, चाहे कच्चे मालों का भंडार बहुत कम हो गया है।" ओवरस्टोन कितनी खूबसूरती के साथ दामों, अथवा जिंसों के मूल्य को द्रव्य के मूल्य, अर्थात ब्याज दर के साथ उलझा देते हैं। प्रश्न २०२६ के उत्तर में विली मुद्रा सिद्धांत के अपने सामान्य मूल्यांकन का समाहार करते हैं, जिसके आधार पर मई, १८४७ में कार्डवैल और सर चार्ल्स वुड ने "१८४४ के बैंक अधिनियम का अपनी पूरी सकलता तथा पूर्ण समग्रता में क्रियान्वयन किये जाने की आवश्यकता पर जोर दिया था।" – "ये सिद्धांत मुझे इस तरह के लगे थे कि जो द्रव्य को कृत्रिम ऊंचा मूल्य और सभी जिंसों और मालों को कृत्रिम तथा विनाशक रूप में नीचा मूल्य प्रदान करते।" – आगे चलकर वह सामान्य रूप में व्यवसाय पर इस बैंक अधिनियम के प्रभावों के बारे में कहते हैं: "चूंकि औद्योगिक नगरों से संयुक्त राज्य अमरीका जानेवाले मालों की खरीद के लिए व्यापारियों और बैंकरों पर बनी चार महीने की मीयाद, जो ड्राफ्टों की सामान्य अवधि है, की हुंडियां भारी नुक़सान उठाये बिना चुकता नहीं करवायी जा सकती थीं, इसलिए २५ अक्तूबर के सरकार के पत्र (बैंक अधिनियम का निलंबन) के बाद तक, जब ये चार महीने की मीयाद की हुंडियां फिर चुकता की जाने लगीं, आदेशों का निष्पादन बहुत सीमा तक रुका रहा" (२०६७)। – इस प्रकार हम देखते हैं कि इस बैंक अधिनियम के निलंबन का प्रांतों में भी राहत के साथ स्वागत किया गया था। – "२१०२। पिछले अक्तूबर [१८४७] में यहां माल खरीदनेवाला शायद ही कोई अमरीकी ग्राहक रहा होगा, जिसने अपने आदेशों को तुरंत यथासंभव अधिक से अधिक न घटा दिया हो और जब द्रव्य के मंहगेपन के बारे में हमारी सूचनाएं अमरीका पहुंचीं, तो सारे नये आदेश रुक गये।" – "२१३४। अनाज और शकर का मामला असाधारण था। अनाज की मंडी पर फ़सल की संभावना का प्रभाव था और शकर को अपार भंडार और आयात प्रभावित कर रहे थे।" – "२१६३। हमारी अमरीका को देनदारी में से ... काफ़ी परेषित माल की जबरी बिक्री द्वारा खत्म हुई, और मुझे भय है कि काफ़ी यहां दिवाले निकलने से रद्द हुई।" – "२१९६। अगर मुझे ठीक याद आता है, तो हमारे शेयर बाज़ार में **१८४७ के अक्तूबर में ब्याज दर ७० प्रतिशत तक थी।**

[अपने दीर्घकालिक पश्चपरिणामों के साथ १८३७ के संकट ने, जिसके बाद १८४२ में एक नियमित उत्तर संकट आया, और उद्योगपतियों तथा व्यापारियों की स्वार्थांधता ने, जो किसी भी प्रकार के अत्युत्पादन को मानने से सर्वथा इन्कार करते थे, क्योंकि अप्रामाणिक अर्थशास्त्र के अनुसार ऐसी चीज अनर्गल और असंभव है, आखिर विचारों की वह भ्रांति उत्पन्न कर दी थी, जिसने मुद्रा पंथ को अपने अंधमत को राष्ट्रव्यापी पैमाने पर कार्यरूप में परिणत करने में समर्थ बना दिया। १८४४ और १८४५ का बैंक विधान पारित कर दिया गया।

१८४४ का बैंक अधिनियम बैंक ऑफ़ इंगलैंड को निर्गमन विभाग और बैंक विभाग में विभाजित करता है। प्रथमोक्त १४० लाख पाउंड की प्रतिभूतियां – मुख्यतः सरकारी ऋणों के

रूप में – और समस्त धातु संचय, जिसमें चांदी का अंश चौथाई से अधिक नहीं होना चाहिए, प्राप्त करता है और योग की कुल राशि के बराबर नोट जारी करता है। इसलिए कि ये नोट लोगों के हाथों में नहीं होते हैं, वे बैंक विभाग के क़ब्ज़े में रहते हैं और दैनंदिन उपयोग के लिए आवश्यक सिक्कों की छोटी सी राशि (लगभग १० लाख पाउंड) के साथ उसकी सदा तैयार निधि का निर्माण करते हैं। निर्गमन विभाग लोगों को नोटों के बदले सोना और सोने के बदले नोट देता है; शेष कारबार बैंक विभाग द्वारा किये जाते हैं। इंगलैंड तथा वेल्स में १८४४ में अपने नोट जारी करने के लिए प्राधिकृत निजी बैंकों ने इस विशेषाधिकार को बनाये रखा, लेकिन उनका नोट निर्गमन नियत कर दिया गया; अगर उनमें से कोई बैंक अपने नोट जारी करना बंद कर देता है, तो बैंक ऑफ़ इंगलैंड इस प्रकार उपलब्ध नियतांश के २/३ से अपने अप्रत्याभूत नोट बढ़ा सकता है; इस तरीक़े से १८९२ तक उसका निर्गमन १४० लाख पाउंड से बढ़ाकर १६५ लाख पाउंड (बिलकुल सही कहें, तो १,६४,५०,००० पाउंड) कर दिया गया था।

इस प्रकार बैंक के ख़ज़ाने से सोने के रूप में निकलनेवाले हर पांच पाउंड के बदले पांच पाउंड का एक नोट निर्गमन विभाग में लौट आता है और वहां नष्ट कर दिया जाता है; ख़ज़ाने में जानेवाले हर पांच सॉवरिन के बदले पांच पाउंड का एक नया नोट संचलन में आ जाता है। इस तरीक़े से ओवरस्टोन का आदर्श काग़ज़ी मुद्रा संचलन, जो धात्विक मुद्रा संचलन के नियमों का यथार्थतः पालन करता है, कार्यरूप में परिणत किया जाता है और, मुद्रा सिद्धांत के पैरोकारों के अनुसार, इसके द्वारा संकटों को सदा-सर्वदा के लिए असंभव बना दिया जाता है।

लेकिन व्यवहार में बैंक के दो स्वतंत्र विभागों में पृथक्करण ने उसके प्रबंधकों को संकट कालों में अपने सभी उपलब्ध साधनों का मुक्तहस्त उपयोग करने की संभावना से वंचित कर दिया, जिससे ऐसी स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं कि जिनमें बैंक विभाग तो दिवाले के कगार पर हो, जबकि निर्गमन विभाग के पास सोने के रूप में लाखों पाउंड, और उनके अलावा, प्रतिभूतियों के रूप में अपने सारे १४० लाख पाउंड अछूते पड़े हों। और ऐसा इसलिए और भी आसानी से हो सकता है कि लगभग हर ही संकट में एक ऐसा दौर आता है कि जब सोने का भारी निर्यात होता है, जिसे मुख्यतः बैंक ऑफ़ इंगलैंड की धातु निधि से ही पूरा करना होता है। लेकिन तब सोने के रूप में विदेश जानेवाले हर पांच पाउंड के लिए घरेलू संचलन पांच पाउंड के एक नोट से वंचित हो जाता है, जिससे संचलनशील माध्यम की मात्रा ठीक उस समय कम हो जाती है कि जब अधिकतम मात्रा ही सबसे अधिक आवश्यक होती है। इस प्रकार, १८४४ का बैंक अधिनियम समस्त वाणिज्यिक जगत को संकट के फूटने के साथ तुरंत बैंक नोटों की आरक्षित निधि की जमाख़ोरी करने के लिए, दूसरे शब्दों में, संकट को त्वरित और तीव्र करने के लिए प्रत्यक्षतः प्रेरित करता है। निर्णायक घड़ी में द्रव्य निभाव की मांग, अर्थात भुगतान साधनों की मांग के इस प्रकार के कृत्रिम तीव्रीकरण और साथ ही पूर्ति के निबंधन द्वारा बैंक अधिनियम ब्याज दर को संकट के दौरान अभूतपूर्व ऊंचाई पर पहुंचा देता है। अतः, संकटों का विलोपन करने के बजाय बैंक अधिनियम उलटे उन्हें तीव्र करके इस सीमा तक ले जाता है कि या तो सारे औद्योगिक जगत की धज्जियां उड़ जायें, या बैंक अधिनियम की। २५ अक्तूबर, १८४७ को और १२ नवंबर, १८५७ को, दोनों बार, संकट ऐसे बिंदु पर पहुंच गया था; सरकार ने तब १८४४ के अधिनियम को निलंबित करके नोट जारी करने में बैंक ऑफ़ इंगलैंड पर प्रतिबंध को उठा लिया और यह दोनों मामलों में संकट पर पार

पाने के लिए काफ़ी रहा। १८४७ में यह आश्वासन कि वरिष्ठ प्रतिभूतियों के बदले बैंक नोट फिर जारी किये जायेंगे, ४० से ५० लाख के दबाकर रखे नोटों को बाहर लाने और उन्हें संचलन में वापस डालने के लिए काफ़ी सिद्ध हुआ; १८५७ में वैध राशि के ऊपर नोटों का निर्गमन लगभग १० लाख पाउंड पर पहुंच गया, लेकिन अत्यंत अल्प अवधि के लिए ही।

यह भी कहा जाना चाहिए कि १८४४ का विधान अब भी उन्नीसवीं सदी के पहले बीस वर्षों की याद दिलानेवाले निशान दिखलाता है, जब सिक्के देना निलंबित कर दिया गया था और नोट अवमूल्यित हो गये थे। यह भय अब भी स्पष्टतः लक्षित होता है कि कहीं नोटों की साख न जाती रहे। लेकिन यह भय सर्वथा निराधार है, क्योंकि १८२५ तक में एक पाउंड के नोटों के, जिन्हें संचलन से निकाल लिया गया था, फिर से मिले पुराने संचय के जारी किये जाने से संकट को भंग कर दिया गया था और इस प्रकार यह सिद्ध कर दिया गया था कि अत्यंत व्यापक और गहनतम अविश्वास के समयों में भी नोटों की साख अविचल बनी रहती है। और यह बात पूर्णतः बोधगम्य है, क्योंकि आख़िर सारा ही राष्ट्र अपनी सारी साख के साथ मूल्य के इन प्रतीकों की पुश्त पर रहता है। – फ़े० एं०]

आइये, अब बैंक अधिनियम के प्रभाव के बारे में कुछ मतों की तरफ़ ध्यान दें। जॉन स्टुअर्ट मिल विश्वास करते हैं कि १८४४* के बैंक अधिनियम ने अतिसट्टे को क़ाबू में रखा। सौभाग्य से इस ज्ञानी पुरुष ने यह १२ जून, १८५७ को कहा था। चार महीने बाद संकट फूट पड़ा। उन्होंने "बैंक निदेशकों और सामान्यरूपेण वाणिज्यिक लोगों को" इस बात पर शब्दशः बधाई दी कि वे "वाणिज्यिक संकट की प्रकृति को, और अतिसट्टे का समर्थन करके वे स्वयं अपना और सर्वसाधारण का भी जो घोर अनिष्ट करते हैं, उसे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह से समझते हैं।" (*B. C.* 1857, क्रमांक २०३१।)

ज्ञानवान श्री मिल सोचते हैं कि अगर एक पाउंड के नोट "कारख़ानेदारों तथा अन्यों को, जो मज़दूरी का भुगतान करते हैं, ऋणों के रूप में जारी किये जाते हैं, तो... नोट औरों के हाथों में पहुंच सकते हैं, जो उन्हें उपभोग के लिए ख़र्च कर देते हैं, और इस हालत में नोट स्वयं अपने में जिंसों के लिए मांग बन जाते हैं और कुछ समय दामों के चढ़ाव को बढ़ावा दे सकते हैं" [२०६६]। तब क्या श्री मिल यह मानते हैं कि कारख़ानेदार इसलिए ऊंची मज़दूरी दे देंगे कि वे मज़दूरी सोने के बजाय काग़ज़ी मुद्रा में देते हैं? या वह यह विश्वास करते हैं कि अगर कारख़ानेदार ऋण १०० पाउंड के नोटों में प्राप्त करता है और उन्हें सोने से बदल लेता है, तो यह मज़दूरी सीधे एक पाउंड के नोटों में अदा किये जाने की बनिस्बत कम मांग बनेगी? और क्या वह नहीं जानते कि, मिसाल के लिए, कुछ खननप्रधान ज़िलों में मज़दूरी स्थानीय बैंकों के नोटों में अदा की जाती है, जिससे कई-कई मज़दूर मिलकर पांच पाउंड का एक नोट पाते हैं? क्या इससे उनकी मांग बढ़ जाती है? अथवा क्या बैंकर कारख़ानेदारों को बड़े नोटों की बनिस्बत छोटे नोटों में धन ज़्यादा आसानी से और अधिक बड़ी मात्राओं में उधार दे देंगे?

[एक पाउंड के नोटों से मिल का यह अनोखा भय अव्याख्येय होता, अगर राजनीतिक अर्थशास्त्र पर उनका संपूर्ण कृतित्व एक ऐसी सर्वसंग्रहणशीलता न प्रकट करता कि जो किसी भी असंगति के आगे कोई हिचकिचाहट नहीं दिखलाती है। एक ओर, वह ओवरस्टोन के विरुद्ध

*१८६४ के जर्मन संस्करण में इसकी जगह १८४७ छपा है। – सं०

टूक से कई मुद्दों पर सहमत हैं; दूसरी ओर, वह विश्वास करते हैं कि जिंस दाम उपलब्ध द्रव्य की मात्रा द्वारा निर्धारित होते हैं। इस प्रकार, वह किसी भी प्रकार यह नहीं मानते हैं कि अन्य सभी अवस्थाएं समान हों, तो जारी किये गये हर एक पाउंड के नोट के बदले एक सॉवरिन बैंक की तिजोरियों में पहुंच जायेगा। उन्हें भय है कि संचलनशील माध्यम की मात्रा बढ़ायी और इस प्रकार अवमूल्यित की जा सकती है, अर्थात जिंस दाम चढ़ जा सकते हैं। उपरोक्त आशंका में इसके अलावा और कुछ नहीं छिपा हुआ है।–फ़्रे० एं०]

बैंक ऑफ़ इंगलैंड के दो विभागों में विभाजन और नोटों के भुनने को सुनिश्चित करने के लिए अपनाये गये अतिशय पूर्वोपायों के बारे में टूक *C. D.* 1848/57 के सम्मुख निम्न विचार प्रकट करते हैं:

१८३७ और १८३९ की तुलना में ब्याज दर में १८४७ में अधिक उतार-चढ़ाव केवल बैंक ऑफ़ इंगलैंड के दो विभागों में पृथक्करण के कारण हैं (३०१०)।–बैंक नोटों की निरापदता न १८२५ में प्रभावित हुई थी, न १८३७ में, और न १८३९ में ही (३०१५)।–१८२५ में सोने की मांग सिर्फ़ प्रादेशिक बैंकों के एक पाउंड के नोटों की पूर्ण साखहानि द्वारा जनित शून्य को भरने की ओर ही लक्षित थी; उस समय तक कि जब बैंक ऑफ़ इंगलैंड भी एक पाउंड के नोट जारी करे, यह शून्य केवल सोने द्वारा ही भरा जा सकता था (३०२२)।–१८२५ के नवंबर और दिसंबर में निर्यात प्रयोजनों के लिए सोने की ज़रा भी मांग नहीं थी (३०२३)।

"स्वदेश में और विदेश में भी साखहानि के दृष्टिगत लाभांशों और जमाओं की अदायगी न कर पाने का परिणाम बैंक नोटों की अदायगी निलंबित करने की बनिस्बत कहीं अधिक गंभीर होगा (३०२८)।"

"३०३५। क्या आप ऐसा नहीं कहेंगे कि ऐसी कोई भी घटना, जिसका परिणाम अंततः नोट की परिवर्तनीयता को ख़तरे में डालना हो, वह ही वाणिज्यिक दबाव की घड़ी में नयी, गंभीर कठिनाई पैदा करनेवाली हो सकती है?–हरगिज़ नहीं।"

"१८४७ के दौरान... संचलन विभाग से वर्धित निर्गमन बैंक ऑफ़ इंगलैंड की तिजोरियों को भरने में योग दे सकता था, जैसे उसने १८२५ में दिया था" (३०५८)।

१८५७ की बैंक अधिनियम समिति (*B. A.* 1857) के सामने साक्ष्य में न्यूमार्च कहते हैं: "१३५७। विभागों (बैंक के) के इस पृथक्करण का... पहला अनिष्टकर फल और... बुलियन की आरक्षित निधि दो भागों में कर देने का एक अनिवार्य परिणाम यह रहा है कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड का बैंकिंग कारबार, अर्थात बैंक ऑफ़ इंगलैंड के कार्य का वह सारा क्षेत्र, जो उसे देश के वाणिज्य के साथ अधिक निकटता से संपर्क में लाता है, सिर्फ़ अपनी निधि की पुरानी राशियों के अर्धांश पर ही चलाया जाता रहा है। इसलिए निधि के इस विभाजन से यह स्थिति पैदा हो गयी है कि जब भी बैंक विभाग की निधि कम हुई, चाहे थोड़ी ही हद तक सही, उसने बैंक द्वारा अपनी बट्टा दर पर कार्रवाई को आवश्यक बना दिया है। इसलिए इस न्यूनित निधि ने बट्टा दर में परिवर्तनों और झटकों का एक लगातार सिलसिला पैदा कर दिया है।"–"१३५८। १८४४ से" [जून, १८५७ तक] "हेरफेरों की संख्या कोई ६० रही है, जबकि १८४४ के पहले इतनी ही कालावधि में हेरफेर निश्चय ही दर्जन भर भी नहीं थे।"

१८११ से बैंक ऑफ़ इंगलैंड के एक निदेशक और कुछ समय के लिए उसके गवर्नर,

पामर, का *C. D.* 1848/57 पर लॉर्ड सभा की समिति के सम्मुख साक्ष्य विशेष दिलचस्पी का है :

"८२८। दिसंबर, १८२५ में बैंक में लगभग ११ लाख पाउंड का बुलियन शेष था। उस समय अगर यह अधिनियम [अर्थात १८४४ का अधिनियम] अस्तित्व में होता, तो वह निश्चय ही पूर्णतः दिवालिया हो गया होता। मेरे ख़्याल से दिसंबर में निर्गम हफ़्ते में ५० या ६० लाख के नोटों का था, जिसने उस समय व्याप्त दहशत को कम किया।"

"८२५। वह पहला समय [१ जुलाई, १८२५ के बाद], जब—अगर बैंक ऑफ़ इंगलैंड ने उस समय हाथ में लिये लेन-देनों को पूरा करने की कोशिश की होती, तो—वर्तमान अधिनियम असफल हो गया होता, २८ फ़रवरी, १८३७ था; उस समय बैंक ऑफ़ इंगलैंड के क़ब्ज़े में बुलियन के रूप में ३६ से ४० लाख पाउंड थे, और तब बैंक ऑफ़ इंगलैंड के पास आरक्षित निधि में सिर्फ़ साढ़े छः लाख पाउंड ही रह जाते। दूसरा समय १८३६ में है, जो ६ जुलाई से ५ दिसंबर तक चला।"—"८२६। उस मामले में निधि का परिमाण क्या था?— ५ सितंबर को निधि कुल मिलाकर २ लाख पाउंड न्यून थी। ५ नवंबर को वह बढ़कर लगभग दस या पंद्रह लाख हो गयी।"—"८३०। १८४४ के अधिनियम ने बैंक ऑफ़ इंगलैंड का १८३७ में अमरीकी व्यापार को सहायता देना रोका होता।"—"८३१। मुख्य अमरीकी प्रतिष्ठानों में तीन थे, जो दिवालिये हो गये... अमरीका से संबद्ध लगभग प्रत्येक प्रतिष्ठान साख-हानि की अवस्था में था और अगर बैंक उस समय आगे न आता, तो मुझे विश्वास नहीं कि एक या दो से अधिक प्रतिष्ठान अपने आपको बनाये रख पाते।"—"८३६। १८३७ के दबाव की १८४७ के दबाव से तुलना नहीं की जानी चाहिए। प्रथमोक्त वर्ष में दबाव मुख्यतः अमरीकी व्यापार तक ही सीमित था।"—८३८। (जून, १८३७ के आरंभ में बैंक के प्रबंधकों ने दबाव पर पार पाने के प्रश्न पर विचार किया था।) "कुछ सज्जनों ने यह राय दी... कि सही सिद्धांत ब्याज दर को चढ़ाना होगा, जिससे जिंसों के दाम गिर जायेंगे; संक्षेप में, द्रव्य को महंगा और जिंसों को सस्ता बनाना, जिससे परदेशी अदायगी कर दी जायेगी।"— "६०६। बैंक ऑफ़ इंगलैंड की शक्तियों के प्राचीन तथा नैसर्गिक परिसीमन, अर्थात उसकी बहुमूल्य धातुओं की वास्तविक मात्रा के बजाय १८४४ के अधिनियम के अंतर्गत बैंक ऑफ़ इंगलैंड की शक्तियों के एक कृत्रिम परिसीमन की स्थापना कृत्रिम कठिनाई और इसलिए मालों के दामों पर एक क्रिया को उत्पन्न करती है, जो अगर इस अधिनियम के प्रावधान न होते, तो अनावश्यक होती।"—"६६८। १८४४ के अधिनियम की क्रियाविधियों द्वारा सामान्य परिस्थितियों में बुलियन को ६५ लाख से बहुत नीचे नहीं किया जा सकता। तब वह दामों और साख पर दबाव पैदा करेगा, जिससे विदेशों के साथ विनिमय में इतना अग्रसारण हो जायेगा कि बुलियन का आयात बढ़ जायेगा और उस सीमा तक निर्गमन विभाग में रक़म को बढ़ा देगा।"—"६६६। आप [बैंक] अब जिस परिसीमन के अधीन हैं, उसमें उतनी हद तक चांदी आपके नियंत्रण में नहीं होती कि जितनी आपको उस समय चाहिए, जब विदेशी विनिमय दरों पर क्रिया करने के लिए चांदी की आवश्यकता होती है।"—"६६६। चांदी के परिमाण के मामले में बैंक ऑफ़ इंगलैंड पर पंचमांश का प्रतिबंध लगानेवाले विनियम का क्या लक्ष्य था?—मैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता।"

लक्ष्य द्रव्य को महंगा बनाना था; मुद्रा सिद्धांत के अलावा, बैंक के दोनों विभागों के पृथक किये जाने और स्कॉटिश तथा आयरिश बैंकों के लिए एक विशेष राशि के आगे जारी किये गये नोटों की प्रत्याभूति के लिए आरक्षित निधि में सोना रखने की शर्त का भी

यही लक्ष्य था। इसने राष्ट्रीय धातु निधि का विकेंद्रीकरण कर दिया, जिसने उसकी प्रतिकूल मुद्रा विनिमय दरों को सही करने की क्षमता को कम किया। निम्न सभी अनुबंधों का लक्ष्य ब्याज दर को चढ़ाना ही है – कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड १४० लाख से अधिक के नोट स्वर्ण निधि की प्रत्याभूति के बिना जारी नहीं करेगा; कि जब द्रव्य का प्राचुर्य हो, तब ब्याज दर को नीचे धकेलकर और जब द्रव्य दुर्लभ हो, तब उसे ऊपर ले जाकर बैंक विभाग को साधारण बैंकों की तरह ही संचालित किया जायेगा; महाद्वीप तथा एशिया के साथ विनिमय दरों को सही करने के मुख्य साधन के रूप में रजत निधि को परिसीमित करना; स्कॉटिश तथा आयरिश बैंकों के बारे में विनियम, जिन्हें स्वर्ण की निर्यात के लिए कभी आवश्यकता नहीं होती, लेकिन जिनके लिए अब उसे उनके नोटों की वास्तव में सत्याभासी परिवर्तनीयता को सुनिश्चित करने के बहाने रखना अनिवार्य है। तथ्य यह है कि १८४४ के अधिनियम ने स्कॉटिश बैंकों पर पहली बार १८५७ में सोने के लिए भागाभागी मचवा दी। न नया बैंक विधान सोने के विदेश को या आंतरिक प्रयोजनों के लिए अपवाह में ही कोई विभेद करता है, यद्यपि यह कहना अनावश्यक है कि उनके प्रभाव सर्वथा भिन्न होते हैं। यही बाजार ब्याज दर में निरंतर भारी उतार-चढ़ावों का कारण है। चांदी के संदर्भ में पामर दो भिन्न अवसरों पर, ६६२ और ६६४ में कहते हैं कि नोटों के बदले बैंक ऑफ़ इंगलैंड, चांदी सिर्फ़ तब ही ख़रीद सकता है कि जब विनिमय दर इंगलैंड के अनुकूल हो अर्थात जब चांदी का प्राचुर्य हो]; क्योंकि : "१००३। चांदी के रूप में बुलियन की काफ़ी मात्रा को रखे रहने का एकमात्र लक्ष्य जब तक विनिमय देश के प्रतिकूल रहें, तब तक विदेशी भुगतान करने को सुगम बनाना है।" – "१००४। चांदी... एक ऐसी जिंस है कि जो संसार के प्रत्येक अन्य भाग में द्रव्य होने के कारण... इस प्रयोजन के लिए" [विदेशी भुगतान के लिए] "सबसे सीधी जिंस है। सिर्फ़ संयुक्त राज्य अमरीका ने ही हाल के समय में सोना लिया है।"

उनके मतानुसार जब तक प्रतिकूल विनिमय दरें स्वर्ण का विदेशों को अपवाह न करें, तब तक बैंक ऑफ़ इंगलैंड के लिए दुर्लभता के समय ब्याज दर को अपने ५% के पुराने स्तर से ऊपर उठाना आवश्यक नहीं था। अगर १८४४ का अधिनियम न होता, तो बैंक अपने को पेश की गयी सभी वरिष्ठ हुंडियों को बिना किसी कठिनाई के चुकता कर सकता था। [१०१८-२०।] लेकिन १८४४ के अधिनियम के अंतर्गत और बैंक ने अक्तूबर, १८४७ में अपने को जिस अवस्था में पाया, उसमें "कोई ब्याज दर ऐसी नहीं थी, जो बैंक साखदार प्रतिष्ठानों से ले सकता था और जिसे अपनी अदायगियां कर पाने के लिए वे देने को तैयार न होते" [१०२२]। और यह ऊंची ब्याज दर ही तो अधिनियम का लक्ष्य था।

"१०२६... मैं ब्याज दर की विदेशी मांग [बहुमूल्य धातु के लिए] पर क्रिया और ब्याज दर में आंतरिक साखहानि के काल में बैंक ऑफ़ इंगलैंड पर मांग को रोकने के लक्ष्य से बढ़ोतरी के बीच बहुत बड़ा विभेद करना चाहता हूं।" – "१०२३। १८४४ के अधिनियम के पहले, जब विनिमय दरें देश के अनुकूल थीं, और देश भर में निश्चित संत्रास और आशंका का बोलबाला था, निर्गमन पर कोई सीमा नहीं लगायी गयी थी, जिसके द्वारा ही आपदा की उस अवस्था को सुधारा जा सकता था।"

यह बात एक ऐसा आदमी कह रहा है, जो ३६ साल बैंक ऑफ़ इंगलैंड में एक प्रशासकीय पद पर काम करता रहा है। आइये, अब एक निजी बैंकर, १८०१ से स्पूनर, एटवुड एंड कंपनी के एक सहयोगी, ट्वैल्स की बात सुनें। वह *B. C.* 1857 के सामने गवाही देनेवालों

में अकेले ऐसे हैं, जो हमें देश की वास्तविक परिस्थिति की आंतरिक झलक प्रदान करते हैं और जो संकट के आगमन को देखते हैं। लेकिन बाक़ी बातों में वह बर्मिंघम के एक छुटशिलिंगे* ही हैं, अपने सहयोगी एटवुड बंधुओं की ही भांति, जो इस संप्रदाय के संस्थापक हैं। (देखिये *Zur Kritik der pol. Oek.*, S. 59.) वह कहते हैं: "४४८८। आपकी राय में १८४४ के अधिनियम ने किस तरह काम किया है? – अगर मैं आपको बैंकर के नाते जवाब दूं, तो मैं कहूंगा कि उसने बहुत ही अच्छी तरह से काम किया है, क्योंकि उसने बैंकरों और सभी प्रकार के [द्रव्य] पूंजीपतियों को बहुत लाभकर परिणाम प्रदान किये हैं। लेकिन ईमानदार परिश्रमी व्यापारी के लिए इसका परिणाम बहुत बुरा रहा है, जिसे बट्टा दर में स्थिरता की आवश्यकता होती है, जिससे कि वह अपना इंतज़ाम विश्वास के साथ कर सके... इसने साहूकारी को अत्यंत लाभदायी व्यवसाय बना दिया है।" – "४४८९। यह [बैंक अधिनियम] लंदन के संयुक्त पूंजी बैंकों को अपने मालिकों को २० से २२% लाभांश देने में समर्थ बना देता है? उनमें से एक हाल ही में १८% दे रहा था और मेरे ख़याल से दूसरा २०% दे रहा था; उन्हें १८४४ के अधिनियम का बहुत जोरों से समर्थन करना चाहिए।" – "४४९०। छोटे व्यवसायियों और नेकनाम व्यापारियों को, जिनके पास बड़ी पूंजी नहीं है... यह सचमुच बहुत कष्ट पहुंचाता है... मेरे पास जानने का जो एकमात्र तरीक़ा है, वह यह है कि मैं उनकी सकारी हुंडियों की इतनी विस्मयजनक संख्या को अदत्त देखता हूं। वे सदा छोटी होती हैं, शायद २० पाउंड से १०० पाउंड तक की, उनमें से बहुत सी अदत्त रहती हैं और देश के सभी भागों को अदत्त ही वापस चली जाती हैं, जो हमेशा... छोटे दूकानदारों में कष्ट का सूचक है।" – ४४९४। वह बताते हैं कि व्यवसाय अब लाभदायी नहीं है। उनकी निम्न उक्तियां महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे यह दिखलाती हैं कि उन्होंने संकट के अप्रकट अस्तित्व को तब भी देख लिया था कि जब और किसी को उसका आभास तक भी नहीं था।

"४४९४। मिंसिंग लेन में क़ीमतें बनी रहती हैं, मगर हम कुछ नहीं बेचते, हम किसी भी शर्त पर नहीं बेच सकते; हम नाममात्र दाम बनाये रखते हैं।" – ४४९५। वह इस मामले के बारे में बताते हैं – एक फ़्रांसीसी मिंसिंग लेन में एक दलाल के पास ३,००० पाउंड की जिंसें एक ख़ास दाम पर बेचने के लिए भेजता है। दलाल बताया हुआ दाम नहीं प्राप्त कर पाता और फ़्रांसीसी उस दाम के नीचे नहीं बेच सकता। चीजें अनबिकी रहती हैं, लेकिन फ़्रांसीसी को पैसा चाहिए। इसलिए दलाल उसे इस शर्त पर १,००० पाउंड अग्रिम दे देता है कि फ़्रांसीसी अपनी जिंसों की ज़मानत पर दलाल को तीन महीने की मीयाद का १,००० पाउंड का विपत्र कर दे। तीन महीने के अंत में विपत्र देय हो जाता है, लेकिन जिंसें अब भी नहीं बिकी हैं। दलाल को अब विपत्र का भुगतान करना होगा और चाहे उसके पास ३,००० पाउंड की प्रत्याभूति है, पर वह उसे नक़द में नहीं बदल सकता और फलतः मुश्किल में पड़ जाता है। इस तरह से एक आदमी अपने साथ दूसरे को भी ले डूबता है। – "४४९६। भारी निर्यातों के संदर्भ में ... जब स्वदेश में व्यापार मंदा होता है, तो वह अनिवार्यतः भारी निर्यात करवाता है।" – "४४९७। क्या आप सोचते हैं कि घरेलू उपभोग घट गया है? – **सचमुच बहुत... अत्यधिक... दूकानदार श्रेष्ठतम प्रमाण हैं।**" – "४४९८। फिर भी आयात बहुत भारी है, क्या यह भारी

---

*छुटशिलिंगे लोग (little-shilling men) अर्थशास्त्र में उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में उत्पन्न बर्मिंघम संप्रदाय के लिए प्रयुक्त नाम ही है। – सं०

उपभोग नहीं दिखलाता है? – दिखाता है, **बशर्ते कि आप बेच सकें;** लेकिन बहुत से गोदाम इन चीज़ों से भरे पड़े हैं; मैं जो मिसाल दे रहा था, उसी में ३,००० पाउंड का आयातित माल पड़ा हुआ है, जो बिक नहीं रहा है।"

"४५१४। अगर द्रव्य महंगा हो, तो क्या आप यह कहेंगे कि पूंजी सस्ती है? – हां।" तो यह व्यक्ति ओवरस्टोन की इस राय से हरगिज़ सहमत नहीं है कि ऊंची ब्याज दर और महंगी पूंजी एक ही चीज़ हैं।

निम्नलिखित यह दर्शाता है कि कारबार अब कैसे किया जाता है: "४६१६। दूसरे लोग बहुत ज़्यादा हद तक जा रहे हैं, आयात-निर्यात में इस पैमाने पर ज़बरदस्त व्यापार कर रहे हैं कि जो उनकी पूंजी से उनके लिए जितना संभव था, उससे कहीं आगे है; इस सब के बारे में कोई शक नहीं हो सकता। ये लोग सफल हो सकते हैं, किसी शुभ सौदे द्वारा वे बड़ी दौलत पा सकते हैं और अपनी हालत को संभाल सकते हैं। बहुत कुछ इसी तरीक़े से काफ़ी कारबार अब किया जाता है। लोग माल के एक परेषण पर २०, ३० और ४० प्रतिशत भी गंवाने को तैयार हो जायेंगे – अगला सौदा उसकी भरपाई कर सकता है। अगर वे एक के बाद दूसरे में असफल होते जायें, तो वे बरबाद हो जाते हैं और हाल के समय में हमने अकसर यही होते देखा है – व्यापारिक प्रतिष्ठान एक शिलिंग की भी संपत्ति छोड़े बिना बरबाद हो गये हैं।"

"४७९१। यह सही है कि नीची ब्याज दर [पिछले १० साल के दौरान] बैंकरों के ख़िलाफ़ जाती है, लेकिन अगर मैं आपको बहियां न दिखा पाऊं, तो मुझे आपको यह समझा पाने में बहुत मुश्किल होगी कि लाभ [स्वयं उनके] पहले जितने हुआ करते थे, अब उनकी बनिस्बत कितने ऊंचे हैं। जब अत्यधिक निर्गमनों की बदौलत ब्याज नीचा होता है, तो हमारे पास जमाएं ज़्यादा आती हैं और अगर ब्याज ऊंचा होता है, तो वह हमारे लिए वैसे ही लाभदायी होता है।" – "४७९४। जब द्रव्य नीची दर पर उपलब्ध होता है, तो हमारे पास उसकी ज़्यादा मांग होती है, हम ज़्यादा उधार देते हैं, वह इस तरह [हम बैंकरों के लिए] काम करती है। जब वह ऊंची हो जाती है, तो हमें वाजिब अनुपात से ज़्यादा ही ब्याज मिलता है, हमें जितना मिलना चाहिए, उससे अधिक ही मिलता है।"

हम देख चुके हैं कि बैंक ऑफ़ इंगलैंड की नोटों की साख को सभी विशेषज्ञ संदेहातीत मानते हैं। फिर भी बैंक अधिनियम सोने में नब्बे से सौ लाख को इन नोटों की परिवर्तनीयता के लिए पूरी तरह से बांध देता है। इस प्रकार इस निधि की पवित्रता और अनुल्लंघनीयता उससे भी अधिक हो जाती है कि जितनी पुराने ज़माने के ज़ख़ीरेख़ोरों के बीच हुआ करती थी। श्री ब्राउन (लीवरपूल) अपने साक्ष्य में कहते हैं, *C. D.*, 1847/57: "२३११। यह धन [निर्गमन विभाग में धातु संचिति] तो उस समय वह जिस भी उपयोग में था, उससे सीधे-सीधे समुद्र में भी फेंका जा सकता था, क्योंकि ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जो संसद के अधिनियम का उल्लंघन किये बिना उसके किसी भी हिस्से को उपयोग में ला सके।"

निर्माण ठेकेदार ई० कैप्स, जिन्हें पहले ही उद्धृत किया जा चुका है और जिनके साक्ष्य का लंदन में आधुनिक निर्माण पद्धति को दर्शाने के लिए उपयोग भी किया गया है (दूसरी पुस्तक, अध्याय १२*), १८४४ के बैंक अधिनियम के बारे में अपनी राय का इस प्रकार समाहार करते हैं [*B. A.* 1857]: "५५०८। तो क्या कुल मिलाकर... आप समझते हैं कि वर्तमान

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड २, पृष्ठ २१०-११। – सं०

पद्धति [बैंक विधान की] उद्योग के लाभों को समय-समय पर सूदखोर के थैले में लाने की एक दक्ष युक्ति जैसी है? – मैं ऐसा ही समझता हूं। मैं जानता हूं कि निर्माण व्यवसाय में उसने ऐसे ही काम किया है।"

जैसे कि पहले बतलाया जा चुका है, स्कॉटिश बैंकों को १८४५ के बैंक अधिनियम द्वारा आंग्ल बैंकों से मिलती-जुलती पद्धति अपनाने के लिए विवश कर दिया गया था। उन्हें प्रत्येक बैंक के लिए निर्धारित सीमा के आगे अपने नोट निर्गमन के लिए आरक्षित निधि में सोना रखना पड़ता था। इसका प्रभाव *C.D.*, 1848/57 के सामने निम्न साक्ष्य से देखा जा सकता है।

एक स्कॉटिश बैंक के निदेशक, कैनेडी: "३३७५। क्या १८४५ के अधिनियम के पारित होने के पहले स्कॉटलैंड में कोई ऐसी चीज़ थी कि जिसे आप स्वर्ण संचलन कह सकें? – बिलकुल भी नहीं।" – "३३७६। क्या उसके बाद कोई अतिरिक्त स्वर्ण संचलन हुआ है? – बिलकुल भी नहीं, लोग सोने को नापसंद करते हैं।" – ३४५०। सोने के रूप में लगभग ६,००,००० पाउंड की रक़म, जो स्कॉटिश बैंकों को १८४५ से रखनी पड़ती है, उनकी राय में सिर्फ़ नुक़सानदेह ही हो सकती है और "स्कॉटलैंड की पूंजी के इतने बड़े हिस्से को अलाभकर रूप में जज़्ब कर लेती है।"

इसके अलावा, यूनियन बैंक ऑफ़ स्कॉटलैंड के निदेशक, एंडरसन: "३५८८। स्कॉटलैंड के बैंकों द्वारा बैंक ऑफ़ इंगलैंड पर डाला जानेवाला एकमात्र दबाव विदेशी विनिमय के लिए सोने के वास्ते था? – हां, और उसे एडिनबरा में सोना रखकर कम नहीं किया जा सकता।" – "३५६०। बैंक ऑफ़ इंगलैंड में" [या इंगलैंड के निजी बैंकों में] "हमारी प्रतिभूतियों की उतनी ही मात्रा होने के कारण बैंक ऑफ़ इंगलैंड से अपवाह करवाने की हमारे पास वही शक्ति है, जो पहले थी।"

अंत में हम *Economist* से एक लेख (विलसन का) उद्धृत करते हैं: "स्कॉच बैंक अपने लंदन अभिकर्ताओं के पास नक़दी की अनियोजित राशियां रखते हैं, ये लोग उन्हें बैंक ऑफ़ इंगलैंड में रखते हैं। इससे स्कॉच बैंकों को, इन राशियों की सीमाओं के भीतर, बैंक ऑफ़ इंगलैंड की धातु निधि पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है, और यहां वह हमेशा वहीं रहती है, जहां विदेशी अदायगियां करते समय उसकी ज़रूरत होती है।" – इस पद्धति को १८४५ के अधिनियम ने गड़बड़ा दिया। स्कॉटलैंड के लिए १८४५ के अधिनियम के परिणामस्वरूप "हाल के समय में स्कॉटलैंड में मात्र एक प्रासंगिक मांग की पूर्ति के लिए, जो शायद कभी पैदा ही न हो, बैंक ऑफ़ इंगलैंड के सिक्के का बड़ा अपवाह हुआ है... उस समय से काफ़ी बड़ी रक़म स्कॉटलैंड में लगातार बंधी रही है और ख़ासी बड़ी और रक़म बराबर लंदन और स्कॉटलैंड के बीच आती-जाती रही है। अगर कोई ऐसा वक़्त आता है कि जब कोई स्कॉच बैंक अपने नोटों की वर्धित मांग की अपेक्षा करता है, तो लंदन से सोने से भरा संदूक़ लाया जाता है और जब यह वक़्त गुज़र जाता है, तो उसी संदूक़ को, आम तौर पर खोले बिना ही, लंदन वापस भेज दिया जाता है।" (*Economist*, October 23, 1847 [pp. 1214-1215].)

[और बैंक अधिनियम के जनक, बैंकर सैम्युएल जोन्स लॉयड, उर्फ़ लॉर्ड ओवरस्टोन, इस सब के बारे में क्या कहते हैं?

१८४८ में ही उन्होंने लॉर्ड सभा की वाणिज्यिक संकट संबंधी समिति के सामने दुहराया था कि "दबाव और पर्याप्त पूंजी की न्यूनता से जनित ऊंची ब्याज दर को बैंक नोटों के अतिरिक्त निर्गमन द्वारा घटाया नहीं जा सकता" (१५१४), बावजूद इस तथ्य के कि सरकार के

२५ अक्तूबर, १८४७ के पत्र द्वारा प्रदत्त नोट निर्गमन बढ़ाने का **प्राधिकार** मात्र संकट की प्रचंडता को कम करने के लिए काफ़ी सिद्ध हुआ था।

उनका मत है कि "ऊंची ब्याज दर और कारख़ानेदारों के लाभों का गिरना औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रयोजनों के लिए प्रयोज्य **भौतिक** पूंजी के ह्रास का अनिवार्य परिणाम था" (१६०४)। और तिस पर भी कारख़ाना उद्योग की अवनत अवस्था महीनों से भौतिक पण्य पूंजी के गोदामों को लबालब भर देने में और वस्तुतः अविक्रेय हो जाने में सन्निहित थी, जिससे कि ठीक इसी कारण भौतिक उत्पादक पूंजी पूर्णतः या अंशतः निष्क्रिय पड़ी हुई थी, ताकि और अधिक अविक्रेय पण्य पूंजी न उत्पादित हो।

और १८५७ की बैंक समिति के सामने वह कहते हैं: "१८४४ के अधिनियम के सिद्धांतों के कठोर और तात्कालिक अनुपालन द्वारा सभी कुछ नियमितता और आसानी से हो गया है, मुद्रा प्रणाली सुरक्षित और अविचल है, देश की समृद्धि निर्विवाद्य है, १८४४ के अधिनियम की दूरदर्शिता में सार्वजनिक विश्वास दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है, और अगर समिति जिन सिद्धांतों पर वह आधारित है, उनकी, अथवा उसने जिन हितकारी परिणामों को सुनिश्चित किया है, उनकी युक्तियुक्तता का और व्यावहारिक दृष्टांत चाहे, तो समिति को खरा और पक्का जवाब होगा, अपने आसपास देखिये, इस देश में व्यवसाय की वर्तमान अवस्था को देखिये, लोगों के संतोष को देखिये, समाज के प्रत्येक वर्ग में परिव्याप्त ऐश्वर्य और समृद्धि को देखिये, और ऐसा कर लेने के बाद समिति से इसका निर्णय करने के लिए कहना उचित ही होगा क्या वह एक ऐसे अधिनियम के सातत्य में बाधा डालेगी, जिसके अंतर्गत ये परिणाम उत्पन्न किये गये हैं।" (*B. C.*, 1857, क्रमांक ४१८९।)

समिति के सामने १४ जुलाई को ओवरस्टोन द्वारा गायी गयी इस प्रशस्ति की प्रतिगति-पदी उसी वर्ष के १२ नवंबर को बैंक के प्रबंधकमंडल के नाम एक पत्र की सूरत में दी गयी, जिसमें सरकार ने जो कुछ अब भी बच सके, उसे बचाने की ख़ातिर १८४४ के चमत्कारी क़ानून को निलंबित कर दिया। – फ़्रे० एं०]

अध्याय ३५

बहुमूल्य धातु तथा विनिमय दर

१. आरक्षित स्वर्ण निधि की गति

अभाव के समय नोटों के संचय के प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि समाज की सबसे आदिम अवस्थाओं में मुसीबत के वक़्तों में बहुमूल्य धातुओं की जिस तरह जमाख़ोरी की जाती थी, यह उसी की पुनरावृत्ति है। १८४४ का अधिनियम अपनी क्रियाविधि में इसलिए रोचक है कि वह देश में विद्यमान समस्त बहुमूल्य धातु को एक संचलनशील माध्यम में रूपांतरित करने का प्रयास करता है; वह स्वर्ण अपवाह को संचलनशील माध्यम के संकुचन के साथ और स्वर्ण के पश्चप्रवाह को संचलनशील माध्यम के प्रसार के साथ समीकृत करने का प्रयास करता है। परिणामस्वरूप प्रयोग ने सिद्ध किया कि बात उलटी ही है। एक अकेले अपवाद के सिवा, जिसका हम जल्दी ही उल्लेख करेंगे, बैंक ऑफ़ इंगलैंड के संचलनगत नोटों का परिमाण, १८४४ के बाद से, कभी उस अधिकतम तक नहीं पहुंचा है, जहां तक उसे जारी करने का अधिकार था। दूसरी ओर, १८५७ के संकट ने सिद्ध किया कि यह अधिकतम कुछेक परिस्थितियों में पर्याप्त नहीं होता। १३ से ३० नवंबर, १८५७ तक इस अधिकतम के ऊपर औसतन ४,८८,८३० पाउंड प्रतिदिन संचलन में था (*B. A.*, 1858, p. XI.)। उस समय का वैध अधिकतम बैंक की तिजोरियों में आरक्षित धातु निधि के अलावा १,४४,७५,००० पाउंड था।

बहुमूल्य धातु के बहिर्वाह तथा अंतर्वाह के बारे में निम्नलिखित बातें द्रष्टव्य हैं:

पहली बात, एक ओर, धातु की ऐसे प्रदेश के भीतर इधर-उधर गति में, जो सोने-चांदी का बिलकुल भी उत्पादन नहीं करता, और दूसरी ओर, सोने-चांदी के अपने उत्पादन के स्रोतों से विभिन्न अन्य देशों को प्रवाह और इस अतिरिक्त धातु के उनके बीच वितरण में विभेद किया जाना चाहिए।

उन्नीसवीं सदी के आरंभ से, जब तक रूस, कैलीफ़ोर्निया और ऑस्ट्रेलिया की स्वर्ण खदानों ने अपने प्रभाव को अनुभूत नहीं करवाया, सोने की पूर्ति घिसे हुए सिक्कों की प्रतिस्थापना करने के लिए, आम उपयोग में विलास वस्तुओं के लिए, और एशिया को चांदी के निर्यात के लिए ही काफ़ी रहती थी।

लेकिन, एक तो उसके बाद से अमरीका और यूरोप के एशियाई व्यापार के कारण एशिया को रजत निर्यात असाधारणतः बढ़ गये हैं। यूरोप से निर्यातित चांदी अधिकांशतः सोने की अतिरिक्त पूर्ति से प्रतिस्थापित होती थी। दूसरे, नवआयातित सोने का एक अंश आंतरिक मुद्रा संचलन द्वारा आत्मसात कर लिया जाता था। अनुमान लगाया जाता है कि १८५७ तक सोने

के रूप में लगभग ३०० लाख पाउंड इंगलैंड के आंतरिक संचलन में जोड़े गये थे।[14] इसके अलावा, १८४४ के बाद से यूरोप तथा अमरीका के सभी केंद्रीय बैंकों में धातु संचिति का औसत स्तर बढ़ा है। साथ ही घरेलू मुद्रा संचलन के प्रसार के परिणामस्वरूप संत्रास के बाद आनेवाले गतिहीनता के दौर में सोने के सिक्कों की अधिक बड़ी मात्रा के घरेलू संचलन के बाहर धकेले जाने और निश्चल होने के कारण बैंक संचितियों में ज्यादा तेजी के साथ वृद्धि हुई। अंततः, नये स्वर्ण निक्षेपों की खोज के बाद से बढ़ी हुई संपदा के परिणामस्वरूप विलास वस्तुओं के लिए बहुमूल्य धातु की खपत बढ़ी।

दूसरी बात, उन देशों के बीच, जो सोने या चांदी का बिलकुल भी उत्पादन नहीं करते, बहुमूल्य धातु इधर-उधर प्रवाहित होती रहती है; एक ही देश निरंतर उसका आयात और निर्यात भी करता होता है। अंततोगत्वा केवल इस गति का एक या दूसरी दिशा में अधिक प्रचलन ही यह निर्धारित करता है कि बहुमूल्य धातु का अपवाह हुआ है या संवर्धन, क्योंकि केवल दोलन और प्रायिक समांतर गतियां एक दूसरे को अधिकांशतः निराकृत कर देते हैं। लेकिन इसी कारण, जहां तक परिणाम का संबंध है, दोनों गतियों की निरंतरता, और समूचे तौर पर समांतर क्रम को नजरअंदाज कर दिया जाता है। बहुमूल्य धातु के अपेक्षाकृत अधिक आयात अथवा अपेक्षाकृत अधिक निर्यात को हमेशा जिंसों के आयात तथा निर्यात के बीच संबंध का परिणाम और अभिव्यक्ति ही समझ लिया जाता है, जबकि वह साथ-साथ जिंस व्यापार से सर्वथा स्वतंत्र स्वयं बहुमूल्य धातु के निर्यात तथा आयात के बीच संबंध का भी सूचक होता है।

तीसरी बात, निर्यात पर आयात का, और प्रतिक्रमतः आयात पर निर्यात का प्राधान्य समूचे तौर पर केंद्रीय बैंकों की आरक्षित धातु निधियों में बढ़त अथवा घटत द्वारा मापा जाता है। इस कसौटी की कम या अधिक परिशुद्धता स्वाभाविकतया मुख्यतः सामान्य रूप में बैंकिंग व्यवसाय के केंद्रीकरण की मात्रा पर निर्भर करती है। कारण कि तथाकथित राष्ट्रीय बैंकों में सामान्यरूपेण संचित बहुमूल्य धातु जिस हद तक राष्ट्रीय धातु निधि को प्रकट करती है, वह इसी पर निर्भर करती है। लेकिन अगर मान लिया जाये कि बात यही है, तो यह कसौटी यथातथ्य नहीं, है, क्योंकि अतिरिक्त आयात कुछेक परिस्थितियों में घरेलू संचलन तथा विलास

---

[14] न्यूमार्च का निम्न साक्ष्य यह दर्शाता है कि मुद्रा बाजार पर इसका क्या प्रभाव पड़ा था: "१५०९। १८५३ के अंत में जन-मानस में काफ़ी आशंका थी, और उस साल सितंबर में बैंक ऑफ़ इंगलैंड ने अपनी बट्टा दर तीन बार चढ़ायी... अक्तूबर के प्रारंभ में जन-मानस में काफ़ी आशंका और घबराहट थी। नवंबर के अंत तक यह आशंका और घबराहट काफ़ी हद तक कम हो गयी थी और ऑस्ट्रेलिया से लगभग ५०,००,००० पाउंड की बहुमूल्य धातु के आगमन के परिणामस्वरूप लगभग पूरी तरह से दूर हो गयी थी ... अक्तूबर और नवंबर के महीनों में लगभग ६०,००,००० पाउंड की बहुमूल्य धातु की आमद के परिणामस्वरूप १८५४ के शरद में भी यही हुआ। १८५५ के शरद में, जो हम जानते हैं कि उत्तेजना और आशंका का दौर था, सितंबर, अक्तूबर और नवंबर के तीन महीनों में लगभग ८०,००,००० पाउंड की बहुमूल्य धातु की आमदों के परिणामस्वरूप फिर यही बात हुई, और फिर पिछले साल, १८५६, के अंत में भी हम बिलकुल यही होता देखते हैं। सच तो यह है कि मैं यह बात समिति के लगभग प्रत्येक सदस्य के अनुभव पर छोड़ सकता हूं कि हर वित्तीय संकट के समय हमें जिस स्वाभाविक और संपूर्ण समाधान की तरफ़ देखने की आदत पड़ गयी है, 'क्या वह सोने को लेकर आनेवाले किसी जहाज का आगमन ही नहीं है" [*B. A.*, 1857.]।

वस्तुएं उत्पादित करने में सोने तथा चांदी की बढ़ती खपत द्वारा आत्मसात किया जा सकता है; इसके अलावा इसलिए कि अतिरिक्त आयात के बिना घरेलू संचलन के लिए सोने के सिक्कों का आहरण हो सकता है और इस प्रकार धातु निधि निर्यातों में वृद्धि के बिना भी घट सकती है।

चौथी बात, धातु का निर्यात ह्रास की गति के लंबे समय तक चलने की हालत में अपवाह का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, जिससे कि घटत गति की एक आम प्रवृत्ति को व्यक्त करती है और बैंक की धातु निधि को उसके औसत स्तर से काफ़ी नीचा, लगभग उसके औसत न्यूनतम स्तर के बराबर कर देती है। यह न्यूनतम स्तर कमोबेश मनमाने तौर पर नियत किया जाता है, क्योंकि नोटों के भुनाने के लिए प्रत्याभूति, आदि के बारे में विधान द्वारा यह हर अलग मामले में अलग ढंग से निर्धारित किया जाता है। इंगलैंड में ऐसा अपवाह जिस मात्रात्मक सीमा तक पहुंच सकता है, उसके बारे में न्यूमार्च ने १८५७ की बैंक अधिनियम समिति के सम्मुख साक्ष्य में कहा था (*B. A.*, 1857, क्रमांक १४६४): "अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि इसकी संभावना बहुत कम ही है कि विदेश व्यापार में किसी भी उतार-चढ़ाव से जनित बहिर्वाह ३० या ४० लाख पाउंड के आगे जाये।" – १८४७ में बैंक ऑफ़ इंगलैंड का निम्नतम स्वर्ण निधि स्तर, जो २३ अक्तूबर को था, २६ दिसंबर, १८४६ की तुलना में ५१, ९८, १५६ पाउंड की घटत, और १८४६ के उच्चतम स्तर (२६ अगस्त को) की तुलना में ६४, ५३, ७४८ पाउंड की घटत दर्शाता था।

पांचवीं बात, तथाकथित राष्ट्रीय बैंकों की धातु निधि का निर्धारण, तथापि ऐसा निर्धारण कि जो अपने आप इस धातु संचय के परिमाण का नियमन नहीं करता, क्योंकि वह मात्र घरेलू तथा विदेश व्यापार की निश्चलता से ही बढ़ सकता है, त्रिविध होता है: १) अंतर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिए आरक्षित निधि, अर्थात विश्व द्रव्य की आरक्षित निधि; २) बारी-बारी से प्रसार तथा संकुचन करनेवाले घरेलू धातु मुद्रा संचलन की आरक्षित निधि; ३) जमाओं की अदायगी और नोटों की विनिमेयता के लिए आरक्षित निधि (यह बैंक के कार्य से संबद्ध है और इसका अपने में द्रव्य के कार्यों से कोई संबंध नहीं है)। इसलिए आरक्षित निधि उन अवस्थाओं से भी प्रभावित हो सकती है, जो इन तीनों कार्यों में से प्रत्येक को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय कोष के नाते वह भुगतान शेष द्वारा प्रभावित हो सकती है, चाहे भुगतान शेष का निर्धारण किन्हीं भी कारकों द्वारा क्यों न किया जाता हो और उसका व्यापार शेष के साथ चाहे कोई भी संबंध क्यों न हो। घरेलू धातु मुद्रा संचलन के लिए आरक्षित निधि के नाते वह उसके प्रसार अथवा संकुचन से प्रभावित हो सकती है। तीसरा – प्रतिभूति निधि का – कार्य आरक्षित धातु निधि की स्वतंत्र गति को तो बेशक निर्धारित नहीं करता, मगर उसका द्विविध प्रभाव होता है। अगर घरेलू संचलन में धातु मुद्रा (जिन देशों में चांदी मूल्य का माप है, उनमें चांदी के सिक्कों समेत) को प्रतिस्थापित करनेवाले नोट जारी किये जाते हैं, तो आरक्षित निधि का २) के अंतर्गत कार्य जाता रहता है। बहुमूल्य धातु का एक अंश, जो इस कार्य को संपन्न करने के काम आता था, लंबे समय तक विदेश पहुंचता रहेगा। इस मामले में धात्विक सिक्कों को घरेलू संचलन के लिए बैंक से निकाला नहीं जाता है और इसके साथ ही संचलनशील सिक्कारूप धातु के एक भाग के निश्चलीकरण द्वारा आरक्षित धातु निधि का अस्थायी संवर्धन अनावश्यक बन जाता है। इसके अलावा, अगर आरक्षित धातु निधि के एक न्यूनतम का जमाओं की अदायगी के लिए और नोटों की विनिमेयता के लिए सभी परिस्थितियों

में रखा जाना आवश्यक है, तो यह सोने के अपवाह अथवा प्रतिवाह के परिणामों को अपने ही ढंग से प्रभावित करता है; यह निधि के उस भाग को, जिसे बैंक को हर हालत में बनाये रखना होता है, अथवा उस भाग को प्रभावित करता है, जिससे वह कुछेक अवसरों पर निष्प्रयोज्य होने के नाते छुटकारा पाना चाहता है। अगर संचलन सिर्फ़ धात्विक ही होता और बैंकिंग व्यवसाय संकेंद्रित होता, तो बैंक को इसी प्रकार अपनी आरक्षित धातु निधि को अपनी जमाओं की अदायगी के लिए प्रतिभूति मानना होता और धातु का अपवाह वैसी ही दहशत पैदा कर देता, जैसी १८५७ में हैंबर्ग में देखने में आयी थी।

छठी बात, संभवतः १८३७ को छोड़कर वास्तविक संकट सदा विनिमय दरों में परिवर्तन के बाद, अर्थात बहुमूल्य धातु के आयात के उसके निर्यात पर फिर प्राधान्य प्राप्त करने के साथ ही फूटे हैं।

१८२५ में वास्तविक महापात का आगमन सोने का अपवाह ख़त्म होने के बाद हुआ था। १८३९ में सोने का अपवाह हुआ था, किंतु उसके कारण महापात नहीं हुआ। १८४७ में स्वर्ण अपवाह अप्रैल में ख़त्म हो गया था और महापात अक्तूबर में हुआ। १८५७ में विदेशों को सोने का अपवाह शुरू नवंबर में ख़त्म हो गया था और महापात का आगमन उस महीने के अंत में जाकर ही हुआ।

यह १८४७ के संकट में विशेषकर प्रत्यक्ष है, जब सोने का अपवाह मामूली प्रारंभिक संकट पैदा करने के बाद अप्रैल में ख़त्म हो गया था और वास्तविक व्यावसायिक संकट का आगमन अक्तूबर में जाकर ही हुआ।

निम्न साक्ष्य लॉर्ड सभा की १८४७ की वाणिज्यिक संकट संबंधी गुप्त समिति के सम्मुख प्रस्तुत किया गया था। यह साक्ष्य १८५७ में जाकर ही छापा गया (इसे पहले *C. D.*, 1848/57 भी कहा गया है)।

टूक का साक्ष्य: अप्रैल, १८४७ में क़िल्लत पैदा हो गयी, जो सही-सही अर्थों में तो दहशत के बराबर थी, लेकिन अपेक्षाकृत अल्पकालिक थी और जिसके दौरान कोई महत्वपूर्ण वाणिज्यिक दिवाले नहीं निकले थे। अक्तूबर में क़िल्लत अप्रैल में किसी भी समय की अपेक्षा कहीं अधिक तेज़ थी और वाणिज्यिक दिवालों की संख्या लगभग अश्रुतपूर्व थी (२९९६)।– अप्रैल में विनिमय दरों ने, विशेषकर अमरीका के साथ, हमें असाधारणतः भारी आयातों के लिए सोने की काफ़ी मात्रा का निर्यात करने के वास्ते मजबूर कर दिया; अत्यधिक प्रयास द्वारा ही बैंक ऑफ़ इंगलैंड ने अपवाह को रोका और दरों को ऊपर चढ़ाया (२९९७)।–अक्तूबर में विनिमय दरें इंगलैंड के अनुकूल थीं (२९९८)।–विनिमय दरों में परिवर्तन अप्रैल के तीसरे हफ़्ते में ही आना शुरू हो गया था (३०००)।– जुलाई और अगस्त में वे घटती-बढ़ती रहीं; अगस्त के आरंभ से वे हमेशा इंगलैंड के अनुकूल रही हैं (३००१)।–अगस्त में स्वर्ण अपवाह आंतरिक संचलन की मांग से उत्पन्न हुआ था [३००३]।

बैंक ऑफ़ इंगलैंड के गवर्नर, जे० मॉरिस: यद्यपि विनिमय दर अगस्त, १८४७ से इंगलैंड के अनुकूल थी और परिणामस्वरूप सोने का आयात हुआ था, फिर भी बैंक आफ़ इंगलैंड की बुलियन निधि घटी। "२२,००,००० पाउंड आंतरिक मांग के परिणामस्वरूप देश के संचलन में चले गये" (१३७)।–इसका कारण, एक ओर, रेल निर्माण में मज़दूरों का वर्धित नियोजन, और दूसरी ओर, "बैंकरों की संकट के वक़्तों में सोने का पूर्वसंचय करने की इच्छा का तथ्य" (१४७) बताया जाता है।

बैंक ऑफ़ इंगलैंड के भूतपूर्व गवर्नर और १८११ से एक निदेशक, पामर: "६८४। मध्य अप्रैल, १८४७ से लेकर १८४४ के अधिनियम की प्रतिबंधी धारा के हटाये जाने के दिन तक की सारी अवधि में विदेशी विनिमय इस देश के अनुकूल थे।"

इस प्रकार, वह बुलियन अपवाह, जिसने अप्रैल, १८४७ में एक स्वतंत्र मुद्रा संत्रास पैदा किया था, हमेशा की तरह यहां संकट का केवल पुरोगामी ही था और मोड़ उसके फूट पड़ने के पहले ही आ चुका था। १८३९ में, जब कारबार में सख़्त मंदी आयी हुई थी, अनाज, आदि के लिए बुलियन का भारी अपवाह हुआ था, लेकिन बिना संकट के और बिना मुद्रा संत्रास के।

सातवीं बात, जैसे ही आम संकट अवसन्न होते हैं कि सोना और चांदी – उत्पादक देशों से नयी बहुमूल्य धातु के अंतर्वाह को छोड़कर – एक बार फिर उन्हीं अनुपातों में वितरित हो जाते हैं, जिनमें वे विभिन्न देशों के अलग-अलग संचयों के रूप में साम्यावस्था में थे। अन्य अवस्थाएं समान हों, तो प्रत्येक देश में संचय का सापेक्ष परिमाण विश्व मंडी में उस देश की भूमिका द्वारा निर्धारित होगा। वे उस देश से, जिसके पास अपने सामान्य अंश से अधिक था, सामान्य से कम परिमाणवाले देश को प्रवाहित होते हैं। बहिर्वाही और अंतर्वाही धातु की ये गतियां विभिन्न राष्ट्रीय आरक्षित निधियों में मूल वितरण को बस बहाल ही करती हैं। किंतु यह पुनर्वितरण विभिन्न परिस्थितियों के प्रभावों द्वारा संपन्न किया जाता है, जिन्हें हम विनिमय दरों के अपने विवेचन में लेंगे। जैसे ही सामान्य वितरण की फिर बहाली होती है कि उसी क्षण से वृद्धि की और इसके बाद फिर अपवाह की मंज़िल शुरू हो जाती है। [निस्संदेह, यह अंतिम कथन विश्व मुद्रा बाज़ार के केंद्र के नाते सिर्फ़ इंगलैंड पर ही लागू होता है। – फ़्रे० एं०]

आठवीं बात, धातु का अपवाह सामान्यतः विदेश व्यापार की अवस्था में परिवर्तन का लक्षण होता है और अपनी बारी में यह परिवर्तन इसका सूचक होता है कि अवस्थाएं फिर संकट पर पहुंच रही हैं।[15]

नवीं बात, भुगतान शेष यूरोप और अमरीका के प्रतिकूल एशिया के अनुकूल हो सकता है।[16]

बहुमूल्य धातु का आयात मुख्यतः दो अवधियों में होता है। एक ओर, यह नीची ब्याज दर के पहले चरण में, जो संकट के बाद आता है और उत्पादन के परिसीमन को प्रतिबिंबित

---

[15] न्यूमार्च के अनुसार विदेशों को स्वर्ण अपवाह तीन कारणों से उत्पन्न हो सकता है: १) शुद्ध वाणिज्यिक अवस्थाओं से, अर्थात अगर आयात निर्यातों से अधिक हो गये हैं, जैसे १८३६ से १८४४ तक, और फिर १८४७ में मुख्यतः अनाज के भारी आयात के कारण था; २) विदेशों में अंग्रेज़ी पूंजी निवेशित करने के साधन पाने के लिए, जैसे १८५७ में भारत में रेलों के लिए; और ३) विदेशों में निश्चित ख़र्चों के लिए, जैसे १८५३ और १८५४ में पूर्व में युद्ध प्रयोजनों के लिए।

[16] १९१८। न्यूमार्च। "अगर आप भारत और चीन को एकसाथ ले लें, अगर आप भारत और ऑस्ट्रेलिया के बीच लेन-देनों को, और चीन तथा अमरीका के बीच और भी अधिक महत्वपूर्ण लेन-देनों को, क्योंकि व्यापार तिकोना है, और हमारे ज़रिये होनेवाले समायोजन को अपने ध्यान में लायें... तो यह सही है कि व्यापार शेष न केवल इसी देश के, बल्कि फ़्रांस के और संयुक्त राज्य अमरीका के भी प्रतिकूल था।" – (*B. A.*, 1857.)

करता है; और फिर दूसरे चरण में होता है, जब ब्याज दर चढ़ तो जाती है, मगर अभी अपने औसत स्तर पर नहीं पहुंचती है। यह वह चरण है, जिसमें प्रतिफल जल्दी आते हैं, वाणिज्यिक उधार का प्राचुर्य होता है और इसलिए उधार पूंजी की मांग उत्पादन के प्रसार के मुक़ाबले धीरे बढ़ती है। दोनों ही चरणों में, जिनमें उधार पूंजी का सापेक्षतया प्राचुर्य होता है, सोने तथा चांदी के रूप में, अर्थात जिस रूप में वह मुख्यतः केवल उधार पूंजी का ही काम दे सकती है, अस्तित्वमान पूंजी का अतिरिक्त परिवर्धन ब्याज दर पर और उसके साथ-साथ सामान्यरूपेण व्यवसाय के वातावरण पर अनिवार्यतः गंभीर प्रभाव डालेगा।

दूसरी ओर, अपवाह, बहुमूल्य धातु का निरंतर तथा भारी निर्यात, तब होता है कि जब प्रतिफलों का प्रवाह बंद हो जाता है, बाज़ार पटे हुए होते हैं और आभासी समृद्धि को सिर्फ़ उधार द्वारा ही बनाये रखा जाता है; दूसरे शब्दों में, जैसे ही उधार पूंजी के लिए बहुत बढ़ी हुई मांग हो जाती है और फलतः ब्याज दर कम से कम अपने औसत स्तर पर पहुंच जाती है। ऐसी अवस्थाओं में, जो यथार्थतः बहुमूल्य धातु के अपवाह में ही प्रतिबिंबित होती हैं, पूंजी के उस रूप में, जिसमें वह उधारार्थ द्रव्य पूंजी के रूप में प्रत्यक्षतः अस्तित्वमान होती है, निरंतर आहरण का असर काफ़ी तेज़ हो जाता है। इसका ब्याज दर पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ना चाहिए। लेकिन उधार लेन-देनों को निरुद्ध करने के बजाय ब्याज दर में चढ़ाव उन्हें प्रसारित ही करता है और उसके कारण उनके सभी स्रोत अत्यधिक तन जाते हैं। अतः यह अवधि महापात के पहले आती है।

न्यूमार्च से पूछा जाता है (*B. A.*, 1857): "१५२०। लेकिन तब तो बट्टा दर के साथ-साथ संचलनगत विपत्रों का परिमाण बढ़ता है?—वह बढ़ता ही लगता है।"— "१५२२। शांत, सामान्य ज़माने में खाता ही वास्तविक विनिमय साधन होता है, लेकिन जब कोई कठिनाई पैदा होती है, जब, मिसाल के लिए, मैंने जिस तरह की अवस्थाएं बतायी हैं, उनमें बैंक बट्टा दर में चढ़ाव आता है... तो लेन-देन क़ुदरती तौर पर विपत्र करने में परिणत हो जाते हैं, क्योंकि ये विपत्र न सिर्फ़ जो लेन-देन हुआ है, उसके क़ानूनी सबूत के लिहाज़ से ज़्यादा सुविधाजनक होते हैं, बल्कि इसलिए भी कि वे अन्यत्र क्रय संपन्न करने के लिए अधिक सुविधाजनक होते हैं और ऐसे उधार साधन के रूप में, जिसके द्वारा पूंजी जुटायी जा सकती है, उत्कृष्ट रूप में सुविधाजनक होते हैं।"—इसके अलावा, जैसे ही ज़रा डरावनी अवस्थाएं बैंक को अपनी बट्टा दर चढ़ाने के लिए प्रेरित करती हैं—जिससे साथ ही इसकी संभावना भी रहती है कि बैंक अपने द्वारा भुनाये जानेवाले विपत्रों के चलन काल को कम कर देगा—कि यह आम आशंका फैल जाती है कि वह crescendo [आरोही क्रम] में चढ़ती जायेगी। फलतः हर कोई, और सर्वोपरि उधार प्रपंची, भविष्य पर निर्भर न करने का और उस क्षण विशेष में अपने हाथ में यथासंभव अधिक से अधिक उधार साधन रखने का प्रयास करेगा। इस प्रकार इन कारणों का सारांश यह है—बात यह नहीं है कि अपने में आयातित अथवा निर्यातित बहुमूल्य धातु का केवल परिमाण ही अपने प्रभाव को अनुभूत करवाता है, बल्कि यह है कि वह अपना प्रभाव एक तो बहुमूल्य धातु के द्रव्य रूप में पूंजी होने के विशिष्ट स्वरूप की बदौलत, और दूसरे, ऐसे पंख जैसा असर करके डालता है, जो तराज़ू पर भार के साथ रख दिये जाने पर झूलते कांटे को निश्चित रूप में एक तरफ़ झुका देने के लिए काफ़ी होता है; वह असर इसलिए करता है कि वह ऐसी अवस्थाओं में उत्पन्न होता है, जब कोई भी परिवर्धन इस या उस पक्ष के लिए निर्णायक महत्व रखता है। इन कारणों के बिना यह सर्वथा अव्याख्येय होगा

कि सोने का, मसलन ५० से ८० लाख पाउंड का अपवाह – और अनुभव के अनुसार अभी तक की अधिकतम सीमा यही है – कैसे कोई भारी प्रभाव डाल सकता है। पूंजी की यह स्वल्प घटत अथवा बढ़त, जो इंगलैंड में औसतन संचलनगत सोने में ७०० लाख पाउंड की तुलना में भी नगण्य प्रतीत होती है, अंग्रेज़ों के जैसे उत्पादन के आकार से तुलना करने पर सचमुच उपेक्षणीय रूप में तुच्छ परिमाण है।[17] लेकिन यह वस्तुतः उधार तथा बैंकिंग पद्धति का विकास ही है कि जो एक ओर तो सारी द्रव्य पूंजी को उत्पादन की सेवा में लगा देने का (अथवा जो एक ही बात है, सारी मुद्रा आय को पूंजी में रूपांतरित कर देने का) प्रयास करता है, और दूसरी ओर, चक्र के एक चरण विशेष में धातु निधि को घटाकर न्यूनतम कर देता है, जिससे अब वह उन कार्यों को निष्पन्न नहीं कर पाती, जिनके लिए वह अभीष्ट है – यह विकसित उधार तथा बैंकिंग पद्धति ही है कि जो समस्त संस्थान की इस अतिसंवेदनशीलता को पैदा करती है। उत्पादन की कम विकसित अवस्थाओं में बहुमूल्य धातु संचय का अपने औसत स्तर के नीचे या ऊपर घटना या बढ़ना अपेक्षाकृत महत्वहीन होता है। इसी प्रकार दूसरी ओर, अगर वह औद्योगिक चक्र के संकटकाल में न हो, तो सोने का काफ़ी बड़ा अपवाह भी सापेक्षतया बेअसर रहता है।

इस व्याख्या में हमने ऐसे मामलों को नहीं लिया है, जिनमें सोने का अपवाह फ़सल के मारे जाने, आदि के परिणामस्वरूप होता है। ऐसे मामलों में उत्पादन संतुलन के उस भारी तथा आकस्मिक व्याघात को, जो इस अपवाह द्वारा व्यक्त होता है, अपने प्रभाव के बारे में और अधिक व्याख्या की ज़रूरत नहीं पड़ती। ऐसा व्याघात ऐसी अवधि में, जिसमें उत्पादन पूरे ज़ोरों पर होता है, जितना ही अधिक होता है, यह प्रभाव उतना ही अधिक होता है।

हमने आरक्षित धातु निधि के बैंक नोटों की विनिमेयता के लिए प्रतिभूति के रूप में तथा समस्त उधार पद्धति के केंद्र बिंदु के रूप में कार्य को भी विचार के बाहर रहने दिया है। केंद्रीय बैंक उधार पद्धति का केंद्र बिंदु है। और अपनी बारी में धातु निधि बैंक का केंद्र बिंदु है।[18] उधार पद्धति से मुद्रा प्रणाली में संक्रमण अनिवार्य है, जैसे कि मैं भुगतान साधनों के विवेचन में पहली पुस्तक (kap. III)* में पहले ही दिखला चुका हूं। संकट काल में धात्विक आधार को बनाये रखने के लिए वास्तविक संपदा के बड़े से बड़े बलिदान आवश्यक होते हैं, यह टूक तथा लॉयड-ओवरस्टोन, दोनों द्वारा स्वीकार किया जा चुका है। विवाद सिर्फ़ जोड़ या बाक़ी

---

[17] मिसाल के लिए, वैगेलिन का हास्यास्पद उत्तर देखिये [*B. A.*, 1857], जहां वह कहते हैं कि सोने में पचास लाख पाउंड का अपवाह इतनी ही पूंजी कम होने के समान है और इस प्रकार वह कुछ ऐसी परिघटनाओं की व्याख्या करने की कोशिश करते हैं, जो उस समय नहीं घटित होतीं, जब दामों में सीमातीत वृद्धि होती है, अथवा वस्तुरूप औद्योगिक पूंजी का मूल्य-ह्रास, प्रसार अथवा संकुचन होता है। दूसरी ओर, यह इन परिघटनाओं की सीधे वस्तुरूप पूंजी संहति (अपने भौतिक तत्वों की दृष्टि से) के प्रसार अथवा संकुचन के लक्षणों के नाते व्याख्या करने का इतना ही हास्यास्पद प्रयास है।

[18] न्यूमार्च (*B. A.*, 1857): "१३६४। बैंक ऑफ़ इंगलैंड में बुलियन की निधि वास्तव में वह केंद्रीय आरक्षित निधि अथवा संचय है, जिसके आधार पर देश का सारा व्यवसाय चलाया जाता है; देश में अन्य सभी बैंक बैंक ऑफ़ इंगलैंड को वह केंद्रीय संचय अथवा निधान समझते हैं, जिससे वे सिक्के की अपनी आरक्षित निधि ले सकते हैं; और विदेशी मुद्रा विनिमयों का प्रभाव सदा इस संचय या निधान पर ही पड़ता है।"

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, अध्याय ३, पृष्ठ १५६-५७। – सं०

की बात को लेकर, और अवश्यंभावी के न्यूनाधिक तर्कसंगत निरूपण की बात को लेकर ही है।[19] धातु की एक विशेष, चाहे कुल उत्पादन की तुलना में नगण्य, मात्रा को सारी पद्धति का केंद्र बिंदु माना जाता है। संकटों के दौरान केंद्र बिंदु के नाते अपने इस अभिलक्षण की भयानक अभिव्यक्ति के अलावा यही विलक्षण सैद्धांतिक द्वैत का कारण है। जब तक प्रबुद्ध अर्थशास्त्र "पूंजी का" ex professo [प्रकट रूप में] विवेचन करता है, वह सोने और चांदी को पूंजी के सर्वथा नगण्य तथा निरर्थक रूप मानते हुए उन्हें घोरतम तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। लेकिन जैसे ही वह बैंकिंग पद्धति का विवेचन करने लगता है कि सभी कुछ उलट जाता है और सोना तथा चांदी par excellence [उत्कृष्ट] पूंजी बन जाते हैं, जिसके परिरक्षण के लिए पूंजी के प्रत्येक अन्य रूप और श्रम का बलिदान किया जाता है। लेकिन भला सोने और चांदी का धन के अन्य रूपों से विभेद क्योंकर किया जाये? उनके मूल्य के परिमाण से नहीं, क्योंकि उसका निर्धारण उनमें समाविष्ट श्रम की मात्रा द्वारा किया जाता है, बल्कि इस तथ्य द्वारा कि वे स्वतंत्र अवतरणों, धन के **सामाजिक** स्वरूप की अभिव्यक्तियों को प्रकट करते हैं। [समाज का धन केवल अलग-अलग व्यक्तियों के धन के रूप में अस्तित्वमान होता है, जो उसके निजी स्वामी होते हैं। वह अपना सामाजिक स्वरूप केवल इसी कारण बनाये रखता है कि ये व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए गुणात्मक रूप में भिन्न उपयोग मूल्यों का परस्पर विनिमय करते हैं। पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत वे ऐसा केवल द्रव्य के जरिये ही कर सकते हैं। इस प्रकार, व्यक्ति के धन का सामाजिक धन के रूप में सिद्धिकरण केवल द्रव्य के माध्यम से होता है। इस धन का सामाजिक स्वरूप द्रव्य में, इस चीज में ही मूर्त होता है।—फ़्रे० एं०] इसलिए धन का यह सामाजिक अस्तित्व एक बाहरी दुनिया का, सामाजिक धन के वास्तविक तत्वों के साथ-साथ तथा उनके बहिर्स्थित वस्तु, पदार्थ, जिंस का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। जब तक उत्पादन गतिशील अवस्था में रहता है, इसे भुला दिया जाता है। उधार या साख, जो इसी प्रकार धन का एक सामाजिक रूप है, द्रव्य को बाहर धकेल देता है और उसका स्थान दबोच लेता है। यह उत्पादन के सामाजिक चरित्र में विश्वास ही है कि जो उत्पादों के द्रव्य रूप को एक ऐसी चीज का स्वरूप ग्रहण करने देता है, जो मात्र क्षणजीवी और अधिकल्पित, केवल कल्पनाप्रसूत ही है। लेकिन जैसे ही साख डगमगाती है—और आधुनिक औद्योगिक चक्र में यह चरण अनिवार्यतः हमेशा आता है—कि सारे वास्तविक धन को वास्तव में एकदम द्रव्य में, सोने और चांदी में रूपांतरित करना आवश्यक हो जाता है। यह एक विवेकहीन मांग है, लेकिन वह अनिवार्यतः स्वयं इस पद्धति से ही उत्पन्न होती है। और जिस सारे सोने और चांदी से इन विशाल मांगों की तुष्टि करने की अपेक्षा की जाती है, वह बैंक की तिजोरियों में बस कुछ लाख पाउंडों का ही होता है।[20]

---

[19] "तो व्यवहार में श्री टूक और श्री लॉयड, दोनों, सोने की अतिरिक्त मांग का सामना... ब्याज दर चढ़ाने और पूंजी के उधार दिये जाने को प्रतिबंधित करके उधार के... आरंभ में ही... संकुचन द्वारा करेंगे... लेकिन श्री लॉयड के सिद्धांत कुछ [क़ानूनी] प्रतिबंधों और विनियमनों की तरफ ले जाते हैं, जो... अत्यधिक गंभीर असुविधा पैदा करते हैं।" (*Economist* [December 11], 1847, p. 1418.)

[20] "आप इस बात से पूर्णतः सहमत हैं कि ब्याज दर को चढ़ाने के अलावा और कोई तरीक़ा ऐसा नहीं है, जिससे आप बुलियन की मांग को बदल सकते हैं?"—चैपमैन [विपत्र

इस प्रकार, स्वर्ण अपवाह के प्रभावों में यह तथ्य कि सामाजिक उत्पादन के नाते उत्पादन वास्तव में सामाजिक नियंत्रण के अधीन नहीं होता, धन के उससे एक बहिस्थित चीज़ की तरह सामाजिक रूप के अस्तित्व द्वारा अत्यंत सुस्पष्टतः प्रदर्शित किया जाता है। वास्तव में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और पुरानी उत्पादन प्रणालियों का यह एक सामान्य लक्षण है, क्योंकि वे जिंसों के व्यापार तथा निजी विनिमय पर आधारित हैं। लेकिन सिर्फ़ पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में ही यह हास्यास्पद असंगति और विरोधाभास के अत्यंत सुस्पष्ट और भोंडे रूप में प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि एक तो पूंजीवादी प्रणाली के अंतर्गत प्रत्यक्ष उपयोग मूल्य के लिए, स्वयं उत्पादकों द्वारा उपभोग के लिए उत्पादन का बिलकुल पूरी तरह से विलोपन हो जाता है, जिससे धन का अस्तित्व सिर्फ़ उत्पादन तथा संचलन के अंतर्ग्रथन के रूप में व्यक्त एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में ही होता है; और दूसरे, उधार पद्धति के विकास के साथ पूंजीवादी उत्पादन धात्विक अवरोध पर पार पाने का निरंतर प्रयास करता है, जो साथ ही धन तथा उसकी गति का एक भौतिक तथा काल्पनिक अवरोध भी है, लेकिन वह बारंबार इस अवरोध पर आकर अटक जाता है।

संकट में यह मांग पैदा होती है कि सभी विपत्रों, प्रतिभूतियों और जिंसों को साथ ही बैंक मुद्रा में, और अपनी बारी में इस सारी बैंक मुद्रा को सोने में परिवर्तनीय होना चाहिए।

२. विनिमय दर

[विनिमय दर को मुद्रा धातुओं की अंतर्राष्ट्रीय गति का वायुदाबमापी माना जाता है। अगर इंगलैंड को जर्मनी को उससे अधिक अदायगियां करनी हैं, जितनी जर्मनी इंगलैंड को करेगा, तो मार्क का स्टर्लिंग में व्यक्त दाम लंदन में चढ़ जाता है और मार्क में व्यक्त स्टर्लिंग का दाम हैंबर्ग और बर्लिन में गिर जाता है। अगर जर्मनी के प्रति इंगलैंड के भुगतान दायित्वों के इस प्राधान्य को फिर से संतुलित नहीं किया जाता, मिसाल के लिए, जर्मनी द्वारा इंगलैंड में ख़रीदारियों के प्राधान्य के ज़रिये, तो जर्मनी के लिए बनाये गये विनिमय पत्रों के स्टर्लिंग दाम को मार्कों में चढ़कर इस हद तक पहुंच जाना चाहिए कि इंगलैंड से जर्मनी को विनिमय पत्र भेजने के बजाय दायित्वों के भुगतान में धातु (स्वर्ण मुद्रा अथवा बुलियन) भेजना अधिक लाभदायी रहेगा। घटनाओं का यही सामान्य क्रम रहता है।

अगर यह बहुमूल्य धातु निर्यात अधिक बड़ा पैमाना ग्रहण कर लेता है और ज्यादा लंबे समय तक चलता है, तो इंगलैंड की बैंक निधि पर प्रभाव पड़ने लगता है और आंग्ल मुद्रा बाजार, विशेषकर बैंक ऑफ़ इंगलैंड के लिए संरक्षणात्मक उपाय अपनाना आवश्यक हो जाता है। इन उपायों में, जैसे कि हम पहले ही देख चुके हैं, मुख्यतः ब्याज दर का चढ़ाना आता है। जब सोने का अपवाह काफ़ी होता है, तो मुद्रा बाजार में सामान्यतः तंगी आ जाती है, अर्थात मुद्रा के रूप में उधारार्थ पूंजी की मांग उल्लेखनीय रूप में पूर्ति से अधिक हो जाती है और

दलालों की विशाल फ़र्म ओवरैंड, गर्नी एंड कंपनी] के सहयोगी सदस्य: "हां, मैं यही कहूंगा... जब हमारी बुलियन निधि गिरकर एक विशेष बिंदु पर आ जाती है, तो बेहतर है कि हम फ़ौरन ख़तरे की घंटी बजा दें और कह दें कि हम गिर रहे हैं, और जो कोई भी पैसा विदेश भेजता है, वह अपनी जोखिम पर भेजे।" (*B. A.*,1857, क्रमांक ५०५७।)

इससे उच्चतर ब्याज दर का उत्पन्न होना बिलकुल स्वाभाविक ही है; बैंक ऑफ़ इंगलैंड द्वारा नियत बट्टा दर इस स्थिति के अनुरूप ही होती है और अपने को बाजार पर लागू कर देती है। लेकिन अवस्थाएं ऐसी भी होती हैं कि जब सोने का अपवाह व्यावसायिक कारबार के सामान्य संयोगों से भिन्न कारणों से होता है (उदाहरण के लिए, अन्य राज्यों को ऋण, विदेशों में पूंजी का निवेश, आदि) और जब लंदन मुद्रा बाजार में स्थिति किसी भी प्रकार ब्याज दर में वास्तविक चढ़ाव का औचित्य नहीं प्रस्तुत करती; ऐसी हालत में बैंक ऑफ़ इंगलैंड को पहले तो, जैसे कि बोलचाल की भाषा में कहा जाता है, "खुले बाजार" में भारी ऋणों के जरिये "मुद्रा को दुर्लभ बनाना" होगा और इस तरह कृत्रिम ढंग से ऐसी स्थिति उत्पन्न करनी होगी, जिसमें ब्याज दर में चढ़ाव करना तर्कसंगत या आवश्यक हो जाये; इस तरह की तिकड़म साल-ब-साल कठिन होती जाती है।—फ़े० एं०]

ब्याज दर का यह उत्थान विनिमय दरों को किस प्रकार प्रभावित करता है, यह निम्न सदन की १८५७ में बैंक विधान विषयक समिति के सम्मुख निम्न साक्ष्य दिखलाता है (*B. A.* अथवा *B. C.*, 1857 के रूप में उद्धृत)।

जॉन स्टुअर्ट मिल: "२१७६। जब वाणिज्यिक तंगी की अवस्था होती है, तब हमेशा... प्रतिभूतियों के दामों में काफ़ी गिरावट आती है... विदेशी लोग इस देश में रेलों के शेयर ख़रीदने के लिए भेजते हैं, अथवा विदेशी रेल शेयरों के अंग्रेज अंशधारी अपने विदेशी शेयर विदेशों में बेच देते हैं... इस प्रकार बुलियन का इतना अंतरण नहीं हो पाता है।"—"२१८२। बैंकरों और प्रतिभूति विक्रेताओं का एक बड़ा और धनी समूह, जिनके ज़रिये ब्याज दर का समकरण और विभिन्न देशों के बीच वाणिज्यिक दबाव का समकरण आम तौर पर होता है... सदा ऐसी प्रतिभूतियों की तलाश में रहते हैं, जिनके चढ़ने की संभावना होती है ... उनके लिए प्रतिभूतियां ख़रीदने का उपयुक्त स्थान वह देश होगा, जो बुलियन बाहर भेज रहा है।"—"२१८४। पूंजी के ये निवेश १८४७ में बहुत बड़ी हद तक हुए, इतनी काफ़ी हद तक कि उन्होंने अपवाह ख़ासा कम कर दिया।"

बैंक ऑफ़ इंगलैंड के भूतपूर्व गवर्नर और १८३८ से एक निदेशक, जे० जी० हब्बर्ड: "२५४५। ऐसी यूरोपीय प्रतिभूतियों की संख्या बहुत बड़ी है ... जिनका यूरोप के सभी भिन्न-भिन्न मुद्रा बाजारों में चलन है, और ये बांड, जैसे ही उनका मूल्य... एक बाजार में १ या २ प्रतिशत कम होता है, उन बाजारों को प्रेषित करने के लिए ख़रीद लिये जाते हैं, जहां उनका मूल्य अब भी अक्षत बना हुआ है।"—"२५६५। क्या दूसरे देश इस देश के व्यापारियों के काफ़ी ऋणी नहीं हैं?—बहुत अधिक।"—"२५६६। इस प्रकार, इन ऋणों का भुगतान इस देश में पूंजी के काफ़ी बड़े संचय का कारण बनने के लिए काफ़ी हो सकता है?—१८४७ में हमारी स्थिति की आख़िरकार बहाली हमारे देश को पहले अमरीका द्वारा देय कितने ही लाख पर और रूस द्वारा देय कितने ही लाख पर क़लम फेरने से की गयी थी।" [उसी समय इंगलैंड इन्हीं देशों का अनाज के लिए "कितने ही लाख" का देनदार था और उसने भी अंग्रेज देनदारों के दिवालों के ज़रिये इन लाखों के अधिकांश पर क़लम फेरने में चूक नहीं की। ऊपर १८५७ की बैंक अधिनियमों संबंधी रिपोर्ट देखें, अध्याय ३०, पृष्ठ ३१।*—फ़े० एं०]—"२५७२। १८४७ में इस देश और सेंट पीटर्सबर्ग के बीच विनिमय अत्युच्च था। जब सरकार

* प्रस्तुत संस्करण: पृष्ठ ४३३।—सं०

का बैंक को १,४०,००,००० पाउंड की सीमा से निरपेक्ष" [स्वर्ण निधि से अधिक —फ़्रे० एं०] "नोट जारी करने का अधिकार देने का पत्र आया, तो अनुबंध यह था कि बट्टा दर ८% होनी चाहिए। उस समय तत्कालीन बट्टा दर से यह लाभदायी कारबार था कि सोने को सेंट पीटर्सबर्ग से लंदन मंगाने का आदेश दिया जाये और उसकी आमद पर उसे ८% की दर से तब तक के लिए उधार दे दिया जाये, जब तक कि इस सोने के क्रय के आधार पर बने तीन महीने के विनिमय पत्र देय नहीं बन जाते।"—"२५७३। बुलियन के सभी कारबारों में कई बातों को ध्यान में रखना होता है; इनमें विनिमय दर है और ब्याज दर है, जिस पर विनिमय पत्र के परिपक्व होने की अवधि में निवेश किया जा सकता है [इस विनिमय पत्र के आधार पर —फ़्रे० एं०]।"

एशिया के साथ विनिमय दर

निम्नलिखित बातें महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि एक ओर तो वे यह दिखलाती हैं कि जब इंगलैंड की एशिया के साथ विनिमय दर प्रतिकूल होती है, तब वह दूसरे देशों के, जिनके एशिया से आयातों की अदायगी अंग्रेज़ बिचौलियों के ज़रिये की जाती है, मत्थे किस तरह अपने नुक़सान की भरपाई करता है। दूसरी ओर, वे इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि श्री विलसन यहां एक बार फिर बहुमूल्य धातुओं के निर्यात के विनिमय दरों पर प्रभाव का सामान्य रूप में पूंजी के निर्यात के इन दरों पर प्रभाव के साथ तादात्म्य करने का मूर्खतापूर्ण प्रयास करते हैं, क्योंकि निर्यात दोनों ही मामलों में भुगतान अथवा क्रय साधन नहीं है, बल्कि पूंजी निवेश के लिए है। पहली बात तो यह है कि यह कहना अनावश्यक है कि भारत को वहां रेलों में लगाने के लिए इतने लाख पाउंड स्टर्लिंग चाहे बहुमूल्य धातु के रूप में भेजे जायें, चाहे लोहे की पटरियों के रूप में, वे पूंजी की उतनी ही मात्रा किसी अन्य देश को अंतरित करने के दो भिन्न रूप मात्र हैं; अर्थात ऐसा अंतरण कि जो सामान्य वाणिज्यिक कारबार के लेखे-जोखे में नहीं आता और जिसके लिए निर्यातक देश इन रेलों की आय से भावी वार्षिक संप्राप्ति के अलावा और किसी प्रतिफल की अपेक्षा नहीं करता। अगर यह निर्यात बहुमूल्य धातु के रूप में किया जाता है, तो वह इस बहुमूल्य धातु का निर्यात करनेवाले देश के मुद्रा बाज़ार पर और उसके साथ उसकी ब्याज दर पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालेगा; अगर अनिवार्यतः सभी परिस्थितियों के अंतर्गत नहीं, तो पहले बतायी अवस्थाओं के अंतर्गत, क्योंकि वह बहुमूल्य धातु है और इस रूप में प्रत्यक्षतः उधारार्थ द्रव्य पूंजी है और समस्त द्रव्य प्रणाली का आधार है। इसी प्रकार यह निर्यात विनिमय दर पर भी प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है। बहुमूल्य धातु केवल इस कारण और इसी सीमा तक निर्यात की जाती है कि लंदन मुद्रा बाज़ार में जो विनिमय पत्र, मसलन भारत में देय, पेश किये जाते हैं, वे ये अतिरिक्त प्रेषणाएं करने के वास्ते काफ़ी नहीं पड़ते। दूसरे शब्दों में, भारतीय विनिमय पत्रों के लिए ऐसी मांग है, जो उनकी पूर्ति से अधिक है और इसलिए विनिमय दरें कुछ समय के लिए इंगलैंड के प्रतिकूल हो जाती हैं, तो इसका कारण यह नहीं है कि वह भारत का देन-दार है, बल्कि यह है कि उसे भारत को असाधारण रक़में भेजनी हैं। भारत को बहुमूल्य धातु के इस तरह के परेषण का प्रभाव अंततोगत्वा ब्रिटिश मालों के लिए भारतीय मांग को बढ़ाना होगा, क्योंकि वह यूरोपीय मालों के लिए भारत की उपभोग क्षमता को अप्रत्यक्षतः बढ़ा देता है। लेकिन अगर पूंजी का पटरियों, आदि के रूप में परेषण किया जाता है, तो उस-का विनिमय दरों पर कोई प्रभाव नहीं पड सकता, क्योंकि भारत को उसके लिए कोई वापसी

अदायगी नहीं करनी है। ठीक इसी कारण उसका मुद्रा बाज़ार पर भी कोई प्रभाव पड़ना आवश्यक नहीं। विलसन यह कहकर ऐसे प्रभाव को स्थापित करने का प्रयास करते हैं कि ऐसा अतिरिक्त व्यय वित्त निभाव के लिए अतिरिक्त मांग पैदा करेगा और इस प्रकार ब्याज दर को प्रभावित करेगा। हो सकता है कि बात यही हो, लेकिन यह दावा करना पूरी तरह से ग़लत है कि ऐसा सभी हालतों में होगा। पटरियां चाहे जहां भेजी जायें और चाहे वे इंगलैंड की ज़मीन पर बिछायी जायें या भारत की, वे एक क्षेत्र विशेष में ब्रिटिश उत्पादन के निश्चित प्रसार के अलावा और कुछ नहीं व्यक्त करतीं। यह दावा करना बेतुका है कि उत्पादन का प्रसार – बहुत व्यापक सीमाओं के भीतर भी – ब्याज दर को ऊपर धकेले बिना नहीं हो सकता। वित्त निभाव, अर्थात किये गये लेन-देनों का परिमाण, जिनमें उधार कारबार सम्मिलित हैं, बढ़ सकता है, लेकिन ये उधार कारबार तब भी बढ़ सकते हैं कि जब ब्याज दर अपरिवर्तित बनी रहती है। पांचवें दशक में इंगलैंड में रेल उन्माद के समय वस्तुतः ऐसा ही हुआ था। ब्याज दर नहीं चढ़ी थी। और यह प्रत्यक्ष है कि जहां तक वास्तविक पूंजी, इस प्रसंग में जिंसों का संबंध है, ये जिंसें चाहे विदेशों के लिए अभीष्ट हों या घरेलू उपभोग के लिए, मुद्रा बाज़ार पर प्रभाव बिलकुल वही रहेगा। अंतर केवल तब हो सकता था कि अगर इंगलैंड के विदेशों में पूंजी निवेश उसके वाणिज्यिक निर्यातों पर निरोधक प्रभाव डालते, अर्थात ऐसे निर्यातों पर, जिनके लिए भुगतान करना आवश्यक है, जिससे प्रत्यावर्ती प्रवाह उत्पन्न होता है, अथवा उस हद तक हो सकता था कि ये पूंजी निवेश पहले ही उधार के अतिप्रसार और प्रपंची कारबार को सूचित करनेवाले सामान्य लक्षण हों।

निम्नलिखित अंश में विलसन प्रश्न करते हैं और न्यूमार्च उत्तर देते हैं।

"१७८६। पूर्व के लिए चांदी की मांग के संदर्भ में आपने पहले एक दिन कहा था कि आपके विचार में बुलियन की उस विशाल मात्रा के बावजूद, जो निरंतर पूर्व परेषित की जाती है, भारत के साथ विनिमय इस देश के अनुकूल हैं; क्या आपके पास यह मानने का कोई आधार है कि विनिमय इस देश के अनुकूल हैं? – हां, है... मैं पाता हूं कि १८५१ में युनाइटेड किंगडम से भारत को निर्यातों का वास्तविक मूल्य ७४,२०,००० पाउंड था; इसमें इंडिया हाउस ड्राफ़्टों की राशि, अर्थात भारत से ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा स्वयं अपने व्यय के लिए निकाली रक़में जोड़ दी जायें। उस साल ये ड्राफ़्ट ३२,००,००० पाउंड के थे, जिससे युनाइटेड किंगडम से भारत को कुल निर्यात १, ०६, २०, ००० पाउंड हो जाता है। १८५५ में... युनाइटेड किंगडम से मालों के निर्यात का वास्तविक मूल्य बढ़कर १,०३,५०,००० पाउंड हो गया था और इंडिया हाउस ड्राफ़्ट ३७, ००, ००० पाउंड के थे, जिससे इस देश से कुल निर्यात १,४०,५०,००० पाउंड हो जाता है। अब जहां तक १८५१ की बात है, मेरा ख़याल है कि यह कह पाने का कोई साधन नहीं है कि भारत से इस देश को आयात का वास्तविक मूल्य क्या था, लेकिन १८५४ और १८५५ में हमारे पास वास्तविक मूल्य का विवरण है; १८५५ में भारत से इस देश को मालों के आयात का कुल वास्तविक मूल्य १, २६, ७०, ००० पाउंड था और मैंने १, ४०, ५०, ००० पाउंड की जिस राशि का उल्लेख किया है, उसकी तुलना में यह राशि दोनों देशों के बीच प्रत्यक्ष व्यापार के संदर्भ में १३,८०,००० पाउंड का युनाइटेड किंगडम के अनुकूल शेष छोड़ती है" [*B. A.*, 1857.]।

इस पर विलसन कहते हैं कि विनिमय दरें अप्रत्यक्ष वाणिज्य से भी प्रभावित होती हैं। मिसाल के लिए, भारत से ऑस्ट्रेलिया और उत्तरी अमरीका को निर्यात लंदन में देय ड्राफ़्टों द्वारा

संरक्षित होते हैं और इसलिए विनिमय दर को उसी प्रकार प्रभावित करते हैं, मानो माल भारत से सीधे इंगलैंड गये हों। इसके अलावा, अगर भारत और चीन को एकसाथ लिया जाता है, तो अतिशेष इंगलैंड के प्रतिकूल है, क्योंकि चीन को भारत को अफ़ीम के लिए लगातार भारी अदायगियां करनी होती हैं और इंगलैंड को चीन को अदायगियां करनी होती हैं, जिसके परिणामस्वरूप ये रक़में इस चक्करदार रास्ते से भारत चली जाती हैं (१७८७, १७८८)।

१७९१। विलसन अब पूछते हैं कि पूंजी चाहे "लोहे की पटरियों और रेल इंजनों के रूप में जाये, या चाहे सिक्के के रूप में जाये," क्या विनिमय दरों पर प्रभाव एक ही नहीं होगा। न्यूमार्च बिलकुल सही जवाब देते हैं: पिछले कुछ वर्षों के दौरान रेल निर्माण के लिए भारत जो १२० लाख पाउंड भेजे गये हैं, वे एक ऐसी वार्षिकी या सालियाना ख़रीदने का साधन रहे हैं, जो भारत को नियमित अंतरालों पर इंगलैंड को अदा करनी है। "लेकिन जहां तक बुलियन बाज़ार पर तात्कालिक क्रिया की बात है, इन १२० लाख पाउंड के निवेश केवल उसी सीमा तक कार्यकर होंगे कि जहां तक धन के वास्तविक संवितरण के लिए बुलियन का बाहर भेजा जाना आवश्यक होगा।"

१७९७। [वैंगेलिन पूछते हैं:] "अगर इस लोहे (पटरियों) के लिए कोई प्रतिदान नहीं किया जाता, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि वह विनिमयों को प्रभावित करता है? – मैं नहीं समझता कि व्यय का वह भाग, जो जिंसों के रूप में भेजा जाता है, विनिमय के अभिकलन को प्रभावित करता है ... दो देशों के बीच विनिमय के अभिकलन को – कहा जा सकता है कि केवल – एक देश में विक्रयार्थ प्रस्तुत बंधपत्रों अथवा विपत्रों की मात्रा, दूसरे देश में प्रस्तुत मात्रा की तुलना में ही प्रभावित करती है; यही विनिमय का तर्काधार है। जहां तक इन १२० लाख पाउंड के भेजे जाने का संबंध है, पहली बात तो यही है कि यह धन इस देश में अभिदत्त है ... अगर लेन-देन की प्रकृति ही ऐसी हो कि इन सब १२० लाख पाउंड को कलकत्ता, बंबई और मद्रास में सिक्कों के रूप में रख देना पड़े, तो ... एक अचानक मांग चांदी के दाम पर और विनिमय पर बिलकुल वैसे ही अत्यंत प्रचंड क्रिया करेगी कि जैसे तब कि अगर ईस्ट इंडिया कंपनी कल यह ऐलान कर दे कि उसके ड्राफ़्टों को ३० लाख पाउंड से बढ़ाकर १२० लाख पाउंड कर दिया जायेगा। लेकिन इन १२० लाख पाउंड का आधा ... इस देश में माल ... लोहे की पटरियां, काठ तथा अन्य सामग्री की ख़रीदारी में ख़र्च किया जाता है ... यह भारत को भेजे जानेवाले एक विशेष प्रकार के माल के लिए इस देश में इस देश की पूंजी का व्यय है, और इसी के साथ बात ख़त्म हो जाती है।" – "१७९८। [वैंगेलिन:] लेकिन रेलों के लिए आवश्यक लोहे और काठ की इन चीज़ों का उत्पादन विदेशी चीज़ों की काफ़ी बड़ी खपत पैदा करता है, जो विनिमय को प्रभावित कर सकती है? – निस्संदेह।"

विलसन अब सोचते हैं कि लोहा काफ़ी हद तक श्रम को व्यक्त करता है और इस श्रम के लिए दी जानेवाली मज़दूरी अधिकांशतः आयातित मालों को व्यक्त करती है (१७९९) और फिर आगे प्रश्न करते हैं:

"१८०१। लेकिन बिलकुल सामान्य अर्थों में, अगर आप ऐसे माल, जो आयातित मालों की खपत द्वारा उत्पादित हुए थे, उनके लिए माल या और किसी सूरत में कोई भी प्रेषणा प्राप्त किये बिना विदेश भेजते हैं, तो क्या इसका प्रभाव विनिमयों को इस देश के प्रतिकूल करना होगा? – यह बात बिलकुल वही है, जो इस देश में जबरदस्त रेल व्यय के समय [१८४५ में] हुई थी। तीन, चार या पांच साल में आपने रेलों पर ३,००,००,००० पाउंड

की रक़म ख़र्च की, जो लगभग सारी की सारी मज़दूरी की अदायगी में चली गयी। तीन साल में आपने रेलों और रेल इंजनों और डिब्बों और स्टेशनों के निर्माण लगी उससे ज्यादा आबादी का भरण-पोषण किया कि जितनी को आपने सारे औद्योगिक इलाक़ों में काम पर लगाया था। लोगों ने ... इस मजदूरी को चाय और शकर और शराब और दूसरे विदेशी माल ख़रीदने में ख़र्च किया; ये माल आयातित थे, लेकिन यह एक वास्तविकता थी कि जिस समय यह जबरदस्त ख़र्च हो रहा था, उस समय इस देश तथा अन्य देशों के बीच विदेशी विनिमयों में कोई तात्विक क्रमभंग नहीं हुआ। बुलियन का कोई बहिर्वाह नहीं हुआ, बल्कि इसके विपरीत अंतर्वाह ही हुआ था।"

१८०२। विलसन इस पर जोर देते हैं कि इंगलैंड तथा भारत के बीच समकृत व्यापार शेष तथा सम विनिमय दरों के साथ लोहे और रेल इंजनों का अतिरिक्त परेषण "भारत के साथ विनिमयों को प्रभावित करेगा"। जब तक पटरियां पूंजी निवेश के रूप में भेजी जाती हैं और भारत को उनके लिए एक या दूसरे रूप में कोई अदायगी नहीं करनी है, न्यूमार्च बात को इस तरह नहीं देख सकते; वह आगे कहते हैं: "मैं इस सिद्धांत से सहमत हूं कि किसी एक देश की उन अन्य सभी देशों के साथ, जिनसे उसका लेन-देन है, अपने विरुद्ध लगातार प्रतिकूल विनिमय की अवस्था नहीं बनी रह सकती, एक देश के साथ प्रतिकूल विनिमय अनिवार्यतः दूसरे देश के साथ अनुकूल विनिमय उत्पन्न करता है।" – विलसन प्रत्युत्तर में यह घिसी-पिटी बात कहते हैं: "१८०३। लेकिन क्या पूंजी का अंतरण एक ही बात नहीं है, उसे चाहे एक रूप में भेजा जाये या दूसरे में? – जहां तक देनदारी का संबंध है, हां।" – "१८०४। इसलिए आप चाहे बुलियन भेजें या चाहे सामग्री भेजें, भारत में रेलें बनाने का प्रभाव यहां पूंजी बाज़ार पर एक ही होगा और पूंजी के मूल्य को इस तरह बढ़ा देगा, मानो सारी की सारी रक़म बुलियन के रूप में ही भेजी गयी हो?"

अगर लोहे के दाम नहीं चढ़े, तो यह हर सूरत में इसका प्रमाण था कि पटरियों में समाविष्ट "पूंजी" का "मूल्य" नहीं बढ़ाया गया था। हमारा यहां जिस चीज़ से सरोकार है, वह द्रव्य पूंजी का मूल्य, अर्थात ब्याज दर है। विलसन द्रव्य पूंजी का सामान्यरूपेण पूंजी के साथ तादात्म्य करना चाहेंगे। सीधी-सादी बात तत्वतः यह है कि भारतीय रेलों के लिए इंगलैंड में १२० लाख पाउंड अभिदत्त हुए थे। यह एक ऐसी बात है, जिसका विनिमय दरों के साथ कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है और १२० लाख पाउंड का प्रयोजन भी मुद्रा बाज़ार के लिए एक ही अर्थ रखता है। अगर मुद्रा बाज़ार अच्छी हालत में है, तो इसका क़तई कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए, जिस तरह १८४४ और १८४५ में ब्रिटिश रेल अभिदानों ने मुद्रा बाज़ार को अप्रभावित रहने दिया था। अगर मुद्रा बाज़ार पहले ही कुछ कठिन स्थिति में है, तो ब्याज दर बेशक इससे प्रभावित हो सकती है, लेकिन निस्संदेह सिर्फ़ ऊपर की तरफ़ ही, और विलसन के सिद्धांत के अनुसार, यह इंगलैंड के लिए विनिमय दरों पर अनुकूल प्रभाव डालेगा, अर्थात यह बहुमूल्य धातु का, यदि भारत को नहीं, तो किसी और देश को निर्यात करने की प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्य करेगा। श्री विलसन एक बात से दूसरी बात पर कूदते हैं। प्रश्न १८०२ में विनिमय दरों को प्रभावित होते माना जाता है, तो प्रश्न १८०४ में "पूंजी के मूल्य" को, जो बहुत ही भिन्न-भिन्न चीज़ें हैं। ब्याज दर विनिमय दरों को प्रभावित कर सकती है और विनिमय दरें ब्याज दर को प्रभावित कर सकती हैं, लेकिन अंतोक्त तब स्थिर हो सकती है कि जब विनिमय दरें घटती-बढ़ती हों, और विनिमय दरें तब स्थिर हो सकती हैं

कि जब ब्याज दर घटती-बढ़ती हो। विलसन इस बात को अपने भेजे में नहीं घुसा सकते कि वह रूप मात्र, जिसमें पूंजी विदेश भेजी जाती है, प्रभाव में इतना अंतर कर देता है, अर्थात यह बात कि पूंजी के रूप में और विशेषकर उसके द्रव्य रूप में अंतर इतने महत्व का है कि वह प्रबुद्ध अर्थशास्त्र के सर्वथा विपरीत है। न्यूमार्च विलसन को इकतरफ़ा जवाब देते हैं, क्योंकि वह यह नहीं इंगित करते कि विलसन इतने यकायक और अकारण विनिमय दर से कूदकर ब्याज दर पर आ गये हैं। न्यूमार्च प्रश्न १८०४ का उत्तर अनिश्चय और अनेकार्थता से देते हैं: "बेशक, अगर १,२०,००,००० पाउंड खड़े करने की मांग होती है, तो, जहां तक सामान्य ब्याज दर का संबंध है, यह महत्वहीन है कि १२० लाख पाउंड की यह राशि बुलियन के रूप में भेजी जानी है या सामग्री के। मेरे ख़याल में, फिर भी" [यह "फिर भी" तब बड़ी उत्तम परिवृत्ति है, जब वह बात सर्वथा उलटी ही कहना चाहते हैं] "यह सर्वथा महत्वहीन नहीं है," [यह महत्वहीन है, किंतु, तो भी, यह महत्वहीन नहीं है] "क्योंकि एक प्रसंग में ६० लाख पाउंड फ़ौरन वापस आ जायेंगे, दूसरे प्रसंग में वे इतनी जल्दी नहीं वापस आयेंगे। इसलिए इससे कुछ" [कितनी निश्चितता है!] "अंतर अवश्य पड़ेगा कि ६० लाख पाउंड इस देश में ख़र्च किये गये थे या पूर्णतः उसके बाहर भेज दिये गये थे।" यह कहते हुए कि ६० लाख पाउंड फ़ौरन वापस आ जायेंगे, उनका आशय क्या है? जहां तक ये ६० लाख पाउंड इंगलैंड में ख़र्च किये गये हैं, वे पटरियों, रेल इंजनों, आदि के रूप में अस्तित्वमान हैं, जो भारत को भेजे जाते हैं, जहां से वे नहीं वापस आते; उनका मूल्य परिशोधन के ज़रिये बहुत धीरे-धीरे वापस आता है, जबकि बहुमूल्य धातु में ६० लाख शायद वस्तुरूप में बहुत जल्दी वापस आ सकते हैं। जहां तक ६० लाख मज़दूरी में ख़र्च किये गये हैं, वे उपभुक्त हो गये हैं; लेकिन अदायगी में प्रयुक्त धन देश में सदा की तरह परिचालित होता है, या आरक्षित निधि बना देता है। पटरी निर्माताओं के मुनाफ़ों और ६० लाख पाउंड के उनकी स्थिर पूंजी को प्रतिस्थापित करनेवाले अंश के बारे में भी यही बात है। इस प्रकार न्यूमार्च वापसियों के बारे में इस अनेकार्थ कथन का प्रयोग सिर्फ़ इसलिए करते हैं कि सीधे यह न कहना पड़े – धन देश में ही है और जहां तक वह उधारार्थ द्रव्य पूंजी का काम देता है, मुद्रा बाज़ार के लिए अंतर (इस संभावना को छोड़कर कि संचलन अधिक सिक्का आत्मसात कर सकता था) सिर्फ़ यह है कि वह ख के बजाय क के खाते में डाला जाता है। इस तरह का निवेश, जिसमें पूंजी अन्य देशों को जिंसों में, न कि बहुमूल्य धातु में अंतरित की जाती है, विनिमय दर को (किंतु उस देश के साथ विनिमय दर को नहीं, जिसमें निर्यातित पूंजी निवेशित की जाती है) सिर्फ़ वहीं तक प्रभावित करता है कि इन निर्यातित जिंसों का उत्पादन अन्य विदेशी मालों के अतिरिक्त आयात की अपेक्षा करता है। इस प्रकार यह उत्पादन अतिरिक्त आयात को प्रतिसंतुलित नहीं कर सकता है। लेकिन उधार पर प्रत्येक निर्यात में बिलकुल ऐसा ही होता है, फिर चाहे वह पूंजी निवेश के लिए अभिप्रेत हो या सामान्य वाणिज्यिक प्रयोजनों के लिए। इसके अलावा यह अतिरिक्त आयात प्रतिक्रियास्वरूप ब्रिटिश मालों के लिए अतिरिक्त मांग भी पैदा कर सकता है, उदाहरण के लिए, उपनिवेशों या संयुक्त राज्य अमरीका की ओर से।

पहले [१७८६] न्यूमार्च ने कहा था कि ईस्ट इंडिया कंपनी के ड्राफ़्टों के कारण इंगलैंड से भारत को निर्यात आयातों से अधिक हैं। सर चार्ल्स वुड इस बारे में उनसे जिरह करते हैं।

भारत से आयातों पर भारत को अंग्रेज़ी निर्यातों का यह प्राधान्य वास्तव में भारत से ऐसे आयातों की बदौलत उत्पन्न होता है, जिनके लिए इंगलैंड कोई समतुल्य नहीं अदा करता। ईस्ट इंडिया कंपनी (अब ईस्ट इंडिया सरकार) के ड्राफ़्ट भारत पर लगाये गये ख़िराज में परिणत हो जाते हैं। मिसाल के लिए, १८५५ में भारत से इंगलैंड को आयात १,२६,७०,००० पाउंड के थे, भारत को ब्रिटिश निर्यात १,०३,५०,००० पाउंड के थे, भारत के अनुकूल शेष २२,५०,००० पाउंड था।* "अगर सारी बात इतनी ही होती, तो इन २२,५०,००० पाउंड को किसी रूप में भारत प्रेषित करना पड़ता। लेकिन तभी इंडिया हाउस के विज्ञापन आ गये। इंडिया हाउस विज्ञापित करता है कि वह भारत में विभिन्न प्रेसीडेंसियों के लिए ३२,५०,००० पाउंड तक के ड्राफ़्ट स्वीकार करने के लिए तैयार है।" [यह रक़म ईस्ट इंडिया कंपनी के लंदन के ख़र्चों के लिए और अंशधारियों को दिये जानेवाले लाभांशों के लिए उगाही गयी थी।] "और यह न सिर्फ़ व्यापार के क्रम से उत्पन्न होनेवाले २२,५०,००० पाउंड को ही समाप्त कर देता है, बल्कि १०,००,००० पाउंड का अधिशेष भी उत्पन्न कर देता है।" (१९१७) [*B. A.*, 1857.]

"१९२२। [वुड:] तो इन इंडिया हाउस ड्राफ़्टों का प्रभाव भारत को निर्यात बढ़ाना नहीं, बल्कि उन्हें pro tanto [तत्प्रमाणे] घटाना है?" [इसे यों समझना चाहिए – भारत से आयातों को उस देश को उतनी ही रक़म के निर्यातों द्वारा संरक्षित करने की आवश्यकता को घटाना।] श्री न्यूमार्च इसका यह कहकर स्पष्टीकरण करते हैं कि इन ३७,००,००० पाउंड के बदले अंग्रेज़ भारत में "सुशासन" का आयात करते हैं (१९२५)। अंग्रेज़ जिस प्रकार के "सुशासन" का भारत में आयात करते हैं, उसे एक भूतपूर्व भारत-मंत्री के नाते वुड भली भांति जानते हैं और इसलिए ठीक ही व्यंग्योक्तिपूर्वक उत्तर देते हैं: "१९२६। तो वह निर्यात, जो आप कहते हैं कि ईस्ट इंडिया ड्राफ़्टों द्वारा उत्पन्न किया जाता है, वह सुशासन का निर्यात है, मालों का नहीं।" – चूंकि इंगलैंड "सुशासन" के लिए "इस प्रकार" और विदेशों में पूंजी निवेश के रूप में काफ़ी निर्यात करता है और फलतः ऐसे आयात प्राप्त करता है, जो व्यापार के सामान्य प्रवाह से सर्वथा स्वतंत्र हैं, – अंशतः निर्यातित "सुशासन" के लिए ख़िराज और अंशतः उपनिवेशों में अथवा अन्यत्र निवेशित पूंजी से संप्राप्तियों के रूप में, अर्थात ऐसा ख़िराज, जिसके लिए उसे कोई समतुल्य नहीं अदा करना होता, – इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि जब इंगलैंड बदले में कुछ भी निर्यात किये बिना इस ख़िराज की महज़ खपत करता होता है, तो विनिमय दरें प्रभावित नहीं होतीं। अतः यह भी प्रत्यक्ष है कि विनिमय दरें तब भी प्रभावित नहीं होतीं, जब वह इस ख़िराज का इंगलैंड में नहीं, बल्कि उत्पादक या अनुत्पादक ढंग से विदेशों में पुनर्निवेश करता है, उदाहरण के लिए, जब वह उसके बदले क्रीमिया को गोला-बारूद भेजता है। इसके अलावा, जहां तक विदेश से आयात इंगलैंड की संप्राप्ति में प्रवेश करते हैं, – निस्संदेह, उनका दाम या तो ख़िराज के रूप में चुकाया जाना चाहिए, जिसके लिए कोई समतुल्य प्रतिदान आवश्यक नहीं है, या इस अशोधित ख़िराज के लिए विनिमय द्वारा, या वाणिज्य के सामान्य क्रम में, – इंगलैंड या तो उनकी खपत कर सकता है, या उन्हें पूंजी की तरह पुनर्निवेशित कर सकता है। किसी भी मामले में विनिमय दरें नहीं प्रभावित होतीं और यह सयाने विलसन की

---

*अर्थात लगभग साढ़े बाईस लाख पाउंड किंतु अधिक सही रक़म २३, २०,००० पाउंड है। – सं०

नजर में नहीं आ पाता। आया कि कोई स्वदेशी या विदेशी माल संप्राप्ति का भाग बनाता है, – जिससे अंतोक्त मामले में बस स्वदेशी मालों का विदेशी मालों से विनिमय ही आवश्यक होता है, – इस संप्राप्ति का उपभोग, वह चाहे उत्पादक हो अथवा अनुत्पादक, विनिमय दरों में कुछ भी नहीं बदलता, भले ही वह उत्पादन के पैमाने को बदल सकता है। निम्नलिखित अंश को पढ़ते समय उपरोक्त को ध्यान में रखना आवश्यक है:

१६३४। वुड न्यूमार्च से पूछते हैं कि युद्ध सामग्री का क्रीमिया भेजना तुर्की के साथ विनिमय दर को किस तरह प्रभावित करेगा। न्यूमार्च उत्तर देते हैं: "मैं नहीं समझता कि यौद्धिक सामग्री का परेषण मात्र विनिमय को अनिवार्यतः प्रभावित करेगा, लेकिन बहुमूल्य धातु का परेषण निश्चय ही विनिमय पर प्रभाव डालेगा।" इस प्रकार इस प्रसंग में वह द्रव्य के रूप में पूंजी का अन्य रूपों में पूंजी से विभेद करते हैं। लेकिन अब विलसन पूछते हैं:

"१६३५। अगर आप किसी भी वस्तु का बहुत बड़े पैमाने पर निर्यात करें, जिसके बदले कोई अनुरूप आयात न होनेवाला हो" [श्री विलसन भूल जाते हैं कि इंगलैंड में काफ़ी बड़े आयात होते हैं, जिनके बदले "सुशासन" के अथवा पहले निर्यातित निवेश पूंजी के रूप में निर्यातों के सिवा कभी कोई अनुरूप निर्यात नहीं हुए हैं; बहरहाल, ये ऐसे आयात हैं, जो सामान्य वाणिज्यिक गति में प्रवेश नहीं करते। लेकिन इन आयातित वस्तुओं का फिर, मसलन, अमरीकी मालों से विनिमय कर लिया जाता है, और यह बात कि अमरीकी माल बिना अनुरूप आयातों के निर्यात किये जाते हैं, इस तथ्य को नहीं बदलती कि इन आयातों का मूल्य विदेश को समतुल्य प्रवाह के बिना उपभुक्त हो सकता है; ये माल अनुरूप निर्यातों के बिना प्राप्त हुए हैं और इसलिए वे व्यापार शेष में प्रविष्ट हुए बिना उपभुक्त हो सकते हैं], "तो आप उस विदेशी ऋण का उन्मोचन नहीं करते, जिसे आपने अपने आयातों से उत्पन्न किया है" [लेकिन अगर आपने इन आयातों के लिए पहले ही अदायगी कर दी है, जैसे विदेश में दिये उधार द्वारा तो उसके द्वारा कोई क़र्ज़ नहीं होगा, और इस प्रश्न का अंतर्राष्ट्रीय शेष से कोई संबंध नहीं है; वह उत्पादक और अनुत्पादक व्ययों में परिणत कर दिया जाता है, फिर चाहे इस प्रकार उपभुक्त माल स्वदेशी हों अथवा विदेशी], "और इसलिए इस लेन-देन से आप विदेशी विनि-मयों को प्रभावित ही करते होंगे, क्योंकि विदेशी ऋण का उन्मोचन नहीं हुआ है, क्योंकि आपके निर्यात के कोई अनुरूप आयात नहीं हैं? – यह बात आम तौर पर अलग-अलग देशों के बारे में सही है।"

विलसन का यह भाषण यह कहने के समान है कि बिना अनुरूप आयात के हर निर्यात साथ ही अनुरूप निर्यात के बिना आयात भी होता है, क्योंकि विदेशी, अर्थात आयातित, जिंसें निर्यातित माल के उत्पादन में प्रविष्ट होती हैं। मान्यता यह है कि इस प्रकार का हर निर्यात एक अशोधित आयात पर आधारित होता है, अथवा उसे उत्पन्न करता है और फलतः विदेश में ऋण की पूर्वापेक्षा करता है। अगर निम्न दोनों परिस्थितियों को नजरअंदाज भी कर दिया जाये, तो भी यह ग़लत है: १) इंगलैंड कुछ आयात निःशुल्क प्राप्त करता है, जिसके लिए वह कोई समतुल्य नहीं अदा करता, मिसाल के लिए, अपने भारतीय आयातों का एक भाग। वह इन आयातों का अमरीकी आयातों से विनिमय कर सकता है और अंतोक्त का बदले में आयात किये बिना निर्यात कर सकता है; किसी भी सूरत में जहां तक मूल्य का संबंध है, उसने एक ऐसी ही चीज़ का निर्यात किया है, जिसके लिए उसने कुछ भी नहीं दिया है। २) हो सकता है कि इंगलैंड आयात के लिए, मसलन, अमरीकी आयातों के लिए, जो अतिरिक्त पूंजी

होते हैं, पहले ही अदायगी कर चुका हो; अगर वह इनका अनुत्पादक उपभोग करता है, जैसे युद्ध सामग्री के रूप में, तो यह अमरीका के प्रति किसी तरह का ऋण नहीं है और अमरीका के साथ विनिमय दर को प्रभावित नहीं करता है। न्यूमार्च क्रमांक १९३४ और १९३५ में अपनी बात का खंडन करते हैं और क्रमांक १९३८ में वुड यह उनके ध्यान में लाते हैं: "अगर प्रतिफल के बिना निर्यात की जानेवाली चीज़ों [युद्ध सामग्री] के निर्माण में प्रयुक्त सामान का कोई भी अंश उस देश से नहीं आता, जहां ये चीज़ें भेजी जाती हैं, तो उस देश के साथ विनिमय कैसे प्रभावित होता है; अगर तुर्की के साथ व्यापार को सामान्य साम्यावस्था में मान लिया जाये, तो क्रीमिया को यौद्धिक सामग्री के निर्यात से इस देश और तुर्की के बीच विनिमय कैसे प्रभावित होता है?" – यहां न्यूमार्च अपनी समचित्तता को गंवा बैठते हैं, वह भूल जाते हैं कि वह इसी सीधे-सादे सवाल का क्रमांक १९३४ में सही जवाब दे चुके हैं, और कहते हैं: "मुझे लगता है कि हम व्यावहारिक प्रश्न को समाप्त कर चुके हैं और अब तत्वमीमांसा के अत्युच्च क्षेत्र में पहुंच गये हैं।"

[विलसन के पास अभी अपने इस दावे का एक और रूप भी है कि विनिमय दर पूंजी के एक देश से दूसरे देश को प्रत्येक अंतरण द्वारा प्रभावित होती है, चाहे अंतरण बहुमूल्य धातु के रूप में हो या जिंसों के। निस्संदेह, विलसन जानते हैं कि विनिमय दर ब्याज दर द्वारा प्रभावित होती है, विशेषकर उन दोनों देशों में प्रचलित ब्याज दरों के अनुपात द्वारा, जिनकी पारस्परिक विनिमय दरें यहां विचाराधीन हैं। अब अगर वह यह दिखा सकें कि सामान्यरूपेण पूंजी के अधिशेषों, अर्थात सर्वोपरि रूप में बहुमूल्य धातु सहित सभी प्रकार की जिंसों का ब्याज दर को प्रभावित करने में कोई हाथ होता है, तो वह अपने लक्ष्य के एक क़दम निकट पहुंच जाते हैं; कारण कि अगर ऐसा ही हो, तो इस पूंजी के किसी भी बड़े अंश का किसी अन्य देश को अंतरण दोनों देशों में ब्याज दर को बदल देगा और यह तब्दीली विपरीत दिशाओं में होगी। इस प्रकार एक गौण रास्ते से दोनों देशों के बीच विनिमय दर भी परिवर्तित हो जाती है। – फ़े० एं०]

वह २२ मई, १८४७ के *Economist* में, जिसका वह उस समय संपादन कर रहे थे, पृष्ठ ५७४ पर कहते हैं:

"... लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि पूंजी का ऐसा प्राचुर्य, जैसा बुलियन सहित सभी प्रकार की जिंसों के विशाल भंडारों द्वारा प्रकट किया जाता है, अनिवार्यतः न केवल सामान्य रूप में जिंसों के नीचे दामों ही, बल्कि पूंजी के उपयोग के लिए निम्नतर ब्याज दर की तरफ़ भी ले जायेगा १)। अगर हमारे पास जिंसों का इतना भंडार हो कि देश का आनेवाले दो साल काम चल सके, तो इन जिंसों पर नियंत्रण एक निश्चित अवधि के लिए उससे कहीं कम दर पर हासिल किया जा सकेगा, जितने पर तब कि अगर भंडार दो महीने चलने के लिए भी मुश्किल से ही काफ़ी होता २)। द्रव्य के सभी उधार, वे चाहे किसी भी रूप में संपन्न किये जायें, जिंसों पर नियंत्रण का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अंतरण मात्र होते हैं। इसलिए जब भी जिंसों का प्राचुर्य होता है, द्रव्य पर ब्याज नीचा होगा और जब वे दुर्लभ होंगी, द्रव्य पर ब्याज ऊंचा होगा ३)। जैसे-जैसे जिंसें प्रचुर होती जाती हैं, क्रेताओं की तुलना में विक्रेताओं की संख्या बढ़ती जाती है और जितने अनुपात में मात्रा उससे अधिक होती है,

जितनी तात्कालिक उपभोग के लिए आवश्यक होती है, उतने ही अधिक बड़े अंश को भावी उपयोग के लिए रखना होता है। इन अवस्थाओं में जिन शर्तों पर धारक भविष्य में अदायगी के लिए, या उधार पर बेचने को तैयार हो जाता है, वे तब की बनिस्बत नीची हो जाती हैं कि जब उसे विश्वास हो कि उसके सारे भंडार की कुछ ही सप्ताह के भीतर आवश्यकता हो जायेगी" ४)।

कथन १) के संदर्भ में यह ध्यान में रखना चाहिए कि बहुमूल्य धातु में विशाल **अंतर्वाह** उत्पादन में **संकुचन** के साथ-साथ भी हो सकता है, जैसा कि संकट के बाद आनेवाली अवधि में हमेशा होता है। बाद के चरण में बहुमूल्य धातु उन देशों से आ सकती है, जो मुख्यत: बहुमूल्य धातु का उत्पादन करते हैं; इस अवधि में अन्य जिंसों के आयात आम तौर पर निर्यात द्वारा संतुलित किये जाते हैं। इन दो चरणों में ब्याज दर नीची होती है और सिर्फ़ धीरे-धीरे ही चढ़ती है; हम इसके कारण की पहले ही चर्चा कर चुके हैं। इस नीची ब्याज दर की व्याख्या सदा किसी भी तरह के "सभी प्रकार की जिंसों के विशाल भंडारों" के प्रभाव का सहारा लिये बिना की जा सकती है। और यह प्रभाव होगा कैसे? उदाहरण के लिए, कपास का नीचा दाम कतवारों, आदि के लिए ऊंचे मुनाफ़े संभव बना देता है। भला ब्याज दर क्यों नीची है? निस्संदेह इसलिए नहीं कि लाभ, जो उधार ली पूंजी पर बनाया जा सकता है, ऊंचा है। बल्कि महज़ और सिर्फ़ इसलिए कि विद्यमान अवस्थाओं के अंतर्गत उधारार्थ पूंजी के लिए मांग इस लाभ के अनुपात में नहीं बढ़ती; दूसरे शब्दों में इसलिए कि उधारार्थ पूंजी की गति औद्योगिक पूंजी की गति से भिन्न है। *Economist* जो सिद्ध करना चाहता है, वह सर्वथा उलटा है, अर्थात यह कि उधारार्थ पूंजी की गतियां औद्योगिक पूंजी की गतियों से अभिन्न होती हैं।

कथन २) के संदर्भ में अगर हम आनेवाले दो साल के लिए भंडारों की बेतुकी कल्पना को बदलकर ऐसा बना दें कि उसका कुछ अर्थ निकलने लगे, तो वह यह सूचित करेगी कि बाज़ार पटा हुआ है। इसके कारण दामों में गिरावट आ जायेगी। कपास की एक गांठ के लिए कम देना होगा। यह इस निष्कर्ष को कदापि संगत नहीं ठहरायेगा कि इस कपास के क्रय के लिए द्रव्य अधिक आसानी से उधार मिल सकता है। यह बात मुद्रा बाज़ार की हालत पर निर्भर करती है। अगर द्रव्य ज्यादा आसानी से उधार लिया जा सकता है, तो यह सिर्फ़ इसलिए है कि वाणिज्यिक उधार ऐसी अवस्था में है, जिसमें उसे बैंक उधार का सामान्य से कम उपयोग करने की आवश्यकता है। बाज़ार को पाटनेवाली जिंसें या तो निर्वाह साधन हैं या उत्पादन साधन हैं। दोनों ही का नीचा दाम औद्योगिक पूंजीपति के लाभ को बढ़ाता है। इससे भला ब्याज दर क्यों नीची होगी, जब तक कि ऐसा औद्योगिक पूंजी के प्राचुर्य और द्रव्य निभाव की मांग के बीच अभिन्नता नहीं, बल्कि वैपरीत्य के ज़रिये न हो? परिस्थितियां ऐसी हैं कि व्यापारी और औद्योगिक पूंजीपति एक दूसरे को ज्यादा आसानी से उधार दे सकते हैं; वाणिज्यिक उधार के इस सरलीकरण के कारण उद्योगपति और व्यापारी, दोनों ही को कम बैंक उधार की आवश्यकता है; अतः ब्याज दर नीची हो सकती है। इस नीची ब्याज दर का बहुमूल्य धातु में अंतर्वाह से कोई संबंध नहीं है, यद्यपि दोनों एक दूसरे के समांतर चल सकते हैं, और वही कारण, जो आयातित वस्तुओं के दामों को नीचा करते हैं, वे आयातित बहुमूल्य धातु का आधिक्य भी उत्पन्न कर सकते हैं। अगर आयात बाज़ार वास्तव में पटा हुआ हो, तो वह यह सिद्ध करेगा कि आयातित वस्तुओं की मांग में कमी आ गयी है और नीचे दामों

पर यह अव्याख्येय होगा, जब तक कि इसे स्वदेशी औद्योगिक उत्पादन के संकुचन के कारण न बताया जाये; लेकिन जब तक नीचे दामों पर अतिशय आयात होता रहता है, अपनी बारी में यह भी अव्याख्येय होगा। यह निरर्थकताओं का एक अंबार है – सिर्फ़ यह सिद्ध करने के लिए कि दामों में उतार = ब्याज दर में उतार है। दोनों ही एक ही समय साथ-साथ विद्यमान हो सकते हैं। लेकिन अगर ऐसा है, तो यह औद्योगिक पूंजी की गति और उधारार्थ द्रव्य पूंजी की गति की दिशाओं में वैपरीत्य को ही प्रतिबिंबित करेगा। यह उनकी समानता को नहीं प्रतिबिंबित करेगा।

कथन ३) के संदर्भ में इस व्याख्या के बाद भी यह समझना कठिन है कि जब जिंसें प्रचुरता में उपलब्ध हों, तब द्रव्य का ब्याज क्यों नीचा होना चाहिए। अगर जिंसें सस्ती हैं, तो एक निश्चित मात्रा ख़रीदने के लिए मुझे पहले २,००० पाउंड के बजाय सिर्फ़ १,००० पाउंड की ही जरूरत हो सकती है। लेकिन मैं शायद फिर भी २,००० पाउंड निवेशित कर दूं और इस प्रकार मैं पहले जितनी मात्रा ख़रीद सकता था, उससे दुगुनी ख़रीद लूं। इस तरीक़े से मैं उतनी ही पूंजी अग्रसारित करके अपने व्यवसाय का प्रसार करता हूं, जिसे मुझे उधार लेना पड़ सकता है। मैं पहले ही की तरह २,००० पाउंड की जिंसें ख़रीद लेता हूं। इसलिए मुद्रा बाज़ार में मेरी मांग उतनी ही बनी रहती है, चाहे जिंस बाज़ार में मेरी मांग जिंस दामों में उतार के साथ चढ़ जाती है। लेकिन अगर जिंसों के लिए यह मांग घट जाती है, अर्थात अगर जिंस दामों में उतार के साथ उत्पादन नहीं बढ़ता है, जो एक ऐसी घटना है कि वह *Economist* के सभी नियमों का खंडन करेगी, तो उधारार्थ द्रव्य पूंजी के लिए मांग घट जायेगी, यद्यपि लाभ बढ़ जायेगा। लेकिन यह बढ़ता लाभ उधारार्थ पूंजी के लिए मांग पैदा करेगा। प्रसंगतः, जिंस दामों का निम्न स्तर तीन कारणों से हो सकता है। पहला, मांग की कमी के कारण। ऐसे मामले में ब्याज दर इसलिए नीची होती है कि उत्पादन निश्चल है, न कि इसलिए कि जिंसें सस्ती हैं, क्योंकि नीचे दाम इस निश्चलता का प्रतिबिंब मात्र हैं। दूसरा, यह पूर्ति के मांग से अधिक होने के कारण हो सकता है। यह बाज़ार में माल की भरमार, आदि का परिणाम हो सकता है, जो संकट की तरफ़ ले जा सकती है और स्वयं संकट के दौरान ऊंची ब्याज दर के साथ-साथ हो सकती है; अथवा यह जिंसों के मूल्य में गिरावट का परिणाम हो सकता है, जिससे कि उसी मांग की निम्नतर दामों पर तुष्टि की जा सकती है। अंतिम प्रसंग में ब्याज दर क्यों गिरनी चाहिए? इसलिए कि लाभ बढ़ते हैं? अगर यह उतनी ही उत्पादक अथवा पण्य पूंजी प्राप्त करने के लिए कम द्रव्य पूंजी की आवश्यकता होने के कारण होता, तो यह केवल यही सिद्ध करता कि लाभ और ब्याज एक दूसरे के व्युत्क्रमानुपाती हैं। बहरहाल, *Economist* का सामान्य कथन ग़लत है। जिंसों के नीचे नक़द दाम और नीची ब्याज दर अनिवार्यतः साथ-साथ ही नहीं चलते। अन्यथा ब्याज दर निर्धनतम देशों में निम्नतम रही होती, जहां उपज के नक़द दाम सबसे नीचे होते हैं, और समृद्धतम देशों में उच्चतम हुई होती, जहां कृषि उत्पादों के नक़द दाम उच्चतम होते हैं। सामान्य रूप में *Economist* स्वीकार करता है: अगर द्रव्य का मूल्य गिरता है, तो वह ब्याज दर पर कोई प्रभाव नहीं डालता। १०० पाउंड हमेशा ही की तरह १०५ पाउंड ही लाते हैं। अगर १०० पाउंड कम मूल्य के हैं, तो ब्याज के ५ पाउंड भी कम मूल्य के ही हैं। यह संबंध मूल राशि की मूल्यवृद्धि अथवा मूल्यह्रास द्वारा प्रभावित नहीं होता। मूल्य के दृष्टिकोण से विचार किया जाये, तो जिंसों की एक निश्चित मात्रा द्रव्य की एक निश्चित राशि के बराबर है। अगर यह मूल्य बढ़ता है, तो

वह अधिक बड़ी द्रव्य राशि के बराबर हो जाता है। जब वह गिरता है, तो उसका उलट सही होता है। अगर मूल्य २,००० के बराबर है, तो ५% = १००; अगर वह १,००० के बराबर है, तो ५% = ५०। लेकिन यह ब्याज दर को किसी भी प्रकार नहीं बदल देता। इस मामले का तर्कसंगत हिस्सा सिर्फ़ यह है कि जब जिंसों की उतनी ही मात्रा को बेचने के लिए २,००० पाउंड लगते हैं, तब उसकी अपेक्षा अधिक द्रव्य निभाव की आवश्यकता होती है कि जब सिर्फ़ १,००० पाउंड जरूरी होते हैं। लेकिन यह केवल यही दिखलाता है कि लाभ और ब्याज यहां एक दूसरे के व्युत्क्रमानुपाती हैं। कारण कि स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के घटकों के दाम जितना ही नीचे होंगे, लाभ उतना ही ऊंचा होगा और ब्याज उतना ही नीचा होगा। लेकिन बात उलटी भी हो सकती है और अकसर होती भी है। उदाहरण के लिए, कपास इसलिए सस्ती हो सकती है कि सूत और कपड़ों के लिए कोई मांग नहीं है, और कपास इसलिए सापेक्षतया महंगी हो सकती है कि सूती उद्योग में भारी लाभ उसके लिए बड़ी मांग पैदा कर देता है। दूसरी ओर, उद्योगपतियों के लाभ ठीक इसलिए ऊंचे हो सकते हैं कि कपास का दाम नीचा है। हब्बर्ड की तालिका सिद्ध करती है कि ब्याज दर और जिंस क़ीमतें सर्वथा स्वतंत्र गतियां करती हैं, जबकि ब्याज दर की गतियां धातु संचिति और विनिमय दरों की गतियों से घनिष्ठतम जुड़ी रहती हैं।

Economist कहता है: "इसलिए जब भी जिंसों का प्राचुर्य होता है, द्रव्य पर ब्याज नीचा होगा।" संकटों के समय ठीक उलटा देखने में आता है। जिंसों का अतिबाहुल्य होता है, जिससे वे द्रव्य में परिवर्तित नहीं की जा सकतीं और इसलिए ब्याज दर ऊंची होती है; चक्र के एक और चरण में जिंसों के लिए मांग ज़बरदस्त होती है और इस कारण द्रुत प्रतिलाभ बनाये जाते हैं, लेकिन उसी के साथ-साथ दाम चढ़ते होते हैं और द्रुत प्रतिफलों के कारण ब्याज दर नीची होती है। "जब वे [जिंसें] दुर्लभ होती हैं, द्रव्य पर ब्याज ऊंचा होगा।" संकट के बाद आनेवाले मंदी के ज़माने में भी उलटी बात ही सही है। जिंसें दुर्लभ होती हैं – निरपेक्ष अर्थों में, मांग के संदर्भ में नहीं, और ब्याज दर नीची होती है।

कथन ४) के संदर्भ में यह पर्याप्त स्पष्ट है कि बाज़ार के पटे होने की हालत में अगर जिंसों के मालिक के लिए जिंसों को बेच पाना ज़रा भी संभव हो, तो वह उनसे उस समय की बनिस्बत नीचे दामों पर पीछा छुड़ा लेगा कि जब विद्यमान पूर्ति के जल्दी से समाप्त हो जाने की संभावना रहती है। लेकिन इसके कारण ब्याज दर क्यों गिर जानी चाहिए, यह स्पष्ट नहीं है।

अगर बाज़ार में आयातित जिंसों का अतिप्राचुर्य है, तो ब्याज दर मालिकों की तरफ़ से उधारार्थ पूंजी की बढ़ी हुई मांग के परिणामस्वरूप बढ़ सकती है, ताकि उन्हें अपनी जिंसों से बाज़ार को न पाटना पड़े। ब्याज दर इसलिए गिर सकती है कि वाणिज्यिक उधार की सुलभता बैंक उधार के लिए मांग को सापेक्षतया नीची रख सकती है।

Economist १८४७ में ब्याज दर के चढ़ाये जाने तथा मुद्रा बाज़ार पर दबाव डालनेवाली अन्य परिस्थितियों के विनिमय दरों पर तीव्र प्रभाव का उल्लेख करता है। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्वर्ण अपवाह विनिमय दरों में परिवर्तन के बावजूद अप्रैल के अंत तक जारी रहा था; यहां मोड़ मई के शुरू में जाकर ही आ पाया था।

१ जनवरी, १८४७ को बैंक ऑफ़ इंगलैंड की आरक्षित धातु निधि १,५०,६६,६६१ पाउंड थी; ब्याज दर ३ १/२% थी; त्रैमासिक विनिमय दरें पेरिस के लिए २५.७५%, हैंबर्ग के

लिए १३.१०% और एम्सटर्डम के लिए १२.३१/४% थीं। ५ मार्च को आरक्षित धातु निधि गिरकर १,१५,६५,५३५ हो गयी, बट्टा दर चढ़कर ४% हो गयी और विनिमय दर गिरकर पेरिस के लिए २५.६७ १/२%, हैंबर्ग के लिए १३.६ १/४% और एम्सटर्डम के लिए १२.२ १/२% हो गयी। सोने का अपवाह जारी रहा। नीचे की तालिका देखिये :

१८४७	बैंक ऑफ़ इंगलैंड की बुलियन निधि (पाउंडों में)	मुद्रा बाज़ार	उच्चतम त्रैमासिक दरें		
			पेरिस	हैंबर्ग	एम्सटर्डम
२० मार्च	१,१२,३१,६३०	बैंक बट्टा दर ४%	२५.६७ १/२	१३.६ ३/४	१२.२ १/२
३ अप्रैल	१,०२,४६,४१०	बैंक बट्टा दर ५%	२५.८०	१३.१०	१२.३ १/२
१० अप्रैल	६८,६७,०५३	मुद्रा अत्यंत दुर्लभ	२५.६०	१३.१० १/२	१२.४ १/२
१७ अप्रैल	६३,२६,८४१	बैंक बट्टा दर ५.५%	२६.०२ १/२	१३.१० ३/४	१२.५ १/२
२४ अप्रैल	६२,१३,८६०	दबाव	२६.०५	१३.१२	१२.६
१ मई	६३,३७,७१६	बढ़ता दबाव	२६.१५	१३.१२ ३/४	१२.६ १/२
८ मई	६५,८८,७५६	उच्चतम दबाव	२६.२७ १/२	१३.१५ १/२	१२.७ ३/४

१८४७ में इंगलैंड से बहुमूल्य धातु का कुल निर्यात ८६,०२,५६७ पाउंड का था।

इसमें से संयुक्त राज्य अमरीका को . . . . . . ३२,२६,४११ पाउंड
फ़्रांस को . . . . २४,७६,८६२ पाउंड
हांजे नगरों को . . . . ६,५८,७८१ पाउंड
हालैंड को . . . . २,४७,७४३ पाउंड

मार्च के अंत में दरों में परिवर्तन के बावजूद स्वर्ण अपवाह पूरे एक और महीने चलता रहा, संभवतः संयुक्त राज्य अमरीका को।

"इस प्रकार हम देखते हैं" [*Economist*, २१ अगस्त, १८४७, पृष्ठ ६५४ कहता है] "कि ब्याज दर में चढ़ाव का और प्रतिकूल विनिमय को सही करने में और बुलियन के प्रवाह को इस देश की तरफ़ वापस मोड़ने में जो दबाव पैदा हुआ था, उसका प्रभाव कितना तीव्र और निर्णायक था। यह प्रभाव भुगतान शेष से सर्वथा निरपेक्षतः उत्पन्न हुआ था। ऊंची ब्याज दर ने विदेशी और ब्रिटिश, दोनों तरह की प्रतिभूतियों के दाम गिराये और विदेशी लेखे पर भारी क्रय करने के लिए प्रेरित किया, जिसने इस देश से किये जानेवाले विपत्रों की राशि को बढ़ाया, जबकि दूसरी ओर, ऊंची ब्याज दर के साथ मुद्रा प्राप्त करने में कठिनाई ऐसी थी कि इन विपत्रों के लिए मांग घट गयी, जबकि उनकी राशि बढ़ गयी ... इसी कारण से आयातों के आदेश रद्द कर दिये गये और विदेशों में लगी ब्रिटिश रक़मों को निकाल लिया गया और यहां नियोजन के लिए स्वदेश ले आया गया। इस प्रकार हम, मिसाल के लिए, १० मई के *Rio de Janeiro Price Current* में पढ़ते हैं : 'विनिमय [इंगलैंड से] में और गिरावट आयी है, जो मुख्यतः बाज़ार पर [ब्राज़ीली] सरकारी स्टाक की भारी बिक्रियों की प्राप्तियों

के ब्रिटिश लेखे पर प्रेषण के लिए दबाव से उत्पन्न हुई है। इस प्रकार इस देश की पूंजी को, जिसे जब यहां ब्याज बहुत नीचा था, विदेशों में विभिन्न प्रतिभूतियों में निवेशित कर दिया गया था, ब्याज ऊंचा हो जाने पर फिर वापस ले आया गया।"

इंगलैंड का व्यापार शेष

अकेले भारत को ही "सुशासन" के लिए ख़िराज, ब्रिटिश पूंजी पर सूद और लाभांशों, आदि के रूप में – अधिकारियों द्वारा अपने वेतनों से बचतों के रूप में अथवा अंग्रेज़ व्यापारियों द्वारा इंगलैंड में निवेशित करने के लिए अपने लाभ के एक हिस्से के रूप में प्रति वर्ष स्वदेश भेजी जानेवाली रक़मों के अलावा – ५० लाख पाउंड अदा करने पड़ते हैं। हर ब्रिटिश उपनिवेश को इसी कारण से निरंतर विशाल प्रेषणाएं करनी पड़ती हैं। ऑस्ट्रेलिया, वैस्ट इंडीज़ और कनाडा में अधिकांश बैंक ब्रिटिश पूंजी से स्थापित किये गये हैं और लाभांश इंगलैंड में देय हैं। इसी प्रकार, इंगलैंड का अनेक विदेशी – यूरोपीय, उत्तर अमरीकी तथा दक्षिण अमरीकी – प्रतिभूतियों पर भी स्वामित्व है, जिनसे वह ब्याज पाता है। इसके अलावा उसके विदेशों में रेलों, नहरों, खदानों, आदि में – अनुरूप लाभांशों के साथ – हिस्से हैं। इन सभी मदों पर प्रेषणा ब्रिटिश निर्यातों की रक़म के अलावा लगभग पूरी तरह से केवल उत्पादों में ही की जाती है। दूसरी ओर, इंगलैंड से विदेशों में ब्रिटिश प्रतिभूतियों के स्वामियों को और विदेशों में अंग्रेज़ों द्वारा उपभोग के लिए जो भेजा जाता है, वह तुलना में नगण्य है।

यह, जहां तक कि उसका व्यापार शेष और विनिमय दरों से संबंध है, "किसी भी क्षण विशेष में समय का" प्रश्न है। "व्यावहारिक अर्थों में ... इंगलैंड अपने निर्यातों पर दीर्घकालिक उधार देता है, जबकि आयातों की अदायगी नक़दी में की जाती है। रिवाज का यह अंतर विशेष अवसरों पर विनिमयों पर काफ़ी प्रभाव डालता है। ऐसे समयों में, जब हमारे निर्यातों में काफ़ी वृद्धि आती होती है, जैसे १८५० में, ब्रिटिश पूंजी निवेश में भी अवश्य निरंतर वृद्धि आती रहती होगी ... इस तरह से १८५० की प्रेषणाएं १८४६ में निर्यातित मालों के आधार पर की जा सकती हैं। लेकिन अगर १८५० के निर्यात १८४६ के निर्यातों से ६० लाख पाउंड से भी अधिक हो जायें, तो इसका व्यावहारिक परिणाम यह होगा कि इसी वर्ष जितना धन आया था, उससे इतने परिमाण में अधिक धन विदेश भेजा जाता है। और इस तरह से विनिमय दरों और ब्याज दर पर प्रभाव पैदा हो जाता है। इसके विपरीत, जब हमारा व्यापार वाणिज्यिक संकट के बाद मंदा होता है और जब हमारे निर्यात बहुत कम हो जाते हैं, तब विगत वर्षों के बड़े निर्यातों के लिए प्राप्य प्रेषणाएं हमारे आयातों के मूल्य से बहुत अधिक हो जाती हैं, इसके अनुरूप विनिमय हमारे अनुकूल हो जाते हैं, स्वदेश में पूंजी तेज़ी से संचित होती है और ब्याज दर कम हो जाती है।" (*Economist*, ११ जनवरी, १८५१ [पृष्ठ ३०]।)

विदेशी विनिमय दरें इन कारणों से बदल सकती हैं:

१) तात्कालिक भुगतान शेष के परिणामस्वरूप, चाहे कारण कुछ क्यों न हो – शुद्धतः वाणिज्यिक, या विदेश में पूंजी निवेश, या युद्धों के लिए सरकारी ख़र्च, आदि, क्योंकि इसके द्वारा विदेशों को नक़द भुगतान किये जाते हैं।

२) किसी देश विशेष में मुद्रा – चाहे धातु अथवा काग़ज़ी – के मूल्य ह्रास के परिणामस्वरूप। यह शुद्धतः नामिक ही होता है। अगर एक पाउंड पहले के मुक़ाबले आधे द्रव्य को ही

व्यक्त करने लगें, तो स्वाभाविकतया उसे २५ फ़्रैंक के बजाय १२.५ फ़्रैंक का ही माना जायेगा।

३) जब बात ऐसे देशों के बीच विनिमय दर की हो, जिनमें से एक चांदी, तो दूसरा सोने का मुद्रा के रूप में प्रयोग करता है, तो विनिमय दर इन दोनों धातुओं के मूल्य की सापेक्ष घट-बढ़ पर निर्भर करती है, क्योंकि ये उनके बीच विनिमय समता को अनिवार्यतः बदल देती हैं। इसकी मिसाल १८५० की विनिमय दरें हैं; वे इंगलैंड के प्रतिकूल थीं, यद्यपि उसके निर्यात बेहद बढ़ गये थे। फिर भी कोई स्वर्ण अपवाह नहीं हुआ था। यह सोने के मुक़ाबले चांदी के मूल्य में अल्पकालिक चढ़ाव का परिणाम था। (देखिये ३० नवंबर, १८५० का *Economist* [पृष्ठ १३१९-१३२०]।)

१ पाउंड की विनिमय समता यह है—पेरिस, २५ फ़्रैंक २० सेंट; हैंबर्ग, १३ बांको (बैंक मुद्रा के) मार्क १०.५ शिलिंग; एम्सटर्डम, ११ फ़्लोरिन ९७ सेंट। पेरिस विनिमय दर २५.२० फ़्रैंक के जितना ही आगे जाती है, वह फ़्रांस के अंग्रेज क़र्ज़दार या फ़्रांसीसी मालों के ग्राहक के अधिक अनुकूल होती जाती है। दोनों ही प्रसंगों में उन्हें अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए कम पाउंडों की ज़रूरत होती है।—ऐसे दूरस्थ देशों में, जहां विनिमय पत्रों के दुर्लभ और इंगलैंड को प्रेषणाएं करने के लिए अपर्याप्त हो जाने पर बहुमूल्य धातु आसानी से नहीं मिल पाती है, स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि आम तौर पर इंगलैंड भेजे जानेवाले मालों के दाम चढ़ा दिये जाते हैं, क्योंकि उनके लिए अधिक मांग पैदा हो जाती है, ताकि उन्हें विनिमय पत्रों के स्थान पर इंगलैंड भेजा जा सके; भारत में ऐसा अकसर होता है।

प्रतिकूल विनिमय दर, या स्वर्ण अपवाह तक उस समय संभव होता है, जब इंगलैंड में द्रव्य का अतिप्राचुर्य होता है, ब्याज दर नीची होती है और प्रतिभूतियों का दाम ऊंचा होता है।

१८४८ के दौरान इंगलैंड को भारत से बड़ी मात्रा में चांदी प्राप्त हुई थी, क्योंकि अच्छे विनिमय पत्र विरल थे और १८४७ के संकट और भारत के साथ व्यापार में उधार के आम अभाव के परिणामस्वरूप साधारण विनिमय पत्र आसानी से सकारे नहीं जाते थे। यह सारी चांदी अभी आयी ही थी कि महाद्वीप पर जा पहुंची, जहां क्रांति के फलस्वरूप कितने ही ज़ख़ीरे बन गये थे। इसी चांदी का ज़्यादातर हिस्सा १८५० में भारत वापस चला गया, क्योंकि विनिमय दर ने अब इसे लाभकर बना दिया था।

मुद्रा प्रणाली तत्वतः एक कैथोलिक संस्था और उधार पद्धति प्रोटेस्टैंट संस्था है। "स्कॉच लोग सोने से नफ़रत करते हैं।" काग़ज़ के रूप में जिंसों का मौद्रिक अस्तित्व केवल सामाजिक ही होता है। मुक्ति तो **आस्था** लाती है। जिंसों के अंतर्भूत सार के नाते मुद्रा मूल्य में आस्था, उत्पादन प्रणाली और उसकी पूर्वनिर्धारित व्यवस्था में आस्था, उत्पादन के अलग-अलग कर्त्ताओं में स्वप्रसारमान पूंजी के मूर्तरूपों के नाते आस्था। किंतु उधार पद्धति अपने आपको मुद्रा प्रणाली के आधार से उतना ही मुक्त कर पाती है कि जितना प्रोटेस्टैंट संप्रदाय ने अपने आपको कैथोलिक संप्रदाय की बुनियादों से मुक्त किया है।

अध्याय ३६

प्राक्-पूंजीवादी संबंध

व्याजी पूंजी, अथवा जैसे हम उसे उसके कालातीत रूप में कह सकते हैं, कुसीदी पूंजी, अपनी जुड़वां बहन व्यापारी पूंजी के साथ पूंजी के उन कालातीत रूपों में से है, जो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के बहुत पहले आते हैं और समाज की अत्यधिक विविध आर्थिक संरचनाओं में पाये जाते हैं।

कुसीदी पूंजी के अस्तित्व के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि उत्पादों का कम से कम एक हिस्सा जिंसों में रूपांतरित होना चाहिए और जिंस व्यापार के साथ-साथ द्रव्य को अपने विभिन्न कार्यों में विकसित हो जाना चाहिए।

कुसीदी पूंजी का विकास व्यापारी पूंजी के और विशेषकर द्रव्य-व्यापार पूंजी के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। गणतंत्र के अस्तित्व के अंतिम वर्षों से प्राचीन रोम में, जहां मैनुफ़ेक्चर प्राचीन विश्व में अपने विकास के औसत स्तर से बहुत नीचे के स्तर पर था, व्यापारी पूंजी, द्रव्य-व्यापार पूंजी और कुसीदी पूंजी ने – प्राचीन रूप के ढांचे के भीतर – अपने विकास का उच्चतम बिंदु प्राप्त किया ।

हम देख चुके हैं कि द्रव्य के साथ जमाख़ोरी अनिवार्यतः पैदा होती है।* लेकिन पेशेवर जमाख़ोर महत्व तभी जाकर प्राप्त करता है कि जब वह कुसीद – सूदख़ोर – में रूपांतरित हो जाता है।

व्यापारी द्रव्य इसलिए उधार लेता है कि उससे मुनाफ़ा बनाये, उसका पूंजी की तरह उपयोग करे, अर्थात उसे बढ़ाये। अतः समाज के पूर्ववर्ती रूपों में महाजन का उसकी सापेक्षता में वही स्थान है, जो आधुनिक पूंजीपति की सापेक्षता में है। इस विशिष्ट संबंध को कैथोलिक विश्वविद्यालयों ने भी अनुभव किया था। "अलकाला, सलामान्का, इंगोलश्दाद्त, फ्राइसगाउ में फ़ाइबुर्ग, मायांस, कोलोन, त्रेव विश्वविद्यालयों ने एक के बाद एक करके वाणिज्यिक ऋणों के लिए ब्याज की वैधता को मान्यता प्रदान की थी। इनमें से पहले पांच अनुमोदनों को ल्यों नगर के कांसुलेट के अभिलेखागार में जमा किया गया था और *Traité de l'usure et des intérêts*, Bruyset-Ponthus, Lyons के परिशिष्ट में प्रकाशित किया गया था।" (M. Augier, *Le Crédit public, etc.*, Paris, 1842, p. 206.) उन सभी रूपों में, जिनमें दास अर्थव्यवस्था (पितृतंत्रात्मक नहीं, वरन बादवाले यूनानी और रोमन युगों जैसी) संपदा एकत्र करने के साधन

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, पृष्ठ १४६-५२। – सं०

का काम देती है, अतः, जहां द्रव्य दासों, भूमि, आदि के क्रय के ज़रिये अन्य लोगों के श्रम को हड़पने का साधन होता है, ठीक इसी कारण कि द्रव्य को पूंजी की तरह निवेशित किया जा सकता है, उसे पूंजी की तरह विस्तारित किया जा सकता है, अर्थात वह ब्याज दे सकता है।

लेकिन पूंजीवादी उत्पादन से पहले की अवधियों में कुसीदी पूंजी जिन लाक्षणिक रूपों में अस्तित्वमान होती है, वे दो प्रकार के हैं। मैं लाक्षणिक रूप जान-बूझकर कह रहा हूं। यही रूप पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर अपनी पुनरावृत्ति करते हैं, किंतु मात्र गौण रूपों की तरह। वे अब ऐसे रूप नहीं रहते, जो ब्याजी पूंजी के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। ये दोनों रूप हैं – पहला, उच्च वर्गों के अपव्ययी सदस्यों, विशेषकर भूस्वामियों को धन उधार देकर कुसीद; दूसरा, छोटे उत्पादकों को धन उधार देकर कुसीद, जिनके पास श्रम की अपनी अवस्थाएं होती हैं; इनमें दस्तकार, मगर मुख्यतः किसान आते हैं, ख़ासकर इसलिए कि प्राक्-पूंजीवादी अवस्थाओं के अंतर्गत अनिवार्यतः उनका विपुल बहुलांश कृषक वर्ग ही होता है, क्योंकि उनमें सामान्यतः छोटे स्वतंत्र अलग-अलग उत्पादकों का अस्तित्व संभव है।

सूदख़ोरी के ज़रिये धनी भूस्वामियों का विनाश और छोटे उत्पादकों का निर्धनीकरण, दोनों ही के परिणामस्वरूप विशाल मात्राओं में द्रव्य पूंजी का निर्माण और संकेंद्रण होता है। लेकिन यह प्रक्रिया किस हद तक पुरानी उत्पादन प्रणाली का अंत करती है, जैसे आधुनिक यूरोप में हुआ है, और उसके स्थान पर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की स्थापना करती है या नहीं, यह पूरी तरह से ऐतिहासिक विकास की अवस्था और सहवर्ती परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

ब्याजी पूंजी के लाक्षणिक रूप के नाते कुसीदी पूंजी अपने श्रम पर जीनेवाले किसान और छोटे दस्तकार के छोटे पैमाने के उत्पादन के प्राधान्य से मेल खाती है। जब श्रमिक का पूंजी के रूप में श्रमावस्थाओं से और श्रम के उत्पाद से सामना होता है, जैसे विकसित पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत होता है, तो उसे उत्पादक के नाते द्रव्य उधार लेने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। अगर वह कभी पैसा उधार लेता भी है, जैसे रेहनदार से, तो वह ऐसा निजी आवश्यकताओं के लिए करता है। लेकिन जहां भी श्रमिक अपनी श्रमावस्थाओं और अपने उत्पाद का स्वामी होता है, चाहे वास्तविक अथवा नाममात्र, वहां वह महाजनी पूंजी की सापेक्षता में, जो उसके सामने कुसीदी पूंजी के रूप में आती है, उत्पादक के नाते आता है। न्यूमैन यह कहकर बात को बहुत ही घिसे-पिटे ढंग से व्यक्त करते हैं कि बैंकर सम्मान का पात्र होता है, जबकि सूदख़ोर घृणा और तिरस्कार का, क्योंकि बैंकर अमीरों को उधार देता है, जबकि सूदख़ोर ग़रीबों को उधार देता है। (F. W. Newman, *Lectures on Political Economy*, London, 1851, p. 44.) वह इस तथ्य को नजरअंदाज करते हैं कि इस बात के मूल में दो सामाजिक प्रणालियों और उनकी अनुरूप सामाजिक व्यवस्थाओं का अंतर है और इस स्थिति की अमीर और ग़रीब के बीच भेद द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती। इसके अलावा, जो सूदख़ोरी छोटे उत्पादक को निचोड़कर निःसत्व कर देती है, वह उस सूदख़ोरी के साथ-साथ ही चलती है, जो बड़ी भूसंपदा के स्वामी को निर्धन करती है। जैसे ही रोमन पैट्रिशियनों की सूदख़ोरी ने रोमन प्लेबियनों, छोटे किसानों को पूरी तरह से तबाह कर दिया कि शोषण के इस रूप का अंत हो गया और शुद्ध दास अर्थव्यवस्था ने छोटी खेतिहर अर्थव्यवस्था का स्थान ले लिया।

ब्याज के रूप में मात्र निर्वाह साधनों के अलावा समस्त बेशी (वह सारी रक़म, जो बाद में उत्पादकों की मजदूरी बन जाती है) को सूदख़ोरी खपा सकती है (यह बाद में

लाभ और किराया ज़मीन का रूप ले लेती है) और इसलिए इस ब्याज के स्तर की, जो राज्य द्वारा मांगे जानेवाले अंश के सिवा सारे बेशी मूल्य को आत्मसात कर लेता है, आधुनिक ब्याज दर के साथ, जिसमें ब्याज – कम से कम सामान्य रूप में – इस बेशी मूल्य का केवल एक अंश ही होता है, तुलना करना बेहद बेतुकापन है। इस तरह की तुलना में यह अनदेखा कर दिया जाता है कि उजरती मज़दूर लाभ, ब्याज और किराया ज़मीन, अर्थात समस्त बेशी मूल्य उत्पन्न करता है और अपने को नियोजित करनेवाले पूंजीपति को देता है। कैरी यह बेतुकी तुलना यह दिखलाने के लिए करते हैं कि पूंजी का विकास और उसके साथ चलनेवाला ब्याज दर में उतार श्रमिक के लिए कितने लाभदायी हैं। इसके अलावा, जहां सूदखोर अपने शिकार से बेशी श्रम निचोड़ लेने पर ही संतोष नहीं करता, बल्कि धीरे-धीरे उसकी श्रमावस्थाओं, ज़मीन, मकान, आदि तक पर क़ब्ज़ा पा लेता है और इस तरह से उसका स्वत्वहरण करने में लगातार लगा रहता है, वहां, दूसरी ओर, श्रमिक का अपनी श्रमावस्थाओं से यह पूर्ण स्वत्वहरण वह परिणाम नहीं है, जो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली प्राप्त करना चाहती है, वरन यह उसके प्रस्थान बिंदु की स्थापित अवस्था मात्र है। वास्तविक दास की ही भांति उजरती दास अपनी स्थिति के कारण – कम से कम उत्पादक के नाते अपनी हैसियत से – लेनदार का ग़ुलाम नहीं बन सकता; यह सही है कि उजरती दास अपनी उपभोक्ता की हैसियत से ही ऋणदाता का दास बन सकता है। कुसीदी पूंजी उस रूप में, जिसमें वह उत्पादन प्रणाली को बदले बिना प्रत्यक्ष उत्पादकों के समस्त बेशी मूल्य को वास्तव में हस्तगत कर लेती है, जिसमें उत्पादकों का श्रमावस्थाओं पर स्वामित्व अथवा अधिकार – और उसके अनुरूप छोटे पैमाने का उत्पादन – उसकी अनिवार्य पूर्वापेक्षा होती है, जिसमें – दूसरे शब्दों में – पूंजी श्रम को प्रत्यक्षत: अपने अधीन नहीं करती और इसलिए उसके मुक़ाबले में औद्योगिक पूंजी की तरह सामने नहीं आती, – यह कुसीदी पूंजी उत्पादन प्रणाली को परिक्षीण करती है, उत्पादक शक्तियों को विकसित करने के बजाय स्तंभित करती है और साथ ही उन दारुण अवस्थाओं को चिरंतन बनाती है, जिनमें श्रम की सामाजिक उत्पादिता स्वयं श्रम के मोल विकसित नहीं होती, जैसे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में होता है।

इस प्रकार, एक ओर, सूदख़ोरी प्राचीन तथा सामंती संपदा और प्राचीन तथा सामंती स्वामित्व पर तलोच्छेदक और विनाशक प्रभाव डालती है। दूसरी ओर, वह छोटे खेतिहर और छोटे शहरी उत्पादन को कमजोर और नष्ट करती है, संक्षेप में उन सभी रूपों को, जिनमें उत्पादक अब भी अपने उत्पादन साधनों के स्वामी के रूप में सामने आता है। विकसित पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत श्रमिक उत्पादन साधनों का स्वामी नहीं होता, अर्थात उस खेत का कि जिसे वह काश्त करता है, उस कच्ची सामग्री का कि जिसे वह संसाधित करता है, आदि। लेकिन इस प्रणाली के अंतर्गत उत्पादक का उत्पादन साधनों से पृथक्करण स्वयं उत्पादन प्रणाली में एक वास्तविक क्रांति को प्रतिबिंबित करता है। अलग-अलग श्रमिकों को पृथक, किंतु परस्पर संबद्ध कार्य करने के लिए बड़ी-बड़ी कार्यशालाओं में एकसाथ ले आया जाता है, औज़ार एक मशीन बन जाता है। स्वयं उत्पादन प्रणाली अब छोटी संपत्ति से जुड़े उत्पादन उपकरणों का बिखराव नहीं होने देती, न वह स्वयं श्रमिक के अलगाव का अवसर ही देती है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत कुसीद अब उत्पादक को अपने उत्पादन साधनों से अलग नहीं कर सकता, क्योंकि उन्हें पहले ही अलग कर दिया गया है।

कुसीद द्रव्य संपदा को वहां केंद्रीकृत कर देता है, जहां उत्पादन साधन बिखरे होते हैं। वह उत्पादन प्रणाली को नहीं बदलता, मगर अपने आपको उसके साथ जोंक की तरह मज़बूती से चिपका लेता है और उसकी हालत को ख़राब कर देता है। वह उसका ख़ून चूसता है, उसे कमज़ोर करता है और पुनरुत्पादन को और भी दयनीय अवस्थाओं में चलने के लिए मजबूर करता है। यही सूदख़ोरों से जनव्यापी घृणा का कारण है, जो प्राचीन विश्व में सर्वाधिक प्रत्यक्ष थी, जिसमें उत्पादक द्वारा उत्पादन साधनों का स्वामित्व साथ ही राजनीतिक स्थिति, नागरिक की स्वतंत्रता का आधार भी था।

जब तक दासप्रथा अभिभावी बनी रहती है, अथवा बेशी उत्पाद का उपभोग सामंत अथवा उसके अमले द्वारा किया जाता है और दासस्वामी या सामंत सूदख़ोर के शिकंजे में पड़ते हैं, उत्पादन प्रणाली वही बनी रहती है – वह बस श्रमिक के लिए अधिक दुर्वह हो जाती है। ऋणग्रस्त दासस्वामी अथवा सामंत और भी अधिक उत्पीड़न करनेवाला हो जाता है, क्योंकि वह स्वयं अधिक उत्पीड़ित होता है। अथवा वह अंततः सूदख़ोर के लिए जगह छोड़ देता है, जो स्वयं भूस्वामी अथवा दासस्वामी बन जाता है, जैसे प्राचीन रोम में नाइट या भट सामंत होते थे। पुराने शोषक का स्थान, जिसका शोषण इसलिए कमोबेश पितृतंत्रात्मक हुआ करता था कि वह अधिकांशतः राजनीतिक शक्ति का साधन होता था, एक कठोर और धन के दीवाने नये रईस द्वारा ले लिया जाता है। लेकिन इससे स्वयं उत्पादन प्रणाली नहीं बदल जाती।

सभी प्राक्-पूंजीवादी उत्पादन प्रणालियों में सूदख़ोरी सिर्फ़ इसी हद तक क्रांतिकर प्रभाव डालती है कि वह स्वामित्व के उन रूपों को नष्ट और विसर्जित कर देती है, जिनकी ठोस बुनियाद और निरंतर पुनरुत्पादन पर राजनीतिक व्यवस्था टिकी होती है। एशियाई रूपों के अंतर्गत आर्थिक अपक्षय और राजनीतिक भ्रष्टाचार के सिवा और कुछ न उत्पन्न करते हुए भी सूदख़ोरी दीर्घ काल तक बनी रह सकती है। सिर्फ़ जहां और जब पूंजीवादी उत्पादन की अन्य पूर्वापेक्षाएं विद्यमान होती हैं, वहां और तब ही कुसीद, एक ओर, सामंती स्वामी और छोटे पैमाने के उत्पादक को तबाह करके और दूसरी ओर, श्रमावस्थाओं को पूंजी में केंद्रीकृत करके नयी उत्पादन प्रणाली की स्थापना में सहायता देनेवाला साधन बनता है।

"मध्य युग में किसी भी देश में कोई सामान्य ब्याज दर नहीं थी। चर्च आरंभ से ही ब्याज पर उधार दिये जाने का सर्वथा निषेध करता था। क़ानून और न्यायालय क़र्ज़ों के लिए कोई अधिक संरक्षण नहीं प्रदान करते थे। अलग-अलग मामलों में ब्याज उतना ही अधिक ऊंचा होता था। सीमित मुद्रा संचलन, अधिकांश अदायगियां नक़दी में करने की आवश्यकता लोगों को धन उधार लेने को विवश करते थे, ख़ासकर तब कि जब विनिमय व्यवसाय अभी अविकसित ही था। ब्याज दरों और कुसीद की अवधारणाओं में भी भारी अंतर थे। शार्लमान (शार्ल महान) के समय में १००% ब्याज लेना घोर सूदख़ोरी माना जाता था। बोदेन झील तटीन लिंदाऊ में कुछ स्थानीय नागरिक १३४४ में २१६ २/३% लेते थे। ज़ूरिच में नगर परिषद का आदेश था कि ४३ १/३% वैध ब्याज दर होनी चाहिए। इटली में कभी-कभी ४०% भी देना पड़ता था, यद्यपि बारहवीं से चौदहवीं सदी तक सामान्य दर २०% से अधिक नहीं थी। वेरोना की व्यवस्था थी कि वैध दर १२१/२% होनी चाहिए। सम्राट फ़ेडरिक द्वितीय ने दर १०% नियत की थी, लेकिन सिर्फ़ यहूदियों के लिए। उसने ईसाइयों के बारे में कुछ कहना ठीक नहीं समझा। जर्मन राइन प्रदेशों में तेरहवीं सदी से ही १०% की दर स्थापित हो चुकी थी।" (Hüllmann, Geschichte des Städtewens, II, S. 55-57.)

कुसीदी पूंजी शोषण की उसी पद्धति का उपयोग करती है, जो पूंजी के लिए लाक्षणिक है, लेकिन अभी उसकी उत्पादन प्रणाली के बिना। यह परिस्थिति बूर्जुआ अर्थतंत्र के ढांचे के भीतर भी, उद्योग की पिछड़ी हुई शाखाओं में, अथवा उन शाखाओं में अपनी पुनरावृत्ति करती है, जो आधुनिक उत्पादन प्रणाली में संक्रमण का प्रतिरोध करती हैं। उदाहरण के लिए, अगर हम ब्रिटिश ब्याज दर की भारतीय ब्याज दर के साथ तुलना करना चाहते हैं, तो हमें बैंक ऑफ़ इंगलैंड की ब्याज दर को नहीं, वरन, मिसाल के लिए, उस दर को लेना चाहिए, जो घरेलू उद्योग में छोटे उत्पादकों को छोटी मशीनरी उधार देनेवाले लेते हैं।

धन का उपभोग करने के विपरीत सूदख़ोरी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योंकि बज़ाते ख़ुद यह एक ऐसी प्रक्रिया है कि जो पूजी पैदा करती है। कुसीदी पूंजी और व्यापारी धन भू-संपत्ति से स्वतंत्र द्रव्य संपत्ति की उत्पत्ति का संवर्धन करते हैं। उत्पाद जिंसों का लक्षण जितना ही कम धारण करते हैं और विनिमय मूल्य जितना ही कम गहन और विस्तृत रूप में उत्पादन को अपने वश में लेता है, उपयोग मूल्यों में अपने सीमित प्रतिनिधित्व की तुलना में द्रव्य उतना ही अधिक वास्तविक संपदा के रूप में, सामान्यतया संपदा के रूप में सामने आता है। यही अपसंचय या जमाख़ोरी का आधार है। विश्व मुद्रा और संचय के रूप में द्रव्य के अलावा यह विशेषकर भुगतान साधनों का रूप है, जिससे वह जिंसों के निरपेक्ष रूप जैसा प्रतीत होता है। और यह विशेषकर भुगतान साधन के नाते इसका कार्य है कि जो ब्याज को और उसके द्वारा द्रव्य पूंजी को भी विकसित करता है। अतिव्ययी और भ्रष्टकारी धन जो चाहता है, वह द्रव्य ही है, सभी कुछ ख़रीदने के साधन के रूप में (ऋणों का शोधन करने के साधन के रूप में भी) द्रव्य है। छोटे उत्पादक को द्रव्य की सर्वोपरि भुगतान करने के लिए आवश्यकता होती है। (भूस्वामियों और राज्य को सेवाओं तथा जिंसरूप करों का मुद्रारूप लगान और मुद्रारूप करों में रूपांतरण यहां महती भूमिका अदा करता है।) दोनों ही हालतों में द्रव्य की द्रव्य के रूप में आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, यह सूदख़ोरी ही है कि जिसमें जमाख़ोरी पहले पहल वास्तविकता बनती है और जमाख़ोर अपने सपने को साकार करता है। संचय के स्वामी से जिस चीज़ की अपेक्षा की जाती है, वह पूंजी नहीं है, बल्कि द्रव्य ही है; लेकिन ब्याज के ज़रिये वह द्रव्य के इस संचय को पूंजी में परिणत कर लेता है, अर्थात बेशी श्रम को आंशिक अथवा पूर्ण रूप में हस्तगत करने और इसी प्रकार स्वयं उत्पाद साधनों के एक हिस्से पर नियंत्रण प्राप्त करने, चाहे वे नाम मात्र को दूसरों की संपत्ति बने रह सकते हैं, के साधन में परिणत कर लेता है। कुसीद मानो उत्पादन के रंध्र-रंध्र में निवास करता है, जिस प्रकार एपिक्यूरस के देवता लोकों के बीच के अवकाश में निवास करते थे। उत्पादों का पण्यरूप जितना ही कम उनका सामान्य रूप होता है, द्रव्य को प्राप्त करना उतना ही कठिन होता है। यही कारण है कि सूदख़ोर जिन लोगों को द्रव्य की आवश्यकता है, उनकी भुगतान करने या प्रतिरोध करने की क्षमता के अलावा और किसी सीमा को नहीं जानता। छोटे खेतिहर और छोटे शहरी उत्पादन में द्रव्य क्रय साधन का काम करता है, ख़ासकर उन हालतों में, जब श्रमिक के उत्पादन साधन (जो इन उत्पादन प्रणालियों के अंतर्गत अब भी मुख्यतः उनका स्वामी बना रहता है) दुर्घटना द्वारा या असाधारण उथल-पुथल के ज़रिये उसके पास से चले जाते हैं, या कम से कम पुनरुत्पादन के सामान्य क्रम में प्रतिस्थापित नहीं होते हैं। निर्वाह साधन और कच्चे माल इन उत्पादन आवश्यकताओं के एक अनिवार्य अंग होते हैं। अगर ये ज्यादा मंहगे हो जाते हैं, तो यह उनकी उत्पाद के प्रतिफलों से प्रतिस्थापना करना असंभव

बना सकता है, जैसे सामान्य रूप में फ़सल का मारा जाना किसान के लिए अपने बीज की जिंसरूप में प्रतिस्थापना करने में बाधक हो सकता है। जिन युद्धों के ज़रिये रोमन पैट्रिशियनों ने प्लेबियनों को सैनिकों का काम करने के लिए विवश करके तबाह किया था और जिन्होंने उन्हें अपनी श्रमावस्थाएं पुनरुत्पादित करने से रोका था और इसलिए उन्हें कंगाल बना दिया था (और दरिद्रीकरण, पुनरुत्पादन की पूर्वापेक्षाओं का स्तंभन अथवा ख़त्म होना ही यहां प्रधान रूप है), उन्हीं युद्धों ने पैट्रिशियनों के भंडारों और तिजोरियों को लूटे हुए तांबे से भर दिया था, जो उस समय की मुद्रा था। प्लेबियनों को आवश्यक जिंसें, अर्थात अनाज, घोड़े और ढोर देने के बजाय उन्होंने उन्हें यह तांबा उधार दिया, जो स्वयं उनके लिए बेकार था, और इस स्थिति का लाभ उठाकर भारी अतिब्याज वसूल किया और इस तरह से प्लेबियनों को अपने ऋण दासों में परिणत कर लिया। शार्लेमान के राज्यकाल में फ़्रैंक किसान इसी तरह से युद्धों से तबाह हो गये थे, जिसके कारण उनके आगे और कोई चारा न रहा कि ऋण दास के बजाय भूदास बन जायें। जैसे कि ज्ञात है, रोमन साम्राज्य में ऐसा प्रायः हुआ करता था कि बेहद भूख की मार के परिणामस्वरूप बच्चों को बेच दिया जाता था और स्वतंत्र नागरिक भी अपने को अमीरों के हाथ बेचकर ग़ुलाम बन जाया करते थे। यह तो रही सामान्य संक्रांति-कालों की बात। वैयक्तिक मामलों में छोटे उत्पादकों द्वारा उत्पादन साधनों का बनाये रखा जाना या गंवाना हज़ारों संयोगों पर निर्भर करता है और इन संयोगों अथवा लोपों में से प्रत्येक दरिद्रीकरण का सूचक होता है और एक ऐसी दरार बन जाता है, जिसमें परजीवी सूदख़ोर रेंगकर आ सकता है। महज़ अपनी गाय की मौत छोटे किसान को अपने पुनरुत्पादन का पुराने पैमाने पर नवीकरण करने में असमर्थ बना सकती है। तब वह सूदख़ोर के पंजों में पड़ जाता है और एक बार उसके क़ब्ज़े में पड़ने के बाद वह अपना कभी उद्धार नहीं कर सकता।

तथापि कुसीद का वस्तुतः महत्वपूर्ण और लाक्षणिक अधिक्षेत्र द्रव्य का भुगतान साधन के रूप में कार्य है। द्रव्य का प्रत्येक भुगतान, जो एक निश्चित तिथि को देय होता है,– किराया ज़मीन, महसूल, कर, आदि,– अपने साथ ऐसे प्रयोजन के लिए द्रव्य प्राप्त करने की आवश्यकता लेकर आता है। अतएव प्राचीन रोम के दिनों से लेकर आज दिन तक बड़े पैमाने का कुसीद कर-संग्राहकों, fermiers généraux [सामान्य कर-ठेकेदारों], receveurs généraux [सामान्य शुल्क संग्राहकों] पर निर्भर करता है। फिर वाणिज्य के विकास तथा पण्य उत्पादन के सामान्यीकरण के साथ कालांतर में क्रय तथा भुगतान का पार्थक्य हो जाता है। द्रव्य की एक विशेष तिथि को अदायगी करनी होती है। इससे ऐसी परिस्थितियां कैसे पैदा हो सकती हैं, जिनमें द्रव्य पूंजीपति और सूदख़ोर आज भी एकाकार हो जाते हैं, यह आधुनिक मुद्रा संकटों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। लेकिन उत्पादक को क़र्ज़ में और भी गहरे धकेलकर और उसके सामान्य भुगतान साधनों को नष्ट करके, क्योंकि अकेले ब्याज का भार ही उसके सामान्य पुनरुत्पादन को असंभव बना देता है, यही कुसीद भुगतान साधन के नाते द्रव्य की आवश्यकता को और भी अधिक विकसित करने का एक मुख्य साधन बन जाता है। इस स्थल पर कुसीद भुगतान साधन के नाते द्रव्य से उत्पन्न होता है और द्रव्य के इस कार्य का स्वयं अपने ही अधिक्षेत्र की तरह विस्तार करता है।

उधार पद्धति सूदख़ोरी के ख़िलाफ़ प्रतिक्रिया की तरह विकसित होती है। लेकिन इसे ग़लत नहीं समझा जाना चाहिए, न उसका अर्थ किसी भी प्रकार प्राचीन लेखकों, चर्च प्रवर्तकों, लूथर या प्रारंभिक समाजवादियों की तरह से ही निकाला जाना चाहिए। यह ब्याजी पूंजी

के पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की अवस्थाओं और आवश्यकताओं के अधीनीकरण से न अधिक को द्योतित करती है, न उससे कम को।

कुल मिलाकर, ब्याजी पूंजी का आधुनिक उधार पद्धति के अंतर्गत पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की अवस्थाओं के प्रति अनुकूलन होता है। विकसित पूंजीवादी उत्पादनवाले देशों में न सिर्फ़ सूदख़ोरी का अस्तित्व ही बना रहता है, बल्कि वह उन बंधनों से भी मुक्त हो जाती है, जो उस पर सारे पूर्ववर्ती विधान द्वारा लगाये गये थे। ब्याजी पूंजी ऐसे व्यक्तियों अथवा वर्गों की सापेक्षता में, अथवा ऐसी परिस्थितियों की सापेक्षता में कुसीदी पूंजी का रूप बनाये रखती है, जब ऋणादान पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अनुरूप अर्थों में नहीं होता और न हो ही सकता है; जब ऋणादान वैयक्तिक आवश्यकता के परिणामस्वरूप होता है, जैसे गिरवीदार के यहां; जब धन संपत्तिवान अपव्ययी व्यक्तियों द्वारा फ़िज़ूलख़र्ची के लिए उधार लिया जाता है; अथवा जब उत्पादक छोटे किसान या दस्तकार की तरह ग़ैर-पूंजीवादी उत्पादक होता है, जो इस प्रकार प्रत्यक्ष उत्पादक के नाते अब भी अपने उत्पादन साधनों का स्वामी होता है; अंततः जब पूंजीवादी उत्पादक स्वयं इतने छोटे पैमाने पर कारबार करता है कि वह इन स्वनि-योजित उत्पादकों जैसा ही हो जाता है।

ब्याजी पूंजी को – जहां तक वह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का एक मुख्य तत्व है – जो चीज़ कुसीदी पूंजी से अलग करती है, वह किसी भी प्रकार स्वयं इस पूंजी की प्रकृति अथवा स्वरूप नहीं है। उसे भिन्न केवल वे बदले हुए हालात, जिनके अंतर्गत वह काम करती है, और फलतः ऋण लेनेवाले का पूर्णतः बदला हुआ स्वरूप बनाते हैं, जो ऋणदाता के सामने आता है। जब कोई संपत्तिहीन व्यक्ति भी उद्योगपति या व्यापारी की हैसियत से उधार प्राप्त करता है, तो ऐसा इस अपेक्षा के साथ ही होता है कि वह पूंजीपति के रूप में कार्य करेगा और अशोधित श्रम को उधार पूंजी की मदद से हड़पेगा। वह उधार संभाव्य पूंजीपति की हैसि-यत से प्राप्त करता है। पूंजीवादी व्यवस्था के पैरोकार इस तथ्य की बेहद सराहना करते हैं कि संपत्तिहीन, किंतु कर्मशक्ति, विश्वसनीयता, योग्यता और व्यवसाय चातुर्य से संपन्न व्यक्ति भी इस तरह से पूंजीपति बन सकता है – और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में हर व्यक्ति के वाणिज्यिक मूल्य को काफ़ी सही आंका जाता है। यद्यपि यह तथ्य नये धनाकांक्षियों की एक अवांछनीय संख्या निरंतर मैदान में, और पहले से मौजूद अलग-अलग पूंजीपतियों की प्रतिद्वंद्विता में लाता रहता है, वह साथ ही स्वयं पूंजी की प्रभुता को दृढ़ भी करता है, उसका आधार विस्तृत करता है और उसके लिए समाज के अधोस्तरों से नित नयी शक्तियां जुटाना संभव बनाता है। इसी प्रकार यह तथ्य कि मध्य युग में कैथोलिक चर्च अपने पुरोहिततंत्र का निर्माण लोगों की सामाजिक श्रेणी, जन्म या धन के लिहाज़ के बिना देश के योग्यतम लोगों से किया करता था, पादरीशाही को सुदृढ़ करने और जनसाधारण को दबाने का एक मुख्य साधन था। शासक वर्ग शासित वर्ग के योग्यतम लोगों को जितना ही अधिक आत्मसात कर सकता है, उसका शासन उतना ही अधिक स्थायी और ख़तरनाक हो जाता है।

आधुनिक उधार पद्धति के प्रवर्तक सामान्यतः ब्याजी पूंजी के विरुद्ध अवक्रोश को नहीं, बल्कि इसके विपरीत, उसकी सुनिश्चित मान्यता को ही अपना प्रस्थान बिंदु बनाते हैं।

हम यहां सूदख़ोरी के खिलाफ़ Monts-de-piété* (१३५० में फ़्रांश-कोंते में सारलें

---

* Monts-de-piété (रेहनघर, शब्दशः दया के आगार): ये छोटे सूदख़ोरों के विरुद्ध संघर्ष के लिए चौदहवीं, पंद्रहवीं और सोलहवीं सदियों में इटली और फ़्रांस में स्थापित

में, बाद में १४०० और १४७९ में इटली में परूजी और सवोना में). जैसी उन प्रतिक्रियाओं की बात नहीं कर रहे हैं, जिन्होंने ग़रीबों को उससे बचाने की कोशिश की थी। ये संस्थाएं मुख्यतः इसलिए उल्लेखनीय हैं कि वे इतिहास के उस व्यंग्य को दर्शाती हैं, जो नेक इरादों को साकार करने की प्रक्रिया में उन्हें उनके सर्वथा उलटे में बदल देता है। एक मोटे अनुमान के अनुसार अंग्रेज़ श्रमिक वर्ग गिरवीदारों को, जो Monts-de-piété के आधुनिक उत्तराधिकारी हैं, १००% देता है।[21] हम डाक्टर ह्यू चैंबरलेन अथवा जान ब्रिस्को जैसे लोगों की उधार विषयक स्वैरकल्पनाओं की भी बात नहीं कर रहे हैं, जिन्होंने सत्रहवीं सदी के अंतिम दशक में स्थावर संपदा के आधार पर काग़ज़ी मुद्रा का उपयोग करनेवाले कृषक बैंक के ज़रिये अंग्रेज़ अभिजात वर्ग को कुसीद से मुक्त करने की कोशिश की थी।[22]

बारहवीं और चौदहवीं सदियों में वेनिस तथा जेनोवा में स्थापित उधार व्यापार संघ समुद्री व्यापार और उससे संबद्ध थोक व्यापार को अपने को कालातीत कुसीद तथा मुद्रा व्यवसाय के प्रभुत्व से मुक्त करने की आवश्यकता से उत्पन्न हुए थे। जहां इन नगर-गणराज्यों में स्थापित असली बैंकों ने साथ ही सार्वजनिक साख संस्थाओं का रूप भी ग्रहण कर लिया, जिनसे राज्य भावी कर-राजस्व पर ऋण पाता था, वहां यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इन संघों की स्थापना करनेवाले व्यापारी स्वयं इन राज्यों के प्रमुख नागरिक थे और उनकी सूदख़ोरों की मनमानी वसूलियों[23] से अपनी सरकार का उद्धार करने में उतनी ही दिलचस्पी

किये गये थे। इनके प्रवर्तक इन्हें ग़रीबों को रेहन पर छोटे-मोटे क़र्ज़ देनेवाली परोपकारी संस्थाएं बनाना चाहते थे, लेकिन व्यवहार में ये सूदख़ोरों के औज़ार बन गये। – सं०

[21] "धन के लिए प्रीमियम के इतने अतिशय होने का कारण एक ही महीने के भीतर बार-बार घट-बढ़ और एक चीज़ को छुड़ाने के लिए दूसरी को गिरवी रखना है, जिससे ज़रा सी रक़म मिल जाती है। राजधानी में कोई २४० और देश के अन्य भागों में लगभग १,४५० लायसेंसशुदा गिरवीदार हैं। उनके द्वारा लगाई हुई पूंजी को १० लाख पाउंड से कुछ अधिक आंका जाता है और यह पूंजी साल में तीन बार आवर्तित होती है और हर बार औसतन ३३ १/२ प्रतिशत प्रदान करती है; इसी अनुमान के अनुसार इंगलैंड में समाज की हीनतर श्रेणियां एक अस्थायी क़र्ज़ के उपयोग के लिए अपनी चीज़ों की ज़ब्ती के ज़रिये जो गंवाती हैं, उसके अलावा हर साल लगभग १० लाख पाउंड देती हैं।" (J. D. Tuckett, *A History of the Past and Present State of the Labouring Population*, London, 1846, I, p. 114.)

[22] अपनी कृतियों के शीर्षकों तक में वे अपना मुख्य उद्देश्य "भूसंपत्तिधारी लोगों का सामान्य हित, ज़मीन के मूल्य की महती वृद्धि, अभिजातों, कुलीनों, आदि की करों से" उन्मुक्ति, "उनकी वार्षिक संपत्तियों को बढ़ाना, आदि" बताते हैं। सिर्फ़ सूदख़ोरों, राष्ट्र के इन निकृष्टतम शत्रुओं को ही नुक़सान होगा, जिन्होंने अभिजातों और भूस्वामियों को इतनी क्षति पहुंचायी है कि जितनी फ़्रांस की आक्रमणकारी सेना भी नहीं पहुंचा सकती थी।

[23] "मिसाल के लिए, धनी सुनार (बैंकर का पूर्वगामी) इंगलैंड के चार्ल्स द्वितीय को निभाव के लिए बीस और तीस प्रतिशत देने को विवश करता था। इतना लाभदायी धंधा सुनार को अधिकाधिक बादशाह का महाजन बनने, सारे ही राजस्व की पेशबंदी कर लेने, संसद के प्रत्येक अनुदान के दिये जाते ही उसे रेहन में ले लेने के लिए और रेहननामों, धनादेशों और दस्तावेज़ों को ख़रीदने और पाने में, जिससे व्यवहार में सारा राजस्व उनके हाथ से होकर ही गुज़रे, एक दूसरे को पछाड़ने के लिए प्रेरित करता था।" (John Francis, *History of the Bank of England*, London, 1848, I, p. 31.) "बैंक स्थापित करने का सुझाव पहले

थी, जितनी कि स्वयं अपना उद्धार करने में और साथ ही राज्य पर ज्यादा पक्का और मज़बूत नियंत्रण पाने में थी। यही कारण है कि जब बैंक ऑफ़ इंगलैंड की स्थापना की जानेवाली थी, तो टोरियों ने भी आपत्ति की थी: "बैंक गणतंत्रीय संस्थाएं हैं। वेनिस, जेनोवा, एम्सटर्डम और हैंबर्ग में फूलते-फलते बैंक हैं। लेकिन फ़्रांस या स्पेन का बैंक होने की बात भला किस ने सुनी है?"

१६०६ में स्थापित बैंक ऑफ़ एम्सटर्डम आधुनिक उधार पद्धति के विकास में १६१६ में जन्मे बैंक ऑफ़ हैंबर्ग से कोई अधिक युगांतरकारी नहीं था। यह शुद्ध जमा बैंक था। इस बैंक द्वारा जारी किये गये चैक वास्तव में बस जमा की गयी सिक्के या छड़ के रूप में बहुमूल्य धातु की रसीदें ही होते थे और सिर्फ़ सकारकों के पृष्ठांकन से ही परिचालित होते थे। लेकिन हालैंड में वाणिज्यिक उधार और द्रव्य-व्यापार का विकास वाणिज्य तथा मैनुफ़ेक्चर के साथ-साथ चला था और ब्याजी पूंजी को स्वयं इस विकास के क्रम ने ही औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूंजी के अधीन कर दिया था। यह नीची ब्याज दर में प्रत्यक्ष भी हो चुका था। लेकिन सत्रहवीं सदी में हालैंड आर्थिक विकास का आदर्श माना जाता था, जैसे अब इंगलैंड माना जाता है। ग़रीबी पर आधारित पुराने ढंग की सूदखोरी का एकाधिकार उस देश में स्वयं अपने ही भार से ढह गया।

अठारहवीं सदी भर हालैंड को उदाहरणस्वरूप पेश करते हुए ब्याज दर के अनिवार्य न्यूनीकरण (तथा अनुरूप विधायी कार्रवाइयों) के लिए ज़ोरों से आवाज़ उठायी जाती है, ताकि ब्याजी पूंजी को वाणिज्यिक तथा औद्योगिक पूंजी के अधीन किया जा सके, न कि इसका उलटा हो। इस आंदोलन के मुख्य प्रवक्ता साधारण आंग्ल निजी बैंकिंग के जनक सर जोज़िया चाइल्ड हैं। वह सूदख़ोरों के इजारे के विरुद्ध बहुत कुछ उसी तरह से वाक्-तांडव करते हैं कि जिस तरह से सिले वस्त्रों के थोक निर्माता मोज़ेस एंड सन "निजी दरज़ियों" के इजारे के ख़िलाफ़ जिहाद की अगुआई करते हुए करते हैं। यही जोज़िया चाइल्ड साथ ही आंग्ल स्टाक जॉबिंग के जनक भी हैं। इसी प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी के यह तानाशाह उसके एकाधिकार की मुक्त व्यापार के नाम पर पैरोकारी करते हैं। टॉमस मैनली (*Interest of Money Mistaken*)* के विरुद्ध वह कहते हैं: "सूदख़ोरों के कातर और कांपते गिरोह के पक्षधर के नाते वह अपनी ख़ास तोपें उस स्थल पर लगाते हैं, जिसे मैं सबसे कमज़ोर घोषित कर चुका हूं... वह एकदम अस्वीकार करते हैं कि नीची ब्याज दर ही समृद्धि का कारण है और दावा करते हैं कि यह उसका कार्य मात्र है।" (*Traités sur le Commerce, etc.*, 1669, trad. Amsterdam et Berlin, 1754.) "अगर वाणिज्य ही किसी देश को धनी बनाने का साधन है और अगर ब्याज दर को घटाना वाणिज्य को बढ़ाना है, तो ब्याज को घटाना या सूदख़ोरी पर प्रतिबंध निस्संदेह राष्ट्र की समृद्धि का एक मुख्य फलदायी कारण है। यह कहना हरगिज़ बेतुका नहीं है कि वही चीज़ किन्हीं परिस्थितियों में कारण हो सकती है और दूसरी परिस्थितियों में कार्य हो सकती

भी कई बार दिया जा चुका था। अब यह एक अनिवार्यता बन गयी" (वही, पृष्ठ ३८)। "बैंक सूदख़ोरों द्वारा चूस-चूसकर निःसत्व बना दी गयी ख़ुद सरकार के लिए भी एक आवश्यकता थी, ताकि संसदीय अनुदानों की ज़मानत पर उचित ब्याज दर पर धन प्राप्त किया जा सके" (वही, पृष्ठ ५६, ६०)।

*मार्क्स यहां भूल कर रहे हैं। मैनली इस पुस्तक के लेखक नहीं थे। यह १६८८ में लेखक के नाम के बिना लंदन में प्रकाशित हुई थी।–सं०

है" (वही, पृष्ठ १५५)। "अंडा मुरगी का कारण है और मुरगी अंडे का कारण है। ब्याज को घटाना धन को बढ़ा सकता है और धन की वृद्धि ब्याज को और भी घटा सकती है" (वही, पृष्ठ १५६)। "मैं उद्योग का समर्थक हूं और मेरे प्रतिपक्षी आलस्य तथा अकर्मण्यता का समर्थन करते हैं" (पृष्ट १७६)।

सूदख़ोरी के विरुद्ध यह प्रचंड संघर्ष, ब्याजी पूंजी के औद्योगिक पूंजी के अधीनीकरण का यह तक़ाज़ा आधुनिक बैंकिंग पद्धति में पूंजीवादी उत्पादन की पूर्वापेक्षाओं की स्थापना करनेवाली आंगिक सृजनाओं का पूर्वसूचक मात्र है, जो एक ओर तो सारी निष्क्रिय द्रव्य निधियों को संकेंद्रित करके और उन्हें मुद्रा बाज़ार में डालकर कुसीदी पूंजी को अपने एकाधिकार से वंचित कर देती हैं, और दूसरी ओर, साख द्रव्य का सृजन करके स्वयं बहुमूल्य धातु के एकाधिकार को सीमित कर देती हैं।

सूदख़ोरी का जो विरोध, वाणिज्य, उद्योग और राज्य के सूदख़ोरी से उद्धार का जो तक़ाज़ा चाइल्ड के प्रसंग में यहां देखने में आता है, वही सत्रहवीं सदी की अंतिम तिहाई और प्रारंभिक अठारहवीं सदी के दौरान इंगलैंड में बैंकिंग के बारे में सभी कृतियों में भी मिलेगा। हम उधार के चमत्कारी प्रभावों, बहुमूल्य धातु के एकाधिकार के उन्मूलन, उसकी काग़ज़ी मुद्रा द्वारा प्रतिस्थापना, आदि के बारे में प्रभूत भ्रांतियां भी पाते हैं। बैंक ऑफ़ इंगलैंड तथा बैंक ऑफ़ स्कॉटलैंड के संस्थापक, स्कॉटलैंडवासी विलियम पैटरसन हर लिहाज़ से लॉ प्रथम* कहलाने के अधिकारी हैं।

बैंक ऑफ़ इंगलैंड के ख़िलाफ़ "सारे सुनार और रेहनदार ग़ुस्से से आसमान सिर पर उठा लेते हैं।" (Macaulay, *History of England*, IV, p. 499.) "पहले दस वर्षों में बैंक को भारी कठिनाइयों से जूझना पड़ा; विकट विदेशी विवाद; उसके नोट अपने अंकित मूल्य के बहुत नीचे ही स्वीकारे जाते थे... सुनार (जिनके हाथों में बहुमूल्य धातुओं का कारबार आदिम बैंकिंग व्यवसाय के आधार का काम करता था) बैंक से ईर्ष्या करते थे, क्योंकि उनका धंधा घट गया, उनके बट्टे कम हो गये और सरकार के साथ उनके लेन देन उनके प्रतिद्वंद्वियों के पास चले गये।" (J. Francis, *l. c.*, p. 73.)

बैंक ऑफ़ इंगलैंड की स्थापना के भी पहले १६८३ में एक राष्ट्रीय उधार बैंक की योजना प्रस्तुत की गयी थी, जिसके उद्देश्यों में एक यह भी था "कि व्यापारियों के पास जब मालों की काफ़ी मात्रा हो, तो वे इस बैंक ही सहायता से अपने मालों को जमा कर सकें, स्वयं अपने अविक्रेय माल की ज़मानत पर उधार प्राप्त करके उसे नुक़सान पर बेचने के बजाय जब तक अच्छा बाज़ार न मिले, तब तक अपने कर्मचारियों को काम पर लगाये रख सकें और अपने व्यवसाय को बढ़ा सकें।" [J. Francis, *l. c.*, pp. 39-40.] बहुत प्रयासों के बाद आख़िर इस उधार बैंक की बिशप्सगेट स्ट्रीट में स्थित डैवनशायर हाउस में स्थापना की गयी। यह बैंक उद्योगपतियों और व्यापारियों को उनके जमा किये गये मालों की ज़मानत पर उनके मूल्य की तीन चौथाई रक़म तक ऋण विनिमय पत्रों के रूप में प्रदान किया करता था। इन विनिमय पत्रों को परिचलनीय बनाने के लिए व्यवसाय की प्रत्येक शाखा में कई कई लोगों को एक समाज में संगठित किया गया था, जिनसे ऐसे विपत्रों का धारक वैसी ही आसानी से माल प्राप्त

---

*इस शब्दप्रयोग द्वारा मार्क्स वित्तपति जॉन लॉ (१६७१-१७२९) पर भी फब्ती कस रहे हैं।–सं०

कर सकता था, मानो वह नक़द अदायगी कर रहा हो। इस बैंक का कारबार कोई बहुत सफल नहीं हुआ। उसकी कार्य प्रणाली बहुत जटिल थी और मालों का मूल्यह्रास होने की अवस्था में जोखिम बहुत ज्यादा ही थी।

अगर हम इंगलैंड में आधुनिक उधार पद्धति के सहगामी और उसका सैद्धांतिक संवर्धन करनेवाले अभिलेखों के वास्तविक अंतर्य के अनुसार चलें, तो हम उनमें ब्याजी पूंजी के और सामान्यतः उधारार्थ उत्पादन साधनों के पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के – उसकी एक शर्त के नाते – प्रति अधीनीकरण की मांग के सिवा कुछ भी न पायेंगे। दूसरी ओर, अगर हम सिर्फ़ शब्द रचना से ही चिपके रहें, तो हमें अकसर बैंकिंग और उधार के बारे में सेंट सीमोन के अनुगामियों की भ्रांतियों के साथ – अभिव्यंजना शैली सहित – सहमति पर चकित होना पड़ेगा।

जिस प्रकार प्रकृतितंत्रवादियों की कृतियों में cultivateur शब्द ज़मीन के असली जोतनेवाले को नहीं, बल्कि बड़े फ़ार्मर को द्योतित करता है, उसी प्रकार सेंट-सीमोन की कृतियों में, और उनके अनुगामियों की कृतियों में भी travailleur श्रमिक को नहीं, बल्कि औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूंजीपति को द्योतित करता है। "Un travailleur a besoin d'aides, de seconds, d'ouvriers; il les cherche intelligents, habiles, dévoués; il les met à l'oeuvre, et leurs travaux sont productifs"*

वास्तव में यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि सेंट-सीमोन सिर्फ़ अपनी अंतिम कृति, *Le Nouveau Christianisme*, में ही सीधे श्रमिक वर्ग के लिए आवाज उठाते हैं और उसकी मुक्ति को ही अपना लक्ष्य घोषित करते हैं। वस्तुतः उनकी समस्त पूर्ववर्ती कृतियां सामंती व्यवस्था की तुलना में आधुनिक बूर्जुआ समाज की, अथवा नेपोलियनी युग के मार्शलों और विधि-शास्त्रीय क़ानून गढ़नेवालों के मुक़ाबले में उद्योगपतियों और बैंकरों की प्रशस्तियां ही हैं। ओवेन की समकालीन रचनाओं की तुलना में कितना अंतर है! [24] सेंट-सीमोन के अनुगामियों के लिए पूंजीपति वैसे ही travailleur par excellence [उत्कृष्ट कर्मी] बना रहता है, जैसे उपरोक्त उद्धरण दर्शाता है। उनकी कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन करने के बाद इस पर

---

* "Travailleur (श्रमिक) को सहायकों, सहकारियों, **मजदूरों** की आवश्यकता होती है; वह ऐसे सहायक खोजता है, जो बुद्धिमान, योग्य, वफ़ादार हों; वह उन्हें काम पर लगाता है और उनका श्रम उत्पादक होता है।" ([Enfantin], *Religion saint-simonienne, Économie politique et Politique* Paris, 1831, p. 104.)

[24] मार्क्स ने अगर अपनी पांडुलिपि को फिर से संवारा होता, तो वह इस अंश को निश्चय ही काफ़ी बदल देते। इसके लिए उन्हें फ़्रांस के दूसरे साम्राज्य के अंतर्गत सेंट-सीमोन के भूतपूर्व अनुगामियों की भूमिका ने प्रेरित किया था, जहां ठीक उस समय, जब मार्क्स यह लिख रहे थे, इस संप्रदाय की विश्व विमोचक उधार की स्वैरकल्पनाएं अभूतपूर्व पैमाने पर ज़बरदस्त धोखाधड़ी के रूप में साकार हो रही थीं। बाद में मार्क्स ने सेंट-सीमोन की प्रतिभा और सर्वज्ञ मनीषा की सदा सराहना ही की थी। सेंट-सीमोन जब अपनी पूर्ववर्ती कृतियों में बूर्जुआज़ी और सर्वहारा, जो उस समय फ़्रांस में अस्तित्व में आ ही रहा था, के विरोध की उपेक्षा करते हैं, जब वह travailleurs में बूर्जुआज़ी के उस हिस्से को शामिल करते हैं, जो उत्पादन में सक्रिय था, तो यह फ़ूरिये की पूंजी और श्रम का सामंजस्य करने की अवधारणा के अनुरूप ही हो जाता है और इसका कारण फ़्रांस की तत्कालीन आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति है। यह कि ओवेन इस मामले में कहीं अधिक दूरदर्शी थे, उनके भिन्न परिवेश के कारण है, क्योंकि वह औद्योगिक क्रांति के और अत्यंत तेज होते वर्ग विरोधों के समय में रह रहे थे। – फ़्रे॰ एं॰

अचरज नहीं किया जा सकता कि उनकी उधार तथा बैंक विषयक स्वैरकल्पनाएं सेंट-सीमोन के एक भूतपूर्व अनुगामी एमील पेरैरा द्वारा स्थापित *Crédit Mobilier* में साकार हुई। प्रसंगत:, यह रूप सिर्फ़ फ़्रांस जैसे देश में ही अभिभावी बन सकता था, जहां न उधार पद्धति और न बड़े पैमाने के उद्योग ने ही विकास का आधुनिक स्तर प्राप्त किया था। इंगलैंड और अमरीका में यह हरगिज़ संभव नहीं था। *Crédit Mobilier* का भ्रूण *Doctrine de Saint-Simon. Exposition. Première année*, 1828-29, 3^{me} éd., Paris, 1831 के निम्न उद्धरणों में पहले ही विद्यमान है। यह समझ में आनेवाली बात है कि पूंजीपतियों और अलग-अलग सूदखोरों की अपेक्षा बैंकर द्रव्य अधिक सस्ते उधार दे सकते हैं। इसलिए ये बैंकर "उद्योगपतियों को औज़ार स्थावर संपदा के स्वामियों और पूंजीपतियों की बनिस्बत कहीं अधिक सस्ते, अर्थात **कम ब्याज पर** मुहैया कर सकते हैं, जिनका ऋणियों के चयन में ग़लती करना कहीं अधिक सहज है" (पृष्ठ २०२)। लेकिन लेखकगण स्वयं पादटिप्पणी में जोड़ देते हैं: "निष्क्रिय धनिकों और travailleurs के बीच बैंकरों की मध्यस्थता से जो लाभ होगा, वह अकसर हमारे अव्यवस्थित समाज में स्वार्थवाद से प्रतिसंतुलित, बल्कि निराकृत तक हो जाता है, जो अपने आपको कपट और छल के विविध रूपों में व्यक्त कर सकता है। बैंकर अकसर travailleurs और निष्क्रिय धनिकों के बीच चुपके से आ घुसते हैं, ताकि समाज को हानि पहुंचाते हुए दोनों ही का दोहन कर सकें।" यहां travailleurs का अर्थ capitaliste industriel [औद्योगिक पूंजीपति] है। प्रसंगत:, आधुनिक बैंकिंग पद्धति को उपलब्ध साधनों को मात्र निष्क्रिय लोगों के साधनों जैसा ही समझना ग़लत है। पहली बात तो यही है कि यह पूंजी वह अंश है, जो उद्योगपतियों और व्यापारियों के हाथों में अस्थायी तौर पर निष्क्रिय पूंजी के रूप में, निवेशित की जानेवाली द्रव्य संचिति अथवा पूंजी की तरह रहता है। अत:, यह निष्क्रिय पूंजी है, किंतु निष्क्रिय लोगों की पूंजी नहीं है। दूसरी बात यह कि यह सामान्यत: सारी आय और बचतों का वह अंश है, जिसे अस्थायी अथवा स्थायी रूप में संचित किया जाना है। दोनों ही रूप बैंकिंग पद्धति की प्रकृति के लिए आवश्यक हैं।

लेकिन यह सदा ध्यान में रखा जाना चाहिए कि एक तो द्रव्य – बहुमूल्य धातु के रूप में – वह आधार बना रहता है, जिससे उधार पद्धति अपनी प्रकृति से ही अपने को **कभी** विलग **नहीं** कर सकती। दूसरे, उधार पद्धति निजी व्यक्तियों द्वारा सामाजिक उत्पादन साधनों (पूंजी तथा भू-संपत्ति के रूप में) के एकाधिकार की पूर्वकल्पना करती है; वह स्वयं एक ओर तो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का अंतर्भूत रूप है और दूसरी ओर, उसके अपने उच्चतम बिंदु और अंतिम रूप तक विकास में एक प्रेरक शक्ति है।

अपने औपचारिक संगठन और केंद्रीकरण के लिहाज़ से बैंकिंग पद्धति पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली द्वारा निर्मित सबसे परिष्कृत और सबसे विकसित उत्पाद है, जैसे कि *Some Thoughts of the Interests of England* में १६९७ में व्यक्त किया जा चुका था। यही बैंक ऑफ़ इंगलैंड जैसी संस्था की वाणिज्य तथा उद्योग पर अपार शक्ति का कारण है, यद्यपि उनकी वास्तविक गतियां उसके कार्यक्षेत्र के सर्वथा बाहर रहती हैं और वह उनके प्रति उदासीन है। बैंकिंग पद्धति को निस्संदेह सार्विक लेखाकरण और उत्पादन साधनों के सामाजिक पैमाने पर वितरण का रूप प्राप्त है, किंतु केवल रूप ही। हम देख चुके हैं कि पृथक पूंजीपति के, अथवा प्रत्येक पृथक पूंजी के औसत लाभ का निर्धारण प्रत्येक पूंजी द्वारा प्रत्यक्षत: हस्तगत किये गये बेशी श्रम से नहीं, बल्कि कुल पूंजी द्वारा हस्तगत की गयी कुल बेशी श्रम की मात्रा से

होता है, जिससे प्रत्येक पृथक पूंजी अपना लाभांश केवल कुल पूंजी के अपने संखंड के अनुपात में ही प्राप्त करती है। पूंजी का यह सामाजिक स्वरूप केवल उधार तथा बैंकिंग पद्धति के पूर्ण विकास के जरिये ही संवर्धित होता और पूर्णता प्राप्त करता है। दूसरी ओर, बैंकिंग पद्धति और भी आगे जाती है। वह समाज की उस समस्त उपलब्ध और संभाव्य पूंजी तक को, जो पहले ही सक्रिय रूप में नियोजित नहीं है, औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूंजीपतियों के उपयोजनार्थ रख देती है, जिससे कि न तो इस पूंजी के ऋणदाता और न उपयोक्ता ही उसके वास्तविक स्वामी अथवा उत्पादक होते हैं। इस प्रकार वह पूंजी के निजी स्वरूप का अंत कर देती है और फलतः वह अपने में, किंतु केवल अपने में ही, स्वयं पूंजी के उन्मूलन को समाविष्ट करती है। बैंकिंग पद्धति के जरिये पूंजी के वितरण को एक विशेष व्यवसाय के रूप में, एक सामाजिक कार्य के रूप में, व्यष्टिक पूंजीपतियों और सूदखोरों के हाथों से निकाल लिया जाता है। लेकिन साथ ही बैंकिंग और उधार इस तरह से पूंजीवादी उत्पादन को स्वयं अपनी सीमाओं के बाहर धकेलने के सबसे सशक्त साधन और संकटों तथा ठगी के एक अत्यंत कारगर वाहक बन जाते हैं।

इसके अलावा द्रव्य के स्थान पर प्रचल उधार के विभिन्न रूपों की प्रतिस्थापना द्वारा बैंकिंग पद्धति यह दिखलाती है कि द्रव्य वास्तव में श्रम तथा उसके उत्पादों के सामाजिक स्वरूप की एक विशेष अभिव्यक्ति के सिवा और कुछ नहीं है, लेकिन इस स्वरूप को, निजी उत्पादन के आधार के विपरीत होने के कारण अंततोगत्वा सदा एक वस्तु के रूप में, अन्य जिंसों के साथ एक जिंस के रूप में प्रकट होना पड़ता है।

अंततः, इसमें कोई संदेह नहीं कि उधार पद्धति पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से सहयोगी श्रम की उत्पादन प्रणाली में संक्रमण के दौरान एक शक्तिशाली उत्तोलक का काम देगी, लेकिन केवल स्वयं उत्पादन प्रणाली में अन्य महती मूलभूत क्रांतियों के संदर्भ में एक तत्व के रूप में ही। इसके विपरीत, उधार तथा बैंकिंग पद्धति की चमत्कारी शक्ति के बारे में, समाजवादी अर्थों में, भ्रांतियां पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और उसके एक रूप के नाते उधार पद्धति से परिचय के पूर्ण अभाव से उत्पन्न होती हैं। जैसे ही उत्पादन साधनों का पूंजी में रूपांतरित होना ख़त्म होता है (जिसमें जमीन पर निजी स्वामित्व का उन्मूलन भी सम्मिलित है), वैसे ही उधार का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता है। प्रसंगतः, इस बात को सेंट-सीमोन के अनुगामियों तक ने समझ लिया था। दूसरी ओर, जब तक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का अस्तित्व बना रहता है, तब तक उसके एक रूप के नाते ब्याजी पूंजी भी अस्तित्वमान रहती है और वास्तव में उसकी उधार पद्धति के आधार का निर्माण करती है। सिर्फ़ प्रूदों जैसा सनसनीबाज़ लेखक ही, जो पण्य उत्पादन को चिरंतन बनाना और द्रव्य का उन्मूलन करना चाहते थे,[25] crédit gratuit [निःशुल्क उधार] की, निम्नबूर्जुआ श्रेणी की नेक इच्छा की इस आभासी सिद्धि की कल्पना कर सकता था।

Religion saint-simonienne, Économie politique et Politique में हम पृष्ठ ४५ पर पढ़ते हैं: "ऐसे समाज में, जिसमें कुछ लोग उद्योग के उपकरणों के उपयोग की योग्यता या इच्छा के बिना स्वामी होते हैं और जिसमें अन्य उद्यमी लोगों के पास श्रम के कोई उपकरण

---

[25] Karl Marx, *Misère de la Philosophie*, Bruxelles et Paris, 1847.—Karl Marx, *Zur Kritik der politischen Oekonomie*, S. 64.

नहीं होते, उधार इन उपकरणों को प्रथमोक्त, उनके स्वामियों के हाथों से यथासंभव सुगमतम ढंग से अन्यों के हाथों में, जो उनका उपयोग करना जानते हैं, अंतरित करने का काम देता है। ध्यान दीजिये कि यह परिभाषा उधार को जिस ढंग से स्वामित्व संघटित है, उसका परिणाम मानती है।" इसलिए स्वामित्व के इस संघटन के साथ-साथ उधार भी विलुप्त हो जाता है। हम आगे, पृष्ठ ९८ पर पढ़ते हैं कि आजकल के बैंक "अपना काम यह समझते हैं कि अपने कार्य-क्षेत्र के बाहर होनेवाले लेन-देनों द्वारा प्रवर्तित गति का अनुगमन करें, किंतु स्वयं इस गति को कोई संवेग न प्रदान करें; दूसरे शब्दों में, बैंक उन travailleurs के संदर्भ में पूंजी-पतियों की भूमिका निबाहते हैं, जिन्हें वे द्रव्य उधार देते हैं"। इस धारणा में कि बैंकों को स्वयं प्रबंध हाथ में ले लेना चाहिए और "अपने प्रबंधाधीन प्रतिष्ठानों की और अपने द्वारा प्रवर्तित कार्यों की संख्या और उपयोगिता के ज़रिये" अपनी विशिष्टता प्रदर्शित करनी चाहिए (पृष्ठ १०१), *Crédit Mobilier* भ्रूणरूप में विद्यमान है। इसी प्रकार शार्ल पेक्योर भी मांग करते हैं कि बैंकों को (जिन्हें सेंट-सीमोन के अनुगामी *Système général des banques* कहते हैं) "उत्पादन को शासित करना चाहिए"। पेक्योर तत्वतः सेंट-सीमोन के अनुगामी हैं, लेकिन कहीं अधिक उग्रवादी हैं। वह चाहते हैं कि "उधार संस्था... राष्ट्रीय उत्पादन की समस्त गति को नियंत्रित करे।" – "एक ऐसी राष्ट्रीय उधार संस्था का निर्माण करने का प्रयत्न कीजिये, जो प्रतिभा और योग्यता रखनेवाले ज़रूरतमंद लोगों को साधन उधार देगी, लेकिन इन क़र्ज़दारों को उत्पादन तथा उपभोग में घनिष्ठ अन्योन्याश्रितता के ज़रिये जबरन एकसाथ बांधकर नहीं, बल्कि इसके विपरीत उन्हें अपने विनिमय तथा उत्पादन का स्वयं निर्धारण करने में समर्थ बनाकर। इस तरीक़े से आप सिर्फ़ वही हासिल कर पायेंगे, जो निजी बैंक इस समय पहले ही करते हैं, अर्थात अव्यवस्था, उत्पादन तथा उपभोग के बीच असंगति, एक आदमी की अचानक तबाही और दूसरे की अचानक समृद्धि, जिससे आपकी संस्था इसके आगे कभी न जा पायेगी कि वह एक व्यक्ति के लिए सुलाभों की जितनी मात्रा उत्पादित करती है, उसके अनुरूप दूसरे के लिए अभाव की समतुल्य मात्रा भी पैदा करे... और आप जिन उजरती मज़दूरों की सहायता करते हैं, उन्हें आप बस एक दूसरे से प्रतिद्वंद्विता करने के साधन ही प्रदान करते होंगे, जैसे उनके पूंजीपति मालिक अब करते हैं।" (Ch. Pecqueur, *Théorie Nouvelle d'Économie Sociale et Politique*, Paris, 1842, p. 434.)

हम देख चुके हैं कि व्यापारी पूंजी और ब्याजी पूंजी पूंजी के सबसे पुराने रूप हैं। लेकिन यह स्वाभाविक ही है कि ब्याजी पूंजी लोगों के ज़ेहन में par excellence पूंजी का रूप ग्रहण करती है। व्यापारी पूंजी में बिचौलिये का काम रहता है, चाहे उसे ठगी माना जाये, या श्रम, या और कुछ। लेकिन ब्याजी पूंजी के मामले में पूंजी का आत्मपुनरुत्पादी स्वरूप, स्वप्रसारी मूल्य, बेशी मूल्य का उत्पादन, बस एक रहस्यमय गुण की तरह प्रकट होता है। यही कारण है कि कुछ राजनीतिक अर्थशास्त्री तक, विशेषकर फ़्रांस की तरह उन देशों में, जहां औद्योगिक पूंजी अभी पूर्णतः विकसित नहीं हुई है, ब्याजी पूंजी को पूंजी का मौलिक रूप ही मानते हैं और, उदाहरण के लिए, किराया ज़मीन को उसका महज़ एक बदला हुआ रूप ही समझते हैं, क्योंकि यहां उधार का रूप भी अभिभावी है। फलतः, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के आंतरिक संगठन को बिलकुल ग़लत तरह से समझा जाता है और इस तथ्य को सर्वथा नज़र-अंदाज़ कर दिया जाता है कि पूंजी की ही भांति ज़मीन भी सिर्फ़ पूंजीपतियों को ही उधार दी जाती है। बेशक, द्रव्य के बजाय वस्तुरूप में उत्पादन साधन, जैसे मशीनें और व्यावसायिक

कार्यालय, भी उधार दिये जा सकते हैं। लेकिन तब वे एक निश्चित द्रव्य राशि को व्यक्त करते हैं और यह बात कि ब्याज के अलावा एक भाग टूट-फूट के लिए भी अदा किया जाता है, उनके उपयोग मूल्य, अर्थात पूंजी के इन तत्वों के विशिष्ट नैसर्गिक रूप के कारण ही है। यहां भी निर्णायक कारक यही है कि आया वे प्रत्यक्ष उत्पादकों को उधार दिये जाते हैं, जो – कम से कम जिस क्षेत्र में यह होता है, उसमें – पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के न होने की पूर्वकल्पना करेगा, या वे औद्योगिक पूंजीपतियों को उधार दिये जाते हैं, जो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली पर आधारित कल्पना में ही संभव है। इस विवेचन में वैयक्तिक उपयोग के लिए मकानों, आदि के उधार दिये जाने को घसीटना और भी अधिक बेतुका और बेमानी है। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि इस रूप में श्रमिक वर्ग को भी ठगा जाता है और जबरदस्त पैमाने पर; लेकिन यह खुदरा विक्रेता द्वारा भी किया जाता है, जो श्रमिकों को निर्वाह साधन बेचता है। यह आनुषंगिक शोषण है, जो स्वयं उत्पादन प्रक्रिया में होनेवाले प्राथमिक शोषण के साथ-साथ चलता है। इस मामले में बिक्री और उधार के बीच भेद सर्वथा महत्वहीन और केवल औपचारिक है, और जैसे कि पहले बताया जा चुका है,* सिर्फ़ समस्या की वास्तविक प्रकृति से पूर्ण अनभिज्ञता रखनेवाले को ही तात्विक प्रतीत हो सकता है।

वाणिज्य की ही भांति सूदख़ोरी भी विद्यमान उत्पादन प्रणाली का उपयोजन करती है। वह उसे पैदा नहीं करती, मगर उससे बाह्य रूप में संबद्ध होती है। सूदख़ोरी उसे प्रत्यक्षतः बनाये रखने की कोशिश करती है, ताकि उसका बारंबार निरंतर उपयोजन करती रहे; वह रूढ़िबद्ध है और इस उत्पादन प्रणाली को बस और अधिक मनहूस ही बनाती है। उत्पादन प्रक्रिया में उत्पादन तत्व जितना ही कम जिंसों के रूप में प्रवेश करते और उससे जिंसों के रूप में निकलते हैं, उनका द्रव्य से उद्गम उतना ही अधिक पृथक कार्य जैसा प्रतीत होता है। सामाजिक पुनरुत्पादन में परिचलन द्वारा निबाही जानेवाली भूमिका जितना ही नगण्य होती है, सूदख़ोरी उतना ही ज़्यादा फूलती-फलती है।

इस बात का कि द्रव्य संपदा एक विशेष संपदा के रूप में विकसित होती है, कुसीदी पूंजी के संदर्भ में अर्थ यह है कि उसके पास अपने सारे दावे द्रव्य के दावों के रूप में होते हैं। संबद्ध देश में वह उतना ही अधिक विकास करती है कि जितना उत्पादन का मुख्य भाग नैसर्गिक सेवाओं, आदि तक, अर्थात उपयोग मूल्यों तक अधिक सीमित होता है।

इसके दृष्टिगत कुसीद औद्योगिक पूंजी के लिए आवश्यक पूर्वावस्थाओं को विकसित करने का एक शक्तिशाली उत्तोलक है, क्योंकि वह इस दुहरी भूमिका का निर्वहन करता है – पहली, व्यापारी पूंजी के साथ-साथ सामान्यतः स्वतंत्र द्रव्य संपदा का निर्माण करना, और दूसरी, श्रमावस्थाओं को हस्तगत करना, अर्थात पुरानी श्रमावस्थाओं के स्वामियों को तबाह करना।

मध्य युग में ब्याज

"मध्य युग में आबादी पूर्णतया कृषिजीवी थी। सामंती व्यवस्था जैसी शासन व्यवस्था के अधीन बहुत थोड़ा ही व्यापार और फलतः बहुत थोड़ा ही लाभ हो सकता है और इसलिए मध्य युग में

---

* प्रस्तुत संस्करण : पृष्ठ ३०१–३०६ ।–सं०

सूदखोरी के खिलाफ़ क़ानून न्यायसंगत थे। इसके अलावा, कृषिप्रधान देश में आदमी सिवा कंगाल हो जाने या संकट में पड़ जाने की हालत के कदाचित ही पैसा उधार लेना चाहता है... हेनरी अष्टम के राज्यकाल में व्याज पर १० प्रतिशत की सीमा थी। जेम्स प्रथम ने इसे घटाकर ८ प्रतिशत कर दिया... चार्ल्स द्वितीय ने इसे घटाकर ६ प्रतिशत कर दिया; महारानी ऐन के राज्यकाल में इसे घटाकर ५ प्रतिशत कर दिया गया ... उस ज़माने में महाजनों को वास्तव में यद्यपि क़ानूनी नहीं, मगर फिर भी वास्तविक इजारा प्राप्त था, और इसलिए यह आवश्यक था कि उन्हें भी, दूसरे इजारेदारों की तरह ही, नियंत्रण के अधीन लाया जाये। हमारे ज़माने में यह लाभ दर ही है, जो व्याज दर का नियमन करती है। उस ज़माने में यह व्याज दर थी कि जो लाभ दर का नियमन करती थी। अगर महाजन व्यापारी से ऊंची व्याज दर लेता था, तो व्यापारी भी अपने मालों पर उच्चतर लाभ दर लेता होगा। इस प्रकार ख़रीदारों के जेबों से बहुत रक़म इसलिए निकाल ली जाती थी कि महाजनों के जेबों में डाल दी जाये।" (Gilbart, *History and Principles of Banking*, pp. 163, 164, 165.)

"मुझे बताया गया है कि हर लाइपसिग मेले में अब १० गूल्डन सालाना लिये जाते हैं,* अर्थात हर सैकड़े पर ३०; कुछ लोग उसके साथ नौउनबुर्ग मेला भी जोड़ देते हैं, जिससे ४० फ़ी सैकड़ा हो जाता है; ऐसा है कि नहीं, मैं नहीं जानता। तोबा-तोबा! इसका आख़िर क्या जहन्नुमी अंजाम निकलेगा? लाइपसिग में अब जिसके पास भी १०० फ़्लोरिन हों, वह सालाना ४० ले लेता है, जो हर साल एक किसान या एक शहरी को भकोस लेने के बराबर ही है। अगर किसी के पास १,००० फ़्लोरिन हों, तो वह सालाना ४०० लेता है, जिसका मतलब हर साल एक नाइट या धनी अमीरज़ादे को हड़प लेना है। अगर उसके पास १०,००० फ़्लोरिन हैं, तो वह सालाना ४,००० लेता है, जिसका मतलब हर साल एक धनी काउंट को खा जाना है। अगर किसी के पास १,००,००० फ़्लोरिन हों, जैसे बड़े व्यापारियों के पास होने ही चाहिए, तो वह सालाना ४०,००० लेता है, जिसका मतलब हर साल एक ख़ुशहाल रजवाड़े को पचा जाना है। अगर किसी के पास १०,००,००० फ़्लोरिन हैं, तो वह सालाना ४,००,००० लेता है, जिसका मतलब हर साल एक बड़े राजा को हड़प लेना है। और वह न अपने को जोखिम में डालता है, न अपने माल को। वह काम नहीं करता, अपनी अंगीठी के आगे बैठा रहता है और सेब भूनता है; इस तरह से एक अदना डकैत मज़े में घर बैठा रह सकता है और दस साल के भीतर सारी दुनिया को गटक सकता है।" (*Bücher vom Kaufhandel und Wucher* vom Jahre 1524, Luther's *Werke*, Wittenberg, 1589, Teil 6, S. 312.)

"पंद्रह साल हुए, मैंने सूदख़ोरी के ख़िलाफ़ क़लम उठायी थी, जब वह इतने डरावने ढंग से फैल गयी थी कि मैं शायद ही किसी तरह के सुधार की आशा कर सकता था। तब से वह इतनी ढीठ हो गयी है कि गुनाह, ऐब या शर्म के शुमार में आने की नवाज़िश नहीं करती बल्कि ख़ालिस अच्छाई और नेकनामी की तरह वाहवाही पाती है, जैसे वह लोगों के लिए बड़ी भलाई और ख़ुदाई ख़िदमत अंजाम देती हो। जब शर्म नेकनामी में और ऐब अच्छाई में बदल

---

* लेखक का आशय लाइपसिग मेले में १०० गूल्डन के क़र्ज़ से है, जिसका व्याज तीन किस्तों में दिया जाता था। उस समय यह मेला साल में तीन बार हुआ करता था—नव वर्ष पर, ईस्टर पर और संत माइकल दिवस पर।—सं०

गया हो, तो हमें अब निजात पाने में किससे मदद मिल सकती है?" (Martin Luther, *An die Pfarherrn wider den Wucher zu predigen*, Wittenberg, 1540.)

"यहूदी, लंबार्डी,* सूदखोर और खसोटू हमारे सबसे पहले बैंकर, हमारे मुद्रा के आद्य व्यापारी थे, चाहे उनका धंधा गर्हित से कुछ ही कम समझा जाता हो... आगे चलकर उनमें लंदन के सुनार भी आ गये। समूचे तौर पर... हमारे आद्य बैंकर... बहुत ही बुरे थे, वे धनपिशाच कुसीद और पाषाण हृदय लुटेरे थे।" (D. Hardcastle, *Banks and Bankers*, 2nd ed, London, 1843, pp. 19, 20.)

"इस प्रकार वेनिस द्वारा प्रस्तुत उदाहरण" (बैंक की स्थापना) "का तेजी से अनुकरण किया गया; सभी समुद्रतटीन नगरों ने, और सामान्यतः अपनी स्वतंत्रता तथा व्यापार के जरिये ख्याति अर्जित कर लेनेवाले सभी नगरों ने अपने पहले बैंक स्थापित कर लिये। उनके जहाजों की वापसी यात्रा ने, जो प्रायः लंबे समय की होती थी, अनिवार्यतः साख पर उधार देने की प्रथा को पैदा किया। अमरीका की खोज और उसके फलस्वरूप इस महाद्वीप के साथ व्यापार ने इसे और भी बढ़ाया।" (यही मुख्य बात है।) "जहाजों को किराये पर लेने ने बड़े क़र्जों को आवश्यक बना दिया – यह एक ऐसी प्रथा थी कि जो प्राचीन एथेंस और यूनान में पहले से ही विद्यमान थी। १३०८ में हांजे नगर ब्रूगे में एक बीमा कंपनी थी।" (*M.* Augier, *l. c.* pp. 202, 203.)

भूस्वामियों को, और इस प्रकार सामान्यतः विलासाकांक्षी धनिकों को ऋण प्रदान करना आधुनिक उधार के विकसित होने के पहले सत्रहवीं शताब्दी की अंतिम तिहाई में इंगलैंड तक में किस सीमा तक अब भी बना हुआ था, यह अन्यों के साथ-साथ सर डडली नॉर्थ की कृतियों में देखा जा सकता है। वह न केवल सबसे पहले अंग्रेज व्यापारियों में ही एक थे, बल्कि अपने समय के एक सबसे प्रमुख सैद्धांतिक अर्थशास्त्री भी थे: "इस देश में ब्याज पर दी जानेवाली रक़मों का दसवें के लगभग भाग भी व्यापारियों को नहीं दिया जाता है, जिससे वे अपने कारबार को चला सकें, बल्कि ज्यादातर उन लोगों को विलास वस्तुएं प्रदान करने और उनके व्ययों को पूरा करने के लिए दिया जाता है, जो चाहे बड़े-बड़े भूस्वामी हैं, मगर फिर भी उनकी जमीनों से जिस रफ़्तार से आय होती है, उससे कहीं ज्यादा तेजी के साथ वे ख़र्च करते हैं, और अपनी जायदादों को बेचने के अनिच्छुक होने के कारण उन्हें गिरवी रखना ही ज्यादा पसंद करते हैं।" (*Discourses upon Trade*, London, 1691, pp. 6, 7).

अठारहवीं सदी में पोलैंड: "वारसा विनिमय पत्रों का बड़े पैमाने पर जोरदार कारबार करता था, लेकिन इसका मुख्य आधार और लक्ष्य उसके बैंकरों की सूदखोरी था। धन प्राप्त करने के लिए, जिसे वे फ़िजूलखर्च संभ्रांतों को ८% और उससे भी अधिक ब्याज पर उधार दे सकते थे, वे विदेशों में निर्बाध विनिमय साख खोजते और प्राप्त करते थे, अर्थात ऐसा उधार, जिसका आधार कोई पण्य व्यापार नहीं था, लेकिन जिसे विदेशी अदाकर्ता तब तक सकारते रहते थे कि जब तक इन तिकड़मों से प्रतिफलों की प्राप्तियां न रुकें। लेकिन इसके लिए उन्हें ताप्पेर और अन्य अतिप्रतिष्ठित वारसाई बैंकरों के दिवालिया होने के जरिये भारी क़ीमत चुकानी पड़ी।" (J. G. Büsch, *Theoretisch-praktische Darstellung der Handlung*, etc., 3. Aufl., Band II, Hamburg, 1808, SS. 232, 233.)

---

* यह शब्द इटली के लंबार्डी प्रदेश से निकला है। यहां के निवासियों ने व्यापार के अलावा महाजनी में भी बहुत ख्याति प्राप्त की थी। इसी से लंबार्डी शब्द सूदखोर रेहनदार का भी सूचक बन गया है। – सं०

ब्याज के निषेध से चर्च द्वारा प्राप्त लाभ

"ब्याज लेना चर्च द्वारा निषिद्ध था। किंतु विपत्ति में सहायता पाने के लिए संपत्ति बेचने को निषिद्ध नहीं किया गया था। एक ख़ास अवधि के लिए, जब तक क़र्ज़दार अपना ऋण न चुका दे, महाजन को संपत्ति अंतरित करने तक को वर्जित नहीं किया गया था, जिससे महाजन अपने धन से अपने त्याग के पुरस्कारस्वरूप संपत्ति के भोगाधिकार का उपभोग करने के लिए स्वतंत्र था ... स्वयं चर्च, और उसके कम्यून तथा pia corpora [पवित्र निकाय] इस प्रथा से बहुत लाभ उठाया करते थे, विशेषकर क्रूसेडों [धर्मयुद्धों] के दौरान। इसकी बदौलत राष्ट्रीय संपदा का बहुत बड़ा भाग तथाकथित 'मृत हस्त' के क़ब्ज़े में आ जाता था, ख़ासकर इसलिए कि यहूदियों के लिए इस तरह की सूदख़ोरी में प्रवृत्त होना निषिद्ध था, क्योंकि इस तरह के स्थिर धारणाधिकारों को छिपाना संभव नहीं था ... ब्याज पर प्रतिबंध के बिना चर्च और मठ कभी इतने समृद्ध नहीं बन सकते थे।" (वही, पृष्ठ ५५।)

भाग ६

बेशी लाभ का किराया ज़मीन में रूपांतरण

अध्याय ३७

प्रस्तावना

भू-संपत्ति का अपने विभिन्न ऐतिहासिक रूपों में विश्लेषण इस कृति की परिधि के बाहर है। हमारा उससे सिर्फ़ यहीं तक साबिक़ा होगा कि पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य का एक अंश भूस्वामी के हिस्से में आता है। अतः, हम मान लेते हैं कि कृषि पर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का उसी प्रकार प्रभुत्व है, जिस प्रकार उद्योग पर है; दूसरे शब्दों में, यह कि कृषिकर्म पूंजीपतियों द्वारा किया जाता है, जिनका अन्य पूंजीपतियों से मूलतः भेद सिर्फ़ उनकी पूंजी को, और इस पूंजी द्वारा गतिशील किये जानेवाले उजरती श्रम को निवेशित करने के ढंग में ही है। जहां तक हमारा संबंध है, फ़ार्मर गेहूं, आदि बहुत कुछ उसी तरह से उत्पादित करता है, जिस तरह से कारख़ानेदार सूत या मशीनें उत्पादित करता है। इस कल्पना का कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली ने कृषि को परिवृत्त कर लिया है, मतलब यह है कि वह उत्पादन और बूर्जुआ समाज के सभी क्षेत्रों को शासित करती है, अर्थात उसकी पूंजियों में निर्बाध प्रतिद्वंद्विता, उन्हें एक उत्पादन क्षेत्र से दूसरे को अंतरित कर पाने की शक्यता, और औसत लाभ का समान स्तर, आदि जैसी पूर्वापेक्षाएं पूर्णतः परिपक्व हो चुकी हैं। हम यहां भू-संपत्ति के जिस रूप को लेंगे, वह विशिष्टतः ऐतिहासिक रूप है, पूंजी के और पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के प्रभाव के ज़रिये या तो सामंती भू-स्वामित्व का, या निर्वाह साधन के नाते छोटी खेतिहर कृषि का, जिसमें ज़मीन का **क़ब्ज़ा** प्रत्यक्ष उत्पादक के लिए उत्पादन की पूर्वापेक्षाओं में एक है और जिसमें उसका भूमि का **स्वामित्व उसकी** उत्पादन प्रणाली की समृद्धि के लिए सबसे उपयुक्त अवस्था की तरह सामने आता है, **रूपांतरित** रूप है। जिस प्रकार सामान्यरूपेण पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली श्रमिकों से श्रमावस्थाओं के आहरण पर आधारित है उसी प्रकार वह कृषि में भी ग्रामीण श्रमिकों की ज़मीन से बेदख़ली और उनके पूंजीपति के अधीनीकरण की, जो कृषि लाभ के लिए करता है, पूर्वकल्पना करती है। इस प्रकार, हमारे विश्लेषण के लिए यह आपत्ति सर्वथा असंगत है कि भू-संपत्ति के और कृषि के अन्य रूप अस्तित्वमान रहे हैं या अब भी अस्तित्वमान हैं। ऐसी आपत्ति सिर्फ़ उन अर्थशास्त्रियों के लिए सही हो सकती है, जो कृषि में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और उसके अनुरूप भू-संपत्ति के रूप को ऐतिहासिक नहीं, वरन सनातन कोटियां समझते हैं।

हमारे लिए भू-संपत्ति के आधुनिक रूप का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि हमारा कार्य उत्पादन और परिचलन की उन विशिष्ट अवस्थाओं का विवेचन करना है, जो कृषि में पूंजी के

निवेश से उत्पन्न होती हैं। इसके बिना हमारा पूंजी का विश्लेषण पूर्ण नहीं होगा। इसलिए हम अपने को केवल स्वयं कृषि में, अर्थात संबद्ध जाति की मुख्य खाद्य फ़सल के उत्पादन में पूंजी के निवेश तक ही सीमित रखेंगे। हम इसके लिए गेहूं ले सकते हैं, क्योंकि वह आधुनिक पूंजीवादी ढंग से विकसित राष्ट्रों में मुख्य निर्वाह साधन है। (या कृषि के बजाय हम खनन को ले सकते हैं, क्योंकि नियम दोनों ही के लिए समान हैं।)

ऐडम स्मिथ का एक बड़ा योगदान यह दिखलाना था कि सन तथा रंजकों जैसे कृषि उत्पादों के उत्पादन में और स्वतंत्र पशुपालन, आदि में निवेशित पूंजी के लिए किराया ज़मीन का निर्धारण मुख्य निर्वाह सामग्री के उत्पादन में निवेशित पूंजी से प्राप्त किराया ज़मीन द्वारा किया जाता है।* वास्तव में इस संबंध में इसके बाद और कोई प्रगति नहीं की गयी है। इसमें किसी भी परिसीमन अथवा परिवर्धन के लिए स्थान यहां नहीं, वरन भू-संपत्ति के किसी अलग अध्ययन में होगा। अतः हम भू-संपत्ति – जहां तक उसका आशय गेहूं उगाने के लिए उद्दिष्ट ज़मीन न हो – की ex professo [प्रत्यक्षतः] बात नहीं करेंगे, वरन उसका यथावसर उदाहरणस्वरूप उल्लेख ही करेंगे।

संपूर्णता के निमित्त यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि ज़मीन में हम पानी, आदि को भी शामिल करते हैं, क्योंकि ज़मीन का अनुषंगी होने के नाते उस पर किसी का स्वामित्व होता है।

भू-संपत्ति अन्य सभी लोगों के अपवर्जन के साथ भूमंडल के निश्चित भागों पर कुछेक लोगों के उनकी निजी इच्छा के अनन्य क्षेत्रों के नाते एकाधिकार पर आधारित है।[26] इसे ध्यान में रखते हुए समस्या आर्थिक मूल्य का अभिनिश्चयन करना, अर्थात पूंजीवादी उत्पादन के आधार

---

* Smith, *An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations*, Aberdeen, London, 1848, pp. 105-16. – सं०

[26] हेगेल के निजी भू-संपत्ति के निरूपण से अधिक हास्यास्पद और कुछ नहीं हो सकता। इसके अनुसार मनुष्य को व्यक्ति के नाते अपनी इच्छा को बाह्य प्रकृति की आत्मा के नाते यथार्थ से विभूषित करना और इसलिए इस प्रकृति का क़ब्ज़ा ले लेना चाहिए और उसे अपनी निजी संपत्ति बना लेना चाहिए। अगर "**व्यक्ति**" की, व्यक्ति के नाते मनुष्य की, यही नियति हो, तो निष्कर्षस्वरूप हर मानव को वास्तविक व्यक्ति बनने के लिए भूस्वामी होना चाहिए। भूमि का निर्बाध निजी स्वामित्व, जो बहुत हाल की ही उपज है, हेगेल के अनुसार कोई निश्चित सामाजिक संबंध नहीं है, वरन व्यक्ति के नाते मनुष्य का "प्रकृति" से संबंध, सभी चीज़ों को हस्तगत कर लेने का मनुष्य का निरपेक्ष अधिकार है। (Hegel, *Philosophie des Rechts*, Berlin, 1840, S. 79.) कम से कम इतना तो प्रत्यक्ष है : व्यक्ति अपने को अपनी "इच्छा" से दूसरे व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध भूस्वामी नहीं बनाये रख सकता, जो इसी प्रकार ज़मीन के उसी टुकड़े की बदौलत वास्तविक व्यक्ति बनना चाहता है। इसके लिए निश्चित रूप में सदिच्छा के अलावा कुछ और भी आवश्यक है। फिर यह निश्चय करना लगभग असंभव है कि "व्यक्ति" अपनी इच्छा के सिद्धिकरण के लिए क्या सीमारेखा बनाता है – आया कि इस इच्छा को अपने सिद्धिकरण के लिए एक पूरा देश चाहिए, या देशों का पूरा समूह चाहिए, जिनके हस्तगतकरण से "वस्तु पर मेरी इच्छा का प्राधान्य अभिव्यक्त किया जा सकता है"। यहां हेगेल एक बिलकुल बंद गली में पहुंच जाते हैं। "हस्तगतकरण एक बहुत ही विशेष प्रकार का है; मैं उससे अधिक का क़ब्ज़ा नहीं लेता, जितना अपने शरीर से स्पर्श करता हूं; किंतु दूसरी ओर यह स्पष्ट है कि बाह्य वस्तुएं उससे अधिक विस्तृत हैं, जितना मैं क़ब्ज़े में ले सकता हूं। ऐसी वस्तु का इस प्रकार क़ब्ज़ा

पर इस एकाधिकार का सिद्धिकरण करना है। इन व्यक्तियों की भूमंडल के किन्हीं भागों का उपयोग अथवा दुरुपयोग करने की विधिक शक्ति से कुछ भी निर्णीत नहीं होता है। इस शक्ति का उपयोग पूर्णतः आर्थिक अवस्थाओं पर निर्भर करता है, जो इन व्यक्तियों की इच्छा से स्वतंत्र होती हैं। स्वयं विधिक दृष्टिकोण का अर्थ सिर्फ़ यह है कि भूस्वामी ज़मीन के साथ वही कर सकता है, जो माल का हर स्वामी अपने मालों के साथ कर सकता है। और यह दृष्टिकोण, भूमि के निर्बाध निजी स्वामित्व का यह विधिक दृष्टिकोण प्राचीन विश्व में केवल समाज की आंगिक व्यवस्था के विघटन के साथ, और आधुनिक विश्व में केवल पूंजीवादी उत्पादन के साथ ही उत्पन्न होता है। इसका यूरोपीयों द्वारा एशिया को केवल जहां-तहां ही आयात हुआ है। आद्य संचय विषयक भाग (Buch I, kap. XXIV*) में हमने देखा था कि यह उत्पादन प्रणाली, एक ओर, प्रत्यक्ष उत्पादकों के ज़मीन के मात्र अनुषंग होने की उनकी स्थिति (अधीनस्थों, भूदासों, दासों, आदि के रूप में) से वियोजन की, और दूसरी ओर, लोगों के भारी बहुलांश के ज़मीन से बेदख़ल किये जाने की पूर्वकल्पना करती है। इस हद तक भू-संपत्ति का एकाधिकार एक ऐतिहासिक पूर्वाधार है और जनसाधारण के एक न एक रूप में शोषण पर आधारित सभी पूर्ववर्ती उत्पादन प्रणालियों की ही भांति पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का भी आधार बना रहता है। किंतु भू-संपत्ति का जो रूप आरंभिक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के सामने आता है, वह उसके उपयुक्त नहीं है। वह कृषि को पूंजी के अधीन करके पहले अपने लिए अपेक्षित रूप का निर्माण करती है। इस प्रकार वह सामंती भू-संपत्ति, गोत्र संपत्ति और मार्क (ग्राम) समुदाय में छोटी खेतिहर संपत्ति को – चाहे उनके विधिगत रूप कितने ही भिन्न क्यों न हों – इस उत्पादन प्रणाली की आवश्यकताओं के अनुरूप आर्थिक रूप में रूपांतरित कर देती है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का एक मुख्य परिणाम यह है कि एक ओर, यह कृषि को समाज के सबसे अल्पविकसित भाग द्वारा प्रयुक्त एकमात्र आनुभविक तथा यांत्रिक प्रक्रिया से सस्यविज्ञान के सचेतन वैज्ञानिक उपयोग में, जहां तक निजी स्वामित्व की अवस्थाओं में ऐसा करना ज़रा भी संभव होता है, परिणत कर देती है,[27] एक ओर, यह भू-संपत्ति को प्रभुता और दासत्व के संबंधों से वियुक्त कर देती है,

---

पाने से उसके द्वारा कुछ और उससे संबद्ध हो जाता है। मैं हस्तगतकरण का कार्य अपने हाथ के ज़रिये करता हूं, किंतु उसका प्रसार बढ़ाया जा सकता है।" (पृष्ठ ६०)। किंतु यह "दूसरी वस्तु" अपनी बारी में एक और वस्तु से जुड़ी है और इस प्रकार वह सीमा विलुप्त हो जाती है, जिसके भीतर आत्मा के रूप में मेरी इच्छा ज़मीन में प्रवाहित हो सकती है। "जब मेरे पास कोई चीज़ होती है, तो मेरा दिमाग़ फ़ौरन इस विचार को ग्रहण कर लेता है कि न केवल मेरे आसन्न क़ब्ज़े में यही संपत्ति, बल्कि उससे संबद्ध सभी कुछ भी मेरा है। यहां निर्णय विध्यात्मक अधिकार को करना होगा, क्योंकि संकल्पना से और अधिक कुछ नहीं निगमित किया जा सकता" (पृष्ठ ६१।) यह "संकल्पना की" एक असाधारणतः भोली स्वीकृति है और सिद्ध करती है कि यह संकल्पना, जो आरंभ से ही बूर्जुआ समाज की भू-संपत्ति के अत्यंत निश्चित विधिक दृष्टिकोण को निरपेक्ष समझने की भोली भूल करती है, इस भू-संपत्ति की वास्तविक प्रकृति का "कुछ भी नहीं" समझती है। साथ ही इसमें यह स्वीकृति भी है कि "विध्यात्मक अधिकार" सामाजिक, अर्थात आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के बदलने के साथ अपने निर्धारकों को बदल सकता है और उसे उन्हें बदलना भी चाहिए।

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, भाग ८।–सं०

[27] जॉन्स्टन जैसे अत्यंत रूढ़िवादी कृषिरसायनज्ञ स्वीकार करते हैं कि वस्तुतः यौक्तिक कृषि को सब कहीं निजी स्वामित्व से उत्पन्न अलंघ्य बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इसे

और दूसरी ओर, उत्पादन के उपकरण के नाते ज़मीन को भू-संपत्ति और भूस्वामी से पूरी तरह से अलग कर देती है, जिसके लिए ज़मीन बस एक ख़ास नक़दी लाग को ही प्रकट करती है, जो वह अपने एकाधिकार की बदौलत औद्योगिक पूंजीपति – पूंजीपति फ़ार्मर – से वसूल करता है; यह भूस्वामित्व तथा भूमि के बीच संबंध को इतनी पूर्णता के साथ मिटा देती है कि भूस्वामी अपनी सारी ज़िंदगी कुस्तुंतुनिया में बसर कर सकता है, जबकि उसकी ज़मीनें स्कॉटलैंड में बनी रह सकती हैं। इस प्रकार भू-संपत्ति अपने समस्त पूर्ववर्ती राजनीतिक तथा सामाजिक अलंकरणों और संबंधों का, संक्षेप में उन सभी पारंपरिक उपसाधनों का परित्याग करके, जिनकी – जैसे कि हम आगे चलकर देखेंगे – भू-संपत्ति के साथ अपने संघर्ष की गरमी में स्वयं औद्योगिक पूंजीपतियों और उनके सैद्धांतिक प्रवक्ताओं द्वारा भी निरर्थक और व्यर्थ अतिशयताओं के नाते भर्त्सना की जाती है, अपना विशुद्ध आर्थिक रूप प्राप्त कर लेती है। एक ओर, कृषि का यौक्तिकीकरण, जो उसे पहली बार सामाजिक पैमाने पर चलने में समर्थ बना देता है, और दूसरी ओर, भू-संपत्ति का ad absurdum [विसंगति] में परिणत कर दिया जाना, ये पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की महान उपलब्धियां हैं। अपनी अन्य सभी ऐतिहासिक प्रगतियों की ही भांति उसने इन्हें भी पहले प्रत्यक्ष उत्पादकों को पूर्णतः कंगाल बनाकर ही हासिल लिया है।

स्वयं समस्या पर आने के पहले ग़लतफ़हमी से बचने के लिए कई और प्रारंभिक बातें कह देना आवश्यक है।

इस प्रकार, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की पूर्वापेक्षाएं निम्नलिखित हैं: ज़मीन के असली जोतनेवाले एक पूंजीपति फ़ार्मर के लगाये उजरती मज़दूर होते हैं, जो कृषि में महज़ पूंजी के उपयोजन के एक विशेष क्षेत्र के नाते, अपनी पूंजी के एक विशेष उत्पादन क्षेत्र में निवेश के नाते ही प्रवृत्त होता है। यह पूंजीपति फ़ार्मर भूस्वामी को, अपने द्वारा समुपयोजित ज़मीन के मालिक

वे लेखक भी स्वीकार करते हैं, जो संसार में निजी संपत्ति के एकाधिकार के ex professo [प्रत्यक्ष] पैरोकार हैं, जैसे अपनी द्विखंडीय कृति में शार्ल कोंत, जिसका विशेष लक्ष्य निजी संपत्ति का समर्थन करना ही है। वह कहते हैं: "कोई देश अपनी प्रकृति के अनुरूप समृद्धि तथा शक्ति तब तक नहीं प्राप्त कर सकता, जब तक उसका पोषण करनेवाली ज़मीन के हर अंश को उस प्रयोजन के लिए न लगाया जाये, जो सामान्य हित के सबसे अनुकूल हो। अपनी संपदा का विकास करने के लिए एक अकेली और सर्वोपरि अतिप्रबुद्ध इच्छा को, संभव हो, तो अपने अधिक्षेत्र के हर खंड के लिए कार्यभार निर्धारित करने का ज़िम्मा ले लेना चाहिए और हर खंड से अन्य सभी की समृद्धि के लिए योगदान करवाना चाहिए। किंतु ऐसी इच्छा का अस्तित्व ... ज़मीन के निजी खंडों में वितरण से ... और प्रत्येक स्वामी को अपनी संपत्ति का लगभग निरपेक्ष ढंग से निपटारा करने के लिए प्रत्याभूत अधिकार से असंगत होगा।" [*Traite de la propriété*, Tome I, Paris, 1834, p. 228. – सं०] – संपत्ति और यौक्तिक कृषि प्रणाली के बीच अंतर्विरोध की बात करते समय जॉन्स्टन, कोंत तथा अन्य लोगों के दिमाग़ में बस समूचे तौर पर किसी देश की ज़मीन को काश्त करने की ही बात है। लेकिन विशेष कृषि उत्पादों की खेती की बाज़ार दामों की घट-बढ़ों पर निर्भरता और इन घट-बढ़ों के साथ इस खेती में निरंतर परिवर्तन – पूंजीवादी उत्पादन की समस्त भावना, जो तुरंत द्रव्य लाभ करने की ओर ही निदेशित है – कृषि के विरोध में होते हैं, जिसे आनुक्रमिक पीढ़ियों के सिलसिले द्वारा अपेक्षित सारी ही जीवनावश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है। वन इसका एक सुस्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिनका कदाचित ही समूचे तौर पर समाज के हितों के न्यूनाधिक अनुरूप ढंग से प्रबंध किया जाता है, अर्थात केवल जब वे निजी संपत्ति नहीं होते, बल्कि राज्य के नियंत्रण के अधीन होते हैं।

को, अपनी पूंजी को इस विशिष्ट उत्पादन क्षेत्र में निवेशित करने के अधिकार के लिए संविदा द्वारा निर्धारित निश्चित अवधियों पर, उदाहरण के लिए, सालाना, एक रक़म देता है (बिलकुल उसी प्रकार कि जिस प्रकार द्रव्य पूंजी का क़र्ज़दार नियत ब्याज देता है)। यह रक़म किराया ज़मीन [ground rent] कहलाती है, फिर चाहे यह कृषिभूमि के लिए दी जाये, या फिर इमारती भूखंडों, खदानों, मत्स्यक्षेत्रों, या वनों, आदि के लिए। भूस्वामी ने जितनी अवधि के लिए अपनी ज़मीन पूंजीपति फ़ार्मर को किराये पर देने का क़रार किया है, यह रक़म उस सारी अवधि के लिए दी जाती है। अतः, किराया ज़मीन यहां वह रूप है, जिसमें भू-संपत्ति का आर्थिक सिद्धिकरण होता है, अर्थात वह मूल्य उत्पादित करती है। इस प्रकार, यहां हमारे सामने वे तीनों वर्ग – उजरती मज़दूर, औद्योगिक पूंजीपति तथा भूस्वामी – मौजूद हैं, जो एकसाथ मिलकर, और अपने पारस्परिक विरोध में आधुनिक समाज के ढांचे का निर्माण करते हैं।

पूंजी ज़मीन में या तो उसमें रासायनिक क़िस्म के सुधारों, उर्वरण, आदि के ज़रिये अस्थायी तौर पर, अथवा निकास नालियों, सिंचाई साधनों, समतलीकरण, कृषि इमारतों, आदि में अधिक दीर्घकालिक रूप में समाविष्ट होकर स्थिरीकृत हो सकती है। मैंने ज़मीन पर इस तरह लगायी जानेवाली पूंजी को अन्यत्र la terre-capital कहा है।[28] यह स्थिर पूंजी की कोटि में आती है। ज़मीन और इस प्रकार उत्पादनोपकरण के नाते उसमें किये गये सुधारों में समाविष्ट पूंजी पर ब्याज पूंजीपति फ़ार्मर द्वारा भूस्वामी को दिये जानेवाले किराये अथवा लगान का एक भाग हो सकता है,[29] लेकिन वह ज़मीन के ही उपयोग के लिए दिया जानेवाला वास्तविक किराया ज़मीन नहीं होता – फिर चाहे ज़मीन नैसर्गिक अवस्था में हो या कृष्ट अवस्था में। भू-संपत्ति के क्रमबद्ध विवेचन में, जो हमारी परिधि के बाहर है, भूस्वामी की आय के इस भाग की विस्तृत समीक्षा करना आवश्यक होता। लेकिन यहां उसके बारे में कुछ शब्द ही पर्याप्त रहेंगे। कृषि में सामान्य उत्पादन प्रक्रियाओं के साथ रहनेवाले सभी अस्थायी निवेश निरपवाद रूप में पूंजीपति फ़ार्मर द्वारा ही किये जाते हैं। ऐसे निवेश, जैसे सामान्यतः वास्तविक कृषि में, जब कृषि न्यूनाधिक यौक्तिक ढंग से की जाती है, अर्थात जब उसे मिट्टी के विवेकहीन निःसत्वीकरण में नहीं परिणत कर दिया जाता है, जैसा, मिसाल के लिए, संयुक्त राज्य अमरीका में दास-स्वामियों में रिवाज था, अलबत्ता भूस्वामी सज्जन इक़रारनामे द्वारा अपने आपको ऐसे आचरण के विरुद्ध प्रत्याभूत कर लेते हैं, तो वे ज़मीन को सुधारते हैं,[30] उसकी

---

[28] Karl Marx, *Misére de la Philosophie*, p. 165. उसमें मैंने terre-matière [भू-उपादान] और terre-capital [भू-पूंजी] के बीच विभेद किया है। "पहले ही उत्पादन साधन में रूपांतरित ज़मीन में पूंजी के और अधिक परिव्ययों का लगाया जाना मात्र उपादान के रूप में ज़मीन में, अर्थात ज़मीन के विस्तार में कोई भी वृद्धि किये बिना ही पूंजी के रूप में ज़मीन को बढ़ा देता है ... पूंजी के रूप में ज़मीन किसी भी अन्य पूंजी की अपेक्षा अधिक शाश्वत नहीं है ... पूंजी के रूप में ज़मीन स्थिर पूंजी है, लेकिन स्थिर पूंजी भी उसी प्रकार उपभुक्त हो जाती है कि जिस प्रकार प्रचल पूंजी हो जाती है।"

[29] मैं "सकता है" कह रहा हूं, क्योंकि कुछेक परिस्थितियों में यह ब्याज किराया ज़मीन के नियम द्वारा नियमित किया जाता है और इसलिए विलुप्त हो सकता है, जैसे अच्छी नैसर्गिक उर्वरतावाली अछूती ज़मीनों के बीच प्रतिद्वंद्विता के मामले में।

[30] देखिये James Anderson [*A Calm Investigation of the Circumstances that have led to the Present Scarcity of Grain in Britain*, London, 1801, pp. 35-36, 38]

पैदावार को बढ़ाते हैं और ज़मीन को मात्र उपादान से भू-पूंजी में रूपांतरित कर देते हैं। कृष्ट भूमि समान गुणों वाली अकृष्ट भूमि से अधिक मूल्यवान होती है। ज़मीन में समाविष्ट अधिक दीर्घकालिक रूप में स्थिरीकृत और अधिक लंबी कालावधि में प्रयुक्त होनेवाले पूंजी निवेश भी अधिकांशतः, और कुछ क्षेत्रों में अनन्य रूप में, पूंजीपति फ़ार्मर द्वारा ही किये जाते हैं। लेकिन जैसे ही संविदा द्वारा विहित कालावधि समाप्त होती है कि वैसे ही – और यह उन कारणों में से एक है कि क्यों पूंजीवादी उत्पादन के विकास के साथ-साथ भूस्वामी संविदा अवधि को यथासंभव कम से कम करना चाहते हैं – ज़मीन में समाविष्ट सुधार पदार्थ – ज़मीन – के एक अवियोज्य लक्षण की तरह भूस्वामी की संपत्ति बन जाते हैं। भूस्वामी द्वारा की जानेवाली नयी संविदा में वह ज़मीन में समाविष्ट पूंजी के लिए ब्याज को स्वयं किराया ज़मीन के साथ जोड़ देता है। और ज़मीन चाहे अब वह उसी पूंजीपति फ़ार्मर को पट्टे पर दे, जिसने ये सुधार किये थे, या किसी और फ़ार्मर को दे, ऐसा वह हर हालत में करता है। इस प्रकार उसका किराया स्फीत हो जाता है और अगर वह अपनी ज़मीन बेचना चाहे (हम यह अभी देखेंगे कि उसका दाम किस प्रकार निर्धारित होता है), तो उसका मूल्य अब अधिक ऊंचा होगा। वह सिर्फ़ ज़मीन नहीं, बल्कि सुधरी हुई ज़मीन, ज़मीन में समाविष्ट पूंजी बेचता है, जिसके लिए उसने कुछ भी नहीं दिया है। स्वयं किराया ज़मीन की गतियों से सर्वथा अलग यह आर्थिक विकास की प्रगति के साथ भूस्वामियों की बढ़ती समृद्धि, उनके किरायों की निरंतर स्फीति और उनकी जायदादों के लगातार बढ़ते मुद्रा मूल्य के रहस्यों में से एक है। इस प्रकार वे सामाजिक विकास के एक उत्पाद को अपने जेब में डाल लेते हैं, जो उनके योगदान के बिना प्राप्त होता है – fruges consumere nati [फलों का उपभोग करने के लिए उत्पन्न]।* लेकिन यह साथ ही कृषि के यौक्तिक विकास में सबसे बड़ी बाधाओं में एक भी है, क्योंकि पट्टाधारी या किरायेदार फ़ार्मर उन सारे सुधारों और परिव्ययों से बचता है, जिनके पूर्ण प्रतिफलों की वह अपनी पट्टेदारी की अवधि में आशा नहीं कर सकता। हम इस स्थिति की एक ऐसी बड़ी बाधा के रूप में न केवल अठारहवीं शताब्दी में जेम्स एंडरसन द्वारा, जो आधुनिक किराया अथवा लगान सिद्धांत** के वास्तविक खोजकर्ता थे और व्यावहारिक पूंजीपति फ़ार्मर तथा अपने समय के लिहाज से एक अग्रवर्ती सस्यविज्ञानी भी थे, बल्कि स्वयं हमारे काल में इंगलैंड में भू-संपत्ति की वर्तमान व्यवस्था के विरोधियों द्वारा भी भर्त्सना होते देखते हैं।

इस प्रसंग में ए० ए० वाल्टन अपनी कृति *History of the Landed Tenures of Great Britain and Ireland*, London, 1865 में कहते हैं (पृष्ठ ९६, ९७): "देश भर के सारे ही नानासंख्य कृषि संघ उस समय तक कृषि सुधार की वास्तविक प्रगति में कोई भी व्यापक अथवा वस्तुतः महत्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न करने में असफल रहेंगे कि जब तक ऐसे सुधारों का अर्थ किरायेदार फ़ार्मर या श्रमिक की स्थिति को बेहतर बनाने की अपेक्षा भूस्वामी की जायदाद के मूल्य और किराये को

तथा Carey, *The Past, the Present, and the Future*, Philadelphia, 1848, pp. 129-31. – सं०

* Horace, *Epistles*, Book I, *Epistles 2, 27*. – सं०

** जेम्स एंडरसन के किराया सिद्धांत के बारे में देखिये K. Marx, *Theorien über den Mehrwert*, (K. Marx/F. Engels, *Werke*, Band 26, 2. Teil, S. 103-105, 110-114, 134-139.) – सं०

मात्रा में वृद्धि ही बना रहता है। सामान्यतः फ़ार्मरों को इसका इतना ही अहसास होता है कि जितना भूस्वामी या उसके अभिकर्ता या कृषि संघ के प्रधान तक को कि अच्छी जल प्रणाली, पर्याप्त खाद तथा अच्छा प्रबंध श्रम के अधिक उपयोग, जमीन की अच्छी तरह से सफ़ाई और जुताई के संयोग से सुधार और उत्पादन – दोनों – में आश्चर्यजनक परिणाम पैदा करेंगे। लेकिन यह सब करने के लिए पर्याप्त परिव्यय आवश्यक है और फ़ार्मर यह भी जानते हैं कि वे जमीन को चाहे कितना भी सुधारें अथवा उसके मूल्य की अभिवृद्धि करें, अंततोगत्वा भूस्वामी ही ऊंचे किरायों और अपनी जायदादों के वर्धित मूल्य की सूरत में मुख्य लाभ बटोरेंगे। ... वे इतने समझदार हैं कि उस बात को भांप सकें, जिसे किसी अनोखी असावधानी से ये वक्ता [कृषि उत्सवों में भाषण देते हुए भूस्वामी और उनके अभिकर्ता] उन्हें बतलाना भूल जाते हैं – अर्थात यह कि वे जो भी सुधार करेंगे, उनका अधिकांश अंततोगत्वा अनिवार्यतः भूस्वामियों के जेब ही भरेगा ... भूतपूर्व फ़ार्मर ने फ़ार्म को चाहे कितना ही सुधार दिया हो, उसका अनुवर्ती फ़ार्मर पायेगा कि भूस्वामी पूर्ववर्ती सुधारों से ज़मीन के वर्धित मूल्य के अनुपात में लगान को हमेशा ही बढ़ा देगा।"

वास्तविक कृषि में यह प्रक्रिया अभी बिलकुल वैसी ही स्पष्टता से नहीं प्रकट होती, जैसी जमीन के इमारती कामों के लिए प्रयुक्त किये जाने में होती है। इंगलैंड में निर्माण कार्यों के लिए प्रयुक्त जमीन का सबसे बड़ा भाग निरधीन संपत्ति (freehold) के रूप में नहीं बेचा जाता, किंतु भूस्वामियों द्वारा ६६ वर्ष के लिए, या संभव हो, तो अल्पतर अवधि के लिए पट्टे पर दिया जाता है। इस अवधि की समाप्ति के बाद इमारतें स्वयं जमीन के साथ भूस्वामी के हाथों में आ जाती हैं। "पट्टे के ख़त्म होने तक अतिशय किराया जमीन अदा करते रहने पर भी उनके [किरायेदारों के] लिए जरूरी होता है कि वे पट्टे की समाप्ति पर मकान को अच्छी, किराये पर देने योग्य हालत में बड़े भूस्वामी के सुपुर्द कर दें। पट्टे की अवधि ख़त्म होते ही अभिकर्ता अथवा सर्वेक्षक आयेगा और आपके मकान का मुआयना करेगा और देखेगा कि आप उसे अच्छी हालत में कर देते हैं और उसके बाद उसका क़ब्ज़ा ले लेगा और उसे अपने स्वामी की जायदाद का हिस्सा बना देगा ... सच तो यह है कि अगर इस क़ायदे को कुछ और लंबे समय तक बने रहने दिया जाता है, तो देश में सारी गृह-संपत्ति और ज़मीन भी बड़े भूस्वामियों के हाथों में पहुंच जायेगी। लंदन में टैंपल बार से उत्तर और दक्षिण के लगभग सारे ही वैस्ट एंड को लगभग आधा दर्जन बड़े भूस्वामियों का कहा जा सकता है, सारे ही को भारी किरायों पर पट्टे पर दिया हुआ है और जहां पट्टे पूरी तरह से समाप्त नहीं भी हुए हैं, वे तेजी से नियत तिथि के निकट पहुंच रहे हैं। यही बात देश में कमोबेश हर शहर के बारे में कही जा सकती है। न अपवर्जन और एकाधिकार की यह लोभी प्रणाली इतने पर भी बस कर देती है। हमारे बंदरगाही शहरों में लगभग सारा ही गोदी स्थान अपहार की इसी प्रक्रिया से जमीन के महातिमिंगलों के हाथों में है।" (वही, पृष्ठ ९२-९३)। इन परिस्थितियों में यह स्पष्ट है कि जब १८६१ में इंगलैंड और वेल्स की जनगणना कुल जनसंख्या २,००,६६,२२४ और भूस्वामियों की संख्या ३६,०३२ प्रकट करती है, तो अगर बड़े भूस्वामियों को एक तरफ़ और छोटों को दूसरी तरफ़ रख दिया जाये, तो मकानों की संख्या से और आबादी से स्वामियों का अनुपात बिलकुल भिन्न ही नज़र आयेगा।

इमारतों के स्वामित्व का यह उदाहरण महत्वपूर्ण है। एक तो यह वास्तविक किराया जमीन और जमीन में समाविष्ट स्थिर पूंजी पर ब्याज में, जो किराया जमीन में एक परिवर्धन

हो सकता है, अंतर को स्पष्टतः दर्शाता है। जब तक पट्टा बना रहता है, कृषि में किरायेदार द्वारा ज़मीन में समाविष्ट पूंजी पर ब्याज की ही भांति इमारतों पर ब्याज भी औद्योगिक पूंजीपति – सटोरिये निर्माता अथवा किरायेदार के हाथों में ही जाता है और स्वयं उसका किराया ज़मीन से कोई संबंध नहीं है, जिसका ज़मीन के उपयोग के लिए प्रति वर्ष निर्धारित तिथियों पर अदा किया जाना आवश्यक है। दूसरे, यह इस बात को दर्शाता है कि अन्य लोगों द्वारा ज़मीन में समाविष्ट पूंजी अंततोगत्वा ज़मीन के साथ-साथ भूस्वामी के हाथों में पहुंच जाती है और उसका ब्याज भूस्वामी के किराये को स्फीत कर देता है।

कुछ लेखकों ने या तो भूस्वामित्व के प्रवक्ताओं का काम करते हुए और बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के हमलों के ख़िलाफ़ संघर्ष करते हुए, या पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को अंतर्विरोधों की प्रणाली से "सुमेलों" की प्रणाली में परिणत करने के प्रयास में, कैरी की तरह, भू-संपत्ति की विशिष्ट आर्थिक अभिव्यक्ति किराया ज़मीन को ब्याज के सर्वसम दिखलाने की कोशिश की है। इससे भूस्वामियों और पूंजीपतियों के बीच विरोध मिट जायेगा। पूंजीवादी उत्पादन की प्रारंभिक मंज़िलों में अपनाया जानेवाला तरीक़ा उलटा था। उस समय जन-मानस में भू-संपत्ति को अब भी निजी संपत्ति का आदि तथा प्रतिष्ठित रूप समझा जाता था और पूंजी पर ब्याज को कुसीद की तरह निंद्य माना जाता था। इसलिए डडली नॉर्थ, लॉक तथा अन्यों ने पूंजी पर ब्याज को किराया ज़मीन के सदृश रूप की तरह व्यक्त किया, ठीक जैसे तुर्गो ने ब्याज के औचित्य को किराया ज़मीन के अस्तित्व से निगमित किया।–इस बात के अलावा कि ज़मीन में समाविष्ट पूंजी पर ब्याज के लिए किसी परिवर्धन के बिना किराया ज़मीन अपने शुद्ध रूप में अस्तित्वमान हो सकता है और होता भी है, ये ज़्यादा हाल के समय के लेखक भूल जाते हैं कि इस तरह से भूस्वामी न सिर्फ़ अन्यों की पूंजी पर, जिसके लिए उसे कुछ भी ख़र्च नहीं करना पड़ता, ब्याज ही प्राप्त करता है, बल्कि अन्यों की इस पूंजी को बिना प्रतिदान के हथिया भी लेता है। उत्पादन प्रणाली विशेष के अनुरूप संपत्ति के अन्य सभी रूपों की ही भांति भू-संपत्ति का औचित्य यह है कि उत्पादन प्रणाली स्वयं एक अनित्य ऐतिहासिक आवश्यकता है और इसमें उससे उत्पन्न होनेवाले उत्पादन तथा विनिमय संबंध भी सम्मिलित हैं। जैसे कि हम आगे चलकर देखेंगे, यह सही है कि भू-संपत्ति अन्य प्रकारों की संपत्ति से इस मानी में भिन्न है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के दृष्टिकोण तक से वह विकास की एक विशेष अवस्था में अनावश्यक और हानिकर प्रतीत होती है।

किराया ज़मीन को एक और रूप में भी ब्याज के साथ उलझाया जा सकता है और परिणामस्वरूप उसका विशिष्ट स्वरूप अनदेखा रह जा सकता है। किराया ज़मीन एक ख़ास द्रव्य राशि का रूप ग्रहण करता है, जो भूस्वामी हमारे भूमंडल पर एक ख़ास भूखंड को पट्टे पर देकर सालाना प्राप्त करता है। हम देख चुके हैं कि प्रत्येक विशेष द्रव्य राशि को पूंजीकृत किया जा सकता है, अर्थात एक कल्पित पूंजी पर ब्याज माना जा सकता है। उदाहरण के लिए, अगर औसत ब्याज दर ५% है, तो २०० पाउंड सालाना किराया ज़मीन को ४,००० पाउंड की पूंजी पर ब्याज माना जा सकता है। इस प्रकार पूंजीकृत किराया ज़मीन ही ज़मीन का क्रय दाम अथवा मूल्य है, जो श्रम के दाम की भांति ही prima facie [प्रथमदृष्ट्या] एक अतर्कसंगत कोटि है, क्योंकि धरती श्रम का उत्पाद नहीं है और इसलिए उसका कोई मूल्य नहीं है। लेकिन दूसरी ओर, इस अतर्कसंगत रूप के पीछे उत्पादन में एक वास्तविक संबंध छिपा हुआ है। अगर कोई पूंजीपति २०० पाउंड सालाना किराया लानेवाली ज़मीन ख़रीदता है और उसके लिए ४,०००

पाउंड देता है, तो वह ठीक उसी प्रकार अपनी ४,००० पाउंड की पूंजी पर ५% का औसत वार्षिक ब्याज प्राप्त करता है, मानो उसने इस पूंजी को ब्याजी क़ाग़ज़ों में निवेशित किया हो अथवा उसे ५% ब्याज पर सीधे उधार दे दिया हो। यह ५% की दर पर ४,००० पाउंड की पूंजी का प्रसार है। इस कल्पना के अनुसार वह अपनी जायदाद के क्रय दाम को उसकी संप्राप्तियों के ज़रिये बीस साल में वसूल कर लेगा। इसीलिए इंगलैंड में ज़मीन के क्रय दाम का परिकलन इतने वर्षीय क्रय-मूल्यन में किया जाता है, जो किराया ज़मीन के पूंजीकरण को व्यक्त करने का मात्र एक और ढंग ही है। यह वास्तव में सामान्य ब्याज दर के अनुसार परिकलित – ज़मीन का नहीं, वरन उसके द्वारा प्रदत्त किराया ज़मीन का – क्रय दाम है। लेकिन किराये का यह पूंजीकरण किराये के अस्तित्व की पूर्वकल्पना करता है, जबकि विलोमतः किराये की स्वयं अपने पूंजीकरण से व्युत्पत्ति तथा व्याख्या नहीं की जा सकती। इसके विपरीत, उसके विक्रय से निरपेक्ष उसका अस्तित्व ही यहां जांच का प्रारंभ बिंदु है।

अतः निष्कर्ष यह है कि किराया ज़मीन को अगर एक अचर परिमाण मान लिया जाता है, तो ज़मीन का दाम ब्याज दर के चढ़ने या गिरने के व्युत्क्रमानुपात में चढ़ या गिर सकता है। अगर सामान्य ब्याज दर ५% से गिरकर ४% हो जाये, तो २०० पाउंड सालाना किराया ज़मीन ४,००० पाउंड के बजाय ५,००० पाउंड पूंजी से वार्षिक सिद्धिकरण को व्यक्त करेगा। इसी प्रकार उसी भूखंड का दाम ४,००० पाउंड से बढ़कर ५,००० पाउंड, अथवा २० से २५ वर्षीय क्रय-मूल्यन हो जायेगा। विपरीत प्रसंग में इसका उलटा होगा। यह ज़मीन के दाम की गति है, जो स्वयं किराया ज़मीन की गति से स्वतंत्र है और केवल ब्याज दर द्वारा नियमित होती है। लेकिन जैसे कि हम देख चुके हैं, सामाजिक प्रगति के क्रम में लाभ दर में गिरने की प्रवृत्ति होती है और इसलिए ब्याज दर में भी, जहां तक उसका नियमन लाभ दर द्वारा किया जाता है, यही प्रवृत्ति होती है; और यह भी कि लाभ दर के प्रभाव के अलावा ब्याज दर उधारार्थ पूंजी की वृद्धि के परिणामस्वरूप गिरने की प्रवृत्ति दिखलाती है, अतः निष्कर्ष यह है कि ज़मीन के दाम में – किराया ज़मीन की गति और ज़मीन के उत्पादों के दामों से, किराया जिनका एक भाग होता है, निरपेक्ष रूप में भी – चढ़ने की प्रवृत्ति होती है।

स्वयं किराया ज़मीन का ब्याज के उस रूप से उलझाव, जो वह ज़मीन के क्रेता के लिए ग्रहण करता है – किराया ज़मीन की प्रकृति से पूर्ण अनभिज्ञता से उत्पन्न उलझाव – अनिवार्यतः बेतुके निष्कर्षों पर ले जायेगा। चूंकि भू-संपत्ति को सभी प्राचीन देशों में संपत्ति का एक विशेषकर सम्मान्य रूप और उसके क्रय को एक अत्यंत निरापद पूंजी निवेश भी माना जाता है, इसलिए जिस ब्याज दर पर किराया ज़मीन को ख़रीदा जाता है, वह सामान्यतः पूंजी के अन्य दीर्घकालिक निवेशों की दर की अपेक्षा नीची होती है, जिससे, उदाहरण के लिए, स्थावर संपदा का क्रेता अपने क्रय दाम पर सिर्फ़ ४% ही प्राप्त करता है, जबकि वह उसी पूंजी पर अन्य निवेशों में ५% प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में, वह किराया ज़मीन के लिए उसकी अपेक्षा अधिक पूंजी देता है, जितनी वह अन्य निवेशों से आय की उतनी ही वार्षिक रक़म के लिए देता। इसी से श्री थियेर La Propriété [संपत्ति] पर अपनी सामान्यतः बहुत ही घटिया कृति (फ़ांसीसी राष्ट्रीय असेंबली में उनके १८४८ में प्रूदों के विरुद्ध दिये भाषण का मुद्रित संस्करण*)

---

* प्रूदों का भाषण *Compte rendu des séances de l'Assemblée Nationale*, Tome II, Paris, 1849, pp. 666-671 में प्रकाशित हुआ था। – सं०

में यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि किराया ज़मीन नीचा होता है, जबकि यह केवल यही सिद्ध करता है कि उसका क्रय दाम ऊंचा होता है।

यह तथ्य कि पूंजीकृत किराया ज़मीन ज़मीन के दाम या मूल्य की तरह प्रकट होता है और इसलिए यह कि ज़मीन को किसी भी अन्य माल की तरह ख़रीदा और बेचा जा सकता है, कुछ पैरोकारों के लिए भू-संपत्ति के औचित्य साधन का काम देता है, क्योंकि क्रेता उसके लिए समतुल्य देता है, जैसे अन्य सभी मालों के लिए देता है और भू-संपत्ति का अधिकांश इसी प्रकार हस्तांतरित हुआ है। ऐसी ही बात हो, तो यही कारण दासप्रथा का औचित्य साधन करने का भी काम देगा, क्योंकि दास के, जिसे दासस्वामी ने ख़रीदा है, श्रम के प्रतिफल महज़ इस क्रय में निवेशित पूंजी पर ब्याज को ही व्यक्त करते हैं। किराया ज़मीन के अस्तित्व का उसके क्रय-विक्रय से औचित्य निकालना सामान्य रूप में उसके अस्तित्व का उसके अस्तित्व द्वारा औचित्य स्थापन करने जैसा ही है।

किराया ज़मीन – अर्थात पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के आधार पर भू-संपत्ति के स्वतंत्र तथा विशिष्ट आर्थिक रूप – के वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए उसका सभी विरूप तथा अस्पष्ट करनेवाली विसंगतियों से मुक्त अपने शुद्ध रूप में अध्ययन करना जितना भी महत्वपूर्ण हो, भू-संपत्ति के व्यावहारिक प्रभावों की समझ के लिए – किराया ज़मीन की धारणा और प्रकृति का खंडन करनेवाले और तिस पर भी किराया ज़मीन के अस्तित्व रूपों की तरह प्रकट होनेवाले अनेकानेक तथ्यों की सैद्धांतिक समझ तक के लिए – उन स्रोतों को जानना भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जो सिद्धांत में ऐसी गड़बड़ को उत्पन्न करते हैं।

ज़मीन को काश्त करने के अधिकार के लिए किरायेदार द्वारा भूस्वामी को पट्टा राशि के रूप में जो कुछ भी दिया जाता है, वह सब व्यवहार में स्वाभाविकतया किराया ज़मीन के रूप में प्रकट होता है। इस ख़िराज के संघटक अंश चाहे कोई क्यों न हों, उसके स्रोत चाहे कोई क्यों न हों, असली किराया ज़मीन से उसकी यह समानता है कि तथाकथित भूस्वामी का हमारे भूमंडल के एक अंश का एकाधिकार उसे ऐसा ख़िराज उगाहने की और ऐसी लाग लगाने की सामर्थ्य प्रदान कर देता है। उसकी असली किराया ज़मीन से यह समानता है कि वह ज़मीन के दाम का निर्धारण करता है, जो, जैसे कि हम पहले दिखला चुके हैं, ज़मीन के पट्टे पर दिये जाने से पूंजीकृत आय के सिवा और कुछ नहीं है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि ज़मीन में समाविष्ट पूंजी का ब्याज किराया ज़मीन का ऐसा बाह्य संघटक अंश हो सकता है, ऐसा संघटक अंश कि जिसका आर्थिक विकास की प्रगति के साथ किसी देश के कुल किराये पर निरंतर बढ़ता अतिरिक्त प्रभार बन जाना अवश्यंभावी है। लेकिन इस ब्याज के अलावा भी यह संभव है कि पट्टा राशि में आंशिक रूप में, और कुछ मामलों में अपनी समग्रता में, अर्थात असली किराया ज़मीन की पूर्ण अस्तित्वहीनता में – फलतः जब ज़मीन वास्तव में बिना मूल्य की होती है – औसत लाभ से अथवा औसत मजदूरी से, या दोनों ही से कटौती छिपी हुई हो। यह अंश – चाहे लाभ का या मजदूरी का – यहां किराया ज़मीन की तरह सामने आता है, क्योंकि औद्योगिक पूंजीपति या उजरती मज़दूर के हिस्से में आने के बजाय, जैसा कि सामान्यतः होना चाहिए, वह पट्टा राशि के रूप में भूस्वामी को दिया जाता है। अर्थशास्त्रीय दृष्टि से इन दोनों अंशों में से कोई भी किराया ज़मीन नहीं है, लेकिन व्यवहार में वह भूस्वामी की संप्राप्ति है, उसके एकाधिकार का उसी प्रकार आर्थिक सिद्धिकरण

है, जिस प्रकार असली किराया ज़मीन होता है, और उसका ज़मीन के दामों पर वैसा ही निर्धारक प्रभाव पड़ता है।

हम यहां उन अवस्थाओं की बात नहीं कर रहे हैं, जिनमें किराया ज़मीन – पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में भू-संपत्ति को व्यक्त करनेवाला रूप – स्वयं पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अस्तित्व के बिना, अर्थात जिनमें न किरायेदार स्वयं औद्योगिक पूंजीपति होता है और न उसकी कृषि का स्वरूप ही पूंजीवादी होता है, औपचारिक रूप में अस्तित्वमान होता है। उदाहरण के लिए, **आयरलैंड** में ऐसा ही है। वहां किरायेदार आम तौर पर छोटा फ़ार्मर होता है। वह भूस्वामी को किराये के रूप में जो देता है, वह बहुधा न केवल उसके लाभ के, अर्थात स्वयं उसके बेशी श्रम (जिसका वह स्वयं अपने श्रम उपकरणों के स्वामी के नाते अधिकारी है) के एक भाग को ही, बल्कि उसकी उस सामान्य मज़दूरी के एक भाग को भी आत्मसात कर लेता है, जो वह अन्यथा श्रम की उतनी ही मात्रा के लिए पाता। इसके अलावा भूस्वामी, जो ज़मीन के सुधार के लिए कुछ भी नहीं करता है, काश्तकार की उस छोटी सी पूंजी को भी हथिया लेता है, जिसे **वह** अधिकांशतः स्वयं अपने श्रम के ज़रिये ज़मीन में समाविष्ट करता है। यह बिल्कुल वैसा ही है, जैसा सूदख़ोर ने भी समान परिस्थितियों में किया होता, लेकिन इस फ़र्क़ के साथ कि सूदख़ोर इस काम में कम से कम ख़ुद अपनी पूंजी जोखिम में डालता होता। यह निरंतर लूट ही आयरिश भू-धारण विधेयक विषयक विवाद का केंद्र बिंदु है। इस विधेयक का मुख्य उद्देश्य यह है कि भूस्वामी अगर काश्तकार को ज़मीन से हटाता है, तो उसे काश्तकार द्वारा ज़मीन पर किये गये सुधारों के लिए, या ज़मीन में समाविष्ट उसकी पूंजी के लिए उसकी क्षतिपूर्ति करने को विवश किया जाये। पामर्स्टन इस मांग को इस रूखे जवाब से बरतरफ़ कर दिया करते थे: "कामन्स सभा भूस्वामियों की सभा है।"

न हम ऐसी आपवादिक परिस्थितियों की ही बात कर रहे हैं, जिनमें – पूंजीवादी उत्पादन-वाले देशों तक में – भूस्वामी ऐसा ऊंचा किराया लगा सकता है, जिसका ज़मीन से उपज के साथ कोई भी संबंध नहीं होता। मिसाल के लिए, इंगलैंड के औद्योगिक इलाक़ों में मज़दूरों को ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़ों का बगीचियों की तरह या ख़ाली समय में शौक़िया खेती के लिए पट्टे पर दिया जाना इसी कोटि में आता है। (*Reports of Inspectors of Factories.*)

हम विकसित पूंजीवादी उत्पादनवाले देशों में किराया ज़मीन की बात कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, अंग्रेज़ काश्तकारों में अनेक ऐसे छोटे पूंजीपति हैं, जिनके लिए शिक्षा, लालन-पालन, परंपरा, प्रतिद्वंद्विता तथा अन्य परिस्थितियों के कारण अपनी पूंजी कृषि में किरायेदारों की तरह निवेशित करना अनिवार्यता और विवशता है। उन्हें औसत लाभ से कम पर संतोष करना पड़ता है और उसका एक हिस्सा किराये की तरह भूस्वामियों को दे देना पड़ता है। उनके लिए केवल इसी अवस्था के अंतर्गत अपनी पूंजी ज़मीन में, कृषि में निवेशित करना संभव है। चूंकि भूस्वामी विधि निर्माण पर हर कहीं काफ़ी, और इंगलैंड में तो अत्यधिक भी प्रभाव डालते हैं, इसलिए वे इस परिस्थिति का लाभ उठाकर संपूर्ण किरायेदार वर्ग का उत्पीड़न कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, १८१५ के अनाज क़ानूनों – अनाज कर, जो खुले तौर पर के जैकोबिन विरोधी युद्धों के दौरान निष्क्रिय भूस्वामियों के असामान्य रूप में बढ़े हुए किरायों के बने रहने को सुनिश्चित करने के लिए ही देश पर थोपा गया था – का व्यावहारिक परिणाम यही था कि उन्होंने, असाधारणतः अच्छी फ़सलों के वर्षों को छोड़कर, कृषि उत्पादों के दामों को उस स्तर के ऊपर ही बनाये रखा, जिस पर अनाज का आयात अप्रतिबंधित रहने की हालत में वे गिरकर पहुंच जाते। लेकिन

ये क़ानून दामों को विधिनिर्माता भूस्वामियों द्वारा विहित उस स्तर पर नहीं रख सके कि वे विदेशी अनाज के आयात की क़ानूनी सीमा के निर्धारक सामान्य दामों का काम दे सकें। लेकिन पट्टे इन सामान्य दामों द्वारा उत्पन्न वातावरण में ही संपन्न किये गये थे। भ्रांति के भंग होने के साथ एक नया क़ानून बनाया गया, जिसमें नये सामान्य दाम थे, जो लोभी भूस्वामी की स्वैरकल्पनाओं की बिलकुल वैसी ही शक्तिहीन अभिव्यक्ति थे, जैसे पुराने थे। इस तरह से किरायेदारों को १८१५ से लेकर चौथे दशक तक ठगा जाता रहा। यही इस सारी अवधि में कृषि संकट की स्थायी समस्या का कारण है। यही इस अवधि में किरायेदारों की एक पूरी पीढ़ी के स्वत्वहरण और बरबादी का और उनकी पूंजीपतियों के नये वर्ग द्वारा प्रतिस्थापना किये जाने का कारण है।[31]

तथापि एक कहीं अधिक सामान्य तथा महत्वपूर्ण तथ्य वास्तविक खेत मजदूर की मजदूरी का अपने सामान्य औसत के नीचे ले जाया जाना है, जिससे उसका एक हिस्सा कटकर पट्टा राशि का हिस्सा बन जाता है और इस प्रकार किराया ज़मीन के वेश में श्रमिक के बजाय भूस्वामी के जेब में चला जाता है। मिसाल के लिए, कुछेक अधिक अनुकूल स्थिति की काउंटियों को छोड़कर इंगलैंड और स्कॉटलैंड में आम तौर पर बिलकुल यही बात है। संसदीय जांच समितियों द्वारा, जो इंगलैंड में अनाज क़ानूनों के पारित किये जाने के पहले नियुक्त की गयी थीं, मजदूरी के स्तर की तहक़ीक़ात – अभी तक उन्नीसवीं सदी में मजदूरी के इतिहास में सबसे मूल्यवान और लगभग अप्रयुक्त योगदान और साथ ही अंग्रेज़ अभिजात तथा बूर्जुआ वर्गों द्वारा स्वयं अपने लिए खड़ी की गयी टिकठी – ने प्रत्यायक और निस्संदिग्ध रूप में सिद्ध कर दिया कि जैकोबिनविरोधी युद्धों के समय किराये की ऊंची दरों और ज़मीन के दामों में अनुरूप चढ़ाव का कारण अंशतः मजदूरी से कटौतियों और मजदूरी के न्यूनतम भौतिक आवश्यकता के स्तर से भी नीचे गिरने के, दूसरे शब्दों में, सामान्य मज़दूरी के एक हिस्से के भूस्वामियों को सौंप दिये जाने के सिवाय और कुछ नहीं था। मुद्रा के मूल्यह्रास और कृषिप्रधान इलाक़ों में दरिद्रार्थ क़ानूनों की जोड़-तोड़ जैसी विभिन्न परिस्थितियों ने एक ऐसे समय में इस कार्रवाई को संभव बना दिया था कि जब काश्तकारों की आयों में बेशुमार वृद्धि हो रही थी और भूस्वामी कल्पनातीत संपदा एकत्र कर रहे थे। वस्तुतः अनाज पर महसूल लगाये जाने के लिए काश्तकारों और भूस्वामियों, दोनों ही की मुख्य दलीलों में एक यह थी कि खेत मजदूरों की मज़दूरी को और अधिक नीचा करना भौतिक रूप में असंभव हो गया है। इस हालत में कोई बहुत महत्वपूर्ण अंतर नहीं आया है और इंगलैंड में भी सभी यूरोपीय देशों की ही भांति सामान्य मज़दूरी का एक भाग हमेशा ही की तरह किराया ज़मीन द्वारा आत्मसात कर लिया जाता है। जब एक परोपकारी अभिजात, काउंट शैफ़्टसबरी, जो उस समय लॉर्ड ऐशले थे, अंग्रेज़ कारख़ाना मज़दूरों की हालत से बेतरह विचलित हो गये और दस घंटे के कार्य दिवस के लिए आंदोलन के समय संसद में उनके प्रवक्ता बन गये, तब उद्योगपतियों के प्रवक्ताओं ने अपना बदला उनके गांवों में खेतिहर

---

[31] Anti-Corn Law Prize-Essays देखिये। तथापि अनाज क़ानून हमेशा दामों को कृत्रिमतः ऊंचे स्तर पर रखते थे। बेहतर हैसियतवाले काश्तकारों के लिए यह लाभदायी था। संरक्षी शुल्क अधिकांश काश्तकारों को, जो किसी आधार पर या उसके बिना भी विशिष्ट औसत दाम पर निर्भर करते थे, जिस निष्क्रियता में डाल देते थे, ये लोग उससे लाभ उठाते थे।

मजदूरों की मजदूरी के आंकड़ों को प्रकाशित करके लिया (देखिये Buch I, Kap. XXIII, 5, e*) ('ब्रिटेन का खेतिहर सर्वहारा'), जो यह स्पष्टतः दिखलाते थे कि इन परोपकारी महानुभाव के किराया जमीन का एक हिस्सा उनके लिए उनके किरायेदारों द्वारा खेतिहर मजदूरों की मजदूरी से झटकी हुई लूट का ही था। यह प्रकाशन इसलिए भी दिलचस्प है कि उसके रहस्योदघाटन १८१४ और १८१५ में समितियों द्वारा किये गये बदतरीन परदाफ़ाशों की पंगत में बड़ी शान के साथ जगह ले सकते हैं। जैसे ही परिस्थितियां खेतिहर मजदूरों की मजदूरी में कोई अस्थायी वृद्धि अनिवार्य बनाती हैं कि पूंजीपति किरायेदार फ़ार्मर शोर बरपा कर देते हैं कि मजदूरी को उठाकर सामान्य स्तर पर लाना, जैसे उद्योग की अन्य शाखाओं में किया गया है, अगर साथ ही किराया जमीन को भी न घटाया जाये, तो असंभव होगा और उन्हें बरबाद कर देगा। इसी में यह स्वीकारोक्ति भी छिपी हुई है कि किराया जमीन की मद के तहत श्रमिकों की मजदूरी से कटौती सन्निहित है, जिसे भूस्वामियों के हवाले कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, १८४६ से १८५६ तक इंगलैंड में अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं के संयोग की बदौलत खेतिहर मजदूरों की मजदूरी बढ़ी थी, जैसे आयरलैंड से निष्क्रमण, जिसने वहां से खेतिहर मजदूरों की पूर्ति को रोक दिया; खेतिहर आबादी का कारखानों द्वारा असाधारण पैमाने पर आत्मसात्करण; युद्धकालीन अवस्थाओं के कारण सैनिकों की मांग; आस्ट्रेलिया तथा संयुक्त राज्य अमरीका (कैलीफ़ोर्निया) को असाधारणतः भारी उत्प्रवास, तथा अन्य परिस्थितियां, जिनकी चर्चा यहां अनावश्यक है। साथ ही इस अवधि में १८५४ से १८५६ तक के ख़राब फ़सलों के वर्षों को छोड़कर अनाज के औसत दामों में १६% से अधिक की गिरावट आयी। किरायेदार फ़ार्मरों ने किरायों में कमी किये जाने के लिए शोर मचाया। इक्के-दुक्के मामलों में उन्हें कामयाबी मिली, पर कुल मिलाकर वे इस मांग को हासिल न कर पाये। उन्होंने और बातों के अलावा वाष्प इंजनों तथा नयी मशीनों के पुंजोत्पादन द्वारा उत्पादन लागत घटाने का रास्ता अपनाया, जिन्होंने किसी हद तक घोड़ों की जगह ले ली और उन्हें अर्थव्यवस्था के बाहर धकेल दिया, मगर साथ ही खेतिहर रोजोदार मजदूरों को काम से बाहर करके आंशिक रूप में कृत्रिम जनाधिक्य भी पैदा किया और उसके द्वारा मजदूरी में नयी गिरावट लाये। और यह उस दशक में कुल आबादी की वृद्धि की तुलना में कृषिजीवी आबादी में सापेक्ष ह्रास के बावजूद, और कुछ शुद्धतः कृषिप्रधान इलाक़ों में कृषिजीवी आबादी में निरपेक्ष ह्रास के बावजूद हुआ।[32] इसी संदर्भ में केंब्रिज में राजनीतिक अर्थशास्त्र के तत्कालीन प्रोफ़ेसर, फ़ोसेट, जिनका १८८४ में, जब वह पोस्टमास्टर जनरल थे, देहांत हुआ, ने १२ अक्तूबर, १८६५ को सामाजिक विज्ञान कांग्रेस में कहा था: "श्रमिकों ने उत्प्रवास करना शुरू कर दिया था और फ़ार्मरों ने यह रोना लगाना शुरू कर दिया था कि उनके लिए अब वैसे ऊंचे किराये देना संभव न होगा, जैसे वे अब तक देते आये थे, क्योंकि उत्प्रवास के परिणामस्वरूप श्रम महंगा होता जा रहा है।" इस प्रकार, यहां भी ऊंचे किराया जमीन का प्रत्यक्ष रूप में नीची मजदूरी के साथ तदात्मीकरण किया जाता है। और जहां तक जमीन के दामों के स्तर

---

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: अध्याय २५, ५, च।—सं०

[32] John C. Morton, *The Forces used in Agriculture*. १८६० में लंदन कला समाज में स्कॉटलैंड की १२ और इंगलैंड की ३५ काउंटियों में लगभग १०० किरायेदारों से संग्रहीत प्रामाणिक दस्तावेज़ों के आधार पर दिया गया भाषण।

का निर्धारण इस तथ्य – बढ़ते किराये – द्वारा किया जाता है, वहां तक ज़मीन के मूल्य में वृद्धि श्रम के मूल्यह्रास के सर्वसम है, ज़मीन का ऊंचा दाम श्रम के नीचे दाम के सर्वसम है।

फ़्रांस में भी यही बात है। "किराया इसलिए चढ़ता है कि एक ओर, अनाज, शराब, गोश्त, सब्ज़ियों और फलों के दाम चढ़ जाते हैं, जबकि दूसरी ओर, श्रम का दाम अपरिवर्तित बना रहता है। अगर बूढ़े लोग अपने पिताओं के हिसाब-किताब को देखें और इस तरह हमें कोई १०० साल पीछे की तरफ़ ले जायें, तो वे पायेंगे कि ग्रामीण फ़्रांस में दैनिक मज़दूर का दाम उतना ही था, जितना अब है। गोश्त का दाम तब से तीन गुना हो गया है ... इस क्रांति का शिकार कौन है? क्या शिकार वह धनिक है, जो किसी भू-संपत्ति का स्वामी है, या शिकार वह ग़रीब आदमी है, जो उसे काश्त करता है? किराये में वृद्धि एक सार्वजनिक अनर्थ का प्रमाण है।" (*Du Mécanisme de la Société en France et en Angleterre.* Par M. Rubichon, Nouvelle édit., Paris, 1837, p. 101.)

एक ओर, औसत लाभ से, और दूसरी ओर, औसत मज़दूरी से कटौतियों को व्यक्त करनेवाले किराये के दृष्टांत:

स्थावर संपदा दलाल तथा कृषि मेकेनिक मॉर्टन,* जिन्हें पहले उद्धृत किया जा चुका है, कहते हैं कि कई इलाक़ों में यह देखा गया है कि बड़ी भू-संपत्तियों का किराया छोटी भू-संपत्तियों से नीचा होता है, क्योंकि "अंतोक्त के लिए प्रतिद्वंद्विता आम तौर पर पूर्वोक्त की अपेक्षा अधिक होती है और क्योंकि बहुत कम छोटे काश्तकार ही कृषि के अलावा और किसी व्यवसाय की ओर अपना ध्यान लगा सकते हैं, उपयुक्त धंधा पाने की व्यग्रता के परिणामस्वरूप कई मामलों में वे उससे ज़्यादा किराया देने को तैयार हो जाते हैं, जितना उनका विवेक स्वीकार करेगा।" (John L. Morton, *The Resources of Estates*, London, 1858, p. 116.)

लेकिन, उनके विचारानुसार, इंगलैंड में यह अंतर धीरे-धीरे मिटता जा रहा है; इसका कारण वह अधिकांशतः ठीक छोटे किरायेदार वर्ग का उत्प्रवास ही बताते हैं। यही मॉर्टन एक उदाहरण देते हैं, जिसमें स्वयं किरायेदार की मज़दूरी की, और उससे भी अधिक असंदिग्ध रूप में उसके श्रमिकों की मज़दूरी की किराया ज़मीन के लिए कटौती होती है। यह ७० से ८० एकड़ (३०-३४ हैक्टर) से कम पट्टेदारियों के मामले में होता है, जिन पर दो घोड़ों के हल को रखना संभव नहीं है। "अगर काश्तकार ख़ुद भी एक श्रमिक की तरह ही मेहनत से काम न करे, तो उसका फ़ार्म उसकी गुज़र-बसर नहीं कर सकता। अगर वह अपना काम श्रमिकों पर छोड़ देता है, जबकि ख़ुद को उनकी निगरानी तक ही सीमित रखता है, तो इसकी पूरी संभावना है कि कुछ ही समय के भीतर वह पायेगा कि वह अपना किराया देने में असमर्थ है" (वही, पृष्ठ ११८)। अतः मॉर्टन यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जब तक किसी इलाक़े के काश्तकार बहुत ही निर्धन न हों, तब तक पट्टेदारियों को ७० एकड़ से कम की नहीं होना चाहिए, ताकि काश्तकार दो या तीन घोड़े रख सकें।

श्री लेओंस दि लावेर्ने, Membre de l'Institut et de la Société Centrale d'Agriculture असाधारण विचक्षणता का प्रदर्शन करते हैं। अपनी कृति *Économie Rurale de l'Angleterre* (अंग्रेज़ी अनुवाद, लंदन, १८५५ से उद्धृत) में वह ढोरों से, जिनका फ़्रांस में उपयोग किया

---

* यहां मार्क्स जॉन लाकर्ट मॉर्टन को उद्धृत कर रहे हैं। – सं०

जाता है, पर इंगलैंड में नहीं, जहां उनका स्थान घोड़े ले लेते हैं, प्राप्त वार्षिक सुलाभ की निम्न तुलना करते हैं (पृष्ठ ४२):

फ़्रांस :			इंगलैंड :		
	दूध	४० लाख पाउंड		दूध	१६० लाख पाउंड
	गोश्त	१६० लाख पाउंड		गोश्त	२०० लाख पाउंड
	श्रम	८० लाख पाउंड		श्रम	–
		२८० लाख पाउंड			३६० लाख पाउंड

लेकिन यहां इंगलैंड के लिए अधिक योग इसलिए प्राप्त होता है कि स्वयं उनके साक्ष्य के अनुसार इंगलैंड में दूध फ़्रांस से दुगुना महंगा है, जबकि गोश्त के लिए वह दोनों देशों में समान दामों की कल्पना करते हैं (पृष्ठ ३५); इसलिए इंगलैंड का दुग्धोत्पादन सिकुड़कर ८० लाख पाउंड और योग २८० लाख पाउंड हो जाता है, जो उतना ही है कि जितना फ़्रांस में है। सचमुच यह ज़रा ज़्यादती ही है कि श्री लावेर्नें मात्राओं और दाम के अंतरों को अपने परिकलन में साथ-साथ आ जाने देते हैं, जिससे जब इंगलैंड कुछ वस्तुएं फ़्रांस की बनिस्बत महंगी उत्पादित करता है, तो यह ब्रिटिश कृषि का सुलाभ प्रतीत होता है, जबकि वह हद से हद काश्तकारों और भूस्वामियों के लिए अधिक लाभ ही द्योतित करता है।

यह बात कि श्री लावेर्नें न केवल ब्रिटिश कृषि की उपलब्धियों से ही अवगत हैं, बल्कि अंग्रेज काश्तकारों और भूस्वामियों के पूर्वाग्रहों को भी मानते हैं, पृष्ठ ४८ से प्रकट होती है: "अनाजों के साथ आम तौर पर एक बड़ी ख़राबी रहती है... कि वे उस मिट्टी को निःसत्व कर देते हैं, जो उन्हें पैदा करती है।" न केवल श्री लावेर्नें यही विश्वास करते हैं कि दूसरे पौधे ऐसा नहीं करते, बल्कि यह भी विश्वास करते हैं कि चारा फ़सलें और कंद-मूल फ़सलें मिट्टी को समृद्ध करती हैं: "चारा पौधे अपनी वृद्धि के मुख्य तत्व वायुमंडल से प्राप्त करते हैं, जबकि वे मिट्टी से जितना लेते हैं, उसे उससे अधिक देते हैं; इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में भी और अपने पशु खाद में रूपांतरण द्वारा भी अनाजों तथा सामान्यतया उर्वरताहारी फ़सलों द्वारा की गयी हानि को सुधारने में वे दो प्रकार से योगदान करते हैं; अतः एक नियम यह है कि उनका कम से कम इन फ़सलों के साथ एकांतरण होना चाहिए; नॉरफ़ॉक सस्यावर्तन में यही सन्निहित है (पृष्ठ ५०, ५१)।

कोई अचरज की बात नहीं कि श्री लावेर्नें, जो इन अंग्रेज़ी देहाती परीकथाओं पर विश्वास करते हैं, यह भी विश्वास करते हैं कि अनाज पर महसूलों के उठाये जाने के बाद से अंग्रेज खेत मजदूरों की मजदूरी की पहलेवाली असामान्यता ख़त्म हो गयी है। (इस प्रसंग में पहले जो कहा गया है, वह देखिये। Buch I, Kap. XXIII, 5, SS. 701-729.)* लेकिन आइये, हम १४ दिसंबर, १८६५ को बर्मिंघम में श्री जॉन ब्राइट के भाषण को भी सुनें। संसद में सर्वथा अप्रतिनिधित ५० लाख परिवारों का उल्लेख करने के बाद वह आगे कहते हैं: "युनाइटेड किंगडम में उनमें से दस लाख, बल्कि दस लाख से ज़्यादा ही, ऐसे हैं, जिन्हें कंगालों की अभागी सूची में वर्गीकृत किया जाता है। दस लाख और कंगालों से बस ज़रा ही ऊंची गिनती में हैं, पर सदा इस ख़तरे में रहते हैं कि कहीं कंगाल न बन जायें। उनकी अवस्था और संभावनाएं

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, अध्याय २५, ५, पृष्ठ ७०६-३१। – सं०

इससे अधिक अनुकूल नहीं हैं। अब जरा समाज के इस हिस्से के जाहिल और निचले संस्तरों की तरफ़ देखिये। उनकी दयनीय दशा को, उनकी ग़रीबी को, उनके कष्ट को, किसी भी अच्छाई के बारे में उनकी घोर बेउम्मीदी को देखिये। अरे, संयुक्त राज्य अमरीका में – गुलामी के निज़ाम में दक्षिणी राज्यों तक में – हर नीग्रो को यह ख़याल था कि उसके लिए ख़ुशी का एक दिन है। लेकिन इन लोगों के लिए – इस देश में सबसे निचले संस्तरों के इस वर्ग के लिए – मैं आपको यहां यह कहने को आया हूं कि न किसी बेहतर चीज़ का भरोसा है और न उसे पाने की मुश्किल से कोई तमन्ना ही है। क्या आपने वह पैराग्राफ़ पढ़ा है, जो अख़बारों में हाल ही में डॉरसैटशायर के एक मज़दूर, जॉन क्रॉस, के बारे में छपा था? वह हफ़्ते में छः दिन काम करता था, उसके पास अपने मालिक का, जिसके लिए उसने हर हफ़्ते आठ शिलिंग पर चौबीस साल काम किया था, श्रेष्ठ आचरण प्रमाणपत्र था। इस मज़दूरी से जॉन क्रॉस को अपने झोंपड़े में सात बच्चों के परिवार का, बीमार बीवी और गोद के बच्चे का पेट भरना होता था। उसने छः पेंस दाम का लकड़ी का एक चौखटा ले लिया – मेरी समझ में क़ानूनी निगाह से चुरा लिया। इस जुर्म के लिए उस पर मजिस्ट्रेटों के आगे मुक़दमा चला और उसे १४ या २० दिन क़ैद की सज़ा दी गयी ... मैं आपको बता सकता हूं कि जॉन क्रॉस जैसे हज़ारों ही मामले देश भर में, और ख़ासकर दक्षिण में, मौजूद हैं और उनकी हालत ऐसी है कि अत्यधिक आतुर अनुसंधानकर्ता भी अब तक इस पहेली को हल नहीं कर पाया है कि वे ज़िंदा क्योंकर रह पाते हैं अब ज़रा अपनी नजर देश पर डालिये और इन पचास लाख कुनबों की तरफ़ और उनके इस संस्तर की भयानक अवस्था की तरफ़ देखिये। क्या यह सही नहीं है कि राष्ट्र का यह मताधिकारहीन हिस्सा बस खटता ही रहता है और आराम लगभग नाम को भी नहीं जानता? उसकी ज़रा शासक वर्ग से तुलना कीजिये – लेकिन अगर मैं ऐसा करूं, तो मुझ पर कम्युनिज़्म का इलज़ाम लगाया जायेगा ... लेकिन इस खटनेवाले और मताधिकारवंचित राष्ट्र की उस हिस्से से तुलना कीजिये, जिसे शासक वर्ग माना जा सकता है। उसकी दौलत को देखिये, उसके ठाठ-बाट को देखिये – उसकी ऐयाशी को देखिये। उसकी थकावट का मुलाहिज़ा कीजिये – क्योंकि उनमें थकावट है, लेकिन यह तृप्ति की थकावट है – और यह देखिये कि किस तरह वे जगह-ब-जगह मानो किसी नये आनंद की खोज में लपकते फिरते हैं।" (*Morning Star*, December 14, 1865.)

अब आगे यह दिखलाया गया है कि बेशी श्रम, और फलतः बेशी उत्पाद को किस तरह आम तौर पर किराया जमीन के, बेशी उत्पाद के – कम से कम पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के आधार पर – इस गुणात्मक तथा मात्रात्मक रूप में विशिष्टतः निर्धारित भाग के साथ उलझा दिया जाता है। सामान्यरूपेण बेशी श्रम का नैसर्गिक आधार, अर्थात वह नैसर्गिक पूर्वापेक्षा, जिसके बिना ऐसा श्रम नहीं किया जा सकता, यह है कि सारे ही कार्य दिवस को न खपा लेनेवाले श्रम व्यय की अवस्थाओं में आवश्यक निर्वाह साधन – ज़मीन के जांतव अथवा वानस्पतिक उत्पादों के, या मत्स्यक्षेत्रों, आदि के उत्पादों के रूप में – प्रकृति उपलब्ध कराती हो। कृषि श्रम (जिसमें यहां साधारण खाद्य संग्रहण, शिकार, मछलीमारी और पशु-पालन का श्रम सम्मिलित है) की यह नैसर्गिक उत्पादिता ही समस्त बेशी श्रम का आधार है, क्योंकि सारा श्रम मुख्यतः और मूलतः खाद्य के हस्तगतकरण तथा उत्पादन की ओर ही निदेशित होता है। (जानवर साथ ही ठंडे जलवायु में सरदी से बचने के लिए खालें भी प्रदान करते हैं; इसके अलावा गुहा आवास, आदि भी।)

बेशी उत्पाद और किराया ज़मीन के बीच यही उलझाव, अलबत्ता दूसरी तरह से, श्री डव द्वारा भी व्यक्त किया जाता है।* आरंभ में कृषि तथा औद्योगिक श्रम पृथक्कृत नहीं थे, अंतोक्त पूर्वोक्त का अनुषंग था। खेती करनेवाले क़बीले, गृह-समुदाय अथवा परिवार के बेशी श्रम तथा बेशी उत्पाद में कृषि तथा औद्योगिक, दोनों श्रम शामिल थे। दोनों साथ-साथ चलते थे। शिकार, मछलीमारी और खेती उपयुक्त औज़ारों के बिना असंभव थे। कताई, बुनाई, आदि को पहले सहायक कृषिकार्यों की तरह किया जाता था।

हम पहले दिखला चुके हैं कि जिस प्रकार अलग मज़दूर का श्रम आवश्यक और बेशी श्रम में खंडित हो जाता है, उसी प्रकार मज़दूर वर्ग का सकल श्रम भी इस तरह विभाजित हो सकता है कि उसका जो अंश मज़दूर वर्ग के लिए कुल निर्वाह साधन (इस कार्य के लिए आवश्यक उत्पादन साधनों सहित) उत्पादित करता है, वह सारे समाज के लिए आवश्यक श्रम का निष्पादन करता है। तब शेष मज़दूर वर्ग द्वारा निष्पादित श्रम को बेशी श्रम माना जा सकता है। किंतु आवश्यक श्रम में किसी भी प्रकार केवल कृषि श्रम ही नहीं, वरन वह श्रम भी होता है, जो मज़दूर के औसत उपभोग में अनिवार्यतः सम्मिलित अन्य सभी उत्पाद उत्पादित करता है। इसके अलावा, सामाजिक दृष्टिकोण से, कुछ लोग केवल आवश्यक श्रम का निष्पादन करते हैं, क्योंकि अन्य लोग केवल बेशी श्रम का निष्पादन करते हैं तथा इसी प्रकार इसके विपरीत भी। यह उनके बीच श्रम विभाजन मात्र है। सामान्यरूपेण खेतिहर तथा औद्योगिक मज़दूरों के बीच श्रम विभाजन के बारे में भी यही बात है। एक ओर, श्रम का शुद्धतः औद्योगिक स्वरूप, दूसरी ओर, शुद्धतः खेतिहर स्वरूप के अनुरूप होता है। यह शुद्धतः खेतिहर श्रम किसी भी तरह से नैसर्गिक नहीं है, बल्कि सामाजिक विकास की – और वह भी बहुत हाल के, जिसे अभी तक सभी जगह प्राप्त नहीं किया जा सका है – उपज है और उत्पादन के विकास की एक अत्यंत निश्चित अवस्था के अनुरूप होता है। जिस प्रकार खेतिहर श्रम का एक अंश ऐसे उत्पादों में मूर्त होता है, जो या तो सिर्फ़ विलास में योग देते हैं या उद्योग में कच्चे मालों का काम देते हैं, मगर किसी भी प्रकार खाद्य का, जनसाधारण के लिए खाद्य की तो बात ही क्या, काम नहीं देते, उसी प्रकार दूसरी ओर, औद्योगिक श्रम का एक अंश ऐसे उत्पादों में मूर्त होता है, जो खेतिहर मज़दूरों और ग़ैर-खेतिहर मज़दूरों, दोनों के लिए आवश्यक उपभोग साधनों का काम देते हैं। इस औद्योगिक श्रम को सामाजिक दृष्टिकोण से बेशी श्रम मानना ग़लत है। आंशिक रूप में यह उसी प्रकार आवश्यक श्रम है, जिस प्रकार कृषि श्रम का आवश्यक अंश होता है। यह भी औद्योगिक श्रम के एक भाग का स्वतंत्र किया गया रूप मात्र है, जो पहले नैसर्गिक रूप में कृषि श्रम के साथ जुड़ा हुआ था, विशिष्टतः खेतिहर श्रम का उससे अब पृथक्कृत एक आवश्यक पारस्परिक अनुपूरक है। (शुद्धतः भौतिक दृष्टिकोण से देखा जाये, तो, उदाहरण के लिए, ५०० बुनकर मशीनों पर कहीं अधिक मात्रा में बेशी कपड़ा तैयार करते हैं, अर्थात स्वयं उनके पहनने के लिए जितना ज़रूरी है, उससे ज़्यादा।)

अंततः, किराया ज़मीन के प्रकटीकरण के विभिन्न रूपों पर, अर्थात उत्पादन अथवा उपभोग प्रयोजनों के वास्ते ज़मीन के उपयोग के लिए भूस्वामी को किराया ज़मीन की मद के अंतर्गत दी जानेवाली पट्टा राशि पर विचार करते समय यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि जिन चीज़ों

---

* P. Dove, *The Elements of Political Science*, Edinburgh, 1854, pp. 264, 273. – सं०

में स्वयं कोई मूल्य नहीं होता, अर्थात जो श्रम की उपज नहीं हैं, यथा भूमि, या कम से कम जो श्रम द्वारा पुनरुत्पादित नहीं की जा सकतीं, जैसे पुरावस्तुएं अथवा कतिपय महान कलाकारों की कलाकृतियां, आदि उनके दाम का निर्धारण अनेक आकस्मिक संयोगों द्वारा हो सकता है। किसी भी चीज़ को बेचने के लिए इसके अलावा और कुछ आवश्यक नहीं होता कि उसमें एकाधिकृत होने और अन्यसंक्रामित होने की क्षमता हो।

किराया ज़मीन के अध्ययन में तीन मुख्य ग़लतियों से बचना चाहिए, जो उसके विश्लेषण को अस्पष्ट कर देती हैं।

१) सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया के विकास के भिन्न-भिन्न चरणों से संबद्ध किराये के विभिन्न रूपों को उलझाना।

किराये का विशिष्ट रूप चाहे जो भी हो, सभी प्रकारों में यह सामान्यता है कि किराये का हस्तगतकरण ही वह आर्थिक रूप है, जिसमें भू-संपत्ति का सिद्धिकरण किया जाता है और अपनी बारी में किराया ज़मीन भू-संपत्ति के अस्तित्व की, हमारे भूमंडल के कुछेक भागों पर कुछेक व्यक्तियों के स्वामित्व की पूर्वकल्पना करता है। स्वामी समुदाय का प्रतिनिधित्व करनेवाला कोई व्यक्ति हो सकता है, जैसे एशिया, मिस्र, आदि में है; अथवा यह भू-संपत्ति स्वयं प्रत्यक्ष उत्पादकों पर किसी व्यक्ति के स्वामित्व का आनुषंगिक भाग मात्र हो सकती है, जैसे दासप्रथा या भू-दासत्व के अंतर्गत होता है; अथवा यह प्रकृति पर ग़ैर-उत्पादकों का शुद्धतः निजी स्वामित्व, भूमि के स्वामित्व का हक़नामा मात्र हो सकता है; अथवा, अंतिम बात, यह ज़मीन से ऐसा संबंध हो सकता है, जो, जैसे उपनिवेशकों और भूमि के स्वामी छोटे काश्तकारों के मामले में है, प्रत्यक्ष उत्पादकों द्वारा – वियुक्त और सामाजिक रूप में अविकसित श्रम में – निश्चित भूखंडों के उत्पादों के हस्तगतकरण और उत्पादन में प्रत्यक्षतः अंतर्विष्ट प्रतीत होता है।

किराये के विभिन्न रूपों में यह **सामान्य तत्व**, अर्थात उसका भू-संपत्ति का आर्थिक सिद्धिकरण होना, एक ऐसा विधिक मिथक होना कि जिसकी बदौलत कुछेक व्यक्तियों को हमारे भूमंडल के कुछेक भागों पर अनन्य अधिकार प्राप्त है, अंतरों का पहचान में न आना संभव बना देता है।

२) सारा ही किराया ज़मीन बेशी मूल्य, बेशी श्रम का उत्पाद है। जिंस रूप लगान के अपने अविकसित रूप में यह अब भी प्रत्यक्षतः स्वयं बेशी उत्पाद ही होता है। इसी से यह भ्रांत विचार पैदा होता है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अनुरूप किराये की, – जो सदा लाभ के अलावा होता है, अर्थात जिंसों के उस मूल्यांश के अलावा, जो स्वयं बेशी मूल्य (बेशी श्रम) का बना होता है, आधिक्य होता है, – बेशी मूल्य के इस विशिष्ट और निश्चित घटक की व्याख्या मात्र सामान्यरूपेण लाभ और बेशी मूल्य के अस्तित्व की सामान्य अवस्थाओं की व्याख्या करने से हो जाती है। ये अवस्थाएं हैं: प्रत्यक्ष उत्पादकों को स्वयं अपनी श्रम शक्ति को पुनरुत्पादित करने के लिए, स्वयं अपना पुनरुत्पादन करने के लिए आवश्यक समय से अधिक काम करना होगा। उन्हें सामान्यरूपेण बेशी श्रम का निष्पादन करना होगा। यह व्यक्तिपरक अवस्था है। वस्तुपरक अवस्था यह है कि उनके लिए बेशी श्रम का निष्पादन करना **संभव हो**। नैसर्गिक अवस्थाएं ऐसी होनी चाहिए कि उनके उपलभ्य श्रम काल का **एक भाग** उत्पादकों के नाते उनके पुनरुत्पादन और आत्मसंपोषण के लिए काफ़ी हो, उनके आवश्यक निर्वाह साधनों का उत्पादन उनकी समस्त श्रम शक्ति को न खपा डाले। प्रकृति की उर्वरता यहां एक सीमा, एक प्रारंभ

बिंदु, एक आधार स्थापित करती है। दूसरी ओर, उनके श्रम की सामाजिक उत्पादन शक्ति का विकास दूसरी सीमा स्थापित करता है। अधिक ध्यानपूर्वक विचार किया जाये, तो चूंकि निर्वाह साधनों का उत्पादन उनके अस्तित्व की और सामान्यरूपेण सारे ही उत्पादन के अस्तित्व की सबसे पहली शर्त है, इसलिए इस उत्पादन में प्रयुक्त श्रम को, अर्थात व्यापकतम आर्थिक अर्थों में खेतिहर श्रम को, इतना फलदायी अवश्य होना चाहिए कि समस्त उपलब्ध श्रम काल को प्रत्यक्ष उत्पादकों के लिए निर्वाह साधनों के उत्पादन में ही आत्मसात न कर ले, अर्थात कृषि बेशी श्रम और इसलिए कृषि बेशी उत्पाद भी संभव होना चाहिए। बात को और ख़ुलासे से कहा जाये, तो समाज के किसी हिस्से का कुल कृषि श्रम, आवश्यक श्रम और बेशी श्रम – दोनों – सारे ही समाज के लिए, अर्थात ग़ैर-खेतिहर मज़दूरों के लिए भी, आवश्यक निर्वाह साधनों का उत्पादन करने के लिए अवश्य काफ़ी होना चाहिए। इसलिए इसका मतलब यह है कि कृषि तथा औद्योगिक श्रम के बीच, और इसी प्रकार निर्वाह साधनों का उत्पादन करनेवाले भूकर्षकों और कच्चे माल उत्पादित करनेवाले भूकर्षकों के बीच भी श्रम का मुख्य विभाजन संभव होना चाहिए। यद्यपि निर्वाह साधनों के प्रत्यक्ष उत्पादकों का श्रम, जहां तक स्वयं उनका संबंध है, आवश्यक और बेशी श्रम में विखंडित हो जाता है, फिर भी सामाजिक दृष्टिकोण से वह केवल निर्वाह साधनों का उत्पादन करने के लिए अपेक्षित आवश्यक श्रम को ही व्यक्त करता है। प्रसंगतः, अलग-अलग कार्यशालाओं के भीतर श्रम विभाजन से भिन्न समाज में समूचे तौर पर सारे श्रम विभाजन के बारे में भी यही बात है। यह विशेष वस्तुओं के उत्पादन के लिए, समाज की इन विशेष वस्तुओं के लिए किसी विशेष आवश्यकता की तुष्टि के लिए आवश्यक श्रम है। अगर यह विभाजन समानुपातिक है, तो विभिन्न समूहों के उत्पाद अपने मूल्यों पर बिकते हैं (विकास की एक अगली मंज़िल में आकर वे अपने उत्पादन दामों पर बिकते हैं), अथवा ऐसे दामों पर बिकते हैं, जो इन मूल्यों अथवा उत्पादन दामों के सामान्य नियमों द्वारा निर्धारित कुछ रूपांतरण होते हैं। यह वास्तव में पृथक जिंसों अथवा वस्तुओं के संदर्भ में नहीं, प्रत्युत श्रम विभाजन के कारण स्वतंत्र किये गये उत्पादन के विशेष सामाजिक क्षेत्रों के प्रत्येक कुल उत्पाद के संदर्भ में मूल्य के नियम का प्रभाव है; फलतः न केवल यही होता है कि प्रत्येक विशिष्ट जिंस के लिए आवश्यक श्रम काल ही लगता है, बल्कि विभिन्न समूहों में कुल सामाजिक श्रम काल की केवल आवश्यक समानुपातिक मात्रा ही ख़र्च होती है। कारण कि शर्त यही रहती है कि जिंस उपयोग मूल्य को व्यक्त करती है। लेकिन अगर अलग-अलग जिंसों का उपयोग मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि वे किसी विशेष आवश्यकता की तुष्टि करती हैं या नहीं, तो सामाजिक उत्पाद की समष्टि का उपयोग मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि वह प्रत्येक विशेष प्रकार के उत्पाद के लिए मात्रात्मक रूप में निश्चित सामाजिक आवश्यकता को तुष्ट करता है या नहीं, और इसलिए श्रम इन सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप, जो मात्रात्मक दृष्टि से सीमाबद्ध होती हैं, विभिन्न क्षेत्रों में यथानुपात वितरित है या नहीं। (इस बात को पूंजी के विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों के बीच वितरण के प्रसंग में ध्यान में रखा जाना चाहिए।) सामाजिक आवश्यकता, अर्थात सामाजिक पैमाने पर उपयोग मूल्य, यहां विभिन्न विशिष्ट उत्पादन क्षेत्रों में व्यय होनेवाले कुल सामाजिक श्रम काल की मात्रा के निर्धारक कारक के रूप में प्रकट होती है। लेकिन यह तो बस वही नियम मात्र है, जो अलग-अलग जिंसों के मामले में पहले ही उपयोग में लाया जा चुका है, अर्थात यह कि किसी जिंस का उपयोग मूल्य ही उसके विनिमय मूल्य का और इस प्रकार उसके मूल्य का पूर्वाधार है। यह मुद्दा आवश्यक और बेशी श्रम के

बीच संबंध से सिर्फ़ इसी हृद तक जुडा हुआ है कि इस अनुपात का उत्क्रमण जिंस के मूल्य और इस प्रकार उसमें समाविष्ट बेशी मूल्य के सिद्धिकरण को असंभव बना देता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि अनुपात में बहुत अधिक सूती माल का उत्पादन कर दिया गया है, यद्यपि कपड़े के इस कुल उत्पादन में विद्यमान अवस्थाओं के अंतर्गत केवल आवश्यक श्रम काल ही समाविष्ट हुआ है। लेकिन सामान्य रूप में इस विशेष शाखा में बहुत अधिक सामाजिक श्रम ख़र्च किया गया है, दूसरे शब्दों में, इस उत्पाद का एक हिस्सा निष्प्रयोजन है। इसलिए सारा उत्पाद सिर्फ़ इस तरह बेचा जाता है, मानो वह आवश्यक अनुपात में ही उत्पादित किया गया हो। उत्पादन के विभिन्न विशेष क्षेत्रों के लिए उपलब्ध सामाजिक श्रम काल के नियतांश की यह मात्रात्मक सीमा सामान्यतः मूल्य के नियम की एक अधिक विकसित अभिव्यक्ति मात्र है, यद्यपि आवश्यक श्रम काल यहां भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेता है। सामाजिक आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए उसकी केवल इतनी-इतनी मात्रा ही चाहिए। यहां पाया जानेवाला परिसीमन उपयोग मूल्य के कारण है। विद्यमान उत्पादन अवस्थाओं के अंतर्गत समाज इस विशेष प्रकार के उत्पाद के लिए अपने केवल इतने-इतने कुल श्रम काल का ही उपयोग कर सकता है। लेकिन सामान्यतः बेशी श्रम तथा बेशी मूल्य की आत्मपरक तथा वस्तुपरक अवस्थाओं का न लाभ और न किराये ही के विशेष रूप से कोई संबंध है। ये अवस्थाएं केवल बेशी मूल्य पर ही लागू होती हैं, फिर चाहे वह कोई भी विशेष रूप क्यों न ग्रहण करे। अतः वे किराया जमीन का स्पष्टीकरण नहीं करतीं।

३) भू-संपत्ति के आर्थिक सिद्धिकरण में, किराया जमीन के विकास में ही वस्तुतः निम्न लाक्षणिक विशेषता सामने आती है, अर्थात यह कि उसकी राशि का निर्धारण उसके प्राप्तिकर्ता के कार्यों द्वारा हरगिज नहीं किया जाता है, बल्कि सामाजिक श्रम के स्वतंत्र विकास द्वारा किया जाता है, जिसमें प्राप्तिकर्ता सर्वथा कोई भाग नहीं लेता। इसलिए यह आसानी से हो सकता है कि एक ऐसी चीज को किराये की (और सामान्यतः कृषि उत्पादों की) विशेषता समझ लिया जाता है, जो, जब आधार पण्य उत्पादन हो, – और विशेषकर पूंजीवादी उत्पादन में, जो अपनी समग्रता में पण्य उत्पादन ही है, – वास्तव में उत्पादन की सभी शाखाओं और उनके सभी उत्पादों का एक सामान्य लक्षण है।

सामाजिक विकास के साथ किराया जमीन (और उसके साथ जमीन का मूल्य) कुल सामाजिक श्रम के परिणामस्वरूप बढ़ता जाता है। इसके कारण एक ओर, बाजार का और धरती के उत्पादों की मांग का प्रसार होता है और दूसरी ओर, स्वयं जमीन के लिए मांग बढ़ती है, जो व्यावसायिक गतिविधियों की सभी शाखाओं में, उन तक में कि जो कृषि की नहीं हैं, प्रतिस्पर्धात्मक उत्पादन की एक पूर्वापेक्षा है। तथ्यतः, अगर बात सिर्फ़ वास्तविक कृषि किराये की ही हो, तो किराये का, और इस तरह जमीन के मूल्य का विकास धरती के उत्पादों के लिए बाजार के साथ, और इस प्रकार ग़ैर-खेतिहर आबादी में वृद्धि के साथ, निर्वाह साधनों और कच्चे मालों के लिए उसकी आवश्यकता और मांग के साथ होता है। ग़ैर-खेतिहर आबादी की तुलना में खेतिहर आबादी को लगातार घटाते जाना ही पूंजीवादी उत्पादन का स्वभाव है, क्योंकि उद्योग में (वास्तविक अर्थों में) परिवर्ती पूंजी की सापेक्षता में स्थिर पूंजी की वृद्धि परिवर्ती पूंजी में निरपेक्ष वृद्धि, यद्यपि सापेक्ष घटत, के साथ-साथ ही चलती है; इसके विपरीत, कृषि में किसी भूखंड के समुपयोजन के लिए अपेक्षित परिवर्ती पूंजी निरपेक्षतः घटती है; इस प्रकार, वह सिर्फ़ यहीं तक बढ़ती है कि नयी जमीन काश्त में लायी जाती है, लेकिन फिर इसके

लिए भी पूर्वापेक्षा के रूप में ग़ैर-खेतिहर आबादी की और भी अधिक वृद्धि आवश्यक है।

वास्तव में यहां कृषि और उसके उत्पादों की किसी लाक्षणिक विशेषता की बात नहीं है। इसके विपरीत, यही बात उत्पादन की उन सभी अन्य शाखाओं और उनके उत्पादों पर भी लागू होती है, जहां आधार पण्य उत्पादन और उसका चरम रूप, पूंजीवादी उत्पादन, होता है।

ये उत्पाद सिर्फ़ वहीं तक विनिमय मूल्य, जिसका सिद्धिकरण किया जाना है, द्रव्य में परिवर्तन किया जाना है, रखनेवाली जिंसें, अथवा उपयोग मूल्य हैं कि दूसरी जिंसें उनके लिए समतुल्य बनाती हैं, अर्थात अन्य उत्पाद उनके सामने जिंसों और मूल्यों के रूप में आते हैं; अतः वहीं तक कि वे स्वयं उत्पादकों के लिए प्रत्यक्ष निर्वाह साधनों की तरह नहीं, बल्कि जिंसों की तरह, उत्पादों की तरह उत्पादित किये जाते हैं, जो केवल अपने विनिमय मूल्यों (द्रव्य) में रूपांतरण द्वारा, अपने अन्यसंक्रामण द्वारा ही उपयोग मूल्य बनते हैं। इन जिंसों के लिए बाजार सामाजिक श्रम विभाजन के ज़रिये विकसित होता है; उत्पादक श्रमों का विभाजन उनके अपने-अपने उत्पादों को जिंसों में, एक दूसरे के लिए समतुल्यों में परस्पर रूपांतरित कर देता है, उन्हें आपस में एक दूसरे के लिए बाजार बना देता है। यह किसी भी प्रकार केवल कृषि उत्पादों की विशेषता ही नहीं है।

किराया सिर्फ़ पण्य उत्पादन, विशेषकर पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर ही नक़दी लगान के रूप में विकास कर सकता है, और वह उसी हद तक विकास करता है कि जिस हद तक कृषि उत्पादन पण्य उत्पादन हो जाता है, अर्थात उसी हद तक कि जिस हद तक कृषीतर उत्पादन कृषि उत्पादन से निरपेक्षतः विकास करता है, क्योंकि उस हद तक कृषि उत्पाद जिंस, विनिमय मूल्य, और मूल्य बन जाता है। पूंजीवादी उत्पादन के साथ जितना पण्य उत्पादन का और इस प्रकार मूल्य उत्पादन का विकास होता है, उतना ही बेशी मूल्य के और बेशी उत्पाद के उत्पादन का भी विकास होता है। लेकिन जिस अनुपात में अंतोक्त विकास करता है, उसी अनुपात में भू-संपत्ति अपने भू-एकाधिकार की बदौलत इस बेशी मूल्य के निरंतर अधिकाधिक अंश को हथियाने की, और उसके द्वारा अपने किराये के मूल्य और स्वयं जमीन के दाम को चढ़ाने की क्षमता प्राप्त करती जाती है। पूंजीपति इस बेशी मूल्य और बेशी उत्पाद के विकास में अब भी एक सक्रिय कृत्य का निष्पादन करता है। परंतु भूस्वामी को इस वृद्धि में कोई भी योगदान किये बिना बस बेशी उत्पाद और बेशी मूल्य के बढ़ते हुए अंश को ही हस्तगत करना होता है। उसकी स्थिति की लाक्षणिक विशेषता यह है, न कि यह तथ्य कि धरती के उत्पादों का, और इस प्रकार स्वयं जमीन का मूल्य उसी हद तक बढ़ता है कि जिस हद तक उनके लिए बाजार का प्रसार होता है, मांग और उसके साथ जिंसों की वह दुनिया, जो धरती के उत्पादों के सामने आती है–दूसरे शब्दों में, कृषीतर पण्य उत्पादकों और कृषीतर पण्य उत्पादन की संहति बढ़ती है। लेकिन चूंकि यह उसके द्वारा कुछ किये बिना होता है, इसलिए यह उसे कुछ अनोखा सा लगता है कि मूल्य संहति, बेशी मूल्य संहति, और बेशी मूल्य के एक अंश का किराया जमीन में रूपांतरण सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया पर, सामान्यतः पण्य उत्पादन के विकास पर निर्भर हों। इसी कारण, उदाहरण के लिए, डव किराये को इससे उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। वह कहते हैं कि किराया कृषि उत्पाद संहति पर नहीं, वरन उसके मूल्य पर निर्भर करता है;* लेकिन यह ग़ैर-खेतिहर आबादी की संहति और उत्पादिता पर निर्भर करता है। लेकिन हर अन्य उत्पाद

* P. Dove, *The Elements of Political Science*, Edinburgh, 1854, p. 279. – सं०

के बारे में यह भी सही है कि वह जिंस के रूप में सिर्फ़ वहीं तक विकास कर सकता है कि जहां तक उन दूसरी जिंसों की संहति और उनकी विविधता का विकास होता है, जो उसकी वृद्धि के लिए समतुल्य बनाती हैं। इस बात को मूल्य के सामान्य प्रस्तुतीकरण में पहले ही दर्शाया जा चुका है।* एक ओर, सामान्यतः किसी उत्पाद की विनिमेयता उसके अलावा अस्तित्वमान जिंसों की अनेकता पर निर्भर करती है। दूसरी ओर, यह विशेषकर इस पर निर्भर करती है कि जिंस की तरह इस उत्पाद को किस मात्रा में उत्पादित किया जा सकता है।

अपने में अलग से लिया जाये, तो कोई भी उत्पादक – चाहे औद्योगिक अथवा खेतिहर – मूल्य या जिंसें नहीं उत्पादित करता। उसका उत्पाद केवल निश्चित सामाजिक अन्योन्यसंबंधों के संदर्भ में ही मूल्य और जिंस बनता है। एक तो जहां तक वह सामाजिक श्रम की अभिव्यक्ति की तरह सामने आता है, अतः जहां तक किसी उत्पादक का श्रम काल सामान्यरूपेण सामाजिक श्रम काल का हिस्सा समझा जाता है; और दूसरे, उसके श्रम का यह सामाजिक स्वरूप उसके उत्पाद के आर्थिक स्वरूप के ज़रिये और अपने दाम द्वारा निर्धारित अपनी सामान्य विनिमेयता के ज़रिये प्रकट होता है।

इसलिए अगर एक ओर, किराये के बजाय बेशी मूल्य या, और भी संकीर्ण रूप में, सामान्यतः बेशी उत्पाद की व्याख्या की जाती है, तो दूसरी ओर, कृषि उत्पादों को अनन्य रूप में एक ऐसा अभिलक्षण देने की ग़लती की जाती है, जो जिंसों और मूल्यों की अपनी हैसियत में अन्य सभी उत्पादों का अभिलक्षण है। जो लोग मूल्य के सामान्य निर्धारण से किसी विशिष्ट जिंस के मूल्य के **सिद्धिकरण** पर चले जाते हैं, वे इस व्याख्या की और भी मिट्टी पलीद करते हैं। हर जिंस सिर्फ़ परिचलन की प्रक्रिया में ही अपने मूल्य की सिद्धि कर सकती है और वह अपने मूल्य की सिद्धि करती है कि नहीं, या किस हद तक ऐसा करती है, यह विद्यमान बाज़ार अवस्थाओं पर ही निर्भर करता है।

अतः, यह कोई किराया ज़मीन की विलक्षणता नहीं है कि कृषि उत्पाद मूल्यों में और मूल्यों के रूप में विकसित हो जाते हैं, अर्थात वे अन्य जिंसों के सामने जिंसों की तरह आते हैं और कृषीतर उत्पाद उनके सामने जिंसों की तरह आते हैं, या यह कि वे विकसित होकर सामाजिक श्रम की विशिष्ट अभिव्यक्तियां बन जाते हैं। बल्कि किराया ज़मीन की विलक्षणता यह है कि उन अवस्थाओं के साथ-साथ, जिनमें कृषि उत्पाद विकसित होकर मूल्य (जिंसें) बन जाते हैं, और जिन अवस्थाओं में उनके मूल्यों का सिद्धिकरण होता है, उनके साथ-साथ भू-संपत्ति की इन मूल्यों के अधिकाधिक अंश को हस्तगत करने की शक्ति भी बढ़ती जाती है, जिन्हें उसकी सहायता के बिना उत्पन्न किया गया था; और इसलिए बेशी मूल्य का अधिकाधिक अंश किराया ज़मीन में रूपांतरित होता जाता है।

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, पृष्ठ १०७। – सं०

अध्याय ३८

विभेदक किराया: सामान्य टिप्पणियां

किराया ज़मीन के विश्लेषण में हम प्रारंभ में यह कल्पना कर लेंगे कि वे उत्पाद, जिनसे इस तरह के किराये की अदायगी की जाती है, जिनमें बेशी मूल्य का एक अंश और इसलिए कुल दाम का एक अंश भी किराया ज़मीन में परिणत हो जाता है, अर्थात कृषि तथा इसी प्रकार खनन उत्पाद भी, अन्य सभी जिंसों की ही भांति अपने उत्पादन दामों पर बेचे जाते हैं। (हमारे प्रयोजनों के लिए अपने को कृषि तथा खनन उत्पादों तक ही सीमित रखना काफ़ी है।) दूसरे शब्दों में, उनके विक्रय दाम उनके लागत तत्वों (उपभुक्त स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी का मूल्य) जमा सामान्य लाभ दर द्वारा निर्धारित और कुल अग्रसारित पूंजी – उपभुक्त अथवा अनुपभुक्त – पर परिकलित लाभ के बराबर होते हैं। अतः, हम यह कल्पना करते हैं कि इन उत्पादों के औसत विक्रय दाम उनके उत्पादन दामों के बराबर हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इन अवस्थाओं में किराया ज़मीन का विकसित होना कैसे संभव है, अर्थात लाभ के एक अंश का किराया ज़मीन में रूपांतरित हो जाना कैसे संभव है, जिससे पण्य दाम का एक अंश भूस्वामी को चला जाता है।

किराया ज़मीन के इस रूप के सामान्य स्वरूप को दिखलाने के लिए आइये, हम मान लेते हैं कि किसी देश के अधिकांश कारख़ाने अपनी शक्ति वाष्प इंजनों से प्राप्त करते हैं, जबकि थोड़े से कारख़ाने उसे प्राकृतिक जलप्रपातों से प्राप्त करते हैं। इसके अलावा हम यह मान लेते हैं कि पूर्वोक्त कारख़ानों में जिंसों की एक राशि का, जिन्होंने १०० की पूंजी खपायी है, उत्पादन दाम ११५ है। १५% लाभ केवल १०० की उपभुक्त पूंजी पर ही नहीं, बल्कि इस पण्य मूल्य के उत्पादन में नियोजित कुल पूंजी पर परिकलित किया जाता है। हम पहले दिखला चुके हैं कि इस उत्पादन दाम का निर्धारण प्रत्येक अकेले औद्योगिक उत्पादक के अलग लागत दाम द्वारा नहीं, बल्कि समस्त उत्पादन क्षेत्र में पूंजी की औसत अवस्थाओं के अंतर्गत जिंस के औसत लागत दाम द्वारा होता है। वास्तव में यह उत्पादन का बाज़ार दाम है – अपने उतार-चढ़ावों से भिन्न औसत बाज़ार दाम। जिंसों के मूल्य का स्वरूप – सामान्यतः अपने को बाज़ार दाम के रूप में, और इसके अलावा, नियामक बाज़ार दाम अथवा उत्पादन के बाज़ार दाम के रूप में व्यक्त करता है – मूल्य का निर्धारण किसी अलग उत्पादक द्वारा जिंसों की एक ख़ास राशि के, अथवा किसी अलग जिंस के उत्पादन के मामले में नहीं, बल्कि सामाजिक रूप में आवश्यक श्रम काल द्वारा, अर्थात सामाजिक उत्पादन की विद्यमान औसत अवस्थाओं के अंतर्गत बाज़ार में जिंस प्रकारों की सामाजिक रूप में आवश्यक कुल राशि के उत्पादन के लिए अपेक्षित श्रम काल द्वारा होता है।

चूंकि इस प्रसंग में निश्चित आंकड़े महत्वहीन हैं, इसलिए हम इसके अलावा यह भी मान लेते हैं कि जलशक्ति पर चलनेवाले कारख़ानों में लागत दाम १०० के बजाय ६० है। चूंकि १५% लाभ के साथ इस जिंस राशि का नियामक बाज़ार उत्पादन दाम=११५, इसलिए जो कारख़ानेदार अपनी मशीनों को पानी पर चलाते हैं, अपनी जिंसों को वे भी ११५, अर्थात बाज़ार दाम का नियमन करनेवाले औसत दाम पर बेचेंगे। तब उनका लाभ १५ के बजाय २५ होगा; उन्हें नियामक उत्पादन दाम १०% का बेशी लाभ होने देता है, इसलिए नहीं कि वे अपनी जिंसें उत्पादन दाम के ऊपर बेचते हैं, बल्कि इसलिए कि वे उन्हें उत्पादन दाम पर बेचते हैं, क्योंकि जिन अवस्थाओं के अंतर्गत उनकी जिंसें उत्पादित होती हैं, अथवा उनकी पूंजी काम करती है, वे असाधारणतः इष्ट अथवा अनुकूल अवस्थाएं हैं, अर्थात ऐसी अवस्थाएं कि जो इस क्षेत्र में विद्यमान औसत अवस्थाओं की अपेक्षा अधिक अनुकूल हैं।

दो बातें तुरंत प्रत्यक्ष हो जाती हैं:

पहली: जो उत्पादक गतिदायी शक्ति के रूप में नैसर्गिक जलप्रपात का उपयोग करते हैं, उनका बेशी लाभ आरंभ में उसी कोटि में आता है कि जिसमें वह सारा बेशी लाभ (और उत्पादन दामों का विवेचन करते समय हम इस कोटि का पहले ही विश्लेषण कर चुके हैं), जो परिचलन प्रक्रिया में लेन-देनों का, बाज़ार दामों में आकस्मिक उतार-चढ़ावों का आकस्मिक परिणाम नहीं है। फलतः, यह बेशी लाभ भी इसी प्रकार इन इष्ट उत्पादकों के वैयक्तिक उत्पादन दाम और उत्पादन के इस समस्त क्षेत्र में बाजार का नियमन करनेवाले सामान्य सामाजिक उत्पादन दाम के बीच अंतर के बराबर ही है। यह अंतर जिंसों के सामान्य उत्पादन दाम के उनके व्यष्टिक उत्पादन दाम पर आधिक्य के बराबर है। एक ओर, व्यष्टिक लागत दाम और इस प्रकार व्यष्टिक उत्पादन दाम, और दूसरी ओर, सामान्य उत्पादन दाम इस आधिक्य की दो नियामक परिसीमाएं हैं। जलशक्ति से उत्पादित जिंसों का मूल्य इसलिए कम होता है कि उन्हें उत्पादित करने के लिए श्रम की कम कुल मात्रा की आवश्यकता पड़ती है, अर्थात स्थिर पूंजी में – मूर्त रूप में – कम श्रम इस पूंजी के अंग की तरह प्रवेश करता है। यहां प्रयुक्त श्रम अधिक उत्पादक है, उसकी व्यष्टिक उत्पादन शक्ति इसी प्रकार के अधिकांश कारख़ानों में प्रयुक्त श्रम से अधिक है। उसकी अधिक उत्पादक शक्ति इस तथ्य में प्रदर्शित होती है कि उतनी ही जिंस राशि का उत्पादन करने के लिए उसे अन्यों की अपेक्षा स्थिर पूंजी की अल्पतर मात्रा की, मूर्त श्रम की अल्पतर मात्रा की आवश्यकता होती है। उसे सजीव श्रम भी कम ही दरकार होता है, क्योंकि पनचक्के को गरम करने की जरूरत नहीं होती। प्रयुक्त श्रम की यह अधिक वैयक्तिक उत्पादिता जिंस के मूल्य को घटा देती है, मगर साथ ही उसके लागत दाम को और उसके द्वारा उत्पादन दाम को भी घटाती है। व्यष्टिक औद्योगिक पूंजीपति के लिए यह अपने आपको उसकी जिंसों के न्यूनतर लागत दाम में अभिव्यक्त करती है। उसे मूर्त श्रम के लिए कम अदायगी करनी होती है और प्रयुक्त कम सजीव श्रम शक्ति के लिए मजदूरी भी कम ही देनी पड़ती है। चूंकि उसकी जिंसों का लागत दाम नीचा होता है, इसलिए उसका व्यष्टिक उत्पादन दाम भी नीचा होता है। उसका लागत दाम १०० के बजाय ६० है। अतः उसका व्यष्टिक उत्पादन दाम ११५ के बजाय सिर्फ़ १०३ १/२ ही होगा (१००:११५ = ६०:१०३ १/२)। उसके व्यष्टिक उत्पादन दाम और सामान्य उत्पादन दाम के बीच अंतर को उसके व्यष्टिक लागत दाम और सामान्य लागत दाम के बीच अंतर सीमित करता है। यह उन परिमाणों में से एक है, जो उसके बेशी लाभ की सीमाओं का निर्माण करते हैं। दूसरा

परिमाण सामान्य उत्पादन दाम है, जिसमें सामान्य लाभ दर एक नियामक कारक के रूप में प्रवेश करती है। अगर कहीं कोयला सस्ता हो जाये, तो उसके व्यष्टिक लागत दाम और सामान्य लागत दाम के बीच अंतर, और उसके साथ-साथ उसका बेशी लाभ भी घट जायेगा। अगर उसे अपनी जिंसें उनके व्यष्टिक दामों पर, अथवा उनके व्यष्टिक मूल्य द्वारा निर्धारित उत्पादन दाम पर बेचने को मजबूर होना पड़े, तो यह अंतर लुप्त हो जायेगा। एक ओर, यह इस तथ्य का परिणाम है कि जिंसें अपने सामान्य बाज़ार दाम पर, प्रतिद्वंद्विता के ज़रिये व्यष्टिक दामों के समीकरण द्वारा उत्पन्न किये गये दाम पर बेची जाती हैं, और दूसरी ओर, इस तथ्य का परिणाम है कि श्रमिक द्वारा गतिशील की जानेवाली अधिक वैयक्तिक श्रम उत्पादिता श्रमिक को नहीं, बल्कि श्रम की समस्त उत्पादिता की ही भांति मालिक को लाभ पहुंचाती है और वह पूंजी की उत्पादिता की तरह प्रकट होती है।

चूंकि सामान्य उत्पादन दाम का स्तर इस बेशी मूल्य की परिसीमाओं में एक है, जिसमें सामान्य लाभ दर का स्तर भी एक कारक होता है, इसलिए यह बेशी लाभ केवल सामान्य तथा व्यष्टिक उत्पादन दाम के बीच अंतर से ही, और परिणामस्वरूप सामान्य तथा व्यष्टिक लाभ दर के बीच अंतर से ही उत्पन्न हो सकता है। इस अंतर के ऊपर आधिक्य उत्पादों की बाज़ार द्वारा नियमित उत्पादन दाम पर नहीं, बल्कि उसके ऊपर बिक्री की पूर्वकल्पना करता है।

दूसरी : भाप के स्थान पर नैसर्गिक जलशक्ति का उपयोग करनेवाले कारख़ानेदार का बेशी लाभ अभी तक किसी भी अन्य बेशी लाभ से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। सारा सामान्य बेशी लाभ, अर्थात वह सारा बेशी लाभ, जो आकस्मिक विक्रयों अथवा बाज़ार दाम के उतार-चढ़ावों के कारण नहीं उत्पन्न हुआ है, किसी पूंजी विशेष की जिंसों के व्यष्टिक उत्पादन दामों और पूंजी द्वारा सामान्यतः इस उत्पादन क्षेत्र में उत्पादित जिंसों के बाज़ार दामों का नियमन करनेवाले सामान्य उत्पादन दाम, अथवा, दूसरे शब्दों में, इस उत्पादन क्षेत्र में निवेशित कुल पूंजी की जिंसों के बाज़ार दामों का नियमन करनेवाले सामान्य उत्पादन दाम के बीच अंतर द्वारा निर्धारित होता है।

लेकिन अब हम अंतर पर आ जाते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में औद्योगिक पूंजीपति अपने बेशी लाभ के लिए, सामान्य लाभ दर द्वारा नियमित उत्पादन दाम से उसके लिए निजी रूप में उत्पन्न बेशी के लिए किस तथ्य का आभारी है?

इसके लिए वह सबसे पहले एक नैसर्गिक शक्ति – जलप्रपात की गतिदायी शक्ति का आभारी है, जो प्रकृति में सहज उपलभ्य है और स्वयं श्रम का उत्पाद नहीं है, जैसे कोयला होता है, जो पानी को भाप में रूपांतरित करता है। इसलिए कोयले का मूल्य होता है, उसकी एक समतुल्य द्वारा अदायगी करनी होती है, और उसकी लागत होती है। जलप्रपात एक नैसर्गिक उत्पादन अभिकर्ता है, जिसके उत्पादन में किसी श्रम का प्रवेश नहीं होता।

लेकिन सारी बात यही नहीं है। जो कारख़ानेदार भाप से मशीनें चलाता है, वह नैसर्गिक शक्तियों का भी प्रयोग करता है, जिनके लिए उसे कुछ भी ख़र्च नहीं करना पड़ता, मगर जो फिर भी श्रम को अधिक उत्पादक बनाती हैं और बेशी मूल्य को और उसके द्वारा लाभ को बढ़ाती हैं, क्योंकि इस प्रकार वे श्रमिकों के लिए आवश्यक निर्वाह साधनों के निर्माण को सस्ता करती हैं। इस प्रकार पूंजी इन नैसर्गिक शक्तियों को बिलकुल उसी तरह से एकाधिकृत कर लेती है कि जिस तरह सहकार, श्रम विभाजन, आदि से उत्पन्न श्रम की सामाजिक प्राकृतिक

शक्तियों को। कारख़ानेदार कोयले के लिए पैसा देता है, मगर पानी की अपनी भौतिक अवस्था बदलने, भाप बनने की क्षमता के लिए नहीं देता, भाप की प्रत्यास्थता, आदि के लिए नहीं देता। प्राकृतिक शक्तियों का, अर्थात उनके द्वारा उत्पादित श्रम शक्ति में वृद्धि का यह एकाधिकरण वाष्प इंजनों से काम करनेवाली सारी पूंजी का सामान्य लक्षण है। यह श्रम के उत्पाद के उस अंश को बढ़ा सकता है, जो मजदूरी में रूपांतरित होनेवाले अंश की सापेक्षता में बेशी मूल्य को व्यक्त करता है। जहां तक वह ऐसा करता है, वह सामान्य लाभ दर को चढ़ाता है, मगर वह कोई बेशी लाभ नहीं उत्पन्न करता, क्योंकि उसमें औसत लाभ के ऊपर व्यष्टिक लाभ का आधिक्य समाविष्ट होता है। इसलिए यह तथ्य कि इस प्रसंग में एक नैसर्गिक शक्ति, जलप्रपात का उपयोग बेशी लाभ उत्पन्न करता है, केवल इस बात के कारण नहीं हो सकता कि श्रम की वर्धित उत्पादिता यहां एक नैसर्गिक शक्ति के उपयोग का परिणाम है। इसके लिए दूसरी रूपांतरकारी परिस्थितियों का होना आवश्यक है।

विलोमतः। उद्योग में नैसर्गिक शक्तियों का उपयोग मात्र सामान्य लाभ दर के स्तर को प्रभावित कर सकता है, क्योंकि वह आवश्यक निर्वाह साधन उत्पादित करने के लिए अपेक्षित श्रम की मात्रा को प्रभावित करता है। लेकिन स्वयं अपने में यह सामान्य लाभ दर से कोई विचलन नहीं उत्पन्न करता, और यहां ठीक इसी मुद्दे में हमारी दिलचस्पी है। इसके अलावा, कोई व्यष्टिक पूंजी किसी विशेष उत्पादन क्षेत्र में अन्य प्रकार से जिस बेशी मूल्य का सिद्धिकरण करती है, – क्योंकि विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में लाभ दरों के विचलन निरंतर एक औसत दर में संतुलित होते रहते हैं, – आकस्मिक विचलनों के अलावा वह लागत दाम में, उत्पादन लागतों में कमी के कारण है। यह कमी या तो इस कारण होती है कि पूंजी का औसत से अधिक मात्राओं में उपयोग किया जाता है, जिससे उत्पादन के faux frais [अनुत्पादक व्यय] कम हो जाते हैं, जबकि श्रम की उत्पादनशीलता को बढ़ानेवाले सामान्य कारण (सहकार, श्रम विभाजन, आदि) अधिक अंश तक, अधिक तीव्रता के साथ प्रभावी हो जा सकते हैं, क्योंकि उनकी सक्रियता का क्षेत्र अधिक बड़ा हो गया है; या यह कमी इस कारण हो सकती है कि कार्यरत पूंजी की रक़म के अलावा श्रम की बेहतर पद्धतियों, नयी ईजादों, सुधरी हुई मशीनरी, रासायनिक निर्माण रहस्यों, आदि का, संक्षेप में, नये और सुधरे हुए, औसत से बेहतर उत्पादन साधनों और उत्पादन विधियों का उपयोग किया जाता है। यहां लागत दाम में कमी और उससे उत्पन्न होनेवाला बेशी लाभ कार्यरत पूंजी जिस प्रकार निवेशित की जाती है, उसके परिणाम हैं। वे या तो इस तथ्य से उत्पन्न होते हैं कि पूंजी एक व्यक्ति के हाथों में असाधारणतः बड़ी राशियों में संकेंद्रित है (एक ऐसी अवस्था कि जो औसत रूप में पूंजी के समान परिमाणों का उपयोग किये जाने के साथ निरसित हो जाती है), या इस तथ्य से उत्पन्न होते हैं कि पूंजी का एक ख़ास परिमाण विशेषकर उत्पादक ढंग से कार्य करता है (एक ऐसी अवस्था कि जो उत्पादन की आपवादिक पद्धति के आम बन जाने या और भी अधिक विकसित पद्धति द्वारा पीछे छोड़े जाने के साथ लुप्त हो जाती है)।

अतः बेशी लाभ का कारण यहां स्वयं पूंजी से उत्पन्न होता है (जिसमें उसके द्वारा गतिशील किया जानेवाला श्रम सम्मिलित है), फिर चाहे उसका मूल नियोजित पूंजी के अपेक्षया अधिक परिमाण में हो या उसके अधिक कुशल अनुप्रयोग में; और सच तो यह है कि कोई ख़ास वजह नहीं कि एक ही उत्पादन क्षेत्र में सारी पूंजी को क्यों एक ही तरीक़े से निवेशित न किया जाये। उलटे, पूंजियों के बीच प्रतिद्वंद्विता इन अंतरों को अधिकाधिक निरसित ही करने की प्रवृत्ति

रखती है। सामाजिक रूप में आवश्यक श्रम काल द्वारा मूल्य का निर्धारण अपने आपको जिंसों के सस्ते होने और जिंसों को उन्हीं अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित करने की अनिवार्यता के ज़रिये व्यक्त करता है। लेकिन जलप्रपात का उपयोग करनेवाले औद्योगिक पूंजीपति के बेशी लाभ के मामले में बात कुछ और है। उसके द्वारा प्रयुक्त श्रम की वर्धित उत्पादनशीलता न पूंजी और स्वयं श्रम से आती है और न पूंजी तथा श्रम से भिन्न, किंतु पूंजी में समाविष्ट किसी नैसर्गिक शक्ति के मात्र अनुप्रयोग से ही आती है। वह प्रकृति की एक शक्ति के अनुप्रयोग से जुड़ी अधिक नैसर्गिक श्रम की उत्पादनशीलता से उत्पन्न होती है, किंतु प्रकृति की ऐसी शक्ति नहीं, जो उसी उत्पादन क्षेत्र में सारी पूंजी के वश में होती है, उदाहरण के लिए, भाप की प्रत्यास्थता। दूसरे शब्दों में, इस उत्पादन क्षेत्र में जब भी पूंजी सामान्यतः निवेशित की जाती है, तो उसके अनुप्रयोग को अनिवार्य नहीं माना जा सकता है। इसके विपरीत, वह प्रकृति की एक एकाधिकरणीय शक्ति है, जो, जलप्रपात की ही भांति, उन लोगों के वश में है, पृथ्वी के कुछ विशेष हिस्से और उसके अनुषंग जिनके हाथों में हैं। श्रम की अधिक उत्पादनशीलता की इस नैसर्गिक आधारिका को उस प्रकार अस्तित्व में लाना हरगिज़ पूंजी की शक्ति में नहीं है कि जिस प्रकार हर पूंजी पानी को भाप में रूपांतरित कर सकती है। यह प्रकृति में केवल स्थानिक रूप में ही पायी जाती है, और जहां कहीं भी वह विद्यमान न हो, वहां वह पूंजी के एक निश्चित निवेश द्वारा स्थापित नहीं की जा सकती। यह मशीनों और कोयले जैसे मालों से, जिन्हें श्रम उत्पादित कर सकता है, नहीं, वरन भूमि के कुछेक हिस्सों में विद्यमान विशिष्ट नैसर्गिक अवस्थाओं से जुड़ी हुई है। जिन कारख़ानेदारों के पास जलप्रपात हैं, वे उन लोगों को इस नैसर्गिक शक्ति का उपयोग करने से वंचित रखते हैं, जिनके पास वे नहीं हैं, क्योंकि ज़मीन, और विशेषकर जलशक्ति से संपन्न धरती, सीमित है। यह औद्योगिक प्रयोजनों के लिए उपलब्ध जलशक्ति की मात्रा को बढ़ाने में बाधक नहीं है, चाहे किसी नियत देश में प्राकृतिक जलप्रपातों की संख्या सीमित ही हो। जलप्रपात को मनुष्य द्वारा उसकी गतिदायी शक्ति का पूर्णतः समुपयोजन करने के लिए बांधा जा सकता है। अगर यह हो, तो पनचक्के को सुधारा जा सकता है, ताकि यथासंभव अधिकतम जलशक्ति का उपयोग किया जा सके; जहां जलपूर्ति के लिए साधारण पनचक्का उपयुक्त न हो, वहां टरबाइनों का उपयोग किया जा सकता है, आदि। इस नैसर्गिक शक्ति का स्वामित्व उसके स्वामी के हाथों में एक एकाधिकार है; यह निवेशित पूंजी की उत्पादनशीलता में वृद्धि की एक शर्त है कि उसे स्वयं पूंजी की उत्पादन प्रक्रिया द्वारा नहीं स्थापित किया जा सकता;[33] यह प्राकृतिक शक्ति, जिसका इस तरह से एकाधिकरण किया जा सकता है, हमेशा ज़मीन से जुड़ी रहती है। ऐसी नैसर्गिक शक्ति प्रसंगाधीन उत्पादन क्षेत्र की सामान्य शर्तों की गणना में नहीं आती, न वह उसकी उन शर्तों में ही आती है, जो आम तौर पर स्थापित की जा सकती हैं।

आइये, अब हम मान लेते हैं कि ये जलप्रपात उस ज़मीन के साथ, जिस पर वे स्थित हैं, ऐसे व्यक्तियों के हाथों में हैं, जिन्हें धरती के इन हिस्सों का स्वामी माना जाता है, अर्थात जो भूस्वामी हैं। ये मालिक जलप्रपातों में पूंजी के निवेश को और पूंजी द्वारा उनके समुपयोजन

---

[33] अतिरिक्त लाभ के बारे में देखिये *Inquiry* [*into those Principles, Respecting the Nature of Demand and the Necessity of Consumption, lately advocated by Mr. Malthus*, London, 1821. — सं०] (माल्थस के विरुद्ध)।

को रोकते हैं। वे इस तरह के उपयोग की अनुमति दे सकते हैं या निषेध कर सकते हैं। लेकिन पूंजी जलप्रपात को कोई अपने से पैदा नहीं कर सकती। इसलिए इस जलप्रपात के प्रयोग से जो बेशी लाभ उत्पन्न होता है, वह पूंजी के कारण नहीं, वरन एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति के उपयोग के कारण है, जिसे पूंजी द्वारा एकाधिकृत किया जा सकता है और कर लिया गया है। इन परिस्थितियों में बेशी लाभ किराया ज़मीन में रूपांतरित हो जाता है, अर्थात जलप्रपात के स्वामी के क़ब्ज़े में चला जाता है। अगर कारख़ानेदार जलप्रपात के स्वामी को १० पाउंड प्रति वर्ष देता है, तो उसका लाभ १५ पाउंड है, अर्थात १०० पाउंड पर १५%, जो अब उसकी उत्पादन लागत बन जाते हैं; और उसकी स्थिति अब अपने उत्पादन क्षेत्र में अन्य उन सभी पूंजीपतियों के समान ही या संभवतः बेहतर है, जो भाप से मशीनें चलाते हैं। पूंजीपति अगर जलप्रपात का स्वयं स्वामी हो, तो इससे बात में रत्ती भर भी अंतर नहीं आयेगा। ऐसी हालत में वह १० पाउंड का बेशी लाभ पहले ही की तरह अपने जेब में जलप्रपात का स्वामी होने की हैसियत से डालेगा, न कि पूंजीपति होने की हैसियत से; और ठीक इसीलिए कि यह बेशी अपने में उसकी पूंजी से नहीं, वरन उसकी पूंजी से भिन्न एक सीमित नैसर्गिक शक्ति के नियंत्रण से उद्भूत होती है, जिसे एकाधिकृत किया जा सकता है, यह किराया ज़मीन में रूपांतरित होती है।

पहली बात, यह प्रत्यक्ष है कि यह किराया हमेशा विभेदक किराया होता है, क्योंकि यह जिंसों के सामान्य उत्पादन दाम में एक निर्धारक कारक के रूप में नहीं प्रवेश करता, बल्कि उस पर आधारित होता है। यह अनिवार्यतः एक ओर, एकाधिकृत नैसर्गिक शक्ति पर प्रभुत्व रखनेवाली किसी विशेष पूंजी के व्यष्टिक उत्पादन दाम, और दूसरी ओर, संबद्ध उत्पादन क्षेत्र में निवेशित कुल पूंजी के सामान्य उत्पादन दाम के बीच अंतर से उत्पन्न होता है।

दूसरी बात, यह किराया ज़मीन नियोजित पूंजी अथवा उसके द्वारा हस्तगत किये गये श्रम की उत्पादनशीलता में निरपेक्ष वृद्धि से नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि यह जिंसों के मूल्य को सिर्फ़ घटा ही सकता है; यह किसी ख़ास उत्पादन क्षेत्र में निवेशित विशिष्ट पृथक पूंजियों की पूंजी के उन निवेशों की तुलना में अधिक सापेक्ष फलदायिता के कारण उत्पन्न होता है, जिन्हें उत्पादनशीलता के अनुकूल इन असाधारण नैसर्गिक अवस्थाओं के बाहर रखा जाता है। उदाहरण के लिए, अगर भाप का उपयोग इस तथ्य के बावजूद जलशक्ति के उपयोग के मुक़ाबले अत्यधिक सुलाभ प्रदान करता हो कि कोयले में मूल्य होता है, जबकि पानी में नहीं होता, और अगर इन सुलाभों से व्यय की पूरी-पूरी प्रतिपूर्ति हो जाती है, तो जलशक्ति का प्रयोग नहीं किया जायेगा और वह कोई बेशी लाभ नहीं पैदा करेगी और इसलिए कोई किराया भी नहीं पैदा करेगी।

तीसरी बात, नैसर्गिक शक्ति बेशी लाभ का स्रोत नहीं है, बल्कि उसका नैसर्गिक आधार मात्र है, क्योंकि यह नैसर्गिक आधार श्रम की उत्पादनशीलता में असाधारण वृद्धि होने देता है। इसी प्रकार उपयोग मूल्य सामान्य रूप में विनिमय मूल्य का वाहक होता है, न कि उसका कारण। वही उपयोग मूल्य अगर श्रम के बिना प्राप्त किया जा सके, तो उसमें कोई विनिमय मूल्य नहीं होगा, मगर फिर भी उसमें पहले ही की तरह उपयोग मूल्य के नाते वही नैसर्गिक उपयोगिता बनी रहेगी। दूसरी ओर, किसी भी चीज में उस समय तक विनिमय मूल्य नहीं हो सकता कि जब तक उपयोग मूल्य न हो, अर्थात जब तक वह श्रम की नैसर्गिक वाहक न हो। अगर ऐसा न हुआ होता कि विभिन्न मूल्यों का उत्पादन दामों में, और विभिन्न व्यष्टिक उत्पादन दामों का बाजार के नियामक सामान्य उत्पादन दाम में समकरण हो जाता है, तो जलप्रपात

के उपयोग के ज़रिये श्रम उत्पादिता में कोरी वृद्धि ने इस जलप्रपात की सहायता से उत्पादित जिंसों के दाम को इन जिंसों में समाविष्ट लाभ के अंश को बढ़ाये बिना बस नीचा ही किया होता। इसी प्रकार, दूसरी ओर, अगर यह बात न होती कि पूंजी अपने द्वारा प्रयुक्त श्रम की नैसर्गिक तथा सामाजिक उत्पादिता को अपने हक़ की तरह हस्तगतकरण कर लेती है, तो स्वयं यह वर्धित श्रम उत्पादिता बेशी मूल्य में परिवर्तित न हो पाती।

चौथी बात, स्वयं अपने में जलप्रपात के निजी स्वामित्व का बेशी मूल्य (लाभ) के सृजन से, और फलतः सामान्यरूपेण उस जिंस के, जिसे जलप्रपात के द्वारा उत्पादित किया जाता है, दाम के सृजन से कोई संबंध नहीं है। यह बेशी लाभ तो तब भी रहेगा कि अगर भू-संपत्ति का अस्तित्व ही न हो, मिसाल के लिए, अगर कारखानेदार द्वारा उस जमीन का बेवारिसी ज़मीन की तरह उपयोग किया जाता हो, जिस पर यह जलप्रपात स्थित है। अतः, भू-संपत्ति मूल्य के उस अंश का सृजन नहीं करती, जो बेशी लाभ में रूपांतरित होता है, बल्कि बस भूस्वामी को, जलप्रपात के मालिक को इसी में समर्थ बनाती है कि फुसलाकर इस बेशी लाभ को कारख़ानेदार के जेब से अपने जेब में डाल ले। वह इस तरह के बेशी लाभ की उत्पत्ति का कारण नहीं है, मगर उसके किराया ज़मीन के रूप में रूपांतरण का, और इसलिए लाभ, अथवा पण्य दाम के इस अंश के ज़मीन अथवा जलप्रपात के स्वामी द्वारा हस्तगतकरण का कारण है।

पांचवीं बात, यह प्रत्यक्ष है कि जलप्रपात का दाम, अर्थात वह दाम, जो भूस्वामी उसे किसी अन्य पक्ष को या स्वयं कारख़ानेदार तक को बेच देने पर प्राप्त करेगा, सीधे जिंसों के उत्पादन दाम में प्रविष्ट नहीं हो जाता, यद्यपि वह कारख़ानेदार के व्यष्टिक लागत दाम में प्रवेश करता है, क्योंकि यहां किराया वाष्प मशीनों द्वारा उत्पादित समान जिंसों के उत्पादन दाम से उत्पन्न होता है और इस दाम का नियमन जलप्रपात से निरपेक्षतः होता है। इसके अलावा, जलप्रपात का यह दाम समूचे तौर पर एक अयुक्तिसंगत अभिव्यक्ति है, लेकिन उसकी ओट में एक वास्तविक आर्थिक संबंध छिपा हुआ है। सामान्यतः ज़मीन की ही तरह, किसी भी और दूसरी नैसर्गिक शक्ति की ही भांति जलप्रपात का भी कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि वह किसी मूर्त श्रम को नहीं व्यक्त करता, और, फलतः उसका कोई दाम भी नहीं है, जो सामान्यतः मूल्य की द्रव्यगत अर्थों में अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं होता। जहां मूल्य ही नहीं होगा, वहां eo ipso [उसके कारण] द्रव्य में व्यक्त करने के लिए भी कुछ नहीं होगा। यह दाम पूंजीकृत किराये से अधिक कुछ भी नहीं है। भूस्वामित्व भूस्वामी को व्यष्टिक लाभ तथा औसत लाभ के बीच अंतर को हस्तगत करने में समर्थ बना देता है। इस प्रकार प्राप्त लाभ का, जिसका हर साल नवीकरण होता रहता है, पूंजीकरण किया जा सकता है और तब वह स्वयं नैसर्गिक शक्ति के दाम की तरह प्रकट होता है। अगर जलप्रपात का इस्तेमाल करनेवाले कारख़ानेदार द्वारा सिद्धिकृत बेशी लाभ १० पाउंड प्रति वर्ष है, और औसत ब्याज ५% है, तो ये १० पाउंड २०० पाउंड की पूंजी पर वार्षिक ब्याज को व्यक्त करते हैं और जलप्रपात कारख़ानेदार से अपने मालिक के लिए जो वार्षिक १० पाउंड हथियाना संभव बनाता है, उनका पूंजीकरण तब स्वयं जलप्रपात के पूंजी मूल्य की तरह प्रकट होता है। यह बात कि मूल्य स्वयं जलप्रपात में नहीं है और यह कि उसका दाम पूंजीवादी ढंग से परिकलित हस्तगत किये गये बेशी लाभ का प्रतिबिंब मात्र है, इस तथ्य से तुरंत प्रत्यक्ष हो जाती है कि २०० पाउंड का दाम बस १० पाउंड के बेशी लाभ को २० वर्ष से गुणा करने से प्राप्त फल को ही व्यक्त करता है, जबकि – अन्य अवस्थाओं के यथावत बने रहने पर – यही जलप्रपात अपने स्वामी के लिए इन १० पाउंड

को प्रति वर्ष वर्षों की असीम संख्या – ३० वर्ष, १०० वर्ष, अथवा x वर्ष – तक हस्तगत करने में समर्थ बना देगा; और जबकि दूसरी ओर, अगर कोई नयी उत्पादन विधि, जो जलशक्ति पर लागू नहीं होती है, भापचालित मशीनों द्वारा उत्पादित जिंसों के लागत दाम को घटाकर १०० पाउंड से ६० पाउंड कर देती है, तो बेशी लाभ, और उसके द्वारा जलप्रपात का किराया और इस प्रकार दाम, विलुप्त हो जायेगा।

इस प्रकार विभेदक किराये की सामान्य संकल्पना का वर्णन करने के बाद हम अब वास्तविक कृषि में उसके विवेचन को लेंगे। जो बात कृषि पर लागू होती है, वह समूचे तौर पर खनन उद्योग पर भी लागू होगी।

अध्याय ३६

विभेदक किराये का पहला रूप (विभेदक किराया I)

निम्नलिखित उक्तियों में रिकार्डो बिलकुल सही हैं:

"किराया हमेशा पूंजी तथा श्रम की दो समान मात्राओं के नियोजन द्वारा प्राप्त उपज के बीच अंतर होता है।" (*Principles*, p. 59.) [उनका आशय विभेदक किराया है, क्योंकि वह मानते हैं कि विभेदक किराये के अलावा और कोई किराया नहीं होता।] उन्हें यह और जोड़ना चाहिए था कि "भूमि के समान क्षेत्रों पर", क्योंकि बात किराया ज़मीन की है, न कि सामान्यतः बेशी लाभ की।

दूसरे शब्दों में, बेशी लाभ अगर सामान्य हो और परिचलन प्रक्रिया में आकस्मिक घटनाओं के कारण न हो, तो वह सदा पूंजी तथा श्रम की दो समान मात्राओं के उत्पादों के बीच अंतर की तरह उत्पन्न होता है, और पूंजी तथा श्रम की दो समान मात्राएं जब ज़मीन के समान क्षेत्रों पर असमान परिणामों के साथ नियोजित की जाती हैं, तो यह बेशी लाभ किराया ज़मीन में रूपांतरित हो जाता है। इसके अलावा, इस बेशी लाभ का निवेशित पूंजी की समान मात्राओं के असमान परिणामों से उत्पन्न होना किसी भी प्रकार अनिवार्य नहीं है। विभिन्न निवेश पूंजी की असमान मात्राओं का भी उपयोग कर सकते हैं। वास्तव में, आम तौर पर ऐसा ही होता है। लेकिन समान अंश, यथा प्रत्येक पूंजी के १००-१०० पाउंड, भी असमान परिणाम उत्पन्न करते हैं, अर्थात उनकी लाभ दरें भिन्न होती हैं। यह पूंजी निवेश के किसी भी क्षेत्र में बेशी लाभ के अस्तित्व की सामान्य पूर्वापेक्षा है। दूसरी पूर्वापेक्षा है इस बेशी लाभ का किराया ज़मीन के रूप में (लाभ से भिन्न रूप की तरह सामान्यतः किराये के रूप में) रूपांतरण; इसका प्रत्येक प्रसंग में अनुसंधान किया जाना चाहिए कि कब, कहां, और किन अवस्थाओं के अंतर्गत यह रूपांतरण होता है।

रिकार्डो निम्न उक्ति में भी सही हैं, बशर्ते कि उसे विभेदक किराये तक सीमित कर दिया जाये:

"जो कुछ भी उसी ज़मीन पर अथवा नयी ज़मीन पर प्राप्त उपज में असमानता को घटाता है, वह किराये को घटाने की प्रवृत्ति रखता है, और जो कुछ भी इस असमानता को बढ़ाता है, वह अनिवार्यतः विपरीत परिणाम उत्पन्न करता है और उसे चढ़ाने की प्रवृत्ति रखता है।" (पृष्ठ ७४)।

लेकिन इन कारणों में केवल सामान्य कारण (उर्वरता और अवस्थिति) ही नहीं होते, बल्कि ये भी होते हैं: १) करों का वितरण, इस दृष्टि से कि वह समान रूप में वितरित है

या नहीं; जब वह, जैसे इंगलैंड में है, केंद्रीकृत नहीं होता और जब कर किराये पर नहीं, ज़मीन पर लगाया जाता है, तब हमेशा अंतोक्त बात ही होती है; २) देश के विभिन्न भागों में कृषि के विकास में अंतर से पैदा होनेवाली असमानताएं, क्योंकि अपने पारंपरिक स्वरूप के कारण उत्पादन की यह शाखा उद्योग के मुक़ाबले ज्यादा मुश्किल से सम विकास करती है; और ३) पूंजीपति किरायेदारों के बीच पूंजी के वितरण में असमानता। चूंकि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली द्वारा कृषि पर आक्रमण के बाद स्वतंत्र रूप में उत्पादन करनेवाले काश्तकारों का उजरती मज़दूरों में रूपांतरण वस्तुतः इस उत्पादन प्रणाली की अंतिम विजय है, उत्पादन की किसी भी अन्य शाखा की बनिस्बत यहां ये असमानताएं अधिक होती हैं।

ये प्रारंभिक टिप्पणियां करने के बाद मैं पहले रिकार्डो, आदि के विश्लेषण के मुक़ाबले में अपने विश्लेषण की ख़ास-ख़ास विशेषताओं का सारांश प्रस्तुत करूंगा।

हम पहले समान आकार के भिन्न-भिन्न भूखंडों पर लगायी पूंजी की समान मात्राओं के असमान परिणामों पर; अथवा, असमान आकार के मामले में, समान क्षेत्रफलों के आधार पर परिकलित परिणामों पर विचार करेंगे।

इन असमान परिणामों के – पूंजी से सर्वथा निरपेक्ष – दो सामान्य कारण हैं: १) **उर्वरता**। (इस मुद्दे के संदर्भ में इसका विवेचन करना आवश्यक होगा कि धरती की नैसर्गिक उर्वरता से क्या अभिप्राय है और उसमें कौनसे कारक सन्निहित हैं।) २) ज़मीन की **अवस्थिति**। उपनिवेशों के प्रसंग में यह एक निर्णायक कारक है और सामान्यतः उस क्रम का निर्धारण करता है, जिसमें भूखंडों को काश्त किया जा सकता है। इसके अलावा, यह प्रत्यक्ष है कि विभेदक किराये के ये दोनों भिन्न कारण – उर्वरता तथा अवस्थिति – विपरीत दिशाओं में कार्य कर सकते हैं। कोई भूखंड अत्यधिक अनुकूल स्थान पर स्थित हो सकता है, मगर फिर भी उर्वरता की दृष्टि से अत्यंत हीन हो सकता है, और इसके विपरीत भी हो सकता है। यह तथ्य महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह इस बात का स्पष्टीकरण करता है कि किसी देश की ज़मीन को काश्त में लाने के सिलसिले का अच्छी ज़मीन से शुरू करके ख़राब ज़मीन पर जाना बिलकुल इसके विपरीत क्रम की तरह ही क्योंकर संभव है। अंततः, यह स्पष्ट है कि सामान्यरूपेण सामाजिक उत्पादन की प्रगति का परिणाम एक ओर तो स्थानीय बाज़ार पैदा करने और संचार तथा परिवहन सुविधाओं की स्थापना द्वारा अवस्थितियों को सुधारने के माध्यम से किराया ज़मीन के कारण के नाते अवस्थिति से उत्पन्न अंतरों का समीकरण करना होता है; दूसरी ओर, यह एक तरफ़ कृषि को उद्योग से पृथक करके और बड़े उत्पादन केंद्रों का निर्माण करके, और दूसरी तरफ़, उसके साथ-साथ कृषिप्रधान इलाक़ों को सापेक्षतया वियुक्त करके भूखंडों की अलग-अलग अवस्थितियों में अंतरों को बढ़ाती है।

लेकिन अवस्थिति के बारे में इस मुद्दे को हम फ़िलहाल अपने विचार के बाहर रहने देंगे और अपने को नैसर्गिक उर्वरता तक ही सीमित रखेंगे। जलवायु कारकों, आदि के अलावा नैसर्गिक उर्वरता में अंतर उपरिमृदा की रासायनिक संरचना पर, अर्थात उसके भिन्न पादप पोषणांश पर निर्भर करता है। लेकिन अगर इस लिहाज़ से दो भूखंडों की रासायनिक संरचना और नैसर्गिक उर्वरता को समान मान लिया जाये, तो वास्तविक प्रभावी उर्वरता में इसके अनुसार भिन्नता होती है कि ये पादप पोषण तत्व ऐसे रूप में हैं कि नहीं, जिसमें उन्हें न्यूनाधिक आसानी

से ग्रात्मसात किया जा सकता है ग्रौर फ़सलों का पोषण करने के लिए प्रत्यक्ष उपयोग में लाया जा सकता है। इसलिए यह कृषि में ग्रंशतः रासायनिक ग्रौर ग्रंशतः यांत्रिक विकास पर निर्भर करेगा कि समान नैसर्गिक उर्वरतावाले भूखंडों पर यह उर्वरता किस हद तक सुनिश्चित की जा सकती है। मिट्टी का एक वस्तुपरक गुण होने के बावजूद उर्वरता हमेशा एक ग्रार्थिक संबंध, कृषि में विद्यमान रासायनिक तथा यांत्रिक विकास के स्तर से संबंध को सूचित करती है ग्रौर इसलिए विकास के इस स्तर के साथ बदलती रहती है। ग्राया कि रासायनिक साधनों (जैसे सख़्त चिकनी मिट्टी पर कतिपय द्रव उर्वरकों का प्रयोग ग्रौर भारी मृण्मय मिट्टियों का भस्मीकरण) ग्रथवा यांत्रिक साधनों (जैसे भारी मिट्टियों के लिए विशेष हलों) द्वारा उन बाधाग्रों को दूर किया जा सकता है, जिन्होंने समान उर्वरतावाली मिट्टी को वस्तुतः कम उर्वर कर दिया था (जल निकासी भी इसी मद में ग्राती है)। ग्रथवा उसके द्वारा काश्त में लायी जानेवाली मिट्टियों के ग्रनुक्रम तक को बदला जा सकता है, जैसे, मिसाल के लिए, ब्रिटिश खेती के विकास की एक ख़ास ग्रवधि में हलकी बलुई मिट्टी ग्रौर भारी मृण्मय मिट्टी के मामले में था। यह एक बार फिर इस बात को दर्शाता है कि इतिहासतः, काश्त में लायी गयी मिट्टियों के ग्रनुक्रम में, ग्रधिक उर्वर मिट्टियों से कम उर्वर मिट्टियों पर, ग्रौर तत्प्रतिक्रमात भी, जाना संभव है। यही परिणाम मिट्टी की संरचना में कृत्रिम रूप से किये सुधार द्वारा या कृषि विधियों में सिर्फ़ परिवर्तन द्वारा भी प्राप्त किये जा सकते हैं। ग्रंततः, यही परिणाम ग्रवमृदा की भिन्न ग्रवस्थाग्रों की बदौलत मृदा प्रकारों के सोपानिक विन्यास में बदलाव द्वारा भी उत्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि तब ग्रवमृदा भी जोती जानी ग्रौर ऊपरी परतों में बदली जानी लगती है। यह ग्रंशतः नयी कृषि विधियों के प्रयोग (जैसे चारा घास की खेती) ग्रौर ग्रंशतः यांत्रिक साधनों के प्रयोग पर, जो या तो ग्रवमृदा को ऊपरी परतों में पलट देते हैं, उसे उपरिमृदा के साथ मिश्रित कर देते हैं, या ग्रवमृदा को पलटे बिना जुताई कर देते हैं, निर्भर करता है।

विभिन्न भूखंडों की विभेदक उर्वरता पर ये सभी प्रभाव इस तरह के हैं कि ग्रार्थिक उर्वरता के दृष्टिकोण से श्रम उत्पादिता का स्तर, इस प्रसंग में कृषि की नैसर्गिक मृदा उर्वरता को सीधे समुपयोज्य बनाने की क्षमता—जो विकास की विभिन्न ग्रवधियों में भिन्न-भिन्न होती है—तथाकथित नैसर्गिक मृदा उर्वरता में उतना ही महत्व प्राप्त कर लेता है कि जितना उसकी रासायनिक संरचना तथा ग्रन्य नैसर्गिक गुणों को प्राप्त है।

ग्रतः, हम कृषि में विकास के एक विशेष चरण के ग्रस्तित्व की कल्पना करते हैं। इसके ग्रलावा हम यह कल्पना करते हैं कि मृदा प्रकारों का सोपानिक विन्यास विकास के इस चरण के ग्रनुरूप है, जैसा कि भिन्न-भिन्न भूखंडों पर एककालिक पूंजी निवेशों के प्रसंग में निस्संदेह हमेशा होता है। तब विभेदक किराया या तो ग्रारोही या ग्रवरोही ग्रनुक्रम बना सकता है, क्योंकि यद्यपि वस्तुतः कृष्ट भूखंडों की पूर्ण समष्टि के लिए ग्रनुक्रम दिया होता है, फिर भी इस ग्रनुक्रम को उत्पन्न करनेवाली गति शृंखला ग्रनिवार्यतः बन चुकी होती है।

मान लीजिये कि मिट्टी के चार प्रकार हैं—क, ख, ग, घ। इसके ग्रलावा, मान लीजिये कि एक क्वार्टर गेहूं का दाम = ३ पाउंड, ग्रथवा ६० शिलिंग है। चूंकि किराया केवल विभेदक किराया है, इसलिए सबसे ख़राब मिट्टी के लिए ६० शिलिंग प्रति क्वार्टर का यह दाम उत्पादन दाम के बराबर है, ग्रर्थात पूंजी जमा ग्रौसत लाभ के बराबर है।

मान लीजिये कि क सबसे ख़राब मिट्टी है, जो ख़र्च किये गये हर ५० शिलिंग के लिए १ क्वार्टर = ६० शिलिंग पैदा करती है; ग्रतः, लाभ १० शिलिंग, ग्रर्थात २०% है।

मान लीजिये कि उसी व्यय के बदले ख २ क्वार्टर = १२० शिलिंग देती है। इसका मतलब ७० शिलिंग लाभ, अथवा ६० शिलिंग बेशी लाभ होगा।

मान लीजिये कि उसी व्यय के बदले ग ३ क्वार्टर = १८० शिलिंग देती है; कुल लाभ = = १३० शिलिंग; बेशी लाभ = १२० शिलिंग।

मान लीजिये कि घ ४ क्वार्टर = २४० शिलिंग = १८० शिलिंग बेशी लाभ पैदा करती है।

अब हमारे पास निम्न अनुक्रम होगा:

तालिका I

मृदा प्रकार	उत्पाद		पेशगी पूंजी	लाभ		किराया	
	क्वार्टर	शिलिंग		क्वार्टर	शिलिंग	क्वार्टर	शिलिंग
क	१	६०	५०	१/६	१०	—	—
ख	२	१२०	५०	१ १/६	७०	१	६०
ग	३	१८०	५०	२ १/६	१३०	२	१२०
घ	४	२४०	५०	३ १/६	१६०	३	१८०
योग	१० क्वा०	६०० शि०				६ क्वा०	३६० शि०

अलग-अलग किराये हैं: घ = १६० शि० − १० शि०, अथवा घ तथा क के बीच का अंतर; ग = १३० शि० − १० शि०, अथवा ग तथा क के बीच का अंतर; ख = ७० शि० − १० शि०, अथवा ख तथा क के बीच का अंतर; और ख, ग तथा घ के लिए कुल किराया = ६ क्वार्टर = ३६० शिलिंग, जो घ और क, ग और क के, तथा ख और क के बीच अंतरों का योग है।

यह अनुक्रम, जो एक नियत अवस्था में एक नियत उत्पाद को व्यक्त करता है, विविक्त रूप में लिये जाने पर (हम पहले ही इसके कारण दे चुके हैं कि व्यवहार में ऐसा क्यों हो सकता है) घ से उतरकर क पर, अथवा उर्वर मिट्टी से अनुर्वर मिट्टी पर आ सकता है, अथवा क से चढ़कर घ पर, अपेक्षाकृत अनुर्वर मिट्टी से अधिकाधिक उर्वर मिट्टी पर जा सकता है, अथवा अंततः बदलता, अर्थात कभी चढ़, तो कभी उतर सकता है,−मिसाल के लिए, घ से ग, ग से क, और क से ख पर जा सकता है।

अवरोही अनुक्रम के प्रसंग में प्रक्रम इस प्रकार था: एक क्वार्टर गेहूं का दाम क्रमशः चढ़कर, मसलन, १५ शिलिंग से ६० शिलिंग हो गया। जैसे ही घ द्वारा उत्पादित ४ क्वार्टर (हम इन्हें लाखों क्वार्टर का सूचक मान सकते हैं) पर्याप्त नहीं रहे कि गेहूं का दाम चढ़कर उस बिंदु पर पहुंच गया, जहां पूर्ति-न्यूनता को ग की पैदावार पूरा कर सकती थी। कहने

का मतलब यह कि गेहूं का दाम बढ़कर २० शिलिंग प्रति क्वार्टर हो गया होगा। जब वह ३० शिलिंग प्रति क्वार्टर पर पहुंच गया, तब ख को काश्त में लाना संभव हो गया, और जब वह ६० शिलिंग पर पहुंच गया, तो क को काश्त करना संभव हो गया; और निवेशित पूंजी को २०% से नीची लाभ दर पर संतोष नहीं करना पड़ा। इस प्रकार, घ के लिए उसके द्वारा उत्पादित ४ क्वार्टर के लिए आरंभ में ५ शिलिंग प्रति क्वार्टर = २० शिलिंग; फिर १५ शिलिंग प्रति क्वार्टर = ६० शिलिंग, और इसके बाद ४५ शिलिंग प्रति क्वार्टर = १८० शिलिंग किराया स्थापित हुआ।

अगर घ की लाभ दर मूलतः इसी प्रकार = २०% थी, तो ४ क्वार्टर गेहूं पर उसका कुल लाभ भी केवल १० शिलिंग था, लेकिन जब भाव १५ शिलिंग था, तब यह उसको बनिस्बत ज्यादा अनाज को व्यक्त करता था कि जब भाव ६० शिलिंग है। लेकिन चूंकि अनाज श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन में प्रवेश करता है और प्रत्येक क्वार्टर के एक हिस्से को मजदूरी के कुछ अंश की और दूसरे को स्थिर पूंजी की प्रतिपूर्ति करनी होती है, इसलिए इन अवस्थाओं के अंतर्गत बेशी मूल्य अधिक ऊंचा था और फलतः अन्य सभी बातों के समान होने के कारण लाभ दर भी अधिक ऊंची थी। (लाभ दर के प्रश्न का विशेष, और अधिक विस्तार के साथ, विश्लेषण करना होगा।)

दूसरी ओर, अगर अनुक्रम विपरीत क्रम में होता, अर्थात अगर प्रक्रम क से शुरू होता, तो गेहूं का भाव पहले ६० शिलिंग प्रति क्वार्टर के ऊपर चढ़ जाता, जब नयी जमीन को काश्त में लाना होता। लेकिन चूंकि ख द्वारा आवश्यक पूर्ति, २ क्वार्टर की पूर्ति, पैदा की जायेगी, इसलिए दाम गिरकर फिर ६० शिलिंग हो जायेगा; क्योंकि ख ने गेहूं ३० शिलिंग प्रति क्वार्टर की लागत पर पैदा किया है, मगर उसे ६० शिलिंग के भाव बेचा है, क्योंकि पूर्ति बस मांग को पूरा करने के लिए ही काफ़ी थी। अतः आरंभ में ख के लिए, और इसी तरीक़े से ग और घ के लिए, ६० शिलिंग किराया स्थापित हुआ; इसमें लगातार यह माना जा रहा है कि बाजार दाम ६० शिलिंग बना रहा है, यद्यपि ग और घ ने क्रमशः २० और १५ शिलिंग वास्तविक मूल्य का गेहूं पैदा किया है, क्योंकि क द्वारा पैदा किये एक क्वार्टर की पूर्ति कुल मांग को तुष्ट करने के लिए सदा ही की भांति आवश्यक थी। इस प्रसंग में मांग में पूर्ति से अधिक वृद्धि, जिसकी पहले क द्वारा, और फिर क तथा ख द्वारा तुष्टि की गयी थी, ख, ग तथा घ को क्रमशः काश्त में लाना संभव नहीं बना सकती थी, बल्कि बस काश्त के क्षेत्र में सामान्य विस्तार ही करा सकती थी और अधिक उर्वर जमीनें बाद में जाकर ही काश्त में आयी होतीं।

पहले अनुक्रम में दाम में वृद्धि किराये को चढ़ा देगी और लाभ दर को घटा देगी। इस तरह की घटत को प्रतिकारक अवस्थाओं द्वारा पूर्णतः अथवा अंशतः निरुद्ध किया जा सकता है। इस विषय का आगे चलकर अधिक विस्तार के साथ विवेचन करना होगा। यह नहीं भुलाया जाना चाहिए कि सामान्य लाभ दर बेशी मूल्य द्वारा सभी उत्पादन क्षेत्रों में समान रूप में नहीं निर्धारित की जाती है। यह कृषि लाभ नहीं है कि जो औद्योगिक लाभ का निर्धारण करता है, बल्कि इसके विपरीत होता है। लेकिन इसके बारे में अधिक बाद में।

दूसरे अनुक्रम में निवेशित पूंजी पर लाभ दर उतनी ही बनी रहेगी। लाभ का परिमाण कम अनाज द्वारा व्यक्त किया जायेगा, लेकिन अनाज का सापेक्ष दाम – अन्य जिंसों के सापेक्ष दाम की तुलना में – चढ़ जायेगा। तथापि लाभ में वृद्धि – जहां भी ऐसी वृद्धि होती है – पूंजीपति किरायेदार फ़ार्मर के जेब में जाने और बढ़ते लाभ के रूप में सामने आने के बजाय किराये के रूप में लाभ से पृथक्कित हो जाती है। अलबत्ता अनाज का दाम यहां कल्पित अवस्थाओं के अंतर्गत अपरिवर्तित बना रह सकता है।

विभेदक किराये की गति और वृद्धि स्थिर दामों तथा इसी प्रकार बढ़ते हुए दामों के लिए भी और निकृष्ट से श्रेष्ठतर मिट्टियों में निरंतर आरोहण के लिए और इसी प्रकार श्रेष्ठ से निकृष्टतर मिट्टियों में निरंतर अवरोहण के लिए भी वही बनी रहेंगी।

अभी तक हमने यह माना है: १) कि एक अनुक्रम में दाम चढ़ता है और दूसरे में स्थिर बना रहता है; २) कि श्रेष्ठतर से निकृष्ट मिट्टी में, अथवा निकृष्ट से श्रेष्ठतर मिट्टी में निरंतर अवरोहण-आरोहण होता है।

लेकिन अब मान लेते हैं कि अनाज की मांग अपने प्रारंभिक १० क्वार्टर से बढ़कर १७ क्वार्टर हो जाती है; इसके अलावा यह कि निकृष्टतम मिट्टी क की एक और मिट्टी क से प्रतिस्थापना हो जाती है, जो ६० शिलिंग के उत्पादन दाम (५० शिलिंग लागत जमा २०% लाभ के लिए १० शिलिंग) पर १ १/३ क्वार्टर पैदा करती है, जिससे कि उसका प्रति क्वार्टर उत्पादन दाम = ४५ शिलिंग; अथवा, पुरानी मिट्टी क संभवतः निरंतर यौक्तिक कृषि के ज़रिये सुधर गयी हो, अथवा उसी लागत पर अधिक फलदायी ढंग से काश्त में लायी जा रही हो, मसलन, तिपतिया चारे, आदि को शुरू करके, जिससे पूंजी के उसी निवेश से उसकी पैदावार बढ़कर १ १/३ क्वार्टर हो जाती है। यह भी मान लीजिये कि मृदा प्रकार ख, ग तथा घ पहले जितनी ही उपज देते हैं, मगर नये मृदा प्रकार भी आ गये हैं, उदाहरण के लिए क', जिसकी उर्वरता क और ख के बीच है, और इसी प्रकार ख और ग के बीच की उर्वरता के ख' और ख"। अब हमें निम्न परिघटनाएं लक्षित होंगी:

पहली: एक क्वार्टर गेहूं का उत्पादन दाम, अथवा उसका नियामक बाज़ार दाम ६० शिलिंग से गिरकर ४५ शिलिंग हो जाता है, अथवा २५% गिर जाता है।

दूसरी: खेती अधिक उर्वर मिट्टी से कम उर्वर मिट्टी पर, और कम उर्वर मिट्टी से अधिक उर्वर मिट्टी पर साथ-साथ चलती है। मिट्टी क' क से अधिक उर्वर है, किंतु अभी तक काश्त की जानेवाली मिट्टियों ख, ग तथा घ से कम उर्वर है। मिट्टी ख' और ख" क, क' तथा ख से अधिक, किंतु ग तथा घ से कम उर्वर है। इस प्रकार, अनुक्रम आड़े-तिरछे ढंग से चलता है। खेती क की अपेक्षा निरपेक्षरूपेण कम उर्वर मिट्टी पर नहीं जाती, बल्कि अभी तक के सबसे उर्वर ग तथा घ प्रकारों के लिहाज़ से सापेक्षतया कम उर्वर मिट्टी पर जाती है; दूसरी ओर, खेती निरपेक्षतः अधिक उर्वर मिट्टी पर नहीं जाती, बल्कि अभी तक की सबसे कम उर्वर क, अथवा क तथा ख के लिहाज़ से अपेक्षाकृत अधिक उर्वर ज़मीन पर जाती है।

तीसरी : **ख** पर किराया गिर जाता है, और इसी प्रकार **ग** और **घ** पर भी; लेकिन अनाज के रूप में कुल किराया ६ क्वार्टर से बढ़कर ७ २/३ क्वार्टर हो जाता है; कृष्ट तथा किरायादायी ज़मीन का परिमाण बढ़ जाता है और उपज का परिमाण १० क्वार्टर से बढ़कर १७ क्वार्टर हो जाता है। लाभ यद्यपि **क** के लिए उतना ही रहता है, किंतु अनाज में व्यक्त करें, तो बढ़ जाता है, मगर लाभ दर स्वयं चढ़ सकती है, क्योंकि सापेक्ष बेशी मूल्य चढ़ जाता है। इस प्रसंग में मज़दूरी, अर्थात परिवर्ती पूंजी का निवेश और फलतः कुल परिव्यय निर्वाह साधनों के सस्ते हो जाने के कारण घट जाता है। मुद्रा में व्यक्त कुल किराया ३६० शिलिंग से गिरकर ३४५ शिलिंग हो जाता है।

आइये, इस नये अनुक्रम को अंकित करते हैं।

तालिका II

मृदा प्रकार	उत्पाद		निवेशित पूंजी	लाभ		किराया		प्रति क्वार्टर उत्पादन दाम
	क्वार्टर	शिलिंग		क्वार्टर	शिलिंग	क्वार्टर	शिलिंग	
क	१ १/३	६०	५०	२/९	१०	—	—	४५ शिलिंग
क′	१ २/३	७५	५०	५/९	२५	१/३	१५	३६ शिलिंग
ख	२	९०	५०	८/९	४०	२/३	३०	३० शिलिंग
ख′	२ १/३	१०५	५०	१ २/९	५५	१	४५	२५ ५/७* शिलिंग
ख″	२ २/३	१२०	५०	१ ५/९	७०	१ १/३	६०	२२ १/२ शिलिंग
ग	३	१३५	५०	१ ८/९	८५	१ २/३	७५	२० शिलिंग
ख	४	१८०	५०	२ ८/९	१३०	२ २/३	१२०	१५ शिलिंग
योग	१७					७ २/३	३४५	

अंततः, अगर पहले ही की तरह सिर्फ़ मृदा प्रकार **क**, **ख**, **ग** तथा **घ** को ही काश्त किया जाये, मगर उत्पादनशीलता इस प्रकार बढ़ जाये कि **क** १ क्वार्टर के बजाय २ क्वार्टर, **ख** २ के बजाय ४ क्वार्टर, **ग** ३ के बजाय ७ क्वार्टर और **घ** ४ के बजाय १० क्वार्टर पैदा करे, जिससे कि उन्हीं कारणों का मिट्टी के भिन्न-भिन्न प्रकारों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़े, तो कुल उत्पादन १० क्वार्टर से बढ़कर २३ क्वार्टर हो जाता है। अगर यह मान लिया जाये कि मांग इस २३ क्वार्टर को आबादी में वृद्धि और दामों में गिरावट के कारण आत्मसात कर लेती है, तो हमें यह परिणाम प्राप्त होगा :

इस तथा अन्य तालिकाओं में संख्याएं यों ही ले ली गयी हैं, किंतु कल्पनाएं पूर्णतः तर्कसंगत हैं।

*१८९४ के जर्मन संस्करण में २५ २/७ छपा है। – सं०

तालिका III

मृदा प्रकार	उत्पाद		निवेशित पूंजी	प्रति क्वार्टर उत्पादन दाम	लाभ		किराया	
	क्वार्टर	शिलिंग			क्वार्टर	शिलिंग	क्वार्टर	शिलिंग
क	२	६०	५०	३०	१/३	१०	०	०
ख	४	१२०	५०	१५	२ १/३	७०	२	६०
ग	७	२१०	५०	८ ४/७	५ १/३	१६०	५	१५०
घ	१०	३००	५०	६	८ १/३	२५०	८	२४०
योग	२३						१५	४५०

पहली तथा मुख्य कल्पना यह है कि कृषि में सुधार विभिन्न मिट्टियों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालता है और इस प्रसंग में श्रेष्ठतम मृदा प्रकारों ग तथा घ को क तथा ख प्रकारों से अधिक प्रभावित करता है। अनुभव ने दिखलाया है कि आम तौर पर ऐसा ही होता है, यद्यपि इसका विपरीत भी हो सकता है। सुधार ने निकृष्टतर मृदाओं को श्रेष्ठतर मृदाओं से अधिक प्रभावित किया होता, तो अंतोक्त का किराया चढ़ने के बजाय गिरा होता। किंतु अपनी तालिका में हमने माना है कि सभी मृदा प्रकारों में उर्वरता में निरपेक्ष वृद्धि के साथ-साथ उसी समय श्रेष्ठतर मृदा प्रकारों ग तथा घ की अधिक सापेक्ष उर्वरता में भी वृद्धि आती है; अर्थात उसी पूंजी निवेश पर उत्पाद के बीच अंतर में वृद्धि और फलतः विभेदक किराये में वृद्धि।

दूसरी कल्पना यह है कि कुल मांग कुल उत्पाद में वृद्धि के साथ बढ़ती रहती है। **एक तो** यह सोचना अनावश्यक है कि ऐसी वृद्धि अचानक ही आ जाती है, बल्कि वह शनैः शनैः ही आती है, यहां तक कि अनुक्रम III स्थापित हो जाता है। **दूसरे**, यह सही नहीं है कि जीवनावश्यक वस्तुओं का उपभोग उनके सस्ते होने के साथ नहीं बढ़ता। इंगलैंड में अनाज क़ानूनों के उन्मूलन ने दिखलाया कि बात उलटी है (देखें न्यूमैन*); विपरीत विचार केवल इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि फ़सलों में भारी और अचानक अंतर, जो महज़ मौसम के परिणाम होते हैं, अनाज के दामों में कभी असाधारण गिरावट, तो कभी असाधारण चढ़ाव पैदा करते हैं। जहां ऐसे मामले में दाम में अचानक और अल्पकालिक गिरावट को उपभोग के विस्तार पर पूरा प्रभाव डालने का समय नहीं मिल पाता, वहां स्वयं उत्पादन के नियामक दाम के अवनमन से उत्पन्न कमी के मामले में उसकी उलटी बात सही होती है, अर्थात वह दीर्घकालिक होती है। **तीसरे**, अनाज का कुछ भाग ब्रांडी या बीयर के रूप में उपभुक्त हो सकता है और इन दोनों मदों का बढ़ता उपभोग हरगिज़ संकीर्ण सीमाओं के भीतर सीमित नहीं है। **चौथे**, बात अंशतः

* F. Newman, *Lectures on Political Economy*, London, 1851, p. 158. – सं०

आबादी में वृद्धि पर और अंशतः इस तथ्य पर निर्भर करती है कि देश अनाज का निर्यातक भी हो सकता है, जैसे इंगलैंड अठारहवीं सदी के मध्य के बहुत बाद तक भी था, जिससे मांग का केवल राष्ट्रीय उपभोग की सीमाओं के भीतर ही नियमन नहीं होता। अंततः, गेहूं उत्पादन में वृद्धि और दाम में कमी का नतीजा रई या जई के बजाय गेहूं का जनसाधारण की मुख्य उपभोग वस्तु बन जाना हो सकता है, जिससे उसकी मांग ठीक इसीलिए बढ़ सकती है, जिस प्रकार उत्पादन घटने और दाम चढ़ने के मामले में इसकी उलटी बात हो सकती है। – इन कल्पनाओं के अंतर्गत और पहले लिये अनुपातों के साथ अनुक्रम III यह परिणाम प्रदान करता है कि प्रति क्वार्टर दाम ६० शिलिंग से गिरकर ३० शिलिंग हो जाता है, अर्थात ५०% गिर जाता है; अनुक्रम I की तुलना में उत्पादन १० से २३ क्वार्टर हो जाता है, अर्थात १३०% बढ़ जाता है; मिट्टी ख के लिए किराया स्थिर रहता है, ग के लिए २५%* और घ के लिए ३३ १/३%** बढ़ जाता है; और कुल किराया १८ पाउंड से २२ १/२ पाउंड*** हो जाता है, अर्थात २५%**** बढ़ जाता है।

इन तीनों तालिकाओं की (अनुक्रम I को दो बार लिया जाना चाहिए – क से घ की ओर आरोहण और घ से क की ओर अवरोहण में), जिन्हें या तो समाज के किसी चरण में दिये हुए सोपान, उदाहरण के लिए, तीन भिन्न देशों में साथ-साथ विद्यमान सोपान, या उस एक ही देश के भीतर एक के बाद एक करके आनेवाले विकास के विभिन्न दौर माना जा सकता है, तुलना यह दिखलाती है:

१) अनुक्रम के निर्माण प्रक्रम का सिलसिला चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो, पूरा हो जाने के बाद वह अनिवार्यतः एक अवरोही रेखा के रूप में ही प्रकट होता है; कारण कि किराये का विश्लेषण करते समय प्रस्थान बिंदु हमेशा अधिकतम किराया प्रदान करनेवाली जमीन को ही माना जायेगा और अंत में जाकर ही हम कोई किराया न देनेवाली जमीन पर पहुंचेंगे।

२) निकृष्टतम मिट्टी पर, अर्थात जो कोई किराया नहीं प्रदान करती है, उत्पादन दाम ही हमेशा बाजार दाम का नियमन करनेवाला होता है, यद्यपि तालिका I में अंतोक्त, जिसका अनुक्रम आरोही रेखा में प्रकट होता है, केवल इसी कारण स्थिर रहा था कि लगातार अधिकाधिक अच्छी मिट्टी को काश्त में लाया जा रहा था। ऐसे मामले में श्रेष्ठतम मिट्टी पर उगाये अनाज का दाम नियामक दाम होता है, क्योंकि यह ऐसी मिट्टी पर उत्पादित मात्रा पर निर्भर करता है कि मृदा प्रकार क किस हद तक नियामक बना रहता है। अगर ख, ग और घ प्रकार उससे ज्यादा पैदा करते हैं, जितना मांग के लिए आवश्यक है, तो क नियामक नहीं रहेगा। श्तोर्ख़ के दिमाग में यह बात उस समय अस्पष्ट रूप में विद्यमान है, जब वह श्रेष्ठतम मृदा प्रकार को नियामक प्रकार के रूप में स्वीकार करते हैं।***** इस लिहाज से अनाज का अमरीकी दाम ब्रिटिश दाम का नियमन करता है।

---

* १८९४ के जर्मन संस्करण में छपा है – दुगुना हो जाता है। – सं०

** वही – दुगुने से अधिक हो जाता है। – सं०

*** वही – २२ पाउंड। – सं०

**** वही – – २२ १/९%। – सं०

***** H. Storch, *Cours d'économie politique, ou Exposition des principes qui déterminent la prospéri tédes nations*, Tome II, St.-Pétersbourg, 1815, pp. 78-79. – सं०

३) विभेदक किराया मिट्टी की नैसर्गिक उर्वरता में अंतरों से उत्पन्न होता है, जो कृषि विकास की प्रत्येक नियत अवस्था के लिए नियत होती है (अवस्थिति के प्रश्न को हम फ़िलहाल अलग रहने देंगे); दूसरे शब्दों में, श्रेष्ठतम ज़मीन के क्षेत्र की सीमितता और इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि पूंजी की समान मात्राओं को मिट्टी के असमान प्रकारों पर निवेशित करना होता है, जिससे पूंजी की उतनी ही मात्रा असमान उत्पाद पैदा करती है।

४) विभेदक किराये का और सोपानिक विभेदक किराये का अस्तित्व श्रेष्ठतर से निकृष्टतर मिट्टियों के अवरोही क्रम में भी उसी प्रकार प्रकट हो सकता है कि जिस प्रकार विपरीत दिशा में निकृष्टतर से श्रेष्ठतर मिट्टियों पर जानेवाले अनुक्रम में; अथवा यह बारी-बारी से आनेवाली गतियों द्वारा चढ़ते-उतरते ढंग से भी उत्पन्न किया जा सकता है। (अनुक्रम I घ से चलकर क पर, अथवा क से चलकर घ पर जाने से बन सकता है; अनुक्रम II में गति के दोनों प्रकार होते हैं।)

५) अपने पैदा होने के ढंग की भिन्नता पर निर्भर करते हुए विभेदक किराया ज़मीन के उत्पादों के स्थिर, वर्धमान अथवा ह्रासमान दाम के साथ-साथ प्रकट हो सकता है। ह्रासमान दाम के प्रसंग में कुल उत्पादन और कुल किराया बढ़ सकते हैं और अब तक बेकिराया ज़मीन पर किराया उत्पन्न हो सकता है, चाहे निकृष्टतम मिट्टी क की बेहतर मिट्टी से प्रतिस्थापना हो चुकी हो सकती है या वह स्वयं सुधर गयी हो सकती है, और चाहे किराया दूसरी ज़मीन पर घट सकता है, जो बेहतर, बल्कि श्रेष्ठतम तक हो सकती है (तालिका II); यह प्रक्रम कुल किराये में ह्रास (मुद्रा में) से भी संबद्ध हो सकता है। अंततः, कृषि में आम सुधार के परिणामस्वरूप दामों के गिरने की हालत में, जब निकृष्टतम मिट्टी का उत्पाद और उसका दाम घटते हैं, कुछ बेहतर मिट्टियों पर किराया उतना ही बना रह सकता है या गिर सकता है, जबकि श्रेष्ठतम मिट्टियों पर वह चढ़ सकता है। बहरहाल, अगर उत्पादों की मात्रा में अंतर दिया हुआ हो, तो निकृष्टतम मिट्टी की तुलना में हर मिट्टी का विभेदक किराया दाम पर— मसलन, एक क्वार्टर गेहूं के—निर्भर करता है। लेकिन अगर दाम दिया होता है, तो विभेदक किराया उत्पादों की मात्रा के अंतर के परिमाण पर निर्भर करता है, और अगर सभी मिट्टियों की बढ़ती निरपेक्ष उर्वरता के साथ श्रेष्ठतर मिट्टियों की उर्वरता निकृष्टतर मिट्टियों से सापेक्षतया अधिक बढ़ती है, तो इस अंतर का परिमाण तथानुपात बढ़ जाता है। इस प्रकार (तालिका I देखिये), जब दाम ६० शिलिंग है, तब घ पर किराये का निर्धारण क की तुलना में उसके विभेदक उत्पाद द्वारा होता है, दूसरे शब्दों में, ३ क्वार्टर की बेशी द्वारा। अतः किराया = = ३ × ६० = १८० शिलिंग है। लेकिन तालिका III में, जहां दाम = ३० शिलिंग है, किराये का निर्धारण क के बेशी उत्पाद की मात्रा = ८ क्वार्टर की तुलना में घ के बेशी उत्पाद की मात्रा द्वारा किया जाता है; अतः किराया हुआ ८ × ३० = २४० शिलिंग।

इस प्रकार, विभेदक किराये के बारे में पहली भ्रांत संकल्पना का—जो वैस्ट, माल्थस और रिकार्डो में अब भी पायी जाती है—निराकरण हो जाता है, अर्थात यह कि वह अनिवार्यतः अधिकाधिक निकृष्ट मिट्टी की तरफ़ गति की, अथवा मिट्टी की निरंतर ह्रासमान उर्वरता की

पूर्वकल्पना करती है।* जैसे कि हमने देखा है, वह अधिकाधिक श्रेष्ठ मिट्टी की तरफ़ गति के साथ उत्पन्न हो सकता है; वह तब उत्पन्न हो सकता है, जब कोई बेहतर मिट्टी निम्नतम स्थिति को ले लेती है, जिस पर पहले निकृष्टतम मिट्टी थी; उसे कृषि में क्रमिक उन्नति से संबद्ध किया जा सकता है। पूर्वापेक्षा मिट्टी के विभिन्न प्रकारों की असमानता मात्र है। जहां तक उत्पादिता में वृद्धि का संबंध है, विभेदक किराया यह कल्पना करता है कि कुल क्षेत्र की निरपेक्ष उर्वरता में वृद्धि इस असमानता को समाप्त नहीं करती, बल्कि या तो उसे बढ़ाती है, या अपरिवर्तित रहने देती है, या महज़ कम करती है।

अठारहवीं शताब्दी के आरंभ से मध्य तक इंगलैंड के अनाज भाव सोने और चांदी के गिरते दामों के बावजूद लगातार गिरे, जबकि साथ ही (इस सारी अवधि को समूचे तौर पर देखते हुए) किराये में, किराये के समग्र परिमाण में, कृष्ट ज़मीन के क्षेत्रफल में, कृषि उत्पादन में, और आबादी में वृद्धि आयी। यह तालिका I के अनुरूप है, जिसे आरोही रेखा में तालिका II के साथ लिया जाता है, किंतु इस प्रकार कि निकृष्टतम ज़मीन क या तो सुधर जाती है या अन्नोत्पादक क्षेत्र से निकल जाती है; लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उसका अन्य कृषि अथवा औद्योगिक प्रयोजनों के लिए प्रयोग नहीं हुआ।

प्रारंभिक उन्नीसवीं सदी से (अधिक सही तिथि दी जानी चाहिए) लेकर १८१५ तक किराये में, किराये के समग्र परिमाण में, कृष्ट भूमि के क्षेत्रफल में, कृषि उत्पादन में, और आबादी में सतत वृद्धि के साथ-साथ अनाज के दामों में लगातार चढ़ाव आता है। यह अवरोही रेखा में तालिका I के अनुरूप है। (यहां उस काल में निकृष्ट ज़मीन की काश्त के बारे में कुछ स्रोतों का उल्लेख करना चाहिए।)

पैंटी और डैवनंट के समय में काश्तकार और भूस्वामी सुधारों और नयी ज़मीन को काश्त में लाने के दुखड़े रोते थे; बेहतर ज़मीनों पर किराया घट गया और किराये का कुल परिमाण किराया देनेवाली ज़मीन के रक़बे के प्रसार के ज़रिये ही बढ़ा।

(इन तीनों मुद्दों को बाद में उद्धरणों द्वारा सोदाहरण स्पष्ट करना चाहिए; इसी प्रकार किसी देश विशेष में भूमि के विभिन्न कृष्ट खंडों में उर्वरता में अंतर को भी।)

सामान्यतः विभेदक किराये के बारे में यह ध्यान में रखना चाहिए कि बाजार मूल्य हमेशा उत्पादों की कुल मात्रा के कुल उत्पादन दाम के ऊपर होता है। उदाहरण के रूप में तालिका I को ले लीजिये। कुल उत्पाद के १० क्वार्टर ६०० शिलिंग के बिकते हैं, क्योंकि बाजार दाम क पर उत्पादन दाम द्वारा निर्धारित होता है, जो ६० शिलिंग प्रति क्वार्टर है। लेकिन वास्तविक उत्पादन दाम है:

---

* [West], *Essay on the Application of Capital to Land*, London, 1815.

Malthus, *Principles of* Political Economy, London, 1836.

Malthus, *An Inquiry into the Nature and Progress of Rent, and the Principles by which it is regulated*, London, 1815.

Ricardo, *On the Principles of Political Economy, and Taxation*, Third edition, London, 1821, Chap. II.–सं०

क	. . . १ क्वा० = ६० शि०	१ क्वा० = ६० शि०
ख	. . . २ क्वा० = ६० शि०	१ क्वा = ३० शि०
ग	. . . ३ क्वा० = ६० शि०	१ क्वा० = २० शि०
घ	. . . ४ क्वा० = ६० शि०	१ क्वा = १५ शि०
	१० क्वा० = २४० शि०	ग्रौसत १ क्वा० = २४ शि०

इन १० क्वार्टर का वास्तविक उत्पादन दाम २४० शिलिंग है, मगर वे ६०० शिलिंग के बेचे जाते हैं, अर्थात उत्पादन दाम के २५०% पर। क्वार्टर का वास्तविक ग्रौसत दाम २४ शिलिंग है, उसका बाज़ार दाम ६० शिलिंग है, अर्थात वह भी उत्पादन दाम का २५०% ही है।

यह बाज़ार मूल्य द्वारा निर्धारण है, जिसमें वह पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर प्रतिद्वंद्विता के ज़रिये अपने को स्थापित करता है; प्रतिद्वंद्विता एक मिथ्या सामाजिक मूल्य स्थापित करती है। यह बाज़ार मूल्य के नियम से उत्पन्न होता है, मिट्टी के उत्पाद जिसके अधीन होते हैं। अतः कृषि उत्पादों सहित उत्पादों के बाज़ार मूल्य का निर्धारण एक सामाजिक कार्य है, हालांकि सामाजिक रूप में अचेतन और अनभिप्रेत कार्य। यह अनिवार्यतः उत्पाद के विनिमय मूल्य पर आधारित होता है, न कि मिट्टी और उसकी उर्वरता में अंतरों पर। अगर हम यह मान लें कि समाज के पूंजीवादी रूप का उन्मूलन हो गया है और समाज एक सचेतन तथा योजनाबद्ध संघ के रूप में संगठित हो गया है, तो १० क्वार्टर स्वतंत्र श्रम काल की उतनी मात्रा को व्यक्त करेंगे, जो २४० शिलिंग में समाविष्ट मात्रा के बराबर है। तब समाज इस कृषि उत्पाद को उसमें समाविष्ट वास्तविक श्रम काल के ढाई गुने का नहीं ख़रीदेगा और इस प्रकार भूस्वामियों के वर्ग के लिए आधार नष्ट हो जायेगा। इसका वैसा ही प्रभाव पड़ेगा, जैसा विदेशी आयातों के परिणामस्वरूप उत्पाद के दाम में उतने ही परिमाण की कमी का पड़ेगा। इसलिए जहां यह सही है कि अगर वर्तमान उत्पादन प्रणाली को बनाये रखते हुए, मगर यह मानते हुए कि विभेदक किराया राज्य को अदा किया जाता है, तो–बाक़ी सभी अवस्थाओं के समान होने के कारण–कृषि उत्पादों के दाम उतने ही बने रहेंगे, वहां यह कहना इतना ही गलत है कि अगर पूंजीवादी उत्पादन को साहचर्य द्वारा स्थानच्युत कर दिया जाता है, तो उत्पादों का मूल्य उतना ही बना रहेगा। एक ही प्रकार की जिंसों के बाज़ार दाम की एकरूपता ही वह ढंग है, जिसके द्वारा मूल्य का सामाजिक स्वरूप अपने को पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर, और सामान्यतः व्यक्तियों के बीच जिंसों के विनिमय पर आधारित किसी भी उत्पादन में व्यक्त करता है। अपनी उपभोक्ता की हैसियत में समाज कृषि उत्पादों के लिए जो अधिक देता है, कृषि उत्पादन में उसके श्रम काल के सिद्धिकरण में जो ऋण–नफ़ी–है, वह अब समाज के एक हिस्से के लिए, भूस्वामियों के लिए, धन–जमा–है।

एक दूसरा तथ्य, जो अगले अध्याय में विभेदक किराया II के विश्लेषण के लिए महत्वपूर्ण है, निम्नलिखित है:

यह केवल प्रति एकड़, अथवा प्रति हैक्टर किराये की, अथवा आम तौर पर उत्पादन दाम तथा बाज़ार दाम के बीच, या प्रति एकड़ व्यष्टिक और सामान्य उत्पादन दाम के बीच

अंतर की ही बात नहीं है, बल्कि इसका भी सवाल है कि प्रत्येक प्रकार की मिट्टी के कितने एकड़ काश्त में आये हुए हैं। यहां सर्वाधिक महत्व की बात प्रत्यक्षतः केवल किराये के परिमाण से, अर्थात समस्त कृष्ट क्षेत्र के कुल किराये से संबद्ध है; लेकिन हमारे लिए वह साथ ही **किराया दर** में चढ़ाव के विवेचन के साधन का भी काम देती है, यद्यपि दामों में कोई चढ़ाव नहीं आता है, या अगर दाम गिरते हैं, तो विभिन्न मृदा प्रकारों की सापेक्ष उर्वरता के अंतरों में कोई वृद्धि नहीं होती है।

हमारे पास ऊपर यह था:

तालिका I

मृदा प्रकार	एकड़	उत्पादन दाम	उत्पाद	अनाज में किराया	मुद्रा में किराया
क	१	३ पाउंड	१ क्वार्टर	०	०
ख	१	३ पाउंड	२ क्वार्टर	१ क्वार्टर	३ पाउंड
ग	१	३ पाउंड	३ क्वार्टर	२ क्वार्टर	६ पाउंड
घ	१	३ पाउंड	४ क्वार्टर	३ क्वार्टर	६ पाउंड
योग...	४ एकड़		१० क्वार्टर	६ क्वार्टर	१८ पाउंड

अब मान लीजिये कि प्रत्येक संवर्ग में कृष्ट एकड़ों की संख्या दुगुनी हो जाती है। तब हमारे पास यह होगा:

तालिका I क

मृदा प्रकार	एकड़	उत्पादन दाम	उत्पाद	अनाज में किराया	मुद्रा में किराया
क	२	६ पाउंड	२ क्वार्टर	०	०
ख	२	६ पाउंड	४ क्वार्टर	२ क्वार्टर	६ पाउंड
ग	२	६ पाउंड	६ क्वार्टर	४ क्वार्टर	१२ पाउंड
घ	२	६ पाउंड	८ क्वार्टर	६ क्वार्टर	१८ पाउंड
योग...	८ एकड़		२० क्वार्टर	१२ क्वार्टर	३६ पाउंड

दो और प्रसंगों की कल्पना कर लीजिये। मान लीजिये कि पहले प्रसंग में उत्पादन दो निकृष्टतम मृदा प्रकारों पर इस ढंग से प्रसार करता है:

तालिका I ख

मृदा प्रकार	एकड़	उत्पादन दाम		उत्पाद	अनाज में किराया	मुद्रा में किराया
		प्रति एकड़	कुल			
क	४	३ पाउंड	१२ पाउंड	४ क्वार्टर	०	०
ख	४	३ पाउंड	१२ पाउंड	८ क्वार्टर	४ क्वार्टर	१२ पाउंड
ग	२	३ पाउंड	६ पाउंड	६ क्वार्टर	४ क्वार्टर	१२ पाउंड
घ	२	३ पाउंड	६ पाउंड	८ क्वार्टर	६ क्वार्टर	१८ पाउंड
योग. . .	१२ एकड़		३६ पाउंड	२६ क्वार्टर	१४ क्वार्टर	४२ पाउंड

और अंत में चार मृदा संवर्गों के लिए उत्पादन तथा कृष्ट क्षेत्र के असमान प्रसार की कल्पना कर लीजिये :

तालिका I ग

मृदा प्रकार	एकड़	उत्पादन दाम		उत्पाद	अनाज में किराया	मुद्रा में किराया
		प्रति एकड़	कुल			
क	१	३ पाउंड	३ पाउंड	१ क्वार्टर	०	०
ख	२	३ पाउंड	६ पाउंड	४ क्वार्टर	२ क्वार्टर	६ पाउंड
ग	५	३ पाउंड	१५ पाउंड	१५ क्वार्टर	१० क्वार्टर	३० पाउंड
घ	४	३ पाउंड	१६ पाउंड	१२ क्वार्टर	१२ क्वार्टर	३६ पाउंड
योग. . .	१२ एकड़		३६ पाउंड	३६ क्वार्टर	२४ क्वार्टर	७२ पाउंड

पहली बात तो यही है कि इन सभी प्रसंगों – I, I क, I ख तथा I ग – में प्रति एकड़ किराया उतना ही रहता है, क्योंकि उसी प्रति एकड़ मृदा प्रकार के लिए पूंजी के उसी निवेश का परिणाम वस्तुतः अपरिवर्तित रहा है। हमने केवल वही माना है, जो किसी भी देश के लिए किसी नियत क्षण पर सही होता है; अर्थात यह कि विभिन्न मृदा प्रकार कुल कृष्ट क्षेत्र के निश्चित अनुपातों में होते हैं। और हमने वह भी माना है, जो तुलनाधीन किन्हीं भी दो देशों के बारे में, अथवा अलग-अलग समयों में उसी एक देश के बारे में हमेशा सही होता है, अर्थात यह कि कुल कृष्ट क्षेत्र जिन अनुपातों में विभिन्न मृदा प्रकारों में वितरित होता है, वे भिन्न-भिन्न होते हैं।

I क की I से तुलना करने में हम देखते हैं कि अगर चारों के चारों संवर्गों में जमीन का कर्षण उसी अनुपात में बढ़ता है, तो कर्षित क्षेत्रफल के दुगुना हो जाने से कुल उत्पादन

भी दुगुना हो जाता है और यही बात अनाज और मुद्रा के रूप में किराये पर भी लागू होती है।

लेकिन अगर हम I ख और फिर I ग की I से तुलना करें, तो हम देखते हैं कि दोनों ही प्रसंगों में काश्त के नीचे क्षेत्रफल त्रिगुणित हो जाता है। वह दोनों प्रसंगों में ४ एकड़ से बढ़कर १२ एकड़ हो जाता है, लेकिन I ख में संवर्ग क तथा ख वृद्धि में सर्वाधिक योगदान करते हैं, जिसमें क कोई किराया नहीं प्रदान करता और ख विभेदक किराये की न्यूनतम राशि प्रदान करता है। इस प्रकार नवकृष्ट ८ एकड़ जमीन में से क तथा ख, प्रत्येक के कारण ३-३, अर्थात मिलकर ६ एकड़ की वृद्धि होती है, जबकि ग तथा घ, प्रत्येक के कारण १-१ एकड़, अर्थात मिलकर २ एकड़ की ही वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में, तीन-चौथाई वृद्धि क तथा ख के कारण होती है और केवल एक-चौथाई ग तथा घ के कारण होती है। इस आधारिका के साथ I की तुलना में I ख में त्रिगुणित कर्षण क्षेत्र का परिणाम त्रिगुणित उत्पाद नहीं होता, क्योंकि उत्पाद १० से बढ़कर ३० नहीं हो जाता, बल्कि केवल २६ होता है। दूसरी ओर, चूंकि वृद्धि का काफ़ी हिस्सा क से संबद्ध है, जो कोई किराया नहीं प्रदान करता, और चूंकि श्रेष्ठतर मिट्टियों पर वृद्धि का अधिकांश ख से संबद्ध है, इसलिए अनाज के रूप में किराया बढ़कर सिर्फ़ ६ क्वार्टर से १४ क्वार्टर और मुद्रा के रूप में किराया १८ पाउंड से ४२ पाउंड ही होता है।

लेकिन अगर हम I ग की I से तुलना करें, जिसमें कोई किराया न प्रदान करनेवाली जमीन रक़बे में नहीं बढ़ती और न्यूनतम किराया प्रदान करनेवाली जमीन बहुत कम ही बढ़ती है, जबकि वृद्धि का अधिकांश ग तथा घ के कारण होता है, तो हम देखते हैं कि जब कृष्ट क्षेत्र तिगुना हो जाता है, तब उत्पादन १० क्वार्टर से बढ़कर ३६ क्वार्टर, अर्थात अपने मूल परिमाण के तिगुने से अधिक हो जाता है। अनाज के रूप में किराया ६ क्वार्टर से बढ़कर २४ क्वार्टर, अथवा अपने मूल परिमाण का चारगुना हो जाता है, और इसी प्रकार मुद्रा के रूप में किराया १८ पाउंड से बढ़कर ७२ पाउंड हो जाता है।

इन सभी प्रसंगों में यह स्वाभाविक ही है कि कृषि उत्पाद का दाम अपरिवर्तित रहता है। कुल किराया सभी प्रसंगों में कृषि के विस्तार के साथ बढ़ता है, जब तक कि यह विस्तार केवल निकृष्टतम मिट्टी पर ही न हो, जो कोई किराया नहीं प्रदान करती। लेकिन यह वृद्धि भिन्न-भिन्न होती है। अगर इस विस्तार में श्रेष्ठतर मृदा प्रकार समाविष्ट हों, और फलतः कुल उत्पादन केवल क्षेत्रफल के प्रसार के अनुपात में ही नहीं, बल्कि अधिक तीव्रता के साथ बढ़ता है, तो अनाज और मुद्रा के रूप में किराया उसी हद तक बढ़ता है। अगर प्रसार में निकृष्टतम मिट्टी और उसके निकटवर्ती मृदा प्रकार मुख्यतः सम्मिलित हों (जिससे यह कल्पना की जा रही है कि निकृष्टतम मिट्टी एक स्थिर प्रकार को व्यक्त करती है), तो कुल किराया काश्त के विस्तार के अनुपात में नहीं बढ़ता है। अतः, यदि दो ऐसे देश लिये जायें, जिनमें कोई किराया न प्रदान करनेवाली मिट्टी क समान प्रकार की हो, तो किराया कृषि के अधीन कुल क्षेत्रफल में निकृष्टतम मिट्टी तथा निकृष्ट मृदा प्रकारों द्वारा व्यक्त संखंड के व्युत्क्रमानुपात में होता है और फलतः, यह मानते हुए कि बराबर कुल भू-क्षेत्रों पर बराबर पूंजी निवेश किये जाते हैं, उत्पादन के व्युत्क्रमानुपात में होता है। इस प्रकार किसी देश विशेष के कुल भू-क्षेत्र में निकृष्टतम कृष्ट भूमि की मात्रा और श्रेष्ठतर कृष्ट भूमि की मात्रा में संबंध का कुल किराये पर निष्कृष्टतम कृष्ट भूमि

की कोटि तथा श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम जमीन की कोटि में संबंध का प्रति एकड़ किराये पर और – अन्य अवस्थाओं के यथावत रहने पर – कुल किरायें पर जो प्रभाव होता है, उसकी तुलना में विपरीत प्रभाव होता है। इन दोनों बातों में उलझाव ने विभेदक किराये के खिलाफ़ उठायी जानेवाली नाना प्रकार की भ्रांत आपत्तियों को जन्म दिया है।

इस प्रकार कुल किराया मात्र कृषि के विस्तार से, और फलस्वरूप जमीन में पूंजी तथा श्रम के अधिक निवेश से बढ़ता है।

लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है: यद्यपि हमारी कल्पना यह है कि मिट्टी के विभिन्न प्रकारों के लिए प्रति एकड़ किरायों का अनुपात वही रहता है, और इसलिए प्रत्येक एकड़ में निवेशित पूंजी के संदर्भ में विचार करने पर किराया दर भी वही रहती है, फिर भी यह ध्यान में रखा जाना चाहिए: अगर हम I क की I से, जिस प्रसंग में कृष्ट एकड़ों की संख्या और उनमें निवेशित पूंजी यथानुपात बढ़ गयी करते हैं, तुलना करते हैं, तो हम पाते हैं कि जिस प्रकार कुल उत्पादन विस्तारित कृष्ट क्षेत्र के अनुपात में बढ़ गया है, अर्थात दोनों दुगुने हो गये हैं, उसी प्रकार किराया भी यथानुपात बढ़ गया है। वह १८ पाउंड से बढ़कर ३६ पाउंड हो गया है, जिस प्रकार एकड़ों की संख्या ४ से बढ़कर ८ हो गयी है।

अगर हम कुल ४ एकड़ का रक़बा लें, तो हम पाते हैं कि कुल किराया १८ पाउंड था और इस प्रकार, उस जमीन सहित, जो कोई किराया नहीं प्रदान करती, औसत किराया ४ १/२ पाउंड है। इस तरह का परिकलन, मिसाल के लिए, वह भूस्वामी कर सकता है, जिसके पास ये सभी ४ एकड़ हैं; और इस तरीक़े से एक पूरे देश के लिए औसत किराये का सांख्यिकीय अभिकलन कर लिया जाता है। १८ पाउंड का कुल किराया १० पाउंड की पूंजी के निवेश द्वारा प्राप्त किया जाता है। इन दोनों संख्याओं के अनुपात को हम किराया दर कहते हैं; अतः प्रस्तुत प्रसंग में वह १८०% है।

यही किराया दर I क में भी पायी जाती है, जहां ४ एकड़ के बजाय ८ एकड़ को काश्त किया जाता है, लेकिन जमीन के सभी प्रकारों ने वृद्धि में समान अनुपात में योगदान किया है। ३६ पाउंड का कुल किराया ८ एकड़ के और २० पाउंड निवेशित पूंजी के लिए ४ १/२ पाउंड प्रति एकड़ का औसत किराया और १८०% की किराया दर प्रदान करता है।

लेकिन अगर हम I ख को लें, जहां वृद्धि मुख्यतः मिट्टी के निकृष्टतर संवर्गों पर हुई है, तो हम १२ एकड़ के लिए ४२ पाउंड किराया, अथवा प्रति एकड़ ३ १/२ का औसत किराया प्राप्त करते हैं। कुल निवेशित पूंजी = ३० पाउंड, और फलतः किराया दर = १४०% है। इस प्रकार, प्रति एकड़ औसत किराया १ पाउंड कम हो गया है और किराया दर १८०% से गिरकर १४०% हो गयी है। अतः, यहां हमारे सामने कुल किराये में १८ पाउंड से ४२ पाउंड का चढ़ाव है, लेकिन प्रति एकड़ पर और पूंजी के आधार पर भी परिकलित औसत किराये में गिराव है; गिराव उत्पादन में वृद्धि के समांतर आता है, मगर उसके अनुपात में नहीं। यह इसके बावजूद आता है कि मिट्टी के सभी प्रकारों के लिए प्रति एकड़ और पूंजी परिव्यय के आधार पर भी परिकलित किराया उतना ही बना रहता है। इसका कारण यह है कि तीन-चौथाई वृद्धि मिट्टी क की बदौलत, जो कोई किराया नहीं प्रदान करती, और मिट्टी ख की बदौलत होती है, जो केवल न्यूनतम किराया प्रदान करती है।

अगर प्रसंग I ख में कुल प्रसार केवल मिट्टी क पर ही हुआ होता, तो हमारे पास क पर ९ एकड़, ख पर १ एकड़, ग पर १ एकड़ और घ पर १ एकड़ होते। कुल किराया

१८ पाउंड होगा, जितना पहले था; अतः, १२ एकड़ के लिए औसत किराया ११/२ पाउंड प्रति एकड़ होगा; और ३० पाउंड की निवेशित पूंजी पर १८ पाउंड का किराया ६०% की किराया दर देगा। प्रति एकड़ और निवेशित पूंजी के आधार पर भी परिकलित औसत किराया बहुत अधिक घट जायेगा, जबकि कुल किराया नहीं बढ़ेगा।

अंत में, आइये, I ग की I तथा I ख से तुलना करें। I की तुलना में रेक़बा तिगुना हो गया है और निवेशित पूंजी भी तिगुनी हो गयी है। कुल किराया १२ एकड़ के लिए ७२ पाउंड है, प्रसंग १ में ४ १/२ पाउंड प्रति एकड़ के मुक़ाबले ६ पाउंड प्रति एकड़। निवेशित पूंजी पर किराया दर १८०% के बजाय २४०% (७२ पाउंड : ३० पाउंड) है। कुल उत्पादन १० क्वार्टर से बढ़कर ३६ क्वार्टर हो गया है।

I ख की तुलना में, जहां कृष्ट एकड़ों की संख्या, निवेशित पूंजी तथा कृष्ट मृदा प्रकारों के बीच अंतर उतने ही हैं, मगर वितरण भिन्न है, उत्पादन २६ क्वार्टर के बजाय ३६ क्वार्टर है, प्रति एकड़ औसत किराया ३ १/२ पाउंड के बजाय ६ पाउंड है, और उसी निवेशित कुल पूंजी के संदर्भ में किराया दर १४०% के बजाय २४०% है।

तालिकाओं I क, I ख तथा I ग में विभिन्न अवस्थाओं को हम चाहे भिन्न-भिन्न देशों में साथ-साथ विद्यमान, अथवा किसी एक ही देश में क्रमशः विद्यमान अवस्थाएं मानें, हम इन्हीं निष्कर्षों पर आते हैं: जब तक अनाज का दाम उतना ही बना रहता है, क्योंकि निकृष्टतम, बेकिराया ज़मीन पर उपज उतनी ही बनी रहती है; जब तक विभिन्न कृष्ट मृदा प्रकारों में अंतर उतना ही बना रहता है; अतः जब तक प्रत्येक प्रकार की मृदा के कृष्ट क्षेत्र के समान संखंडों (एकड़ों) पर समान पूंजी निवेश होने पर उनकी पैदावार उतनी ही रहती है; फलतः प्रत्येक मृदा संवर्ग के प्रति एकड़ किरायों के बीच अनुपात स्थिर रहता है, और उसी प्रकार की मिट्टी के प्रत्येक खंड में निवेशित पूंजी पर किराया दर स्थिर रहती है: पहले, कृष्ट क्षेत्र के विस्तार के साथ और परिणामी वर्धित पूंजी निवेश के साथ किराया लगातार बढ़ता है, सिवा उस प्रसंग के, जिसमें सारी वृद्धि बेकिराया ज़मीन के कारण होती है। दूसरे, औसत प्रति एकड़ किराये (कृष्ट एकड़ों की कुल संख्या द्वारा विभाजित कुल किराया) और औसत किराया दर (निवेशित कुल पूंजी द्वारा विभाजित कुल किराया) काफ़ी बदल सकते हैं; और वस्तुतः दोनों एक ही दिशा में बदलते हैं, किंतु एक दूसरे से भिन्न अनुपातों में। अगर हम उस प्रसंग को अपने विवेचन के बाहर रहने दें, जिसमें प्रसार केवल कियायाहीन मिट्टी क पर होता है, तो हम पाते हैं कि प्रति एकड़ औसत किराया और कृषि में निवेशित पूंजी पर औसत किराया दर कुल कृष्ट क्षेत्रफल में मिट्टी के विभिन्न संवर्गों के अनुपातों पर निर्भर करते हैं; अथवा, जो यही कहने के समान है, विभिन्न उर्वरता की मिट्टी के प्रकारों में नियोजित कुल पूंजी के वितरण पर निर्भर करते हैं। चाहे ज्यादा ज़मीन को काश्त किया जाता है या थोड़ी को, और फलतः कुल किराया चाहे अधिक होता है या कम (उस प्रसंग को छोड़कर, जिसमें प्रसार क तक ही सीमित होता है), जब तक कुल कृष्ट क्षेत्रफल में मिट्टी के विभिन्न संवर्गों के अनुपात अपरिवर्तित बने रहते हैं, तब तक प्रति एकड़ औसत किराया, अथवा निवेशित पूंजी पर औसत किराया दर वही रहते हैं। कृषि के विस्तार और पूंजी निवेश के साथ कुल किराये में वृद्धि, और काफ़ी बड़ी वृद्धि तक के बावजूद अगर कियायाहीन ज़मीन का और केवल कम विभेदक किराया ही प्रदान करनेवाली ज़मीन का विस्तार अधिक किराया प्रदान

करनेवाली श्रेष्ठ ज़मीन के विस्तार की अपेक्षा ज़्यादा होता है, तो प्रति एकड़ औसत किराया और पूंजी पर औसत किराया दर घटते हैं। इसके विपरीत, श्रेष्ठतर ज़मीन जिस हद तक कुल क्षेत्रफल के सापेक्षतया अधिक बड़े भाग का निर्माण करती है और इसलिए निवेशित पूंजी के सापेक्षतया बड़े हिस्से को नियोजित करती है, उस हद तक प्रति एकड़ औसत किराया और पूंजी पर औसत किराया दर उसके यथानुपात बढ़ जाते हैं।

इस प्रकार, अगर हम उसी कालावधि में भिन्न-भिन्न देशों की, या उसी देश की भिन्न-भिन्न कालावधियों की तुलना करते समय कुल कृष्ट भूमि के प्रति एकड़, अथवा प्रति हैक्टर, औसत किराये पर विचार करें, जैसे सांख्यिकीय कृतियों में आम तौर पर किया जाता है, तो हम पाते हैं कि प्रति एकड़ किराये का औसत स्तर, और फलतः कुल किराया, किसी हद तक (यद्यपि किसी भी प्रकार सर्वसम नहीं, बल्कि ज़्यादा तेज़ी के साथ बढ़ती हद तक) किसी नियत देश में मिट्टी की निरपेक्ष, न कि सापेक्ष, उर्वरता के अनुरूप होता है; अर्थात उपज की उसी औसत मात्रा के अनुरूप, जो वह उसी क्षेत्रफल से प्रदान करती है। कारण यह कि कुल कृष्ट क्षेत्रफल में श्रेष्ठतर मिट्टियों का अंश जितना ही अधिक होगा, ज़मीन के समान क्षेत्रों पर समान पूंजी निवेशों से उत्पादन उतना ही अधिक होगा, और प्रति एकड़ औसत किराया उतना ही ऊंचा होगा। अगर अवस्थाएं इसकी उलटी हों, तो इसका उलटा होता है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि किराया विभेदक उर्वरता के अनुपात द्वारा नहीं, बल्कि निरपेक्ष उर्वरता द्वारा निर्धारित किया जाता है, और विभेदक किराये का नियम असंगत हो गया प्रतीत होता है। इस कारण कतिपय परिघटनाओं पर संदेह प्रकट किया जाता है, अथवा उनकी अनाज के औसत दामों में और कृष्ट भूमि की विभेदक उर्वरता में अविद्यमान अंतरों से व्याख्या करने का प्रयास किया जाता है, जबकि इस प्रकार की परिघटनाओं का कारण केवल यह होता है कि जब तक किरायाहीन ज़मीन की उर्वरता उतनी ही बनी रहती है और इसलिए उत्पादन दाम, और विभिन्न प्रकारों की मिट्टी के बीच अंतर अपरिवर्तित बने रहते हैं, तब तक कुल किराये का कृष्ट भूमि के कुल क्षेत्रफल के साथ अथवा भूमि में निवेशित कुल पूंजी के साथ अनुपात केवल प्रति एकड़ किराये अथवा पूंजी पर किराया दर द्वारा ही निर्धारित नहीं किया जाता है, बल्कि बिलकुल उसी प्रकार कृष्ट एकड़ों की कुल संख्या में मिट्टी के प्रत्येक प्रकार के एकड़ों की सापेक्ष संख्या द्वारा भी निर्धारित किया जाता है; अथवा जो यही कहने के समान है, कुल निवेशित पूंजी के मिट्टी के विभिन्न प्रकारों के बीच वितरण द्वारा निर्धारित किया जाता है। आश्चर्य की बात है कि इस तथ्य को अब तक पूर्णतः अनदेखा रहने दिया गया है। किसी भी सूरत में हम देखते हैं (और यह हमारे आगामी विश्लेषण के लिए महत्वपूर्ण है) कि जब तक दाम वही बने रहते हैं, विभिन्न मृदाओं की विभेदक उर्वरताएं अपरिवर्तित रहती हैं, और प्रति एकड़ किराया, अथवा वस्तुतः किराया प्रदान करनेवाली मिट्टी के हर प्रकार में प्रति एकड़ निवेशित पूंजी के लिए किराया दर, अर्थात वस्तुतः किराया प्रदान करनेवाली सारी पूंजी के लिए किराया दर, अपरिवर्तित रहते हैं, प्रति एकड़ औसत किराये का सापेक्ष स्तर, और औसत किराया दर (अथवा कुल किराये का ज़मीन में निवेशित कुल पूंजी के साथ अनुपात) केवल कृषि का विस्तारी प्रसार करने से चढ़ अथवा गिर सकते हैं।

शीर्षक I के अंतर्गत विवेचित विभेदक किराये के रूप के सिलसिले में निम्नलिखित अतिरिक्त बातें कहना आवश्यक है; वे आंशिक रूप में विभेदक किराये II पर भी लागू होती हैं:

पहली : यह देखा गया था कि प्रति एकड़ ग्रौसत किराया, अथवा पूंजी पर ग्रौसत किराया दर, दामों के स्थिर रहने ग्रौर कृष्ट भूखंडों की विभेदक उर्वरता के अपरिवर्तित बने रहने की हालत में कृषि के विस्तार के साथ बढ़ सकते हैं। किसी नियत देश में सारी जमीन के हस्तगत कर लिये जाने, ग्रौर ज़मीन में पूंजी के निवेशों, कृषि तथा ग्राबादी के एक विशेष स्तर पर पहुंच जाने – पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के प्रचलित उत्पादन प्रणाली बन जाने ग्रौर कृषि को भी अपनी परिधि में ले लेने के साथ नियत बन जानेवाली अवस्थाएं – के साथ विभिन्न क़िस्म की अकृष्ट जमीन का दाम (केवल विभेदक किराये के होने की कल्पना करते हुए) उसी क़िस्म ग्रौर समान अवस्थिति के कृष्ट भूखंडों के दाम द्वारा निर्धारित होने लगता है। दाम वही होता है, – नयी जमीन को काश्त में लाने की लागत को घटाने के बाद – चाहे यह जमीन कोई किराया नहीं प्रदान करती। जमीन का दाम वस्तुतः पूंजीकृत किराये के सिवा ग्रौर कुछ भी नहीं है। लेकिन कृष्ट ज़मीन के मामले में भी दाम सिर्फ़ भावी किरायों को ही भरता है, मिसाल के लिए, जैसे तब, जब प्रचलित ब्याज दर ५% है, ग्रौर बीस साल का किराया एकसाथ पेशगी दे दिया जाता है। जब जमीन बेची जाती है, तो उसे किराया देनेवाली जमीन की तरह बेचा जाता है ग्रौर किराये का (जिसे यहां मिट्टी का उत्पाद माना जाता है, लेकिन वह ऐसा बस प्रतीत ही होता है) संभावित स्वरूप अकृष्ट भूमि का कृष्ट भूमि से विभेद नहीं करता। अकृष्ट ज़मीन का दाम, उसके किराये की ही भांति – जिसका दाम ग्रंतोक्त के संविदा-बद्ध रूप को व्यक्त करता है – जब तक ज़मीन वास्तव में प्रयोग में नहीं ग्राती, तब तक सर्वथा ग्राभासी ही होता है। लेकिन इस प्रकार वह a priori [अनुभवनिरपेक्षतः] निर्धारित होता है ग्रौर क्रेता के मिलने के साथ उसका सिद्धिकरण हो जाता है। अतः, नियत देश में वास्तविक ग्रौसत किराये का निर्धारण जहां उसके वास्तविक ग्रौसत वार्षिक किराये ग्रौर ग्रंतोक्त के कुल कृष्ट क्षेत्रफल के साथ संबंध द्वारा किया जाता है, वहां अकृष्ट जमीन के दाम का निर्धारण कृष्ट जमीन के दाम द्वारा किया जाता है ग्रौर इसलिए वह कृष्ट भूमि में निवेशित पूंजी ग्रौर उससे प्राप्त परिणामों का प्रतिबिंब मात्र होता है। चूंकि सिर्फ़ निकृष्टतम ज़मीन को छोड़कर सारी ही जमीन किराया प्रदान करती है (ग्रौर जैसे कि हम विभेदक किराया II के शीर्षक के ग्रंतर्गत देखेंगे, यह किराया पूंजी की मात्रा के साथ ग्रौर कृषि की गहनता के अनुरूप बढ़ता जाता है), इसलिए इसकी बदौलत अकृष्ट भूखंडों का नाममात्र दाम स्थापित हो जाता है, ग्रौर इस प्रकार वे माल, अपने मालिकों के लिए संपदा के स्रोत, बन जाते हैं। इससे साथ ही इस बात का भी स्पष्टीकरण हो जाता है कि जमीन का दाम क्यों एक पूरे प्रदेश में, अकृष्ट भाग तक में, बढ़ता है (ग्रोपडाइक)। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य में जमीन की सट्टेबाज़ी मात्र पूंजी तथा श्रम द्वारा अकृष्ट जमीन पर डाले इस प्रतिबिंब पर ही ग्राधारित है।

दूसरी : कृष्ट ज़मीन का विस्तार करने में प्रगति सामान्य रूप में या तो हीनतर मिट्टी की तरफ़ होती है या मिट्टी के विभिन्न विद्यमान प्रकारों पर इस पर निर्भर करते हुए भिन्न-भिन्न अनुपातों में होती है कि वे हासिल किस प्रकार किये जाते हैं। हीनतर मिट्टी पर विस्तार स्वाभाविकतया कभी स्वेच्छापूर्वक नहीं किया जाता है, बल्कि अगर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को अस्तित्वमान माना जाये, तो केवल चढ़ते दामों के नतीजे के तौर पर ही हो सकता है ग्रौर किसी भी अन्य उत्पादन प्रणाली के ग्रंतर्गत केवल ग्रावश्यकतावश ही हो सकता है। लेकिन बात पूरी तरह से यही नहीं है। ख़राब मिट्टी को अपेक्षाकृत बेहतर मिट्टी के मुक़ाबले अवस्थिति के कारण तरजीह दी जा सकती है, जो नये देशों में कृषि के प्रत्येक विस्तार के

लिए निर्णायक महत्व की होती है; इसके अलावा, चाहे किसी प्रदेश में मृदा संरचना को सामान्य रूप में उर्वर की श्रेणी में रखा जा सकता है, फिर भी उसमें श्रेष्ठतर और निकृष्ट मिट्टियों का नानाविध घोल-मेल हो सकता है, जिससे हीनतर मिट्टी को और कुछ नहीं, तो महज़ इसी कारण काश्त करना पड़ सकता है कि वह श्रेष्ठ मिट्टी के एकदम पड़ौस में पायी जाती है। अगर हीनतर मिट्टी श्रेष्ठ मिट्टी से घिरी हुई हो, तो श्रेष्ठ मिट्टी उसकी अवस्थिति को उस अधिक उर्वर मिट्टी के मुक़ाबले श्रेष्ठतम बना देती है, जो अभी कृष्ट क्षेत्र का भाग नहीं है, या बननेवाली है।

इस प्रकार, मिशीगन राज्य अनाज का निर्यातक बननेवाले सबसे पहले पश्चिमी राज्यों में एक था। लेकिन फिर भी उसकी मिट्टी समूचे तौर पर अनुर्वर है। तथापि न्यूयॉर्क राज्य से उसकी निकटता और झीलों तथा इरी नहर के ज़रिये उसके जलमार्गों ने उसे आरंभ में प्रकृति द्वारा अधिक उर्वर मिट्टी से संपन्न, किंतु पश्चिम में और आगे स्थित राज्यों पर श्रेष्ठता प्रदान कर दी। न्यूयॉर्क राज्य की तुलना में इस राज्य का उदाहरण श्रेष्ठतर से हीनतर मिट्टी की तरफ़ संक्रमण को भी प्रदर्शित करता है। न्यूयॉर्क राज्य की, विशेषकर उसके पश्चिमी हिस्से की मिट्टी अतुलनीय रूप में अधिक उर्वर है, विशेषकर गेहूं की खेती के लिए। इस उपजाऊ मिट्टी को खेती के अतिलोलुपतापूर्ण तरीक़ों ने अनुर्वर मिट्टी में परिणत कर डाला था और अब मिशीगन की मिट्टी अधिक उपजाऊ मानी जाने लगी थी।

"१८३८ में पश्चिम के लिए मैदा बफ़्लो से जहाज़ों पर रवाना किया जाता था और न्यूयॉर्क राज्य तथा ऊपरी कनाडा के गेहूं उगानेवाले इलाक़े उसकी पूर्ति के मुख्य स्रोत थे। अब, सिर्फ़ बारह ही साल बाद, गेहूं और मैदा की विशाल मात्रा पश्चिम से इरी झील के ज़रिये लायी जाती है और बफ़्लो से तथा निकटवर्ती ब्लैकरॉक बंदरगाह से इरी नहर के ज़रिये पूर्व रवाना की जाती है... पश्चिमी राज्यों से इन भारी आमदों का परिणाम – जिन्हें यूरोपीय अकाल के वर्षों में अस्वाभाविक तरीक़े से बढ़ावा दिया गया था... गेहूं को पश्चिमी न्यूयॉर्क में कम मूल्यवान करना, गेहूं की खेती को कम लाभदायी बनाना, और न्यूयॉर्क के फ़ार्मरों के ध्यान को पशुपालन तथा दुग्धोद्योग, फल उगाने और ग्राम अर्थव्यवस्था की दूसरी शाखाओं की तरफ़ ज़्यादा मोड़ना रहा है, जिनमें उनका ख़याल है कि उत्तर-पश्चिम उनके साथ इतने प्रत्यक्ष रूप में प्रतियोगिता करने में असमर्थ रहेगा।" (J. W. Johnston, *Notes on North America*, London, 1851, I, pp. 222-23.)

तीसरी: यह एक ग़लत धारणा है कि उपनिवेशों में और सामान्यतः नये देशों में, जो अधिक सस्ते दाम पर अनाज निर्यात कर सकते हैं, ज़मीन को अनिवार्यतः अधिक नैसर्गिक उर्वरता वाली होना चाहिए। इन मामलों में अनाज को न सिर्फ़ अपने मूल्य के नीचे ही, बल्कि अपने उत्पादन दाम के नीचे, अर्थात पुराने देशों में औसत लाभ दर द्वारा निर्धारित उत्पादन दाम के नीचे, बेचा जाता है।

यह तथ्य कि हम, जैसे जॉन्स्टन कहते हैं (पृष्ठ २२३), "उन नये राज्यों को, जिनसे बफ़्लो के बंदरगाह में हर साल पहुंचायी जानेवाली गेहूं की विशाल मात्राएं आती हैं, भारी नैसर्गिक उत्पादनशीलता के और अतिउर्वर ज़मीन के असीम विस्तारों के विचार से संबद्ध करने के आदी हैं," मूलतः आर्थिक अवस्थाओं का परिणाम है। उदाहरण के लिए, मिशीगन जैसे इलाक़े की सारी आबादी पहले लगभग अनन्य रूप में कृषि में और विशेषकर कृषिजन्य पुंज उत्पादों को उत्पन्न करने में ही लगी होती है, क्योंकि सिर्फ़ उनका ही औद्योगिक उत्पादों और उष्णकटिबंधीय मालों से

विनिमय किया जा सकता है। इसलिए उसका सारा बेशी उत्पाद अनाज की शक्ल में ही प्रकट होता है। यह आधुनिक विश्व मंडी के आधार पर स्थापित औपनिवेशिक राज्यों को पहलेवाले, विशेषकर प्राचीनकालीन औपनिवेशिक राज्यों से शुरू से ही बिलकुल अलग कर देती है। वे विश्व मंडी के ज़रिये कपड़ों और औज़ारों जैसे तैयार माल प्राप्त करते हैं, जिन्हें अन्य अवस्थाओं के अंतर्गत उन्हें स्वयं उत्पादित करना होता। संघ के दक्षिणी राज्यों को केवल ऐसे आधार पर ही कपास को अपनी प्रधान फ़सल बनाने में समर्थ बनाया गया था। इसे विश्व मंडी में श्रम विभाजन संभव बनाता है। अतः, अगर उनके नवोदित स्वरूप और उनकी अपेक्षाकृत कम आबादी के दृष्टिगत उनके यहां विशाल बेशी उत्पादन **प्रतीत होता है**, तो यह इतना उनकी मिट्टी की उर्वरता के और उनके श्रम की उत्पादनशीलता के कारण नहीं है, जितना कि उनके श्रम के एकांगी स्वरूप के, और इसलिए उस बेशी उपज के, जिसमें ऐसा श्रम समाविष्ट होता है, कारण है।

इसके अलावा, अगर तब जलवायु अवस्थाएं पूर्णतः प्रतिकूल नहीं हैं, तो अपेक्षाकृत निकृष्ट मिट्टी, जिसे हाल ही में काश्त में लाया गया है और सभ्यता द्वारा पहले कभी स्पर्श नहीं किया गया है, आसानी से आत्मसात हो जानेवाले पादप पोषाहार को – कम से कम मिट्टी की ऊपरी परतों में – संचित कर चुकी होती है, जिससे वह काफ़ी समय तक उर्वरकों के उपयोग के बिना और बहुत ही सतही खेती तक से फ़सलें प्रदान करती रहेगी। पश्चिमी प्रेरियों में यह अतिरिक्त सहूलियत है कि उनमें झाड़-झंखाड़ की सफ़ाई पर कदाचित ही कोई ख़र्च करना पड़ता है, क्योंकि प्रकृति ने उन्हें कृष्य बनाया है।[33a] इस तरह के कम उर्वर इलाक़ों में बेशी मिट्टी की उच्च उर्वरता, अर्थात प्रति एकड़ उपज के परिणामस्वरूप नहीं उत्पन्न होती, बल्कि विशाल क्षेत्रफल के परिणामस्वरूप होती है, जिस पर सतही खेती की जा सकती है, क्योंकि ऐसी ज़मीन के लिए काश्तकार को कुछ भी नहीं, अथवा पुराने देशों की तुलना में लगभग कुछ भी नहीं ख़र्च करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, जहां बटाईदारी विद्यमान है, जैसे न्यूयॉर्क, मिशीगन, कनाडा, आदि के कुछ भागों में, वहां यही बात है। एक परिवार, मिसाल के लिए, १०० एकड़ पर सतही काश्त करता है, और यद्यपि प्रति एकड़ पैदावार ज़्यादा नहीं होती, फिर भी १०० एकड़ से पैदावार बिक्री के लिए काफ़ी बेशी छोड़ देती है। इसके अलावा, ढोरों को लगभग बिला ख़र्च के, कृत्रिम घास मैदानों की आवश्यकता के बिना, नैसर्गिक चरागाहों पर चराया जा सकता है। यहां निर्णायक कारक ज़मीन की मात्रा है, उसकी गुणवत्ता नहीं। इस तरह की सतही खेती की संभावना क़ुदरती तौर पर कमोबेश जल्दी से ख़त्म हो जाती है, अर्थात नयी मिट्टी की उर्वरता के व्युत्क्रमानुपात में और उसके उत्पादों के निर्यात के अनुक्रमानुपात में। "और तिस पर भी ऐसा इलाक़ा बढ़िया पहली फ़सलें – गेहूं तक की – देगा, और उन लोगों को इस अनाज की बाज़ार भेजने के लिए भारी बेशी प्रदान करेगा, जो ज़मीन पर से पहली

[33a] [यह वस्तुतः ऐसे प्रेरी अथवा स्तेपी प्रदेशों की तेज़ी से बढ़ती खेती ही है, जिसने हाल के समय में माल्थस के इस प्रसिद्ध कथन को कि "जनसंख्या निर्वाह साधनों पर भार है," मज़ाक़ में बदल दिया है और उसके बजाय इस कृषिक रुदन को जन्म दिया है कि अगर निर्वाह साधनों को, जो लोगों पर एक भार हैं, उनसे ज़बरदस्ती अलग नहीं रखा जाता है, तो कृषि, और उसके साथ जर्मनी, का विनाश हो जायेगा। फिर भी इन स्तेपियों, प्रेरियों, पंपाओं, लानाओं, आदि का कर्षण अभी सिर्फ़ अपनी प्रारंभिक मंज़िल में ही है; इसलिए यूरोपीय कृषि पर उसका क्रांतिकर प्रभाव अपने को भविष्य में अब तक की अपेक्षा कहीं अधिक अनुभूत करवायेगा। – फ़े० एं०]

मलाई उतारते हैं" (वही, पृष्ठ २२४)। अधिक परिपक्व सभ्यताओं के देशों में सांपत्तिक संबंध, जिनमें अकृष्ट ज़मीन के दाम का निर्धारण कृष्ट ज़मीन के दाम से होता है, आदि, इस तरह की विस्तारी अर्थव्यवस्था को असंभव बना देते हैं।

फलतः, यह निम्नलिखित बातों से देखा जा सकता है कि इस तरह की ज़मीन का अत्यधिक उर्वर होना आवश्यक नहीं है, जैसे रिकार्डो समझते हैं, और न ही समान उर्वरता की मिट्टियों को ही काश्त करना आवश्यक है। मिशीगन राज्य में १८४८ में ४,६५,६०० एकड़ ज़मीन पर गेहूं बोया गया था, जिसने ४७,३६,३०० बुशेल, अथवा १० १/५ बुशेल प्रति एकड़ की फ़सल प्रदान की; बीज के अनाज को निकालने के बाद इससे ६ बुशेल प्रति एकड़ से कम बचता है। इस राज्य की २६ काउंटियों में से २ काउंटियों ने ७ बुशेल का औसत पैदा किया, ३ ने ८ बुशेल का औसत, २ ने ६ का, ७ ने १० का, ६ ने ११ का, ३ ने १२ का, ४ ने १३ बुशेल का, और सिर्फ़ एक काउंटी ने ही १६ बुशेल, और एक और ने १८ बुशेल प्रति एकड़ का औसत पैदा किया (वही, पृष्ठ २२५)।

व्यावहारिक कृषि के लिए मिट्टी की उच्चतर उर्वरता इस तरह की उर्वरता का प्रत्यक्ष समुपयोजन करने की अधिक क्षमता के साथ मेल खाती है। यह क्षमता नैसर्गिकतः हीन मिट्टी में नैसर्गिकतः श्रेष्ठ मिट्टी की बनिस्बत ज्यादा हो सकती है, लेकिन उपनिवेशक उसी मिट्टी को सबसे पहले लेगा, जिसमें इस प्रकार की क्षमता होती है और जिसे पूंजी का अभाव होने की हालत में उसे लेना ही होता है।

अंततः, अभी-अभी उल्लिखित प्रसंग को छोड़कर, जिसमें अब तक काश्त में लायी जानेवाली मिट्टियों से हीनतर* मिट्टियों का कर्षण आवश्यक है, कृषि का अधिकाधिक बड़े क्षेत्रों पर विस्तार, क से लेकर घ तक विभिन्न प्रकारों की मिट्टियों पर विस्तार, अर्थात, उदाहरण के लिए, ख और ग के अधिक बड़े खंडों का कर्षण, किसी भी प्रकार अनाज के भावों में वैसे ही पहले चढ़ाव की पूर्वापेक्षा नहीं करता कि जैसे, उदाहरण के लिए, कताई उद्योग का पूर्ववर्ती वार्षिक प्रसार सूत के दामों में निरंतर चढ़ाव की अपेक्षा नहीं करता। यद्यपि बाज़ार भावों में काफ़ी बड़ा उतार या चढ़ाव उत्पादन के परिमाण को प्रभावित करता है, फिर भी कृषि में (ठीक वैसे, जैसे पूंजीवादी तरीक़े से संचालित उत्पादन की अन्य सभी शाखाओं में भी) उससे निरपेक्षतः उन औसत दामों पर भी, जिनका स्तर उत्पादन पर न तो कोई मंदकारी और न ही कोई असाधारणतः उद्दीपनकारी प्रभाव डालता है, लगातार सापेक्ष अत्युत्पादन होता रहता है, जो अपने आपमें संचय के सर्वसम होता है। दूसरी उत्पादन प्रणालियों के अंतर्गत यह सापेक्ष अत्युत्पादन प्रत्यक्षतः जनसंख्या वृद्धि द्वारा, और उपनिवेशों में सतत आप्रवासन द्वारा संपन्न होता है। मांग निरंतर बढ़ती जाती है और उसकी प्रत्याशा में नयी ज़मीन में नयी पूंजी निरंतर निवेशित की जाती है, यद्यपि उसमें भिन्न-भिन्न कृषि उत्पादों के लिए परिस्थितियों के अनुसार भिन्नता होती है। यह स्वयं नयी पूंजियों की उत्पत्ति के कारण होता है। लेकिन जहां तक व्यष्टिक पूंजीपति की बात है, वह अपने उत्पादन के परिमाण को अपनी उपलब्ध पूंजी के परिमाण से, जहां तक कि वह उसे अब भी स्वयं नियंत्रित कर सकता है, मापता है। उसका लक्ष्य बाज़ार के यथासंभव बड़े से बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा करना होता है। अगर अत्युत्पादन हो जाता है, तो वह दोष अपने को नहीं देगा, बल्कि उसे अपने प्रतिद्वंद्वियों के मत्थे मढ़ता है। व्यष्टिक पूंजीपति विद्यमान बाज़ार के अधिक बड़े संखंड को हस्तगत करके, या स्वयं बाज़ार का प्रसार करके अपने उत्पादन का प्रसार कर सकता है।

अध्याय ४०

विभेदक किराये का दूसरा रूप (विभेदक किराया II)

अभी तक हमने विभेदक किराये पर सिर्फ़ भिन्न-भिन्न उर्वरता की जमीन के समान क्षेत्रों में निवेशित पूंजी की समान राशियों की भिन्न उत्पादिता के परिणाम की तरह विचार किया है, जिससे विभेदक किराये का निर्धारण निकृष्टतम, किरायाहीन मिट्टी में निवेशित पूंजी से प्राप्ति और श्रेष्ठ मिट्टी में निवेशित पूंजी से प्राप्ति के बीच अंतर द्वारा किया जाता था। हमारे आगे विभिन्न भूखंडों में निवेशित पूंजियां साथ-साथ थीं, जिससे पूंजी का प्रत्येक नया निवेश मिट्टी के अधिक विस्तारी कर्षण को, कृष्ट क्षेत्र के प्रसार को द्योतित करता था। तथापि, विभेदक किराया अंततोगत्वा, अपनी प्रकृति से ही, भूमि में निवेशित समान पूंजियों की भिन्न उत्पादिता का परिणाम मात्र था। लेकिन अगर भिन्न उत्पादिता की पूंजियां उसी भूखंड में एक के बाद एक करके, या भिन्न भूखंडों में साथ-साथ निवेशित की जाती हैं, बशर्ते कि परिणाम वही हों, तो क्या इससे कोई अंतर आ सकता है?

पहली बात तो यही है कि इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि जहां तक बेशी लाभ के बनने का सवाल है, यह सर्वथा महत्वहीन है कि क के प्रति एकड़ उत्पादन दाम में ३ पाउंड १ क्वार्टर प्रदान करते हैं, जिससे ३ पाउंड १ क्वार्टर का उत्पादन दाम और नियामक बाजार दाम है, जबकि ख के प्रति एकड़ उत्पादन दाम में ३ पाउंड २ क्वार्टर और इस प्रकार ३ पाउंड बेशी लाभ प्रदान करते हैं, इसी प्रकार, ग के प्रति एकड़ उत्पादन दाम में ३ पाउंड ३ क्वार्टर और ६ पाउंड बेशी लाभ प्रदान करते हैं, और, अंततः, घ के प्रति एकड़ उत्पादन दाम में ३ पाउंड ४ क्वार्टर और ९ पाउंड बेशी लाभ प्रदान करते हैं; अथवा यही परिणाम उत्पादन दाम में इन १२ पाउंड को, अथवा पूंजी के १० पाउंड को बिलकुल उसी एकड़ पर उतनी ही सफलता के साथ उसी अनुक्रम में लगाकर हासिल किया जाता है। दोनों ही प्रसंगों में यह १० पाउंड की पूंजी ही है, जिसके २ १/२-२ १/२ पाउंड के मूल्यांशों को एक के बाद एक करके – चाहे विभिन्न उर्वरतावाले चार एकड़ों में साथ-साथ, या जमीन के उस एक ही एकड़ में क्रमशः – निवेशित किया जाता है, और भिन्न-भिन्न पैदावारों के कारण एक अंश कोई बेशी लाभ नहीं प्रदान करता, जबकि दूसरे अंश किरायाहीन निवेश के संदर्भ में उपज में अपने अंतर के अनुपात में बेशी लाभ प्रदान करते हैं।

दोनों ही प्रसंगों में बेशी लाभ और पूंजी के भिन्न मूल्यांशों के लिए विभिन्न बेशी लाभ दरों की रचना एक ही प्रकार से होती है। और किराया इस बेशी लाभ के एक रूप के अलावा

और कुछ नहीं है, जो उसका सारतत्व है। लेकिन बहरहाल, दूसरी विधि में बेशी लाभ के किराये में रूपांतरण, रूप के इस परिवर्तन, जिसमें बेशी लाभ का पूंजीपति काश्तकार से भूस्वामी को अंतरण सम्मिलित है, के सिलसिले में कुछ कठिनाइयां हैं। अंग्रेज किरायेदारों द्वारा आधिकारिक कृषि आंकड़ों के कठोर प्रतिरोध का यही कारण है। और यही भूस्वामियों के विरुद्ध उनके पूंजी निवेश से उत्पन्न वास्तविक परिणामों के निर्धारण के प्रश्न पर उनके संघर्ष का कारण है (मॉर्टन)। कारण यह कि किराया जमीन के पट्टे पर दिये जाने के समय नियत किया जाता है, और उसके बाद पूंजी के क्रमिक निवेशों से उत्पन्न होनेवाला बेशी लाभ जब तक पट्टा बना रहता है, किरायेदार के जेबों में जाता रहता है। यही कारण है कि किरायेदारों ने लंबे पट्टों के लिए संघर्ष किया है, और, दूसरी ओर, भूस्वामियों की अधिक शक्ति के कारण, यथेच्छ किरायेदारियों या यथेच्छ भूधारण [tenancy at will] की, अर्थात सालाना रद्द किये जा सकनेवाले पट्टों की संख्या में वृद्धि हुई है।

इसलिए यह आरंभ से ही प्रत्यक्ष है कि चाहे बेशी लाभ की उत्पत्ति के नियम के लिए यह महत्वहीन हो, पर इससे बेशी लाभ के किराया जमीन में रूपांतरण के सिलसिले में काफ़ी अंतर पड़ जाता है कि समान पूंजियां असमान परिणामों के साथ जमीन के समान क्षेत्रों पर साथ-साथ निवेशित की जाती हैं, या वे उसी जमीन में क्रमशः निवेशित की जाती हैं। अंतोक्त विधि, एक ओर, इस रूपांतरण को संकीर्णतर सीमाओं के भीतर, और दूसरी ओर, अधिक परिवर्तनशील सीमाओं के भीतर सीमित कर देती है। इस कारण से, जैसे मॉर्टन अपनी कृति *Resources of Estates* में दर्शाते हैं, कर-निर्धारकों का कार्य उन देशों में अत्यंत महत्वपूर्ण, जटिल और कठिन पेशा बन जाता है, जिनमें गहन कृषि का प्रचलन है (और, अर्थशास्त्रीय अर्थों में, गहन कृषि का इसके सिवा और कोई आशय नहीं है कि पूंजी का जमीन के अनेक निकटस्थ खंडों पर वितरण होने के बजाय उसी एक भूखंड पर संकेंद्रण होता है)। अगर मिट्टी में सुधार अधिक स्थायी क़िस्म के हों, तो मिट्टी की कृत्रिम तरीक़े से बढ़ायी विभेदक उर्वरता पट्टे के समाप्त होने के साथ उसकी नैसर्गिक विभेदक उर्वरता के अनुरूप हो जाती है, और परिणामस्वरूप किराये का निर्धारण सामान्यतः भिन्न उर्वरताओं के भूखंडों पर किराये के निर्धारण के समान हो जाता है। दूसरी ओर, इसके दृष्टिगत कि बेशी लाभ की उत्पत्ति प्रचालन पूंजी के परिमाण द्वारा निर्धारित होती है, प्रचालन पूंजी की एक ख़ास रक़म के लिए किराये की रक़म को देश के औसत किराये में जोड़ दिया जाता है और इस प्रकार इसकी व्यवस्था की जाती है कि नये किरायेदार के पास कृषि को उसी गहन ढंग से जारी रखने के लिए पर्याप्त पूंजी रहे।

विभेदक किराया II के विवेचन में निम्न मुद्दों पर भी जोर देना अभी बाक़ी रहता है:

पहला: केवल इतिहासतः ही नहीं, बल्कि जहां तक काल की किसी भी नियत अवधि में इसकी गतियों का संबंध है, इसका आधार और प्रस्थान बिंदु विभेदक किराया I है, अर्थात असमान उर्वरता तथा अवस्थिति की मिट्टियों का साथ-साथ काश्त में लाया जाना; दूसरे शब्दों में, कुल कृषि पूंजी के असमान अंशों का असमान गुणता के भूखंडों पर एक ही समय, साथ-साथ लगाया जाना।

ऐतिहासिक लिहाज से यह स्वतःस्पष्ट है। उपनिवेशों में उपनिवेशकों को बहुत कम ही पूंजी निवेशित करनी होती है; वहां प्रधान उत्पादन कारक श्रम और भूमि होते हैं। प्रत्येक

परिवार-प्रमुख अपने और अपने सगे-संबंधियों के लिए अपने सह-उपनिवेशकों की तरह नियोजन का एक स्वतंत्र क्षेत्र पाने का प्रयास करता है। प्राक्-पूंजीवादी उत्पादन प्रणालियों के अंतर्गत भी वास्तविक कृषि में आम तौर पर बात यही होनी चाहिए। उत्पादन की स्वतंत्र शाखाओं के नाते भेड़पालन और सामान्यरूपेण पशुपालन में भूमि का समुपयोजन बिलकुल आरंभ से ही कमोबेश बहुत आम और विस्तारी होता है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के लिए प्रस्थान बिंदु पूर्ववर्ती उत्पादन प्रणालियां हैं, जिनमें उत्पादन साधन वास्तव में अथवा क़ानूनन स्वयं काश्तकार की संपत्ति होते थे, संक्षेप में, वह कृषि के शिल्पवत संचालन से पैदा होती है। यह स्वाभाविक ही है कि कृषि उत्पादन साधनों के संकेंद्रण और उनके पूंजी में रूपांतरण को, जो उजरती मज़दूरों में बदले हुए प्रत्यक्ष उत्पादकों के मुक़ाबले में खड़ी होती है, बहुत धीरे-धीरे ही स्थान देती है। जहां तक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली यहां अपने लाक्षणिक रूप में प्रकट होती है, ऐसा सबसे पहले विशेषकर भेड़पालन और पशुपालन में होता है। लेकिन इस प्रकार यह पूंजी के अपेक्षाकृत छोटे भू-क्षेत्र पर संकेंद्रण में नहीं, बल्कि अधिक बड़े पैमाने पर उत्पादन में, घोड़ों के रख-रखाव के ख़र्च और अन्य उत्पादन लागतों में मितव्ययिता करने में अभिव्यक्त होता है बल्कि वास्तव में उसी ज़मीन में और अधिक पूंजी का निवेश न करने के द्वारा। इसके अलावा, कृषिकर्म के नैसर्गिक नियमों के अनुसार कृषि के विकास के एक ख़ास स्तर पर पहुंच जाने और उसके अनुसार मिट्टी के निःसत्व हो जाने पर पूंजी – यहां साथ ही पहले ही उत्पादित उत्पादन साधनों के अर्थों में प्रयुक्त – कृषि कार्य में निर्णायक तत्व बन जाती है। जब तक कृष्ट क्षेत्र अकृष्ट क्षेत्र की तुलना में कम रहता है और जब तक मिट्टी की शक्ति समाप्त नहीं होती (और वास्तविक कृषि तथा वानस्पतिक भोजन के प्रधान बन जाने के पहले ऐसा ही होता है, जब पशुपालन और मांसाहार का ही प्राधान्य होता है) तब तक नयी विकासमान उत्पादन प्रणाली का खेतिहर उत्पादन से मुख्यतः पूंजीपति के लिए काश्त में लायी जानेवाली ज़मीन के विस्तार में ही, दूसरे शब्दों में, फिर पूंजी के अधिक बड़े भू-क्षेत्रों पर लगाये जाने में ही, विरोध होता है। इसलिए यह आरंभ से ध्यान में रखना चाहिए कि विभेदक किराया I ही वह ऐतिहासिक आधार है, जो प्रस्थान बिंदु का काम करता है। दूसरी ओर, किसी भी नियत समय विभेदक किराये II की गति केवल एक ऐसे क्षेत्र के भीतर ही होती है, जो स्वयं विभेदक किराये I का चित्र-विचित्र आधार मात्र है।

दूसरा : रूप II में विभेदक किराये में किरायेदारों के बीच पूंजी के वितरण (और उधार प्राप्त करने की क्षमता) में अंतर उर्वरता में अंतरों में जुड़ जाते हैं। वास्तविक उद्योग में व्यवसाय की प्रत्येक शाखा स्वयं अपने न्यूनतम व्यवसाय परिमाण और उसके अनुरूप न्यूनतम पूंजी को तेज़ी से विकसित कर लेती है, जिससे कम पर किसी भी अलग व्यवसाय को सफलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकता है। इसी प्रकार, व्यवसाय की प्रत्येक शाखा इस न्यूनतम के ऊपर पूंजी का एक सामान्य औसत परिमाण विकसित कर लेती है, जो अधिकांश उत्पादनकर्ताओं के पास होना चाहिए और होता है। पूंजी का अधिक बड़ा परिमाण अतिरिक्त लाभ उत्पन्न कर सकता है; छोटा परिमाण औसत लाभ भी नहीं प्रदान करता है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का कृषि में बहुत धीमी और असमान गति से ही प्रसार होता है, जैसा कृषि उत्पादन में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के क्लासिकी देश, इंगलैंड, में देखा जा सकता है। जहां तक अनाज के निर्बाध आयात का अस्तित्व नहीं होता, या परिमाण सीमित होने के कारण उसका प्रभाव भी सीमित होता है, वहां तक निकृष्ट मिट्टी को, और इस प्रकार उत्पादन की औसत से ख़राब अवस्थाओं

में काश्त करनेवाले उत्पादक बाजार दाम का निर्धारण करते हैं। कृषिकर्म में निवेशित और उसे सामान्यतः उपलभ्य कुल पूंजी संहति का एक बड़ा भाग उनके हाथों में होता है।

यह सही है कि किसान, उदाहरण के लिए, अपने छोटे से भूखंड पर बहुत श्रम व्यय करता है। लेकिन यह उत्पादिता की वस्तुगत तथा भौतिक अवस्थाओं से वियुक्त श्रम है, इन अवस्थाओं से वंचित और रहित श्रम है।

इस बात की बदौलत वास्तविक पूंजीपति किरायेदार बेशी लाभ के एक हिस्से को हड़पने में समर्थ बन जाता है, जो कि कम से कम जहां तक इस प्रश्न का संबंध है, तब न हो पाता, अगर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का कृषि में उद्योग की भांति ही समान रूप से विकास हुआ होता।

आइये, फ़िलहाल इसकी तरफ़ ध्यान न देते हुए पहले सिर्फ़ विभेदक किराया II के साथ बेशी लाभ की उत्पत्ति पर ही विचार करें कि किन अवस्थाओं के अंतर्गत इस बेशी लाभ का किराया जमीन में रूपांतरण हो सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विभेदक किराया II महज भिन्नतः व्यक्त विभेदक किराया I ही है, मगर सारतत्व में उसके सर्वसम है। विभिन्न मृदा प्रकारों की उर्वरता में भिन्नता विभेदक किराया I के प्रसंग में अपना प्रभाव सिर्फ़ इसी हद तक डालती है कि जिस हद तक मिट्टी में निवेशित पूंजियों द्वारा असमान परिणाम प्राप्त होते हैं, अर्थात या तो पूंजी के समान परिमाणों या समानुपातिक राशियों के लिहाज से उत्पादों की असमान मात्रा प्राप्त होती है। यह असमानता उसी जमीन में क्रमशः निवेशित विभिन्न पूंजियों के लिए होती है या विभिन्न मृदा प्रकारों के अनेक भूखंडों में निवेशित पूंजियों के लिए, वह न उर्वरता में भिन्नता में कोई अंतर ला सकती है, न उसके उत्पाद में और फलतः न पूंजी के अधिक उत्पादक ढंग से निवेशित अंशों के लिए विभेदक किराये की उत्पत्ति में ही कोई अंतर ला सकती है। पहले ही की भांति अब भी जमीन ही पूंजी के उसी निवेश से भिन्न उर्वरता प्रदर्शित करती है, मगर इस फ़र्क़ के साथ कि यहां वही जमीन विभिन्न अंशों में क्रमशः निवेशित पूंजी के लिए वही कार्य करती है, जो विभेदक किराया I के प्रसंग में मिट्टी के विभिन्न प्रकार उनमें निवेशित सामाजिक पूंजी के समान अंशों के लिए करते हैं।

अगर १० पाउंड की वही पूंजी, जिसे तालिका I में विभिन्न काश्तकारों द्वारा २ १/२-२ १/२ पाउंड की स्वतंत्र पूंजियों के रूप में चारों मृदा प्रकारों क, ख, ग तथा घ के एक-एक एकड़ में निवेशित किया हुआ दिखलाया गया है, इसके बजाय घ के उस एक ही एकड़ में क्रमशः निवेशित की जाये, जिससे पहला निवेश ४ क्वार्टर, दूसरा ३ क्वार्टर, तीसरा २ क्वार्टर, और चौथा १ क्वार्टर (अथवा इसके विपरीत क्रम में) प्रदान करे, तो सबसे कम उत्पादक पूंजी द्वारा प्रदत्त क्वार्टर का उत्पादन दाम, अर्थात जो = ३ पाउंड है, वह कोई विभेदक किराया नहीं प्रदान करेगा, मगर जब तक उस गेहूं की पूर्ति की आवश्यकता होगी, जिसका उत्पादन दाम ३ पाउंड है, तब तक वह बाजार भाव का निर्धारण करेगा। और चूंकि हमारी कल्पना यह है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली प्रवर्तमान है, जिससे ३ पाउंड के दाम में २ १/२ की पूंजी द्वारा सामान्यतः बनाया औसत लाभ सम्मिलित है, अतः २ १/२-२ १/२ पाउंड के अन्य तीन अंशों में से प्रत्येक उत्पादन में अंतर के अनुरूप बेशी लाभ प्रदान करेगा, क्योंकि यह उत्पाद स्वयं अपने उत्पादन दाम पर नहीं, बल्कि २१/२ पाउंड के सबसे कम उत्पादक निवेश

के उत्पादन दाम पर बिकता है; अंतोक्त निवेश कोई किराया नहीं प्रदान करता और उसके उत्पादों का दाम उत्पादन दामों के सामान्य नियम द्वारा निर्धारित होता है। बेशी लाभ की रचना वही होगी, जो तालिका I में है।

यहां एक बार फिर यह देखने में आता है कि विभेदक किराया II के लिए विभेदक किराये I का होना आवश्यक है। यहां २ १/२ पाउंड की पूंजी से प्राप्त न्यूनतम उत्पाद, अर्थात निकृष्टतम मिट्टी से प्राप्त उत्पादन, १ क्वार्टर माना जाता है। माना यह भी जाता है कि उन २ १/२ पाउंड के अलावा, जो ४ क्वार्टर प्रदान करते हैं और जिनके लिए वह ३ क्वार्टर का विभेदक किराया देता है, घ प्रकार को काश्त करनेवाला किरायेदार इसी मिट्टी में वे २ १/२ पाउंड निवेशित करता है, जो केवल १ क्वार्टर प्रदान करते हैं, जैसे निकृष्टतम मिट्टी क पर वही पूंजी प्रदान करती है। यह पूंजी का ऐसा निवेश होगा, जो कोई किराया नहीं पैदा करता है, क्योंकि इससे उसे सिर्फ़ औसत लाभ का प्रतिफल ही प्राप्त होता है। उससे कोई बेशी लाभ नहीं मिलता, जिसे किराये में रूपांतरित किया जा सके। दूसरी ओर, घ में पूंजी के इस दूसरे निवेश के ह्रासमान प्रतिफल का लाभ दर पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। वह उतना ही होगा, मानो २ १/२ पाउंड को नये सिरे से मृदा प्रकार क के एक अतिरिक्त एकड़ में निवेशित किया गया हो, यह एक ऐसा तथ्य है कि जो बेशी लाभ को और फलतः क, ख, ग तथा घ मिट्टियों के विभेदक किराये को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करेगा। लेकिन किरायेदार के लिए २ १/२ पाउंड का घ में यह अतिरिक्त निवेश बिलकुल उतना ही लाभदायी रहा होगा कि जितना, हमारी कल्पना के अनुसार, घ के प्रति एकड़ में मूल २ १/२ पाउंड का निवेश, चाहे अंतोक्त ४ क्वार्टर प्रदान करता है। इसके अलावा, अगर २ १/२-२ १/२ पाउंड के दो अतिरिक्त निवेश क्रमशः ३ क्वार्टर तथा २ क्वार्टर की अतिरिक्त उपज प्रदान करते हैं, तो इस प्रसंग में भी घ में २ १/२ पाउंड के पहले निवेश से उपज की तुलना में कमी आयेगी, जिसने ४ क्वार्टर, अर्थात ३ क्वार्टर का बेशी लाभ प्रदान किया था। लेकिन यह सिर्फ़ बेशी लाभ की मात्रा में ही कमी होगी और न तो औसत लाभ को और न नियामक उत्पादन दाम को ही प्रभावित करेगी। अंतोक्त बात सिर्फ़ उस हालत में हो सकती है कि यह ह्रासमान बेशी लाभ प्रदान करनेवाला अतिरिक्त उत्पादन क पर उत्पादन को फ़ालतू बना दे और क एकड़ को कृषि के बाहर धकेल दे। ऐसी हालत में घ एकड़ में पूंजी के अतिरिक्त निवेश की ह्रासमान उत्पादनशीलता के साथ-साथ उत्पादन दाम में गिरावट आयेगी, मसलन ३ पाउंड से १ १/२ पाउंड, बशर्ते कि ख एकड़ किरायाहीन मिट्टी और बाज़ार भाव का नियामक बन जाये।

घ से उपज अब = ४ + १ + ३ + २ = १० क्वार्टर होगी, जबकि पहले वह = ४ क्वार्टर थी। लेकिन ख द्वारा नियमित होकर उत्पादन दाम गिरकर १ १/२ पाउंड हो जायेगा। घ और ख के बीच अंतर = १० + २ = ८ क्वार्टर, जो १ १/२ पाउंड प्रति क्वार्टर के हिसाब से = १२ पाउंड होगा, जबकि घ से नक़दी किराया पहले = ६ पाउंड था। यह ध्यान में रखा जाना चाहिए। प्रति एकड़ के हिसाब से किराये का परिमाण २ १/२-२ १/२ पाउंड की दो अतिरिक्त पूंजियों पर ह्रासमान बेशी लाभ दर के बावजूद ३३ १/३ % ज़्यादा हो जायेगा।

इससे हम देखते हैं कि विभेदक किराया सामान्यतः, और विशेषकर रूप II में रूप I के साथ मिलकर, कितने अतिजटिल संयोगों को उत्पन्न कर सकता है, जबकि रिकार्डो, उदाहरण के लिए, उसे बहुत ही इकतरफ़ा ढंग से और इस प्रकार लेते हैं, मानो वह कोई सीधी सी बात हो। जिस प्रकार ऊपरवाले प्रसंग में है, उसी प्रकार नियामक बाज़ार दाम में उतार और साथ ही उर्वर मृदाओं से किराये में चढ़ाव आ सकता है, जिससे निरपेक्ष उत्पाद और निरपेक्ष बेशी उत्पाद, दोनों में वृद्धि आती है। (अवरोही क्रम में विभेदक किराया I में सापेक्ष बेशी उत्पाद और फलतः प्रति एकड़ किराया बढ़ सकते हैं, यद्यपि प्रति एकड़ निरपेक्ष बेशी उत्पाद स्थिर रहता है या घट तक जाता है।) लेकिन साथ ही उसी मिट्टी में किये गये आनुक्रमिक पूंजी निवेशों की उत्पादनशीलता घटती है, यद्यपि उनका काफ़ी बड़ा भाग अधिक उर्वर मृदाओं में जाता है। एक दृष्टिकोण से–जहां तक उपज और उत्पादन दामों, दोनों, का संबंध है–श्रम उत्पादिता चढ़ गयी है। लेकिन दूसरे दृष्टिकोण से वह घट गयी है, क्योंकि उसी भूमि में विभिन्न पूंजी निवेशों के लिए बेशी लाभ दर और प्रति एकड़ बेशी उत्पाद घटते हैं।

आनुक्रमिक पूंजी निवेशों की ह्रासमान उत्पादनशीलता के साथ विभेदक किराया II के संग उत्पादन दाम में चढ़ाव और उत्पादिता में निरपेक्ष घटत का आना केवल उस हालत में अनिवार्य होगा कि अगर पूंजी के निवेश निकृष्टतम मिट्टी क के अलावा और किसी मिट्टी में न किये जा सकें। अगर क का एक एकड़, जो २ १/२ पाउंड की पूंजी के निवेश से ३ पाउंड के उत्पादन दाम पर १ क्वार्टर प्रदान करता था, अब २ १/२ पाउंड के अतिरिक्त परिव्यय से, अर्थात ५ पाउंड के कुल निवेश से, केवल कुल १ १/२ क्वार्टर प्रदान करता है, तो इस १ १/२ क्वार्टर का उत्पादन दाम = ६ पाउंड, अथवा १ क्वार्टर का उत्पादन दाम = ४ पाउंड। पूंजी के बढ़ते निवेश के साथ उत्पादिता में प्रत्येक ह्रास का मतलब यहां प्रति एकड़ सापेक्ष उपज में ह्रास होगा, जबकि श्रेष्ठतम मृदाओं पर यह केवल अतिरिक्त बेशी उत्पाद में ह्रास का ही द्योतक होगा।

लेकिन स्वाभाविक बात है कि गहन कृषि के विकास के साथ, अर्थात उसी मिट्टी में पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों के साथ, श्रेष्ठतर मृदाओं पर ऐसा अधिक लाभकारी ढंग से, या अधिक हद तक होगा। (हम उन स्थायी सुधारों की बात नहीं कर रहे हैं, जिनके द्वारा अब तक बेकार मिट्टी को उपयोगी मिट्टी में बदल दिया जाता है।) इसलिए आनुक्रमिक पूंजी निवेशों की ह्रासमान उत्पादनशीलता का मुख्यतः ऊपर निदर्शित प्रभाव ही होना चाहिए। बेहतर मिट्टी को इसलिए चुना जाता है कि वह इसकी सर्वोत्तम संभावना प्रदान करती है कि उसमें निवेशित पूंजी लाभदायी रहेगी, क्योंकि उसमें उर्वरता के अत्यंत नैसर्गिक तत्व विद्यमान होते हैं, जिन्हें बस उपयोग में लाने की ही आवश्यकता होती है।

जब अनाज क़ानूनों के उन्मूलन के बाद इंगलैंड में कृषि और भी अधिक गहन हो गयी, तो पहले गेहूं की खेती में प्रयुक्त जमीन के काफ़ी हिस्से को दूसरे प्रयोजनों में, विशेषकर चरागाहों में, लगा दिया गया, जबकि गेहूं के सबसे उपयुक्त उर्वर भूमि को जलोत्सारित किया गया तथा अन्य प्रकार से सुधारा गया। इस प्रकार गेहूं की कृषि के लिए पूंजी का अधिक सीमित क्षेत्र में संकेंद्रण हुआ।

इस प्रसंग में–और श्रेष्ठतम मृदा के अधिकतम बेशी उत्पाद तथा किरायाहीन मृदा क की उपज के बीच सभी संभव बेशी दरें यहां प्रति एकड़ बेशी उत्पाद में सापेक्ष नहीं, वरन निरपेक्ष वृद्धि के साथ मेल खाती हैं–नवोत्पन्न बेशी लाभ (संभाव्य किराया) किराये में रूपांत-

रित पहलेवाले औसत लाभ के एक अंश (उपज का एक अंश, जिसमें औसत लाभ पहले व्यक्त होता था) को नहीं, वरन एक अतिरिक्त बेशी लाभ को प्रकट करता है, जो इस रूप से किराये में रूपांतरित हो जाता है।

दूसरी ओर, केवल उसी स्थिति में कि जब अनाज की मांग इस हद तक चढ़ जाती है कि बाज़ार भाव क के उत्पादन दाम के ऊपर चला जाता है, जिससे क, ख या किसी भी अन्य प्रकार की मिट्टी के बेशी उत्पाद की पूर्ति सिर्फ़ ३ पाउंड से ऊंचे दाम पर ही की जा सकती है, केवल तब ही क, ख, ग और घ में से किसी भी मृदा प्रकार में पूंजी के अतिरिक्त निवेश से उपज में घटत के साथ उत्पादन दाम और नियामक बाज़ार भाव में चढ़ाव आ सकता है। जहां तक ऐसी स्थिति इसके कारण अतिरिक्त क मिट्टी को (कम से कम क की कोटि की) काश्त में लाये, या अन्य परिस्थितियों के कारण अधिक सस्ती पूर्ति के बिना लंबी कालावधि तक बनी रहती है, वहां तक अन्य सभी अवस्थाएं समान रहते हुए रोटी के दाम में वृद्धि के परिणामस्वरूप मज़दूरी चढ़ेगी और उसके अनुरूप लाभ दर गिर जायेगी। इस प्रसंग में यह महत्वहीन है कि वर्धित मांग की तुष्टि क से हीनतर मिट्टियों को काश्त में लाकर की जाती है, या चारों मृदा प्रकारों में से किसी में भी पूंजी के अतिरिक्त निवेशों द्वारा की जाती है। तब ह्रासमान लाभ दर के साथ-साथ विभेदक किराया चढ़ेगा।

इस एक स्थिति को, जिसमें पहले से कृष्ट मृदाओं में निवेशित अनुवर्ती अतिरिक्त पूंजियों की घटती उत्पादनशीलता उत्पादन दाम में चढ़ाव, लाभ दर में उतार और उच्चतर विभेदक किराये की उत्पत्ति की तरफ़ ले जाती है,—क्योंकि दी हुई अवस्थाओं में विभेदक किराया सभी मृदा प्रकारों पर वैसे ही बढ़ेगा, जैसे कि क से हीन कोटि की मिट्टी बाज़ार भाव की नियामक हो—रिकार्डो एकमात्र स्थिति, सामान्य स्थिति, घोषित कर देते हैं, जिससे वह विभेदक किराया II की समस्त उत्पत्ति को समानीत कर देते हैं।

अगर सिर्फ़ मृदा प्रकार क को ही काश्त किया जाता और उसमें पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों के साथ उपज में समानुपातिक वृद्धि न आयी होती, तो स्थिति यही हुई होती।

अतः यहां, विभेदक किराया II के प्रसंग में, विभेदक किराया I को पूर्णतः विस्मृत कर दिया जाता है।

केवल इस स्थिति के सिवा, जिसमें तब तक कृष्ट मृदाओं से पूर्ति या तो अपर्याप्त रहती है और फलतः बाज़ार भाव निरंतर उत्पादन दाम से ऊंचा रहता है कि जब तक हीन कोटि की अतिरिक्त नयी मिट्टी को काश्त में नहीं लाया जाता, या जब तक मिट्टी के विभिन्न प्रकारों में निवेशित अतिरिक्त पूंजी से कुल उत्पाद की अब तक विद्यमान उत्पादन दाम से केवल ऊंचे दाम पर ही पूर्ति नहीं की जा सकती,—केवल इस स्थिति के सिवा अतिरिक्त पूंजियों की उत्पादिता में आनुपातिक ह्रास उत्पादन के नियामक दाम और लाभ दर को अपरिवर्तित रहने देता है। वैसे तीन अतिरिक्त स्थितियां संभव हैं:

क) अगर मृदा प्रकार क, ख, ग या घ में से किसी में भी निवेशित अतिरिक्त पूंजी केवल क के उत्पादन दाम द्वारा निर्धारित लाभ दर ही प्रदान करती है, तो बिलकुल उसी प्रकार कोई बेशी लाभ और फलतः कोई संभाव्य किराया नहीं उत्पन्न होता कि जिस प्रकार अतिरिक्त क प्रकार की मृदा के काश्त किये जाने से नहीं होता।

ख) अगर अतिरिक्त पूंजी अधिक उत्पाद प्रदान करती है, तो नया बेशी लाभ (संभाव्य किराया) बेशक उत्पन्न होता है, बशर्ते कि नियामक दाम वही बना रहे। ऐसा हमेशा ही नहीं होता है; विशेषकर ऐसा तब नहीं होता है कि जब यह अतिरिक्त उत्पादन क मिट्टी को कृषि के बाहर और इस प्रकार प्रतिद्वंद्वी मृदाओं के अनुक्रम के बाहर धकेल देता है। इस हालत में नियामक उत्पादन दाम गिर जाता है। अगर इसके साथ मजदूरी में उतार आये, या अगर सस्ता उत्पाद स्थिर पूंजी में उसके एक तत्व के रूप में प्रवेश करे, तो लाभ दर चढ़ जायेगी। अगर अतिरिक्त पूंजी की वर्धित उत्पादिता श्रेष्ठतम मृदाओं ग तथा घ पर हुई है, तो यह पूर्णतः वर्धित उत्पादिता की मात्रा और अतिरिक्त नयी पूंजी के परिमाण पर निर्भर करेगा कि वर्धित बेशी लाभ (और इस प्रकार वर्धित किराये) की उत्पत्ति कहां तक दामों में उतार और लाभ दर में चढ़ाव के साथ संबद्ध होगी। अंतोक्त मजदूरी में उतार के बिना भी, स्थिर पूंजी के तत्वों के सस्ते होने के जरिये, चढ़ सकती है।

ग) अगर पूंजी का अतिरिक्त निवेश ह्रासमान बेशी लाभ के साथ, किंतु इस प्रकार होता है कि अतिरिक्त परिव्यय से प्राप्ति अब भी क में निवेशित उसी पूंजी से प्राप्ति से अधिक बेशी छोड़ देती है, तो सभी परिस्थितियों के अंतर्गत नये बेशी लाभ की उत्पत्ति होती है, बशर्ते कि वर्धित पूर्ति क मिट्टी को कृषि से अलग नहीं कर देती है। ऐसा घ, ग, ख तथा क पर एकसाथ हो सकता है। लेकिन दूसरी ओर, अगर निकृष्टतम मिट्टी क को कृषि के बाहर धकेल दिया जाता है, तो उत्पादन का नियामक दाम गिर जाता है और यह १ क्वार्टर के ह्रासित दाम और बेशी लाभ का निर्माण करनेवाले क्वार्टरों की बढ़ी हुई संख्या के बीच संबंध पर निर्भर करेगा कि मुद्रा में अभिव्यक्त बेशी लाभ, और परिणामस्वरूप विभेदक किराया, चढ़ता है या गिरता है। लेकिन किसी भी सूरत में यहां यह उल्लेखनीय है कि पूंजी के आनु-क्रमिक निवेशों से ह्रासित होते बेशी लाभ के साथ उत्पादन दाम चढ़ने के बजाय, जो पहली नजर में प्रकटतः होना चाहिए था, गिर सकता है।

ह्रासमान बेशी प्रतिफलों के साथ पूंजी के ये अतिरिक्त निवेश पूर्णतः उस प्रसंग के अनुरूप हैं, जिसमें, उदाहरण के लिए, २ १/२-२ १/२ पाउंड की चार नयी स्वतंत्र पूंजियां क और ख, ख और ग, ग और घ के बीच की उर्वरता की और क्रमशः १ १/२, २ १/३, २ २/३, और ३ क्वार्टर प्रदान करनेवाली मिट्टियों में निवेशित की जायेंगी। बेशी लाभ (संभाव्य किराया) इन सभी मिट्टियों पर इन चारों अतिरिक्त पूंजियों के लिए उत्पन्न होगा, यद्यपि अनुरूप श्रेष्ठतर मिट्टी पर उसी पूंजी निवेश के लिए बेशी लाभ दर की तुलना में बेशी लाभ दर घट जायेगी। और यह बात महत्वहीन होगी कि ये चारों पूंजियां घ, आदि में निवेशित की गयी हैं, अथवा घ तथा क के बीच वितरित हैं।

अब हम विभेदक किराये के दोनों रूपों के बीच एक तात्विक अंतर पर आते हैं।

विभेदक किराया I के अंतर्गत, स्थिर उत्पादन दाम और स्थिर अंतरों के साथ, प्रति एकड़ औसत किराया, अथवा पूंजी पर औसत किराया दर किराये के साथ-साथ बढ़ सकते हैं। लेकिन यह औसत मात्र एक अमूर्तन है। यहां प्रति एकड़ अथवा पूंजी के संदर्भ में परिकलित किराये की वास्तविक राशि उतनी ही रहती है।

इसके विपरीत, प्रति एकड़ के हिसाब से परिकलित किराये की राशि उन्हीं अवस्थाओं के अंतर्गत बढ़ सकती है, यद्यपि किराया दर – निवेशित पूंजी की सापेक्षता में मापित – उतनी ही रह सकती है।

मान लेते हैं कि क, ख, ग तथा घ मृदाओं में से प्रत्येक में २ १/२ पाउंड के बजाय ५ पाउंड के, अर्थात कुल १० पाउंड के बजाय २० पाउंड के निवेश द्वारा उत्पादन दुगुना हो जाता है और सापेक्ष उर्वरता अपरिवर्तित रहती है। यह मिट्टी के इनमें से प्रत्येक प्रकार के १ के बजाय २ एकड़ को उसी लागत पर काश्त करने के बराबर होगा। लाभ दर उतनी ही बनी रहेगी और उसका बेशी लाभ अथवा किराये के साथ संबंध भी वही बना रहेगा। लेकिन अगर क अब २ क्वार्टर, ख – ४, ग – ६ और घ – ८ क्वार्टर प्रदान करती, तो उत्पादन दाम फिर भी वही ३ पाउंड प्रति क्वार्टर बना रहेगा, क्योंकि यह वृद्धि उसी पूंजी के साथ द्विगुणित उर्वरता के कारण नहीं, वरन उसी समानुपातिक उर्वरता के साथ द्विगुणित पूंजी के कारण है। क के २ क्वार्टर अब ६ पाउंड लागत के होंगे, जैसे पहले १ क्वार्टर की लागत ३ पाउंड थी। लाभ चारों ही मृदाओं पर दुगुना हो जायेगा, लेकिन सिर्फ़ इसलिए कि निवेशित पूंजी दुगुनी हो गयी है। लेकिन इसी अनुपात में किराया भी दुगुना हो जायेगा; अब वह ख के लिए १ क्वार्टर के बजाय २ क्वार्टर, ग के लिए २ के बजाय ४ क्वार्टर, और घ के लिए ३ के बजाय ६ क्वार्टर हो जायेगा; और उसी के अनुरूप ख, ग और घ के लिए नक़दी किराया अब क्रमशः ६ पाउंड, १२ पाउंड और १८ पाउंड हो जायेगा। प्रति एकड़ पैदावार की ही भांति प्रति एकड़ द्रव्यरूप किराया भी दुगुना हो जायेगा, और फलतः, जमीन का दाम भी दुगुना हो जायेगा, जिसके द्वारा इस नक़दी किराये को पूंजीकृत किया जाता है। इस तरीक़े से हिसाब लगाने पर अनाज और मुद्रा के रूप में किराये का परिमाण और इस प्रकार जमीन का दाम बढ़ जाता है, क्योंकि उसके अभिकलन में प्रयुक्त मानक, अर्थात एकड़, एक नियत परिमाण का क्षेत्रफल है। इसके विपरीत, निवेशित पूंजी पर किराया दर के रूप में परिकलित किये जाने पर किराये की समानुपातिक मात्रा में कोई अंतर नहीं आता। किराये की कुल रक़म ३६ का २० की निवेशित पूंजी के साथ वही अनुपात है, जो किराये की १८ की रक़म का १० की निवेशित पूंजी के साथ है। प्रत्येक मृदा प्रकार से नक़दी किराये के उसमें निवेशित पूंजी के साथ अनुपात के बारे में भी यही बात लागू होती है; उदाहरण के लिए, ग में १२ पाउंड किराये का ५ पाउंड पूंजी से वही अनुपात है, जो ६ पाउंड किराये का पहले २ १/२ पाउंड पूंजी के साथ था। यहां निवेशित पूंजियों के बीच कोई नये अंतर नहीं उत्पन्न होते, किंतु केवल इस कारण नये बेशी लाभ उत्पन्न होते हैं कि अतिरिक्त पूंजी किरायादायी मृदाओं में से एक में, अथवा उन सभी में, उसी समानुपातिक प्रतिफल के साथ निवेशित की जाती है, जैसे पहले की जाती थी। अगर यह द्विगुणित निवेश, मिसाल के लिए, सिर्फ़ ग में होता है, तो पूंजी के लिहाज से परिकलित ग, ख तथा घ के बीच विभेदक किराया उतना ही बना रहेगा, कारण कि जब ग से प्राप्त किराये की मात्रा दुगुनी हो जाती है, तो निवेशित पूंजी भी दुगुनी हो जाती है।

इससे यह प्रकट होता है कि प्रति एकड़ जिंसरूप तथा द्रव्यरूप किराये की मात्रा और इस प्रकार जमीन की क़ीमत चढ़ सकती हैं, जबकि उत्पादन दाम, लाभ दर तथा अंतर अपरि-

वर्तित बने रहते हैं (और इस प्रकार पूंजी की सापेक्षता में परिकलित बेशी लाभ दर अथवा किराया दर अपरिवर्तित रहती है)।

बिलकुल ऐसा ही ह्रासमान बेशी लाभ दरों और फलतः ह्रासमान किराया दरों के साथ, अर्थात पूंजी के अब भी किराया प्रदान करनेवाले अतिरिक्त परिव्ययों की ह्रासमान उत्पादिता के साथ, हो सकता है। अगर २ १/२ पाउंड पूंजी के दूसरे निवेशों ने उपज को दुगुना न कर दिया होता, बल्कि ख ने केवल ३ १/२ क्वार्टर, ग ने ५ और घ ने ७ क्वार्टर* प्रदान किया होता, तो ख में २ १/२ पाउंड की दूसरी पूंजी के लिए विभेदक किराया १ क्वार्टर के बजाय सिर्फ़ १/२ क्वार्टर, ग पर २ के बजाय १ क्वार्टर और घ पर ३ के बजाय २ क्वार्टर ही होता। तब दोनों आनुक्रमिक निवेशों के लिए किराये और पूंजी के बीच अनुपात इस प्रकार होते:

	पहला निवेश		दूसरा निवेश	
ख:	किराया ३ पाउंड,	पूंजी २ १/२ पाउंड	किराया १ १/२ पाउंड,	पूंजी २ १/२ पाउंड
ग:	,, ६ पाउंड,	,, २ १/२ पाउंड	,, ३ पाउंड,	,, २ १/२ पाउंड
घ:	,, ९ पाउंड,	,, २ १/२ पाउंड	,, ६ पाउंड,	,, २ १/२ पाउंड

पूंजी के आधार पर परिकलित पूंजी की इस ह्रासित सापेक्ष उत्पादन दर और फलतः ह्रासित बेशी लाभ के बावजूद अनाज तथा द्रव्य के रूप में ख पर किराया १ क्वार्टर से बढ़कर १ १/२ (३ पाउंड से ४ १/२ पाउंड), ग पर २ से बढ़कर ३ क्वार्टर (६ पाउंड से ९ पाउंड), और घ पर ३ से बढ़कर ५ क्वार्टर (९ पाउंड से १५ पाउंड) हो गया होता। इस प्रसंग में क में निवेशित पूंजी की तुलना में अतिरिक्त पूंजियों के लिए अंतर घट गये होते, उत्पादन दाम वही बना रहता, मगर प्रति एकड़ किराया, और परिणामस्वरूप ज़मीन का प्रति एकड़ दाम, चढ़ गया होता।

अब विभेदक किराया II के, जो विभेदक किराया I की अपने आधार के रूप में पूर्व-कल्पना करता है, संयोगों को लिया जायेगा।

*१८९४ के जर्मन संस्करण में इसके स्थान पर ६ क्वार्टर छपा है।—सं०

अध्याय ४१

विभेदक किराया II।–पहली सूरत: स्थिर उत्पादन दाम

यहां जो कल्पना की जा रही है, उसमें यह सन्निहित है कि बाजार भाव का नियमन पहले की ही भांति निकृष्टतम मिट्टी क में निवेशित पूंजी द्वारा किया जाता है।

I. अगर किराया देनेवाली मिट्टियों में से किसी में भी–ख, ग, घ–निवेशित अतिरिक्त पूंजी सिर्फ़ उतना उत्पन्न करती है कि जितना क मिट्टी पर उतनी ही पूंजी करती है, अर्थात अगर वह उत्पादन के नियामक दाम पर केवल औसत लाभ प्रदान करती है, किंतु कोई बेशी लाभ नहीं देती, तो किराये पर प्रभाव शून्य है। सभी कुछ पहले जैसा ही बना रहता है। यह ऐसी ही बात है, मानो कृष्ट क्षेत्र में क कोटि की, अर्थात निकृष्टतम मिट्टी की, मनचाही संख्या में एकड़ शामिल कर दिये गये हों।

II. अतिरिक्त पूंजियां विभिन्न मिट्टियों में से हर एक पर अपने परिमाण के यथानुपात अतिरिक्त उपज प्रदान करती हैं; दूसरे शब्दों में, उत्पादन का परिमाण प्रत्येक मृदा प्रकार की विशिष्ट उर्वरता के अनुसार–अतिरिक्त पूंजी के परिमाण के अनुपात में–बढ़ता है। अध्याय ३९ में हमने इस तालिका I को अपना प्रारंभ बिंदु बनाया था:

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वा०)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया		बेशी लाभ दर
								क्वा०	पा०	
क	१	२ १/२	१/२	३	१	३	३	०	०	०
ख	१	२ १/२	१/२	३	२	३	६	१	३	१२०%
ग	१	२ १/२	१/२	३	३	३	९	२	६	२४०%
घ	१	२ १/२	१/२	३	४	३	१२	३	९	३६०%*
योग	४	१०		१२	१०		३०	६	१८	

* १८९४ के जर्मन संस्करण में इस स्तंभ में क्रमशः ये संख्याएं छपी हुई हैं: १२%, २४%, ३६%।–सं०

अब यह इसमें परिणत हो जाती है:

तालिका II

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वा०)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया		बेशी लाभ दर
								क्वा०	पा०	
क	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	२	३	६	०	०	०
ख	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	४	३	१२	२	६	१२०%
ग	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	६	३	१८	४	१२	२४०%
घ	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	८	३	२४	६	१८	३६०%
	४	२०			२०		६०	१२	३६	

इस प्रसंग में यह आवश्यक नहीं है कि पूंजी निवेश सभी मृदाओं में दुगुना हो, जैसे तालिका में है। जब तक अतिरिक्त पूंजी एक या अनेक किरायादायी मृदाओं में, चाहे किसी भी अनुपात में, निवेशित की जाती है, नियम वही रहता है। आवश्यक केवल यह है कि उत्पादन प्रत्येक मिट्टी पर उसी अनुपात में बढ़े, जिसमें पूंजी बढ़ती है। किराया यहां केवल मिट्टी में पूंजी के वर्धित निवेश के परिणामस्वरूप और इस वृद्धि के अनुपात में ही बढ़ता है। पूंजी के वर्धित परिव्यय के परिणामस्वरूप और उसके अनुपात में उपज और किराये में यह वृद्धि उपज तथा किराये की मात्रा के संदर्भ में बिलकुल वैसी ही होती है कि जैसी तब, जब उसी कोटि के किरायादायी भूखंडों के कृष्ट क्षेत्र को पूंजी के उतने ही परिव्यय से बढ़ाया और काश्त में लाया गया हो, जितनी उसी प्रकार की मिट्टियों में पहले निवेशित की गयी थी। उदाहरण के लिए, तालिका II के प्रसंग में, अगर २ १/२ पाउंड प्रति एकड़ की अतिरिक्त पूंजी ख, ग और घ के एक अतिरिक्त एकड़ में निवेशित की जाती है, तो परिणाम वही रहेगा।

इसके अलावा, इस कल्पना में पूंजी का कोई अधिक उत्पादक निवेश नहीं, बल्कि केवल अधिक पूंजी का पहले जितने ही क्षेत्र पर उतनी ही सफलता के साथ परिव्यय ही सन्निहित है।

सारे सापेक्ष परिमाण यहां यथावत बने रहते हैं। बेशक, अगर आनुपातिक अंतरों की तरफ़ न देखा जाये, बल्कि शुद्ध गणितीय अंतरों पर ही ध्यान दिया जाये, तो विभिन्न मृदाओं पर विभेदक किराया बदल सकता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि अतिरिक्त पूंजी केवल ख और घ में निवेशित की गयी है। अतः घ और क के बीच अंतर = ७ क्वार्टर, जबकि पहले वह = ३ क्वार्टर था; ख और क के बीच अंतर = ३ क्वार्टर, जबकि पहले वह = १ क्वार्टर था; ग और ख के बीच अंतर = — १, जबकि पहले वह = + १ था, आदि। लेकिन यह गणितीय अंतर, जो विभेदक किराया I में इस लिहाज़ से निर्णायक है कि वह पूंजी के समान

परिव्ययों के साथ उत्पादिता में अंतर को व्यक्त करता है, यहां सर्वथा महत्वहीन है, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न अतिरिक्त निवेशों का, अथवा अतिरिक्त निवेश न होने का मात्र एक परिणाम है, जबकि विभिन्न भूखंडों पर पूंजी के प्रत्येक समान अंश के लिए अंतर अपरिवर्तित बना रहता है।

III. अतिरिक्त पूंजियां बेशी उपज प्रदान करती हैं और इस प्रकार बेशी लाभ का निर्माण करती हैं, किंतु ह्रासमान दर से, अपनी वृद्धि के अनुपात में नहीं।

तालिका III

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वा०)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया		बेशी लाभ दर
								क्वा०	पा०	
क	१	२ १/२	१/२	३	१	३	३	०	०	०
ख	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	२+१ १/२=३ १/२	३	१ १/२	१ १/२	४ १/२	६०%
ग	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	३+२=५	३	३	३	९	१८०%
घ	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	४+३ १/२=७ १/२	३	२ १/२	५ १/२	१६ १/२	३३०%
		१७ १/२	३ १/२	२१	१७		५१	१०	३०	

इस तीसरी कल्पना के प्रसंग में भी यह महत्वहीन है कि पूंजी के अतिरिक्त दूसरे निवेश विभिन्न मृदाओं में समरूप वितरित हैं या नहीं; बेशी लाभ का ह्रासमान उत्पादन समानुपात होता है या नहीं; पूंजी के अतिरिक्त निवेश सब के सब मिट्टी के उसी किरायादायी प्रकार में हैं, अथवा वे विभिन्न गुणवत्ता के किरायादायी भूखंडों में समान रूप में अथवा असमान रूप में वितरित हैं। ये सभी परिस्थितियां उस नियम के लिए महत्वहीन हैं, जिसे विकसित किया जाना है। एकमात्र कल्पना यह है कि पूंजी के अतिरिक्त निवेश किरायादायी मृदाओं में से किसी पर भी बेशी लाभ प्रदान करते हैं, लेकिन पूंजी में वृद्धि की मात्रा के ह्रासमान अनुपात में। हमारे सामने जो तालिका है, उसमें इस ह्रास की सीमाएं ४ क्वार्टर = १२ पाउंड, जो श्रेष्ठतम मृदा घ पर पूंजी के पहले परिव्यय से प्राप्त उपज है और १ क्वार्टर = ३ पाउंड, जो निकृष्टतम मृदा क पर पूंजी के उसी परिव्यय से प्राप्त उपज है, के बीच हैं। पूंजी I के निवेश के प्रसंग में श्रेष्ठतम मृदा से प्राप्त उपज ऊपरी सीमा बनाती है, और पूंजी के उसी परिव्यय से निकृष्टतम मिट्टी क से, जो न किराया प्रदान करती है और न बेशी लाभ, प्राप्त उपज उस उपज की निम्नतम सीमा है, जो पूंजी के आनुक्रमिक निवेश आनुक्रमिक पूंजी निवेशों की ह्रासमान उत्पा-

दिता के साथ बेशी लाभ उत्पादित करनेवाले मृदा प्रकारों में से किसी पर भी प्रदान करते हैं। जिस प्रकार कल्पना II उस अवस्था के अनुरूप है, जिसमें श्रेष्ठतर मृदाओं के उसी कोटि के नये भूखंड कृष्ट क्षेत्र में जोड़े जाते हैं, जिसमें कृष्ट मृदाओं में से किसी एक की माला बढ़ जाती है, उसी प्रकार कल्पना III उस स्थिति के अनुरूप है, जिसमें अतिरिक्त भूखंड काश्त किये जाते हैं, जिनकी विभिन्न उर्वरता मात्राएं घ से क तक की मृदाओं में, अर्थात श्रेष्ठतम से निकृष्टतम मिट्टियों में, वितरित होती हैं। अगर आनुक्रमिक पूंजी निवेश केवल घ मिट्टी में किये जाते हैं, तो वे घ तथा क के बीच विद्यमान अंतरों को, और फिर घ तथा ग के बीच अंतरों को और इसी प्रकार घ तथा ख के बीच अंतरों को समाविष्ट कर सकते हैं। अगर वे सब ग मिट्टी में ही किये जाते हैं, तो केवल ग तथा क और ग तथा ख के बीच अंतर समाविष्ट होते हैं, और अगर केवल ख में किये जाते हैं, तो सिर्फ़ ख और क के बीच अंतर समाविष्ट होते हैं।

लेकिन नियम यह है: किराया इन सभी मृदाओं पर निरपेक्षतः बढ़ता है, चाहे निवेशित अतिरिक्त पूंजी के अनुपात में नहीं।

बेशी लाभ दर अतिरिक्त पूंजी और मिट्टी में निवेशित कुल पूंजी की भी दृष्टि से घटती है; लेकिन बेशी लाभ का निरपेक्ष परिमाण बढ़ता है, बिलकुल उसी प्रकार कि जिस प्रकार सामान्यतः पूंजी पर ह्रासमान लाभ दर के साथ लाभ के कुल परिमाण में वृद्धि आती है। इस प्रकार, ख में निवेशित पूंजी का औसत बेशी लाभ = ९०%, जबकि पहले पूंजी परिव्यय के लिए वह = १२० % था। लेकिन कुल बेशी लाभ बढ़कर १ क्वार्टर से १ १/२ क्वार्टर, अथवा ३ पाउंड से ४ १/२ पाउंड हो जाता है। कुल किराया – अगर उसे स्वयं अपने में, न कि अग्र-सारित पूंजी के द्विगुणित परिमाण की सापेक्षता में देखा जाये, तो निरपेक्षतः बढ़ गया है। विभिन्न मृदाओं से किरायों में अंतरों और उनके सापेक्ष परिमाणों में यहां भिन्नता हो सकती है, लेकिन अंतरों में यह भिन्नता किरायों की एक दूसरे से सापेक्षता में वृद्धि का परिणाम है, उसका कारण नहीं।

IV. जिस प्रसंग में श्रेष्ठतम मिट्टियों में अतिरिक्त पूंजी निवेश मूल निवेशों की अपेक्षा अधिक उपज प्रदान करते हैं, उसका और अधिक विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं है। कहना अनावश्यक है कि इस कल्पना के अंतर्गत प्रति एकड़ किराया बढ़ेगा, और अतिरिक्त पूंजी की अपेक्षा अधिक अनुपात में बढ़ेगा, चाहे परिव्यय किसी भी प्रकार की मिट्टी में क्यों न किया गया हो। इस मामले में पूंजी का अतिरिक्त निवेश सुधारों के साथ होता है। इसमें वे स्थितियां सम्मिलित हैं, जिनमें कम पूंजी का अतिरिक्त परिव्यय उतना ही अथवा उससे अधिक प्रभाव पैदा करता है, जितना अधिक पूंजी का अतिरिक्त परिव्यय पहले करता था। यह प्रसंग पूर्ववर्ती प्रसंग के बिलकुल सर्वसम नहीं है, और विभेद सभी पूंजी निवेशों में महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, अगर १०० से १० का लाभ प्राप्त होता है, और किसी ख़ास रूप में नियोजित २०० से ४० का लाभ प्राप्त होता है, तो लाभ चढ़कर १०% से २०% हो गया है, और इस हद तक यह ऐसा ही है, मानो अधिक कारगर रूप में नियोजित ५० से ५ के बजाय १० का लाभ प्राप्त होता हो। यहां हम यह मानते हैं कि लाभ उपज में आनुपातिक वृद्धि से संबद्ध है। लेकिन अंतर यह है कि एक प्रसंग में मुझे पूंजी को दुगुना करना होगा, जबकि दूसरे प्रसंग में मैं जो

प्रभाव उत्पन्न करता हूं, वह अब तक नियोजित पूंजी से द्विगुणित हो जाता है। आया कि मैं १) पहले जितनी ही उपज आधे सजीव तथा मूर्त श्रम से, या २) पहले से दुगुनी उपज उतने ही श्रम से, अथवा ३) पहले से चारगुनी उपज दुगुने श्रम से पैदा करता हूं, यह किसी भी प्रकार एक ही बात नहीं है। पहली सूरत में श्रम – सजीव अथवा वस्तुरूप में – निर्मोचित होता है और अन्यथा नियोजित किया जा सकता है; पूंजी और श्रम की व्यवस्था करने की शक्ति बढ़ जाती है। पूंजी (तथा श्रम) का निर्मोचन अपने आप में धन का संवर्धन है; इसका बिलकुल वैसा ही प्रभाव है, जैसे यह अतिरिक्त पूंजी संचय द्वारा प्राप्त की गयी हो, किंतु वह संचयन के श्रम को बचाती है।

मान लीजिये कि १०० की पूंजी ने १० मीटर उत्पाद पैदा किया है। इस १०० में स्थिर पूंजी, सजीव श्रम और लाभ सम्मिलित हैं। इस प्रकार, एक मीटर की लागत १० है। अब अगर मैं १०० की उसी पूंजी से २० मीटर उत्पादित करूं, तो एक मीटर की लागत ५ हो जायेगी। दूसरी ओर, अगर मैं १० मीटर का उत्पादन ५० की पूंजी से कर सकूं, तो एक मीटर की लागत उसी प्रकार ५ ही होगी, और अगर जिंसों की पहलेवाली पूर्ति पर्याप्त हो, तो ५० को पूंजी का निर्मोचन हो जाता है। अगर मुझे ४० मीटर उत्पादित करने के लिए २०० की पूंजी निवेशित करनी होती है, तब भी एक मीटर की लागत ५ ही है। मूल्य का और दाम का भी निर्धारण यहां किसी अंतर के पहचाने जाने की गुंजाइश वैसे ही नहीं देता, जैसे कि पूंजी परिव्यय के साथ उत्पादन के परिमाण का अनुपात नहीं देता। लेकिन पहले प्रसंग में अतिरिक्त पूंजी बचती है,* जिससे कि संभवत: उत्पादन को, आवश्यकता पड़ने पर, दुगुना करने के लिए इस्तेमाल की जा सके; दूसरे प्रसंग में पूंजी निर्मोचित होती है,** तीसरे प्रसंग में वर्धित उत्पाद केवल निवेशित पूंजी का संवर्धन करके ही प्राप्त किया जा सकता है, यद्यपि उसी अनुपात में नहीं कि जितना तब, जब वर्धित उत्पाद की पूर्ति पुरानी उत्पादक शक्ति द्वारा की जानी होती थी। (यह भाग I का विषय है।)

पूंजीवादी उत्पादन के दृष्टिकोण से स्थिर पूंजी का नियोजन सदा परिवर्ती पूंजी के नियोजन की अपेक्षा सस्ता होता है, बेशी मूल्य बढ़ाने के लिहाज़ से नहीं, बल्कि लागत दाम घटाने के लिहाज़ से – और बेशी मूल्य का सृजन करनेवाले तत्व में भी, श्रम में, लागत व्ययों की बचत पूंजीपति के लिए इस काम को अंजाम देती है और उसके लिए तब तक लाभ बनाती रहती है कि जब तक नियमक उत्पादन दाम उतना ही बना रहता है। वास्तव में यह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अनुरूप उधार पद्धति के विकास और उधारार्थ पूंजी के प्राचुर्य की पूर्वकल्पना करता है। एक ओर, मैं १०० पाउंड की अतिरिक्त स्थिर पूंजी को, अगर १०० पाउंड पांच श्रमिकों की साल भर की पैदावार हो, और दूसरी ओर, १०० पाउंड परिवर्ती पूंजी के रूप में नियोजित करता हूं। अगर बेशी मूल्य दर = १००%, तो पांच श्रमिकों द्वारा सृजित मूल्य = २०० पाउंड; दूसरी ओर, १०० पाउंड स्थिर पूंजी का मूल्य = १०० पाउंड, और पूंजी के नाते संभवत: = १०५ पाउंड, अगर ब्याज दर = ५%। अपने द्वारा पैदा किये जानेवाले उत्पाद के दृष्टिकोण से वही द्रव्य राशियां इसके अनुसार अत्यंत भिन्न मूल्यों को व्यक्त करती हैं कि वे उत्पादन में स्थिर पूंजी के मूल्य परिमाणों के रूप में अग्रसारित की जाती हैं या परिवर्ती पूंजी

---

* १८९४ के जर्मन संस्करण में छपा है: पूंजी निर्मोचित होती है। – सं०

** वहीं यह छपा है: पूंजी बचती है। – सं०

के। इसके अलावा, जहां तक पूंजीपति के दृष्टिकोण से जिंसों की लागत का सवाल है एक यह अंतर भी है कि १०० पाउंड स्थिर पूंजी में से, जहां तक वह स्थायी पूंजी में निवेशित की जाती है, सिर्फ़ टूट-फूट ही जिंस के मूल्य में प्रवेश करती है, जबकि मजदूरी में निवेशित १०० पाउंड को पूर्णतः जिंसरूप में पुनरुत्पादित करना होता है।

उपनिवेशकों और सामान्यतः स्वतंत्र छोटे उत्पादकों के मामले में, जिनको पूंजी या तो बिलकुल सुलभ नहीं होती या ऊंची ब्याज दरों पर ही हो पाती है, उपज का वह भाग उनकी आय होता है, जो मजदूरी को प्रकट करता है, जबकि पूंजीपति के लिए यह भाग पूंजी का पेशगी दिया जाना है। अतः पूर्वोक्त श्रम के इस व्यय को श्रम उत्पाद के लिए अपरिहार्य पूर्वापेक्षा समझता है, और इसी में उसकी सर्वोपरि दिलचस्पी होती है। लेकिन जहां तक उसके बेशी श्रम की बात है, आवश्यक श्रम को निकालने के बाद वह प्रत्यक्षतः बेशी उत्पाद में सिद्धिकृत हो जाता है; और जैसे ही वह उसे बेचने में सफल हो जाता है, या उसका स्वयं उपयोग कर पाता है, वैसे ही वह उसे एक ऐसी चीज़ समझने लगता है, जिसके लिए उसे कुछ भी नहीं ख़र्च करना पड़ा था, क्योंकि उसके लिए उसे कोई मूर्त श्रम नहीं ख़र्च करना पड़ा था। केवल अंतोक्त का व्यय ही उसे धन के अन्यसंक्रामण जैसा प्रतीत होता है। बेशक, वह उसे यथासंभव ऊंचे दाम बेचने का यत्न करता है, लेकिन मूल्य के नीचे और पूंजीवादी उत्पादन दाम के नीचे बिक्री भी उसे लाभ जैसी लगती है, बशर्ते कि यह लाभ ऋणों, बंधकों, आदि द्वारा न ग्रहण कर लिया जाये। इसके विपरीत, पूंजीपति के लिए जैसे परिवर्ती, वैसे ही स्थिर पूंजी का निवेश पूंजी का पेशगी दिया जाना है। अन्य सभी अवस्थाएं समान होने पर स्थिर पूंजी की अपेक्षाकृत बड़ी पेशगी लागत दाम को, और वास्तव में जिंसों के मूल्य को घटाती है। यही कारण है कि यद्यपि लाभ केवल बेशी श्रम से और फलतः केवल परिवर्ती पूंजी के नियोजन से ही उत्पन्न होता है, फिर भी व्यष्टिक पूंजीपति को यही लग सकता है कि सजीव श्रम उसके उत्पादन दाम में सबसे महंगा तत्व है, जिसे और सभी से पहले घटाकर न्यूनतम पर लाना चाहिए। यह इस तथ्य का पूंजीवादी दृष्टि से विकृत रूप मात्र है कि सजीव श्रम की तुलना में घनीभूत श्रम का सापेक्षतया अधिक उपयोग सामाजिक श्रम की उत्पादिता में वृद्धि और अधिक सामाजिक संपदा को द्योतित करता है। प्रतिद्वंद्विता के दृष्टिकोण से सभी कुछ इस तरह से विकृत और उलटा-पलटा हुआ नज़र आता है।

अगर यह मान लिया जाये कि उत्पादन दाम अपरिवर्तित बने रहते हैं, तो श्रेष्ठतर मृदाओं में, अर्थात **ख** से ऊपर की सभी मिट्टियों में, अतिरिक्त पूंजी निवेश अपरिवर्तित, वर्धमान, अथवा ह्रासमान उत्पादिता के साथ किये जा सकते हैं। **क** मिट्टी के लिए ऐसा केवल हमारे द्वारा कल्पित अवस्थाओं के अंतर्गत ही संभव होगा, अगर उत्पादिता वही बनी रहती है – जिससे ज़मीन **क** अब भी कोई किराया नहीं प्रदान करती, – और अगर उत्पादिता बढ़ती भी है, तो **क** में निवेशित पूंजी का एक अंश किराया प्रदान करेगा, जबकि शेषांश नहीं करेगा। लेकिन अगर **क** पर उत्पादिता घट जाये, तो यह असंभव होगा, क्योंकि तब उत्पादन दाम अपरिवर्तित नहीं रहेगा, बल्कि चढ़ जायेगा। तथापि इन सभी सूरतों में, अर्थात चाहे अतिरिक्त निवेशों द्वारा प्रदत्त बेशी उत्पाद उनके अनुपात में है अथवा इस अनुपात से अधिक या कम है, – अतः चाहे पूंजी पर बेशी लाभ दर इस पूंजी के बढ़ने पर स्थिर रहती है, चढ़ती है अथवा गिरती है, बेशी उत्पाद और अनुरूप प्रति एकड़ बेशी लाभ बढ़ता है और इसलिए अनाज तथा

द्रव्य के रूप में संभाव्य किराया भी बढ़ता है। प्रति एकड़ परिकलित बेशी लाभ अथवा किराये की सिर्फ़ मात्रा में वृद्धि, अर्थात किसी नियत इकाई—प्रस्तुत प्रसंग में ज़मीन की एक एकड़ या एक हैक्टर जैसी निश्चित मात्रा—के आधार पर परिकलित वर्धमान मात्रा अपने आपको एक वर्धमान अनुपात के रूप में व्यक्त करती है। अतः किराये का, प्रति एकड़ परिकलित, परिमाण ऐसी परिस्थितियों के अंतर्गत महज़ भूमि में निवेशित पूंजी में वृद्धि के परिणामस्वरूप ही बढ़ता है। निस्संदेह, यह इसलिए होता है कि माना गया है कि उत्पादन दाम वही रहते हैं, और दूसरी ओर, इससे निरपेक्ष कि अतिरिक्त पूंजी की उत्पादिता अपरिवर्तित रहती है, या वह घटती है अथवा बढ़ती है। अंतोक्त परिस्थितियां उस परिधि को आशोधित कर देती हैं, जिसके भीतर प्रति एकड़ किराये का परिमाण बढ़ता है, मगर स्वयं इस वृद्धि के अस्तित्व को नहीं। यह परिघटना विभेदक किराया II की विशिष्टता है और उसे विभेदक किराया I से अलग करती है। यदि पूंजी के आनुक्रमिक निवेश उसी मृदा में कालक्रम में अनुक्रमशः किये जाने के बजाय स्थानक्रम में, अनुरूप कोटि की नयी अतिरिक्त मृदा में साथ-साथ, अनुक्रमशः किये जायें, तो किराये की मात्रा बढ़ जायेगी, और, जैसे पहले दिखलाया जा चुका है, इसी प्रकार कुल कृष्ट क्षेत्र से औसत किराया भी बढ़ जायेगा, लेकिन प्रति एकड़ किराये का परिमाण नहीं बढ़ेगा। जहां तक कुल उत्पादन तथा बेशी उत्पाद की मात्रा और मूल्य का संबंध है, परिणाम एक ही हो, तो छोटे भूक्षेत्र पर पूंजी का संकेंद्रण प्रति एकड़ किराये की मात्रा को बढ़ाता है, जबकि उन्हीं अवस्थाओं के अंतर्गत उसका बड़े भूक्षेत्र पर विसारण, अन्य अवस्थाएं समान होने पर, यह प्रभाव नहीं उत्पन्न करता। लेकिन पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली जितना ही विकास करती जाती है, ज़मीन के उसी क्षेत्र पर पूंजी का संकेंद्रण भी उतना ही विकास करता जाता है, और फलतः प्रति एकड़ परिकलित किराया भी उतना ही बढ़ता जाता है। फलस्वरूप, अगर दो देश हों, जिनमें उत्पादन दाम एकसमान हैं, मृदा प्रकारों में अंतर एकसमान हैं, और पूंजी की समान राशि निवेशित की जाती है,—लेकिन एक देश में भूमि के एक सीमित क्षेत्र पर आनुक्रमिक परिव्ययों के रूप में अधिक, जबकि दूसरे देश में अधिक बड़े भूक्षेत्र पर समन्वित परिव्ययों के रूप में अधिक,—तो प्रति एकड़ किराया और इस प्रकार ज़मीन का दाम पहले देश में ऊंचा होगा और दूसरे में नीचा होगा, यद्यपि कुल किराया दोनों देशों के लिए समान होगा। इस प्रकार किराये के परिमाण में अंतर का कारण यहां विभिन्न मृदाओं की नैसर्गिक उर्वरता में अंतर का परिणाम, या नियोजित श्रम की मात्रा में अंतर का परिणाम नहीं, बल्कि केवल पूंजी को निवेशित करने के भिन्न ढंगों का ही परिणाम बताया जा सकेगा।

जब हम यहां बेशी उत्पाद का उल्लेख करते हैं, तो उसका आशय सदा उपज का वह संखंड समझा जाना चाहिए, जो बेशी लाभ को प्रकट करता है। सामान्य रूप में अतिशय उत्पाद अथवा बेशी उत्पाद से हमारा आशय उपज का वह अंश है, जो कुल बेशी मूल्य को व्यक्त करता है, या कुछ सूरतों में वह अंश, जो औसत लाभ को प्रकट करता है। किरायादायी पूंजी के मामले में यह शब्द जो विशिष्ट अर्थ ग्रहण कर लेता है, वह, जैसे कि पहले इंगित किया जा चुका है, ग़लतफ़हमी पैदा करता है।

अध्याय ४२

विभेदक किराया II । – दूसरी सूरत : ह्रासमान उत्पादन दाम

पूंजी के अतिरिक्त निवेशों के अपरिवर्तित, ह्रासमान, अथवा वर्धमान उत्पादिता दर के साथ होने की सूरत में उत्पादन दाम गिर सकता है।

I. पूंजी के अतिरिक्त निवेशों की उत्पादिता उतनी ही बनी रहती है।

इसलिए इस प्रसंग में यह माना जा रहा है कि उत्पाद विभिन्न मिट्टियों में निवेशित पूंजी के अनुपात में और उनके अपने-अपने गुणों के अनुसार बढ़ता है। मृदाओं में अपरिवर्ती अंतरों के संदर्भ में इसका मतलब यह है कि बेशी उत्पाद पूंजी के वर्धित निवेश के अनुपात में बढ़ता है। इस प्रकार यह सूरत क मिट्टी में पूंजी के किसी भी अतिरिक्त निवेश को अपवर्जित कर देती है, जो विभेदक किराये को प्रभावित कर सकता है। इस मिट्टी के लिए बेशी लाभ दर = ०; इस प्रकार यह = 0 रहती है, क्योंकि हमने माना है कि अतिरिक्त पूंजी की उत्पादनशीलता और परिणामस्वरूप बेशी लाभ दर वही बनी रहती हैं।

लेकिन इन अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादन का नियामक दाम केवल गिर ही सकता है, क्योंकि क मिट्टी के बजाय अब नियामक अगली श्रेष्ठतर मिट्टी का, ख का, अथवा क से श्रेष्ठतर किसी भी मिट्टी का उत्पादन दाम बन जाता है; जिससे पूंजी को क से, अथवा अगर नियामक ग का उत्पादन दाम बन जाता है, तो संभवत: क और घ से निकाल लिया जाता है और इस प्रकार ग से घटिया सभी मिट्टियों को अनाज पैदा करनेवाली मिट्टियों के बीच प्रतिद्वंद्विता से निरसित कर दिया जाता है। हमारे द्वारा मानी हुई अवस्थाओं के अंतर्गत इसके लिए पूर्वापेक्षा यह है कि पूंजी के अतिरिक्त निवेशों से अतिरिक्त उपज को मांग की तुष्टि करनी चाहिए, जिससे हीनतर मिट्टी क, आदि की पैदावार पूर्ण पूर्ति के लिए फ़ालतू बन जाये।

इस प्रकार हम, उदाहरण के लिए, तालिका II ले लेते हैं, लेकिन इस तरह से कि २० क्वार्टर के बजाय १८ क्वार्टर मांग को तुष्ट करते हैं। क मिट्टी बाहर निकल जायेगी; ख* और उसका ३० शिलिंग प्रति क्वार्टर का उत्पादन दाम नियामक बन जायेंगे। अब विभेदक किराया यह रूप ग्रहण करता है:

---

* १८९४ के जर्मन संस्करण में इसकी जगह घ छपा है। – सं०

तालिका IV

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया: अनाज (क्वार्टर)	किराया: नक़द (पाउंड)	बेशी लाभ दर
ख	१	५	१	६	४	११/२	६	०	०	०
ग	१	५	१	६	६	११/२	९	२	३	६०%
घ	१	५	१	६	८	११/२	१२	४	६	१२०%
योग	३	१५	३	१८	१८		२७	६	९	

अतः, तालिका II की तुलना में किराया जमीन घटकर ३६ पाउंड से ९ पाउंड, और अनाज में १२ क्वार्टर से ६ क्वार्टर हो जाता है; कुल उपज में सिर्फ़ २ क्वार्टर, २० क्वार्टर से १८ क्वार्टर, की गिरावट ही आती है। पूंजी पर परिकलित बेशी लाभ दर गिरकर एक तिहाई, अर्थात १८०% से ६०%* हो जाती है। फलतः, उत्पादन दाम में गिरावट के साथ यहां अनाज और द्रव्य के रूप में किराये में कमी आती है।

तालिका I की तुलना में यहां बस नक़द किराये में ही कमी है; दोनों ही प्रसंगों में अनाज में किराया ६ क्वार्टर है; लेकिन एक प्रसंग में वह = १८ पाउंड, और दूसरे में = ९ पाउंड है। ग मिट्टी के लिए** तालिका I की तुलना में अनाज में किराया उतना ही रहा है। वास्तव में, समरूप में कार्य करनेवाली अतिरिक्त पूंजी से जनित अतिरिक्त उत्पादन के कारण ही क से उपज को बाज़ार से हटा दिया गया है और इस प्रकार क मिट्टी एक प्रतिद्वंद्वी उत्पादनकर्ता के नाते निकल गयी है, और यह इसी कारण है कि एक नया विभेदक किराया I उत्पन्न हो गया है, जिसमें बढ़िया मिट्टी ख वही काम करती है, जो पहले घटिया मिट्टी क करती थी। फलतः, एक ओर, ख से किराया विलुप्त हो गया है; दूसरी ओर, हमारी कल्पना के अनुसार, ख, ग और घ के बीच अंतरों में अतिरिक्त पूंजी के निवेश से कुछ भी नहीं बदला है। इसलिए उपज का वह अंश, जो किराये में रूपांतरित होता है, घट जाता है।

अगर उपरोक्त परिणाम – क को बाहर रखते हुए मांग की तुष्टि – संयोग से ग या घ में, या दोनों ही में, दुगुनी से अधिक पूंजी से निवेश से प्राप्त हुआ होता, तो मामला दूसरी ही सूरत ले लेता। उदाहरण के लिए, अगर पूंजी का तीसरा निवेश ग में किया गया होता:

---

* १८९४ के जर्मन संस्करण में छपा है: १८०% से ९०%। – सं०

** वहीं छपा है: ग और घ मिट्टी के लिए। – सं०

तालिका IV क

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया		बेशी लाभ दर
								अनाज (क्वार्टर)	नक़द (पाउंड)	
ख	१	५	१	६	४	१ १/२	६	०	०	०
ग	१	७ १/२	१ १/२	९	९	१ १/२	१३ १/२	३	४ १/२	६०%
घ	१	५	१	६	८	१ १/२	१२	४	६	१२०%
योग	३	१७ १/२	३ १/२	२१	२१		३१ १/२	७	१० १/२	

तालिका IV की तुलना में इस प्रसंग में ग से उपज ६ क्वार्टर से बढ़कर ९ क्वार्टर हो गयी है, बेशी उत्पाद २ क्वार्टर से ३ क्वार्टर और नक़द किराया ३ पाउंड से ४ १/२ पाउंड हो गया है। दूसरी ओर, तालिका II* की, जहा अंतोक्त १२ पाउंड था, और तालिका I की, जहां वह ६ पाउंड था, तुलना में द्रव्यरूप किराया घट गया है। अनाजरूप में कुल किराया = ७ क्वार्टर है और तालिका II की (१२ क्वार्टर) तुलना में गिर गया और तालिका I (६ क्वार्टर) की तुलना में चढ़ गया है, द्रव्यरूप में (१० १/२ पाउंड) वह दोनों की (१८ पाउंड तथा ३६ पाउंड) तुलना में गिर गया है।

अगर २ १/२ पाउंड का पूंजी का तीसरा निवेश ख मिट्टी पर नियोजित किया जाता, तो इससे उत्पादन की मात्रा बेशक बदल गयी होती, मगर किराये पर कोई प्रभाव न पड़ता, क्योंकि हमारी कल्पना के अनुसार आनुक्रमिक निवेश उसी मिट्टी पर कोई अंतर नहीं पैदा करते और ख मिट्टी कोई किराया नहीं प्रदान करती है।

इसके विपरीत, अगर हम यह मान लें कि पूंजी का तीसरा निवेश ग के बजाय घ पर होता है, तो हमारे सामने यह सूरत होती है (देखें तालिका VI ख):

यहां कुल उत्पाद २२ क्वार्टर है, तालिका I की अपेक्षा दुगुने से भी अधिक, यद्यपि निवेशित पूंजी १० पाउंड के मुक़ाबले सिर्फ़ १७ १/२ पाउंड है, अर्थात उसकी दुगुनी नहीं है। कुल उत्पाद तालिका II की अपेक्षा भी २ क्वार्टर ज्यादा है, यद्यपि अंतोक्त में निवेशित पूंजी ज्यादा बड़ी – अर्थात २० पाउंड – है।

तालिका I की तुलना में घ मृदा से अनाजरूप किराया बढ़कर ३** क्वार्टर से ६ क्वार्टर हो गया है, जबकि द्रव्यरूप किराया – ९ पाउंड – उतना ही है। तालिका II की तुलना में घ

---

* १८९४ के जर्मन संस्करण में छपा है: I. – सं०

** वहीं २ छपा है। – सं०

तालिका IV ख

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया		बेशी लाभ दर
								अनाज (क्वार्टर)	नकद (पाउंड)	
ख	१	५	१	६	४	११/२	६	०	०	०
ग	१	५	१	६	६	११/२	९	२	३	६०%
घ	१	७१/२	११/२	९	१२	११/२	१८	६	९	१२०%
योग	३	१७१/२	३१/२	२१	२२		३३	८	१२	

से अनाजरूप किराया उतना ही – अर्थात ६ क्वार्टर – है, लेकिन द्रव्यरूप किराया १८ पाउंड से घटकर ९ पाउंड हो गया है।

कुल किरायों की तुलना करें, तो तालिका IV ख का अनाजरूप किराया = ८ क्वार्टर, तालिका I के ६ क्वार्टर और तालिका IV क के ७ क्वार्टर से ज्यादा है, मगर तालिका II के १२ क्वार्टर से कम है। तालिका IV ख का द्रव्यरूप किराया = १२ पाउंड भी तालिका IV क के १०१/२ पाउंड से ज्यादा, और तालिका I के १८ पाउंड तथा तालिका II के ३६ पाउंड से कम है।

इसलिए कि कुल किराया तालिका IV ख की अवस्थाओं के अंतर्गत (ख से किराये के विलोपन के साथ) तालिका I के बराबर हो सके, हमें बेशी उत्पाद के ६ पाउंड और की जरूरत है, अर्थात ११/२ पाउंड की दर से, जो नया उत्पादन दाम है, ४ क्वार्टर। तब हमारे पास फिर १८ पाउंड का कुल किराया हो जाता है, जैसे तालिका I में है। वांछित अतिरिक्त पूंजी का परिमाण इसके अनुसार भिन्न होगा कि हम उसे ग या घ में निवेशित करते हैं, अथवा उसे दोनों के बीच विभाजित करते हैं।

ग पर ५ पाउंड पूंजी २ क्वार्टर बेशी उत्पाद प्रदान करती है; अतः, १० पाउंड अतिरिक्त पूंजी ४ क्वार्टर अतिरिक्त बेशी उत्पाद प्रदान करती है। घ पर ५ पाउंड अतिरिक्त पूंजी यहां कल्पित अवस्थाओं के अंतर्गत, अर्थात यह कि अतिरिक्त पूंजी निवेशों की उत्पादिता उतनी ही रहती है, ४ क्वार्टर अतिरिक्त अनाजरूप किराया पैदा करने को काफ़ी होगी। तब हमें ये परिणाम प्राप्त होंगे (देखें पुष्ठ ६१२ पर तालिका IV ग तथा तालिका VI घ):

कुल द्रव्यरूप किराया उसका बिलकुल आधा होगा, जितना तालिका II में था, जहां अतिरिक्त पूंजियां स्थिर उत्पादन दामों पर निवेशित की गयी थीं।

सबसे महत्वपूर्ण बात उपरोक्त तालिकाओं की तालिका I से तुलना करना है।

हम पाते हैं कि जहां उत्पादन दाम गिरकर आधा, अर्थात ६० शिलिंग से ३० शिलिंग प्रति क्वार्टर हो गया है, वहां कुल द्रव्यरूप किराया उतना ही, अर्थात १८ पाउंड रहा है,

तालिका IV ग

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया		बेशी लाभ दर
								क्वार्टर	पाउंड	
ख	१	५	१	६	४	११/२	६	०	०	०
ग	१	१५	३	१८	१८	११/२	२७	६	९	६०%
घ	१	७ १/२	११/२	९	१२	११/२	१८	६	९	१२०%
योग	३	२७ १/२	५ १/२	३३	३४		५१	१२	१८	

तालिका IV घ

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया		बेशी लाभ दर
								क्वार्टर	पाउंड	
ख	१	५	१	६	४	११/२	६	०	०	०%
ग	१	५	१	६	६	११/२	९	२	३	६०%
घ	१	१२ १/२	२ १/२	१५	२०	११/२	३०	१०	१५	१२०%
योग	३	२२ १/२	४ १/२	२७	३०		४५	१२	१८	

और तदनुसार अनाजरूप किराया दुगुना होकर ६ क्वार्टर से १२ क्वार्टर हो गया है। ख पर से किराया विलुप्त हो गया है; IV पर द्रव्यरूप किराया ग ग में आधागुना बढ़ गया है, लेकिन IV घ में आधागुना गिर गया है; घ पर IV ग में वह उतना ही, ९ पाउंड, रहा है, और IV घ में ९ पाउंड से बढ़कर १५ पाउंड हो गया है। उत्पादन १० क्वार्टर से बढ़कर IV ग में ३४ क्वार्टर, और IV घ में ३० क्वार्टर हो गया है; लाभ २ पाउंड से बढ़कर IV ग में ५ १/२ पाउंड और IV घ में ४ १/२ पाउंड हो गया है। कुल पूंजी निवेश बढ़कर एक प्रसंग में १० पाउंड से २७ १/२ पाउंड, और दूसरे में १० पाउंड से २२ १/२ पाउंड हो गया है; अर्थात दोनों ही प्रसंगों में वह दुगुने से अधिक हो गया है। किराया दर, अर्थात निवेशित पूंजी पर परिकलित किराया, IV से IV घ तक सभी तालिकाओं में सभी जगह प्रत्येक प्रकार की मिट्टी

के लिए वही है–जो इस कल्पना में पहले ही सन्निहित था कि प्रत्येक मृदा प्रकार के लिए पूंजी के दो आनुक्रमिक निवेशों की उत्पादिता दर वही बनी रहती है। लेकिन तालिका I की तुलना में यह दर सभी प्रकारों की मिट्टियों के औसत के लिए और इसी प्रकार उनमें से प्रत्येक के लिए अलग-अलग भी गिर गयी है। तालिका I में यह औसत रूप में = १८०% थी, जबकि IV ग में यह $= \frac{१८}{२७ १/२} \times १०० =$ ६५ ५/११% और IV घ में यह $= \frac{१८}{२२ १/२} \times १०० =$ ८०% है। प्रति एकड़ द्रव्यरूप किराया बढ़ गया है। पहले, तालिका I में, इसका औसत सभी चारों एकड़ों से ४ १/२ पाउंड प्रति एकड़ था, जबकि IV ग तथा IV घ में यह तीनों एकड़ों पर ६ पाउंड प्रति एकड़ है। किरायादायी जमीन पर इसका औसत पहले ६ पाउंड प्रति एकड़ था, जबकि अब ९ पाउंड प्रति एकड़ है। इस प्रकार, प्रति एकड़ किराये का मुद्रा मूल्य चढ़ गया है और अब वह पहले के मुक़ाबले दुगुने अनाज को द्योतित करता है, लेकिन अनाजरूप किराये के १२ क्वार्टर अब क्रमशः ३४ तथा ३०* क्वार्टर के कुल उत्पादन के आधे से कम हैं; जबकि तालिका I में ६ क्वार्टर १० क्वार्टर की कुल पैदावार के ३/५ को प्रकट करते हैं। परिणामस्वरूप, कुल पैदावार के संखंड के नाते किराया यद्यपि गिर गया है, और वह निवेशित पूंजी के आधार पर परिकलित करने पर भी गिर गया है, फिर भी उसका प्रति एकड़ परिकलित मुद्रा मूल्य चढ़ गया है, और उत्पाद के नाते उसका मूल्य और भी अधिक चढ़ गया है। अगर हम तालिका IV घ में घ मिट्टी को लें, तो हम पाते हैं कि यहां पूंजी परिव्यय के अनुरूप उत्पादन दाम = १५ पाउंड, जिसमें से १२ १/२ पाउंड निवेशित पूंजी है। द्रव्यरूप किराया = १५ पाउंड। तालिका I में, उसी घ मिट्टी का उत्पादन दाम = ३ पाउंड था, निवेशित पूंजी = २ १/२ पाउंड थी, और द्रव्यरूप किराया = ९ पाउंड था, अर्थात अंतोक्त उत्पादन दाम का तीनगुना और पूंजी का लगभग चारगुना था। तालिका IV घ में, घ के लिए द्रव्यरूप किराया, १५ पाउंड, उत्पादन दाम के बिलकुल बराबर है और पूंजी से केवल १/५ गुना ही अधिक है। इसके बावजूद, प्रति एकड़ द्रव्यरूप किराया २/३ गुना अधिक है, अर्थात ९ पाउंड के बजाय १५ पाउंड है। तालिका I में, ३ क्वार्टर का अनाजरूप किराया = ४ क्वार्टर के कुल उत्पाद का ३/४; तालिका IV घ में यह १० क्वार्टर, अथवा घ के प्रति एकड़ कुल उत्पाद (२० क्वार्टर) का आधा है। यह इस बात को दिखलाता है कि प्रति एकड़ किराये का मुद्रा मूल्य तथा अनाज मूल्य चढ़ सकता है, यद्यपि वह कुल उपज का अधिक छोटा संखंड है और निवेशित पूंजी के अनुपात में कम हो गया है।

तालिका I में कुल उत्पाद का मूल्य = ३० पाउंड; किराया = १८ पाउंड, अर्थात उसके आधे से अधिक। तालिका IV घ में कुल उत्पाद का मूल्य = ४५ पाउंड, जिसमें से किराया = १८ पाउंड, अथवा आधे से कम।

इस बात का कि क्यों दाम में १ १/२ पाउंड प्रति क्वार्टर के उतार, अर्थात ५०% की गिरावट के बावजूद, और प्रतिद्वंद्वी मृदाओं के घटकर ४ एकड़ से ३ एकड़ रह जाने के बावजूद कुल द्रव्यरूप किराया उतना ही बना रहता है और कुल अनाजरूप किराया दुगुना हो जाता है, जबकि–प्रति एकड़ परिकलन करने पर–अनाजरूप किराया और द्रव्यरूप किराया, दोनों ही,

---

* १८९४ के जर्मन संस्करण में यहां छपा है: ३३ तथा २७।–सं०

चढ़ते हैं, कारण यह है कि बेशी उत्पाद के अधिक क्वार्टर उत्पादित होते हैं। अनाज के दाम में ५०% की गिरावट आती है, और बेशी उत्पाद में १००% की वृद्धि होती है। लेकिन इस परिणाम को प्राप्त करने के लिए हमारे द्वारा मानी गयी अवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादन को तिगुना किया जाना चाहिए, और श्रेष्ठतर मृदाओं में पूंजी के निवेश को दुगुने से अधिक किया जाना चाहिए। पूंजी निवेश को किस हिसाब से बढ़ना चाहिए, यह सबसे पहले—सदा यह मानते हुए कि प्रत्येक मृदा प्रकार में निवेशित पूंजी की उत्पादिता उसके परिमाण के अनुपात में बढ़ती है—अतिरिक्त पूंजी निवेशों के श्रेष्ठतर तथा श्रेष्ठतम मृदाओं के बीच वितरण पर निर्भर करता है।

अगर उत्पादन दाम में उतार अल्पतर हुआ होता, तो उतने ही द्रव्यरूप किराये को उत्पन्न करने के लिए कम अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता पड़ती। अगर क मिट्टी को कृषि से निकाल बाहर करने के लिए अपेक्षित पूर्ति—और यह क की केवल प्रति एकड़ पैदावार पर ही नहीं, बल्कि समस्त कृष्ट क्षेत्र में क के अंतर्गत आनेवाले हिस्से पर भी निर्भर करती है—इस प्रकार, अगर इस प्रयोजन के लिए आवश्यक पूर्ति अधिक होती, और परिणामस्वरूप क से श्रेष्ठतर मिट्टियों में आवश्यक अतिरिक्त निवेशित पूंजी की राशि भी अधिक होती, तो, अन्य परिस्थितियों के यथावत बने रहते हुए, द्रव्यरूप तथा अनाजरूप किराये भी और भी अधिक बढ़ गये होते, यद्यपि ख मिट्टी ने द्रव्यरूप तथा अनाजरूप किराये प्रदान करना बंद कर दिया होता।

अगर क से निरसित पूंजी = ५ पाउंड हुई होती, तो इस प्रसंग के लिए जिन तालिकाओं की तुलना की जानी चाहिए, वे तालिका II तथा IV घ होतीं। कुल उत्पाद बढ़कर २० क्वार्टर से ३० क्वार्टर हो गया होता। द्रव्यरूप किराया केवल आधा रह गया होता, यानी ३६ पाउंड के बजाय १८ पाउंड; अनाजरूप किराया उतना ही होता, अर्थात १२ क्वार्टर।

अगर घ मिट्टी पर ४४ क्वार्टर = ६६ पाउंड का कुल उत्पाद २७ १/२ पाउंड की पूंजी से—घ के लिए प्रति २ १/२ पाउंड पूंजी के लिए ४ क्वार्टर की पुरानी दर के अनुसार—उत्पादित करना संभव हुआ होता, तो कुल किराया एक बार फिर तालिका II में प्राप्त स्तर पर पहुंच गया होता, और तालिका अब इस सूरत में सामने आती :

मृदा प्रकार	पूंजी (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	अनाजरूप किराया (क्वार्टर)	द्रव्यरूप किराया (पाउंड)
ख	५	४	०	०
ग	५	६	२	३
घ	२७ १/२	४४	२२	३३
योग	३७ १/२	५४	२४	३६

कुल उत्पादन तालिका II में २० क्वार्टर के मुक़ाबले ५४ क्वार्टर होगा, और द्रव्यरूप किराया उतना ही = ३६ पाउंड होगा। लेकिन कुल पूंजी ३७ १/२ पाउंड होगी, जबकि तालिका II में वह = २० पाउंड थी। कुल निवेशित पूंजी क़रीब-क़रीब दुगुनी होगी, जबकि उत्पादन लगभग तिगुना होगा; अनाजरूप किराया दुगुना होगा और द्रव्यरूप किराया उतना ही बना रहेगा। अतः अगर अतिरिक्त द्रव्य पूंजी के श्रेष्ठतर मृदाओं में, जो किराया प्रदान करती हैं, अर्थात क की अपेक्षा बेहतर सभी मिट्टियां, निवेश के परिणामस्वरूप दाम गिरते हैं, जबकि उत्पादिता वही बनी रहती है, तो कुल पूंजी में उसी गति से न बढ़ने की प्रवृत्ति है, जिससे उत्पादन और अनाजरूप किराया बढ़ते हैं; इस प्रकार, अनाजरूप किराये में वृद्धि ह्रासमान दाम के कारण द्रव्यरूप किराये में हानि का प्रतिपूरण कर सकती है। यही नियम अपने आपको इस बात में भी अभिव्यक्त करता है कि निवेशित पूंजी को उसी अनुपात में अधिक बड़ी होना चाहिए कि जिस अनुपात में उसे घ की अपेक्षा ग में, अर्थात अधिक किराया प्रदान करनेवाली मिट्टियों के बजाय कम किराया प्रदान करनेवाली मिट्टियों में, अधिक निवेशित किया जाता है। बात सीधी-सीधी यह है: इसके लिए कि द्रव्यरूप किराया उतना ही बना रहे या चढ़ सके, बेशी उत्पाद की एक निश्चित अतिरिक्त मात्रा का उत्पादित किया जाना आवश्यक है, और बेशी उत्पाद प्रदान करनेवाली मिट्टियों की उर्वरता जितना ही अधिक होगी, इसके लिए उतना ही कम पूंजी की आवश्यकता होगी। अगर ख तथा ग, और ग तथा घ में अंतर और भी अधिक हुआ होता, तो और भी कम अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता हुई होती। विशिष्ट अनुपात का निर्धारण १) दाम में उतार के अनुपात, दूसरे शब्दों में, ख मिट्टी, जो अब किराया नहीं प्रदान करती है, और क मिट्टी, जो पहले किराया न प्रदान करनेवाली मिट्टी थी, के बीच अंतर; २) ख से श्रेष्ठतर मिट्टियों के बीच अंतरों के अनुपात; ३) नवनिवेशित अतिरिक्त पूंजी की मात्रा, तथा ४) विभिन्न कोटियों की मृदाओं में उसके वितरण द्वारा किया जाता है।

हम देखते हैं कि नियम वास्तव में केवल उसी बात को व्यक्त करता है, जिसका पहली सूरत में पहले ही पता लगाया जा चुका था: अगर उत्पादन दाम दिया हुआ हो, उसका परिमाण चाहे कुछ हो, तो किराया अतिरिक्त पूंजी निवेश के परिणामस्वरूप बढ़ सकता है। कारण यह कि क के निरसित हो जाने की वजह से अब हमारे पास निकृष्टतम मिट्टी के रूप में ख और १ १/२ पाउंड प्रति क्वार्टर नये उत्पादन दाम के साथ एक नया विभेदक किराया I है। यह बात तालिका IV और तालिका II, दोनों ही पर लागू होती है। यह नियम वही है, सिवा इस भेद के कि हमारा प्रस्थान बिंदु क मिट्टी के बजाय ख मिट्टी है, और हमारा उत्पादन दाम ३ पाउंड के बजाय १ १/२ पाउंड माना जाता है।

यहां जो महत्व की बात है, वह बस यह है: जहां तक कि इतनी-इतनी अतिरिक्त पूंजी इसलिए आवश्यक हुई थी कि जिससे क मिट्टी से पूंजी का आहरण किया जा सके और उसके बिना पूर्ति का निर्माण किया जा सके, हम देखते हैं उसके साथ एक अपरिवर्तित, वर्धमान अथवा ह्रासमान प्रति एकड़ किराया, अगर सभी भूखंडों से नहीं, तो उनमें से कम से कम कुछ से, और जहां तक कि कृष्ट भूखंडों के औसत का संबंध है, सहचरण कर सकता है। हम देख चुके हैं कि अनाजरूप किराया और द्रव्यरूप किराया एक दूसरे के साथ एकसमान संबंध नहीं बनाये

रखते हैं। यह महज़ परंपरा की बदौलत ही है कि अनाजरूप किराये को अर्थशास्त्र में अब भी कोई महत्व दिया जाता है। बिलकुल इतनी ही आसानी के साथ यह भी दिखलाया जा सकता है कि कोई कारख़ानेदार, मिसाल के लिए, अपने ५ पाउंड के लाभ से उससे कहीं अधिक सूत का क्रय कर सकता है, जितना वह पहले १० पाउंड के लाभ से कर पाता था। किसी भी सूरत में, यह इस बात का तो दिखलाता ही है कि भूस्वामी सज्जन अगर साथ ही औद्योगिक प्रतिष्ठानों, शकर के कारख़ानों, शराब के कारख़ानों, आदि के मालिक या हिस्सेदार भी हों, तो वे ख़ुद अपनी ही कच्ची सामग्रियों के उत्पादक होने की अपनी हैसियत की बदौलत उस समय भी काफ़ी लाभ बना सकते हैं, जब द्रव्यरूप किराया गिरता होता है।[34]

II. अतिरिक्त पूंजी की ह्रासमान उत्पादिता दर।

इससे समस्या में किसी नयी बात का प्रवेश नहीं होता है, क्योंकि जैसे अभी विवेचित प्रसंग में था, वैसे ही इस प्रसंग में भी उत्पादन दाम केवल तब ही गिर सकता है कि जब पूंजी के क से श्रेष्ठतर मिट्टियों में अतिरिक्त निवेश क से उपज को फ़ालतू बना देते हैं और इसलिए क से पूंजी को निकाल लिया जाता है, अथवा क का दूसरे उत्पादों का उत्पादन करने के लिए उपयोग किया जाता है। इस प्रसंग की ऊपर विस्तार से विवेचना की जा चुकी है। यह दर्शाया गया था कि प्रति एकड़ अनाजरूप और द्रव्यरूप किराया बढ़ सकता है, घट सकता है, अथवा अपरिवर्तित रह सकता है।

तुलनाएं करने में आसानी के लिए हम निम्न तालिका फिर से दे रहे हैं:

तालिका IV

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम प्रति क्वार्टर (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	अनाजरूप किराया	द्रव्यरूप किराया	बेशी लाभ दर
क	१	२ १/२	१/२	३	१	०	०	०
ख	१	२ १/२	१/२	१ १/२	२	१	३	१२०%
ग	१	२ १/२	१/२	१	३	२	६	२४०%
घ	१	२ १/२	१/२	३/४	४	३	९	३६०%
योग	४	१०			१०	६	१८	१८०% औसत

[34] ऊपर की IV क से IV घ तालिकाओं के अभिकलन में एक ग़लती के कारण, जो उन सभी में परिव्याप्त थी, उनका फिर से परिकलन करना पड़ा था। जहां यह इन तालिकाओं से निकले सैद्धांतिक निष्कर्षों को प्रभावित नहीं करती थी, वहां उसने, किसी हद तक, प्रति एकड़ उत्पादन के लिए बेहद बड़े सांख्यिक मूल्य दे दिये थे। सिद्धांततः इन पर भी आपत्ति

अब मान लीजिये कि ख, ग, तथा घ द्वारा ह्रासमान उत्पादिता दर से मुहैया की जानेवाली १६ क्वार्टर की मात्रा क को कृषि के बाहर करने के लिए पर्याप्त रहती है। ऐसी हालत में तालिका III निम्न तालिका में परिणत हो जाती है:

तालिका V

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी निवेश (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	अनाजरूप किराया	द्रव्यरूप किराया	बेशी लाभ दर
ख	१	२ १/२ + २ १/२	१	२ + १ १/२ = ३ १/२	१ ५/७	६	०	०	०
ग	१	२ १/२ + २ १/२	१	३ + २ = ५	१ ५/७	८ ४/७	१ १/२	२ ४/७	५१ ३/७%*
घ	१	२ १/२ + २ १/२	१	४ + ३ १/२ = ७ १/२	१ ५/७	१२ ६/७	४	६ ६/७	१३७ १/७%**
योग	३***	१५		१६		२७ ३/७	५ १/२	९ ३/७	९४ २/७%**** औसत

यहां अतिरिक्त पूंजी की ह्रासमान उत्पादिता दर और विभिन्न मृदा प्रकारों के लिए भिन्न-भिन्न घटत से नियामक उत्पादन दाम गिरकर ३ पाउंड से १ ५/७ पाउंड हो गया है। पूंजी का निवेश आधा गुना बढ़कर १० पाउंड से १५ पाउंड हो गया है। द्रव्यरूप किराया लगभग आधा कम – १८ पाउंड से ९ ३/७ पाउंड – हो गया है, लेकिन अनाजरूप किराये में केवल १/१२ की ही – ६ क्वार्टर से ५ १/२ क्वार्टर की – गिरावट आयी है। कुल उपज १० क्वार्टर

नहीं की जा सकती। कारण कि सभी उद्भृत तथा स्थलाकृतिक मानचित्रों में क्षैतिज की तुलना में ऊर्ध्वाधर के लिए कहीं बड़ा पैमाना ही सामान्यतया चुना जाता है। फिर भी अगर किसी को यह लगे कि इससे उसकी कृषिक भावनाओं को ठेस पहुंची है, तो वह एकड़ों की संख्या को किसी भी ऐसे सांख्यिक मूल्य से गुणा कर सकता है, जिससे उसे संतोष हो सके। इसी प्रकार तालिका I में १, २, ३, ४ क्वार्टर के स्थान पर १०, १२, १४, १६ बुशेल (८ बुशेल = १ क्वार्टर) प्रति एकड़ भी ले सकते हैं, और इस प्रकार प्राप्त सांख्यिक मूल्य प्रसंभाव्यता की सीमाओं के भीतर रहेंगे; यह पाया जायेगा कि परिणाम, अर्थात किराया वृद्धि का पूंजी वृद्धि के साथ अनुपात, बिल्कुल वही है। संपादक द्वारा अगले अध्याय में सम्मिलित की गयी तालिकाओं में ऐसा कर दिया गया है।–फ़े० एं०

* १८९४ के जर्मन संस्करण में यहां छपा है: ५१ २/५।–सं०

** वहीं छपा है: १३७ १/५।–सं०

*** वहीं छपा है: ४।–सं०

**** यहां, तथा इसी प्रकार तालिकाओं VI, VII, VIII, IX तथा X में भी उस जमीन को विवेचन के बाहर रहने दिया गया है, जो कोई किराया नहीं प्रदान करती है।–सं०

से बढ़कर १६ क्वार्टर हो गयी है, अथवा ६०% बढ़ गयी है। अनाजरूप किराया कुल उत्पाद के एक तिहाई से कुछ अधिक भाग के बराबर है। पेशगी पूंजी का द्रव्यरूप किराये से अनुपात १५ : ६ ३/७ है, जबकि पहले यह अनुपात १० : १८ था।

III. **अतिरिक्त पूंजी की वर्धमान उत्पादिता दर।**

यह सूरत इस अध्याय के आरंभ में उल्लिखित रूपांतर I से, जिसमें उत्पादन दाम गिरता है, जबकि उत्पादिता दर वही बनी रहती है, केवल इस लिहाज़ से भिन्न है कि अगर क मिट्टी को अतिरिक्त उपज की एक नियत मात्रा से बाहर करना आवश्यक हो, तो वह यहां ज्यादा तेज़ी के साथ किया जा सकता है।

निवेशों के विभिन्न मृदाओं में वितरण के अनुसार अतिरिक्त पूंजी निवेशों की ह्रासमान और इसी प्रकार वर्धमान उत्पादिता के प्रभावों में भिन्नता हो सकती है। यह परिवर्तनशील प्रभाव जहां तक अंतरों को संतुलित करता है, अथवा उन्हें बढ़ाता है, वहां तक श्रेष्ठतर मिट्टियों का विभेदक किराया, और उसके द्वारा कुल किराया भी चढ़ेगा अथवा गिरेगा, जैसे विभेदक किराया I के प्रसंग में पहले ही देखा जा चुका है। और बातों में सभी कुछ क के साथ-साथ बहिष्कृत भूक्षेत्र तथा पूंजी के परिमाण पर, तथा पेशगी पूंजी के सापेक्ष परिमाण पर निर्भर करता है, जिसकी वर्धमान उत्पादिता के साथ इसलिए ज़रूरत पड़ती है कि मांग की पूर्ति करने के वास्ते अतिरिक्त उपज पैदा की जा सके।

विश्लेषण करने योग्य एकमात्र बात, और जो वास्तव में हमें इस अनुसंधान पर वापस ले जाती है कि यह विभेदक लाभ किस प्रकार विभेदक किराये में रूपांतरित होता है, यह है:

पहली सूरत में, जिसमें उत्पादन दाम वही बना रहता है, जिस अतिरिक्त पूंजी को क मिट्टी में निवेशित किया गया है, वह विभेदक किराये को प्रभावित नहीं करती, क्योंकि क मिट्टी पहले ही की भांति कोई किराया नहीं प्रदान करती और इसलिए उसकी उपज का दाम वही बना रहता है और वह बाज़ार का नियमन करता रहता है।

दूसरी सूरत, रूपांतर I में, जिसमें उत्पादन दाम गिरता है, जबकि उत्पादिता दर उतनी ही बनी रहती है, क मिट्टी को अनिवार्यतः बाहर कर दिया जायेगा, और रूपांतर II (ह्रासमान उत्पादिता दर के साथ ह्रासमान उत्पादन दाम) में तो और भी अधिक ऐसा होगा, क्योंकि अन्यथा क मिट्टी में निवेशित अतिरिक्त पूंजी को उत्पादन दाम चढ़ाना होता। लेकिन यहां, दूसरी सूरत के रूपांतर III में, जिसमें उत्पादन दाम इसलिए गिरता है कि अतिरिक्त पूंजी की उत्पादिता चढ़ती है, इस अतिरिक्त पूंजी को कुछेक परिस्थितियों के अंतर्गत क मिट्टी में और श्रेष्ठतर मिट्टियों में भी निवेशित किया जा सकता है।

मान लीजिये कि क मिट्टी में निवेशित किये जाने पर २ १/२ पाउंड की अतिरिक्त पूंजी १ क्वार्टर के बजाय १ १/५ क्वार्टर पैदा करती है। (पृष्ठ ६१९ पर तालिका VI देखें।)

आधारिक तालिका I से तुलना किये जाने के अलावा इस तालिका की तालिका II के साथ भी तुलना की जानी चाहिए, जिसमें पूंजी का दुगुना निवेश पूंजी के निवेश के अनुपात में स्थिर उत्पादिता से संबद्ध है।

तालिका VI

मिट्टी प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया		बेशी लाभ दर
								क्वार्टर	पाउंड	
क	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	१+१ १/५=२ १/५	२ ८/११	६	०	०	०
ख	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	२+२ २/५=४ २/५	२ ८/११	१२	२ १/५	६	१२०%
ग	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	३+३ ३/५=६ ३/५	२ ८/११	१८	४ २/५	१२	२४०%
घ	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	४+४ ४/५=८ ४/५	२ ८/११	२४	६ ३/५	१८	३६०%
	४	२०	४	२४	२२		६०	१३१/५	३६	२४०%

हमारी कल्पना के अनुसार नियामक उत्पादन दाम गिरता है। अगर वह स्थिर = ३ पाउंड रहे, तो निकृष्टतम मिट्टी क, जो पहले केवल २ १/२ पाउंड के निवेश से कोई किराया नहीं प्रदान किया करती थी, अब निकृष्टतर मिट्टी को काश्त में लाये जाने के बिना किराया प्रदान करने लगेगी। ऐसा इस मिट्टी की उत्पादिता में वृद्धि के कारण हुआ होता, लेकिन पूंजी के केवल कुछ अंश के लिए, न कि मूलतः निवेशित पूंजी के लिए। उत्पादन दाम के पहले ३ पाउंड १ क्वार्टर प्रदान करते हैं; दूसरे = १ १/५ क्वार्टर उत्पन्न करते हैं; लेकिन २ १/५ क्वार्टर की सारी उपज अब अपने औसत दाम पर बेची जाती है। चूंकि उत्पादिता दर पूंजी के अतिरिक्त निवेश के साथ बढ़ती है, इसलिए यह सूरत सुधार की पूर्वकल्पना करती है। इस सुधार में प्रति एकड़ निवेशित पूंजी में आम वृद्धि (अधिक उर्वरक, अधिक यंत्रीकृत श्रम, आदि) सन्निहित हो सकती है, अथवा हो सकता है कि पूंजी का गुणात्मक रूप में भिन्न अधिक उत्पादक निवेश केवल इस अतिरिक्त पूंजी के जरिये ही संभव हो सकता हो। दोनों ही प्रसंगों में प्रति एकड़ ५ पाउंड पूंजी का निवेश २ १/५ क्वार्टर की उपज प्रदान करता है, जबकि इसकी आधी पूंजी, अर्थात २ १/२ पाउंड, का निवेश केवल १ क्वार्टर की उपज ही प्रदान करता है। अस्थिर बाजार अवस्थाओं से निरपेक्ष क मिट्टी की उपज केवल उसी हालत में नये औसत दाम के बजाय उच्चतर उत्पादन दाम पर बिकती रह सकती है कि जब तक क प्रकार की मिट्टी के काफ़ी बड़े क्षेत्र पर सिर्फ़ २ १/२ पाउंड प्रति एकड़ की पूंजी से काश्त की जाती रहती है। लेकिन जैसे ही ५ पाउंड प्रति एकड़ पूंजी का नया संबंध और उसके द्वारा सुधरा प्रबंध सार्विक हो जाते हैं कि वैसे ही नियामक उत्पादन दाम गिरकर २ ८/११ पाउंड हो जायेगा। ूंजी के दोनों अंशों के बीच अंतर विलुप्त हो जायेगा, और तब क मिट्टी के एक एकड़ को केवल २ १/२ पाउंड की पूंजी से काश्त करना, वास्तव में, असामान्य हो जायेगा, अर्थात उत्पादन की नयी अव-

स्थाओं के अनुरूप नहीं रहेगा। अब यह उसी एक एकड़ में निवेशित पूंजी के भिन्न-भिन्न अंशों से उपजों के बीच अंतर नहीं रह जायेगा, बल्कि पूंजी के प्रति एकड़ पर्याप्त और अपर्याप्त निवेश के बीच अंतर बन जायेगा। इससे **सबसे पहले** यह प्रकट होता है कि बहुत सारे किरायेदार फ़ार्मरों के हाथों में अपर्याप्त पूंजी (फ़ार्मरों की संख्या अधिक होनी चाहिए, क्योंकि संख्या कम होने पर तो वे बस अपने उत्पादन दाम के नीचे बेचने को ही विवश हो जायेंगे) वैसा ही प्रभाव उत्पन्न करती है, जैसा कि स्वयं मृदाओं का अवरोही रेखा में विभेदन करता है। घटिया मिट्टियों की घटिया खेती श्रेष्ठतर मिट्टियों से किराये को बढ़ा देती है; उसका परिणाम यह तक हो सकता है कि श्रेष्ठतर ढंग से कर्षित उतनी ही हीन कोटि की मिट्टियों से किराया उत्पन्न होने लग जाये, जो अन्यथा नहीं हो सकता था। **दूसरे**, यह प्रकट होता है कि जहां तक विभेदक किराया पूंजी के उसी कुल क्षेत्रफल में आनुक्रमिक निवेशों से उत्पन्न होता है, यथार्थ में वह एक औसत में परिणत हो जाता है, जिसमें पूंजी के विभिन्न निवेशों के प्रभाव अभिज्ञेय और पहचानयोग्य नहीं रह जाते हैं और इसलिए जिनके परिणामस्वरूप निकृष्टतम मिट्टी किराया नहीं प्रदान करने लगती है, बल्कि जो १) कुल उपज, मसलन क के एक एकड़ की, के औसत दाम को नया नियामक दाम बना देते हैं और २) प्रति एकड़ पूंजी की कुल मात्रा में हेर-फेर की तरह प्रकट होते हैं, जो नयी अवस्थाओं के अंतर्गत मिट्टी की उपयुक्त कृषि के लिए आवश्यक होती है और जिनमें पूंजी के अलग-अलग आनुक्रमिक निवेश तथा उनके प्रभाव भी आपस में विभेद्य रूप में घुले-मिले होंगे। श्रेष्ठतर मृदाओं से अलग-अलग विभेदक किरायों के बारे में भी बिल्कुल यही बात है। प्रत्येक प्रसंग में उनका निर्धारण विचाराधीन मिट्टी से औसत उपज और निकृष्टतम मिट्टी से वर्धित पूंजी निवेश – जो अब सामान्य बन गया है – पर उपज के बीच अंतर द्वारा ही होता है।

कोई भी मिट्टी पूंजी के निवेश के बिना कोई उपज नहीं प्रदान करती। साधारण विभेदक किराये, विभेदक किराया I, तक के प्रसंग में यही बात है, जब यह कहा जाता है कि क मिट्टी का, जो उत्पादन दाम का नियमन करती है, एक एकड़ इतने-इतने दाम पर इतनी-इतनी उपज पैदा करता है, और श्रेष्ठतम मृदाएं ख, ग तथा घ इतनी विभेदक उपज और फलतः नियामक उत्पादन दाम पर इतना-इतना नक़दी किराया प्रदान करती हैं, तब हमेशा यह माना जाता है कि पूंजी की एक निश्चित राशि निवेशित की जाती है, जिसे उत्पादन की विद्यमान अवस्थाओं के अंतर्गत सामान्य समझा जाता है। इसी तरह से उद्योग की प्रत्येक पृथक शाखा के लिए एक खास न्यूनतम पूंजी की आवश्यकता होती है, ताकि मालों को उनके अपने उत्पादन दाम पर उत्पादित किया जा सके।

अगर यह न्यूनतम उसी ज़मीन पर सुधारों से संबद्ध पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों के परिणामस्वरूप बदल जाता है, तो ऐसा धीरे-धीरे ही होता है। जब तक, उदाहरण के लिए, क के कुछ एकड़ यह अतिरिक्त कार्यशील पूंजी नहीं प्राप्त करते, तब तक क के श्रेष्ठतर कर्षित एकड़ों पर अपरिवर्तित उत्पादन दाम के कारण किराया उत्पन्न होता है और ख, ग तथा घ, – सभी श्रेष्ठ मृदाओं से किराया बढ़ता है। लेकिन जैसे ही नयी कृषि पद्धति इतनी व्यापक हो जाती है कि सामान्य पद्धति बन जाये, वैसे ही उत्पादन दाम गिर जाता है, श्रेष्ठतर भूखंडों से किराया फिर घट जाता है और क के उस हिस्से को, जिसके पास वह कार्यशील पूंजी नहीं

है, जो अब सामान्य बन गयी है, अपनी उपज को अपने व्यष्टिक उत्पादन दाम के नीचे, अर्थात औसत लाभ के नीचे, बेचना होगा।

ह्रासमान उत्पादन दाम के मामले में जब श्रेष्ठतर मृदाओं द्वारा वर्धित पूंजी निवेश के परिणामस्वरूप वांछित कुल उत्पाद की पूर्ति कर दी जाती है और इस प्रकार कार्यशील पूंजी को, उदाहरण के लिए, क से निकाल लिया जाता है, अर्थात क मिट्टी इस उत्पाद विशेष, मसलन गेहूं, के उत्पादन में प्रतिद्वंद्विता करना बंद कर देती है, तब यही अतिरिक्त पूंजी की ह्रासमान उत्पादिता तक के साथ भी होता है। अब पूंजी की जिस मात्रा की औसत रूप में श्रेष्ठतर मिट्टी ख में, जो नयी नियामक है, निवेशित करने के लिए आवश्यकता होती है, वह अब सामान्य बन जाती है; और जब भूखंडों की विभिन्न उर्वरता की बात की जाती है, तो यह माना जाता है कि पूंजी की इस नयी प्रति एकड़ सामान्य मात्रा का उपयोग किया जाता है।

दूसरी ओर, यह प्रत्यक्ष है कि पूंजी का, उदाहरण के लिए, इंगलैंड में, १८४८ के पहले प्रति एकड़ ८ पाउंड, और उस साल के बाद १२ पाउंड का यह औसत निवेश ही पट्टे संपन्न करने में मानक का काम करेगा। इससे अधिक व्यय करनेवाले फ़ार्मर के लिए बेशी लाभ संविदा की अवधि में किराये में रूपांतरित नहीं होता। संविदा की समाप्ति के बाद ऐसा होता है कि नहीं, यह उन फ़ार्मरों में प्रतिद्वंद्विता पर निर्भर करेगा, जो वही अतिरिक्त पूंजी लगाने की स्थिति में हैं। हम यहां ऐसे स्थायी मृदा सुधारों की बात नहीं कर रहे हैं, जो पूंजी के उतने ही अथवा ह्रासमान परिव्यय तक के साथ वर्धित उपज प्रदान करते रहते हैं। यद्यपि इस तरह के सुधार पूंजी के उत्पाद ही होते हैं, फिर भी उनका प्रभाव ज़मीन की गुणवत्ता में नैसर्गिक अंतरों जैसा ही होता है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि विभेदक किराया II के विवेचन के प्रसंग में एक ऐसा कारक आ जाता है, जो विभेदक किराया I के प्रसंग में नहीं प्रकट होता, क्योंकि अंतोक्त प्रति एकड़ सामान्य पूंजी निवेश में किसी भी परिवर्तन से निरपेक्ष बना रह सकता है। एक ओर, नियामक क मिट्टी में पूंजी के विभिन्न निवेशों के परिणाम अस्पष्ट हो जाते हैं, जिसकी उपज अब बस प्रति एकड़ सामान्य औसत जैसी लगती है। दूसरी ओर, प्रति एकड़ निवेशित पूंजी के सामान्य न्यूनतम में, अथवा औसत परिमाण में परिवर्तन आ जाता है, जिससे यह परिवर्तन मिट्टी का एक गुण जैसा लगने लगता है। अंततः बेशी लाभ के किराये के रूप में रूपांतरण का ढंग बदल जाता है।

इसके अलावा तालिका I तथा तालिका II की तुलना में तालिका VI यह दिखलाती है कि अनाजरूप किराया I की सापेक्षता में दुगुने से अधिक हो गया है और II की तुलना में ११/५ क्वार्टर अधिक हो गया है; जबकि द्रव्यरूप किराया I के संदर्भ में दुगुना हो गया है, पर II के संदर्भ में नहीं बदला है। अगर (अन्य अवस्थाओं के यथावत रहते हुए) श्रेष्ठतर मृदाओं के लिए अतिरिक्त पूंजी का विनिधान किया गया होता, या अगर, दूसरी ओर, अतिरिक्त पूंजी का क पर प्रभाव इतना अधिक न हुआ होता और इस प्रकार क से प्रति क्वार्टर नियामक औसत दाम और ऊंचा हुआ होता, तो इसमें काफ़ी वृद्धि आयी होती।

अतिरिक्त पूंजी द्वारा उत्पादिता में वृद्धि अगर विभिन्न मिट्टियों के लिए भिन्न-भिन्न परिणाम उत्पन्न करती है, तो इसके कारण उनके विभेदक किरायों में अंतर पैदा होना चाहिए।

किसी भी सूरत में, यह प्रकट हो गया है कि अगर निवेशित अतिरिक्त पूंजी की वर्धित

उत्पादिता दर के परिणामस्वरूप -- अर्थात जब यह उत्पादिता अग्रसारित पूंजी की अपेक्षा अधिक तेज़ी के साथ बढ़ती है – उत्पादन दाम में उतार आता है, तो प्रति एकड़ किराये का, मिसाल के लिए, पूंजी के दुगुने निवेश के साथ, न केवल दुगुना ही हो जाना संभव है, बल्कि दुगुने से ज्यादा हो जाना संभव है। लेकिन अगर उत्पादन दाम क मिट्टी की उत्पादनशीलता में अधिक तीव्र वृद्धि के परिणामस्वरूप ज्यादा गिरता है, तो किराये में गिरावट भी आ सकती है।

मान लीजिये कि पूंजी के अतिरिक्त निवेश, उदाहरण के लिए, ख और ग में, उत्पादिता को उसी गति से नहीं बढ़ाते, जिससे वे क के लिए बढ़ाते हैं, जिसके कारण ख तथा ग के लिए समानुपातिक अंतर घट जाते हैं और उपज में वृद्धि दाम में गिरावट का प्रतिकार नहीं कर पाती, तो ऐसी हालत में तालिका II की तुलना में घ से [द्रव्यरूप] किराया अपरिवर्तित रहेगा और ख तथा ग से गिर जायेगा।

तालिका VI क

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	प्रति एकड़ उपज	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	अनाजरूप किराया (क्वार्टर)	द्रव्यरूप किराया (पाउंड)
क	१	२ १/२+२ १/२=५	१	१+ ३ =४	१ १/२	६	०	०
ख	१	२ १/२+२ १/२=५	१	२+२ १/२=४१/२	१ १/२	६ ३/४	१/२	३/४
ग	१	२ १/२+२ १/२=५	१	३+८ =५	१ १/२	१२	४	६
घ	१	२ १/२+२ १/२=५	१	४+१२ =१६	१ १/२	२४	१२	१८
योग	४	२०		३२ १/२			१६ १/२	२४ ३/४

अंततः, द्रव्यरूप किराया उस सूरत में चढ़ जाता है कि जब अधिक अतिरिक्त पूंजी को उत्पादनशीलता में उसी समानुपातिक वृद्धि के साथ श्रेष्ठतर मिट्टियों में निवेशित किया जाये, जिससे उसे क में निवेशित किया जाता है, अथवा जब श्रेष्ठतर मिट्टियों में पूंजी के अतिरिक्त निवेश उत्पादिता दर को बढ़ाने में समर्थ होते हैं। दोनों ही सूरतों में अंतर बढ़ जायेंगे।

द्रव्यरूप किराया उस सूरत में गिर जाता है कि जब पूंजी के अतिरिक्त निवेश के कारण लाया गया सुधार अंतरों को पूरी तरह से, अथवा आंशिक रूप में कम कर देता है, और क को ख तथा ग की अपेक्षा अधिक प्रभावित करता है। श्रेष्ठ मृदाओं की उत्पादिता में वृद्धि जितना ही कम होती है, द्रव्यरूप किराया उतना ही अधिक गिरता है। अनाजरूप किराया चढ़ेगा, गिरेगा या स्थिर रहेगा, यह बात इस पर निर्भर करती है कि उत्पन्न असमानता कितनी है।

द्रव्यरूप किराया, और इसी प्रकार अनाजरूप किराया भी, या तो उस सूरत में चढ़ता है कि जब – विभिन्न मिट्टियों की अतिरिक्त उर्वरता में समानुपातिक अंतरों के अपरिवर्तित रहते हुए – किरायादायी मृदाओं में किरायाहीन क मिट्टी की बनिस्बत अधिक पूंजी निवेशित की जाती है, और नीचे किराये प्रदान करनेवाली मिट्टियों की अपेक्षा ऊंचे किराये प्रदान करनेवाली मिट्टियों में ज्यादा निवेशित की जाती है; या जब उर्वरता – अतिरिक्त पूंजी के उतना ही रहते हुए – क की तुलना में श्रेष्ठतर तथा श्रेष्ठतम मिट्टियों पर अधिक बढ़ती है, अर्थात द्रव्यरूप तथा अनाजरूप किराये बेहतर मिट्टियों की उर्वरता में हीनतर मिट्टियों की उर्वरता में इस वृद्धि के अनुपात में चढ़ते हैं।

लेकिन सभी परिस्थितियों में, जब वर्धित उत्पादन शक्ति पूंजी के बढ़ाये जाने का परिणाम होती है और केवल अपरिवर्तित पूंजी निवेश के साथ वर्धित उर्वरता का ही परिणाम नहीं होती है, तो उस सूरत में किराये में सापेक्ष चढ़ाव आता है। यह निरपेक्ष दृष्टिकोण है, जो सभी पूर्व प्रसंगों की ही भांति यहां भी यह दिखलाता है कि किराया तथा वर्धित प्रति एकड़ किराया (जैसे समस्त कृष्ट क्षेत्र पर विभेदक किराया I के मामले में – औसत किराये का परिमाण) जमीन में पूंजी के वर्धित निवेश का परिणाम हैं, फिर चाहे यह पूंजी स्थिर अथवा ह्रासमान दामों पर स्थिर उत्पादिता दर के साथ काम करती हो, या स्थिर अथवा ह्रासमान दामों पर ह्रासमान उत्पादिता दर के साथ, या ह्रासमान दामों पर वर्धमान उत्पादिता दर के साथ काम करती हो। कारण यह कि हमारी कल्पना – अतिरिक्त पूंजी की स्थिर, ह्रासमान, अथवा वर्धमान उत्पादिता दर के साथ स्थिर दाम, और स्थिर, ह्रासमान, अथवा वर्धमान उत्पादिता दर के साथ ह्रासमान दाम – अपने आपको इसमें परिणत कर लेती है: अतिरिक्त पूंजी की स्थिर अथवा ह्रासमान दामों पर स्थिर उत्पादिता दर, स्थिर अथवा ह्रासमान दामों पर ह्रास-मान उत्पादिता दर, और स्थिर तथा ह्रासमान दामों पर वर्धमान उत्पादिता दर। यद्यपि किराया इन सभी सूरतों में स्थिर रह सकता है, अथवा गिर सकता है, फिर भी अगर अन्य परिस्थि-तियों के यथावत रहते हुए अतिरिक्त पूंजी निवेश वर्धित उत्पादनशीलता की एक पूर्वापेक्षा न हुआ होता, तो वह और अधिक गिरता। इस प्रकार सदा अतिरिक्त पूंजी ही सापेक्षतया ऊंचे किराये का कारण होती है, चाहे निरपेक्षतः वह कम हो गया हो।

अध्याय ४३

विभेदक किराया II।–तीसरी सूरत : वर्धमान उत्पादन दाम

[वर्धमान उत्पादन दाम इस बात की पूर्वकल्पना करता है कि कोई किराया न प्रदान करनेवाली सबसे घटिया क़िस्म की ज़मीन की उत्पादिता घटती है। हमारे द्वारा कल्पित नियामक उत्पादन दाम तब तक ३ पाउंड प्रति क्वार्टर के ऊपर नहीं चढ़ सकता कि जब तक क ज़मीन में निवेशित २ १/२ पाउंड १ क्वार्टर से कम न पैदा करें, अथवा ५ पाउंड २ क्वार्टर से कम न पैदा करें, या जब तक कि क से भी घटिया मिट्टी को काश्त में न लाना पड़े।

पूंजी के दूसरे निवेश की स्थिर, अथवा बढ़ती हुई भी, उत्पादिता के लिए यह सिर्फ़ तब ही संभव हो सकता है कि अगर २ १/२ पाउंड के पहले पूंजी निवेश की उत्पादिता घट गयी हो। यह सूरत अकसर ही हुआ करती है। उदाहरण के लिए, तब कि जब पुरानी कृषि पद्धति के अधीन सतही जुताई से निःसत्व हुई उपरिमृदा अधिकाधिक छोटी फ़सलें देती जाती है, और इसके बाद गहरी जुताई के ज़रिये पलटी हुई अवमृदा अधिक यौक्तिक कृषि के साथ पहले की बनिस्बत बेहतर फ़सलें पैदा करने लगती है। लेकिन सच पूछिये, तो यह विशेष सूरत यहां लागू नहीं होती। निवेशित पूंजी के पहले २ १/२ पाउंड की उत्पादिता में ह्रास श्रेष्ठतर मिट्टियों के लिए उस हालत में भी विभेदक किराया I में घटत को द्योतित करता है कि जब वहां अवस्थाओं को एक जैसी माना जाता है; लेकिन यहां हम सिर्फ़ विभेदक किराया II की ही विवेचना कर रहे हैं। लेकिन चूंकि यह विशेष सूरत विभेदक किराया II के अस्तित्व की पूर्व-कल्पना किये बिना नहीं हो सकती, और वास्तव में विभेदक किराया II पर विभेदक किराया I के एक रूपांतर की अनुक्रिया को द्योतित करती है, इसलिए हम उसका एक उदाहरण देंगे [देखिये तालिका VII–सं०]।

द्रव्यरूप किराया और प्राप्तियां यहां वही हैं, जो तालिका II में हैं। वर्धित नियामक उत्पादन दाम उपज की मात्रा में जो कमी आयी है, उसका प्रतिकार कर देता है; चूंकि यह दाम और उपज की मात्रा व्युत्क्रमानुपाती हैं, इसलिए यह प्रत्यक्ष है कि उनका गणितीय गुणनफल भी उतना ही बना रहेगा।]

उपरोक्त प्रसंग (तालिका VII–सं०) में यह कल्पना की गयी थी कि पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादनशीलता पहले निवेश की मूल उत्पादिता से अधिक थी। अगर यह कल्पना की जाये कि दूसरे निवेश की उत्पादिता सिर्फ़ उतनी ही है, जितनी पहले की थी, तो उससे कोई अंतर नहीं आता है, जैसा कि निम्न तालिका VIII से प्रकट होता है:

तालिका VII

मृदा प्रकार	एकड़	निवेशित पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	अनाजरूप किराया (क्वार्टर)	द्रव्यरूप किराया (पाउंड)	किराया दर
क	१	२ १/२+२ १/२	१	६	१/२+१ १/४=१ ३/४	३ ३/७	६	०	०	०
ख	१	२ १/२+२ १/२	१	६	१+२ १/२=३ १/२	३ ३/७	१२	१ ३/४	६	१२०%
ग	१	२ १/२+२ १/२	१	६	१ १/२+३ ३/४=५ १/४	३ ३/७	१८	३ १/२	१२	२४०%
घ	१	२ १/२+२ १/२	१	६	२+५=७	३ ३/७	२४	५ १/४	१८	३६०%
		२०			१७ १/२		६०	१० १/२	३६	२४०%

तालिका VIII

मृदा प्रकार	एकड़	निवेशित पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया: अनाजरूप (क्वार्टर)	किराया: द्रव्यरूप (पाउंड)	बेशी लाभ दर
क	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	१/२+१=१ १/२	४	६	०	०	०
ख	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	१ +२=३	४	१२	१ १/२	६	१२०%
ग	१	२ १/१+२ १/२=५	१	६	१ १/२+३=४ १/२	४	१८	३	१२	२४०%
घ	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	२ +४=६	४	२४	४ १/२	१८	३६०%
		२०			१५		६०	९	३६	२४०%

यहां भी उसी दर से बढ़ता हुआ उत्पादन दाम उपज के और द्रव्यरूप किराये के मामले में भी उत्पादिता में ह्रास का पूरी तरह से प्रतिकार कर देता है।

तीसरी सूरत अपने शुद्ध रूप में केवल तब सामने आती है कि जब पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता घटती है, जबकि पहले निवेश की स्थिर रहती है,–जो पहली और दूसरी सूरतों में हमेशा माना गया था। यहां विभेदक किराया I प्रभावित नहीं होता है, अर्थात परिवर्तन

केवल उस भाग को प्रभावित करता है, जो विभेदक किराया II से उत्पन्न होता है। हम दो उदाहरण देंगे: हम यह कल्पना करते हैं कि पहले में पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादितघटकर १/२ और दूसरे में १/४ हो गयी है।

तालिका IX

मृदा प्रकार	एकड़	निवेशित पूंजी (पाऊंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया: अन्नाजरूप (क्वार्टर)	किराया: द्रव्यरूप (पाउंड)	किराया दर
क	१	२ १/२ + २ १/२ = ५	१	६	१ + १/२ = १ १/२	४	६	०	०	०
ख	१	२ १/२ + २ १/२ = ५	१	६	२ + १ = ३	४	१२	१ १/२	६	१२०%
ग	१	२ १/२ + २ १/२ = ५	१	६	३+१ १/२=४ १/२	४	१८	३	१२	२४०%
घ	१	२ १/२ + २ १/२ = ५	१	६	४ + २ = ६	४	५४	४ १/२	१८	३६०%
		२०			१५		६०	९	३६	२४०%

तालिका IX बिलकुल तालिका VIII जैसी ही है, सिवा इस अंतर के कि VIII में उत्पादिता में ह्रास पूंजी के पहले निवेश के लिए, और IX में दूसरे के लिए होता है।

तालिका X

मृदा प्रकार	एकड़	निवेशित पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया: अन्नाजरूप (क्वार्टर)	किराया: द्रव्यरूप (पाउंड)	किराया दर
क	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	१+१/४=२ १/४	४ ४/५	६	०	०	०
ख	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	२+१/२=२ १/२	४ ४/५	१२	१ १/४	६	१२०%
ग	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	३+३/४=३ ३/४	४ ४/५	१८	२ १/२	१२	२४०%
घ	१	२ १/२+२ १/२=५	१	६	४+१ =५	४ ४/५	२४	३ ३/४	१८	३६०%
		२०		२४	१२ १/२		६०	७ १/२	३६	२४०%

इस तालिका में भी कुल प्राप्तियां, द्रव्यरूप किराया और किराया दर वैसे ही बने रहते हैं, जैसे तालिका II, VII तथा VIII में हैं, क्योंकि उपज तथा विक्रय दाम यहां भी व्युत्क्रमानुपाती हैं, जबकि निवेशित पूंजी उतनी ही बनी रहती है।

लेकिन दूसरे संभव प्रसंग में जब उत्पादन दाम चढ़ते हैं, तब स्थिति क्या होगी, अर्थात काश्त न करने योग्य घटिया क़िस्म की मिट्टी के प्रसंग में, जब उसे काश्त में लाया जाने लगता है?

मान लीजिये कि इस क़िस्म की एक मिट्टी, जिसे हम क का नाम दे देते हैं, प्रतिद्वंद्विता में प्रविष्ट हो जाती है। तब अभी तक की किरायाहीन क मिट्टी किराया प्रदान करने लग जायेगी, और पूर्वोक्त VII, VIII तथा X तालिकाएं ये रूप ग्रहण कर लेंगी:

तालिका क VII

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया		वृद्धि
								क्वार्टर	पाउंड	
क	१	५	१	६	१ १/२	४	६	०	०	०
क	१	२ १/२+२ १/२	१	६	१/२+१ १/४=१ ३/४	४	७	१/४	१	१
ख	१	२ १/२+२ १/२	१	६	१ +२ १/२=३ १/२	४	१४	२	८	१+७
ग	१	२ १/२+२ १/२	१	६	१ १/२+३ ३/४=५ १/४	४	२१	३ ३/४	१५	१+२ × ७
घ	१	२ १/२+२ १/२	१	६	२ +५ =७	४	२८	५ १/२	२२	१+३ × ७
				३०	१९		७६	११ १/२	४६	

क मिट्टी के अंतर्वेशन के परिणामस्वरूप एक नया विभेदक किराया I पैदा हो जाता है और इस नये आधार पर विभेदक किराया II भी इसी प्रकार बदले हुए रूप में विकसित होता है। क मिट्टी की उपरोक्त तीनों तालिकाओं में से प्रत्येक में अलग उर्वरता है; समानुपातिक रूप में वृद्धि करती उर्वरताओं का अनुक्रम सिर्फ़ क मिट्टी से ही शुरू होता है। चढ़ते किरायों का अनुक्रम भी इसी प्रकार चलता है। निकृष्टतम किरायादायी मिट्टी का, जो पहले कोई किराया नहीं प्रदान करती थी, किराया एक स्थिरांक है, जिसे बस सभी ऊंचे किरायों में जोड़ भर दिया जाता है। इस स्थिरांक को घटाने के बाद ही उच्चतर किरायों के लिए अंतरों का अनुक्रम, और इसी प्रकार विभिन्न मृदाओं के उर्वरता अनुक्रम में उसका समांतर भी पूर्णतः स्पष्ट हो पाता है। सभी तालिकाओं में क से घ तक उर्वरताओं का आपस में १ : २ : ३ : ४ का

तालिका VIII क

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया		वृद्धि
								क्वार्टर	पाउंड	
क	१	५	१	६	१ १/४	४ ४/५	६	०	०	०
क	१	२ १/२+२ १/२	१	६	१/२+१=१ १/२	४ ४/५	७ १/५	१/४	१ १/५	१ १/५
ख	१	२ १/२+२ १/२	१	६	१ +२=३	४ ४/५	१४ २/५	१ ३/४	८ २/५	१ १/५+७ १/५
ग	१	२ १/२+२ १/२	१	६	१ १/२+३=४ १/२	४ ४/५	२१ ३/५	३ १/४*	१५ ३/५	१ १/५+२ × ७ १/५
घ	१	२ १/२+२ १/२	१	६	२ +४=६	४ ४/५	२८ ४/५	४ ३/४	२२ ४/५	१ १/५+३ × ७ १/५
				३०	१६ १/४		७८	१०**	४८	

* १८६४ के जर्मन संस्करण में यहां २ १/४ छपा है। – सं०

** इसकी जगह वहीं ९ छपा है। – सं०

तालिका X क

मृदा प्रकार	एकड़	पूंजी (पाउंड)	लाभ (पाउंड)	उत्पादन दाम (पाउंड)	उपज (क्वार्टर)	विक्रय दाम (पाउंड)	प्राप्तियां (पाउंड)	किराया		वृद्धि
								क्वार्टर	पाउंड	
क	१	५	१	६	१ १/८	५ १/३	६	०	०	०
क	१	२ १/२+२ १/२	१	६	१+१/४=१ १/४	५ १/३	६ २/३	१/८	२/३	२/३
ख	१	२ १/२+२ १/२	१	६	२+१/२=२ १/२	५ १/३	१३ १/३	१ ३/८	७१/३	२/३+६ २/३
ग	१	२ १/२+२ १/२	१	६	३+३/४=३ ३/४	५ १/३	२०	२ ५/८	१४	२/३+२ × ६ २/३
घ	१	२ १/२+२ १/२	१	६	४+१ =५	५ १/३	२६ २/३	३ ७/८	२०२/३	२/३+३ × ६ २/३
				३०	१३ ५/८		७२२/३	८	४२२/३	

अनुपात है और उनके अनुरूप किरायों का अनुपात है : तालिका VII क १ : (१ + ७) :(१ + २ × ७) :(१+ ३ × ७), VIII क में १ १/५ : (१ १/५+७ १/५) : (१ १/५ + २ × ७ १/५) : (१ १/५ + ३ × ७ १/५), और X क में २/३ : (२/३ + ६ २/३) : (२/३ + २ × ६ २/३) : (२/३ + ३ × ६ २/३)।

संक्षेप में, अगर क से किराया = n, और उससे अगली उच्चतर उर्वरता की मिट्टी से किराया = n + m, तो अनुक्रम इस प्रकार होगा : n : (n + m) : (n + २m) : (n – ३m), आदि।—फ़्रे० एं०)

[चूंकि पांडुलिपि में उपरोक्त तीसरी सूरत का विशदीकरण नहीं किया गया था—वहां केवल शीर्षक ही दिया गया है—इसलिए यह संपादक का कार्यभार था कि इस रिक्ति की—जैसे ऊपर किया गया है—यथासंभव पूर्ति करे। इसके अलावा, उसके लिए अभी विभेदक किराया II के सारे पूर्ववर्ती विश्लेषण से, जिसमें तीन मुख्य प्रसंग और नौ उपप्रसंग हैं, सामान्य निष्कर्ष निकालना अभी बाक़ी रहता है। लेकिन पांडुलिपि में जो दृष्टांत प्रस्तुत किये गये हैं, वे इस प्रयोजन के बहुत उपयुक्त नहीं हैं। पहली बात तो यही है कि उनमें ऐसे भूखंडों की तुलना की गयी है, जिनकी समान क्षेत्रफलों से उपजों में १ : २ : ३ : ४ का अनुपात है, अर्थात ऐसे अंतर हैं कि जो बिलकुल आरंभ से ही बहुत अतिरंजित बन जाते हैं और जिनके परिणामस्वरूप इस आधार पर की गयी कल्पनाओं तथा परिकलनों का और आगे विकास करने में एकदम बेतुके सांख्यिक मूल्य प्राप्त होते हैं। दूसरे, वे एक बिलकुल ही ग़लत छाप पैदा करते हैं : अगर आपस में १ : २ : ३ : ४ के अनुपात में उर्वरता की मात्राओं से ० : १ : २ : ३, आदि के अनुक्रम में किराये प्राप्त होते हैं, तो मन करता है कि दूसरे अनुक्रम को पहले से

निकाला जाये और किरायों के द्विगुणन, त्रिगुणन, आदि की कुल उपजों के द्विगुणन, त्रिगुणन आदि से व्याख्या की जाये। लेकिन ऐसा करना बिलकुल ग़लत होगा। किरायों में तब भी ०:१:२:३:४ का अनुपात है कि जब उर्वरता की मात्राओं में n : (n + १) : (n + २) : (n + ३) : (n + ४) का अनुपात है। किराये उर्वरता की **मात्राओं** के रूप में नहीं, बल्कि उर्वरता के **अंतरों** के रूप में – किरायाहीन मिट्टी को शून्यांक की तरह लेते हुए – संबद्ध हैं।

मूल तालिकाओं का पाठ को स्पष्ट करने के लिए दिया जाना ज़रूरी था। लेकिन अन्वेषण के निम्न परिणामों का एक प्रात्यक्षिक आधार प्राप्त करने के लिए मैं नीचे तालिकाओं का एक नया क्रम दे रहा हूं, जिसमें प्रतिफलों को बुशेलों (१/८ क्वार्टर, अथवा ३६.३५ लिटर) और शिलिंगों (= मार्कों) में व्यक्त किया गया है।

इनमें से पहली, तालिका XI, पहले की तालिका I के अनुरूप है। यह क से ङ तक पांच भिन्न क़िस्मों की मिट्टियों के प्रतिफलों और किरायों को दर्शाती है। इसमें **पहला** पूंजी निवेश ५० शिलिंग का है, जो लाभ के १० शिलिंग को जोड़कर योग = ६० शिलिंग प्रति एकड़ उत्पादन दाम है। अनाज के रूप में प्रतिफलों को कम किया गया है – १०, १२, १४, १६, १८ बुशेल प्रति एकड़। परिणामी नियामक उत्पादन दाम ६ शिलिंग प्रति बुशेल है।

आगामी १३ तालिकाएं इस अध्याय तथा उसके पहले के दो अध्यायों में विवेचित उसी मिट्टी में स्थिर, ह्रासमान तथा वर्धमान उत्पादन दाम के साथ ५० शिलिंग प्रति एकड़ की **अतिरिक्त** निवेशित पूंजी से विभेदक किराया II की तीनों सूरतों के अनुरूप हैं। इनमें से प्रत्येक सूरत को, अपनी बारी में, इस तरह से पेश किया गया है कि जिस तरह वह पूंजी के पहले निवेश की सापेक्षता में दूसरे निवेश की १) स्थिर, २) ह्रासमान और ३) वर्धमान उत्पादिता के लिए रूप लेती है। इससे कुछ और रूपांतर प्राप्त होते हैं, जो स्पष्टीकरण करने के लिए विशेषकर उपयोगी हैं।

पहली सूरत – स्थिर उत्पादन दाम – के लिए हमारे पास ये रूपांतर हैं:

रूपांतर १ : पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता उतनी ही बनी रहती है (तालिका XII)।

" २ : उत्पादिता घटती है। ऐसा सिर्फ़ तब ही हो सकता है कि जब क मिट्टी में पूंजी का कोई दूसरा निवेश नहीं किया जाता है, अर्थात इस तरह से कि
 क) ख मिट्टी भी इसी प्रकार कोई किराया नहीं प्रदान करती (तालिका III) अथवा
 ख) ख मिट्टी पूर्णतः किरायाहीन नहीं बन जाती (तालिका XIV)।

" ३ : उत्पादिता बढ़ती है (तालिका XV)। इस सूरत में भी क मिट्टी में पूंजी का दूसरा निवेश नहीं होता।

दूसरी सूरत – ह्रासमान उत्पादन दाम – के लिए हमारे पास ये रूपांतर हैं:

रूपांतर १ : पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता उतनी ही रहती है (तालिका XVI)।

" २ : उत्पादिता घटती है (तालिका XVII)। इन दोनों रूपांतरों के लिए यह आवश्यक है कि क मिट्टी प्रतिद्वंद्विता से अलग कर दी जाये और ख मिट्टी करायाहीन बन जाये तथा उत्पादन दाम का नियमन करे।

रूपांतर ३ : उत्पादिता बढ़ती है (तालिका XVIII)। यहां क मिट्टी नियामक बनी रहती है।

तीसरी सूरत – वर्धमान उत्पादन दाम – के लिए दो संभाव्यताएं हो सकती हैं – क मिट्टी किरायाहीन बनी रह सकती है और दाम का नियमन करती रह सकती है, या क से हीनतर मिट्टी प्रतिद्वंद्विता में प्रवेश कर जाती है और दाम का नियमन करती है, जिस सूरत में क किराया प्रदान करती है।

पहली संभाव्यता : क मिट्टी नियामक बनी रहती है।

रूपांतर १ : दूसरे निवेश की उत्पादिता उतनी ही बनी रहती है (तालिका XIX)। यह हमारे द्वारा कल्पित अवस्थाओं के अंतर्गत संभव है, बशर्ते कि पहले निवेश की उत्पादिता घट जाये।

" २ : दूसरे निवेश की उत्पादिता घटती है (तालिका XX)। यह इस संभावना को अपवर्जित नहीं करता कि पहला निवेश उसी उत्पादिता को बनाये रख सकता है।

" ३ : दूसरे निवेश की उत्पादिता बढ़ती है (तालिका XXI*)। यह भी पहले निवेश की ह्रासमान उत्पादिता की पूर्वकल्पना करता है।

दूसरी संभाव्यता : एक हीनतर क़िस्म की मिट्टी (जिसे क का नाम दिया गया है) प्रतिद्वंद्विता में प्रवेश कर लेती है; क मिट्टी किराया प्रदान करती है।

रूपांतर १ : दूसरे निवेश की उत्पादिता उतनी ही रहती है (तालिका XXII)।

" २ : उत्पादिता घटती है (तालिका XXIII)।

" ३ : उत्पादिता बढ़ती है (तालिका XXIV)।

ये तीनों रूपांतर समस्या की सामान्य अवस्थाओं के अनुरूप हैं और उनके लिए कुछ और कहना आवश्यक नहीं है।

अब ये तालिकाएं आती हैं :

तालिका XI

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
क	६०	१०	६	६०	०	०
ख	६०	१२	६	७२	१२	१२
ग	६०	१४	६	८४	२४	२×१२
ग	६०	१६	६	९६	३६	३×१२
ड	६०	१८	६	१०८	४८	४×१२
					१२०	१०×१२

*१८९४ के जर्मन संस्करण में यहां XIX छपा है।–सं०

उसी मिट्टी में निवेशित दूसरी पूंजी के लिए :

पहली सूरत : उत्पादन दाम अपरिवर्तित रहता है।

रूपांतर १ : पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता उतनी ही रहती है।

तालिका XII

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
क	६०+६०=१२०	१०+१०=२०	६	१२०	०	०
ख	६०+६०=१२०	१२+१२=२४	६	१४४	२४	२४
ग	६०+६०=१२०	१४+१४=२८	६	१६८	४८	२ × २४
घ	६०+६०=१२०	१६+१६=३२	६	१९२	७२	३ × २४
ङ	६०+६०=१२०	१८+१८=३६	६	२१६	९६	४ × २४
					२४०	१० × २४

रूपांतर २ : पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता घटती है; क मिट्टी में दूसरा निवेश नहीं होता।

१) ख मिट्टी किराया देना बंद कर देती है।

तालिका XIII

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
क	६०	१०	६	६०	०	०
ख	६०+६०=१२०	१२+८=२०	६	१२०	०	०
ग	६०+६०=१२०	१४+९ १/३=२३ १/३	६	१४०	२०	२०
घ	६०+६०=१२०	१६+१० २/३=२६ २/३	६	१६०	४०	२ × २०
ङ	६०+६०=१२०	१८+१२*=३०	६	१८०	६०	३ × २०
					१२०	६ × २०

* १८९४ के जर्मन संस्करण में यहां २० छपा है। – सं०

२) ख मिट्टी पूर्णतः किरायाहीन नहीं बनती।

तालिका XIV

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
क	६०	१०	६	६०	०	०
ख	६०+६०=१२०	१२+९=२१	६	१२६	६	६
ग	६०+६०=१२०	१४+१० १/२=२४ १/२	६	१४७	२७	६+२१
घ	६०+६०=१२०	१६+१२ =२८	६	१६८	४८	६+२ × २१
ङ	६०+६०=१२०	१८+१३ १/२=३१ १/२	६	१८९	६९	६+३ × २१
					१५०	४ × ६+६ × २१

रूपांतर ३ : पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता बढ़ती है ; यहां भी क मिट्टी में दूसरा निवेश नहीं होता।

तालिका XV

मृ० प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशे०	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृ०
क	६०	१०	६	६०	०	०
ख	६०+६०=१२०	१२+१५=२७	६	१६२	४२	४२
ग	६०+६०=१२०	१४+१७ १/२=३१ १/२	६	१८९	६९	४२.T २७
घ	६०+६०=१२०	१६+२०=३६	६	२१६	९६	४२+२ × २७
ङ	६०+६०=१२०	१८+२२ १/२=४० १/२	६	२४३	१२३	४ × ४२+३ × २७
					३३०	४ × ४२+६ × २७

दूसरी सूरत : उत्पादन दाम घटता है।

रूपांतर १ : पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता उतनी ही रहती है ; क मिट्टी प्रतिद्वंद्विता से पूर्णतः बहिष्कृत हो जाती है और ख मिट्टी किरायाहीन हो जाती है।

तालिका XVI

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
ख	६०+६०=१२०	१२+१२=२४	५	१२०	०	०
ग	६०+६०=१२०	१४+१४=२८	५	१४०	२०	२०
घ	६०+६०=१२०	१६+१६=३२	५	१६०	४०	२ × २०
ङ	६०+६०=१२०	१८+१८=३६	५	१८०	६०	३ × २०
					१२०	६ × २०

रूपांतर २ : पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता घटती है ; क मिट्टी प्रतिद्वंद्विता से बहिष्कृत हो जाती है और ख मिट्टी कियायाहीन हो जाती है।

तालिका XVII

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
ख	६०+६०=१२०	१२+६=२१	५ ५/७	१२०	०	०
ग	६०+६०=१२०	१४+१० १/२=२४ १/२	५ ५/७	१४०	२०	२०
घ	६०+६०=१२०	१६+१२=२८	५ ५/७	१६०	४०	२ × २०
ङ	६०+६०=१२०	१८+१३ १/२=३१ १/२	५ ५/७	१८०	६०	३ × २०
					१२०	६ × २०

रूपांतर ३ : पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता बढ़ती है ; क मिट्टी प्रतिद्वंद्विता में बनी रहती है ; ख मिट्टी किराया प्रदान करती है।

तालिका XVIII

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
क	६०+६०=१२०	१०+१५=२५	४ ४/५	१२०	०	०
ख	६०+६०=१२०	१२+१८=३०	४ ४/५	१४४	२४	२४
ग	६०+६०=१२०	१४+२१=३५	४ ४/५	१६८	४८	२×२४
घ	६०+६०=१२०	१६+२४=४०	४ ४/५	१९२	७२	३×२४
ङ	६०+६०=१२०	१८+२७=४५	४ ४/५	२१६	९६	४×२४
					२४०	१०×२४

तीसरी सूरत: उत्पादन दाम चढ़ता है।

क) क मिट्टी किरायाहीन बनी रहती है और दाम का नियमन करती रहती है।

रूपांतर १: पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता उतनी ही बनी रहती है; इसके लिए पूंजी के पहले निवेश की ह्रासमान उत्पादिता होना आवश्यक है।

तालिका XIX

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल*	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
क	६०+६०=१२०	७ १/२+१०=१७१/२	६ ६/७	१२०	०	०
ख	६०+६०=१२०	९ +१२=२१	६ ६/७	१४४	२४	२४
ग	६०+६०=१२०	१० १/२+१४=२४ १/२	६ ६/७	१६८	४८	२×२४
घ	६०+६०=१२०	१२ +१६=२८	६ ६/७	१९२	७२	३×२४
ङ	६०+६०=१२०	१३ १/२+१८=३१ १/२	६ ६/७	२१६	९६	४×२४
					२४०	१०×२४

*१८९४ के जर्मन संस्करण में इस शीर्षक के अंतर्गत तालिका XXI के आंकड़े गलती से दे दिये गये थे। उन्हें सही करके इस प्रसंग के अनुरूप कर लिया गया है।–सं०

रूपांतर २ : पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता घटती है, लेकिन इस तरह से कि वह पहले निवेश की स्थिर उत्पादिता को अपवर्जित नहीं करती।

तालिका XX

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
क	६०+६०=१२०	१०+५=१५	८	१२०	०	०
ख	६०+६०=१२०	१२+६=१८	८	१४४	२४	२४
ग	६०+६०=१२०	१४+७=२१	८	१६८	४८	२ × २४
घ	६०+६०=१२०	१६+८=२४	८	१९२	७२	३ × २४
ङ	६०+६०=१२०	१८+९=२७	८	२१६	९६	४ × २४
					२४०	१० × २४

रूपांतर ३ : पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता ऊंची होती है; हमारे द्वारा कल्पित अवस्थाओं में यह पहले निवेश की ह्रासमान उत्पादिता की पूर्वकल्पना करती है।

तालिका XXI

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
क	६०+६०=१२०	५+१२ १/२=१७ १/२	६ ६/७	१२०	०	०
ख	६०+६०=१२०	६+१५ =२१	६ ६/७	१४४	२४	२४
ग	६०+६०=१२०	७+१७ १/२=२४ १/२	६ ६/७	१६८	४८	२ × २४
घ	६०+६०=१२०	८+२० =२८	६ ६/७	१९२	७२	३ × २४
ङ	६०+६०=१२०	९+२२ १/२=३१ १/२	६ ६/७	२१६	९६	४ × २४
					२४०	१० × २४

ख) एक निकृष्टतर मिट्टी (जिसे क कहा जा रहा है) दाम की नियामक बन जाती है और फलतः क मिट्टी किराया प्रदान करती है। इससे दूसरे निवेश की स्थिर उत्पादिता सभी रूपांतरों के लिए संभव हो जाती है।

रूपांतर १ : पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता उतनी ही रहती है।

तालिका XXII

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
क	१२०	१६	७ १/२	१२०	०	०
क	६०+६०=१२०	१०+१०=२०	७ १/२	१५०	३०	३०
ख	६०+६०=१२०	१२+१२=२४	७ १/२	१८०	६०	२ × ३०
ग	६०+६०=१२०	१४+१४=२८	७ १/२	२१०	९०	३ × ३०
घ	६०+६०=१२०	१६+१६=३२	७ १/२	२४०	१२०	४ × ३०
ङ	६०+६०=१२०	१८+१८=३६	७ १/२	२७०	१५०	५ × ३०
					४५०	१५ × ३०

रूपांतर २ : पूंजी के दूसरे निवेश की उत्पादिता घटती है।

तालिका XXIII

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
क	१२०	१५	८	१२०	०	०
क	६०+६०=१२०	१०+७ १/२=१७ १/२	८	१४०	२०	२०
ख	६०+६०=१२०	१२+९ =२१	८	१६८	४८	२०+२८
ग	६०+६०=१२०	१४+१० १/२=२४ १/२	८	१९६	७६	२+२ × २८
घ	६०+६०=१२०	१६+१२ =२८	८	२२४	१०४	२०+३ × २८
ङ	६०+६०=१२०	१८+१३ १/२=३१ १/२	८	२५२	१३२	२०+४ × २८
					३८०	५ × २०+१० × २८

रूपांतर ३: दूसरे निवेश की उत्पादिता बढ़ती है।

ये तालिकाएं निम्न निष्कर्षों की तरफ़ ले जाती हैं :

सबसे पहली बात तो यह है कि किरायों का अनुक्रम बिलकुल उर्वरता अंतरों के अनुक्रम

तालिका XXVI

मृदा प्रकार	उत्पादन दाम शिलिंग	उपज बुशेल	विक्रय दाम शिलिंग	प्राप्तियां शिलिंग	किराया शिलिंग	किराया वृद्धि
क	१२०	१६	७ १/२	१२०	०	०
क	६०+६०=१२०	१०+१२ १/२=२२ १/२	७ १/२	१६८ ३/४	४८ ३/४	१५ + ३३ ३/४
ख	६०+६०=१२०	१२+१५ =२७	७ १/२	२०२ १/२	८२ १/२	१५+२ × ३३ ३/४
ग	६०+६०=१२०	१४+१७ १/२=३१ १/२	७ १/२	२३६ १/४	११६ १/४	१५+३ × ३३ ३/४
घ	६०+६०=१२०	१६+२० =३६	७ १/२	२७०	१५०	१५+४ × ३३ ३/४
ङ	६०+६०=१२०	१८+२२ १/२=४० १/२	७ १/२	३०३ ३/४	१८३ ३/४	१५+५ × ३३ ३/४
					५८१ १/४	५+१५+१५ × × ३३ ३/४

की तरह ही – किरायाहीन नियामक मिट्टी को शून्यांक बनाकर – चलता है। किराये का निर्धारण करनेवाले कारक पैदावार में अंतर होते हैं, न कि निरपेक्ष पैदावार। विभिन्न मिट्टियां प्रति एकड़ १, २, ३, ४, ५ बुशेल पैदा करती हैं, या ११, १२, १३, १४, १५ बुशेल, किराये दोनों ही सूरतों में ०,१,२,३,४ बुशेल, अथवा उसके द्रव्य में समतुल्य अनुक्रम का ही निर्माण करते हैं।

लेकिन उसी ज़मीन में पूंजी के पुनरावृत्त निवेश से हासिल होनेवाले कुल किराये के बारे में परिणाम कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं।

तेरह में से पांच सूरतों में अगर पूंजी का निवेश **दुगुना** होता है, तो कुल किराया **दुगुना** हो जाता है; १० × १२ शिलिंग के बजाय वह १० × २४ शिलिंग = २४० शिलिंग हो जाता है। ये सूरतें हैं :

पहली सूरत, स्थिर दाम, रूपांतर १ : स्थिर उत्पादन वृद्धि (तालिका XII)।

दूसरी सूरत, ह्रासमान दाम, रूपांतर ३ : वर्धमान उत्पादन वृद्धि (तालिका XVIII)।

तीसरी सूरत, वर्धमान दाम, पहली संभाव्यता (जिसमें क मिट्टी नियामक रहती है), तीनों ही रूपांतरों में (तालिका XIX, XX तथा XXI)।

चार सूरतों में किराया **दुगुने से अधिक** हो जाता है, अर्थात :

पहली सूरत, रूपांतर ३, स्थिर दाम, लेकिन वर्धमान उत्पादन वृद्धि (तालिका XV)। कुल किराया चढ़कर ३३० शिलिंग तक पहुंच जाता है।

तीसरी सूरत, दूसरी संभाव्यता (जिसमें क मिट्टी किराया देती है), तीनों ही रूपांतरों में (तालिका XXII, किराया = १५ × ३० = ४५० शिलिंग; तालिका XXIII, किराया = ५ × २० + १० × २८ = ३८० शिलिंग, तालिका XXIV, किराया × ५ × १५ + १५ × ३३ ३/४ = ५८१ १/४ शिलिंग)।

एक सूरत में किराया बढ़ता है, मगर पूंजी के पहले निवेश द्वारा प्रदत्त किराये के दुगुने के बराबर नहीं हो जाता :

पहली सूरत, स्थिर दाम, रूपांतर २ : दूसरे निवेश की ऐसी अवस्थाओं के अंतर्गत ह्रासमान उत्पादिता, जिससे ख मिट्टी पूर्णतः किरायाहीन नहीं होती (तालिका XIV, किराया = ४ × ६ + ६ × २१ = १५० शिलिंग)।

अंततः, सिर्फ़ तीन ही सूरतों में कुल किराया पूंजी के दूसरे निवेश के साथ–सभी मिट्टियों के लिए–उसी स्तर पर रहता है, जिस पर पहले निवेश के साथ था (तालिका XI); ये वे सूरतें हैं, जिनमें क मिट्टी प्रतिद्वंद्विता से बाहर हो जाती है और ख नियामक तथा इस प्रकार किरायाहीन मिट्टी बन जाती है। इस प्रकार, ख से किराया सिर्फ़ ख़त्म ही नहीं हो जाता है, बल्कि किराया अनुक्रम के हर अगले सोपान से उसे घटाया भी जाता है; परिणाम इस प्रकार निर्धारित होता है। ये सूरतें हैं :

पहली सूरत, रूपांतर २, जब अवस्थाएं ऐसी होती हैं कि क मिट्टी प्रतिद्वंद्विता से बहिष्कृत हो जाती है (तालिका XIII)। कुल किराया ६ × २०, अथवा १० × १२ = १२० है, जैसे तालिका XI में है।

दूसरी सूरत, रूपांतर १ तथा २। यहां हमारी कल्पनाओं के अनुसार क मिट्टी अनिवार्यतः प्रतिद्वंद्विता से बाहर रहती है (तालिका XVI तथा XVII) और कुल किराया फिर ६ × २० = १० × १२ = १२० शिलिंग है।

इस प्रकार, मतलब यह है : जमीन में पूंजी के वर्धित निवेश के परिणामस्वरूप सभी संभव सूरतों में से बहुत अधिक में किराया–किरायादायी जमीन के प्रति एकड़ पर और विशेषकर अपने कुल परिमाण में भी–बढ़ता है। विश्लेषित तेरह प्रसंगों में से केवल तीन में ही उसका योग अपरिवर्तित रहता है। ये वे मामले हैं, जिनमें सबसे हीन प्रकार की मिट्टी, जो अभी तक नियामक और किरायाहीन थी, प्रतिद्वंद्विता के बाहर हो जाती है और अगली कोटि की मिट्टी उसका स्थान ले लेती है, अर्थात किरायाहीन बन जाती है। लेकिन इन मामलों में भी श्रेष्ठतर मिट्टियों पर किराये पहले पूंजी निवेश के कारण उत्पन्न किरायों की तुलना में बढ़ते हैं; जब ग का किराया २४ से २० हो जाता है, तब घ और ङ के किराये ३६ और ४८ शिलिंग से बढ़कर क्रमशः ४० और ६० शिलिंग हो जाते हैं।

कुल किरायों में पूंजी के पहले निवेश के स्तर (तालिका XI) के नीचे गिरावट आना सिर्फ़ उसी अवस्था में संभव हो सकता है कि जब क मिट्टी की तरह ख मिट्टी को भी प्रतिद्वंद्विता से बाहर कर दिया जाये और ग मिट्टी नियामक तथा किरायाहीन मिट्टी बन जाये।

इस प्रकार, एक बार काश्त में लाये जाने के बाद सभी विभिन्न मिट्टियां जब तक प्रतिद्वंद्विता करती रह सकती हैं, तब तक किसी देश विशेष में जितना ही अधिक पूंजी को जमीन में निवेशित किया जाता है, और कृषि तथा सामान्यतः सभ्यता के विकास का स्तर जितना ही अधिक ऊंचा होता है, किराये में प्रति एकड़ और कुल मात्रा में उतना ही अधिक वृद्धि होती है और समाज द्वारा बेशी लाभों के रूप में भूस्वामियों को दिया जानेवाला ख़िराज उतना ही अधिक विराट होता जाता है।

यह नियम बड़े भूस्वामी वर्ग की अद्भुत जीवन शक्ति का कारण स्पष्ट करता है। समाज का कोई और वर्ग इतने ठाठ-बाट से नहीं रहता, जैसे वह रहता है और इसके लिहाज़ के बिना कि इसके लिए धन कहां से प्राप्त किया जाता है, कोई और वर्ग उसकी तरह से अपनी "श्रेणी" के अनुरूप पारंपरिक विलासिता का दावा नहीं करता, और कोई और वर्ग इतनी निश्चिंतता के साथ एक के बाद एक क़र्ज़ का बोझ नहीं लादता जाता। और इसके बावजूद उस पूंजी की बदौलत यह वर्ग हमेशा फिर संकट से बच निकलता है, जो और लोग ज़मीन में निवेशित करते हैं, जो उसे ऐसा किराया प्रदान करती है कि जिसकी मात्रा का पूंजीपति द्वारा उस ज़मीन से प्राप्त किये जानेवाले लाभ के साथ कोई भी मेल नहीं होता।

लेकिन यही नियम इसका कारण भी स्पष्ट करता है कि बड़े भूस्वामी की जीवन शक्ति क्यों शनैः शनैः निःशेष होती जा रही है।

जब १८४६ में ब्रिटिश अनाज महसूलों को ख़त्म किया गया था, तो अंग्रेज़ कारख़ानेदार यह समझते थे कि उसके द्वारा उन्होंने भूस्वामी अभिजातों को कंगालों में परिणत कर दिया है। लेकिन इसके बजाय वे अधिकाधिक धनी ही होते चले गये। ऐसा क्यों हुआ? कारण बहुत सीधा-सादा है। एक तो अब फ़ार्मरों के लिए संविदा द्वारा हर साल ८ पाउंड के बजाय १२ पाउंड प्रति एकड़ का निवेश करना अनिवार्य हो गया था। और दूसरे, निम्न सदन में भी अपने प्रबल प्रतिनिधित्व की बदौलत भूस्वामियों ने जलनिकास परियोजनाओं तथा अपनी ज़मीन के अन्य स्थायी सुधारों के लिए अपने आपको एक बड़ी सरकारी आर्थिक सहायता प्रदान कर दी थी। चूंकि निकृष्टतम मिट्टी का किसी भी प्रकार पूर्ण विस्थापन नहीं हुआ, बल्कि उलटे वह हद से हद अन्य प्रयोजनों के लिए – और अधिकांशतः अस्थायी रूप में ही – उपयोग में ही आ गयी, इसलिए किराये वर्धित पूंजी के यथानुपात बढ़ गये और परिणामस्वरूप अभिजातों की स्थिति पहले से भी ज़्यादा अच्छी हो गयी।

लेकिन अनश्वर कुछ भी नहीं होता। महासागरगामी वाष्पपोतों और उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका और भारत के रेलमार्गों ने ज़मीन के कुछ बहुत ही विलक्षण विस्तारों के लिए यूरोपीय अनाज मंडी में प्रतिद्वंद्विता करना संभव बना दिया। एक ओर, ये उत्तरी अमरीकी प्रेरियां और अर्जेंटाइनी पांपा – स्वयं प्रकृति द्वारा ही कृषि के लिए साफ़ किये हुए मैदान – और अछूती ज़मीनें थीं, जो आदिम काश्तकारी से और बिना उर्वरकों के भी बहुत समय तक बढ़िया फ़सलें दे सकती थीं। दूसरी ओर, ये रूसी तथा भारतीय ग्राम समुदायों की ज़मीनें थीं, जिन्हें अपनी उपज का एक हिस्सा, और वह भी लगातार बढ़ता हिस्सा, उनसे – बहुधा यंत्रणाओं के बल पर – एक निर्मम और निरंकुश राज्य द्वारा ऐंठे जानेवाले करों की अदायगी के लिए धन प्राप्त करने के वास्ते बेचना पड़ता था। ये माल उत्पादन दाम का ख़याल किये बिना बेचे जाते थे, व्यापारी जो भी दाम देने को तैयार होता, ये उसी पर बेच दिये जाते थे, क्योंकि करों के देय हो जाने पर किसान को पैसे की सख़्त ज़रूरत होती थी। और अकृष्ट मैदानों तथा करों के भार से दबे रूसी और भारतीय किसानों की भी इस प्रतिद्वंद्विता के आगे यूरोपीय फ़ार्मर और काश्तकार पुराने किरायों पर खेती में नहीं टिका रह सकता था। यूरोप में ज़मीन का एक हिस्सा अनाज की खेती के लिहाज़ से निर्णायक रूप में प्रतिद्वंद्विता से बाहर निकल गया और सभी जगह किरायों में गिरावट आयी; हमारी दूसरी सूरत, रूपांतर २ – ह्रासमान दाम और अतिरिक्त पूंजी निवेश की ह्रासमान उत्पादिता – यूरोप के लिए सामान्य बात बन गयी, और यही स्कॉटलैंड से लेकर इटली तक और दक्षिणी फ़्रांस से लेकर पूर्वी प्रशा तक

के भूस्वामियों की हाय-तोबा का कारण है। सौभाग्यवश, इन मैदानों का पूरी तरह से काश्त में लाया जाना अभी बहुत दूर है और अभी इतने मैदान बाक़ी पड़े हुए हैं कि वे यूरोप के सारे बड़े भूस्वामियों को और साथ-साथ लगे हाथ छोटे भूस्वामियों को भी तबाह करने के लिए काफ़ी हैं।–फ़े॰ एं॰]

किराये का जिन शीर्षकों के अंतर्गत विश्लेषण किया जाना चाहिए, वे हैं:

क। विभेदक किराया।

१) विभेदक किराये की संकल्पना। उदाहरण के रूप में जलशक्ति। वास्तविक कृषि किराये में संक्रमण।

२) विभिन्न भूखंडों की भिन्न-भिन्न उर्वरता से उत्पन्न विभेदक किराया I।

३) उसी ज़मीन में आनुक्रमिक पूंजी निवेशों से उत्पन्न विभेदक किराया II। विभेदक किराया II के विश्लेषण में यह आता है:

क) स्थिर उत्पादन दाम के साथ विभेदक किराया,

ख) ह्रासमान उत्पादन दाम के साथ विभेदक किराया, और

ग) वर्धमान उत्पादन दाम के साथ विभेदक किराया।

तथा इसके अलावा

घ) बेशी लाभ का किराये में रूपांतरण।

४) इस किराये का लाभ दर पर प्रभाव।

ख। निरपेक्ष किराया।

ग। ज़मीन का दाम।

घ। किराया ज़मीन के बारे में अंतिम टीकाएं।

सामान्य रूप में विभेदक किराये के विवेचन से निकाले जानेवाले समग्र निष्कर्ष निम्न हैं:

पहला: बेशी लाभ की उत्पत्ति अलग-अलग प्रकार से हो सकती है। एक ओर, विभेदक किराया I, अर्थात समस्त कृषि पूंजी के ऐसी ज़मीन में निवेश के आधार पर, जिसमें अलग-अलग उर्वरता की मिट्टियां होती हैं। अथवा, विभेदक किराया II के रूप में, उसी ज़मीन में पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों की भिन्न-भिन्न विभेदक उर्वरता के, अर्थात किरायाहीन, किंतु उत्पादन दाम का नियमन करनेवाली निकृष्टतम ज़मीन में पूंजी के उसी निवेश से प्राप्य उत्पादिता–उदाहरण के लिए, क्वार्टरों में व्यक्त गेहूं की मात्रा–से अधिक उत्पादिता के आधार पर। लेकिन यह बेशी लाभ चाहे किसी भी प्रकार उत्पन्न क्यों न होता हो, उसका किराये में रूपांतरण, अर्थात उसका फ़ार्मर से भूस्वामी को अंतरण, हमेशा इस बात की पूर्वकल्पना करता है कि पूंजी के अलग-अलग आनुक्रमिक निवेशों की आंशिक उपजों के विभिन्न वास्तविक अलग-अलग उत्पादन दामों (अर्थात उस सामान्य उत्पादन दाम से निरपेक्ष, जो बाज़ार दाम का नियमन करता है) को पहले एक अलग औसत उत्पादन दाम में परिणत किया जा चुका है। प्रति एकड़ उपज के सामान्य नियामक उत्पादन दाम का इस अलग औसत उत्पादन दाम पर आधिक्य ही प्रति एकड़ किराया है और उसका माप है। विभेदक किराया I

के मामले में विभेदक परिणाम अपने आप में इसलिए गोचर होते हैं कि वे ज़मीन के अलग-अलग एक दूसरे से भिन्न और साथ-साथ विद्यमान – हिस्सों पर उत्पन्न होते हैं – पूंजी के प्रति एकड़ सामान्य माने जानेवाले निवेश और उसके अनुरूप कृषि की सामान्य सीमा के अंतर्गत उत्पन्न होते हैं। विभेदक किराया II के मामले में पहले उन्हें गोचर बनाना होता है; वस्तुतः उन्हें विभेदक किराया I में पुनः रूपांतरित करना होता है, और यह केवल बतलाये हुए ढंग से ही हो सकता है। उदाहरण के लिए, तालिका III, S. 226* को ले लीजिये।

२ १/२ पाउंड की पहले निवेशित पूंजी के लिए **ख** मिट्टी २ क्वार्टर प्रति एकड़, और समान परिमाण के दूसरे निवेश के लिए १ १/२ क्वार्टर – कुल मिलाकर उसी एकड़ से ३ १/२ क्वार्टर – प्रदान करती है। इसमें विभेद करना संभव नहीं है कि इन ३ १/२ क्वार्टरों में से कौनसा हिस्सा निवेशित पूंजी I का उत्पाद है और कौनसा निवेशित पूंजी II का, क्योंकि यह सब उस एक ही मिट्टी पर उगा हुआ है। वास्तव में, यह ३ १/२ क्वार्टर अनाज ५ पाउंड की कुल पूंजी से उत्पन्न हुआ है और इस मामले की असलियत बस यह है: २ १/२ पाउंड की पूंजी ने २ क्वार्टर उत्पन्न किया और ५ पाउंड की पूंजी ने ४ क्वार्टर के बजाय ३ १/२ क्वार्टर पैदा किया। अगर ५ पाउंड ने ४ क्वार्टर दिये होते, अर्थात अगर पूंजी के दोनों निवेशों से उपज समान ही होती, और इसी प्रकार अगर उपज ५ क्वार्टर भी होती, अर्थात अगर पूंजी के दूसरे निवेश ने १ क्वार्टर बेशी उत्पन्न की होती, तो भी स्थिति यही रहती। पहले २ क्वार्टर का उत्पादन दाम १ १/२ पाउंड प्रति क्वार्टर है और दूसरे १ १/२ क्वार्टर का २ पाउंड प्रति क्वार्टर है। फलतः, ३ १/२ क्वार्टर की मिलकर क़ीमत ६ पाउंड है। यह कुल उत्पाद का व्यष्टिक उत्पादन दाम है और, औसतन १ पाउंड १४ २/७ शिलिंग, अर्थात लगभग १ ३/४ पाउंड प्रति क्वार्टर है। क मिट्टी द्वारा निर्धारित सामान्य उत्पादन दाम, अर्थात ३ पाउंड से इससे १ १/४ पाउंड प्रति क्वार्टर बेशी लाभ, और फलतः ३ १/२ क्वार्टर के लिए कुल ४ ३/८ पाउंड बेशी लाभ उत्पन्न होता है। **ख** के औसत उत्पादन दाम पर यह लगभग १ १/२ क्वार्टर के बराबर है। दूसरे शब्दों में, **ख** से बेशी लाभ **ख** से उपज के एक संखंड द्वारा, अर्थात १ १/२ क्वार्टर द्वारा द्योतित किया जाता है, जो किराये को अनाज के रूप में व्यक्त करता है और जो – सामान्य उत्पादन दाम के अनुसार – ४ १/२ पाउंड का बिकता है। लेकिन दूसरी ओर, **क** के एक एकड़ से उत्पाद पर **ख** के एक एकड़ से उत्पाद का आधिक्य अपने आप से बेशी लाभ, और इस प्रकार बेशी उत्पाद को नहीं प्रकट करता। हमारी कल्पना के अनुसार **ख** का एकड़ ३ १/२ क्वार्टर पैदा करता है, जबकि **क** का एकड़ सिर्फ़ १ क्वार्टर पैदा करता है। इसलिए **ख** से अतिरिक्त उत्पाद २ १/२ क्वार्टर है, लेकिन बेशी उत्पाद केवल १ १/२ क्वार्टर है; कारण कि **ख** में निवेशित पूंजी **क** में निवेशित पूंजी की दुगुनी है और इस प्रकार उसका उत्पादन दाम दुगुना है। अगर **क** में भी ५ पाउंड का ही निवेश हुआ होता, और उत्पादिता दर उतनी ही बनी रहती है, तो उपज १ क्वार्टर के बजाय २ क्वार्टर होगी, और तब यह प्रत्यक्ष हो जायेगा कि वास्तविक बेशी उत्पाद का

* इस खंड का पृष्ठ ६०५। – सं०

निर्धारण ३ १/२ क्वार्टर की २ क्वार्टर से, न कि ३ १/२ क्वार्टर की १ क्वार्टर से तुलना करके किया जाता है, अर्थात वह केवल १ १/२ क्वाटर है, न कि २ १/२ क्वार्टर। इसके अलावा, अगर ख में पूंजी का तीसरा, २ १/२ पाउंड का निवेश किया जाता है, और वह केवल १ क्वार्टर प्रदान करता है, तो इस क्वार्टर की लागत ३ पाउंड होगी, जैसे क में थी, और उसका ३ पाउंड विक्रय दाम केवल उत्पादन दाम को ही पूरा कर पायेगा, वह केवल औसत लाभ ही प्रदान करेगा, किंतु कोई बेशी लाभ नहीं देगा और इस प्रकार ऐसा कुछ नहीं प्रदान करेगा कि जिसे किराये में रूपांतरित किया जा सके। किसी भी प्रदत्त मृदा प्रकार की प्रति एकड़ उपज की क मिट्टी की प्रति एकड़ उपज के साथ तुलना यह नहीं दिखलाती कि वह पूंजी के समान निवेश से उपज है या बड़े निवेश से, न वह यही दिखलाती है कि अतिरिक्त उपज सिर्फ़ उत्पादन दाम को ही पूरा करती है या वह अतिरिक्त पूंजी की अधिक उत्पादिता के कारण है।

दूसरा: पूंजी के अतिरिक्त निवेशों के लिए,—जिसकी, जहां तक नये बेशी लाभ की उत्पत्ति का सवाल है, सीमा यह है कि पूंजी निवेश बस उत्पादन दाम को ही पूरा करता है, अर्थात जो एक क्वार्टर उतना ही महंगा उत्पादित करता है कि जितना क मिट्टी के एक एकड़ में उतना ही पूंजी निवेश, अर्थात हमारी कल्पना के अनुसार ३ पाउंड,—ह्रासमान उत्पादिता दर मान ली जाये, तो अभी-अभी जो कहा गया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है: वह सीमा, जिस पर ख के एक एकड़ में पूंजी के कुल निवेश कोई भी किराया देना बंद कर देते हैं, तब आती है कि जब ख का प्रति एकड़ व्यष्टिक औसत उत्पादन दाम चढ़कर क के प्रति एकड़ उत्पादन दाम पर पहुंच जाता है।

अगर ख में केवल ऐसे पूंजी निवेश किये जाते हैं, जो उत्पादन दाम प्रदान करते हैं, अर्थात न बेशी लाभ प्रदान करते हैं और न नया किराया ही, तो यह निश्चय ही प्रति क्वार्टर व्यष्टिक औसत उत्पादन दाम को चढ़ा देता है, किंतु पूंजी के पूर्ववर्ती निवेशों से उत्पन्न बेशी लाभ को, और फलतः किराये को प्रभावित नहीं करता। कारण यह है कि औसत उत्पादन दाम सदा क के उत्पादन दाम के नीचे ही रहता है, और जब प्रति क्वार्टर दाम-आधिक्य घटता है, तो क्वार्टरों की संख्या यथानुपात बढ़ जाती है, जिससे दाम में कुल आधिक्य अपरिवर्तित रहता है।

कल्पित प्रसंग में ख में पूंजी के ५ पाउंड के बराबर पहले दो निवेश ३ १/२ क्वार्टर, और इस प्रकार, हमारी कल्पना के अनुसार १ १/२ क्वार्टर किराया = ४ १/२ पाउंड प्रदान करते हैं। अब अगर २ १/२ पाउंड का तीसरा निवेश किया जाता है, मगर ऐसा कि जो सिर्फ़ एक अतिरिक्त क्वार्टर ही प्रदान करता है, तो ४ १/२ क्वार्टर का कुल उत्पादन दाम (२०% लाभ सहित) = ९ पाउंड; इस प्रकार प्रति क्वार्टर औसत दाम = २ पाउंड। इस तरह से ख पर प्रति क्वार्टर उत्पादन दाम १ ५/७ पाउंड से चढ़कर २ पाउंड हो गया है, और क के नियामक दाम की तुलना में प्रति क्वार्टर बेशी लाभ १ २/७ पाउंड से गिरकर १ पाउंड हो गया है। लेकिन १ × ४ १/२ = ४ १/२ पाउंड वैसे ही कि जैसे पहले १ २/७ × ३ १/२ = = ४ १/२ पाउंड।

मान लीजिये कि ख में २ १/२ - २ १/२ पाउंड का एक चौथा और एक पांचवां निवेश किया जाता है, जो बस क्वार्टर अपने सामान्य उत्पादन दाम पर ही पैदा करते हैं। इस प्रकार प्रति एकड़ कुल उत्पाद ६ १/२ क्वार्टर और उसका उत्पादन दाम १५ पाउंड होगा। ख के लिए प्रति क्वार्टर औसत उत्पादन दाम फिर चढ़कर २ पाउंड* के बजाय २ ४/१३ पाउंड हो जायेगा और प्रति क्वार्टर बेशी लाभ – क के नियामक उत्पादन दाम की तुलना में – फिर गिर जायेगा और १ पाउंड के बजाय ९/१३ पाउंड हो जायेगा। लेकिन अब इस ९/१३ पाउंड को ४ १/२ क्वार्टर के बजाय ६ १/२ क्वार्टर के आधार पर परिकलित करना होगा। और ९/१३ × ६ १/२ = १ × ४ १/२=४ १/२ पाउंड।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक तो इन परिस्थितियों के अंतर्गत नियामक उत्पादन दाम में इसके लिए कोई वृद्धि आवश्यक नहीं है कि किरायादायी जमीन में पूंजी के अतिरिक्त निवेशों को उस हद तक भी संभव बनाया जा सके कि जहां अतिरिक्त पूंजी बेशी लाभ उत्पादित करना बिलकुल बंद कर देती है और केवल औसत लाभ ही प्रदान करती रहती है। इसके अलावा यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रति एकड़ कुल बेशी लाभ यहां उतना ही बना रहता है, चाहे प्रति क्वार्टर बेशी लाभ कितना भी क्यों न घट जाये; यह घटत सदा प्रति एकड़ उत्पादित क्वार्टरों की संख्या में अनुरूप वृद्धि द्वारा संतुलित हो जाती है। इसके लिए कि औसत उत्पादन दाम सामान्य उत्पादन दाम के स्तर पर (अतः ख मिट्टी के लिए ३ पाउंड पर) पहुंच सके, यह आवश्यक है कि ऐसे अनुपूरक निवेश किये जायें, जिनकी उपज का उत्पादन दाम ३ पाउंड के नियामक उत्पादन दाम की अपेक्षा अधिक ऊंचा हो। लेकिन हम देखेंगे कि अकेला यही बिना और झमेले के इसके लिए पर्याप्त नहीं होता कि ख के प्रति क्वार्टर औसत उत्पादन दाम को चढ़ाकर ३ पाउंड के सामान्य उत्पादन दाम पर ला सके।

मान लीजिये कि ख मिट्टी यह उत्पादित करती है:

१) ३ १/२ क्वार्टर, जिसका उत्पादन दाम पहले की ही भांति ६ पाउंड है, अर्थात पूंजी के २ १/२ = २ १/२ पाउंड के दो निवेश, जिनमें से प्रत्येक बेशी लाभ प्रदान करता है, मगर घटती मात्रा का।

२) १ क्वार्टर ३ पाउंड पर; जो पूंजी का ऐसा निवेश है, जिसमें व्यष्टिक उत्पादन दाम नियामक उत्पादन दाम के बराबर है।

३) १ क्वार्टर ४ पाउंड पर; जो पूंजी का ऐसा निवेश है, जिसमें व्यष्टिक उत्पादन दाम नियामक दाम की अपेक्षा ३३% अधिक ऊंचा है।

इस प्रकार हमारे पास १० ७/१० * पाउंड पूंजी के निवेश से १३ पाउंड के लिए प्रति एकड़ ५ १/२ क्वार्टर होना चाहिए। यह मूलतः निवेशित पूंजी की चार गुनी है, लेकिन उपज पूंजी के पहले निवेश की पूरी तीन गुनी भी नहीं है।

१३ पाउंड पर ५ १/२ क्वार्टर से हमें २ ४/११ पाउंड प्रति क्वार्टर का औसत उत्पादन

---

*१८९४ के जर्मन संस्करण में यहां १ पाउंड छपा है। – सं०

**वहीं १० छपा है। – सं०

दाम प्राप्त होता है; अर्थात नियामक उत्पादन दाम ३ पाउंड मानते हुए ७/११ पाउंड प्रति क्वार्टर का आधिक्य। इस आधिक्य को किराये में रूपांतरित किया जा सकता है। ३ पाउंड नियामक उत्पादन दाम पर बेचे गये ५ १/२ क्वार्टर १६ १/२ पाउंड प्रदान करते हैं। उत्पादन दाम के १३ पाउंड को घटाने के बाद ३ १/२ पाउंड का बेशी लाभ, अथवा किराया, शेष रहता है, जो ख के वर्तमान प्रति क्वार्टर औसत उत्पादन दाम, अर्थात २ ४/११ पाउंड प्रति क्वार्टर के हिसाब से १ २५/५२ क्वार्टर को द्योतित करता है। द्रव्यरूप किराया १ पाउंड और अनाजरूप किराया १/२ क्वार्टर अधिक नीचा हो जायेगा, लेकिन इस तथ्य के बावजूद कि ख में पूंजी का चौथा अतिरिक्त निवेश न केवल बेशी लाभ नहीं ही प्रदान कर पाता है, बल्कि औसत लाभ से कम प्रदान करता है, बेशी लाभ और किराया अब भी अस्तित्वमान रहते हैं। मान लीजिये कि निवेश ३) के अलावा निवेश २) भी नियामक उत्पादन दाम से अधिक पर उपज पैदा करता है। अतः कुल उत्पादन होगा: ६ पाउंड के लिए ३ १/२ क्वार्टर + ८ पाउंड के लिए २ क्वार्टर; १४ पाउंड उत्पादन दाम के लिए कुल ५ १/२ क्वार्टर। प्रति क्वार्टर औसत उत्पादन दाम २ ६/११ पाउंड होगा और ५/११ पाउंड का आधिक्य छोड़ देगा। ३ पाउंड के भाव बेचे जाने पर ५ १/२ क्वार्टर कुल १६ १/२ पाउंड देते हैं; १४ पाउंड उत्पादन दाम को घटाने से किराये के लिए २ १/२ पाउंड बाक़ी रह जाते हैं। ख पर विद्यमान औसत उत्पादन दाम पर यह ५५/५६ क्वार्टर के समतुल्य होगा। दूसरे शब्दों में, किराया अब भी उत्पन्न होता है, अलबत्ता पहले की अपेक्षा कम।

बहरहाल यह दिखलाता है कि ऐसी बेहतर जमीनों में, जिनकी उपज की लागत नियामक उत्पादन दाम से अधिक बैठती है, पूंजी के अतिरिक्त निवेशों से किराये का–कम से कम प्रचलित व्यवहार की सीमाओं के भीतर तो नहीं ही–विलोपन नहीं हो जाता, चाहे वह कम अवश्य हो जाता है। उसकी घटत एक ओर, कुल पूंजी निवेश में इस कम उत्पादक पूंजी द्वारा निर्मित संखंड के अनुपात में, और दूसरी ओर, उसकी उत्पादनशीलता में घटत के अनुपात में होगी। उसकी उपज का औसत दाम अब भी नियामक दाम के नीचे रहेगा और फलतः अब भी बेशी लाभ को उत्पन्न होने देगा, जो किराये में रूपांतरित हो सकता है।

	पूंजी पाउंड	लाभ पाउंड	उपज क्वार्टर	उत्पादन दाम		विक्रय दाम पाउंड	प्राप्तियां पाउंड	किराये के लिए बेशी	
				प्रति क्वार्टर पाउंड	कुल पाउंड			क्वार्टर	पाउंड
१)	२ १/२	१/२	२	१ १/२	३	३	६	१	३
२)	२ १/२	१/२	१ १/२	२	३	३	४ १/२	१/२	१ १/२
३)	५	१	१ १/२	४	६	३	४ १/२	—१/२	—१ १/२
४)	५	१	१	६	६	३	३	—१	—३
	१५	३	६		१८		१८	०	०

अब मान लीजिये कि ह्रासमान उत्पादिता के चार आनुक्रमिक पूंजी निवेशों (२ १/२ पाउंड, २ १/२ पाउंड, ५ पाउंड और ५ पाउंड) के परिणामस्वरूप ख का प्रति क्वार्टर औसत दाम सामान्य उत्पादन दाम के अनुरूप हो जाता है।

इस प्रसंग में फ़ार्मर अपनी उपज के प्रत्येक क्वार्टर को उसके व्यष्टिक उत्पादन दाम पर, और फलतः क्वार्टरों की कुल संख्या को उनके औसत प्रति क्वार्टर उत्पादन दाम पर बेचता है, जो नियामक दाम, ३ पाउंड, के साथ मेल खाता है। अतः वह अपनी १५ पाउंड की पूंजी पर अब भी २०% = ३ पाउंड का लाभ बनाता है। लेकिन किराया विलुप्त हो गया है। प्रति क्वार्टर व्यष्टिक उत्पादन दामों के सामान्य उत्पादन दाम के साथ इस समकरण में आधिक्य का क्या हुआ?

पहले २ १/२ पाउंड से बेशी लाभ ३ पाउंड था, दूसरे २ १/२ पाउंड से वह १ १/२ पाउंड था; निवेशित पूंजी के १/३ से, अर्थात ५ पाउंड से कुल बेशी लाभ=४ १/२ पाउंड= = ९०%।

निवेश ३) के मामले में ५ पाउंड की पूंजी न केवल बेशी लाभ नहीं ही दे पाती है, बल्कि उसकी १ १/२ क्वार्टर की उपज सामान्य उत्पादन दाम पर बेचे जाने पर १ १/२ पाउंड का घाटा देती है। अंततः, निवेश ४) के मामले में, जो इसी प्रकार ५ पाउंड का है, उसकी १ क्वार्टर की उपज सामान्य उत्पादन दाम पर बेचे जाने पर ३ पाउंड का घाटा देती है। इस प्रकार, पूंजी के दोनों निवेश मिलकर ४ १/२ पाउंड का घाटा देते हैं, जो निवेश १) तथा निवेश २) से प्राप्त ४ १/२ पाउंड के बेशी लाभ के बराबर है।

बेशी लाभ और घाटा या न्यूनता परस्पर निरसित हो जाते हैं। इसलिए किराया विलुप्त हो जाता है। वास्तव में यह केवल इसीलिए संभव है कि बेशी मूल्य के तत्व, जो बेशी लाभ अथवा किराये का निर्माण करते थे, अब औसत लाभ की रचना में प्रवेश कर जाते हैं। फ़ार्मर १५ पाउंड पर ३ पाउंड का, अथवा २०% का यह औसत लाभ किराये के मोल बनाता है।

ख के व्यष्टिक औसत उत्पादन दाम का क के सामान्य उत्पादन दाम के साथ, जो बाज़ार दाम का नियमन करता है, समकरण इस बात की पूर्वकल्पना करता है कि पूंजी के पहले निवेशों से नियामक दाम के नीचे उपज के व्यष्टिक दाम का अंतर पूंजी के बादवाले निवेशों से नियामक दाम के ऊपर उपज के दाम के अंतर द्वारा अधिकाधिक प्रतिकृत होता जाता है और अंततः संतुलित हो जाता है। जब तक पूंजी के पहले निवेशों से उपज बजाते ख़ुद बेची जाती है, तब तक जो बेशी लाभ की तरह सामने आता है, वह इस प्रकार धीरे-धीरे उसके औसत उत्पादन दाम का हिस्सा बनता जाता है और इस तरह औसत लाभ की उत्पत्ति में प्रवेश कर जाता है, यहां तक कि अंततः उसके द्वारा पूर्णतः आत्मसात कर लिया जाता है।

अगर ख में १५ पाउंड के बजाय सिर्फ़ ५ पाउंड निवेशित किये जाते हैं और अंतिम तालिका के अतिरिक्त २ १/२ क्वार्टर क के २ १/२ एकड़ों को २ १/२ पाउंड प्रति एकड़ के निवेश से काश्त में लाकर पैदा किये जाते हैं, तो अतिरिक्त निवेशित पूंजी केवल ६ १/४ पाउंड ही होगी, अर्थात इन ६ क्वार्टरों को पैदा करने के लिए क तथा ख में कुल निवेश १५ पाउंड

के बजाय सिर्फ़ ११ १/४ पाउंड ही होगा, और उनका कुल उत्पादन दाम, लाभ सहित, १३ १/२ पाउंड होगा। ये ६ क्वार्टर अब भी १८ पाउंड के ही बिकेंगे, लेकिन पूंजी का निवेश ३ ३/४ पाउंड कम हो जायेगा और ख से किराया, पहले की ही भांति, ४ १/२ पाउंड प्रति एकड़ होगा। अगर अतिरिक्त २ १/२ क्वार्टर के उत्पादन के लिए क से घटिया किसी मिट्टी को, उदाहरण के लिए, क – १ और क – २ को काश्त में लाने की आवश्यकता हुई होती, जिससे प्रति क्वार्टर उत्पादन दाम क – १ मिट्टी पर १ १/२ क्वार्टर के लिए ४ पाउंड और क – २ मिट्टी पर अंतिम क्वार्टर के लिए ६ पाउंड होता, तो बात दूसरी हुई होती। इस प्रसंग में ६ पाउंड प्रति क्वार्टर नियामक उत्पादन दाम होता। ख के ३ १/२ क्वार्टर तब १० १/२ पाउंड के बजाय २१ पाउंड के बिकते, जिसका मतलब होता ४ १/२ पाउंड के बजाय १५ पाउंड किराया, अथवा अनाज के रूप में १ १/२ क्वार्टर के बजाय २ १/२ क्वार्टर किराया। इसी प्रकार, क पर एक क्वार्टर अब ३ पाउंड = १/२ क्वार्टर किराया प्रदान करेगा।

इस प्रश्न का और अधिक विवेचन करने के पहले एक टिप्पणी और:

जैसे ही कुल पूंजी का वह अंश, जो १ १/२ क्वार्टर के आधिक्य को उत्पन्न करता है, कुल पूंजी के उस अंश द्वारा संतुलित कर दिया जाता है, जो १ १/२ क्वार्टर की न्यूनता को पैदा करता है, ख से एक क्वार्टर का औसत दाम क द्वारा नियमित किये जानेवाले ३ पाउंड के सामान्य उत्पादन दाम के समकृत, अर्थात संपाती हो जाता है। यह समकरण कितनी जल्दी होता है, अथवा इस प्रयोजन के लिए न्यून उत्पादनशीलता की कितनी पूंजी ख में निवेशित की जानी चाहिए, यह बात – यह मानते हुए कि पूंजी के पहले निवेशों की बेशी उत्पादिता नियत है – बादवाले निवेशों की निकृष्टतम, नियामक मिट्टी क में उसी परिमाण के निवेश की तुलना में सापेक्ष न्यूनोत्पादनशीलता पर, अथवा नियामक दाम की तुलना में उनकी उपज के व्यष्टिक उत्पादन दाम पर निर्भर करेगी।

पूर्वोल्लिखित से अब निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:

पहला: जब तक उसी जमीन में बेशी उत्पादिता के साथ अतिरिक्त पूंजियां निवेशित की जाती हैं, चाहे बेशी उत्पादिता घटती ही जाती हो, अनाज के रूप में और द्रव्यरूप में प्रति एकड़ निरपेक्ष किराया बढ़ता है, यद्यपि वह सापेक्षतया, निवेशित पूंजी के अनुपात में (दूसरे शब्दों में, बेशी लाभ दर अथवा किराया दर के रूप में) घटता है। यहां सीमा उस अतिरिक्त पूंजी द्वारा स्थापित की जाती है, जो केवल औसत लाभ प्रदान करती है, अथवा जिसकी उपज का व्यष्टिक उत्पादन दाम सामान्य उत्पादन दाम के साथ मेल खाता है। जब तक हीनतर जमीनों से उत्पादन वर्धित पूर्ति के परिणामस्वरूप बेशी न हो जाये, तब तक उत्पादन दाम इन परिस्थितियों के अंतर्गत उतना ही बना रहता है। अगर दाम गिरता भी हो, तो भी ये अतिरिक्त पूंजियां कुछेक सीमाओं के भीतर बेशी लाभ उत्पन्न कर सकती हैं, चाहे कम ही सही।

दूसरा: केवल औसत लाभ प्रदान करनेवाली, अतः जिसकी बेशी उत्पादिता = ० है, अतिरिक्त पूंजी का निवेश विद्यमान बेशी लाभ, और फलतः किराये के परिमाण को किसी भी प्रकार से नहीं बदलता। इसके परिणामस्वरूप श्रेष्ठतर मृदाओं पर प्रति क्वार्टर व्यष्टिक औसत दाम बढ़ जाता है; प्रति क्वार्टर आधिक्य कम हो जाता है, लेकिन यह घटा हुआ

आधिक्य जितने क्वार्टरों में समाविष्ट होता है, उनकी संख्या बढ़ जाती है, जिससे गणितीय गुणनफल उतना ही बना रहता है।

तीसरा: पूंजी के ऐसे अतिरिक्त निवेश, जिनकी उपज का व्यष्टिक उत्पादन दाम नियामक दाम से अधिक होता है—अतः बेशी उत्पादिता न केवल = ०, बल्कि शून्य से भी कम, अथवा एक ऋण राशि होती है, अर्थात नियामक मृदा क में पूंजी के समान निवेश की उत्पादिता से कम होती है—श्रेष्ठतर मृदाओं से कुल उपज के व्यष्टिक औसत उत्पादन दाम को सामान्य उत्पादन दाम के अधिकाधिक निकट लाते जाते हैं, अर्थात उस अंतर को अधिकाधिक कम करते जाते हैं, जो बेशी लाभ अथवा किराये को बनाता है। जो बेशी लाभ अथवा किराये का निर्माण करता था, उसका अधिकाधिक बड़ा भाग औसत लाभ की रचना में प्रवेश करता जाता है। लेकिन फिर भी ख के एक एकड़ में निवेशित कुल पूंजी बेशी लाभ प्रदान करती रहती है, यद्यपि वह न्यूनोत्पादनशीलतावाली पूंजी की मात्रा के बढ़ने के साथ-साथ और इस न्यूनोत्पादनशीलता की मात्रा के अनुसार घटता जाता है। वर्धमान पूंजी और वर्धमान उत्पादन के साथ इस प्रसंग में प्रति एकड़ किराया निरपेक्ष रूप में घटता है, दूसरे प्रसंग की भांति निवेशित पूंजी के वर्धमान परिमाण के संदर्भ में केवल सापेक्षतया नहीं।

किराये का केवल उसी सूरत में विलोपन हो सकता है कि जब श्रेष्ठतर ख मृदा से कुल उपज का व्यष्टिक औसत उत्पादन दाम नियामक दाम के साथ मेल खाता हो, जिससे पूंजी के पहले अधिक उत्पादक-निवेशों से जनित समस्त बेशी लाभ औसत लाभ के बनने में उपभुक्त हो जाता हो।

प्रति एकड़ किराये में गिरावट की न्यूनतम सीमा वह बिंदु है, जिस पर किराया विलुप्त हो जाता है। लेकिन यह बिंदु पूंजी के अतिरिक्त निवेशों के न्यूनोत्पादक हो जाने के साथ नहीं आ जाता, बल्कि न्यूनोत्पादक पूंजी के अतिरिक्त निवेशों के परिमाण में इतने बड़े हो जाने के साथ आता है कि उसका प्रभाव पूंजी के पहले निवेशों की अत्युत्पादनशीलता को निरसित कर देना होता है, जिसके परिणामस्वरूप कुल निवेशित पूंजी की उत्पादनशीलता क में निवेशित पूंजी की उत्पादनशीलता जितनी ही हो जाती है और फलतः ख का प्रति क्वार्टर व्यष्टिक औसत दाम क के प्रति क्वार्टर व्यष्टिक औसत दाम के समान हो जाता है।

इस प्रसंग में भी नियामक उत्पादन दाम, ३ पाउंड प्रति क्वार्टर, उतना ही बना रहेगा, यद्यपि किराया विलुप्त हो गया था। उत्पादन दाम को सिर्फ़ इस बिंदु के आगे ही या तो अतिरिक्त पूंजी की न्यूनोत्पादनशीलता की सीमा में या समान न्यूनोत्पादनशीलता की अतिरिक्त पूंजी के परिमाण में वृद्धि के परिणामस्वरूप चढ़ना होगा। उदाहरण के लिए, अगर उपरोक्त तालिका (S. 265*) में उसी जमीन पर ४ पाउंड प्रति क्वार्टर के दाम पर १ १/२ क्वार्टर के बजाय २ १/२ क्वार्टर पैदा किये जाते, तो हमें २२ पाउंड उत्पादन दाम से कुल ७ क्वार्टर प्राप्त हुए होते; एक क्वार्टर का दाम ३ १/७ पाउंड हुआ होता; इस प्रकार वह सामान्य उत्पादन दाम के १/७ पाउंड ऊपर हुआ होता और फलतः सामान्य उत्पादन दाम को चढ़ना हुआ होता।

इस प्रकार, जब तक कि श्रेष्ठतम जमीनों से व्यष्टिक प्रति क्वार्टर औसत दाम सामान्य उत्पादन दाम के बराबर नहीं हो जाता, जब तक कि सामान्य उत्पादन दाम का पूर्वोक्त पर

* प्रस्तुत संस्करण: पृष्ठ ६४७। —सं०

आधिक्य – और उसके साथ बेशी लाभ तथा किराया – पूर्णतः विलुप्त नहीं हो जाता, न्यूनोत्पादनशीलता की, अथवा बढ़ती न्यूनोत्पादनशीलता तक की अतिरिक्त पूंजी को बहुत समय तक निवेशित किया जा सकता है।

और तब भी बेहतर जमीनों से किराये का विलोपन केवल यही द्योतित करेगा कि उनकी उपज का व्यष्टिक औसत दाम सामान्य उत्पादन दाम के साथ मेल खाता है, जिससे अंतोक्त में वृद्धि की अभी आवश्यकता नहीं होगी।

उपरोक्त उदाहरण में बेहतर मिट्टी ख पर, अलबत्ता जो बेहतर अथवा किरायादायी जमीनों के अनुक्रम में सबसे निम्नतम है, ३ १/२ क्वार्टर ५ पाउंड की बेशी उत्पादनशीलतावाली पूंजी द्वारा पैदा किये गये थे और २ १/२ क्वार्टर न्यूनोत्पादनशीलता की १० पाउंड की पूंजी द्वारा; अर्थात कुल ६ क्वार्टर पैदा किये गये थे; इस प्रकार, इस योग का ५ ५/१२ पूंजी के बादवाले न्यूनोत्पादनशीलता के अंशों द्वारा पैदा किया गया था। और केवल इस स्थल पर ही ६ क्वार्टर का व्यष्टिक औसत उत्पादन दाम चढ़कर ३ पाउंड प्रति क्वार्टर हो जाता है और इस प्रकार, सामान्य उत्पादन दाम के अनुरूप होता है।

लेकिन भू-संपत्ति के नियम के अंतर्गत अंतोक्त २ १/२ क्वार्टर इस तरह से ३ पाउंड प्रति क्वार्टर के हिसाब से सिवा उस सूरत के नहीं पैदा किये जा सकते थे कि उन्हें क जमीन के २ १/२ नये एकड़ों पर पैदा किया जाये। इसमें सीमा का निर्धारण वह सूरत करती, जिसमें अतिरिक्त पूंजी सिर्फ़ सामान्य उत्पादन दाम पर ही पैदा करती है। इस सीमा के आगे उसी ज़मीन में पूंजी का अतिरिक्त निवेश बंद हो जाता है।

वास्तव में फ़ार्मर पूंजी के पहले दो निवेशों के लिए जैसे ही ४ १/२ पाउंड किराया देता है कि उसे यही किराया देते रहना होगा और पूंजी के हर उस निवेश से, जो एक क्वार्टर ३ पाउंड से अधिक* में पैदा करता है, उसके लाभ में कटौती होगी। इस प्रकार, न्यूनोत्पादनशीलता की सूरत में व्यष्टिक औसत दाम का समकरण नहीं हो पाता है।

आइये, इस प्रसंग को पहलेवाले उदाहरण में लेकर देखें, जिसमें क जमीन के लिए उत्पादन दाम, ३ पाउंड प्रति क्वार्टर, ख के लिए दाम का नियमन करता है।

पूंजी पाउंड	लाभ पाउंड	उत्पादन दाम पाउंड	उपज क्वार्टर	प्रति क्वार्टर उत्पादन दाम पाउंड	विक्रय दाम		बेशी लाभ पाउंड	हानि पाउंड
					प्रति क्वार्टर पाउंड	कुल पाउंड		
२ १/२	१/२	३	२	१ १/२	३	६	३	—
२ १/२	१/२	३	१ १/२	२	३	४ १/२	१ १/२	—
५	१	६	१ १/२	४**	३	४ १/२	—	१ १/२
५	१	६	१	६	३	३	—	३
१५	३	१८				१८	४ १/२	४ १/२

*१८९४ के जर्मन संस्करण में यहां छपा है: ३ पाउंड से कम। – सं०

**वहीं यहां ३ छपा है। – सं०

पूंजी के पहले दो निवेशों में ३ १/२ क्वार्टर का उत्पादन दाम भी फ़ार्मर के लिए ३ पाउंड प्रति क्वार्टर ही है, क्योंकि उसे ४ १/२ पाउंड किराया देना होता है; अतः उसके व्यष्टिक उत्पादन दाम और सामान्य उत्पादन दाम के बीच अंतर उसके जेब में नहीं जाता है। इस प्रकार, उसके लिए पूंजी के पहले दो निवेशों के लिए उपज के दाम में आधिक्य पूंजी के तीसरे और चौथे निवेशों में उपज द्वारा लाये घाटे का संतुलन करने का काम नहीं दे सकता है।

निवेश ३) से १ १/२ क्वार्टर फ़ार्मर को – लाभ सहित – ६ पाउंड के बैठते हैं, लेकिन ३ पाउंड प्रति क्वार्टर के नियामक दाम पर वह उन्हें बस ४ १/२ पाउंड के ही बेच सकता है। दूसरे शब्दों में, उसका न केवल सारा लाभ ही जाता रहेगा, बल्कि उसके अलावा १/२ पाउंड अथवा उसकी निवेशित ५ पाउंड की पूंजी का १०% भी जाता रहेगा। लाभ और पूंजी की हानि निवेश ३) के मामले में १ १/२ पाउंड की, और निवेश ४) के मामले में ३ पाउंड की, अर्थात कुल ४ १/२ पाउंड की, अथवा बिलकुल पूंजी के बेहतर निवेशों से किराये जितनी ही, बैठेगी; लेकिन उनके लिए व्यष्टिक उत्पादन दाम ख से कुल उत्पाद के व्यष्टिक औसत उत्पादन दाम के समकरण में भाग नहीं ले सकता, क्योंकि आधिक्य किराये के रूप में एक तीसरे पक्ष को दे दिया जाता है।

अगर मांग को पूरा करने के लिए अतिरिक्त १ १/२ क्वार्टर का पूंजी के तीसरे निवेश द्वारा पैदा किया जाना आवश्यक हो, तो नियामक बाज़ार दाम चढ़कर ४ पाउंड प्रति क्वार्टर हो जायेगा। नियामक बाज़ार दाम में इस चढ़ाव के परिणामस्वरूप पहले और दूसरे निवेशों से ख के लिए किराये में चढ़ाव आयेगा और क पर किराया पैदा हो जायेगा।

इस प्रकार, यद्यपि विभेदक किराया बेशी लाभ का किराये में औपचारिक रूपांतरण मात्र है, और भूमिरूप संपत्ति इस मामले में बस स्वामी को फ़ार्मर का बेशी लाभ अपने को अंतरित करने में ही समर्थ बनाती है, फिर भी हम देखते हैं कि उसी ज़मीन में पूंजी के आनुक्रमिक निवेश, अथवा जो वही बात है, उसी ज़मीन में निवेशित पंजी में वृद्धि की सीमा तब कहीं जल्दी आती है कि जब पूंजी की उत्पादनशीलता दर घटती है और नियामक दाम उतना ही बना रहता है; वस्तुतः बेशी लाभ के किराया ज़मीन में मात्र औपचारिक रूपांतरण के फलस्वरूप, जो भू-संपत्ति का परिणाम है, एक न्यूनाधिक कृत्रिम बाधा आ जाती है। सामान्य उत्पादन दाम में चढ़ाव, जो यहां सामान्य की अपेक्षा अधिक संकीर्ण सीमाओं के भीतर आवश्यक हो जाता है, इस प्रसंग में न केवल विभेदक किराये में वृद्धि का कारण है, बल्कि किराये के रूप में विभेदक किराये का अस्तित्व साथ ही सामान्य उत्पादन दाम में पहले तथा अधिक तीव्र चढ़ाव का कारण है, ताकि उसके द्वारा उपज की वर्धित पूर्ति को सुनिश्चित किया जा सके, जो आवश्यक हो गयी है।

इसके अलावा यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए:

अगर क ज़मीन पूंजी के दूसरे निवेश से अतिरिक्त उपज ४ पाउंड के नीचे मुहैया कर देती है, या अगर नयी, और क की अपेक्षा ख़राब ज़मीन, जिसका उत्पादन दाम वस्तुतः ३ पाउंड से ऊपर, मगर ४ पाउंड से नीचे हो, प्रतिद्वंद्विता में आ जाती है, तो ख ज़मीन में पूंजी के अतिरिक्त निवेश से नियामक उत्पादन दाम ऊपर दी गयी मिसाल की तरह चढ़कर

४ पाउंड पर नहीं पहुंच सकेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभेदक किराया I और विभेदक किराया II जिनमें प्रथमोक्त चाहे अंतोक्त का आधार है, साथ ही एक दूसरे के लिए सीमाओं का काम देते हैं, जिससे कभी उसी ज़मीन में पूंजी का आनुक्रमिक निवेश, तो कभी साथ ही नयी अतिरिक्त ज़मीन में पूंजी का निवेश किया जाता है। इसी प्रकार वे अन्य सूरतों में भी एक दूसरे को सीमित करते हैं, यथा तब कि जब बेहतर ज़मीन को लिया जाता है।

अध्याय ४४

निकृष्टतम कर्षित भूमि पर भी विभेदक किराया

मान लीजिये कि अनाज के लिए मांग बढ़ रही है और पूर्ति केवल किरायादायी जमीनों में न्यूनोत्पादनशीलतावाली पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों से, अथवा ह्रासमान उत्पादितावाले ही पूंजी के क ज़मीन में अतिरिक्त निवेश से, या क से घटिया क़िस्म की नयी ज़मीनों में पूंजी के निवेश से ही उत्पन्न हो सकती है।

चलिये मान लेते हैं कि ख जमीन किरायादायी जमीनों का प्रतिनिधित्व करती है।

पूंजी का अतिरिक्त निवेश बाजार दाम में अभी तक प्रवर्तमान ३ पाउंड प्रति क्वार्टर के उत्पादन दाम के ऊपर वृद्धि की अपेक्षा करता है, ताकि ख पर एक क्वार्टर (जो यहां दस लाख क्वार्टर को भी सूचित कर सकता है, जैसे प्रत्येक एकड़ दस लाख एकड़ को द्योतित कर सकता है) का वर्धित उत्पादन संभव हो सके। वर्धित पैदावार उच्चतम किराया देनेवाली जमीनों, ग तथा घ, आदि द्वारा भी प्रदान की जा सकती है, मगर सिर्फ़ घटती बेशी उत्पादनशीलता के साथ; लेकिन यह माना गया है कि ख से एक क्वार्टर आवश्यक है, ताकि मांग को पूरा किया जा सके। अगर यह एक क्वार्टर ख में अतिरिक्त पूंजी निवेशित करके उसकी अपेक्षा सस्ता पैदा किया जा सकता है, जितना क पर उतनी ही पूंजी और लगाकर, या उससे भी घटिया क – १ जमीन पर, जिसे, मसलन, एक क्वार्टर पैदा करने के लिए ४ पाउंड की जरूरत हो सकती है, जबकि क और पूंजी निवेशित करने से यह ३ ३/४ पाउंड में किया जा सकता है, तो बाजार दाम का नियमन ख पर अतिरिक्त पूंजी करेगी।

क एक क्वार्टर ३ पाउंड पर पैदा करती है, जैसे इससे पहले था। इसी प्रकार ख, पहले की ही भांति, कुल ३ १/२ क्वार्टर अपनी कुल उपज के ६ पाउंड व्यष्टिक उत्पादन दाम पर पैदा करती है। अब अगर एक अतिरिक्त क्वार्टर पैदा करने के लिए ख पर ४ पाउंड का अतिरिक्त उत्पादन दाम (लाभ सहित) आवश्यक हो जाता है, जबकि क पर वह ३ ३/४ पाउंड से पैदा किया जा सकता था, तो उसे क़ुदरती तौर पर ख के बजाय क पर ही पैदा किया जायेगा। फिर मान लीजिये कि वह ख पर ३ १/२ पाउंड के अतिरिक्त उत्पादन दाम से पैदा किया जा सकता है। इस सूरत में ३ १/२ पाउंड सारी उपज के लिए नियामक दाम बन जायेगा। ख अब अपनी ४ १/२ क्वार्टर की मौजूदा उपज १५ ३/४ पाउंड की बेचेगी।

इसमें से ६ पाउंड पहले ३ १/२ क्वार्टर का और ३ १/२ पाउंड आख़िरी क्वार्टर का उत्पादन दाम है, अर्थात कुल ६ १/२ पाउंड। इससे पहले के ४ १/२ पाउंड के मुक़ाबले किराये के लिए ६ १/४ पाउंड बेशी लाभ बच रहता है। इस प्रसंग में क का एक एकड़ भी १/२ पाउंड का किराया प्रदान करेगा; लेकिन ३ १/२ पाउंड उत्पादन दाम का नियमन निकृष्टतम क ज़मीन नहीं, बल्कि श्रेष्ठतर ख ज़मीन करेगी। बेशक, हम यहां यह मान रहे हैं कि क की कोटि की और जैसी अभी तक काश्त में लायी जा रही थी, उसके समान ही अनुकूल अवस्थिति की नयी ज़मीन उपलब्ध नहीं है, लेकिन या तो पहले से कर्षित क कोटि के भूखंड में उच्चतर उत्पादन दाम पर पूंजी का दूसरा निवेश करना, या और भी अधिक हीन कोटि की ज़मीन क—१ को काश्त में लाना आवश्यक है। पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों द्वारा विभेदक किराया II के प्रवर्तन में आने के साथ चढ़ते उत्पादन दाम की सीमाओं का नियमन श्रेष्ठतर ज़मीन द्वारा किया जा सकता है और निकृष्टतम ज़मीन, विभेदक किराया I की बुनियाद, भी किराया प्रदान कर सकती है। इस प्रकार, अकेला विभेदक किराया लिये जाने पर भी सारी कृष्ट ज़मीन किराया देगी। इस सूरत में हमारे पास निम्न दो तालिकाएं होंगी, जिनमें उत्पादन दाम से हमारा आशय है निवेशित पूंजी की रक़म जमा २० % लाभ, दूसरे शब्दों में, पूंजी के हर २ १/२ पाउंड पर १/२ पाउंड का लाभ, अथवा कुल ३ पाउंड।

मृदा प्रकार	एकड़	उत्पादन दाम पाउंड	उपज क्वार्टर	विक्रय दाम पाउंड	प्राप्तियां पाउंड	अनाजरूप किराया क्वार्टर	द्रव्यरूप किराया पाउंड
क	१	३	१	३	३	०	०
ख	१	६	३ १/२	३	१० १/२	१ १/२	४ १/२
ग	१	६	५ १/२	३	१६ १/२	३ १/२	१० १/२
घ	१	६	७ १/२	३	२२ १/२	५ १/२	१६ १/२
योग	४	२१	१७ १/२		५२ १/२	१० १/२	३१ १/२

यह ३ १/२ पाउंड की नयी पूंजी के ख में निवेशित किये जाने के पहले की स्थिति है, जो केवल एक क्वार्टर पैदा करती है। इस निवेश के बाद स्थिति इस प्रकार हो जाती है: (पृष्ठ ६५४ पर तालिका देखें)।

[यह हिसाब भी पूरी तरह से सही नहीं लगाया गया है। सबसे पहली बात यह है कि ख फ़ार्मर के लिए ४ १/२ क्वार्टर की लागत, एक तो उत्पादन दाम में ६ १/२ पाउंड, और दूसरे, किराये में ४ १/२ पाउंड, अर्थात कुल १४ पाउंड है; प्रति क्वार्टर औसत = ३ १/६ पाउंड। इस प्रकार उसके कुल उत्पादन का यह औसत दाम नियामक बाज़ार दाम बन जाता है। अतः, क पर किराया १/२ पाउंड के बजाय १/६ पाउंड होगा, और ख पर अब तक की

मृदा प्रकार	एकड़	उत्पादन दाम पाउंड	उपज क्वार्टर	विक्रय दाम पाउंड	प्राप्तियां पाउंड	अनाजरूप किराया क्वार्टर	द्रव्यरूप किराया पाउंड
क	१	३	१	३ १/२	३ १/२	१/७	१/२
ख	१	६ १/२	४ १/२	३ १/२	१५ ३/४	१ १ १/१४	६ १/४
ग	१	६	५ १/२	३ १/२	१६ १/४	३ १ १/१४	१३ १/४
घ	१	६	७ १/२	३ १/२	२६ १/४	५ १ १/१४	२० १/४
योग	४	२४ १/२	१८ १/२		६४ ३/४	११ १/२	४० १/४

तरह ४ १/२ पाउंड ही बना रहेगा ; ३ १/६ पाउंड के हिसाब से ४ १/२ क्वार्टर = १४ पाउंड, और अगर हम उत्पादन दाम के ६ १/२ पाउंड घटा देते हैं, तो बेशी लाभ के रूप में ४ १/२ पाउंड बच रहते हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि सांख्यिक मूल्यों में वांछित परिवर्तनों के बावजूद यह उदाहरण दिखलाता है कि किस प्रकार विभेदक किराया II के ज़रिये बेहतर ज़मीन, जो पहले से ही किराया रही है, दाम का नियमन कर सकती है और फलतः सारी ही ज़मीन को, अब तक की किरायाहीन ज़मीन तक को, किरायादायी ज़मीन में परिणत कर सकती है। – फ़े० एं०]

अनाजरूप किराये को अनाज के नियामक उत्पादन दाम के चढ़ने के साथ, अर्थात नियामक ज़मीन से एक क्वार्टर अनाज के उत्पादन दाम, अथवा विभिन्न मृदा प्रकारों में से एक में नियामक निवेशित पूंजी के चढ़ते ही, चढ़ना चाहिए। यह बिलकुल ऐसी ही बात है, जैसे मानो सभी मिट्टियां कम उत्पादक हो गयी हों और, उदाहरण के लिए, २ १/२ पाउंड के हर नये निवेश से १ क्वार्टर के बजाय सिर्फ़ ५/७ क्वार्टर ही पैदा कर रही हों। पूंजी के उतने ही निवेश से वे अनाज के रूप में जो कुछ भी और पैदा करती हैं, वह बेशी उत्पाद में रूपांतरित हो जाता है, जो बेशी लाभ को और इस प्रकार किराये को द्योतित करता है। अगर यह मान लिया जाये कि लाभ दर वही बनी रहती है, तो फ़ार्मर अपने लाभ से कम अनाज ख़रीद सकेगा। लाभ दर उस सूरत में वही बनी रह सकती है कि मजदूरी न चढ़े – या तो इसलिए कि मजदूरी को घटाकर भौतिक न्यूनतम पर, अर्थात श्रम शक्ति के सामान्य मूल्य के नीचे कर दिया गया है; या इसलिए कि श्रमिक द्वारा अपेक्षित और कारख़ानेदार द्वारा संभरित अन्य उपभोग वस्तुएं सापेक्षतया सस्ती हो गयी हैं; या इसलिए कि कार्य दिवस अधिक लंबा या अधिक गहन हो गया है, जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन की कृषीतर शाखाओं में लाभ दर, किंतु जो कृषि लाभ का नियमन करती है, उतनी ही रही है या चढ़ गयी है; अथवा, अंततः, इसलिए कि कृषि में अधिक स्थिर और कम परिवर्ती पूंजी का नियोजन किया जा रहा है, चाहे निवेशित पूंजी की मात्रा उतनी ही है।

इस प्रकार, हमने उस पहले तरीक़े को देख लिया है, जिससे किराया अब तक की निकृष्टतम ज़मीन क पर, और अधिक निकृष्ट ज़मीन को काश्त में लाये बिना पैदा हो सकता

है ; अर्थात किराया उसके व्यष्टिक, अभी तक नियामक, उत्पादन दाम और उस नये, उच्चतर उत्पादन दाम के बीच अंतर से उत्पन्न हो सकता है, जिसके द्वारा बेहतर जमीन पर न्यूनोत्पादनशीलता की अवस्थाओं में नियोजित अंतिम अतिरिक्त पूंजी आवश्यक अतिरिक्त उपज की पूर्ति करती है।

अगर अतिरिक्त उपज क—१ जमीन द्वारा मुहैया की जानी होती, जो एक क्वार्टर ४ पाउंड से कम में नहीं पैदा कर सकती है, तो क का प्रति एकड़ किराया चढ़कर १ पाउंड हो गया होता। लेकिन इस हालत में क—१ जमीन ने निकृष्टतम कर्षित जमीन के नाते क का स्थान ले लिया होता, और अंतोक्त किरायादायी जमीनों के अनुक्रम में निम्नतम स्थिति में पहुंच गयी होती। विभेदक किराया I बदल गया होता। इस प्रकार, यह सूरत विभेदक किराया II के विवेचन में नहीं आती है, जो जमीन के उसी टुकड़े में पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों की अलग-अलग उत्पादनशीलता से उत्पन्न होता है।

लेकिन विभेदक किराया क जमीन पर इसके अलावा दो और ढंगों से पैदा हो सकता है।

अपरिवर्तित दाम—किसी भी दिये हुए दाम, पहले के दामों की तुलना में नीचे दाम तक—के साथ, जब अतिरिक्त पूंजी निवेश के परिणामस्वरूप बेशी उत्पादनशीलता हो जाती है, जो prima facie [प्रथमदृष्टया] और एक ख़ास हद तक, निश्चित रूप से निकृष्टतम भूमि के मामले में हमेशा ही होना चाहिए।

लेकिन दूसरे, तब कि जब क जमीन में पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों की उत्पादनशीलता घटती है।

दोनों ही सूरतों में यह कल्पित है कि मांग को पूरा करने के लिए वर्धित उत्पादन की आवश्यकता है।

लेकिन विभेदक किराये के दृष्टिकोण से यहां पहले निरूपित उस नियम के कारण एक अनोखी कठिनाई पैदा हो जाती है, जिसके अनुसार कुल उत्पादन (अथवा कुल पूंजी परिव्यय) के लिए सदा प्रति क्वार्टर व्यष्टिक औसत उत्पादन दाम ही निर्धारक कारक का काम करता है। तथापि, क जमीन के मामले में बेहतर जमीनों की तरह से पूंजी के नये निवेशों के लिए व्यष्टिक उत्पादन दाम के सामान्य उत्पादन दाम के साथ समकरण को सीमित करनेवाला कोई दूसरा उत्पादन दाम नहीं होता। कारण यह कि क का व्यष्टिक उत्पादन दाम ही वस्तुतः बाजार दाम का नियमन करनेवाला सामान्य उत्पादन दाम है।

हम मान लेते हैं:

१) **जब पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों की उत्पादनशीलता बढ़ती होती है**, क का एकड़ ५ पाउंड के निवेश से—जो ६ पाउंड उत्पादन दाम के अनुरूप है—२ क्वार्टर के बजाय ३ क्वार्टर पैदा करेगा। २१/२ पाउंड के पहले निवेश ने १ क्वार्टर, और दूसरे ने २ क्वार्टर पैदा किये। इस प्रसंग में ६ पाउंड उत्पादन दाम ३ क्वार्टर प्रदान करेगा, जिससे एक क्वार्टर की औसत लागत २ पाउंड होगी; अर्थात अगर ३ क्वार्टर २ पाउंड प्रति क्वार्टर के हिसाब से बेचे जाते हैं, तो क अब तक की तरह ही कोई किराया नहीं प्रदान करती, लेकिन सिर्फ़ विभेदक किराया II की बुनियाद बदल गयी है, नियामक उत्पादन दाम अब ३ पाउंड के बजाय २ पाउंड है; २१/२ पाउंड पंजी अब निकृष्टतम जमीन पर १ क्वार्टर के बजाय

औसतन १ १/२ क्वार्टर पैदा करती है और अब यह २ १/२ पाउंड के निवेश के साथ सभी श्रेष्ठतर ज़मीनों की आधिकारिक उत्पादिता है। अब इसके बाद उनके पुराने बेशी उत्पाद का एक अंश उनकी आवश्यक उपज की रचना में शामिल हो जाता है, ठीक वैसे ही कि जैसे उनके बेशी लाभ का एक अंश औसत लाभ की रचना में शामिल हो जाता है।

इसके विपरीत, परिकलन अगर श्रेष्ठतर मृदाओं के आधार पर किया जाता है, जहां औसत परिकलन निरपेक्ष बेशी को बिलकुल भी नहीं बदलता है, क्योंकि उनके लिए सामान्य उत्पादन दाम ही पूंजी के निवेश की सीमा है, तो पूंजी के पहले निवेश से एक क्वार्टर ३ पाउंड का बैठेगा और दूसरे निवेश से २ क्वार्टरों में से प्रत्येक सिर्फ़ १ १/२ पाउंड का। इससे इस प्रकार क पर १ क्वार्टर अनाजरूप किराया और ३ पाउंड द्रव्यरूप किराया पैदा होगा, लेकिन ये ३ क्वार्टर बिकेंगे ६ पाउंड के पुराने दाम पर ही। अगर २ १/२ पाउंड का एक तीसरा निवेश उत्पादनशीलता की दूसरे निवेश जैसी ही अवस्थाओं के अंतर्गत किया जाता है, तो अब ६ पाउंड के उत्पादन दाम पर कुल ५ क्वार्टर पैदावार होगी। अगर क का व्यष्टिक औसत उत्पादन दाम नियामक दाम बना रहता है, तो एक क्वार्टर अब १ ४/५ पाउंड का बिकेगा। औसत दाम फिर गिर जायेगा – पूंजी के तीसरे निवेश की उत्पादनशीलता में किसी नयी वृद्धि के ज़रिये नहीं, बल्कि बस दूसरे निवेश जितनी ही अतिरिक्त उत्पादनशीलता के तीसरे पूंजी निवेश के जोड़े जाने की बदौलत। किराये को चढ़ाने के बजाय, जैसे किरायादायी ज़मीनों के मामले में था, क ज़मीन में उच्चतर, किंतु अपरिवर्तित उत्पादनशीलता की पूंजी के आनुक्रमिक निवेश उत्पादन दाम को यथानुपात नीचा कर देंगे और उसके द्वारा, अन्य सभी अवस्थाओं के समान होने के कारण, अन्य सभी ज़मीनों पर विभेदक किराये को नीचा कर देंगे। दूसरी ओर, अगर पूंजी का पहला निवेश, जो ३ पाउंड उत्पादन दाम पर १ क्वार्टर पैदा करता है, अपने आप में नियामक बना रहता है, तो ५ क्वार्टर १५ पाउंड के बिकेंगे, और क ज़मीन में बाद वाले पूंजी निवेशों का विभेदक किराया ६ पाउंड हो जायेगा। क ज़मीन में प्रति एकड़ अतिरिक्त पूंजी, चाहे वह किसी भी प्रकार क्यों न लगायी जाये, इस प्रसंग में सुधार होगी और पूंजी के मूल अंश को अधिक उत्पादक बनायेगी। यह कहना हास्यास्पद होगा कि १/३ पूंजी ने १ क्वार्टर पैदा किया था और शेष २/३ ने ४ क्वार्टर। कारण यह कि ६ पाउंड प्रति एकड़ सदा ५ क्वार्टर ही पैदा करेंगे, जबकि ३ पाउंड सिर्फ़ १ क्वार्टर पैदा करेंगे। यहां किराया पैदा होगा या नहीं, बेशी लाभ प्राप्त होगा या नहीं, यह पूर्णतः परिस्थितियों पर निर्भर करेगा। सामान्यतया नियामक उत्पादन दाम को गिरना चाहिए था। उस सूरत में बात यही होती कि अगर क ज़मीन का यह सुधरा, किंतु अधिक महंगा कर्षण सिर्फ़ इसीलिए होता कि वह बेहतर ज़मीनों पर भी होता है, दूसरे शब्दों में, अगर कृषि में सामान्य क्रांति आ गयी होती; इसलिए अगर हम अब क ज़मीन की नैसर्गिक उर्वरता की बात करते हैं, तो यह माना जाता है कि उसे ३ पाउंड के बजाय ६ पाउंड या ६ पाउंड से काश्त किया जाता है। यह बात विशेषकर उस हालत में लागू होगी कि अगर क ज़मीन के अधिकांश कर्षित एकड़, जो किसी नियत देश की मुख्य पूर्ति प्रदान करते हैं, इस नये तरीक़े का उपयोग करने लगें। लेकिन अगर यह सुधार आरंभ में क के सिर्फ़ छोटे से क्षेत्र पर ही फैलता है, तो यह श्रेष्ठ कर्षित भाग बेशी लाभ पैदा करेगा, जिसे भूस्वामी तुरंत पूर्णतः अथवा

अंशतः किराये में रूपांतरित कर देगा और किराये के रूप में नियत कर देगा। इस तरह से – अगर मांग बढ़ती पूर्ति के साथ-साथ रहती है, तो – जैसे-जैसे अधिकाधिक क ज़मीन नयी कृषि विधि का उपयोग करती जायेगी, वैसे-वैसे क कोटि की सारी ही ज़मीन पर धीरे-धीरे किराया पैदा होता जा सकता है और बेशी उत्पादिता का बाज़ार अवस्थाओं के दृष्टिगत पूरी तरह से अथवा आंशिक रूप में ख़ात्मा किया जा सकता है। फलतः क के उत्पादन दाम का उसकी उपज के पूंजी के वर्धित परिव्यय की अवस्थाओं के अंतर्गत प्राप्त औसत दाम के साथ समकरण पूंजी के इस वर्धित निवेश के बेशी लाभ का किराये के रूप में नियतन करके रोका जा सकता है। इस प्रकार, जैसे पहले बेहतर ज़मीनों पर अतिरिक्त पूंजी की उत्पादनशीलता के घटने के मामले में देखा गया था, वैसे ही यहां फिर बेशी लाभ का किराया ज़मीन में रूपांतरण, अर्थात भूमिरूप का अंतरायण ही उत्पादन दाम को चढ़ाता है, बजाय इसके कि विभेदक किराया महज़ व्यष्टिक तथा सामान्य उत्पादन दाम में अंतर का परिणाम रहे। क के मामले में यह दोनों दामों के मेल खाने को रोकेगा, क्योंकि यह क पर औसत उत्पादन दाम द्वारा उत्पादन दाम के नियमन में दख़ल देगा; इस प्रकार यह उत्पादन दाम को आवश्यक से अधिक ऊंचा रखेगा और उसके द्वारा किराया पैदा करेगा। अगर अनाज का विदेश से निर्बाध आयात भी होता हो, तो भी फ़ार्मरों को विदेश से नियमित उत्पादन दाम पर बिना किराया प्रदान किये अनाज की खेती में प्रतिद्वंद्विता करने में समर्थ ज़मीन का अन्य प्रयोजनों के लिए, उदाहरण के लिए, चराई के लिए, उपयोग करने को विवश करके, जिससे सिर्फ़ किरायादायी ज़मीनों का ही अनाज की खेती के लिए उपयोग किया जा सकेगा, अर्थात सिर्फ़ उन ज़मीनों का, जिनका प्रति क्वार्टर व्यष्टिक औसत उत्पादन दाम विदेश से निर्धारित दाम के नीचे हो, यही परिणाम उत्पन्न किया अथवा बनाये रखा जा सकता है। समग्र रूप में यह माना जाता है कि इस प्रसंग में उत्पादन दाम गिरेगा, लेकिन अपने औसत स्तर तक नहीं; वह औसत से ऊपर होगा, मगर निकृष्टतम कर्षित ज़मीन क के उत्पादन दाम के नीचे होगा, जिससे नयी क ज़मीन से प्रतिद्वंद्विता सीमित हो जाती है।

२) **जब अतिरिक्त पूंजियों की उत्पादनशीलता घट रही होती है।**

मान लीजिये कि क – १ ज़मीन पर अतिरिक्त क्वार्टर पैदा करने के लिए ४ पाउंड आवश्यक हैं, जबकि क ज़मीन उसे ३ ३/४ पाउंड से, अर्थात अधिक सस्ता पैदा कर देती है, मगर फिर भी अपने पर पूंजी के पहले निवेश द्वारा उत्पादित क्वार्टर के मुक़ाबले ३/४ पाउंड ज़्यादा से करती है। इस सूरत में क पर उत्पादित दो क्वार्टर का कुल दाम ६ ३/४ पाउंड होगा; फलतः औसत प्रति क्वार्टर दाम = ३ ३/८ पाउंड। उत्पादन दाम चढ़ जायेगा, लेकिन सिर्फ़ ३/८ पाउंड ही चढ़ेगा, जबकि अतिरिक्त पूंजी अगर नयी ज़मीन में निवेशित की जाती है, जो एक क्वार्टर ३ ३/४ पाउंड में पैदा करती है, तो वह ३/८ पाउंड और चढ़ेगा, अर्थात ३ ३/४ पाउंड हो जायेगा, और इस प्रकार वह अन्य सभी विभेदक किरायों में यथानुपात वृद्धि लायेगा।

इस प्रकार क के लिए ३ ३/८ पाउंड प्रति क्वार्टर उत्पादन दाम का वर्धित पूंजी निवेश से अपने औसत उत्पादन दाम के साथ समकरण हो जायेगा और वह नियामक दाम बन

जायेगा ; फलतः, वह कोई किराया नहीं प्रदान करेगी, क्योंकि वह कोई बेशी लाभ नहीं पैदा करेगी।

लेकिन पूंजी के दूसरे निवेश द्वारा उत्पादित यह क्वार्टर अगर ३ ३/४ पाउंड का बिकता है, तो क ज़मीन अब ३/४ पाउंड किराया प्रदान करेगी, और वास्तव में क के उन सभी एकड़ों पर प्रदान करेगी, जिनमें पूंजी का कोई अतिरिक्त निवेश नहीं हुआ था और इस प्रकार अब भी ३ पाउंड प्रति क्वार्टर पर ही पैदावार देगी। जब तक क के किन्हीं भी अकृष्ट खेतों का अस्तित्व रहता है, दाम अस्थायी रूप में ही चढ़कर ३ ३/४ पाउंड पर पहुंच सकता है। क के नये खेतों से प्रतिद्वंद्विता उत्पादन दाम को ३ पाउंड पर बनाये रखेगी, जब तक कि क प्रकार की सारी ही ज़मीन, जिसकी अनुकूल अवस्थिति उसे एक क्वार्टर ३ ३/४ पाउंड से कम में पैदा करने में समर्थ बना देती है, ख़त्म नहीं हो जाती। इस प्रकार, हमें कल्पना यही करनी होगी, चाहे जब तक ज़मीन का एक एकड़ किराया देता है, तब तक भूस्वामी किरायेदार फ़ार्मर को दूसरा एकड़ बिना किराये के नहीं देगा।

फिर यह इसी पर निर्भर करेगा कि उपलब्ध क प्रकार की ज़मीन में पूंजी का दूसरा निवेश किस हद तक सामान्य बन जाता है, उत्पादन दाम का औसत दाम पर समकरण हो जाता है कि नहीं या पूंजी के दूसरे निवेश का व्यष्टिक उत्पादन दाम ३ ३/४ पाउंड पर नियामक बन जाता है कि नहीं। नियामक दाम ३ ३/४ पाउंड सिर्फ़ तभी हो सकता है कि जब भूस्वामी के पास मांग के तुष्ट हो जाने के पहले इतना काफ़ी समय हो कि ३ ३/४ पाउंड प्रति क्वार्टर के दाम पर प्राप्त होनेवाले बेशी लाभ को किराये के रूप में नियत कर सके।

पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों के साथ ज़मीन की ह्रासमान उत्पादनशीलता के बारे में लिबिग की कृति देखें।* हम देख चुके हैं कि जब तक उत्पादन दाम स्थिर रहता है, निवेशित पूंजी की बेशी उत्पादनशीलता में आनुक्रमिक ह्रास प्रति एकड़ किराये को अनिवार्यतः बढ़ा देता है, और ऐसा ह्रासमान उत्पादन दाम तक के साथ हो सकता है।

लेकिन, सामान्य रूप में, यह ध्यान में रखा जाना चाहिए।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के दृष्टिकोण से उत्पादों के दाम में सापेक्ष वृद्धि उस सूरत में हमेशा होती है, जब ये उत्पाद एक ऐसे व्यय या अदायगी के किये बिना हासिल नहीं किये जा सकते, जो पहले नहीं किया जाता था। कारण कि उत्पादन में उपभुक्त पूंजी की प्रतिस्थापना से हमारा आशय केवल कुछेक उत्पादन साधनों द्वारा द्योतित मूल्यों की प्रतिस्थापना ही है। उत्पादन में कारकों के रूप में प्रवेश करनेवाले नैसर्गिक तत्व, जिनके लिए कुछ भी ख़र्च नहीं करना पड़ता, फिर चाहे वे उत्पादन में कोई भी भूमिका क्यों न अदा करते हों, पूंजी के घटकों के रूप में नहीं, बल्कि पूंजी को प्रकृति की मुफ़्त भेंट के रूप में प्रवेश करते हैं, अर्थात श्रम को प्रकृति की उत्पादक शक्ति की मुफ़्त भेंट की तरह, लेकिन जो पूंजी की उत्पादनशीलता की तरह सामने आती है, जैसे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत और सारी उत्पादनशीलता सामने आती है। इसलिए अगर ऐसी कोई नैसर्गिक शक्ति उत्पादन में भाग लेती है, जिसके लिए मूलतः कुछ नहीं ख़र्च करना पड़ता है, तो वह दाम के निर्धारण

---

* Liebig, *Die Chemie in ihrer Anwendung auf Agricultur und Physiologie*, Braunschweig, 1862. – सं०

में उस समय तक प्रवेश नहीं करती, जब तक कि जिस उत्पाद को पैदा करने में उसने सहायता दी है, वह मांग को पूरा करने के लिए पर्याप्त रहता है। लेकिन अगर विकास के दौरान उससे अधिक उपज की मांग होती है, जितनी की इस नैसर्गिक शक्ति की सहायता से पूर्ति की जा सकती है, अर्थात अगर इस अतिरिक्त उपज को इस नैसर्गिक शक्ति की सहायता के बिना, अथवा उसे मानव श्रम शक्ति की मदद देकर पैदा करना आवश्यक हो जाता है, तो एक नया अतिरिक्त तत्व पूंजी में प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार, उतनी ही उपज प्राप्त करने के लिए पूंजी के सापेक्षतया बड़े निवेश की आवश्यकता होती है। अन्य सभी परिस्थितियों के यथावत रहने पर उत्पादन दाम में चढ़ाव आ जाता है।

(एक कापी से, जिस पर लिखा है "मध्य फ़रवरी, १८७६ में शुरू।" [फ़्रे० एं०])

विभेदक किराया और ज़मीन में समाविष्ट पूंजी के मात्र ब्याज के रूप में किराया।

तथाकथित स्थायी सुधार – जो ज़मीन की भौतिक, और अंशत: रासायनिक अवस्थाओं को भी ऐसी क्रियाओं द्वारा बदल देते हैं, जिनके लिए पूंजी का व्यय आवश्यक होता है, और जिन्हें पूंजी का ज़मीन में समावेशन माना जा सकता है – लगभग सब के सब एक ख़ास सीमित इलाक़े में ज़मीन के एक विशेष खंड को ऐसे गुण देने के ही बराबर होते हैं, जो ज़मीन के किसी और टुकड़े में अन्यत्र, कभी-कभी एकदम पास में ही, होते हैं। ज़मीन का एक टुकड़ा क़ुदरती तौर पर समतल होता है, दूसरे का समतलन करना होता है; एक में नैसर्गिक जलनिकास प्रणाली होती है, दूसरे को कृत्रिम जलनिकास प्रणाली की आवश्यकता होती है; एक प्रकृति द्वारा प्रदत्त उपरिमृदा की गहरी परत से संपन्न होता है, दूसरे में कृत्रिमत: गहरा करना होता है; एक की मृण्मय मिट्टी ऐसी होती है कि उसमें रेत की उचित मात्रा नैसर्गिक रूप में मिली होती है, दूसरी में यह अनुपात प्राप्त करने के लिए उपचार की आवश्यकता होती है; एक घासस्थली नैसर्गिक रूप में सिंचित होती है अथवा गाद की परतों से ढंकी होती है, दूसरी पर यह अवस्था प्राप्त करने के लिए श्रम आवश्यक होता है, अथवा, बूर्जुआ अर्थशास्त्र की भाषा में, उसे पूंजी की आवश्यकता होती है।

यह सचमुच मज़ेदार सिद्धांत है, जिसके अनुसार यहां ज़मीन के एक टुकड़े के मामले में, जिसके आपेक्षिक सुलाभ प्राप्त किये गये हैं, किराया ब्याज है, जबकि दूसरे टुकड़े के मामले में, जिसमें ये सुलाभ नैसर्गिक रूप में विद्यमान हैं, वह ब्याज नहीं है। (वास्तव में व्यवहार में यह इतना विरूपित हो जाता है कि किराया चूंकि एक सूरत में ब्याज से सचमुच मेल खाता है, इसलिए उसे दूसरी सूरतों में भी ग़लत तरीक़े से ब्याज ही कहा जाता है, जिनमें वह निश्चित रूप से ब्याज के अनुरूप नहीं होता है।) लेकिन पूंजी निवेशित किये जाने के बाद ज़मीन किराया इसलिए नहीं प्रदान करती है कि पूंजी निवेशित की जाती है, बल्कि इसलिए करती है कि निवेशित पूंजी इस ज़मीन को उससे अधिक उत्पादक बना देती है, जितनी वह पहले थी। अगर यह मान लिया जाये कि किसी नियत देश की सारी ही ज़मीन के लिए पूंजी का यह निवेश आवश्यक है, तो ज़मीन के उस हर टुकड़े को, जिसे यह निवेश प्राप्त नहीं हुआ है, पहले इस अवस्था से होकर गुज़रना होगा, और उस ज़मीन द्वारा प्रदत्त किराया (इस प्रसंग में उत्पन्न ब्याज), जिसे पहले ही पूंजी का निवेश प्राप्त हो गया है,

बिलकुल उसी प्रकार विभेदक किराया होगा, मानो उसे यह सुलाभ नैसर्गिक रूप में प्राप्त था और दूसरी जमीन को पहले उसे कृत्रिम तरीक़े से प्राप्त करना पड़ा था।

यह किराया भी, जो ब्याज माना जा सकता है, निवेशित पूंजी का परिशोधन होने के साथ शुद्ध विभेदक किराया बन जाता है। अन्यथा उस एक ही पूंजी को पूंजी के रूप में दो बार अस्तित्वमान होना होगा।

एक बहुत ही मजेदार बात यह है कि रिकार्डो के सभी विरोधी, जो विभेदक किराये को जमीन में अंतरों से उत्पन्न होता मानने के बजाय इस विचार का विरोध करते हैं कि मूल्य निर्धारण केवल श्रम पर आधारित होता है, यह कहते हैं कि यहां मूल्य का निर्धारण श्रम द्वारा नहीं, बल्कि प्रकृति द्वारा किया जाता है; लेकिन साथ ही वे इस निर्धारण का कारण जमीन की अवस्थिति को, अथवा – और कहीं अधिक हद तक – जमीन की काश्त के दौरान उसमें लगायी पूंजी पर ब्याज को बताते हैं। एक नियत कालावधि के दौरान सृजित एक उत्पाद में उतना ही श्रम उतना ही मूल्य उत्पन्न करता है, तथापि इस उत्पाद का परिमाण अथवा प्रमात्रा, और फलतः इस उत्पाद के किसी संखंड से संबद्ध मूल्यांश भी, श्रम की एक नियत मात्रा के लिए मात्र उत्पाद की प्रमात्रा पर निर्भर करता है, और उत्पाद की प्रमात्रा अपनी बारी में श्रम की नियत प्रमात्रा की उत्पादिता पर, न कि इस प्रमात्रा के निर-पेक्ष परिमाण पर निर्भर करती है। यह महत्वहीन है कि यह उत्पादिता प्रकृति के कारण है या समाज के कारण। केवल उस सूरत में ही कि जब स्वयं उत्पादिता के लिए श्रम और फलतः, पूंजी का व्यय करना होता है, वह उत्पादन दाम को एक नये तत्व से बढ़ा देती है – जो प्रकृति स्वयमेव नहीं करती।

अध्याय ४५

निरपेक्ष किराया ज़मीन

विभेदक किराये के विश्लेषण में हम इस कल्पना से चलते हैं कि निकृष्टतम ज़मीन कोई किराया ज़मीन नहीं देती ; अथवा, और भी अधिक सामान्य रूप में, सिर्फ़ ऐसी ज़मीन ही किराया ज़मीन देती है कि जिसके उत्पाद का व्यष्टिक उत्पादन दाम बाज़ार का नियमन करनेवाले उत्पादन दाम से नीचा होता है, जिससे कि इस तरह से एक बेशी लाभ उत्पन्न हो जाता है, जो किराये में रूपांतरित हो जाता है। आरंभ में ही यह ध्यान में रखा जाना आवश्यक है कि विभेदक किराये का नियम अपने में इस कल्पना की यथार्थता अथवा अयथार्थता से पूर्णतः स्वतंत्र है।

अगर सामान्य उत्पादन दाम को, जो बाज़ार का नियमन करता है, P से द्योतित किया जाये, तो P निकृष्टतम ज़मीन क की उपज के व्यष्टिक उत्पादन दाम के साथ संपात करेगा, अर्थात उसका दाम उत्पादन में उपभुक्त स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी जमा औसत लाभ (= उद्यम का लाभ जमा ब्याज) का दाम भर देगा।

इस प्रसंग में किराया = ० है। अगली श्रेष्ठतर ज़मीन ख का व्यष्टिक उत्पादन दाम = P' है, और $P > P'$; अर्थात P ख ज़मीन के उत्पाद के वास्तविक उत्पादन दाम से अधिक दाम भरता है। अब मान लीजिये कि $P - P' = d$; अतः d, P' पर P का आधिक्य, बेशी लाभ है, जो ख प्रकार की ज़मीन का काश्तकार प्राप्त करता है। यह d किराये में रूपांतरित हो जाता है, जो भूस्वामी को अदा किया जाना होता है। मान लीजिये कि P'' तीसरे प्रकार की ज़मीन ग का वास्तविक उत्पादन दाम है, और $P - P'' =$ २ d; अब यह २ d किराये में रूपांतरित होगा। इसी प्रकार, मान लीजिये कि P''' चौथे प्रकार की ज़मीन घ का वास्तविक उत्पादन दाम है, और $P - P''' =$ ३ d, जो किराये में रूपांतरित होता है, आदि, आदि। अब मान लीजिये कि क ज़मीन के लिए यह आधारिका कि किराया = ०, और फलतः उसके उत्पाद का उत्पादन दाम = P + ०, ग़लत है। बल्कि यह मान लीजिये कि वह भी किराया = r देती है। इस हालत में दो भिन्न निष्कर्ष निकलते हैं।

पहला : क ज़मीन के उत्पाद का दाम प्रथमोक्त के उत्पादन दाम द्वारा नियमित नहीं किया जायेगा, बल्कि उसमें इस दाम के अलावा एक आधिक्य सम्मिलित होगा, अर्थात वह =

P+r, होगा। कारण कि अगर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को सामान्यतया कार्यशील मान लिया जाता है, अर्थात अगर यह मान लिया जाता है कि फ़ार्मर भूस्वामी को जो आधिक्य r देता है, वह न मजदूरी से कटौती को प्रकट करता है और न पूंजी के औसत लाभ से, तो फ़ार्मर वह केवल इसलिए अदा कर सकता है कि उत्पाद अपने उत्पादन दाम के ऊपर बिकता है और फलतः उसे बेशी लाभ प्रदान करता है, बशर्ते कि उसे यह आधिक्य किराये के रूप में भूस्वामी के हवाले न कर देना पड़े। इस हालत में बाजार में सभी ज़मीनों से प्राप्त कुल उपज का नियामक बाज़ार दाम वह उत्पादन दाम नहीं होगा, जो पूंजी सामान्यतया सभी उत्पादन क्षेत्रों में प्रदान करती है, अर्थात लागत जमा औसत लाभ के बराबर दाम, बल्कि इसके बजाय उत्पादन दाम जमा किराया, P+r न कि P, होगा। कारण कि **क** ज़मीन के उत्पाद का दाम साधारणतया नियामक सामान्य बाज़ार दाम की सीमा को, अर्थात जिस दाम पर कुल उत्पाद की पूर्ति की जा सकती है, प्रकट करता है और इस हद तक वह इस कुल उत्पाद के दाम का नियमन करता है।

लेकिन **दूसरा:** यद्यपि इस प्रसंग में कृषि उत्पादों का सामान्य दाम सार्थक रूप में आपरिवर्तित हो जायेगा, फिर भी विभेदक किराये का नियम अपनी उपयुक्तता को किसी भी प्रकार नहीं गंवा देगा। कारण कि अगर **क** ज़मीन के उत्पाद का दाम, और उसके द्वारा सामान्य बाज़ार दाम $= P+r$, तो **ख**, **ग**, **घ**, आदि ज़मीनों के लिए दाम भी इसी प्रकार $= P+r$ होगा। लेकिन चूंकि **ख** जमीन के लिए $P-P'=d$ इसलिए $(P+r)-(P'+r)$ भी इसी प्रकार $= d$ होगा, और **ग** ज़मीन के लिए $P-P''=(P+r)-(P''+r)=२d$; और अंततः, **घ** जमीन के लिए $P-P'''=(P+r)-(P'''+r)=३d$, आदि। इस प्रकार, विभेदक किराया उतना ही रहेगा कि जितना पहले था और उसका नियमन उसी नियम द्वारा होता रहेगा, यद्यपि किराये में इस नियम से स्वतंत्र एक तत्व शामिल होगा और कृषि उत्पाद के दाम के साथ-साथ सामान्य वृद्धि दर्शायेगा। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि सबसे कम उर्वर ज़मीनों के किराये के बारे में चाहे जो भी बात हो, विभेदक किराये का नियम न केवल उससे निरपेक्ष ही है, बल्कि विभेदक किराये को उसके लक्षण के अनुसार समझने का अकेला ढंग यह है कि **क** जमीन पर किराया $= ०$ रहने दिया जाये। जहां तक विभेदक किराये का संबंध है, यह महत्वहीन है कि किराया वस्तुतः $= ०$ अथवा > ०, और वास्तव में वह विचार में आता ही नहीं।

इस प्रकार विभेदक किराये का नियम आगामी अन्वेषण के परिणामों से स्वतंत्र है।

अब अगर हम इस कल्पना की बुनियाद में और गहरे जायें कि निकृष्टतम **क** जमीन का उत्पाद कोई किराया नहीं प्रदान करता है, तो उत्तर अनिवार्यतः इस प्रकार होगा: अगर कृषि उत्पाद, यथा अनाज का बाज़ार दाम वह स्तर प्राप्त कर लेता है कि जहां **क** जमीन में पूंजी के अतिरिक्त निवेश का परिणाम सामान्य उत्पादन दाम होता है, अर्थात पूंजी पर सामान्य औसत लाभ पैदा होता है, तो यह अवस्था **क** जमीन में अतिरिक्त पूंजी का निवेश करने के लिए काफ़ी है। दूसरे शब्दों में, यह अवस्था पूंजीपति के वास्ते सामान्य लाभ प्रदान करनेवाली नयी पूंजी निवेशित करने के लिए और उसका सामान्य ढंग से नियोजन करने के लिए यथेष्ट है।

यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि इस प्रसंग में भी बाज़ार दाम का क के उत्पादन दाम से ऊंचा होना आवश्यक है। कारण यह कि अतिरिक्त पूर्ति के पैदा किये जाने के साथ यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि पूर्ति तथा मांग के बीच संबंध बदल जाता है। पहले पूर्ति अपर्याप्त थी। अब वह पर्याप्त है। अतः दाम को गिरना होगा। गिरने के लिए यह आवश्यक है कि वह क के उत्पादन दाम से ऊंचा रहा हो। किंतु इस तथ्य कि कारण हाल के ही में कृषि में लायी गयी ख ज़मीन कम उर्वर है, दाम गिरकर फिर इतना नीचा नहीं हो जाता कि जितना तब हो जाता था, जब ख ज़मीन का उत्पादन दाम बाज़ार का नियमन करता था। क का उत्पादन दाम बाज़ार दाम के अस्थायी नहीं, बल्कि सापेक्षतया स्थायी चढ़ाव के लिए सीमा बनाता है। दूसरी ओर, अगर काश्त में लायी जानेवाली नयी ज़मीन अब तक की नियामक ज़मीन क की अपेक्षा अधिक उर्वर है, मगर फिर भी सिर्फ़ वर्धित मांग को पूरा करने के लिए ही काफ़ी पड़ती है, तो बाज़ार दाम अपरिवर्तित रहता है। तथापि इस प्रश्न का कि निकृष्टतम प्रकार की ज़मीन किराया प्रदान करती है या नहीं, अनुसंधान इस प्रसंग में भी हमारे प्रस्तुत अन्वेषण से मेल खाता है, क्योंकि यहां भी इस कल्पना की कि क ज़मीन कोई किराया नहीं प्रदान करती है, व्याख्या इसी तथ्य से होगी कि बाज़ार दाम पूंजीपति फ़ार्मर के लिए इस दाम से निवेशित पूंजी जमा लाभ को बिलकुल पूरी तरह से पूरा करने को काफ़ी है; संक्षेप में, उसकी इस तथ्य से व्याख्या हो जायेगी कि बाज़ार दाम उसे अपनी जिंसों का उत्पादन दाम प्रदान कर देता है।

बहरहाल, पूंजीपति फ़ार्मर क ज़मीन को इन अवस्थाओं के अंतर्गत काश्त कर सकता है, क्योंकि पूंजीपति के नाते उसके पास ऐसा निर्णय करने की शक्ति है। क ज़मीन में पूंजी के सामान्य प्रसार की पूर्वापेक्षा अब विद्यमान है। लेकिन इस आधारिका से कि पूंजीपति फ़ार्मर अब पूंजी को क ज़मीन में पूंजी के प्रसार की औसत अवस्थाओं के अंतर्गत निवेशित कर सकता है, चाहे उसे कोई किराया नहीं देना पड़ता था, किसी भी प्रकार यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि क कोटि की यह ज़मीन अब सीधे-सीधे फ़ार्मर के अधिकार में आ जायेगी। यह तथ्य कि किरायेदार फ़ार्मर को अगर कोई किराया न देना हुआ होता, तो वह अपनी पूंजी पर सामान्य लाभ की सिद्धि कर सकता था, भूस्वामी के लिए अपनी ज़मीन फ़ार्मर को निःशुल्क दे देने का और इतना परोपकारी बन जाने का आधार हरगिज़ नहीं है कि एक व्यावसायिक मित्रता की ख़ातिर वह crédit gratuit [निःशुल्क उधार] प्रदान कर दे। इस तरह की कल्पना का मतलब होगा भू-संपत्ति का अमूर्तीकरण, भूस्वामित्व का विलोपन, और यह भूस्वामित्व का अस्तित्व ही है कि जो पूंजी के निवेश के लिए और ज़मीन में पूंजी के निर्बाध प्रसार के लिए परिसीमा का निर्माण करता है। यह परिसीमा फ़ार्मर के इस सहज विचार के आगे हरगिज़ विलुप्त नहीं हो जाती कि अगर उसे कोई किराया न देना होता, तो अनाज के दामों का स्तर उसे अपनी पूंजी के क ज़मीन के दोहन में निवेश से सामान्य लाभ की सिद्धि करने में समर्थ बना देता; दूसरे शब्दों में, अगर वह व्यवहार में यह मानकर चल सकता होता कि मानो भू-संपत्ति का अस्तित्व ही नहीं है। लेकिन विभेदक किराया भूस्वामित्व में एकाधिकार के अस्तित्व की, पूंजी की परिसीमा के रूप में भू-संपत्ति की पूर्वकल्पना करता है, क्योंकि

उसके बिना बेशी लाभ किराया ज़मीन में रूपांतरित न होगा, न फ़ार्मर के बजाय भूस्वामी के हिस्से में ही जायेगा। और परिसीमा के रूप में भू-संपत्ति तब भी अस्तित्वमान रहती है कि जब विभेदक किराये के रूप में किराया विलुप्त हो जाता है, अर्थात क ज़मीन पर। अगर हम पूंजीवादी उत्पादनवाले किसी ऐसे देश के मामलों को लें, जहां ज़मीन में पूंजी का निवेश किराये की अदायगी के बिना हो सकता है, तो हम पायेंगे कि वे सभी भू-संपत्ति के अगर विधिक उन्मूलन भी नहीं, तो de facto [तथ्यतः] उन्मूलन पर आधारित हैं; तथापि ऐसा अत्यंत विशिष्ट परिस्थितियों के अंतर्गत ही हो सकता है, जो अपने स्वरूप से ही सांयोगिक हैं।

पहली : जब भूस्वामी स्वयं पूंजीपति होता है, अथवा पूंजीपति स्वयं भूस्वामी होता है। इस सूरत में बाज़ार दाम के इतना काफ़ी चढ़ जाने के साथ कि जिससे वह उस ज़मीन से, जो अब क ज़मीन है, उत्पादन दाम, अर्थात पूंजी प्रतिस्थापन जमा औसत लाभ, प्राप्त करने में समर्थ हो जाये, वह अपनी ज़मीन का **स्वयं प्रबंध** कर सकता है। लेकिन क्यों? इसलिए कि उसके लिए भू-संपत्ति पूंजी के निवेश में बाधा नहीं है। वह अपनी ज़मीन को महज़ प्रकृति का एक तत्व मान सकता है और इसलिए केवल अपनी पूंजी के प्रसार के विचार से, पूंजीवादी विचारों से निर्दिष्ट हो सकता है। ऐसे मामले व्यवहार में देखने में आते हैं, किंतु केवल अपवाद-स्वरूप ही। जिस प्रकार पूंजीवादी कृषिकर्म कार्यशील पूंजी के भू-संपत्ति से पृथक्करण की पूर्व-कल्पना करता है, उसी प्रकार वह सामान्यतया भू-संपत्ति की खुदकाश्त को भी अपवर्जित करता है। यह एकदम प्रत्यक्ष है कि यह बिलकुल सांयोगिक प्रसंग ही है। अगर अनाज के लिए वर्धित मांग के लिए क प्रकार की ज़मीन के उससे बड़े क्षेत्र को काश्त करना आवश्यक हो, जितना खुदकाश्त भूस्वामियों के हाथों में है, दूसरे शब्दों में, अगर उसके एक हिस्से को इसलिए किराये पर देना आवश्यक हो जाये कि जिससे उसे काश्त किया जा सके, तो पूंजी के निवेश के लिए भू-संपत्ति द्वारा निर्मित परिसीमा का यह अधिकल्पित निरसन तुरंत ध्वस्त हो जाता है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत पूंजी और ज़मीन, फ़ार्मरों और भूस्वामियों के बीच विभेदीकरण के साथ शुरू करना और फिर पलटकर यह कल्पना करना एक बेतुकी असंगति है कि जब भी और जहां भी पूंजी भू-संपत्ति के उससे अलग और भिन्न न होने की वजह से कृषिकर्म से किराया नहीं पाती है, वहां भूस्वामी सामान्यतया अपनी ज़मीन की स्वयं व्यवस्था करते हैं। (खनन किराये के बारे में ऐडम स्मिथ का उद्धरण देखिये, जो आगे दिया गया है।*) भू-संपत्ति का यह उन्मूलन आकस्मिक है। यह हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।

दूसरी : पट्टे के कुल क्षेत्र में कुछ हिस्से ऐसे हो सकते हैं, जो बाज़ार दामों के विद्यमान स्तर पर कोई किराया नहीं प्रदान करते हैं, जिससे वास्तव में उन्हें निःशुल्क ही दिया जाता है; लेकिन भूस्वामी इसे इस नज़रिये से नहीं देखता, क्योंकि वह पट्टे पर दी ज़मीन के कुल किराये को देखता है, अलग-अलग संघटक भूखंडों के विशिष्ट किराये को नहीं। इस प्रसंग में, जहां तक पट्टे की ज़मीन के किरायाहीन संघटक खंडों की बात है, पूंजीपति फ़ार्मर के लिए पूंजी के निवेश के वास्ते परिसीमा के रूप में भू-संपत्ति का विलोपन हो जाता है, और वह भी वस्तुतः स्वयं भूस्वामी के साथ संविदा की बिनाह पर। लेकिन वह इन भूखंडों के लिए महज़ इसीलिए किराया

---

*देखिये प्रस्तुत संस्करण का पृष्ठ ६८७।—सं०

नहीं देता है कि वह उनसे संबद्ध ज़मीन के लिए किराया देता है। यहां एक ऐसे संयोग की पूर्वकल्पना की जाती है, जिसके द्वारा हीनतर क ज़मीन को पूर्ति में कमीवाला अंश पैदा करने के लिए एक अलग उत्पादन क्षेत्र के नाते नहीं अपनाना होता, बल्कि जिसके द्वारा वह बस बेहतर ज़मीन का एक अवियोज्य भाग बन जाती है। किंतु जिस सूरत का अनुसंधान करना है, वह वस्तुतः वही है, जिसमें क प्रकार की ज़मीन के कुछेक टुकड़ों की स्वतंत्र व्यवस्था करनी होती है, अर्थात पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत सामान्यतः व्याप्त अवस्थाओं के कारण उन्हें स्वतंत्र रूप में पट्टे पर देना होता है।

तीसरी : फ़ार्मर पट्टे की उसी ज़मीन में अतिरिक्त पूंजी उस सूरत में भी निवेशित कर सकता है कि चाहे इस तरीक़े से प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद उसे चालू बाज़ार दाम पर उत्पादन दाम ही प्रदान करता है, अर्थात उसे सामान्य लाभ दे देता है, मगर कोई अतिरिक्त किराया देने में समर्थ नहीं बनाता। इस प्रकार वह ज़मीन में निवेशित पूंजी के एक अंश से किराया ज़मीन देता है, किंतु दूसरे से नहीं। लेकिन यह कल्पना समस्या के समाधान में कितनी कम सहायता देती है, यह इससे प्रकट हो जाता है: अगर बाज़ार दाम (और ज़मीन की उर्वरता) की बदौलत वह अपनी अतिरिक्त पूंजी से अतिरिक्त उपज प्राप्त कर सकता है, जो – जैसे पुरानी पूंजी के मामले में था – उत्पादन दाम के अलावा बेशी लाभ प्रदान करती है, तो वह इस बेशी लाभ को तब तक जेब में डाल सकता है कि जब तक उसका पट्टा ख़त्म नहीं होता। लेकिन क्यों? इसलिए कि भू-संपत्ति द्वारा उसकी पूंजी के ज़मीन में निवेश पर लगायी परिसीमा को पट्टे की मीयाद के लिए दूर कर दिया गया है। लेकिन यह सीधा-सादा तथ्य कि इसके लिए कि वह इस बेशी लाभ को प्राप्त कर सके, हीनतर कोटि की अतिरिक्त ज़मीन को बिलकुल अलग से काश्तयोग्य बनाना और अलग से पट्टे पर देना होता है, अकाट्य रूप में सिद्ध कर देता है कि पुरानी ज़मीन में अतिरिक्त पूंजी का निवेश वांछित वर्धित पूर्ति उपजाने के लिए अब पर्याप्त नहीं हो पाता है। एक कल्पना दूसरी कल्पना को निरस्त कर देती है। सही है कि अब कहा जा सकता है: निकृष्टतम क ज़मीन पर किराया स्वयं विभेदक किराया है – तुलना चाहे स्वयं मालिक द्वारा कर्षित ज़मीन के संबंध में की जाये (तथापि ऐसा शुद्धतः संयोगस्वरूप ही होता है) या कोई किराया न प्रदान करनेवाली पुरानी पट्टभूमियों में पूंजी के अतिरिक्त निवेश के संबंध में। तथापि, यह १) ऐसा विभेदक किराया होगा, जो ज़मीन की विभिन्न कोटियों की उर्वरता में अंतर से नहीं उत्पन्न होता है और जो फलतः इसकी पूर्वकल्पना **नहीं** करेगा कि क ज़मीन कोई किराया नहीं देती है और उसकी उपज उत्पादन दाम पर बिकती है; और २) यह तथ्य कि उसी पट्टभूमि में पूंजी के अतिरिक्त निवेश किराया प्रदान करते हैं या नहीं, इस प्रश्न से इतना ही असंबद्ध है कि काश्त में ली जानेवाली क प्रकार की नयी ज़मीन किराया देती है या नहीं, जितना कि – मिसाल के लिए – किसी नये और स्वतंत्र औद्योगिक कारबार की स्थापना से यह असंबद्ध है कि उसी शाखा में कोई और कारख़ानेदार अपनी पूंजी के एक अंश को इसलिए ब्याजी पत्रों में निवेशित कर देता है कि वह उस सब का अपने व्यवसाय में उपयोग नहीं कर सकता, या वह कुछेक सुधार करता है, जो उसे पूरा लाभ नहीं प्रदान करते, मगर फिर भी ब्याज से अधिक दे देते हैं। उसके लिए यह गौण महत्व की बात है। इसके विपरीत, यह आवश्यक है कि अतिरिक्त नये प्रतिष्ठान औसत लाभ प्रदान करें और वे इस औसत लाभ को प्राप्त करने की आशा में ही स्थापित किये जाते हैं। निस्संदेह, यह

सही है कि पुरानी पट्टभूमियों में अतिरिक्त पूंजी निवेश और मृदा प्रकार क की नयी जमीन का अतिरिक्त कर्षण आपस में एक दूसरे को प्रतिबंधित कर देते हैं। कम अनुकूल उत्पादन अवस्थाओं के अंतर्गत उसी पट्टभूमि में अतिरिक्त पूंजी जिस सीमा तक निवेशित की जा सकती है, उसका निर्धारण क जमीन में प्रतिद्वंद्विता करनेवाले नये निवेशों द्वारा किया जाता है; दूसरी ओर, इस प्रकार की जमीन जो किराया प्रदान कर सकती है, उसकी सीमा पुरानी पट्टभूमियों में प्रतिद्वंद्विता करनेवाले अतिरिक्त पूंजी निवेशों द्वारा निर्धारित होती है।

किंतु यह सारा भ्रामक वाक्छल समस्या को हल नहीं करता, जो सीधे-सादे शब्दों में यह है: मान लीजिये कि अनाज का (जो इस अन्वेषण में जमीन के उत्पादों को सामान्य रूप में द्योतित करता है) बाजार दाम इसके लिए यथेष्ट है कि क जमीन के हिस्सों को काश्त में लिया जा सकता है और इन नये खेतों में निवेशित पूंजी उत्पादन दाम वापस दे सकती है, अर्थात पूंजी जमा औसत लाभ प्रतिस्थापित कर सकती है। इस प्रकार मान लीजिये कि क जमीन पर पूंजी के सामान्य प्रसार के लिए अवस्थाएं विद्यमान हैं। क्या यह यथेष्ट है? क्या तब इस पूंजी को वास्तव में निवेशित किया जा सकता है? अथवा क्या बाजार दाम को चढ़कर उस बिंदु पर पहुंच जाना होगा कि जहां निकृष्टतम क जमीन तक किराया प्रदान करती है? दूसरे शब्दों में, क्या भूस्वामी का एकाधिकार पूंजी के निवेश में बाधा डालता है, जो शुद्ध पूंजीवादी दृष्टिकोण से इस एकाधिकार के न होने की सूरत में नहीं होगा? स्वयं यह प्रश्न जिस ढंग से प्रस्तुत किया गया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अगर, उदाहरण के लिए, अतिरिक्त पूंजियां ऐसी पुरानी पट्टाभूमियों में निवेशित की जाती हैं, जो नियत बाजार दाम पर औसत लाभ प्रदान करती हैं, किंतु कोई किराया नहीं प्रदान करतीं, तो यह तथ्य इस प्रश्न का किसी भी प्रकार उत्तर नहीं देता कि क्या पूंजी अब वास्तव में क जमीन में निवेशित की जा सकती हे, जो इसी प्रकार औसत लाभ देती है, मगर किराया नहीं प्रदान करती। लेकिन हमारे सामने जो प्रश्न है, वह ठीक यही है। यह बात कि कोई किराया न प्रदान करनेवाले अतिरिक्त पूंजी निवेश मांग की तुष्टि नहीं करते, क प्रकार की नयी जमीन को काश्त में लाने की आवश्यकता से सिद्ध होती है। अगर क जमीन का अतिरिक्त कर्षण सिर्फ़ इसी हद तक होता है कि वह किराया प्रदान करती है, अर्थात उत्पादन दाम से अधिक प्रदान करती है, तो केवल दो विकल्प ही संभव हैं। या तो बाजार दाम को ऐसा होना चाहिए कि पुरानी पट्टभूमियों में पूंजी के अंतिम अतिरिक्त निवेश तक बेशी लाभ प्रदान करें, फिर चाहे वह फ़ार्मर द्वारा जेब में डाला जाये या भूस्वामी द्वारा। तब दाम में यह चढ़ाव और पूंजी के अंतिम अतिरिक्त निवेशों से यह बेशी लाभ इस तथ्य के परिणाम होंगे कि क जमीन अगर किराया नहीं प्रदान करती, तो उसे काश्त नहीं किया जा सकता। कारण कि अगर उत्पादन दाम इसके लिए यथेष्ट होता कि कृषि मात्र औसत लाभ प्रदान करते हुए हो सके, तो दाम इतना अधिक न चढ़ा होता और नये टुकड़ों से प्रतिद्वंद्विता त्यों ही महसूस की जाने लगी होती कि ज्यों ही उन्होंने यह उत्पादन दाम प्रदान करना शुरू किया होता। तब पुरानी पट्टभूमियों में कोई किराया न प्रदान करनेवाले अतिरिक्त निवेशों से क जमीन में निवेश प्रतिद्वंद्विता करते होते, जो इसी प्रकार कोई किराया नहीं प्रदान करते हैं।—अथवा, पुरानी पट्टभूमियों में अंतिम निवेश

कोई किराया नहीं प्रदान करते हैं, मगर फिर भी बाजार दाम इतना चढ़ गया है कि क जमीन के काश्त में लिये जाने और किराया प्रदान करने को संभव बना दे। इस प्रसंग में पूंजी का किराया न प्रदान करनेवाला अतिरिक्त निवेश केवल इसलिए संभव था कि क जमीन को तब तक काश्त नहीं किया जा सकता, जब तक कि बाजार दाम उसे किराया नहीं प्रदान करने देता। इस शर्त के बिना उसका कर्षण दाम के निम्नतर स्तर पर पहले ही शुरू हो चुका होता और पुरानी पट्टभूमियों में पूंजी के वे बाद वाले निवेश न हुए होते, जिन्हें किराये के बिना सामान्य लाभ प्रदान करने के लिए ऊंचे बाजार दाम की आवश्यकता होती है। यह सही है कि ऊंचे बाजार दाम पर वे केवल औसत लाभ ही प्रदान करते हैं। इस प्रकार, निम्नतर बाजार दाम पर, जो क जमीन के काश्त में आने के साथ नियामक उत्पादन दाम बन गया होता, उन्होंने यह औसत लाभ न प्रदान किया होता, अर्थात इस प्रकार, निवेश ऐसी अवस्थाओं के अंतर्गत सर्वथा न हुए होते। इस तरह से क जमीन से किराया पुरानी पट्टभूमियों में कोई किराया न प्रदान करनेवाले निवेशों की तुलना में बेशक विभेदक किराया होगा। लेकिन यह बात कि क जमीन के क्षेत्रों पर ऐसा विभेदक किराया उत्पन्न होता है, इस तथ्य का एक परिणाम मात्र है कि अंतोक्त कृषि के लिए तब तक सर्वथा उपलब्ध नहीं हैं कि जब तक वे किराया न प्रदान करें, अर्थात यह कि इस किराये की आवश्यकता अस्तित्वमान होती है, जिसका स्वयं अपने में मृदा प्रकारों के किन्हीं भी अंतरों द्वारा निर्धारण नहीं होता है और जो पुरानी पट्टभूमियों में पूंजी के अतिरिक्त संभाव्य निवेशों के लिए सीमा का निर्माण करता है। दोनों ही सूरतों में क जमीन से किराया अनाज दामों में चढ़ाव का परिणाम भर न होगा, बल्कि इसके विपरीत, यह तथ्य कि निकृष्टतम जमीन को इसके लिए किराया प्रदान करना होगा कि उसकी कृषि संभव भी हो सके, अनाज के दामों में उस हद तक चढ़ाव का कारण होगा कि जहां इस शर्त को पूरा किया जा सकता है।

विभेदक किराये की यह विशेषता है कि भू-संपत्ति यहां उस बेशी लाभ का अंतर्रोधन मात्र करती है, जो अन्यथा फ़ार्मर के जेब में चला जाता और जिसे वह अपने पट्टे की मीयाद में कुछेक परिस्थितियों के अंतर्गत वस्तुतः अपने जेब में डाल सकता है। भू-संपत्ति यहां पण्य दाम के, जो इस संपत्ति की किसी भी प्रकार की सहभागिता के बिना उत्पन्न होता है (वस्तुतः, इस तथ्य के परिणामस्वरूप कि बाजार दाम का नियमन करनेवाले उत्पादन दाम का निर्धारण प्रतिद्वंद्विता द्वारा किया जाता है), एक अंश को अंतरित करने का कारण मात्र है, जो अपने आपको बेशी लाभ में परिणत कर लेता है – दाम के इस अंश को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को, पूंजीपति से भूस्वामी को अंतरित करने का कारण है। किंतु भू-संपत्ति वह कारण नहीं है, जो दाम के इस अंश का, अथवा दाम में उस चढ़ाव का **सर्जन करता है**, जिस पर दाम का यह अंश आधारित है। इसके विपरीत, अगर निकृष्टतम क जमीन को तब तक काश्त नहीं किया जा सकता – यद्यपि उसका कर्षण उत्पादन दाम प्रदान करेगा – कि जब तक वह उत्पादन दाम के ऊपर आधिक्य, किराया, न पैदा करे, तो भू-संपत्ति दाम में **इस** चढ़ाव का सर्जनात्मक कारण है। **स्वयं भू-संपत्ति ने किराये का सर्जन किया है।** इससे बात में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ेगा कि अगर, जैसे पूर्वोद्धृत दूसरी सूरत में था, क जमीन पर दिया जानेवाला किराया अब पूंजी के पुरानी पट्टभूमियों में अंतिम निवेश की तुलना में, जो केवल उत्पादन

दाम ही देती हैं, विभेदक किराया बन जाता है। कारण कि यह तथ्य कि क ज़मीन को उस समय तक काश्त नहीं किया जा सकता कि जब तक नियामक बाज़ार दाम इतना ऊंचा न चढ़ जाये कि क ज़मीन से किराया उत्पन्न होना संभव हो जाये – केवल यह तथ्य ही यहां इस बात का आधार है कि बाजार दाम चढ़कर ऐसे बिंदु पर पहुंच जाता है कि जिस पर पुरानी पट्टभूमियों में अंतिम निवेशों के लिए बेशक केवल अपना उत्पादन दाम ही प्रदान करना संभव हो जाता है, लेकिन ऐसा उत्पादन दाम कि जो साथ ही क ज़मीन पर किराया भी प्रदान करता है। यह तथ्य कि क ज़मीन को कोई किराया भी देना पड़ता है, इस प्रसंग में क ज़मीन के और पुरानी पट्टभूमियों में अंतिम निवेशों के बीच विभेदक किराये का कारण है।

जब सामान्य रूप में – यह मानते हुए कि अनाज के दाम का नियमन उत्पादन दाम द्वारा किया जाता है – यह कहा जाता है कि क ज़मीन कोई किराया नहीं देती, तो हमारा आशय इस शब्द के निरपेक्ष अथवा कोटिगत अर्थ में किराया होता है। अगर फ़ार्मर "पट्टा लाग" (lease money) देता है, जो उसके श्रमिकों की सामान्य मज़दूरी से, या उसके अपने सामान्य औसत लाभ से एक कटौती होती है, तो वह किराया, अर्थात अपनी जिंसों के दाम का मज़दूरी तथा लाभ से भिन्न कोई स्वतंत्र घटक नहीं देता है। हम पहले ही इंगित कर चुके हैं कि व्यवहार में यह लगातार होता रहता है। जहां तक किसी नियत देश में खेतिहर मज़दूरों की मज़दूरी के साधारणतया मज़दूरी के सामान्य औसत स्तर के नीचे होने की बात है, जिससे मज़दूरी से एक कटौती, मज़दूरी का एक हिस्सा साधारणतः किराये में चला जाता है, तो निकृष्टतम ज़मीन को काश्त करनेवाले फ़ार्मर के लिए यह कोई अपवादात्मक सूरत नहीं है। यह नीची मज़दूरी पहले ही उसी उत्पादन दाम में एक संघटक तत्व होती है, जो निकृष्टतम ज़मीन के कर्षण को संभव बनाता है और इसलिए उत्पाद की उत्पादन दाम पर बिक्री इस ज़मीन को काश्त करनेवाले फ़ार्मर को कोई किराया देने में समर्थ नहीं बना देती है। भूस्वामी अपनी ज़मीन किसी मज़दूर को भी पट्टे पर दे सकता है, जो विक्रय दाम में मज़दूरी के ऊपर और उसके अलावा जो कुछ भी प्राप्त करता है, वह सब अथवा उसका सबसे बड़ा भाग भूस्वामी को किराये के रूप में देने को राज़ी हो सकता है। तथापि इन सभी प्रसंगों में इस तथ्य के बावजूद कि पट्टा लाग दी जाती है, कोई वास्तविक किराया नहीं दिया जाता है। लेकिन जहां कहीं भी अवस्थाएं पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत अवस्थाओं के अनुरूप होती हैं, किराये और पट्टा लाग को अवश्य अनुरूप होना चाहिए। तथापि हमें यहां इस सामान्य अवस्था का ही विश्लेषण करना है।

चूंकि ऊपर विवेचित प्रसंग तक, जिनमें पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत ज़मीन में पूंजी के निवेश वास्तव में किराया प्रदान किये बिना हो सकते हैं, हमारी समस्या के समाधान में योगदान नहीं करते, इसलिए औपनिवेशिक अवस्थाओं का उल्लेख तो और भी कम योग देगा। उपनिवेश को उपनिवेश बनानेवाला मापदंड – हम यहां केवल वास्तविक कृषि उपनिवेशों की ही बात कर रहे हैं – मात्र नैसर्गिक अवस्था में उर्वर भूमि का विशाल विस्तार ही नहीं है। मापदंड वस्तुतः यह तथ्य है कि इस भूमि का हस्तगतकरण नहीं किया गया है, उसे निजी स्वामित्व में नहीं लाया गया है। इसी में ज़मीन के लिहाज़ से पुराने देशों और उपनिवेशों के

बीच इतना अपार अंतर है : भू-संपत्ति का विधिक अथवा वास्तविक अनस्तित्व, जैसे वेकफ़ील्ड[35] सही ही कहते हैं, और जैसे प्रकृतितंत्रवादी मिरबो pére [पिता] तथा अन्य ज्येष्ठ अर्थशास्त्री उनके बहुत पहले ही उद्घाटित कर चुके थे। यहां यह सर्वथा महत्वहीन है कि उपनिवेशक सीधे-सीधे ज़मीन को हथिया लेते हैं या वे राज्य को ज़मीन के नाममात्र दाम के रूप में ज़मीन पर मान्य विधिक स्वत्व के लिए वास्तव में कोई शुल्क देते हैं। यह भी महत्वहीन है कि वहां पहले ही बसे उपनिवेशक ज़मीन के विधिक स्वामी हो सकते हैं। वास्तव में भू-संपत्ति यहां पूंजी के – और पूंजी के बिना श्रम के भी – निवेश के लिए कोई परिसीमा नहीं है ; वहां पहले ही बसे उपनिवेशकों द्वारा कुछ ज़मीन का हस्तगतकरण नवागंतुकों को अपनी पूंजी अथवा अपने श्रम का नयी ज़मीन पर उपयोग करने से नहीं रोकता। इसलिए, जब ज़मीन के उत्पादों के दामों पर और किराये पर भू-संपत्ति के प्रभाव का – उन हालतों में, जहां भू-संपत्ति ज़मीन को पूंजी के निवेश क्षेत्र के नाते सीमित कर देती है – अनुसंधान करना होता है, तब स्वतंत्र बूर्जुआ उपनिवेशों की बात करना बेहद बेतुकापन है, जहां कृषि में न पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का अस्तित्व है, न उसके अनुरूप भू-संपत्ति के रूप का – जिसका वास्तव में अस्तित्व है ही नहीं। उदाहरण के लिए, रिकार्डो किराया ज़मीन के बारे में अपने अध्याय में यही करते हैं। भूमिका में वह कहते हैं कि उनका इरादा ज़मीन के उत्पादों के मूल्य पर भूमि के हस्तगतकरण के प्रभाव का अन्वेषण करना है, और इसके फ़ौरन ही बाद वह उपनिवेशों को उदाहरण की तरह से ले लेते हैं, जिससे वह यह कल्पना करते हैं कि वहां ज़मीन सापेक्षतया आदिम रूप में अस्तित्वमान है और यह कि उसके दोहन को भू-संपत्ति का एकाधिकार सीमित नहीं करता है।

ज़मीन का मात्र विधिक स्वामित्व उसके स्वामी के लिए कोई किराया ज़मीन नहीं पैदा करता। लेकिन यह उसे अपनी ज़मीन को दोहन से उस समय तक अछूता रखने की शक्ति अवश्य प्रदान करता है कि जब तक आर्थिक अवस्थाएं उसका इस ढंग से उपयोग करना संभव न बना दें, जिससे उसे कुछ बेशी प्राप्त हो सके, फिर चाहे उसका वास्तविक कृषि कार्यों के लिए प्रयोग किया जाये या इमारतों, आदि जैसे अन्य उत्पादक प्रयोजनों के लिए। वह इस क्षेत्र के निरपेक्ष परिमाण को बढ़ा या घटा नहीं सकता, मगर वह बाज़ार में मौजूद ज़मीन की मात्रा को बदल सकता है। अतः, जैसे फ़ूरिये ने पहले ही कहा था, यह एक लाक्षणिक तथ्य है कि सभी सभ्य देशों में ज़मीन का एक अपेक्षाकृत काफ़ी भाग हमेशा अकृष्ट रहता है।

इस प्रकार, अगर यह मान लिया जाये कि मांग के कारण ऐसी नयी ज़मीन को काश्त में लाना आवश्यक हो गया है, जिसकी मिट्टी, कहिये कि अब तक काश्त की जानेवाली ज़मीन की मिट्टी से कम उर्वर है, तो क्या भूस्वामी उसे महज़ इसलिए निःशुल्क पट्टे पर दे देगा कि ज़मीन के उत्पाद का बाज़ार दाम इतना काफ़ी चढ़ गया है कि फ़ार्मर को इस ज़मीन में अपने निवेश पर उत्पादन दाम और उसके द्वारा सामान्य लाभ का प्रतिदान कर सके? हरगिज़ नहीं। पूंजी के निवेश से उसे किराया अवश्य मिलना चाहिए। वह अपनी ज़मीन तब तक पट्टे पर नहीं देता कि जब तक उसे उसके लिए पट्टा लाग नहीं दी जा सकती। अतः, बाज़ार दाम को उत्पादन दाम के ऊपर, अर्थात $P+r$ तक चढ़ना होगा, ताकि भूस्वामी को किराया दिया जा

---

[35] Wakefield, *England and America*, London, 1833. तुलना के लिए और देखें *Das Kapital*, Buch I, Kap. XXV ['**पूंजी**', हिंदी संस्करण : खंड १, अध्याय ३३। – सं०]

सके। चूंकि हमारी कल्पना के अनुसार भू-संपत्ति जब तक पट्टे पर न दी जाये, तब तक कुछ नहीं प्रदान करती है, आर्थिक लिहाज़ से उस समय तक मूल्यहीन होती है, इसलिए बाज़ार दाम में उत्पादन दाम के ऊपर ज़रा सा चढ़ाव हीनतम कोटि की नयी ज़मीन को बाज़ार में लाने के लिए काफ़ी रहता है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है: क्या इस तथ्य से कि निकृष्टतम ज़मीन वह किराया ज़मीन प्रदान करती है, जो उर्वरता में अंतर से नहीं व्युत्पन्न हो सकता है, यह निष्कर्ष निकलता है कि ज़मीन की पैदावार का दाम अनिवार्यतः सामान्यतः प्रचलित अर्थों में एकाधिकार दाम अथवा ऐसा दाम होता है, जिसके गठन में किराया इस अकेले अंतर के साथ एक कर की तरह प्रवेश करता है कि यह कर भूस्वामी लगाता है, राज्य नहीं? यह कहना अनावश्यक है कि इस कर की अपनी विशिष्ट आर्थिक सीमाएं होती हैं। वह पुरानी पट्टभूमियों में पूंजी के अतिरिक्त निवेशों द्वारा, विदेशों से आनेवाले ज़मीन के उत्पादों की प्रतिद्वंद्विता – यह मानते हुए कि आयात निर्बाध है – द्वारा, स्वयं भूस्वामियों के बीच प्रतिद्वंद्विता द्वारा, और अंततः, उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं और उनकी पैसा देने की क्षमता द्वारा सीमित होता है। लेकिन यहां सवाल यह नहीं है। सवाल यह है कि क्या निकृष्टतम ज़मीन पर दिया जानेवाला किराया इस ज़मीन के उत्पादों के दाम में – जो हमारी कल्पना के अनुसार सामान्य बाज़ार दाम का नियमन करता है – उसी तरह से प्रवेश करता है कि जैसे किसी जिंस पर लगाया कर उसके दाम में प्रवेश करता है, अर्थात एक ऐसे तत्व की तरह, जो इस जिंस के मूल्य से स्वतंत्र होता है।

यह निष्कर्ष किसी भी प्रकार अनिवार्यतः नहीं निकलता है, और यह दावा सिर्फ़ इसलिए किया जाता है कि जिंसों के मूल्य और उनके उत्पादन दाम के बीच भिन्नता को अब तक नहीं समझा गया है। हम देख चुके हैं कि किसी जिंस का उत्पादन दाम उसके मूल्य के सर्वसम नहीं होता है, यद्यपि जिंसों के उत्पादन दामों का, अपनी समग्रता में, केवल उनके कुल मूल्य द्वारा नियमन किया जाता है, और यद्यपि अन्य सभी परिस्थितियों के समान होने पर विभिन्न प्रकारों की जिंसों के उत्पादन दामों की गति को केवल उनके मूल्यों की गति ही निर्धारित करती है। यह दिखलाया जा चुका है कि किसी जिंस का उत्पादन दाम उसके मूल्य के ऊपर अथवा नीचे हो सकता है और केवल अपवादस्वरूप ही अपने मूल्य से मेल खाता है। अतः यह तथ्य कि ज़मीन के उत्पाद अपने उत्पादन दाम के ऊपर बिकते हैं, यह हरगिज नहीं सिद्ध करता कि वे अपने मूल्य के ऊपर बिकते हैं; जैसे यह तथ्य कि उद्योग के उत्पाद औसत रूप में अपने उत्पादन दाम पर बिकते हैं यह नहीं सिद्ध करता कि वे अपने मूल्य पर बिकते हैं। कृषि उत्पादों का अपने उत्पादन दाम के ऊपर और अपने मूल्य के नीचे बिकना संभव है, जबकि दूसरी ओर, बहुत से औद्योगिक उत्पाद अपना उत्पादन दाम केवल इसी कारण प्रदान कर पाते हैं कि वे अपने मूल्य के ऊपर बिकते हैं।

किसी जिंस के उत्पादन दाम का उसके मूल्य के साथ संबंध केवल पूंजी के परिवर्ती भाग के, जिससे वह जिंस उत्पादित होती है, उसके स्थिर भाग के साथ अनुपात द्वारा, अथवा उसे उत्पादित करनेवाली पूंजी की आंगिक संरचना द्वारा ही निर्धारित होता है। अगर नियत उत्पादन क्षेत्र में पूंजी की संरचना औसत सामाजिक पूंजी की संरचना से नीची हो, अर्थात अगर उसका परिवर्ती अंश, जो मजदूरी के लिए इस्तेमाल किया जाता है, अपनी सापेक्षता में श्रम की भौतिक अवस्थाओं के लिए प्रयुक्त स्थिर अंश से उसकी बनिस्बत बड़ा हो, जितना औसत सामा-

जिक पूंजी के मामले में होता है, तो उसके उत्पाद का मूल्य उत्पादन दाम के ऊपर होगा। दूसरे शब्दों में, ऐसी पूंजी चूंकि अधिक सजीव श्रम को नियोजित करती है, इसलिए यह मानते हुए कि श्रम के शोषण की मात्रा समान रहती है, वह औसत सामाजिक पूंजी के उतने ही बड़े संखंड की तुलना में अधिक बेशी मूल्य, और फलतः अधिक लाभ उत्पन्न करती है। इसलिए उसके उत्पाद का मूल्य उत्पादन दाम के ऊपर है, क्योंकि यह उत्पादन दाम पूंजी प्रतिस्थापन जमा औसत लाभ के बराबर है, और औसत लाभ इस जिंस में उत्पादित लाभ से नीचा है। औसत सामाजिक पूंजी द्वारा उत्पन्न बेशी मूल्य इस निम्न संरचना की पूंजी द्वारा उत्पन्न बेशी मूल्य से कम है। अगर किसी उत्पादन क्षेत्र में निवेशित पूंजी औसत सामाजिक पूंजी से उच्चतर संरचना की होती है, तो इसकी उलटी बात होती है। उसके द्वारा उत्पादित जिंसों का मूल्य उनके उत्पादन दाम के नीचे रहता है, जो अधिकांश विकसित उद्योगों के उत्पादों के मामले में आम तौर पर होता है।

अगर किसी उत्पादन क्षेत्र में पूंजी औसत सामाजिक पूंजी से निम्नतर संरचना की है, तो यह, एक ओर, यह कहने का महज़ एक और ढंग है कि उत्पादन के इस विशेष क्षेत्र में सामाजिक श्रम की उत्पादिता औसत के नीचे है; क्योंकि प्राप्त उत्पादिता का स्तर परिवर्ती पूंजी पर स्थिर पूंजी के सापेक्ष बाहुल्य में, अथवा प्रदत्त पूंजी के संदर्भ में मज़दूरी के लिए प्रयुक्त अंश के निरंतर ह्रास में व्यक्त होता है। दूसरी ओर, अगर किसी उत्पादन क्षेत्र में पूंजी उच्चतर संरचना की है, तो यह उत्पादनशीलता के ऐसे विकास को प्रतिबिंबित करती है, जो औसत के ऊपर है।

अगर वास्तविक कलाकृतियों को अलग रहने दिया जाये, जिनकी समीक्षा उनके स्वरूप से ही हमारे विवेचन के बाहर है, तो इसके अलावा यह स्वतःस्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न उत्पादन क्षेत्रों को अपने विशिष्ट प्राविधिक लक्षणों के अनुसार स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के भिन्न-भिन्न अंशों की आवश्यकता होती है, और सजीव श्रम को कुछ क्षेत्रों में बड़ी, तो अन्यों में छोटी भूमिका का निर्वहन करना होता है। उदाहरण के लिए, निस्सारक उद्योगों में, जिनको कृषि से स्पष्टतः अलग समझा जाना चाहिए, स्थिर पूंजी के एक तत्व के नाते कच्चा माल सर्वथा अविद्यमान होता है, और सहायक सामग्री तक कदाचित ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। तथापि खनन उद्योग में स्थिर पूंजी का दूसरा भाग, अर्थात स्थायी पूंजी, महत्वपूर्ण भूमिका निबाहता है। तिस पर भी प्रगति को यहां भी परिवर्ती पूंजी की सापेक्षता में स्थिर पूंजी की सापेक्ष वृद्धि से मापा जा सकता है।

अगर ख़ास कृषि में पूंजी की संरचना औसत सामाजिक पूंजी की संरचना से निम्नतर है, तो prima facie यह इस तथ्य को व्यक्त करती है कि विकसित उत्पादनवाले देशों में कृषि ने उतनी ही प्रगति नहीं की है, जितनी संसाधन उद्योगों ने की है। ऐसे तथ्य की व्याख्या – आंशिक रूप में निर्णायक आर्थिक परिस्थितियों सहित अन्य सभी परिस्थितियों को छोड़कर – यंत्रविज्ञानों के अधिक पूर्ववर्ती तथा अधिक द्रुत विकास से, और विशेषकर रसायन, भूविज्ञान तथा शरीरक्रियाविज्ञान के बाद के और कुछ हद तक बिलकुल हाल के ही विकास की, और इसके अलावा, विशेषकर कृषि में इन विज्ञानों के अनुप्रयोग की तुलना में यंत्रविज्ञानों के अनुप्रयोग से की जा सकती है। प्रसंगतः, यह एक असंदिग्ध और बहुत समय से ज्ञात तथ्य है[36]

---

[36] देखिये Dombasle, [*Annales agricoles de Roville, ou Mélanges d'agriculture, d'économie rurale et de législation agricole*, Paris, 1824-37.–सं०] तथा R. Jones [*An*

कि स्वयं कृषि की प्रगति परिवर्ती पूंजी की तुलना में स्थिर पूंजी की सापेक्ष वृद्धि द्वारा निरंतर व्यक्त होती रहती है। आया कि कृषि पूंजी की संरचना किसी विशिष्ट देश में, जहां पूंजीवादी उत्पादन का प्रचलन है, मसलन इंगलैंड में, औसत सामाजिक पूंजी की संरचना की अपेक्षा नीची है, यह एक ऐसा सवाल है कि जिसका फ़ैसला सिर्फ़ सांख्यिकीय ढंग से ही किया जा सकता है और हमारे प्रयोजन के लिए इसमें विस्तार से जाना अनावश्यक है। बहरहाल, यह सैद्धांतिक रूप में सिद्ध है कि कृषि उत्पादों का मूल्य उनके उत्पादन दाम से केवल इस कल्पना के आधार पर ही ऊंचा हो सकता है। दूसरे शब्दों में, औसत सामाजिक संरचना की समान आकार की पूंजी की अपेक्षा एक ख़ास आकार की पूंजी कृषि में अधिक **बेशी** मूल्य उत्पन्न करती है, अथवा जो यही कहने के समान है, अधिक बेशी श्रम को गतिमान करती है और नियंत्रित करती है (और उसके साथ आम तौर पर अधिक सजीव श्रम को नियोजित करती है)।

इस प्रकार, यह कल्पना किराये के उस रूप के लिए पर्याप्त है, जिसका हम यहां विश्लेषण कर रहे हैं और जो केवल तब तक ही पाया जा सकता है कि जब तक यह कल्पना बनी रहती है। जहां भी यह कल्पना और अधिक लागू नहीं होती, किराये का अनुरूप रूप भी और अधिक नहीं लागू होता।

तथापि, कृषि उत्पादों के मूल्य में उनके उत्पादन दाम पर एक आधिक्य का अस्तित्व मात्र अपने में किराया जमीन के अस्तित्व की व्याख्या करने के लिए पर्याप्त न होगा, जो विभिन्न मृदा प्रकारों की उर्वरता में और उसी जमीन में पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों में अंतरों से निरपेक्ष होता है, संक्षेप में, ऐसा किराया कि जिसका संकल्पना में विभेदक किराये से सुस्पष्ट विभेद किया जाना चाहिए और इसलिए जिसे हम **निरपेक्ष किराया** कह सकते हैं। कितने ही औद्योगिक उत्पादों की विशेषता यह होती है कि उनका मूल्य उनके उत्पादन दाम से ऊंचा होता है, मगर फिर भी वे औसत लाभ के ऊपर कोई आधिक्य, अथवा बेशी लाभ नहीं प्रदान करते, जिसे किराये में परिवर्तित किया जा सके। विलोमतः, उत्पादन दाम और सामान्य लाभ दर, जिसे वह सूचित करता है, का अस्तित्व तथा संकल्पना इस तथ्य पर आधारित हैं कि अलग-अलग जिंसें अपने मूल्य पर नहीं बेची जाती हैं। उत्पादन दाम जिंसों के मूल्यों के समकरण से उत्पन्न होते हैं। विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में उपभुक्त अलग-अलग पूंजीगत मूल्यों को प्रतिस्थापित करने के बाद यह समस्त बेशी मूल्य को – अलग-अलग उत्पादन क्षेत्रों में उत्पादित और इस प्रकार उनकी जिंसों में समाविष्ट मात्रा के अनुपात में नहीं, बल्कि लगायी गयी पूंजियों के परिमाण के अनुपात में – वितरित कर देता है। केवल इसी प्रकार से औसत लाभ और उत्पादन दाम, औसत लाभ जिसका लाक्षणिक तत्व है, उत्पन्न होते हैं। प्रतिद्वंद्विता के ज़रिये कुल पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य के वितरण में इस समकरण को लाना और इस समकरण में सभी बाधाओं पर पार पाना पूंजियों की शाश्वत प्रवृत्ति है। अतः उनकी प्रवृत्ति केवल ऐसे बेशी लाभों को सहन करना है कि जो सभी परिस्थितियों के अंतर्गत जिंसों के मूल्यों तथा उत्पादन दामों के बीच अंतर से नहीं, बल्कि बाजार का नियमन करनेवाले सामान्य उत्पादन दाम और उससे भिन्न व्यष्टिक उत्पादन दामों के बीच अंतर से उत्पन्न होते हैं; अतः ऐसे बेशी लाभ कि जो किसी ख़ास उत्पादन क्षेत्र के भीतर, न कि दो भिन्न उत्पादन क्षेत्रों के बीच अंतर से प्राप्त

Essay on the Distribution of Wealth, and on the Sources of Taxation, Part I, *Rent*, London, 1831, p. 227. – सं०

होते हैं और इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों के सामान्य उत्पादन दामों, अर्थात सामान्य लाभ दर को नहीं प्रभावित करते, बल्कि इसके विपरीत, मूल्यों के उत्पादन दामों और एक सामान्य लाभ दर में रूपांतरण की पूर्वकल्पना करते हैं। लेकिन, जैसे पहले दिखलाया गया था, यह कल्पना कुल सामाजिक पूंजी के विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों के बीच निरंतर बदलते समानुपातिक वितरण पर, पूंजियों के निरंतर अंतर्वाह तथा बहिर्वाह पर, उनकी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को अंतरणीयता पर, संक्षेप में, विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों के बीच, जो कुल सामाजिक पूंजी के स्वतंत्र घटकों के लिए उपलब्ध इतने ही निवेश क्षेत्रों को व्यक्त करते हैं, उनकी निर्बाध गति पर आधारित है। इस प्रसंग में आधारिका यह है कि कोई भी अवरोध, मात्र सांयोगिक अथवा अस्थायी अवरोध ,के सिवा, पूंजियों की – उदाहरण के लिए, ऐसे उत्पादन क्षेत्र में, जिसमें पण्य मूल्य उत्पादन दामों से ऊंचे हैं, अथवा जहां उत्पादित बेशी मूल्य औसत लाभ से अधिक है – मूल्य को उत्पादन दाम के समानीत करने और उसके द्वारा इस उत्पादन क्षेत्र के अतिरिक्त बेशी मूल्य का पूंजी द्वारा समुपयोजित सभी क्षेत्रों के बीच समानुपातिक वितरण करने की प्रति-द्वंद्विता में दख़ल नहीं देता। लेकिन अगर इसकी उलटी बात होती है, अगर पूंजी का किसी ऐसी प्रतिकूल शक्ति से साबिक़ा होता है, जिस पर वह केवल आंशिक रूप में ही, अथवा बिल्कुल भी नहीं, क़ाबू पा सकती और जो कुछेक क्षेत्रों में उसके निवेश को सीमित कर देती है तथा उसे केवल ऐसी अवस्थाओं के अंतर्गत ही आने देती है कि जो बेशी मूल्य के औसत लाभ में इस सामान्य समकरण को पूर्णतः अथवा अंशतः अपवर्जित करती है, तो यह प्रत्यक्ष है कि ऐसे उत्पादन क्षेत्रों में जिंसों के मूल्य का उनके उत्पादन दाम पर आधिक्य बेशी लाभ उत्पन्न करेगा, जिसे किराये में परिवर्तित किया जा सकेगा और इस प्रकार लाभ के संदर्भ में स्वतंत्र बनाया जा सकेगा। इस तरह की प्रतिकूल शक्ति और अवरोध पूंजी का उसके ज़मीन में निवेश करने के प्रयास में सामना करते समय भू-संपत्ति पेश करती है; पूंजीपति के मुक़ाबले में भूस्वामी इसी तरह की शक्ति है।

भू-संपत्ति यहां वह अवरोध है, जो अब तक काश्त में न लायी गयी या किराये पर न दी गयी ज़मीन में एक कर लगाये बिना, दूसरे शब्दों में, किराया मांगे बिना, पूंजी का कोई नया निवेश नहीं होने देता, यद्यपि हाल में काश्त में लायी जानेवाली ज़मीन ऐसी कोटि की हो सकती है कि जो कोई विभेदक किराया नहीं प्रदान करती और जिसे, अगर भू-संपत्ति का अस्तित्व न हुआ होता, तो बाज़ार दाम में थोड़ी वृद्धि पर भी काश्त किया जा सकता था, जिससे कि नियामक बाज़ार दाम ने इस निकृष्टतम ज़मीन के काश्तकार को केवल उसका उत्पादन दाम ही प्रदान किया होता। किंतु भू-संपत्ति द्वारा खड़े किये जानेवाले इस अवरोध के कारण बाज़ार दाम को चढ़कर ऐसे स्तर पर पहुंच जाना होगा कि जहां ज़मीन उत्पादन दाम के ऊपर एक बेशी प्रदान कर सके, अर्थात किराया प्रदान कर सके। लेकिन हमारी कल्पना के अनुसार चूंकि कृषि पूंजी द्वारा उत्पादित जिंसों का मूल्य उनके उत्पादन दाम से ऊंचा होता है, इसलिए यह किराया (सिवा एक सूरत के, जिसकी हम अभी विवेचना करेंगे) उत्पादन दाम पर मूल्य के आधिक्य का, या उसके एक हिस्से का निर्माण करता है। आया कि किराया मूल्य तथा उत्पादन दाम के बीच समस्त अंतर के बराबर है, या केवल उसके न्यूनाधिक भाग के ही बराबर है, यह पूर्णतः पूर्ति तथा मांग के बीच संबंध पर और हाल ही में काश्त में लायी गयी ज़मीन के क्षेत्रफल पर निर्भर करेगा। जब तक किराया कृषि उत्पादों के मूल्य के उनके उत्पादन दाम पर आधिक्य के बराबर नहीं होता, तब तक इस आधिक्य का एक अंश हमेशा

विभिन्न व्यष्टिक पूंजियों के बीच सारे बेशी मूल्य के सामान्य समकरण तथा समानुपातिक वितरण में प्रवेश करता रहेगा। जैसे ही किराया उत्पादन दाम पर मूल्य के ग्राधिक्य के बराबर हो जाता है कि वैसे ही ग्रौसत लाभ के ऊपर ग्रौर ग्रलावा बेशी मूल्य का यह सारा ग्रंश इस समकरण से निकाल लिया जायेगा। लेकिन यह निरपेक्ष किराया चाहे उत्पादन दाम पर मूल्य के सारे ग्राधिक्य के बराबर हो, या उसके सिर्फ़ एक भाग के ही बराबर हो, कृषि उत्पाद सदा एक एकाधिकार दाम पर ही बेचे जायेंगे, इसलिए नहीं कि उनका दाम उनके मूल्य से ग्रधिक है, बल्कि इसलिए कि वह उनके मूल्य के बराबर है, ग्रथवा इसलिए कि उनका दाम उनके मूल्य से नीचा है, मगर उनके उत्पादन दाम से ऊंचा है। उनका एकाधिकार इस तथ्य में सन्निहित होगा कि उद्योग के उन ग्रन्य उत्पादों के विपरीत, जिनका मूल्य सामान्य उत्पादन दाम से ऊंचा होता है, उन्हें उत्पादन दाम के समकृत नहीं किया जाता है। चूंकि मूल्य का ग्रौर उत्पादन दाम का भी एक ग्रंश एक वस्तुत: नियत स्थिरांक, ग्रर्थात लागत दाम होता है, जो उत्पादन में उपभुक्त पूंजी $= k$ को द्योतित करता है, इसलिए उनका ग्रंतर दूसरे, परिवर्ती ग्रंश, बेशी मूल्य में सन्निहित होता है, जो उत्पादन दाम में लाभ, p, के बराबर होता है, ग्रर्थात सामाजिक पूंजी पर ग्रौर सामाजिक पूंजी के संखंड के नाते प्रत्येक व्यष्टिक पूंजी पर परिकलित कुल बेशी मूल्य के बराबर होता है; किंतु जो जिंसों के मूल्य में इस विशेष पूंजी द्वारा सृजित वास्तविक बेशी मूल्य के बराबर होता है ग्रौर इस पूंजी द्वारा उत्पादित पण्य मूल्यों का एक ग्रभिन्न ग्रंग होता है। ग्रगर जिंसों का मूल्य उनके उत्पादन दाम से ऊंचा है, तो उत्पादन दाम $= k+p$, ग्रौर मूल्य $=k+p+d$, जिससे कि $p+d =$ उसमें समाविष्ट बेशी मूल्य। फलतः, मूल्य तथा उत्पादन दाम के बीच ग्रंतर $=d$, इस पूंजी द्वारा सृजित बेशी मूल्य का सामान्य लाभ दर के ज़रिये उसके लिए विनिहित बेशी मूल्य पर ग्राधिक्य। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कृषि उत्पादों का दाम उनके मूल्य पर पहुंचे बिना भी उनके उत्पादन दाम के ऊपर हो सकता है। इसके ग्रलावा यह निष्कर्ष निकलता है कि इसके पहले कि उनका दाम उनके मूल्य पर पहुंचे, कृषि उत्पादों के दाम में एक ख़ास बिंदु तक दीर्घकालिक वृद्धि ग्रा सकती है। इसी प्रकार यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कृषि उत्पादों के मूल्य में उनके उत्पादन दाम पर ग्राधिक्य उनके सामान्य बाज़ार दाम का निर्णायक तत्व केवल भू-संपत्ति में एकाधिकार के परिणामस्वरूप ही बन सकता है। ग्रंततः, यह निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रसंग में उत्पाद के दाम में वृद्धि किराये का कारण नहीं है, बल्कि उलटे किराया उत्पाद के दाम में वृद्धि का कारण है। ग्रगर निकृष्टतम ज़मीन के एक इकाई क्षेत्रफल से उत्पाद का दाम $= P+r$, तो सभी विभेदक किराये r के ग्रनुरूप गुणकों से बढ़ेंगे, क्योंकि कल्पना यह है कि $P+r$ नियामक बाज़ार दाम बनता है।

ग्रगर कृषीतर सामाजिक पूंजी की ग्रौसत संरचना $=$ ८५$_c$ + १५$_v$ ग्रौर बेशी मूल्य दर $=$ १००% हुई होती, तो उत्पादन दाम $=$ ११५ होता। ग्रगर कृषि पूंजी की संरचना $=$ ७५$_c$+२५$_v$ ग्रौर बेशी मूल्य दर उतनी ही हुई होती, तो कृषि उत्पाद का दाम ग्रौर नियामक बाज़ार दाम $=$ १२५ होता। यदि कृषि तथा कृषीतर उत्पाद का उसी ग्रौसत दाम पर समकरण हो (संक्षिप्तता की ख़ातिर हम मान लेंगे कि कुल पूंजी दोनों उत्पादन शाखाग्रों में बराबर है), तो कुल बेशी मूल्य $=$ ४०, ग्रथवा पूंजी के २०० पर २०% होगा। जैसे पहली पूंजी का, वैसे ही दूसरी पूंजी का उत्पाद भी १२० का बेचा जायेगा। इस प्रकार, उत्पादन दामों के समकरण में कृषीतर उत्पाद का ग्रौसत बाज़ार दाम ग्रपने मूल्य के ऊपर, ग्रौर कृषि उत्पाद का नीचे रहेगा। ग्रगर कृषि उत्पाद ग्रपने पूरे मूल्य पर बेचे जाते हैं, तो उनका दाम समकरण में दाम

की अपेक्षा ५ ऊपर, और औद्योगिक उत्पादों का ५ नीचे होगा। अगर बाज़ार अवस्थाएं कृषि उत्पादों के अपने पूरे मूल्य पर बेचे जाने की, उत्पादन दाम पर पूरी बेशी को प्राप्त करने की अनुमति नहीं देती हैं, तो परिणाम दोनों चरमों के बीच रहता है; औद्योगिक उत्पाद अपने मूल्य के कुछ ऊपर, और कृषि उत्पाद अपने उत्पादन दाम के कुछ ऊपर बिकते हैं।

यद्यपि भू-संपत्ति कृषि उपज के दाम को उसके उत्पादन दाम के ऊपर धकेल सकती है, पर यह उस पर नहीं, बल्कि इसके विपरीत, बाज़ार की सामान्य हालत पर निर्भर करता है कि बाज़ार दाम किस हद तक उत्पादन दाम के आगे जाता है और मूल्य के निकट पहुंचता है और इसलिए कृषि में नियत औसत लाभ के ऊपर सृजित बेशी मूल्य किस हद तक या तो किराये में रूपांतरित हो जायेगा या बेशी मूल्य के औसत लाभ पर सामान्य समकरण में शामिल हो जायेगा। बहर सूरत उत्पादन दाम पर मूल्य के आधिक्य से उत्पन्न होनेवाला यह निरपेक्ष किराया बस कृषि बेशी मूल्य का एक अंश, इस बेशी मूल्य का किराये में परिवर्तन, उसका भूस्वामी द्वारा चुराया जाना भर है; बिलकुल उसी प्रकार कि जिस प्रकार विभेदक किराया बेशी लाभ के किराये में परिवर्तन से, उसके भूस्वामी द्वारा सामान्यतया नियामक उत्पादन दाम के अंतर्गत हथियाये जाने से उत्पन्न होता है। किराये के ये दोनों रूप ही सामान्य रूप हैं। इनके अलावा किराया केवल वास्तविक एकाधिकार दाम पर आधारित हो सकता है, जिसका निर्धारण न जिंसों के उत्पादन दाम द्वारा और न ही उनके मूल्य द्वारा, बल्कि क्रेताओं की आवश्यकताओं और पैसा देने की क्षमता द्वारा किया जाता है। इसका विश्लेषण प्रतिद्वंद्विता के सिद्धांत के अंतर्गत आता है, जिसमें बाज़ार दामों की वास्तविक गति का विवेचन किया गया है।

यदि – यह मानते हुए कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का ही प्रचलन है और अवस्थाएं सामान्य हैं – किसी देश में कृषि के उपयुक्त सारी ही ज़मीन पट्टे पर दे दी जाये, तो वहां ऐसी कोई ज़मीन न होगी कि जो किराया न देती हो; मगर ऐसी कुछ पूंजियों का, ज़मीन में निवेशित पूंजियों के कुछ ऐसे अंशों का होना संभव है, जिनसे कोई किराया न प्राप्त हो। कारण यह कि जैसे ही सारी ज़मीन किराये पर उठायी जाती है कि भू-संपत्ति आवश्यक पूंजी के निवेश के विरुद्ध एक निरपेक्ष अवरोध की तरह आचरण करना बंद कर देती है। फिर भी, वह इसके बाद भी एक सापेक्ष अवरोध बनी रहती है, क्योंकि ज़मीन में समाविष्ट पूंजियों का भूस्वामी को प्रत्यावर्तन किरायेदार की गतिविधि को बहुत ही निश्चित सीमाओं के भीतर परिसीमित कर देता है। बस, इस प्रसंग में सारा किराया विभेदक किराये में रूपांतरित हो जायेगा, यद्यपि यह ज़मीन की उर्वरता में किसी अंतर द्वारा नहीं, बल्कि इसके विपरीत, एक विशेष मृदा प्रकार में पूंजी के अंतिम निवेशों से उत्पन्न बेशी लाभों और निकृष्टतम कोटि की ज़मीन के पट्टे के लिए दिये जानेवाले किराये के बीच अंतर द्वारा निर्धारित विभेदक किराया होगा। भू-संपत्ति केवल वहीं तक निरपेक्ष अवरोध की तरह काम करती है कि भूस्वामी ज़मीन को पूंजी के निवेश के लिए सर्वथा अभिगम्य बनाने के वास्ते भी एक ख़िराज वसूल करता है। जब यह अभिगम प्राप्त हो जाता है, तो वह उसके बाद ज़मीन के किसी नियत खंड में पूंजी के किसी निवेश के आकार के लिए कोई निरपेक्ष सीमाएं नहीं निर्धारित कर सकता है। सामान्यतः, गृह-निर्माण के आगे उस ज़मीन पर तीसरे पक्ष का स्वामित्व एक अवरोध होता है, जिस पर मकान बनाये जाते हैं। लेकिन यह ज़मीन एक बार गृह-निर्माण के लिए पट्टे पर दी गयी कि फिर यह किरायेदार पर निर्भर करता है कि वह बड़ा मकान बनाये या छोटा।

अगर कृषि पूंजी की औसत संरचना औसत सामाजिक पूंजी की संरचना के बराबर,

अथवा उससे ऊंची हो, तो निरपेक्ष किराया – फिर अभी-अभी बताये अर्थों में – विलुप्त हो जायेगा; अर्थात वह किराया विलुप्त हो जायेगा, जो विभेदक किराये से और वास्तविक एकाधिकार दाम पर आधारित किराये से भी समान रूप में भिन्न है। तब कृषि उपज का मूल्य अपने उत्पादन दाम के ऊपर नहीं होगा, और कृषि पूंजी कृषीतर पूंजी से अधिक श्रम को गतिमान करना बंद कर देगी और फलतः उससे अधिक बेशी श्रम का सिद्धिकरण भी नहीं करेगी। अगर सभ्यता की प्रगति के साथ कृषि पूंजी की संरचना औसत सामाजिक पूंजी की संरचना के बराबर हो जाती, तो भी यही बात होती।

पहली नज़र में यह कल्पना करना एक अंतर्विरोध लगता है कि एक ओर, कृषि पूंजी की संरचना चढ़ती है, अर्थात उसका स्थिर घटक उसके परिवर्ती घटक की तुलना में बढ़ता है, और दूसरी ओर, कृषि उत्पाद का दाम इतना काफ़ी चढ़ जाये कि पहले काश्त की जानेवाली ज़मीन से घटिया और नयी ज़मीन किराया प्रदान करने लग जाये, ऐसा किराया कि जो इस प्रसंग में केवल मूल्य तथा उत्पादन दाम पर बाज़ार दाम के आधिक्य से ही उत्पन्न हो सकता है, संक्षेप में, केवल उत्पाद के एकाधिकार दाम से व्युत्पन्न किराया।

यहां एक अंतर करना आवश्यक है।

आरंभ में, लाभ दर की जिस ढंग से उत्पत्ति होती है, उसका विवेचन करते समय यह देखा गया था कि प्रौद्योगिक दृष्टि से एक ही संरचना रखनेवाली पूंजियां, अर्थात जो मशीनरी और कच्चे मालों की सापेक्षता में श्रम की समान मात्राओं को गतिमान करती हैं, इसके बावजूद इन पूंजियों के स्थिर अंशों के भिन्न मूल्यों के कारण भिन्न संरचना की हो सकती हैं। कच्चे माल अथवा मशीनरी एक प्रसंग में दूसरे प्रसंग की अपेक्षा महंगी हो सकती है। श्रम की उतनी ही मात्रा को गतिमान करने के लिए (और, हमारी कल्पना के अनुसार, कच्चे मालों की उतनी ही संहति को इस्तेमाल करने के लिए इसकी आवश्यकता होगी) एक प्रसंग में दूसरे की अपेक्षा अधिक बड़ी पूंजी लगानी होगी, क्योंकि श्रम की उतनी ही मात्रा को उस सूरत में, उदाहरण के लिए, १०० की पूंजी से गतिमान नहीं किया जा सकता कि जब कच्चे मालों की लागत, जिसे १०० में से पूरा करना होता है, एक मामले में ४० और दूसरे में २० है। लेकिन महंगे कच्चे मालों के दाम के गिरकर सस्ते मालों के स्तर पर पहुंचने के साथ यह तुरंत प्रत्यक्ष हो जायेगा कि इन दोनों पूंजियों की प्राविधिक संरचना एक ही है। इस सूरत में स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के बीच मूल्य संबंध एक समान हो जायेंगे, यद्यपि सजीव श्रम और इस पूंजी द्वारा नियोजित श्रमावस्थाओं की संहति तथा स्वरूप के बीच प्राविधिक अनुपातों में कोई अंतर नहीं आया है। दूसरी ओर, मात्र अपनी मूल्य संरचना के दृष्टिकोण से निम्नतर आंगिक संरचना की पूंजी महज़ अपने स्थिर अंशों के मूल्य में वृद्धि से उच्चतर आंगिक संरचना की पूंजी के साथ उसी वर्ग में होने का आभास ग्रहण कर सकती है। मान लीजिये कि एक पूंजी = $६०_c + ४०_v$, क्योंकि वह सजीव श्रम की तुलना में बहुत मशीनरी और कच्चे मालों का प्रयोग करती है, और दूसरी पूंजी = $४०_c + ६०_v$, क्योंकि वह बहुत सजीव श्रम (६०%), कम मशीनरी (उदाहरण के लिए, १०%) और श्रम शक्ति की तुलना में कम तथा सस्ते कच्चे मालों (मिसाल के लिए, ३०%) का प्रयोग करती है। तब कच्चे मालों तथा सहायक सामग्री के मूल्य में ३० से ८० की निरी वृद्धि भी संरचना को समकृत कर सकती है, जिससे कि दूसरी पूंजी अब कच्चे मालों के ८० और मशीनों में १० के लिए श्रम शक्ति के ६० से बनी होगी, अथवा $९०_c + ६०_v$; प्रतिशतों में व्यक्ति किये जाने पर यह भी = $६०_c + ४०_v$ होगी, जिसमें

प्राविधिक संरचना में कोई परिवर्तन नहीं आया है। दूसरे शब्दों में, समान आंगिक संरचना की पूंजियां भिन्न मूल्य संरचना की हो सकती हैं, और मूल्य संरचना की समरूप प्रतिशतता की पूंजियां आंगिक संरचना की विभिन्न मात्राएं प्रकट कर सकती हैं और इस प्रकार श्रम की सामाजिक उत्पादिता के विकास में अलग-अलग चरणों को व्यक्त कर सकती हैं। इस प्रकार, मात्र यह तथ्य कि कृषि पूंजी मूल्य संरचना के सामान्य स्तर पर हो सकती है, यह नहीं सिद्ध करेगा कि उसमें श्रम की सामाजिक उत्पादिता उतनी ही अधिक विकसित है। वह केवल यही दिखलायेगा कि ख़ुद उसका उत्पाद, जो फिर उसकी श्रमावस्थाओं का एक अंग है, महंगा है और सहायक सामग्री, जैसे उर्वरक, जो पहले पास ही उपलब्ध थी, अब दूर से लानी होती है, आदि।

लेकिन इसके अलावा, कृषि के विशेष स्वरूप पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

मान लीजिये कि श्रम बचानेवाली मशीनरी, रासायनिक साधनों, आदि का कृषि में अधिक व्यापक उपयोग किया जाता है और फलतः स्थिर पूंजी प्राविधिक अनुपात में बढ़ जाती है, केवल मूल्य में ही नहीं, बल्कि नियोजित श्रम शक्ति की संहति की तुलना में संहति में भी, अतः कृषि में (जैसे खनन में भी है) यह केवल श्रम की सामाजिक ही नहीं, बल्कि नैसर्गिक उत्पादिता का भी मामला है, जो श्रम की नैसर्गिक अवस्थाओं पर निर्भर करता है। यह संभव है कि कृषि में सामाजिक उत्पादिता की वृद्धि नैसर्गिक शक्ति में ह्रास का बस प्रतिकरण ही कर पाये, अथवा प्रतिकरण तक भी न कर पाये, – बहरहाल यह प्रतिकरण केवल अत्यल्प समय ही प्रभावी रहेगा – जिससे उसमें प्राविधिक विकास के बावजूद उत्पाद कोई सस्ता नहीं होता, बस दाम में और अधिक वृद्धि का निवारण हो जाता है। यह भी संभव है कि अनाज के चढ़ते दामों के साथ उत्पादों की निरपेक्ष संहति घट जाये, जबकि सापेक्ष बेशी उत्पाद बढ़ जाये; अर्थात यह स्थिर पूंजी में, जिसमें मुख्यतः मशीनरी अथवा पशु होते हैं, जिनके लिए बस टूट-फूट की प्रतिस्थापना ही आवश्यक होती है, सापेक्ष वृद्धि के और उसके साथ परिवर्ती पूंजी में, जो मजदूरी में व्ययित होती है और जिसकी उत्पाद से पूर्णतः प्रतिस्थापना करना आवश्यक होता है, अनुरूप ह्रास के मामले में संभव है।

इसके अलावा, यह भी संभव है कि कृषि में प्रगति के साथ इसके लिए बाज़ार दाम में औसत के ऊपर सिर्फ़ मामूली चढ़ाव ही आवश्यक हो कि हीनतर ज़मीन को काश्त किया और उससे किराया निकाला जा सके, जिसके लिए प्राविधिक साधनों के कम विकसित होने की हालत में बाज़ार दाम में अधिक चढ़ाव आवश्यक होता।

इस दावे का खंडन करने के लिए कि कृषीतर औसत सामाजिक पूंजी द्वारा गतिमान की जानेवाली श्रम शक्ति की तुलना में, प्रतिशत आधार पर, कृषि पूंजी द्वारा अधिक श्रम शक्ति को गतिमान किया जाता है, इस तथ्य को लिया जा सकता है कि उदाहरण के लिए, बड़े पैमाने पर पशुपालन में नियोजित श्रम शक्ति संहति स्थिर पूंजी की तुलना में, जो स्वयं पशुओं में व्यक्त होती है, बहुत अल्प होती है। लेकिन यहां यह दृष्टव्य है कि हमने किराये के विश्लेषण के लिए कृषि पूंजी के उस अंश को निर्धारक माना है, जो सभ्य राष्ट्रों में मुख्य निर्वाह साधन प्रदान करनेवाले प्रधान वानस्पतिक खाद्य पदार्थों को पैदा करता है। ऐडम स्मिथ – और यह उनके योगदानों में से एक है – यह पहले ही दर्शा चुके हैं कि पशुपालन में, और जहां तक यही बात है, आम तौर पर ज़मीन में निवेशित सभी पूंजियों के मामले में, जो प्रधान निर्वाह साधन, यथा अनाज, उगाने में नहीं लगी होती हैं, सर्वथा भिन्न दाम निर्धारण लक्षित होता है। अर्थात

इस प्रसंग में दाम इस तरह से निर्धारित होता है कि उस ज़मीन के उत्पाद के दाम को, जिसका पशुपालन के लिए – मसलन कृत्रिम चरागाह की तरह – उपयोग किया जाता है, मगर जिसे इतनी ही आसानी से अनाज के एक ख़ास कोटि के खेतों में रूपांतरित किया जा सकता था, इतना काफ़ी चढ़ जाना चाहिए कि उतना ही किराया पैदा हो सके, जितना समान कोटि की कृष्य भूमि पर पैदा होता है। दूसरे शब्दों में, अनाज के खेतों का किराया पशुओं के दाम में एक निर्णायक तत्व बन जाता है, और इसीलिए रैमज़े ने ठीक ही कहा है कि पशुओं का दाम इस तरह से किराये द्वारा, भू-संपत्ति की आर्थिक अभिव्यक्ति द्वारा, संक्षेप में, भू-संपत्ति के ज़रिये कृत्रिमतः चढ़ा दिया जाता है।*

"कृषि का विस्तार होने पर अविकसित परती ज़मीनें मांस की मांग की पूर्ति करने के लिए नाकाफ़ी हो जाती हैं। कर्षित भूमि के एक बड़े भाग का मवेशियों को पालने और मुटियाने के लिए प्रयोग करना होता है, फलतः जिनका दाम न केवल उनकी देखभाल के लिए आवश्यक श्रम की, बल्कि ऐसी ज़मीन के कृषि में इस्तेमाल किये जाने से उससे भूस्वामी जो किराया और फ़ार्मर जो लाभ प्राप्त कर सकता था, उसकी भी अदायगी करने के लिए यथेष्ट होना चाहिए। सबसे बंजर ज़मीनों पर पाले गये मवेशी जब उसी बाज़ार में लाये जाते हैं, तो वे अपने भार या क़िस्म के लिहाज़ से उसी दाम पर बिकते हैं कि जिस पर सबसे विकसित ज़मीन पर पाले गये मवेशी बिकते हैं। इन बंजर ज़मीनों के मालिक इससे लाभ उठाते हैं और अपनी ज़मीन के किराये को उनके मवेशियों के दाम के अनुपात में बढ़ा देते हैं।"(A. Smith, Book I, Chap. XI, Part I.) इस प्रकार, इस प्रसंग में भी अनाजरूप किराये से भिन्न विभेदक किराया निकृष्टतम ज़मीन के अनुकूल है।

निरपेक्ष किराया कुछ ऐसी परिघटनाओं को स्पष्ट करता है, जो पहली नज़र में महज़ एकाधिकार दाम को ही किराये का कारण बनाती प्रतीत होती हैं। ऐडम स्मिथ के ही उदाहरण को लेकर चलें, तो मिसाल के लिए, किसी ऐसे नार्वेजियाई जंगल के मालिक को ले लीजिये, जो मानव क्रियाकलाप से निरपेक्ष रूप से विद्यमान है, अर्थात जो वनविज्ञान का उत्पाद नहीं है। अगर जंगल का मालिक किसी पूंजीपति से किराया प्राप्त करता है, जिसने – संभवतः इंगलैंड से मांग के परिणामस्वरूप – पेड़ कटवाये हैं, या अगर यह मालिक पूंजीपति की हैसियत में स्वयं पेड़ कटवाता है, तो निवेशित पूंजी पर लाभ के अलावा किराये का न्यूनाधिक भाग उसे लकड़ी के रूप में प्राप्त होगा। यह प्रकृति के एक शुद्ध उत्पाद से प्राप्त एक शुद्ध एकाधिकारी प्रभार जैसा लगता है। किंतु वास्तव में पूंजी यहां लगभग पूर्णतः श्रम में व्ययित परिवर्ती घटक से बनी है और इस प्रकार वह उतने ही आकार की किसी अन्य पूंजी की अपेक्षा अधिक बेशी श्रम को गतिमान करती है। फलतः लकड़ी के मूल्य में उच्चतर आंगिक संरचना की किसी पूंजी की अपेक्षा अशोधित श्रम, अथवा बेशी मूल्य का अधिक आधिक्य है। इसलिए इस लकड़ी से औसत लाभ प्राप्त किया जा सकता है और किराये के रूप में काफ़ी आधिक्य जंगल के मालिक के हिस्से में जा सकता है। विलोमतः, यह माना जा सकता है कि लकड़ी कटाई का जिस आसानी से प्रसार किया जा सकता है, दूसरे शब्दों में, उसके उत्पादन को तेज़ी से बढ़ाया जा सकता है, उसके कारण मांग को इसके लिए बहुत अधिक बढ़ना होगा कि लकड़ी का दाम

---

* G. Ramsay, *An Essay on the Distribution of Wealth*, Edinburgh, 1836, pp. 278-79. – सं०

उसके मूल्य के बराबर हो सके और उसके द्वारा अशोधित श्रम का सारा आधिक्य (उस अंश के अलावा, जो पूंजीपति के हिस्से में औसत लाभ की तरह आता है) मालिक को किराये के रूप में प्राप्त हो सके।

हमने माना है कि हाल ही में काश्त में लायी गयी ज़मीन पहले कर्षित निकृष्टतम ज़मीन से भी घटिया क़िस्म की है। अगर वह बेहतर है, तो वह विभेदक किराया प्रदान करती है। लेकिन यहां हम ठीक उस सूरत का ही विश्लेषण कर रहे हैं, जिसमें किराया विभेदक किराये की तरह नहीं प्रकट होता है। तब सिर्फ़ दो सूरतें हो सकती हैं : नवकर्षित भूमि या तो पहले काश्त की जानेवाली ज़मीन से घटिया है, या उसके बराबर ही अच्छी है। अगर वह घटिया है, तो इस मामले का पहले ही विश्लेषण किया जा चुका है। अब सिर्फ़ उस सूरत का विश्लेषण करना बाक़ी रहता है, जिसमें वह उतनी ही अच्छी होती है।

जैसे कि विभेदक किराये के हमारे विश्लेषण में पहले ही निरूपित किया जा चुका है, कृषि की प्रगति उतनी ही अच्छी या और भी बेहतर ज़मीनों को बिलकुल उसी तरह से काश्त में ला सकती है कि जैसे ख़राब ज़मीन को।

प्रथमतः। इसलिए कि विभेदक किराये में (सामान्यतः किसी भी किराये में, क्योंकि अविभेदक किराये के मामले में भी हमेशा यह सवाल पैदा होता है कि क्या एक ओर, सामान्य-रूपेण मृदा उर्वरता के, और दूसरी ओर, उसकी अवस्थिति के दृष्टिगत उसका नियामक बाज़ार दाम पर इस तरह कर्षण संभव है कि वह लाभ तथा किराया प्रदान कर सके) दो परिस्थितियां कभी एक दूसरे को निरसित करते हुए, तो कभी बारी-बारी से निर्धारक प्रभाव डालते हुए विपरीत दिशाओं में काम करती हैं। बाज़ार दाम में चढ़ाव – बशर्ते कि कृषि का लागत दाम नहीं गिरा है, अर्थात किसी प्राविधिक प्रगति ने और अधिक कर्षण को प्रेरित नहीं किया है – और अधिक उर्वर ज़मीन को काश्त में ला सकता है, जो पहले अपनी अवस्थिति के कारण प्रतिद्वंद्विता के बाहर थी। अथवा वह घटिया ज़मीन की अवस्थिति की श्रेष्ठता को इस तरह से बढ़ा सकता है कि उसकी कम उर्वरता उससे प्रतिसंतुलित हो जाती है। अथवा, बाज़ार दाम में किसी चढ़ाव के बिना भी अवस्थिति संचार साधनों में सुधार के ज़रिये बेहतर ज़मीनों को प्रतिद्वंद्विता में ला सकती है, जैसे कि उत्तरी अमरीका के प्रेरी राज्यों में विशाल पैमाने पर देखा जा सकता है। अधिक प्राचीन सभ्यता के देशों में भी ऐसा निरंतर होता रहता है, चाहे उतना ही नहीं कि जितना उपनिवेशों में, जहां, जैसे वेकफ़ील्ड सही ही कहते हैं, अवस्थिति निर्णायक है।* इस प्रकार, संक्षेप में, अवस्थिति तथा उर्वरता के परस्परविरोधी प्रभाव और अवस्थिति कारक की परिवर्तिता, जो निरंतर प्रतिसंतुलित होती रहती है और सदा समकरण की ओर प्रवृत्त प्रगामी परिवर्तनों से होकर गुज़रती रहती है, बारी-बारी से उतनी ही अच्छी, बेहतर या ख़राब ज़मीन के विस्तारों को कृषि के अधीन पुरानी ज़मीनों के साथ नयी प्रतिद्वंद्विता में ले आते हैं।

दूसरे। प्राकृतिक विज्ञान और सस्यविज्ञान के विकास के साथ मृदा उर्वरता भी उन साधनों को बदलने से बदल जाती है, जिनके ज़रिये मृदा संघटकों को तत्काल प्रयोज्य बनाया जा सकता है। इस तरह से फ़्रांस में और इंगलैंड की पूर्वी काउंटियों में हलके मृदा प्रकार, जिन्हें

---

* [E. Wakefield] *England and America. A Comparison of the Social and Political State of both Nations*, Vol. I, London, 1833, pp. 214-15. –सं०

किसी समय घटिया माना जाया करता था, हाल के समय में पहले स्थान पर आ गये हैं। (देखिये पासी।*) दूसरी ओर, ख़राब रासायनिक संरचना के कारण नहीं, बल्कि उसके कर्षण में बाधा देनेवाले कुछेक यांत्रिक तथा भौतिक अवरोधों के कारण घटिया मानी जानेवाली ज़मीन को इन अवरोधों पर पार पाने के साधनों के खोजे जाने के साथ अच्छी ज़मीन में परिणत कर दिया जाता है।

तीसरे। सभी प्राचीन सभ्यताओं में पुराने ऐतिहासिक तथा पारंपरिक संबंधों ने, उदाहरण के लिए, राजकीय स्वामित्व की भूमियों, सामुदायिक भूमियों, आदि के रूप में भूमि के विशाल विस्तारों को बिलकुल मनमाने ढंग से कृषि से अलग रखा हुआ है, जो बहुत थोड़ा-थोड़ा करके ही उपयोग में लाये जाते हैं। उन्हें जिस अनुक्रम में काश्त में लाया जाता है, वह न उनकी कोटि पर निर्भर करता है, न उनकी अवस्थिति पर, बल्कि पूर्णतः बाह्य परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। अगर इंगलैंड की सामुदायिक ज़मीनों के क्रमशः बाड़ाबंदी विधेयकों के ज़रिये निजी संपत्ति में परिणत किये जाने और काश्त में लाये जाने के इतिहास का अनुगमन किया जाये, तो इस बेतुके विचार से अधिक हास्यास्पद और कुछ न होगा कि लिबिग जैसे एक आधुनिक कृषिरसायनज्ञ ने कुछ खेतों को रासायनिक गुणों के कारण कृषि के लिए निर्दिष्ट करते हुए और अन्यों को बहिष्कृत करते हुए ज़मीन के इस अनुक्रम में चयन को सुझाया था। इस प्रसंग में अधिक निर्णायक चोरी में सहायक बननेवाला सुयोग था; अपने हस्तगतकरण का औचित्य-स्थापन करने के लिए बड़े भूस्वामियों के न्यूनाधिक सत्याभासी विधिशास्त्रीय वाक्छल।

चौथे। इस तथ्य के अलावा कि आबादी तथा पूंजी द्वारा किसी भी समय प्राप्त विकास की अवस्था कृषि के प्रसार की, चाहे लचीली ही सही, कुछेक सीमाएं निर्धारित करती है, और बाज़ार दाम पर अस्थायी रूप में असर करनेवाले सांयोगिक प्रभावों, जैसे अच्छे या बुरे मौसमों का सिलसिला, के अलावा कृषि का अधिक बड़े क्षेत्र पर विस्तार किसी देश में पूंजी बाज़ार की समग्र स्थिति और व्यावसायिक अवस्थाओं पर निर्भर करता है। इसके लिए कि कृषि में अतिरिक्त पूंजी का निवेश किया जा सके, द्रव्याभाव के दौरों में अकृष्ट ज़मीन का किरायेदार को औसत लाभ प्रदान करना ही काफ़ी न हो पायेगा, फिर चाहे वह कोई किराया देता हो या न देता हो। दूसरे दौरों में, जब पूंजी का बाहुल्य होता है, तो वह केवल अन्य सामान्य अवस्थाओं के विद्यमान होने पर बाज़ार दाम में किसी चढ़ाव के बिना भी कृषि में उमड़ आयेगी। अब तक काश्त में लायी जानेवाली ज़मीन से बेहतर ज़मीन को वास्तव में केवल अननुकूल अवस्थिति के आधार पर ही, या उसके नियोजन में अभी तक अलंघ्य बाधाओं के रहने के कारण, या महज़ संयोग से ही प्रतिद्वंद्विता के बाहर रखा जायेगा। इस कारण हमें सिर्फ़ ऐसी ही ज़मीनों से सरोकार रखना चाहिए, जो सबसे बाद में कर्षित ज़मीनों की ही कोटि की हैं। लेकिन नयी ज़मीन और सबसे बाद में काश्त में लायी गयी ज़मीन के बीच खेती के लिए सफ़ाई के ख़र्च का अंतर अब भी बना रहता है। और यह बाज़ार दामों के स्तर और उधार की अवस्थाओं पर निर्भर करता है कि इस काम को हाथ में लिया जायेगा या नहीं। अतः इस ज़मीन के वस्तुतः प्रतिद्वंद्विता में प्रवेश करने के साथ – अन्य अवस्थाएं यदि समान मान ली जायें, तो – बाज़ार दाम गिरकर फिर अपने पूर्व स्तर पर आ जायेगा और तब नयी ज़मीन उतना ही कि-

---

* H. Passy, *Rente du sol*, In: *Dictionnaire de l'économie politique*, Tome II, Paris, 1854, p. 515. – सं०

राया देगी, जितना अनुरूप पुरानी ज़मीन देती है। इस कल्पना को कि वह कोई किराया नहीं प्रदान करती है, उसके प्रतिपादकों द्वारा ठीक उसी चीज़ की कल्पना करके सिद्ध किया जाता है, जिसे उन्हें सिद्ध करना है, अर्थात यह कि अंतिम कर्षित ज़मीन ने कोई किराया नहीं प्रदान किया था। इसी ढंग से तो यह भी साबित किया जा सकता है कि जो मकान सबसे बाद में बने थे, वे मकान के लिए वास्तविक किराया मकान के अलावा कोई किराया नहीं प्रदान करते, चाहे वे किराये पर उठे हुए हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि वे तो उस समय भी, कोई किराया मकान प्रदान करने के भी पहले, किराया प्रदान करते हैं, जब वे अकसर लंबे समय तक ख़ाली रहते हैं। जिस प्रकार ज़मीन के किसी टुकड़े में पूंजी के आनुक्रमिक निवेश समानुपाती बेशी और उसके द्वारा पहले निवेश के समान ही किराया ला सकते हैं, उसी प्रकार सबसे बाद में कर्षित खेतों की ही कोटि के खेत उतनी ही लागत पर उतनी ही आय ला सकते हैं। अन्यथा यह सर्वथा अव्याख्येय होगा कि उसी कोटि के खेतों को क्रमशः काश्त में लाया ही क्यों जाता है; ऐसा प्रतीत होता है कि शेष सभी खेतों को प्रतिद्वंद्विता में न लाने के लिए या तो उन सभी को एकसाथ काश्त में लेना आवश्यक होगा, या उनमें से एक को भी नहीं। भूस्वामी किराया निकालने के लिए, अर्थात मुफ़्त में कुछ पाने को सदा तैयार रहता है। किंतु पूंजी उसकी इच्छा को पूरा करने के लिए कुछेक अवस्थाओं की अपेक्षा करती है। अतः ज़मीन के टुकड़ों में प्रतिद्वंद्विता इस पर नहीं निर्भर करती कि भूस्वामी चाहता है कि वे प्रतिद्वंद्विता करें, बल्कि विद्यमान पूंजी पर निर्भर करती है, जो नये खेतों में दूसरी पूंजियों के साथ प्रतिद्वंद्विता की आकांक्षी होती है।

इसके दृष्टिगत कि वास्तविक कृषि किराया शुद्धतः एकाधिकार दाम होता है, अंतोक्त सिर्फ़ अल्प ही हो सकता है, जिस प्रकार निरपेक्ष किराया यहां सामान्य अवस्थाओं के अंतर्गत अल्प ही हो सकता है, चाहे उत्पाद के मूल्य का अपने उत्पादन दाम पर आधिक्य कितना भी क्यों न हो। अतः निरपेक्ष किराये का सार यह है: यदि बेशी मूल्य दर अथवा श्रम दोहन की मात्रा उतनी ही हो, तो समान रूप से बड़ी पूंजियां उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी भिन्न औसत संरचना के अनुसार बेशी मूल्य की भिन्न-भिन्न मात्राएं उत्पन्न करती हैं। उद्योग में बेशी मूल्य की ये विभिन्न संहतियां एक औसत लाभ में समकृत हो जाती हैं और अलग-अलग पूंजियों के बीच सामाजिक पूंजी के संखंडों की तरह समान रूप में वितरित हो जाती हैं। भू-संपत्ति ज़मीन में निवेशित पूंजियों में, जब भी उत्पादन को कृषि के या कच्चे मालों के निष्कर्षण के लिए ज़मीन की आवश्यकता होती है, ऐसे समकरण को रोकती है और बेशी मूल्य के एक अंश पर क़ब्ज़ा कर लेती है, जो अन्यथा सामान्य लाभ दर पर समकरण में भाग लेता। इस प्रकार किराया जिंसों के मूल्य का, अथवा अधिक सटीक अर्थों में बेशी मूल्य का एक अंश होता है, और उन पूंजीपतियों की गोद में गिरने के बजाय, जिन्होंने उसे अपने श्रमिकों से ऐंठा है, वह भूस्वामियों के हिस्से में चला जाता है, जो उसे पूंजीपतियों से ऐंठते हैं। इसके द्वारा यह कल्पना की जा रही है कि कृषीतर पूंजी के समान अंश की तुलना में कृषि पूंजी अधिक श्रम को गतिमान करती है। यह विसंगति कहां तक जाती है, अथवा यह है कि नहीं, यह बात उद्योग की तुलना में कृषि के सापेक्ष विकास पर निर्भर करती है। इस प्रसंग का सारतत्व ही यह है कि इस अंतर को कृषि की प्रगति के साथ-साथ घटते जाना चाहिए, बशर्ते कि स्थिर पूंजी की तुलना में परिवर्ती पूंजी की समानुपाती घटत औद्योगिक पूंजी के मामले में उससे भी अधिक न हो, जितनी कृषि पूंजी के मामले में है।

यह निरपेक्ष किराया वास्तविक निस्सारक उद्योग में और भी अधिक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है, जिसमें स्थिर पूंजी का एक तत्व, कच्चा माल, सर्वथा अविद्यमान होता है और जिसमें, उन शाखाओं को छोड़कर, जिनमें मशीनरी तथा दूसरी स्थायी पूंजी से निर्मित पूंजी बहुत काफ़ी होती है, हर हालत में पूंजी की निम्नतम संरचना ही होती है। और ठीक यहीं, जहां किराया पूर्णतः एकाधिकार दाम से जनित प्रतीत होता है, इसके लिए असाधारणतः अनुकूल बाजार अवस्थाएं आवश्यक होती हैं कि जिंसें अपने मूल्य पर बिकें, अथवा किराया जिंस के बेशी मूल्य के उसके उत्पादन दाम पर समस्त आधिक्य के बराबर हो। उदाहरण के लिए, यह बात मत्स्यक्षेत्रों, पत्थर की खानों, नैसर्गिक वनों, आदि से किराये पर लागू होती है।[37]

---

[37] रिकार्डो इस विषय का बहुत ही सतही विवेचन करते हैं। *Principles* में दूसरे अध्याय के बिलकुल आरंभ ही में नॉर्वे में वन किराये के बारे में ऐडम स्मिथ के विरुद्ध लक्षित अंश देखिये।

अध्याय ४६

निर्माणस्थल किराया। खनन में किराया। ज़मीन का दाम

जहां कहीं भी किराये का अस्तित्व होता है, वहां विभेदक किराया सदा उत्पन्न हो जाता है और उसे वे नियम ही शासित करते हैं, जो कृषि विभेदक किराये को करते हैं। जहां कहीं भी नैसर्गिक शक्तियों को एकाधिकृत किया जा सकता है और वे अपने को उपयोग में लानेवाले पूंजीपति को बेशी लाभ प्रत्याभूत कर सकती हैं, फिर चाहे वे जलप्रपात हों, समृद्ध खदानें हों, मछलियों से परिपूर्ण जलसाधन हों, या कोई अनुकूल अवस्थिति का निर्माणस्थल हो, वहां वह व्यक्ति, जो भूमंडल के एक टुकड़े पर स्वत्वाधिकार की बदौलत इन नैसर्गिक वस्तुओं का स्वामी बन गया है, वह कार्यशील पूंजी से इस बेशी लाभ को किराये के रूप में ऐंठ लेगा। जहां तक निर्माण कार्यों के लिए ज़मीन का सवाल है, ऐडम स्मिथ ने यह मत प्रतिपादित किया है कि सारी कृषीतर भूमि की ही भांति उसके किराये के आधार का नियमन वास्तविक कृषि किराये द्वारा किया जाता है। (Book I, Ch. XI, 2 and 3.) इस किराये की विशेषता सबसे पहले तो यहां विभेदक किराये पर अवस्थिति द्वारा डाला जानेवाला प्रबल प्रभाव है (जो, उदाहरण के लिए, द्राक्षोद्यानों और बड़े शहरों में निर्माणस्थलियों में बहुत महत्वपूर्ण होता है); दूसरे, मालिक की सुस्पष्ट तथा पूर्ण अकर्मण्यता है, जिसका एकमात्र काम (विशेषकर खदानों के मामले में) सामाजिक विकास की प्रगति से लाभ उठाना है, जिसमें वह कोई योगदान नहीं करता और, औद्योगिक पूंजीपति के विपरीत, जिसके लिए वह कोई जोखिम नहीं उठाता; और अंततः, कई मामलों में एकाधिकार दामों की व्याप्ति है, विशेषकर निर्धनता के घोर निर्लज्जतापूर्ण शोषण के ज़रिये (क्योंकि ग़रीबी तो किराया मकान के लिए उससे भी अधिक लाभदायी है कि जितनी पोतोसी की खानें स्पेन के लिए कभी भी थीं[38]), और भू-संपत्ति की विकराल शक्ति, जो जब वह औद्योगिक पूंजी के साथ ऐक्यबद्ध हो जाती है, भू-संपत्ति के लिए मजदूरी के निमित्त अपने संघर्ष में लगे श्रमिकों के विरुद्ध उन्हें व्यवहार में आवास के नाते धरती से धकेल बाहर करने के साधन की तरह प्रयुक्त होना संभव बना देती है।[39] इस प्रकार समाज का एक हिस्सा दूसरे हिस्से से धरती पर निवास करने की अनुमति के लिए ख़िराज वसूल करता है, क्योंकि सामान्यतः भू-संपत्ति भूस्वामी को भूमंडल, भूगर्भ

---

[38] Laing, [*National Distress; its Causes and Reme dies*, London, 1844. – सं०], Newman, [*Lectures on Political Economy*, London, 1857. – सं०]

[39] Crowlington Strike, Engels, *Lage der arbeitenden Klasse in England*, S. 307.

तथा उसके वायुमंडल का, और उसके साथ जीवन के अनुरक्षण तथा विकास के लिए आवश्यक हर चीज़ का समुपयोजन करने का विशेषाधिकार प्रदान करती है। न केवल जनसंख्या वृद्धि तथा उसके साथ आवासस्थान की बढ़ती आवश्यकता, बल्कि स्थायी पूंजी का विकास भी, जो या तो ज़मीन में समाविष्ट होती है, या उसमें जड़ जमा लेती है और उस पर आधारित होती है, उदाहरण के लिए, सभी औद्योगिक इमारतें, रेलें, गोदाम, कारख़ाना इमारतें, जहाज़ी मालघाट, आदि, इमारती किराये को अनिवार्यतः बढ़ाते हैं। इस प्रसंग में किराया मकान का, जहां तक कि वह किसी मकान में निवेशित पूंजी पर ब्याज और परिशोधन को व्यक्त करता है, मात्र ज़मीन के किराये के साथ उलझाव कैरी जैसे व्यक्ति की भी सारी सदिच्छा के बावजूद संभव नहीं है, विशेषकर जब भूस्वामी और निर्माण सट्टेबाज़ भिन्न व्यक्ति होते हैं, जैसे इंगलैंड में है। यहां दो तत्व विवेचनीय हैं: एक ओर, भूमि का पुनरुत्पादन अथवा निस्सारण प्रयोजनों के लिए समुपयोजन; दूसरी ओर, समस्त उत्पादन तथा मानव कार्यकलाप के एक तत्व के नाते आवश्यक स्थान। और दोनों ही अर्थों में भू-संपत्ति अपना ख़िराज मांगती है। निर्माणस्थलों की आवश्यकता स्थान तथा आधार के नाते ज़मीन के मूल्य को चढ़ा देती है, और उसके द्वारा साथ ही निर्माण सामग्री का काम देनेवाले पार्थिव तत्वों की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है।[40]

तेज़ी से बढ़ते शहरों में, विशेषकर जहां निर्माणकार्य का संचालन उद्योग की तरह किया जाता है, उदाहरण के लिए, लंदन में, निर्माणकार्य संबंधी सट्टे की वास्तविक चीज़ मकान नहीं, बल्कि किराया ज़मीन है, यह दूसरी पुस्तक, अध्याय १२ में* १८५७ की बैंक अधिनियम विषयक प्रवर समिति के सम्मुख एक बड़े निर्माण सट्टेबाज, एडवर्ड कैप्स द्वारा दिये साक्ष्य में पहले ही दिखाया जा चुका है। उन्होंने वहां, क्रमांक ५४३५ में कहा था: "मेरे ख़याल में जो आदमी दुनिया में ऊपर उठना चाहता है, वह खरे कारबार से ऊपर उठने की शायद ही आशा कर सकता है... उसके लिए उसमें सट्टे के वास्ते निर्माण किये जाने को शामिल करना ज़रूरी है और यह भी कोई छोटे पैमाने पर नहीं किया जाना चाहिए; कारण कि निर्माता ख़ुद इमारतों से तो बहुत कम मुनाफ़ा ही बनाता है; मुनाफ़े का असली हिस्सा वह ज़मीन के बढ़े किरायों से बनाता है। मान लीजिये कि वह ज़मीन का एक टुकड़ा ले लेता है और उसके लिए ३०० पाउंड सालाना देने को तैयार हो जाता है; उसका ध्यान से विभाजन करके और उस पर एक ख़ास तरह की इमारतें बनवाकर वह उससे ४०० या ४५० पाउंड सालाना बनाने में कामयाब हो सकता है, और उसका मुनाफ़ा १०० या १५० पाउंड सालाना का बढ़ा हुआ किराया ज़मीन होगा, न कि इमारतों पर मुनाफ़ा, जिसकी कई मामलों में तो वह अपेक्षा भी नहीं करता है।" और इसमें प्रसंगतः यह नहीं भूलना चाहिए कि पट्टे की समाप्ति के बाद, आम तौर पर ६६ वर्ष के अंत में, ज़मीन अपनी सारी इमारतों और अपने किराया ज़मीन के साथ, जो इस बीच आम तौर पर दो या तीन बार बढ़ चुका होता है, निर्माण सटोरिये या उसके क़ानूनी उत्तराधिकारी से लौटकर पहलेवाले आख़िरी भूस्वामी के पास आ जाती है।

---

[40] "लंदन की सड़कों पर पत्थर के खड़ंजे बिछाये जाने की बदौलत स्कॉटलैंड के तट पर कुछ ऐसी उजाड़ पथरीली जगहों के मालिकों के लिए उससे भी किराया पाना संभव हो गया है, जिससे पहले कभी कोई किराया नहीं मिला था।" A. Smith [*An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations*], Book I, Ch. XI, 2.

* 'पूंजी', हिन्दी संस्करण: खंड २, अध्याय १२, पृष्ठ २१०-११।—सं०

वास्तविक खनन किराये का निर्धारण बिलकुल उसी प्रकार होता है कि जिस प्रकार कृषि किराये का। "कुछ खदानें ऐसी होती हैं, जिनकी उपज श्रम की अदायगी करने और अपने सामान्य लाभ के साथ उनमें प्रयुक्त स्टाक की प्रतिस्थापना करने के लिए भी मुश्किल से ही काफ़ी होती है। वे उपक्रमी को कुछ लाभ दे सकती हैं, पर भूस्वामी को कोई किराया नहीं प्रदान करतीं। भूस्वामी के अलावा और कोई उन्हें लाभ से चला भी नहीं सकता, जो उपक्रमी होने के कारण उस पूंजी का सामान्य लाभ पा लेता है, जो वह उसमें इस्तेमाल करता है। स्कॉटलैंड में कई खदानों को इसी तरह से चलाया जाता है और उन्हें किसी और तरीक़े से चलाया भी नहीं जा सकता। भूस्वामी किसी और को उन्हें कुछ किराये के बिना चलाने नहीं देगा, और किराया कोई भी दे नहीं सकता।" (A.Smith, Book I, Ch. XI, 2.)

यह विभेद करना आवश्यक है कि आया कि किराया एकाधिकार दाम से उत्पन्न होता है, क्योंकि उत्पाद या जमीन का एकाधिकार दाम उससे निरपेक्षतः विद्यमान है, या उत्पाद इसलिए एकाधिकार दाम पर बिकते हैं कि किराये का अस्तित्व है। जब हम एकाधिकार दाम की बात करते हैं, तो हमारा आशय ऐसे सामान्य दाम से होता है, जो सामान्य उत्पादन दाम द्वारा तथा उत्पादों के मूल्य द्वारा भी निर्धारित दाम से निरपेक्ष केवल क्रेताओं की ख़रीदने की उत्सुकता और दाम देने की क्षमता द्वारा ही निर्धारित होता है। ऐसा द्राक्षोद्यान एकाधिकार दाम प्रदान करता है, जिसके अंगूर असाधारण कोटि की सुरा देते हैं, जिसे अपेक्षाकृत कम मात्रा में ही बनाया जा सकता है। द्राक्षोत्पादक इस एकाधिकार दाम से काफ़ी बेशी लाभ प्राप्त कर सकता है, जिसका उत्पाद के मूल्य पर आधिक्य पूर्णतः पारखी सुराप्रेमी के साधनों और चाव द्वारा ही निर्धारित होगा। एकाधिकार दाम से उत्पन्न होनेवाला यह बेशी लाभ किराये में परिवर्तित हो जाता है और भूमंडल के इस विशिष्ट गुणों से युक्त टुकड़े पर उसके स्वत्वाधिकार की बदौलत इस रूप में भूस्वामी के जेब में चला जाता है। अतः यहां किराये को एकाधिकार दाम उत्पन्न करता है। दूसरी ओर, अगर अनाज भू-संपत्ति द्वारा किराये की अदायगी के बिना अकृष्ट भूमि में पूंजी के निवेश पर लगायी गयी सीमाओं के कारण न केवल अपने उत्पादन दाम के ऊपर, बल्कि मूल्य के भी ऊपर बेचा जाता है, तो एकाधिकार दाम को किराया उत्पन्न करेगा। भूमंडल पर स्वत्व का कुछेक व्यक्तियों का अधिकार ही उन्हें समाज के बेशी श्रम का एक अंश, और वह भी उत्पादन के विकास के साथ उत्तरोत्तर बढ़ती मात्रा में अपने को ख़िराज के रूप में हस्तगत करने में समर्थ बनाता है, यह बात इस तथ्य द्वारा प्रच्छादित होती जाती है कि पूंजीकृत किराया, अर्थात वस्तुतः यह पूंजीकृत ख़िराज ही, ज़मीन के दाम की तरह प्रकट होता है, जिसे फलतः किसी भी अन्य वाणिज्यिक वस्तु की तरह बेचा जा सकता है। अतः ग्राहक यह अनुभव नहीं करता कि किराये पर उसका स्वत्वाधिकार निःशुल्क, और बिना श्रम, जोखिम और पूंजीपति की उद्यम भावना के प्राप्त किया जाता है, बल्कि यह समझता है कि उसने उसके लिए एक समतुल्य अदा किया है। जैसे कि पहले इंगित किया जा चुका है, ख़रीदार को किराया केवल उस पूंजी पर ब्याज जैसा प्रतीत होता है, जिससे उसने ज़मीन, और फलतः किराये पर अपने स्वत्वाधिकार को ख़रीदा है। इसी तरह से नीग्रो को ख़रीदनेवाला दास-स्वामी उसे अपनी संपत्ति समझता है, इसलिए नहीं कि दासत्व की संस्था ही उसे इस नीग्रो का अधिकार प्रदान कर देती है, बल्कि इसलिए कि उसने उसे क्रय-विक्रय के जरिये किसी भी अन्य माल की तरह प्राप्त किया है। किंतु स्वयं यह स्वत्वाधिकार विक्रय द्वारा केवल अंतरित किया जाता है, उत्पन्न नहीं किया जाता। इस स्वत्वाधिकार का उसके बेचे जाने के पहले अस्तित्वमान

होना आवश्यक है और विक्रयों की एक पूरी शृंखला पुनरावृत्ति द्वारा उसी प्रकार उसे उत्पन्न नहीं कर सकती कि जिस प्रकार एक अकेली बिक्री नहीं कर सकती है। उसे पहले जिस चीज़ ने उत्पन्न किया है, वह उत्पादन संबंध है। जैसे ही ये संबंध उस बिंदु पर पहुंच जाते हैं कि जहां उन्हें अपने आवरण को त्यागना पड़ता है, वैसे ही आर्थिक तथा ऐतिहासिक औचित्य प्राप्त और सामाजिक जीवन का सृजन करनेवाली प्रक्रिया से उद्भूत स्वत्वाधिकार का भौतिक स्रोत, उस पर आधारित सभी लेन-देनों के साथ, ध्वस्त हो जाता है। समाज के उच्चतर आर्थिक रूप के दृष्टिकोण से भूमंडल पर अलग-अलग व्यक्तियों का निजी स्वामित्व बिलकुल वैसे ही बेतुका प्रतीत होगा कि जैसे एक व्यक्ति पर दूसरे व्यक्ति का निजी स्वामित्व। एक सारा समाज, एक सारा राष्ट्र, अथवा एकसाथ विद्यमान सारे समाज भी समूचे तौर पर भूमंडल के स्वामी नहीं हैं। वे केवल उसके दख़ील, उसके भोगाधिकारी ही हैं, और boni patres familias [अच्छे कुलपतियों] की ही भांति उन्हें उसे सुधरी हुई हालत में बाद वाली पीढ़ियों को सौंपना चाहिए।

ज़मीन के दाम के आगामी विश्लेषण में हम प्रतिद्वंद्विता के सभी उतार-चढ़ावों को, ज़मीन की सारी सट्टेबाजी को और छोटी भू-संपत्ति को भी विचार के बाहर रहने दे रहे हैं, जिनमें भूमि उत्पादकों का मुख्य उपकरण है और फलतः जिसे उन्हें किसी भी दाम ख़रीदना ही होता है।

I. ज़मीन का दाम चढ़ सकता है, यद्यपि किराया नहीं चढ़ता, अर्थात :

१) महज़ ब्याज दर में गिरावट से, जिसके कारण किराया महंगा हो जाता है और इस तरह पूंजीकृत किराया, अथवा ज़मीन का दाम, चढ़ जाता है;

२) इसलिए कि ज़मीन में समाविष्ट पूंजी पर ब्याज चढ़ जाता है।

II. ज़मीन का दाम चढ़ सकता है, क्योंकि किराया चढ़ता है।

किराया इसलिए चढ़ सकता है कि ज़मीन के उत्पाद का दाम चढ़ जाता है, जिस सूरत में विभेदक किराया दर हमेशा चढ़ती है, चाहे निकृष्टतम कर्षित ज़मीन का किराया अधिक हो, कम हो, या सर्वथा न भी हो। दर से हमारा आशय बेशी मूल्य के किराये में परिवर्तित उस अंश के निवेशित पूंजी के साथ अनुपात से है, जो कृषि उत्पाद को उत्पादित करता है। यह बेशी उत्पाद के कुल उत्पाद के साथ अनुपात से भिन्न होता है, क्योंकि कुल उत्पाद में समस्त निवेशित पूंजी, अर्थात स्थायी पूंजी नहीं समाविष्ट होती, जो उत्पाद के साथ-साथ अस्तित्वमान रहती है। दूसरी ओर, यहां यह तथ्य आ जाता है कि विभेदक किराया प्रदान करनेवाली ज़मीनों पर उत्पाद का बढ़ता हुआ अंश बेशी उत्पाद के आधिक्य में रूपांतरित होता जाता है। निकृष्टतम ज़मीन के कृषि उत्पाद के दाम में वृद्धि पहले किराया और उसके द्वारा ज़मीन का दाम उत्पन्न करती है।

तथापि किराया कृषि उत्पाद के दाम में चढ़ाव के बिना भी बढ़ सकता है। यह दाम स्थिर रह सकता है, अथवा घट तक सकता है।

अगर दाम स्थिर रहता है, तो किराया केवल इस कारण बढ़ सकता है (एकाधिकार दामों को छोड़कर) कि पुरानी ज़मीनों में निवेशित पूंजी के बराबर ही पूंजी से बेहतर क़िस्म की नयी ज़मीनों को काश्त किया जाता है, लेकिन वे बस बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए ही काफ़ी पड़ती हैं, जिससे नियामक बाज़ार दाम अपरिवर्तित बना रहता है। इस प्रसंग में पुरानी ज़मीनों का दाम नहीं चढ़ता, किंतु नवकर्षित ज़मीनों का दाम पुरानी ज़मीनों के दाम के ऊपर चढ़ जाता है।

अथवा दूसरी ओर, किराया इसलिए चढ़ता है कि – यह मानते हुए कि सापेक्ष उत्पादिता और बाजार दाम वही रहते हैं – जमीन का समुपयोजन करनेवाली पूंजी की संहति बढ़ जाती है। यद्यपि किराया इस प्रकार निवेशित पूंजी की तुलना में उतना ही बना रहता है, फिर भी उसकी संहति, उदाहरण के लिए, दुगुनी हो जा सकती है, क्योंकि पूंजी स्वयं दुगुनी हो गयी है। चूंकि दाम में कोई गिरावट नहीं आयी है, इसलिए पूंजी का दूसरा निवेश पहले निवेश के समान ही बेशी लाभ प्रदान करता है, और वह भी पट्टे की समाप्ति के बाद उसी प्रकार किराये में रूपांतरित हो जाता है। यहां किराया संहति इसलिए बढ़ती है कि किराया पैदा करनेवाली पूंजी संहति बढ़ जाती है। यह दावा कि जमीन के उसी टुकड़े में पूंजी के विभिन्न आनुक्रमिक निवेश सिर्फ़ वहीं तक किराया प्रदान कर सकते हैं कि उपज भिन्न-भिन्न होती है, जिससे कि इस प्रकार विभेदक किराया पैदा हो जाता है, इस दावे में परिणत हो जाता है कि जब १,००० – १,००० पाउंड की दो पूंजियां समान उत्पादिता के दो खेतों में निवेशित की जाती हैं, तो चाहे दोनों ही खेत श्रेष्ठतर मृदा प्रकार के हैं, जो विभेदक किराया पैदा करता है उनमें से सिर्फ़ एक ही किराया उत्पन्न कर सकता है। (अतः, किराया संहति, किसी देश का कुल किराया, निवेशित पूंजी के साथ-साथ, जमीन के अलग-अलग टुकड़ों के दाम के, या किराया दर के, या जमीन के अलग-अलग टुकड़ों पर किराया संहति तक के अनिवार्यतः बढ़े बिना भी, बढ़ती है। इस प्रसंग में किराये का परिमाण कृषि के व्यापकतर क्षेत्र पर प्रसार के साथ बढ़ता है। यह अलग-अलग पट्टभूमियों पर किराये में कमी के साथ तक जुड़ा हो सकता है।) अन्यथा यह दावा दूसरे दावे पर ले जायेगा और वह यह कि अगल-बगल विद्यमान जमीन के दो भिन्न टुकड़ों में पूंजी का निवेश उसी टुकड़े में पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों से भिन्न नियमों का अनुगमन करता है, जबकि विभेदक किराया दोनों ही प्रसंगों में नियम की सर्वसमता से ही, उसी खेत में अथवा भिन्न-भिन्न खेतों में निवेशित पूंजी की बढ़ी हुई उत्पादिता से ही उत्पन्न होता है। यहां जो एकमात्र रूपांतर अस्तित्वमान है और जिसे अनदेखा कर दिया जाता है, वह यह है कि पूंजी के आनुक्रमिक निवेश जब जमीन के भिन्न-भिन्न टुकड़ों पर किये जाते हैं, तो उन्हें भू-संपत्ति के अवरोध का सामना करना पड़ता है, जो जमीन के उसी टुकड़े में पूंजी के आनुक्रमिक निवेशों के मामले में नहीं होता है। यही उन विरोधी प्रवृत्तियों का कारण है, जिससे निवेश के ये दोनों रूप व्यवहार में एक दूसरे को निरुद्ध करते हैं। पूंजी में कोई अंतर यहां कभी प्रकट नहीं होता। अगर पूंजी की संरचना और इसी प्रकार बेशी मूल्य दर वही रहती हैं, तो लाभ दर अपरिवर्तित रहती है, जिससे अगर पूंजी दुगुनी हो जाती है, तो लाभ संहति दुगुनी हो जाती है। इसी प्रकार किराया दर भी कल्पित अवस्थाओं के अंतर्गत उतनी ही रहती है। अगर १,००० पाउंड की पूंजी x किराया पैदा करती है, तो २,००० पाउंड की पूंजी कल्पित अवस्थाओं में २ x किराया पैदा करती है। लेकिन जमीन के क्षेत्रफल के संदर्भ में, जो अपरिवर्तित रहा है, क्योंकि हमारी कल्पना के अनुसार द्विगुणित पूंजी उसी खेत में काम करती है, परिकलित करने से किराये का स्तर भी उसकी संहति बढ़ने के फलस्वरूप बढ़ गया है। जो एकड़ पहले २ पाउंड किराया प्रदान करता था, वह अब ४ पाउंड प्रदान करता है।[41]

[41] यह रॉड्बेर्टस के, जिनकी किराये पर महत्वपूर्ण कृति [*Sociale Briefe an von Kirchmann, Dritter Brief: Widerlegung der Ricardo'schen Lehre von der Grund-*

बेशी मूल्य के एक अंश का, द्रव्यरूप किराये का – क्योंकि द्रव्य मूल्य की स्वतंत्र अभिव्यक्ति है – ज़मीन के साथ संबंध बज़ाते ख़ुद बेतुका और अयुक्त है; क्योंकि यहां जिन परिमाणों को एक दूसरे से मापा जाता है, वे अतुलनीय हैं – एक ओर, एक विशेष उपयोग मूल्य, इतने-इतने वर्ग फ़ुट का भूखंड, और दूसरी ओर, मूल्य, विशेषकर बेशी मूल्य। वास्तव में यह इसके सिवा और कुछ नहीं व्यक्त करता कि नियत अवस्थाओं के अंतर्गत इतने वर्ग फ़ुट ज़मीन का स्वामित्व भूस्वामी को अशोधित श्रम की एक ख़ास मात्रा ऐंठने में समर्थ बना देता है, जिसे उस पूंजी ने सिद्धिकृत किया है, जो इन वर्ग फ़ुटों में आलू में सूअर की तरह लोट रही है। [पांडुलिपि में यहां कोष्ठकों में लिखा और बाद में काटा हुआ नाम है "लिबिग।"] किंतु prima facie यह अभिव्यक्ति ऐसी ही है, मानो कोई पांच पाउंड के नोट के पृथ्वी के व्यास के साथ संबंध की बात करना चाह रहा हो। तथापि, कुछेक आर्थिक संबंध जिन अयुक्तिसंगत रूपों में प्रकट होते और व्यवहार में अपने को स्थापित करते हैं, उनके समाधान से इन संबंधों के सक्रिय अभिकर्ताओं का अपने दैनंदिन जीवन में कोई सरोकार नहीं है। और चूंकि वे इन्हीं संबंधों में चलने-फिरने के आदी हैं, इसलिए उन्हें उसमें अजीब कुछ भी नहीं लगता है। पूर्णतम अंतर्विरोध में भी उनके लिए रहस्यमय कुछ भी नहीं है। ऐसी अभिव्यक्तियों में, जो अपने आंतरिक संबंधों से वियुक्त हैं और जिन्हें अगर अपने में अलग से लिया जाये, तो बेतुकी हैं, वे बिलकुल ऐसा ही सहज अनुभव करते हैं, जैसे पानी में मछली। यहां वह बात लागू होती है, जो हेगेल कुछेक गणितीय सूत्रों के संदर्भ में कहते हैं: सामान्य सहज बोध को जो अयुक्तिसंगत प्रतीत होता है, वह युक्तिसंगत है, और जो उसे युक्तिसंगत प्रतीत होता है, वह स्वयं अयुक्तिसंगत है।*

इस प्रकार, किराया संहति में चढ़ाव को अगर स्वयं ज़मीन के क्षेत्रफल के संदर्भ में लिया जाये, तो वह उसी प्रकार व्यक्त होता है कि जैसे किराया दर में चढ़ाव, और इसी से उस समय उलझन पैदा होती है कि जो अवस्थाएं एक सूरत की व्याख्या कर सकती हैं, वे दूसरी सूरत में अविद्यमान होती हैं।

---

rente und Begründung einer neuen Rententheorie, Berlin, 1851. – सं०] की चर्चा हम चौथी पुस्तक [अर्थात *Theorien über den Mehrwert*, K. Marx/F. Engels, *Werke*, Band 26, 2. Teil, S. 7-102, 139-51.– सं०] में करेंगे, नेक कामों में एक है कि उन्होंने इस विषय को विकसित किया है। लेकिन वह सिर्फ़ यह ग़लती करते हैं कि एक तो यह मान लेते हैं कि पूंजी के संदर्भ में लाभ में वृद्धि सदा पूंजी में वृद्धि द्वारा व्यक्त होती है, जिससे लाभ संहति के बढ़ने पर अनुपात वही रहता है। लेकिन यह ग़लत है, क्योंकि पूंजी की बदली हुई संरचना के साथ लाभ दर बढ़ सकती है, चाहे श्रम का दोहन उतना ही बना रहे, ठीक इसलिए कि पूंजी के परिवर्ती अंश की तुलना में उसके स्थिर अंश का समानुपाती मूल्य गिर जाता है। दूसरे, वह द्रव्यरूप किराये के ज़मीन के मात्रात्मक रूप में निश्चित टुकड़े, मसलन एक एकड़ के साथ अनुपात को लेने की ग़लती करते हैं, मानो वह किराये के उतार या चढ़ाव के विश्लेषण में क्लासिकी अर्थशास्त्र की सामान्य आधारिका रही हो। यह भी ग़लत है। क्लासिकी अर्थशास्त्र, जहां तक वह किराये का अपने नैसर्गिक रूप में विवेचन करता है, किराया दर को हमेशा उत्पाद के संदर्भ में, और जहां तक वह किराये का द्रव्यरूप किराये के नाते विवेचन करता है, हमेशा पेशगी पूंजी के संदर्भ में लेता है, क्योंकि वास्तव में ये ही उसकी तर्कसंगत अभिव्यक्तियां हैं।

* Hegel, *Encyclopädie der philosophischen Wissenschaften in Grundrisse*, 1. Teil, *Die Logik*. In: *Werke*, Band 6, Berlin, 1840, S. 404.– सं०

लेकिन ज़मीन का दाम उस समय भी चढ़ सकता है कि चाहे कृषि उत्पाद का दाम घटता हो।

इस प्रसंग में विभेदक किराया, और उसके साथ बेहतर ज़मीनों का दाम, और विभेदीकरणों के कारण चढ़ सकता है। अथवा, अगर बात यह नहीं है, तो कृषि उत्पाद का दाम अधिक श्रम उत्पादिता की बदौलत गिर सकता है, लेकिन इस तरह से कि वर्धित उत्पादन से उसका पूरी तरह प्रतिसंतुलन हो जाता है। मान लीजिये कि एक क्वार्टर का दाम ६० शिलिंग है। अब अगर वही एकड़, उतनी ही पूंजी से एक के बजाय दो क्वार्टर पैदा कर दे, और एक क्वार्टर का दाम गिरकर ४० शिलिंग हो जाये, तो दो क्वार्टरों का दाम ८० शिलिंग हो जायेगा, जिससे उसी एकड़ में निवेशित उसी पूंजी का मूल्य प्रति क्वार्टर दाम में एक तिहाई गिरावट के बावजूद एक तिहाई अधिक हो जायेगा। उत्पाद को उसके उत्पादन दाम के ऊपर या उसके मूल्य के ऊपर बेचे बिना यह कैसे संभव हो सकता है, यह विभेदक किराये के विश्लेषण में निरूपित किया जा चुका है। वास्तव में यह केवल दो प्रकार से हो सकता है। या तो ख़राब ज़मीन प्रतिद्वंद्विता के बाहर है, मगर बेहतर ज़मीन का दाम विभेदक किराये के साथ बढ़ता जाता है, अर्थात सामान्य सुधार विभिन्न मृदा प्रकारों को अलग-अलग तरह से प्रभावित करता है। या वही उत्पादन दाम (और अगर निरपेक्ष किराया दिया जाता है, तो वही मूल्य) अपने को श्रम उत्पादिता के अधिक हो जाने पर निकृष्टतम ज़मीन पर उत्पादों की अधिक बड़ी संहति के ज़रिये व्यक्त करता है। उत्पाद उतने ही मूल्य को प्रकट करता है कि जितने को पहले करता था, लेकिन उसके संखंडों का दाम गिर गया है, जबकि उनकी संख्या बढ़ गयी है। अगर उसी पूंजी को नियोजित किया जाता है, तो यह असंभव है, क्योंकि इस प्रसंग में वही मूल्य अपने को हमेशा उत्पाद के किसी भी अंश के ज़रिये व्यक्त करता है। लेकिन अगर जिप्सम, ग्वानो, आदि पर, अर्थात ऐसे सुधारों पर, जिनका प्रभाव कई वर्षों तक बना रहता है, अतिरिक्त पूंजी ख़र्च की गयी है, तो यह संभव है। शर्त यह है कि एक अलग क्वार्टर का दाम गिरता है, लेकिन उसी हद तक नहीं कि जिस हद तक क्वार्टरों की संख्या बढ़ती है।

III. ये विभिन्न अवस्थाएं, जिनके अंतर्गत किराया, और उसके साथ सामान्यतः ज़मीन का दाम, अथवा ज़मीन के विशेष प्रकारों का दाम चढ़ सकता है, अंशतः एक दूसरे से प्रतियोगिता कर सकती हैं, अथवा अंशतः एक दूसरे को बहिष्कृत कर सकती हैं और सिर्फ़ बारी-बारी से ही कार्य कर सकती हैं। लेकिन पूर्वोल्लिखित से यह निष्कर्ष निकलता है कि ज़मीन के दाम में चढ़ाव का परिणाम अनिवार्यतः किराये में भी चढ़ाव को द्योतित नहीं करता, अथवा किराये में चढ़ाव, जो अपने साथ सदा ज़मीन के दाम में चढ़ाव लाता है, कृषि उत्पाद में वृद्धि पर अनिवार्यतः आश्रित नहीं है।[42]

मिट्टी के उर्वरताहरण की तरफ़ ले जानेवाले वास्तविक नैसर्गिक कारणों के मूलस्रोत तक जाने के बजाय, जो प्रसंगतः विभेदक किराये पर लिखनेवाले सभी अर्थशास्त्रियों को उनके समय कृषिरसायन के स्तर के कारण अज्ञात थे, इस संकीर्ण धारणा को झटपट लपक लिया गया कि ज़मीन के एक सीमित क्षेत्र में पूंजी की कितनी भी मात्रा नहीं निवेशित की जा सकती है; जैसे,

---

[42] किराया चढ़ने की सूरत में ज़मीन के दाम में वास्तविक गिरावट के बारे में पासी की कृति देखें।

उदाहरण के लिए, रिचर्ड जोन्स के ख़िलाफ़ *Edinburgh Review** ने दलील दी थी कि सोहो स्क्वायर को काश्त करके सारे इंगलैंड का पेट नहीं भरा जा सकता है। अगर इसे कृषि की कोई विशेष असुविधा समझा जाता है, तो बात इसकी सर्वथा उलटी ही सही है। यहां पूंजी को लगातार फलदायी परिणामों के साथ निवेशित करना संभव है, क्योंकि ज़मीन स्वयं एक उत्पादन साधन का काम करती है, जो कारख़ाने के मामले में नहीं होता, या किसी हद तक ही सही होता है, क्योंकि वह सिर्फ़ आधार का, कारबार की बुनियाद प्रदान करनेवाली जगह और स्थान का ही काम देती है। यह सही है कि बिखरे हुए हस्तशिल्पों की तुलना में बड़े पैमाने का उद्योग कहीं अधिक उत्पादन को एक छोटे से क्षेत्र में संकेंद्रित कर सकता है। फिर भी उत्पादिता के किसी भी नियत स्तर पर जगह की एक निश्चित मात्रा की हमेशा ही आवश्यकता होती है, और ऊंची इमारतों के निर्माण की भी अपनी व्यावहारिक परिसीमाएं होती हैं। उत्पादन का इसके आगे कोई प्रसार भी भूक्षेत्र के विस्तार की अपेक्षा करता है। मशीनरी, आदि में निवेशित स्थायी पूंजी उपयोग के ज़रिये सुधरती नहीं, बल्कि इसके विपरीत, छीजती ही है। नये आविष्कारों से बेशक इस लिहाज़ से कुछ सुधार संभव है, लेकिन उत्पादक शक्ति में कोई भी प्रगति होने पर मशीनें तो फिर भी हमेशा अनिवार्यतः ख़राब होती ही जायेंगी। अगर उत्पादिता तेज़ी से विकसित होती जाती है, तो सारी पुरानी मशीनरी की अधिक लाभदायी मशीनरी से प्रतिस्थापना करना होती है, दूसरे शब्दों में, वह व्यर्थ हो जाती है। लेकिन ज़मीन को अगर ढंग से उपचारित किया जाये, तो वह लगातार सुधरती रहती है। ज़मीन के इस सुलाभ में कि उसमें पुराने निवेशों को खोये बिना अतिलाभ पाने के लिए पूंजी के आनुक्रमिक निवेश किये जा सकते हैं, पूंजी के इन आनुक्रमिक निवेशों से प्राप्ति में अंतरों की संभावना सन्निहित है।

---

* Tome LIV, August-December, 1831, pp. 94-95. – सं०

अध्याय ४७

पूंजीवादी किराया ज़मीन की उत्पत्ति

१. प्रास्ताविक टिप्पणियां

अपने दिमाग़ में यह साफ़ कर लेना आवश्यक है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की सैद्धांतिक अभिव्यक्ति के नाते आधुनिक अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से किराया ज़मीन का विश्लेषण करने में वास्तविक कठिनाई किस बात में है। बहुत से आधुनिक लेखकों ने भी इसे अभी पूरी तरह से नहीं समझा है, जैसे किराया ज़मीन की "नये ढंग से" व्याख्या करने के हर नये प्रयास से प्रकट होता है। नवीनता लगभग निरपवाद रूप में कभी के कालातीत विचारों की तरफ़ प्रत्यावर्तन में ही होती है। कठिनाई कृषि पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी उत्पाद और सामान्यत: उसके अनुरूप बेशी मूल्य की व्याख्या करना नहीं है। यह प्रश्न समस्त उत्पादक पूंजी द्वारा, वह चाहे किसी भी क्षेत्र में निवेशित हो, उत्पादित बेशी मूल्य के विश्लेषण में हल हो जाता है। बल्कि कठिनाई यह दर्शाने में है कि बेशी मूल्य के विभिन्न पूंजियों में औसत लाभ पर सम-करण के बाद, सामाजिक पूंजी द्वारा सभी उत्पादन क्षेत्रों में उत्पादित कुल बेशी मूल्य का विभिन्न पूंजियों में उनके सापेक्ष आकार के यथानुपात बंटवारा हो जाने के बाद, बेशी मूल्य के उस आधिक्य का स्रोत क्या है, जो ज़मीन में निवेशित पूंजी द्वारा भूस्वामी को किराये के रूप में दिया जाता है; दूसरे शब्दों में, कठिनाई इस समकरण के और उस सारे बेशी मूल्य के, जो सामान्यत: वितरित होता है, प्रत्यक्षत: पहले ही संपूर्ण हो चुके वितरण के बाद वाले स्रोत को दर्शाने में है। उन व्यावहारिक कारणों को सर्वथा अलग भी रहने दिया जाये, जिन्होंने आधुनिक अर्थशास्त्रियों को भू-संपत्ति के विरुद्ध औद्योगिक पूंजी के प्रवक्ताओं के नाते इस प्रश्न का अन्वेषण करने को प्रेरित किया – जिन्हें हम किराया ज़मीन के इतिहास विषयक अध्याय में अधिक स्पष्टतापूर्वक दिखलायेंगे – सिद्धांतकारों के नाते भी यह प्रश्न उनके लिए सर्वोच्च रुचि का था। यह स्वीकार करना कि कृषि में निवेशित पूंजी के लिए किराये का आविर्भाव स्वयं निवेश क्षेत्र द्वारा उत्पन्न किसी विशेष प्रभाव के कारण, स्वयं भू-पर्पटी के विशिष्ट गुणों के कारण है, अपने में मूल्य की संकल्पना को तज देने के बराबर, इस प्रकार इस क्षेत्र की वैज्ञानिक समझ पाने की ओर लक्षित सभी प्रयासों को त्याग देने के बराबर है। इस सहज बात तक ने कि किराया कृषि उपज के दाम से दिया जाता है – जो उस हालत में भी होता है कि जब वह जिंसरूप में दिया जाता है, क्योंकि काश्तकार को अपना उत्पादन दाम निकालना होता है – इस दाम के सामान्य उत्पादन दाम पर आधिक्य की व्याख्या करने के, दूसरे शब्दों में, उत्पादन की अन्य शाखाओं की उत्पादिता पर कृषि उत्पादन की नैसर्गिक उत्पादिता के आधिक्य के आधार पर कृषि उत्पादों के सापेक्ष महंगेपन की व्याख्या करने के प्रयास के बेतुकेपन को दिख-

लाया था। कारण कि सही इसका उलट ही है: श्रम जितना ही अधिक उत्पादक होता है, उसके उत्पाद का प्रत्येक संखंड उतना ही अधिक सस्ता होता है, क्योंकि श्रम की उतनी ही मात्रा, अर्थात उतने ही मूल्य को समाविष्ट करनेवाले उपयोग मूल्यों की संहति उतना ही अधिक होती है।

अतः, किराये का विश्लेषण करने में सारी कठिनाई कृषि लाभ के औसत लाभ पर आधिक्य की, बेशी मूल्य की नहीं, बल्कि इस उत्पादन क्षेत्र के लाक्षणिक बेशी मूल्य के आधिक्य की, दूसरे शब्दों में, "निवल उत्पाद" की नहीं, बल्कि उद्योग की अन्य शाखाओं के निवल उत्पाद पर इस निवल उत्पाद के आधिक्य की व्याख्या करने में है। स्वयं औसत लाभ सामाजिक प्रक्रियाओं की गति द्वारा अत्यंत सुनिश्चित ऐतिहासिक उत्पादन संबंधों के अंतर्गत उत्पन्न उत्पाद है, ऐसा उत्पाद कि जिसके लिए, जैसे हम देख चुके हैं, अत्यधिक जटिल समंजन आवश्यक होता है। औसत लाभ पर बेशी की बात भी कर पाने के लिए यह आवश्यक है कि यह औसत लाभ पहले ही सामान्यतः उत्पादन के मानक तथा नियामक के रूप में स्थापित हो चुका हो, जैसा पूंजीवादी उत्पादन के अंतर्गत है। अतः ऐसी सामाजिक व्यवस्थाओं में, जिनमें यह पूंजी नहीं है कि जो सारे बेशी श्रम को प्रवर्तित करने और सारे बेशी मूल्य को प्रत्यक्षतः हड़पने के कार्य को संपादित करती है, और अतः जिनमें पूंजी ने सामाजिक श्रम को अभी पूर्णतः अपने नियंत्रण में नहीं लिया है, या सिर्फ़ कहीं-कहीं ही लिया है, किराये की, ऐसे किराये की आधुनिक अर्थ में बात भी नहीं हो सकती, जो औसत लाभ पर, अर्थात कुल सामाजिक पूंजी द्वारा उत्पादित बेशी मूल्य में प्रत्येक व्यष्टिक पूंजी के समानुपाती अंश पर बेशी होता है। जब, उदाहरण के लिए, पासी (नीचे देखें) जैसा कोई व्यक्ति आदिम समाज में किराये की लाभ पर बेशी* – बेशी मूल्य के एक इतिहासतः निर्धारित रूप पर बेशी – की तरह बात करता है, किंतु पासी के अनुसार, जिस रूप का समाज के लगभग सर्वथा न होने पर भी अस्तित्व हो सकता है, तो यह बात बस उनके भोलेपन को ही प्रतिबिंबित करती है।

पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियों के लिए, जिन्होंने सामान्यतः पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का विश्लेषण करना सिर्फ़ शुरू ही किया था, जो उनके समय में अभी अविकसित ही थी, किराये का विश्लेषण या तो बिलकुल ही कोई कठिनाई नहीं पेश करता, या सर्वथा दूसरे ही प्रकार की कठिनाई पेश करता है। पैटी, कैंतिलों, तथा सामान्यतः वे लेखक, जो सामंती युग के अधिक निकट हैं, किराया जमीन को सामान्यतः बेशी मूल्य का सामान्य रूप समझते हैं,** जबकि लाभ उनके लिए अब भी मजदूरी के साथ अनियत रूप में जुड़ा हुआ है, या हद से हद पूंजीपति द्वारा भूस्वामी से ऐंठे गये बेशी मूल्य का एक अंश ही प्रतीत होता है। इस प्रकार ये लेखक एक ऐसी स्थिति को अपना प्रस्थान बिंदु मानते हैं, जिसमें, पहले तो, खेतिहर आबादी अब भी राष्ट्र का विपुल बहुलांश है, और दूसरे, भूस्वामी अब भी उस व्यक्ति की तरह सामने आता है, जो भू-संपत्ति के अपने एकाधिकार की बदौलत प्रत्यक्ष उत्पादकों के बेशी श्रम का सीधे

---

* Passy, *Rente du sol*, In: *Dictionnaire de l'économie politique*, Tome II, Paris, 1854, p. 511. – सं०

** [Petty], *A Treatise of Taxes and Contributions*, London, 1667, pp. 23-24; [Richard Cantillon] *Essai sur la nature du commerce en général*, Amsterdam, 1756. – सं०

हस्तगतकरण करता है, फलतः भू-संपत्ति जिसमें अब भी उत्पादन की मुख्य अवस्था की तरह प्रकट होती है। इन लेखकों के लिए ऐसा सवाल अभी नहीं पेश किया जा सकता था, जो विलोमतः पूंजीवादी उत्पादन के दृष्टिकोण से इसका अन्वेषण करने की ओर लक्षित होता है कि भू-संपत्ति पूंजी से उसके द्वारा उत्पादित (अर्थात उसके द्वारा प्रत्यक्ष उत्पादकों से झटके गये) और पहले ही प्रत्यक्षतः हस्तगत बेशी मूल्य के एक अंश को कैसे वापस छीन लेती है।

प्रकृतितंत्रवादियों को दूसरे ही प्रकार की कठिनाइयां परेशान करती हैं। पूंजी के वस्तुतः पहले बाक़ायदा प्रवक्ताओं के नाते वे सामान्यतः बेशी मूल्य के स्वरूप का विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं। उनके लिए यह विश्लेषण किराये के, जो बेशी मूल्य का वह एकमात्र रूप है, जिसे वे मानते हैं, विश्लेषण के साथ मेल खाता है। अतः वे किरायादायी अथवा कृषि पूंजी को बेशी मूल्य उत्पादित करनेवाली एकमात्र पूंजी, और उसके द्वारा गतिमान किये जानेवाले कृषि श्रम को, जिसे पूंजीवादी दृष्टिकोण से बिल्कुल सही ही एकमात्र उत्पादक श्रम माना जाता है, बेशी मूल्य उत्पादित करनेवाला एकमात्र श्रम समझते हैं। बेशी मूल्य के सृजन को निर्णायक मानने में वे बिलकुल सही हैं। दूसरी अच्छाइयों के अलावा, जिनकी चौथी पुस्तक में चर्चा की जायेगी, वे मुख्यतः इसलिए श्रेय के पात्र हैं कि वे वाणिज्यिक प्रणाली के विपरीत, जो अपने भोंडे यथार्थवाद के साथ उस काल का वास्तविक अप्रामाणिक – प्रचलित – अर्थशास्त्र है, जिसके अपने व्यावहारिक हितों के आगे पैटी तथा उनके उत्तरवर्तियों द्वारा किये प्रारंभिक वैज्ञानिक विश्लेषण को पृष्ठभूमि में धकेल दिया जाता है, व्यापारी पूंजी से, जो केवल परिचलन क्षेत्र में ही कार्य करती है, उत्पादक पूंजी पर लौट आते हैं। प्रसंगतः, वाणिज्यिक प्रणाली की इस मीमांसा में केवल उसकी पूंजी तथा बेशी मूल्य की संकल्पनाओं को ही लिया गया है। यह पहले ही दिखलाया जा चुका है कि मुद्रा प्रणाली विश्व मंडी के लिए उत्पादन तथा पैदावार के जिंसों में और इस प्रकार द्रव्य में रूपांतरण को पूंजीवादी उत्पादन की पूर्वापेक्षा और शर्त ठीक ही घोषित करती है। इस प्रणाली के वाणिज्यिक प्रणाली में और विकास में निर्णायक पण्य मूल्य का द्रव्य में रूपांतरण नहीं, बल्कि बेशी मूल्य का सृजन है,– लेकिन परिचलन क्षेत्र के निरर्थक दृष्टिकोण से और, साथ ही, इस तरह से कि इस बेशी मूल्य को बेशी द्रव्य की तरह, व्यापार शेष के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। लेकिन साथ ही, उस समय के संबद्ध व्यापारियों तथा कारखानेदारों का चारित्रिक लक्षण, जो पूंजीवादी विकास की उनके द्वारा प्रतिनिधित मंज़िल के अनुरूप ही है, यह है कि सामंती खेतिहर समाजों का औद्योगिक समाजों में रूपांतरण और विश्व मंडी में राष्ट्रों का तदनुरूप औद्योगिक संघर्ष पूंजी के त्वरित विकास पर निर्भर करता है, जो तथाकथित नैसर्गिक पथ से नहीं, बल्कि निग्रही उपायों से ही प्राप्त किया जा सकता है। इसमें बहुत भारी अंतर है कि राष्ट्रीय पूंजी क्रमशः और धीरे-धीरे औद्योगिक पूंजी में रूपांतरित होती है, या इस विकास को संरक्षी शुल्कों के ज़रिये मुख्यतः भूस्वामियों, मझोले तथा छोटे काश्तकारों और दस्तकारों पर स्वतंत्र प्रत्यक्ष उत्पादकों के त्वरित स्वत्वहरण के अभिप्राय से एक कर के द्वारा और पूंजी के घोर त्वरित संचयन तथा संकेंद्रण के ज़रिये, संक्षेप में, पूंजीवादी उत्पादन की अवस्थाओं की त्वरित स्थापना के ज़रिये त्वरित किया जाता है। इससे साथ ही नैसर्गिक राष्ट्रीय उत्पादक शक्ति के पूंजीवादी तथा औद्योगिक समुपयोजन में ज़बरदस्त अंतर आता है। अतः वाणिज्यिक प्रणाली का राष्ट्रीय स्वरूप उसके पैरोकारों के लबों का कोई कोरा मुहावरा ही नहीं है। केवल राष्ट्र की संपदा और राज्य के संसाधनों की सुचिंता के बहाने की आड़ में वे व्यवहार में पूंजीपति वर्ग के हितों और सामान्यतः धन के संचयन को राज्य का

चरम लक्ष्य बताते हैं और इस प्रकार पुराने दैवी राज्य के स्थान पर बूर्जुआ समाज की उद्-घोषणा करते हैं। लेकिन साथ ही उन्हें इसकी पूरी चेतना है कि पूंजी तथा पूंजीपति वर्ग के हितों का, पूंजीवादी उत्पादन का विकास ही आधुनिक समाज में राष्ट्रीय शक्ति और राष्ट्रीय प्रभुत्व का आधार है।

इसके अलावा, प्रकृतितंत्रवादियों का यह कहना सही है कि बेशी मूल्य के समस्त उत्पादन, और इस प्रकार पूंजी के सारे विकास का नैसर्गिक आधार वास्तव में कृषि श्रम की उत्पादनशीलता ही है। अगर मनुष्य एक कार्य दिवस में उससे अधिक निर्वाह साधन और इस-लिए, यथार्थतम अर्थों में, उससे अधिक कृषि उत्पाद उत्पादित करने में समर्थ न हुआ होता, जितने की कि हर श्रमिक को स्वयं अपने पुनरुत्पादन के लिए ज़रूरत होती है, अगर उसकी सारी श्रम शक्ति का दैनिक व्यय केवल उसकी अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए अपरि-हार्य निर्वाह साधन पैदा करने को ही काफ़ी होता, तो बेशी उत्पाद, अथवा बेशी मूल्य की हरगिज़ बात भी नहीं की जा सकती थी। श्रमिक की व्यक्तिगत आवश्यकता से अधिक कृषि श्रम उत्पादिता सभी समाजों का आधार है, और सर्वोपरि पूंजीवादी उत्पादन का आधार है, जो समाज के निरंतर अधिकाधिक अंश को बुनियादी खाद्य पदार्थों के उत्पादन से अलग करता जाता है और, स्टूअर्ट के शब्दों में, उसे "खाली हाथों" में रूपांतरित करके* अन्य क्षेत्रों में दोहन के लिए उपलब्ध करता जाता है।

लेकिन दैर, पासी, आदि जैसे अर्थशास्त्र पर अधिक हाल के लेखकों के बारे में क्या कहा जाये, जो क्लासिकी अर्थशास्त्र के क्षय काल में, वस्तुतः उसकी अंतिम घड़ी में, बेशी श्रम की नैसर्गिक अवस्थाओं और इस प्रकार सामान्यतः बेशी मूल्य के बारे में घोर पुरातन संकल्पनाओं की ही रट लगाते हैं और जो यह समझते हैं कि इस तरह वे किराया ज़मीन के बारे में – इस किराया ज़मीन के बेशी मूल्य के एक विशेष रूप की तरह अन्वेषित होने और उसके एक विशिष्ट अंश की तरह स्थापित होने के बहुत बाद – कोई बहुत ही नयी और चमत्कारी प्रति-पादना कर रहे हैं? ** अप्रामाणिक अर्थशास्त्र का यह एक विशेष अभिलक्षण है कि विकास की एक विशिष्ट अधिवृद्ध मंज़िल में जो नूतन, मौलिक, गहन तथा उचित था, उसे वह उस युग में प्रतिध्वनित करता है कि जब वह घिसा-पिटा, बासी और मिथ्या हो चुका होता है। इस प्रकार क्लासिकी अर्थशास्त्र का जिन समस्याओं से वास्ता था, यह उनसे अपनी पूर्ण अनभिज्ञता को स्वीकार करता है। यह उन्हें ऐसे सवालों के साथ उलझा देता है कि जो बूर्जुआ समाज के विकास के केवल निम्नतर स्तर पर ही पेश किये जा सकते थे। मुक्त व्यापार विषयक प्रकृतितंत्र-वादी सूक्तियों की उसकी निरंतर और आत्मसंतोषमय जुगाली पर भी यही बात लागू होती है। ये सूक्तियां अपने समस्त सैद्धांतिक महत्व को कभी का गंवा चुकी हैं, चाहे वे इस या उस राज्य के कितने भी व्यावहारिक ध्यान को क्यों न आकर्षित करती हों।

वास्तविक नैसर्गिक अर्थव्यवस्था में, जिसमें परिचलन प्रक्रिया में कृषि उत्पाद का कोई भाग प्रवेश नहीं करता है, या अत्यंत नगण्य अंश ही प्रवेश करता है, और वह भी उत्पाद

---

* J. Steuart, *An Inquiry into the Principles of Political Economy*, Vol. I, Dub-lin, 1770, p. 396. – सं०

** Daire, *Introduction*. In: *Physiocrats*, 1. Teil, Paris, 1846; Passy, *Rente du sol*, In: *Dictionnaire de l'économie politique*, Tome II, Paris, 1854, p. 511. – सं०

के उस भाग का सापेक्षतया छोटा सा अंश ही कि जो भूस्वामी की आय को द्योतित करता है, जैसे, उदाहरण के लिए, अनेक रोमन लतीफ़ुंदियों और शार्लमान के विलाओं में, या सारे मध्य युग में कमोबेश था (देखिये Vincard, *Histoire du travail*), बड़ी जायदादों का उत्पाद तथा बेशी उत्पाद किसी भी प्रकार केवल कृषि श्रम का उत्पाद ही नहीं होता है। उसमें औद्योगिक श्रम के उत्पाद भी होते हैं। कृषि के, जो बुनियाद है, सहायक धंधों के नाते घरेलू हस्तशिल्प और मैनुफ़ेक्चरिंग श्रम उस उत्पादन प्रणाली की पूर्वापेक्षाएं हैं, जिस पर नैसर्गिक अर्थव्यवस्था – जैसे प्राचीनकालीन तथा मध्ययुगीन यूरोप में, वैसे ही समकालीन भारतीय समुदाय में भी, जिसमें पारंपरिक संगठन अभी तक नष्ट नहीं हुआ है – आधारित है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली इस संबंध को पूर्णतः समाप्त कर देती है; जो प्रक्रिया विशेषकर इंगलैंड में अठारहवीं सदी की आख़िरी तिहाई में बड़े पैमाने पर देखी जा सकती है। हेरेनश्वांड जैसे विचारक, जो न्यूनाधिक सामंती समाजों में बड़े हुए थे, अब भी, मसलन, अठारहवीं सदी के ठेठ अंत में भी, मैनुफ़ेक्चर के कृषि से इस पृथक्करण को एक दुःसाहसिक सामाजिक मुहिमबाज़ी, एक अकल्पनीय रूप से जोखिमभरी जीवन प्रणाली समझते हैं। और पूंजीवादी कृषि से अधिकतम सादृश्य प्रदर्शित करनेवाली प्राचीनकालीन कृषि अर्थव्यवस्थाओं, यथा कार्थेज और रोम में भी बाग़ान अर्थव्यवस्था से समानता वस्तुतः पूंजीवादी शोषण प्रणाली के अनुरूप रूप से समानता की अपेक्षा अधिक है।[42a] ऐसा औपचारिक सादृश्य – लेकिन जो, साथ ही, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से परिचित हर व्यक्ति के लिए, जो श्री मोमज़न[43] की तरह हर ही मुद्रा अर्थव्यवस्था में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली नहीं खोज निकालता है, सभी तात्विक बातों में पूर्णतः भ्रामक सिद्ध होता है, – प्राचीन काल में महाद्वीपीय इटली में तो हरगिज़ नहीं, बल्कि हद से हद सिर्फ़ सिसली में ही पाया जा सकता है, क्योंकि यह टापू इटली के लिए एक कृषि करदाता के समान था, जिसके परिणामस्वरूप उसकी कृषि मुख्यतः निर्यात की ओर लक्षित थी। वहां आधुनिक अर्थों में फ़ार्मर विद्यमान थे।

किराये की प्रकृति की भ्रांत संकल्पना इस तथ्य पर आधारित है कि जिंसरूप किराये को कुछ तो चर्च को दिये जानेवाले धर्मशुल्कों के रूप में और कुछ चिरस्थापित संविदाओं द्वारा बनाये रखे गये एक अजूबे के रूप में मध्य युग की नैसर्गिक अर्थव्यवस्था से पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की अवस्थाओं की पूर्ण विसंगति में आधुनिक समय में घसीट लाया गया है। इससे यह छाप पैदा हो जाती है कि किराया कृषि उत्पाद के दाम से नहीं, बल्कि उसकी संहति से,

---

[42a] ऐडम स्मिथ इस पर ज़ोर देते हैं कि किस प्रकार उनके समय में (और यह बात हमारे समय में उष्णकटिबंधीय तथा उपोष्णकटिबंधीय देशों में बाग़ानों पर भी लागू होती है) किराया और लाभ अभी एक दूसरे से विलग नहीं हुए थे [Smith, *An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations*, Aberdeen, London, 1848, p. 44.– – सं०], क्योंकि भूस्वामी साथ ही पूंजीपति भी होता था, जैसे, उदाहरण के लिए, कातो अपनी जायदादों पर था। लेकिन यह पृथक्करण ही वस्तुतः पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की पूर्वापेक्षा है, दासप्रथा का आधार जिसकी अवधारणा के भी प्रत्यक्ष विरोध में है।

[43] श्री मोमज़न अपने 'रोमन इतिहास' में पूंजीपति शब्द का आधुनिक अर्थशास्त्र तथा आधुनिक समाज द्वारा प्रयुक्त अर्थों में हरगिज़ उपयोग नहीं करते हैं, बल्कि उस प्रचलित अर्थ में करते हैं, जो यद्यपि इंगलैंड या अमरीका में तो नहीं, पर फिर भी यूरोपीय महाद्वीप पर विगत अवस्थाओं को प्रतिबिंबित करनेवाली एक प्राचीन परंपरा के रूप में अब भी चलन में है।

सामाजिक अवस्थाओं से नहीं, बल्कि भूमि से उत्पन्न होता है। हम पहले दिखला चुके हैं कि यद्यपि बेशी मूल्य की अभिव्यक्ति बेशी उत्पाद में होती है, पर विलोमतः यह सही नहीं कि बेशी उत्पाद, जो उत्पाद की संहति में बस वृद्धि को ही प्रकट करता है, हमेशा बेशी मूल्य को ही अभिव्यक्त करता है। वह मूल्य में एक ऋण परिमाण व्यक्त कर सकता है। अन्यथा १८४० की तुलना में १८६० का सूती उद्योग भारी बेशी मूल्य दर्शाता, जबकि सूत का दाम उलटे गिर ही गया है। लगातार फ़सलें मारी जाने के परिणामस्वरूप किराया बेहद बढ़ सकता है, क्योंकि अनाज का दाम चढ़ जाता है, यद्यपि यह बेशी मूल्य महंगे गेहूं की निरपेक्षतः ह्रासमान संहति की तरह प्रकट होता है। विलोमतः, लगातार भरपूर फ़सलों के परिणामस्वरूप किराया गिर सकता है, क्योंकि दाम गिर जाता है, यद्यपि घटा हुआ किराया सस्ते गेहूं की बढ़ी हुई संहति के रूप में प्रकट होता है। अब जिंसरूप किराये के बारे में यह कह देना चाहिए कि सबसे पहले तो वह एक ऐसी परंपरा मात्र है, जो एक कालातीत उत्पादन प्रणाली के जमाने से चली आ रही है और जिसने अपने अस्तित्व को अवशेष के रूप में बनाये रखा है। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली से उसका वैपरीत्य उसके निजी संविदाओं से अपने आप विलोपन में, और वहां, जहां क़ानून का दख़ल देना संभव था, जैसे चर्च धर्मशुल्कों के मामले में इंगलैंड में, उसके एक पुरावशेष के नाते जबरदस्ती हटाये जाने में प्रकट होता है। लेकिन दूसरे, जहां जिंसरूप किराया पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर बना रहा है, वहां वह द्रव्यरूप किराये की मध्ययुगीन आवरण में अभिव्यक्ति के सिवा न कुछ था और न हो ही सकता है। मिसाल के लिए, मान लें कि गेहूं का भाव ४० शिलिंग प्रति क्वार्टर है। इस गेहूं के एक अंश को अपने में समाविष्ट मजदूरी की प्रतिस्थापना करनी होगी और इसलिए उसे बेचना होगा, ताकि वह फिर से व्यय के लिए उपलब्ध हो सके। दूसरे अंश को इसलिए बेचना होगा कि करों का उसका समानुपाती भाग अदा किया जा सके। जहां भी पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और उसके साथ-साथ सामाजिक श्रम विभाजन विकसित हैं, वहां बीज और उर्वरकों का एक अंश तक पुनरुत्पादन प्रक्रिया में जिंसों की तरह प्रवेश करते हैं, अर्थात प्रतिस्थापना के लिए उन्हें ख़रीदना होता है; फलस्वरूप इस क्वार्टर के एक और अंश को इसलिए बेचना होगा कि इसके लिए धन प्राप्त किया जा सके। चूंकि यह आवश्यक नहीं है कि उन्हें वास्तविक जिंसों की सूरत में ख़रीदा जाये, बल्कि इसके लिए स्वयं उत्पाद से ही वस्तुरूप में निकाल लिया जाता है कि वे उत्पादनावस्थाओं की तरह उसके पुनरुत्पादन में फिर से प्रवेश कर सकें, – जैसा सिर्फ़ कृषि में ही नहीं, बल्कि स्थिर पूंजी उत्पादित करनेवाली कई और उत्पादन शाखाओं में भी होता है, – इसलिए बहीखातों में वे लेखा मुद्रा की तरह ही शामिल होती हैं और उन्हें लागत दाम के तत्वों के नाते घटा दिया जाता है। मशीनरी की, और सामान्यतः स्थायी पूंजी की टूट-फूट का द्रव्यरूप में पूरा किया जाना आवश्यक है। और अंत में लाभ आता है, जिसे असली मुद्रा में अथवा लेखा मुद्रा में लागत के रूप में व्यक्त इस रक़म पर परिकलित किया जाता है। यह लाभ सकल उत्पाद के एक निश्चित अंश द्वारा द्योतित होता है, जिसका निर्धारण उसका दाम करता है। इसके बाद जो अतिरिक्त अंश शेष रह जाता है, वह किराया होता है। यदि संविदा द्वारा निर्दिष्ट जिंसरूप किराया दाम द्वारा निर्धारित इस शेष से अधिक है, तो वह किराया नहीं होता, बल्कि लाभ से कटौती हो जाता है। अकेली इस संभावना के कारण भी जिंसरूप किराया एक व्यवहारातीत रूप है, क्योंकि वह उत्पाद के दाम को प्रतिबिंबित नहीं करता, बल्कि वास्तविक किराये से अधिक या कम हो सकता है और इस प्रकार केवल लाभ से ही नहीं, प्रत्युत उन तत्वों से भी

कटौती को समाविष्ट कर सकता है, जो पूंजी प्रतिस्थापन के लिए आवश्यक हैं। वास्तव में इस जिंसरूप किराये का, जहां तक कि वह सिर्फ़ नाम को ही नहीं, बल्कि सारतः भी किराया होता है, निर्धारण केवल उत्पाद के दाम के उसके उत्पादन दाम पर आधिक्य द्वारा ही किया जाता है। बस, यह वही पूर्वकल्पना करता है कि यह चर एक अचर परिमाण है। लेकिन यह ख़याल इतना संतोषदायी है कि जिंसरूप उत्पाद इसके लिए यथेष्ट रहे कि एक तो श्रमिक का भरण-पोषण कर सके, दूसरे, पूंजीपति किरायेदार फ़ार्मर के पास उससे अधिक खाद्यान्न छोड़ दे, जितना उसे चाहिए, और अंततः, शेष नैसर्गिक किराया बन जाये। बिलकुल वैसे ही कि जैसे २,००,००० गज़ सूती माल उत्पादित करनेवाले कारखानेदार के मामले में। इतने गज़ माल सिर्फ़ इसी के लिए काफ़ी नहीं रहता कि उसके श्रमिकों के तनों को ढांक सके; उसकी पत्नी, सारे बाल-बच्चों और स्वयं उसके बदन को ख़ूब अच्छी तरह से ढांक सके; बल्कि बेचने के लिए भी ख़ूब माल बच रहे और अलावा इसके सूती माल के रूप में भारी किराया भी देने को पर्याप्त रहे। सभी कुछ एकदम सीधा-सादा है! २,००,००० गज़ सूती माल से बस उत्पादन दाम को घटा दीजिये और किराये के लिए सूती माल की बेशी बच रहेगी। लेकिन विक्रय दाम जाने बिना उत्पादन दाम को, उदाहरण के लिए, १०,००० पाउंड को २,००,००० गज़ सूती माल से घटा देना, सूती माल से द्रव्य को घटा देना, एक विनिमय मूल्य को एक उपयोग मूल्य से घटा देना और इस प्रकार पाउंड स्टर्लिंगों पर माल की गज़ों में बेशी का निर्धारण करना – यह सचमुच नादानीभरा विचार है। यह तो वृत्त को वर्ग बनाने से भी बदतर है, जो कम से कम इस धारणा पर तो आधारित है कि एक सीमा ऐसी होती है, जिस पर सरल रेखाएं और वक्र रेखाएं अगोचर रूप में साथ-साथ आ जाती हैं। लेकिन श्री पासी का नुसख़ा ऐसा ही है। सूती माल से द्रव्य को घटा दीजिये, पेश्तर इसके कि सूती माल को या तो अपने दिमाग़ में या वास्तव में द्रव्य में परिवर्तित किया जाये! जो बच रहता है, वही किराया है, लेकिन जिसे naturaliter [नैसर्गिक रूप में] ग्रहण करना है (उदाहरण के लिए, देखिये कार्ल आर्नद्*), न कि कुतर्क की शैतानी से। जिंसरूप किराये की सारी बहाली को अंत में इस मूर्खता में, इतने-इतने बुशेल गेहूं से उत्पादन दाम के घटाये जाने, और एक घन माप से एक द्रव्य राशि के घटाने में परिणत कर दिया जाता है।

२. श्रमरूप किराया

अगर जिंसरूप किराये का उसके सरलतम रूप, **श्रमरूप किराये** के रूप में विवेचन किया जाये, जिसमें प्रत्यक्ष उत्पादक ऐसे श्रम उपकरणों (हल, ढोर, आदि) का उपयोग करते हुए, जो वस्तुतः या क़ानूनन उसी के होते हैं, सप्ताह के कुछ भाग के दौरान उस ज़मीन को काश्त करता है, जो वास्तव में उसकी है और शेष दिन अपने सामंत की जागीर पर सामंत से कोई मुआवज़ा पाये बिना काम करता है, तो यहां स्थिति बिलकुल स्पष्ट है, क्योंकि इस मामले में किराया और बेशी मूल्य समरूप हैं। अशोधित बेशी श्रम यहां जिस रूप में अभिव्यक्त होता है, वह लाभ नहीं, बल्कि किराया है। इस प्रसंग में श्रमिक (आत्मनिर्भर भूदास) किस हद तक अपनी अपरिहार्य जीवनावश्यकताओं के ऊपर बेशी, अर्थात उसके ऊपर बेशी, जिसे पूंजीवादी

---

* K. Arnd, *Die naturgemässe Volkswirtschaft, gegenüber dem Monopoliengeiste und dem Communismus*, Hanau, 1845, S. 461-62. –सं०

उत्पादन प्रणाली के अधीन हम मजदूरी कहेंगे, प्राप्त कर सकता है, यह बात, अन्य अवस्थाओं के यथावत बने रहने पर, उस अनुपात पर निर्भर करती है, जिसमें उसका श्रम काल अपने लिए श्रम काल और अपने सामंत स्वामी के लिए बलात श्रम काल में बंटा होता है। अतः, जीवन की अपरिहार्य आवश्यकताओं के ऊपर यह बेशी, जिसका अंकुर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत लाभ की सूरत में प्रकट होता है, पूर्णतः किराया ज़मीन की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है, जो इस प्रसंग में न केवल प्रत्यक्षतः अशोधित बेशी श्रम ही है, बल्कि इसी रूप में प्रकट भी होता है। यह उत्पादन साधनों के "स्वामी" के लिए अशोधित बेशी श्रम है, जो यहां ज़मीन के अनुरूप हैं, और जहां तक वे उससे भिन्न हैं, वे मात्र उसके अनुषंग हैं। यह कि भूदास के उत्पाद को यहां, उसके निर्वाह के अलावा, उसकी श्रमावस्थाओं को पुनरुत्पादित करने के लिए पर्याप्त होना चाहिए, एक ऐसा तथ्य है कि जो सभी उत्पादन प्रणालियों के अंतर्गत यही बना रहता है। कारण कि यह कोई उत्पादन प्रणालियों के विशिष्ट रूप का परिणाम नहीं है, बल्कि सामान्यतः समस्त सतत तथा पुनरुत्पादक श्रम की, किसी भी ऐसे निरंतर उत्पादन की कि जो साथ ही सदा पुनरुत्पादन भी होता है, अर्थात जिसमें स्वयं अपनी प्रचालन अवस्थाओं का पुनरुत्पादन सम्मिलित होता है, एक नैसर्गिक पूर्वावश्यकता है। इसके अलावा यह प्रत्यक्ष है कि उन सभी रूपों में, जिनमें प्रत्यक्ष श्रमिक स्वयं अपने निर्वाह साधनों के उत्पादन के लिए आवश्यक उत्पादन साधनों तथा श्रमावस्थाओं का "धारक" बना रहता है, सांपत्तिक संबंध को साथ ही प्रभुता तथा अधिसेविता के प्रत्यक्ष संबंध की तरह इस प्रकार सामने आना चाहिए कि प्रत्यक्ष उत्पादक स्वतंत्र नहीं है; स्वतंत्रता का ऐसा अभाव कि जो बलात श्रम के साथ भूदासत्व से मात्र करदाता संबंध में परिणत हो सकता है। हमारी कल्पना के अनुसार प्रत्यक्ष उत्पादक का यहां स्वयं अपने उत्पादन साधनों पर, अपने श्रम के सिद्धिकरण तथा अपने निर्वाह साधनों के उत्पादन के लिए अपेक्षित आवश्यक भौतिक श्रमावस्थाओं पर क़ब्ज़ा होना चाहिए। वह अपने कृषि कार्य तथा उससे संबद्ध ग्रामीण गृहोद्योगों का स्वतंत्र रूप में संचालन करता है। यह स्वतंत्रता इस तथ्य से कम नहीं हो जाती है कि छोटे किसान आपस में न्यूनाधिक नैसर्गिक उत्पादन समुदाय गठित कर सकते हैं, जैसे भारत में देखा जाता है, क्योंकि यहां सवाल महज़ जागीर के नामिक स्वामी से स्वतंत्रता का ही है। ऐसी अवस्थाओं के अंतर्गत भूमि के नामिक स्वामी के लिए उनसे बेशी श्रम को आर्थिक दबाव के अलावा केवल किसी और दबाव से ही निचोड़ा जा सकता है, फिर चाहे उसके द्वारा ग्रहण किया गया रूप कुछ भी हो।[44] यह रूप दास अथवा बाग़ान अर्थव्यवस्था से इस लिहाज़ से भिन्न होता है कि दास को परकीय उत्पादन अवस्थाओं के अंतर्गत काम करना होता है, न कि स्वतंत्र रूप में। इस प्रकार, व्यक्तिगत पराधीनता की अवस्थाएं आवश्यक हैं, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अभाव, फिर चाहे वह किसी भी सीमा तक हो, और ज़मीन के साथ उसके अनुषंग की तरह बंधे होना, शब्द के वास्तविक अर्थों में दासता। प्रत्यक्ष उत्पादकों के सामने अगर निजी भूस्वामी न आता हो, बल्कि, जैसे एशिया में है, वे राज्य की प्रत्यक्ष अधीनता में हों, जो उनके ऊपर उनके भूस्वामी और साथ

---

[44] किसी देश के जीते जाने के बाद विजेता का तात्कालिक लक्ष्य उसके निवासियों को स्वयं अपने उपयोग में लाना भी होता था। देखिये Linguet, [*Théorie des loix civiles, ou Principes fondamentaux de la société*, Tomes I-II, Londres, 1767.—सं०]। इसके अलावा, Möser [*Osnabrükische Geschichte*, 1. Teil, Berlin und Stettin, S. 178. —सं०] भी देखिये।

ही शासक की भी हैसियत में होता है, तो किराये और करों का संपात हो जाता है, अथवा यों कहिये कि ऐसा कोई कर नहीं होता कि जो किराया ज़मीन के इस रूप से भिन्न हो। ऐसी परिस्थितियों में यह आवश्यक नहीं है कि राजनीतिक अथवा आर्थिक दबाव उससे अधिक प्रबल हो, जितना उस राज्य पर सारी अधीनता का सामान्य लक्षण है। अतः यहां राज्य ही सर्वोच्च भूस्वामी है। यहां प्रभुसत्ता भूमि के राष्ट्रव्यापी पैमाने पर संकेंद्रित स्वामित्व में सन्निहित है। लेकिन दूसरी ओर, किसी भी प्रकार के निजी भूस्वामित्व का अस्तित्व नहीं है, यद्यपि ज़मीन की निजी तथा साझी क़ब्ज़ेदारी और उपयोग, दोनों, विद्यमान हैं।

जिस विशिष्ट आर्थिक रूप में अशोधित बेशी श्रम को प्रत्यक्ष उत्पादकों से खींचा जाता है, वह शासकों तथा शासितों के संबंध को निर्धारित करता है, क्योंकि वह प्रत्यक्षतः स्वयं उत्पादन से ही उत्पन्न होता है और, अपनी बारी में, उस पर एक निर्धारक तत्व की तरह प्रतिक्रिया करता है। किंतु इसी पर स्वयं उत्पादन संबंधों से उत्पन्न होनेवाले आर्थिक समुदाय की समस्त संरचना और उसी के साथ-साथ उसका विशिष्ट राजनीतिक रूप भी आधारित है। यह सदा उत्पादनावस्थाओं के स्वामियों का प्रत्यक्ष उत्पादकों के साथ प्रत्यक्ष संबंध ही है – ऐसा संबंध कि जो सदा स्वाभाविकतया श्रम की विधियों के और इस प्रकार उसकी सामाजिक उत्पादिता के विकास में एक निश्चित चरण के अनुरूप होता है – कि जो समस्त सामाजिक संरचना के अंतरतम रहस्य को, उसके प्रच्छन्न आधार को, और उसके साथ प्रभुता तथा अधीनता के संबंध के राजनीतिक रूप को, संक्षेप में, राज्य के अनुरूप विशिष्ट रूप को प्रकट करता है। यह इसमें बाधा नहीं डालता कि वही आर्थिक आधार – अपनी मुख्य अवस्थाओं के दृष्टिकोण से वही रूप – अनेकानेक भिन्न-भिन्न अनुभवाश्रित परिस्थितियों, नैसर्गिक पर्यावरण, नसली संबंधों, बाह्य ऐतिहासिक प्रभावों, आदि के कारण देखने में असीम रूपांतरणों तथा क्रम-सोपानों को प्रदर्शित करे, जिनका केवल अनुभवाश्रित प्रदत्त परिस्थितियों के विश्लेषण द्वारा ही अभिनिश्चयन किया जा सकता है।

किराये के सरलतम और सबसे आदिम रूप, श्रमरूप किराये के बारे में इतना तो प्रत्यक्ष ही है: किराया यहां बेशी मूल्य का आद्य रूप है और उसके साथ मेल खाता है। लेकिन बेशी मूल्य की अन्यों के अशोधित श्रम के साथ इस एकरूपता का विश्लेषण करना यहां आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह अभी अपने दृश्य, सुस्पष्ट रूप में ही होती है, चूंकि प्रत्यक्ष उत्पादक का स्वयं अपने लिए श्रम अभी दिक्-काल में उसके भूस्वामी के लिए श्रम से पृथक होता है और अंतोक्त एक तीसरे व्यक्ति के लिए बलात श्रम के बर्बर रूप में प्रत्यक्षतः प्रकट होता है। इसी तरह से ज़मीन का किराया उत्पन्न करने का "गुण" यहां एक वास्तव में खुले रहस्य में परिणत हो जाता है, क्योंकि किराया प्रदान करने की प्रकृति में यहां ज़मीन के साथ बंधी मानव श्रम शक्ति तथा वह संपत्ति संबंध भी सम्मिलित हैं, जो श्रम शक्ति के स्वामी को उसे उस हद के भी आगे लगाने और ख़र्च करने के लिए विवश करता है कि जो स्वयं अपनी अपरिहार्य आवश्यकताओं की तुष्टि के निमित्त आवश्यक है। किराया सीधे भूस्वामी द्वारा श्रम शक्ति के इस बेशी व्यय का हस्तगतकरण है, क्योंकि प्रत्यक्ष उत्पादक उसे कोई अतिरिक्त किराया नहीं देता है। यहां, जहां बेशी मूल्य और किराया न केवल एकरूप ही हैं, बल्कि जहां बेशी मूल्य का मूर्त रूप बेशी श्रम का है, किराये की नैसर्गिक अवस्थाएं अथवा सीमाएं, क्योंकि वे सामान्यतः बेशी श्रम की नैसर्गिक अवस्थाएं अथवा सीमाएं हैं, बिलकुल स्पष्ट हैं। प्रत्यक्ष उत्पादक के पास १) यथेष्ट श्रम शक्ति होनी चाहिए, और २) उसके श्रम की नैसर्गिक अवस्थाओं, सर्वो-

परि उसके द्वारा कर्षित ज़मीन को यथेष्ट रूप में उत्पादक होना चाहिए, संक्षेप में, उसके श्रम की नैसर्गिक उत्पादिता को इतना अधिक होना चाहिए कि उसे स्वयं अपनी अपरिहार्य आवश्यकताओं की तुष्टि के लिए जितना आवश्यक है, उसके अतिरिक्त कुछ बेशी श्रम को अपने पास रखने की संभावना प्रदान कर सके। किराये को यह संभावना नहीं, बल्कि वह विवशता पैदा करती है, जो इस संभावना को वास्तविकता में बदल देती है। किंतु स्वयं संभावना आत्मपरक तथा वस्तुपरक नैसर्गिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। और इसमें भी ऐसा कुछ भी नहीं है कि जो तनिक भी रहस्यमय हो। अगर श्रम शक्ति अत्यल्प हो और नैसर्गिक श्रमावस्थाएं अपर्याप्त हों, तो बेशी श्रम अल्प होगा, लेकिन ऐसी हालत में यही बात, एक ओर, उत्पादकों की आवश्यकताओं पर, और दूसरी ओर, बेशी श्रम के दोहनकर्ताओं पर भी लागू होगी, और अंततः वह बेशी उत्पाद भी अल्प ही होगा, जिसके द्वारा इस मुश्किल से ही उत्पादक बेशी श्रम का उन थोड़े से दोहक भूस्वामियों के लिए सिद्धिकरण किया जाता है।

अंततः, श्रमरूप किराया अपने में यह सूचित करता है कि अन्य सभी अवस्थाएं समान हों, तो यह पूर्णतः बेशी श्रम, अथवा बलात श्रम की सापेक्ष मात्रा पर निर्भर करता है कि प्रत्यक्ष उत्पादक के लिए किस हद तक स्वयं अपनी अवस्था को सुधारना, धन प्राप्त करना, अपने अपरिहार्य निर्वाह साधनों के अलावा आधिक्य उत्पादित करना संभव हो जायेगा, अथवा – अगर हम पंजीवादी अभिव्यंजना शैली की प्रत्याशा करना चाहें, तो – वह अपने लिए लाभ उत्पन्न कर पायेगा या नहीं, और यह लाभ, अर्थात अपनी मजदूरी पर, जिसे उसने स्वयं उत्पादित किया है, आधिक्य कितना होगा। किराया यहां बेशी श्रम का सामान्य, सर्वसमावेशक, यों कहिये कि वैध रूप है, और लाभ के ऊपर आधिक्य की तो बात ही क्या, जिसका मतलब इस प्रसंग में मजदूरी पर किसी भी अन्य आधिक्य के ऊपर होना है, उलटे, बात यह है कि ऐसे लाभ का परिमाण और उसका अस्तित्व तक, अन्य परिस्थितियों के समान रहने पर, किराये के परिमाण, अर्थात भूस्वामियों को समर्पित कर दिये जानेवाले बलात बेशी श्रम पर निर्भर करता है।

चूंकि प्रत्यक्ष उत्पादक स्वामी नहीं, बल्कि सिर्फ़ धारक होता है, और चूंकि उसका सारा बेशी श्रम de jure [विधितः] वास्तव में भूस्वामी का होता है, इसलिए कुछ इतिहासकारों ने इस पर आश्चर्य प्रकट किया है कि उन लोगों के लिए, जो बलात श्रम के अधीन होते हैं, अर्थात भूदासों के लिए, इन परिस्थितियों के अंतर्गत स्वतंत्र संपत्ति, अथवा सापेक्षिक अर्थों में, धन प्राप्त करना हरगिज़ मुमकिन भी हो सकता है। लेकिन यह प्रत्यक्ष है कि ये सामाजिक उत्पादन संबंध और उनके अनुरूप उत्पादन प्रणाली जिन आदिम तथा अविकसित परिस्थितियों पर आधारित होते हैं, उनमें परंपरा को अनिवार्यतः एक प्रधान भूमिका का निर्वहन करना चाहिए। इसके अलावा यह भी स्पष्ट है कि हमेशा ही की तरह यहां भी यह समाज के शासक अंशक के हित में ही है कि वह विद्यमान व्यवस्था को विधि के रूप में संस्वीकृति प्रदान करे और लोकाचार तथा परंपरा के ज़रिये प्रदत्त उसकी सीमाओं को क़ानूनी तौर पर स्थापित करे। प्रसंगतः और सारी बातों के अलावा विद्यमान व्यवस्था के आधार तथा उसके मूलभूत संबंधों का पुनरुत्पादन जैसे ही समय के साथ एक नियमित तथा व्यवस्थित रूप ग्रहण करता है कि यह अपने आप हो जाता है। और यह नियमन तथा व्यवस्था किसी भी उत्पादन प्रणाली के अपरिहार्य तत्व होते हैं, अगर इस प्रणाली को सामाजिक स्थायित्व पाना है और मात्र संयोग तथा यदृच्छा से मुक्त होना है। नियमन और व्यवस्था यथार्थतः उसके सामाजिक स्थायित्व के और फलतः मात्र यदृच्छा तथा मात्र संयोग से उसकी सापेक्ष स्वतंत्रता के रूप हैं। उत्पादन प्रक्रिया

की और अनुरूप सामाजिक संबंधों की भी पिछड़ी हुई अवस्थाओं के अंतर्गत वह इस रूप को उनके पुनरुत्पादन की पुनरावृत्ति मात्र के ज़रिये प्राप्त कर लेती है। अगर यह कुछ समय तक चलता रहे, तो वह रूढ़ि और परंपरा की तरह अपनी जड़ जमा लेता है और फिर एक सुस्पष्ट क़ानून की तरह संस्वीकृत हो जाता है। किंतु इस बेशी श्रम, बलात श्रम का यह रूप चूंकि समस्त सामाजिक उत्पादक शक्तियों के अपूर्ण विकास और स्वयं श्रम तरीक़ों के अपरिष्कृत रूप पर आधारित है, इसलिए स्वाभाविकतया विकसित उत्पादन प्रणालियों, विशेषकर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत जितना होता है, उसकी तुलना में वह प्रत्यक्ष उत्पादक के कुल श्रम के सापेक्षतः कहीं कम अंश को आत्मसात करेगा। उदाहरण के लिए, मान लीजिये कि भूस्वामी के लिए बलात श्रम आरंभ में दो दिन प्रति सप्ताह था। प्रति सप्ताह बलात श्रम के ये दो दिन इस प्रकार नियत हो गये हैं, विहित अथवा लिखित विधि द्वारा क़ानूनी तौर पर विनियमित एक स्थिर परिमाण बन गये हैं। लेकिन हफ़्ते के शेष दिनों की, जो स्वयं प्रत्यक्ष उत्पादक के लिए हैं, उत्पादिता एक परिवर्ती परिमाण है, जो अनिवार्यतः उसके अनुभव के साथ विकास करता जाता है, ठीक वैसे ही कि जैसे उसके द्वारा अर्जित नयी आवश्यकताएं, और ठीक वैसे ही कि जैसे उसके उत्पाद के लिए बाज़ार का प्रसार और जिस बढ़ते आत्मविश्वास के साथ वह अपनी श्रम शक्ति के इस अंश का निपटान करता है, वह उसे अपनी श्रम शक्ति के अधिक आयास के लिए प्रेरित करेगा, किंतु इससे यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उसकी श्रम शक्ति किसी भी प्रकार केवल कृषि तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसमें ग्रामीण गृहोद्योग भी शामिल है। यहां निश्चित आर्थिक विकास के होने की संभावना प्रस्तुत है, जो निस्संदेह, अनुकूल परिस्थितियों, अंतर्जात नसली लाक्षणिकताओं, आदि पर निर्भर करती है।

३. जिंसरूप किराया

श्रमरूप किराये का जिंसरूप किराये में रूपांतरण किराया ज़मीन की प्रकृति में आर्थिक दृष्टिकोण से कुछ भी नहीं बदलता। यहां जिन रूपों का विवेचन किया गया है, उन में किराया ज़मीन इस बात में निहित है कि किराया ही बेशी मूल्य अथवा बेशी श्रम का एकमात्र प्रचलित तथा सामान्य रूप है। यह बात इसके अलावा इस तथ्य में अभिव्यक्त होती है कि यह एकमात्र बेशी श्रम अथवा एकमात्र बेशी उत्पाद है कि जिसे स्वयं अपने पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक अवस्थाओं के **धारक** प्रत्यक्ष उत्पादक द्वारा भूमि के **स्वामी** को दिया जाना होता है, जो इस स्थिति में श्रम की सर्वसमावेशक अवस्था है। और फिर यह बात इस तथ्य में भी अभिव्यक्त होती है कि भूमि वह एकमात्र श्रमावस्था है, जो प्रत्यक्ष उत्पादक के सामने परकीय, उससे निरपेक्ष, तथा भूस्वामी के रूप में मूर्त संपत्ति की तरह आती है। जिंसरूप किराया कितना भी किराया ज़मीन का प्रचलित तथा प्रधान रूप क्यों न हो, उसके साथ फिर भी न्यूनाधिक सीमा तक पूर्ववर्ती रूप के, अर्थात श्रम के रूप में प्रत्यक्षतः अदा किये जानेवाले किराये, बेगार, के अवशेष रहते हैं, फिर भूस्वामी चाहे निजी व्यक्ति हो या राज्य हो। जिंसरूप किराया प्रत्यक्ष उत्पादक के लिए सभ्यता के उच्चतर चरण की, अर्थात उसके श्रम के तथा सामान्यतः समाज के विकास के उच्चतर स्तर की पूर्वकल्पना करता है। और यह पूर्ववर्ती रूप से इस दृष्टि से भिन्न है कि बेशी श्रम को अब अपने नैसर्गिक रूप में, इस प्रकार भूस्वामी अथवा उसके प्रतिनिधियों के प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण तथा दबाव के अधीन निष्पादित नहीं करना होता है; इसके विपरीत,

प्रत्यक्ष उत्पादक को अब जो चीज़ स्वयं अपने उत्तरदायित्व का निष्पादन करने के लिए प्रेरित करती है, वह प्रत्यक्ष दबाव नहीं, बल्कि परिस्थितियां, कोड़ा नहीं, विधिक अधिनियमन है। प्रत्यक्ष उत्पादक की अपरिहार्य आवश्यकताओं के अलावा, और वस्तुतः उसी के उत्पादन क्षेत्र के भीतर, अपनी ख़ुद की ज़मीन के बाहर निकटवर्ती सामंत की जागीर के बजाय, जैसा पहले होता था, स्वयं अपने द्वारा समुपयोजित भूमि पर उत्पादन के अर्थों में बेशी उत्पादन यहां एक स्वतः-विदित नियम बन भी चुका है। इस संबंध के अंतर्गत प्रत्यक्ष उत्पादक अपने समस्त श्रम काल का न्यूनाधिक स्वयं ही निपटान करता है, यद्यपि इस श्रम काल का एक अंश आरंभ में उसका लगभग सारा ही बेशी अंश बिला मुआवज़ा भूस्वामी का होता है; सिवा इसके कि भूस्वामी इस बेशी श्रम को अब उसके नैसर्गिक रूप में प्रत्यक्षतः नहीं, बल्कि उन उत्पादों के नैसर्गिक रूप में प्राप्त करता है, जिनमें उसका सिद्धिकरण होता है। जहां भी जिंसरूप किराया शुद्ध रूप में प्रकट होता है, वहां दुर्वह और जिस ढंग से बलात श्रम का नियमन किया जाता है, उसके अनुसार भूस्वामी के लिए काम के कारण न्यूनाधिक विघ्नकारी व्याघात (देखिये Buch I, Kap., VIII, २)* ('कारख़ानेदार और सामंत') बंद हो जाता है, या कम से कम साल में कुछ अल्प अंतरालों तक सीमित हो जाता है, जब जिंसरूप किराये के साथ-साथ कुछ बेगार भी चलती है। उत्पादक का स्वयं अपने लिए श्रम और उसका भूस्वामी के लिए श्रम अब दिक्-काल द्वारा सुस्पष्टतया पृथक नहीं रहते हैं। अपने शुद्ध रूप में यह जिंसरूप किराया जहां अपने खंडकों को अधिक अतिविकसित उत्पादन प्रणालियों तथा उत्पादन संबंधों में साथ खींच ला सकता है, वहां अपने अस्तित्व के लिए वह अब भी नैसर्गिक अर्थव्यवस्था की पूर्वकल्पना करता है, अर्थात यह कि अर्थव्यवस्था की अवस्थाएं पूर्णतः अथवा विपुलांश में स्वयं अर्थव्यवस्था द्वारा उत्पादित, उसके सकल उत्पाद से प्रत्यक्षतः प्रतिस्थापित तथा पुनरुत्पादित की जाती हैं। इसके अलावा वह ग्रामीण गृहोद्योग के कृषि के साथ संयोग की पूर्वकल्पना करता है। बेशी उत्पाद, जो किराये का गठन करता है, इस संयुक्त कृषि तथा औद्योगिक पारिवारिक श्रम का उत्पाद होता है, चाहे जिंसरूप किराये में औद्योगिक उत्पाद अधिक समाविष्ट हो या कम, जैसा मध्य युग में अकसर देखने में आता है, या चाहे वह केवल भूमि के वास्तविक उत्पादों के रूप में ही अदा किया जाता हो। किराये के इस रूप में जिंसरूप किराये के लिए, जो बेशी श्रम को प्रकट करता है, ग्रामीण परिवार के समस्त बेशी श्रम को पूर्णतः समाप्त करना किसी भी प्रकार आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत, श्रमरूप किराये की तुलना में इसमें उत्पादक के पास बेशी श्रम के लिए समय पाने की ज्यादा गुंजाइश रहती है, जिसका उत्पाद उसका होगा, जैसे उसके श्रम का उत्पाद भी होगा, जो उसकी अपरिहार्य आवश्यकताओं को तुष्ट करता है। इसी प्रकार, यह रूप अलग-अलग प्रत्यक्ष उत्पादकों की आर्थिक स्थिति में अधिक अंतर उत्पन्न करेगा। कम से कम ऐसे अंतर के होने की संभावना और अपनी बारी में प्रत्यक्ष उत्पादक के लिए अन्य श्रमिकों का प्रत्यक्षतः शोषण करने के साधन प्राप्त करने की संभावना विद्यमान होती है। लेकिन यहां इससे हमारा सरोकार नहीं है, क्योंकि हम जिंसरूप किराये का उसके शुद्ध रूप में विवेचन कर रहे हैं; जैसे सामान्यतः हम उन अंतहीन संयोगों को नहीं ले सकते, जिनमें किराये के विभिन्न रूप संयुक्त, अपमिश्रित अथवा समामेलित हो सकते हैं। जिंसरूप किराये का रूप एक निश्चित प्रकार के उत्पाद तथा स्वयं उत्पादन के साथ जुड़ा होने के कारण, और

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, अध्याय १०, २।—सं०

अपने कृषि तथा गृहोद्योग के अपरिहार्य संयोग के कारण, अपनी लगभग उस पूर्ण आत्मनिर्भरता के कारण, जिससे कृषक परिवार बाज़ार से और उत्पादन की गति तथा समाज के अपने क्षेत्र के बहिर्वर्ती अंशक के इतिहास से अपनी स्वतंत्रता के ज़रिये अपना भरण-पोषण करता है, संक्षेप में, सामान्यतः नैसर्गिक अर्थव्यवस्था के स्वरूप के कारण, यह रूप इसके बिलकुल अनुकूल है कि ऐसी स्थिर सामाजिक अवस्थाओं का आधार उपलब्ध कर सके, जैसी हम, उदाहरण के लिए, एशिया में देखते हैं। श्रमरूप किराये के पूर्ववर्ती रूप की ही भांति यहां भी किराया ज़मीन बेशी मूल्य का और इस प्रकार बेशी श्रम का, अर्थात उस समस्त अतिरिक्त श्रम का सामान्य रूप है, जिसका प्रत्यक्ष उत्पादक को अपने श्रम की मूलभूत शर्त – भूमि – के स्वामी के हितार्थ निःशुल्क, अतः वास्तव में दबाव के अंतर्गत निष्पादन करना होता है, यद्यपि यह दबाव अब पुराने बर्बर रूप में उसके सामने नहीं आता। लाभ का – अगर ग़लत प्रत्याशा करते हुए हम प्रत्यक्ष उत्पादक के आवश्यक श्रम पर उसके श्रमाधिक्य के उस अंश को यह संज्ञा दे सकें, जो वह अपने लिए रखता है – जिंसरूप किराये का निर्धारण करने के साथ इतना कम संबंध है कि यह लाभ, उलटे, किराये की पीठ पीछे ही पैदा होता है और जिंसरूप किराये के आकार में अपनी नैसर्गिक सीमा पाता है। जिंसरूप किराया ऐसा आयाम ग्रहण कर सकता है कि जो उत्पादन के प्रसार को कमोबेश असंभव बनाकर और प्रत्यक्ष उत्पादकों को निर्वाह साधनों के न्यूनतम भौतिक स्तर पर लाकर श्रमावस्थाओं के पुनरुत्पादन, स्वयं उत्पादन साधनों को गंभीर जोखिम में डालता है। उस सूरत में ऐसा ख़ासकर होता है कि जब यह रूप किसी विजेता वाणिज्यिक राष्ट्र के समक्ष आता है और उसके द्वारा इस्तेमाल किया जाता है, जैसे भारत में अंग्रेज़ों द्वारा।

४. द्रव्यरूप किराया

द्रव्यरूप किराये से यहां हमारा आशय – पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली पर आधारित औद्योगिक तथा वाणिज्यिक किराया ज़मीन से भिन्न, जो औसत लाभ पर आधिक्य मात्र होता है – उस किराया ज़मीन से है, जो जिंसरूप किराये के रूप में परिवर्तन मात्र से उत्पन्न होता है, जिस प्रकार, अपनी बारी में, अंतोक्त स्वयं श्रमरूप किराये का बस एक रूपांतर ही है। यहां प्रत्यक्ष उत्पादक अपने उत्पाद के बजाय उसका दाम भूस्वामी को देता है (चाहे वह राज्य हो, अथवा कोई निजी व्यक्ति)। उत्पादों का अपने नैसर्गिक रूप में आधिक्य अब काफ़ी नहीं पड़ता; उसे अपने नैसर्गिक रूप से द्रव्यरूप में परिवर्तित करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि प्रत्यक्ष उत्पादक अब भी अपने निर्वाह साधनों के कम से कम अधिकांश को स्वयं उत्पादित करता रहता है, तो भी इस उत्पाद के एक ख़ास अंश को अब जिंसों में परिवर्तित करना होता है, जिंसों की तरह उत्पादित करना होता है। इस प्रकार, समस्त उत्पादन प्रणाली का स्वरूप कमोबेश बदल जाता है। वह अपनी स्वतंत्रता को, सामाजिक संबंध से अपने अलगाव को गंवा देती है। उत्पादन लागत का अनुपात, जिसमें अब धन का कम या अधिक व्यय समाविष्ट होता है, निर्णायक बन जाता है; बहरहाल, सकल उत्पाद के उस अंश का, जिसे द्रव्य में परिवर्तित किया जाना है, उसके उस अंश पर आधिक्य अब निर्धारक भूमिका ग्रहण कर लेता है, जिसे एक ओर, फिर से पुनरुत्पादन साधन का, और दूसरी ओर, प्रत्यक्ष निर्वाह साधन का काम देना होगा। तथापि किराये के इस रूप का आधार इसके बावजूद कि वह अपने विलोपन के

निकट पहुंच रहा है, जिंसरूप किराये के आधार जैसा ही बना रहता है, जो इसका प्रस्थान बिंदु है। प्रत्यक्ष उत्पादक पहले की ही भांति अब भी ज़मीन का धारक है, चाहे विरासत के ज़रिये या किसी दूसरे पारंपरिक अधिकार की बदौलत, और उसे अपने भूस्वामी के लिए, अपनी सबसे आवश्यक उत्पादन अवस्था के स्वामी के नाते, अतिरिक्त बेगार करनी होगी, अर्थात अशोधित श्रम करना होगा, जिसके बदले, द्रव्य में रूपांतरित बेशी उत्पाद के रूप में कोई समतुल्य नहीं दिया जाता है। भूमि से भिन्न श्रमावस्थाओं, जैसे कृषि उपकरणों तथा दूसरी चीज़ों और जंगम संपत्ति का स्वामित्व तो किराये के पूर्ववर्ती रूपों के अंतर्गत भी, पहले व्यवहार में और फिर क़ानूनन भी, प्रत्यक्ष उत्पादक की संपत्ति में तबदील हो जाता है, और इससे भी अधिक द्रव्यरूप किराये के रूप के लिए तो यह पूर्वापेक्षा है। आरंभ में यत्र-तत्र और फिर न्यूनाधिक राष्ट्रव्यापी पैमाने पर होनेवाला जिंसरूप किराये का द्रव्यरूप किराये में रूपांतरण वाणिज्य के, शहरी उद्योग के, सामान्यतः पण्य उत्पादन के, और उसके साथ मुद्रा संचलन के पर्याप्त विकास की पूर्वकल्पना करता है। इसके अलावा वह उत्पादों का बाज़ार दाम होने की, और इसकी कल्पना करता है कि वे अपने मूल्यों के लगभग निकट दामों पर बिकें, जैसा होना पुराने रूपों के अंतर्गत हरगिज़ आवश्यक नहीं है। पूर्वी यूरोप में हम आंशिक रूप में अब भी इस रूपांतरण को होते देख सकते हैं। सामाजिक श्रम उत्पादिता के एक ख़ास विकास के बिना यह कितना असंभाव्य हो सकता है, यह रोमन साम्राज्य के अधीन इसे क्रियान्वित करने के विभिन्न असफल प्रयासों से, और कम से कम इस किराये के राजकीय करवाले अंश को द्रव्यरूप किराये में बदलने की कोशिशों के बाद जिंसरूप किराये में प्रत्यावर्तनों से सिद्ध होता है। ऐसी ही संक्रमणकालीन कठिनाइयां, उदाहरण के लिए, क्रांतिपूर्व फ़्रांस में लक्षित होती हैं, जब द्रव्यरूप किराये को उसके पूर्ववर्ती रूपों के अवशेषों के साथ संयुक्त और मिश्रित कर दिया गया था।

फिर भी द्रव्यरूप किराया जिंसरूप किराये के एक तत्वांतरित रूप के नाते और उसके विलोमस्वरूप किराया ज़मीन के उस प्रकार का अंतिम रूप, और साथ ही विलोपन का रूप है, जिसका हमने अब तक विवेचन किया है, अर्थात बेशी मूल्य के और उत्पादनावस्थाओं के स्वामी के लिए निष्पादित किये जानेवाले अशोधित बेशी श्रम के सामान्य रूप के नाते किराया ज़मीन। श्रमरूप किराये और जिंसरूप किराये की ही भांति यह किराया भी अपने शुद्ध रूप में लाभ पर कोई आधिक्य नहीं प्रकट करता है। वह लाभ को, जिन अर्थों में उसे समझा जाता है, आत्मसात कर लेता है। चूंकि लाभ उसके साथ ही व्यवहार में अतिरिक्त श्रम के एक अलग अंश की तरह उत्पन्न होता है, इसलिए अपने पुराने रूपों में किराये की ही भांति द्रव्यरूप किराया अब भी ऐसे भ्रूणरूप लाभ की सामान्य सीमा हो सकता है, जो केवल शोषण की संभावनाओं की सापेक्षता में ही विकास कर सकता है, फिर चाहे वह स्वयं अपने उस अतिरिक्त श्रम का शोषण हो या किसी और व्यक्ति के, जो द्रव्यरूप किराये द्वारा द्योतित बेशी श्रम के निष्पादन के बाद बच रहता है। अगर इस किराये के साथ-साथ कोई लाभ वास्तव में उत्पन्न होता है, तो यह लाभ किराये की सीमा नहीं होता, बल्कि विलोमतः, किराया इस लाभ की सीमा होता है। लेकिन, जैसे पहले ही इंगित किया जा चुका है, द्रव्यरूप किराया साथ ही अभी तक विवेचित किराया ज़मीन के विलोपन का रूप है, जो prima facie बेशी मूल्य तथा बेशी श्रम, अर्थात बेशी मूल्य के सामान्य तथा प्रधान रूप के नाते किराया ज़मीन के साथ मेल खाता है।

अपने आगामी विकास में द्रव्यरूप किराये को – सभी अंतर्वर्ती रूपों, उदाहरण के लिए, छोटे असामी काश्तकार के अलावा – अनिवार्यतः या तो ज़मीन के किसानों के उन्मुक्त भूम्यधिकार में रूपांतरण की तरफ़, या पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अनुरूप रूप की तरफ़, अर्थात पूंजीपति किरायेदार फ़ार्मर द्वारा दिये जानेवाले किराये की तरफ़ ले जाना चाहिए।

द्रव्यरूप किराये का प्राधान्य होने पर ज़मीन के एक भाग को धारण और काश्त करनेवालों और भूस्वामी के बीच परंपरागत तथा प्रथागत विधिक संबंध अनिवार्यतः सकारात्मक विधि के नियमों के अनुसार संविदा द्वारा नियत शुद्ध मुद्रा संबंध में बदल जाता है। इस प्रकार ख़ुद-काश्त धारक असल में महज़ किरायेदार बन जाता है। यह रूपांतरण एक ओर, बशर्ते कि अन्य सामान्य उत्पादन संबंध ऐसा होने दें, अधिकाधिक पुराने कृषक धारकों को बेदख़ल करने का और उनके बदले पूंजीपति किरायेदारों की प्रतिस्थापना करने का काम करता है। दूसरी ओर, यह इसकी ओर ले जाता है कि भूतपूर्व धारक अपने किराया दायित्व को ख़रीदकर आज़ाद हो जाता है और अपने द्वारा काश्त की जानेवाली ज़मीन पर पूर्ण स्वामित्व के साथ स्वतंत्र किसान में रूपांतरित हो जाता है। इसके अलावा, जिंसरूप किराये के द्रव्यरूप किराये में रूपांतरण का सम्पत्तिहीन दैनिक श्रमिकों (रोज़ीदारों) के एक वर्ग का, जो अपने आपको पैसे के लिए भाड़े पर देते हैं, निर्माण न केवल सहगमन ही करता है, बल्कि पूर्वगमन तक करता है। अपनी उत्पत्ति के दौर में, जब यह नया वर्ग यत्र-तत्र ही प्रकट होता है, किराया दायित्वों से बंधे अधिक समृद्ध किसानों में आवश्यकतावश अपने ख़र्च पर खेतिहर उजरती मज़दूरों का समुपयोजन करने की प्रथा विकसित हो जाती है – बहुत कुछ सामंती ज़माने की तरह ही, जब अधिक ख़ुशहाल कृषक भूदास स्वयं भी भूदास रखा करते थे। इस तरह से वे धीरे-धीरे धन की कुछ मात्रा संचित कर लेने और स्वयं भावी पूंजीपतियों में रूपांतरित हो जाने की संभावना प्राप्त करते जाते हैं। इस प्रकार ज़मीन के पुराने, ख़ुद-काश्त करनेवाले धारक स्वयं पूंजीपति किरायेदारों की शिशुशाला को जन्म देते हैं, जिनका विकास देहात की सीमाओं के बाहर पूंजीवादी उत्पादन के सामान्य विकास पर निर्भर करता है। यह वर्ग तब बहुत तेज़ी के साथ बढ़ता है कि जब विशेषकर अनुकूल परिस्थितियां उसकी सहायता को आ जाती हैं, जैसे सोलहवीं सदी में इंगलैंड में, जहां मुद्रा के तत्कालीन प्रगामी मूल्यह्रास ने प्रथागत दीर्घकालिक पट्टेदारियों के अंतर्गत उन्हें भूस्वामियों के मोल धनवान बनाया।

इसके अलावा : जब किराया द्रव्यरूप किराये का रूप ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार किराया देनेवाले किसान तथा भूस्वामी के बीच संबंध संविदा द्वारा नियत संबंध बन जाता है, – एक ऐसा विकास कि जो सामान्य रूप में केवल विश्व बाज़ार, वाणिज्य तथा उद्योग के एक निश्चित सापेक्षतः उच्च स्तर पर पहुंच जाने पर ही संभव है, – तो पूंजीपतियों को ज़मीन के पट्टे पर दिये जाने का भी अनिवार्यतः आविर्भाव हो जाता है। अंतोक्त अब तक ग्रामीण सीमाओं के बाहर ही खड़े रहते थे और अब वे नगरों में अर्जित पूंजी को और उसके साथ विकसित हुई पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली – अर्थात उत्पाद को महज़ एक माल की तरह और केवल बेशी मूल्य हस्तगत करने के साधन की तरह ही पैदा करना – को देहात और कृषि में ले आते हैं। यह रूप केवल ऐसे देशों में ही सामान्य नियम बन सकता है, जो सामंती उत्पादन प्रणाली से पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में संक्रमण की अवधि में विश्व बाज़ार को शासित करते हैं। भूस्वामी और भूमि के वास्तविक कर्षणकर्ता के बीच पूंजीवादी किरायेदार फ़ार्मर के आ जाने के साथ पुरानी ग्रामीण उत्पादन प्रणाली से उत्पन्न होनेवाले समस्त संबंध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। फ़ार्मर

अब इन खेतिहर मजदूरों का वास्तविक समादेशक और उनके बेशी श्रम का वास्तविक शोषक बन जाता है, जबकि भूस्वामी का प्रत्यक्ष संबंध, और वस्तुतः मौद्रिक तथा संविदात्मक संबंध, केवल इस पूंजीपति किरायेदार के साथ ही रह जाता है। इस प्रकार, किराये का स्वरूप भी रूपांतरित हो जाता है, केवल व्यवहार में और संयोग द्वारा ही नहीं, जैसे किसी हद तक पूर्ववर्ती रूपों के अंतर्गत भी हुआ करता था, बल्कि सामान्य ढंग से, अपने स्वीकृत तथा प्रचलित रूप में। बेशी मूल्य और बेशी श्रम के सामान्य रूप से यह मात्र इस बेशी श्रम के उसके उस अंश पर आधिक्य में परिणत हो जाता है, जिसे शोषक पूंजीपति द्वारा लाभ के रूप में हस्तगत कर लिया जाता है; बिलकुल उसी तरह कि जिस तरह वह समस्त बेशी श्रम, लाभ तथा लाभ पर आधिक्य, को भी सीधे ऐंठ लेता है, कुल बेशी उत्पाद के रूप में वसूल कर लेता है और नक़दी में बदल लेता है। भूस्वामी को वह किराये के रूप में जो हस्तांतरित करता है, वह केवल इस बेशी मूल्य का, जिसे वह अपनी पूंजी के जरिये खेतिहर मजदूर से प्रत्यक्ष शोषण द्वारा ऐंठता है, अतिरिक्त अंश ही होता है। वह भूस्वामी को कितना अधिक या कितना कम हस्तांतरित करता है, औसत रूप में यह पूंजी कृषीतर उत्पादन क्षेत्रों में जो औसत लाभ प्राप्त करती है, उसके द्वारा, तथा इस औसत लाभ द्वारा विनियमित कृषीतर उत्पादन दामों द्वारा स्थापित सीमाओं पर निर्भर करता है। बेशी मूल्य और बेशी श्रम के एक सामान्य रूप से किराया अब बेशी श्रम के उस अंश पर आधिक्य में रूपांतरित हो गया है, जिस पर पूंजी द्वारा पहले ही अपने न्यायसंगत तथा सामान्य हिस्से की तरह अधिकार जताया जाता है और जो इस विशेष उत्पादन क्षेत्र, कृषि उत्पादन क्षेत्र के लिए अभिलाक्षणिक है। किराये के बजाय लाभ अब बेशी मूल्य का सामान्य रूप बन गया है और किराये का अस्तित्व अब केवल सामान्यतः बेशी मूल्य के एक रूप की तरह नहीं, बल्कि उसकी एक प्रशाखा, बेशी लाभ, जो विशेष परिस्थितियों के अंतर्गत स्वतंत्र रूप ग्रहण कर लेता है, के एक रूप की तरह ही रह जाता है। इसके विस्तार में जाना आवश्यक नहीं है कि स्वयं उत्पादन प्रणाली में क्रमिक रूपांतरण किस प्रकार इस रूपांतरण के अनुरूप होता है। यह इस तथ्य से पहले ही प्रकट हो जाता है कि कृषि उत्पादों को जिंसों की तरह उत्पादित करना पूंजीपति किरायेदार फ़ार्मर के लिए सामान्य बात है, और जहां पहले केवल उसके निर्वाह साधनों पर आधिक्य को ही जिंसों में परिवर्तित किया जाता था, वहां अब इन जिंसों के एक सापेक्षतया नगण्य भाग का ही उसके द्वारा निर्वाह साधनों की तरह प्रत्यक्षतः उपयोग किया जाता है। अब यह जमीन नहीं, बल्कि पूंजी है कि जो कृषि तक को अपने प्रत्यक्ष नियंत्रण तथा उत्पादनशीलता के नीचे ले आयी है।

औसत लाभ और उसके द्वारा विनियमित उत्पादन दाम देहात में प्रचलित संबंधों के बाहर और शहरी व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र के भीतर उत्पन्न होते हैं। किराया देनेवाले किसान का लाभ उसमें समकारी कारक की तरह नहीं प्रवेश करता, क्योंकि भूस्वामी के साथ उसका संबंध पूंजीवादी संबंध नहीं है। अगर वह स्वयं अपने श्रम द्वारा अथवा अन्य लोगों के श्रम के शोषण द्वारा लाभ बनाता है, अर्थात अपने आवश्यक निर्वाह साधनों से आधिक्य की सिद्धि करता है, तो यह सामान्य संबंधों के बाहर किया जाता है, और अन्य परिस्थितियां समान होने पर, इस लाभ का परिमाण किराये को निर्धारित नहीं करता, बल्कि इसके विपरीत, स्वयं उसका निर्धारण किराये द्वारा अपनी सीमा के रूप में किया जाता है। मध्य युग में लाभ की ऊंची दर पूर्णतः पूंजी की निम्न संरचना के कारण ही नहीं है, जिसमें मजदूरी में निवेशित परिवर्ती घटक का प्राधान्य होता है। यह ऊंची लाभ दर कृषि में बेईमानी और भूस्वामी के

किराये के और उसके चाकरों की आय के एक अंश के चुराये जाने के कारण है। मध्य युग में अगर देहात शहर का वहां राजनीतिक शोषण करता है, जहां सामंती व्यवस्था को असाधारण नगरीय विकास ने ध्वस्त नहीं कर दिया है, जैसे इटली में था, तो दूसरी ओर, शहर हर कहीं और बिना किसी अपवाद के अपने एकाधिकार दामों के ज़रिये, अपनी कराधान प्रणाली के ज़रिये, अपने श्रेणी संगठन के ज़रिये, अपनी प्रत्यक्ष वाणिज्यिक ठगी और अपनी सूदखोरी के ज़रिये देहात का आर्थिक शोषण करता है।

यह सोचा जा सकता है कि कृषि उत्पादन में पूंजीपति फ़ार्मर का आविर्भाव मात्र यह सिद्ध कर देगा कि कृषि उत्पादों का दाम, जिनसे अनादि काल से किराये की किसी न किसी रूप में अदायगी होती रही है, कम से कम इस आविर्भाव के समय, उद्योग के उत्पादन दामों से अवश्य ही ऊपर होता होगा, चाहे इस कारण कि ऐसे कृषि उत्पादों का दाम एकाधिकार दाम के स्तर पर पहुंच गया है, या इस कारण कि वह चढ़कर कृषि उत्पादों के मूल्य की बराबरी पर पहुंच गया है और उनका मूल्य वास्तव में औसत लाभ द्वारा विनियमित उत्पादन दाम के ऊपर है। कारण कि अगर ऐसा न हुआ होता, तो कृषि उपज के विद्यमान दामों पर पूंजीपति फ़ार्मर के लिए यह हरगिज़ मुमकिन नहीं हो सकता था कि वह पहले इन उत्पादों के दाम से औसत लाभ का सिद्धिकरण करे, और फिर उसी दाम से किराये के रूप में आधिक्य की अदायगी करे। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामान्य लाभ दर, जो भूस्वामी से संविदा करते समय पूंजीपति फ़ार्मर का मार्गदर्शन करती है, किराये को शामिल किये बिना क़ायम की गयी थी, और इसलिए, जैसे ही वह कृषि उत्पादन में नियामक भूमिका ग्रहण करती है कि वैसे ही यह आधिक्य हाथ तले मिल जाता है और वह उसे भूस्वामी को दे देती है। मामले की इसी पारंपरिक ढंग से, उदाहरण के लिए, श्री रॉड्बेर्टस द्वारा व्याख्या की जाती है।* लेकिन :

पहली बात। पूंजी का कृषि में एक स्वतंत्र तथा अगुआ शक्ति के रूप में यह आविर्भाव एकसाथ और सार्विकतः नहीं हो जाता, बल्कि धीरे-धीरे और उत्पादन की विशेष शाखाओं में ही होता है। आरंभ में यह अपनी परिधि में वास्तविक कृषि नहीं, बल्कि पशुपालन, विशेषकर भेड़पालन जैसी उत्पादन शाखाओं को ही लाती है, जिसका मुख्य उत्पाद, ऊन, उद्योग के उत्कर्ष के समय आरंभिक चरणों में उत्पादन दाम पर बाज़ार दाम का सतत आधिक्य प्रस्तुत करता है, और इसका बाद में जाकर ही समकरण होता है। सोलहवीं सदी में इंगलैंड में ऐसा ही था।

दूसरी बात। चूंकि इस पूंजीवादी उत्पादन का आविर्भाव आरंभ में अनियमित रूप में ही होता है, इसलिए इस कल्पना पर आपत्ति नहीं की जा सकती कि पहले उसका प्रसार सिर्फ़ ऐसी ही ज़मीनों पर होता है कि जो अपनी विशेष उर्वरता की बदौलत, अथवा अपनी असाधारणतः अनुकूल अवस्थिति की बदौलत, सामान्यतः विभेदक किराया प्रदान कर सकती हैं।

तीसरी बात। यह तक मान लीजिये कि जिस समय इस उत्पादन प्रणाली का आविर्भाव हुआ था, और इसमें सचमुच शहरी मांग के बढ़ते प्राधान्य की पूर्वकल्पना सन्निहित है, उस

---

* J. Rodbertus, *Sociale Briefe an von Kirchmann, Dritter Brief: Widerlegung der Ricardo'schen Lehre von der Grundrente und Begründung einer neuen Rententheorie.* और भी देखें K. Marx, *Theorien über den Mehrwert*, 2. Teil, 1957, pp. 3-106, 142-54.—सं०

समय कृषि उत्पादों के दाम उत्पादन दाम की अपेक्षा ऊंचे थे, जैसा इंगलैंड में सत्रहवीं सदी की आख़िरी तिहाई में निस्संदेह था भी। फिर भी, जैसे ही यह उत्पादन प्रणाली अपने को कृषि की पूंजी पर मात्र गौणता की स्थिति से कुछ उबार पाती है, और जैसे ही कृषि के विकास के साथ अनिवार्यतः आनेवाले कृषि सुधार और उत्पादन लागतों का घटना अमल में आते हैं कि एक अनुक्रिया, कृषि उपज के दाम में गिरावट, संतुलन को बहाल कर देगी, जैसे अठारहवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में इंगलैंड में हुआ था।

इस प्रकार, इस पारंपरिक ढंग से किराये की औसत लाभ पर आधिक्य के रूप में व्याख्या नहीं की जा सकती। किराये का पहले पहल आविर्भाव होने के समय विद्यमान ऐतिहासिक परिस्थितियां चाहे कुछ क्यों न हों, एक बार जड़ पकड़ लेने के बाद वह केवल पूर्ववर्णित आधुनिक अवस्थाओं के अधीन ही अस्तित्व में रह सकता है।

अंत में, जिंसरूप किराये के द्रव्यरूप किराये में रूपांतरण के संदर्भ में यह दृष्टव्य है कि उसके साथ पूंजीकृत किराया, अथवा ज़मीन का दाम, और फलतः उसकी अन्यसंक्राम्यता अथवा अन्यसंक्रामण तात्विक कारक बन जाते हैं, और इस प्रकार न केवल किराये का देनदार भूतपूर्व किसान ही स्वतंत्र भूमिधर में रूपांतरित हो सकता है, बल्कि शहरी तथा अन्य धनी लोग भी ज़मीन-जायदाद ख़रीद सकते हैं, ताकि उसे किसानों या पूंजीपतियों को पट्टे पर दे सकें और इस तरह से अपनी इस प्रकार निवेशित पूंजी पर ब्याज के एक रूप की तरह किराये का उपभोग कर सकें; अतः, यह तथ्य भी इसी प्रकार पूर्ववर्ती शोषण प्रणाली, भूस्वामी तथा वास्तविक काश्तकार के संबंध और स्वयं किराये के रूपांतरण में सहायक होता है।

५. बटाई और पट्टी भूमिधरता

हम अब किराया ज़मीन के अपने निरूपण के अंत पर पहुंच रहे हैं।

किराया ज़मीन के इन सभी रूपों में, चाहे वह श्रमरूप किराया हो, या जिंसरूप किराया, अथवा द्रव्यरूप किराया (जिंसरूप किराये के महज़ एक बदले रूप के नाते), किराया देनेवाले व्यक्ति को हमेशा भूमि का वास्तविक कर्षक और धारक समझा जाता है, जिसका अशोधित श्रम सीधे भूस्वामी के हाथों में चला जाता है। अंतिम रूप, द्रव्यरूप किराये – जहां तक कि वह "शुद्ध," अर्थात जिंसरूप किराये का महज़ एक बदला हुआ रूप होता है – तक में यह केवल संभव ही नहीं है, बल्कि वस्तुतः होता है।

किराये के मूल रूप से पूंजीवादी किराये में एक संक्रमण रूप के नाते बटाई पद्धति (métayer system) या बटाईदारी (share-cropping) को लिया जा सकता है, जिसके तहत कर्षक (फ़ार्मर) श्रम (स्वयं अपना अथवा किसी और का) तथा कार्यचालन पूंजी का एक हिस्सा भी मुहैया करता है और भूस्वामी, ज़मीन के अलावा, प्रचालन पूंजी का दूसरा हिस्सा (उदाहरण के लिए, ढोर) उपलब्ध करता है, और उत्पाद किरायेदार तथा भूस्वामी के बीच निश्चित अनुपातों में विभाजित हो जाता है, जो देश-देश में भिन्न होते हैं। यहां एक ओर, फ़ार्मर के पास पूर्ण पूंजीवादी कर्षण के लिए आवश्यक पर्याप्त पूंजी का अभाव है। दूसरी ओर, यहां भूस्वामी द्वारा हस्तगत अंश किराये के शुद्ध रूप में नहीं होता है। उसमें वस्तुतः उसके द्वारा अग्रसारित पूंजी पर ब्याज तथा अतिरिक्त किराया शामिल हो सकता है। वह फ़ार्मर के लगभग सारे बेशी श्रम को आत्मसात भी कर सकता है, अथवा इस बेशी श्रम का न्यूनाधिक भाग

उसके पास रहने दे सकता है। लेकिन तत्वतः, किराया अब यहां सामान्यतः बेशी मूल्य के सामान्य रूप की तरह नहीं सामने आता। एक ओर, बटाईदार – चाहे वह अपने श्रम का उपयोग करता है या किसी और के श्रम का – उत्पाद के एक अंश पर अपनी श्रमिक की हैसियत में नहीं, बल्कि श्रम उपकरणों के एक हिस्से के धारक की, स्वयं अपना पूंजीपति होने की हैसियत में दावा करेगा। दूसरी ओर, भूस्वामी अपने हिस्से का दावा एकमात्र अपने भूस्वामित्व के आधार पर ही नहीं, बल्कि पूंजी उधार देनेवाले के नाते भी करता है।[44a]

पुराने सामुदायिक भूस्वामित्व के एक अवशेष ने, जो स्वतंत्र खेतिहर कृषि में संक्रमण के बाद बच रहा था, उदाहरण के लिए, पोलैंड और रूमानिया में, वहां किराया ज़मीन के निम्नतर रूपों में संक्रमण संपन्न करने के बहाने का काम दिया। ज़मीन का एक हिस्सा निजी किसान का होता है और उसके द्वारा स्वतंत्र रूप में काश्त किया जाता है। दूसरा हिस्सा साझे तौर पर काश्त किया जाता है और वह बेशी उत्पाद पैदा करता है, जो आंशिक रूप में सामुदायिक व्ययों को पूरा करने का, और आंशिक रूप में फ़सल मारे जाने, आदि की सूरत में आरक्षित भंडार – रिज़र्व – का काम देता है। बेशी उत्पाद के इन अंतिम दोनों भागों, और अंततोगत्वा सारे बेशी उत्पाद को जिस ज़मीन पर वह उगाया गया है, उसके सहित राज्याधिकारी तथा निजी व्यक्ति अधिकाधिक हड़पते जाते हैं, और इस प्रकार मूलतः स्वतंत्र भूमिधर, जिनका इस सामुदायिक भूमि – शामिलात ज़मीन – को काश्त करने का दायित्व बनाये रखा जाता है, सामंती सेवकों में रूपांतरित हो जाते हैं, जिन्हें या तो बेगार करनी होती है या जिंसरूप लगान देना होता है, जबकि सामुदायिक भूमि के हड़पनेवाले स्वामियों में परिणत हो जाते हैं – सिर्फ़ हड़पी हुई सामुदायिक भूमि के ही नहीं, बल्कि स्वयं किसानों की अपनी ज़मीनों के भी।

हमें वास्तविक दास अर्थव्यवस्था (जो इसी प्रकार मुख्यतः घरेलू उपयोग के लिए पितृतंत्रात्मक प्रणाली से विश्व बाज़ार के लिए बाग़ान प्रणाली के रूपांतरण से होकर गुज़रती है) का और अधिक अन्वेषण करने की जरूरत नहीं, न ही जागीरों के कर्षण का, जिसके अंतर्गत भूस्वामी स्वयं स्वतंत्र काश्तकार होते हैं, जिनके पास सभी उत्पादनोपकरण होते हैं और जो मुक्त अथवा अमुक्त दासों के श्रम का समुपयोजन करते हैं, जिनकी अदायगी जिंसरूप में या द्रव्यरूप में की जाती है। भूस्वामी और उत्पादनोपकरणों का स्वामी, और इस प्रकार इन उत्पादन तत्वों में सम्मिलित श्रमिकों का प्रत्यक्ष शोषक इस प्रसंग में एक ही व्यक्ति हैं। इसी प्रकार तब किराया और लाभ एकरूप हो जाते हैं, क्योंकि बेशी मूल्य के विभिन्न रूपों का कोई पृथक्करण नहीं होता। श्रमिकों का समस्त बेशी श्रम, जो यहां बेशी उत्पाद में अभिव्यक्त होता है, उनसे सीधे सभी उत्पादनोपकरणों के स्वामी द्वारा निचोड़ा जाता है, ज़मीन, और दासप्रथा के मूल रूप के अंतर्गत स्वयं प्रत्यक्ष उत्पादक जिसकी संपत्ति होते हैं। जहां पूंजीवादी दृष्टिकोण का प्रचलन है, जैसे अमरीकी बाग़ानों पर, वहां इस सारे बेशी मूल्य को लाभ समझा जाता है; जहां न स्वयं पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का अस्तित्व है और न ही उसके अनुरूप दृष्टिकोण पूंजीवादी देशों से पहुंचा है, वहां वह किराये की तरह सामने आता है। बहरहाल, यह रूप कोई कठिनाई नहीं पेश करता। भूस्वामी की आय, उसे चाहे कोई नाम दिया जाये,

---

[44a] Buret [*Cours d'économie politique*, Bruxelles, 1842.– सं०], Tocqueville, [*L'ancien régime et la révolution*, Paris, 1856. – सं०], Sismondi, [*Nouveaux principes d'économie politique*.—Seconde édition, Tome I, Paris, 1827. – सं०]

उसके द्वारा हस्तगत उपलब्ध बेशी उत्पाद ही यहां वह सामान्य तथा प्रचलित रूप है, जिसके द्वारा समस्त अशोधित बेशी श्रम को सीधे हस्तगत किया जाता है, और भू-संपत्ति इस प्रकार के हस्तगतकरण के आधार का निर्माण करती है।

अब **पट्टियों** (land parcels) **का स्वामित्व**। किसान यहां साथ ही अपनी ज़मीन का स्वतंत्र स्वामी होता है, जो उसके मुख्य उत्पादनोपकरण, उसके श्रम तथा उसकी पूंजी के लिए अपरिहार्य नियोजन क्षेत्र की तरह सामने आती है। इस रूप के अंतर्गत कोई पट्टालगान नहीं दी जाती है। अतः, किराया बेशी मूल्य के एक पृथक रूप की तरह नहीं प्रकट होता है, यद्यपि जिन देशों में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली अन्यथा विकसित है, उनमें वह अन्य उत्पादन शाखाओं की तुलना में बेशी लाभ की तरह प्रकट होता है; लेकिन ऐसा बेशी लाभ कि जो उसके सामान्यतः श्रम की सभी प्राप्तियों की ही भांति किसान को प्राप्त होता है।

जैसे पहले के अधिक पुराने रूपों में था, भू-संपत्ति का यह रूप यह पूर्वकल्पना करता है कि देहाती आबादी का शहरी आबादी पर संख्यागत अत्यधिक प्राधान्य है, जिससे कि अगर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली वैसे प्रचलित भी हो, तो भी वह सापेक्षतः कम ही विकसित है और फलतः उत्पादन की दूसरी शाखाओं में भी पूंजी का संकेंद्रण संकीर्ण सीमाओं के ही भीतर सीमित है और पूंजी विखंडन का प्राधान्य है। स्वाभाविक क्रम में यहां अधिकांश कृषि उपज प्रत्यक्ष निर्वाह साधन के नाते स्वयं उत्पादकों, किसानों द्वारा ही उपभुक्त होनी चाहिए, और केवल उसके ऊपर आधिक्य ही जिंसों के रूप में शहरी वाणिज्य में पहुंच पायेगा। कृषि उत्पादों के औसत बाज़ार दाम का यहां चाहे कैसे भी विनियमन होता हो, विभेदक किराया, श्रेष्ठतर अथवा अधिक अनुकूल अवस्थिति की ज़मीन से पण्य दामों का अतिरिक्त अंश, यहां प्रत्यक्षतः उसी प्रकार विद्यमान होगा कि जैसे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत होता है। यह विभेदक किराया वहां तक विद्यमान होता है, जहां यह रूप ऐसी सामाजिक अवस्थाओं के अंतर्गत प्रकट होता है, जिनके तहत अभी तक कोई सामान्य बाज़ार दाम भी विकसित नहीं हुआ है; तब यह अतिरिक्त बेशी उत्पाद के रूप में प्रकट होता है। बस तब यह उन किसानों के जेबों में जाता है, जिनका श्रम अधिक अनुकूल नैसर्गिक अवस्थाओं के अंतर्गत सिद्धिकृत होता है। यहां सामान्यतया यह कल्पना करनी होगी कि कोई निरपेक्ष किराया नहीं है, अर्थात यह कि निकृष्टतम भूमि कोई किराया नहीं प्रदान करती – ठीक इसीलिए कि इस रूप के अंतर्गत, जहां ज़मीन का दाम किसान की वास्तविक उत्पादन लागत में एक कारक की तरह आता है, चाहे इस कारण कि इस रूप के उत्तरवर्ती विकास के दौरान विरासत के विभाजन में ज़मीन का दाम एक ख़ास मुद्रा मूल्य पर अभिकलित किया जाता है, या इस कारण कि पूरी की पूरी जायदाद के, या उसके घटकों के स्वामित्व के निरंतर परिवर्तन के दौरान ज़मीन को स्वयं काश्तकार द्वारा, अधिकांशतः रेहन पर धन जुटाकर, ख़रीद लिया जाता है; और फलतः जहां ज़मीन का दाम, जो पूंजीकृत किराये के सिवा और कुछ नहीं व्यक्त करता, पहले से कल्पित कारक होता है, और इस प्रकार किराया जहां ज़मीन की उर्वरता अथवा अवस्थिति में किसी भी विभेदीकरण से निरपेक्ष रूप में विद्यमान प्रतीत होता है। कारण यह कि निरपेक्ष किराया उत्पाद के मूल्य में उसके उत्पादन दाम के ऊपर सिद्धिकृत आधिक्य की, या उत्पाद के मूल्य से अधिक एकाधिकार दाम की पूर्वकल्पना करता है। लेकिन चूंकि कृषि यहां अधिकांशतः प्रत्यक्ष निर्वाह के लिए की जाती है, और ज़मीन अधिकांश आबादी के श्रम तथा पूंजी के एक अपरिहार्य नियोजन क्षेत्र के रूप में होती है, इसलिए उत्पाद का नियामक बाज़ार दाम केवल असाधारण परि-

स्थितियों के अंतर्गत ही अपने मूल्य पर पहुंच पायेगा। किंतु सामान्यतः यह मूल्य सजीव श्रम के तत्व के बाहुल्य के कारण अपने उत्पादन दाम से ऊंचा होगा, यद्यपि अपनी बारी में उत्पादन दाम पर मूल्य के इस आधिक्य को उन देशों में कृषीतर पूंजी तक की निम्न संरचना सीमित कर देगी, जिनकी अर्थव्यवस्था में पट्टियों की प्रधानता है। पट्टी के स्वामी किसान के लिए शोषण की सीमा, जहां तक कि वह छोटा पूंजीपति है, पूंजी पर औसत लाभ द्वारा नहीं स्थापित की जाती है; दूसरी ओर, जहां तक कि वह छोटा भूस्वामी है, न वह किराये की आवश्यकता द्वारा ही स्थापित की जाती है। छोटे पूंजीपति के नाते उसके लिए निरपेक्ष सीमा उस मज़दूरी से अधिक नहीं है, जो वह अपनी वास्तविक लागत घटाने के बाद स्वयं अपने को देता है। जब तक उत्पाद का दाम इस मज़दूरी को पूरा कर देता है, वह अपनी ज़मीन को काश्त करता रहेगा, और बहुधा मज़दूरी के भौतिक न्यूनतम पर भी करता रहेगा। जहां तक उसकी भूस्वामी की हैसियत से बात है, उसके लिए स्वामित्व की रोक विलुप्त हो जाती है, क्योंकि अपने को वह पूंजी के निवेश के लिए बाधा खड़ी करके केवल भूस्वामित्व से पृथक्कृत पूंजी (श्रम सहित) की सापेक्षता में ही व्यक्त कर सकती है। बेशक, यह सही है कि ज़मीन के दाम पर ब्याज – जो आम तौर पर एक और व्यक्ति, रेहन पर ऋण देनेवाले को दिया जाता है – एक बाधा है। लेकिन यह ब्याज बेशी श्रम के ठीक उसी अंश से दिया जा सकता है, जो पूंजीवादी अवस्थाओं के अंतर्गत लाभ होगा। अतः, ज़मीन के दाम में और उसके लिए अदा किये जानेवाले ब्याज में प्रत्याशित किराया किसान के अपने निर्वाह के लिए अपरिहार्य श्रम के ऊपर पूंजीकृत बेशी श्रम के एक अंश के सिवा और कुछ नहीं हो सकता, यद्यपि यह बेशी श्रम समस्त औसत लाभ के बराबर पण्य मूल्य के एक हिस्से में और उससे भी अधिक औसत लाभ में, अर्थात बेशी लाभ में सिद्धिकृत बेशी श्रम पर आधिक्य में सिद्धिकृत नहीं होता है। किराया औसत लाभ से कटौती, अथवा उसका केवल वह अंश तक हो सकता है, जिसका सिद्धिकरण हो जाता है। अतः, किसान पट्टीदार के अपनी ज़मीन को काश्त करने के लिए, या काश्त के वास्ते ज़मीन ख़रीदने के लिए, जैसा सामान्य पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के तहत होता है, वैसे यह आवश्यक नहीं है कि कृषि उत्पादों का बाज़ार दाम इतना काफ़ी चढ़ जाये कि उसे औसत लाभ प्रदान करे, इस औसत लाभ के ऊपर किराये के रूप में एक नियत आधिक्य प्रदान करने की बात तो रही दूर। अतः, यह आवश्यक नहीं है कि बाज़ार दाम उसके उत्पाद के मूल्य या उत्पादन दाम के स्तर तक चढ़े। यह उन कारणों में से एक है कि क्यों पूंजीवादी उत्पादन प्रणालीवाले देशों की तुलना में उन देशों में अनाज के भाव नीचे होते हैं, जिनमें छोटे खेतिहर भूमिधरों का प्राधान्य होता है। किसानों के, जो न्यूनतम अनुकूल अवस्थाओं के अंतर्गत काश्त करते हैं, बेशी श्रम का एक हिस्सा समाज को निःशुल्क समर्पित कर दिया जाता है और उत्पादन दाम के विनियमन में या सामान्यतः मूल्य के सृजन में सर्वथा भाग नहीं लेता है। फलतः, यह नीचा दाम उत्पादकों की निर्धनता का एक परिणाम है, उनकी श्रम उत्पादिता का किसी भी प्रकार नहीं।

पट्टियों की ख़ुदकाश्त भूमिधरता के प्रचलित, सामान्य रूप के नाते यह रूप एक ओर तो क्लासिकी पुराकाल के श्रेष्ठतम कालों में समाज के आर्थिक आधार का निर्माण करता है, और दूसरी ओर, आधुनिक राष्ट्रों में सामंती भूस्वामित्व के विघटन के एक रूप की तरह पाया जाता है। उदाहरण के लिए, इंगलैंड में योमैनरी (भूमिधर समुदाय), स्वीडन में कृषक समुदाय और फ़्रांसीसी तथा पश्चिमी जर्मन किसान। हम उपनिवेशों को यहां सम्मिलित नहीं कर रहे हैं, क्योंकि वहां स्वतंत्र किसान का विकास भिन्न अवस्थाओं के अंतर्गत होता है।

ख़ुदकाश्त किसान का मुक्त स्वामित्व छोटे पैमाने के कृषिकर्म के लिए, अर्थात ऐसी उत्पादन प्रणाली के लिए, जिसमें ज़मीन का क़ब्ज़ा श्रमिक के स्वयं अपने श्रम के उत्पाद के स्वामित्व की पूर्वापेक्षा होती है, और जिसमें काश्तकार को, चाहे वह स्वाधीन स्वामी हो या सेवक, अपने परिवार के साथ एक पृथक श्रमिक की तरह स्वयं अपने निर्वाह साधनों का सदा स्वतंत्र रूप में उत्पादन करना होता है, प्रत्यक्षत:भू-संपत्ति का सबसे सामान्य रूप है। भूमि का स्वामित्व इस उत्पादन प्रणाली के पूर्ण विकास के लिए उतना ही आवश्यक है कि जितना औज़ारों का स्वामित्व हस्तशिल्प उत्पादन के निर्बाध विकास के लिए है। यही वैयक्तिक स्वतंत्रता के विकास का आधार है। यह स्वयं कृषि के विकास के लिए एक आवश्यक संक्रमणकालीन चरण है। जिन कारणों से इसका क्षय होता है, वे इसकी परिसीमाएं भी दर्शाते हैं। वे ये हैं: बड़े पैमाने के उद्योग के विकास के परिणामस्वरूप ग्रामीण गृहोद्योग का, जो इसका सामान्य अनुपूरक है, विनाश; इस कृषि के अधीन ज़मीन का क्रमिक क्षयण तथा उर्वरताहरण; बड़े भूस्वामियों द्वारा सामुदायिक भूमियों का, जो सभी जगह पट्टियों की काश्त की दूसरी अनुपूरक होती हैं और सिर्फ़ जिनकी बदौलत ही उसके लिए पशुपालन करना संभव होता है, हड़पा जाना; बाग़ान प्रणाली की या बड़े पैमाने की पूंजीवादी कृषि की प्रतिद्वंद्विता। कृषि में सुधार, जो एक ओर तो कृषि दामों में गिरावट लाते हैं और दूसरी ओर, अधिक परिव्ययों और अधिक विस्तृत भौतिक उत्पादनावस्थाओं की अपेक्षा करते हैं, भी इसमें योग देते हैं, जैसे अठारहवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में इंगलैंड में देखा जाता है।

पट्टी स्वामित्व अपनी प्रकृति से ही श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्तियों, श्रम के सामाजिक रूपों, पूंजी के सामाजिक संकेंद्रण, बड़े पैमाने पर पशुपालन के विकास और विज्ञान के वर्धमान अनुप्रयोग को अपवर्जित करता है।

सूदख़ोरी और कराधान प्रणाली सर्वत्र ही इसे क्षीण करती हैं। ज़मीन के दाम में पूंजी का व्यय इस पूंजी का कृषि से आहरण करता है। उत्पादन साधनों का अनंत विखंडन और स्वयं उत्पादकों का अलगाव। मानव शक्ति की अपरिमित बरबादी। उत्पादनावस्थाओं का प्रगामी अपकर्ष और उत्पादन साधनों के बढ़े हुए दाम – यह पट्टी स्वामित्व का अनिवार्य नियम है। फ़सली प्राचुर्य इस उत्पादन प्रणाली के लिए विनिपात है।[45]

छोटे पैमाने की कृषि की एक विशिष्ट बुराई जहां वह मुक्त भूस्वामित्व के साथ संयुक्त है, काश्तकार द्वारा ज़मीन की ख़रीदारी में पूंजी का निवेश करने से उत्पन्न होती है। (उस संक्रमणकालीन रूप पर भी यही बात लागू होती है, जिसमें बड़ा भूस्वामी पहले ज़मीन ख़रीदने, और दूसरे, स्वयं अपने किरायेदार फ़ार्मर की तरह उसे काश्त करने में पूंजी निवेशित करता है।) ज़मीन यहां मात्र एक जिंस के नाते जो परिवर्तनीय रूप ग्रहण करती है, उसके कारण स्वामित्व के परिवर्तन बढ़ जाते हैं,[46] जिससे किसान के दृष्टिकोण से ज़मीन हर आनुक्रमिक पीढ़ी और जायदादों के विभाजन के साथ पूंजी के निवेश की तरह पुनः प्रवेश करती है, अर्थात

[45] टूक की कृति में फ़्रांस के बादशाह का राज अभिभाषण देखिये। [Newmarch, *A History of Prices and of the State of the Circulation, during the nine years 1848-56*, Vol. VI, London, 1857, pp. 29-30.– सं०]

[46] देखिये Mounier, [*De l'agriculture en France*, Paris, 1846] तथा Rubichon, [*Du mécanisme de la société en France et en Angleterre*, Paris, 1837. – सं०]

वह उसके द्वारा ख़रीदी ज़मीन बन जाती है। अकेले उत्पादक के लिए ज़मीन का दाम यहां अलग-अलग अनुत्पादक लागतों अथवा उत्पाद के लागत दाम का महत्वपूर्ण तत्व है।

ज़मीन का दाम पूंजीकृत और फलतः प्रत्याशित किराये के सिवा और कुछ नहीं है। कृषि अगर पूंजीवादी तरीक़ों से की जाती है, जिससे भूस्वामी सिर्फ़ किराया ही पाता है और फ़ार्मर ज़मीन के लिए इस वार्षिक किराये के अलावा और कुछ नहीं देता, तो प्रत्यक्ष है कि स्वयं भूस्वामी द्वारा ज़मीन के क्रय में निवेशित पूंजी उसके लिए बेशक ब्याजी पूंजी निवेश है, किंतु स्वयं कृषि में निवेशित पूंजी से उसका सर्वथा कोई संबंध नहीं है। वह न यहां नियोजित स्थायी पूंजी का भाग है, न प्रचल पूंजी का[47], वह बस क्रेता के लिए वार्षिक किराया पाने का दावा ही सुनिश्चित करती है, पर स्वयं किराये के उत्पादन से उसका क़तई संबंध नहीं है। ज़मीन का क्रेता बस अपनी पूंजी ज़मीन बेचनेवाले को दे देता है, और विक्रेता बदले में ज़मीन पर अपना स्वामित्व त्याग देता है। अतः, यह पूंजी अब क्रेता की पूंजी के नाते अस्तित्व में नहीं है; उसके पास वह अब नहीं है; अतः, यह उस पूंजी का भाग नहीं है, जिसे वह चाहे जैसे स्वयं भूमि में निवेशित कर सकता हैं। उसने ज़मीन को सस्ता ख़रीदा है या महंगा, या मुफ़्त प्राप्त किया है, यह बात फ़ार्मर द्वारा अपने व्यवसाय में निवेशित पूंजी में कोई अंतर नहीं लाती, और न किराये में कोई अंतर लाती है, बल्कि बस इस सवाल को बदल देती है कि किराया उसके लिए ब्याज को द्योतित करता है या नहीं, अथवा उसके लिए क्रमशः ऊंचा ब्याज द्योतित करता है या नीचा ब्याज।

उदाहरण के लिए, दास अर्थव्यवस्था को ले लें। दास के लिए दिया जानेवाला दाम उससे निचोड़े जानेवाले प्रत्याशित तथा पूंजीकृत बेशी मूल्य अथवा लाभ के सिवा और कुछ नहीं है। लेकिन दास के क्रय के लिए दी जानेवाली पूंजी उस पूंजी का भाग नहीं है, जिससे दास से लाभ, बेशी श्रम, ऐंठा जाता है। बात उलटी है। यह वह पूंजी है, जिससे दास-स्वामी जुदा हो गया है, यह उस पूंजी से कटौती है, जो उसे वास्तविक उत्पादन के लिए उपलब्ध है। यह उसके लिए अस्तित्व में नहीं रहती, जैसे ज़मीन के क्रय में निवेशित पूंजी कृषि के लिए अस्तित्व में नहीं रहती। इसका श्रेष्ठतम प्रमाण यह है कि यह सिवा उस सूरत के दास-स्वामी या भूस्वामी के लिए पुनः प्रकट नहीं होती कि जब वह अपनी बारी में अपने दास या अपनी ज़मीन बेचता है। लेकिन तब क्रेता की भी यही स्थिति होती है। उसने दास को ख़रीद लिया है, यह तथ्य उसे सीधे-सीधे उसका समुपयोजन करने में समर्थ नहीं बना देता है। वह ऐसा केवल स्वयं दास अर्थव्यवस्था में कुछ अतिरिक्त पूंजी का निवेश करने के बाद ही कर सकता है।

---

[47] डाक्टर H. Maron, (*Extensiv oder Intensiv?*) [इस पुस्तिका के बारे में और कोई सूचना नहीं दी गयी है] प्रारंभ उन प्रतिपक्षियों की भ्रांत कल्पना से ही करते हैं, जिनका वह विरोध करते हैं। वह कल्पना करते हैं कि भूमि के क्रय में निवेशित पूंजी "निवेश पूंजी" है, और फिर निवेश पूंजी तथा प्रचालन पूंजी, अर्थात स्थायी तथा प्रचल पूंजी, के बारे में विवाद में लग जाते हैं। सामान्यतः पूंजी की उनकी सर्वथा अधकचरी संकल्पनाएं, जो प्रसंगतः ऐसे व्यक्ति के लिए क्षम्य हो सकती हैं कि जो जर्मन राजनीतिक अर्थशास्त्र की अवस्था के दृष्टिगत अर्थशास्त्री नहीं है, उनसे यह छिपा लेती हैं कि यह पूंजी उसी तरह न निवेश पूंजी है और न प्रचालन पूंजी कि जैसे वह पूंजी, जो कोई आदमी शेयर या सरकारी प्रतिभूतियां ख़रीदने के लिए शेयर बाज़ार में निवेशित करता है और जो उसके लिए पूंजी के एक निजी निवेश को द्योतित करती है, किसी भी उत्पादन शाखा में "निवेशित" नहीं की जाती है।

वही पूंजी दो बार ग्रस्तित्व में नहीं होती – एक बार ज़मीन के विक्रेता के, और दूसरी बार क्रेता के हाथों में। वह क्रेता के हाथों से विक्रेता के हाथों में चली जाती है और उसके साथ मामला ख़त्म हो जाता है। क्रेता के पास पूंजी अब नहीं है, लेकिन उसके बजाय ज़मीन का एक टुकड़ा है। यह तथ्य कि इस ज़मीन में पूंजी के वास्तविक निवेश द्वारा उत्पादित किराये को नया भूस्वामी ऐसी पूंजी पर ब्याज मानता है, जिसे उसने ज़मीन में निवेशित नहीं किया है, बल्कि ज़मीन को प्राप्त करने के लिए दे दिया है, भूमि कारक के ग्रार्थिक स्वरूप को तनिक भी नहीं बदलता, जिस प्रकार इस तथ्य का कि किसी व्यक्ति ने १,००० पाउंड ३% कंसोलों के लिए दिये हैं, उस पूंजी से कोई संबंध नहीं है, जिसकी ग्राय से राष्ट्रीय ऋण पर ब्याज की ग्रदायगी की जाती है।

वास्तव में ज़मीन ख़रीदने में ख़र्च धन, सरकारी बांडों की ख़रीदारी में ख़र्च धन की ही भांति, मात्र **निजरूप** पूंजी ही है, जैसे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के ग्राधार पर कोई भी मूल्य राशि निजरूप पूंजी, संभाव्य पूंजी, होती है। सरकारी बांडों या किसी भी दूसरी ख़रीदी जिंस की तरह ही ज़मीन के लिए जो चीज़ ग्रदा की जाती है, वह एक द्रव्य राशि है। यह निजरूप पूंजी है, क्योंकि उसे पूंजी में परिवर्तित किया जा सकता है। यह विक्रेता उसे जिस उपयोग में लगाता है, उस पर निर्भर करता है कि उसके द्वारा प्राप्त धन वास्तव में पूंजी में रूपांतरित होता है या नहीं। क्रेता के लिए यह धन फिर कभी इस रूप में कार्य नहीं कर सकता, जिस प्रकार कोई और वह धन नहीं कर सकता, जो उसने निश्चित रूप से ख़र्च कर दिया है। यह उसके खातों में ब्याजी पूंजी की तरह इसलिए ग्राता है कि ज़मीन से किराये के रूप में ग्रथवा राजकीय ऋण पर ब्याज के रूप में प्राप्त ग्राय को वह उस धन पर ब्याज समझता है, जो उसे इस ग्राय पर ग्रधिकार के क्रय पर ख़र्च करना पड़ा है। वह उसका पूंजी की तरह केवल पुनर्विक्रय द्वारा ही सिद्धिकरण कर सकता है। लेकिन तब एक और व्यक्ति, नया ख़रीदार, उसी संबंध में दाख़िल हो जाता है, जिसमें पूर्वोक्त व्यक्ति था, और इस प्रकार व्ययित धन को किसी भी तरह के हस्तांतरणों द्वारा व्ययकर्ता के लिए वास्तविक पूंजी में नहीं रूपांतरित किया जा सकता।

लघु भू-संपत्ति के मामले में यह भ्रांति और भी ग्रधिक पोषित होती है कि स्वयं ज़मीन मूल्य रखती है और इसलिए उत्पाद के उत्पादन दाम में बिलकुल मशीनों और कच्चे मालों की तरह ही पूंजी के नाते प्रवेश करती है। लेकिन हम देख चुके हैं कि किराया, और फलतः पूंजीकृत किराया, भूमि का दाम, सिर्फ़ दो सूरतों में ही कृषि उत्पादों के दाम में निर्णायक कारक की तरह प्रवेश कर सकता है। पहली, जब कृषि पूंजी की – जिस पूंजी का ज़मीन की ख़रीदारी में निवेशित पूंजी से कोई संबंध नहीं होता – संरचना के परिणामस्वरूप कृषि उत्पादों का मूल्य उनके उत्पादन दाम से ऊंचा होता है, और बाज़ार ग्रवस्थाएं भूस्वामी के लिए इस ग्रंतर का सिद्धिकरण करना संभव बना देती हैं। दूसरी, जब एकाधिकार दाम होता है। और दोनों में से कोई भी सूरत हरगिज़ ऐसी नहीं है कि जो पट्टियों की काश्त और लघु भूस्वामित्व के ग्रंतर्गत पायी जाती हो, क्योंकि ठीक यहीं उत्पादन बहुत हद तक उत्पादकों की ग्रपनी ग्रावश्यकताग्रों की तुष्टि करता है और ग्रौसत लाभ दर द्वारा विनियमन से निरपेक्ष रूप में किया जाता है। जहां पट्टियों की काश्त पट्टे पर ली ज़मीन पर की जाती है, वहां भी पट्टालगान में, किसी भी ग्रन्य ग्रवस्था की ग्रपेक्षा कहीं ग्रधिक, लाभ के एक ग्रंश और मज़दूरी से कटौती

तक का समावेश होता है ; इस प्रकार यह धन सिर्फ़ नामिक किराया है, न कि मज़दूरी और लाभ के मुक़ाबले एक स्वतंत्र कोटि के रूप में किराया है।

इस प्रकार, भूमि के क्रय के लिए द्रव्य पूंजी का व्यय कृषि पूंजी का निवेश नहीं है। यह उस पूंजी में pro tanto [तत्प्रमाणे] ह्रास है, जिसे छोटे किसान स्वयं अपने उत्पादन क्षेत्र में लगा सकते हैं। यह उनके उत्पादन साधनों के आकार को pro tanto घटा देता है और उसके द्वारा पुनरुत्पादन के आर्थिक आधार को संकुचित करता है। यह छोटे किसान को साहूकार के अधीन करता है, क्योंकि इस क्षेत्र में सामान्यतः वास्तविक उधार संबंध विरल होते हैं। यह कृषि के लिए उस सूरत तक में बाधा है कि जब ऐसी ख़रीदारी बड़ी जायदादों के मामले में होती है। वास्तव में यह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विपरीत है, जो समूचे तौर पर इस बारे में उदासीन होती है कि भूस्वामी क़र्ज़ में है कि नहीं, फिर चाहे उसने अपनी जायदाद विरासत में पायी हो या ख़रीदी हो। किराये को भूस्वामी ख़ुद हड़प लेता है या उसे यह अपने रेहनदार के हवाले करना पड़ता है, इससे स्वयं पट्टे पर उठायी जायदाद की काश्त का स्वरूप नहीं बदल जाता।

हम देख चुके हैं कि नियत किराया ज़मीन के मामले में ज़मीन के दाम को ब्याज दर विनियमित करती है। ब्याज दर नीची हो, तो ज़मीन का दाम ऊंचा होता है, तथा तत्प्रति-क्रमात। अतः, सामान्य रूप में ज़मीन के ऊंचे दाम और नीची ब्याज दर को साथ-साथ चलना चाहिए, जिससे कि किसान को अगर नीची ब्याज दर के परिणामस्वरूप ज़मीन के लिए ऊंचा दाम देना पड़ा है, तो वही नीची ब्याज दर उसके लिए उधार की आसान शर्तों पर उसकी प्रचालन पूंजी भी सुनिश्चित कर सके। लेकिन वास्तव में जब पट्टी भूमिधरता ही प्रचलित रूप होता है, तो बात कुछ और ही होती है। पहली बात तो यही है कि उधार के सामान्य नियम काश्तकार के अनुरूप नहीं हैं, क्योंकि ये नियम उत्पादक के रूप में पूंजीपति की पूर्वकल्पना करते हैं। दूसरे, जहां पट्टी भूमिधरता का प्राधान्य होता है – हम यहां उपनिवेशों की बात नहीं कर रहे हैं – और छोटा किसान राष्ट्र का मेरुदंड होता है, वहां पूंजी निर्माण, अर्थात सामाजिक पुनरुत्पादन, सापेक्षतया मंद होता है और, पूर्वनिरूपित अर्थों में, उधारार्थ द्रव्य पूंजी निर्माण तो और भी मंद होता है। यह निष्क्रिय धनी पूंजीपतियों के वर्ग के संकेंद्रण तथा अस्तित्व की पूर्वकल्पना करता है (मैसी)।* तीसरे, यहां जहां भूमि का स्वामित्व अधिकांश उत्पादकों के अस्तित्व की एक आवश्यक शर्त और उनकी पूंजी का एक अपरिहार्य निवेश क्षेत्र है, भू-संपत्ति के लिए मांग के उसकी पूर्ति से अधिक होने के कारण ज़मीन का दाम ब्याज दर से निरपेक्षतः, और बहुधा उसके व्युत्क्रमानुपात में चढ़ जाता है। ऐसे मामलों में बड़े भूखंडों में बेची ज़मीन की तुलना में पट्टियों में बेची ज़मीन कहीं ऊंचा दाम लाती है, क्योंकि छोटे क्रेताओं की संख्या बड़ी होती है और बड़े क्रेताओं की छोटी (Bandes Noires** र्यूबिशों ; न्यूमैन***)। इन सभी कारणों से यहां ज़मीन का दाम सापेक्षतया ऊंची ब्याज दर के साथ चढ़ता है। किसान यहां ज़मीन के क्रय के लिए पूंजी के परिव्यय से जो सापेक्षतया नीचा ब्याज प्राप्त करता है (मून्ये), वह यहां, दूसरी तरफ़, उस बेहद भारी सूदख़ोराना ब्याज दर के अनुरूप होता है,

---

* [Massie] *An Essay on the Governing Causes of the Natural Rate of Interest*, London, 1750, pp. 23-24–सं०

** मुनाफ़ाख़ोरों के गिरोह।–सं०

*** Newman, *Lectures on Political Economy*, London, 1851, pp. 180-81. –सं०

जो स्वयं उसे अपने रेहनदारों को देनी होती है। आयरिश प्रथा भी इस बात को सामने लाती है, अलबत्ता दूसरे रूप में।

अतः, ज़मीन का दाम, स्वयं अपने में उत्पादन के लिए यह परकीय तत्व, यहां चढ़कर ऐसे बिंदु पर पहुंच सकता है कि यह उत्पादन को असंभव बना देता है (दोंबाल)।

यह तथ्य कि ज़मीन का दाम यहां ऐसी भूमिका अदा करता है कि जिंस के नाते ज़मीन का क्रय-विक्रय, परिचलन इस हद तक विकसित हो जाता है, व्यावहारिक रूप में पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के विकास का एक परिणाम है, क्योंकि जिंस यहां सभी उत्पादों और सभी उत्पादन उपकरणों का सामान्य रूप है। दूसरी ओर, यह परिघटना केवल वहां देखी जाती है, जहां पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का विकास सीमित है और अपनी सभी विशेषताओं को प्रकट नहीं करता है, क्योंकि यह ठीक इसी तथ्य पर आधारित होता है कि कृषि अब या तो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अधीन रही नहीं है, या अभी तक हुई नहीं है, बल्कि उलटे समाज के विलुप्त रूपों में से किसी एक के अधीन है। अतः, अपनी उत्पादक की अपने उत्पाद के द्रव्यरूप दाम पर आश्रितता के साथ पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की ख़ामियां यहां पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अपूर्ण विकास से जनित ख़ामियों के साथ एकरूप हो जाती हैं। किसान अपने उत्पादों को जिंसों के रूप में उत्पादित करने में समर्थ बनानेवाली अवस्थाओं के बिना ही व्यापारी और उद्योगपति बन जाता है।

ज़मीन के दाम में उत्पादकों के लिए लागत दाम का एक तत्व होने के नाते और उत्पादन दाम का कोई तत्व न होने के नाते विरोध (कृषि उत्पाद के दाम में किराया चाहे निर्धारक कारक के नाते प्रवेश करता है, तो भी पूंजीकृत किराया, जो २० साल या अधिक के लिए अग्रसारित किया जाता है, किसी भी तरह निर्धारक के नाते शामिल नहीं होता) महज़ उन रूपों में से एक है, जो निजी भूस्वामित्व तथा यौक्तिक कृषि, ज़मीन के सामान्य सामाजिक उपयोग के बीच आम अंतर्विरोध को अभिव्यक्त करते हैं। लेकिन दूसरी ओर, निजी भूस्वामित्व, और फलतः प्रत्यक्ष उत्पादकों का ज़मीन से बेदख़ल किया जाना – एक व्यक्ति का निजी भूस्वामित्व, जिसमें अन्यों के स्वामित्व का अभाव सन्निहित है – पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का आधार है।

यहां, छोटे पैमाने की कृषि में, ज़मीन का दाम – निजी स्वामित्व का एक रूप और परिणाम – स्वयं उत्पादन के लिए एक बाधा की तरह सामने आता है। बड़े पैमाने की कृषि में और पूंजीवादी आधार पर चलनेवाली बड़ी जायदादों में भी स्वामित्व इसी प्रकार बाधा बनता है, क्योंकि वह उत्पादक पूंजी निवेश में किरायेदार फ़ार्मर के हाथ बांध देता है, जिससे अंततोगत्वा लाभ फ़ार्मर को नहीं, बल्कि भूस्वामी को होता है। दोनों ही रूपों में भूमि की जीवन शक्ति का दोहन तथा अपव्यय दोहन को सामाजिक विकास के प्राप्त स्तर के बजाय व्यक्तिगत उत्पादकों को सांयोगिक तथा असमान परिस्थितियों पर निर्भर बनाने के अलावा) शाश्वत सामुदायिक संपत्ति के नाते ज़मीन के सचेतन यौक्तिक कर्षण का, जो मानवजाति की आनुक्रमिक पीढ़ियों की शृंखला के अस्तित्व तथा पुनर्जनन की एक अनपहार्य शर्त है, स्थान ले लेते हैं। छोटी संपत्ति के मामले में यह सामाजिक श्रम उत्पादिता का अनुप्रयोग करने के साधनों तथा ज्ञान के अभाव के परिणामस्वरूप होता है। बड़ी संपत्ति के मामले में यह इस तरह के साधनों के फ़ार्मर तथा भूस्वामी के तीव्रतम समृद्धिकरण के लिए दोहन के परिणामस्वरूप होता है। दोनों ही के प्रसंग में यह बाज़ार दाम पर निर्भरता के कारण होता है।

छोटी भू-संपत्ति की सारी समीक्षा अंततोगत्वा कृषि के लिए बाधा तथा अवरोध के रूप में निजी भूस्वामित्व की आलोचना में परिणत हो जाती है। और इसी प्रकार बड़ी भू-संपत्ति की प्रत्यालोचना के बारे में भी यही बात है। दोनों ही मामलों में हम सभी गौण राजनीतिक निमित्तों को निस्संदेह अलग रहने देते हैं। यह बाधा तथा अवरोध, जो सभी तरह की निजी भू-संपत्ति द्वारा कृषि उत्पादन और स्वयं भूमि के यौक्तिक कर्षण, अनुरक्षण तथा सुधार के संदर्भ में खड़े किये जाते हैं, दोनों तरफ़ केवल भिन्न रूपों में ही विकसित होते हैं, और इस अनिष्ट के विशिष्ट रूपों पर वाद-विवाद में उसके मूलभूत कारण को विस्मृत कर दिया जाता है।

छोटी भू-संपत्ति इसकी पूर्वकल्पना करती है कि आबादी का अतिविपुल बहुलांश ग्रामवासी होता है, और प्राधान्य सामाजिक श्रम का नहीं, बल्कि एकाकी श्रम का होता है; और फलतः ऐसी अवस्थाओं के अंतर्गत पुनरुत्पादन का प्राचुर्य तथा विकास, अर्थात उसकी भौतिक तथा आत्मिक पूर्वापेक्षाएं, और इस प्रकार यौक्तिक कृषि के लिए पूर्वापेक्षाएं भी प्रसंगेतर हैं। दूसरी ओर, बड़ी भू-संपत्ति कृषिजीवी आबादी को घटाकर सतत ह्रासमान न्यूनतम पर ले आती है और उसके मुक़ाबले पर बड़े शहरों में एकसाथ ठुंसी सतत बढ़ती औद्योगिक आबादी को खड़ा करती है। इसके द्वारा वह ऐसी अवस्थाएं पैदा करती है, जो जीवन के नैसर्गिक नियमों द्वारा विहित सामाजिक अंतर्विनिमय के सामंजस्य में अप्रतिकार्य दरार डाल देती हैं। परिणामस्वरूप भूमि की जीवन शक्ति का अपव्यय किया जाता है और इस अपव्यय को वाणिज्य किसी राज्य विशेष की सीमाओं से भी बहुत दूर-दूर तक ले जाता है (लिबिग)।*

जहां छोटी भू-संपत्ति बर्बरों के एक ऐसे वर्ग को उत्पन्न करती है, जो समाज के अध-बाहर है और जिसमें समाज के आदिम रूपों की सारी अपरिपक्वता के साथ-साथ सभ्य देशों की व्यथा और दुर्दशा का संयोग पाया जाता है, वहां बड़ी भू-संपत्ति श्रम शक्ति का उस अंतिम क्षेत्र में, जिसमें उसकी आद्य ऊर्जा शरण ग्रहण करती है और अपनी ताक़त को राष्ट्रों के जीवन बल के पुनर्जनन के लिए निचय के रूप में संचित करती है, यानी स्वयं भूमि पर ही, तलोच्छेदन करती है। बड़े पैमाने का उद्योग और बड़े पैमाने की यंत्रीकृत कृषि साथ-साथ काम करते हैं। अगर मूलतः उन्हें यह तथ्य जुदा करता था कि प्रथमोक्त मुख्यतः श्रम शक्ति, अतः मनुष्य की नैस-र्गिक शक्ति को नष्ट और बरबाद करता है, जबकि अंतोक्त भूमि की नैसर्गिक जीवन शक्ति को अधिक प्रत्यक्षतः समाप्त करती है, तो विकास के आगामी क्रम में वे इस लिहाज से एक हो जाते हैं कि देहात में औद्योगिक व्यवस्था भी श्रमिकों को दुर्बल करती है, और अपनी बारी में उद्योग तथा व्यापार कृषि को मिट्टी की उर्वरता हरने के साधन प्रदान करते हैं।

---

* Liebig, *Die Chemie in ihrer Anwendung auf Agricultur und Physiologie*, Braunschweig, 1862.–सं०

भाग ७

संप्राप्तियां तथा उनके स्रोत

अध्याय ४८

त्रिक सूत्र

१[48]

पूंजी – लाभ (उद्यम का लाभ जमा ब्याज), ज़मीन – किराया ज़मीन, श्रम – मज़दूरी, यह वह त्रिक सूत्र है, जिसमें सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया के सारे रहस्य समाविष्ट हैं।

इसके अलावा, चूंकि जैसे पहले दर्शाया गया है,* ब्याज पूंजी के उत्पाद के विशिष्ट लक्षण की तरह प्रकट होता है और उद्यम का लाभ इसके विपरीत पूंजी से निरपेक्ष मज़दूरी की तरह प्रकट होता है, इसलिए उपरोक्त त्रिक सूत्र अधिक सुनिश्चित रूप में इसमें परिणत हो जाता है:

पूंजी – ब्याज, ज़मीन – किराया ज़मीन, श्रम – मज़दूरी, जहां लाभ, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंग बेशी मूल्य का विशिष्ट लाक्षणिक रूप, सौभाग्यवश विलुप्त हो जाता है।

इस आर्थिक त्रयी की अधिक सूक्ष्मतापूर्वक परीक्षा करने पर हम यह पाते हैं:

सबसे पहले, वार्षिक रूप में उपलब्ध धन के तथाकथित स्रोत अत्यंत असमान क्षेत्रों से संबद्ध होते हैं और एक दूसरे के सदृश हरगिज़ नहीं होते। उनका एक दूसरे से लगभग वैसा ही संबंध होता है कि जैसा वकील की फ़ीस, लाल चुकंदर और संगीत का है।

पूंजी, भूमि, श्रम! लेकिन पूंजी कोई चीज़ नहीं है, बल्कि समाज की एक निश्चित ऐतिहासिक संरचना से संबद्ध एक निश्चित सामाजिक उत्पादन संबंध है, जो किसी चीज़ में अभिव्यक्त होता है और इस चीज़ को एक विशिष्ट सामाजिक चरित्र प्रदान कर देता है। पूंजी भौतिक और उत्पादित उत्पादन साधनों का योग नहीं है। पूंजी इसके विपरीत पूंजी में रूपांतरित उत्पादन साधन हैं, जो अपने आप में इससे अधिक पूंजी नहीं होते कि जितना सोना या चांदी अपने आप में द्रव्य हैं। यह समाज के एक विशेष अंशक द्वारा एकाधिकृत उत्पादन साधन, सजीव श्रम शक्ति के विरोध में खड़े उत्पादों और इसी श्रम शक्ति से निरपेक्ष बनायी गयी कार्यावस्थाओं की सूरत में सामने आनेवाले उत्पादन साधन ही हैं कि जो पूंजी में इस वैपरीत्य के ज़रिये प्रतिबिंबित होते हैं। श्रमिकों के स्वतंत्र शक्तियों में परिणत उत्पाद ही नहीं, उत्पादकों के शासकों और क्रेताओं के रूप में उत्पाद ही नहीं, प्रत्युत सामाजिक शक्तियां और इस श्रम

---

[48] निम्न तीन अंश भाग ६ की पांडुलिपि के विभिन्न हिस्सों में पाये गये थे। – फ़्रे० एं०

* प्रस्तुत संस्करण: अध्याय २३। – सं०

का भावी... [? अपाठ्य]* रूप भी श्रमिकों के सामने उनके उत्पादों के गुणों के रूप में खड़े होते हैं। फलतः यहां हमारा साक्षात्कार इतिहासतः उत्पन्न सामाजिक उत्पादन के कारकों में से एक के निश्चित और पहली निगाह में अत्यंत रहस्यमय सामाजिक रूप से होता है।

और अब इसके साथ-साथ जमीन, अपने में अकार्बनिक प्रकृति, rudis indigestaque moles,** अपनी समस्त आद्य वन्यता में है। मूल्य श्रम है। इसलिए बेशी मूल्य जमीन नहीं हो सकता। निरपेक्ष मृदा उर्वरता इससे अधिक और कुछ नहीं संपन्न करती कि श्रम की एक ख़ास मात्रा एक ख़ास उत्पाद – मृदा की नैसर्गिक उर्वरता के अनुसार – उत्पादित करती है। मृदा उर्वरता में अंतर के परिणामस्वरूप श्रम और पूंजी की उतनी ही मात्राओं, अर्थात उतने ही मूल्य का कृषि उत्पादों की भिन्न मात्राओं में प्रतिबिंबन होता है; अर्थात ये उत्पाद भिन्न व्यष्टिक मूल्य के हो जाते हैं। इन व्यष्टिक मूल्यों का बाज़ार मूल्यों में समकरण इस तथ्य का निमित्त है कि "घटिया जमीन पर उर्वर ज़मीन के सुलाभ... काश्तकार अथवा उपभोक्ता से भूस्वामी को अंतरित हो जाते हैं"। (Ricardo, *Principles*, London, 1821, p. 62.)

और अंत में इस सहमेल में तीसरे पक्ष की हैसियत से एक आभास – श्रम ("die" Arbeit) आता है, जो एक अमूर्त प्रत्यय के सिवा और कुछ नहीं है और स्वयं अपने में जिसका सर्वथा अस्तित्व भी नहीं है, या, अगर हम... [अपाठ्य]*** को लें, तो मनुष्यों का सामान्यतः उत्पादक कार्यकलाप, जिसके ज़रिये वे प्रकृति से अंतर्विनिमय करते हैं, जो न केवल किसी भी सामाजिक रूप तथा सुनिर्धारित स्वरूप से ही वियुक्त है, बल्कि जो अपने मात्र नैसर्गिक अस्तित्व में भी समाज से निरपेक्ष और सभी समाजों से असंपृक्त है, और जीवन की अभिव्यक्ति तथा पुष्टि के नाते, जो अब भी सामाजिक जीवन की परिधि के बाहर मनुष्य के लिए और किसी भी प्रकार सामाजिकता की परिधि में आ चुके मनुष्य के लिए सामान्य है।

२

पूंजी – ब्याज; भू-संपत्ति, भूमि का निजी स्वामित्व, और निस्संदेह आधुनिक तथा पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अनुरूप – किराया; उजरती श्रम – मजदूरी। संप्राप्ति के स्रोतों के बीच के संबंध को इसी रूप में प्रकट होना चाहिए। उजरती श्रम और भू-संपत्ति पूंजी की ही भांति इतिहासतः निर्धारित सामाजिक रूप हैं; एक श्रम का, और दूसरा एकाधिकृत भूमि का, और वास्तव में दोनों ही रूप पूंजी के अनुरूप हैं और समाज की उसी आर्थिक संरचना से संबद्ध हैं।

इस सूत्र में सबसे पहले जिस चीज़ पर निगाह पड़ती है, वह यह कि पूंजी के साथ-साथ, एक उत्पादन तत्व के एक निश्चित उत्पादन प्रणाली से, सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया के

---

* पांडुलिपि से बाद में मिलाये जाने पर यह सामने आया कि मूलपाठ यहां इस प्रकार है: "die gesellschaftlichen Kräfte und zusammenhängende Form dieser Arbeit" (उनके श्रम की सामाजिक शक्तियां और इस श्रम का समाजीकृत रूप)। – सं०

** शब्दशः अनगढ़ और अपरिष्कृत समष्टि। देखिये Ovid, *Metamorphoses*, Book I, 7. – सं०

*** पाडुलिपि को फिर से पढ़ने पर पता चला है कि पाठ यहां इस प्रकार है: "wenn wir das Gemeinte nehmen" (अगर हम उस बात को लें, जो इसके मूल में है)। – सं०

एक निश्चित ऐतिहासिक रूप से संबद्ध इस रूप के साथ-साथ, एक निश्चित सामाजिक रूप के साथ समामेलित और उसके द्वारा द्योतित एक उत्पादन तत्व के साथ-साथ बिला किसी तुक के सामने मौजूद हैं : एक ओर, जमीन और दूसरी ओर, श्रम, वास्तविक श्रम प्रक्रिया के दो तत्व, जो इस भौतिक रूप में सभी उत्पादन प्रणालियों के लिए सामान्य हैं, जो प्रत्येक उत्पादन प्रक्रिया के भौतिक तत्व हैं और जिनका उसके सामाजिक रूप से क़तई कोई सरोकार नहीं है।

दूसरे। पूंजी – ब्याज, ज़मीन – किराया ज़मीन, श्रम – मज़दूरी सूत्र में पूंजी, ज़मीन और श्रम क्रमशः ब्याज (लाभ के बजाय), किराया ज़मीन और मज़दूरी के स्रोतों की तरह, उनके उत्पादों अथवा फलों की तरह सामने आते हैं; पूर्वोक्त आधार हैं, अंतोक्त परिणाम हैं, पूर्वोक्त कारण हैं, अंतोक्त कार्य हैं; और वास्तव में इस तरीक़े से कि प्रत्येक पृथक स्रोत अपने उत्पाद से इस रूप में संबद्ध है कि वह उसके द्वारा निस्सारित तथा उत्पादित किया गया होता है। सभी प्राप्तियां, – ब्याज (लाभ के बजाय), किराया और मज़दूरी – उत्पादों के मूल्य के तीन घटक हैं, अर्थात सामान्यतया मूल्य के घटक अथवा द्रव्य में व्यक्त करें, तो द्रव्य के निश्चित घटक अथवा दाम के निश्चित घटक। पूंजी – ब्याज सूत्र अब सचमुच पूंजी का सबसे निरर्थक सूत्र हो जाता है, लेकिन फिर भी यह उसके सूत्रों में तो एक है। लेकिन भला ज़मीन मूल्य, अर्थात श्रम की एक सामाजिक रूप में निर्धारित मात्रा और इसके अलावा स्वयं अपने उत्पादों के मूल्य का वह विशेष अंश कैसे उत्पन्न कर सकती है, जो किराये का गठन करता है? ज़मीन एक उत्पादन कारक के नाते एक उपयोग मूल्य, एक भौतिक उत्पाद, उदाहरण के लिए, गेहूं, उत्पन्न करने में भाग लेती है। लेकिन उसका **गेहूं के मूल्य** के उत्पादन से कोई संबंध नहीं है। जहां तक मूल्य गेहूं द्वारा व्यक्त किया जाता है, अंतोक्त को बस मूर्त सामाजिक श्रम की एक निश्चित मात्रा ही समझा जाता है, इसके लिहाज़ के बिना कि यह श्रम किस विशेष पदार्थ में अभिव्यक्त होता है अथवा इस पदार्थ का क्या विशेष उपयोग मूल्य है। यह इसका किसी भी प्रकार खंडन नहीं करता कि १) अन्य परिस्थितियां समान हों, तो गेहूं का सस्तापन या महंगापन ज़मीन की उत्पादिता पर निर्भर करता है। कृषि श्रम की उत्पादिता नैसर्गिक अवस्थाओं पर निर्भर है, और श्रम की उसी मात्रा को ऐसी उत्पादिता के अनुसार न्यूनाधिक उत्पाद, उपयोग मूल्य व्यक्त कर सकते हैं। एक बुशेल गेहूं द्वारा व्यक्त श्रम की मात्रा कितनी बड़ी है, यह श्रम की उतनी ही मात्रा द्वारा प्रदत्त बुशेलों की संख्या पर निर्भर करता है। इस प्रसंग में यह मृदा उर्वरता पर निर्भर करता है कि मूल्य उत्पाद की कितनी मात्राओं में अभिव्यक्त होगा। लेकिन यह मूल्य नियत, इस वितरण से स्वतंत्र होता है। मूल्य उपयोग मूल्य में व्यक्त होता है; और उपयोग मूल्य मूल्य के सृजन की पूर्वापेक्षा है; लेकिन एक तरफ़ ज़मीन जैसे उपयोग मूल्य को, और दूसरी तरफ़ मूल्य को, और वह भी मूल्य के एक विशेष अंश को रखकर वैपरीत्य उत्पन्न करना मूर्खता है। २) ... [यहां पांडुलिपि का क्रम भंग हो जाता है]।

३

अप्रामाणिक अर्थशास्त्र वास्तव में बूर्जुआ उत्पादन संबंधों में फंसे हुए बूर्जुआ उत्पादन के कर्ताओं की धारणाओं का मताग्रही ढंग से निर्वचन, व्यवस्थापन और पक्षपोषण करने से अधिक और कुछ नहीं करता। इसलिए हमें इससे अचरज नहीं होना चाहिए कि अप्रामाणिक अर्थशास्त्र आर्थिक संबंधों के उन इतरीभूत बाह्य रूपों में विशेषकर सुविधा अनुभव करता है, जिनमें ये prima

facie बेतुके और पूर्ण अंतर्विरोध प्रकट होते हैं, और यह कि इन संबंधों के आंतरिक सूत्र उससे जितना ही अधिक प्रच्छन्न होते हैं, वे उसे उतना ही अधिक स्वतःस्पष्ट लगते हैं, यद्यपि सामान्य लोगों को उन्हें समझने में कोई कठिनाई नहीं होती। लेकिन अगर वस्तुओं के बाह्य रूप और सार प्रत्यक्षतः मेल खाते हों, तो सारा विज्ञान अनावश्यक हो जायेगा। इस प्रकार अप्रामाणिक अर्थशास्त्र को इसका तनिक भी गुमान नहीं है कि जिस त्रिक को वह अपना प्रस्थान बिंदु मानता है, अर्थात जमीन – किराया, पूंजी – ब्याज, श्रम – मजदूरी अथवा श्रम का दाम prima facie तीन असंभव संयोग हैं। हमारे सामने सबसे पहले हैं उपयोग मूल्य, **जमीन**, जिसमें कोई मूल्य नहीं होता, और विनिमय मूल्य, **किराया**: जिससे वस्तु के रूप में कल्पित सामाजिक संबंध प्रकृति का समानुपाती बना दिया जाता है, अर्थात दो असम्मेय परिमाणों को एक दूसरे के नियत अनुपात में होना होता है। फिर **पूंजी – ब्याज** है। अगर पूंजी की कल्पना द्रव्य द्वारा स्वतंत्र रूप में द्योतित एक निश्चित मूल्य राशि की तरह की जाती है, तो यह कहना prima facie बेमानी है कि एक निश्चित मूल्य जितने का है, उससे अधिक का हो। यह पूंजी – ब्याज रूप में ही है कि सभी मध्यवर्ती कड़ियां विलुप्त हो जाती हैं और पूंजी अपने सबसे सामान्य सूत्र में परिणत हो जाती है, जो फलतः स्वयं अपने में भी अव्याख्येय और बेमानी है। अप्रामाणिक अर्थशास्त्री पूंजी – ब्याज सूत्र को, जिसमें मूल्य को स्वयं अपने असमान बना देने का जादुई गुण है, ठीक इसी कारण पूंजी – लाभ सूत्र पर तरजीह देता है कि अंतोक्त पहले ही वास्तविक पूंजीवादी संबंधों के अधिक निकट आ जाता है। इसके बाद फिर इस ख़याल से परेशान होकर कि ४ तो ५ है नहीं और १०० तालर ११० तालर नहीं हो सकते, वह मूल्य के नाते पूंजी से भागकर पूंजी के भौतिक सार पर, श्रम के उत्पादन की एक अवस्था के नाते उसके उपयोग मूल्य पर, मशीनरी, कच्ची सामग्री, आदि पर जाता है। इस प्रकार, उसके लिए पहले अबोधगम्य संबंध के स्थान पर, जिसके द्वारा ४ = ५ है, एक बार फिर एक ओर, उपयोग मूल्य, वस्तु, और दूसरी ओर, निश्चित सामाजिक उत्पादन संबंध, बेशी मूल्य के बीच का असम्मेय संबंध प्रतिस्थापित करना संभव हो जाता है, जैसे भू-संपत्ति के मामले में। जैसे ही अप्रामाणिक अर्थशास्त्री इस असम्मेय संबंध पर पहुंचता है कि उसके लिए सभी कुछ स्पष्ट हो जाता है, वह अब आगे और अधिक सोच-विचार की जरूरत नहीं महसूस करता। कारण कि वह बूर्जुआ संकल्पना में यथार्थतः "तर्कसंगत" पर पहुंच गया है। अंततः, **श्रम – मजदूरी**, अथवा श्रम का दाम, एक ऐसी अभिव्यक्ति है कि जो, जैसे पहली पुस्तक में * दिखाया जा चुका है, prima facie मूल्य और दाम की भी संकल्पना का खंडन करती है – क्योंकि अंतोक्त सामान्य रूप में मूल्य की एक निश्चित अभिव्यक्ति मात्र है। और "श्रम का दाम" बिलकुल इतना ही अयुक्त है कि जितना पीला लघुगणक। लेकिन यहां तो अप्रामाणिक अर्थशास्त्री और भी अधिक संतुष्ट है, क्योंकि उसने बूर्जुआ की गहन अंतर्दृष्टि प्राप्त कर ली है, अर्थात यह कि वह श्रम की द्रव्य से अदायगी करता है, और ठीक इसलिए कि मूल्य के सूत्र तथा संकल्पना का अंतर्विरोध उसे मूल्य को समझने के सारे दायित्व से मुक्त कर देता है।

हम[49] देख चुके हैं कि पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया सामान्यतः सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया

---

* देखिये, 'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, पृष्ठ ५६४-५७१। – सं०

[49] पांडुलिपि के अनुसार अध्याय ४८ का आरंभ। – फ़े० एं०

का एक इतिहासतः निर्धारित रूप है। अन्तोक्त उतनी ही मानव जीवन की भौतिक अवस्थाओं की उत्पादन प्रक्रिया है, जितनी कि विशिष्ट ऐतिहासिक तथा आर्थिक उत्पादन संबंधों के अंतर्गत होनेवाली स्वयं इन उत्पादन सम्बन्धों के उत्पादन तथा पुनरुत्पादन की प्रक्रिया के, और अतः इस प्रक्रिया के वाहकों, उनके अस्तित्व की भौतिक अवस्थाओं और उनके पारस्परिक संबंधों, अर्थात उनके विशेष सामाजिक-आर्थिक रूप के भी उत्पादन तथा पुनरुत्पादन की प्रक्रिया है। कारण कि अगर आर्थिक ढांचे के दृष्टिकोण से देखा जाये, तो इस उत्पादन के कर्ताओं के प्रकृति के साथ और आपस में एक दूसरे के साथ इन संबंधों का साकल्य समाज ही है। अपनी सभी पूर्ववर्तियों की ही भांति पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली भी निश्चित भौतिक अवस्थाओं के अंतर्गत चलती है, लेकिन जो, साथ ही, उन निश्चित सामाजिक संबंधों की वाहक भी होती हैं, जिनमें व्यक्ति अपने जीवन का पुनरुत्पादन करनेवाली प्रक्रिया में आ जाते हैं। इन संबंधों की ही भांति ये अवस्थाएं एक ओर तो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की पूर्वापेक्षाएं, और दूसरी ओर, उसके परिणाम तथा उपज हैं; ये उसके द्वारा उत्पादित तथा पुनरुत्पादित की जाती हैं। हमने यह भी देखा था कि पूंजी – और पूंजीपति मात्र मूर्त पूंजी ही है और उत्पादन प्रक्रिया में केवल पूंजी के अभिकर्ता के नाते ही कार्य करता है – अपने अनुरूप सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया में प्रत्यक्ष उत्पादकों, अथवा श्रमिकों से बेशी श्रम की एक निश्चित मात्रा खींचकर निकाल लेती है; पूंजी यह बेशी श्रम समतुल्य के बिना प्राप्त करती है और सारतः वह सदा बलात श्रम बना रहता है – फिर चाहे वह कितना ही स्वतंत्र संविदात्मक समझौते से उत्पन्न क्यों न प्रतीत होता हो। यह बेशी श्रम बेशी मूल्य की तरह प्रकट होता है, और इस बेशी मूल्य का अस्तित्व बेशी उत्पाद के रूप में होता है। सामान्यतः बेशी श्रम का नियत आवश्यकताओं के अलावा निष्पन्न किये गये श्रम की तरह बना रहना सदा अनिवार्य है। पूंजीवादी व्यवस्था और इसी प्रकार दास व्यवस्था, आदि के अंतर्गत यह बस एक विरोधी रूप ग्रहण कर लेता है और समाज के एक संस्तर की पूर्ण निष्क्रियता इसकी अनुपूरक हो जाती है। बेशी श्रम की एक निश्चित मात्रा दुर्घटनाओं के विरुद्ध बीमे की तरह और आबादी की वृद्धि तथा ज़रूरतों के अनुरूप पुनरुत्पादन प्रक्रिया के अनिवार्य और प्रगामी विकास के लिए आवश्यक है, जिसे पूंजीपति के दृष्टिकोण से संचय कहा जाता है। यह पूंजी के सभ्यताप्रसारक पहलुओं में एक है कि वह इस बेशी श्रम का इस प्रकार और ऐसी अवस्थाओं के अंतर्गत प्रवर्तन करती है कि जो उत्पादक शक्तियों, सामाजिक संबंधों के विकास और दासप्रथा, भूदासत्व, आदि के पूर्ववर्ती रूपों की तुलना में नये तथा उच्चतर रूप के लिए तत्वों के सर्जन के वास्ते अधिक अनुकूल होती हैं। इस प्रकार यह, एक ओर, एक ऐसे चरण को जन्म देती है, जिसमें समाज के एक हिस्से द्वारा दूसरे हिस्से के मोल ज़ोर-ज़बरदस्ती और सामाजिक विकास के एकाधिकरण (उसके भौतिक तथा बौद्धिक लाभों सहित) का ख़ात्मा हो जाता है; दूसरी ओर, यह भौतिक साधनों तथा प्रारंभिक अवस्थाओं का निर्माण करके समाज के उच्चतर रूप में इस बेशी श्रम का सामान्यतः भौतिक श्रम पर लगनेवाले समय की और अधिक कमी के साथ संयोग संभव बनाती है। कारण कि श्रम उत्पादिता के विकास के अनुसार बेशी श्रम छोटे कुल कार्य दिवस में बड़ा और बड़े कुल कार्य दिवस में सापेक्षतया छोटा हो सकता है। अगर आवश्यक श्रम काल = ३ और बेशी श्रम = ३, तो कुल कार्य दिवस = ६ और बेशी श्रम दर = १००%। अगर आवश्यक श्रम = ९ और बेशी श्रम = ३, तो कुल कार्य दिवस = १२ और बेशी श्रम दर केवल = ३३ १/३%। इस सूरत में यह श्रम उत्पादिता पर निर्भर करता है कि एक निश्चित काल में, अतः एक निश्चित बेशी श्रम काल

में भी, कितने उपयोग मूल्य का उत्पादन होगा। इसलिए समाज की वास्तविक संपदा और उसकी पुनरुत्पादन प्रक्रिया का निरंतर प्रसार करने की संभावना बेशी श्रम की मीयाद पर नहीं, बल्कि उसकी उत्पादिता पर और उसके निष्पादित किये जाने की न्यूनाधिक विपुल उत्पादनावस्थाओं पर निर्भर करती हैं। वास्तव में स्वतंत्रता के अधिक्षेत्र का आरंभ वहीं से होता है, जहां आवश्यकता और ऐहिक कारकों द्वारा निर्धारित श्रम बंद हो जाता है; अतः स्वाभाविकतया ही यह वास्तविक भौतिक उत्पादन के क्षेत्र के बाहर है। जिस प्रकार जंगली आदमी को अपनी आवश्यकताओं को तुष्ट करने के लिए, अपने जीवन के रक्षण तथा पुनरुत्पादन के लिए प्रकृति से जूझना होता है, इसी प्रकार सभ्य मानव को भी करना होता है और ऐसा उसे सभी सामाजिक संरचनाओं में और सभी संभव उत्पादन प्रणालियों के अंतर्गत करना होता है। उसके विकास के साथ भौतिक आवश्यकता का यह अधिक्षेत्र उसकी ज़रूरतों के परिणामस्वरूप बढ़ता जाता है; लेकिन साथ ही वे उत्पादन शक्तियां भी बढ़ती जाती हैं, जो इन ज़रूरतों की तुष्टि करती हैं। इस क्षेत्र में स्वतंत्रता सामाजिक मानव में, प्रकृति के साथ अपने अंतर्विनिमय का युक्तिसंगत विनियमन करनेवाले, प्रकृति की अंध शक्तियों की भांति उसके द्वारा शासित होने के बजाय उसे अपने संयुक्त नियंत्रण के अधीन लानेवाले, और इसकी शक्ति के न्यूनतम व्यय के साथ और अपने मानव स्वरूप के अधिकतम अनुकूल तथा उसके योग्य अवस्थाओं के अंतर्गत सिद्धि करनेवाले सहयोगी उत्पादकों में ही सन्निहित हो सकती है। लेकिन फिर भी यह आवश्यकता का अधिक्षेत्र ही बना रहता है। इसके आगे मानव शक्ति का वह विकास शुरू हो जाता है, जो अपने आप में साध्य है, स्वतंत्रता का सच्चा अधिक्षेत्र है, किंतु जिसका मुकुलन आवश्यकता के इस अधिक्षेत्र को अपना आधार बनाकर ही हो सकता है। कार्य दिवस का कम होना इसकी बुनियादी पूर्वापेक्षा है।

पूंजीवादी समाज में यह बेशी मूल्य, अथवा यह बेशी उत्पाद (उसके वितरण में सांयोगिक घट-बढ़ों को अगर अलग रहने दिया जाये और केवल उसके नियामक नियम, उसकी प्रमानक सीमाओं के दृष्टिगत) पूंजीपतियों के बीच सामाजिक पूंजी में प्रत्येक के हिस्से के यथानुपात लाभांशों की तरह विभाजित हो जाता है। इस रूप में बेशी मूल्य पूंजी के हिस्से में चले जानेवाले औसत लाभ, अपनी बारी में उद्यम के लाभ और ब्याज में विभाजित हो जानेवाले औसत लाभ की तरह प्रकट होता है और जो इन कोटियों के अंतर्गत अलग-अलग प्रकार के पूंजीपतियों के पल्ले पड़ सकता है। लेकिन पूंजी द्वारा बेशी मूल्य, अथवा बेशी उत्पाद के इस हस्तगतकरण तथा वितरण का अपना परिघ भू-संपत्ति में है। जैसे कार्यरत पूंजीपति बेशी श्रम, और उसके द्वारा लाभ के रूप में बेशी मूल्य तथा बेशी उत्पाद को श्रमिक से खींच निकालता है, वैसे ही भूस्वामी अपनी बारी में इस बेशी मूल्य, अथवा बेशी उत्पाद के एक अंश को पूंजीपति से पूर्वनिरूपित नियमों के अनुसार किराये के रूप में निकाल लेता है।

अतः, यहां लाभ की बेशी मूल्य के पूंजी के हिस्से में चले जानेवाले अंश की तरह बात करते समय हमारा आशय औसत लाभ (उद्यम के लाभ जमा ब्याज के बराबर) से होता है, जो कुल लाभ (संहति में समस्त बेशी मूल्य के सर्वसम) से किराये की कटौती द्वारा पहले ही सीमित हो चुका होता है; अर्थात किराये का निकाला जाना माना हुआ है। इस प्रकार, पूंजी का लाभ (उद्यम का लाभ जमा ब्याज) और किराया जमीन बेशी मूल्य के विशेष घटकों, ऐसी कोटियों के अलावा और कुछ नहीं हैं, जिनके द्वारा बेशी मूल्य का इसके अनुसार विभेदन किया जाता है कि वह पूंजी के हिस्से में जाता है कि भू-संपत्ति के, लेकिन जिन शीर्षकों

से उसकी प्रकृति में लेश मात्र भी अंतर नहीं आता है। एकसाथ मिलकर ये सामाजिक बेशी मूल्य की राशि का गठन करते हैं। पूंजी श्रमिकों से बेशी श्रम को, जिसे बेशी मूल्य तथा बेशी उत्पाद द्वारा व्यक्त किया जाता है, सीधे खींचती है। इस प्रकार, इस अर्थ में उसे बेशी मूल्य का उत्पादक माना जाना जा सकता है। भू-संपत्ति का वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया के साथ कोई संबंध नहीं है। उसकी भूमिका उत्पादित बेशी मूल्य के एक अंश को पूंजी के जेब से स्वयं अपने जेब में डालने तक ही सीमित है। अलबत्ता पूंजीवादी उत्पादन में भूस्वामी न सिर्फ़ पूंजी पर अपने द्वारा डाले जानेवाले दबाव के ज़रिये ही, न सिर्फ़ इसलिए कि बड़ी भू-संपत्ति पूंजीवादी उत्पादन की एक पूर्वापेक्षा और शर्त है, क्योंकि वह श्रमिक की उत्पादन साधनों से बेदख़ली की एक पूर्वापेक्षा और शर्त है, बल्कि विशेषकर इसलिए भूमिका निबाहता है कि वह उत्पादन की सबसे अनिवार्य शर्तों में से एक के मूर्त रूप में सामने आता है।

अंत में, अपनी वैयक्तिक श्रम शक्ति के स्वामी तथा विक्रेता की अपनी हैसियत में श्रमिक उत्पाद का एक अंश मज़दूरी के नाम से प्राप्त करता है, जिसमें उसके श्रम का वह अंश प्रकट होता है, जिसे हम आवश्यक श्रम कहते हैं, अर्थात जो इस श्रम शक्ति के अनुरक्षण तथा पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक होता है, फिर चाहे इस अनुरक्षण तथा पुनरुत्पादन की अवस्थाएं विरल हों या प्रचुर, अनुकूल हों या प्रतिकूल।

और बातों में इन संबंधों में चाहे जो भी असमानता हो, इन सब में यह समानता है: साल-दर-साल पूंजी पूंजीपति को लाभ, ज़मीन भूस्वामी को किराया ज़मीन, और श्रम शक्ति – सामान्य अवस्थाओं में और जब तक कि वह उपयोगी श्रम शक्ति बनी रहती है – श्रमिक को मज़दूरी प्रदान करती है। प्रति वर्ष उत्पादित कुल मूल्य के ये तीनों अंश, और प्रति वर्ष सृजित कुल उत्पाद के अनुरूप अंश (किसी भी तरह के संचय को फ़िलहाल हम अलग छोड़ देंगे) अपने-अपने स्वामियों द्वारा, उनके पुनरुत्पादन के स्रोत को निःशेष किये बिना, प्रति वर्ष उपभोग में लाये जा सकते हैं। वे किसी सदाबहार पेड़, या यों कहिये कि तीन पेड़ों के प्रतिवर्ष उपभोज्य फलों की तरह हैं; वे तीन वर्गों – पूंजीपति, भूस्वामी तथा श्रमिक – की वार्षिक आयें, कार्यरत पूंजीपति द्वारा बेशी श्रम के प्रत्यक्ष अपहर्ता और सामान्यतः श्रम के नियोजक की अपनी हैसियत से वितरित की जानेवाली संप्राप्तियां हैं। इस प्रकार, पूंजीपति को पूंजी, भूस्वामी को ज़मीन, और श्रमिक को श्रम शक्ति, बल्कि कहिये कि स्वयं श्रम (क्योंकि वह वास्तव में श्रम शक्ति को जिस तरह वह मूर्त होती है, सिर्फ़ वैसे ही बेचता है, और क्योंकि श्रम शक्ति का दाम, जैसे पहले दिखलाया गया है, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत अनिवार्यतः श्रम के दाम की तरह सामने आता है) अपनी विशिष्ट संप्राप्तियों के तीन भिन्न स्रोत, अर्थात लाभ, किराया ज़मीन और मज़दूरी, प्रतीत होते हैं। इस अर्थ में वे वास्तव में ऐसे हैं भी कि पूंजीपति के लिए पूंजी बेशी श्रम का एक बारहमासी पंप है, भूस्वामी के लिए ज़मीन पूंजी द्वारा खींचे बेशी मूल्य को आकर्षित करनेवाला बारहमासी चुंबक है, और अंत में, श्रम श्रमिक द्वारा सर्जित मूल्य के एक अंश को, और इस प्रकार, सामाजिक उत्पाद के मूल्य के इस अंश द्वारा मापे जानेवाले एक अंश, अर्थात जीवनावश्यक वस्तुओं को मज़दूरी के शीर्षक के अंतर्गत प्राप्त करने की सतत स्वपुनःस्थापी शर्त और निरंतर स्वपुनःस्थापी साधन है। इसके अलावा, वे इस अर्थ में भी ऐसे ही हैं कि पूंजी मूल्य के और इस तरह वार्षिक श्रम के उत्पाद के एक अंश का लाभ के रूप में नियतन कर देती है; भू-संपत्ति एक और अंश का किराये के रूप में नियतन कर देती है; और उजरती श्रम एक तीसरे अंश का मज़दूरी के रूप में नियतन कर

देता है और ठीक इस रूपांतरण द्वारा ही उसे पूंजीपति, भूस्वामी तथा श्रमिक की संप्राप्तियों में परिवर्तित करता है, तथापि स्वयं उस सारवस्तु का सृजन किये बिना, जो इन विभिन्न कोटियों में रूपांतरित होती है। उलटे, वितरण इस सारवस्तु, अर्थात वार्षिक उत्पाद के कुल मूल्य के अस्तित्व की पूर्वकल्पना करता है, जो मूर्त सामाजिक श्रम के सिवा और कुछ नहीं है। फिर भी यह बात उत्पादन के कर्ताओं, उत्पादन प्रक्रिया में विभिन्न कृत्यों के वाहकों के सामने इस रूप में नहीं, बल्कि इसके विपरीत, विकृत रूप में आती है। ऐसा क्यों होता है, इसका हमारे विश्लेषण के आगामी क्रम में निरूपण किया जायेगा। पूंजी, भू-संपत्ति तथा श्रम उत्पादन के इन कर्ताओं के सामने तीन भिन्न, स्वतंत्र स्रोतों की तरह आते हैं, जिनसे प्रति वर्ष उत्पादित मूल्य के तीन भिन्न घटकों – और इस प्रकार, उस उत्पाद की उत्पत्ति होती है, जिसमें उसका अस्तित्व है; अतः, जिनसे इस मूल्य के सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में विशेष कारकों के हिस्से में संप्राप्तियों के नाते जानेवाले विभिन्न रूप ही नहीं उत्पन्न होते हैं, बल्कि जिनसे स्वयं यह मूल्य, और इस प्रकार, आय के इन रूपों की सारवस्तु की उत्पत्ति होती है।

[यहां पांडुलिपि का फ़ोलिओ आकार का एक पन्ना ग़ायब है।]

...विभेदक किराया सापेक्ष मृदा उर्वरता से, दूसरे शब्दों में, मिट्टी से ही उत्पन्न गुणों से जुड़ा हुआ है। लेकिन, पहले तो जहां तक कि वह भिन्न मृदा प्रकारों के उत्पादों के भिन्न व्यष्टिक मूल्यों पर आधारित है, वह मात्र अभी उल्लिखित निर्धारण ही है; दूसरे, जहां तक यह नियामक सामान्य बाज़ार मूल्य पर आधारित है, जो इन व्यष्टिक मूल्यों से भिन्न होता है, यह प्रतिद्वंद्विता के ज़रिये संपादित सामाजिक नियम है, जिसका न मिट्टी से संबंध है, न उसकी उर्वरता की विभिन्न मात्राओं से।

लग सकता है कि कम से कम "श्रम – मज़दूरी" में कोई युक्तिसंगत संबंध व्यक्त होता होगा। लेकिन इसमें इतनी ही युक्तिसंगति है कि जितनी "ज़मीन – किराया ज़मीन" के मामले में है। जहां तक श्रम मूल्य सृजक है और जिंसों के मूल्य में व्यक्त होता है, उसका इस मूल्य के विभिन्न कोटियों में वितरण से कोई सरोकार नहीं है। जहां तक उसका विशिष्टतः उजरती श्रम का सामाजिक स्वरूप है, वह मूल्य सृजक नहीं है। सामान्य रूप में यह पहले ही दिखलाया जा चुका है कि मज़दूरी अथवा श्रम का दाम श्रम शक्ति के मूल्य अथवा दाम के लिए एक अयौक्तिक अभिव्यक्ति मात्र है; और यह श्रम शक्ति जिन विशिष्ट सामाजिक अवस्थाओं के अंतर्गत बेची जाती है, उनका उत्पादन में एक सामान्य कर्ता के नाते श्रम से कोई संबंध नहीं है। श्रम जिंस के उस मूल्य घटक में भी मूर्त होता है, जो मज़दूरी के नाते श्रम शक्ति के दाम का गठन करता है; वह इस अंश का इसी प्रकार सर्जन करता है कि जिस प्रकार उत्पाद के अन्य अंशों का, लेकिन वह इस अंश में उन अंशों से, जो किराये अथवा लाभ का गठन करते हैं, न अधिक मूर्त होता है और न भिन्न प्रकार से ही। और सामान्यतः जब हम श्रम का मूल्य सृजक के रूप में नियतन करते हैं, तो हम उसे उत्पादन की एक शर्त के नाते उसके ठोस रूप में नहीं, बल्कि उसके सामाजिक परिसीमन में ही लेते हैं, जो उजरती श्रम के परिसीमन से भिन्न है।

"पूंजी – लाभ" व्यंजना भी यहां ग़लत है। अगर पूंजी को केवल उसी संबंध में, जिसमें वह बेशी मूल्य उत्पादित करती है, अर्थात श्रमिक के साथ अपने संबंध में ही देखा जाता है, जिसके द्वारा वह श्रम शक्ति, अर्थात उजरती मज़दूर पर डाले गये दबाव के ज़रिये बेशी श्रम ऐंठती है, तो इस बेशी मूल्य में लाभ (उद्यम का लाभ जमा ब्याज) के अलावा किराया भी,

संक्षेप में समस्त अविभाजित बेशी मूल्य सन्निहित होता है। इसके विपरीत पूंजी को यहां, संप्राप्ति के एक स्रोत के नाते, पूंजीपति के हिस्से में आनेवाले अंश की सापेक्षता में ही रखा जाता है। यह वह बेशी मूल्य नहीं है, जो पूंजी आम तौर पर ऐंठती है, बल्कि उसका वह अंश मात्र है, जो वह पूंजीपति के लिए ऐंठती है। सूत्र को "पूंजी – ब्याज" में रूपांतरित करने के साथ तो सारा संबंध और भी अधिक ग़ायब हो जाता है।

अगर हमने पहले उपरोक्त तीन स्रोतों की असमानता को लिया था, तो अब हम देखते हैं कि दूसरी ओर, उनके उत्पाद, उनकी प्रशाखाएं, अथवा संप्राप्तियां एक ही क्षेत्र, मूल्य के क्षेत्र में आते हैं। लेकिन इस अंतर का (केवल असम्मेय परिमाणों ही नहीं, बल्कि पूर्णतः असमान, परस्पर असंबद्ध और अतुलनीय वस्तुओं में इस संबंध का) इस लिहाज़ से प्रतिकार हो जाता है कि ज़मीन तथा श्रम की भांति पूंजी को मात्र एक भौतिक पदार्थ, अर्थात महज़ एक उत्पादित उत्पादन साधन समझा जाता है, और इस प्रकार, श्रमिक तथा ऐसे ही मूल्य की सापेक्षता में भी उसका अमूर्तीकरण हो जाता है।

तीसरे, अगर इसी प्रकार समझा जाये, तो पूंजी – ब्याज (लाभ), ज़मीन – किराया, श्रम – मज़दूरी सूत्र एक समरूप तथा सममित विसंगति प्रस्तुत करता है। वास्तव में, उजरती श्रम चूंकि श्रम के समाजतः निर्धारित रूप की तरह सामने नहीं आता, बल्कि इसके विपरीत सारा श्रम अपनी प्रकृति से ही उजरती श्रम की तरह सामने आता है (पूंजीवादी उत्पादन संबंधों के शिकंजे में फंसे लोगों को वह ऐसे ही लगता है), इसलिए श्रम की भौतिक अवस्थाओं – उत्पादित उत्पादन साधनों तथा ज़मीन – द्वारा उजरती श्रम की सापेक्षता में ग्रहण किये जानेवाले निश्चित विशिष्ट सामाजिक रूप (बिलकुल वैसे ही कि जैसे विलोमतः अपनी बारी में वे उजरती श्रम की पूर्वकल्पना करते हैं) इन श्रमावस्थाओं के भौतिक अस्तित्व अथवा उनके द्वारा वास्तविक श्रम प्रक्रिया में, उसके ठोस इतिहासतः निर्धारित रूप से निरपेक्षतः, अथवा यों कहिये कि **किसी भी** सामाजिक रूप से निरपेक्षतः, धारण किये जानेवाले रूप से प्रत्यक्षतः संपात करते हैं। इस प्रकार श्रमावस्थाओं का बदला हुआ रूप, अर्थात श्रम से वियोजित और उसके समने स्वतंत्रतः आनेवाला रूप, जिसमें उत्पादित उत्पादन साधन इस तरह से पूंजी में, और ज़मीन एकाधिकृत ज़मीन, अथवा भू-संपत्ति में रूपांतरित हो जाते हैं – एक निश्चित ऐतिहासिक युग से संबद्ध यह रूप सामान्यतः उत्पादन प्रक्रिया में उत्पादित उत्पादन साधनों के और ज़मीन के अस्तित्व तथा कार्य के अनुरूप हो जाता है। ये उत्पादन साधन प्रकृति से सामान्यतः पूंजी होते हैं; पूंजी इन उत्पादन साधनों के लिए एक "आर्थिक अभिधान" मात्र है; और इसलिए स्वयं अपने में, प्रकृति से ही, ज़मीन भूस्वामियों की एक ख़ास संख्या द्वारा एकाधिकृत धरती है। जैसे उत्पादक के सामने उत्पाद पूंजी और पूंजीपतियों में – जो वास्तव में पूंजी का मूर्त रूप मात्र हैं – एक स्वतंत्र शक्ति की तरह आते हैं, वैसे ही ज़मीन भी भूस्वामी में मूर्त हो जाती और उसी की तरह से, एक स्वतंत्र शक्ति के नाते, अपनी सहायता से सृजित उत्पाद का अपना हिस्सा मांगने के लिए सीख़-पा हो जाती है। अतः, ऐसा नहीं कि ज़मीन अपनी उर्वरता की बहाली और सुधार के लिए उत्पाद का अपना उचित अंश पा लेती है, बल्कि इसके बजाय भूस्वामी उत्पाद का एक हिस्सा बेच खाने अथवा उड़ा देने के लिए ले लेता है। स्पष्ट है कि पूंजी श्रम की उजरती श्रम की तरह पूर्वकल्पना करती है। लेकिन इतना ही स्पष्ट यह भी है कि अगर श्रम को उजरती श्रम के नाते प्रस्थान बिंदु माना जाता है, जिससे सामान्यतः श्रम का उजरती श्रम से तादात्म्य स्वतःस्पष्ट लगता है, तो पूंजी और एकाधिकृत ज़मीन को भी

सामान्यतः श्रम की सापेक्षता में श्रमावस्थाओं के नैसर्गिक रूप की तरह प्रकट होना चाहिए। तब पूंजी श्रम साधनों के नैसर्गिक रूप और इस प्रकार सामान्यतः श्रम प्रक्रिया में उनके कार्य से उद्भूत बिलकुल यथार्थ गुण की तरह सामने आती है। इस प्रकार पूंजी और उत्पादित उत्पादन साधन एकरूप पद बन जाते हैं। इसी प्रकार ज़मीन और निजी स्वामित्व के ज़रिये एकाधिकृत ज़मीन भी एकरूप बन जाती हैं। अतः अपने में श्रम साधन, जो प्रकृति से ही पूंजी हैं, उसी तरह लाभ का स्रोत बन जाते हैं कि जिस प्रकार अपने में ज़मीन किराये का स्रोत बन जाती है।

श्रम अपने में, सोद्देश्य उत्पादक कार्यकलाप के नाते अपनी स्वाभाविक हैसियत में, उत्पादन साधनों से उनके सामाजिक नियत रूप में नहीं, बल्कि इसके विपरीत उनके, श्रम सामग्री तथा साधनों के नाते, ठोस साररूप में संबद्ध होता है; अंतोक्त भी इसी प्रकार एक दूसरे से केवल भौतिक रूप में, उपयोग मूल्यों के नाते ही भिन्न होते हैं, उदाहरण के लिए, ज़मीन अनुत्पादित श्रम साधन के नाते, तो अन्य उत्पादित श्रम साधनों के नाते। अतः अगर श्रम उजरती श्रम के साथ मेल खाता है, तो इसी प्रकार वह विशेष सामाजिक रूप, जिसमें श्रमावस्थाएं श्रम के मुक़ाबले में होती हैं, भी उनके भौतिक अस्तित्व के साथ मेल खाता है। इस प्रकार श्रम साधन अपने में पूंजी हैं और ज़मीन अपने में भू-संपत्ति है। अतः इन श्रमावस्थाओं की श्रम की सापेक्षता में रूपगत स्वतंत्रता, उजरती श्रम के संदर्भ में इस स्वतंत्रता का अनूठा रूप उनका वस्तुओं के नाते, उत्पादन की भौतिक अवस्थाओं के नाते उनसे एक अवियोज्य गुण है, उत्पादन तत्वों के नाते उनका एक सहज, अंतर्भूत लक्षण है। पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया में उनका एक निश्चित ऐतिहासिक युग की छाप लिये निश्चित सामाजिक स्वरूप मानो अनादि काल से उत्पादन प्रक्रिया के तत्वों के नाते उनका एक नैसर्गिक और अंतर्भूत तात्विक लक्षण है। इसलिए ऐसा प्रतीत होना चाहिए कि श्रम के मूल कार्यक्षेत्र के नाते, प्रकृति की शक्तियों के अधिक्षेत्र के नाते, श्रम के सभी विषयों के पहले से विद्यमान आगार के नाते पृथ्वी द्वारा अदा की जानेवाली अलग भूमिका, और सामान्य उत्पादन प्रक्रिया में उत्पादित उत्पादन साधनों (उपकरणों, कच्चे माल, आदि) द्वारा अदा की जानेवाली दूसरी अलग भूमिका उन्हें पूंजी तथा भू-संपत्ति के नाते अलग-अलग हिस्सों में व्यक्त होती हैं, अर्थात जो लाभ (ब्याज) तथा किराये के रूप में उनके सामाजिक प्रतिनिधियों के हिस्से में आते हैं, जैसे श्रमिक के लिए उत्पादन प्रक्रिया में उसका श्रम जो भाग निबाहता है, वह मज़दूरी में व्यक्त होता है। अतः ऐसा लगता है कि किराया, लाभ तथा मज़दूरी साधारण श्रम प्रक्रिया में ज़मीन, उत्पादित उत्पादन साधनों तथा श्रम द्वारा निबाही जानेवाली भूमिका से उत्पन्न होते हैं, चाहे हम हर ऐतिहासिक निर्धारण को अलग रहने देकर इस श्रम प्रक्रिया को केवल मनुष्य और प्रकृति के बीच चलनेवाली प्रक्रिया ही मानें। बात तब भी यही होती है, सिर्फ़ दूसरे रूप में, जब कहा जाता है: उजरती मज़दूर का अपने लिए श्रम जिस उत्पाद में अभिव्यक्त होता है, अर्थात उसकी आय अथवा संप्राप्ति वह मात्र मज़दूरी है, मूल्य का वह अंश (और फलतः इस मूल्य से मापित सामाजिक उत्पाद) है, जो उसकी मज़दूरी को व्यक्त करता है। अतः, अगर उजरती श्रम सामान्यतः श्रम से मेल खाता है, तो मज़दूरी श्रम की उपज से मेल खाती है और मज़दूरी को प्रकट करनेवाला मूल्यांश सामान्यतः श्रम द्वारा सर्जित मूल्य से मेल खाता है। लेकिन इस तरह से मूल्य के दूसरे अंश – लाभ तथा किराया – भी मज़दूरी के संदर्भ में स्वतंत्र प्रतीत होते हैं और उन्हें स्वयं अपने स्रोतों से उत्पन्न होना चाहिए, जो श्रम से विशिष्टतः भिन्न तथा स्वतंत्र हैं; उन्हें उत्पादन के उन

सहभागी तत्वों से उत्पन्न होना चाहिए, जिनके स्वामियों के हिस्से में वे आते हैं; अर्थात लाभ उत्पादन साधनों, पूंजी के भौतिक तत्वों से उत्पन्न होता है, और किराया भूस्वामी द्वारा द्योतित जमीन, अथवा प्रकृति से उत्पन्न होता है (रोशर)।*

इस प्रकार भू-संपत्ति, पूंजी तथा उजरती श्रम संप्राप्ति के स्रोतों से – इस अर्थ में कि पूंजीपति के पास पूंजी उसके द्वारा श्रम से ऐंठे बेशी मूल्य के एक अंश को लाभ के रूप में खींच लाती है, और जमीन पर एकाधिकार भूस्वामी के पास एक और अंश को किराये के रूप में खींच लाता है और श्रमिक के पास श्रम मूल्य के शेष अंश को मजदूरी के रूप में रहने देता है – ऐसे स्रोतों से कि जिनके द्वारा मूल्य का एक अंश लाभ के रूप में, एक और अंश किराये के रूप में, और तीसरा अंश मजदूरी के रूप में बदल जाता है, ऐसे वास्तविक स्रोतों में रूपांतरित हो जाते हैं, जिनसे ये मूल्यांश और जिस उत्पाद में वे अस्तित्वमान होते हैं, अथवा जिससे वे विनिमेय होते हैं, उनके अलग-अलग अंश स्वयं उत्पन्न होते हैं, और इस प्रकार, अंतिम विश्लेषण में, जिनसे स्वयं उत्पाद का मूल्य उत्पन्न होता है।[50]

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की, और पण्य उत्पादन तक की सरलतम कोटियों के प्रसंग में, जिंसों तथा द्रव्य के प्रसंग में, हम उस रहस्यमय लक्षण को पहले ही इंगित कर चुके हैं, जो सामाजिक संबंधों को, जिनके लिए धन के भौतिक तत्व उत्पादन में वाहकों का काम करते हैं, स्वयं इन वस्तुओं (जिंसों) के गुणों में रूपांतरित कर देता है और इससे भी अधिक सुस्पष्टतः स्वयं उत्पादन संबंध को एक वस्तु (द्रव्य) में रूपांतरित कर देता है। समाज के सभी रूप, जहां तक उनके पण्य उत्पादन तथा द्रव्य परिचलन के चरण तक पहुंचने की बात है, इस विपर्यास में भाग लेते हैं। लेकिन पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत और पूंजी के मामले में, जो उसकी प्रमुख कोटि, उसका निर्धारक उत्पादन संबंध है, इस मायाबद्ध तथा विपर्यस्त विश्व का और विकास होता है। पूंजी को यदि प्रथमतः वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया में बेशी श्रम ऐंठने के साधन की तरह देखा जाये, तो यह संबंध अब भी बेहद सीधा-सा ही नजर आता है और वास्तविक संबंध अपने को इस प्रक्रिया के वाहकों, स्वयं पूंजीपतियों को प्रभावित कर देता है और उनकी चेतना में जम जाता है। कार्य दिवस की सीमाओं के बारे में प्रचंड संघर्ष इसे अत्यंत प्रत्यायक रूप में दर्शाता है। लेकिन इस अपरोक्ष क्षेत्र, श्रम तथा पूंजी के बीच प्रत्यक्ष क्रिया के क्षेत्र के भीतर तक भी बात कोई ऐसी सीधी-सादी नहीं है। वास्तविक विशिष्टरूपेण पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में जिससे सामाजिक श्रम की उत्पादक शक्तियां विकसित होती हैं, सापेक्ष बेशी मूल्य के विकास के साथ ये उत्पादक शक्तियां और प्रत्यक्ष श्रम प्रक्रिया में श्रम के सामाजिक अंतःसंबंध श्रम से पूंजी को अंतरित हो गये प्रतीत होते हैं। पूंजी इस प्रकार एक अत्यंत रहस्यमय सत्व बन जाती है, क्योंकि श्रम की सारी सामाजिक शक्तियां अपने में श्रम के बजाय पूंजी के कारण और स्वयं पूंजी की कोख से उत्पन्न होती प्रतीत होती हैं। इसके बाद

---

* Roscher, *System der Volkswirtschaft*, Band I, *Die Grundlagen der Nationalökonomie*, Stuttgart und Augsburg, 1858. – सं०

[50] "मजदूरी, लाभ तथा किराया समस्त संप्राप्ति के, और ऐसे ही समस्त विनिमेय मूल्य के भी, तीन मूल स्रोत हैं।" (ऐडम स्मिथ) [*An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations*, Aberdeen, London, 1848, S. 43. – सं०] – "इस प्रकार भौतिक उत्पादन के कारण साथ ही सभी विद्यमान मूल संप्राप्तियों के स्रोत भी होते हैं।" (Storch, [*Cours d'économie politique*, St.-Pétersbourg, 1815. – सं०], I, p. 259. – सं०)

सारवस्तु तथा रूप के अपने परिवर्तनों के साथ परिचलन प्रक्रिया बीच में आ जाती है, जिसमें पूंजी के सभी भाग, कृषि पूंजी तक, उसी हद तक खिंच आते हैं कि जिस हद तक विशिष्ट पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का विकास होता है। यह ऐसा क्षेत्र है, जहां वे संबंध पूर्णतः पृष्ठ-भूमि में धकेल दिये जाते हैं, जिनके अंतर्गत मूल्य मूलतः उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष उत्पादन प्रक्रिया में पूंजीपति पहले से ही जिंसों के उत्पादक और जिंस उत्पादन के प्रबंधक की तरह साथ-साथ काम कर रहा होता है। अतः यह उत्पादन प्रक्रिया उसके सामने किसी भी प्रकार मात्र बेशी मूल्य उत्पादित करनेवाली प्रक्रिया की तरह नहीं आती। लेकिन वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया में पूंजी द्वारा ऐंठा जानेवाला और जिंसों में प्रकट होनेवाला बेशी मूल्य चाहे जो हो, जिंसों में समाविष्ट मूल्य तथा बेशी मूल्य का पहले परिचलन प्रक्रिया में सिद्धिकरण होना चाहिए। और उत्पादन में अग्रसारित मूल्यों का प्रत्यास्थापन तथा विशेषकर जिंसों में समाविष्ट बेशी मूल्य, दोनों ही परिचलन प्रक्रिया में न केवल सिद्धिकृत होते, बल्कि उससे उत्पन्न होते भी प्रतीत होते हैं; यह ऐसा आभास है, जिसे दो तथ्य विशेषकर पुष्ट करते हैं: एक तो बिक्री में बनाया जाने-वाला मुनाफ़ा छल, फ़रेब, भीतरी जानकारी, चातुर्य और हजारों इष्ट बाज़ार अवसरों पर निर्भर करता है; और फिर यह तथ्य कि श्रम काल के साथ यहां एक दूसरा निर्धारक कारक – परिचलन काल भी है। वास्तव में यह मूल्य तथा बेशी मूल्य की उत्पत्ति के विरुद्ध केवल नका-रात्मक परिघ की तरह ही काम करता है, लेकिन आभास वह यह देता है कि मानो स्वयं श्रम जैसा ही निश्चित आधार हो और एक ऐसे निर्णायक तत्व को ले आता हो, जो श्रम से स्वतंत्र है और पूंजी की प्रकृति से उत्पन्न होता है। दूसरी पुस्तक में हमें क़ुदरती तौर पर इस परिचलन क्षेत्र को केवल उसके द्वारा निर्मित रूपगत निर्धारणों के संदर्भ में प्रस्तुत करना और इस क्षेत्र में पूंजी के ढांचे में आनेवाले और विकास को दर्शाना था। लेकिन वास्तव में यह क्षेत्र प्रति-द्वंद्विता का क्षेत्र है, जो हर अलग मामले को अलग से देखा जाये, तो संयोग द्वारा शासित होता है; अतः जहां वह आंतरिक नियम, जो इन संयोगों में लागू होता और उन्हें विनियमित करता है, केवल तभी दृष्टिगोचर होता है कि जब इन संयोगों का बड़ी संख्या में समूहन होता है, और इसलिए जहां वह उत्पादन में अलग-अलग कर्ताओं के लिए अदृश्य और अबोधगम्य बना रहता है। लेकिन आगे: प्रत्यक्ष उत्पादन प्रक्रिया तथा परिचलन प्रक्रिया की अन्विति के नाते वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया नयी संरचनाओं को जन्म देती है, जिनमें आंतरिक संबंधों की धारी अधिकाधिक लुप्त होती जाती है, उत्पादन संबंध एक दूसरे से स्वतंत्र हो जाते हैं और संघटक मूल्य एक दूसरे से स्वतंत्र रूपों में अश्मीभूत हो जाते हैं।

जैसे कि हम देख चुके हैं, बेशी मूल्य का लाभ में परिवर्तन जितना उत्पादन प्रक्रिया द्वारा, उतना ही परिचलन प्रक्रिया द्वारा निर्धारित होता है। लाभ के रूप में बेशी मूल्य अब पूंजी के श्रम में निवेशित उस अंश के साथ संबद्ध नहीं रहता, जिससे वह उत्पन्न होता है, वरन कुल पूंजी से संबद्ध हो जाता है। लाभ दर स्वयं अपने नियमों द्वारा विनियमित होती है, जो बेशी मूल्य दर के अपरिवर्तित रहते हुए उसका बदलना संभव कर देते हैं, अथवा आवश्यक तक बना देते हैं। यह सब बेशी मूल्य की वास्तविक प्रकृति को और इस प्रकार पूंजी की वास्त-विक क्रियाविधि को अधिकाधिक अस्पष्ट करता जाता है। लाभ के औसत लाभ में और मूल्यों के उत्पादन दामों में, बाज़ार दामों के नियामक औसतों में रूपांतरण के ज़रिये ऐसा और भी अधिक किया जाता है। यहां एक जटिल सामाजिक प्रक्रिया, पूंजियों की समकरण प्रक्रिया बीच में आ जाती है, जो जिंसों के सापेक्ष औसत दामों को उनके मूल्यों से पृथक कर देती है और

ऐसे ही विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में (प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र विशेष में पूंजी के व्यष्टिक निवेशों से बिलकुल अलग) औसत लाभों को विशेष पूंजियों द्वारा श्रम के वास्तविक समुपयोजन से जुदा कर देती है। ऐसा न केवल प्रतीत ही होता है, बल्कि वास्तव में है भी कि जिंसों का औसत दाम उनके मूल्यों से, अतः उनमें सिद्धिकृत श्रम से भिन्न होता है और किसी पूंजी विशेष का औसत लाभ उस बेशी मूल्य से भिन्न होता है, जो इस पूंजी ने अपने द्वारा नियोजित श्रमिकों से ऐंठा है। जिंसों का मूल्य सीधे और मात्र घटती-बढ़ती श्रम उत्पादिता के उत्पादन दामों के उतार-चढ़ाव पर, उनकी गति पर न कि उनकी अंतिम सीमाओं पर प्रभाव में प्रकट होता है। लाभ श्रम के प्रत्यक्ष शोषण द्वारा केवल गौणतः ही निर्धारित होता प्रतीत होता है, क्योंकि अंतोक्त पूंजीपति को प्रत्यक्षतः ऐसे शोषण से निरपेक्ष रूप में बने रहनेवाले नियामक बाज़ार दामों से भिन्न लाभ का सिद्धिकरण करने देता है। स्वयं सामान्य औसत लाभ पूंजी में अंतर्भूत और शोषण से स्वतंत्र प्रतीत होते हैं; असामान्य शोषण, अथवा अनुकूल, असाधारण अवस्थाओं के अंतर्गत औसत शोषण तक, केवल औसत लाभ से विचलनों का ही, न कि स्वयं इस लाभ का निर्धारण करता प्रतीत होता है। लाभ का उद्यम के लाभ और ब्याज में विभाजन (वाणिज्यिक लाभ तथा द्रव्य व्यापार से होनेवाले लाभ के अंतराक्षेप की बात किये बिना, जो परिचलन पर आधारित हैं और पूर्णतः उसी से, न कि स्वयं उत्पादन प्रक्रिया से उत्पन्न होते प्रतीत होते हैं) बेशी मूल्य के रूप के व्यष्टीकरण, उसकी सारवस्तु, उसके सत्व की सापेक्षता में उसके रूप के अश्मीकरण की निष्पत्ति करता है। लाभ का एक अंश दूसरे अंश के मुक़ाबले में अपने को पूंजीगत संबंध से पूर्णतः पृथक कर लेता है और इस तरह सामने आता है कि जैसे वह उजरती श्रम का शोषण करने के कृत्य से नहीं, बल्कि स्वयं पूंजीपति के उजरती श्रम से उत्पन्न होता हो। इसके विपरीत ब्याज श्रमिक के उजरती श्रम और पूंजीपति के अपने श्रम से भी स्वतंत्र प्रतीत होता है और स्वयं अपने स्वतंत्र स्रोत के नाते पूंजी से उत्पन्न होता लगता है। अगर पूंजी परिचलन की सतह पर आरंभ में पूंजी के प्रतीक, मूल्य-सृजक मूल्य की तरह प्रकट होती थी, तो अब वह फिर ब्याजी पूंजी के रूप में उसके सबसे परकीय तथा लाक्षणिक रूप की तरह प्रकट होती है। और इसीलिए ज़मीन – किराया और श्रम – मज़दूरी की तीसरी कड़ी के नाते पूंजी – ब्याज सूत्र भी पूंजी – लाभ की अपेक्षा कहीं अधिक संगत है, क्योंकि लाभ में अब भी उसके उद्गम की स्मृति बनी रहती है, जो ब्याज में सिर्फ़ मिट ही नहीं जाती है, बल्कि वह ऐसे रूप में भी आ जाता है, जो इस उद्गम के पूर्णतः विपरीत है।

अंततः, बेशी मूल्य के एक स्वतंत्र स्रोत के नाते पूंजी के साथ भू-संपत्ति भी आ जाती है, जो औसत लाभ के लिए परिघ बन जाती है और बेशी मूल्य का एक अंश एक ऐसे वर्ग को अंतरित कर देती है, जो न स्वयं काम करता है, न प्रत्यक्षतः श्रम का शोषण करता है, न वैसे नैतिक औचित्य ही निकाल सकता है, जैसे ब्याजी पूंजी के मामले में, उदाहरणार्थ, औरों को पूंजी उधार देने का जोखिम और क़ुरबानी। चूंकि यहां बेशी मूल्य का एक हिस्सा सामाजिक संबंधों के बजाय एक नैसर्गिक तत्व, ज़मीन, से प्रत्यक्षतः जुड़ा लगता है, इसलिए बेशी मूल्य के विभिन्न भागों का पारस्परिक वियोजन तथा अश्मीभवन पूरा हो जाता है, आंतरिक सूत्र पूर्णतः विच्छिन्न हो जाता है और उसका स्रोत पूरी तरह से छिप जाता है, ठीक इसीलिए कि उत्पादन संबंध, जो उत्पादन प्रक्रिया के विभिन्न भौतिक तत्वों के साथ जुड़े होते हैं, स्वतंत्र हो गये हैं।

पूंजी – लाभ, बल्कि इससे भी बेहतर पूंजी – ब्याज, ज़मीन – किराया, श्रम – मजदूरी सूत्र में, मूल्य के घटकों तथा सामान्यतः संपत्ति और उसके स्रोतों के बीच संबंध के द्योतक इस आर्थिक त्रिक में, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का पूर्ण गुह्यीकरण, सामाजिक संबंधों का वस्तुओं में परिवर्तन, भौतिक उत्पादन संबंधों का अपने ऐतिहासिक तथा सामाजिक निर्धारण से प्रत्यक्ष संलयन प्रकट होता है। यह एक मायाबद्ध, विपर्यस्त, औंधा जगत है, जिसमें Monsieur le Capital और Madame la Terre सामाजिक चरित्रों और साथ ही प्रत्यक्षतः मात्र वस्तुओं की तरह अपना प्रेत विहार करते हैं। इस मिथ्या आभास तथा भ्रांति को, संपत्ति के विभिन्न सामाजिक तत्वों की इस पारस्परिक स्वतंत्रता तथा अश्मीभवन को, वस्तुओं के इस मानवीकरण और उत्पादन संबंधों के वस्तुओं में इस परिवर्तन को, दैनंदिन जीवन के इस विश्वास को नष्ट कर देना, यही क्लासिकी अर्थशास्त्र की महती देन है। उसने ऐसा ब्याज को लाभ के एक अंश में, और किराये को औसत लाभ के ऊपर बेशी में परिणत करके, जिससे दोनों बेशी मूल्य में एकस्थ हो जाते हैं, और परिचलन प्रक्रिया को मात्र रूपों के रूपांतरण की तरह से प्रकट करके, और अंततः, जिंसों के मूल्य तथा बेशी मूल्य को प्रत्यक्ष उत्पादन प्रक्रिया में श्रम में परिणत करके किया। फिर भी क्लासिकी अर्थशास्त्र के श्रेष्ठतम प्रवक्ता तक – और बूर्जुआ दृष्टिकोण से अन्यथा हो भी नहीं सकता – भ्रांति के उस जगत की जकड़ में कमोबेश बंधे रहते हैं, जिसे उनकी आलोचना ने भंग किया था, और इस प्रकार वे सभी न्यूनाधिक असंगतियों, अर्धसत्यों और अनसुलझे अंतर्विरोधों में पड़ जाते हैं। दूसरी ओर, उत्पादन के वास्तविक कर्ताओं के लिए पूंजी – ब्याज, जमीन – किराया, श्रम – मजदूरी के इन परकीय तथा अयौक्तिक रूपों में पूर्णतम सुविधा अनुभव करना इतना ही स्वाभाविक है, क्योंकि ठीक ये ही भ्रांति के वे रूप हैं, जिनमें वे सक्रिय बनते हैं और जिनसे उनका हर समय मतलब पड़ता है। इसलिए यह इतना ही स्वाभाविक है कि अप्रामाणिक अर्थशास्त्र को, जो उत्पादन के वास्तविक कर्ताओं की रोज़मर्रा की धारणाओं के प्रबोधात्मक, न्यूनाधिक मतवादी रूपांतर के अलावा और कुछ नहीं है, और जो उन्हें एक निश्चित यौक्तिक क्रम में व्यवस्थित करता है, ठीक इस त्रिक में ही, जो किसी भी आंतरिक संबंध से सर्वथा हीन है, अपनी सतही तड़क-भड़क का स्वाभाविक तथा सुनिश्चित उदात्त आधार नज़र आता हो। यह सूत्र साथ ही सत्तारूढ़ वर्गों के हितों के अनुरूप है, क्योंकि वह उनकी आय के स्रोतों की नैसर्गिक आवश्यकता तथा शाश्वत औचित्य की उदघोषणा करता है तथा उन्हें अटल सिद्धांत बना देता है।

उत्पादन संबंध किस प्रकार वस्तुओं में परिवर्तित हो जाते हैं और उत्पादन के कर्ताओं की सापेक्षता में स्वतंत्र हो जाते हैं, इसके वर्णन में हम इस बात को अलग रहने देते हैं कि किस तरह से विश्व बाज़ार, उसके संयोगों, बाज़ार दामों की गतियों, उधार की मीयादों, औद्योगिक तथा वाणिज्यिक चक्रों, समृद्धि और संकट के एकांतरणों के कारण अंतःसंबंध उन्हें ऐसे दुर्दमनीय नैसर्गिक नियमों जैसे प्रतीत होते हैं, जो अपनी इच्छा को उन पर अप्रतिरोध्य रूप में थोप देते हैं और उनके सामने अंध अनिवार्यता की तरह आते हैं। हम इसे इसलिए अलग रहने देते हैं कि प्रतिद्वंद्विता की वास्तविक गति हमारी परिधि के बाहर है और हमें सिर्फ़ पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के आंतरिक संगठन को उसके आदर्श औसत रूप में प्रस्तुत करने की ही ज़रूरत है।

समाज के पूर्ववर्ती रूपों में यह आर्थिक गुह्यीकरण मुख्यतः द्रव्य तथा ब्याजी पूंजी के संदर्भ में उत्पन्न होता था। स्वाभाविक तौर पर इसका सवाल वहां नहीं उठता कि जहां, सबसे पहले,

उपयोग मूल्य के लिए, प्रत्यक्ष निजी आवश्यकताओं के लिए उत्पादन का प्राधान्य होता है; और दूसरे, जहां दास-प्रथा अथवा भूदासत्व सामाजिक उत्पादन के व्यापक आधार का निर्माण करते हैं, जैसे पुरातन काल में और मध्य युग में था। यहां उत्पादकों पर उत्पादनावस्थाओं के प्रभुत्व को स्वामित्व तथा चाकरी के संबंधों द्वारा छिपा लिया जाता है, जो उत्पादन प्रक्रिया की प्रत्यक्ष प्रेरक शक्ति की तरह दिखायी देते हैं और प्रत्यक्ष होते हैं। प्रारंभिक सामुदायिक समाजों में, जिनमें आदिम साम्यवाद अभिभावी था, और प्राचीन सामुदायिक नगरों तक में, अपनी अवस्थाओं के साथ स्वयं यह सामुदायिक समाज ही उत्पादन का आधार बनता था और उसका पुनरुत्पादन उसका चरम लक्ष्य प्रतीत होता था। मध्ययुगीन श्रेणी पद्धति तक में न पूंजी और न श्रम ही अबाधित प्रतीत होते हैं, बल्कि इसके विपरीत, उनके संबंध नैसर्गिक नियमों तथा व्यावसायिक कर्तव्य, शिल्पकारिता, आदि की अनुरूप धारणाओं द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। सिर्फ़ जब पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली*–

---

*यहां पांडुलिपि का क्रम अचानक भंग हो जाता है।–सं०

अध्याय ४६

उत्पादन प्रक्रिया के विश्लेषण के बारे में

आगामी विश्लेषण के लिए हम उत्पादन दाम और मूल्य के बीच भिन्नता को विवेचन के बाहर रहने दे सकते हैं, क्योंकि जब, जैसे यहां है, श्रम के कुल वार्षिक उत्पाद, अर्थात कुल सामाजिक पूंजी के उत्पाद के मूल्य को लिया जाता है, तो यह भिन्नता पूर्णतः विलुप्त हो जाती है।

लाभ (उद्यम का लाभ जमा ब्याज) और किराया जिंसों के बेशी मूल्य के विशेष भागों द्वारा ग्रहण किये जानेवाले विशेष रूपों के अलावा और कुछ नहीं हैं। बेशी मूल्य का परिमाण वह जितने भागों में विभाजित हो सकता है, उनके कुल आकार की सीमा है। इसलिए औसत लाभ जमा किराया बेशी मूल्य के बराबर होते हैं। यह संभव है कि जिंसों में समाविष्ट बेशी श्रम, और इस प्रकार बेशी मूल्य का कुछ भाग औसत लाभ के समकरण में प्रत्यक्षतः भाग न ले, जिससे पण्य मूल्य का कुछ भाग उसके दाम में व्यक्त हो ही नहीं। लेकिन पहली बात तो यह कि इसका या तो इस तथ्य से कि अगर अपने मूल्य के नीचे बेची जानेवाली जिंसें स्थिर पूंजी के एक तत्व का निर्माण करती हैं, तो लाभ दर बढ़ जाती है, या अगर अपने मूल्य के नीचे बेची जानेवाली जिंसें वैयक्तिक उपभोग की वस्तुओं के रूप में संप्राप्ति की तरह से उपभुक्त मूल्यांश में प्रवेश करती हैं, तो लाभ तथा किराये के प्रचुरतर उत्पाद द्वारा व्यक्त किये जाने से प्रतिकार हो जाता है। दूसरे, औसत गति में इसका विलोपन हो जाता है। बहरहाल, अगर बेशी मूल्य का जिंस के दाम में न व्यक्त होनेवाला अंश दाम की रचना के लिए लुप्त भी हो जाता है, तो भी औसत लाभ जमा किराये का योग अपने सामान्य रूप में कुल बेशी मूल्य से कभी बड़ा नहीं हो सकता, यद्यपि वह छोटा हो सकता है। उसका सामान्य रूप श्रम शक्ति के मूल्य के अनुरूप मजदूरी की पूर्वकल्पना करता है। एकाधिकार किराये तक को, जहां तक कि वह मजदूरी से कटौती नहीं होता, अर्थात कोई विशेष कोटि नहीं होता, हमेशा अप्रत्यक्षतः बेशी मूल्य का हिस्सा होना चाहिए। अगर वह स्वयं उस जिंस के उत्पादन दाम के ऊपर, जिसका वह संघटक अंग है (जैसे विभेदक किराये में), दाम के आधिक्य का हिस्सा नहीं है, या अगर वह स्वयं उस जिंस के बेशी मूल्य का, जिसका वह संघटक अंग है, इस मूल्य के औसत लाभ द्वारा मापित अंश (जैसे निरपेक्ष किराये में) के ऊपर अतिरिक्त हिस्सा नहीं है, तो वह कम से कम अन्य जिंसों के बेशी मूल्य का हिस्सा है, अर्थात उन जिंसों के बेशी मूल्य का, जिनका एकाधिकार दामवाली इस जिंस से विनिमय किया जाता है। औसत लाभ जमा किराया जमीन का योग कभी उस परिमाण से बड़ा नहीं हो सकता, जिसके वे घटक हैं और

जिसका इस विभाजन के पहले से ग्रस्तित्व होता है। ग्रतः हमारे विवेचन के लिए यह महत्व-हीन है कि जिंसों के समस्त बेशी मूल्य का, अर्थात जिंसों में समाविष्ट सारे बेशी श्रम का उनके दाम में सिद्धिकरण होता है या नहीं। बेशी श्रम का चाहे सिर्फ़ इसलिए ही पूर्णतः सिद्धिकरण नहीं होता है कि श्रम उत्पादिता में निरंतर परिवर्तन के परिणामस्वरूप किसी ख़ास जिंस को उत्पादित करने के लिए सामाजिक रूप में ग्रावश्यक श्रम की मात्रा में सतत परिवर्तन के कारण कुछ जिंसें हमेशा ग्रसामान्य ग्रवस्थाग्रों के ग्रंतर्गत उत्पादित होती हैं ग्रौर इसलिए उन्हें ग्रपने व्यष्टिक मूल्य के नीचे बेचना होता है। बहरहाल, लाभ जमा किराया कुल सिद्धिकृत बेशी मूल्य (बेशी श्रम) के बराबर हैं, ग्रौर इस विवेचन के लिए सिद्धिकृत बेशी मूल्य को सारे बेशी मूल्य के समान माना जा सकता है, क्योंकि लाभ तथा किराया सिद्धिकृत बेशी मूल्य, ग्रथवा सामान्यतः जिंसों के दामों में चला जानेवाला बेशी मूल्य, इस प्रकार व्यवहार में वह सारा बेशी मूल्य है, जो इस दाम का संघटक ग्रंग है।

दूसरी ग्रोर, मजदूरी, जो संप्राप्ति का तीसरा विशिष्ट रूप है, सदा पूंजी के परिवर्ती संघटक ग्रंग के बराबर होती है, ग्रर्थात उस संघटक ग्रंग के, जो श्रम साधनों के बजाय सजीव श्रम शक्ति ख़रीदने में, मजदूरों की ग्रदायगी करने में ख़र्च किया जाता है। (संप्राप्ति के व्यय में जिस श्रम की ग्रदायगी होती है, वह स्वयं मजदूरी, लाभ, ग्रथवा किराये में चुकता होता है ग्रौर इसलिए उन जिंसों का कोई मूल्यांश नहीं होता, जिनसे उसकी ग्रदायगी की जाती है। ग्रतः, पण्य मूल्य के, ग्रौर जिन संघटक ग्रंगों में वह विभाजित होता है, उनके विश्लेषण में उसे विचार में नहीं लाया जाता है।) श्रमिक के कुल कार्य दिवस के जिस ग्रंश में परिवर्ती पूंजी का मूल्य ग्रौर फलतः श्रम का दाम पुनरुत्पादित होता है, पण्य मूल्य के जिस ग्रंश में श्रमिक स्वयं ग्रपनी श्रम शक्ति के मूल्य ग्रथवा ग्रपने श्रम के दाम को पुनरुत्पादित करता है, यह उसका मूर्तरूप है। श्रमिक का कुल कार्य दिवस दो भागों में विभक्त है। एक वह ग्रंश, जिसमें वह स्वयं ग्रपने निर्वाह साधनों के मूल्य को पुनरुत्पादित करने के लिए ग्रावश्यक श्रम का निष्पादन करता है; उसके कुल श्रम का शोधित ग्रंश, स्वयं ग्रपने भरण-पोषण तथा पुन-रुत्पादन के लिए ग्रावश्यक ग्रंश। कार्य दिवस का शेष सारा ग्रंश, उसकी मजदूरी में सिद्धिकृत श्रम के मूल्य के ऊपर निष्पादित श्रम की सारी ग्रतिरिक्त मात्रा, उसके कुल पण्य उत्पादन के बेशी मूल्य में (ग्रौर इस प्रकार जिंसों की ग्रतिरिक्त मात्रा में) व्यक्त होनेवाला बेशी श्रम, ग्रशोधित श्रम है, वह बेशी मूल्य है, जो ग्रपनी बारी में ग्रलग-ग्रलग नाम के भागों में, लाभ (उद्यम का लाभ जमा ब्याज) ग्रौर किराये में विभाजित है।

ग्रतएव जिंसों का वह समस्त मूल्यांश, जिसमें श्रमिकों द्वारा एक दिन या एक साल में जोड़े जानेवाले कुल श्रम का सिद्धिकरण होता है, इस श्रम द्वारा सर्जित वार्षिक उत्पाद का कुल मूल्य, मजदूरी के मूल्य में, लाभ में ग्रौर किराये में विभक्त है। कारण कि यह कुल श्रम ग्रावश्यक श्रम में, जिसके द्वारा श्रमिक उत्पाद के उस मूल्यांश का सर्जन करता है, जिससे स्वयं उसकी, ग्रर्थात उसकी मजदूरी की ग्रदायगी होती है, तथा ग्रशोधित बेशी श्रम में विभा-जित है, जिसके द्वारा वह उत्पाद के उस मूल्यांश का सर्जन करता है, जो बेशी मूल्य को व्यक्त करता है ग्रौर जो बाद में लाभ तथा किराये में विभक्त हो जाता है। इस श्रम के ग्रलावा श्रमिक ग्रौर किसी श्रम का निष्पादन नहीं करता, ग्रौर उत्पाद के मूल्य के ग्रलावा, जो मजदूरी, लाभ तथा किराये के रूप ग्रहण करता है, वह किसी मूल्य का सर्जन नहीं करता। वार्षिक उत्पाद का मूल्य, जिसमें श्रमिक द्वारा साल भर में जोड़ा जानेवाला नया श्रम समाविष्ट

होता है, मजदूरी के, अथवा परिवर्ती पूंजी का मूल्य जमा बेशी मूल्य के बराबर होता है, जो अपनी बारी में लाभ तथा किराये में विभक्त होता है।

अतएव श्रमिक द्वारा वर्ष भर में सर्जित वार्षिक उत्पाद का समस्त मूल्यांश तीन संप्राप्तियों – मज़दूरी का मूल्य, लाभ तथा किराया – के वार्षिक मूल्य योग में व्यक्त होता है। अतः प्रत्यक्षतः पूंजी के स्थिर अंश का मूल्य उत्पाद के प्रति वर्ष सर्जित मूल्य में नहीं पुनरुत्पादित होता है, क्योंकि मज़दूरी सिर्फ़ उत्पादन में अग्रसारित पूंजी के परिवर्ती अंश के मूल्य के ही बराबर होती है, और किराया तथा लाभ सिर्फ़ बेशी मूल्य के, अग्रसारित पूंजी के कुल मूल्य के ऊपर उत्पादित बेशी मूल्य के आधिक्य के ही बराबर होते हैं, जो स्थिर पूंजी का मूल्य जमा परिवर्ती पूंजी का मूल्य के बराबर होता है।

यहां जिस समस्या को हल करना है, उसके लिए यह सर्वथा अप्रासंगिक है कि बेशी मूल्य का लाभ तथा किराये के रूप में परिवर्तित एक अंश संप्राप्ति की तरह उपभुक्त नहीं होता है, बल्कि संचित होता है। जो अंश संचय निधि की तरह बच जाता है, वह नयी, अतिरिक्त पूंजी सर्जित करने का काम देता है, किंतु पुरानी पूंजी प्रतिस्थापित करने का नहीं, फिर चाहे वह पुरानी पूंजी का श्रम शक्ति के लिए लगा संघटक अंग हो या श्रम साधनों के लिए। इसलिए सरलता के लिए हम यहां यह मान सकते हैं कि संप्राप्ति पूर्णतः व्यष्टिक उपभोग में चली जाती है। इसमें कठिनाई दुहरी है। एक ओर तो उस वार्षिक उत्पाद के मूल्य में, जिसमें संप्राप्तियां – मज़दूरी, लाभ तथा किराया – उपभुक्त होती हैं, उसमें उपभुक्त स्थिर पूंजी के मूल्यांश के बराबर मूल्यांश समाविष्ट होता है। उसमें यह मूल्यांश उस अंश के अलावा समाविष्ट होता है, जो मज़दूरी में और जो लाभ तथा किराये में परिणत होता है। इसलिए उसका मूल्य = मज़दूरी + लाभ + किराया + C (उसका मूल्य का स्थिर अंश)। प्रति वर्ष उत्पादित मूल्य, जो मज़दूरी + लाभ + किराया ही है, ऐसा उत्पाद कैसे ख़रीद सकता है, जिसका मूल्य = (मज़दूरी + लाभ + किराया) + C? प्रति वर्ष उत्पादित मूल्य ऐसा उत्पाद कैसे ख़रीद सकता है, जिसका मूल्य स्वयं उसके अपने मूल्य से ऊंचा है?

दूसरी ओर, अगर हम स्थिर पूंजी के उस अंश को अलग रहने देते हैं, जो उत्पाद में नहीं चला गया था और फलतः जो जिंसों के वार्षिक उत्पादन के पहले की ही भांति अस्तित्व में रहता है, चाहे घटे हुए मूल्य के साथ, दूसरे शब्दों में, अगर हम नियोजित, किंतु अनुपभुक्त स्थायी पूंजी को कुछ समय के लिए विचार के बाहर रहने दें, तो लगता है कि अग्रसारित पूंजी का स्थिर अंश कच्चे मालों तथा सहायक सामग्री के रूप में नये उत्पाद को पूर्णतः अंतरित हो गया है, जबकि श्रम साधनों का एक हिस्सा पूर्णतः उपभुक्त हो गया है और दूसरा केवल अंशतः ही, और इस प्रकार उसके मूल्य का केवल एक भाग ही उत्पादन में उपभुक्त हुआ है। स्थिर पूंजी के उत्पादन में उपभुक्त इस समस्त अंश का वस्तुरूप में प्रतिस्थापन होना चाहिए। अगर यह माना जाये कि अन्य सभी परिस्थितियां, विशेषकर श्रम की उत्पादक शक्ति अपरिवर्तित रहती हैं, तो इस अंश को अपनी प्रतिस्थापना के लिए पहले जितना ही श्रम चाहिए, अर्थात उसकी समतुल्य मूल्य द्वारा प्रतिस्थापना होनी चाहिए। अगर ऐसा नहीं होता है, तो स्वयं पुनरुत्पादन पुराने पैमाने पर नहीं हो सकता। लेकिन यह श्रम किसे निष्पन्न करना होता है और कौन इसे निष्पन्न करता है?

जहां तक पहली कठिनाई – उत्पाद में समाविष्ट स्थिर मूल्यांश के लिए अदायगी किसे करनी होती है और किससे? – की बात है, तो यह कल्पित है कि उत्पादन में उपभुक्त स्थिर

पूंजी का मूल्य उत्पाद के मूल्य के एक हिस्से की तरह पुनः प्रकट होता है। इससे दूसरी कठिनाई की मान्यताओं का खंडन नहीं होता। कारण कि पहली पुस्तक (Kap. V)* ('श्रम प्रक्रिया और बेशी मूल्य पैदा करने की प्रक्रिया') में यह दिखलाया ही जा चुका है कि किस तरह से पुराना मूल्य मात्र नये श्रम के जुड़ने से साथ ही उत्पाद में सुरक्षित बना रहता है, यद्यपि यह पुराना मूल्य पुनरुत्पादित नहीं करता है और उसमें केवल परिवर्धन ही करता है, मात्र अतिरिक्त मूल्य का सर्जन ही करता है; लेकिन साथ ही यह भी दिखलाया गया था कि यह श्रम के परिणामस्वरूप होता है, वहां तक नहीं कि जहां तक वह मूल्य सृजक, अर्थात सामान्यतः श्रम है, बल्कि जहां तक कि वह निश्चित उत्पादक श्रम की तरह से कार्य करता है। इसलिए उस उत्पाद में मूल्य के स्थिर अंश को बनाये रखने के लिए किसी अतिरिक्त श्रम की आवश्यकता नहीं थी, जिसमें संप्राप्ति, अर्थात साल भर में सर्जित समस्त मूल्य व्ययित होती है। लेकिन, निस्संदेह, पूर्ववर्ती वर्ष में उपभुक्त स्थिर पूंजी के मूल्य तथा उपयोग मूल्य को प्रतिस्थापित करने के लिए अतिरिक्त श्रम अवश्य जरूरी है, जिसकी प्रतिस्थापना के बिना पुनरुत्पादन सर्वथा संभव ही नहीं है।

सारा नवयोजित श्रम साल के दौरान नवसर्जित मूल्य में प्रतिरूपित होता है, जो अपनी बारी में तीन संप्राप्तियों – मजदूरी, लाभ तथा किराया – में विभक्त है। इस प्रकार होता यह है कि एक ओर तो उपभुक्त स्थिर पूंजी की प्रतिस्थापना के लिए कोई अतिरिक्त सामाजिक श्रम नहीं रहता, जिसकी अंशतः वस्तुरूप में और उसके मूल्य के अनुसार, और अंशतः केवल उसके मूल्य के अनुसार (स्थायी पूंजी की शुद्ध टूट-फूट के लिए) प्रतिस्थापना करनी होती है। दूसरी ओर, श्रम द्वारा प्रति वर्ष सर्जित और मजदूरी, लाभ तथा किराये में विभाजित और इस रूप में खर्च किया जानेवाला मूल्य पूंजी के उस स्थिर अंश का दाम भरने या क्रय करने के लिए यथेष्ट नहीं प्रतीत होता, जिसे वार्षिक उत्पाद में, स्वयं उसके मूल्य के अलावा, समाविष्ट होना चाहिए।

यह प्रकट होता है कि यहां प्रस्तुत समस्या को कुल सामाजिक पूंजी के पुनरुत्पादन के विवेचन – दूसरी पुस्तक, भाग ३ – में पहले ही हल किया जा चुका है। हम यहां उस पर सबसे पहले इसीलिए लौटकर आते हैं कि वहां बेशी मूल्य को अपने संप्राप्ति रूपों – लाभ (उद्यम का लाभ जमा ब्याज) और किराये – में विकसित नहीं किया गया था और इसलिए उसका इन रूपों में निरूपण नहीं किया जा सकता था; और फिर इसलिए कि ठीक मजदूरी, लाभ तथा किराये के रूप में ही विश्लेषण की वह अविश्वसनीय भूल सन्निहित है, जो ऐडम स्मिथ के समय से ही समस्त राजनीतिक अर्थशास्त्र में परिव्याप्त है।

हमने सारी पूंजी को दो बड़े संवर्गों – उत्पादन साधनों को उत्पादित करनेवाले संवर्ग I और व्यक्तिगत उपभोग वस्तुएं उत्पादित करनेवाले संवर्ग II – में विभाजित किया था। यह तथ्य कि कुछेक उत्पाद व्यक्तिगत उपभोग का और उत्पादन साधन की तरह समान रूप में काम दे सकते हैं (घोड़ा, अनाज, आदि), इस विभाजन की निरपेक्ष यथार्थता को किसी भी प्रकार रद्द नहीं कर देता है। वास्तव में यह कोई परिकल्पना नहीं है, प्रत्युत एक तथ्य की ही अभिव्यक्ति है। उदाहरण के लिए, किसी देश के वार्षिक उत्पाद को ले लीजिये। उत्पाद का एक अंश, उत्पादन साधन का काम देने की उसकी क्षमता चाहे जो हो, व्यक्तिगत उपभोग

* 'पूंजी', हिंदी संस्करण: अध्याय ७। – सं०

में चला जाता है। यह वह उत्पाद है, जिसके लिए मजदूरी, लाभ तथा किराये का व्यय होता है। यह उत्पाद सामाजिक पूंजी के एक निश्चित क्षेत्र का उत्पाद है। संभव है कि यही पूंजी संवर्ग I के उत्पाद भी उत्पादित करती हो। जहां तक वह ऐसा करती है, संवर्ग I के उत्पादक रूप में उपभुक्त उत्पादों की पूर्ति इस पूंजी के उस अंश द्वारा नहीं की जाती है, जो संवर्ग II के उत्पादों में, वस्तुतः व्यक्तिगत उपभोग में आनेवाले उत्पादों में उपभुक्त होता है। यह सारा उत्पाद II, जो व्यक्तिगत उपभोग में चला जाता है और फलतः जिसके लिए संप्राप्ति का व्यय होता है, उसमें उपभुक्त पूंजी जमा उत्पादित बेशी का विद्यमान रूप है। इस प्रकार वह एकमात्र उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में निवेशित पूंजी का उत्पाद है। और इसी प्रकार वार्षिक उत्पाद का क्षेत्र I, जो पुनरुत्पादन साधनों – कच्चे मालों तथा श्रम उपकरणों – का काम देता है, चाहे यह उत्पाद वैसे उपभोग साधनों का काम देने की कोई भी क्षमता naturaliter [नैसर्गिक रूप में] रखता हो, केवल उत्पादन साधनों के उत्पादन में निवेशित पूंजी का ही उत्पाद है। स्थिर पूंजी का गठन करनेवाले उत्पादों का कहीं अधिक बड़ा भाग तत्वतः ऐसे रूप में भी अस्तित्वमान होता है, जिसमें वह व्यक्तिगत उपभोग में नहीं जा सकता। जहां तक ऐसा हो सकता है, उदाहरण के लिए, जहां तक किसान अपने बीज के अनाज और अपने भारवाही जानवरों को मारकर खा सकता है, आदि, वहां तक आर्थिक परिघ उसके लिए ऐसे ही काम करता है, मानो इस अंश का उपभोज्य रूप में अस्तित्व हो ही नहीं।

जैसे कि पहले बताया जा चुका है, हम दोनों ही संवर्गों में स्थिर पूंजी के स्थायी अंश को विवेचन के बाहर रहने दे रहे हैं, जो वस्तुरूप में, और जहां तक उसके मूल्य का संबंध है, दोनों संवर्गों के वार्षिक उत्पाद से निरपेक्षतः, अस्तित्व में बना रहता है।

संवर्ग II में जिन उत्पादों के लिए मजदूरी, लाभ तथा किराये का व्यय किया जाता है, संक्षेप में, संप्राप्तियां उपभुक्त होती हैं, जहां तक उसके मूल्य का संबंध है, स्वयं उत्पाद के तीन घटक होते हैं। एक घटक उत्पादन में उपभुक्त पूंजी के स्थिर अंश के मूल्य के बराबर होता है; दूसरा घटक मजदूरी में लगायी अग्रसारित परिवर्ती पूंजी के बराबर होता है; अंततः, तीसरा घटक उत्पादित बेशी मूल्य के बराबर होता है, अर्थात = लाभ + किराया। संवर्ग II के उत्पाद का पहला घटक, पूंजी के स्थिर अंश का मूल्य, न संवर्ग II के पूंजीपतियों द्वारा, न इस संवर्ग के श्रमिकों द्वारा और न ही भूस्वामियों द्वारा उपभुक्त हो सकता है। यह उनकी संप्राप्तियों के किसी भी भाग का गठन नहीं करता है, बल्कि उसका वस्तुरूप में प्रतिस्थापन करना होता है और ऐसा होने के लिए उसका बेचा जाना आवश्यक है। इसके विपरीत, इस उत्पाद के दोनों अन्य घटक इस संवर्ग में सृजित संप्राप्तियों के मूल्य के बराबर, = मजदूरी + लाभ + किराया, होते हैं।

जहां तक रूप का संबंध है, संवर्ग I में उत्पाद के यही तीन घटक होते हैं। लेकिन जो भाग यहां संप्राप्ति, मजदूरी + लाभ + किराया, संक्षेप में, पूंजी का परिवर्ती अंश + बेशी मूल्य, का गठन करता है, वह यहां इस संवर्ग I के उत्पादों के नैसर्गिक रूप में नहीं, बल्कि संवर्ग II के उत्पादों के रूप में उपभुक्त होता है। अतः सवर्ग I की संप्राप्तियों के मूल्य को संवर्ग II के उत्पादों के उस अंश के रूप में उपभुक्त होना चाहिए, जो II की प्रतिस्थापित की जानेवाली स्थिर पूंजी का गठन करता है। संवर्ग II के उत्पाद के जिस अंश को अपनी स्थिर पूंजी प्रतिस्थापित करनी चाहिए, वह अपने नैसर्गिक रूप में संवर्ग I के श्रमिकों, पूंजीपतियों तथा भूस्वा-

मियों द्वारा उपभुक्त किया जाता है। वे अपनी संप्राप्ति को II के इस उत्पाद के लिए ख़र्च करते हैं। दूसरी ओर, I का उत्पाद, जहां तक वह संवर्ग I की संप्राप्ति को द्योतित करता है, अपने नैसर्गिक रूप में संवर्ग II द्वारा उत्पादक ढंग से उपभुक्त किया जाता है, जिसकी स्थिर पूंजी को वह वस्तुरूप में प्रतिस्थापित करता है। अंततः, संवर्ग I की पूंजी के व्ययित स्थिर अंश की प्रतिस्थापना इस संवर्ग के ही उत्पादों द्वारा, जिनमें वास्तव में श्रम साधन, कच्चा माल तथा सहायक सामग्री, आदि ही आते हैं, अंशतः I के पूंजीपतियों में स्वयं अपने बीच विनिमय द्वारा, अंशतः इसलिए कि इनमें से कुछ पूंजीपति स्वयं अपने उत्पाद का उत्पादन साधन की तरह फिर से प्रत्यक्ष रूप में उपयोग कर सकें, की जाती है।

आइये, साधारण पुनरुत्पादन के लिए पहलेवाली सारणी (दूसरी पुस्तक, अध्याय २०, २) को ले लें:

$$\left.\begin{array}{l} \text{I. } ४,०००_c + १,०००_v + १,०००_s = ६,००० \\ \text{II. } २,०००_c + \quad ५००_v + \quad ५००_s = ३,००० \end{array}\right\} = ९,०००$$

इसके अनुसार, II के उत्पादक तथा भूस्वामी $५००_v + ५००_s = १,०००$ को संप्राप्ति की तरह ख़र्च कर देते हैं; $२,०००_c$ प्रतिस्थापित करने के लिए बच रहता है। यह श्रमिकों, पूंजीपतियों तथा उनके द्वारा उपभुक्त हो जाता है, जो I से किराया प्राप्त करते हैं, जिनकी आय $= १,०००_v + १,०००_s = २,०००$ है। II का उपभुक्त उत्पाद I द्वारा संप्राप्ति की तरह ख़र्च कर दिया जाता है और I की संप्राप्ति का एक अनुपभोज्य उत्पाद को द्योतित करनेवाला अंश II द्वारा स्थिर पूंजी के नाते उपभुक्त हो जाता है। इस प्रकार I के $४,०००_c$ का हिसाब करना बाक़ी रह जाता है। इसकी स्वयं I के उत्पाद से प्रतिस्थापना हो जाती है, जो = ६,०००, बल्कि = ६,००० – २,००० है, क्योंकि ये २,००० पहले ही II के लिए स्थिर पूंजी में परिवर्तित किये जा चुके हैं। लेकिन निस्संदेह यह दृष्टव्य है कि ये संख्याएं यदृच्छया ले ली गयी हैं, जिससे I की संप्राप्तियों के मूल्य और II की स्थिर पूंजी के मूल्य के बीच संबंध यादृच्छिक प्रतीत होता है। तथापि, यह प्रत्यक्ष है कि अगर पुनरुत्पादन प्रक्रिया सामान्य है और वैसे समान परिस्थितियों के अंतर्गत होती है, अर्थात संचय को अगर अलग रहने दिया जाता है, तो संवर्ग I के मज़दूरी, लाभ तथा किराये के योग को संवर्ग II की पूंजी के स्थिर अंश के मूल्य के बराबर होना चाहिए। अन्यथा या तो संवर्ग II अपनी स्थिर पूंजी का प्रतिस्थापन नहीं कर पायेगा, या संवर्ग I अपनी संप्राप्ति को अनुपभोज्य रूप से उपभोज्य रूप में परिवर्तित न कर पायेगा।

इस प्रकार, बिलकुल पूंजी के किसी भी विशेष निवेश द्वारा उत्पादित पण्य उत्पाद के मूल्य की, और किसी भी व्यष्टिक जिंस के मूल्य की ही भांति वार्षिक पण्य उत्पाद का मूल्य दो संघटक अंगों: **क**, जो अग्रसारित स्थिर पूंजी के मूल्य को प्रतिस्थापित करता है, और **ख**, जो संप्राप्ति – मज़दूरी, लाभ तथा किराये – के रूप में प्रतिरूपित होता है, में वियोजित हो जाता है। मूल्य का अंतोक्त संघटक अंग, **ख**, इस लिहाज़ से पूर्वोक्त संघटक अंग का प्रति-संतुलन करता है कि अन्यथा समान परिस्थितियों के अंतर्गत, **क**: १) कभी संप्राप्ति का रूप नहीं ग्रहण करता और २) पूंजी के रूप में, और वस्तुतः स्थिर पूंजी के रूप में सदा वापस लौट आता है। लेकिन, अपनी बारी में दूसरे घटक **ख** में इसका विलोम रहता है। लाभ और

किराये में मजदूरी के साथ यह समानता है: तीनों ही संप्राप्ति के रूप हैं। तथापि उनमें यह तात्विक अंतर है कि लाभ तथा किराया बेशी मूल्य, अर्थात अशोधित श्रम को द्योतित करते हैं, जबकि मजदूरी शोधित श्रम को प्रकट करती है। उत्पाद के मूल्य का जो अंश व्ययित मजदूरी को द्योतित करता है, अतः मजदूरी को प्रतिस्थापित करता है, और हमारी कल्पित अवस्थाओं के अंतर्गत, जहां पुनरुत्पादन उसी पैमाने पर और उन्हीं अवस्थाओं के अंतर्गत होता है, मजदूरी में फिर पुनःपरिवर्तित होता है, वह पहले परिवर्ती पूंजी की तरह, पूंजी के ऐसे घटक की तरह वापस आता है, जिसे पुनरुत्पादन के लिए फिर से अग्रसारित किया जाना चाहिए। इस अंश का दुहरा कार्य है। आरंभ में वह पूंजी के रूप में होता है और उसी रूप में श्रम से विनिमीत किया जाता है। श्रमिक के हाथों में वह उस संप्राप्ति में रूपांतरित हो जाता है, जो वह अपनी श्रम शक्ति के विक्रय से निष्कर्षित करता है, संप्राप्ति की तरह से निर्वाह साधनों में परिवर्तित हो जाता है और उपभुक्त हो जाता है। यह दुहरी प्रक्रिया द्रव्य परिचलन के माध्यम से प्रकट होती है। परिवर्ती पूंजी द्रव्य में अग्रसारित की जाती है, मजदूरी की तरह दी जाती है। पूंजी की तरह यह उसका पहला कार्य है। उसका श्रम शक्ति से विनिमय किया जाता है और इस श्रम शक्ति के मूर्तरूप, श्रम में रूपांतरण किया जाता है। पूंजीपति के संदर्भ में प्रक्रिया यह है। लेकिन दूसरे, इस द्रव्य से श्रमिक अपने द्वारा उत्पादित जिंसों का एक भाग ख़रीदते हैं, जो इस द्रव्य से मापा जाता है और उनके द्वारा संप्राप्ति की तरह ख़र्च किया जाता है। अगर हम सोच लें कि द्रव्य परिचलन विलुप्त हो गया है, तो श्रमिक के उत्पाद का एक हिस्सा उपलब्ध पूंजी के रूप में पूंजीपति के हाथों में है। वह यह भाग पूंजी की तरह से लगाता है, उसे श्रमिक को नयी श्रम शक्ति के लिए देता है, जबकि श्रमिक उसे संप्राप्ति की तरह से प्रत्यक्षतः अथवा जिंसों के विनिमय के ज़रिये अप्रत्यक्षतः ख़र्च करता है। अतः, उत्पाद के मूल्य का वह अंश, जिसे पुनरुत्पादन के क्रम में मजदूरी में, श्रमिकों के लिए संप्राप्ति में परिवर्तित हो जाना है, पहले पूंजी के रूप में, अथवा अधिक सटीक अर्थों में परिवर्ती पूंजी के रूप में पूंजीपति के हाथों में वापस प्रवाहित होता है। यह एक तात्विक आवश्यकता है कि वह इस रूप में पश्चप्रवाहित हो, ताकि श्रम का उजरती श्रम की तरह, उत्पादन साधनों का पूंजी की तरह, और स्वयं उत्पादन प्रक्रिया का पूंजीवादी प्रक्रिया की तरह निरंतर फिर से पुनरुत्पादन होता रहे।

अनावश्यक कठिनाई से बचने के लिए सकल उपज और निवल उपज का सकल आय तथा निवल आय से विभेद किया जाना चाहिए।

सकल उपज अथवा सकल उत्पाद कुल पुनरुत्पादित उत्पाद है। स्थायी पूंजी के नियोजित, किंतु अनुपभुक्त अंश को छोड़कर, सकल उपज, अथवा सकल उत्पाद का मूल्य उत्पादन में अग्रसारित तथा उपभुक्त पूंजी, अर्थात स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी जमा बेशी मूल्य के मूल्य के बराबर होता है, जो लाभ तथा किराये में वियोजित हो जाता है। अथवा, अगर किसी अलग पूंजी के नहीं, बल्कि कुल सामाजिक पूंजी के उत्पाद को लिया जाये, तो सकल उपज स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी का गठन करनेवाले भौतिक तत्वों जमा बेशी उत्पाद के भौतिक तत्वों के बराबर होती है, जिनमें लाभ तथा किराया प्रतिरूपित होते हैं।

सकल आय मूल्य का वह अंश और उसके द्वारा मापित सकल उत्पाद का वह अंश है, जो मूल्य के उस अंश तथा उसके द्वारा मापित कुल उत्पादन के उत्पाद के उस अंश को घटाने के बाद बाक़ी रहता है, जो उत्पादन में अग्रसारित तथा उपभुक्त स्थिर पूंजी को प्रतिस्थापित

करता है। अतः, सकल आय मजदूरी (अथवा उत्पाद का वह अंश, जिसे फिर श्रमिक की आय बन जाना है) + लाभ + किराये के बराबर है। दूसरी ओर, निवल आय वह बेशी मूल्य और फलतः वह बेशी उत्पाद है, जो मजदूरी को घटाने के बाद शेष रहती है और जो, वास्तव में, इस प्रकार पूंजी द्वारा सिद्धिकृत और भूस्वामी के साथ बांटे जानेवाले बेशी मूल्य, और उसके द्वारा मापित बेशी उत्पाद को द्योतित करती है।

हमने देखा कि हर अलग जिंस का मूल्य और हर अलग पूंजी के कुल पण्य उत्पाद का मूल्य दो भागों में विभक्त है: एक केवल स्थिर पूंजी को प्रतिस्थापित करता है, और दूसरा, जिसे इसके बावजूद कि उसका एक छोटा सा अंश परिवर्ती पूंजी की तरह वापस प्रवाहित होता है – फलतः पूंजी के रूप में भी वापस प्रवाहित होता है – सकल आय में पूर्णतः रूपांतरित हो जाना है और मजदूरी, लाभ तथा किराये का रूप ले लेना है, जिनका योग सकल आय का गठन करता है। इसके अलावा हमने देखा कि किसी समाज के वार्षिक कुल उत्पाद के मूल्य के बारे में भी यही बात है। अकेले पूंजीपति के और समाज के उत्पाद में अंतर सिर्फ़ इतना ही होता है कि अकेले पूंजीपति के दृष्टिकोण से निवल आय सकल आय से भिन्न होती है, क्योंकि अंतोक्त में मजदूरी शामिल होती है, जबकि पूर्वोक्त में वह नहीं होती। सारे समाज की आय की दृष्टि से राष्ट्रीय आय मजदूरी जमा लाभ, जमा किराया, इस प्रकार सकल आय से बनती है। लेकिन यह भी इस हद तक अमूर्तीकरण है कि सारा समाज पूंजीवादी उत्पादन की बुनियाद पर अपने को पूंजीवादी दृष्टिकोण पर आधारित कर लेता है और सिर्फ़ लाभ तथा किराये में वियोजित आय को ही निवल आय मानता है।

इसके विपरीत, सेय जैसे लोगों की यह स्वैरकल्पना कि सारी पैदावार, सारी सकल उपज, राष्ट्र की निवल आय में परिणत हो जाती है अथवा उसका उससे विभेद नहीं किया जा सकता है, और इसलिए राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह अंतर विलुप्त हो जाता है, ऐडम स्मिथ के समय से राजनीतिक अर्थशास्त्र में व्याप्त इस बेतुके सिद्धांत की अनिवार्य और चरम अभिव्यक्ति ही है कि जिंसों का मूल्य अंततोगत्वा संपूर्णतः आय में, मजदूरी, लाभ तथा किराये में परिणत हो जाता है।[51]

हर अलग पूंजीपति के मामले में यह समझना कि उसके उत्पाद के एक अंश को पूंजी में फिर से रूपांतरित होना चाहिए (पुनरुत्पादन के प्रसार, अथवा संचय को छोड़कर भी) और वस्तुतः केवल परिवर्ती पूंजी में ही नहीं, जिसे अपनी बारी में फिर श्रमिकों के लिए आय,

---

[51] विवेकहीन सेय के बारे में रिकार्डो यह अत्यंत उपयुक्त टीका करते हैं: "निवल उपज और सकल उपज के बारे में श्री सेय यह कहते हैं: 'सारा उत्पादित मूल्य सकल उपज है; यह मूल्य, उसमें से उत्पादन लागत घटाने के बाद, निवल उपज है।' (खंड २, पृष्ठ ४६१।) अतः, कोई निवल उपज नहीं हो सकती, क्योंकि श्री सेय के अनुसार उत्पादन लागत किराये, मजदूरी और लाभ से बनती है। पृष्ठ ५०८ पर वह कहते हैं: 'अगर मामला अपने सहज क्रम पर चले, तो उत्पाद का मूल्य, उत्पादक सेवा का मूल्य, उत्पादन लागत का मूल्य, सब समान मूल्य हैं।' साकल्य से साकल्य को निकाल लीजिये, कुछ भी शेष नहीं रहेगा।" (Ricardo, *Principles*, Ch. XXII, p. 512, Note.) — प्रसंगतः, हम आगे देखेंगे कि रिकार्डो ने कहीं भी स्मिथ के पण्य दाम के मिथ्या विश्लेषण का, उसके संप्राप्तियों के मूल्यों के योग में परिणत किये जाने का खंडन नहीं किया है। वह उसके बखेड़े में नहीं पड़ते, और उसकी यथातथ्यता को अपने विश्लेषण में इस हद तक स्वीकार कर लेते हैं कि वह जिंसों के मूल्य के स्थिर अंश से "अपाकर्षण" करते हैं। वह भी जब-तब मामले को इसी तरह से देखने लगते हैं।

अतः संप्राप्ति का एक रूप बन जाना है, बल्कि स्थिर पूंजी में भी, जो कभी संप्राप्ति में रूपांतरित नहीं हो सकती – यह सोचना क़ुदरती तौर पर बहुत ही सहज है। उत्पादन प्रक्रिया पर मामूली सी नजर डालने से भी यह स्पष्ट हो जाता है। कठिनाई सिर्फ़ तब शुरू होती है, जब उत्पादन प्रक्रिया को समूचे तौर पर देखा जाता है। उत्पाद के मज़दूरी, लाभ तथा किराये के रूप में उपभुक्त होनेवाले समस्त अंश का मूल्य (यह सर्वथा महत्वहीन है कि उपभोग व्यष्टिक है या उत्पादक) विश्लेषण में सचमुच मज़दूरी जमा लाभ, जमा किराये से बने मूल्यों के योग में, अर्थात तीनों संप्राप्तियों के कुल मूल्य में वियोजित हो जाता है, यद्यपि उत्पाद के इस अंश के मूल्य में, बिलकुल संप्राप्ति में शामिल न होनेवाले अंश के मूल्य की भांति ही, इन अंशों में समाविष्ट स्थिर पूंजी के मूल्य के बराबर एक मूल्यांश = C समाविष्ट होता है और इस प्रकार prima facie संप्राप्ति के मूल्य द्वारा सीमित नहीं हो सकता। यह तथ्य, जो एक ओर तो लगभग अकाट्य तथ्य है, और दूसरी ओर, इतना ही निर्विवाद्य सैद्धांतिक अंतर्विरोध है, एक कठिनाई पेश करता है, जिसे यह दावा बड़ी आसानी से टाल देता है कि पण्य मूल्य में मूल्य का एक और अंश रहता है, जो – व्यष्टिक पूंजीपति के दृष्टिकोण से – संप्राप्ति के रूप में विद्यमान अंश से भिन्न बस प्रतीत ही होता है। यह वाक्यांश कि जो किसी को संप्राप्ति प्रतीत होती है, वह दूसरे के लिए पूंजी है, और ज्यादा सोचने की आवश्यकता से मुक्त कर देता है। लेकिन अगर सारे उत्पाद का मूल्य संप्राप्ति के रूप में उपभोज्य है, तो भला पुरानी पूंजी की किस प्रकार प्रतिस्थापना की जा सकती है; और जब सभी पूंजियों के उत्पादों के मूल्यों का योग तीनों संप्राप्तियों के मूल्य योग जमा ० के बराबर है, तो प्रत्येक पृथक पूंजी के उत्पाद का मूल्य कैसे तीनों संप्राप्तियों के मूल्य योग जमा C के बराबर हो सकता है, – यह निस्संदेह एक असमाधेय पहेली जैसी लगती है और इसे यह कहकर ही हल किया जाना चाहिए कि यह विश्लेषण दाम के साधारण तत्वों को प्रकट करने में सर्वथा असमर्थ है और उसे ad infinitum [यावदनंत] एक मिथ्या प्रगति करते हुए एक विषम चक्र में ही घूमते रहना चाहिए। इस प्रकार, जो स्थिर पूंजी प्रतीत होती है, उसे मजदूरी, लाभ तथा किराये में वियोजित किया जा सकता है, लेकिन मजदूरी, लाभ और किराया जिन पण्य मूल्यों में प्रकट होते हैं, वे अपनी बारी में मज़दूरी, लाभ तथा किराये द्वारा निर्धारित होते हैं, और इसी प्रकार ad infinitum।[52]

---

[52] "प्रत्येक समाज में हर जिंस का दाम अंततोगत्वा इन तीनों भागों [अर्थात मजदूरी, लाभ, किराये] में से किसी एक में या सभी में परिणत हो जाता है... शायद यह सोचा जाये कि फ़ार्मर के मूलधन की प्रतिस्थापना या उसके कमकर पशुओं और कृषि के दूसरे उपकरणों की छीजन की क्षतिपूर्ति करने के लिए एक चौथा भाग भी आवश्यक होगा। लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि कृषि के किसी भी उपकरण का, जैसे कमकर घोड़े का दाम स्वयं इन्हीं तीन भागों से बनता है: उस जमीन का किराया, जिस पर उसका पोषण होता है, उसके पालन-पोषण का श्रम, और फ़ार्मर का लाभ, जो अपनी जमीन का किराया तथा अपने श्रम की मजदूरी, दोनों अग्रसारित करता है। अतः, यद्यपि अनाज का दाम घोड़े के दाम और उसके भरण-पोषण का खर्च, दोनों को पूरा कर सकता है, फिर भी सारा दाम अब भी अविलंब या अंततोगत्वा किराये, श्रम [अर्थात मजदूरी] और लाभ के इन्हीं तीन भागों में वियोजित होता है।" (ऐडम स्मिथ।) – हम आगे चलकर दिखायेंगे कि किस तरह ऐडम स्मिथ इस वाक्छल की असंगति तथा अपर्याप्तता को स्वयं अनुभव करते हैं, क्योंकि यह वाक्छल के सिवा और कुछ भी नहीं है कि जब वह हमें पोंटियस से पाइलट के पास भेजते हैं, तो वह कहीं भी उस वास्त-

यह मूलतः भ्रांत सिद्धांत कि जिंसों का मूल्य अन्ततोगत्वा मजदूरी + लाभ + किराये में वियोजित हो सकता है, अपने को इस प्रस्थापना में भी व्यक्त करता है कि उपभोक्ता को अंततः कुल उत्पाद का दाम भरना चाहिए, अथवा यह भी कि उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के बीच द्रव्य परिचलन को अंततः स्वयं उत्पादकों के बीच द्रव्य परिचलन के बराबर होना चाहिए (टूक); ये सभी प्रस्थापनाएं इतनी ही भ्रांत हैं कि जितना वह स्वतःसिद्ध प्रमाण, जिस पर वे आधारित हैं।

इस भ्रांत तथा prima facie बेतुके विश्लेषण पर लानेवाली कठिनाइयां संक्षेप में ये हैं:

१) स्थिर तथा परिवर्ती पूंजी के मूल संबंध, अतः बेशी मूल्य की प्रकृति, और इस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के समस्त आधार को ही नहीं समझा जाता है। पूंजी के प्रत्येक आंशिक उत्पाद, प्रत्येक पृथक जिंस के मूल्य में मूल्य का एक अंश = स्थिर पूंजी, मूल्य का एक अंश = परिवर्ती पूंजी (श्रमिकों की मजदूरी में रूपांतरित), और मूल्य का एक अंश = बेशी मूल्य (बाद में लाभ तथा किराये में विखंडित) रहता है। अतः भला यह कैसे संभव हो सकता है कि श्रमिक अपनी मजदूरी से, पूंजीपति अपने लाभ से, और भूस्वामी अपने किराये से जिंसें ख़रीद सके, जिनमें से प्रत्येक में इन संघटक तत्वों में से केवल एक ही नहीं, बल्कि तीनों ही समाविष्ट होते हैं; और मज़दूरी, लाभ तथा किराये के मूल्यों के योग, अर्थात संप्राप्ति के एकसाथ तीनों स्रोतों के लिए उन जिंसों को ख़रीद सकना कैसे संभव हो सकता है, जो इन आयों के प्रापकों के कुल उपभोग का गठन करती हैं, यानी वे जिंसें, जिनमें मूल्य के इन घटकों के अलावा एक और घटक, अर्थात स्थिर पूंजी, समाविष्ट है? उनके लिए तीन के मूल्य से चार के मूल्य ख़रीदना कैसे संभव हो सकता है?[53]

विक पूंजी निवेश को नहीं इंगित करते, जिसमें उत्पाद का दाम अंततोगत्वा इन तीनों भागों में बिना किसी और progressus में परिणत हो जाता है।

[53] प्रूदों इसे समझ पाने की अपनी असमर्थता को इस अज्ञतापूर्ण सूक्ति में व्यक्त करते हैं: l'ouvrier ne peut pas racheter son propre produit (श्रमिक स्वयं अपने ही उत्पाद को वापस नहीं ख़रीद सकता), क्योंकि उत्पाद में वह ब्याज समाविष्ट होता है, जो prix-de-revient (लागत दाम) में जुड़ जाता है। लेकिन भला श्री यूझेन फ़ोर्कांद उन्हें और सिखाते भी कैसे हैं? "अगर प्रूदों की आपत्ति सही होती, तो वह न केवल पूंजी के लाभों पर ही आघात करती, बल्कि उद्योग तक की संभावना को ख़त्म कर देती। अगर श्रमिक को हर उस चीज़ के लिए १०० देना पड़ता है, जिसके लिए उसे सिर्फ़ ८० प्राप्त हुआ है, अगर उसकी मज़दूरी सिर्फ़ उस मूल्य को ही वापस ख़रीद सकती है, जो उसने किसी उत्पाद में डाला है, तो यह कहा जा सकता है कि श्रमिक कुछ भी वापस नहीं ख़रीद सकता और उसकी मजदूरी किसी भी चीज़ का दाम नहीं भर सकती। वास्तव में, लागत दाम में हमेशा श्रमिक की मज़दूरी से कुछ अधिक ही, और विक्रय दाम में हमेशा उद्यम के लाभ से कुछ अधिक ही समाविष्ट होता है, उदाहरण के लिए, कच्चे मालों का दाम, जो अकसर विदेशों को दिया जाता है... प्रूदों राष्ट्रीय पूंजी की निरंतर वृद्धि के बारे में भूल गये हैं; वह भूल गये हैं कि यह वृद्धि सभी श्रमिकों के संदर्भ में है, चाहे वे उद्योग में हों, या दस्तकारी में।" (*Revue des deux Mondes*, 1848, Tome 24, p. 998.) यहां हम बूर्जुआ अविवेक के आशावाद को दूरदर्शिता के उस रूप में देखते हैं, जो उसके सर्वाधिक अनुरूप है। श्री फ़ोर्कांद पहले तो यह विश्वास करते हैं कि श्रमिक जितना मूल्य उत्पादित करता है, अगर उससे अधिक नहीं प्राप्त करेगा, तो जी नहीं सकेगा, जबकि इसके विपरीत, अगर वह अपने द्वारा उत्पादित सारा मूल्य प्राप्त करे, तो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का अस्तित्व नहीं रह सकता। दूसरे, प्रूदों ने जिस

हमने इसका विश्लेषण दूसरी पुस्तक, भाग ३ में प्रस्तुत किया था।

२) उस तरीक़े को नहीं समझा जाता है, जिसके द्वारा श्रम नया मूल्य जोड़ते हुए पुराने मूल्य को, उसे फिर से उत्पादित किये बिना, नये रूप में बनाये रखता है।

३) पुनरुत्पादन प्रक्रिया के स्वरूप को नहीं समझा जाता है – वह व्यष्टिक पूंजी के नहीं, बल्कि इसके विपरीत, कुल पूंजी के दृष्टिकोण से कैसे प्रकट होती है; इस कठिनाई को नहीं समझा जाता है कि यह कैसे होता है कि वह उत्पाद, जिसमें मजदूरी तथा बेशी मूल्य का, संक्षेप में, साल के दौरान फिर से जोड़े गये श्रम द्वारा उत्पादित समस्त मूल्य का सिद्धिकरण होता है, अपने मूल्य के स्थिर अंश की प्रतिस्थापना करता है और फिर भी साथ ही संप्राप्तियों द्वारा सीमित मूल्य में ही परिणत होता है; और इसके अलावा यह कैसे होता है कि उत्पादन में उपभुक्त स्थिर पूंजी की सार तथा मूल्य में नयी पूंजी द्वारा प्रतिस्थापना हो सकती है, यद्यपि फिर से जोड़े श्रम के कुल योग का सिर्फ़ मजदूरी और बेशी मूल्य में ही सिद्धिकरण होता है और केवल दोनों के मूल्यों के योग में ही पूर्णतः प्रतिरूपण होता है। मुख्य कठिनाई ठीक इसी में, पुनरुत्पादन और उसके विभिन्न संघटक अंगों के अपने भौतिक स्वरूप तथा उनके मूल्य संबंध, दोनों ही के लिहाज़ से विश्लेषण में ही सन्निहित है।

४) इन कठिनाइयों में एक और कठिनाई शामिल हो जाती है, जो बेशी मूल्य के विभिन्न संघटक अंगों के परस्पर स्वतंत्र संप्राप्तियों के रूप में प्रकट होने के साथ और भी अधिक हो जाती है। यह कठिनाई संप्राप्ति तथा पूंजी के निश्चित अभिधानों के अपनी स्थिति के अंतर्विनिमय तथा अंतरण में सन्निहित है, जिससे व्यष्टिक पूंजीपति के दृष्टिकोण से वे मात्र ऐसे सापेक्ष निर्धारक प्रतीत होते हैं, जो कुल उत्पादन प्रक्रिया को समूचे तौर पर देखे जाने पर विलुप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, संवर्ग I, जो स्थिर पूंजी उत्पादित करता है, के श्रमिकों तथा पूंजीपतियों की संप्राप्ति संवर्ग II, जो उपभोग वस्तुएं उत्पादित करता है, के पूंजीपतियों की स्थिर पूंजी को मूल्य तथा सार में प्रतिस्थापित करती है। इसलिए यह आपत्ति करके उलझन से निकला जा सकता है कि एक के लिए जो संप्राप्ति है, वह दूसरे के लिए पूंजी है और इस प्रकार इन अभिधानों का जिंसों के मूल्य घटकों की वास्तविक विशेषताओं से कोई संबंध नहीं है। इसके अलावा: जिन जिंसों को अंततः संप्राप्ति व्यय के मुख्य तत्वों का गठन करना है, अर्थात उपभोग वस्तुएं बन जाना है, उदाहरण के लिए, ऊनी धागा, कपड़ा, वे साल के दौरान विभिन्न चरणों से होकर गुज़रती हैं। एक चरण में वे स्थिर पूंजी का अंश होती हैं, तो दूसरे में अलग-अलग

कठिनाई को केवल संकीर्ण दृष्टिकोण से ही व्यक्त किया है, उसका वह सही सामान्यीकरण करते हैं। जिंसों के दाम में सिर्फ़ मजदूरी पर ही नहीं, बल्कि लाभ पर भी आधिक्य, अर्थात मूल्य का स्थिर अंश समाविष्ट होता है। अतः प्रूदों के तर्क के अनुसार पूंजीपति भी अपने लाभ से जिंसें वापस नहीं ख़रीद सकेगा। और फ़ोर्काद इस पहेली को कैसे हल करते हैं? एक निरर्थक फ़िक़रे से: पूंजी की वृद्धि। इस प्रकार, पूंजी की निरंतर वृद्धि को, और बातों के अलावा, अपने को इसमें भी प्रमाणित करना चाहिए कि पण्य दामों का विश्लेषण, जो १०० की पूंजी के संदर्भ में अर्थशास्त्री के लिए असंभव होता है, १०,००० की पूंजी के मामले में अनावश्यक हो जाता है। उस रसायनज्ञ के बारे में क्या कहा जायेगा, जो इस प्रश्न का कि क्या कारण है कि मिट्टी के उत्पाद में जितना कार्बन होता है, उतना ख़ुद मिट्टी में भी नहीं होता, यह उत्तर देता है: यह कृषि उत्पादन में निरंतर वृद्धि के कारण है। सभी संभव संसारों में जो श्रेष्ठतम है, उसे बूर्जुआ जगत में देखने की सदाशयतापूर्ण अभिलाषा अप्रामाणिक अर्थशास्त्र में सत्य से लगाव और वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए झुकाव की आवश्यकता की जगह ले लेती है।

उपभुक्त होती हैं और इस प्रकार पूर्णतः संप्राप्ति में चली जाती हैं। अतः ऐडम स्मिथ के साथ यह सोचा जा सकता है कि स्थिर पूंजी पण्य मूल्य का एक आभासी तत्व मात्र है, जो सकल अभिरचना में विलुप्त हो जाता है। इस प्रकार संप्राप्ति के लिए परिवर्ती पूंजी का एक और भी विनिमय होता है। श्रमिक अपनी मज़दूरी से जिंसों का वह अंश ख़रीद लेता है, जो उसकी संप्राप्ति होता है। इस तरह से वह साथ ही पूंजीपति के लिए परिवर्ती पूंजी के द्रव्यरूप को प्रतिस्थापित कर देता है। अंत में, स्थिर पूंजी का गठन करनेवाले उत्पादों का एक अंश वस्तुरूप में अथवा स्वयं स्थिर पूंजी के उत्पादकों द्वारा विनिमय के ज़रिये प्रतिस्थापित किया जाता है; यह एक ऐसी प्रक्रिया है कि जिसके साथ उपभोक्ताओं का कोई संबंध नहीं है। अगर इसे नज़रंदाज़ कर दिया जाता है, तो यह छाप पैदा हो जाती है कि उपभोक्ताओं की संप्राप्ति समस्त उत्पाद की, अर्थात मूल्य के स्थिर अंश सहित, प्रतिस्थापना करती है।

५) मूल्यों के उत्पादन दामों में रूपांतरण से जनित उलझन के अलावा एक और उलझन बेशी मूल्य के विभिन्न उत्पादन तत्वों से संबद्ध संप्राप्ति के भिन्न, विशेष, परस्पर स्वतंत्र रूपों में, अर्थात लाभ तथा किराये में रूपांतरण के कारण उत्पन्न होती है। यह भुला दिया जाता है कि जिंसों के मूल्य आधार हैं और इन पण्य मूल्यों का निश्चित संघटक अंगों में विभाजन और मूल्य के इन घटकों का संप्राप्ति के रूपों में आगामी विकास, उनका मूल्य के इन पृथक घटकों के साथ उत्पादन के भिन्न उपादानों के स्वामियों के संबंधों में तत्वांतरण, उनका इन स्वामियों के बीच निश्चित कोटियों तथा स्वत्वाधिकारों के अनुसार वितरण स्वयं मूल्य निर्धारण तथा उसके नियम में कोई अंतर नहीं लाता है। मूल्य के नियम में इस तथ्य से भी इतना ही कम अंतर आता है कि लाभ का समकरण, अर्थात कुल बेशी मूल्य का विभिन्न पूंजियों में वितरण, और इस समकरण में भू-संपत्ति आंशिक रूप में जो बाधाएं (निरपेक्ष किराये में) खड़ी करती है, वे जिंसों के नियामक औसत दामों और व्यष्टिक मूल्यों में विचलन लाते हैं। इससे केवल यही होता है कि बेशी मूल्य इन विभिन्न पण्य दामों में जुड़ जाता है, लेकिन स्वयं बेशी मूल्य समाप्त नहीं हो जाता, न दाम के इन विभिन्न संघटक अंगों के नाते जिंसों के कुल मूल्य का ही अंत हो जाता है।

यह वह quid pro quo [तत्प्रतितत्] है, जिस पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे और जो इस भ्रांति से अनिवार्यतः जुड़ा रहता है कि मूल्य स्वयं अपने संघटक अंगों से उत्पन्न होता है। और यह कि जिंस के विभिन्न संघटक मूल्य संप्राप्तियों के नाते स्वतंत्र रूप ग्रहण कर लेते हैं और इन संप्राप्तियों के नाते वे अपने उद्गम के स्रोतों की तरह उत्पादन के विशेष भौतिक तत्वों से संबद्ध होते हैं, न कि अपने स्रोत की हैसियत से जिंस के मूल्य से। वे वस्तुतः इन स्रोतों से संबद्ध होते हैं, लेकिन मूल्य के संघटकों की तरह नहीं, बल्कि संप्राप्तियों की तरह, उत्पादन में कर्ताओं के इन विशेष संवर्गों – श्रमिक, पूंजीपति तथा भूस्वामी – के हिस्से में आनेवाले मूल्य संघटकों की तरह। लेकिन तब यह समझा जा सकता है कि मूल्य के ये संघटक पण्य मूल्य के विभाजन से उत्पन्न होने के बजाय, उलटे, केवल अपने संयोग के ज़रिये उसे पैदा ही करते हैं, जिससे एक मनोहर विषम चक्र आगे आ जाता है – जिंसों का मूल्य मज़दूरी, लाभ तथा किराये के मूल्यों के योग से उत्पन्न होता है, और मज़दूरी, लाभ तथा किराये का मूल्य, अपनी बारी में, जिंसों के मूल्य, आदि द्वारा निर्धारित होता है।[54]

---

[54] "सामग्री, कच्चे मालों और तैयार मालों में निवेशित प्रचल पूंजी स्वयं मालों से निर्मित

पुनरुत्पादन को उसकी सामान्य अवस्था में देखें, तो उत्पादन के लिए और फलतः स्थिर पूंजी की प्रतिस्थापना के लिए पुनर्योजित श्रम का केवल एक भाग ही उपभुक्त होता है; ठीक वह भाग, जो उपभोग वस्तुओं के, संप्राप्ति के भौतिक तत्वों के उत्पादन में प्रयुक्त स्थिर पूंजी को प्रतिस्थापित करता है। इसका इस तथ्य से प्रतिकरण हो जाता है कि संवर्ग II के इस स्थिर अंश के लिए कोई अतिरिक्त श्रम नहीं खर्च करना पड़ता है। लेकिन अब यह स्थिर पूंजी (कुल पुनरुत्पादन प्रक्रिया को देखें, तो जिसमें तब संवर्ग I तथा II का उपरोक्त समकरण शामिल हो होगा), जो पुनर्योजित श्रम का उत्पाद द्योतित नहीं करती है, यद्यपि यह उत्पाद उसके बिना पैदा नहीं किया जा सकता था, – यह स्थिर पूंजी पुनरुत्पादन प्रक्रिया में, सार की दृष्टि से, कुछ दुर्घटनाओं और ख़तरों के आगे आ जाती है, जो उसे बहुत घटा सकते हैं। (लेकिन, इसके अलावा, अगर मूल्य की दृष्टि से भी देखा जाये, तो वह श्रम की उत्पादनशीलता में परिवर्तन आने से भी ह्रासित हो सकती है; लेकिन यह सिर्फ़ अलग पूंजीपति के बारे में ही है।) इसके अनुसार लाभ का, फलतः बेशी मूल्य का और अतः बेशी उत्पाद का भी एक अंश, जिसमें

होती है, जिसका आवश्यक दाम उन्हीं तत्वों का बना होता है, जिससे एक देश में कुल मालों की दृष्टि से प्रचल पूंजी के इस अंश को आवश्यक दाम के तत्वों में शामिल करने का मतलब दुहराव होगा।" (Storch, *Cours d'Economie Politique*, II, p. 140.) प्रचल पूंजी के इन तत्वों से श्तोर्ख़ का आशय स्थिर पूंजी का मूल्य है (स्थायी पूंजी मात्र दूसरे रूप में प्रचलन कर रही पूंजी है)। "यह सही है कि श्रमिक की मजदूरी में, उद्यम के लाभ के मजदूरी से बननेवाले अंश की ही भांति, अगर उसे निर्वाह साधनों का भाग माना जाये, तो प्रचलित दामों पर ख़रीदी चीजें भी शामिल होती हैं और जिनमें इसी प्रकार मजदूरी, पूंजी पर ब्याज, किराया जमीन और उद्यम का लाभ समाविष्ट होते हैं ... यह कथन केवल यह सिद्ध करता है कि आवश्यक दाम को उसके सरलतम तत्वों में वियोजित करना असंभव है।" (वहीं, टिप्पणी।) अपनी कृति *Considérations sur la nature du revenu national* (Paris, 1824) में सेय के साथ अपने विवाद में श्तोर्ख़ सचमुच अनुभव करते हैं कि पण्य मूल्य का गलत विश्लेषण कैसे बेतुकेपन पर ले जाता है, जब वह मूल्य को मात्र संप्राप्तियों में वियोजित कर देता है। वह ऐसे परिणामों की निरर्थकता – अकेले पूंजीपति के दृष्टिकोण से नहीं, वरण पूरे राष्ट्र के दृष्टिकोण से – सही ही इंगित करते हैं, लेकिन स्वयं prix nésessaire [आवश्यक दाम] के अपने विश्लेषण में अपनी *Cours* में दिये अपने इस विश्लेषण से जरा भी आगे नहीं जाते कि उसे एक मिथ्या प्रगति में ad infinitum [यावदनंत] वियोजित किये बिना अपने वास्तविक तत्वों में वियोजित करना असंभव है। "यह प्रत्यक्ष है कि वार्षिक उत्पाद का मूल्य अंशतः पूंजियों और अंशतः लाभों में विभक्त होता है, और वार्षिक उत्पाद के मूल्य के इन अंशों में से प्रत्येक नियमित रूप से उन उत्पादों के क्रय में भाग लेता है, जिनकी राष्ट्र को जैसे अपनी पूंजी के परिरक्षण के लिए, वैसे ही अपनी उपभोग निधि के नवीकरण के लिए आश्यकता होती है (पृष्ठ १३४-१३५) ... क्या वह (स्वावलंबी कृषक परिवार) अपने भुसौरों या अस्तबलों में रह सकता है, अपना बीज और चारा खा सकता है, अपने ढोरों से तन ढंक सकता है, अपने कृषि उपकरणों से मनोरंजन कर सकता है? श्री सेय की स्थापना के अनुसार इन सभी प्रश्नों का उत्तर हां में ही दिया जाना चाहिए (पृष्ठ १३५-१३६) ... अगर यह स्वीकारा जाता है कि किसी राष्ट्र का राजस्व उसके सकल उत्पाद के बराबर होता है, अर्थात अगर उससे कोई पूंजी नहीं निकालनी होती है, तो यह भी मानना होगा कि राष्ट्र अपने वार्षिक उत्पाद के समस्त मूल्य को अपनी भावी आय को तनिक भी क्षति पहुंचाये बिना अनुत्पादक ढंग से ख़र्च कर सकता है (पृष्ठ १४७)। किसी राष्ट्र की पूंजी के संरचक उत्पाद उपभोज्य नहीं होते हैं" (पृष्ठ १५०)।

(जहां तक मूल्य का संबंध है) केवल पुनर्योजित श्रम ही व्यक्त होता है, बीमा निधि का काम करता है। और इससे कोई अंतर नहीं आता कि इस बीमा निधि की व्यवस्था बीमा कंपनियों द्वारा अलग व्यवसाय की तरह की जाती है या नहीं। यह संप्राप्ति का एकमात्र अंश है, जो न इसी रूप में उपभुक्त होता है और न अनिवार्यतः संचय निधि का काम देता है। वह वस्तुतः इसी रूप में काम देता है, अथवा मात्र उत्पादन में हानि का ही प्रतिकार करता है, यह संयोग पर निर्भर करता है। इसी प्रकार यह बेशी मूल्य तथा बेशी उत्पाद का और फलतः बेशी श्रम का वह एकमात्र अंश भी है, जो संचय के लिए काम देनेवाले, और इसलिए पुनरुत्पादन प्रक्रिया के प्रसार के लिए भी काम देनेवाले हिस्से के अलावा पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के उन्मूलन के बाद भी अस्तित्व में रहेगा। निस्संदेह, यह इसकी पूर्वकल्पना करता है कि प्रत्यक्ष उत्पादकों द्वारा नियमितरूपेण उपभुक्त अंश अपने वर्तमान न्यूनतम स्तर तक ही सीमित नहीं रहेगा। उन लोगों के लिए, जो आयु के कारण उत्पादन में अभी भाग नहीं ले सकते हैं, या आगे भाग नहीं ले सकते हैं, बेशी श्रम के अलावा उन लोगों के भरण-पोषण के लिए श्रम सर्वथा ख़त्म हो जायेगा, जो काम नहीं करते हैं। अगर हम समाज के आरंभ पर फिर से दृष्टिपात करें, तो पाते हैं कि उसमें अभी कोई उत्पादित उत्पादन साधन और फलतः कोई स्थिर पूंजी भी नहीं है, जिसका मूल्य उत्पाद में जा सकता है और जिसकी, उसी पैमाने पर पुनरुत्पादन से, उत्पाद से वस्तुरूप में और उसके मूल्य के अनुसार उसी हद तक प्रतिस्थापना करनी होती है। लेकिन वहां प्रकृति प्रत्यक्ष रूप में निर्वाह साधन प्रदान करती है, जिन्हें आरंभ में उत्पादित करने की जरूरत नहीं होती। इस प्रकार प्रकृति वन्य मानव को, जिसे बहुत कम आवश्यकताओं को ही तुष्ट करना होता है, अभी अविद्यमान उत्पादन साधनों का नये उत्पादन में उपयोग करने के बजाय नैसर्गिक रूप में विद्यमान उत्पादन साधनों को हस्तगत करने के लिए आवश्यक श्रम के साथ-साथ प्रकृति के अन्य उत्पादों को उत्पादन साधनों – धनुष, पत्थर के चाकू, नाव, आदि – में रूपांतरित करने का समय दे देती है। अगर उसे केवल तात्विक पहलू से देखा जाये, तो वन्य मानव में यह प्रक्रिया बेशी श्रम के नयी पूंजी में पुनःपरिवर्तन के सदृश है। संचय प्रक्रिया में अतिरिक्त श्रम के ऐसे उत्पादों का पूंजी में परिवर्तन निरंतर होता रहता है; और यह तथ्य कि सारी नयी पूंजी लाभ, किराये अथवा संप्राप्ति के अन्य रूपों से, अर्थात बेशी श्रम से उत्पन्न होती है, इस भ्रांत विचार पर ले जाता है कि जिंसों का सारा मूल्य किसी संप्राप्ति से उत्पन्न होता है। लाभ का पूंजी में यह पुनःपरिवर्तन अधिक सूक्ष्म विश्लेषण किये जाने पर यह दिखलाता है कि अतिरिक्त श्रम – जो सदा संप्राप्ति के रूप में प्रकट होता है – पुराने पूंजी मूल्य को बनाये रखने या पुनरुत्पादित करने के लिए नहीं, बल्कि, जहां तक वह संप्राप्ति के नाते उपभुक्त नहीं होता है, नयी अतिरिक्त पूंजी के निर्माण के लिए काम देता है।

सारी कठिनाई इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि सारा नवयोजित श्रम, जहां तक उसके द्वारा सर्जित मूल्य मजदूरी में परिणत नहीं होता, लाभ, – जिसे यहां सामान्यतः बेशी मूल्य का एक रूप समझा जाता है, – अर्थात ऐसे मूल्य की तरह प्रकट होता है, जिसके लिए पूंजीपति कुछ नहीं ख़र्च करता और फलतः जिसे निस्संदेह पूंजीपति के लिए अग्रसारित किसी भी चीज को, किसी भी पूंजी को प्रतिस्थापित नहीं करना होता है। इस प्रकार यह मूल्य उपलभ्य अतिरिक्त धन के रूप में, संक्षेप में, अलग पूंजीपति के दृष्टिकोण से, उसकी संप्राप्ति के रूप में अस्तित्व में होता है। लेकिन यह नवयोजित मूल्य बिलकुल वैसे ही उत्पादक रूप में कि जैसे व्यष्टिक रूप में, बिलकुल जैसे पूंजी, वैसे ही संप्राप्ति की तरह भी उपभुक्त हो सकता है। अपने

नैसर्गिक रूप के परिणामस्वरूप उसका कुछ भाग उत्पादक रूप में उपभुक्त होना चाहिए। अतः प्रत्यक्ष है कि हर वर्ष जोड़ा गया श्रम जैसे पूंजी, वैसे ही संप्राप्ति का भी सर्जन करता है, जैसे संचय प्रक्रिया में लक्षित होता है। किंतु श्रम का नयी पूंजी के सर्जन में लगनेवाला अंश (अतः कार्य दिवस के उस अंश के अनुरूप, जिसे वन्य मानव निर्वाह साधन प्राप्त करने के लिए नहीं, बल्कि वे औज़ार गढ़ने के लिए लगाता है, जिनसे अपने निर्वाह साधन प्राप्त करे) इसलिए अदृश्य हो जाता है कि बेशी श्रम का सारा उत्पाद पहले लाभ के रूप में प्रकट होता है, जो एक ऐसा अभिधान है कि जिसका स्वयं इस बेशी उत्पाद से कोई संबंध नहीं है, बल्कि जो सिर्फ़ पूंजीपति के उसके द्वारा हथियाये जानेवाले बेशी मूल्य से व्यष्टिक संबंध को ही दर्शाता है। वास्तव में, श्रमिक द्वारा सर्जित बेशी मूल्य संप्राप्ति तथा पूंजी में, अर्थात उपभोग वस्तुओं तथा अतिरिक्त उत्पादन साधनों में विभक्त है। लेकिन पिछले साल से बची पुरानी स्थिर पूंजी (उस अंश के अलावा, जो इस लिहाज़ से ह्रासित और इस प्रकार pro tanto [तत्प्रमाणे] नष्ट हो गया है कि उसे पुनरुत्पादित नहीं करना होता है, – और पुनरुत्पादन प्रक्रिया में इस तरह के व्याघात बीमे के अंतर्गत आते हैं) पुनर्योजित श्रम द्वारा सर्जित मूल्य की दृष्टि से पुनरुत्पादित नहीं होती है।

इसके अलावा, हम देखते हैं कि पुनर्योजित श्रम का एक अंश उपभुक्त स्थिर पूंजी के पुनरुत्पादन तथा प्रतिस्थापन में निरंतर आत्मसात होता जाता है, यद्यपि यह पुनर्योजित श्रम केवल संप्राप्ति में – मजदूरी, लाभ तथा किराये में – ही वियोजित होता है। लेकिन यह नजर-अंदाज कर दिया जाता है, १) कि इस श्रम के उत्पाद का एक मूल्यांश इस नये अतिरिक्त श्रम का उत्पाद हरगिज **नहीं है**, बल्कि पहले से विद्यमान तथा उपभुक्त स्थिर पूंजी ही है; अतः मूल्य का यह भाग उत्पाद के जिस अंश में प्रकट होता है, वह भी संप्राप्ति में नहीं रूपांतरित होता है, बल्कि इस स्थिर पूंजी के उत्पादन साधनों को वस्तुरूप में प्रतिस्थापित करता है; २) कि यह पुनर्योजित श्रम जिस मूल्यांश में वस्तुतः प्रकट होता है, वह वस्तुरूप में संप्राप्ति की तरह उपभुक्त नहीं होता है, बल्कि एक अन्य क्षेत्र में स्थिर पूंजी को प्रतिस्थापित करता है, जहां वह ऐसे नैसर्गिक रूप में रूपांतरित हो जाता है, जिसमें वह संप्राप्ति की तरह उपभुक्त हो सकता है, लेकिन जो अपनी बारी में भी पूर्णतः पुनर्योजित श्रम का ही उत्पाद नहीं है।

जब तक पुनरुत्पादन उसी पैमाने पर होता है, स्थिर पूंजी के प्रत्येक उपभुक्त तत्व की वस्तुरूप में उसी प्रकार के दूसरे प्रतिरूप से, अगर मात्रा और रूप में नहीं, तो कम से कम प्रभाविता में, प्रतिस्थापना होनी चाहिए। श्रम की उत्पादनशीलता अगर उतनी ही रहती है, तो इस वस्तुरूप प्रतिस्थापन में उसी मूल्य का प्रतिस्थापन सन्निहित है, जो स्थिर पूंजी में उसके पुराने रूप में था। लेकिन अगर श्रम की उत्पादनशीलता बढ़ जाती है, जिससे वही भौतिक तत्व कम श्रम से पुनरुत्पादित किये जा सकते हैं, तो उत्पाद के मूल्य का कम अंश स्थिर पूंजी का वस्तुरूप में पूर्णतः प्रतिस्थापन कर सकता है। तब इस आधिक्य का नयी अतिरिक्त पूंजी की रचना करने के लिए उपयोग किया जा सकता है, अथवा उत्पाद के अधिक बड़े अंश को उपभोग वस्तुओं का रूप दिया जा सकता है, अथवा बेशी श्रम को कम किया जा सकता है। इसके विपरीत, अगर श्रम की उत्पादनशीलता घट जाती है, तो पुरानी पूंजी की प्रतिस्थापना के लिए उत्पाद के अधिक बड़े अंश का उपयोग करना होगा, और बेशी उत्पाद घट जाता है।

लाभ का, अथवा सामान्य रूप में बेशी मूल्य के किसी भी रूप का पूंजी में पुनःरूपांतरण यह दिखलाता है – इतिहासतः निर्धारित आर्थिक रूप को अगर अलग रहने दिया जाये और उसे मात्र नये उत्पादन साधनों की साधारण रचना ही माना जाये तो – कि ऐसी स्थिति अब भी

बनी रहती है, जिसमें श्रमिक को अपने प्रत्यक्ष निर्वाह साधन प्राप्त करने के लिए श्रम के अलावा उत्पादन साधन उत्पन्न करने के लिए भी श्रम का निष्पादन करना होता है। लाभ का पूंजी में रूपांतरण अतिरिक्त श्रम के एक अंश का नये, अतिरिक्त उत्पादन साधनों की रचना के लिए नियोजन के सिवा और कुछ नहीं है। यह बात कि ऐसा लाभ के पूंजी में रूपांतरण की शक्ल में होता है, बस यही व्यक्त करती है कि अतिरिक्त श्रम का निपटान श्रमिक नहीं, बल्कि पूंजी-पति करता है। इसका कि इस अतिरिक्त श्रम को पहले ऐसे चरण से होकर गुज़रना होता है, जिसमें वह संप्राप्ति की तरह सामने आता है (जबकि, उदाहरण के लिए, वन्य मानव के मामले में वह उत्पादन साधनों के उत्पादन के लिए प्रत्यक्षतः विहित अतिरिक्त श्रम की तरह सामने आता है), मतलब सिर्फ़ यह है कि यह श्रम, अथवा उसका उत्पाद, उसके द्वारा विनियोजित किया जाता है, जो स्वयं काम नहीं करता है। लेकिन जो चीज़ वास्तव में पूंजी में रूपांतरित होती है, वह अपने में लाभ नहीं है। बेशी मूल्य का पूंजी में रूपांतरण केवल यह द्योतित करता है कि बेशी मूल्य तथा बेशी उत्पाद पूंजीपति द्वारा संप्राप्ति की तरह अलग-अलग उपभुक्त नहीं होते हैं। किंतु इस तरह से जो वस्तुतः रूपांतरित होता है, वह मूल्य, मूर्त श्रम, अथवा वह उत्पाद है, जिसमें यह मूल्य प्रत्यक्षतः व्यक्त होता है, अथवा पहले द्रव्य में रूपांतरित किये जाने के बाद जिससे उसका विनिमय किया जाता है। और जब लाभ पूंजी में पुनः रूपांतरित किया जाता है, तो बेशी मूल्य, अथवा लाभ का यह निश्चित रूप नयी पूंजी का स्रोत नहीं होता है। इससे बेशी मूल्य बस एक दूसरे रूप में बदल जाता है। लेकिन यह रूप परिवर्तन उसे पूंजी नहीं बनाता है। अब जिंस और उसका मूल्य पूंजी की तरह कार्य करते हैं। लेकिन यह बात कि जिंस का मूल्य अशोधित है – और केवल इसी के ज़रिये वह बेशी मूल्य बन पाता है – श्रम के मूर्तीकरण, स्वयं मूल्य के लिए सर्वथा महत्वहीन है।

यह भ्रांति विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है। उदाहरण के लिए, इसमें कि जो जिंसें स्थिर पूंजी की रचना करती हैं, उनमें मज़दूरी, लाभ तथा किराये के तत्व भी रहते हैं। अथवा, इसके विपरीत, इसमें कि जो एक के लिए संप्राप्ति है, वह दूसरे के लिए पूंजी है और इसलिए ये आत्मपरक संबंध मात्र हैं। इस प्रकार, कतवार के सूत में मूल्य का वह अंश रहता है, जो उसके लिए लाभ को द्योतित करता है। अगर बुनकर सूत ख़रीदता है, तो वह कतवार के लाभ का सिद्धिकरण करता है, मगर ख़ुद उसके लिए यह सूत महज़ उसकी स्थिर पूंजी का हिस्सा ही है।

संप्राप्ति तथा पूंजी के बीच संबंधों के बारे में पहले की गयी टीकाओं के अलावा यह दृष्टव्य है: मूल्य के लिहाज़ से सूत के साथ-साथ जो संघटक तत्व की तरह से बुनकर की पूंजी में जाता है, वह सूत का मूल्य है। इस मूल्य के भाग स्वयं कतवार के लिए किस प्रकार पूंजी और संप्राप्ति में, दूसरे शब्दों में, शोधित तथा अशोधित श्रम में वियोजित हुए हैं, वह स्वयं जिंस के मूल्य निर्धारण के लिए (औसत लाभ के ज़रिये रूपांतरों को छोड़कर) सर्वथा अप्रासंगिक है। इसके पीछे यह विचार अब भी छिपा हुआ है कि लाभ, अथवा सामान्यतः बेशी मूल्य, जिंस के मूल्य के ऊपर आधिक्य है, जो केवल अतिरिक्त दाम, आपसी ठगी, या बिक्री में मुनाफ़े के ज़रिये ही बनाया जा सकता है। जब उत्पादन दाम, या जिंस का मूल्य तक अदा हो गया है, तो जिंस के वे संघटक मूल्य भी क़ुदरती तौर पर अदा हो गये हैं, जो विक्रेता के सामने संप्राप्ति के रूप में आते हैं। एकाधिकार दामों की यहां निस्संदेह बात नहीं की जा रही है।

दूसरे, यह कहना बिलकुल सही है कि स्थिर पूंजी की संरचक जिंसों के घटकों को किसी भी

अन्य पण्य मूल्य की ही भांति ऐसे मूल्यांशों में परिणत किया जा सकता है, जो उत्पादन साधनों के उत्पादकों और स्वामियों के लिए मजदूरी लाभ तथा किराये में वियोजित हो जाते हैं। यह महज इस तथ्य की पूंजीवादी अभिव्यक्ति है कि समस्त पण्य मूल्य किसी जिंस में समाविष्ट सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम का मापदंड ही है। लेकिन पहली पुस्तक में पहले ही दर्शाया जा चुका है कि यह किसी भी प्रकार किसी पूंजी के पण्य उत्पाद के पृथक भागों में विखंडित होने को नहीं रोकता है, जिनमें से एक केवल पूंजी के स्थिर अंश को, दूसरा पूंजी के परिवर्ती अंश को, और तीसरा एकमात्र बेशी मूल्य को प्रकट करता है।

श्तोर्ख़ यह कहते समय कई औरों की राय को भी व्यक्त करते हैं: "राष्ट्रीय संप्राप्ति के संरचक विक्रेय उत्पादों पर राजनीतिक अर्थशास्त्र में दो भिन्न तरीक़ों से विचार किया जाना चाहिए: व्यक्तियों की सापेक्षता में मूल्यों की तरह, और राष्ट्र की सापेक्षता में मालों की तरह; कारण कि राष्ट्र की संप्राप्ति का मूल्यनिरूपण किसी व्यक्ति की संप्राप्ति की तरहं उसके मूल्य से नहीं, बल्कि उसकी उपयोगिता से, अथवा उन आवश्यकताओं से, जिन्हें वह तुष्ट कर सकती है, किया जाता है।" (*Considérations sur le revenu national*, p. 19.)

पहली बात तो यह कि ऐसे राष्ट्र को, जिसकी उत्पादन प्रणाली मूल्य पर आधारित है और इसके अलावा जो पूंजीवादी ढंग से संगठित है, केवल राष्ट्रीय आवश्यकताओं के तुष्टिकरण के लिए कार्यरत समुच्चित निकाय मानना मिथ्या निष्कर्षण है।

दूसरे, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के उन्मूलन के बाद, मगर फिर भी सामाजिक उत्पादन के बने रहते हुए मूल्य निर्धारण इस अर्थ में प्रधान बना रहता है कि श्रम काल का विनियमन और सामाजिक श्रम का विभिन्न उत्पादन समूहों में वितरण, अंततोगत्वा इन सब का अपने में समावेश करनेवाला लेखाकरण पहले किसी भी समय की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

अध्याय ५०

प्रतिद्वंद्विता द्वारा उत्पन्न भ्रांतियां

यह दिखलाया जा चुका है कि जिंसों का मूल्य, अथवा उनके कुल मूल्य द्वारा विनियमित उत्पादन दाम इनमें वियोजित हो जाता है :

१) स्थिर पूंजी को प्रतिस्थापित, अथवा उस विगत श्रम को व्यक्त करनेवाला एक मूल्यांश, जो जिंस के निर्माण में उत्पादन साधनों के रूप में प्रयुक्त हुआ था ; संक्षेप में, इन उत्पादन साधनों द्वारा जिंसों की उत्पादन प्रक्रिया में ले जाया गया मूल्य, अथवा दाम। हम यहां अलग-अलग जिंसों की बात बिलकुल नहीं कर रहे हैं, बल्कि पण्य पूंजी की, अर्थात उस रूप की बात कर रहे हैं, जिसमें पूंजी का उत्पाद एक निश्चित कालावधि, उदाहरण के लिए, एक साल में व्यक्त होता है ; अलग-अलग जिंस पण्य पूंजी का एक तत्व होती है, और जो, जहां तक उसके मूल्य की बात है, उसी के अनुरूप संघटकों में वियोजित हो जाती है।

२) परिवर्ती पूंजी को प्रकट करनेवाला मूल्यांश, जो श्रमिक की आय को मापता है और उसके लिए मजदूरी में रूपांतरित हो जाता है ; अर्थात श्रमिक ने इस मजदूरी को मूल्य के इस परिवर्ती अंश में पुनरुत्पादित किया है ; संक्षेप में, मूल्य का वह अंश, जो जिंसों के उत्पादन में उपरोक्त स्थिर अंश में योजित नये श्रम के शोधित अंश को प्रकट करता है।

३) बेशी मूल्य, अर्थात उत्पादित जिंसों का वह मूल्यांश, जिसमें अशोधित श्रम, अथवा बेशी श्रम समाविष्ट होता है। मूल्य का यह अंतिम अंश अपनी बारी में वे स्वतंत्र रूप ग्रहण करता है, जो साथ ही संप्राप्ति के रूप भी होते हैं : पूंजी पर लाभ (पूंजी पर ब्याज और पूंजी पर कार्यरत पूंजी के नाते उद्यम का लाभ) का रूप तथा किराया ज़मीन का रूप, जिसे उत्पादन प्रक्रिया में शामिल ज़मीन का स्वामी प्राप्त करता है। घटक २) तथा ३) का, अर्थात मूल्य के उस अंश का, जो सदा मज़दूरी (बेशक, मज़दूरी के परिवर्ती पूंजी के रूप से होकर गुज़रने के बाद ही), लाभ तथा किराये के संप्राप्ति रूप ग्रहण करता है, स्थिर घटक १) से यह अंतर है कि इसमें वह समस्त मूल्य समाविष्ट होता है, जिसमें स्थिर अंश में, जिंसों के उत्पादन साधनों में योजित नया अतिरिक्त श्रम मूर्त होता है। इसलिए, अगर स्थिर अंश को अलग रहने दिया जाये, तो यह कहना सही है कि किसी जिंस का मूल्य, अर्थात जिस हद तक वह नवयोजित श्रम को व्यक्त करता है, निरंतर तीन भागों में वियोजित होता जाता है, जो संप्राप्ति के तीनों रूप, अर्थात मज़दूरी, लाभ तथा किराया,[55] हैं, जिनके मूल्य के क्रमिक परिमाण, अर्थात कुल मूल्य

---

[55] पूंजी के स्थिर अंश में जोड़े मूल्य के मज़दूरी, लाभ तथा किराया ज़मीन में विखंडन में यह कहना अनावश्यक है कि ये मूल्य के अंश हैं। वस्तुतः उन्हें उस प्रत्यक्ष उत्पाद में विद्यमान

में वे जो संखंड बनाते हैं, ऊपर विकसित किये गये विभिन्न विशिष्ट नियमों द्वारा निर्धारित होते हैं। लेकिन इसकी उलटी बात, अर्थात यह कहना ग़लत होगा कि मज़दूरी का मूल्य, लाभ दर और किराया दर मूल्य के स्वतंत्र संघटक तत्व हैं, स्थिर घटक के अलावा जिनका संश्लेषण जिंसों के मूल्य को जन्म देता है; दूसरे शब्दों में, यह कहना ग़लत होगा कि वे जिंसों के मूल्य, अथवा उत्पादन दाम के संघटक तत्व हैं।[56]

अंतर को आसानी से देखा जा सकता है।

मान लीजिये कि ५०० की पूंजी के उत्पाद का मूल्य $४००_c + १००_v + १५०_s = ६५०$ है; मान लीजिये कि १५०_s अपनी बारी में ७५ लाभ + ७५ किराया में विभक्त हैं। व्यर्थ की कठिनाइयों से बचने के लिए हम यह भी मान लेते हैं कि यह पूंजी औसत संरचना की है, जिससे उसका उत्पादन दाम और उसका मूल्य संपात करते हैं; यह संपात तब हमेशा होता है, जब भी ऐसी व्यष्टिक पूंजी के उत्पाद को कुल पूंजी के अपने परिमाण के अनुरूप किसी अंश का उत्पाद माना जा सकता है।

यहां परिवर्ती पूंजी से मापित मज़दूरी पेशगी पूंजी की २०% है; कुल पूंजी पर परिकलित बेशी मूल्य ३० % है, अर्थात १५% लाभ और १५% किराया। जिंस का नवयोजित श्रम का द्योतक समस्त मूल्य घटक $१००_v + १५०_s = २५०$ है। उसका परिमाण उसके मज़दूरी, लाभ और किराये में विभाजन पर निर्भर नहीं करता। हम इन भागों के एक दूसरे के साथ संबंध से देखते हैं कि श्रम शक्ति ने, जिसकी अदायगी द्रव्य में १००, मसलन १०० पाउंड से की गयी है, द्रव्य में २५० पाउंड के बराबर श्रम की मात्रा प्रदान की है। इससे हम देखते हैं कि श्रमिक ने जितना श्रम अपने लिए किया है, उससे १ १/२ गुना उसने बेशी श्रम निष्पन्न किया है। अगर कार्य दिवस = १० घंटे, तो उसने ४ घंटे अपने लिए और ६ घंटे पूंजीपति के लिए काम किया है। अतः श्रमिकों के जिस श्रम की १०० पाउंड से अदायगी की जाती है, वह २५० पाउंड के मुद्रा मूल्य के बराबर है। २५० पाउंड के इस मूल्य के अलावा श्रमिक और पूंजीपति के बीच, पूंजीपति और भूस्वामी के बीच बांटने को और कुछ नहीं है। यह उत्पादन साधनों के मूल्य में नवयोजित कुल मूल्य, अर्थात ४०० है। इसलिए २५० का यह इस प्रकार उत्पादित और उसमें

माना जा सकता है, जिसमें यह मूल्य प्रकट होता है, अर्थात किसी विशेष उत्पादन क्षेत्र में श्रमिकों तथा पूंजीपतियों द्वारा उत्पादित प्रत्यक्ष उत्पाद में – उदाहरणार्थ, कताई उद्योग में उत्पादित सूत। किंतु वास्तव में ये इस उत्पाद में उससे कोई अधिक या कोई कम मूर्त नहीं होते कि जितने उतने ही मूल्य के किसी भी अन्य माल में, भौतिक संपदा के किसी भी अन्य घटक में। व्यवहार में मजदूरी सचमुच मुद्रा में, अर्थात ब्याज और किराये की तरह ही मूल्य की शुद्ध अभिव्यंजना में, अदा की जाती है। पूंजीपति के लिए उसके उत्पाद का मूल्य की शुद्ध अभिव्यंजना में रूपांतरण वस्तुतः बहुत महत्वपूर्ण है; वितरण में यह रूपांतरण पहले ही कल्पित है। ये मूल्य उसी उत्पाद में, उसी जिंस में, जिसके उत्पादन में वे उत्पन्न हुए थे, पुनः रूपांतरित होते हैं या नहीं, श्रमिक प्रत्यक्षतः अपने द्वारा उत्पादित उत्पाद का एक हिस्सा वापस ख़रीदता है या भिन्न प्रकार के किसी और श्रम का उत्पाद ख़रीदता है, इसका इस प्रसंग से कोई संबंध नहीं है। श्री रॉड्बेर्टस इसके बारे में बेकार ताव में आ जाते हैं।

[56] "यह कहना काफ़ी रहेगा कि जो सामान्य नियम कच्चे मालों और उत्पादित जिंसों के मूल्य का विनियमन करता है, वही धातुओं पर भी लागू होता है; उनका मूल्य न लाभ दर पर, न मज़दूरी दर पर, न खदान के लिए दिये जानेवाले किराये पर, बल्कि धातु को प्राप्त करने और उसे बाज़ार में लाने के लिए आवश्यक श्रम की कुल मात्रा पर निर्भर करता है।" (रिकार्डो, *Principles*, Ch. III, p. 77)

मूर्त श्रम की मात्रा द्वारा निर्धारित विशिष्ट पण्य मूल्य उन लाभांशों की सीमा है, जो श्रमिक, पूंजीपति और भूस्वामी इस मूल्य से संप्राप्ति – मजदूरी, लाभ और किराये – के रूप में प्राप्त कर सकेंगे।

मान लीजिये कि उसी आंगिक संरचना की, अर्थात नियोजित सजीव श्रम शक्ति और गतिशील की गयी स्थिर पूंजी के बीच उसी अनुपात की किसी पूंजी को उसी श्रम शक्ति के लिए, जो ४०० की स्थिर पूंजी को गतिमान करती है, १०० पाउंड के बजाय १५० पाउंड देने पड़ते हैं। और इसके अलावा यह भी मान लीजिये कि बेशी मूल्य में लाभ तथा किराये के भाग अलग-अलग अनुपात में हैं। चूंकि हमने माना है कि १५० पाउंड की परिवर्ती पूंजी श्रम की उतनी की मात्रा को गतिमान करती है, जितनी को १०० पाउंड की परिवर्ती पूंजी करती थी, इसलिए नवउत्पादित मूल्य २५० होगा, जैसे पहले था, और कुल उत्पाद का मूल्य ६५० होगा, जैसे पहले भी था, लेकिन अब हमारे पास $४००_c + १५०_v + १००_s$ होगा ; और ये १००_s, कहिये कि, ४५ लाभ और ५५ किराये में विभक्त होंगे। नवउत्पादित कुल मूल्य मज़दूरी, लाभ और किराये में जिस अनुपात में विभाजित होगा, वह अब बहुत भिन्न होगा ; इसी प्रकार पेशगी कुल पूंजी का परिमाण भी भिन्न होगा, यद्यपि वह श्रम की उतनी ही कुल मात्रा को गतिमान करती है। मजदूरी पेशगी पूंजी की २७ ३/११%, लाभ – ८ २/११%, और किराया – १०% होगा ; इस प्रकार कुल बेशी मूल्य १८% के कुछ ऊपर होगा।

मजदूरी में वृद्धि के परिणामस्वरूप कुल श्रम का अशोधित अंश और इससे बेशी मूल्य भी भिन्न होगा। अगर कार्य दिवस में १० घंटे हैं, तो श्रमिक ६ घंटे अपने लिए और सिर्फ़ ४ घंटे पूंजीपति के लिए काम करेगा। लाभ तथा किराये के अनुपात भी भिन्न होंगे ; ह्रासित बेशी मूल्य पूंजीपति तथा भूस्वामी के बीच भिन्न अनुपात में विभाजित होगा। अंततः, चूंकि स्थिर पूंजी का मूल्य उतना ही बना रहेगा और अग्रसारित परिवर्ती पूंजी का मूल्य चढ़ गया होगा, इसलिए ह्रासित बेशी मूल्य और अधिक ह्रासित सकल लाभ दर में व्यक्त होगा, जिससे इस प्रसंग में हमारा आशय कुल बेशी मूल्य के कुल पेशगी पूंजी के साथ अनुपात से है।

मजदूरी के मूल्य में, लाभ दर में और किराया दर में परिवर्तन, इन भागों के एक दूसरे से अनुपातों को विनियमित करनेवाले नियमों का प्रभाव चाहे कुछ क्यों न हो, केवल नवोत्पादित २५० के पण्य मूल्य द्वारा स्थापित सीमाओं के भीतर ही हो सकता है। अपवाद सिर्फ़ उसी सूरत में हो सकता है कि जब किराया एकाधिकार दाम पर आधारित हो। इससे नियम में कोई भी अंतर नहीं आयेगा, अलबत्ता विश्लेषण अधिक जटिल हो जायेगा। कारण कि अगर हम इस प्रसंग में केवल उत्पाद पर ही विचार करें, तो सिर्फ़ बेशी मूल्य का विभाजन ही भिन्न होगा। लेकिन अगर हम अन्य जिंसों की तुलना में उसके सापेक्ष मूल्य पर विचार करें, तो हम केवल यह अंतर पायेंगे कि बेशी मूल्य का एक अंश उनसे इस विशेष जिंस को अंतरित हो गया था।

संक्षेप में दुहराया जाये, तो :

उत्पाद का मूल्य	नया मूल्य	बेशी मूल्य दर	सकल लाभ दर
पहला प्रसंग : $४००_c+१००_v+१५०_s=६५०$	२५०	१५०%	३०%
दूसरा प्रसंग : $४००_c+१५०_v+१००_s=६५०$	२५०	६६ २/३%	१८ २/११%

पहली बात तो यह कि बेशी मूल्य पहले जितना था, उससे एक तिहाई गिर जाता है, अर्थात १५० से १०० हो जाता है। लाभ दर में एक तिहाई से कुछ अधिक की गिरावट आती है, अर्थात वह ३०% से १८% पर आ जाती है, क्योंकि घटे हुए बेशी मूल्य को बढ़ी हुई कुल पेशगी पूंजी पर परिकलित करना होगा। लेकिन यह किसी भी प्रकार उसी अनुपात में नहीं गिरती, जिसमें बेशी मूल्य दर गिरती है। अंतोक्त $\frac{१५०}{१००}$ से गिरकर $\frac{१००}{१५०}$, अर्थात १५०% से ६६ २/३% हो जाती है, जबकि लाभ दर गिरकर सिर्फ़ $\frac{१५०}{५००}$ से $\frac{१००}{५५०}$, अर्थात ३०% से १८ २/११% ही होती है। अतः लाभ दर अनुपात में बेशी मूल्य संहति से अधिक, किंतु बेशी मूल्य दर से कम गिरती है। इसके अलावा हम यह पाते हैं कि उत्पादों का मूल्य और इसी प्रकार संहति तब तक उतने ही बने रहते हैं, जब तक श्रम की उतनी ही मात्रा नियोजित की जाती है, यद्यपि पेशगी पूंजी अपने परिवर्ती घटक के परिवर्धन के कारण बढ़ गयी है। पेशगी पूंजी में इस वृद्धि को नये उद्यम को शुरू करनेवाले पूंजीपति द्वारा निस्संदेह बहुत अनुभव किया जायेगा। लेकिन समूचे तौर पर पुनरुत्पादन की दृष्टि से परिवर्ती पूंजी के परिवर्धन का मतलब बस यही है कि नवयोजित श्रम द्वारा नवसर्जित मूल्य का अधिक बड़ा अंश मजदूरी में, और इस प्रकार पहले परिवर्ती पूंजी में, न कि बेशी मूल्य और बेशी उत्पाद में परिवर्तित होता है। इस प्रकार उत्पाद का मूल्य उतना ही बना रहता है, क्योंकि उसे एक ओर तो स्थिर पूंजी का मूल्य – ४००, और दूसरी ओर २५० का आंकड़ा, जिसमें नवयोजित श्रम प्रकट होता है, सीमित करते हैं। लेकिन दोनों ही अपरिवर्तित रहते हैं। यह उत्पाद पहले की ही भांति मूल्य के उतने ही परिमाण में उपयोग मूल्य की उतनी ही मात्रा को इस हद तक व्यक्त करेगा कि वह स्वयं फिर स्थिर पूंजी में प्रवेश करेगा; इस प्रकार स्थिर पूंजी के तत्वों की उतनी ही संहति उतने ही मूल्य को बनाये रखेगी। उस सूरत में बात कुछ और होती कि अगर मजदूरी इस कारण नहीं बढ़ी होती कि श्रमिक स्वयं अपने श्रम का अधिक बड़ा हिस्सा पाता है, बल्कि अगर वह स्वयं अपने श्रम का अधिक बड़ा अंश इसलिए पाता है कि श्रम उत्पादिता घट गयी है। इस हालत में कुल मूल्य, जिसमें वही श्रम – शोधित और अशोधित – समाविष्ट होगा, उतने का उतना ही बना रहेगा। लेकिन श्रम की यह मात्रा जिस उत्पाद संहति में समाविष्ट होगी, वह घट जायेगी, जिससे इस उत्पाद के प्रत्येक संखंड का दाम चढ़ जायेगा, क्योंकि प्रत्येक अंश में अधिक श्रम समाविष्ट होगा। १५० की बढ़ी हुई मज़दूरी उससे कोई अधिक उत्पाद को द्योतित नहीं करेगी, जितने को १०० की मजदूरी पहले करती थी; १०० का घटा हुआ बेशी मूल्य पहलेवाले उत्पाद के सिर्फ़ २/३ को ही, अर्थात पहले १०० द्वारा द्योतित उपयोग मूल्य संहति के ६६ २/३% को प्रकट करेगा। इस सूरत में स्थिर पूंजी भी इस हद तक अधिक महंगी हो जायेगी कि यह उत्पाद उसमें प्रविष्ट हो जायेगा। लेकिन यह मजदूरी में वृद्धि का परिणाम नहीं होगा, बल्कि इसके विपरीत मजदूरी में वृद्धि जिंसों के दाम में वृद्धि का परिणाम और श्रम की उसी मात्रा की ह्रासित उत्पादिता का परिणाम होगा। यहां ऐसा प्रतीत होता है, मानो मजदूरी में वृद्धि ने उत्पाद को महंगा बना दिया हो, लेकिन यह वृद्धि जिंसों के मूल्य में ह्रासित श्रम उत्पादिता से जनित परिवर्तन का कारण नहीं, बल्कि इसके विपरीत, परिणाम है।

दूसरी ओर, अन्य सभी परिस्थितियां अगर यथावत बनी रहती हैं, अर्थात जब नियोजित श्रम की उतनी ही मात्रा अब भी २५० से द्योतित होती है, तो अगर नियोजित उत्पादन साधनों

का मूल्य चढ़ता या गिरता है, तो उत्पादों की उतनी ही मात्रा के मूल्य में उतने ही परिमाण का चढ़ाव या उतार आयेगा। ४५०$_c$ + १००$_v$ + १५०$_s$ से ७०० उत्पाद मूल्य बनता है, लेकिन ३५०$_c$ + १००$_v$ + १५०$_s$ उत्पादों की उतनी ही मात्रा के लिए पहले के ६५० के मुक़ाबले केवल ६०० का मूल्य देती है। अतः अगर श्रम की उतनी ही मात्रा द्वारा गतिमान की गयी पेशगी पूंजी बढ़ती या घटती है, तो अन्य परिस्थितियों के यथावत रहने पर उत्पाद का मूल्य चढ़ता या गिरता है, क्योंकि पेशगी पूंजी में वृद्धि या घटत पूंजी के स्थिर अंश के मूल्य के परिमाण में परिवर्तन के कारण है। दूसरी ओर, अगर पेशगी पूंजी में वृद्धि या घटत पूंजी के परिवर्ती अंश के मूल्य के परिमाण में परिवर्तन के कारण है, तो श्रम उत्पादिता के यथावत रहने पर उत्पाद का मूल्य अपरिवर्तित बना रहता है। स्थिर पूंजी के मामले में उसके मूल्य में वृद्धि या ह्रास का किसी विपरीत गति से प्रतिकरण नहीं होता है। लेकिन परिवर्ती पूंजी के मामले में, यह मानते हुए कि श्रम उत्पादिता यथावत रहती है, उसके मूल्य में वृद्धि या ह्रास का बेशी मूल्य द्वारा विपरीत गति से प्रतिकार हो जाता है, जिससे परिवर्ती पूंजी का मूल्य जमा बेशी मूल्य, अर्थात श्रम द्वारा उत्पादन साधनों में नवयोजित और उत्पाद में नवसमाविष्ट मूल्य, उतना ही रहता है।

लेकिन अगर परिवर्ती पूंजी अथवा मजदूरी के मूल्य में वृद्धि या ह्रास जिंसों के दाम में चढ़ाव या उतार के कारण है, अर्थात इस पूंजी निवेश द्वारा नियोजित श्रम की उत्पादनशीलता में ह्रास या वृद्धि के कारण है, तो उत्पाद का मूल्य प्रभावित होता है। किंतु मजदूरी में चढ़ाव या उतार इस मामले में कारण नहीं, बल्कि परिणाम मात्र है।

इसके विपरीत, यह मानते हुए कि उपरोक्त उदाहरण में स्थिर पूंजी ४००$_c$ बनी रहती है, अगर १००$_v$ + १५०$_s$ से १५०$_v$ + १००$_s$ में परिवर्तन, अर्थात परिवर्ती पूंजी में वृद्धि, श्रम की उत्पादनशीलता में ह्रास के कारण है – उद्योग की इस विशेष शाखा, यथा रूई की कताई में नहीं, बल्कि संभवतः कृषि में, जो श्रमिक को खाद्य पदार्थ मुहैया करती है, अर्थात इन खाद्य पदार्थों के दाम में चढ़ाव के कारण है – तो उत्पाद का मूल्य अपरिवर्तित रहेगा। ६५० का मूल्य अब भी सूत की उतनी ही मात्रा द्वारा द्योतित होगा।

इसके अलावा उपरोक्त से यह निष्कर्ष निकलता है: अगर स्थिर पूंजी के व्यय में कमी उत्पादन की उन शाखाओं में बचत, आदि के कारण है, जिनके उत्पाद श्रमिक के उपभोग में शामिल होते हैं, तो इसके परिणामस्वरूप, बिलकुल स्वयं नियोजित श्रम की उत्पादिता में प्रत्यक्ष वृद्धि की ही भांति, श्रमिक के निर्वाह साधनों के सस्ता हो जाने के कारण मजदूरी में कमी आ सकती है, और इसलिए बेशी मूल्य में वृद्धि आ सकती है; जिससे इस प्रसंग में लाभ दर दो कारणों से बढ़ जायेगी, अर्थात एक ओर, इसलिए कि स्थिर पूंजी का मूल्य घट जाता है, और दूसरी ओर, इसलिए कि बेशी मूल्य बढ़ जाता है। बेशी मूल्य के लाभ में रूपांतरण के अपने विवेचन में हमने माना था कि मजदूरी गिरती नहीं है, बल्कि स्थिर रहती है, क्योंकि वहां हमें लाभ दर में घट-बढ़ का, बेशी मूल्य दर में परिवर्तनों से निरपेक्ष, अनुसंधान करना था। इसके अलावा, वहां विकसित किये गये नियम सामान्य नियम हैं और ऐसे पूंजी निवेशों पर भी लागू होते हैं, जिनके उत्पाद श्रमिक के उपभोग में प्रवेश नहीं करते, फलतः जिनके कारण उत्पाद के मूल्य में परिवर्तनों का मजदूरी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

इस प्रकार, नये श्रम द्वारा उत्पादन साधनों में, अथवा पूंजी के स्थिर अंश में प्रति वर्ष जोड़े गये नये मूल्य का संप्राप्ति के विभिन्न रूपों, अर्थात मजदूरी, लाभ तथा किराये में पृथक्करण तथा वियोजन स्वयं मूल्य, इन विभिन्न कोटियों में वितरित किये जानेवाले कुल मूल्य की सीमाओं को बिलकुल भी नहीं बदलता, बिलकुल जैसे इन अलग-अलग भागों के पारस्परिक संबंधों में परिवर्तन उनके योग, मूल्य के इस दत्त परिमाण को नहीं बदल सकता। दत्त आंकड़ा १०० हमेशा वह का वही बना रहता है, फिर चाहे वह ५० + ५० में विभाजित हो, या २० + ७० + १० में, या ४० + ३० + ३० में। उत्पाद का जो मूल्यांश इन संप्राप्तियों में वियोजित होता है, उसका निर्धारण बिलकुल पूंजी के मूल्य के स्थिर अंश की ही भांति जिंसों के मूल्य द्वारा, अर्थात प्रत्येक प्रसंग में उनमें समाविष्ट श्रम की मात्रा द्वारा होता है। अतः पहले, जिंसों के मूल्य की मजदूरी, लाभ तथा किराये में विभाजित की जानेवाली मात्रा दी जाती है; दूसरे शब्दों में, इन जिंसों के मूल्यांशों की मात्रा की निरपेक्ष सीमा। दूसरे, जहां तक स्वयं अलग-अलग कोटियों का संबंध है, उनके औसत तथा नियामक सीमाएं भी इसी प्रकार नियत हैं। मजदूरी इस परिसीमन का आधार बनाती है। उसका विनियमन, एक ओर, एक नैसर्गिक नियम द्वारा किया जाता है; उसकी निम्न सीमा श्रमिक द्वारा अपनी श्रम शक्ति के संरक्षण तथा उसके पुनरुत्पादन के लिए अपेक्षित निर्वाह साधनों के भौतिक न्यूनतम द्वारा; अर्थात जिंसों की एक निश्चित मात्रा द्वारा निर्धारित की जाती है। इन जिंसों का मूल्य उनके पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल द्वारा; और इस प्रकार उत्पादन साधनों में योजित नये श्रम के अंश द्वारा, अथवा प्रत्येक कार्य दिवस के उस अंश द्वारा निर्धारित होता है, जिसकी श्रमिक को इन आवश्यक निर्वाह साधनों के मूल्य के समतुल्य के उत्पादन तथा पुनरुत्पादन के निमित्त जरूरत होगी। उदाहरण के लिए, अगर उसके औसत दैनिक निर्वाह साधनों का मूल्य औसत श्रम के ६ घंटे है, तो उसे औसतन प्रति दिन ६ घंटे अपने लिए काम करना होगा। उसकी श्रम शक्ति का वास्तविक मूल्य इस भौतिक न्यूनतम से विचलन करता है; वह जलवायु और सामाजिक विकास के स्तर के अनुसार भिन्न होता है; वह केवल भौतिक ही नहीं, वरन इतिहासतः विकसित सामाजिक आवश्यकताओं पर भी निर्भर करता है, जो दूसरी प्रकृति बन जाती हैं। लेकिन हर देश में, नियत समय पर, यह नियामक औसत मजदूरी एक नियत परिमाण होती है। इस प्रकार, अन्य समस्त संप्राप्तियों के मूल्य की अपनी सीमा होती है। यह सदा उस मूल्य के बराबर होती है, जिसमें कुल कार्य दिवस (जो प्रस्तुत प्रसंग में औसत कार्य दिवस के बराबर है, क्योंकि वह कुल सामाजिक पूंजी द्वारा गतिमान किये गये श्रम की कुल मात्रा को समाविष्ट करता है), समामेलित है, सिवाय उस अंश के, जो मजदूरी में समामेलित होता है। अतः, उसकी सीमा उस मूल्य की सीमा द्वारा निर्धारित होती है, जिसमें अशोधित श्रम व्यक्त होता है, अर्थात इस अशोधित श्रम की मात्रा द्वारा। जहां कार्य दिवस का वह अंश, जो श्रमिक द्वारा अपनी मजदूरी के मूल्य के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक होता है, अपनी चरम सीमा मजदूरी के भौतिक न्यूनतम में पाता है, वहां कार्य दिवस का दूसरा अंश, जिसमें बेशी श्रम, और इस प्रकार बेशी मूल्य को द्योतित करनेवाला मूल्यांश समामेलित होता है, अपनी सीमा कार्य दिवस के भौतिक अधिकतम में, अर्थात दैनिक श्रम काल की कुल मात्रा में पाता है, जिसमें श्रमिक सामान्यतः सक्रिय हो सकता है और फिर भी अपनी श्रम शक्ति को बनाये रख सकता तथा पुनरुत्पादित कर सकता है। चूंकि यहां हमारा सरोकार उस मूल्य के वितरण से है, जो हर साल फिर से जोड़े जानेवाले कुल श्रम को प्रकट करता है, इसलिए यहां कार्य दिवस को एक अचर परिमाण माना जा सकता

है और ऐसा ही माना गया है, चाहे वह अपने भौतिक अधिकतम से कितना ही अधिक या कम विचलन क्यों न करता हो। इस प्रकार मूल्य के उस अंश की निरपेक्ष सीमा नियत होती है, जो बेशी मूल्य का निर्माण करता है और जो लाभ तथा किराया ज़मीन में वियोजित होता है। वह कार्य दिवस के अशोधित अंश के अपने शोधित अंश पर आधिक्य द्वारा, अर्थात कुल उत्पाद के उस मूल्यांश द्वारा निर्धारित होती है, जिसमें यह बेशी श्रम अस्तित्वमान होता है। अगर हम इस प्रकार सीमित और कुल पेशगी पूंजी पर परिकलित बेशी मूल्य को लाभ कहें, जैसे मैंने किया है, तो यह लाभ, जहां तक उसके निरपेक्ष परिमाण का संबंध है, बेशी मूल्य के बराबर होता है, और इसलिए उसकी सीमाएं बिलकुल उसी प्रकार नियम द्वारा निर्धारित होती हैं कि जिस प्रकार अंतोक्त की। दूसरी ओर, लाभ दर का स्तर भी इसी प्रकार पण्य मूल्य द्वारा निर्धारित कुछेक विशिष्ट सीमाओं के भीतर रखा जानेवाला एक परिमाण है। यह कुल बेशी मूल्य का उत्पादन में अग्रसारित कुल सामाजिक पूंजी के साथ अनुपात है। अगर यह पूंजी = ५०० (कहिये कि करोड़) और बेशी मूल्य = १००, तो २०% लाभ दर की निरपेक्ष सीमा है। सामाजिक लाभ का विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में निवेशित पूंजियों के बीच इस दर के अनुसार वितरण उत्पादन दामों को उत्पन्न करता है, जो पण्य मूल्यों से विचलन करते हैं और जो वास्तविक नियामक औसत बाज़ार दाम होते हैं। लेकिन यह विचलन न मूल्यों द्वारा दामों के निर्धारण का उन्मूलन करता है, न लाभ की नियमित सीमाओं का ही। जिंस के मूल्य के उसके उत्पादन में उपभुक्त पूंजी जमा उसमें समाविष्ट बेशी मूल्य के बराबर होने के बजाय अब उसका उत्पादन दाम उसके उत्पादन में उपभुक्त पूंजी, C, जमा उस बेशी मूल्य के बराबर है, जो सामान्य लाभ दर के परिणामस्वरूप उसके हिस्से में आता है, उदाहरण के लिए, उसके उत्पादन में – उपभुक्त पूंजी और मात्र नियोजित पूंजी को शामिल करते हुए – अग्रसारित पूंजी पर २०%। लेकिन यह २०% की अतिरिक्त मात्रा स्वयं कुल सामाजिक पूंजी द्वारा सर्जित बेशी मूल्य तथा उसके इस पूंजी के मूल्य के साथ संबंध से निर्धारित होती है; और यही कारण है कि यह २०% है, न कि १० या १०० है। अतः, मूल्यों का उत्पादन दामों में रूपांतरण लाभ पर सीमाओं को दूर नहीं करता है, बल्कि सिर्फ़ सामाजिक पूंजी को बनानेवाली विभिन्न विशेष पूंजियों में उसके वितरण को ही बदलता है, अर्थात वह उसे उनके बीच इस कुल पूंजी के मूल्य में उनके भागों के अनुपात में समरूपेण वितरित करता है। बाज़ार दाम इन नियामक उत्पादन दामों के ऊपर चढ़ते और नीचे गिरते रहते हैं, लेकिन ये उतार-चढ़ाव एक दूसरे को परस्पर संतुलित कर देते हैं। अगर न्यूनाधिक लंबी अवधियों की दाम सूचियों को देखा जाये, और उन मामलों को अलग रहने दिया जाये, जिनमें जिंसों का वास्तविक मूल्य श्रम उत्पादिता में परिवर्तन के कारण बदलता है, और इसी प्रकार उन मामलों को भी अलग रहने दिया जाये, जिनमें उत्पादन प्रक्रिया में नैसर्गिक अथवा सामाजिक संयोगों से व्याघात आया है, तो एक तो विचलनों की सापेक्षतया संकीर्ण सीमाओं, और दूसरे, उनके पारस्परिक प्रतिकरण की नियमितता से आश्चर्य होगा। यहां नियामक औसतों का वही प्रभुत्व देखने में आयेगा, जिसकी ओर केतले ने सामाजिक परिघटनाओं के मामले में इंगित किया है। अगर पण्य मूल्यों के उत्पादन दामों में समकरण में कोई बाधाएं नहीं आती हैं, तो किराया विभेदक किराये में वियोजित हो जाता है, अर्थात वह उन बेशी लाभों के समकरण तक सीमित हो जाता है, जो नियामक उत्पादन दामों द्वारा किन्हीं पूंजीपतियों को दिये जाते और जिन्हें अब भूस्वामी हथिया लेता है। अतएव किराये की यहां सामान्य लाभ दर द्वारा उत्पादन दामों के विनियमन से जनित व्यष्टिक लाभ दरों के विचलन

में अपनी निश्चित मूल्य सीमा है। अगर भू-संपत्ति पण्य मूल्यों के उत्पादन दामों में समकरण में बाधा डालती है और निरपेक्ष किराये को आत्मसात कर लेती है, तो अंतोक्त को कृषि उत्पादों के मूल्य का उनके उत्पादन दाम पर आधिक्य, अर्थात उनमें समाविष्ट बेशी मूल्य का पूंजियों के लिए सामान्य लाभ दर द्वारा विनियत लाभ दर पर आधिक्य, सीमित करता है। अतः यह अंतर किराये की सीमा को बनाता है, जो पहले की ही भांति, जिंसों में समाविष्ट नियत बेशी मूल्य का एक निश्चित अंश मात्र है।

अंत में, अगर बेशी मूल्य का औसत लाभ में समकरण विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में कृत्रिम अथवा नैसर्गिक एकाधिकारों, और विशेषकर भू-संपत्ति में एकाधिकार के रूप में बाधाओं का सामना करता है, जिससे एकाधिकार दाम संभव हो जाता है, जो ऐसे एकाधिकार द्वारा प्रभावित जिंसों के उत्पादन दाम के ऊपर और मूल्य के ऊपर चला जाता है, तो जिंसों के मूल्य द्वारा लगायी गयी सीमाएं उससे मिट नहीं जायेंगी। कुछेक जिंसों का एकाधिकार दाम बस अन्य जिंस उत्पादकों के लाभ के एक अंश को एकाधिकार दामवाली जिंसों को अंतरित ही कर देगा। इससे बेशी मूल्य के विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों के बीच वितरण में स्थानिक गड़बड़ तो परोक्षतः पैदा हो जायेगी, लेकिन वह स्वयं इस बेशी मूल्य की सीमा को अपरिवर्तित रहने देगी। अगर एकाधिकार दामवाली जिंस श्रमिक के आवश्यक उपभोग में प्रवेश करती है, तो वह मजदूरी को बढ़ा देगी और इस प्रकार बेशी मूल्य को घटा देगी, बशर्ते कि श्रमिक अपनी श्रम शक्ति का सारा मूल्य पहले की तरह ही प्राप्त करता है। वह उसकी मजदूरी को श्रम शक्ति के मूल्य के नीचे कर सकती है, लेकिन सिर्फ़ उसी सीमा तक कि जहां तक मजदूरी अपने भौतिक न्यूनतम के आगे जाती हो। इस प्रसंग में एकाधिकार दाम वास्तविक मजदूरी (अर्थात श्रमिक द्वारा श्रम की उतनी ही मात्रा के बदले प्राप्त उपयोग मूल्यों की मात्रा) से और दूसरे पूंजीपतियों के लाभ से कटौती से अदा किया जायेगा। एकाधिकार दाम द्वारा जिंसों के दामों का सामान्य विनियमन किये जाने की सीमाएं सुनिश्चित रूप से निर्धारित और सुतथ्यतापूर्वक परिकलनीय होंगी।

इस प्रकार, जैसे जिंसों के नवयोजित मूल्य, और सामान्य रूप में, संप्राप्ति में वियोज्य मूल्य का विभाजन अपनी नियत तथा नियामक सीमाएं आवश्यक और बेशी श्रम, मजदूरी और बेशी मूल्य के बीच संबंध में पाता है, ठीक वैसे ही स्वयं बेशी मूल्य का लाभ तथा किराया जमीन में विभाजन अपनी सीमाएं लाभ दर के समकरण का विनियमन करनेवाले नियमों में पाता है। जहां तक ब्याज तथा उद्यम के लाभ में विभाजन का संबंध है, तो स्वयं औसत लाभ इन दोनों की, साथ-साथ, सीमा बनाता है। वह मूल्य का वह नियत परिमाण उपलब्ध करता है, जिसे ये दोनों आपस में बांट सकते हैं और केवल जिसका इस तरह से विभाजन हो सकता है। इस विभाजन का विशिष्ट अनुपात यहां सांयोगिक है, अर्थात वह अनन्यरूपेण प्रतिद्वंद्विता की अवस्थाओं द्वारा निर्धारित होता है। अन्य प्रसंगों में जहां पूर्ति तथा मांग का संतुलन बाजार दामों में अपने नियामक औसत दामों से विचलनों के विलोपन, अर्थात प्रतिद्वंद्विता के प्रभाव के विलोपन के समतुल्य होता है, वहां वह यहां एकमात्र निर्धारक है। लेकिन क्यों? इसलिए कि उसी उत्पादन उपादान – पूंजी – को बेशी मूल्य के अपने हिस्से का उसी उत्पादन उपादान के दो स्वामियों के बीच विभाजन करना होता है। लेकिन यह तथ्य पण्य मूल्य के अंगस्वरूप उसकी सीमा को ख़त्म नहीं कर देता है कि यहां औसत लाभ के विभाजन के लिए कोई निश्चित, नियमित सीमा नहीं है; जिस प्रकार यह तथ्य इस लाभ की सीमाओं को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करता कि किसी

विशेष व्यवसाय के दो भागीदार अपने लाभ को भिन्न बाह्य परिस्थितियों के कारण असमान रूप में विभाजित करते हैं।

अतः, यद्यपि पण्य मूल्य का वह अंश, जिसमें उत्पादन साधनों के मूल्य में योजित नया श्रम समावेशित होता है, विभिन्न भागों में बंटा होता है, जो संप्राप्ति के रूप में परस्पर स्वतंत्र रूप ग्रहण करते हैं, यह अब मजदूरी, लाभ तथा किराया जमीन को ऐसे संघटक तत्व मानने का कोई कारण नहीं है, जो, मिलकर या एकसाथ लिये जाने पर, स्वयं जिंसों के नियामक दाम (नैसर्गिक दाम, prix necessaire [आवश्यक दाम]) का स्रोत हैं, जिससे पण्य मूल्य – मूल्य के स्थिर अंश को घटाने के बाद – वह मूल एकक न होगा, जो इन भागों में विभक्त होता है, प्रत्युत, इसके विपरीत, इन तीनों भागों में प्रत्येक का दाम स्वतंत्र रूप में निर्धारित होगा, और जिंसों का दाम इसके बाद इन तीनों स्वतंत्र परिमाणों के एकसाथ जोड़े जाने से ही बनेगा। यथार्थतः, पण्य मूल्य वह परिमाण है, जो मजदूरी, लाभ तथा किराये के कुल मूल्यों के योग के, उनके सापेक्ष परिमाणों से निरपेक्षतः, पहले आता है। उपरोक्त भ्रांत संकल्पना में मजदूरी, लाभ तथा किराया मूल्य के तीन स्वतंत्र परिमाण हैं, जिनका कुल परिमाण पण्य मूल्य के परिमाण को उत्पन्न, सीमित तथा निर्धारित करता है।

सबसे पहले तो यह प्रत्यक्ष है कि अगर जिंसों का दाम मजदूरी, लाभ और किराये से बनता है, तो यह बात पण्य मूल्य के स्थिर अंश पर उतना ही लागू होगी कि जितना उस दूसरे अंश पर, जिसमें परिवर्ती पूंजी तथा बेशी मूल्य समावेशित होते हैं। अतः, इस स्थिर अंश को यहां विवेचन के पूर्णतः बाहर छोड़ा जा सकता है, क्योंकि जिन जिंसों से वह रचित है, उनका मूल्य भी इसी प्रकार मजदूरी, लाभ तथा किराये के मूल्यों के योग में वियोजित हो जायेगा। जैसे पहले ही बताया जा चुका है, इस प्रकार यह संकल्पना मूल्य के ऐसे स्थिर अंश के अस्तित्व को ही नकारती है।

इसके अलावा यह प्रत्यक्ष है कि मूल्य यहां सारा अर्थ गंवा देता है। सिर्फ़ दाम की संकल्पना ही इस अर्थ में बाक़ी रहती है कि श्रम शक्ति, पूंजी और जमीन के स्वामी को एक ख़ास द्रव्य राशि दी जाती है। लेकिन द्रव्य क्या है? द्रव्य कोई चीज़ नहीं है, वरन मूल्य का एक निश्चित रूप है, फलतः मूल्य फिर पूर्वकल्पित है। अतः, समझ लीजिये कि इन उत्पादन तत्वों के लिए सोने या चांदी की एक निश्चित मात्रा अदा की जाती है, या मन में उनके समकृत कर दी जाती है। लेकिन सोना और चांदी (और प्रबुद्ध अर्थशास्त्री इस खोज पर गर्व करता है) स्वयं और सभी जिंसों की ही भांति जिंसें हैं। इसलिए सोने और चांदी का दाम भी इसी प्रकार मजदूरी, लाभ तथा किराये द्वारा निर्धारित होता है। अतः, हम मजदूरी, लाभ और किराये का उन्हें सोने-चांदी की एक ख़ास मात्रा के साथ समकृत करके निर्धारण नहीं कर सकते, क्योंकि सोना और चांदी के मूल्य का, जिसके द्वारा उन्हें समतुल्य मानते हुए इन तीनों का मूल्यांकन किया जाना है, पहले स्वयं उन्हीं के द्वारा, सोने और चांदी से निरपेक्ष रूप में निर्धारण किया जाना चाहिए, अर्थात किसी भी जिंस के मूल्य से निरपेक्ष रूप में, जो मूल्य स्वयं उपरोक्त तीनों उपादानों का ही उत्पाद है। अतः यह कहना कि मजदूरी, लाभ तथा किराये का मूल्य उनके सोने और चांदी की एक ख़ास मात्रा के समतुल्य होने में सन्निहित है, महज यह कहने के समान है कि वे मजदूरी, लाभ तथा किराये की एक ख़ास मात्रा के बराबर हैं।

पहले मजदूरी को ही ले लीजिये। कारण कि इस दृष्टिकोण तक से श्रम को प्रस्थान बिंदु

बनाना आवश्यक है। तो भला मजदूरी का नियामक दाम, जिस दाम के आसपास उसका बाज़ार दाम चढ़ता-गिरता है, किस प्रकार निर्धारित होता है?

कह लीजिये कि वह श्रम शक्ति की पूर्ति तथा मांग द्वारा निर्धारित होता है। लेकिन भला यह श्रम शक्ति की कैसी मांग है? यह पूंजी द्वारा की गयी मांग है। अतः, श्रम की मांग पूंजी की पूर्ति के समान है। पूंजी की पूर्ति की बात कर पाने के लिए सर्वोपरि यह जानना आवश्यक है कि पूंजी क्या है। अथवा पूंजी में क्या होता है? अगर हम उसका सरलतम पहलू लें, तो पूंजी में द्रव्य और जिंसें समाविष्ट हैं। किंतु द्रव्य मात्र एक पण्य रूप है। अतः, पूंजी जिंसों से बनी होती है। लेकिन, हमारी कल्पना के अनुसार, जिंसों का मूल्य प्रथमतः जिंसें उत्पादित करनेवाले श्रम के दाम द्वारा, मजदूरी द्वारा निर्धारित होता है। मजदूरी यहां पूर्वकल्पित है और उसे जिंसों के दाम का एक संघटक तत्व माना जा रहा है। अतः, यह दाम उपलब्ध श्रम के पूंजी के साथ अनुपात द्वारा निर्धारित होना चाहिए। स्वयं पूंजी का दाम उन जिंसों के दाम के बराबर है, जिनसे वह बनी है। पूंजी द्वारा श्रम की मांग पूंजी की पूर्ति के बराबर है। और पूंजी की पूर्ति नियत दाम की जिंसों की एक मात्रा की पूर्ति के बराबर है, और इस दाम का विनियमन प्रथमतः श्रम के दाम द्वारा किया जाता है, और श्रम का दाम अपनी बारी में परिवर्ती पूंजी को बनानेवाले पण्य दाम के उस अंश के बराबर है, जो श्रमिक को अपने श्रम के बदले प्रदान किया जाता है; और इस परिवर्ती पूंजी को बनानेवाली जिंसों का दाम भी, अपनी बारी में, मूलतः श्रम के दाम द्वारा निर्धारित होता है, क्योंकि वह मजदूरी, लाभ तथा किराये के दामों द्वारा निर्धारित होता है। इसलिए मजदूरी का निर्धारण करने के लिए हम पूंजी की पूर्वकल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि स्वयं पूंजी का मूल्य अंशतः मजदूरी द्वारा निर्धारित होता है।

इसके अलावा, प्रतिद्वंद्विता को इस समस्या में घसीटना कुछ काम नहीं आता। प्रतिद्वंद्विता श्रम का बाज़ार दाम चढ़ा या गिरा देती है। लेकिन मान लीजिये कि श्रम की पूर्ति तथा मांग संतुलित हैं। तब मजदूरी क्योंकर निर्धारित होगी? प्रतिद्वंद्विता द्वारा। लेकिन हमने अभी-अभी यह माना है कि प्रतिद्वंद्विता निर्धारक की तरह काम करना बंद कर देती है और उसका प्रभाव उसकी दोनों परस्परविरोधी शक्तियों के बीच साम्य के कारण निरस्त हो जाता है। आख़िर, हम ठीक मजदूरी के नैसर्गिक दाम का ही तो पता चलाना चाहते हैं, अर्थात श्रम का वह दाम, जो प्रतिद्वंद्विता द्वारा नहीं विनियमित होता है, बल्कि इसके विपरीत, उसका विनियमन करता है।

इसके अलावा और कुछ बाक़ी नहीं रहता कि श्रमिक के आवश्यक निर्वाह साधनों द्वारा श्रम का आवश्यक दाम निर्धारित किया जाये। लेकिन ये निर्वाह साधन जिंसें हैं, जिनका दाम होता है। अतः, श्रम का दाम आवश्यक निर्वाह साधनों के दाम द्वारा निर्धारित होता है और निर्वाह साधनों का दाम, अन्य सभी जिंसों के दाम की ही भांति, मुख्यतः श्रम के दाम द्वारा निर्धारित होता है। अतः, निर्वाह साधनों के दाम द्वारा निर्धारित श्रम का दाम श्रम के दाम द्वारा निर्धारित है। श्रम का दाम स्वयं अपने द्वारा निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में, हम नहीं जानते कि श्रम का दाम कैसे निर्धारित होता है। इस प्रसंग में श्रम का सामान्य रूप में दाम है, क्योंकि उसे जिंस की तरह माना जा रहा है। फलतः, श्रम के दाम की बात कर सकने के लिए हमें यह जानना चाहिए कि सामान्यतः दाम क्या होता है। लेकिन इस तरह से हम यह हरगिज़ नहीं जान पाते कि सामान्यतः दाम क्या है।

फिर भी मान लेते हैं कि श्रम का आवश्यक दाम इस सुखद ढंग से ही निर्धारित होता

है। तब भला औसत लाभ, प्रत्येक पूंजी का सामान्य अवस्थाओं के अंतर्गत लाभ कैसे निर्धारित होता है, जो जिंसों के दाम में दूसरा तत्व होता है? औसत लाभ का निर्धारण एक औसत लाभ दर द्वारा होना चाहिए; यह दर किस प्रकार निर्धारित होती है? पूंजीपतियों के बीच प्रतिद्वंद्विता द्वारा? लेकिन प्रतिद्वंद्विता तो पहले ही लाभ के अस्तित्व की पूर्वकल्पना करती है। वह उसी अथवा भिन्न उत्पादन क्षेत्रों में विभिन्न लाभ दरों की, और इस प्रकार विभिन्न लाभों की पूर्वकल्पना करती है। प्रतिद्वंद्विता लाभ दर को केवल वहीं तक प्रभावित कर सकती है कि जहां तक वह जिंसों के दामों को करती है। प्रतिद्वंद्विता केवल इतना ही कर सकती है कि उत्पादक अपनी जिंसें उस एक ही उत्पादन क्षेत्र के भीतर एक-से दामों पर बेचें, और भिन्न-भिन्न उत्पादन क्षेत्रों के भीतर अपनी जिंसें उन्हें एक-सा लाभ, मजदूरी द्वारा पहले ही अंशतः निर्धारित दाम में एक-सी समानुपातिक वृद्धि देनेवाले दामों पर बेचें। अतः प्रतिद्वंद्विता केवल लाभ दर में असमानताओं का समकरण ही कर सकती है। असमान लाभ दरों को समकृत कर पाने के लिए लाभ का जिंसों के दाम में एक तत्व की तरह अस्तित्व होना चाहिए। प्रतिद्वंद्विता उसे पैदा नहीं करती। वह उसके स्तर को गिरा या चढ़ा देती है, मगर उस स्तर को पैदा नहीं करती, जो समकरण हो जाने पर स्थापित होता है। और आवश्यक लाभ दर की बात करते समय हम ठीक प्रतिद्वंद्विता की गतियों से निरपेक्ष लाभ दर को ही जानना चाहते हैं, जो अपनी बारी में स्वयं प्रतिद्वंद्विता को विनियमित करती है। औसत लाभ दर तब स्थापित होती है, जब प्रतिद्वंद्वी पूंजीपतियों के बीच शक्ति साम्य होता है। प्रतिद्वंद्विता इस साम्य को तो स्थापित कर सकती है, किंतु उस लाभ दर को नहीं, जो इस साम्य की स्थापना के साथ प्रकट होती है। जब यह साम्य स्थापित हो जाता है, तो सामान्य लाभ दर भला क्यों १०, या २०, या १०० % होती है? प्रतिद्वंद्विता के कारण? नहीं, इसके विपरीत प्रतिद्वंद्विता ने १०, २०, या १००% से विचलन पैदा करनेवाले कारणों को दूर कर दिया है। उसने एक ऐसा पण्य दाम पैदा कर दिया है, जिससे हर पूंजी अपने परिमाण के यथानुपात एक-सा लाभ प्रदान करती है। तथापि, इस लाभ का परिमाण स्वयं प्रतिद्वंद्विता से स्वतंत्र है। अंतोक्त केवल सभी विचलनों को बारंबार इस परिमाण पर ही लाती है। एक आदमी दूसरे से प्रतिद्वंद्विता करता है और प्रतिद्वंद्विता उसे अपनी जिंसें उसी दाम पर बेचने को विवश करती है, जिस दाम पर दूसरा आदमी बेचता है। लेकिन यह दाम १० या २० या १०० क्यों है?

फलतः, इसके सिवा और कुछ बाक़ी नहीं रहता कि लाभ दर, और इसलिए लाभ को किसी रहस्यमय कारण से जिंसों के दाम में जुड़ा एक निश्चित अतिरिक्त प्रभार कह दिया जाये, जिसका निर्धारण अभी तक मजदूरी द्वारा होता था। प्रतिद्वंद्विता हमें जो एकमात्र बात बताती है, वह यह है कि इस लाभ दर को एक नियत परिमाण होना चाहिए। लेकिन यह तो हमें पहले से ही – जब हमने सामान्य लाभ दर और लाभ के "आवश्यक दाम" का विवेचन किया था – मालूम है।

किराया जमीन के मामले में इस निरर्थक प्रक्रिया से फिर से होकर गुजरना सर्वथा अनावश्यक है। ऐसा किये बिना भी यह देखा जा सकता है कि कमोबेश सुसंगतिपूर्वक चलने पर वह बस यही करती है कि लाभ और किराया रहस्यमय नियमों द्वारा जिंसों के दाम में जुड़े निश्चित अतिरिक्त प्रभारों जैसे प्रतीत होते हैं, जो दाम प्रथमतः मजदूरी द्वारा निर्धारित होता है। संक्षेप में, प्रतिद्वंद्विता को अर्थशास्त्रियों के सारे निरर्थक विचारों की व्याख्या करने के दायित्व को झेलना पड़ता है, जबकि, उलटे, होना यह चाहिए कि प्रतिद्वंद्विता की व्याख्या अर्थशास्त्री करें।

इसलिए अगर यहां इस भ्रांति की तरफ़ ध्यान न दिया जाये कि लाभ और किराया परिचलन द्वारा उत्पन्न होते हैं, अर्थात विक्रय के ज़रिये पैदा होनेवाले दाम के घटक हैं, – और परिचलन कभी वह नहीं दे सकता, जो वह पहले प्राप्त नहीं करता, – तो मामला सीधे-सीधे यह है :

मान लीजिये कि किसी जिंस का मज़दूरी द्वारा निर्धारित दाम – १०० ; मान लीजिये कि लाभ दर मज़दूरी का १०% और किराया मज़दूरी का १५% है। अतः जिंस का मज़दूरी, लाभ तथा किराये के योग द्वारा निर्धारित दाम = १२५ होगा। यह अतिरिक्त २५ जिंस की बिक्री से नहीं उत्पन्न हो सकता। कारण कि वे सभी लोग, जो एक दूसरे को जिंसें बेचते हैं, उनमें से प्रत्येक दूसरे को १२५ में वह जिंस बेचता है, जिसकी लागत उसके लिए मज़दूरी में १०० है ; जो ऐसा ही है, मानो सभी ने उसे १०० में बेचा हो। अतः, इस क्रिया को परिचलन प्रक्रिया से निरपेक्षतः देखा जाना चाहिए।

अगर स्वयं जिंस को, जिसका दाम अब १२५ है, तीन लोग बांटें, – और इससे बात में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं पड़ता कि पहले पूंजीपति उसे १२५ में बेचता है और फिर १०० श्रमिक को, १० ख़ुद अपने को, और १५ भूस्वामी को देता है, – तो श्रमिक मूल्य का और उत्पाद का ४/५ = १०० पाता है। मूल्य का और उत्पाद का पूंजीपति २/२५ और भूस्वामी ३/२५ प्राप्त करता है। चूंकि पूंजीपति १०० के बजाय १२५ में बेचता है, इसलिए वह श्रमिक को उसके श्रम को समावेशित करनेवाले उत्पाद का सिर्फ़ ४/५ ही देता है। अतः, यह बिलकुल वैसा ही होगा, मानो उसने श्रमिक को ८० दिया हो और २० रख लिया हो, – जिसमें से ८ उसके हिस्से में आयेगा और १२ भूस्वामी के। इस सूरत में उसने जिंस को उसके मूल्य पर बेचा होता, क्योंकि वास्तव में दाम में परिवर्धन उन वृद्धियों को द्योतित करते हैं, जो जिंस के मूल्य से स्वतंत्र हैं, जो ऊपर की गयी कल्पना के अनुसार मज़दूरी के मूल्य से निर्धारित होता है। यह चक्करदार तरीक़े से यह कहने के बराबर है कि इस संकल्पना के अनुसार "मज़दूरी" शब्द, यहां १००, का अर्थ उत्पाद का मूल्य, अर्थात वह द्रव्य राशि है, जिसमें श्रम की यह निश्चित मात्रा प्रकट होती है ; लेकिन यह मूल्य अपनी बारी में वास्तविक मज़दूरी से भिन्न होता है और इसलिए बेशी छोड़ देता है। लेकिन यहां इस बेशी का सिद्धिकरण दाम में एक नामिक परिवर्धन द्वारा होता है। अतः, अगर मज़दूरी १०० के बजाय ११० होती, तो लाभ को = ११ और किराया ज़मीन को = १६ १/२ होना होता, जिससे जिंस का दाम = १३७ १/२ होता। इससे अनुपात अपरिवर्तित रहे होते। लेकिन चूंकि यह विभाजन हमेशा मज़दूरी में निश्चित प्रतिशतों के नामिक परिवर्धन द्वारा ही प्राप्त होता, इसलिए दाम मज़दूरी के साथ चढ़ता-उतरता। यहां मज़दूरी आरंभ में जिंस के मूल्य के बराबर स्थापित की जाती है और बाद में उससे फिर जुदा कर दी जाती है। लेकिन वास्तव में यह एक चक्करदार और बेमानी तरीक़े से यह कहने के बराबर है कि जिंस का मूल्य उसमें समाविष्ट श्रम की मात्रा द्वारा निर्धारित होता है, जबकि मज़दूरी का मूल्य आवश्यक निर्वाह साधनों के दाम द्वारा निर्धारित होता है, और मज़दूरी पर मूल्य का आधिक्य लाभ तथा किराये को बनाता है।

जिंसों के मूल्य का उनके सर्जन में उपभुक्त उत्पादन साधनों के मूल्य को घटाने के बाद विखंडन ; मूल्य की उत्पादित जिंसों में समावेशित श्रम की मात्रा द्वारा निर्धारित इस नियत मात्रा का तीन संघटक अंगों में, जो मज़दूरी, लाभ तथा किराये की शक्ल में संप्राप्ति के स्वतंत्र और परस्पर असंबद्ध रूप ग्रहण करते हैं, विखंडन, – पूंजीवादी उत्पादन की सतह पर, और परिणामस्वरूप उसकी जकड़ में आनेवालों के दिमाग़ों में यह विखंडन विपर्यस्त रूप में प्रकट होता है।

मान लीजिये कि किसी जिंस का कुल मूल्य = ३००, जिसमें से २०० उसके उत्पादन में उपभुक्त उत्पादन साधनों, अथवा स्थिर पूंजी के तत्वों का मूल्य है। इससे १०० जिंस की उत्पादन प्रक्रिया के दौरान उसमें जोड़े नये मूल्य की मात्रा की तरह रह जाता है। संप्राप्ति के तीनों रूपों में विभाजन के लिए जो कुछ उपलब्ध है, वह १०० का यह नया मूल्य ही है। अगर हम मान लें कि मजदूरी = x, लाभ = y, और किराया ज़मीन = z, तो हमारे उदाहरण में x+y+z का योग सदा = १०० रहेगा। लेकिन उद्योगपतियों, व्यापारियों और बैंकरों को, और अप्रामाणिक अर्थशास्त्रियों को यह सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। उनके लिए जिंस का मूल्य, उसके द्वारा उपभुक्त उत्पादन साधनों का मूल्य घटाये जाने के बाद, प्रदत्त = १०० नहीं है, जो १०० फिर x, y तथा z में विभाजित हो जाता है। बल्कि इसके विपरीत, उनके लिए जिंस का दाम केवल मजदूरी के मूल्य, लाभ के मूल्य और किराये के मूल्य से बना होता है, जिन परिमाणों का निर्धारण जिंस के मूल्य और एक दूसरे से निरपेक्षतः होता है, जिससे x, y और z प्रत्येक स्वतंत्र रूप में दिये जाते और निर्धारित होते हैं, और केवल इन परिमाणों के योग से ही, जो १०० से अधिक या कम हो सकता है, इन संघटक मूल्यों को एकसाथ जोड़कर स्वयं जिंस के मूल्य का परिमाण प्राप्त किया जाता है। यह quid pro quo [तत्-प्रतितत्] अनिवार्य है, क्योंकि:

प्रथमतः : किसी जिंस के मूल्य के संघटक अंग एक दूसरे की सापेक्षता में स्वतंत्र संप्राप्तियों की तरह सामने आते हैं और इस तरह से तीन सर्वथा असमान उत्पादन उपादानों, अर्थात श्रम, पूंजी और ज़मीन से संबद्ध हैं और फलतः वे अंतोक्त से उत्पन्न होते लगते हैं। श्रम शक्ति, पूंजी तथा भूमि का स्वामित्व जिंसों के इन विभिन्न संघटक मूल्यों के अलग-अलग स्वामियों के हिस्से में पड़ने और इस प्रकार उनके लिए संप्राप्ति में रूपांतरित होने का कारण है। लेकिन मूल्य संप्राप्ति में किसी रूपांतरण से नहीं उत्पन्न होता; बल्कि, इसके विपरीत, उसे उसके संप्राप्ति में रूपांतरित किये जा सकने के पहले, उसके यह रूप धारण कर सकने के पहले, अस्तित्व में होना चाहिए। यह भ्रांति कि उलटी बात सही है, इसलिए और भी अधिक पुष्ट होती है कि इन तीनों संघटकों के एक दूसरे से सापेक्ष परिमाणों का निर्धारण भिन्न-भिन्न नियमों के अनुसार होता है, स्वयं जिंसों के मूल्य से जिनका संबंध और उसके द्वारा परिसीमन किसी भी तरह सतह पर नहीं प्रकट होते।

दूसरे : हमने देखा है कि मजदूरी में सामान्य चढ़ाव या उतार सामान्य लाभ दर में विपरीत दिशा में हलचल पैदा करके – अन्य परिस्थितियों के यथावत रहते हुए – विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में पूंजी की औसत संरचना पर निर्भर करते हुए विभिन्न जिंसों के उत्पादन दामों को बदल देता है, अर्थात कुछ दामों को चढ़ा देता और कुछ को गिरा देता है। इस प्रकार, यहां अनुभव यह दिखलाता है कि बहरहाल कुछ उत्पादन क्षेत्रों में जिंस का औसत दाम इसलिए चढ़ता है कि मजदूरी चढ़ गयी है और इसलिए गिरता है कि मजदूरी गिर गयी है। लेकिन "अनुभव" यह नहीं दिखलाता कि जिंसों का मूल्य, जो मजदूरी से स्वतंत्र होता है, इन परिवर्तनों का गुप्त रूप में विनियमन करता है। तथापि, मजदूरी में चढ़ाव अगर स्थानिक है, अगर वह विशेष परिस्थितियों के परिणामस्वरूप सिर्फ़ विशेष उत्पादन क्षेत्रों में ही होता है, तो इन जिंसों के दामों में इसके अनुरूप नाममात्र का चढ़ाव आ सकता है। तब एक क़िस्म की जिंस में दूसरी क़िस्म की जिंसों की सापेक्षता में, जिनके लिए मजदूरी अपरिवर्तित रही है, सापेक्ष मूल्य में यह वृद्धि बेशी मूल्य के विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों के बीच समरूप वितरण में स्थानिक गड़बड़ के विरुद्ध मात्र एक प्रतिक्रिया, इन विशेष लाभ दरों का सामान्य दर में समकरण करने का साधन मात्र

होगी। इस प्रसंग में "अनुभव" फिर यही दिखलाता है कि दाम का निर्धारण मजदूरी करती है। इस प्रकार, इन दोनों ही प्रसंगों में अनुभव यह दिखलाता है कि जिंसों के दामों को मजदूरी निर्धारित करती है। लेकिन "अनुभव" इस अंत:संबंध के प्रच्छन्न कारण को नहीं दिखलाता। इसके अलावा : श्रम का औसत दाम, अर्थात श्रम शक्ति का मूल्य, आवश्यक निर्वाह साधनों के उत्पादन दाम द्वारा निर्धारित होता है। अगर अंतोक्त चढ़ता या गिरता है, तो पूर्वोक्त उसके अनुरूप चढ़ता या गिरता है। अतः, अनुभव फिर मजदूरी और जिंसों के दाम के बीच संबंध के अस्तित्व को दिखलाता है। मगर कारण कार्य प्रतीत हो सकता है और कार्य कारण प्रतीत हो सकता है, जो बाजार दामों की हलचलों के मामले में भी होता है, जहां मजदूरी का अपने औसत के ऊपर चढ़ाव समृद्धि कालों में बाजार दामों के उत्पादन दामों के ऊपर चढ़ाव के अनुरूप होता है, और उसके बाद मजदूरी का अपने औसत के नीचे गिराव बाजार दामों के उत्पादन दामों के नीचे गिराव के अनुरूप होता है। बाजार दामों की दोलन गतियों को अलग छोड़ दें, तो इस अनुभव को prima facie उत्पादन दामों की जिंसों के मूल्यों पर निर्भरता के अनुरूप होना पड़ेगा कि जब भी मजदूरी चढ़ती है, लाभ दर गिरती है, तथा तत्प्रतिक्रमात। लेकिन हमने देखा है कि लाभ दर स्थिर पूंजी के मूल्य में हलचलों द्वारा, मजदूरी की हलचलों से निरपेक्षतः, निर्धारित हो सकती है; जिससे मजदूरी और लाभ दर विपरीत दिशाओं में जाने के बजाय एक ही दिशा में जा सकती हैं, साथ-साथ चढ़ या गिर सकती हैं। अगर बेशी मूल्य दर का लाभ दर के साथ प्रत्यक्षतः संपात होता, तो ऐसा होना असंभव हुआ होता। इसी प्रकार मजदूरी अगर निर्वाह साधनों के दामों में चढ़ाव के परिणामस्वरूप चढ़ती है, तो श्रम की अधिक तीव्रता अथवा कार्य दिवस के दीर्घीकरण के कारण लाभ दर वही बनी रह सकती है, या चढ़ तक सकती है। ये सभी अनुभव संघटक मूल्यों के स्वतंत्र तथा विकृत रूप द्वारा पैदा की भ्रांति को सिद्ध करते हैं, अर्थात यह कि मजदूरी अकेले, या मजदूरी और लाभ मिलकर, जिंसों का मूल्य निर्धारित करते हैं। जैसे ही मजदूरी के संदर्भ में ऐसी भ्रांति प्रकट होती है, जैसे ही श्रम के दाम और श्रम द्वारा सर्जित मूल्य संपात करते प्रतीत होते हैं कि वैसे ही यही बात स्वतः लाभ और किराये पर भी लागू हो जाती है। इस सूरत में उनके दामों, अर्थात उनकी मुद्रा अभिव्यक्ति का श्रम से और श्रम द्वारा सर्जित मूल्य से स्वतंत्र रूप में विनियमन होना चाहिए।

तीसरे : मान लेते हैं कि प्रत्यक्ष अनुभव के अनुसार जिंस के मूल्य, अथवा उत्पादन दाम, जो मूल्यों से बस स्वतंत्र प्रतीत ही होते हैं, बाजार दाम में निरंतर उतार-चढ़ाव के सतत प्रतिकरण द्वारा मात्र नियामक औसत दामों की तरह प्रचलित होने के बजाय सदा जिंस के बाजार दामों के साथ संपात करते हैं। इसके अलावा हम मान लेते हैं कि पुनरुत्पादन सदा उन्हीं अपरिवर्तित अवस्थाओं के अंतर्गत होता है, अर्थात श्रम उत्पादिता पूंजी के सभी तत्वों में अपरिवर्तित रहती है। अंततः, मान लेते हैं कि पण्य उत्पाद का वह संघटक मूल्य, जो प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र में श्रम की एक नयी मात्रा के, अर्थात एक नवोत्पादित मूल्य के उत्पादन साधनों के मूल्य में जोड़े जाने से उत्पन्न होता है, वह सदा मजदूरी, लाभ और किराये के स्थिर अनुपातों में विखंडित होता है, जिससे वस्तुतः दी जानेवाली मजदूरी मेल खाती है हमेशा प्रत्यक्षतः श्रम शक्ति के मूल्य से, वस्तुतः सिद्धिकृत लाभ औसत लाभ दर की बदौलत कुल पूंजी के प्रत्येक स्वतंत्र रूप में कार्यरत भाग के हिस्से में पड़नेवाले कुल बेशी मूल्य के अंश के साथ मेल खाता है, और वास्तविक किराया हमेशा उन सीमाओं के भीतर रहता है, जिनके भीतर किराया जमीन इस आधार पर सामान्यतया सीमित होता है। संक्षेप में, मान लेते हैं कि सामाजिक रूप में उत्पादित

मूल्यों का विभाजन और उत्पादन दामों का विनियमन पूंजीवादी आधार पर होता है, लेकिन प्रतिद्वंद्विता का विलोपन हो जाता है।

इस प्रकार, इन कल्पनाओं के अंतर्गत ; अर्थात यह कि जिंसों का मूल्य स्थिर हो और ऐसा ही प्रतीत होता हो, पण्य उत्पाद का संप्राप्तियों में वियोजित हो जानेवाला संघटक मूल्य एक स्थिर परिमाण रहे और हमेशा ऐसा ही प्रतीत होता हो, और अंततः, यह नियत तथा स्थिर संघटक मूल्य सदा मजदूरी, लाभ और किराये के स्थिर अनुपातों में विखंडित होता हो, – इन कल्पनाओं के अंतर्गत भी वास्तविक गति अनिवार्यतः विकृत रूप में प्रकट होगी ; मूल्य के एक पूर्व प्रदत्त परिमाण के तीन ऐसे भागों में विखंडन की तरह नहीं, जो संप्राप्ति के परस्पर स्वतंत्र रूप ग्रहण करते हैं, बल्कि इसके विपरीत, इस मूल्य परिमाण की स्वतंत्र तथा पृथक रूप में, प्रत्येक अपने में अलग, संघटक तत्वों – मजदूरी, लाभ तथा किराया – के योग से रचना की तरह। यह भ्रांति अनिवार्यतः उत्पन्न होगी, क्योंकि व्यष्टिक पूंजियों की और उनके द्वारा उत्पादित जिंसों की वास्तविक गति में जिंसों का मूल्य उसके विखंडन की पूर्वापेक्षा की तरह नहीं सामने आयेगा, बल्कि इसके विपरीत : वह जिन घटकों में विखंडित होता है, वे जिंसों के मूल्य की पूर्वापेक्षा की तरह काम करते हैं। पहली बात तो यह कि हम देख चुके हैं कि हर पूंजीपति को अपनी जिंसों का लागत दाम एक नियत परिमाण जैसा लगता है और वास्तविक उत्पादन दाम में निरंतर ऐसा ही प्रतीत होता है। लेकिन लागत दाम स्थिर पूंजी के मूल्य, अग्रसारित उत्पादन साधनों, जमा श्रम शक्ति के मूल्य के बराबर है, मगर जो उत्पादन के अभिकर्ता के सामने श्रम शक्ति के दाम के अव्याख्येय रूप में आता है, जिससे मजदूरी साथ ही श्रमिक की संप्राप्ति की तरह सामने आती है। श्रम का औसत दाम एक नियत परिमाण है, क्योंकि किसी भी अन्य जिंस की ही भांति श्रम शक्ति का मूल्य भी उसके पुनरुत्पादन के लिए अपेक्षित आवश्यक श्रम काल द्वारा निर्धारित होता है। लेकिन जहां तक जिंसों के मूल्य के मजदूरी में मूर्त अंश का संबंध है, वह इस तथ्य से उत्पन्न नहीं होता कि वह मजदूरी का यह रूप ग्रहण करता है और पूंजीपति श्रमिक को मजदूरी के रूप में स्वयं उसके ही उत्पाद का उसका अंश अग्रसारित करता है, बल्कि इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि श्रमिक अपनी मजदूरी के लिए समतुल्य उत्पादित करता है, अर्थात उसके दैनिक या वार्षिक श्रम का एक अंश उसकी श्रम शक्ति के दाम में समाविष्ट मूल्य को उत्पादित करता है। लेकिन मजदूरी अपने अनुरूप मूल्य तुल्यमान के उत्पादित होने के पहले संविदा द्वारा निर्दिष्ट होती है। दाम के एक तत्व के नाते, जिसका परिमाण जिंस और उसके मूल्य के उत्पादित किये जाने के पहले ही नियत होता है, लागत दाम के एक संघटक अंश के नाते, मजदूरी ऐसे अंश की तरह नहीं प्रकट होती, जो जिंस के कुल मूल्य से स्वतंत्र रूप में वियुक्त हो जाता है, बल्कि इसके विपरीत, एक ऐसे नियत परिमाण की तरह प्रकट होती है कि जो इस मूल्य का पूर्वनिर्धारण करता है, अर्थात दाम और मूल्य के एक सर्जक की तरह प्रकट होती है। जिंसों के लागत दाम में मजदूरी की भूमिका के समान ही भूमिका उनके उत्पादन दाम में औसत लाभ द्वारा अदा की जाती है, क्योंकि उत्पादन दाम लागत दाम जमा पेशगी पूंजी पर औसत लाभ के बराबर होता है। यह औसत लाभ स्वयं पूंजीपति के दिमाग़ और हिसाब में वास्तव में एक नियामक तत्व की तरह आता है, न सिर्फ़ इसी लिहाज़ से कि वह पूंजियों के एक निवेश क्षेत्र से दूसरे में अंतरण को निर्धारित करता है, बल्कि लंबी कालावधियों तक चलनेवाली पुनरुत्पादन प्रक्रिया को अपनी परिधि में लेनेवाली सभी बिक्रियों और संविदाओं में भी। लेकिन जहां तक वह इस रूप में आता है, वह एक पहले से विद्यमान परिमाण है, जो वास्तव

में किसी भी विशेष उत्पादन क्षेत्र में उत्पादित मूल्य और बेशी मूल्य से स्वतंत्र होता है और इस प्रकार किसी भी उत्पादन क्षेत्र में पूंजी के पृथक निवेश के मामले में तो और भी अधिक स्वतंत्र होता है। मूल्य के विखंडन के परिणामस्वरूप प्रकट होने के बजाय वह उत्पादित जिंसों के मूल्य से स्वतंत्र परिमाण की तरह, जिंसों की उत्पादन प्रक्रिया में पहले से विद्यमान और जिंसों के औसत दाम को स्वयं निर्धारित करते परिमाण की तरह, अर्थात मूल्य सर्जक की तरह कहीं अधिक व्यक्त होता है। वस्तुतः, अपने विभिन्न अंशों के परस्पर पूर्णतः असंबद्ध रूपों में पृथक्करण के कारण बेशी मूल्य पण्य मूल्य के सर्जन के लिए पूर्वापेक्षा के नाते और भी अधिक ठोस रूप में प्रकट होता है। ब्याज के रूप में औसत लाभ का एक भाग कार्यरत पूंजीपति के मुक़ाबले पर जिंसों के और उनके मूल्य के उत्पादन के एक कल्पित तत्व की तरह स्वतंत्र खड़ा होता है। ब्याज का परिमाण चाहे कितना ही क्यों न घटे-बढ़े, हर क्षण और हर पूंजीपति के लिए वह उसके द्वारा अलग पूंजीपति के नाते उत्पादित जिंसों के दाम में प्रवेश करनेवाला एक नियत परिमाण होता है। यही भूमिका कृषि पूंजीपति के लिए संविदानुसार नियत पट्टा लाग के रूप में और दूसरे उद्यमकर्ताओं के मामले में व्यवसाय परिसर के लिए किराये के रूप में किराया ज़मीन द्वारा अदा की जाती है। चूंकि ये अंश, जिनमें बेशी मूल्य विखंडित होता है, हर अलग पूंजीपति के लिए लागत दाम के नियत तत्व होते हैं, इसलिए विलोमतः ऐसा प्रतीत होता है, मानो वे बेशी मूल्य के सर्जक हों, जिंसों के दाम के एक अंश के वैसे ही सर्जक हों, जैसे मज़दूरी उसके दूसरे अंश का सर्जन करती है। जिस रहस्य के कारण पण्य मूल्य के विखंडन के ये उत्पाद निरंतर स्वयं मूल्य की रचना के लिए पूर्वापेक्षाओं की तरह प्रकट होते हैं, वह बस यह है कि किसी भी अन्य उत्पादन प्रणाली की ही तरह पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली केवल भौतिक उत्पाद को ही नहीं, बल्कि सामाजिक तथा आर्थिक संबंधों, अपनी रचना के अभिलक्षक आर्थिक रूपों को भी निरंतर पुनरुत्पादित करती है। अतः उसका परिणाम भी हमेशा उसके द्वारा ऐसे ही पूर्वकल्पित प्रतीत होता है कि जैसे उसकी पूर्वकल्पनाएं उसके परिणाम प्रतीत होती हैं। और अलग पूंजीपति उन्हीं संबंधों के इस सतत पुनरुत्पादन की ही स्वतःप्रमाण की तरह, एक निर्विवाद्य तथ्य की तरह प्रत्याशा करता है। जब तक पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली इसी रूप में बनी रहती है, नवयोजित श्रम का एक अंश निरंतर मज़दूरी में, दूसरा लाभ (ब्याज और उद्यम का लाभ) में, और तीसरा किराये में वियोजित होता रहता है। उत्पादन के विभिन्न अभिकरणों के स्वामियों के बीच संविदाओं में यह सदा कल्पित होता है, और यह कल्पना सही है, चाहे अलग-अलग मामलों में सापेक्ष अनुपात कितने ही क्यों न घटें-बढ़ें। मूल्य के अंश जिस निश्चित रूप में एक दूसरे के आगे आते हैं, वह पूर्वकल्पित है, क्योंकि वह निरंतर पुनरुत्पादित होता है, और वह निरंतर पुनरुत्पादित होता है, क्योंकि वह निरंतर पूर्वकल्पित होता है।

निस्संदेह, अनुभव और आभास अब यह भी दिखलाते हैं कि बाज़ार दाम, पूंजीपति जिनके प्रभाव में वास्तव में मूल्य का एकमात्र निर्धारण देखता है, जहां तक उनके परिमाणों की बात है, किसी भी प्रकार ऐसी प्रत्याशा पर निर्भर नहीं हैं; वे इसके अनुरूप नहीं होते कि ब्याज अथवा किराये को ऊंचा रखा गया था या नीचा। लेकिन बाज़ार दाम सिर्फ़ अपने उतार-चढ़ाव में ही अचर होते हैं, और उनका न्यूनाधिक लंबी अवधियों के लिए औसत ठीक मज़दूरी, लाभ और किराये के क्रमिक औसतों को अचर, और फलतः अंततोगत्वा, बाज़ार दामों को शासित करनेवाले परिमाणों की तरह ही पैदा करता है।

दूसरी ओर, विचार करने से यह एकदम सुस्पष्ट लगता है कि अगर मजदूरी, लाभ और किराया मूल्य के सर्जक हैं, क्योंकि वे मूल्य के उत्पादन में पूर्वकल्पित प्रतीत होते हैं और पृथक पूंजीपति अपने लागत दाम और उत्पादन दाम में उन्हें मानकर चलता है, तो स्थिर अंश, जिसका मूल्य हर जिंस के उत्पादन में प्रदत्त परिमाण की तरह प्रवेश करता है, भी मूल्य का सर्जक है। लेकिन पूंजी का स्थिर अंश जिंसों के और फलतः पण्य मूल्यों के योग के सिवा और कुछ नहीं है। इस प्रकार, हम इस बेतुकी पुनरुक्ति पर पहुंच जायेंगे कि पण्य मूल्य पण्य मूल्य का सर्जक और कारण है।

लेकिन अगर पूंजीपति की इस पर विचार करने में तनिक भी रुचि हो, – और पूंजीपति के नाते उसके विचार केवल अपने हितों और स्वार्थनिष्ठ लक्ष्यों से ही निदेशित होते हैं, – तो अनुभव उसे दिखलायेगा कि स्वयं उसका उत्पादित उत्पाद अन्य उत्पादन क्षेत्रों में पूंजी के स्थिर अंश की तरह प्रवेश करता है, और इन दूसरे उत्पादन क्षेत्रों के उत्पाद स्वयं उसके उत्पाद में पूंजी के स्थिर अंशों की तरह प्रवेश करते हैं। चूंकि अतिरिक्त मूल्य, जहां तक उसके नये उत्पादन की बात है, उसके दृष्टिकोण से मजदूरी, लाभ तथा किराये के परिमाणों से बना लगता है, इसलिए यह दूसरे पूंजीपतियों के उत्पादों के स्थिर अंश के बारे में भी सही है। और इस प्रकार, पूंजी के स्थिर अंश का दाम, और इसलिए जिंसों का कुल मूल्य, अंततः, यद्यपि कुछ रहस्यमय ढंग से, मूल्य के स्वतंत्र सर्जकों – विभिन्न नियमों द्वारा शासित और विभिन्न स्रोतों से निस्सृत मजदूरी, लाभ तथा किराया – द्वारा उत्पन्न मूल्यों के योग में परिणत हो जाता है।

चौथे : जिंसें अपने मूल्यों पर बेची जाती हैं या नहीं, और स्वयं मूल्य का निर्धारण, एकल पूंजीपति के लिए सर्वथा महत्वहीन है। आरंभ से ही यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो उसकी पीठ पीछे होती है और उससे स्वतंत्र परिस्थितियों द्वारा नियंत्रित होती है, क्योंकि प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र में नियामक औसत दामों की रचना मूल्य नहीं, बल्कि उनसे भिन्न उत्पादन दाम करते हैं। अपने में मूल्य निर्धारण एकल पूंजीपति और प्रत्येक उत्पादन क्षेत्र विशेष में पूंजी को सिर्फ़ वहीं तक रुचिकर होता है और उस पर निर्धारक प्रभाव डालता है कि श्रम की उत्पादनशीलता में चढ़ाव या उतार के फलस्वरूप जिंसें उत्पादित करने के लिए श्रम की घटी या बढ़ी मात्रा एक सूरत में उसे प्रचलित बाज़ार भाव पर अतिरिक्त मुनाफ़ा बनाने में समर्थ करती है, तो दूसरी में उसे अपनी जिंसों का दाम चढ़ाने को मजबूर करती है, क्योंकि उत्पाद के प्रत्येक अंश, अथवा पृथक जिंस पर अधिक मजदूरी, अधिक स्थिर पूंजी, और इसलिए अधिक ब्याज लगते हैं। वह उसे सिर्फ़ वहीं तक रुचिकर होता है कि ख़ुद उसके लिए जिंसों की उत्पादन लागत को ऊंचा या नीचा करता है, अतः सिर्फ़ जहां तक उसकी स्थिति को असाधारण बनाता है।

दूसरी ओर, मजदूरी, ब्याज और किराया उसे न सिर्फ़ उस दाम की ही नियामक सीमाओं की तरह लगते हैं, जिस पर वह उद्यम के लाभ, कार्यरत पूंजीपति के नाते लाभ के अपने हिस्से में आनेवाले अंश की सिद्धि कर सकता है, बल्कि जिस पर उसे आम तौर पर अपनी जिंसों को बेच भी सकना चाहिए, जिससे सतत पुनरुत्पादन होता रहे। उसके लिए यह सर्वथा महत्वहीन है कि बिक्री के ज़रिये वह अपनी जिंसों में समाविष्ट मूल्य तथा बेशी मूल्य की सिद्धि कर पाता है या नहीं, बशर्ते कि बस नियत दामों पर मजदूरी, ब्याज तथा किराये द्वारा निर्धारित अपने व्यष्टिक लागत दाम के ऊपर अपना साधारण अथवा अधिक उद्यम का लाभ बना सके। इसलिए अगर पूंजी के स्थिर अंश को अलग छोड़ दें, तो मजदूरी, ब्याज और किराया उसे

पण्य दाम के परिसीमक और अतः प्रभावी निर्धारक तत्व प्रतीत होते हैं। अगर वह, मिसाल के लिए, मजदूरी को श्रम शक्ति के मूल्य के नीचे, अर्थात उसके सामान्य स्तर के नीचे रकने में, निम्नतर ब्याज दर पर पूंजी प्राप्त करने में, और किराये की सामान्य रक़म से कम पट्टा लाग देने में सफल हो जाता है, तो उसके लिए यह सर्वथा महत्वहीन है कि वह अपने उत्पाद को उसके मूल्य के नीचे, अथवा सामान्य उत्पादन दाम तक के नीचे बेचता है और इस प्रकार जिंसों में समाविष्ट बेशी श्रम का एक अंश मुफ़्त दे देता है। यह बात पूंजी के स्थिर अंश पर भी लागू होती है। मिसाल के लिए, उद्योगपति अगर अपना कच्चा माल उसके उत्पादन दाम के नीचे ख़रीद सकता है, तो यह उसे हानि के विरुद्ध रक्षित कर देता है, चाहे उसे फिर तैयार उत्पाद के रूप में इसे उसके उत्पादन दाम के नीचे ही क्यों न बेचना पड़े। उसका उद्यम का लाभ उतना ही बना रह सकता है, या चढ़ तक सकता है, अगर सिर्फ़ पण्य दाम का अपने तत्वों पर, जिनकी अदायगी करनी, समतुल्य से प्रतिस्थापना करनी होती है, आधिक्य उतना ही रहता है या बढ़ जाता है। लेकिन उसकी जिंसों के उत्पादन में दाम के एक नियत परिमाण की तरह प्रवेश करनेवाले उत्पादन साधनों के मूल्य के अलावा ठीक मजदूरी, ब्याज और किराया ही इस उत्पादन में परिसीमक तथा नियामक दाम परिमाणों की तरह प्रवेश करते हैं। फलतः वे उसे जिंसों के दाम को निर्धारित करनेवाले तत्व प्रतीत होते हैं। इस दृष्टिकोण से उद्यम का लाभ या तो बाजार दामों के दाम के उपरोक्त तत्वों द्वारा निर्धारित, प्रतिद्वंद्विता की सांयोगिक अवस्थाओं पर निर्भर, जिंसों के अंतर्भूत मूल्य पर आधिक्य से निर्धारित होता लगता है; या, जहां तक यह लाभ स्वयं बाजार दामों पर निर्धारक प्रभाव डालता है, वह अपनी बारी में स्वयं क्रेताओं तथा विक्रेताओं के बीच प्रतिद्वंद्विता पर निर्भर करता प्रतीत होता है।

व्यष्टिक पूंजीपतियों की स्वयं अपने बीच प्रतिद्वंद्विता में और ऐसे ही विश्व बाज़ार में प्रतिद्वंद्विता में मजदूरी, ब्याज और किराये के प्रदत्त तथा कल्पित परिमाण ही परिकलन में अचर तथा नियामक परिमाणों की तरह आते हैं; अचर अपरिवर्तनीय परिमाण होने के अर्थ में नहीं, बल्कि इस अर्थ में कि वे प्रत्येक प्रसंग में दिये हुए होते हैं और निरंतर घटते-बढ़ते बाजार दामों के लिए अचर सीमा होते हैं। उदाहरण के लिए, विश्व बाजार में प्रतिद्वंद्विता में सवाल सिर्फ़ यह होता है कि जिंसों को विद्यमान मजदूरी, ब्याज और किराये के साथ विद्यमान सामान्य बाजार भावों पर या उनके नीचे लाभ के साथ बेचा जा सकता है या नहीं, अर्थात अनुरूप उद्यम के लाभ की सिद्धि करने का होता है। अगर एक देश में मजदूरी और जमीन की क़ीमत नीची हैं, जबकि पूंजी पर ब्याज ऊंचा है, क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली सामान्यतः विकसित नहीं हुई है, और दूसरे देश में मजदूरी और जमीन का दाम नाम को ऊंचे हैं, जबकि पूंजी पर ब्याज नीचा है, तो पूंजीपति पहले देश में अधिक श्रम और जमीन का, और दूसरे देश में सापेक्षतया अधिक पूंजी का उपयोग करता है। जहां तक इन दोनों पूंजीपतियों में प्रतिद्वंद्विता संभव है, ये कारक परिकलन में निर्धारक तत्वों की तरह आते हैं। अतः, यहां अनुभव सैद्धांतिक रूप में दिखलाता है, और पूंजीपति का स्वार्थपरक परिकलन व्यावहारिक रूप में दिखलाता है कि जिंसों के दाम मजदूरी, ब्याज और किराये द्वारा, श्रम, पूंजी और जमीन के दाम द्वारा निर्धारित होते हैं और दाम के ये तत्व वस्तुतः दाम के नियामक संघटक उपादान हैं।

निस्संदेह, यहां एक तत्व हमेशा रह जाता है; जो कल्पित नहीं है, मगर जो जिंसों के बाजार भाव से उत्पन्न होता है, अर्थात पूर्वोद्धृत तत्वों – मजदूरी, ब्याज तथा किराये – के जोड़े जाने से पैदा होनेवाला लागत दाम पर आधिक्य। यह चौथा तत्व प्रत्येक पृथक प्रसंग में प्रतिद्वं-

द्विता द्वारा, और औसत मामले में औसत लाभ द्वारा निर्धारित होता प्रतीत होता है, जो अपनी बारी में ठीक इस प्रतिद्वंद्विता द्वारा ही विनियमित होता है, अलबत्ता अधिक लंबी अवधि में।

पांचवें : पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के आधार पर मूल्य को, जिसमें नवयोजित श्रम द्योतित होता है, संप्राप्ति के रूपों, मजदूरी, लाभ और किराया जमीन के रूपों में विखंडित करना इतना अधिक स्वाभाविक हो जाता है कि इस पद्धति को उन सूरतों में भी लागू किया जाता है, जहां संप्राप्ति के इन रूपों की पूर्वापेक्षाएं तक अविद्यमान हैं (इतिहास की प्रारंभिक अवस्थाओं को छोड़कर, जिनसे हमने किराया जमीन के अपने विवेचन में उदाहरण दिये थे)। कहने का मतलब यह कि संप्राप्ति के इन रूपों के अंतर्गत सादृश्य द्वारा सभी कुछ को सन्निवष्टि कर लिया जाता है।

अगर कोई स्वतंत्र श्रमिक – छोटे काश्तकार को ले लीजिये, क्योंकि यहां संप्राप्ति के तीनों ही रूपों को लागू किया जा सकता है – ख़ुद अपने लिए काम करता है और स्वयं अपना उत्पाद बेचता है, तो उसे पहले स्वयं अपना नियोक्ता (पूंजीपति) माना जाता है, जो अपना श्रमिक की तरह उपयोग करता है, और इसके बाद उसे स्वयं अपना भूस्वामी माना जाता है, जो अपना स्वयं अपने कियायेदार की तरह उपयोग करता है। उजरती मजदूर के नाते वह ख़ुद को मजदूरी देता है, पूंजीपति के नाते वह ख़ुद को लाभ देता है और भूस्वामी की हैसियत में वह ख़ुद को किराया देता है। अगर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और उसके अनुरूप संबंधों को समाज का सामान्य आधार मान लिया जाये, तो यह कल्पना इस हद तक सही है कि यह अपने श्रम की बदौलत नहीं है, बल्कि उत्पादन साधनों के – जिन्होंने यहां पूंजी का सामान्य रूप ग्रहण कर लिया है – स्वामित्व की बदौलत है कि वह स्वयं अपने बेशी श्रम का हस्तगतकरण करने की स्थिति में है। और इसके अलावा, जिस हद तक वह अपना उत्पाद जिंसों की तरह उत्पादित करता है और इस प्रकार उसके दाम पर निर्भर करता है (अगर ऐसा नहीं भी है, तो भी यह दाम परिकलनीय है), बेशी श्रम की जिस मात्रा का वह सिद्धिकरण कर सकता है, वह स्वयं अपने परिमाण पर नहीं, बल्कि सामान्य लाभ दर पर निर्भर करती है; और इसी प्रकार सामान्य लाभ दर द्वारा निर्धारित बेशी मूल्य की मात्रा के ऊपर कोई भी संभावित आधिक्य अपनी बारी में उसके द्वारा निष्पादित श्रम की मात्रा से निर्धारित नहीं होता है, किंतु उसके द्वारा केवल इसलिए हस्तगत किया जा सकता है कि वह जमीन का मालिक है। चूंकि इस प्रकार उत्पादन के एक ऐसे रूप की, जो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अनुरूप नहीं है, उसकी संप्राप्ति के रूपों के अंतर्गत कल्पना की जा सकती है, – और किसी हद तक ऐसा करना ग़लत भी नहीं होगा, – इसलिए यह भ्रांति और भी अधिक मजबूत होती है कि पूंजीवादी संबंध प्रत्येक उत्पादन प्रणाली के स्वाभाविक संबंध हैं।

निस्संदेह, अगर मजदूरी को परिणत करके उसके सामान्य आधार पर, अर्थात उत्पादक के स्वयं अपने श्रम के उस अंश पर ले जाया जाता है, जो श्रमिक के व्यष्टिक उपभोग में चला जाता है; अगर हम इस अंश को उसकी पूंजीवादी परिसीमाओं से मुक्त कर देते हैं और उसे फैलाकर उपभोग के उस परिमाण पर ले जाते हैं, जो एक ओर, समाज की विद्यमान उत्पादिता (अर्थात वास्तविक सामाजिक श्रम के नाते स्वयं उसके व्यष्टिक श्रम की सामाजिक उत्पादिता) में संभव है, और दूसरी ओर, जो व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है; इसके अलावा, अगर हम बेशी श्रम और बेशी उत्पाद को उस मात्रा में परिणत कर देते हैं, जो समाज की उत्पादन की प्रचलित अवस्थाओं में एक ओर, बीमा तथा आरक्षित निधि को क़ायम

करने के लिए, और दूसरी ओर, पुनरुत्पादन का सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा निर्दिष्ट सीमा तक निरंतर प्रसार करने के लिए जरूरी है; अंततः अगर हम क्रमांक १ में आवश्यक श्रम को शामिल करें और क्रमांक २ में बेशी श्रम को, श्रम की उस मात्रा को, जिसे समर्थ लोगों द्वारा समाज के अपरिपक्व अथवा अक्षम सदस्यों की ओर से सदा निष्पादित किया जाना चाहिए, अर्थात अगर हम मजदूरी और बेशी मूल्य दोनों को, आवश्यक तथा बेशी श्रम दोनों को, उनके विशिष्टतः पूंजीवादी स्वरूप से वंचित कर दें, तो निश्चय ही ये रूप नहीं, बल्कि केवल उनके अवशेष रह जाते हैं, जो उत्पादन की सभी सामाजिक प्रणालियों के लिए सामान्य हैं।

इसके अलावा, कल्पना की यह पद्धति पहले अभिभावी उत्पादन प्रणालियों, उदाहरण के लिए, सामंतवाद की भी विशेषता थी। ऐसे उत्पादन संबंधों की, जो किसी भी प्रकार उसके अनुरूप नहीं थे, उसकी परिधि के पूर्णतः बाहर थे, सामंती उत्पादन संबंधों के अंतर्गत कल्पना की जाती थी, उदाहरण के लिए, इंगलैंड में सामान्य ख़िदमती काश्तकारी (सामंत की ख़िदमत में काश्तकारी से भिन्न), जो केवल वित्तीय दायित्वों तक ही सीमित थी और नाम को ही सामंती थी।

अध्याय ५१

वितरण संबंध तथा उत्पादन संबंध

इस प्रकार, वर्षतः नवयोजित श्रम द्वारा जोड़ा नया मूल्य – और फलतः वार्षिक उत्पाद का वह अंश भी, जिसमें यह मूल्य प्रकट होता है और जिसे कुल उत्पादन से निकाला और अलग किया जा सकता है – तीन भागों में विखंडित हो जाता है, जो संप्राप्ति के तीन भिन्न रूप ग्रहण करते हैं, जो इस मूल्य के एक अंश को श्रम शक्ति के स्वामी का या उसके हिस्से में जाता, दूसरे अंश को पूंजी के स्वामी के हिस्से में, और तीसरे अंश को भू-संपत्ति के स्वामी के हिस्से में जाता दिखलाते हैं। अतः, ये वितरण के संबंध या रूप हैं, क्योंकि ये उन संबंधों को व्यक्त करते हैं, जिनके अंतर्गत नवोत्पादित कुल मूल्य का विभिन्न उत्पादन उपादानों के स्वामियों में वितरण होता है।

साधारण दृष्टिकोण से ये वितरण संबंध नैसर्गिक संबंध, समस्त सामाजिक उत्पादन की प्रकृति से, सामान्यतः मानविक उत्पादन के नियमों से प्रत्यक्षतः उद्भूत संबंध प्रतीत होते हैं। वास्तव में इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि पूंजीवादपूर्व समाज अन्य वितरण प्रणालियां भी प्रकट करते हैं, लेकिन उन्हें अविकसित, अपरिष्कृत तथा प्रच्छन्न, अपनी शुद्धतम अभिव्यक्ति तथा उच्चतम रूप में अपरिणत और नैसर्गिक वितरण संबंधों की नानारंग प्रणालियों जैसा ही समझा जाता है।

इस संकल्पना का एकमात्र सही पहलू यह है: सामाजिक उत्पादन के किसी भी रूप (मिसाल के लिए, आदिम भारतीय समुदायों अथवा पेरूवासियों के अधिक पटुतापूर्वक विकसित साम्यवाद) में श्रम के उस अंश में, जिसका उत्पाद उत्पादकों तथा उनके परिवारों के प्रत्यक्ष व्यक्तिगत उपभोग में जाता है और – उस भाग को छोड़कर, जो उत्पादक रूप में उपभुक्त होता है – श्रम के उस अंश में सदा विभेद किया जा सकता है, जो अनिवार्यतः बेशी श्रम होता है, जिसका उत्पाद लगातार सामान्य सामाजिक आवश्यकताओं को तुष्ट करने में जाता है, फिर चाहे यह बेशी उत्पाद कैसे भी विभाजित होता हो, और चाहे कोई भी इन सामाजिक आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करता हो। अतः, विभिन्न वितरण प्रणालियों की एकरूपता मात्र यह है: अगर हम उन्हें उनके अंतरों और विशिष्ट रूपों से अलग कर दें और उनकी असमानता से भिन्न उनकी एकता को ही ध्यान में रखें, तो वे एकरूप हैं।

तथापि, एक अधिक प्रबुद्ध, अधिक विवेचनशील मनीषी वितरण संबंधों के इतिहासतः विकसित स्वरूप को स्वीकार करता है[56a], लेकिन फिर भी स्वयं उत्पादन संबंधों के मानव प्रकृति

[56a] J. Stuart Mill, *Some Unsettled Questions in Political Economy*, London, 1844.

से उत्पन्न और फलतः सारे ऐतिहासिक विकास से स्वतंत्र अपरिवर्तनीय स्वरूप से और भी कसकर चिपका रहता है।

दूसरी ओर, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का वैज्ञानिक विश्लेषण इसके विपरीत यह दिखलाता है कि यह विशिष्ट ऐतिहासिक लक्षणों से युक्त एक विशेष प्रकार की उत्पादन प्रणाली है; कि किसी भी अन्य विशिष्ट उत्पादन प्रणाली की ही भांति यह अपनी ऐतिहासिक पूर्वापेक्षा के नाते सामाजिक उत्पादक शक्तियों और उनके विकास के रूपों के एक प्रदत्त स्तर की पूर्वकल्पना करती है: ऐसी पूर्वापेक्षा, जो स्वयं एक पूर्ववर्ती प्रक्रिया का ऐतिहासिक परिणाम और उत्पाद है और जिससे अपने प्रदत्त आधार के नाते नयी उत्पादन प्रणाली निःसृत होती है; कि इस विशिष्ट, इतिहासतः निर्धारित उत्पादन प्रणाली के अनुरूप उत्पादन संबंध – सामाजिक जीवन की प्रक्रिया के दौरान और अपने सामाजिक जीवन के निर्माण में लोगों में बननेवाले संबंध – एक विशिष्ट, ऐतिहासिक और अस्थायी स्वरूप रखते हैं; और अंततः, यह कि इन उत्पादन संबंधों के तत्वतः समवर्ती वितरण संबंध उनके उलटे पहलू का निर्माण करते हैं, जिससे इन दोनों का बिलकुल एक जैसा ही इतिहासतः अस्थायी स्वरूप है।

वितरण संबंधों के अध्ययन में प्रारंभिक प्रस्थान बिंदु यह कथित तथ्य है कि वार्षिक उत्पाद का मज़दूरी, लाभ तथा किराये के बीच विभाजन हो जाता है। किंतु यों व्यक्त किया जाये, तो यह एक ग़लतबयानी है। उत्पाद एक ओर, पूंजी और दूसरी ओर, संप्राप्ति में विभाजित होता है। इनमें से एक संप्राप्ति, मजदूरी, स्वयं संप्राप्ति का, श्रमिक की संप्राप्ति का रूप तब तक कभी ग्रहण नहीं करती कि जब तक उसका इस श्रमिक से **पूंजी के रूप** में आमना-सामना नहीं होता। श्रम की उत्पादित अवस्थाओं के और सामान्यतः श्रम के उत्पादों के, पूंजी के नाते, प्रत्यक्ष उत्पादकों के साथ आमने-सामने में आरंभ से ही श्रमिकों की सापेक्षता में श्रम की भौतिक अवस्थाओं का एक निश्चित सामाजिक स्वरूप और उसके द्वारा स्वयं उत्पादन के दौरान उत्पादन साधनों के स्वामियों और ख़ुद एक दूसरे के साथ बननेवाला एक निश्चित संबंध सन्निहित है। इन श्रमावस्थाओं के पूंजी में रूपांतरण में अपनी बारी में प्रत्यक्ष उत्पादकों की ज़मीन से बेदख़ली और इस प्रकार भू-संपत्ति का एक निश्चित रूप सन्निहित है।

अगर उत्पाद का एक अंश पूंजी में रूपांतरित न होगा, तो दूसरा अंश मजदूरी, लाभ तथा किराये के रूप नहीं ग्रहण करेगा।

दूसरी ओर, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली अगर उत्पादनावस्थाओं के इस निश्चित सामाजिक रूप की पूर्वकल्पना करती है, तो वह उसे निरंतर पुनरुत्पादित भी करती है। वह केवल भौतिक उत्पादों को ही नहीं उत्पादित करती, बल्कि उन उत्पादन संबंधों को भी निरंतर पुनरुत्पादित करती है, जिनमें पूर्वोक्त, और फलतः अनुरूप वितरण संबंध भी, उत्पादित होते हैं।

बेशक, यह कहा जा सकता है कि पूंजी स्वयं (और भू-संपत्ति, जो उसमें उसके विलोम-स्वरूप सम्मिलित होती है) वितरण की पहले ही पूर्वकल्पना करती है: श्रमिक की श्रमावस्थाओं से बेदख़ली, इन अवस्थाओं का व्यक्तियों की एक अल्पसंख्या के हाथों में संकेंद्रण, दूसरे व्यक्तियों का भूमि पर अनन्य स्वामित्व, संक्षेप में, वे सभी संबंध, जिनका आदिम संचय से संबद्ध भाग में वर्णन किया जा चुका है (Buch I, Kap. XXIV.)*। किंतु यह वितरण उससे सर्वथा भिन्न है, जो वितरण संबंधों के उत्पादन संबंधों के मुक़ाबले एक ऐतिहासिक स्वरूप से विभूषित हो

---

*'पूंजी', हिंदी संस्करण: खंड १, भाग ८। – सं०

जाने पर उनसे समझा जाता है। उसका आशय उत्पाद के व्यक्तिगत उपभोग में आनेवाले अंश पर विभिन्न स्वत्वाधिकार है। इसके विपरीत, पूर्वोद्धृत वितरण संबंध उत्पादन संबंधों की परिधि के भीतर प्रत्यक्ष उत्पादकों के मुक़ाबले उनके कुछ अभिकर्ताओं द्वारा निष्पन्न किये जानेवाले विशेष सामाजिक कृत्यों के आधार हैं। वे स्वयं उत्पादनावस्थाओं और उनके प्रतिनिधियों को एक विशिष्ट सामाजिक गुण से सराबोर कर देते हैं। वे उत्पादन के समस्त स्वरूप और समस्त गति को निर्धारित करते हैं।

दो चारित्रिक लक्षण बिलकुल आरंभ से ही पूंजीवादी उत्पादन की विशेषता को दर्शाते हैं।

पहला। वह अपने उत्पाद जिंसों की तरह उत्पादित करता है। उसे अन्य उत्पादन प्रणालियों से यह तथ्य नहीं अलग करता कि वह जिंसें उत्पादित करता है, बल्कि इसके विपरीत, यह तथ्य करता है कि जिंसें होना उसके उत्पादों की प्रधान और निर्धारक अभिलाक्षणिकता है। इसमें सर्वोपरि यह बात सन्निहित है कि श्रमिक स्वयं महज़ जिंसों के विक्रेता की तरह, और फलतः स्वतंत्र उजरती मज़दूर की तरह आगे आता है, जिससे श्रम सामान्यतः उजरती श्रम जैसा लगता है। जो कुछ पहले ही कहा जा चुका है, उसके दृष्टिगत यह फिर से दर्शाना अनावश्यक है कि पूंजी तथा उजरती श्रम के बीच संबंध इस उत्पादन प्रणाली के समस्त स्वरूप का निर्धारण करता है। स्वयं इस उत्पादन प्रणाली के मुख्य अभिकर्ता, पूंजीपति और उजरती मज़दूर, अपने में मात्र पूंजी तथा उजरती श्रम के मूर्तरूप, अवतार ; सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया द्वारा व्यक्तियों पर अंकित निश्चित सामाजिक अभिलक्षण ; इन निश्चित सामाजिक उत्पादन संबंधों के उत्पाद ही हैं।

१) उत्पाद के जिंस के नाते अभिलक्षण और २) जिंस के पूंजी के उत्पाद के नाते अभिलक्षण में सारे परिचलन संबंध, अर्थात एक निश्चित सामाजिक प्रक्रिया, जिससे होकर उत्पादों को अवश्य गुज़रना होता है और जिसमें वे निश्चित सामाजिक अभिलक्षण ग्रहण करते हैं, पहले ही सन्निहित हैं ; इसी प्रकार इसमें उत्पादन अभिकर्ताओं के निश्चित संबंध भी सन्निहित हैं, जिनके द्वारा उनके उत्पाद के मूल्य-प्रसार तथा उसके निर्वाह साधनों में या उत्पादन साधनों में पुनःरूपांतरण का निर्धारण होता है। लेकिन इसके अलावा भी सारा मूल्य निर्धारण और कुल उत्पादन का मूल्य द्वारा विनियमन उत्पाद के जिंसों के नाते, अथवा जिंस के पूंजीवादी ढंग से उत्पादित जिंस के नाते उपरोक्त दोनों अभिलक्षणों का ही परिणाम है। मूल्य के इस पूर्णतः विशिष्ट रूप में श्रम एक ओर, केवल सामाजिक श्रम की तरह ही बना रहता है ; दूसरी ओर, इस सामाजिक श्रम का वितरण तथा उसके उत्पादों का परस्पर अनुपूरण तथा अंतर्विनिमय, उसका सामाजिक क्रियाविधि के अधीन आना तथा उसमें प्रवेश पाना, यह सब अलग-अलग पूंजीपतियों के सांयोगिक और परस्पर शून्यकारी निमित्तों पर छोड़ दिया जाता है। चूंकि ये लोग एक दूसरे के सामने सिर्फ़ जिंसों के स्वामियों की तरह ही आते हैं और हर कोई अपनी जिंस यथासंभव महंगी बेचने की कोशिश करता है (स्वयं उत्पादन के विनियमन तक में प्रतीयमानतः केवल अपनी इच्छा से ही निर्देशित होता है), इसलिए आंतरिक नियम अपने को केवल प्रतिद्वंद्विता के ज़रिये, एक दूसरे पर उनके आपसी दबाव के ज़रिये ही लागू करता है, जिससे परस्पर विचलन निरसित हो जाते हैं। मूल्य का नियम यहां अलग-अलग अभिकर्ताओं की सापेक्षता में केवल एक आंतरिक नियम की तरह, प्रकृति के एक अंध नियम की तरह ही अपना प्रभाव डालता है और उत्पादन के सामाजिक संतुलन को उसके आकस्मिक उतार-चढ़ावों के बीच बनाये रखता है।

इसके अलावा, जिंस में, और उससे भी अधिक पूंजी के उत्पाद के नाते जिंस में उत्पादन के सामाजिक लक्षणों का मूर्तीकरण तथा उत्पादन के भौतिक आधारों का साकारीकरण पहले ही अंतर्निहित हैं, जो समस्त पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अभिलक्षक हैं।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का **दूसरा** विशिष्ट लक्षण है बेशी मूल्य का उत्पादन के प्रत्यक्ष लक्ष्य तथा निर्धारक हेतु की तरह पैदा किया जाना। पूंजी तत्वतः पूंजी उत्पादित करती है, और वह भी केवल वहीं तक कि वह बेशी मूल्य पैदा करती है। सापेक्ष बेशी मूल्य के अपने विवेचन में, और फिर बेशी मूल्य के लाभ में रूपांतरण के निरूपण में हम देख चुके हैं कि किस तरह पूंजीवादी युग की एक अभिलक्षक उत्पादन प्रणाली – श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्तियों के विकास का एक विशेष रूप, लेकिन जो श्रमिक के सामने पूंजी की स्वतंत्र कर दी गयी और इसलिए श्रमिक के अपने विकास के प्रत्यक्ष विरोध में खड़ी शक्तियों की तरह आती हैं – इस पर आधारित है। जैसे कि हमारे विश्लेषण के दौरान दिखलाया जा चुका है, मूल्य तथा बेशी मूल्य के लिए उत्पादन में जिंस को उत्पादित करने के लिए आवश्यक श्रम काल, अर्थात उसके मूल्य को वस्तुतः प्रचलित सामाजिक औसत से नीचे घटाने की निरंतर कार्यशील प्रवृत्ति सन्निहित है। लागत दाम को घटाकर उसके न्यूनतम पर लाने का दबाव श्रम की सामाजिक उत्पादनशीलता को चढ़ाने के लिए प्रबलतम उत्तोलक बन जाता है, लेकिन वह यहां सिर्फ़ पूंजी की उत्पादन-शीलता में सतत वृद्धि ही प्रतीत होती है।

प्रत्यक्ष उत्पादन प्रक्रिया में पूंजी के मूर्तरूप के नाते पूंजीपति द्वारा ग्रहण की जानेवाली सत्ता, उत्पादन के प्रबंधक और शासक की अपनी हैसियत में उसके द्वारा निष्पादित किया जाने-वाला सामाजिक कृत्य, दासों, भूदासों, आदि के द्वारा उत्पादन के आधार पर व्यवहृत सत्ता से तत्वतः भिन्न है।

यद्यपि पूंजीवादी उत्पादन के आधार पर प्रत्यक्ष उत्पादक समूह का सामना कठोर नियामक सत्ता और श्रम प्रक्रिया के एक संपूर्ण सोपान की तरह संगठित सामाजिक तंत्र के रूप में अपने उत्पादन के सामाजिक स्वरूप से होता है, – लेकिन यह सत्ता अपने वाहकों तक सिर्फ़ श्रम की सापेक्षता में श्रमावस्थाओं के मूर्तरूप की तरह ही पहुंचती है, न कि पूर्ववर्ती उत्पादन प्रणालियों के अधीन राजनीतिक अथवा धार्मिक शासकों की तरह, – इस सत्ता के वाहकों, स्वयं पूंजीपतियों के बीच, जो एक दूसरे के सामने सिर्फ़ जिंसों के स्वामियों की तरह आते हैं, पूर्ण अराजकता व्याप्त होती है, जिसमें उत्पादन के सामाजिक अंतःसंबंध अपने को केवल व्यष्टिक स्वतंत्र इच्छा की सापेक्षता में एक दुर्दमनीय नैसर्गिक नियम की तरह ही जता पाते हैं।

सिर्फ़ इसलिए कि श्रम का उजरती श्रम के रूप में, और उत्पादन साधनों का पूंजी के रूप में पहले से अस्तित्व होता है, – अर्थात इन अनिवार्य उत्पादन उपादानों के केवल इस विशिष्ट रूप के कारण ही – मूल्य (उत्पाद) का एक हिस्सा बेशी मूल्य की तरह और यह बेशी मूल्य लाभ (किराये) की तरह, पूंजीपति के मुनाफ़े की तरह, उसकी अतिरिक्त उपलब्ध संपदा की तरह प्रकट होता है। लेकिन सिर्फ़ इसीलिए कि यह बेशी मूल्य इस प्रकार **उसके लाभ** की तरह प्रकट होता है, अतिरिक्त उत्पादन साधन, जो पुनरुत्पादन के प्रसार के लिए अभीष्ट होते हैं, और जो उसके लाभ का एक भाग होते हैं, अपने आपको नयी अतिरिक्त पूंजी की तरह प्रस्तुत करते हैं, और सामान्यतः पुनरुत्पादन प्रक्रिया का प्रसार पूंजीवादी संचय की प्रक्रिया की तरह सामने आता है।

यद्यपि श्रम का उजरती श्रम की तरह रूप उत्पादन की समस्त प्रक्रिया और स्वयं विशिष्ट

उत्पादन प्रणाली के रूप के लिए निर्णायक है, फिर भी मूल्य का निर्धारण उजरती श्रम नहीं करता है। मूल्य के निर्धारण में सवाल सामान्यत: सामाजिक श्रम काल का और उस श्रम की मात्रा का होता है, जो समाज को सामान्य रूप में उपलब्ध होता है और जिसका विभिन्न उत्पादों द्वारा सापेक्ष आत्मसात्करण यों कहिये कि उनके अपने-अपने सामाजिक महत्व का निर्धारण करता है। जिस निश्चित रूप में सामाजिक श्रम काल जिंसों के मूल्य निर्धारण में निर्धारक की तरह बना रहता है, वह निस्संदेह श्रम के उजरती श्रम के नाते रूप से और तदनुरूप उत्पादन साधनों के पूंजी के नाते रूप से संबद्ध है, क्योंकि केवल इस आधार पर ही पण्य उत्पादन उत्पादन का सामान्य रूप बनता है।

आइये, स्वयं तथाकथित वितरण संबंधों पर भी नजर डालें। मजदूरी उजरती श्रम की और लाभ पूंजी की पूर्वकल्पना करते हैं। इस प्रकार वितरण के ये निश्चित रूप उत्पादनावस्थाओं के निश्चित सामाजिक अभिलक्षणों और उत्पादन अभिकर्ताओं के निश्चित सामाजिक संबंधों की पूर्वकल्पना करते हैं। अतः, विशिष्ट वितरण संबंध विशिष्ट ऐतिहासिक उत्पादन संबंधों की अभिव्यक्ति मात्र हैं।

और आइये, अब लाभ को लेते हैं। बेशी मूल्य का यह विशिष्ट रूप इसकी पूर्वापेक्षा है कि नये उत्पादन साधनों का सर्जन पूंजीवादी उत्पादन के रूप में होता है; फलत: यह पुनरुत्पादन को शासित करनेवाला संबंध है, यद्यपि व्यष्टिक पूंजीपति को यह लगता है कि मानो वह वास्तव में अपने सारे लाभ का संप्राप्ति की तरह उपभोग कर सकता है। लेकिन उसमें बीमा तथा आरक्षित निधियों, प्रतिद्वंद्विता के नियमों, आदि के रूप तक में उसके आगे परिघ आते हैं, जो उसके आगे बाधाएं खड़ी करते हैं और व्यवहार में यह सिद्ध करते हैं कि लाभ कोई व्यक्तिगत रूप में उपभोज्य उत्पाद का कोरा वितरण संवर्ग ही नहीं है। इसके अलावा, समस्त पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया उत्पादों के दामों द्वारा विनियमित होती है। लेकिन अपनी बारी में स्वयं नियामक उत्पादन दामों का विनियमन लाभ दर के समकरण तथा उत्पादन के विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में उसके अनुरूप वितरण द्वारा किया जाता है। इस प्रकार, लाभ यहां उत्पादों के वितरण नहीं, बल्कि उनके स्वयं उत्पादन के ही मुख्य कारक की तरह, पूंजियों तथा स्वयं श्रम के विभिन्न उत्पादन क्षेत्रों में वितरण में एक कारक की तरह प्रकट होता है। लाभ का उद्यम के लाभ तथा ब्याज में विभाजन उस एक ही संप्राप्ति के वितरण की तरह लगता है। लेकिन सबसे पहले, वह पूंजी के एक स्वप्रसारी मूल्य, बेशी मूल्य के सर्जक की तरह विकास से, अर्थात विद्यमान उत्पादन प्रणाली के इस विशिष्ट सामाजिक रूप से उत्पन्न होता है। वह उधार तथा उधार संस्थाओं को और इस प्रकार उत्पादन के रूप को स्वयं अपने में से विकसित करता है। ब्याज, आदि के नाते प्रकट वितरण रूप दाम में निर्धारक उत्पादन कारकों की तरह से प्रवेश करते हैं।

किराया जमीन महज वितरण का एक रूप लग सकता है, क्योंकि भू-संपत्ति अपने में स्वयं उत्पादन प्रक्रिया में कोई भी, या कम से कम कोई भी सामान्य कृत्य निष्पादित नहीं करती। लेकिन यह तथ्य कि १) किराया औसत लाभ पर आधिक्य तक ही सीमित होता है, और २) यह कि भूस्वामी उत्पादन प्रक्रिया के और सामाजिक जीवन की समूची प्रक्रिया के प्रबंधक तथा स्वामी की स्थिति से गिरकर मात्र जमीन के पट्टदाता, जमीन में सूदखोरी करने और महज किराया वसूलनेवाले की हैसियत में आ जाता है, पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का एक विशिष्ट परिणाम है। पृथ्वी को भू-संपत्ति का रूप प्राप्त होने का तथ्य इसकी एक ऐतिहासिक पूर्वापेक्षा है। यह

तथ्य कि भू-संपत्ति ऐसे रूप ग्रहण करती है, जो कृषि में पूंजीवादी संचालन प्रणाली को संभव बनाते हैं, इस उत्पादन प्रणाली के विशिष्ट स्वरूप का एक उत्पाद है। भूस्वामी की आय को समाज के अन्य रूपों के अंतर्गत भी किराया कहा जा सकता है। लेकिन किराया इस उत्पादन प्रणाली में जिस तरह से सामने आता है, उससे वह तात्विक रूप में भिन्न है।

अतएव, तथाकथित वितरण संबंध उत्पादन प्रक्रिया के इतिहासतः निर्धारित विशिष्ट सामाजिक रूपों और मानव जीवन की पुनरुत्पादन प्रक्रिया में लोगों में बननेवाले पारस्परिक संबंधों के अनुरूप होते हैं और उनसे उत्पन्न होते हैं। इन वितरण संबंधों का ऐतिहासिक स्वरूप उत्पादन संबंधों का ऐतिहासिक स्वरूप है, जिसके केवल एक पक्ष को ही वे व्यक्त करते हैं। पूंजीवादी वितरण वितरण के उन रूपों से भिन्न है, जो अन्य उत्पादन प्रणालियों से उत्पन्न होते हैं, और प्रत्येक वितरण रूप उस विशिष्ट उत्पादन रूप के साथ विलुप्त हो जाता है, जिससे वह उत्पन्न होता है और जिसके वह अनुरूप होता है।

जो दृष्टिकोण केवल वितरण संबंधों को ही ऐतिहासिक मानता है, किंतु उत्पादन संबंधों को नहीं, वह एक ओर, मात्र बूर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्र की प्रारंभिक, किंतु अब भी अवरुद्ध, आलोचना का दृष्टिकोण है। दूसरी ओर, यह सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया के साधारण श्रम प्रक्रिया के साथ, जिसे असामान्य रूप में वियुक्त व्यक्ति तक बिना किसी सामाजिक सहायता के निष्पन्न कर सकता है, उलझाव और तदात्मीकरण पर आधारित है। जहां तक कि श्रम प्रक्रिया केवल मनुष्य तथा प्रकृति के बीच प्रक्रिया ही है, उसके साधारण तत्व विकास के सभी सामाजिक रूपों के लिए सामान्य बने रहते हैं। किंतु इस प्रक्रिया का प्रत्येक विशिष्ट ऐतिहासिक रूप अपनी भौतिक बुनियादों और अपने सामाजिक रूपों को और विकसित करता है। परिपक्वता की एक ख़ास मंज़िल पर पहुंचने के साथ वह विशिष्ट ऐतिहासिक रूप त्याग दिया जाता है और वह उच्चतर रूप के लिए जगह छोड़ देता है। इस तरह की संक्रांति के आगमन के मुहूर्त्त को वितरण संबंधों के बीच विरोधों और टकरावों द्वारा प्राप्त गहराई तथा विस्तार, और फलतः एक ओर, उनके अनुरूप उत्पादन संबंधों, और दूसरी ओर, उत्पादक शक्तियों, उत्पादन योग्यताओं तथा उनके अभिकरणों के विकास का विशिष्ट ऐतिहासिक रूप प्रकट करता है। तब उत्पादन के भौतिक विकास तथा उसके सामाजिक रूप के बीच द्वंद्व शुरू हो जाता है।[57]

---

[57]*Competition and Cooperation* (1832?) विषयक कृति देखें।

अध्याय ५२

वर्ग

श्रम शक्ति मात्र के स्वामी, पूंजी के स्वामी और भूस्वामी, जिनकी आय के स्रोत क्रमशः मजदूरी, लाभ तथा किराया जमीन हैं, दूसरे शब्दों में, उजरती मजदूर, पंजीपति और भूस्वामी पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली पर आधारित आधुनिक समाज के तीन बड़े वर्गों का निर्माण करते हैं।

आर्थिक संरचना में आधुनिक समाज निर्विवाद्य रूप से इंगलैंड में सबसे अधिक तथा सबसे क्लासिकी रूप में विकसित है। तथापि यहां भी वर्ग-स्तरण अपने शुद्ध रूप में प्रकट नहीं होता। यहां भी मध्यम तथा अंतर्वर्ती संस्तर सीमांकन रेखा को सब कहीं मिटा देते हैं (यद्यपि देहाती इलाक़ों में शहरों की अपेक्षा अतुलनीय रूप में कम)। लेकिन हमारे विश्लेषण के लिए यह महत्वहीन है। हमने देखा है कि पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का सतत झुकाव और विकास का नियम उत्पादन साधनों को श्रम से अधिकाधिक जुदा करना और बिखरे हुए उत्पादन साधनों का बड़े समूहों में अधिकाधिक संकेंद्रण करना, इस प्रकार श्रम का उजरती श्रम में और उत्पादन साधनों का पूंजी में रूपांतरण करना है। और दूसरी ओर, इस प्रवृत्ति के अनुरूप भू-संपत्ति का पूंजी तथा श्रम से स्वतंत्र वियोजन है,[58] अर्थात सारी ही भू-संपति का पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के अनुरूप भू-संपत्ति के रूप में रूपांतरण।

जवाब देने के लिए पहला सवाल यह है: वर्ग क्या होता है? – और इसका उत्तर स्वाभाविक रूप में एक और प्रश्न के उत्तर से उत्पन्न होता है, अर्थात: उजरती मजदूर, पूंजीपति और भूस्वामी समाज के तीनों बड़े सामाजिक वर्ग किस तरह से गठित कर देते हैं?

पहली नजर में – संप्राप्तियों तथा संप्राप्ति के स्रोतों की एकरूपता से। ये तीन बड़े सामाजिक समूह हैं, जिनके सदस्य, उनका गठन करनेवाले व्यक्ति, क्रमशः मजदूरी, लाभ और किराया जमीन पर, अपनी श्रम शक्ति, अपनी पूंजी, और अपनी भू-संपत्ति के सिद्धिकरण पर जीते हैं।

किंतु इस दृष्टि से, उदाहरण के लिए, चिकित्सक और अधिकारी लोग भी दो वर्ग बनायेंगे, क्योंकि वे दो स्पष्ट सामाजिक समूहों में आते हैं, इनमें से प्रत्येक समूह के सदस्य अपनी संप्राप्ति बिलकुल एक ही स्रोत से प्राप्त करते हैं। स्वार्थ तथा श्रेणी के उस अंतहीन विखंडन के बारे में भी यही बात सही होगी, जिसमें सामाजिक श्रम का विभाजन श्रमिकों को और पूंजीपतियों तथा भूस्वामियों को भी बांट देता है, – उदाहरणार्थ, अंतोक्त को द्राक्षोद्यानों, फ़ार्मों, वनों, खदानों और मत्स्यक्षेत्रों के स्वामियों में।

[यहां पांडुलिपि] अचानक ख़त्म हो जाती है।

---

[58] फ़े० लिस्त ठीक ही कहते हैं: "बड़ी जागीरों पर आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था का प्राधान्य केवल सभ्यता, संचार साधनों, घरेलू उद्यमों और संपन्न नगरों के अभाव को ही दर्शाता है। अतः यह समस्त रूस, पोलैंड, हंगरी और मैकलेनबुर्ग में पाया जाता है। पहले यह इंगलैंड में व्याप्त था; किंतु उद्यमों और वाणिज्य की उन्नति के साथ इसका स्थान मध्यम जागीरों में विखंडन और जमीन के पट्टे पर दिये जाने ने ले लिया।" (*Die Ackerverfassung, die Zwergwirtschaft und die Auswanderung*, 1842, S. 10.)

फ़्रे० एंगेल्स

'पूंजी', खंड ३ का अनुपूरक

सार्वजनिक निर्णय के अधीन आने के समय से ही 'पूंजी' की तीसरी पुस्तक नानाविध और नानारूप टिप्पणियां प्राप्त करती रही है। अन्यथा अपेक्षा की भी नहीं जा सकती थी। इसके प्रकाशन में मेरी चिंता का जो मुख्य विषय था, वह था यथासंभव अधिकतम प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करना, मार्क्स द्वारा प्राप्त नये परिणामों को यथासंभव मार्क्स के ही शब्दों में प्रदर्शित करना, स्वयं केवल वहां ही हस्तक्षेप करना कि जहां एकदम अपरिहार्य हो, और तब भी पाठक को तनिक भी संदेह में न रहने देना कि उससे कौन बात कर रहा है। इसे नापसंद किया गया है। कहा गया है कि मुझे अपने को उपलब्ध सामग्री को एक सुव्यवस्थित ढंग से लिखित पुस्तक में परिवर्तित कर देना, या जैसे फ़ांसीसी लोग कहते हैं, en faire un livre [सचमुच की किताब बना लेना] चाहिए था; दूसरे शब्दों में, पाठ की प्रामाणिकता का पाठक की सुविधा के लिए बलिदान कर देना चाहिए था। लेकिन मैंने अपने कार्यभार की इस तरह से कल्पना नहीं की थी। मेरे पास इस तरह का परिशोधन करने का कोई भी औचित्य नहीं था: मार्क्स जैसे व्यक्ति को स्वयं सुने जाने का, अपनी वैज्ञानिक खोजों को स्वयं अपने प्रस्तुतीकरण की संपूर्ण यथार्थता में आनेवाली पीढ़ियों को प्रदान करने का अधिकार है। इसके अलावा, मुझे इतने उत्कृष्ट व्यक्ति की विरासत में इस तरह दख़ल – जैसा कि मुझे यह लगना चाहिए – देने की कोई आकांक्षा नहीं थी; मेरे लिए इसका मतलब विश्वासघात होता। और तीसरे, यह पूर्णतः निष्प्रयोजन रहा होता। उन लोगों के लिए, जो पढ़ नहीं सकते, या पढ़ना नहीं चाहते, जिन्होंने, पहले खंड तक में, उसे ग़लत समझने में उससे ज़्यादा मेहनत की थी, जितनी उसे सही समझने के लिए ज़रूरी थी, – ऐसे लोगों के लिए अपनी सीमा से बाहर जाकर कुछ भी करना सर्वथा निरर्थक था। लेकिन जिनकी वास्तविक समझ में दिलचस्पी है, उनके लिए मूल पाठ ही स्वयं वास्तव में सबसे महत्वपूर्ण था, उनके लिए मेरा परिशोधन हद से हद टीका का ही महत्व रखता, और, इससे भी अधिक, वह भी किसी ऐसी चीज़ पर टीका, जो अप्रकाशित और अलभ्य है। पहले ही विवाद में मूल पाठ का सहारा लेना होता, और दूसरे और तीसरे विवाद में उसका in extenso [पूरे विस्तार में] प्रकाशन एकदम अनिवार्य हो गया होता।

इस तरह के विवाद एक ऐसी कृति में स्वाभाविक ही हैं, जिसमें इतनी सारी बातें ऐसी हैं, जो बिलकुल नयी हैं, और सो भी जल्दी में तैयार किये और अंशतः अपूर्ण पहले मसविदे

में। और यहां मेरा हस्तक्षेप, निस्संदेह, उपयोगी हो सकता है: समझने में कठिनाइयों को दूर करने में, उन महत्वपूर्ण पहलुओं को सामने लाने में, जिनका महत्व पाठ में पर्याप्त रूप में स्पष्ट नहीं है, और १८६५ में लिखित पाठ में उसे १८९५ की वस्तुस्थिति के अनुरूप करने के लिए कुछ महत्वपूर्ण परिवर्धन करने के वास्ते। वास्तव में, अब भी दो मुद्दे ऐसे हैं, जिन पर मुझे संक्षेप में चर्चा करना आवश्यक लगता है।

१

मूल्य का नियम तथा लाभ दर

यह अपेक्षित ही था कि इन दोनों कारकों में प्रतीयमान असंगति का समाधान मार्क्स की पांडुलिपि के प्रकाशन के बाद भी उतनी ही बहस पैदा करेगा, जितनी उसके पूर्व। कुछ लोग पूरे चमत्कार के लिए तैयार थे और अब वे अपने को निराश पाते हैं, क्योंकि जैसी बाज़ीगरी को देखने की वे आशा करते थे, उसके बजाय उनके सामने असंगति का एक सरल, यौक्तिक और नीरस गंभीर समाधान ही है। सबसे अधिक हर्षमय निराशाग्रस्त निस्संदेह सुप्रसिद्ध, यशस्वी लोरिया ही हैं। उन्हें आख़िर वह आर्किमीदीय आलंब मिल गया है, जिससे उनके जैसा बौना तक सुनिर्मित विराट मार्क्सीय संरचना को ऊपर उठा और ध्वस्त कर सकता है। क्या! वह सरोष आपत्ति करते हैं। क्या इसे ही समाधान कहा जाता है? यह तो शुद्ध रहस्याच्छन्नीकरण है! जब अर्थशास्त्री मूल्य की बात करते हैं, तो उनका आशय उस मूल्य से होता है, जो विनिमय में वस्तुतः स्थापित होता है। 'लेशमात्र समझ रखनेवाले किसी भी अर्थशास्त्री ने ऐसे मूल्य में, जिस पर जिंसें बिकती नहीं हैं और कभी **बिक नहीं सकतीं** (nè possono vendersi mai), न तो कभी दिलचस्पी ली है, न कभी लेना ही चाहेगा... यह दावा करते हुए कि वह मूल्य, जिस पर जिंसें **कभी** बिकती **नहीं**, उनमें समाविष्ट श्रम के अनुपात में होता है, मार्क्स रूढ़िवादी अर्थशास्त्रियों की इस प्रस्थापना को विपर्यस्त रूप में दुहराने के सिवा और क्या करते हैं कि वह मूल्य, जिस पर जिंसें बिकती हैं, उन पर व्ययित श्रम के अनुपात में नहीं होता है? मामले में मार्क्स के यह कहने से कोई मदद नहीं मिलती कि व्यष्टिक दामों की व्यष्टिक मूल्यों से अपसारिता के बावजूद सभी जिंसों का कुल दाम हमेशा उनके कुल मूल्य के साथ, अथवा जिंसों के साकल्य में समाविष्ट श्रम की मात्रा के साथ संपात करता है। कारण, चूंकि मूल्य एक जिंस और दूसरी जिंस के बीच विनिमय अनुपात के सिवा और कुछ नहीं है, इसलिए कुल मूल्य की संकल्पना ही एक अयुक्ति, बकवास... एक contradictio in adjecto [निर्धारण में असंगति] है..." वह दलील देते हैं कि पुस्तक के आरंभ में ही मार्क्स कहते हैं कि विनिमय दो जिंसों को केवल उनमें समाविष्ट समान और उतने ही बड़े तत्व, अर्थात श्रम की समान मात्रा की बदौलत ही समकृत कर सकता है। और अब वह यह दावा करके अत्यंत विधिवत अपना खंडन करते हैं कि जिंसें एक दूसरे के साथ उनमें समाविष्ट श्रम की मात्रा के सर्वथा भिन्न अनुपात में विनिमीत होती हैं। "क्या कभी ऐसा घोर reductio ab adsurdum [असंगति प्रदर्शन], ऐसा निपट सैद्धांतिक दिवालियापन देखा गया है? क्या कभी इससे अधिक आडंबर और अधिक विधिपूर्वक वैज्ञानिक आत्महत्या की गयी है?" (*Nuova Antologia*, Feb. 1, 1895, pp. 477-78, 479.)

हम देखते हैं कि हमारे लोरिया मारे ख़ुशी के आपे के बाहर हुए जाते हैं। क्या उनका मार्क्स को बिलकुल अपने ही जैसा, सामान्य धूर्त, समझना ठीक नहीं था? देखा आपने – मार्क्स भी बिलकुल लोरिया की ही तरह अपने श्रोताओं का तिरस्कार करते हैं, अर्थशास्त्र के अत्यंत नगण्य इतालवी प्रोफ़ेसर की ही तरह वह भी रहस्याच्छन्नीकरण के बूते पर ही जीते हैं। लेकिन, जहां अपने धंधे को जानने के कारण दूलकमारा* तो ऐसा कर सकता है, वहां यह अनाड़ी उत्तरवासी, मार्क्स, अनाड़ीपन के अलावा और कुछ नहीं करता, बकवास और अयुक्तियां लिखता है, जिससे अंत में उसके लिए विधिपूर्वक आत्महत्या के अलावा करने को और कुछ नहीं रह जाता।

इस कथन को हम बाद के लिए छोड़ देंगे कि जिंसें श्रम द्वारा निर्धारित मूल्यों पर न कभी बिकी हैं और न कभी बिक ही सकती हैं। आइये, यहां हम लोरिया के महज़ इस दावे को ही लें कि "मूल्य एक जिंस और दूसरी जिंस के बीच विनिमय अनुपात के सिवा और कुछ नहीं है," और इसलिए "जिंसों के कुल मूल्य की संकल्पना ही एक अयुक्ति, बकवास... एक contradictio in adjecto है"। अतः, दो जिंसें जिस अनुपात में विनिमीत होती हैं, उनका मूल्य, कोई सर्वथा सांयोगिक, जिंसों पर बाहर से चिपकायी गयी चीज़ है, जो आज कुछ, तो कल कुछ और हो सकता है। एक क्विंटल गेहूं एक ग्राम सोने से विनिमीत होता है या एक किलोग्राम से, यह उस गेहूं या सोने में अंतर्निहित अवस्थाओं पर तनिक भी नहीं, बल्कि उन दोनों के लिए सर्वथा परकीय अवस्थाओं पर निर्भर करता है। कारण कि अन्यथा इन अवस्थाओं को अपने को विनिमय में भी जताना होगा, अंतोक्त को समूचे तौर पर शासित करना होगा और विनिमय से अलग स्वतंत्र अस्तित्व भी रखना होगा, जिससे कि जिंसों के कुल मूल्य की बात भी की जा सके। यशस्वी लोरिया कहते हैं कि यह बकवास है। दो जिंसों का एक दूसरी से चाहे किसी भी अनुपात में विनिमय क्यों न किया जाये, वही उनका मूल्य है – और बस, यही सारी बात है। अतः, मूल्य दाम का सर्वसम है, और हर जिंस जितने दाम प्राप्त कर सकती है, उसके उतने ही मूल्य होते हैं। और दाम पूर्ति तथा मांग द्वारा निर्धारित होता है; और जो कोई जवाब पाने की अपेक्षा में और सवाल पूछता है, तो वह मूर्ख है।

लेकिन मामले में एक छोटी सी अड़चन है। सामान्य अवस्था में पूर्ति और मांग में संतुलन रहता है। इसलिए आइये, हम संसार की सारी जिंसों को दो अर्धांशों – पूर्ति समूह और इतने ही बड़े मांग समूह – में बांट देते हैं। मान लीजिये कि प्रत्येक समूह १,००,००० करोड़ मार्क, फ़्रैंक, पाउंड स्टर्लिंग, या चाहे जो कह लीजिये, दाम को द्योतित करता है। प्राथमिक गणित के अनुसार इससे २,००,००० करोड़ का दाम या मूल्य प्राप्त होता है। श्री लोरिया कहते हैं, बकवास, अयुक्त! दोनों समूह एकसाथ २,००,००० करोड़ का दाम द्योतित कर सकते हैं। लेकिन मूल्य के साथ बात और ही है। अगर हम कहते हैं दाम, तो १,००० + १,००० = २,०००। लेकिन अगर हम कहते हैं मूल्य, तो १,००० + १,००० = ०। कम से कम इस मामले में, जहां जिंसों की समग्रता की बात है। कारण कि यहां दोनों समूहों में से प्रत्येक की जिंसें १,००,००० करोड़ की सिर्फ़ इसीलिए हैं कि दोनों में से प्रत्येक दूसरे की जिंसों के लिए यह रक़म दे सकता है और देगा। लेकिन अगर हम दोनों समूहों की जिंसों की समग्रता को एक तीसरे व्यक्ति के हाथों में संयुक्त कर देते हैं, तो अब पहले के हाथों में कोई मूल्य नहीं रह

---

*दोनीसेत्ती के हास्य ऑपेरा *L'Elisir d'Amore* का एक धूर्त पात्र। – सं०

I.

Wertgesetz und Profitrate.

[illegible]

एंगेल्स कृत 'मूल्य तथा लाभ दर' का पहला पन्ना

गया है, न दूसरे के ही, और तीसरे के हाथों में तो निश्चय ही नहीं – अंत में किसी के भी पास कुछ भी नहीं है। और हम फिर उस योग्यता पर अचरज करते हैं, जिससे हमारे दक्षिण-वासी कालिओस्त्रो ने मूल्य की संकल्पना की ऐसी गत बनायी है कि उसका लेशमात्र भी बाक़ी नहीं रह जाता है। यह अप्रामाणिक अर्थशास्त्र का चरम बिंदु है! [1]

---

[1] "अपनी ख्याति की वजह से विख्यात (हाइने के शब्दों में) इन्हीं सज्जन को कुछ समय बाद तीसरे खंड की मेरी भूमिका का – उसके १८९५ में इतालवी भाषा में *Rassegna* के पहले अंक में प्रकाशित होने के बाद – उत्तर देने को विवश होना पड़ा। उत्तर २५ फ़रवरी, १८९५ के *Riforma Sociale* में छपा है। मेरी छककर अनिवार्य (और इसलिए दुगुनी अरुचिकर) चापलूसी कर लेने के बाद वह कहते हैं कि इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा के मार्क्स के श्रेय को चुराने की बात उन्होंने कभी सोची भी नहीं थी। इसे तो वह १८८५ में ही स्वीकार कर चुके थे – बिलकुल संयोग से एक पत्रिका में प्रकाशित लेख में। लेकिन वह इसकी ठीक वहीं और भी हठधर्मिता से उपेक्षा करते हैं, जहां उसे होना चाहिए, अर्थात इस विषय पर अपनी पुस्तक में, जहां मार्क्स का पहली बार उल्लेख पृष्ठ १२६ पर किया जाता है, और वह भी सिर्फ़ फ़्रांस में छोटी भू-संपत्ति के संदर्भ में ही। और अब वह दिलेरी के साथ एलान करते हैं कि मार्क्स तो इस सिद्धांत के प्रणेता हैं ही नहीं, अगर अरस्तू ने इसका पहले ही आभास नहीं दे दिया था, तो हैरिंग्टन ने ठेठ १६५६ में ही इसे निस्संदेह उद्घोषित कर दिया था, और शिरोमणि इतिहासज्ञों, राजनीतिज्ञों, विधिज्ञों तथा अर्थशास्त्रियों द्वारा मार्क्स के बहुत पहले ही विकसित किया जा चुका था। यह सब लोरिया की पुस्तक के फ़्रांसीसी संस्करण में पढ़ा जा सकता है। संक्षेप में, मार्क्स पक्के साहित्यचोर हैं। जब मैंने उनके लिए मार्क्स से साहित्यिक चोरियों के बारे में और अधिक डींग मारना असंभव कर दिया है, तो वह ढीठतापूर्वक दावा करते हैं कि मार्क्स तो मंगनी की कलगी पर इतराते हैं, जैसे वह ख़ुद करते हैं। मेरे अन्य आक्षेपों में से लोरिया सिर्फ़ इस एक को ही लेते हैं कि – उनके अनुसार – मार्क्स का इरादा 'पूंजी' का दूसरा अथवा वास्तव में तीसरा खंड लिखने का कभी नहीं था। "और अब दूसरे और तीसरे खंडों को मेरी तरफ़ फेंककर एंगेल्स सोल्लास जवाब देते हैं... क्या बात है! और मैं इन खंडों से, जिनसे मैंने इतना बौद्धिक आनंद प्राप्त किया है, इतना प्रसन्न हूं कि मुझे कोई विजय कभी इतनी प्रिय नहीं लगी थी, जितनी कि आज यह पराजय – बशर्ते कि यह पराजय वास्तव में हो। लेकिन क्या यह वास्तव में पराजय है? क्या यह वास्तव में सत्य है कि मार्क्स ने प्रकाशन के इरादे से असंबद्ध टिप्पणियों की इस खिचड़ी को लिखा हो, जिसका एंगेल्स ने कर्तव्यनिष्ठ मित्रतावश संकलन कर दिया है? क्या वास्तव में यह कल्पना करना संभव है कि मार्क्स ने ... अपने कृतित्व और अपनी पद्धति के किरीट को इन पन्नों पर प्रकट किया हो? क्या यह वास्तव में निश्चित है कि मार्क्स ने औसत लाभ दर पर वह अध्याय प्रकाशित किया होता, जिसमें वर्षों से प्रतिश्रुत समाधान अत्यंत निराशाजनक रहस्यमयीकरण में, अत्यंत अनगढ़ शब्द कौतुक में परिणत कर दिया गया है? कम से कम इस पर संदेह करना तो संभव है ही ... मेरे विचार में इससे यह सिद्ध होता है कि अपनी भव्य (splendido) पुस्तक के प्रकाशन के बाद मार्क्स का इरादा उसकी कोई अनुवर्ती कृति प्रस्तुत करने का नहीं था, या वह इस महाकार्य की पूर्ति को अपने उत्तरवर्तियों पर, स्वयं अपने उत्तरदायित्व के बिना, छोड़ देना चाहते थे।

पृष्ठ २६७ पर यों ही लिखा हुआ है। हाइने अपने कूपमंडूक जर्मन पाठकवृंद का इनसे अधिक तिरस्कारपूर्ण शब्दों में वर्णन नहीं कर सकते थे: "लेखक अंततः अपने पाठकवृंद का आदी हो जाता है, मानो वह कोई तर्कसंगत चीज़ हो।" यशस्वी लोरिया को भला अपने पाठक-वृंद के बारे में क्या समझना चाहिए?

अंत में प्रशंसा का एक और बोझ मुझ बेनसीब के ऊपर आ गिरता है। इसमें हमारे

ब्राउन द्वारा प्रकाशित *Archiv für soziale Gesetzgebung*, Vol. VII, № 4, में वेर्नर ज़ोंबार्त मार्क्सीय पद्धति की कुल मिलाकर एक उत्तम रूपरेखा देते हैं। यह पहला अवसर है कि जब कोई जर्मन विश्वविद्यालयी प्रोफ़ेसर, यह कहते हुए कि मार्क्सीय पद्धति की आलोचना खंडन में – "इससे राजनीतिक स्वार्थजीवियों को निपटने दीजिये" – नहीं, बल्कि और अधिक विकास में सन्निहित है, मार्क्स की कृतियों में समूचे तौर पर वही देख पाने में सफल होता है, जो मार्क्स वास्तव में कहते हैं। जैसे कि सोचा भी जाना चाहिए, ज़ोंबार्त भी हमारे विषय को ही हाथ में लेते हैं। वह मार्क्सीय पद्धति में मूल्य के महत्व का अन्वेषण करते हैं और इन परिणामों पर पहुंचते हैं: मूल्य पूंजीवादी तरीक़े से उत्पादित जिंसों के विनिमय संबंध में अभिव्यक्त नहीं होता; वह पूंजीवादी उत्पादन के अभिकर्ताओं की चेतना में निवास नहीं करता; वह कोई इंद्रियानुभविक नहीं, वरन एक मानसिक, तार्किक तथ्य है; अपनी भौतिक निश्चितता में मूल्य की संकल्पना मार्क्स में इस तथ्य की आर्थिक अभिव्यक्ति के अलावा और कुछ नहीं है कि श्रम की सामाजिक उत्पादक शक्ति आर्थिक अस्तित्व का आधार है; अंतिम विश्लेषण में मूल्य का नियम पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में आर्थिक प्रक्रियाओं को शासित करता है और इस आर्थिक व्यवस्था के लिए बिलकुल सामान्य रूप में उसका अंतर्य यह है: जिंसों का मूल्य वह विशिष्ट ऐतिहासिक रूप है, जिसमें समस्त आर्थिक प्रक्रियाओं को शासित करनेवाली श्रम की उत्पादक शक्ति अंततोगत्वा अपने आपको निर्धारक कारक के रूप में जताती है। ऐसा ज़ोंबार्त कहते हैं; यह नहीं कहा जा सकता कि उत्पादन के पूंजीवादी रूप के लिए मूल्य के नियम की सार्थकता की यह संकल्पना ग़लत है। अलबत्ता मुझे यह ज़रा ज्यादा ही व्यापक और संकीर्णतर, अधिक यथातथ्य सूत्रीकरण की गुंजाइश रखनेवाली प्रतीत होती है; मेरी राय में वह मूल्य के नियम की समाज के विकास के इस नियम द्वारा शासित होनेवाले चरणों के लिए समस्त सार्थकता को किसी भी प्रकार पूर्णतः उद्घाटित नहीं करती है।

इसी प्रकार ब्राउन के *Sozialpolitisches Zentralblatt*, २५ फ़रवरी, १८९५, अंक २२ में 'पूंजी' के तीसरे खंड पर कोनराद श्मिद्त का एक उत्कृष्ट लेख है। यहां विशेषकर ज़ोर इस प्रमाण पर दिया गया है कि बेशी मूल्य से औसत लाभ दर का मार्क्सीय निष्कर्षण किस प्रकार उस सवाल पहली बार जवाब देता है, जो अर्थशास्त्र द्वारा अभी तक पेश भी नहीं किया गया है: इस औसत लाभ दर का परिमाण किस प्रकार निर्धारित होता है, और यह कैसे होता है कि यह, मसलन, १० या १५ प्रतिशत होता है और ५० या १०० प्रतिशत नहीं। चूंकि हम जानते हैं कि औद्योगिक पूंजीपति द्वारा सबसे पहले हथियाया जानेवाला बेशी मूल्य ही वह एकमात्र तथा अनन्य स्रोत है, जिससे लाभ तथा किराया उत्पन्न होते हैं, इसलिए यह प्रश्न अपने आप हल हो जाता है। श्मिद्त के लेख का यह अंश सीधे á la लोरिया [लोरिया छाप] अर्थशास्त्रियों के लिए लिखा गया हो सकता था, बशर्ते कि यह उन लोगों की आंखें खोलने के लिए अकारथ श्रम न होता, जो देखना चाहते ही नहीं।

श्मिद्त की भी मूल्य के नियम के बारे में अपनी औपचारिक शंकाएं हैं। वह इसे

स्गानारेल्ले अपने को बलाम का समकक्ष बना लेते हैं, जो आया तो अभिशाप देने को था, पर जिसके ओंठों से अपनी इच्छा के विरुद्ध "आशीष और प्रेम के शब्द" फूट पड़े। कारण कि भले बलाम की विशेषता यह थी कि वह जिस गधे पर सवारी करता था, वह अपने मालिक से अधिक बुद्धिमान था। इस बार बलाम अपने गधे को प्रत्यक्षतः घर छोड़ आया है।

वास्तविक विनिमय प्रक्रिया की व्याख्या करने के लिए प्रस्थापित वैज्ञानिक **प्राक्कल्पना** की संज्ञा देते हैं, जो अपने को वह आवश्यक सैद्धान्तिक प्रस्थान बिंदु सिद्ध करती है कि जो प्रतिद्वंद्वात्मक दामों की परिघटनाओं के मामले तक में, जो उसके सर्वथा विपरीत प्रतीत होती हैं, स्पष्टीकारक और अपरिहार्य है। उनके अनुसार, मूल्य के नियम के बिना पूंजीवादी यथार्थ की आर्थिक कार्य-प्रणाली में समस्त सैद्धांतिक अंतर्दृष्टि ख़त्म हो जाती है। और एक निजी पत्र में, जिसे उद्धृत करने की वह मुझे अनुमति देते हैं, श्मिद्त उत्पादन के पूंजीवादी रूप के भीतर मूल्य के नियम को एक विशुद्ध, यद्यपि सिद्धांततः आवश्यक, कल्पना घोषित कर देते हैं। लेकिन, मेरी राय में, यह विचार बिलकुल ग़लत है। पूंजीवादी उत्पादन के लिए मूल्य के नियम का मात्र एक परिकल्पना की अपेक्षा, कल्पना की, चाहे वह आवश्यक भी हो, तो बात ही क्या, कहीं अधिक बडा और अधिक निश्चित महत्व है।

ज़ोंबार्त और ऐसे ही श्मिद्त भी – यशस्वी लोरिया का उल्लेख तो मैं केवल एक मनोरंजक अप्रामाणिक अर्थशास्त्रीय मोथरी तलवार के नाते ही करता हूं – इस तथ्य का पर्याप्त ध्यान नहीं रखते कि यहां हमारा वास्ता केवल शुद्धतः तार्किक प्रक्रिया से नहीं है, बल्कि एक ऐतिहासिक प्रक्रिया और विचार में उसके व्याख्यात्मक प्रतिबिंब से, उसके आन्तरिक संबंधों के तर्कसंगत अनुगमन से है।

निर्णायक उद्धरण मार्क्स में, Buch III, I, S. 154* पर मिलता है:

"सारी कठिनाई इस बात से ही पैदा होती है कि जिंसें महज़ **जिंसों** के नाते नहीं, बल्कि **पूंजियों के उत्पादों** के नाते विनिमीत होती हैं, जो बेशी मूल्य की कुल राशि में अपने परिमाण के अनुपात में अथवा यदि वे समान परिमाण की हैं, तो समान सहभागिता का दावा करती हैं।"

इस अंतर को स्पष्ट करने के लिए यह कल्पना की जाती है कि श्रमिकों का अपने उत्पादन साधनों पर अधिकार है और वे औसत रूप में समान लंबी कालावधि और समान तीव्रता के साथ काम करते हैं और अपनी जिंसों का एक दूसरे से प्रत्यक्ष विनिमय करते हैं। इस प्रकार दो मज़दूर अपने श्रम द्वारा एक दिन में अपने उत्पादों में नये मूल्य की समान मात्रा जोड़ेंगे, लेकिन उनमें से प्रत्येक के उत्पाद का मूल्य उत्पादन साधनों में पहले से ही समाविष्ट श्रम पर निर्भर करते हुए भिन्न होगा। मूल्य का यह अंतोक्त भाग पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की स्थिर पूंजी को प्रकट करेगा, जबकि नवयोजित मूल्य का मज़दूर के निर्वाह साधनों के लिए प्रयुक्त होनेवाला भाग परिवर्ती पूंजी को, और नये मूल्य का अब भी बच रहनेवाला अंश बेशी मूल्य को, जो इस प्रसंग में स्वयं मज़दूर का होगा, प्रकट करेगा। इस प्रकार, केवल अपने द्वारा अग्रसारित मूल्य के "स्थिर" भाग को प्रतिस्थापित करने की मात्रा को घटा देने से दोनों श्रमिक समान मूल्यों को प्राप्त करेंगे; लेकिन बेशी मूल्य को प्रकट करनेवाले भाग का उत्पादन साधनों के मूल्य के साथ अनुपात – जो पूंजीवादी लाभ दर के अनुरूप होगा – प्रत्येक के मामले में भिन्न होगा। लेकिन चूंकि उनमें से प्रत्येक के लिए उत्पादन साधनों के मूल्य की विनिमय के ज़रिये प्रतिस्थापना हो जाती है, इसलिए यह तथ्य सर्वथा महत्वहीन होगा।

"इसलिए जिंसों का अपने मूल्यों पर, अथवा लगभग अपने मूल्यों पर विनिमय उनके अपने उत्पादन दामों पर विनिमय की अपेक्षा कहीं नीची मंज़िल की अपेक्षा करता है, जिसके लिए पूंजीवादी विकास का एक निश्चित स्तर आवश्यक है ... दामों के और दाम की गति

---

* प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ १५६।– सं०

के मूल्य के नियम द्वारा शासित होने के अलावा जिंसों के मूल्यों को केवल सिद्धांततः ही नहीं, बल्कि इतिहासतः भी उत्पादन दामों का prius [पूर्वज] मानना सर्वथा उपयुक्त ही है। यह बात उन अवस्थाओं पर लागू होती है, जिनमें श्रमिक का अपने उत्पादन साधनों पर स्वामित्व होता है, और प्राचीन तथा आधुनिक विश्व में भी स्वयं अपने श्रम पर जीनेवाले भूमिधर काश्तकार और दस्तकार की यही अवस्था है। यह बात हमारे द्वारा पहले व्यक्त किये इस विचार से भी मेल खाती है कि उत्पादों का जिंसों में विकास विभिन्न समुदायों के बीच, न कि उसी समुदाय के सदस्यों के बीच विनिमय द्वारा उदित होता है। यह बात सिर्फ़ इस आदिम अवस्था के लिए ही नहीं, बल्कि दासप्रथा तथा भूदासत्व पर आधारित बाद वाली अवस्थाओं के लिए, और हस्तशिल्पों के श्रेणी संगठन के लिए भी सही है, जब तक कि उत्पादन की प्रत्येक शाखा में संबद्ध उत्पादन साधन एक क्षेत्र से दूसरे को कठिनाई के साथ ही अंतरित किये जा सकते हैं और इसलिए विभिन्न उत्पादन क्षेत्र एक दूसरे के साथ, कुछेक सीमाओं के भीतर, विदेशों की या साम्यवादी समुदायों की तरह ही संबद्ध होते हैं।" (Marx, Buch III, I, S. 156 ff.*)

मार्क्स को अगर तीसरे खंड को एक बार सुधारने का मौक़ा मिला होता, तो उन्होंने निस्संदेह इस अंश का काफ़ी विस्तार किया होता। जिस रूप में यह है, उसमें यह विचाराधीन प्रश्न पर जो कुछ कहा जाना है, उसकी केवल अस्पष्ट रूपरेखा ही देता है। इसलिए हमें इसका कुछ सूक्ष्मतर विवेचन करना चाहिए।

हम सभी जानते हैं कि समाज की प्रारंभिक अवस्थाओं में उत्पाद स्वयं उत्पादकों द्वारा उपभुक्त किये जाते हैं और ये उत्पादक स्वतःस्फूर्त रूप में कमोबेश साम्यवादी समुदायों में संगठित होते हैं; इन उत्पादों की बेशी का अजनबियों के साथ विनिमय, जो उत्पादों के जिंसों में रूपांतरण का आरंभ करता है, बाद की अवस्था में शुरू होता है; पहले यह विनिमय केवल भिन्न क़बीलों के अलग-अलग समुदायों के बीच ही होता है, लेकिन बाद में वह समुदाय के भीतर भी प्रचलित हो जाता है और उसके छोटे-बड़े पारिवारिक समूहों में विघटन में काफ़ी योग देता है। लेकिन इस विघटन के बाद भी विनिमायक परिवार प्रमुख श्रमजीवी किसान बने रहते हैं, जो अपनी जरूरत की लगभग सभी चीजें अपने परिवारों की सहायता से ख़ुद अपने यहां ही पैदा करते हैं और अपनी वांछित आवश्यक वस्तुओं का बहुत थोड़ा अंश ही स्वयं अपने बेशी उत्पादों से विनिमय के जरिये बाहर से प्राप्त करते हैं। कुटुंब केवल खेतीबाड़ी और पशुपालन ही नहीं करता है; वह अपने उत्पादों को तैयार उपभोग वस्तुओं का रूप भी देता है; जब-तब अपनी हथचक्की से अपना अनाज पीसता है, रोटी पकाता है, ऊन तथा फ़्लैक्स को कातता, रंगता और बुनता है और चमड़ा कमाता है, लकड़ी की इमारतें बनाता है और उनकी मरम्मत करता है, औज़ार और बरतन बनाता है और बहुधा बढ़ईगीरी और लोहारी भी करता है, जिससे कि कुटुंब अथवा परिवार समूह कुल मिलाकर स्वावलंबी होता है।

इस तरह के कुटुंब को जो थोड़ा सा बाहरी लोगों से विनिमय द्वारा प्राप्त करना या ख़रीदना पड़ता था, जर्मनी में तो उन्नीसवीं सदी के आरंभ के समय भी, उसमें अधिकांशतः हस्तशिल्प उद्योग के सामान ही होते थे, अर्थात ऐसी चीजें, जिनके निर्माण का रहस्य काश्तकार को किसी भी प्रकार अज्ञात नहीं होता, और जिसे वह स्वयं केवल इस कारण नहीं उत्पादित करता था कि उसके पास कच्चा माल नहीं होता था या इसलिए कि ख़रीदी हुई चीज़

* प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ १६०।–सं०

कहीं ज्यादा बेहतर और कहीं ज्यादा सस्ती होती थी। अतएव मध्ययुगीन कृषक अपने द्वारा विनिमय में प्राप्त वस्तुओं के निर्माण के लिए आवश्यक श्रम काल की काफ़ी सही-सही जानकारी रखता था। गांव का लोहार और छकड़े बनानेवाला उसकी आंखों के आगे काम करता था; इसी तरह दरज़ी और मोची भी, जो मेरे कैशोर्य में भी हमारे राइनी किसानों के पास एक के बाद एक करके आते रहते थे और उनकी गृहनिर्मित सामग्रियों को जूतों और पोशाकों में बदल देते थे। किसान और इसी तरह से जिन लोगों से वे ख़रीदारियां करते थे, वे भी स्वयं मज़दूर थे: विनिमीत वस्तुएं प्रत्येक का अपना उत्पाद हुआ करती थीं। इन उत्पादों के बनाने में भला उनका क्या ख़र्च होता था? श्रम और केवल मात्र श्रम: औज़ारों की प्रतिस्थापना करने के लिए, कच्चा माल पैदा करने के लिए और उसे संसाधित करने के लिए वे स्वयं अपनी श्रम शक्ति के अलावा और कुछ नहीं ख़र्च करते थे; फिर भला वे स्वयं अपने इन उत्पादों का दूसरे श्रमजीवी उत्पादकों के उत्पादों के साथ विनिमय उन पर व्ययित श्रम के अनुपात में करने के अलावा और कैसे कर भी सकते थे? न केवल इन उत्पादों पर व्ययित श्रम काल विनिमीत किये जानेवाले मूल्यों के मात्रात्मक निर्धारण का एकमात्र उपयुक्त मापदंड ही था: इसके अलावा कोई दूसरा मापदंड संभव भी नहीं था। नहीं, तो फिर क्या यह मानना चाहिए कि किसान और दस्तकार इतने बेवकूफ़ थे कि एक आदमी के दस घंटे के श्रम के उत्पाद को दूसरे आदमी के एक ही घंटे के श्रम के उत्पाद के बदले दे देते थे? खेतिहर नैसर्गिक अर्थव्यवस्था के संपूर्ण युग में उस विनिमय के अलावा और कोई विनिमय संभव नहीं है, जिसमें जिंसों की विनिमीत मात्राएं उनमें समाविष्ट श्रम की मात्राओं के अनुसार अधिकाधिक मापी जाने लगती हैं। द्रव्य के अर्थव्यवस्था की इस प्रणाली में प्रवेश करने के क्षण के साथ, एक ओर, मूल्य के नियम के अनुकूल होने की प्रवृत्ति (nota bene [ध्यान दें] मार्क्सीय निरूपण में!) अधिकाधिक सुस्पष्ट होती जाती है, जबकि दूसरी ओर, उसमें सूदख़ोरों की पूंजी के हस्तक्षेप से और करा-धान द्वारा लूट से बाधा आना भी शुरू हो जाती है; वे दौर लंबे होने लगते हैं, जिनके दौरान दाम औसत मूल्यों के नगण्य सीमांतों के भीतर पहुंच जाते हैं।

कृषक उत्पादों और शहरी दस्तकारों के उत्पादों के बीच विनिमय के बारे में भी यही बात लागू होती है। आरंभ में यह विनिमय शहरों की हाट के दिनों में सीधे, व्यापारी की मध्यस्थता के बिना होता है, जब किसान अपनी बिक्री और ख़रीदारियां करता है। यहां भी न सिर्फ़ यही बात है कि किसान दस्तकार की काम की अवस्थाओं को जानता है, बल्कि दस्त-कार भी इसी तरह किसान की काम की अवस्थाओं से परिचित होता है। कारण यह कि दस्त-कार ख़ुद अब भी थोड़ा-बहुत किसान होता है; उसकी न सिर्फ़ अपनी सब्ज़ी और फल की बाड़ी होती है, बल्कि अकसर उसके पास ज़मीन का छोटा सा टुकड़ा, दो-एक गायें, सूअर, कुक्कट, आदि भी होते हैं। इस प्रकार, मध्य युग में लोग कच्चे माल, सहायक सामग्री की एक दूसरे की उत्पादन लागत और श्रम काल का ख़ासी सटीकता के साथ अनुमान लगा सकते थे – कम से कम दैनंदिन उपयोग की चीज़ों के मामले में।

लेकिन श्रम की मात्रा के आधार पर इस विनिमय में प्रथमोक्त का ऐसे उत्पादों के लिए कैसे हिसाब लगाया जाता था, चाहे अप्रत्यक्षतः और सापेक्षतः ही सही, जिनके लिए अधिक लंबे और अनियत अंतरालों पर बाधित श्रम की आवश्यकता होती है और जिनकी पैदावार अनिश्चित होती है – मिसाल के लिए, अनाज और ढोर? और तिस पर वह भी ऐसे लोगों द्वारा, जो हिसाब लगा नहीं सकते थे? प्रत्यक्ष है कि सिर्फ़ टेढ़े-मेढ़े सन्निकटन की लंबी प्रक्रिया

द्वारा, अकसर अंधेरे में ही यहां-वहां रास्ता टटोलते हुए, और, जैसा कि आम तौर पर होता ही है, सिर्फ़ ग़लतियों के ज़रिये सीखते हुए ही। लेकिन हर किसी की अपने परिव्यय को पूरा करने की आवश्यकता कुल मिलाकर हमेशा सही दिशा में लौट आने में सहायक होती थी; और परिचलन में वस्तु वैभिन्न्य के कम होने और इसी प्रकार उनके उत्पादन के बहुधा सदियों लंबे स्थायी स्वरूप से भी इस लक्ष्य की सिद्धि में सहायता मिलती थी। और यह बात कि इन उत्पादों के मूल्य की सापेक्ष मात्रा के काफ़ी सही-सही नियत होने में किसी भी तरह कोई उतना ज़्यादा समय नहीं लगा, इसी तथ्य से पहले ही सिद्ध हो जाती है कि ढोर जैसी जिंस ही, जिसके मामले में प्रत्येक पशु के लंबे उत्पादन काल के कारण ऐसा होना सबसे मुश्किल प्रतीत होता है, पहले काफ़ी व्यापक रूप में स्वीकृत द्रव्यरूप पण्य बने। ऐसा हो सकने के लिए यह आवश्यक था कि ढोरों के मूल्य ने, बहुत सारी दूसरी जिंसों के साथ उनके विनिमय-अनुपात ने, पहले ही बहुत से क़बीलों के इलाक़ों में निर्विवाद्य रूप में स्वीकृत सापेक्षतया असामान्य स्थायित्व प्राप्त कर लिया हो। और उस ज़माने के लोग– पशुपालक और उनके ग्राहक, दोनों ही–इतने समझदार अवश्य थे कि अपने द्वारा व्ययित श्रम काल को विनिमय में समतुल्य पाये बिना न दे दें। लोग पण्य उत्पादन की आदिम अवस्था के जितना ही अधिक निकट होते हैं,–मिसाल के लिए, रूसी तथा पूर्वी लोग,–उतना ही अधिक समय वे आज भी लंबे और अनम्य मोलभाव के ज़रिये किसी उत्पाद पर व्ययित अपने श्रम काल का पूरापूरा मुआवज़ा वसूल करने के लिए ज़ाया करते हैं।

श्रम काल द्वारा इस मूल्य निर्धारण से शुरू होकर समस्त पण्य उत्पादन का, और उसके साथ उन नानाविध संबंधों का विकास हुआ, जिनमें मूल्य के नियम के विभिन्न पहलू अपने को जताते हैं, जैसे 'पूंजी' के पहले खंड के पहले भाग में बतलाया गया है; अर्थात विशेषकर उन अवस्थाओं का, जिनमें एकमात्र श्रम ही मूल्यसर्जक होता है। ये ऐसी अवस्थाएं हैं कि जो भाग लेनेवालों की चेतना में प्रवेश किये बिना अपने को स्थापित करती हैं और स्वयं जिन्हें दैनंदिन व्यवहार से श्रमसाध्य सैद्धांतिक अन्वेषण द्वारा ही पृथक किया जा सकता है; जो, जैसे मार्क्स ने सिद्ध किया है, पण्य उत्पादन की प्रकृति से अनिवार्यतः उद्भूत नैसर्गिक नियमों की तरह कार्य करती हैं। सबसे महत्वपूर्ण और सबसे निर्णायक प्रगति धातु मुद्रा में संक्रमण था, लेकिन जिसका परिणाम यह था कि श्रम काल द्वारा मूल्य निर्धारण अब पण्य विनिमय की सतह पर प्रत्यक्ष नहीं रह गया। व्यावहारिक दृष्टिकोण से मूल्य का निर्णायक मापदंड मुद्रा बन गयी, और इसलिए और भी अधिक कि व्यापार में प्रवेश करनेवाली जिंसों के वैविध्य के बढ़ने के साथ-साथ वे उतना ही अधिक दूरस्थ देशों से आने लग गयीं और फलतः उनके उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल को जांचना उतना ही कम संभव होता गया। मुद्रा स्वयं आरंभ में आम तौर पर विदेशी इलाक़ों से आया करती थी; बहुमूल्य धातुओं के देश में प्राप्त किये जाने की सूरत में भी किसान और दस्तकार आंशिक रूप में उसमें नियोजित श्रम का मोटा अनुमान भी नहीं लगा सकते थे, और आंशिक रूप में मुद्रा से आकलन करने की आदत के परिणामस्वरूप श्रम के मूल्यमापक गुण की उनकी अपनी चेतना ख़ासी कुंठित हो गयी थी; जन-मानस में मुद्रा निरपेक्ष मूल्य को द्योतित करने लग गयी।

संक्षेप में: मूल्य का मार्क्सीय नियम–अगर आर्थिक नियम किसी तरह से भी वैध होते हैं–साधारण पण्य उत्पादन के संपूर्ण युग के लिए संगत है, अर्थात तब तक कि जब तक उत्पादन के पूंजीवादी रूप के आविर्भाव के ज़रिये पण्य उत्पादन का रूपांतरण नहीं हो

जाता है। उस समय तक दाम मार्क्सीय नियम के अनुसार स्थापित मूल्यों की ओर ही अभ्याकर्षित होते हैं और इन मूल्यों के आस-पास ही गिरते-चढ़ते रहते हैं, जिससे साधारण पण्य उत्पादन जितना ही अधिक पूर्णता के साथ विकास करता है, दीर्घ कालावधियों तक प्रचंड बाह्य विक्षोभों द्वारा अबाधित दाम उतना ही अधिक नगण्य परिसीमा के भीतर मूल्यों के साथ संपात करते हैं। इस प्रकार, मूल्य के मार्क्सीय नियम की विनिमय, जो उत्पादों को जिंसों में परिणत करता है, के आरंभ से लेकर ईसवी संवत की पंद्रहवीं शताब्दी तक की अवधि के लिए सामान्य आर्थिक वैधता है। किंतु जिंस विनिमय का उदय तो समस्त लिखित इतिहास के भी पहले का है, जो मिस्र में कम से कम २,५०० ई० पू०, और संभवतः ५,००० ई० पू० तक, और बाबुल में ४,००० ई० पू०, संभवतः ६,००० ई० पू० तक चला जाता है; इस प्रकार, मूल्य का नियम पांच से सात हज़ार साल की अवधि में बना रहा है। और अब हमें श्री लोरिया की परिपूर्णता की सराहना करनी चाहिए, जो सामान्यतः और इस अवधि में प्रत्यक्षतः वैध मूल्य को ऐसा मूल्य कहते हैं, जिस पर जिंसें कभी बिकती नहीं, न कभी बिक ही सकती हैं, और जिसमें लेशमात्र भी सहज बुद्धि रखनेवाला कोई अर्थशास्त्री कभी नहीं उलझेगा!

व्यापारी की हमने अभी तक बात नहीं की है। हम उसके हस्तक्षेप के विवेचन को अब तक के लिए बचाकर रख सकते थे, जब हम साधारण पण्य उत्पादन के पूंजीवादी पण्य उत्पादन में रूपांतरण पर आते हैं। व्यापारी इस समाज में क्रांतिकारी तत्व था, जिसमें बाक़ी सभी कुछ स्थिर था – मानो विरासत से ही स्थिर; जिसमें किसान न केवल ज़मीन की अपनी जोत ही, बल्कि उन्मुक्त भूस्वामी की, स्वतंत्र अथवा आबद्ध मुक्ति लगानदाता किसान या भूदास की अपनी हैसियत भी, और शहरी दस्तकार अपना पेशा और अपने श्रेणी विशेषाधिकार विरासत द्वारा और लगभग अवियोज्य रूप में, और इसके अलावा, उनमें से प्रत्येक अपने ग्राहक, अपना बाज़ार और ऐसे ही वंशागत उद्यम के लिए बचपन से ही प्रशिक्षित अपना हुनर भी प्राप्त करता था। तो, इस संसार में व्यापारी का प्रवेश हुआ, जिसके साथ उसकी क्रांति का समारंभ होना था। लेकिन कोई सचेत क्रांतिकारी की तरह नहीं; बल्कि इसके विपरीत, उसके चाम के चाम की तरह, उसके हाड़ के हाड़ की तरह। मध्ययुगीन व्यापारी किसी भी प्रकार व्यक्तिवादी नहीं था; वह तत्वतः अपने अन्य सभी समकालीनों की ही तरह समुदाय सदस्य था। देहात में आदिम साम्यवाद से उदित मार्क समुदाय का बोलबाला था। आरंभ में हर काश्तकार के पास बराबर जोत होती थी, जिसमें हर क़िस्म की ज़मीन के बराबर टुकड़े होते थे और उसी के अनुरूप मार्क के अधिकारों में भी समान भाग होता था। मार्क के एक संवृत समुदाय बन जाने के बाद, जब नयी जोतों का दिया जाना बंद हो गया, विरासत, आदि के ज़रिये जोतों का उप-विभाजन होने लगा और उसके अनुरूप मार्क में सामान्य अधिकारों के भी उप-विभाजन हुए; लेकिन पूरी जोत ही इकाई बनी रही, जिससे मार्क में आधे, चौथाई और अधचौथाई अधिकारों के साथ आधी, चौथाई और अधचौथाई जोतें पैदा हो गयीं। मार्क समुदाय के नमूने पर ही बाद वाले सभी उत्पादक समुदाय क़ायम हुए, विशेषकर नगरों में श्रेणियां, जिनकी संविधियां मार्क संविधान की ज़मीन के एक सीमित क्षेत्र के बजाय एक शिल्प विशेषाधिकार में प्रयुक्ति के अलावा और कुछ नहीं थीं। सारे संगठन का केंद्र बिंदु श्रेणी को प्रत्याभूत विशेषाधिकारों तथा उपज में प्रत्येक सदस्य की समान सहभागिता थी, जैसे कि १५२७ में प्रदत्त एल्बरफ़ेल्द तथा बारमेन के कताई व्यवसाय की अनुज्ञप्ति में अत्यंत सुस्पष्ट रूप में व्यक्त होती है। (Thun, *Industrie am Niederrhein,* Theil II, S. 164 ff.) खदान श्रेणियों के बारे

में भी यही बात है, जहां प्रत्येक ग्रंश की समान सहभागिता थी और मार्क सदस्य की जोत की ही भांति वह अपने अधिकारों और दायित्वों सहित विभाज्य भी था। और बिलकुल यही, और किसी कम हद तक नहीं, बात व्यापारी कंपनियों के बारे में भी है, जिन्होंने समुद्रपार व्यापार का समारंभ किया। वेनिसियाई और जेनोग्राई सिकंदरिया अथवा कुस्तुंतुनिया के बंदरगाह में, अपने-अपने fondaco [अधिक्षेत्र] – आवास भवनों, सराय, गोदाम, प्रदर्शनी स्थलों और दुकानों तथा साथ में केंद्रीय कार्यालयों – में प्रत्येक "राष्ट्र" पूरे के पूरे व्यापार संघ थे; प्रतिद्वंद्वियों और ग्राहकों के लिए वे निषिद्ध थे; वे स्वयं आपस में नियत किये दामों पर बिक्री करते थे; उनके माल निश्चित कोटि के होते थे, सार्वजनिक निरीक्षण और बहुधा मोहर द्वारा प्रत्याभूत होते थे; वे अपने उत्पादों के लिए स्थानीय निवासियों द्वारा दिये जानेवाले दामों, आदि के बारे में मिलकर विचार-विमर्श करते थे। न बेर्गेन, नार्वे, में जर्मन सेतु (Tydske Bryggen) पर हांज़ाई व्यापारी ही अपना कारबार किसी और तरीक़े से चलाते थे; यही बात उनके डच और अंग्रेज़ प्रतिद्वंद्वियों पर भी लागू होती थी। लानत उस पर, जो दाम के नीचे बेचे या दाम के ऊपर ख़रीदे! उसे जिस बहिष्कार को झेलना पड़ता था, उसका मतलब उस समय अनिवार्य बरबादी था, दोषी पर संघ द्वारा लगाये जानेवाले प्रत्यक्ष दंडों की तो बात ही अलग है। निश्चित उद्देश्यों के लिए तो और भी संवृत संघ स्थापित किये जाते थे, जैसे चौदहवीं और पंद्रहवीं सदियों में जेनोग्रा का माग्रोना, जो बरसों तक एशियाए-कोचक में फ़ोसीग्रा की और ऐसे ही कीग्रोस द्वीप की फिटकरी की खदानों का शासक रहा था, इसके अलावा विराट रावेन्सबेर्ग व्यापार कंपनी, जिसका चौदहवीं शताब्दी के अंत से इटली और स्पेन के साथ कारबार था और जिसने वहां अपनी शाखाएं क़ायम की थीं; ऐसे ही ग्राउग्सबुर्गरी व्यापारियों: फ़ूगर, वेल्ज़र, फ़्योलिन, हैक्स्टेटर, आदि की जर्मन कंपनी; न्यूर्नबेर्गरी व्यापारियों: हिर्शफ़ोगल तथा अन्यों की कंपनी, जिसने ६६,००० दुकात की पूंजी और तीन जहाज़ों के साथ १५०५-१५०६ के पुर्तगालियों के भारत को अभियान में भाग लेकर १५० प्रतिशत का, और अन्यों के अनुसार १७५ प्रतिशत का शुद्ध लाभ बनाया था [Heyd, *Levantehandel*, Bd. II, S. 524); और बहुत सारी अन्य कंपनियां, "Monopolia", जिस पर लूथर इतने क्रोधावेश में आ गये थे।

यहां हमारा पहली बार लाभ और लाभ दर से साबिक़ा होता है। व्यापारी के प्रयास सुविवेचित और सचेत रूप में इस लाभ दर को सभी सहभागियों के लिए समान बनाने की ओर निदेशित होते हैं। लेवांत में वेनिसियाई, और उत्तर में हांज़ाई व्यापारियों में हर कोई अपनी जिंसों के लिए अपने पड़ोसी जितने ही दाम देता था; उसकी परिवहन लागत उतनी ही थी, वह अपने मालों के लिए उतने ही दाम पाता था और वापसी यात्रा का माल उतने ही दामों पर ख़रीदता था कि जितने पर उसके "राष्ट्र" का हर और व्यापारी। अतः, लाभ दर सभी के लिए समान थी। बड़ी व्यापार कंपनियों में लाभ का प्रदत्त पूंजी अंश के pro rata [यथानुपात] विनिधान उतनी ही स्वाभाविक बात है कि जितनी प्राप्य जोत अंश के pro rata मार्क अधिकारों में सहभागिता, या जितना खदान अंश के pro rata खदान लाभ। इस प्रकार, समान लाभ दर, जो अपने पूर्णतः विकसित रूप में पूंजीवादी उत्पादन के अंतिम परिणामों में एक है, यहां अपने सरलतम रूप में एक ऐसे बिंदु की तरह, जिससे पूंजी का इतिहासतः उदय हुआ है, वास्तव में मार्क समुदाय के एक प्रत्यक्ष प्ररोह की तरह, जो अपनी बारी में आदिम साम्यवाद का एक प्रत्यक्ष प्ररोह है, अभिव्यक्त होती है।

यह प्रारंभिक लाभ दर अनिवार्यरूपेण बहुत ऊंची थी। व्यापार अत्यधिक जोखिम का था और केवल व्यापक जलदस्युता के कारण ही नहीं; प्रतिद्वंद्वी राष्ट्र स्वयं अवसर उत्पन्न होने पर सभी तरह की हिंसात्मक कार्रवाइयां करने से नहीं कतराते थे; अंततः, बिक्रियां और विपणन अवस्थाएं विदेशी राजाओं द्वारा प्रदत्त अनुज्ञप्तियों पर आधारित होती थीं, जो बहुधा तोड़ी जाती थीं या मंसूख होती रहती थीं। अतः, लाभ में ऊंचे बीमा अधिशुल्क का समाविष्ट होना आवश्यक था। फिर पण्यावर्त बहुत मंथर था, लेन-देन में बहुत देर लगती थी और अच्छे से अच्छे दौरों में भी, जो निस्संदेह, कदाचित ही लंबे अरसे के होते थे, कारबार एकाधिकारी लाभ के साथ एकाधिकार व्यापार ही था। उस समय प्रचलित अत्यधिक ऊंची व्याज दरें, जिन्हें सदा कुल मिलाकर सामान्य वाणिज्यिक लाभ के प्रतिशतांशों से नीची ही होना होता था, भी यही सिद्ध करती हैं कि लाभ दर औसत रूप में बहुत ऊंची थी।

लेकिन यह ऊंची, सभी सहभागियों के लिए समान, और समुदाय के संयुक्त प्रयास की बदौलत प्राप्त लाभ दर केवल स्थानिक रूप में संघों के भीतर ही, अर्थात इस प्रसंग में अलग-अलग "राष्ट्रों" के भीतर ही, लागू होती थी। वेनिसियाइयों, जेनोआइयों, हांजाइयों और डचों में से प्रत्येक की एक विशेष लाभ दर थी और आरंभ में प्रत्येक पृथक विपणन क्षेत्र के लिए भी थी। इन भिन्न कंपनी लाभ दरों का समकरण प्रतिद्वंद्विता के ज़रिये उलटे तरीक़े से होता था। पहले उस एक ही राष्ट्र के लिए विभिन्न बाज़ारों की लाभ दरों का समकरण होता था। अगर सिकंदरिया वेनिसियाई मालों के लिए साइप्रस, कुस्तुंतुनिया या त्रबज़ांद की अपेक्षा अधिक लाभ प्रदान करता था, तो वेनिसियाई अन्य बाज़ारों के साथ व्यापार से निकालकर अधिक पूंजी को सिकंदरिया भेजना शुरू कर देते थे। इसके बाद उन्हीं बाज़ारों को वही अथवा एक जैसे मालों का निर्यात करनेवाले विभिन्न राष्ट्रों के बीच लाभ दरों का क्रमिक समकरण होना अवश्यंभावी ही था, और इनमें से कुछेक राष्ट्र तो बहुधा भिंचते-भिंचते बिलकुल किनारे पर ही पहुंच जाते थे और रंगमंच से ही विलुप्त हो जाते थे। लेकिन इस प्रक्रिया में राजनीतिक घटनाचक्र के परिणामस्वरूप निरंतर व्यतिक्रम होता रहता था, जैसे मंगोल तथा तुर्क आक्रमणों के कारण सारा लेवांती व्यापार ध्वस्त हो गया; १४६२ के बाद की महान भौगोलिक-वाणिज्यिक खोजों ने इस ह्रास को केवल त्वरित ही किया और फिर उसे उसकी परिणति पर पहुंचा दिया।

इसके बाद होनेवाले विपणन क्षेत्र के सहसा प्रसार और उससे संबद्ध संचार में क्रांति के परिणामस्वरूप व्यापारिक कारबार के स्वरूप में आरंभ में कोई तात्विक अंतर नहीं आया। आरंभ में भारत तथा अमरीका के साथ व्यापार पर सहकारी कंपनियों का भी प्रभुत्व था। लेकिन पहली बात तो यही है कि इन कंपनियों की पीठ पर अधिक बड़े राष्ट्र थे। लेवांत के साथ व्यापार करनेवाले कैटेलोनियाइयों का स्थान अमरीका के साथ व्यापार में सारे विशाल संयुक्त स्पेन ने और उसके साथ-साथ इंगलैंड तथा फ़्रांस जैसे दो बड़े देशों ने ले लिया; और सबसे छोटे देश, हॉलैंड तथा पुर्तगाल तक कम से कम इतने बड़े और शक्तिशाली थे कि जितना वेनिस था, जो पूर्ववर्ती युग का महानतम तथा प्रबलतम व्यापारिक राष्ट्र था। इससे सफ़री सौदागर, सोलहवीं-सत्रहवीं सदियों के merchant adventurer को एक ऐसा समर्थन प्राप्त हो गया, जिसने कंपनी को, जो अपने सदस्यों की हथियारों से भी रक्षा करती थी, अधिकाधिक अनावश्यक और उसके व्ययों को पूर्णतया भार बना दिया। इसके अलावा, अकेले हाथ में धन कहीं अधिक तेज़ी के साथ बढ़ने लग गया, जिससे अकेले व्यापारियों के लिए किसी उद्यम में

जल्दी से उतनी ही बड़ी रकमें लगाना संभव हो गया, जितनी पहले एक पूरी कंपनी लगा पाती थी। जहां कहीं भी वे अब भी अस्तित्वमान थीं, व्यापार कंपनियों को आम तौर पर सशस्त्र निगमों में परिवर्तित कर लिया गया, जो अपने मातृ देश के संरक्षण और प्रभुता के अंतर्गत पूरे के पूरे नये खोजे देशों को जीतती और उनका एकाधिकारी शोषण करती थीं। लेकिन नये इलाक़ों में जितना ही अधिक उपनिवेशों की, अधिकांशतः राज्य द्वारा, स्थापना होती गयी, उतना ही अधिक कंपनी व्यापार पृथक व्यापारी के व्यापार के मुक़ाबले पीछे हटता चला गया, और उसके साथ-साथ लाभ दर का समकरण अधिकाधिक अनन्यरूपेण प्रतिद्वंद्विता का विषय बनता गया।

अभी तक हम केवल व्यापारी पूंजी के लिए लाभ दर से ही परिचित हुए हैं। कारण यह कि इस समय तक केवल व्यापारी और सूदख़ोर पूंजी का ही अस्तित्व था; औद्योगिक पूंजी को तो अभी विकसित होना ही था। उत्पादन अब भी मुख्यतः अपने उत्पादन साधनों के स्वामी श्रमिकों के ही हाथों में था, फलतः जिनका कार्य किसी पूंजी के लिए कोई बेशी मूल्य नहीं उत्पन्न करता था। अगर उन्हें अपने उत्पाद का कुछ भाग अन्य पक्षों को बिना किसी मुआवज़े के देना भी पड़ता था, तो वह सामंती प्रभुओं को ख़िराज के रूप में था। अतः व्यापारी पूंजी अपना लाभ केवल, कम से कम आरंभ में, स्वदेशी उत्पाद के विदेशी क्रेताओं से, या विदेशी उत्पादों के स्वदेशी क्रेताओं से ही बना सकती थी। इस काल के अंत की तरफ़ जाकर ही – अर्थात लेवांती व्यापार के ह्रास के साथ इटली के लिए – विदेशी प्रतिद्वंद्विता और विपणन की कठिनाई निर्यात मालों के दस्तकार उत्पादकों को अपनी जिंस निर्यातक व्यापारी को उसके मूल्य के नीचे बेचने को विवश कर सकीं। और इस प्रकार हम यहां पाते हैं कि जिंसें अलग-अलग उत्पादकों के एक दूसरे के साथ आंतरिक खुदरा व्यापार में तो औसत रूप में अपने मूल्यों पर बिकती हैं, मगर दिये गये कारणों से सामान्यतः अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में नहीं। आज की दुनिया के सर्वथा विपरीत, जहां अंतर्राष्ट्रीय तथा थोक व्यापार में तो उत्पादन दाम प्रभावी रहते हैं, जबकि शहरी खुदरा व्यापार में दामों की रचना बिलकुल दूसरी लाभ दरों से शासित होती है। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, बैल के मांस के दाम में आज लंदन में थोक विक्रेता के यहां से लंदन में ही व्यष्टिक उपभोक्ता के पास पहुंचने में उससे अधिक चढ़ाव आ जाता है, जितना शिकागो में थोक विक्रेता के यहां से लंदन के थोक विक्रेता के पास, परिवहन लागत सहित, आता है।

दामों की रचना में यह क्रमिक क्रांति लानेवाला उपकरण औद्योगिक पूंजी थी। उसके अंकुर तो ठेठ मध्य युग में ही तीन क्षेत्रों – जहाज़रानी, खनन तथा वस्त्रोद्योग – में उत्पन्न हो चुके थे। इतालवी और हांज़ाई सामुद्रिक गणराज्य जिस पैमाने पर जहाज़रानी करते थे, वह नाविकों, अर्थात उजरती मज़दूरों (जिनका उजरत संबंध लाभ सहभाजन के साथ साहचर्य रूपों में छिपा हो सकता था) के बिना, या उस समय के डांड़दार जहाज़ों के लिए खेवटियों – उजरती मज़दूरों या दासों – के बिना असंभव था। अयस्क खदानों में श्रेणियां, जो मूलतः सहयोगी श्रमिकों की ही हुआ करती थीं, लगभग हर मामले में उजरती मज़दूरों के ज़रिये निक्षेपों का संदोहन करने के लिए संयुक्त पूंजी कंपनियों में परिवर्तित हो भी चुकी थीं। और वस्त्र उद्योग में व्यापारी ने छोटे मालिक बुनकर को बंधी हुई मज़दूरी के बदले उसे सूत की पूर्ति करके और उससे अपने लिए कपड़ा बुनवाकर, संक्षेप में, स्वयं मात्र क्रेता से तथाकथित **ठेकेदार** में बदलकर, सीधे अपनी सेवा में लाना शुरू कर दिया था।

यहां हम अपने सामने पूंजीवादी बेशी मूल्य की रचना के पहले अंकुरों को देखते हैं। खनन श्रेणियों को हम संवृत एकाधिकार निगमों की तरह मानकर अलग रहने दे सकते हैं। जहां तक पोतस्वामियों की बात है, यह प्रत्यक्ष है कि उनके लाभ का कम से कम इतना ऊंचा होना तो अवश्यंभावी ही था कि उसमें देश में प्रचलित लाभ के अलावा बीमे, जहाज़ों की टूट-फूट, आदि के लिए कुछ अतिरिक्त वृद्धि शामिल हो। लेकिन वस्त्र उद्योग में ठेकेदारों के मामले में क्या बात थी, जो सीधे पूंजीपति के निमित्त निर्मित मालों को पहले-पहल बाज़ार में और दस्तकार के निमित्त बनाये गये उसी प्रकार के मालों की प्रतिद्वंद्विता में लाये थे?

इसके लिए व्यापारी पूंजी की लाभ दर पहले से ही मौजूद थी। इसी प्रकार उसका एक निकट औसत दर पर समकरण भी हो चुका था, कम से कम विचाराधीन इलाक़े के लिए। अब भला वह क्या चीज़ थी, जो व्यापारी को ठेकेदार का अतिरिक्त काम हाथ में लेने को प्रेरित कर सकती थी? सिर्फ़ एक ही चीज़: औरों के बराबर ही विक्रय दाम पर अधिक लाभ की संभावना। और यह संभावना मौजूद थी। छोटे मालिक को अपनी सेवा में लाकर उसने उत्पादन के उन पारंपरिक बंधनों को तोड़ दिया, जिनके भीतर उत्पादक बस अपना तैयार उत्पाद ही बेचता था और उसके सिवा और कुछ नहीं। व्यापारी पूंजीपति ने श्रम शक्ति को ख़रीद लिया, जो अपने उत्पादन साधनों की तो अब भी स्वामी थी, लेकिन अब कच्चे मालों की नहीं रही थी। बुनकर को इस प्रकार नियमित काम प्रत्याभूत करके वह बुनकर की मज़दूरी को इस हद तक कम कर सकता था कि उसके द्वारा प्रदत्त श्रम काल का एक हिस्सा अशोधित रहता था। इस प्रकार ठेकेदार अपने वाणिज्यिक लाभ के अलावा बेशी मूल्य का हस्तगतकर्ता भी बन गया। बेशक, उसे सूत ख़रीदने, आदि के लिए अतिरिक्त पूंजी का उपयोग करना होता था और उसे बुनकर के हाथों में उस समय तक रहने देना होता था कि जब तक वह माल तैयार नहीं हो जाता था, जिसके लिए पहले उसे पूरा दाम उसके बन जाने पर ख़रीदते समय ही देना होता था। लेकिन, पहली बात तो यही है कि वह पहले भी अधिकांश मामलों में बुनकर को पेशगियां देने के लिए अतिरिक्त पूंजी का उपयोग करता था, जो सामान्यतः सिर्फ़ क़र्ज़ के दबाव में ही नयी उत्पादनावस्थाओं के अधीन आता था। और दूसरे, इसके अलावा, परिकलन यह रूप लेता था:

मान लीजिये कि हमारा व्यापारी अपना निर्यात व्यवसाय ३०,००० दुकात, सीक्विन, पाउंड स्टर्लिंग, या जो भी सिक्का हो, की पूंजी से करता है। इसमें से मान लीजिये कि १०,००० स्वदेशी मालों की ख़रीदारी में लगे हुए हैं और २०,००० का उपयोग विदेशी बाज़ार में किया जाता है। मान लीजिये कि पूंजी दो वर्ष में एक बार आवर्तित होती है। अतः वार्षिक आवर्त = १५,००० हुआ। अब हमारा व्यापारी ठेकेदार बनना, स्वयं अपने लिए कपड़ा बुनवाना चाहता है। इसके लिए उसे कितनी अतिरिक्त पूंजी का निवेश करना होगा? मान लीजिये कि उसके द्वारा बेचे जानेवाले एक नग कपड़े का उत्पादन काल औसतन दो महीने है, जो निश्चय ही बहुत अधिक है। इसके अलावा यह भी मान लीजिये कि उसे हर चीज़ की नक़द अदायगी करनी होती है। अतः उसे इतनी अतिरिक्त पूंजी पेशगी देनी होगी कि वह उसके बुनकरों को दो महीने के सूत की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त रहे। चूंकि उसका आवर्त १५,००० प्रति वर्ष है, इसलिए वह दो महीने में २,५०० का कपड़ा ख़रीदता है। मान लेते हैं कि इसमें से २,००० सूत के मूल्य को, और ५०० बुनकर की मज़दूरी को प्रकट करते हैं; तब हमारे व्यापारी को २,००० की अतिरिक्त पूंजी की आवश्यकता होगी। हम मान लेते हैं कि बुनकर से वह नयी

पद्धति से जिस बेशी मूल्य का हस्तगतकरण करता है, वह कपड़े के मूल्य का सिर्फ़ ५ प्रतिशत ही है, जिससे २५ प्रतिशत की निश्चय ही अत्यंत सामान्य बेशी मूल्य दर ही प्राप्त होती है। ($२,०००_c + ५००_v + १२५_s$; $s' = \frac{१२५}{५००} = २५\%$; $p' = \frac{१२५}{२,५००} = ५\%$।) इस प्रकार हमारा व्यापारी अपने १५,००० के वार्षिक आवर्त पर ७५० का अतिरिक्त लाभ बनाता है और इस तरह से अपनी अतिरिक्त पूंजी को २ २/३ साल में वापस पा लेता है।

लेकिन अपनी बिक्री को, और फलतः अपने आवर्त को त्वरित करने, और इस प्रकार उतनी ही पूंजी से उतना ही लाभ कम समय के भीतर बनाने, अतः उतने ही समय में अधिक लाभ बनाने के लिए वह अपने बेशी मूल्य का एक छोटा सा अंश ग्राहक को दे देगा – वह अपने प्रतिद्वंद्वियों की तुलना में सस्ता बेचेगा। अंतोक्त भी धीरे-धीरे ठेकेदारों में परिवर्तित हो जायेंगे, और तब अतिरिक्त लाभ उन सभी के लिए पूंजी पर, जो उन सभी के लिए बढ़ गयी है, साधारण लाभ, या उससे भी नीचे लाभ में बदल जायेगा। लाभ दर की समानता, चाहे संभवतः एक और स्तर पर ही सही, देश में बनाये गये बेशी मूल्य के एक भाग के विदेशी ग्राहकों को अंतरित कर दिये जाने के ज़रिये पुनःस्थापित हो जाती है।

उद्योग के पूंजी द्वारा अधीनीकरण में अगला क़दम मैनुफ़ेक्चर का आगमन है। यह कारख़ानेदार के लिए, जो सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में, – जर्मनी में ठेठ १८५० तक, और जहां-तहां तो आज भी – अधिकांशतः अपना निर्यात व्यापारी आप होता है, अपने पुराने ढंग के प्रतिद्वंद्वी, दस्तकार, के मुक़ाबले माल को सस्ता पैदा करना संभव बना देता है। उसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है; विनिर्माता पूंजीपति द्वारा हस्तगत बेशी मूल्य उसे (अथवा उसके हिस्सेदारी करनेवाले निर्यात व्यापारी को) अपने प्रतिद्वंद्वियों के मुक़ाबले सस्ता बेचने में समर्थ बना देता है, जब तक कि नयी उत्पादन प्रणाली का आम प्रचलन नहीं हो जाता, जब लाभ समकरण फिर से होता है। पहले से विद्यमान वाणिज्यिक लाभ दर, चाहे वह स्थानिकतः ही समकृत क्यों न हो, वह प्रोक्रस्तियाई शय्या बनी रहती है, जिसमें अतिशय औद्योगिक बेशी मूल्य को निर्ममतापूर्वक काट दिया जाता है।

अगर मैनुफ़ेक्चर अपने उत्पादों के सस्ता होने की बदौलत आगे निकल गया, तो आधुनिक उद्योग के बारे में तो यह बात और भी ज़्यादा सही है, जो जिंसों की उत्पादन लागतों को उत्पादन में बारंबार क्रांतियों द्वारा, सभी पुरानी उत्पादन प्रणालियों का निर्ममतापूर्वक विलोपन करते हुए, अधिकाधिक घटाता जाता है। यह भी बड़े पैमाने का उद्योग ही है कि जो अंततः स्वदेशी बाज़ार को पूंजी के लिए पराभूत करता है, छोटे पैमाने के उत्पादन और स्वावलंबी काश्तकार कुटुंब की नैसर्गिक अर्थव्यवस्था का अंत करता है, छोटे उत्पादकों के बीच प्रत्यक्ष विनिमय को मिटाता है और पूरे राष्ट्र को पूंजी की ताबेदारी में लगा देता है। इसी प्रकार, वह विभिन्न वाणिज्यिक तथा औद्योगिक शाखाओं में लाभ दर को एक सामान्य लाभ दर में समीकृत कर देता है, और अंत में पूंजी के एक शाखा से दूसरी शाखा को अंतरण को रोकनेवाली अधिकांश बाधाओं को ख़त्म करके इस समकरण की बदौलत उद्योग के लिए प्रभुत्व की स्थिति सुनिश्चित करता है। इससे समूचे तौर पर समस्त विनिमय के लिए मूल्यों के उत्पादन दामों में रूपांतरण की सिद्धि हो जाती है। अतः यह रूपांतरण वस्तुगत नियमों के अनुसार, सहभागियों की जानकारी या इच्छा के बिना होता है। इस तथ्य में कि प्रतिद्वंद्विता उन लाभों को घटाकर सामान्य स्तर पर ले आती है, जो सामान्य दर से अधिक होते हैं, और इस प्रकार पहले

औद्योगिक हस्तगतकर्ता को औसत से अधिक बेशी मूल्य से फिर से वंचित करती है, सैद्धांतिक रूप में कोई कठिनाई नहीं है। तथापि, व्यवहार में यह कठिनाई और भी अधिक होती है, क्योंकि अत्यधिक बेशी मूल्यवाले, उच्च परिवर्ती तथा निम्न स्थिर पूंजीवाले, अर्थात निम्न पूंजी संरचनावाले उत्पादन क्षेत्र ही अपने स्वभाव से ऐसे क्षेत्र होते हैं, जो पूंजीवादी उत्पादन के अधीन सबसे बाद में और सबसे कम आते हैं; यह बात कृषि पर विशेषकर लागू होती है। दूसरी ओर, उत्पादन दामों का पण्य मूल्यों के ऊपर चढ़ना, जो उच्च पूंजी संरचना के क्षेत्रों के उत्पादों में समाविष्ट औसत से बेशी मूल्यों को चढ़ाने के लिए आवश्यक होता है, सैद्धांतिक दृष्टि से अत्यत कठिन प्रतीत होता है, किंतु व्यवहार में, जैसे कि हम देख भी चुके हैं, सबसे जल्दी और सबसे आसानी से संपन्न हो जाता है। कारण कि जब इस संवर्ग की जिंसें पहली बार पूंजीवादी ढंग से उत्पादित होती और पूंजीवादी वाणिज्य में प्रवेश करती हैं, तो वे प्राक्-पूंजीवादी पद्धतियों से उत्पादित और इसलिए अधिक महंगी जिंसों से प्रतिद्वंद्विता करती हैं। अतः, पूंजीवादी उत्पादक बेशी मूल्य के एक हिस्से का अगर त्याग भी कर देता है, तो भी वह अपने इलाक़े में प्रचलित लाभ दर को तो अब भी प्राप्त कर ही सकता है, जिसका मूलतः बेशी मूल्य के साथ कोई प्रत्यक्ष संबंध न था, क्योंकि वह व्यापारी पूंजी से पूंजीवादी उत्पादन के सर्वथा अस्तित्व में आने के भी बहुत पहले ही, फलतः औद्योगिक लाभ दर के संभव होने के भी पहले ही उत्पन्न हो चुकी थी।

२
शेयर बाज़ार

१. पूंजीवादी उत्पादन में शेयर बाज़ार की स्थिति सामान्य रूप में खंड ३, भाग ५, विशेषकर अध्याय ** से स्पष्ट है। लेकिन १८६५, जब यह पुस्तक लिखी गयी थी, के बाद एक ऐसा अंतर आ गया है, जो आज शेयर बाज़ार को कहीं अधिक और लगातार बढ़ती भूमिका प्रदान करता जाता है, और जो अपने विकास के साथ-साथ समस्त, औद्योगिक और ऐसे ही कृषिजन्य, उत्पादन, और सारे वाणिज्य, संचार साधनों और ऐसे ही विनिमय के कृत्यों को भी शेयर बाज़ार के कर्ता-धर्ताओं के हाथों में संकेंद्रित करता जाता है, जिससे शेयर बाज़ार स्वयं पूंजीवादी उत्पादन का सबसे प्रमुख प्रतिनिधि बन जाता है।

२. १८६५ में शेयर बाज़ार पूंजीवादी व्यवस्था में अभी एक **गौण** तत्व ही था। सरकारी बांड अधिकांश विनिमय प्रतिभूतियों को द्योतित करते थे और उनका कुल योग भी अभी अपेक्षाकृत कम ही था। इसके अलावा, संयुक्त पूंजी बैंक भी थे, जिन्हें महाद्वीप और अमरीका में तो प्रमुखता प्राप्त थी और जिन्होंने इंगलैंड में भी अभिजात निजी बैंकों को आत्मसात करना अभी शुरू ही किया था, किंतु en masse [समूचे तौर पर] जो अभी अपेक्षाकृत महत्वहीन ही थे। रेलों के शेयर आज की तुलना में अब भी अपेक्षाकृत कमज़ोर थे। ज्वाइंट स्टाक कंपनी के रूप में अब भी बहुत कम ही प्रत्यक्षतः उत्पादक प्रतिष्ठान थे – और, बैंकों की ही भांति, वे सबसे अधिक **निर्धनतर** देशों – जर्मनी, ऑस्ट्रिया, अमरीका, आदि – में ही थे। "कर्ता की आंख" अब भी एक सर्वव्यापी अंधविश्वास थी।

उस समय शेयर बाज़ार अभी वह जगह ही था, जहां पूंजीपति एक दूसरे की संचित पूंजी को छीनते थे और जिसका श्रमिकों से सिर्फ़ पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के सामान्य भ्रष्टकर प्रभाव के एक नये प्रमाण और इस काल्विनी सिद्धांत की पुष्टि के नाते ही सरोकार था कि पूर्वविधान (उर्फ़ मौक़ा) इस जीवन में भी सौभाग्य और दुर्भाग्य, संपन्नता, अर्थात आनंद और शक्ति, और विपन्नता, अर्थात निर्धनता और दासता का निर्धारण करता है।

३. अब बात दूसरी है। १८६६ के संकट के बाद से संचय लगातार बढ़ती तेज़ी के साथ होता रहा है, जिससे किसी भी औद्योगिक देश में, इंगलैंड में तो और भी, उत्पादन का प्रसार संचय के प्रसार का साथ नहीं दे सका है, या एकल पूंजीपति के संचय का स्वयं अपने व्यवसाय को बढ़ाने में उपयोग नहीं किया जा सका है; मसलन, १८४५ में भी इंगलैंड का सूती उद्योग;

---

* पांडुलिपि में एंगेल्स का दिया शीर्षक है 'शेयर बाज़ार, "पूंजी", खंड ३ की अनुपूरक टिप्पणियां'। – सं०

** पांडुलिपि में एंगेल्स ने अध्याय संख्या भरी जाने के लिए जगह ख़ाली छोड़ दी है। प्रत्यक्षतः उनका अभिप्राय अध्याय २७, 'पूंजीवादी उत्पादन में उधार की भूमिका' से था। – सं०

रेलों के घोटाले। इस संचय के साथ rentiers, उन लोगों की संख्या भी बढ़ती गयी, जो व्यवसाय के नियमित तनाव से आजिज़ आ गये थे और इसलिए अपने को कंपनियों के निदेशकों अथवा शासकों के नरम धंधों से ही बहलाना चाहते थे। और तीसरे, द्रव्य पूंजी के रूप में तिरती इस राशि के निवेश को सुगम बनाने के लिए वहां भी सीमित देयता कंपनियों के नये विधिक रूपों की स्थापना की गयी, जहां अभी तक ऐसा नहीं किया गया था, और अंशधारी की देयता को भी, जो पहले असीमित थी, ± [ज्यादा या कम] घटा दिया गया (१८९० में जर्मनी की संयुक्त पूंजी कंपनियां। अभिदान ४० प्रतिशत!)।

४. तदुपरांत उद्योग का संयुक्त पूंजी कंपनियों में क्रमिक रूपांतरण। एक के बाद दूसरी शाखा की यही गति होती है। सबसे पहले लौह उद्योग में, जहां विराट कारख़ाने अब आवश्यक हैं (उसके भी पहले खदानें, जहां वे पहले ही शेयरों के आधार पर संगठित नहीं थीं)। इसके बाद रसायन उद्योग, और इसी प्रकार मशीन निर्माण कारख़ाने। महाद्वीप पर वस्त्र उद्योग; इंगलैंड में सिर्फ़ लंकाशायर के कुछ क्षेत्रों में ही (ओल्डहैम कताई मिल, बर्नली बुनाई मिल, आदि, सिलाई सहकारिताएं, लेकिन अभी यह प्रारंभिक अवस्था ही है, क्योंकि अगले संकट के आने के साथ ये दुबारा मालिकों के हाथों में पड़ जायेंगी), बियर निर्माणशालाएं (कुछ साल पहले आंग्ल पूंजी को बेची गयी अमरीकी बियर निर्माणशालाएं, फिर गिन्नीज, बैस, ऑल्साप)। इसके बाद ट्रस्ट, जो संयुक्त प्रबंध के अधीन विराट उद्यमों की स्थापना करते हैं (जैसे युनाइटेड ऐल्कली)। साधारण अकेली फ़र्म अधिकाधिक व्यवसाय को उस बिंदु पर लाने की प्रारंभिक मंजिल ही होती चली जाती है, जहां वह इतनी बड़ी हो जाती है कि "संस्थापित" हो सके।

इसी प्रकार व्यापार में भी है: लीफ़्स, पार्सस, मॉर्लीज, मॉरिसन, डिल्लन– सभी संस्थापित ही हैं। खुदरा भंडारों में भी अब यही देखा जाता है, और वह भी केवल a la "stores" [बतर्ज सहकारी दूकान] सहकारिता की ओट में ही नहीं।

इसी प्रकार इंगलैंड तक में बैंक तथा अन्य उधार प्रतिष्ठान। बेशुमार नये बैंक, सभी के शेयर परिसीमित। पुराने बैंक तक, यथा...*, आदि सात वैयक्तिक अंशधारियों के साथ सीमित कंपनियों में परिवर्तित हो गये हैं।

५. कृषि के क्षेत्र में भी ऐसा ही है। अत्यधिक विस्तारित बैंक, विशेषकर भांति-भांति के नौकरशाहाना नामों से जर्मनी में, अधिकाधिक बंधकधारी होते जा रहे हैं; उनके शेयरों के साथ भू-संपत्ति का वास्तविक उच्च स्वामित्व शेयर बाजार को अंतरित हो जाता है, और फ़ार्मों के लेनदारों के हाथों में पड़ने के मामले में तो यह बात और भी सही है। यहां प्रेयरी प्रदेशों की कृषि क्रांति बहुत प्रभावोत्पादक है; अगर यह जारी रहती है, तो उस समय का अनुमान लगाया जा सकता है कि जब इंगलैंड की और फ़्रांस की भी जमीन शेयर बाजार के क़ब्ज़े में पहुंच जायेगी।

६. सारा विदेशी निवेश अब शेयरों के रूप में है। इंगलैंड का ही उल्लेख किया जाये, तो: अमरीकी रेलें, नॉर्थ एंड साउथ (शेयर बाजार की सूची देखें), गोल्डबर्गर, आदि।

७. फिर उपनिवेशन। आज यह विशुद्धतः शेयर बाजार का पूरक है, जिसके हितार्थ यूरोपीय शक्तियों ने कुछ साल पहले अफ़्रीका का विभाजन किया, और फ़्रांसीसियों ने ट्यूनिस तथा तोंकिन को जीता। अफ़्रीका सीधे पट्टे पर कंपनियों को दे दिया गया (नाइजर, दक्षिण अफ़्रीका, जर्मन दक्षिण-पश्चिमी तथा जर्मन पूर्वी अफ़्रीका), और मैशोनालैंड तथा नेटाल को रोड्स ने शेयर बाजार के लिए दबोच लिया।

---

* अस्पष्ट। यह 'ग्लिन एंड कंपनी' हो सकता है, जो एक बैंक था।–सं०

नाम-निर्देशिका

अ

अरस्तू (Aristotle) (३८४–३२२ ई० पू०)– ३३५, ३३६, ७८४

आ

आर्न्द, कार्ल (Arnd, Karl) (१७८८–१८७७)– ३१७, ६९७

आर्बथनॉट, जार्ज (Arbuthnot, George) (१८०२–१८६५)– ४८३

ए

एंगेल्स, फ्रेडरिक (Engels, Friedrich) (१८२०–१८९५)– २४, ६९, ७५, १०४, ११३, ११५, ११७, १२८, १३४, १४०, १६०, २०२, २३१, २६२, २९२, ३३८, ३५८, ३६६, ३७८, ३८६, ४००, ४०१, ४१२, ४१८, ४३०, ४४१, ४५५, ४६१, ४६५, ४६९, ४७८, ४८३, ४८९, ४९६, ५०१, ५०४, ५०६, ५१४, ५३१, ५४४, ६१७, ६२९, ६४१, ६५४, ६५९, ६८३, ६८८, ७१८, ७७७, ७८४, ७९७

एटवुड, टॉमस (Attwood, Thomas) (१७८३–१८५६)– ४७४, ४९३

एटवुड, मातिग्रस (Attwood, Matthias) (१७७९–१८५१)– ४७४, ४९२

एपिक्यूरस (Epicurus) (३४१–२७१ ई० पू०)– २८८, ५२५

ऐ

ऐन (Anne) (१६६५–१७१४)– इंगलैंड की महारानी (१७०२–१७१४)– ५३६

ऐशले, ऐण्टनी कूपर (Ashley, Antony Cooper) (१८०१–१८८५)– ५५१

ओ

ओ'कॉनर, चार्ल्स (O'Connor, Charles) (१८०४–१८८४)– ३३६

ओपडाइक, जार्ज (Opdyke, George) (१८०५–१८८०)– ३१६, ५८७

ओवरस्टोन – देखिये लॉयड।

ओवेन, रॉबर्ट (Owen, Robert) (१७७१–१८५८)– ५३१

क

कॉटन, विलियम (Cotton, William) (१७८५–१८६६)– ३६६

कातो, मार्कूस पोर्कूस उतिसेनसीस (Cato, Marcus Porcius Uticensis) (२३४–१४९ ई० पू०)– ३३५, ६९५, ६९५

किनकेड, जॉन (Kincaid, John) (१७८७–१८६२)– ८६

किन्नियर, जे० जी० (Kinnear J. G.)– ३८९, ४६३

कीसेलबाख, विल्हेल्म (Kiesselbach, Wilhelm) (१९ वीं सदी का उत्तरार्द्ध)– २८६

केतले, लम्बेर्ट अदोल्फ़ जाक्वेस (Quetélet, Lambert Adolphe Jacques) (१७९६–१८७४)– ७५६

कैंतिलों, फ़िलिप रिचर्ड (Cantillon, Philipp Richard) (१६८०-१७३४)- ६६२
केरी, हेनरी चार्ल्स (Carey, Henry Charles) (१७९३-१८७९)-१०७, १३८, ३४७, ५२३, ५४६, ६८४
कोंत, फ़्रांस्वा चार्ल्स लुई (Comte, François Charles Louis) (१७८२-१८३७) - ५४२
क्ले, विलियम (Clay, William) (१७९१-१८६९)-४८३

ग

गर्नी, सैम्युएल (Gurney, Samuel) (१७८६-१८५६)-३६०, ३६३, ३६५, ३६९, ४६१, ४६५, ४७४, ४७९, ५०५
गिलबर्ट, जेम्स विलियम (Gilbart, James William) (१७९४-१८६३)-२९६, ३१४, ३५३, ३५६, ४७५, ४७६, ४७९, ५३६
गेरीबाल्डी, जुज़ेप्पे (Garibaldi, Giuseppe) (१८०७-१८८२)-२७
ग्रेग, रोबर्ट हाइड (Greg, Robert Hyde) (१७९५-१८७५)-१०२

च

चाइल्ड, जोजिया (Child, Josiah) (१६३०-१६९९)-३४६, ५२९, ५३०
चार्ल्स (Charles) (१६३०-१६८५)-अंग्रेजी राजा (१६६०-१६८५)-५२८, ५३६
चैंबरलेन, ह्यू (Chamberleyne, Hugh) (१६३०-१७२०)-५२८
चैमर्स, टॉमस (Chalmers, Thomas) (१७८०-१८४७)-२१८, ३८८

ज

जॉन्स्टन, जेम्स (Johnston, James) (१७९६-१८५५)-५४१, ५४२, ५८८
जेम्स प्रथम (James I) (१५६६-१६२५)-अंग्रेजी राजा (१६०३-१६२५)-५३६
जेवंस, विलियम स्टेनली (Jevons, William Stanley) (१८३५-१८८५)-१८
ज़ोंबार्त, वेर्नर (Sombart, Werner) (१८६३-१९४१)-७८५, ७८६
जोन्स, रिचर्ड (Jones, Richard) (१७९०-१८५५)-२३४, ६७१, ६९०

ट

टॉमस, सिडनी गिलक्राइस्ट (Thomas, Sydney Gilchrist) (१८५०-१८८५)-७०
टॉरेंस, रॉबर्ट (Torrens, Robert) (१७८०-१८६४)-४२, ४७, १०१, ३०९, ४८३
टूक, टॉमस (Tooke, Thomas) (१७७४-१८५८)-३०९, ३१४, ३२३, ३२४, ३५०, ३५१, ३५३, ३६७, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२, २९५, ३९८, ४०३, ४२६, ४६२, ४७२, ४८५, ४९०, ५००, ५०३, ५०४, ७१२, ७४२

ड

डव, पटरिक एडवर्ड (Dove, Patrick Edward) (१८१५-१८७३)-५५५, ५६०
डिसरायली, बेंजामिन (Disraeli, Benjamin) (१८०४-१८८१)-३६६
डेवनंट, चार्ल्स (Davenant, Charles) (१६५६-१७१४)-५७९

त

तुर्गो, एन रॉबर्ट (Turgot, Anne Robert) (१७२७-१७८१)-५४६

थ

थियेर, लुई अदोल्फ़ (Thiers, Louis Adolphe) (१७९७-१८७७)-५४७

द

दान्ते, आलिगियेरी (Dante, Alighieri) (१२६५–१३२१)– २७

दैर, लुई फ़्रांसुआ एजेन (Daire, Louis François Eugène (१७९८–१८४७)– ६९४

दोंबाल, क्रिस्तोफ़ जोज़ेफ़ अलेक्सान्द्र मात्ये, दे (Dombasle, Christophe Joseph Alexandre Mathieu, de) (१७७७–१८४३)– ६७१, ७१६

न

नार्थ, डडली (North, Dudley) (१६४१–१६९१)– ५३०, ५४६

नॉर्मन, जार्ज वार्ड (Norman, George Warde) (१७९३–१८८२)– ३६७, ३६८, ३७६, ४८३, ४८४

नैस्मिथ, जेम्स (Nasmyth, James) (१८०८–१८९०)– ९२

न्यूमार्च, विलियम (Newmarch, William) (१८२०–१८८२)– ४६१, ४७५, ४७७, ४९८, ४९९, ५०१-५०३, ५०५, ५०९-५१४

न्यूमैन, फ़ांसिस विलियम (Newman, Francis William) (१८०५–१८९७) – ५२२, ५७६, ७१५

न्यूमैन, सैम्युएल फ़िलिप्स (Newman, Samuel Philipps) (१७९७–१८४२)– २४५, ६८३

प

पामर, जॉन होर्सली (Palmer, John Horsley) (१७७९–१८५८)– ४९१, ४९२, ५०१

पामर्स्टन, हेनरी जॉन टैम्पिल, लॉर्ड (Palmerston, Henry John Temple,) Lord, (१७८४–१८६५)– ८६, ५४९

पारमेंतिये, अन्तोन अवगुस्तिन (Parmentier, Antoine Augustin) (१७३७–१८१३)– ९८

पासी, इपोलीत फ़िलिबेर (Passy, Hippolyte Philibert) (१७९३–१८८०)– ६८०, ६८९, ६९२, ६९४, ६९७

पिंदार (Pindar) (५२२–४४३ ई० पू०) – ३३७

पिट, विलियम, जूनियर (Pitt, William, junior) (१७५९–१८०६)– ३४४, ३४५, ३४६,

पील, रॉबर्ट (Peel, Robert) (१७८८–१८५०)– ४८१, ४८२, ४८३

पेक्योर, कोंस्तन्तिन (Pecqueur, Constantin) (१८०१–१८८७) – ५३४

पेक्योर, शार्ल – देखिये **पेक्योर, कोंस्तन्तिन**।

पेरेरा, इसाक (Pereire, Isaac) (१८०६–१८८०)– ३८८

पेरेरा, जाकोब एमील (Pereire, Jakob Emile) (१८००–१८७५) – ५३२

पैटन – देखिये **विलसन पैटन**।

पैटरसन, विलियम (Paterson, William) (१६५८–१७१९) – ५३०

पैटी, विलियम (Petty, William) (१६२३–१६८७) – ३०७, ४१२, ५७९, ६९२, ६९३

पोप्पे, योहन हाइनरिख मोरित्स (Poppe, Johann Heinrich Moritz) (१७७६–१८५४) – २९३

प्राइस, रिचर्ड (Price, Richard) (१७२३–१७९१) – ३४४, ३४५, ३४६, ३४८

प्रूदों, पियेर जोज़ेफ़ (Proudhon, Pierre Joseph) (१८०९–१८६५) – ४३, ३०१, ३०२, ३०३, ३१०, ५३३, ५४७, ७४२, ७४३

प्लिनी अग्रज, गायस प्लिनियस सेकेन्दस (Pliny the Elder, Gaius Plinius Secundus) (२३–७९) – ९८

फ

फ़ीरमन, पीटर (Fireman, Peter) (जन्म – १८६३) – २२, २३, २८

फ़ुलार्टन, जॉन (Fullarton, John) (१७८० – १८४९) – ३८९, ३९४, ३९५, ३९६, ३९८, ३९९, ४०३, ४०४, ४०७, ४८३

फ़ूग्गर (Fugger) – छठी सदी का सबसे धनी जर्मन व्यापारी और बैंकिंग घराना। – ७९१

फ़ूरिये, शार्ल (Fourier, Charles) (१७७२ –१८३७) – ५३१, ६६९

फ़ोर्काद, यूजेन (Forcade, Eugène) (१८२०–१८६९) – ७४२, ७४३

फ़ोसेट, हेनरी (Fawcet, Henry) (१८३३–१८८४) – ५५२

फ़्रेडरिक द्वितीय (Friedrich II) (११९४–१२५०) – पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट (१२१२–१२५०) – ५२४

ब

बर्नाल ग्रास्बोर्न, राल्फ़ (Bernal Osborne, Ralph) (१८०८–१८८२) – १२७

बसतिग्रा, फ़्रेडेरिक (Bastiat, Frédéric) (१८०१–१८५०) – १३८, ३०१

बाल्ज़ाक, ओनोरे, दे (Balzac, Honore, de) (१७९९–१८५०) – ४३

बेरिंग (Baring) – इंगलैंड का बड़ा बैंकिंग घराना। – ४७१

बेसमर, हेनरी (Bessemer, Henry) (१८१३–१८९८) – ७०

बैंटिंक, जार्ज (Bentinck, George) (१८०२–१८४८) – ३६६

बैबेज, चार्ल्स (Babbage, Charles) (१७९२–१८७१) – ९९, १०७

बोसनक्वेट, जेम्स वटमन (Bosanquet, James Whatman) (१८०४–१८७७) – ३२४, ३५०

ब्राइट, जॉन (Bright, John) (१८११–१८८९) – ५५४

ब्रिस्को, जॉन (Briscoe, John) (१८ वीं सदी का अंत) – ५२८

म

माउरेर, गेग्रोर्ग लुडविग फ़ोन (Maurer, Georg Ludwig von) (१७९०–१८७२) – १६०

मार्क्स, कार्ल (Marx, Karl) (१८१८–१८८३) ११, १२, १३, १४, १७, १८, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २७, १९९, २००, ३४७, ३७७, ३८५, ४०२, ४६०, ४८१, ५३०, ५३१, ५३३, ५४३, ५४४, ५५२, ६८८, ७७९, ७८१, ७८२, ७८४, ७८५, ७८७

मार्गन, लुई हेनरी (Morgan, Lewis Henry) (१८१८–१८८१) – १६०

मॉर्टन, जॉन चामर्स (Morton, John Chalmers) (१८२१–१८८८) – ५५२, ५५३

मॉर्टन, जॉन लाकर्ट (Morton, John Lockart) ५५२, ५९२

माल्थस, टॉमस रॉबर्ट (Malthus, Thomas Robert) (१७६६–१८३४) – ४०, ४२, ४७, ४९, १५४, १७२, १७८, ३४५, ५६५, ५७८, ५७९, ५८९

मिरबो, विक्टर, मार्क्विस, दे (Mirabeau, Victor), marquis de (१७१५–१७८९) – ६६९

मिल, जॉन स्टुअर्ट (Mill, John Stuart) (१८०६–१८७३) – ३३९, ३४७, ४५६, ४८९, ७७०

मून्ये, ल० (Mounier, L.) – ७१२, ७१५

मूर, सैम्युएल (Moore, Samuel) (१८३०–१९१२) – १३

मेंगर, कार्ल (Menger, Karl) (१८४०–१९२१) – १८

मैक-कुलोच, जॉन रैमजे (MacCulloch, John

Ramsey) (१७८६–१८६४) – ६५, १६६, २११
मैनली, टॉमस (Manley, Thomas) (१६२८–१६६०) – ५२६
मैसी, जोजेफ़ (Massie, Joseph) (मृत्यु-काल – १७८४) – ३०७, ३०८, ३१३, ३१६, ३१८, ३२८, ७१५
मोमजन, तेम्रोदोर (Mommsen, Theodor) (१८१७–१६०३) – २८६, ३३५, ६६५
म्यूल्लर, ऐडम हेनरिक (Müller, Adam Heinrich) (१७७६–१८२६) – ३११, ३४६, ३४७

य

यूरे, ऐण्ड्रयू (Ure, Andrew) (१७७८–१८५७) – ७६, ६६, ३३७

र

रसेल, जॉन, लॉर्ड (Russell, John) Lord (१७६२–१८७८) – ३६५
रॉड्बेर्टस, जोहान कार्ल (Rodbertus, Johann Karl) (१८०५–१८७५) –१७, १२६, ७०७, ७५१
रिकार्डो, डेविड (Ricardo, David) (१७७२–१८२३) – १७, २४, ४२, ४७, ६५, १०२, १०८, १६२, १६५, १६६, १७८, १६६, २१०, २११, २१४, २१५, २१६, २२०, २२६, २८३, ३७८, ४८१-४८३, ५६६, ५७०, ५८७, ५७६, ५६०, ५६६, ५६७, ६६०, ६६६, ७१६, ७४०, ७५१
रैमजे, जार्ज (Ramsay, George) (१८००–१८७१) – ४२, ४७, २४४, ३१५, ३१६, ३३०, ३३१, ६७८
रोड्स, सेसील जॉन (Rhodes, Cecil John) (१८५३–१६०२) – ७६८
रोतशिल्द, जेम्स (Rothschilld, James) (१७६२–१८६८) – ४१२
रोशर, विल्हेल्म (Roscher, Wilhelm) (१८१७–१८६४) – २००, २६८, २८३, ३४७, ७२८
र्‍यूबिशों, मोरिस (Rubichon, Maurice) (१७६६–१८४६) – ७१२, ७१५

ल

लॉ, जॉन (Law, John) (१६७१–१७२६) – ३८८, ५३०
लॉक, जॉन (Locke, John) (१६३२–१७०४) – ५४६
लॉयड, सैम्युएल जोन्स, पहला बैरन ग्रोवरस्टोन (Lloyd, Samuel Jones, first Baron Overstone) (१७६६–१८८३) – ३६६, ३७०, ३७१, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७६, ३८०, ३८१, ४२६, ४४८, ४५२, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४७४, ४८१, ४८३, ४८४, ४८६-४८६, ४६४-४६६, ५०३, ५०४
लावेर्न, लुई गॅब्रियेल लेग्रोंस (Lavergne, Louis Gabriel Léonce) (१८०६–१८८०) – ५५३
लिबिग, जुस्टुस फ़ोन (Liebig, Justus von) (१८०३–१८७३) – ६५८, ६८०, ६८८, ७१७
लिस्त, फ़्रेडरिक (List, Friedrich) (१७८६–१८४६) – ७७६
लुई चौदहवां (Louis XIV) (१६३८–१७१५) – ६८
लूथर, मार्टिन (Luther, Martin) (१४८३–१५४६) – ३०३, ३४३, ३४४, ५३६, ५३७, ७६१
लेंगे, सिमों निकोला आंरी (Linguet, Simon

Nicolas Henri) (१७३६–१७६४) – ८२, ६६८

लेक्सिस, विल्हेल्म (Lexis, Wilhelm) (१८३७–१९१४) – १७, १८, २०

लैथम, विलियम हेनरी (Leatham, William Henry) (१८१५–१८८६) – ३४६

लोरिया, एकिले (Loria, Achille) (जन्म – १८५७) – २४, २५, २६, २७, ७८१, ७८२, ७८५, ७८६, ७६०

व

वाल्टन, अल्फ्रेड (Walton, Alfred) (१८१६–१८८३) – ५४४

विलसन, जेम्स (Wilson, James) (१८०५–१८६०) – ३६५, ४६८, ४६६, ४७०, ४७६, ४७७, ४८३, ४६५, ५०७-५१४

विलसन पैटन, जॉन (Wilson Patten, John) (१८०२–१८६२) – ८७

वुड, चार्ल्स (Wood, Charles) (१८००–१८८५) – ४८७, ५११, ५१२-५१४

वेकफ़ील्ड, एडवर्ड गिबन (Wakefield, Edward Gibbon) (१७६६–१८६२) – ६६६, ६७६

वेस्ट, एडवर्ड (West, Edward) (१७८२–१८२८) – २१५, ५७८

वोल्फ़, यूलियस (Wolf, Julias) (जन्म – १८६२) – २३, २४, २७

श

शॉ, जॉर्ज बर्नार्ड (Shaw, George Bernard) (१८५६–१९५०) – १८

शार्लेमान (शार्ल महान) (Charlemagne) (Charles the Great) (७४२–८१४); राजा (७६८–८००), सम्राट (८००–८१४) – ५२४, ५२६

शेफ़्ट्सबरी – देखिये ऐश्ली।

श्तोर्ख, हेनरी फ्रेडरिक (Storch, Heinrich Friedrich) (१७६६–१८३५) – १६५, ५७७, ७२८, ७४५, ७४६

श्मिद्त, कोनराद (Schmidt, Conrad) (१८६३–१९३२) – २०, २१, २२, २६, २८, ७८५, ७८६

स

साइमन, जॉन (Simon, John) (१८१६–१९०४) – ८७, ८८, ६०, ६१

सीनियर, नास्सु विलियम (Senior, Nassau William) (१७६०–१८६४) – ३८, ४७

सीमंस, कार्ल विल्हेल्म (Siemens, Karl Wilhelm) (१८२५–१८८३) – ७०

सेंट-सीमोन, क्लोद आंरी (Saint-Simon, Claude Henri) (१७६०–१८२५) – ५३१-५३४

सेय, जां बतिस्त (Say, Jean Batiste) (१७६७–१८३२) – २४४, २४५, ७४०, ७४५

स्टूअर्ट, जेम्स (Steuart, James) (१७१२–१७८०) – ३१८, ६६४

स्मिथ, ऐडम (Smith, Adam) (१७२३–१७६०) – १३१, १७२, १७३, १७८, २००, २११, २८३, २८६, ३४६, ३४६, ३८६, ४१४, ४१५, ५४०, ६६४, ६६५, ६७७, ६७८, ६८३, ६८५, ६६५, ७२८, ७३६, ७४०, ७४१, ७४४

ह

हुब्बर्ड, जॉन गेलिब्रांड (Hubbard, John Gellibrand) (१८०५–१८८६) – ३६४, ४६६, ४७८, ४८३, ४८४, ५०६, ५१७

हाइने, हाइनरिख (Heine, Heinrich) (१७६७–१८५६) – ४७५, ७८४

हॉडस्किन, टॉमस (Hodskin, Thomas) (१७८७–१८६६) – ३३७

हॉर्नर, लैनर्ड (Horner, Leonard) (१७८५–१८६४) – ८६, ८७, ९२, ११६, ११९

हेगेल, जार्ज फ़्रेडरिक विल्हेल्म (Hegel, Georg Friedrich Wilhelm) (१७७०–१८३१) – २१, ४९, ५४०, ६८८

हेनरी अष्टम (Henry VIII) (१४९१–१५४७) अंग्रेज़ी राजा (१५०९–१५४७) – ५३६

हेरेनश्वांड, जां (Herrenschwand, Jean) (१७२८–१८११) – ६९५

हैरिंग्टन, जेम्स (Harrington James) (१६११–१६७७) – ७८४

ह्यूम, डेविड (Hume, David) (१७११–१७७६) – ३२८, ४८२

संदर्भ-निर्देशिका

INDEX OF AUTHORITIES QUOTED IN *CAPITAL*, VOLUME III

I. Authors

A

ANDERSON, Adam. *An Historical and Chronological Deduction of the Origin of Commerce, from the earliest accounts to the present time*, Vol. 2, London 1764. — २६०

ANDERSON, James. *A Calm Investigation of the Circumstances that have fed to the present scarcity of grain in Britain*, London 1801. — ५४३

ARISTOTLE. *De Republica Libri VIII et Oeconomica. Ex recensione Immanuelis Bekkery*, Oxonii 1837. — ३३६

ARND, Karl. *Die naturgemässe Volkswirtschaft, gegenüber dem Monopoliengeiste und dem Kommunismus, mit einem Rückblicke auf die einschlagende Literatur*, Hanau 1845.— ३१७, ६६७

AUGIER, Marie. *Du crédit public et de son histoire depuis les temps anciens jusqu'a nos jours*, Paris 1842. — ५२१, ५३७

B

BALZAC, Honoré de. *Les paysans*, 1845. — ४३

BASTIAT, Fr. *Gratuité du crédit. Discussion entre M. Fr. Bastiat et M. P. J. Proudhon*, Paris 1850. — ३०१, ३०२, ३०३

BELL, G. M. *The Philosophy of Joint-Stock Banking*, London 1840. — ४८०

BOSANQUET, J. W. Metallic, *Paper, and Credit Currency, and the means of regulating their quantity and value*, London 1842.—३२४, ३५०

BRISCOE, John. *To the Knights, Citizens and Burgesses in Parliament assembled*, 1695. — ५२८

BURET, Eugène. *De la misére des classes laborieuses en Angleterre et en France etc.*, Paris 1840. — ७०६

BÜSCH, Johann Georg. *Theoretisch-praktische Darstellung der Handlung in ihren mannigfaltigen Geschäften (1792)*. Third extended and improved edition with insertions and supplements by G. P. H. Normann, Hamburg 1808. — ५४६

C

CAIRNES, J. E. *The Slave Power: its character, career and probable designs etc.*, London 1862. —३३४, ३३५

CANTILLON, Richard. *Essai sur la nature du commerce en général. Traduit de l'Anglais*, London 1755. — ६९२

CAREY, H. C. *Principles of Social Science*, Vol. III, Philadelphia 1860. — ३४७

CHALMERS, Thomas. *On Political Economy in Connection with the Moral State and Moral Prospects of Society*, 2nd ed., Glasgow 1832. — ३८८

CHAMBERLAIN (Chamberleyne), Dr. Hugh. *A few Proposals humbly recommending etc. establishing a Land Credit in this Kingdom*, Edinburgh 1700. — ५२८

CHERBULIEZ, A. *Riche ou pauvre. Exposition succinte des causes et des effets de la distribution actuelle des rechesses sociales*, Paris et Genève 1840. — १४६

CHILD, Josiah. *Traités sur le commerc et sur les avantages qui résultent de la réduction de l'intérêt de l'argent, (1694)*, Amsterdam et Berlin 1754. — ३४६, ५३०

COMTE, Charles. *Traité de la propriété*, T. I, Paris 1834. — ५४२

COQUELIN, Charles. *Du crédit et des banques*. In *Revue des Deux Mondes*, Paris 1842. —३५१

CORBET, Thomas. *An Inquiry into the Causes and Modes of the Wealth of Individuals; or the principles of trade and speculation explained*, London 1841. — १५२, १५५, १६६, १८७, २६८

D

DUREAU DE LA MALLE, A. J. *Economie politique des romains*, Paris 1840. — ९८

E

ENGELS, Friedrich. *Die Lage der arbeitenden Klass in England. Nach eigner Anschauung und authentischen Quellen*, Leipzig 1845. — ६८३
—*The Stock Exchange, Supplementary Notes to Capital*, Volume Three (1895). — ७९७

F

FELLER, Dr. F. E. und ODERMANN, Dr. C. G. *Das Ganze der kaufmännischen Arithmetik, Für Handels-, Real- und Gewerbeschulen, so wie zum Selbstunterricht für Geschäftsmänner überhaupt (1842)*, 7. Auflage, Leipzig 1859. — २७३

FIREMAN, Peter. *Kritik der Marxschen Werttheorie*. In *Jahrbücher für Nationalökonomie und Statistik*, Dritte Folge, Bd. III, Jena 1892. — २२

FORCADE, Eugène. *La guerre du socialisme*, II. *L'economie politique révolutionnaire et sociale*. In *Revue des Deux Mondes*, T. 4, Bruxelles 1848. —७४३

FRANCIS, John. *History of the Bank of England, its Times and Traditions*, 3rd ed., London 1848. — ५२८

FULLARTON, John. *On the Regulation of Currencies; being an examination of the principles, on which it is proposed to restrict, within certain fixed limits, the future issues on credit of the Bank of England and of the other banking establishments throughout the country*, London 1845. — ३५३, ३९४, ३९५, ३९६, ४९८, ३९९, ४००, ४०३, ४०४

G

GILBART, William James. *The History and Principles of Banking*, London 1834. — २९६, ३५३, ३५४, ३५६

— *An Inquiry into the Causes of the Pressure on the Money Market during the Year 1839*, London 1840. — ४७७, ४७६

A Practical Treatise on Banking (1827), 5th ed., London 1849. — ३१४

GREG, R. H. *The Factory Question, Considered in Relation to its Effects on the Health and Morals of those Employed in Factories. And the Ten Hours' Bill, etc.*, London 1837. —१०२

H

HAMILTON, Robert. *An Inquiry Concerning the Rise and Progress, the Redemption and Present State and the Management of the National Debt of Great Britain*, 2nd ed., Edinburgh 1814. — ३४४

HARDCASTLE, Daniel. Jr. *Banks and Bankers*, 2nd ed., London 1843. — ४७३, ५३७

HEGEL, Georg Wilhelm Friedrich. *Grundlinien der Philosophie des Rechts, oder Naturrecht und Staatswissenschaft in Grundrisse*. In *Werke*, published by Dr. Eduard Gans, 7th ed., Berlin 1840. — ६८८

HEINE, Heinrich. *Disputation*. In "Gedichte, Dritter Band, Romanzero, 3. Buch, Hebräische Melodien." — ४७५

HEYD, Dr. Wilhelm. *Geschichte des Zevantehandles im Mittelalter*, Stuttgart 1879. — ७६१

HODGSKIN. *Labour Defended Against the Claims of Capital; or the Unproductiveness of Capital Proved. By a Labourer*, London 1825. — ३३६, ३४८

HÜBBARD, John Gellibrand. *The Currency and the Country*, London 1843. — ३६४, ४६६

HÜLLMANN, Karl Dietrich. *Städtewesen des Mittelalters*, Bonn 1826-29. — २७७, २७६, ५२४

J

JOHNSTON, James F. W. *Notes on North America Agricultural, Economical and Social*, Edinburgh and London 1851. — ५४१, ५४२, ५८८

JONES, Richard. *An Introductory Lecture on Political Economy*, London 1833. — २३४

— *An Essay on the Distribution of Wealth*, London 1831. — ६७१, ६७२

K

KIESSELBACH, Wilhelm. *Der Gang des Welthandels und die Entwicklung des europäischen Uölkerlebens im Mittelalter*, Stuttgart 1860. — २८६

KINNEAR, J. G. *The Crisis and the Currency*, London 1847. — ३६०, ४६३

L

LAING, Samuel. *National Distress; its Causes and Remedies*, London 1844. — ६८३

LAVERGNE, Léonce de. *The Rural Economy of England, Scotland and Irelang (translated from Economie Rurale de l'Angleterre*, Paris 1854), London 1855. — ५५३

LEATHAM, William. *Letters on the Currency. Addressed to Charles Wood*, London 1840. — ३४६

LEXIS, W. *Die Marxsche Kapitaltheorie. In Conrads Jahrbücher für Nationalökonomie und Statistik*, Neue Folge, Bd. XI, Jena 1885. — १७, १८

LINGUET, N. *Théorie des lois civiles ou principes fondamentaux de la société*, T. I. London 1767. — ८२, ६९८

LIST, Dr. Friedrich. *Die Ackerverfassung, die Zwergwirtschaft und die Auswanderung*. From the *Deutsche Vierteljahrsschrift*, 1842, Heft IV. Nr. XX, specially printed, Stuttgart und Tübingen 1842. — ७७६

LORIA, Achille, *Karl Marx*. In *Nuova Antologia*, April 1883. — २४

— *La Teoria Economica della Costituzione Politica*, Roma, Torino, Firenze 1886. — २४

— *Die Durchschnittsprofitrate auf Grundlage des Marxschen Wertgesetzes*. Von Dr. Conrad Schmidt. Stuttgart 1889. Review in Conrads Jahrbücher für Nationalökonomie und Statistik, Neue Folge, Bd. XX, Jena 1890. — २६

— *L'Opera postuma di Carlo Marx. In Nuova Antologia*, Vol. LV, February 1895. — ७८५

LUTHER, Martin. *An die Pfarherrn wider den Wucher zu predigen*, Wittemberg 1540, Luther's Werke, Wittemberg 1589, 6. Teil. — २८९, ३०३, ३४४, ७९१

Von Kaufshandlung und Wucher, Wittemberg 1524, Luther's Werke, Wittembeg 1589, 6. Teil. — २८९

LUZAC, E. Hollands Rijkdom, *Behelzende den Oorsprong van den Koophandel, en van de Magt van dezen Staat etc.*, Leyden 1782. — २७८

M

MACAULAY, Th. B. *The History of England. From the accession of James the Second*, Vol. 4, London 1857. — ५३०

MALTHUS, T. R. *Definitions in Political Economy*, London 1827. — ४०. London 1853. — ४२

— *Principles of Political Economy, considered with a view to their practical application*, 2nd ed., London 1836. — ४०, १५४, १७२, १७८

MANLEY, Thomas. *Interest of Money Mistaken, or a treatise, proving that the abatement of interest is the effect and not the cause of the riches of a nation and that six per cent is a proportionable interest to the present conditions of Kingdom*, London 1668. — ५२९

MARON, Dr. H. *Extensiv oder intensiv? Ein Kapitel aus der landwirtschaftlichen Betriebslehre*, Oppeln 1859. — ७१३

MARX, Karl. *Das Kapital, Kritik der Politischen Oekonomie*, Buch I. — ११, १६, २५, ३१, ३३, ३५, ३८, ४१, ४३, ५२, ५३, ७४, ८१, ८७, ८८, ९१, १३१, १३४, १४७, १६०, १६४, २०५, २१८, २३१, २६९, २७८, ३४९, ३९२, ३९९, ५४०, ५५१, ५५४, ६६९, ७०२, ७३६, ७७१, ७७९,

— Buch II. —११, १२, १६, २५, ३१, ४६, ५२, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ११०, २३५, २४६, २५२, २६२, २६६, २९८, ३९१, ४२२, ४६७, ४९४, ६८४, ७२९, ७३४, ७३८, ७४०

— *Das Kapital etc.* Erster Band, Buch I: Der Produktionsprozess des Kapitals, 2. Auflage, Hamburge 1872. १६

— 3. Auflage, Hamburg 1883. — १६, १३४

— *Das Kapital etc.* Zweiter Band, — Buch II:Der Zirkulationsprozess des Kapitals, Hamburg 1885. — ११, १२

— *Misère de la philosophie. Réponse à la philosophie de la misère de M. Proudhon*, Paris 1847. — ५३३, ५४३

—*Zur Kritik der politischen Oekonomie*, Erstes Heft, Berlin 1859. — १६४, २७७, ३६४, ४८१, ४८२, ४८३, ५३३, ५४३

MASSIE, Joseph. *An Essay on the Governing Causes of the Natural Rate of Interest etc.* London 1750. — २६०, ३०७, ३०८, ३१३, ३१६, १३, ३२८

MILL. John Stuart. *Essays on Some Unsettled Questions of Political Economy.*, London 1844. — ७७०

— *Principles of Political Economy, with some of their Applications to Social Philosophy*, 2nd ed., London 1849. —३३६, ३४७

MOMMSEN, Theodor. *Römische Geschichte*, 2. Auflage, Berlin 1856 bis 1857. —२८६, ३३५, ६६५

MORTON. J. C. *On the Forces used in Agriculture.* Report made at the Society fo Arts. In *Journal of the Society of Arts.* December 9, 1859. — ५५२

MORTON, John Lockhart. *The Resources of Estates: being a treatise on the agricultural improvement and general management of landed property*, London 1858. —५५२, ५६२

MOUNIER, L. M. *De l'agriculture en France, d'apres les documents officiels avec des remarques par M. Rubichon*, Paris 1846. —७१२

MÜLLER, Adam H. *Die Elemente der Staatskunst*, Berlin 1809. — ३११, ३४७

N

NEWMAN, Francis William. *(Lectures on Political Economy*, London 1851. — ५२२, ५७६, ७१५

NEWMAN, S. P. *Elements of Political Economy*, Andover and New York 1835. — २४५

NORTH, Sir Dudley. *Discourses upon Trade; principally directed to the cases of the interest, coinage, clipping, increase of money*, London 1691. — ५४६

O

O'CONNOR, Charles. *Speech on December* 19, 1859. In *New York Daily Tribune*; December 20, 1859. — ३३६

ODERMANN, Dr. C. G. See FELLER.

OPDYKE, George. *A Treatise on Political Economy*, New York 1851. — ३१६

P

PASSY, Hippolyte. *Des systèmes de culture et de leur influence sur l'économie sociale.* 2nd ed., Paris 1853. — ६८०, ६८६, ६६२, ६६४, ६६७

PECQUEUR, Ch. *Théorie nouvelle d'économie sociale et politique ou études sur l'organisation des sociétés*, Paris 1842. — ५३४

PLINIUS, Gajus Secundus, der Aeltere. *Historiae naturalis*, Libri XXXVII, Parisiis 1826. — ६८

PRICE, Richard. *An Appeal to the Public on the Subject of the National Debt* (1772), 2nd ed., London 1774. — ३४४

—*Observations on Reversionary Payments, on schemes for providing annuities for widows, and for persons in old age; on the method of calculting the values of assurances on lives, and on national debt etc.* (1771), 2nd ed., London 1772. — ३४५

PROUDHON, P. J. See BASTIAT.

R

RAMSAY, George. *An Essay on the Distribution of Wealth*, Edinburgh 1836. —२४४, ३१५, ३३१

REDEN, Dr. Freiherr von. *Vergleichende Kulturstatistik der Gebiets— und Bevölkerungsverhältnisse der Grosstaaten Europas*, Berlin 1848. — ४१२

RICARDO, David. *On the Principles of Political Economy and Taxation*, ed. by Macculloch, London 1852. — ६५, १०२, १०८, १६२, १६५, १८२, १९९, २१०, २११, ५६९, ६८२, ७१२, ७४०, ७५१

RODBERTUS-JAGETZOW, Karl. *Soziale Briefe an von Kirchmann. Dritter Brief: Widerlegung der Ricardoschen Lehre von der Grundrente und Bergründung einer neuen Rententheorie*, Berlin 1851. — १२९, ६८७

ROSCHER, Wilhelm. *Die Grundlagen der Nationalökonomie. Ein Hand- und Lesebuch für Geschäftsmänner und Studierende* (2. Aufl., Stuttgart und Augsburg 1857). — २००, २६८, २८३, ३४७

RUBICHON, Maurice. *Du mécanisme de la société en France et en Angleterre* (1833). New edition, Paris 1837 — ५५२

S

SAINT-SIMON. *Nouveau Christianisme, dialogues entre un conservateur et un novateur*, Paris 1825. — ५३१, ५३२

SAY, Jean-Baptiste. *Traité d'économie politique, ou simple exposition de la maniere dont se forment, se distribuent et se consomment les richesses* (1803), 3rd ed., Paris 1817 — २४४, ७४५

SCHMIDT, Conrad. *Die Durchschnittsprofitrate auf Grundlage des Marxschen Wertgesetzes*, Stuttgart 1889. — २०

—*Die Durchschnittsprofitrate und das Marxsche Wertgesetz*. In *Die Neue Zeit*, XI Jahrg., Bd. I., Stuttgart 1893. — २०

SISMONDI, J. Ch. L. SIMONDE de. *Nouveaux principes d'économie politique ou de la richesse dans ses rapports avec la population*, Paris 1819. — ४२१

SMITH, Adam. *An Inquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations* (1776), published by Wakefield, London 1835 to 1889.— १३१, २८७, ४१५, ६७८, ६८३, ६८५, ६९५, ७४०, ७४४

SOMBART, Werner. *Zur Kritik des ökonomischen Systems von Karl Marx*. In Archiv für soziale Gesetzgebung und Statistik, Bd. VIII, Berlin 1894. —७८५

STEUART, Jacques (James). *Recherche des principes de l'économie politique ou essai la science de la politique interieure des nations libres* (Translated from *An Inquiry into the Principles of Political Economy etc.*, London 1767.), Paris 1789. — ३१८

STIEBELING, George C. *Das Wertgesetz und die Profitrate*, New York 1890. — २७, २८

STORCH, Henri. *Cours d'économie*

politique, ou exposition des principes qui déterminent la prospérité des nations, St. Petersburg 1815. — १६५, ७२८, ७३५
— *Considérations sur la nature du revenu national*, Paris 1824. —७२८, ७४५, ७४९

T

THIERS, Adolphe. *De la propriété*, Paris 1848. — ५४७
THUN,, Alphons. *Die Industrie am Niederrhein und ihre Arbeiter*, Leipzig 1879. — ७६०
TOOKE, Thomas. *A History of Prices, and of the State of the Circulation, from 1793 to 1837; preceded by a brief sketch of the state of the corn trade in the last two centuries*, London 1838. — ३२३
— *An Inquiry into the Currency Principle; the connection of the currency with prices and the expediency of a separation of issue from banking*, 2nd ed., London 1844. — ३०९, ३२४, ३५०–३५१, ३५३, ३८६, ३८९
— *A History of Prices and of the state of the Circulation from 1839 to 1847 inclusive; with a general review of the currency question etc.*, London 1848. — ३१४
— and NEWARCH, William. *A History of Prices and of the State of the Circulation during the nine years 1848-1856*, London 1857. — ७१२
TORRENS, Robert. *An Essay on the Production of Wealth with an Appendix, in which the Principles of Political Economy are applied to the actual circumstances of this country*, London 1821. — ४२
On the operation of the Bank Charter Act of 1844 etc., 2nd ed., London 1847. — ३०९
TUCKETT, J. D. *A History of the Past and Present State of the Labouring Population, including the progress of agriculture, manufactures and commerce, shewing the extremes of opulence and destitution among the operative classes with practical means for their employment and future prosperity*, London 1846. — ५२८

U

URE, Andrew. *Philosophie des manufactures ou économie industrielle de la fabrication du cotton, de la laine, du lin et de la soie, avec la description des diverses machines employées dans les ateliers anglais* (Translation of *Philosophy of Manufactures etc.*, London 1835.), Paris 1836. — ३३७

V

VERRI, Pietro. *Meditazioni sulla Economia Politica*. In *Scrittori Classici Italiani di Economia Politica, Parte Moderna*, Vol. 15, Milano 1804. —२४४
VINCARD, Jr. *Histoire du travail et des travailleurs en France*, Paris 1845. — ६९५
VISSERING, S. *Handboek van Praktische Staathuishoudkunde*, Amsterdam 1860 bis 1865. — २७७, २७९

W

WAKEFIELD, Edward Gibbon. *England and America. A comparison of the social and political state of both nations*, London 1833. — ६७९

WALTON, Alfred A. *History of the Landed Tenures of Great Britain and Ireland, from the Norman conquest to the present time*, London 1865. — ५४४

WEST, Edward. *Essay on the Application of Capital to Land etc. By a Fellow of University College Oxford*, London 1815. — २१५

WOLF, Julius. *Das Rätsel der Durchschnittsprofitrate bei Marx.* In *Conrads Jahrbücher für Nationalökonomi und Statistik*, Dritte Folge, Bd. II, Jena 1891. — २३, २३-२४
Sozialismus und kapitalistische Gesellschaftsordnung. Kritische Würdigung beider als Grundlegung einer Sozialpolitik, System der Sozialpolitik, Bd. I, Stuttgart 1892. — २७

II. Anonymous

The City or the Physiology of London Business. With sketches on change, and at the coffee houses. (David Morier Evans). London 1845. —३४०
Competition and Co-operaiton, 1832. — ७७५

The Currency Theory Reviewed in a letter to the Scottish People on the menaced interference by *Government with the existing system of banking in Scotland. By a Banker in England.* Edinburgh 1845. —३५५, ३६४, ३८३; ४१६, ४५८

Doctrine de Saint-Simon, Exposition. Premiere annee. 1828-1829. (Enfantin.) 3rd ed. Paris 1831. — ५३१

An Inquiry into those Principles Respecting the Nature of Demand and the Necessity of Consumption, lately advocated by Mr. Malthus. London 1821. —१७५, ५६५

Observations on Certain Verbal Disputes in Political Economy, particularly relating to value, and to demand and supply. London 1821. — १७२

Religion Saint-Simonienne. Economie politique et Politique Articles extraits au Globe. (Enfantin,) Paris 1831. — ५३१, ५३२

Some Thoughts of the Interest on England. By a Lover of Commerce. London 1697. — ५३२

The Theory of the Exchanges. The Bank Charter Act of 1844 etc. (G. Henry Roy.) London 1864. — ३१५, ३१७

The Three Prize Essays on Agriculture and the Corn Law. Published by the National Anti-Corn-Law League. (George Hope, W. R. Grey, Arthur Morse.) Manchester, London 1842. — ५५०

III. Newspapers and periodikals

Archiv für soziale Gesetzgebung und Statistik, published by Dr. Heinrich Braun, Bd. VII, Berlin 1894. (Essay by Sombart.) — ७८५

Daily News, December 10, 1889. — ३१६
" " December 15, 1892. — ४१६
" " January 18, 1894. — ४७८

Die Neue Zeit, XI. Jahrg., Bd. I, 1893. (Essay by Conrad Schmidt).— २१

Economist, March 18, 1845. — ३८४
" May 22, 1847. — ४७६, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७
" August 2, 1847. — ५१८
" October 23, 1847. — ४६५

'' November 20, 1847. —३८६, ४३७-४३८
'' December 11, 1847. — ५०४
'' November 30, 1850. — ५२०
'' January 11, 1851. — ५२१
'' January 22, 1853. — ३१२
'' July 19, 1859. — ३४६

Jahrbücher für Nationalökonomie und Statistik, published by J. Conrad.
'' 1885, Neue Folge, Bd. XI. (Essay by W. Lexis.) — १७
'' 1890, Neue Folge, Bd. XX. (Essay by Achille Loria.) — २६
'' 1891, III. Folge, Bd. II. (Essay by Julius Wolf.) — २३
'' 1892, III. Folge, Bd. III. (Essay by Peter Fireman.) — २२

Journal of the Society of Arts, Vol. VII, No. 368, London, December 9, 1859. (Report by J. C. Morton.) — ५५२

Manchester Guardian, November 24, 1847. — ३५८

Morning Star, December 14, 1865. (Speech by John Bright.) — ५५४

New York Daily Tribune, December 20, 1859. (Speech by O'Connor.) — ३३६

Nuova Antologia, April 1883. (Essay by Achille Loria.) — २४
'' '' February 1895. (Essay by Achille Loria.) — ७८१

Revue des Deux Mondes, 1842. Essay by Coquelin.) — ३५१
'' '' 1848. (Esasy by Forcade.) — ७४२

Times, London, December 3, 5, 7, 1857. — ३८६

Edinburgh Review. — ६९०

IV. Parliamentarv reports and other official publications

Anno Vicesimo Sexto Georgii III. Regis. Caput XXXI. An Act for vesting certain Sums in Commissioners, at the End of every Quarter of a year, to be by them applied to the Reduction of the National Debt (1786). — ३४६

First Report on Children's Employment in Mines and Collieries, April 21, 1829. — ८५

Coal Mine Accidents. Abstract of Return to an Address of the Honourable the House of Commons dated 3 May 1861, etc. — Ordered, by the H. of C., to be Printed, 6 February 1862. — ८५

First Report from the Select Committee of the House of Lords on the Sweating System; together with the Proceedings of the Committee, Minutes of Evidence. Ordered, by the H. of C., to be Printed, 11 August 1888. — २९२

Public Health Sixth Report of the Medical Officer of the Privy Council. With Appendix. 1863, London 1864. —८७, ८९, ९०, ९१, ९२

Report from the Select Committee on Bank Acts; together with the Proceedings of the Committee, Minutes of Evidence, Appendix and Index. Ordered, by the House of Commons, to be Printed, 30 July 1857. Part I. Report of Evidence. — ३०३, ३६३, ३६६, ३६७, ३७१, ६७२, ३७४, ३७५, ३७६, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३९५, ४१८, ४३३, ४३६, ४३७, ४४०, ४४१, ४४७, ४४८, ४५६, ४५८, ४६१, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७७, ४७८, ४८१, ४८२, ४८४, ४८६, ४८९, ४९०, ४९१, ४९३, ४९४, ४९७, ४९८, ४९९, ५०१, ५०२, ५०३, ५०५, ५०८, ५१२, ६८४
— Part II, Appendix and Index. — ४२८, ४८४

Report from the Select Committee on the Bank Acts; together with the Proceedings of the Committee, Minutes of Evidence, Appendix and Index. Ordered, by the House of Commons, to be Printed, 1 July 1858. — १७, ४१८, ४२६, ४३७, ४३६, ४४०, ४६०, ४६१

First Report from the Secret Committee on Commercial Distress; with the Minutes of Evidence. Ordered, by the House of Commons, to be Printed, 8 June 1848. — १७, ३५३, ३५६, ३६५, ४१२, ४१६, ४२७, ४५०

Report from the Secret Committee of the House of Lords, Appointed to Inquire into the Causes of the Distress which has for some time prevailed among the commercial classes, and how far it has been affected by the laws for regulating the issue of bank-notes payble on demand. Together with the Minutes of Evidence and an Appendix. Ordered, by the House of Commons, to be Printed, 28 July 1848.

" Reprinted 1857. — १७, ३६२, ३६६, ४६२, ४६३, ४६५, ४८६, ४८६, ४६२, ५०१

Reports of the Inspectors of Factories, etc.

" for the half-year ending 31st October 1845, London 1846. — ११६, ११७

" for 31st October 1846, London 1847. —११६, ११७

" for 31st October 1847, London 1848. — ११८

" for 31st October 1848, London 1849. — ७७, १०२

" for 30th April 1849, London 1849. — ११८

" for 31st October 1849, London 1850. — ११८

" for 30th April 1850, London 1850. — १०४, ११८

" for 31st October 1850, London 1851. — ११५, ११६

" for 30th April 1851, London 1851. — ११५

" for 31st October 1852, London 1853. — ६५

" for 30th April 1853, London 1853. — ११६

" for 31st October 1853, London 1854. — ११६

" for 30th April 1854, London 1854. — ११६

" for 31st October 1855, London 1856. — ८६

" for 31st October 1858, London 1859. — ७६, ११५, ११६

" for 30th April 1859, London 1859. — ११६

" for 31st October 1859, London 1860. — ११६

" for 30th April 1860, London 1860. — १२०

" for 31st October 1860, London 1861. — १२०

" for 30th April 1861, London 1861. — ८७, १२०, १२२

" for 31st October 1861, London 1862. — १२१

" for 30th April 1862, London 1862. — ८७, १२२

" for 31st October 1862, London 1863. — ७७, ६७, १२०, १२२

" for 30th April 1863, London 1863. — १२३

" for 31st October 1863, London 1864. — ८५, ६६, ६७, १०४, १२१, १२४, १२६

" for 30th April 1864, London 1864. — १२१, १२६

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन को इस पुस्तक के अनुवाद और डिजाइन के संबंध में आपकी राय जानकर और आपके अन्य सुझाव प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता होगी। अपने सुझाव हमें इस पते पर भेजें :

प्रगति प्रकाशन
१७, जूबोव्स्की बुलवार,
मास्को
सोवियत संघ।

Карл Маркс

"КАПИТАЛ" т. 3

на языке хинди

Пиплз Паблишинг Хаус (прайвит) лимитед
5-и, Рани Джанси Роуд, Наи Дилли–110055

Раджастхан Пиплз Паблишиг Хаус (прийвит) лимитед
Чамеливала Маркет, Эм. Ай. Роуд, Джайпур–302001

Художественный редактор *Я. А. Маликов*
Технический редактор *Н. И. Касаткина*

ИБ № 15689

Фотоофсет. Подписано в печать 13.01.88. Формат 70x108 1/16. Бумага офсетная № 1. Гарнитура хинди. Печать офсетная. Условн. печ. л. 71,4 + 0,175 печ. л. вклеек. Усл. кр.-отт. 73,75. Уч.-изд. л. 90,35. Тираж 10205 экз. Заказ №1134. Цена 3 р. 80 к. Изд. № 43776. Ордена Трудового Красного Знамени издательство "Прогресс" Государственного комитета СССР по делам издательств, полиграфии и книжной торговли. 119847, ГСП, Москва, Г-21, Зубовский бульвар, 17. Отпечатано на Можайском полиграфкомбинате Союзполиграфпрома при Государственном комитете СССР по делам издательств, полиграфии и книжной торговли. Можайск, 143200, ул. Мира, 93.